आचार्य जिनसेनकृत

आदिपुराण

[द्वितीय भाग]

हिन्दी अनुवाद तथा परिशिष्ट आदि सहित

सम्पादन-अनुवाद

पं० पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य
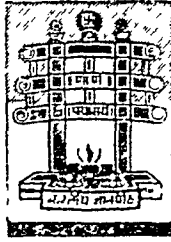
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

वीर नि० सं० २४९१
वि० सं० २०२१, सन् १९६५

द्वितीय संस्करण
दस रुपये

स्व० पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवीकी पवित्र स्मृतिमें तत्सुपुत्र साहू शान्तिप्रसादजी-द्वारा

संस्थापित

भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमालाके अन्तर्गत प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड, तमिल आदि प्राचीन भाषाओंमें उपलब्ध आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक आदि विविध-विषयक जैन-साहित्यका अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन तथा उसका मूल और यथासम्भव अनुवाद आदिके साथ प्रकाशन हो रहा है। जैन भण्डारोंकी सूचियाँ, शिलालेख-संग्रह, विशिष्ट विद्वानोंके अध्ययन-ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन-साहित्य ग्रन्थ भी इसी ग्रन्थमालामें प्रकाशित हो रहे हैं।

ग्रन्थमाला सम्पादक

डॉ० हीरालाल जैन, एम० ए०, डी० लिट्०

डॉ० आ० ने० उपाध्ये, एम० ए०, डी० लिट्०

प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ

प्रधान कार्यालय . ९ अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता–२७

प्रकाशन कार्यालय : दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी–५

विक्रय केन्द्र : ३६२०।२१ नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली–६

मुद्रक · सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी–५

स्थापना · फाल्गुन कृष्ण ९, वीर नि० २४७० ● विक्रम सं० २००० ● १८ फ़रवरी सन् १९४४

ĀDIPURĀṆA

[Second Part]

of

ĀCHĀRYA JINASENA

with

HINDI TRANSLATION, APPENDICES ETC.

Edited by

Pt. PANNALAL JAIN, SAHITYACHARYA
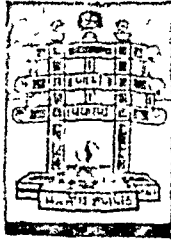
BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪTHA PUBLICATION

VIRA SAMVAT 2491 }
V. S. 2021, 1965 A. D. }

{ Second Edition
{ Rs. 10/

BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪṬHA MŪRTIDEVĪ

JAINA GRANTHAMĀLĀ

FOUNDED BY

SĀHU SHĀNTIPRASĀD JAIN

IN MEMORY OF HIS LATE BENEVOLENT MOTHER

SHRĪ MŪRTIDEVĪ

IN THIS GRANTHAMĀLĀ CRITICALLY EDITED JAINA ĀGAMIC, PHILOSOPHICAL, PURĀNIC, LITERARY, HISTORICAL AND OTHER ORIGINAL TEXTS AVAILABLE IN PRĀKRIT, SANSKRIT, APABHRAṂŚA, HINDI, KANNADA, TAMIL ETC, ARE BEING PUBLISHED IN THEIR RESPECTIVE LANGUAGES WITH THEIR TRANSLATIONS IN MODERN LANGUAGES

AND

CATALOGUES OF JAINA BHANDARAS, INSCRIPTIONS, STUDIES OF COMPETENT SCHOLARS & POPULAR JAINA LITERATURE ARE ALSO BEING PUBLISHED

●

General Editors

Dr Hiralal Jain M A , D Litt
Dr A N Upadhye, M A , D. Litt.

●

Bharatiya Jnanapitha

Head office 9 Alipore Park Place, Calcutta-27
Publication office Duragakund Road, Varanasi-5
Sales office 3620/21 Netaji Subhash Marg, Delhi-6.

●

Founded on Phalguna Krishna 9, Vira Sam 2470, Vikrama Sam 2000 18th Febr. 1944

विषयानुक्रमणिका

श्रीमज्जिनसेनाचार्यविरचितम्

आदिपुराणम्

[द्वितीयो भागः]

अथ षड्विंशतितमं पर्व

अथ चक्रधरः पूजां चक्रस्य विधिवद् व्यधात् । सुतोत्पत्तिमपि श्रीमानभ्यनन्ददनुक्रमात् ॥१॥
[1]नादरिद्रीजनः कश्चिद् विभोस्तस्मिन् महोत्सवे । दारिद्र्यमर्थिलाभे[2] तु जातं [3]विश्वाशितंभवे ॥२॥
चतुष्केषु[4] च रथ्यासु[5] पुरस्यान्तर्बहिः[6] पुरम् । पुञ्जीकृतानि रत्नानि तदार्थिभ्यो ददौ नृपः ॥३॥
अभिचार[7]क्रियेवासीच्चक्रपूजास्य विद्विषाम् । जगतः शान्तिकर्मैव जातकर्माप्यभूत्तदा ॥४॥
ततोऽस्य दिग्जयोद्योगसमये शरदापतत्[8] । जयलक्ष्मीरिवामुष्य प्रसन्ना विमलाम्बरा[9] ॥५॥
अलका इव संरेजुरस्या[10] मधुकरव्रजाः । सप्तच्छदप्रसूनोत्थरजोभूषितविग्रहाः[11] ॥६॥
प्रसन्नमभवत्तोयं सरसां सरितामपि । कवीनामिव सत्काव्यं जनताचित्तरञ्जनम् ॥७॥
सितच्छदावली[12] रेजे सपतन्ती समन्ततः । स्थूलमुक्तावली नद्धा कण्ठिकेव शरच्छ्रियः ॥८॥

अथानन्तर श्रीमान् चक्रवर्ती भरत महाराजने विधिपूर्वक चक्ररत्नकी पूजा की और फिर अनुक्रमसे पुत्र उत्पन्न होनेका आनन्द मनाया ॥ १ ॥ राजा भरतके उस महोत्सवके समय संसार-भरमें कोई दरिद्र नहीं रहा था किन्तु दरिद्रता सबको सन्तुष्ट करनेवाले याचकोंके प्राप्त करनेमे रह गयी थी । भावार्थ—महाराज भरतके द्वारा दिये हुए दानसे याचक लोग इतने अधिक सन्तुष्ट हो गये कि उन्होने हमेशाके लिए याचना करना छोड़ दिया ॥ २ ॥ उस समय राजाने चौराहोंमें, गलियोमे, नगरके भीतर और बाहर सभी जगह रत्नोके ढेर किये थे और वे सब याचकोंके लिए दे दिये थे ॥ ३ ॥ उस समय भरतने जो चक्ररत्नकी पूजा की थी वह उसके शत्रुओके लिए अभिचार क्रिया अर्थात् हिंसाकार्यके समान मालूम हुई थी और पुत्र-जन्मका जो उत्सव किया था वह संसारको शान्ति कर्मके समान जान पडा था ॥ ४ ॥ तदनन्तर भरतने दिग्विजयके लिए उद्योग किया, उसी समय शरदृतु भी आ गयी जो कि भरतकी जयलक्ष्मीके समान प्रसन्न तथा निर्मल अम्बर (आकाश) को धारण करनेवाली थी ॥ ५ ॥ उस समय सप्तपर्ण जातिके फूलोसे उठी हुई परागसे जिनके शरीर सुशोभित हो रहे है ऐसे भ्रमरोके समूह इस शरदृतुके अलको (केशपाश) के समान शोभायमान हो रहे थे ॥६॥ जिस प्रकार कवियोका उत्तम काव्य प्रसन्न अर्थात् प्रसाद गुणसे सहित और जनसमूहके चित्तको आनन्दित करनेवाला होता है उसी प्रकार तालावो और नदियोका जल भी प्रसन्न अर्थात् स्वच्छ और मनुष्योके चित्तको आनन्द देनेवाला बन गया था ॥ ७ ॥ चारो ओर उड़ती हुई हसोकी पंक्तियाँ ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो शरदृतु रूपी लक्ष्मी-

---

१ दरिद्रो नाभूत् । नो दरिद्री जनः ल० । न दरिद्री जनः द०, इ०, अ०, प०, स० । २ याचकजनप्राप्तौ ३ सकलतृप्तिजनके । ४ चतुष्पथकृतमण्डपेषु । ५ वीथिषु । ६ 'बहिः' पर्यया च' इति समास. । ७ मारणक्रिया । ८ आगता । ९ निर्मलाकाशा निर्मलवसना च । १० शरल्लक्ष्म्याः । ११ आच्छादित । १२ हंसपङ्क्ति.

सरोजलमभूत्कान्तं सरोजरजसा ततम् । सुवर्णरजसाकीर्णमिव कुट्टिमभूतलम् ॥९॥
सरः सरोजरजसा पिहितं स्थगितोदकम् । कादम्ब[1]जायाः सम्प्रेक्ष्य मुमुहु[2] स्थलशङ्कया ॥१०॥
कञ्जकिञ्जल्कपुञ्जेन पिञ्जरा षट्पदावली । सौवर्णमणिक्लृप्तेव[3] शरदः कण्ठिका बभौ ॥११॥
सरोजलं [4]समासेदुर्मुखराः सितपक्षिणः[5] । [6]वदान्यकुलमुद्भूतयशस्यमिव[7] बन्दिनः ॥१२॥
नदीनां पुलिनान्यासन् शुचीनि शरदागमे । हंसानां रचितानीव शयनानि सितांशुकैः ॥१३॥
सरांसि ससरोजानि सोत्पला [8]वप्रभूमयः । सहंससैकता[9] नद्यो [10]जह्रुश्चेतांसि कामिनाम् ॥१४॥
प्रसन्नसलिला रेजुः सरस्यः ससारसाः । कूजितैः कलहंसानां जितनूपुरशिञ्जितैः ॥१५॥
नीलोत्पलेक्षणा रेजे शरच्छ्रीः पङ्कजानना । व्यक्तमाभाषमाणेव कलहंसीकलस्वनैः ॥१६॥
पक्वशालिभुवो नम्रकणिशाः पिञ्जरश्रियः । स्नाता [11]हरिद्रयेवासन् शरत्कालप्रियागमे ॥१७॥
मन्दमाना[12] मदं[13] भेजुः महमाना[14] मदं जहुः । शरल्लक्ष्मीं समालोक्य शुद्ध्यशुद्ध्योरयं[15] निजः ॥१८॥

की बडे-बडे मोतियोकी मालासे बनी हुई कण्ठमाल (गलेमे पहननेका हार) ही हों ॥ ८ ॥ कमलोकी परागसे व्याप्त हुआ सरोवरका जल ऐसा सुन्दर जान पडता था मानो सुवर्णकी धूलिसे व्याप्त हुआ रत्नजटित पृथिवीका तल ही हो ॥९॥ जिसका जल सारी ओरसे कमलों-की परागसे ढँका हुआ है ऐसे सरोवरको देखकर कादम्ब जातिके हसोकी स्त्रियाँ स्थलका सन्देह कर बार-बार मोहमें पड जाती थीं अर्थात् सरोवरको स्थल समझने लगती थीं ॥ १० ॥ जो भ्रमरोकी पक्तियाँ कमलोकी केशरके समूहसे पीली-पीली हो गयी थी वे ऐसी जान पड़ती थी मानो सुवर्णमय मनकाओसे गूँथा हुआ शरदृऋतुका कण्ठहार ही हो ॥ ११ ॥ जिस प्रकार चारण लोग प्रसिद्ध दानी पुरुषके समीप उसकी कीर्ति गाते हुए पहुँचते है उसी प्रकार हंस पक्षी भी शब्द करते हुए अतिशय सुगन्धित सरोवरके जलके समीप पहुँच रहे थे ॥ १२ ॥ शरद् ऋतुके आते ही नदियोके किनारे स्वच्छ हो गये थे और ऐसे जान पडते थे मानो सफेद वस्त्रों-से बने हुए हसोके बिछौने ही हों ॥ १३ ॥ कमलोसे सहित सरोवर, नील कमलोसे सहित खेतोंकी भूमियाँ और हसोसहित किनारोसे युक्त नदियाँ ये सब कामी मनुष्योका चित्त हरण कर रहे थे ॥ १४ ॥ जिनमे स्वच्छ जल भरा हुआ है और जो सारस पक्षियोंके जोड़ोसे सहित है ऐसे छोटे-छोटे तालाब, नूपुरोके शब्दको जीतनेवाले कलहंस पक्षियोंके सुन्दर शब्दोसे बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहे थे ॥ १५ ॥ नीलोत्पल ही जिसके नेत्र हैं और कमल ही जिसका मुख है ऐसी शरदृऋतुकी लक्ष्मीरूपी स्त्री कलहसियोके मधुर शब्दोके बहाने वार्तालाप करती हुई-सी जान पडती थी ॥१६॥ जिनमे बाले नीचेकी ओर झुक गयी है और जिनकी शोभा कुछ-कुछ पीली हो गयी है ऐसी पके चावलोकी पृथिवियाँ उस समय ऐसी जान पडती थी मानो शरद् कालरूपी पतिके आनेपर हल्दी आदिके उबटन-द्वारा स्नान कर सुसज्जित ही बैठी हों ॥ १७ ॥ उस शरदृऋतुकी शोभा देखकर हस हर्षको प्राप्त हुए थे और मयूरोने अपना हर्ष छोड़ दिया था। सो ठीक ही है क्योकि शुद्धि और अशुद्धिका यही स्वभाव होता है। भावार्थ– हस शुद्ध अर्थात् सफेद होते हैं इसलिए उन्हे शरदृऋतुकी शोभा देखकर हर्ष हुआ परन्तु मयूर अशुद्ध अर्थात् नीले होते है इसलिए उन्हे उसे देखकर दु ख हुआ। किसीका वैभव देखकर शुद्ध अर्थात् स्वच्छ हृदयवाले पुरुष तो आनन्दका अनुभव करते है और अशुद्ध अर्थात् मलिन स्वभाववाले–दुर्जन पुरुष दु खका अनुभव करते है, यह इनका स्वभाव ही है ॥ १८ ॥

१ कलहसस्त्रियः । 'कादम्ब कलहस. स्याद्' इत्यभिधानात् । २ मोहयन्ति स्म । ३ रचिता । ४ जगु । ५ हसा । ६ त्यागिसमूहम् । ७ सौहार्दम् । ८ केदार । ९ पुलिन । १० अपहरन्ति स्म । ११ रजन्या । १२ हंसा । मन्दमाना ल० । १३ हर्षम् । १४ मयूरा. । महमाना ल० । १५ अयमात्मीयगुणो हि ।

कलहंसा हसन्तीव विरुतैः स्म शिखण्डिनः । अहो[1] जडप्रिया यूयमिति निर्मलमूर्तयः ॥१९॥
चित्रवर्णा [2]घनाबद्धरुचयो गिरिसंश्रयाः । समं [3]शतमखेष्वासैर्बर्हिणः स्वोन्नतिं जहुः ॥२०॥
[4]बन्धूकैरिन्द्रगोपश्रीराततेने वनराजिषु । शरल्लक्ष्म्येव निष्ठ्यूतैस्ताम्बूलरसबिन्दुभिः ॥२१॥
विकासं बन्धुजीवेषु[5] शरदाविर्भवन्त्यधात् । सतीव[6] सुप्रसन्नाशा[7] विपङ्का[8] विशदाम्बरा[9] ॥२२॥
हंसस्वनानकाकाशकणिशोज्ज्वलचामरा । पुण्डरीकातपत्रासीद्दिग्जयोद्यतेव सा शरत् ॥२३॥
दिशां [10]प्रसाधनायाधाद् [11]बाणासनपरिच्छदम् । शरत्कालो [12]जिगीषोर्हि श्लाघ्यो बाणासनग्रहः ॥२४॥
वनावली कृशा पाण्डुरासीदाशा विमुञ्चती । घनागमवियोगोत्थचिन्तयेवाकुलीकृता ॥२५॥
नभः सतारमारेजे विहसत्कुमुदाकरम् । कुमुद्वतीवनं चाभाज्जयत्तारकितं नभः ॥२६॥

निर्मल शरीरको धारण करनेवाले हंस मधुर शब्द करते हुए ऐसे जान पड़ते थे मानो अहो तुम लोग जड़प्रिय – मूर्खप्रिय (पक्षमें जलप्रिय) हो इस प्रकार कहकर मयूरोकी हँसी ही उड़ा रहे हो ॥ १९ ॥ जिनका वर्ण अनेक प्रकारका है, जिनकी रुचि–इच्छा (पक्षमें कान्ति) मेघोमे लग रही है और जो पर्वतोके आश्रय है ऐसे मयूरोने इन्द्रधनुषोके साथ-ही-साथ अपनी भी उन्नति छोड़ दी थी । भावार्थ – उस शरद्ऋतुके समय मयूर और इन्द्रधनुष दोनोकी शोभा नष्ट हो गयी थी ॥ २० ॥ वन-पक्तियोमे शरद्ऋतुरूपी लक्ष्मीके द्वारा थूके हुए ताम्बूलके रसके बूँदोके समान शोभा देनेवाले बन्धूक (दुपहरिया) पुष्पोने क्या इन्द्रगोप अर्थात् वर्षाऋतुमें होनेवाले लाल रगके कीड़ोकी शोभा नही बढायी थी ? अर्थात् अवश्य ही बढायी थी । बन्धूक पुष्प इन्द्रगोपोके समान जान पडते थे ॥ २१ ॥ जिस प्रकार निर्मल अन्त करणवाली, पापरहित और स्वच्छ वस्त्र धारण करनेवाली कोई सती स्त्री घरसे बाहर प्रकट हो अपने बन्धुजनोके विषयमे विकास अर्थात् प्रेमको धारण करती है उसी प्रकार शुद्ध दिशाओको धारण करनेवाली कीचड़रहित और स्वच्छ आकाशवाली शरद्ऋतुने भी प्रकट होकर बन्धुजीव अर्थात् दुपहरिया-के फूलोपर विकास धारण किया था – उन्हे विकसित किया था । तात्पर्य यह है कि उस समय दिशाएँ निर्मल थी, कीचड सूख गया था, आकाश निर्मल था और वनोंमे दुपहरियाके फूल खिले हुए थे ॥ २२ ॥ उस समय जो हंसोके शब्द हो रहे थे वे नगाडोके समान जान पडते थे, वनोमें काशके फूल फूल रहे थे वे उज्ज्वल चमरोके समान मालूम होते थे, और तालावोमे कमल खिल रहे थे वे छत्रके समान सुशोभित हो रहे थे तथा इन सबसे वह शरद्ऋतु ऐसी जान पड़ती थी मानो उसे दिग्विजय करनेकी इच्छा ही उत्पन्न हुई हो ॥ २३ ॥ उस शरद्ऋतुने दिशाओ-को प्रसाधन अर्थात् अलंकृत करनेके लिए बाणासन अर्थात् बाण और आसन जातिके पुष्पो-का समूह धारण किया था सो ठीक ही है क्योकि शत्रुओको प्रसाधन अर्थात् वश करनेके लिए जिगीषु राजाको बाणासन अर्थात् धनुषका ग्रहण करना प्रशसनीय ही है ॥ २४ ॥ उस समय समस्त आशा अर्थात् दिशाओ (पक्षमे सगमकी इच्छाओ)को छोडती हुई मेघमाला कृश और पाण्डुवर्ण हो गयी थी सो उससे ऐसी जान पडती थी मानो वर्षाकालके वियोगसे उत्पन्न हुई चिन्तासे व्याकुल होकर ही वैसी हो गयी हो ॥ २५ ॥ उस शरद्ऋतुके समय ताराओसे सहित आकाश ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो कुमुदिनियोसहित सरोवरकी हँसी ही कर रहा हो

१ जलप्रिया ल०, द०, इ०, स०, अ०, प० । २ मेघकृतवाञ्छाः । ३ इन्द्रचापैः । ४ बन्धुजीवकैः । 'बन्धूकैः बन्धुजीवकैः' इत्यभिधानात् । ५ बन्धूक-कुसुमेषु, पक्षे सुहृज्जीवेषु । ६ पुण्याङ्गनेव । ७ सुप्रसन्नदिक्, पक्षे सुप्रसन्नमानसा । सुप्रसन्नात्मा–ल० । ८ विगतकर्दमा, पक्षे दोषरहिता । ९ पक्षे निर्मलवस्त्राः । १० अलंकाराय । जयार्थं च । ११ झिण्टिकुसुमसर्जककुसुमपरिकरम् । पक्षे धनुः परिकरम् । १२ जेतुमिच्छोः ।

तारकाकुमुदाकीर्णे नभःसरसि निर्मले । हंसायते स्म शीतांशुर्विक्षिप्तकरपक्षतिः[1] ॥२७॥
नभोगृहाङ्गणे तेनुः श्रिय पुष्पोपहारजाम् । तारकादिग्वधूहारतारमुक्ताफलत्विषः ॥२८॥
बभुर्नभोऽम्बुधौ ताराः स्फुरन्मुक्ताफलामलाः । करका[2] इव मेघौघैर्निहिता[3] हिमशीतलाः ॥२९॥
ज्योत्स्नासलिलसंभूता इव बुद्बुदपङ्क्तयः । तारका रुचिमातेनुर्विप्रकीर्णा नभोऽङ्गणे ॥३०॥
तनूभूतपयोवेणी[4] नद्यः परिकृशा दधुः । वियुक्ता घनकालेन विरहिण्य इवाङ्गनाः ॥३१॥
अनुद्धता गम्भीरत्वं भेजुः स्वच्छजलांशुकाः[5] । सरित्स्त्रियो घनापायाद् वैधव्यमिव[6] संश्रिताः ॥३२॥
दिगङ्गना घनापायप्रकाशीभूतमूर्तयः । [7]व्यावहासीमिवातेनुः प्रसन्ना हंसमण्डलैः[8] ॥३३॥
कूजितैः कलहंसानां निर्जिता इव तत्यजुः । केकायितानि[9] शिखिनः सर्वः कालबलाद् बली ॥३४॥
ज्योत्स्नादुकूलवसना लसन्नक्षत्रमालिका[10] । बन्धुजीवाधरा रेजे निर्मला शरदङ्गना ॥३५॥
ज्योत्स्ना कीर्तिमिवातन्वन् विधुर्गगनमण्डले । शरल्लक्ष्मीं समासाद्य सुराजेवाद्युतत्तराम् ॥३६॥
बन्धुजीवेषु[11] विन्यस्तरागा[12] बाणकृतद्युतिः[13] । हंसी सखीवृता रेजे नवोढेव[14] शरद्वधूः ॥३७॥

और कुमुदिनियोसे सहित सरोवर ऐसा जान पड़ता था मानो ताराओसे सुशोभित आकाश-को ही जीत रहा हो ॥ २६ ॥ तारकारूप कुमुदोसे भरे हुए आकाशरूपी निर्मल सरोवरमें अपने किरणरूप पखोंको फैलाता हुआ चन्द्रमा ठीक हंसके समान आचरण करता था ॥ २७ ॥ जिनकी कान्ति दिशारूपी स्त्रियोके हारोमे लगे हुए बड़े-बड़े मोतियोके समान है ऐसे तारागण आकाशरूपी घरके आँगनमे फूलोके उपहारसे उत्पन्न हुई शोभाको बढा रहे थे ॥ २८ ॥ देदीप्य-मान मुक्ताफलोके समान निर्मल तारे आकाशरूपी समुद्रमे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो मेघो-के समूहने बर्फके समान शीतल ओले ही धारण कर रखे हो ॥ २९ ॥ आकाशरूपी आँगनमें जहाँ-तहाँ बिखरे हुए तारागण ऐसी शोभा धारण कर रहे थे मानो चाँदनीरूप जलसे उत्पन्न हुए बबूलोके समूह ही हो ॥ ३० ॥ वर्षाकालरूपी पतिसे बिछुड़ी हुई नदियाँ विरहिणी स्त्रियोके समान अत्यन्त कृश होकर जलके सूक्ष्म प्रवाहरूपी चोटियोको धारण कर रही थी ॥ ३१ ॥ वर्षाकालके नष्ट हो जानेसे नदीरूप स्त्रियाँ मानो वैधव्य अवस्थाको ही प्राप्त हो गयी थी, क्योकि जिस प्रकार विधवाएँ उद्धतता छोड देती है उसी प्रकार नदियोने भी उद्धतता छोड़ दी थी, विधवाएँ जिस प्रकार स्वच्छ (सफेद) वस्त्र धारण करती है उसी प्रकार नदियाँ भी स्वच्छ वस्त्ररूपी जल धारण कर रही थी, और विधवाएँ जिस प्रकार अगम्भीर वृत्तिको धारण करती है उसी प्रकार नदियाँ भी अगम्भीर अर्थात् उथली वृत्तिको धारण कर रही थी ॥३२॥ मेघोके नष्ट हो जानेसे जिनकी मूर्ति—आकृति प्रकाशित हो रही है ऐसी दिशारूपी स्त्रियाँ अत्यन्त प्रसन्न हो रही थी और हसरूप आभरणोके छलसे मानो एक-दूसरेके प्रति हँस ही रही थी ॥ ३३ ॥ उस समय मयूरोने अपनी केका वाणी छोड दी थी, मानो कलहस पक्षियोके मधुर शब्दोसे पराजित होकर ही छोड़ दी हो, सो ठीक ही है क्योकि समयके बलसे सभी बलवान् हो जाते है ॥ ३४ ॥ चाँदनीरूपी रेशमी वस्त्र पहने हुए, देदीप्यमान नक्षत्रोकी माला (पक्ष-में सत्ताईस मणियोवाला नक्षत्रमाल नामका हार) धारण किये हुए और दुपहरियाके फूल रूप अधरोसे सहित वह निर्मल शरदृतुरूपी स्त्री अतिशय सुशोभित हो रही थी ॥ ३५ ॥ शरदृतुकी शोभा पाकर आकाशमण्डलमे चाँदनीरूपी कीर्तिको फैलाता हुआ चन्द्रमा किसी उत्तम राजाके समान अत्यन्त सुशोभित हो रहा था ॥३६॥ वह शरदृतु नवोढा स्त्रीके समान

---

१ किरणा एव पक्षति. मूल यस्य । २ वर्षोपला । ३ निक्षिप्ता । ४ पय प्रवाहा इत्यर्थ । ५ पक्षे श्वेतस्थूलवस्त्रा । ६ विधवाया भाव. । ७ परस्परहासम् । ८ हंसमण्डना प०, इ०, द० । हसमण्डनात् ल० । ९ मयूररुतानि । १० तारकावली, पक्षे हारभेद । ११ बन्धूकेषु बान्धवेषु च । १२ झिण्टि, पक्षे शर । १३ विकास , पक्षे कान्ति. । १४ नूतनविवाहिता ।

स्वयं[1] धौतमभाद् व्योम स्वयं प्रच्छालितः शशी । स्वयं प्रसादिता[2] नद्यः स्वयं संमार्जिता दिशः ॥३८॥
शरल्लक्ष्मीमुखालोकदर्पणे शशिमण्डले । प्रजादृशो धृतिं भेजुरसंमृष्टसमुज्ज्वले ॥३९॥
वनराजीस्ततामोदाः कुसुमाभरणोज्ज्वलाः । मधुव्रता भजन्ति स्म कृतकोलाहलस्वनाः ॥४०॥
तन्व्यो[3] वनलता रेजुर्विकासिकुसुमस्मिताः । सालका इव गन्धान्धविलोलालिकुलाकुलाः ॥४१॥
दर्पोद्धुराः[4] खुरोत्खातभुवस्ताम्रीकृतेक्षणाः । वृषाः[5] प्रतिवृषालोककुपिताः प्रतिनस्वनुः ॥४२॥
अवास्किरन्त[6] शृङ्गाग्रैर्वृषभा धीरनिःस्वनाः । वनस्थलीः[7] स्थलाम्भोजमृणालशकलाचिताः[8] ॥४३॥
वृषाः ककुदसंलग्नमृदः कुमुदपाण्डराः । व्यक्ताङ्कस्य मृगाङ्कस्य लक्ष्मीमविभरु[9]स्तदा ॥४४॥
क्षीरप्लवमयीं कृत्स्नामातन्वाना वनस्थलीम् । प्रस्नुवाना वनान्तेषु प्रसस्रुर्गोमतल्लिकाः[10] ॥४५॥
कुण्डोध्न्योऽमृतपिण्डेन[11] घटिता इव निर्मलाः । गोगृष्टयो[12] वनान्तेषु शरच्छ्रिय इवारुचन्[13] ॥४६॥

सुशोभित हो रही थी क्योकि जिस प्रकार नवोढ़ा स्त्री वन्धुजीव अर्थात् भाई-वन्धुओंपर राग अर्थात् प्रेम रखती है उसी प्रकार वह शरदृऋतु भी वन्धुजीव अर्थात् दुपहरियाके फूलोपर राग अर्थात् लालिमा धारण कर रही थी, नवोढा स्त्री जिस प्रकार देदीप्यमान होती हैं उसी प्रकार शरदृऋतु भी वाण जातिके फूलोसे देदीप्यमान हो रही थी और नवोढा स्त्री जिस प्रकार सखियोसे घिरी रहती है उसी प्रकार वह शरदृऋतु भी हंसीरूपी सखियोसे घिरी रहती थी ॥३७॥ उस समय आकाश अपने-आप साफ किये हुएके समान जान पड़ता था, चन्द्रमा अपने आप धोये हुएके समान मालूम होता था, नदियाँ अपने-आप स्वच्छ हुई-सी जान पड़ती थी और दिशाएँ अपने-आप झाड-वुहारकर साफ की हुईके समान मालूम होती थी ॥३८॥ जो शरदृऋतुरूपी लक्ष्मीके मुख देखनेके लिए दर्पणके समान है और जो विना साफ किये ही अत्यन्त उज्ज्वल है ऐसे चन्द्रमण्डलमे प्रजाके नेत्र वड़ा भारी सन्तोप प्राप्त करते थे ॥३९॥ जिनकी सुगन्धि चारो ओर फैल रही है और जो फूलरूप आभरणोसे उज्ज्वल हो रही हैं ऐसी वन-पक्तियोको भ्रमर कोलाहल शव्द करते हुए सेवन कर रहे थे ॥४०॥ जो फूले हुए पुष्परूपी मन्द हास्यसे सहित थी तथा गन्धसे अन्वे हुए भ्रमरोंके समूहसे व्याप्त होनेके कारण जो सुन्दर केशोसे सुशोभित थी ऐसी वनकी लताएँ उस समय कृश शरीरवाली स्त्रियोके समान शोभा पा रही थी ॥४१॥ जो खुरोसे पृथिवीको खोद रहे थे, जिनकी आँखे लाल-लाल हो रही थी और जो दूसरे वैलोके देखनेसे क्रोधित हो रहे थे ऐसे मदोन्मत्त वैल अन्य वैलोके शव्द सुनकर वदलेमे स्वय शव्द कर रहे थे ॥४२॥ उसी प्रकार गम्भीर शव्द करते हुए वे वैल अपने सीगोके अग्रभागसे स्थलकमलोके मृणालके टुकड़ोसे व्याप्त हुई वनकी पृथिवीको खोद रहे थे ॥४३॥ इसी तरह उस शरदृऋतुमें जिनके काँधौलपर मिट्टी लग रही है और जो कुमुद पुष्पके समान अत्यन्त सफेद है ऐसे वे वैल स्पष्ट चिह्नवाले चन्द्रमाकी शोभा धारण कर रहे थे ॥४४॥ जिनसे अपने-आप दूध निकल रहा है ऐसी उत्तम गाये वनकी सम्पूर्ण पृथिवीको दुग्ध प्रवाहके रूप करती हुई वनोके भीतर जहाँ-तहाँ फिर रही थी ॥४५॥ इसी प्रकार जिनके स्तन कुण्डके समान भारी है और जो अमृतके पिण्डसे वनी हुईके समान अत्यन्त निर्मल है ऐसी तुरन्तकी प्रसूत हुई गाये वनोके मध्यमे शरदृऋतुकी शोभाके समान जान पड़ती थी ॥४६॥

---

१ आत्मना प्रसन्नमित्यर्थ । २ प्रसन्नीकृता. । ३ कृशा अङ्गनाश्च । ४ उत्कृष्टा. । ५ वृषभा. । ६ किरन्ति स्म । ७ वनस्थली ल० । ८ –चिताम् ल० । ९ धरन्ति स्म । १० प्रशस्तगाव । 'मतल्लिका मर्चचिका प्रकाण्डमुद्धतल्लजौ । प्रशस्तवाचकान्यमूनि' इत्यभिधानात् । ११ पिठराधीना. । 'पिठरः स्थाल्युखा कुण्डमि'त्यभिधानात् । 'ऊधस्तु क्लीवमापीनम्' । 'ऊधसोऽनम्' इति सूत्रात् सकारस्य नकारादेशः । १२ सकृत्प्रसूता गाव. । 'गृष्टि सकृत्प्रसूतिका' इत्यभिधानात् । १३ इवाभवन् ल० ।

हुम्भारवभृतो[1] वत्सानापिप्यन्[2]प्रकृतस्वनान्[3] । पीनापीना:[4] पयस्विन्य:[5] पय:पीयूषमुत्सुका:[6] ॥४७॥
क्षीरस्यतो[7] निजान् वत्सान् हुम्भागम्भीरनि:स्वनान् । धेनुष्या:[8] पाययन्ति स्म गोपैरपि नियन्त्रिता: ॥४८॥
प्राक्स्वीया जलदा जाता: शिखिनामप्रियास्तदा । रिक्ता जलधनापायादहो कष्टा दरिद्रता ॥४९॥
[9]व्याजहासीमिवातेनुर्गिरय: पुष्पितैर्द्रुमै: । व्यात्युक्षीमिव[10] तन्वाना: स्फुरन्निर्झरशीकरै: ॥५०॥
प्रवृद्धवयसो[11] रेजु: कलमा भृशमानता: । परिणामात्प्रशुष्यन्तो[12] जरन्त:[13] पुरुषा इव ॥५१॥
[14]विरेजुरसनापुष्पैर्मदालिपटलावृतै: । इन्द्रनीलकृतान्तर्यै:[15] सौवर्णैरिव भूषणै: ॥५२॥
घनावरणनिर्मुक्ता दधुरागा दृशां मुदम् । नटिका[16] इव नेपथ्यगृहाद्रङ्गमुपागता:[17] ॥५३॥
अदधुर्वनवृन्दानि मुक्तासाराणि[18] भूधरा: । सदशानीव[19] वासांसि[20] निष्प्रवाणीनि[21] सानुभि: ॥५४॥
[22]पवनाधोरणारूढाभ्रेमुर्जीमूतदन्तिन:[23] । सान्तर्गजा निकुञ्जेषु[24] सासारमदशीकरा: ॥५५॥
शुकावलीप्रवालाभचञ्चुस्तेने दिवि[25] श्रियम् । हरिन्मणिपिनद्धेव तोरणाली सपद्मभा[26] ॥५६॥

जिनके स्तन बहुत ही स्थूल है और जो हम्भा शब्द कर रही है ऐसे दूधवाली गाये दूध पीनेके लिए उत्सुक तथा बार-बार हम्भा शब्द करते हुए अपने बच्चोको दूधरूपी अमृत पिला रही थी ॥४७॥ जो गाये ग्वालाओके यहाँ बन्धकरूपसे आयी थी अर्थात् दूधके ठेकापर आयी थीं, उन्होने उन्हे यद्यपि बाँध रखा था तथापि वे 'हुम्भा' ऐसा गम्भीर शब्द करनेवाले एव दूध पीनेके लिए उत्सुक अपने बच्चोको दूध पिला ही रही थी ॥४८॥ जो मेघ पहले मयूरोंको अत्यन्त प्रिय थे वे ही अब शरदृऋतुमे जलरूप धनके नष्ट हो जानेसे खाली होकर उन्हे अप्रिय हो गये थे सो ठीक ही है क्योकि दरिद्रता बहुत ही कष्ट देनेवाली होती है ॥४९॥ उस समय फूले हुए वृक्षोसे पर्वत ऐसे जान पड़ते थे मानो परस्परमें हँसी ही कर रहे हो और झरते हुए झरनोके छीटोसे ऐसे जान पडते थे मानो फाग ही कर रहे हो – विनोदवश एक-दूसरेके ऊपर जल डाल रहे हो ॥५०॥ कलमी जातिके धान, जो कि बहुत दिनके थे अथवा जिनके समीप बहुत पक्षी बैठे हुए थे, जो खूब नव रहे थे और जो अपने परिपाकसे जगत्के समस्त जीवोका पोषण करते थे, वे ठीक वृद्ध पुरुषोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥५१॥ सहजनाके वृक्ष मदोन्मत्त भ्रमरोके समूहसे घिरे हुए अपने फूलोसे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो जिनके मध्यभागमे इन्द्रनील मणि लगा हुआ है ऐसे सुवर्णमय आभूषणोसे ही सुशोभित हो रहे हो ॥५२॥ जिस प्रकार आभूषण आदि पहननेके परदेवाले घरसे निकलकर रंगभूमिमे आयी हुई नृत्यकारिणी नेत्रोको आनन्द देती है उसी प्रकार मेघोके आवरणसे छूटी हुई दिशाएँ नेत्रोको अतिशय आनन्द दे रही थी ॥५३॥ पर्वतोने जो अपनी शिखरोपर जलरहित सफेद बादलोके समूह धारण किये थे वे ऐसे जान पडते थे मानो अंचलसहित नवीन वस्त्र ही हो ॥५४॥ जिनपर वायुरूपी महावत बैठे हुए है, जो भीतर-ही-भीतर गरज रहे है और जो लतागृहोमे जलकी बूँदरूपी मदधाराकी बूँदे छोड़ रहे है ऐसे मेघरूपी हाथी जहाँ-तहाँ फिर रहे थे ॥५५॥ जिनकी चोंच मूँगाके समान लाल है ऐसी तोताओकी

१ हुंभा इत्यनुकरणारावभृत. । २ पाययन्ति स्म । ३ प्रकर्षेण कृत । ४ प्रवृद्धौधस. । ५ धेनव । ६ –मुत्सुकाम् ल० । ७ क्षीरमात्मानमिच्छून् । ८ 'धेनुष्या बन्धके स्थिता' इत्यभिधानात् । ९ परस्परहसनम् । १० परस्परसेचनम् । ११ वृद्धवयस्का प्रवृद्धपक्षिणश्च । १२ परिपक्ववात् । १३ वृद्धा । १४ सर्जका । १५ मध्यैरित्यर्थ । १६ नर्तक्य । १७ अलकारगृहात् । १८ वर्षाणि । १९ वस्तिसहितानि । 'स्त्रिया बहुत्वे वस्त्रस्य दशा स्युर्वस्तय.' इत्यभिधानात् । अन्यदपि दशावर्तावस्थाया वस्त्रान्ते स्युर्दशा अपि । २० वस्त्राणि । २१ नूतनानि । 'अनाहत निष्प्रवाणि तन्त्रकं च नवाम्बरे' इत्यभिधानात् । २२ हस्तिपक । 'आधोरणो हस्तिपक.' इत्यभिधानात् । २३ मेघ । २४ सानुषु । २५ आकाशे । २६ पद्मरागसहिता ।

चेतांसि [1]तरणाङ्गोपजीविनामुद्धतात्मनाम् । पुंसां च्युताधिकाराणामिव दैन्यमुपागमन् ॥५७॥
प्रतापी भुवनस्यैकं चक्षुर्नित्यमहोदयः । भास्वानाक्रान्ततेजस्वी बभासे भरतेशवत् ॥५८॥
इति प्रस्पष्टचन्द्रांशुप्रहासे शरदागमे । चक्रे दिग्विजयोद्योगं चक्री चक्रपुरस्सरम् ॥५९॥
प्रस्थानभेर्यो गम्भीरप्रध्वानाः प्रहतास्तदा । श्रुता बर्हिभिरुद्ग्रीवैर्घनाडम्बरशङ्किभिः ॥६०॥
कृतमङ्गलनेपथ्यो [2] बभारोरस्थलं प्रभुः । शरल्लक्ष्म्येव संभक्तं [3] सहारहरिचन्दनम् ॥६१॥
ज्योत्स्नामये दुकूले च शुक्ले परिदधौ नृपः । शरच्छ्रियोपनीते वा मृदुनी दिव्यवाससी ॥६२॥
आजानुलम्बिना ब्रह्मसूत्रेण विबभौ विभुः । हिमाद्रिरिव गङ्गाम्बुप्रवाहेण तटस्पृशा ॥६३॥
[4]किरीटोदग्रमूर्धासौ कर्णाभ्यां कुण्डले दधौ । चन्द्रार्कमण्डले वक्तुमिवायाते जयोत्सवम् ॥६४॥
वक्षःस्थलेऽस्य रुरुचे रुचिरः कौस्तुभो मणिः । जयलक्ष्मीसमुद्वाहमङ्गलागारदीपवत् ॥६५॥

पंक्ति आकाशमें ऐसी शोभा बढा रही थी मानो पद्मराग मणियोंकी कान्तिसहित हरित मणियों-की बनी हुई वन्दनमाला ही हो ॥५६॥ जिस प्रकार अधिकारसे भ्रष्ट हुए मनुष्योंके चित्त दीनताको प्राप्त होते हैं उसी प्रकार नावोंके द्वारा आजीविका करनेवाले उद्धत मल्लाहोंके चित्त दीनताको प्राप्त हो रहे थे । भावार्थ – शरदृऋतुमें नदियोंका पानी कम हो जानेसे नाव चलानेवाले लोगोंका व्यापार बन्द हो गया था इसलिए उनके चित्त दुःखी हो रहे थे ॥५७॥ उस समय सूर्य भी ठीक महाराज भरतके समान देदीप्यमान हो रहा था, क्योंकि जिस प्रकार भरत प्रतापी थे उसी प्रकार सूर्य भी प्रतापी था, जिस प्रकार भरत लोकके एकमात्र नेत्र थे अर्थात् सबको हिताहितका मार्ग दिखानेवाले थे उसी प्रकार सूर्य भी लोकका एकमात्र नेत्र था, जिस प्रकार भरतका तेज प्रतिदिन बढता जाता था उसी प्रकार सूर्यका भी तेज प्रतिदिन बढता जाता था, और जिस प्रकार भरतने अन्य तेजस्वी राजाओंको दबा दिया था उसी प्रकार सूर्यने भी अन्य चन्द्रमा तारा आदि तेजस्वी पदार्थोंको दबा दिया था – अपने तेजसे उनका तेज नष्ट कर दिया था ॥५८॥ इस प्रकार अत्यन्त निर्मल चन्द्रमाकी किरणें ही जिसका हास्य है ऐसी शरदृऋतुके आनेपर चक्रवर्ती भरतने चक्ररत्न आगे कर दिग्विजय करनेके लिए उद्योग किया ॥५९॥

उस समय गम्भीर शब्द करते हुए प्रस्थान कालके नगाड़े बज रहे थे, जिन्हें मेघके आडम्बरकी शंका करनेवाले मयूर अपनी ग्रीवा ऊँची उठाकर सुन रहे थे ॥६०॥ उस समय जिन्होंने मंगलमय वस्त्राभूषण धारण किये हैं ऐसे महाराज भरत हार तथा सफेद चन्दन-से सुशोभित जिस वक्षःस्थलको धारण किये हुए थे वह ऐसा जान पड़ता था मानो शरदृऋतु-रूपी लक्ष्मी ही उसकी सेवा कर रही हो ॥६१॥ महाराज भरतने चाँदनीसे बने हुएके समान सफेद, बारीक और कोमल जिन दो दिव्य वस्त्रोंको धारण किया था वे ऐसे जान पड़ते थे मानो शरदृऋतुरूपी लक्ष्मीके द्वारा ही उपहारमें लाये गये हों ॥ ६२ ॥ घुटनों तक लटकते हुए ब्रह्मसूत्रसे महाराज भरत ऐसे सुशोभित हो रहे थे, जैसा कि तटको स्पर्श करनेवाले गंगा जलके प्रवाहसे हिमवान् पर्वत सुशोभित होता है ॥ ६३ ॥ मुकुट लगानेसे जिनका मस्तक बहुत ऊँचा हो रहा है ऐसे भरत महाराजने अपने दोनों कानोंमें जो कुण्डल धारण किये थे वे ऐसे जान पडते थे मानो जयोत्सवकी बधाई देनेके लिए सूर्यमण्डल और चन्द्रमण्डल ही आये हों ॥ ६४ ॥ भरतेश्वरके वक्षःस्थलपर देदीप्यमान कौस्तुभ मणि ऐसा सुशोभित होता था,

---

१ द्रोण्युडुपाद्युपजीविनाम् । नदीतारकाणामित्यर्थ । २ मङ्गलालंकार. । ३ सेवितम् । ४ किरीटोदग्र – ल०, द०, अ०, स० ।

विधुबिम्बप्रतिस्पर्धि [1]दध्रेऽस्यातपवारणम् । [2]तन्निभेनैन्दवं बिम्बमागत्येव सिषेविषु ॥६६॥
तदस्य रुचिमातेने धृतमातपवारणम् । चूडारत्नांशुभिर्भिन्नं[3] सारुणांशिव[4] पङ्कजम् ॥६७॥
स्वर्धुनीशीकरस्पर्धि चामराणां कदम्बकम् । [5]दुधुवुर्वारनार्योऽस्य दिक्कन्या इव संश्रिताः[6] ॥६८॥
ततः स्थपतिरत्नेन निर्ममे[7] स्यन्दनो महान् । सुवर्णमणिचित्राङ्गो[8] मेरुकुञ्जश्रिय[9] हसन् ॥६९॥
चक्ररत्नप्रतिस्पर्धिचक्रद्वितयसंगतः । वज्राक्षघटितो[10] रेजे रथोऽस्येव मनोरथः ॥७०॥
कामगैर्वायुरंहोभिः[11] कुमुदोज्ज्वलकान्तिभिः । यशोवितानसंकाशैः स रथोऽयोजि[12] वाजिभिः ॥७१॥
स तं स्यन्दनमारुक्षद्युक्तसारथ्यधिष्ठितम्[13] । नितम्बदेशमद्रीशः[14] सुरराडिव चक्रराट् ॥७२॥
ततः प्रास्थानिकैः[15] पुण्यनिर्घोषैरभिनन्दितः । प्रतस्थे दिग्जयोद्युक्तः कृतप्रस्थानमङ्गलः ॥७३॥
तदा नभोऽङ्गणं कृत्स्नं जयघोषैररुध्यत । नृपाङ्गणं च संरुद्धमभवत् सैन्यनायकैः ॥७४॥
महामुकुटबद्धास्तं परिवव्रुः समन्ततः । दूरात प्रणतमूर्धानः सुरराजमिवामराः ॥७५॥
प्रचचाल बलं विष्वगारुद्धपुरवीथिकम् । महायोधमयी[16] सृष्टिरपूर्वेवाभवत्तदा ॥७६॥

मानो विजयलक्ष्मीके विवाहरूपी मंगलकी सूचना देनेवाला दीपक ही हो ॥ ६५ ॥ उन्होने चन्द्रमण्डलके साथ स्पर्धा करनेवाले जिस छत्रको धारण किया था वह ऐसा जान पडता था मानो उस छत्रके वहानेसे स्वयं चन्द्रमण्डल ही आकर उनकी सेवा करना चाहता हो ॥ ६६ ॥ महाराज भरतने जो छत्र धारण किया था वह चूड़ारत्नकी किरणोंसे मिलकर ऐसा सुशोभित हो रहा था, मानो सूर्यकी लाल किरणोंसहित कमल ही हो ॥ ६७ ॥ जो वारांगनाएँ महाराज भरतके आसपास गगाके जलकी बूँदोके साथ स्पर्धा करनेवाले चमरोके समूह ढोल रही थी वे ऐसी जान पडती थी मानो अच्छी तरहसे आयी हुई दिक्कन्याएँ ही हों ॥६८॥ तदनन्तर स्थपति रत्नने एक वड़ा भारी रथ तैयार किया जो कि सुवर्ण और मणियोसे चित्र-विचित्र दिखनेवाले मेरु पर्वतके लतागृहोंकी शोभाकी ओर हँस रहा था ॥६९॥ वह रथ चक्ररत्नकी प्रतिस्पर्धा करनेवाले दो पहियोसे सहित था तथा वज्रके वने हुए अक्ष (दोनों पहियोके वीचमे पड़ा हुआ मजवूत लोहदण्ड–भौंरा) से युक्त था इसलिए महाराज भरतके मनोरथके समान वहुत ही अधिक सुशोभित हो रहा था ॥७०॥ उस रथमें जो घोडे जोते गये थे वे इच्छानुसार गमन करते थे, वायुके समान वेगशाली थे, कुमुदके समान उज्ज्वल कान्तिवाले थे और यशके समूहके समान जान पड़ते थे ॥७१॥ जिस प्रकार इन्द्र मेरु पर्वतके तटपर आरूढ होता है उसी प्रकार भरतेश्वर, योग्य सारथिसे युक्त रथपर आरूढ हुआ ॥७२॥ तदनन्तर प्रस्थान समयमे होनेवाले 'जय' 'जय' आदि पुण्य शब्दोके द्वारा जिनका अभिनन्दन किया जा रहा है, जो दिग्विजयकी समस्त तैयारियाँ कर चुके है और जिनके साथ प्रस्थानकालीन सभी मगलाचार किये जा चुके है ऐसे महाराज भरतने प्रस्थान किया ॥७३॥ उस समय आकाशरूपी समस्त आँगन जय-जय शब्दोकी घोषणासे भर गया था, और राजाका आँगन सेनापतियोसे भर गया था ॥७४॥ जिस प्रकार देव लोग इन्द्रको घेरकर खडे हो जाते है उसी प्रकार दूरसे ही मस्तक झुकाकर नमस्कार करते हुए महामुकुट बद्ध राजा लोग भरतको घेरे हुए चारो ओर खड़े थे ॥७५॥ जिसने चारो ओरसे नगरकी समस्त गलियोंको रोक लिया है ऐसी वह सेना चलने लगी। उस समय ऐसा जान पडता था मानो वड़े-वड़े

१ दधे ल० । २ आतपवारणव्याजेन । ३ मिश्रम् । ४ सूर्यकिरणसहितम् । ५ वीजयन्ति स्म । ६ समृता ल० । ७ रच्यते स्म । ८ अवयव । ९ तट । १० वरुथाङ्ग । ११ वेगवद्भि । १२ इज्यते स्म । १३ युक्तिपरसारथिममाश्रितम् । १४ मेरो । १५ प्रस्थाने नियुक्तै । १६ भटमयी ।

पुरः [1]पादातमाश्वीयं रथकड्या[2] च हास्तिकम् । क्रमान्निरी[3]युरावेष्ट्य सपताकं रथं प्रभोः ॥७७॥
रथ्या [4]रथ्याश्वसंघट्टादुत्थितैर्हेमरेणुभिः । बलक्षोदाक्षमाव्योम समुत्पेतुरिव[5] स्वयम् ॥७८॥
रौक्मै रजोभिराकीर्णं तदा रेजे नभोऽजिरम् । स्पृष्टं[6] बालातपेनेव पटवासेन चाततम्[7] ॥७९॥
शनैः शनैर्जनैर्मुक्ता विरेजुः पुरवीथयः । कल्लोलैरिव [8]वेलोत्थैर्महाब्धेस्तीरभूमयः ॥८०॥
पुराङ्गनाभिरुन्मुक्ताः सुमनोऽञ्जलयोऽपतन् । सौधवातायनस्थाभिर्दृष्टिपातैः समं प्रभौ ॥८१॥
जयेश विजयिन् विश्वं विजयस्व दिशो दश । पुण्याशिषां शतैरित्थं पौराः प्रभुमयूयुजन्[9] ॥८२॥
सम्राट् पश्यन्नयोध्यायाः परां भूतिं[10] तदातनीम्[11] । शनैः प्रतोलीं[12] सम्प्रापद् रत्नतोरणभासुराम् ॥८३॥
पुरो बहिः पुरः पश्चात् समं च विभुनाऽमुना । ददृशे दृष्टिपर्यन्तमसङ्ख्यमिव तद्बलम् ॥८४॥
जगतः प्रसवागारादिव तस्मात् पुराद् बलम् । निरियाय निरुच्छ्वासं[13] शनैरारुद्धगोपुरम् ॥८५॥
किमिदं प्रलयक्षोभात् क्षुभितं वारिधेर्जलम् । किमुत त्रिजगत्सर्गः[14] प्रत्यग्रोऽयं विजृम्भते ॥८६॥
इत्याशङ्क्य नभोभाग्भिः सुरैः साश्चर्यमीक्षितम् । प्रससार बलं विष्वक्पुरान्निर्याय चक्रिणः ॥८७॥

योद्धाओंकी एक अपूर्व सृष्टि ही उत्पन्न हुई हो ॥ ७६ ॥ सबसे पहले पैदल चलनेवाले सैनिकोंका समूह था, उसके पीछे घोडोका समूह था, उसके पीछे रथोंका समूह और उसके पीछे हाथियोका समूह था। इस प्रकार वह सेना पताकाओसे सहित महाराजके रथको घेरकर अनुक्रमसे निकली ॥७७॥ जिन मार्गोसे वह सेना जा रही थी वे मार्ग रथ और घोड़ोके सघटनसे उठी हुई सुवर्णमय धूलिसे ऐसे जान पडते थे मानो सेनाका आघात सहनेमे असमर्थ होकर स्वयं आकाशमें ही उड़ गये हों ॥ ७८ ॥ उस समय सुवर्णमय धूलिसे भरा हुआ आकाशरूपी आँगन ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो बालसूर्यकी सुनहली प्रभासे स्पर्श किया गया हो, और सुगन्धित चूर्णसे ही व्याप्त हो गया हो ॥७९॥ धीरे-धीरे लोग नगरकी गलियोंको छोड़कर आगे निकल गये जिससे खाली हुई वे गलियाँ ऐसी जान पड़ती थी मानो ज्वारभाटासे उठी हुई लहरोके चले जानेपर खाली हुई समुद्रके किनारेकी भूमि ही हो ॥ ८० ॥ उस समय बड़े-बड़े मकानोंके झरोखोंमे खडी हुई नगर-निवासिनी स्त्रियोके द्वारा अपने-अपने कटाक्षोके साथ छोडी हुई पुष्पाजलियाँ महाराज भरतके ऊपर पड रही थी ॥८१॥ हे ईश, आपकी जय हो, हे विजय करनेवाले महाराज, आप संसारका विजय करे और दशो दिशाओको जीते, इस प्रकार सैकड़ों पुण्याशीर्वादोंके द्वारा नगरनिवासी लोग भरतकी पूजा कर रहे थे—उनके प्रति सम्मान प्रकट कर रहे थे ॥ ८२ ॥ इस प्रकार उस समय होनेवाली अयोध्याकी उत्कृष्ट विभूतिको देखते हुए सम्राट् भरत धीरे-धीरे रत्नोके तोरणोंसे देदीप्यमान गोपुरद्वारको प्राप्त हुए ॥ ८३ ॥ उस समय महाराज भरतको नगरके बाहर अपने आगे-पीछे और साथ-साथ जहाँतक दृष्टि पड़ती थी वहाँतक असंख्यात सेना ही सेना दिखाई पड़ती थी ॥ ८४ ॥ जगत्की उत्पत्तिके घरके समान उस अयोध्यापुरीसे वह सेना गोपुरद्वारको रोकती हुई बडी कठिनतासे धीरे-धीरे बाहर निकली ॥८५॥ क्या यह प्रलय कालके क्षोभसे क्षोभको प्राप्त हुआ समुद्रका जल है ? अथवा यह तीनों लोकोंकी नवीन सृष्टि उत्पन्न हो रही है ? इस प्रकार आशका कर आकाशमे खड़े हुए देव लोग जिसे बडे आश्चर्यके साथ देख रहे है ऐसी चक्रवर्तीकी वह सेना नगरसे निकलकर चारो ओर फैल गयी ॥८६–८७॥

---

१ पदातीना समूहः । २ –कट्या ल० । ३ निर्गच्छन्ति स्म । ४ रथनियुक्तवाजी । रथाश्व द०, ल०, इ० । ५ उत्पतन्ति स्म । ६ स्पष्ट ल० । ७ चाततम् । ८ जलविकारोत्थै 'अब्ध्यम्बुविकृता वेला' इत्यभिधानात् । ९ –मपूजयन् ल० । १० सम्पदम् । ११ तत्कालजाम् । १२ गोपुरम् । १३ उच्छ्वासान्निष्क्रान्त यथा भवति तथा । समङ्कटमिति यावत् । १४ त्रिलोकसृष्टि ।

ततः प्राचीं[1] दिशं जेतुं कृतोद्योगो विशांपतिः । प्रययौ प्राङ्मुखो भूत्वा चक्ररत्नमनुव्रजन् ॥८८॥
चक्रमस्य ज्वलद्व्योम्नि प्रयाति स्म पुरो विभोः । सुरैः परिष्कृतं[2] विश्वग्भास्वद्बिम्बप्रभास्वरम्[3] ॥८९॥
चक्रानुयायि तद्भेजे[4] निधीनामीशितुर्बलम् । गुरोरिच्छानुवर्तिष्णु मुनीनामिव मण्डलम् ॥९०॥
दण्डरत्नं पुरोधाय सेनानीरग्रणीरभूत् । स्थपुटानि[5] समीकुर्वन् स्थलदुर्गाण्ययत्नतः ॥९१॥
अग्रण्या दण्डरत्नेन पथि राजपथीकृते । यथेष्टं प्रययौ सैन्यं क्वचिदप्यस्खलद्गति ॥९२॥
ततोऽध्वनि विशामीशः सोऽपश्यच्छारदीं श्रियम् । दिशां प्रसाधनीं कीर्तिमात्मीयामिव निर्मलाम् ॥९३॥
सरांसि कमलामोदमुद्वमन्ति शरच्छ्रियः । मुखायितानि संप्रेक्ष्य सोऽभ्यनन्दद्धीशिता ॥९४॥
स हंसान् सरसां तीरेष्वपश्यत् कृतशिञ्जनान्[6] । मृणालपीथसंपुष्टान्[7] शरदः पुत्रकानिव ॥९५॥
चञ्च्वा मृणालमुद्धृत्य हंसो हंस्यै समर्पयन् । राजहंसस्य[8] हृद्यस्य[9] महतीं धृतिमादधे ॥९६॥
सध्रीचीं[10] वीचिसंरुद्धामपश्यन् परितः[11] सरः । कोकः[12] कोकूयमानोऽस्य मनसः प्रीतिमातनोत् ॥९७॥
[13]हंसयूनाब्जकिञ्जल्करजःपिञ्जरितां निजाम् । वध्रूं विधूतां[14] सोऽपश्यच्चक्रवाकीविशङ्कया ॥९८॥
तरङ्गैर्धवलीभूतविग्रहां कोककामिनीम् । व्यामोहादनुधावन्तं स[15] जरद्धंसमैक्षत ॥९९॥
नदीपुलिनदेशेषु हंससारसहारिषु । शयनेष्विव तस्यासीद् धृतिः शुचिमसीमसु[16] ॥१००॥

तदनन्तर जिन्होने सबसे पहले पूर्व दिशाको जीतनेका उद्योग किया है। ऐसे महाराज भरतने चक्ररत्नके पीछे-पीछे जाते हुए पूर्वकी ओर मुख कर प्रयाण किया ॥ ८८ ॥ सूर्यमण्डलके समान देदीप्यमान और चारो ओरसे देव लोगोके द्वारा घिरा हुआ जाज्वल्यमान चक्ररत्न आकाशमे भरतेश्वरके आगे-आगे चल रहा था ॥८९॥ जिस प्रकार मुनियोका समूह गुरुकी इच्छानुसार चलता है उसी प्रकार निधियोके स्वामी महाराज भरतकी वह सेना चक्ररत्नकी इच्छानुसार उसके पीछे चल रही थी ॥ ९० ॥ दण्डरत्नको आगे कर सेनापति सबसे आगे चल रहा था और वह ऊँचे-नीचे दुर्गम वनस्थलोको लीलापूर्वक एक-सा करता जाता था ॥ ९१ ॥ आगे चलनेवाला दण्डरत्न सब मार्गको राजमार्गके समान विस्तृत और सम करता जाता था इसलिए वह सेना किसी भी जगह स्खलित न होती हुई इच्छानुसार जा रही थी ॥९२॥ तदनन्तर मार्गमे प्रजापति—भरतने दिशाओको अलकृत करनेवाली अपनी कीर्तिके समान निर्मल शरदृतुकी शोभा देखी ॥९३॥ शरदृतुरूपी लक्ष्मीके मुखके समान जो सरोवर कमलकी सुगन्धि छोड़ रहे थे उन्हे देखकर महाराज भरत बहुत ही प्रसन्न हुए ॥ ९४ ॥ सरोवरोंके किनारेपर मधुर शब्द करते हुए और मृणालरूपी मक्खन खाकर पुष्ट हुए हसोंको भरतेश्वरने शरदृतुके पुत्रोके समान देखा ॥ ९५ ॥ जो हंस अपनी चोचसे मृणालको उठाकर हसीके लिए दे रहा था उसने, सब राजाओमे श्रेष्ठ इन भरत महाराजके हृदयमें बडा भारी सन्तोष उत्पन्न किया था ॥९६॥ जो चकवा लहरोसे रुकी हुई चकवीको न देखकर सरोवरके चारो ओर शब्द कर रहा था उसने भी भरतके मनकी प्रीतिको अत्यन्त विस्तृत किया था ॥ ९७ ॥ एक तरुण हंसने कमल केशरकी धूलिसे पीली हुई अपनी हसीको चकवी समझकर भूलसे छोड दिया था महाराज भरतने यह भी देखा ॥ ९८ ॥ लहरोसे जिसका शरीर सफेद हो गया है ऐसी चकवीको हसी समझकर और उसपर मोहित होकर एक बूढा हंस उसके पीछे-पीछे दौड रहा था — महाराज भरतने यह भी देखा ॥ ९९ ॥ जिनकी सीमाएँ अत्यन्त पवित्र है जो हस तथा

१ पूर्वाम् । २ परिवृतं ल० । ३ सूर्यबिम्बम् । ४ तद्भेजे ल० । ५ निम्नोन्नतानि । ६ शिञ्जितान् प०, द०, ल० । ७ क्षीरनवनीत । स्वपयोनवनीतमित्यर्थ । ८ राजश्रेष्ठस्य । ९ हृदये । १० प्रियाम् । ११ सरस समन्तात । १२ भृशं स्वरं कुर्वाण । १३ तरुणहंसेन । १४ अवज्ञाताम् । १५ चक्री । १६ सुनिर्मलावधिषु ।

[1]रोधोलताशिखोन्सृष्टपुष्पप्रकरशोभिनीः । सरित्तीरभुवोऽदर्शज्जलोच्छ्वासतरङ्गिताः ॥१०१॥
लतालयेषु रम्येषु रतिरस्य प्रपश्यतः । स्वयं गलत्प्रसूनौघरचितप्रस्तरेष्वभूत् ॥१०२॥
क्वचिल्लतागृहान्तःस्थचन्द्रकान्तशिलाश्रितान् । स्वयशोगानसंसक्तान् किन्नरान् प्रभुरैक्षत ॥१०३॥
क्वचिल्लताः प्रसूनेषु विलीनमधुपावलीः । विलोक्य स्रस्तकेशीनां सस्मार प्रिययोषिताम् ॥१०४॥
सुमनोवर्षमातेनुः प्रीत्येवास्याधिमूर्धजम्[2] । पवनाधूतशाखाग्राः प्रफुल्ला मार्गशाखिनः ॥१०५॥
सच्छायान् सफलान् तुङ्गान् सर्वसंभोग्यसंपदः । मार्गद्रुमान् समद्राक्षीत् स नृपाननुकुर्वतः ॥१०६॥
सरस्तीरभुवोऽपश्यत् सरोजरजसा ततः । सुवर्णकुट्टि[3]माशङ्कामध्वन्यहृदि तन्वतीः ॥१०७॥
बलरेणुभिरारुद्धे दोषांमन्ये[4] नभस्यसौ । करुणं[5] रुवतीं वीक्षाञ्चक्रे[6] चक्राह्वकामिनीम् ॥१०८॥
गवां गणानथापश्यद्गोष्पदारण्य[7]चारिणः । क्षीरमेघानिवाजस्रं क्षरत्क्षीरप्लुतान्तिकान् ॥१०९॥
सौरभेयान् स शृङ्गाग्रसमुत्खातस्थलाम्बुजान् । मृणालानि यशांसीव किरतोऽपश्यदुन्मदान् ॥११०॥

सारस आदि पक्षियोसे मनोहर है, और जो विछी हुई शय्याओके समान जान पड़ते है ऐसे नदी-किनारेके प्रदेशोपर महाराज भरतको भारी सन्तोष हुआ ॥१००॥ जो किनारेपर लगी हुई लताओके अग्रभागसे गिरे हुए फूलोके समूहसे सुशोभित हो रही है और जो जलके प्रवाहसे उठी हुई लहरोसे व्याप्त है ऐसी नदियोके किनारेकी भूमि भी भरतेश्वरने वड़े प्रेमसे देखी थी ॥१०१॥ जिनमें अपने-आप गिरे हुए फूलोके समूहसे शय्याएँ वनी हुई है ऐसे रमणीय लतागृहोको देखते हुए भरतको उनमे भारी प्रीति उत्पन्न हुई थी ॥१०२॥ उन भरत महाराज-ने कही-कहीपर लतागृहोके भीतर पड़ी हुई चन्द्रकान्त मणिकी शिलाओपर वैठे हुए और अपना यशगान करनेमे लगे हुए किन्नरोको देखा था ॥१०३॥ कही-कहीपर लताओके फूलोपर वैठे हुए भ्रमरोके समूहोको देखकर जिनकी चोटियाँ ढीली होकर नीचेकी ओर लटक रही है ऐसी प्रिय स्त्रियोका स्मरण करता था ॥१०४॥ जिनकी शाखाओके अग्रभाग वायुसे हिल रहे है ऐसे फूले हुए मार्गके वृक्ष मानो वडे प्रेमसे ही भरत महाराजके मस्तकपर फूलोकी वर्षा कर रहे थे ॥१०५॥ वह भरत मार्गके दोनो ओर लगे हुए जिन वृक्षोंको देखते जाते थे वे वृक्ष राजाओका अनुकरण कर रहे थे क्योकि जिस प्रकार राजा सच्छाय अर्थात् उत्तम कान्तिसे सहित होते है उसी प्रकार वे वृक्ष भी सच्छाय अर्थात् उत्तम छाहरीसे सहित थे, जिस प्रकार राजा सफल अर्थात् अनेक प्रकारकी आयसे सहित होते है उसी प्रकार वे वृक्ष सफल अर्थात् अनेक प्रकारके फलोसे सहित थे, जिस प्रकार राजा तुंग अर्थात् उदार प्रकृतिके होते है उसी प्रकार वे वृक्ष भी तुंग अर्थात् ऊँचे थे और जिस प्रकार राजाओकी सम्पदाएँ सवके उपभोगमें आती है उसी प्रकार उन वृक्षोंकी फल पुष्प पल्लव आदि सम्पदाएँ भी सवके उपभोगमे आती थी ॥१०६॥ जो सरोवरोके किनारेकी भूमियाँ कमलोकी परागसे व्याप्त हो रही थी और इसीलिए जो पथिकोके हृदयमे 'क्या यह सुवर्णकी धूलियोसे व्याप्त है,' इस प्रकार शंका कर रही थीं, उन्हे भी महाराज भरत देखते जाते थे ॥१०७॥ सेनाकी धूलिसे भरे हुए और इसीलिए रात्रिके समान जान पड़नेवाले आकाशमें रात्रि समझकर रोती हुई चकवीको देखकर महाराज भरतके हृदयमें वड़ी दया उत्पन्न हो रही थी ॥१०८॥ कुछ आगे चलकर उन्होने जगलोकी गोचरभूमिमें चरते हुए गायोके समूह देखे, वे गायोके समूह दूधके मेघोके समान निरन्तर झरते हुए दूधसे अपनी समीपवर्ती भूमिको तर कर रहे थे ॥१०९॥ जिन्होने अपने सींगोंके

१ तटलता । "कूल रोधश्च तीरञ्च तट त्रिषु' इत्यभिधानात् । २ केशेषु । ३ रजसा—ल० । ४ आत्मान दोषा रात्रि मन्यत इति । ५ क्रियाविशेषणाना नपुंसकत्वं द्वितीया वक्तव्या । ६ आलुलोके । ७ गोगम्यवन ।

वात्सकं क्षीरसंपोपादिव निर्मलविग्रहम् । सोऽपश्यच्चापलस्येव परां कोटिं कृतोत्प्लुतिम् ॥१११॥
स पक्वकणिशानम्रकलमक्षेत्रमैक्षत । नौद्धत्यं फलयोगीति नृणां वक्तुमिवोद्यतम् ॥११२॥
वप्रान्त[1]र्भुवमाघ्रातुमिवोत्पलमिवानतान्[2] । स केदारेषु[3] कलमान् वीक्ष्यानन्दं परं ययौ ॥११३॥
फलानतान् स्तम्बकरीन् सोऽपश्यद् वप्रभूमिषु । स्वजन्महेतून् केदारान्नमस्यत इवादरात् ॥११४॥
आपीतपयसः प्राज्यक्षीरा लोकोपकारिणीः । पयस्विनीरिवापश्यत् प्रसृताः शालिसंपदः ॥११५॥
[5]अवतंसितनीलाब्जाः कञ्जरेणुश्रितस्तनीः । इक्षुदण्डभृतोऽपश्यच्छालीञ्चोत्कुर्वतीः[6] स्त्रियः ॥११६॥
हारिगीतस्वनाकृष्टैर्वेष्टिता हंसमण्डलैः । शालिगोप्यो दृशोरस्य मुदं तेनुर्वधूटिकाः ॥११७॥
कृताध्वगोपरोधानि गीतानि दधतीः सतीः । न्यस्तावतंसाः कणिशैः शालिगोपीर्ददर्श सः ॥११८॥
सुगन्धिमुखनिःश्वासा भ्रमरैराकुलीकृताः । मनोऽस्य जह्रुः शालीनां पालिकाः[7] कलबालिकाः ॥११९॥
उपाध्वं[8] [9]प्रकृतक्षेत्रान् क्षेत्रिणः परिधावतः । बलोपरोधैरायस्तानैक्षताग्रो[10] सकौतुकम् ॥१२०॥

अग्रभागसे स्थलकमल उखाड़ डाले है और जो अपने यशके समान उनकी मृणालोको जहाँ-तहाँ फेंक रहे है ऐसे उन्मत्त बैल भी भरत महाराजने देखे थे ॥११०॥ दूधसे पालन-पोषण होनेके कारण ही मानो जिनका निर्मल—सफेद शरीर है, जो चंचलताकी अन्तिम सीमाके समान जान पड़ते है और जो बार-बार उछल-कूद रहे है ऐसे गायोके बछड़ोके समूह भी भरतेश्वर देखते जाते थे ॥१११॥ भरत महाराज पकी हुई बालोसे नम्रीभूत हुए धानोके खेत भी देखते जाते थे, उस समय वे खेत ऐसे मालूम होते थे मानो 'लोगोको उद्धतपना फल देनेवाला नही है' यही कहनेके लिए तैयार हुए हो ॥११२॥ जो खेतके भीतर उत्पन्न हुए कमलोको सूँघनेके लिए ही मानो नम्रीभूत हो रहे है ऐसे खेतोमे लगे हुए धानके पौधोको देखकर भरत महाराज परम आनन्दको प्राप्त हो रहे थे ॥११३॥ उन्होंने खेतकी भूमियोंमे फलोके भारसे झुके हुए धानके उन पौधोको भी देखा था जो कि अपने जन्म देनेके कारण खेतोको बड़े आदरके साथ नमस्कार करते हुए-से जान पडते थे ॥११४॥ उन्होने जहाँ-तहाँ फैली हुई धानरूप सम्पदाओको गायोके समान देखा था, क्योकि जिस प्रकार गाये जल पीती हैं उसी प्रकार धान भी जल पीते है (जलसे भरे हुए खेतोमे पैदा होते है) जिस प्रकार गायोंमे उत्तम दूध भरा रहता है उसी प्रकार धानोमे भी पकनेके पहले दूध भरा रहता है और गाये जिस प्रकार लोगोका उपकार करती है उसी प्रकार धान भी लोगोका उपकार करते है ॥११५॥ जिन्होने नालसहित कमलोको अपने कर्णका आभूपण बनाया है, कमलकी पराग जिनके स्तनोपर पड़ रही है, जो हाथमे ईखका दण्डा लिये हुए है और जो धान रखानेके लिए 'छो-छो' शब्द कर रही है ऐसी स्त्रियोको भी उन्होने देखा था ॥११६॥ जो अपने मनोहर गीतोके शब्दोसे खिचकर आये हुए हंसोके समूहोसे घिरी हुई है ऐसी धानकी रक्षा करनेवाली नवीन स्त्रियाँ भरत महाराजके नेत्रोका आनन्द बढा रही थी ॥११७॥ जो पथिकोको रोकनेवाले सुन्दर गीत गा रही है और जिन्होने धानकी बालोसे कर्णभूषण बनाकर धारण किये है ऐसी धानकी रखानेवाली स्त्रियोको भरतने बड़े प्रेमसे देखा था ॥११८॥ जो अपने मुखकी सुगन्धित नि.श्वाससे आये हुए भ्रमरोंसे व्याकुल हो रही है ऐसी धान रखानेवाली सुन्दर लड़कियाँ महाराज भरतके मनको हरण कर रही थी ॥११९॥ जो सेनाके लोगोसे मार्गके समीपवर्ती खेतोकी रक्षा करनेके लिए उनके

१ भुव अन्त अन्तर्भुवम् । २ –मेवानतान् ल०, इ०, प० । ३ सस्यक्षेत्रसमूहेषु । ४ धेनू । ५ स वंतंसित–इ० । ६ उत्कर्पान् कुर्वती. । ७ कुलबालिका ल०, इ०, द० । ८ मार्गसमीपे । ९ कृत । १० क्लेशितान् ।

[1]उपशल्यभुवोऽद्राक्षीन्निगमानभितो विभुः। [2]केदारलावैराकीर्णाः स भ्राम्यद्भिः कृपीवलैः ॥१२१॥
सोऽपश्यन्निगमोपान्ते पथः[3] संस्यानकर्दमान्[4]। प्रव्यक्तगोखुरक्षोदस्थपुटानतिसङ्कटान् ॥१२२॥
निगमान् परितोऽपश्यद् ग्राममुख्यान्[5] महाबलान्[6]। पयस्विनो[7] जनैः सेव्यान् [8]महारामतरूनपि ॥१२३॥
ग्रामान् कुक्कुटसम्पात्यान् सोऽत्यगाद् वृतिभिर्वृतान्। [9]कोशातकीलतापुष्पस्थगितामिरितोऽमुतः ॥१२४॥
[10]कुटीपरिसरेष्वस्य धृतिरासीत प्रपश्यतः। फलपुष्पानता वल्लीः प्रसवाढ्याः[11] सतीरपि ॥१२५॥
योषितो[12] निष्कमालाभिर्वलयैश्च विभूषिताः। पश्यतोऽस्य मनो जह्रुर्ग्रामीणाः[13] संश्रिता वृतीः[14] ॥१२६॥
[15]हैयङ्गवीनकलशैर्दध्नामपि निहित्रकैः[16]। ग्रामेषु फलभेदैश्च तमद्राक्षुर्महत्तराः ॥१२७॥
ततो विदूरमुल्लङ्घ्य सोऽध्वानं पृतनावृतः। गङ्गामुपासदद् धीरः[17] प्रयाणैः [18]कतिथैरपि ॥१२८॥
हिमवद्धिधृतां पूज्यां [19]सतामागिन्धुगामिनीम्। शुचिप्रवाहामाकल्पवृत्तिं कीर्तिमिवात्मनः ॥१२९॥
[20]शफरीप्रेक्षणामुद्यत्तरङ्गभ्रूविनर्तनाम्। वनराजीबृहच्छाटीपरिधानां वधूमिव ॥१३०॥

चारों ओर दौड़ रहे है और सेनाके लोगोकी जबरदस्ती करनेपर खेदखिन्न हो रहे है, ऐसे खेतोके मालिक किसानोको भी भरतेश्वरने बड़े कौतुकके साथ देखा था ॥१२०॥ जो खेत काटनेवाले इधर-उधर घूमते हुए किसानोसे व्याप्त हो रही है ऐसी प्रत्येक ग्रामोके चारो ओरकी निकट-वर्ती भूमियोंको भी भरतेश्वरने देखा था ॥१२१॥ जो स्पष्ट दिखनेवाले गायोके खुरोके चिह्नोसे ऊँचे-नीचे हो रहे है और जो अत्यन्त सकडे है ऐसे कुछ-कुछ कीचड़से भरे हुए गाँवके समीपवर्ती मार्गोको भी भरत महाराज देखते जाते थे ॥१२२॥ उन्होने ग्रामोके चारो ओर खडे हुए महाबलवान् गाँवके मुखिया लोगोको देखा था तथा पक्षी तिर्यच और मनुष्योके द्वारा सेवा करने योग्य बड़े-बड़े बगीचोके वृक्ष भी देखे थे ॥१२३॥ जो जहाँ-तहाँ लौकी अथवा तुरईकी लताओके फूलोंसे ढकी हुई बाड़ियोसे घिरे हुए है और जिनपर एकसे दूसरेपर मुरगा भी उड़कर जा सकता है ऐसे गावोको वे दूरसे ही छोड़ते जाते थे ॥१२४॥ झोपडियोके समीपमे फल और फूलोसे झुकी हुई लताओको तथा पुत्रोसे युक्त सती स्त्रियोको भी देखते हुए महाराज भरत-को बडा आनन्द आ रहा था ॥१२५॥ जो सुवर्णकी मालाओ और कडोसे अलकृत है तथा बाड़ियोंकी ओटमें खड़ी हुई है ऐसी गाँवोकी स्त्रियाँ भी देखनेवाले भरतका मन हरण कर रही थी ॥१२६॥ गाँवोके बडे-बडे लोग घीके घडे, दहीके पात्र और अनेक प्रकारके फल भेट कर उनके दर्शन करते थे ॥१२७॥

तदनन्तर धीरवीर भरत सेनासहित कितनी ही मजिलो-द्वारा लम्बा मार्ग तय कर गगा नदीके समीप जा पहुँचे ॥१२८॥ वहाँ जाकर उन्होने गंगा नदीको देखा, जो कि उनकी कीर्तिके समान सुशोभित हो रही थी क्योकि जिस प्रकार उनकी कीर्ति हिमवान् पर्वतसे धारण की गयी थी उसी प्रकार गगा नदी भी हिमवान् पर्वतसे धारण की गयी थी, जिस प्रकार उनकी कीर्ति पूज्य और उत्तम थी उसी प्रकार गगा नदी भी पूज्य तथा उत्तम थी, जिस प्रकार उनकी

---

१ ग्रामान्तभुवः। "ग्रामान्त उपशल्यं स्यात्" इत्यभिधानात्। २ केदारान् लुनन्तीति केदारलावास्तैः। ३ मार्गान्। ४ ईषदार्द्रकर्दमान्। ५ ग्राममहत्तरान्। ६ महाफलान् द०, इ०। ७ वयस्तिरोजनैः ल०। क्षीरोपायनान् क्षीरिणश्च। ८ महाग्राम–इत्यपि क्वचित्। ९ पटोरिका। 'कोशातकी ज्योत्स्निकायामपामार्गेऽपि सा भवेत्' इत्यभिधानात्। १० गृह। ११ पुत्रैराढ्या। १२ सुवर्णमालाभि। १३ ग्रामे भवा। १४ 'संवृतावृती. ससृतासृती' इत्यपि क्वचित्। १५ घृतकुम्भैः। १६ भाजनविशेषैः। १७ –सदद्धीर द०। १८ कतिपयैः। १९ सती-ल०। २० मीननेत्राम्।

विस्तीर्णजनसंभोग्यैः कूजद्धंसालिमेखलैः । तरङ्गवसनैः कान्तां[1] पुलिनैर्जघनैरिव ॥१३१॥
[2]लोलोर्मिहस्तनिर्धूतपक्षिमालाकलस्वनैः । किमप्यालपितुं यत्नं तन्वन्तीं वा तटद्रुमैः ॥१३२॥
क्षतां[3]वन्येभदन्तानां [4]रोधोजघनवर्तिनीः । रुन्धतीमब्धिभीत्येव लसदूर्मिदुकूलकैः ॥१३३॥
रोमराजीमिवानीलां वनराजीं विवृण्वतीम् । [5]तिष्ठमानामिवावर्तव्यक्तनाभिमुदन्वते ॥१३४॥
चलोलवीचिसंघट्टादुत्थितां पतगावलिम् । पताकामिव बिभ्राणां लब्धां सर्वापगाजयात् ॥१३५॥
समांसमीनां[6] पर्याप्तपयसं धीरनिःस्वनाम् । जगतां पावनीं मान्यां हसन्तीं गोमतल्लिकाम्[7] ॥१३६॥
गुरुप्रवाहप्रसृतां तीर्थकामैरुपासिताम् । गम्भीरशब्दसंभूतिं जैनीं श्रुतिमिवामलाम् ॥१३७॥

कीर्ति समुद्र तक गमन करनेवाली थी उसी प्रकार गंगा नदी भी समुद्र तक गमन करनेवाली थी, जिस प्रकार उनकी कीर्तिका प्रवाह पवित्र था उसी प्रकार गंगा नदीका प्रवाह भी पवित्र था और जिस प्रकार उनकी कीर्ति कल्पान्त काल तक टिकनेवाली थी उसी प्रकार गंगा नदी भी कल्पान्त काल तक टिकनेवाली थी। अथवा जो गंगा किसी स्त्रीके समान जान पड़ती थी, क्योकि मछलियाँ ही उसके नेत्र थे, उठती हुई तरंगे ही भौंहोंका नचाना था और दोनों किनारोके वनकी पंक्ति ही उसकी साड़ी थी। जो स्त्रियोके जघन भागके समान सुन्दर किनारो-से सहित थी, उसके वे किनारे बहुत ही बडे थे। शब्द करती हुई हंसोकी माला ही उनकी करधनी थी और लहरे ही उनके वस्त्र थे।—चचल लहरोरूपी हाथोके द्वारा उडाये हुए पक्षि-समूहोके मनोहर शब्दोसे जो ऐसी जान पड़ती थी मानो किनारेके वृक्षोके साथ कुछ वार्तालाप करनेके लिए प्रयत्न ही कर रही हो।— जो अपनी छलकती हुई लहरोंसे ऐसी जान पड़ती थी मानो तटरूपी नितम्ब प्रदेशपर जगली हाथियोके द्वारा किये हुए दाँतोके घावोको समुद्ररूप पतिके डरसे शोभायमान लहरोरूपी वस्त्रसे ढँक ही रही हो। जो दोनों ओर लगी हुई हरी-भरी वनश्रेणियोके प्रकट करने तथा साफ-साफ दिखाई देनेवाली भँवरोसे ऐसी जान पड़ती थी मानो किसी स्त्रीकी तरह अपने समुद्ररूप पतिके लिए रोमराजि और नाभि ही दिखला रही हो।—जो चचल लहरोके सघटनसे उड़ी हुई पक्षियोकी पक्तिको धारण कर रही थी और उससे ऐसी जान पडती थी मानो सब नदियोको जीत लेनेसे प्राप्त हुई विजयपताकाको ही धारण कर रही हो। जो किसी उत्तम गायकी हँसी करती हुई-सी जान पड़ती थी क्योकि जिस प्रकार उत्तम गाय समासमीना अर्थात् प्रति वर्ष प्रसव करनेवाली होती है उसी प्रकार वह नदी भी समास-मीना अर्थात् परिपुष्ट मछलियोसे सहित थी, जिस प्रकार उत्तम गायमें पर्याप्त पय अर्थात् दूध होता है उसी प्रकार उस नदीमे भी पर्याप्त पय अर्थात् जल था, जिस प्रकार उत्तम गाय गम्भीर शब्द करती है उसी प्रकार वह भी गम्भीर कल-कल शब्द कर रही थी, उत्तम गाय जिस प्रकार जगत्को पवित्र करनेवाली है उसी प्रकार वह भी जगत्को पवित्र करनेवाली थी और उत्तम गाय जिस प्रकार पूज्य होती है उसी प्रकार वह भी पूज्य थी। अथवा जो जिनवाणीके समान जान पड़ती थी क्योकि जिस प्रकार जिनवाणी गुरु-प्रवाह अर्थात् आचार्य परम्परासे प्रसृत हुई है उसी प्रकार वह भी गुरुप्रवाह अर्थात् बड़े भारी जलप्रवाहसे प्रसृत हुई थी—प्रवाहित हुई थी। जिस प्रकार जिन वाणी तीर्थ अर्थात् धर्मको इच्छा करनेवाले पुरुषो

---

१ कान्तै ल०। २ वालोर्मि-त०। ३–र्वनेभ ल०। ४ तीर। ५ प्रदर्शयन्तीम्। ६ मासभक्षक-मीनसहिताम्। प्रतिवर्ष गर्भ गृह्णन्तीम्। 'समासमीना सा यैव प्रतिवर्ष प्रसूयते'। ७ प्रशस्तगाम्। गोमचर्चिकाम् ल०, द०, इ०।

राजहंसैः[1] कृतोपास्यामलङ्घ्यां विधृतायतिम्[2] । जयलक्ष्मीमिव स्फीतामात्मीयामब्धिगामिनीम् ॥१३८॥
विलसत्पद्मसंभूतां[3] जनतानन्ददायिनीम् । जगद्भोग्यामिवात्मीयां श्रियमायतिशालिनीम् ॥१३९॥
विजयार्धतटाक्रान्ति[4] कृतश्लाघां[5] सुरहसम्[6] । अभग्नप्रसरां दिव्यां निजामिव पताकिनीम् ॥१४०॥
व्यालोलोर्मिकरास्पृष्टैः स्वतीरवनपादपैः । दधद्भिरङ्कुरोद्भेद[7]माश्रितां कामुकैरिव ॥१४१॥
रोधोलतालयासीनान्[8] स्वेच्छया सुरदम्पतीन् । हसन्तीमिव सुध्वानैः[9] शीकरोत्थैर्विसारिभिः ॥१४२॥
किन्नराणां कलक्वाणैः सगानैरुपवीणितैः । सेव्यपर्यन्तभूभागलतामण्डपमण्डनाम् ॥१४३॥

के द्वारा उपासित होती है उसी प्रकार वह भी तीर्थ अर्थात् पवित्र तीर्थ-स्थानकी इच्छा करनेवाले पुरुषोके द्वारा उपासित होती अथवा किनारेपर रहनेवाले मनुष्य उसमे स्नान आदि किया करते थे, जिस प्रकार जिनवाणीसे गम्भीर शब्दोकी उत्पत्ति होती है उसी प्रकार उससे भी गम्भीर अर्थात् बडे जोरके शब्दोकी उत्पत्ति होती थी, और जिस प्रकार जिनवाणी मल अर्थात् पूर्वापर विरोध आदि दोषोसे रहित होती है उसी प्रकार वह भी मल अर्थात् कीचड़ आदि गँदले पदार्थोसे रहित थी।—अथवा जो अपनी (भरतकी) विजयलक्ष्मीके समान जान पड़ती थी क्योकि जिस प्रकार विजयलक्ष्मीकी उपासना राजहंस अर्थात् वड़े-वडे राजा लोग करते थे उसी प्रकार उस नदीकी भी उपासना राजहस अर्थात् एक प्रकारके हंसविशेष करते थे, जिस प्रकार जयलक्ष्मीका कोई उल्लंघन—अनादर नही कर सकता था उसी प्रकार उस नदीका भी कोई उल्लंघन नही कर सकता था, जयलक्ष्मीका आयति अर्थात् भविष्यत्काल जिस प्रकार स्पष्ट प्रकट था इसी प्रकार उसकी आयति अर्थात् लम्बाई भी प्रकट थी, जयलक्ष्मी जिस प्रकार स्फीत अर्थात् विस्तृत थी उसी प्रकार वह भी विस्तृत थी और जयलक्ष्मी जिस प्रकार समुद्र तक गयी थी उसी प्रकार वह गंगा भी समुद्र तक गयी हुई थी। अथवा जो भरतकी राज्यलक्ष्मीके समान मालूम होती थी क्योकि जिस प्रकार भरतकी राज्यलक्ष्मी शोभायमान पद्म अर्थात् पद्म नामकी निधिसे उत्पन्न हुई थी उसी प्रकार वह नदी भी पद्म अर्थात् पद्म नामके सरोवरसे उत्पन्न हुई थी, भरतकी राज्यलक्ष्मी जिस प्रकार जनसमूहको आनन्द देनेवाली थी उसी प्रकार वह भी जनसमूहको आनन्द देनेवाली थी, भरतकी राज्यलक्ष्मी जिस प्रकार जगत्के भोगने योग्य थी उसी प्रकार वह भी जगत्के भोगने योग्य थी, और भरतकी लक्ष्मी जिस प्रकार आयति अर्थात् उत्तरकालसे सुशोभित थी उसी प्रकार वह आयति अर्थात् लम्बाईसे सुशोभित थी।—अथवा जो भरतकी सेनाके समान थी, क्योकि जिस प्रकार भरतकी सेना विजयार्ध पर्वतके तटपर आक्रमण करनेसे प्रशंसाको प्राप्त हुई थो उसी प्रकार वह नदी भी विजयार्ध पर्वतके तटपर आक्रमण करनेसे प्रशंसाको प्राप्त हुई थी (गगा नदी विजयार्ध पर्वतके तटको आक्रान्त करती हुई बही है) जिस प्रकार भरतकी सेनाका वेग तेज था उसी प्रकार उस नदीका वेग भी तेज था। जिस प्रकार भरतकी सेनाके फैलावको कोई नही रोक सकता था उसी प्रकार उसके फैलावको भी कोई नही रोक सकता था और भरतकी सेना जिस प्रकार दिव्य अर्थात् सुन्दर थी उसी प्रकार वह नदी भी

---

१ सेवाम्। २ विवृतायतीम् ल०। ३ पद्मह्रदे जाताम्। पक्षे निधिविशेषजाताम्। ४ आक्रमण। ५ श्लाघ्या ल०, इ०। ६ सुवेगाम्। ७ रोमाञ्चम्। ८ तीरलतागृहस्थितान्। ९ सुस्वानै ल०। स्वस्वानै इ०।

हारिभिः किन्नरोद्गीतैराहूता हरिणाङ्गनाः । दधतीं तीरकच्छेषु[1] प्रसारितगलद्गलाः[2] ॥१४४॥

हृद्यैः ससारसारावैः पुलिनैर्दिव्ययोषिताम् । नितम्बानि सकाञ्चीनि हसन्तीमिव विस्तृतैः ॥१४५॥

चतुर्दशभिरन्वितां सहस्रैरब्धियोषिताम् । [3]सध्रीचीनामिवोद्वीचि[4] बाहूनां परिरम्भणे ॥१४६॥

इत्याविष्कृतसंशोभां [5]जाह्नवीमैक्षत प्रभुः । हिमवद्गिरिणाम्भोधेः प्रहितामिव कण्ठिकाम् ॥१४७॥

मालिनीवृत्तम्

शरदुप[6]हितकान्तिं प्रान्तकान्तारराजी-
विरचितपरिधानां [7]सैकतारोहरम्याम् ।
युवतिमिव गभीरावर्तनाभिं प्रपश्यन्
प्रमदमतुलमूहे क्ष्मापतिः स्वःस्रवन्तीम् ॥१४८॥

सरसिजमकरन्दोद्गन्धिराधूतरोधो-
वनकिसलयमन्दो दोलनोद्भूतमान्द्यः ।
असकृदमरसिन्धोराधुनानस्तरङ्गा-
न्नहृत नृपवधूनामध्वखेदं समीरः ॥१४९॥

सुन्दर थी । जो चचल लहरोरूपी हाथोसे स्पर्श किये गये और अकुररूपी रोमांचोको धारण किये हुए अपने किनारेके वनके वृक्षोसे आश्रित थी और उससे ऐसी मालूम होती थी मानो कामी जनोसे आश्रित कोई स्त्री ही हो । – जो जलकणोसे उत्पन्न हुए तथा चारो ओर फैलते हुए मनोहर शब्दोसे अपनी इच्छानुसार किनारेपर-के लतागृहोमे बैठे हुए देव-देवागनाओकी हँसी करती हुई-सी जान पड़ती थी । किन्नरोके मधुर शब्दवाले गायन तथा वीणाकी झनकारसे सेवनीय किनारेकी पृथिवीपर बने हुए लतागृहोसे जो बहुत ही अधिक सुशोभित हो रही थी । – किन्नर देवोंके मनोहर गानोसे बुलायी हुई और मुखसे ग्रीवाको लम्बा कर बैठी हुई हरिणियो-को जो अपने किनारेकी भूमिपर धारण कर रही थी । – जिनपर सारस पक्षी कतार बाँधकर मनोहर शब्द कर रहे है ऐसे अपने बड़े-बडे सुन्दर किनारोसे जो देवागनाओंके करधनीसहित नितम्बोकी हँसी करती हुई-सी जान पडती थी । – जिन्होंने आलिगन करनेके लिए तरंगरूपी भुजाएँ ऊपरकी ओर उठा रखी है ऐसी सखियोके समान जो चौदह हजार सहायक नदियोसे सहित है । – इस प्रकार जिसकी शोभा प्रकट दिखाई दे रही है और जो हिमवान् पर्वतके द्वारा समुद्रके लिए भेजी हुई कण्ठमालाके समान जान पड़ती है ऐसी गगा नदी महाराज भरतने देखी ॥ १२९–१४७ ॥ शरदृतुके द्वारा जिसकी कान्ति वढ गयी है, किनारेके वनोंकी पक्ति ही जिसके वस्त्र है, जो वालूके टीलेरूप नितम्बोसे बहुत ही रमणीय जान पड़ती है, गम्भीर भँवर ही जिसकी नाभि है और इस प्रकार जो एक तरुण स्त्रीके समान जान पड़ती है ऐसी गगा नदीको देखते हुए राजा भरतने अनुपम आनन्द धारण किया था ॥ १४८ ॥ जो कमलोकी मकरन्दसे सुगन्धित है, कुछ-कुछ कम्पित हुए किनारेके वनके पल्लवोके धीरे-धीरे हिलनेसे जिसका मन्दपना प्रकट हो रहा है और जो गंगा नदीकी तरगोंको वार-वार हिला रहा

---

१ तीरवनेषु । २ प्रसारितो भूत्वा सुखातिशयेनाधो गलद्गलो यासां ता । ३ सखीनाम् । ४ वीचिबाहूना ल० । ५ गंगाम् । ६ प्राप्त । ७ सैकतनितम्ब ।

शार्दूलविक्रीडितवृत्तम्

तामाक्रान्तहरिन्मुखां[1] कृतरजोधूतिं[2] जगत्पावनी –
मासेव्यां [3]द्विजकुञ्जरैरविरतं संतापविच्छेदिनीम् ।
जैनीं कीर्तिमिवाततामपमलां शश्वज्जनानन्दिनी
निध्यायन्[4] विबुधापगां निधिपतिः प्रीतिं परामासदत् ॥१५०॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भरतराज-दिग्विजयोद्योगवर्णनं नाम षड्विंशतितमं पर्व ॥२६॥

■

है ऐसा वहाँका वायु रानियोके मार्गके परिश्रमको हरण कर रहा था ।। १४९ ।। वह गंगा ठीक जिनेन्द्रदेवकी कीर्तिके समान थी क्योकि जिस प्रकार जिनेन्द्र देवकी कीर्तिने समस्त दिशाओं-को व्याप्त किया है उसी प्रकार गगा नदीने भी पूर्व दिशाको व्याप्त किया था, जिनेन्द्र भगवान्-की कीर्तिने जिस प्रकार रज अर्थात् पापोंका नाश किया है उसी प्रकार गंगा नदीने भी रज अर्थात् धूलिका नाश किया था, जिनेन्द्र भगवान्की कीर्ति जिस प्रकार जगत्को पवित्र करती है उसी प्रकार गंगा नदी भी जगत्को पवित्र करती है, जिनेन्द्र भगवान्की कीर्ति जिस प्रकार द्विज कुंजर अर्थात् श्रेष्ठ ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्योके द्वारा सेवित है उसी प्रकार गंगा नदी भी द्विज कुंजर अर्थात् पक्षियों और हाथियोके द्वारा सेवित है, जिनेन्द्र भगवान्की कीर्ति जिस प्रकार निरन्तर संसार-भ्रमण-जन्य सन्तापको दूर करती है उसी प्रकार गगा नदी भी सूर्यकी किरणोसे उत्पन्न सन्तापको नष्ट करती थी और जिनेन्द्र भगवान्की कीर्ति जिस प्रकार विस्तृत, निर्मल और सदा लोगोंको आनन्द देनेवाली है उसी प्रकार वह गगा नदी भी विस्तृत, निर्मल तथा सदा लोगोंको आनन्द देती थी । इस प्रकार उस गगा नदीको देखते हुए निधियोके स्वामी भरत महाराज परम प्रीतिको प्राप्त हुए थे ।। १५०।।

इस प्रकार आर्ष नाममे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसग्रहके हिन्दी-भाषानुवादमे भरतराजकी दिग्विजयके उद्योगको वर्णन करनेवाला छब्बीसवाँ पर्व पूर्ण हुआ ।

■

१ दिङ्मुखाम् । २ रजोनाशनम् । ३ पक्षिगजै विप्रादिमुख्यैश्च । ४ अवलोकयन् ।

सप्तविंशतितमं पर्व

अथ व्यापारयामास दृशं तत्र[1] विशां पतिः । प्रसन्नैः सलिलैः पाद्यं वितरन्त्यामिवात्मनः ॥१॥
व्यापारितदृशं तत्र प्रभुमालोक्य सारथिः । प्रास्तावसरमित्यूचे वचश्चेतोऽनुरञ्जनम् ॥२॥
इयमाह्लादिताशेषभुवना देवनिम्नगा । रजो विधुन्वती भाति भारतीव स्वयंभुवः ॥३॥
पुनातीयं हिमाद्रिं च सागरं च महानदी । प्रसूतौ[2] च प्रवेशे च गम्भीरा निर्मलाशया ॥४॥
इमां वनगजाः प्राप्य निर्वान्त्येते[3] मदच्युतः[4] । मुनीन्द्रा इव सद्विद्यां[5] गम्भीरां तापविच्छिदम् ॥५॥
इतः पिबन्ति वन्येभाः पयोऽस्याः कृतनिःस्वनाः । इतोऽमी पूरयन्त्येनां मुक्तासाराः शरद्घनाः ॥६॥
अस्याः प्रवाहमम्भोधिर्धत्ते गाम्भीर्ययोगतः । [6]असोढं विजयार्धेन तुङ्गेनाप्यचलात्मना ॥७॥
अस्याः पयःप्रवाहेण नूनमब्धिर्वितृड् भवेत् । क्षारेण पयसा स्वेन दह्यमानान्तराशयः ॥८॥
पद्महृदाद्धिमवतः प्रसन्नादिव मानसात् । प्रसूता पप्रथे पृथ्व्यां शुद्धजन्मा हि पूज्यते ॥९॥
व्योमापगामिमां प्राहुर्वियत्तः[7] पतितां क्षितौ । गङ्गादेवीगृहं विष्वगाप्लाव्य स्वजलप्लवैः ॥१०॥

अथानन्तर वहाँपर जो स्वच्छ जलसे अपने लिए (भरतके लिए) पादोदक प्रदान करती हुई-सी जान पडती थी ऐसी गंगा नदीपर महाराज भरतने अपनी दृष्टि डाली ॥ १ ॥ उस समय सारथिने महाराज भरतको गंगापर दृष्टि डाले हुए देखकर चित्तको प्रसन्न करनेवाले निम्नलिखित समयानुकूल वचन कहे ॥ २ ॥ हे महाराज ! यह गगा नदी ठीक ऋषभदेव भगवान्की वाणीके समान जान पडती है, क्योकि जिस प्रकार ऋषभदेव भगवान्की वाणी समस्त संसारको आनन्दित करती है उसी प्रकार यह गंगा नदी भी समस्त लोकको आनन्दित करती है और ऋषभदेव भगवान्की वाणी जिस प्रकार रज अर्थात् पापोंको नष्ट करनेवाली है उसी प्रकार यह गगा नदी भी रज अर्थात् धूलिको नष्ट कर रही है ॥ ३ ॥ गम्भीर तथा निर्मल जलसे भरी हुई यह गगा नदी उत्पत्तिके समय तो हिमवान् पर्वतको पवित्र करती है और प्रवेश करते समय समुद्रको पवित्र करती है ॥ ४ ॥ जिस प्रकार गम्भीर और सन्तापको नष्ट करनेवाली सद्विद्या (सम्यग्ज्ञान) को पाकर वडे-वडे मुनि लोग मद अर्थात् अहंकार छोड-कर मुक्त हो जाते है उसी प्रकार ये जगली हाथी भी इस गम्भीर तथा सन्तापको नष्ट करनेवाली गंगा नदीको पाकर मद अर्थात् गण्डस्थलसे झरनेवाले तोयविशेषको छोड़कर शान्त हो जाते हैं ॥ ५ ॥ इधर ये वनके हाथी शब्द करते हुए इसका पानी पी रहे हैं और इधर जलकी वृष्टि करते हुए ये शरद्ऋतुके मेघ इसे भर रहे है ॥ ६ ॥ अत्यन्त ऊँचा और सदा निश्चल रहनेवाला विजयार्ध पर्वत भी जिसे धारण नही कर सका है ऐसे इसके प्रवाहको गम्भीर होनेसे समुद्र सदा धारण करता रहता है ॥ ७ ॥ सम्भव है कि अपने खारे जलसे जिसका अन्त करण निरन्तर जलता रहता है ऐसा समुद्र इस गगा नदीके जलके प्रवाहसे अवश्य ही प्यासरहित हो जायेगा ॥ ८ ॥ यह गंगा प्रसन्न मनके समान निर्मल हिमवान् पर्वतके पद्म नामक सरोवरसे निकल-कर पृथिवीपर प्रसिद्ध हुई है सो ठीक ही है क्योकि जिसका जन्म शुद्ध होता है वह पूज्य होता ही है ॥९॥ यह गंगा अपने जलके प्रवाहसे गंगादेवीके घरको चारों ओरसे भिगोकर आकाश-

१ गङ्गायाम् । २ उत्पत्तिस्थाने । ३ सुखिनो भवन्ति मुक्ताश्च । ४ मदच्युतः ल० । ५ परमागमरूपाम् । ६ सोढुमशक्यम् । दत्तुमशक्यमित्यर्थ. । ७ वियत' ल०, इ०, द० ।

विभर्ति हिमवानेनां शशाङ्ककरनिर्मलाम् । आ सिन्धोः प्रसृतां कीर्तिमिव स्वां लोकपावनीम् ॥११॥
वनराजीद्वयेनेयं विभाति[1] तटवर्तिना । वाससोरिव युग्मेन विनीलेन कृतश्रिया[2] ॥१२॥
स्वतटाश्रयिणीं धत्ते हंसमालां कलस्वनाम् । काञ्चीमिवेयमम्भोजरजःपिञ्जरविग्रहाम् ॥१३॥
नदीसखीरियं स्वच्छ[3]मृणालशकलामलाः । संबिभर्ति स्वसात्कृत्य सख्यं श्लाघ्यं हि तादृशम्[4] ॥१४॥
राजहंसैरियं[5] सेव्या लक्ष्मीरिव विभाति ते । तन्वती जगतः प्रीतिमलङ्घ्यमहिमा परैः ॥१५॥
वनवेदीमियं धत्ते समुत्तुङ्गां हिरण्मयीम् । आज्ञामिव तवालङ्घ्यां नभोमार्गविलङ्घिनीम् ॥१६॥
इतः प्रसीद देवेमां शरल्लक्ष्मीं विलोकय । वनराजिषु संरूढां[6] सरित्सु सरसीषु च ॥१७॥
इमे सप्तच्छदाः पौष्पं विकिरन्ति रजोऽभितः । पटवासमिवामोदसंवासितहरिन्मुखम् ॥१८॥
वाणैः[7] कुसुमबाणस्य बाणैरिव विकासिभिः । ह्रियते[8] कामिनां चेतो रम्यं हारि न कस्य वा ॥१९॥
विकसन्ति सरोजानि सरस्सु समम्रुत्पलैः । विकासिलोचनानीव वदनानि शरच्छ्रियः ॥२०॥
पङ्कजेषु विलीयन्ते[9] भ्रमरा गन्धलोलुपाः । कामिनीमुखपद्मेषु कामुका इव काहलाः[10] ॥२१॥
मनोजशरपुङ्खाब्जैः पक्षैर्मधुकरा इमे । विचरन्त्यब्जिनीषण्डे मकरन्दरसोत्सुकाः ॥२२॥

से अर्थात् हिमवान् पर्वतके ऊपरसे पृथिवीपर पड़ी है इसलिए इसे आकाशगगा भी कहते हैं ॥ १० ॥ जो चन्द्रमाकी किरणोके समान निर्मल है, समुद्र तक फैली हुई हैं और लोकको पवित्र करनेवाली है ऐसी इस गगाको यह हिमवान् अपनी कीर्तिके समान धारण करता है ॥११॥ यह गंगा अपने तटवर्ती दोनो ओरके वनोसे ऐसी सुशोभित हो रही है मानो इसने नीले रंगके दो वस्त्र ही धारण कर रखे हो ॥१२॥ कमलोके परागसे जिनका शरीर पीला-पीला हो गया है और जो मनोहर शब्द कर रही है ऐसी हसोकी पक्तियोको यह नदी इस प्रकार धारण करती है मानो मन्द-मन्द शब्द करती हुई सुवर्णमय करधनी ही धारण किये हो ॥१३॥ यह नदो स्वच्छ मृणालके टुकडोके समान निर्मल अन्य सखी स्वरूप सहायक नदियोको अपनेमे मिलाकर धारण करती है सो ठीक ही है क्योकि ऐसे पुरुषोकी मित्रता ही प्रशंसनीय कहलाती है ॥१४॥ अनेक राजहंस (पक्षमे बडे-बड़े राजा) जिसकी सेवा करते हैं, जो ससारको प्रेमी उत्पन्न करनेवाली है, और जिसकी महिमा भी कोई उल्लंघन नही कर सकता ऐसी यह गगा आपकी राजलक्ष्मीके समान सुशोभित हो रही है ॥१५॥ जो अत्यन्त ऊँची है, सोनेकी बनी हुई है, आकाश-मार्गको उल्लघन करनेवाली है और आपकी आज्ञाके समान जिसका कोई उल्लंघन नही कर सकता ऐसी वनवेदिकाको यह गगा नदी धारण कर रही है ॥ १६ ॥ हे देव, प्रसन्न होइए और इधर वनपक्तियो, नदियो और तालावोमे स्थान जमाये हुई शरदृऋतुकी इस शोभाको निहारिए॥ १७ ॥ ये सप्तपर्ण जातिके वृक्ष अपनी सुगन्धिसे समस्त दिशाओको सुगन्धित करनेवाले सुगन्धिचूर्णके समान फूलोकी परागको चारो ओर विखेर रहे है ॥१८॥ इधर कामदेवके वाणोके समान फूले हुए वाण जातिके वृक्षो-द्वारा कामी मनुष्योका चित्त अपहृत किया जा रहा है सो ठीक ही है क्योकि रमणीय वस्तु क्या अपहृत नही करती ? अथवा किसे मनोहर नही जान पड़ती ? ॥ १९ ॥ इधर तालावोमे नील कमलोके साथ-साथ साधारण कमल भी विकसित हो रहे हैं और जो ऐसे जान पडते हैं मानो जिनमे नेत्र विकसित हो रहे हैं ऐसे शरदृऋतुरूपी लक्ष्मीके मुख ही हो ॥२०॥ इधर ये कुछ-कुछ अव्यक्त शब्द करते हुए सुगन्धके लोभी भ्रमर कमलोमे उस प्रकार निलीन हो रहे हैं जिस प्रकार कि चाटुकारी करते हुए कामी जन स्त्रियोके मुखरूपी कमलोमें निलीन—आसक्त होते हैं ॥ २१ ॥ जो मकरन्द रसका पान

१ विभर्ति ल० । २ धृतश्रिया ल०, द०, इ० । ३ स्वच्छमृणाल–ल० । ४ तादृशाम् ल० । ५ पक्षे राजश्रेष्ठैः । ६ प्रसिद्धाम् । ७ झिण्टिभि । ८ अपहृतम् । ९ आश्लिष्यन्ति । निलीयन्ते ल० । १० अस्फुटवचना ।

रूषिता[1] कञ्जकिञ्जल्कैरामान्त्येते मधुव्रताः । [2]सुवर्णकपिशैरङ्गैः कामाग्नेरिव मुर्मुराः[3] ॥२३॥
स्थलेषु स्थलपद्मिन्यो विकसन्त्यश्चकासति । शरच्छ्रियो जिगीषन्त्या दूष्यशाला[4] इवोत्थिताः ॥२४॥
स्थलाब्जशङ्किनी हंसी सरस्यब्जरजस्तते । संहृत्य पक्षविक्षेपं विशन्तीयं निमज्जति ॥२५॥
हंसोऽयं निजशावाय चञ्च्वोद्धृत्य लसद्बिसम् । पीयबुद्ध्या[5] ददात्यस्मै शशाङ्ककरकोमलम् ॥२६॥
[6]कृतयत्नाः प्लवन्तेऽमी राजहंसाः सरोजले । सरोजिनीरजःकीर्णे धृतपक्षाः शनैः शनैः ॥२७॥
चक्रवाकीं सरस्तीरे तरङ्गैः स्थगितामम्[7] । अपश्यन्[8] करुणं रौति चक्राह्वः साश्रुलोचनः ॥२८॥
अभ्येति वरटाशङ्की[9] धार्तराष्ट्रः[10] कृतस्वनम्[11] । सरस्तरङ्गशुभ्राङ्गी कोककान्तामनिच्छतीम् ॥२९॥
अनुगङ्गातटं भाति साप्तपर्णमिदं वनम् । सुमनोरेणुभिर्व्योम्नि वितानश्रियमादधत् ॥३०॥
मन्दाकिनीतरङ्गोत्थपवनोऽध्वश्रमं हरन् । शनैः स्पृशति[12] नोऽङ्गानि [13]रोधोवनविधूननः ॥३१॥
आतिथ्यमिव[14] नस्तन्वन् हृतगङ्गाम्बुशीकरः[15] । अभ्येति[16] पवमानोऽयं वनवीथीर्विधूनयन् ॥३२॥
अगोष्पदमिदं[17] देव देवैरध्युषितं वनम् । लतालयैर्विभात्यन्तः[18] [19]कुसुमप्रस्तराञ्चितैः ॥३३॥

करनेके लिए उत्कण्ठित हो रहे हैं ऐसे ये भ्रमर कामदेवके वाणोकी मूठके समान आभावाले अपने पखोसे कमलिनियोंके समूहमे जहाँ-तहाँ विचरण कर रहे हैं, घूम रहे हैं ॥ २२ ॥ जिनके अंगोपाग कमलकी केशरसे रूषित होनेके कारण सुवर्णके समान पीले-पीले हो गये हैं ऐसे ये भ्रमर कामरूपी अग्निके स्फुलिङ्गोके समान जान पडते हैं ॥ २३ ॥ जगह-जगह पृथिवीपर फूले हुए स्थल-कमलिनियोके पेड ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो सबको जीतनेकी इच्छा करने-वाली शरदृऋतुरूपी लक्ष्मीके खड़े हुए कपड़ेके तम्बू ही हो ॥ २४ ॥ जो कमलोकी परागसे व्याप्त हो रहा है ऐसे सरोवरमें कमलको स्थलकमल समझती हुई यह हसी पखोके विक्षेपको रोककर अर्थात् पंख हिलाये विना ही प्रवेश करती है और पानीमे डूब जाती है ॥ २५ ॥ यह हंस चन्द्रमाकी किरणोके समान कोमल और देदीप्यमान मृणालको अपनी चोचसे उठाकर और क्षीरसहित मक्खनके समान कोई पदार्थ समझकर अपने वच्चेके लिए दे रहा है ॥ २६ ॥ कमलिनीके परागसे भरे हुए तालावके जलमे ये हस धीरे-धीरे पख हिलाते हुए वडे प्रयत्नसे तैर रहे है ॥ २७ ॥ तालावके तीरपर तरगोसे तिरोहित हुई चकवीको नही देखता हुआ यह हस आँखोमें आँसू भरकर वडी करुणाके साथ रो रहा है ॥ २८ ॥ सम्भोगकी इच्छा करनेवाला यह शब्द करता हुआ हस, तालावकी तरगोसे जिसका शरीर सफेद हो गया है ऐसी चकवी-के सम्मुख जा रहा है जब कि वह चकवी इस हंसकी इच्छा नही कर रही है ॥२९॥ गगा नदी-के किनारे-किनारे यह सप्तपर्ण जातिके वृक्षोका वन ऐसा सुशोभित हो रहा है मानो अपने फूलोकी परागसे आकाशमे चँदोवाकी शोभा ही धारण कर रहा हो ॥ ३० ॥ मार्गकी थकावट-को दूर करता हुआ और किनारेके वनोको हिलाता हुआ यह गगाकी लहरोसे उठा हुआ पवन हम लोगोके शरीरको धीरे-धीरे स्पर्श कर रहा है ॥३१॥ वनकी पंक्तियोको हिलाता हुआ यह वायु ग्रहण की हुई गंगाके जलकी बूँदोसे ऐसा जान पड़ता है मानो हम लोगोंका अतिथि-सत्कार करता हुआ ही आ रहा हो ॥३२॥ हे देव, जो गायोके संचारसे रहित है अर्थात् अत्यन्त दुर्गम

---

१ आच्छादित । २ कनकवत् पिङ्गलै । ३ विस्फुलिङ्गा । ४ पटकुटय । 'दूष्य वस्त्रे च तद्गृहे' । ५ सक्षीरनवनीतवुद्ध्या । ६ कृतयत्न ल०, द०, इ०, अ०, प०, स०, । ७ स्तनिताम् आच्छादिताम् । ८ आलोकयन् । ९ हसकान्तेति शङ्कावान् । "वरटा हसकान्ता स्यात् वरटा वरलापि च" इति वैजयन्ती । १० सितेतरचञ्चुचरणवान् हस । 'राजहसास्तु ते चञ्चुश्चरणै लोहितै सिता । मलिनैर्मल्लिकाक्षास्तैर्धार्तराष्ट्रा सितेतरै' इत्यभिधानात् । ११ कृतस्वन द०, व०, ल० । कृतस्वनाम् अ० । १२ अस्माकम् । १३ तटवन । १४ अतिथित्वम् । १५ शीकरै ल०, प०, इ० । १६ अभिमुखमागच्छति । १७ प्रमाणरहितम् । प्रवेष्टुमशक्य वा । १८ विभात्येतै. इ०, ल०, द० । १९ शयन ।

मन्दारवनवीथीनां सान्द्रच्छायाः समाश्रिताः । चन्द्रकान्तशिलास्वेते रंरम्यन्ते नभःसदः ॥३४॥
अहो तटवनस्यास्य रामणीयकमद्‌भुतम् । [1]अवधूतनिजावासा [2]रिरंसन्तेऽत्र [3]यत्सुराः ॥३५॥
मनोभवनिवेशस्य लक्ष्मीरत्र वितन्यते । सुरदम्पतिभिः स्वैरमारब्धरतिविभ्रमैः ॥३६॥
इयं निधुवनासक्ताः[4] सुरस्त्रीरतिकोमलाः[5] । हसतीव तरङ्गोत्थैः शीकरैरमरापगा ॥३७॥
इतः किन्नरसंगीतमितः सिद्धोपवीणितम् । इतो विद्याधरीनृत्तमि[6]तस्तद्गतिविभ्रमः ॥३८॥
नृत्तमप्सरसां पश्यन् शृण्वस्तद्गीतनिःस्वनम् । वाजिवक्त्रोऽयमुद्ग्रीवः सममास्ते स्वकान्तया ॥३९॥
[7]निष्पर्यायं वनेऽमुष्मिन्नृतुवर्गो विवर्धते । परस्परमिव द्रष्टुमुत्सुकायितमानसः ॥४०॥
अशोकतरुरत्रायं तनुते पुष्पमञ्जरीम् । लाक्षारक्तैः खगस्त्रीणां चरणैरभिताडितः ॥४१॥
[8]पुंस्कोकिलकलालापमुखरीकृतदिङ्मुखः । चूतोऽयं मञ्जरीर्धत्ते मदनस्येव तारिकाः[9] ॥४२॥
चम्पका विकसन्तोऽत्र[10] कुसुमर्तौ[11] वितन्वति[12] । प्रदीपानिव पुष्पौघान् दधतीमे[13] मनोभुवः ॥४३॥
सहकारेष्वमी मत्ता विरुवन्ति[14] मधुव्रताः । विजिगीषोरनङ्गस्य काहला इव पूरिताः ॥४४॥
कोकिलानकनिःस्वानैरलिज्यारवजृम्भितैः । [15]अभिषेणयतीवात्र मनोभूर्भुवनत्रयम् ॥४५॥

है और जो देवोके द्वारा अधिष्ठित है अर्थात् जहाँ देव लोग आकर क्रीड़ा करते है ऐसा यह वन फूलोके विछौनोसे सुशोभित इन लतागृहोसे अतिशय सुशोभित हो रहा है ।। ३३ ।। इधर मन्दार वृक्षोकी वन-पंक्तियोंकी घनी छायामे वैठे हुए ये देव लोग चन्द्रकान्त मणियोकी शिलापर वार-वार क्रीडा कर रहे हैं ।।३४।। अहा, इस किनारेके वनकी सुन्दरता कैसी आश्चर्य-जनक है कि देव लोग भी अपने-अपने निवासस्थान छोड़कर यहाँ क्रीड़ा करते है ।। ३५ ।। जिन्होने अपनी इच्छानुसार रति-क्रीड़ा प्रारम्भ की है ऐसे देव-देवागनाओके द्वारा यहाँ काम-देवके घरकी शोभा वढायी जा रही है । भावार्थ – देव-देवांगनाओंकी स्वच्छन्द रतिक्रीड़ाको देखकर मालूम होता है कि मानो यह कामदेवके रहनेका घर ही हो ।। ३६ ।। यह गगा अपनी तरंगोसे उठी हुई जलकी वूँदोसे ऐसी जान पडती है मानो सम्भोग करनेमे असमर्थ होकर दीनता-भरे अस्पष्ट शब्द करनेवाली देवागनाओकी हँसी ही कर रही हो ।।३७।। इधर किन्नरोका संगीत हो रहा है, इधर सिद्ध लोग वीणा वजा रहे है, इधर विद्याधरियाँ नृत्य कर रही है और इधर कुछ विद्याधरियाँ विलासपूर्वक टहल रही है ।।३८।। इधर यह किन्नर अपनी कान्ता-के साथ-साथ अप्सराओका नृत्य देखता हुआ, और उनके संगीत शब्दोको सुनता हुआ मुखसे गला ऊँचा कर वैठा है ।। ३९ ।। परस्परमें एक-दूसरेको देखनेके लिए जिसका मन उत्कण्ठित हो रहा है ऐसा ऋतुओका समूह इस वनमें एक साथ इकट्ठा होता हुआ वढ रहा है ।। ४० ।। लाखसे रगे हुए विद्याधरियोके चरणोसे ताडित हुआ यह अशोक वृक्ष इस वनमें पुष्प-मंजरियो-को धारण कर रहा है ।। ४१ ।। कोकिलोके आलापसे जिसने समस्त दिशाओको वाचालित कर दिया है ऐसा यह आम्रवृक्ष कामदेवकी आँखोकी पुतलियोके समान पुष्प-मजरियोको धारण कर रहा है ।।४२।। वसन्तऋतुकें फैलनेपर इस वनमे जो चम्पक जातिके वृक्ष विकसित हो रहे है और फूलोके समूह धारण कर रहे है वे ऐसे जान पडते है मानो कामदेवके दीपक ही धारण कर रहे हो ।। ४३ ।। इधर ये मदोन्मत्त भ्रमर आम्र वृक्षोपर ऐसा शब्द कर रहे है मानो सवको जीतनेकी इच्छा करनेवाले कामदेवरूपी राजाके वाजे ही वज रहे हो ।।४४।। कोयलो-

१ अवज्ञात । २ रन्तुमिच्छन्ति । ३ यस्मात् कारणात् । ४ शक्ता' ल०, इ० । ५ रतिकाहला ल०, द०, इ० । ६ नृत्यम् अ०, इ० । ७ युगपत् । निष्पर्यायो प०, ल०, द०, अ०, स० । ८ पुस्कोकिलानामालाप ल० । ९ वाणा । तारकाः ल० । १० विकसन्त्यत्र ल०, द०, इ०, अ०, प०, स० । ११ वसन्तकाले । १२ विस्तृते सति । अविवक्षितकर्मकोऽकर्मक इत्यकर्मकत्वमत्र । १३ दधतोऽमी ल०, द०, इ०, अ०, प०, स० । १४ ध्वनन्ति । १५ सेनया अभियाति । णिज्वहुल कृञादिषु णिज् ।

निचुलः[1] सहकारेण विकसन्नत्र माधवीम्[2] । तनोति लक्ष्मीमक्षूणामहो प्रावृट्श्रिया समम् ॥४६॥
मा[3]धवीस्तवकेष्वत्र माधवोऽद्य विजृम्भते । वनलक्ष्मीप्रहासस्य लीलां तन्वत्सु विश्वतः ॥४७॥
वासन्त्यो विकसन्त्येता वसन्तर्तुस्मितश्रियम् । तन्वानाः कुसुमामोदैराकुलीकृतषट्पदाः ॥४८॥
मल्लिकाविततामोदैर्विलोलीकृतषट्पदः । पादपेषु पदं धत्ते शुचिः[4] पुष्पशुचिस्मितः[5] ॥४९॥
कदम्बामोदसुरभिः केतकीधूलिधूसरः[6] । तापात्ययानिलो[7] देव नित्यमत्र विजृम्भते ॥५०॥
माद्यन्ति कोकिलाः शश्वत् सममत्र शिखण्डिभिः । कलहंसीकलस्वानैः संमूर्छित[8]विकूजिताः ॥५१॥
कूजन्ति कोकिला मत्ताः केकायन्ते[9] कलापिनः । उभयस्यास्य वर्गस्य हंसाः [10]प्रत्यालपन्त्यमी ॥५२॥
इतोऽमी किन्नरीगीतमनुकुर्वन्ति[11] षट्पदाः । सिद्धोपवीणितान्येषु निह्नुतेऽन्यभृतस्वनः ॥५३॥
जितनूपुरझंकारमितो हंसविकूजितम् । इतश्च खेचरीनृत्यमनुनृत्यच्छिखावलम्[12] ॥५४॥
इतश्च सैकतोत्सङ्गे सुप्तान् हंसान् सशावकान् । प्रातः प्रबोधयत्युच्चैः[13] खेचरीनूपुरारवः ॥५५॥
इतश्च रचितानल्पपुष्पतल्पमनोहराः । चन्द्रकान्तशिलागर्भा सुरैर्भोग्या लतालयाः ॥५६॥

के मधुरशब्दरूपी नगाडो और भ्रमरोकी गुजार रूप प्रत्यंचाकी टकारध्वनिसे यहाँ ऐसा मालूम होता है मानो कामदेव तीनों लोकोंको जीतनेके लिए सेनासहित चढाई ही कर रहा हो ॥ ४५ ॥ अहा, कैसा आश्चर्य है कि आम्रवृक्षके साथ-साथ फूलता हुआ यह निचुल जातिका वृक्ष इस वनमे वर्षाऋतुकी शोभाके साथ-साथ वसन्तऋतुकी भारी शोभा वढा रहा है ॥४६॥ इधर इस वनमे चारो ओरसे वन-लक्ष्मीके उत्कृष्ट हास्यकी शोभा वढानेवाले माधवीलता-के गुच्छोपर आज वसन्त वडी वृद्धिको प्राप्त हो रहा है ॥ ४७ ॥ जो अपने विकाससे वसन्त-ऋतुके हास्यकी शोभा वढा रही है और जो फूलोकी सुगन्धिसे भ्रमरोको व्याकुल कर रही है ऐसी ये वसन्तमे विकसित होनेवाली माधवीलताएँ विकसित हो रही है – फूल रही है ॥४८॥ जिसने मालतीकी फैली हुई सुगन्धिसे भ्रमरोको चंचल कर दिया है और फूल ही जिसका पवित्र हास्य है ऐसा यह ग्रीष्मऋतु वृक्षोपर पैर रख रहा है—अपना स्थान जमा रहा है ॥४९॥ हे देव, कदम्ब पुष्पोकी सुगन्धिसे सुगन्धित तथा केतकीकी धूलिसे धूसर हुआ यह वर्षाऋतु-का वायु इस वनमें सदा वहता रहता है ॥५०॥ इस वनमे मयूरोके साथ-साथ कोयल सदा उन्मत्त रहते है और कल-हसियो (वदको) के मनोहर शव्दोके साथ अपना शव्द मिलाकर वोलते है ॥५१॥ इधर उन्मत्त कोकिलाएँ कुहू कुहू कर रही है, मयूर केका वाणी कर रहे है और ये हंस इन दोनोके शव्दोंकी प्रतिध्वनि कर रहे है ॥ ५२ ॥ इधर ये भ्रमर किन्नरियोके द्वारा गाये हुए गीतोका अनुकरण कर रहे है और इधर यह कोयल सिद्धोके द्वारा बजायी हुई वीणाके शव्दोको छिपा रहा है ॥ ५३ ॥ इधर नूपुरोकी झंकारको जीतता हुआ हंसोका शव्द हो रहा है, और इधर जिसका अनुकरण कर मयूर नाच रहे है ऐसा विद्याधरियोका नृत्य हो रहा है ॥ ५४ ॥ इधर वालूके टीलोकी गोदमे अपने वच्चोसहित सोये हुए हसोको प्रात कालके समय यह विद्याधरियोके नूपुरोका ऊँचा शव्द जगा रहा है ॥ ५५ ॥ इधर जो वहुत-से फूलोसे वनायी हुई शय्याओसे मनोहर जान पडते है, जिनके मध्यमें चन्द्रकान्त मणिकी शिलाएँ पडी

---

१ हिज्जुल । 'निचुलो हिज्जुलोऽम्बुज' इत्यभिधानात् । २ वसन्ते भवाम् । 'अलिमुक्त पुण्ड्रकः स्याद् वासन्ती माधवी लता' इत्यभिधानात् । एतानि पुण्ड्रदेशे वसन्तकाले वाहुल्येन जायमानस्य नामानि । ३ वासन्तीगुच्छकेषु । 'स्याद् गुच्छकस्तु स्तवक' इत्यभिधानात् । ४ ग्रीष्म । ५ पुष्पाण्येव शुचिस्मितं यस्य स । ६ ईषत्पाण्डु । 'ईषत्पाण्डुस्तु धूसरः' इत्यभिधानात् । ७ वर्षाकालवायु । ८ मिश्रित । ९ केका कुर्वन्ति । १० प्रत्युत्तर कुर्वन्ति । ११ अपलाप कुरुते । १२ अनुगतं नृत्यन् शिखावलो यस्य । १३–त्युच्चैः पं० ।

इतीदं वनमत्यन्तरमणीयैः परिच्छदैः । स्वर्गोद्यानगतां प्रीतिं जनयेत् स्वःसदां[1] सदा ॥५७॥
वहिस्तटवनादेतद् दृश्यते काननं महत् । नानाद्रुमलतागुल्मवीरुद्भिरतिदुर्गमम्[2] ॥५८॥
दृष्टीनामप्यगम्येऽस्मिन् वने मृगकदम्बकम् । नानाजातीयमुद्भ्रान्तं सैन्यक्षोभात् प्रधावति ॥५९॥
इदमस्मद्वलक्षोभादुत्त्रस्तमृगसंकुलम् । वनमाकुलितप्राणमिवाभात्यन्धकारितम् ॥६०॥
गजयूथमितः [3]कच्छादन्धकारमिवाभितः । विश्लिष्टं[4] बलसंक्षोभादपसर्पत्यतिद्रुतम् ॥६१॥
शनैः प्रयाति संजिघ्रन्[5] दिशः प्रोत्क्षिप्तपुष्करः । स महाहिरिवाद्रीन्द्रो भद्रोऽस्य गजयूथपः ॥६२॥
महाहिरयमायामं मिमानः[6] इव भूरुहाम् । श्वसन्नायच्छते[7] कच्छादूर्ध्वीकृतशरीरकः ॥६३॥
[8]शयुपोता निकुञ्जेषु[9] पुञ्जीभूता वसन्त्यमी । [10]वनस्येवान्त्रसंतानाश्चमूक्षोभाद्विनिःसृताः ॥६४॥
अयमेकचरः[11] पोत्रग्रमुत्खातान्तिकस्थलः[12] । रुणद्धि वर्त्म सैन्यस्य वराहस्तीव्ररोषणः ॥६५॥
सैनिकैरयमारुद्धः[13] पाषाणलकुटादिभिः । व्याकुलीकुरुते[14] सैन्यं गण्डो[15] गण्ड[16] इव स्फुटम् ॥६६॥
प्राणा इव वनादस्माद् विनिष्क्रामन्ति सन्तताः । सिंहा बहुदवज्वाला[17] धुन्वाना केसरच्छटाः ॥६७॥

हुई है और जो देवोके उपभोग करने योग्य है ऐसे लतागृह बने हुए है ॥५६॥ इस प्रकार यह वन अत्यन्त रमणीय सामग्रीसे देवोके सदा नन्दन वनकी प्रीतिको उत्पन्न करता रहता है ॥ ५७ ॥

इधर किनारेके वनके वाहर भी एक वड़ा भारी वन दिखाई दे रहा है जो कि अनेक प्रकारके वृक्षो, लताओ, छोटे-छोटे पौधो और झाड़ियोसे अत्यन्त दुर्गम है ॥ ५८ ॥ जिसमें दृष्टि भी नही जा सकती ऐसे इस वनमे सेनाके क्षोभसे घवडाया हुआ यह अनेक जातिके मृगो-का समूह वड़े जोरसे दौडा जा रहा है ॥५९॥ जो हमारी सेनाके क्षोभसे भयभीत हुए हरिणो-से व्याप्त है तथा जिसमे जीवोके प्राण आकुल हो रहे है ऐसा यह वन अन्धकारसे व्याप्त हुए-के समान जान पड़ता है ॥ ६० ॥ इधर सेनाके क्षोभसे अलग-अलग हुआ यह हाथियोका झुण्ड गगा किनारेके जलवाले प्रदेशसे अन्धकारके समान चारो ओर वडे वेगसे भागा जा रहा है ॥ ६१ ॥ हाथियोके झुण्डकी रक्षा करनेवाला यह भद्र गजराज सूँड़को ऊँचा उठाता हुआ तथा दिशाओंको सूघँता हुआ धीरे-धीरे ऐसा जा रहा है मानो शेषनागसहित सुमेरु पर्वत ही जा रहा हो ॥ ६२ ॥ जिसने अपने शरीरके ऊर्ध्वभागको ऊँचा उठा रखा है ऐसा यह वड़ा भारी सर्प जलवाले प्रदेशसे साँस लेता हुआ इस प्रकार आ रहा है मानो वृक्षोकी लम्वाईको नापता हुआ ही आ रहा हो ॥६३॥ इधर इस लतागृहमें इकट्ठे हुए ये अजगरके वच्चे इस प्रकार श्वास ले रहे है मानो सेनाके क्षोभसे वनकी अँतड़ियोके समूह ही निकल आये हों ॥६४॥ जो अकेला ही फिरा करता है, जिसने अपनी नाकसे समीपके स्थल खोद डाले है, और जो अत्यन्त क्रोधी है ऐसा यह शूकर सेनाका मार्ग रोक रहा है ॥६५॥ सेनाके लोगोने जिसे पत्थर लकड़ी आदिसे रोक रखा है ऐसा यह गण्ड अर्थात् छोटे पर्वतके समान दिखनेवाला गैंडा हाथी स्पष्ट रूपसे सेनाको व्याकुल कर रहा है ॥६६॥ जो दावानलकी ज्वालाके समान पीले और विस्तृत गरदनपर-के वालोके समूहोको हिला रहे है ऐसे ये सिंह इस वनसे इस प्रकार

---

१ नाकिनाम् । २ प्रतानिनीलताभि । 'लता प्रतानिनी वीरुत् गुल्मिन्युपलमित्यपि' इत्यभिधानात् । ३ वहुजलप्रदेशात् । 'जलप्रायमनूपं स्यात् पुंसि कच्छस्तथाविध ।' इत्यभिधानात् । ४ विभक्तम् । ५ आघ्राणयन् । ६ प्रमितिं कुर्वन्निव । ७ दीर्घीभवति । यमुद्धन' स्वेऽङ्गे चाजा'' इत्यात्मनेपदी । –न्नागच्छते ल०, इ० । ८ अजगरशिशव । ९ निकुञ्जेऽस्मिन् ल०, द०, इ० । १० पुरीतत् । ११ एकाकी । १२ मुखाग्र । 'मुखाग्रे क्रोडहलयो पोत्रम्' इत्यभिधानात् । 'योत्रप्पोहलक्रोडमुखे त्रट्' इति सूत्रेण सिद्धि । १३ वेष्टित. । १४ आकुली–ल० । १५ खड्गीमृग । १६ गण्डशैल इव । १७ दवज्वालसदृशाः ।

गुग्गुलूनां[१] वनादेष महिषो घनकर्बुरः । निर्याति मृत्युदंष्ट्राभविषाणाग्रातिभीषणः ॥६८॥
[२]ललद्वालधयो लोलजिह्वा व्यालोहितेक्षणाः । व्याला[३] बलस्य संक्षोभममी तन्वन्त्यनाकुलाः[४] ॥६९॥
शरभः[५] सं समुत्पत्य पतन्नुत्तापितोऽपि[६] सन् । नैष दुःखासिकां वेद[७] चरणैः पृष्ठवर्तिभिः ॥७०॥
चमरोऽयं[८] [९]चमूरोधाद् विद्रुतो[१०] द्रुतमुत्पतन् । क्षोभं तनोति सैन्यस्य दर्पो रूपीव[११] दुर्धरः ॥७१॥
शशः शशत्ययं[१२] देव सैनिकैरननुद्रुतः[१३] । शरणायेव भीतात्मा [१४]मध्येसैन्यं निलीयते[१५] ॥७२॥
सारङ्गोऽयं तनुच्छायाकल्माषितवनः[१६] शनैः । प्रयाति शृङ्गभारेण शाखिनेव प्रशुष्यता ॥७३॥
दक्षिणेर्मतया[१७] विष्वगभिधावन्त्यपीक्षिता[१८] । प्रजानुपालनं न्याय्यं तवाचष्टे मृगव्रजा[१९] ॥७४॥
कलापी बर्हभारेण मन्दं मन्दं व्रजत्यसौ । केशपाशश्रियं तन्वन् वनलक्ष्म्यास्तनूरुहैः ॥७५॥
नेत्रावलीमिवातन्वन् वनभूम्याः सचन्द्रकैः । कलापिनामयं सर्वो विभात्यस्मिन् वनस्थले ॥७६॥
संक्रीडतां[२०] रथाङ्गानां स्वनमाकर्णयन् मुहुः । हरिणानामिदं यूथं नापसर्पति वर्त्मनः[२१] ॥७७॥

निकल रहे है मानो उसके प्राण ही निकल रहे हो ॥६७॥ जो मेघके समान कर्बुर वर्ण है, जिसके सीगका अग्रभाग यमराजकी दाढके समान है तथा जो अत्यन्त भयंकर है ऐसा यह भैसा इस गूगुलके वनसे बाहर निकल रहा है ॥६८॥ जिनकी पूँछ हिल रही है, जिह्वा चंचल हो रही है और नेत्र अत्यन्त लाल हो रहे है ऐसे ये सिह आदि क्रूर जीव स्वय व्याकुल न होकर ही सेनाका क्षोभ बढा रहे है ॥६९॥ यह अष्टापद आकाशमे उछलकर यद्यपि पीठके बल गिरता है तथापि पीठपर रहनेवाले पैरोसे यह दु खका अनुभव नही करता। भावार्थ–अष्टापद नामका एक जगली जानवर होता है उसके पीठपर भी चार पाँव होते है। जब कभी वह आकाशमे छलॉग मारनेके बाद चित्त अर्थात् पीठके बल गिरता है तो उसे कुछ भी कष्ट नही होता क्योकि वह अपने पीठपर-के पैरोसे सँभलकर खडा हो जाता है ॥७०॥ जो मूर्तिमान् अहंकारके समान है, दुर्जेय है और सेनासे घिर जानेके कारण जल्दी-जल्दी छलॉग मारता हुआ इधर-उधर दौड़ रहा है ऐसा यह मृग सेनाका क्षोभ बढा रहा है ॥७१॥ हे देव, यह खरगोश दौड़ रहा है, यद्यपि सैनिकोंने इसका पीछा नही किया है तथापि यह भीरु होनेसे इधर-उधर दौड़कर शरण ढूँढनेके लिए आपकी सेनाके बीचमे ही कही छिप जाता है ॥७२॥ जिसने अपने शरीरकी कान्तिसे वनको भी काला कर दिया है ऐसा यह कृष्णसार जातिका मृग सूखे हुए वृक्षके समान अनेक शाखाओवाले सीगोके भारसे धीरे-धीरे जा रहा है ॥७३॥ देखिए, दाहिनी ओर घाव लगनेसे जो चारों ओर चक्कर लगा रहा है ऐसा यह हरिणोका समूह मानो आपसे यही कह रहा है कि आपको सब जीवोका पालन करना योग्य है ॥७४॥ जो अपनी पूँछके द्वारा वनलक्ष्मीके केशपाशकी शोभाको बढा रहा है ऐसा यह मयूर पूँछके भारसे धीरे-धीरे जा रहा है ॥७५॥ इधर इस वनस्थलमें यह मयूरोका समूह ऐसा सुशोभित हो रहा है मानो अपनी पूँछपर-के चन्द्रकोसे वनकी पृथिवीरूपी स्त्रीके नेत्रोके समूहकी शोभा ही बढा रहा हो ॥७६॥ इधर देखिए, चलते हुए रथके पहियेके शब्दको बार-बार सुनता हुआ यह हरिणोका समूह मार्ग

---

१ कौशिकानाम् । कुम्भोलूखलक 'क्लीबे कौशिको गुग्गुलु पुर.' इत्यभिधानात् । २ चलत् । ३ दुष्टमृगा । ४ निर्भीता । ५ अष्टापद । ६ ऊर्ध्वमुखचरणो भूत्वा । ७ जानाति । ८ व्याघ्र । ९ सेनानिरोधात् । १० धावमान । ११ रूपी च ल० । १२ 'शश प्लुतगतौ' उत्प्लुत्य गच्छन् । १३ अनुगत । १४ सैन्यमध्ये । १५ अन्तर्हितो भवति । विलीयते अ०, इ० । १६ शबलित । १७ दक्षिणभागे कृतव्रणतया । 'दक्षिणे गतया विष्वगभिधावन् प्रवीक्षताम् । प्रजानुपालन न्याय्यं तवाचष्टे मृगव्रजः ॥' ल० । १८ सैनिकैरवलोकिता । १९ मृगसमूह. । २० चीत्कारं कुर्वताम् । 'क्रीडोऽकूजे' इति अकूजार्थे तङ्विधानात् कूजार्थे परस्मैपदी । २१ वर्त्मन. ल० । दूरत अ० ।

[1]हरिणीप्रेक्षितेष्वेताः पश्यन्ति सकुतूहलम् । स्वां नेत्रशोभां कामिन्यो बर्हिवर्हेषु मूर्धजान् ॥७८॥
इत्यनाकुलमेवेदं सैन्यैरप्याकुलीकृतम् । वनमालक्ष्यते विश्वगसंबाधमृगद्विजम्[2] ॥७९॥
जरठोऽप्यातपो[3] नायमिहास्मान् देव बाधते । वने महातरुच्छाया नैरन्तर्यानुबन्धिनि ॥८०॥
इमे वनद्रुमा भान्ति सान्द्रच्छाया मनोरमाः । त्वद्भक्त्यै[4] वनलक्ष्म्येव मण्डपा विनिवेशिताः ॥८१॥
सरस्यः स्वच्छसलिला वारितोष्णास्तटद्रुमैः । स्थापिता वनलक्ष्म्येव प्रपा[5] भान्ति क्लमच्छिदः ॥८२॥
बहुबाणासनाकीर्णमिदं[6] खड्गिभिराततम्[7] । सहास्तिकमपर्यन्तं वनं युष्मद्बलायते[8] ॥८३॥
इत्थं वनस्य सामृद्ध्यं निरूपयति सारथौ । वनभूमिमतीयाय सम्राडविदितान्तराम्[9] ॥८४॥
तदाश्वीयखुरोद्धातादुत्थिता वनरेणवः । दिशां मुखेषु संलग्नास्तेनुर्यवनिकाश्रियम् ॥८५॥
सादिनां[10] वारवाणानि[11] स्यूतान्यपि[12] सितांशुकैः । काषायाणीव[13] जातानि ततानि वनरेणुभिः ॥८६॥
वनरेणुभिरालग्नैर्जटीभूतानि योषितः । स्तनांशुकानि कृच्छ्रेण दधुरध्वश्रमालसाः ॥८७॥
कुम्भस्थलीषु संसक्ताः करिणामध्वरेणवः । सिन्दूरश्रियमातेनुर्धातुभूमिसमुत्थिताः[14] ॥८८॥

से एक ओर नही हट रहा है ॥७७॥ ये स्त्रियाँ हरिणियोके नेत्रोमे अपने नेत्रोकी शोभा बड़े कौतूहलके साथ देख रही है और हरिणोंकी पूँछोमे अपने केशोकी शोभा निहार रही है ॥७८॥ जिसमे हरिण पक्षी आदि सभी जीव एक-दूसरेको बाधा किये विना ही निवास कर रहे है ऐसा यह वन यद्यपि सैनिकोके द्वारा व्याकुल किया गया है तथापि आकुलतासे रहित ही प्रतीत हो रहा है ॥७९॥ हे देव, जो बडे-बडे वृक्षोकी घनी छायासे सदा सहित रहता है ऐसे इस वनमें रहनेवाले हम लोगोको यह तीव्र घाम कुछ भी बाधा नही कर रहा है ॥८०॥ ये घनी छायावाले वनके मनोहर वृक्ष ऐसे जान पडते है मानो आपकी भक्तिके लिए वनलक्ष्मीके द्वारा लगाये हुए मण्डप ही हो ॥८१॥ किनारेपर-के वृक्षोसे जिनकी सब गरमी दूर कर दी गयी है ऐसे स्वच्छ जलसे भरे हुए ये छोटे-छोटे तालाब ऐसे मालूम होते है मानो वनलक्ष्मीने क्लेश दूर करनेवाली प्याऊ ही स्थापित की हो ॥८२॥ हे प्रभो, यह वन आपकी सेनाके समान जान पडता है क्योकि जिस प्रकार आपकी सेना बहुत-से बाणासन अर्थात् धनुषोसे व्याप्त है उसी प्रकार यह वन भी बाण और असन जातिके वृक्षोसे व्याप्त है, जिस प्रकार आपकी सेना खड्गी अर्थात् तलवार धारण करनेवाले सैनिकोसे भरी हुई है उसी प्रकार यह वन भी खड्गी अर्थात् गैडा हाथियोसे भरा हुआ है, जिस प्रकार आपकी सेना हाथियोके समूहसे सहित है उसी प्रकार यह वन भी हाथियोके समूहसे सहित है और जिस प्रकार आपकी सेनाका अन्त नही दिखाई देता उसी प्रकार इस वनका भी अन्त नही दिखाई देता ॥८३॥ इस प्रकार सारथिके वनकी समृद्धिका वर्णन करते रहनेपर सम्राट् भरत उस वनभूमिको इस तरह पार कर गये कि उन्हे उसकी लम्बाईका पता भी नही चला ॥८४॥ उस समय घोडोके समूहके खुरोके आघातसे उठी हुई वनकी धूलि समस्त दिशाओमे व्याप्त होकर परदेकी शोभा धारण कर रही थी ॥८५॥ घुडसवारोके कवच, यद्यपि ऊपरसे सफेद वस्त्रोसे ढँके हुए थे तथापि वनकी धूलिसे व्याप्त होनेके कारण ऐसे मालूम पडते थे मानो कषाय रंगसे रगे हुए ही हो ॥८६॥ मार्गके परिश्रमसे अलसाती हुई स्त्रियाँ वनकी धूलि लगनेसे भारी हुए स्तन ढँकनेवाले वस्त्रोको बडी कठिनाईसे धारण कर रही थी ॥८७॥ गेरू रंगकी भूमिसे उठी हुई मार्गकी धूलि

---

१ लोचनेषु । २ पक्षी । ३ प्रवृद्ध । ४ तव भजनाय । ५ पानीयशालिका । 'प्रपा पानीयशालिका' इत्यभिधानात् । ६ झिण्डि सर्जक, पक्षे चाप । ७ गण्डमृगैः, पक्षे आयुधिकैः । ८ उभयत्रापि गजसमूहम् । ९ अज्ञातान्तरमत्रवियस्मिन्नत्यर्थकर्मणि । १० अश्वारोहकाणाम् । 'अश्वारोहास्तु सादिनः' इत्यभिधानात् । ११ कञ्चुका । 'कञ्चुको वारवाणोऽस्त्री' इत्यभिधानात् । १२ युतानि । १३ कषायरञ्जितानि । १४ गैरिक।

ततो[1] मध्यन्दिनेऽभ्यर्णे दिदीपे तीव्रमंशुमान्। विजिगीषुरिवारूढप्रतापः शुद्धमण्डलः ॥८९॥
सरस्तीरतरुच्छायामाश्रयन्ति स्म पत्रिणः[2]। शरदातपसंतापात् संकुचत्पत्त्र[3]सम्पदः ॥९०॥
हंसाः कलमषण्डेषु पुञ्जीभूतान् स्वशावकान्। पक्षैराच्छादयामासुरसोढजरठातपान् ॥९१॥
वन्याः स्तम्बेरमा भेजुः सरसीरवगाहितुम्। मदस्रुतिषु तप्तासु मुक्ता मधुकरव्रजैः ॥९२॥
शाखाभङ्गैः[4] कृतच्छायाः प्रयान्तो गजयूथपाः। [5]शाखोद्धारमिवातन्वन् खरांशोः करपीडिताः ॥९३॥
यूथं वनवराहाणामुपर्युपरि पुञ्जितम्। तदा प्रविश्य [6]वेशन्तमधिशिश्ये सकर्दमम् ॥९४॥
मृणालैरङ्गमावेष्ट्य स्थिता हंसा विरेजिरे। प्रविष्टाः शरणायेव शशाङ्ककरपञ्जरम् ॥९५॥
चक्रवाकयुवा भेजे घनं शैवलमाततम्। सर्वाङ्गलग्नमुष्णालुर्विनीलमिव[7] कञ्चुकम् ॥९६॥
पुण्डरीकातपत्रेण कृतच्छायोऽब्जिनीवने। राजहंसस्तदा भेजे हंसीभिः सह मज्जनम् ॥९७॥
बिसभङ्गैः कृताहारा मृणालैरवगुण्ठिताः[8]। बिसिनीपत्रतल्पेषु शिश्यिरे हंसशावकाः ॥९८॥
इति शारदिके तीव्रं तन्वाने तापमातपे। पुलिनेषु प्रतप्तेषु न हंसा धृतिमादधुः ॥९९॥

हाथियोके गण्डस्थलोमें लगकर सिन्दूरकी शोभा धारण कर रही थी ॥८८॥ तदनन्तर मध्याह्न-का समय निकट आनेपर सूर्य अत्यन्त देदीप्यमान होने लगा। उस समय वह सूर्य किसी विजिगीषु राजाके समान जान पडता था क्योकि जिस प्रकार विजिगीषु राजा प्रताप (प्रभाव) धारण करता है उसी प्रकार सूर्य भी प्रताप (प्रकृष्ट गरमी) धारण कर रहा था और जिस प्रकार विजिगीषु राजाका मण्डल (स्वदेश) शुद्ध अर्थात् आन्तरिक उपद्रवोंसे रहित होता है उसी प्रकार सूर्यका मण्डल (बिम्ब) भी मेघ आदिका आवरण न होनेसे अत्यन्त शुद्ध (निर्मल) था ॥८९॥ शरद्‌ऋतुके घामके सन्तापसे जिनके पखोंकी शोभा संकुचित हो गयी है ऐसे पक्षी सरोवरोंके किनारेके वृक्षोकी छायाका आश्रय लेने लगे ॥ ९० ॥ जो मध्याह्नकी गरमी सहन करनेमे असमर्थ है और इसीलिए जो कमलोंके समूहमें आकर इकट्ठे हुए है ऐसे अपने बच्चोंको हंस पक्षी अपने पंखोसे ढँकने लगे ॥ ९१ ॥ मदका प्रवाह गरम हो जानेसे जिन्हे भ्रमरोके समूह-ने छोड दिया है ऐसे जंगली हाथी अवगाहन करनेके लिए सरोवरोकी ओर जाने लगे ॥ ९२ ॥ सूर्यकी किरणोसे पीडित हुए हाथी वृक्षोंकी डालियाँ तोड-तोडकर अपने ऊपर छाया करते हुए जा रहे थे और उनसे ऐसे मालूम होते थे मानो शाखाओंका उद्धार ही कर रहे हों ॥९३॥ उस समय जंगली शूकरोका समूह कीचडसहित छोटे-छोटे तालावोमे प्रवेश कर परस्पर एक दूसरेके ऊपर इकट्ठे हो शयन कर रहे थे ॥ ९४ ॥ अपने शरीरको मृणालके तन्तुओसे लपेट-कर बैठे हुए हस ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो अपनी रक्षा करनेके लिए चन्द्रमाकी किरणोंसे बने हुए पिजडेमे ही घुस गये हों ॥ ९५ ॥ जो उष्णता सहन करनेमें असमर्थ है ऐसे किसी तरुण चकवाने अपने सर्व शरीरमे लगे हुए, मोटे-मोटे तथा विस्तृत शेवालको धारण कर रखा था और उससे वह ऐसा मालूम होता था मानो नीले रगका कुरता ही धारण कर रहा हो ॥९६॥ जिसने कमलिनियोके वनमे सफेद कमलरूप छत्रसे छाया बना ली है ऐसा राजहस उस मध्याह्न-के समय अपनी हसियोके साथ जलमे गोते लगा रहा था ॥ ९७ ॥ जिन्होने मृणालके टुकड़ोका आहार किया है और मृणालके तन्तुओसे ही जिनका शरीर ढँका हुआ है ऐसे हंसोके बच्चे, कमलिनी-के पत्ररूपी शय्यापर सो रहे थे ॥ ९८ ॥ इस प्रकार शरद्‌ऋतुका घाम तीव्र सन्ताप फैला रहा

---

१ मध्याह्नकाले। २ पक्षिण ल०। ३ पक्ष। ४ शाखाखण्डै। ५ पल्लवानि गृहीत्वा आक्रोशम्। ६ पल्वलम्। अल्पसर इत्यर्थ। "वेशन्तः पल्वल चाल्पसर' इत्यभिधानात्। ७ उष्णमसहमान। 'शीतोष्णत्रयादश आलु'। ८ आच्छादिता।

मध्यस्थोऽपि तदा तीव्रं ततापं तरणिर्भुवम्। नूनं तीव्रप्रतापानां माध्यस्थ्यमपि तापकम् ॥१००॥
स्वेदबिन्दुभिरावद्धजालकानि[1] नृपस्त्रियः। वदनान्यूहुरब्जिन्यः पद्मानीवाम्बुशीकरैः ॥१०१॥
नृपवल्लभिकावक्त्रपङ्कजेष्वपुपच्छ्रियम्। घर्मबिन्दूद्गमो नियंल्लावण्यरसपृग्वत ॥१०२॥
गलद्घर्माम्बुबिन्दूनि मुखानि नृपयोषिताम्। अवश्यायततानीव राजीवानि विरेजिरे[2] ॥१०३॥
नृपाङ्गनामुखाब्जानि धर्मबिन्दुभिराबभुः। मुक्ताफलैर्द्रवीभूतैरिवालकविभूषणैः ॥१०४॥
रथवाहा[3] रथानूहुरायस्ताः[4] फेनिलैर्मुखैः। तीव्र तपति तिग्मांशौ समेऽपि[5] प्रस्खलत्खुराः ॥१०५॥
ह्रस्ववृत्तखुरास्तुङ्गास्तनुस्निग्धतनूरुहाः। पृथ्वासना[6] महावाहाः प्रययुर्वायुरंहसः[7] ॥१०६॥
महाजवजुषो वक्त्रादुद्वमन्तः खुरानिव। महोरस्काः स्फुरत्प्रोथा द्रुतं जग्मुर्महाहयाः ॥१०७॥
समुच्छ्रितपुरोभागाः शुद्धावर्ता[8] मनोजवाः। अपर्याप्तेषु[9] मार्गेषु द्रुतमीयुस्तुरङ्गमाः ॥१०८॥
मेधासत्त्वजवोपेता विनीताश्चटुलक्रमाः। गलहमाना[11] इव स्प्रष्टुं महीमश्वा द्रुतं ययुः ॥१०९॥
अश्वेभ्योऽपि रथेभ्योऽपि पत्तयो वेगितं[12] ययुः। सोपानत्कैः[13] पदैः स्थाणुकण्टकोपललङ्घिनः ॥११०॥

था और उससे तपे हुए नदियोके किनारोपर हंसोको सन्तोष नही हो रहा था ॥९९॥ उस समय सूर्य यद्यपि मध्यस्थ था—आकाशके बीचोबीच स्थित था, पक्षपातरहित था तथापि वह पृथिवीको बहुत ही सन्तप्त कर रहा था सो ठीक ही है क्योकि तीव्र प्रतापी पदार्थोका मध्यस्थ रहना भी सन्ताप करनेवाला होता है ॥१००॥ जिस प्रकार कमलिनियाँ (कमलकी लताएँ) जलकी बूँदोसे सुशोभित कमलोको धारण करती है उसी प्रकार महाराज भरतकी स्त्रियाँ पसीनेकी बूँदोसे जिनपर मोतियोका जाल-सा बन रहा है ऐसे अपने मुख धारण कर रही थी ॥१०१॥ रानियोके मुख-कमलोपर जो पसीनेकी बूँदे उठी हुई थी वे निकलते हुए सौन्दर्य रूपी रसके प्रवाहके समान शोभाको पुष्ट कर रही थी ॥१०२॥ जिनसे पसीनेकी बूँदे टपक रही है ऐसे रानियोके मुख ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो ओसकी बूँदोसे व्याप्त हुए कमल ही हों ॥१०३॥ जिन पसीनेकी बूँदोसे रानियोंके मुख-कमल सुशोभित हो रहे थे वे ऐसी जान पड़ती थी मानो केशपाशको अलकृत करनेवाले मोती ही पिघल-पिघलकर तरल रूप हो गये हो ॥१०४॥ उस समय सूर्य बडी तेजीके साथ तप रहा था इसलिए जो घोडे रथोको ले जा रहे थे उनके मुख परिश्रमसे खुल गये थे, उनमें फेन निकल आया था और उनके खुर समान जमीनपर भी स्खलित होने लगे थे ॥१०५॥ जिनके खुर छोटे और गोल है, जिनपर छोटे और चिकने रोम है, जो बहुत ऊँचे है, जिनका आसन अर्थात् पीठ बहुत बडी है, और जिनका वेग वायुके समान है ऐसे बडे-बडे उत्तम घोडे भी जल्दी-जल्दी दौडे जा रहे थे ॥१०६॥ जो तीव्र वेगसे सहित है, जो अपने आगेके खुरोको मुखसे उगलते हुएके समान जान पड़ते है, जिनका वक्ष:स्थल बडा है और जिनकी नाकके नथने कुछ-कुछ हिल रहे है ऐसे बडे-बडे घोड़े जल्दी-जल्दी जा रहे थे ॥१०७॥ जिनके आगेका भाग बहुत ऊँचा है, जिनके शरीरपर-के भँवर अत्यन्त शुद्ध है, और जिनका वेग मनके समान है ऐसे घोड़े उस छोटे-से मार्गमे बड़ी शीघ्रताके साथ जा रहे थे ॥१०८॥ जो बुद्धि-बल और वेगसे सहित है, विनयवान् है तथा सुन्दर गमनके धारक है ऐसे घोडे पृथिवीको (रजस्वला अर्थात् धूलिसे युक्त—पक्षमें रजोधर्मसे युक्त—समझ) उसके स्पर्श करनेमें घृणा करते हुए ही मानो बड़े वेगसे जा रहे थे ॥१०९॥ पैदल चलनेवाले

१ जालसमूहानि। कोरकाणि वा। २ प्रालेय। 'अवश्यायस्तु नीहारस्तुषारस्तुहिन हिमम्। प्रालेयं मिहिका च' इत्यभिधानात्। ३ रथाश्वा। ४ उत्तप्ता। – रायस्तं इत्यपि पाठ। ५ समानभूतलेऽपि। ६ पृथुरुपृष्ठभागा। ७ वायुवेगा। ८ शोभा। ९ देवमणिप्रमुखशुभावर्ता। १० असम्पूर्णेषु मार्गेषु। ११ कुत्समाना। १२ वेगवद् यथा भवति तथा। १३ सपादत्राणै।

शाक्तिका[1] सह याष्टीकैः[2] प्रासिका[3] धन्विभिः समम् । नैस्त्रिंशिकाश्च[4] तेऽन्योन्यं स्पर्धयेव ययुर्द्रुतम् ॥१११॥
पुरः प्रधाविते:[5] प्रेङ्खद्वारबाणा[6] ग्रपल्लवाः । जातपक्षा इवोड्डीय भटा जग्मुरतिद्रुतम् ॥११२॥
प्रयात धावतापेत मार्गं मा रुन्ध्वमग्रतः । इत्युच्चैरुच्चरद्ध्वाना. [7]पौरस्त्यानत्ययुर्भटाः ॥११३॥
इतोऽपसर्पताश्वीयादितो धावत हास्तिकात् । इतो रथादपत्रस्ता[8] दूरं नश्यत नश्यत ॥११४॥
अमुष्माज्जनसंघट्टादुत्थापयत डिम्भकान्[9] । इतो [10]हस्त्युरस्मादश्वानपसारयत द्रुतम् ॥११५॥
इत.[11] प्रस्थानमारुध्य स्थितोऽयं घातुको गजः । मध्येऽध्व[12] [13]प्राजितुर्दोषात्[14] पर्यस्तोऽयमितो रथ. ॥११६॥
[15]क्रमेलकोऽयमुत्त्रस्त.[16] प्रतीपं[17] पथि धावति । उत्सृष्टभारो लम्बोष्ठो जनानिव विडम्बयन् ॥११७॥
वित्रस्ताद्वेसरादेनां पतन्तीमवरोधिकाम् । संधारयन् प्रपातेऽस्मिन्[18] सौविदल्लः[19] पतत्ययम् ॥११८॥
यवीयानेष[20] पण्यस्त्रीमुखालोकनविस्मितः । पातितोऽप्यश्वसंघट्टैर्नात्मानं वेद[21] शून्यधीः ॥११९॥
[22]हरिद्रारञ्जितश्मश्रुः कज्जलाङ्कितलोचन. । [23]कुट्टिनीमनुयन्नेष[24] [25]प्रवयास्तरुणायते ॥१२०॥
इति प्रयाणसंजल्पैरज्ञाताध्वपरिश्रमाः । सैनिकाः शिबिरं प्रापन् सेनान्या. प्राङ्निवेशितम् ॥१२१॥

सेनिक जूता पहने हुए पैरोसे ठूँठ, कॉटे तथा पत्थर आदिको लॉघते हुए घोडे और रथोसे भी जल्दी जा रहे थे ॥११०॥ शक्ति नामके हथियारको धारण करनेवाले लट्ठ धारण करनेवालोके साथ, भाला धारण करनेवाले धनुष धारण करनेवालोके साथ और तलवार धारण करनेवाले लोग परस्पर एक-दूसरेके साथ स्पर्धा करते हुए ही मानो वड़ी शीघ्रताके साथ जा रहे थे ॥१११॥ आगे-आगे दौड़नेसे जिनके कवचके अग्रभाग कुछ-कुछ हिल रहे हैं ऐसे योद्धा लोग इतनी जल्दी जा रहे थे मानो पंख उत्पन्न होनेसे वे उडे ही जा रहे हो ॥११२॥ चलो, दौड़ो, हटो, आगेका मार्ग मत रोको इस प्रकार जोर-जोरसे बोलनेवाले योद्धा लोग अपने सामनेके लोगोको हटा रहे थे ॥११३॥ अरे, इन घोडोके समूहसे एक ओर हटो, इन हाथियोके समूहसे भागो, और विचले हुए इन रथोसे भी दूर भाग जाओ ॥११४॥ अरे, इन वच्चोको लोगोंकी इस भीड़से उठाओ और इन हाथियोके आगेसे घोड़ोको भी शीघ्र हटाओ ॥११५॥ इधर यह दुष्ट हाथी रास्ता रोककर खडा हुआ है और इधर यह रथ सारथिकी गलतीसे मार्गके बीचमे ही उलट गया है ॥११६॥ इधर देखो, जिसने अपना भार पटक दिया है, जिसके लम्बे होठ हैं और जो बहुत घबडा गया है ऐसा यह ऊँट मार्गमे इस प्रकार उलटा दौड़ा जा रहा है मानो लोगोंकी विडम्बना ही करना चाहता हो ॥११७॥ इधर इस ऊँची जमीनपर घबड़ाये हुए खच्चरपर-से गिरती हुई अन्त पुरकी स्त्रीको कोई कचुकी बीचमे ही धारण कर रहा है परन्तु ऐसा करता हुआ वह स्वय गिर रहा है ॥११८॥ यह तरुण पुरुष वेश्याका मुख देखनेसे आश्चर्य-चकित होता हुआ घोड़ेके धक्केसे गिर गया है, परन्तु वह मूर्ख 'मै' गिर गया हूँ इस तरह अब भी अपने-आपको नही जान रहा है ॥११९॥ जिसने अपने बाल खिजाबसे काले कर लिये है, जिसकी आँखोमें काजल लगा हुआ है और जो किसी कुट्टिनीके पीछे-पीछे जा रहा है ऐसा यह बूढ़ा ठीक तरुण पुरुषके समान आचरण कर रहा है ॥१२०॥ इस प्रकार चलते समयकी बात-

---

१ शक्ति. प्रहरण येषा ते शाक्तिका । २ यष्टिहेतिकै । ३ कौन्तिका । ४ असिहेतिका । ५ प्रधावनै । ६ चलत्कञ्चुक । ७ पुरोगामिनः । ८ भो विगतभया' । ९ बालकान् । डिम्भकान् ल०, द०, इ०, अ०, प०, स० । १० हस्तिमुखात् । ११ गमनम् । पन्थान—ल० । १२ मार्गमध्ये । १३ सारथे । 'नियन्ता प्राजिता यन्ता सूत क्षत्ता च सारथि ।' इत्यभिधानात् । १४ उत्तानित । १५ उष्ट्र । १६ भीति गत । १७ प्रतिकूलम् । अभिमुखमित्यर्थ । १८ प्रपातस्तु तटो भृगु । १९ कञ्चुकी । २० युवा । २१ जानाति । २२ पलितप्रतीकारार्थ प्रयुक्तौषधविशेषरञ्जित । २३ शफरीम् । 'कुट्टिनी शफरी समे' इत्यभिधानात् । २४ अनुगच्छन् । २५ वृद्धा । 'प्रवया स्थविरो वृद्धो जीनो जीर्णो जरन्नपि' इत्यभिधानात् ।

ततोऽवरोधनवधूमुखच्छायाविलङ्घिनि । मध्यन्दिनातपे[1] सम्राट् संप्राप शिबिरान्तकम् ॥१२२॥
छत्ररत्नकृतच्छायो दिव्यं रथमधिष्ठितः । न तदातपसंबाधां विदामास[2] विशांपतिः ॥१२३॥
वर्षीयोभिरथासन्नै[3]रारब्धसु[4]खसकथः । प्रयातमपि[5] नाध्वानं विवेद भरताधिपः ॥१२४॥
नोद्घातः[6] कोऽप्यभूदङ्गे रथाङ्गपरिवर्तनैः[7] । रथवेगेऽपि नास्याभूत क्लेशो[8] दिव्यानुभावतः ॥१२५॥
रथवेगानिलोदस्तं[9] व्यायतं तद्ध्वजांशुकम् । पश्चादागामिसैन्यानामिव मार्गमसूत्रयत[10] ॥१२६॥
रथोद्धतगतिक्षोभादुद्भूताङ्गपरिश्रमाः । कथं कथमपि प्रापन् रथिनोऽन्ये रयं प्रभोः ॥१२७॥
[11]तमध्वशेषमध्वन्यैस्तुरङ्गैरत्यवाहयन्[12] । सादिनः प्रभुणा सार्धं शिबिरं प्रविविक्षवः[13] ॥१२८॥
दूराद्दूष्यकुटीभेदानुत्थितान् प्रभुरैक्षत । सेनानिवेशमभितः[14] सौधशोभापहासिनः ॥१२९॥
रौप्यदण्डेषु विन्यस्तान् विस्तृतान् पटमण्डपान् । सोऽपश्यज्जनतातापहारिणः सुजनानिव ॥१३०॥
किमेतानि स्थलाब्जानि हंसयूथान्यमूनि वा । इत्याशङ्क्य स्थूलाग्राणि[15] दूरादद्दशिरे जनैः ॥१३१॥
सामन्तानां निवेशेषु कायमानानि[16] नैकधा[17] । निवेशितानि विन्यासैर्निदध्यौ[18] प्रभुरग्रतः ॥१३२॥
परितः कायमानानि वीक्ष्य कण्टकिनीर्वृतीः । निष्कण्टके निजे राज्ये मेने तानेव कण्टकान् ॥१३३॥

चीतसे जिन्हे मार्गका परिश्रम भी मालूम नही हुआ है ऐसे सैनिक लोग सेनापतिके द्वारा पहले-से ही तैयार किये हुए शिबिर अर्थात् ठहरनेके स्थानपर जा पहुँचे ॥ १२१ ॥ तदनन्तर जव मध्याह्नका सूर्य अन्त पुरकी स्त्रियोके मुखकी कान्तिको मलिन कर रहा था तव सम्राट् भरत शिविरके समीप पहुँचे ॥ १२२ ॥ जिनपर छत्ररत्नके द्वारा छाया की जा रही है और जो देवनिर्मित सुन्दर रथपर बैठे हुए है ऐसे महाराज भरतको उस दोपहरके समय भी गरमीका कुछ भी दुःख मालूम नही हुआ था ॥१२३॥ जिन्होने समीपमें चलनेवाले वृद्ध जनोके साथ-साथ अनेक प्रकारकी कथाएँ प्रारम्भ की है ऐसे भरतेश्वरको बीते हुए मार्गका भी पता नही चला था ॥१२४॥ दिव्य सामर्थ्य होनेके कारण रथके पहियोकी चालसे उनके शरीरमे कुछ भी उद्घात (दचका) नही लगा था और न रथका तीव्र वेग होनेपर भी उनके शरीरमे कुछ क्लेश हुआ था ॥१२५॥ रथके वेगसे उत्पन्न हुए वायुसे ऊपरकी ओर फहराता हुआ उनकी ध्वजा-का लम्बा वस्त्र ऐसा जान पडता था मानो पीछे आनेवाली सेनाके लिए मार्ग ही सूचित कर रहा हो ॥१२६॥ रथकी उद्धत गतिके क्षोभसे जिनके अंग-अगमे पीड़ा उत्पन्न हो रही है ऐसे रथ-पर सवार हुए अन्य राजा लोग बड़ी कठिनाईसे महाराज भरतके रथके समीप पहुँच सके थे ॥१२७॥ जो घुड़सवार लोग महाराज भरतके साथ ही शिविरमे प्रवेश करना चाहते थे उन्होने बचे हुए मार्गको अपने उन्ही चलते हुए श्रेष्ठ घोड़ोसे वड़ी शीघ्रताके साथ तय किया था ॥ १२८ ॥ जो राजभवनोकी शोभाकी ओर भी हँस रहे हैं ऐसे शिविरके चारो ओर खडे किये हुए रावटी तम्बू आदि डेराओको महाराज भरतने दूरसे ही देखा ॥१२९॥ उन्होने चाँदीके खम्भोपर खडे किये हुए वहुत बडे-बडे कपडेके उन मण्डपोको भी देखा था जो कि सज्जन पुरुषोके समान लोगोका सन्ताप दूर कर रहे थे ॥१३०॥ क्या ये स्थलकमल है अथवा हंसोके समूह हैं इस प्रकार आशका कर लोग दूरसे ही उन तम्बुओके अग्रभागोको देख रहे थे ॥ १३१ ॥ सामन्त लोगोंकी ठहरनेकी जगहपर अनेक प्रकारकी रचना कर जो तम्बू वगैरह बनाये गये थे उन्हे भी महाराज भरतने सामनेसे देखा था ॥ १३२ ॥ तम्बुओके चारो ओर जो कटीली

---

१ दिनाधिपे ट० । मध्याह्नसूर्ये । २ विविदे । ३ कुलवृद्धादिभि. । ४ मुख ल० । ५ अतिदूर गतम् । ६ पीडा । ७ रथचक्रभ्रमणै । ८ क्लम ट० । श्रम । ९ उद्धतम् । १० अदर्शयत् । ११ अध्वनि साधुभि । १२ अतिक्रम्य प्रापत् । १३ प्रवेष्टुमिच्छव । १४ सेनारचनाया. समन्तात् । १५ पटकुटचाग्राणि । 'दूष्यं स्थूलं पटकुटीगुणलयनिश्रेणिका तुल्या' इति वैजयन्ती । १६ कुटीभेदा । १७ नानाप्रकारा । १८ ददर्श ।

तरुशाखाग्रसंसक्तपर्याणादि[1] परिच्छदान् । [2]स्कन्धावाराद् बहिः कांश्चिदावासान् प्रभुरैक्षत ॥१३४॥
[3]बहिर्निवेशमित्यादीन् विशेषान् स विलोकयन् । प्रवेशे शिविरस्यास्य महाद्वारमथासदत् ॥१३५॥
तदतीत्य समं सैन्यैः संगच्छन् किंचिदन्तरम् । महाब्धिसमनिर्घोषमाससाद वणिक्पथम् ॥१३६॥
कृतोपशोभमाबद्धतोरणं चित्रकेतनम् । वणिग्भिरूढरत्नार्घं[4] स जगाहे वणिक्पथम् ॥१३७॥
प्रत्यापणमसौ तत्र रत्नराशीन्निधीनिव । पश्यन् मेने निधीयत्तां[5] प्रसिद्धयैव तथास्थिताम्[6] ॥१३८॥
समौक्तिकं स्फुरद्रत्नं जनतोत्कलिकाकुलम्[7] । रथा वणिक्पथाम्भोधिं पोता इव ललङ्घिरे ॥१३९॥
चलदश्वीयकल्लोलैः स्फुरन्निस्त्रिंशरोहितैः[8] । राजमार्गोऽम्बुधेर्लीलां महेभमकरैरधात् ॥१४०॥
राजन्यकेन संरुद्धः समन्तादानृपालयम् । तदासौ विपणीमार्गः सत्यं राजपथोऽभवत् ॥१४१॥
ततः पर्यन्तविन्यस्तरत्नभासुरतोरणम् । रथकट्या[9] परिक्षेपकृतबाह्यपरिच्छदम् ॥१४२॥
आरुध्यमानमश्वीयैर्हास्तिकेनातिदुर्गमम् । बहुनागवनं[10] जुष्टं[11] कलभैश्च करेणुभिः ॥१४३॥
छत्रषण्डकृतच्छायं महोद्यानमिव क्वचित् । क्वचित्सामन्तमण्डल्या रचितास्थानमण्डलम् ॥१४४॥

वाड़ियाँ बनायी गयी थी उन्हे देखकर महाराज भरतने अपने निष्कण्टक राज्यमे ये ही काँटे है ऐसा माना था । भावार्थ – भरतके राज्यमे वाड़ीके काँटे छोड़कर और कोई काँटे अर्थात् शत्रु नही थे ॥ १३३ ॥ जहाँपर वृक्षोंकी डालियोके अग्र भागपर घोड़ोके पलान आदि अनेक वस्तुएँ टँगी हुई है और जो शिविरके बाहर बने हुए है ऐसे कितने ही डेरे महाराज भरतने देखे ॥१३४॥ इस प्रकार शिविरके बाहर बनी हुई अनेक प्रकारकी विशेष वस्तुओको देखते हुए महाराज शिविरमे प्रवेश करनेके लिए उसके बड़े दरवाजेपर जा पहुँचे ॥ १३५ ॥ बड़े दरवाजेको उल्लघन कर सैनिकोके साथ कुछ दूर और गये तथा जिसमें समुद्रके समान गम्भीर शब्द हो रहे है ऐसे बाजारमे वे जा पहुँचे ॥ १३६ ॥ जिसकी बहुत अच्छी सजावट की गयी है जिसमे तोरण बँधे हुए है, अनेक प्रकारकी ध्वजाएँ फहरा रही है और व्यापारी लोग जिसमें रत्नो-का अर्घ लेकर खडे है ऐसे उस बाजारमें महाराजने प्रवेश किया ॥ १३७ ॥ वहाँपर प्रत्येक दूकानपर निधियोके समान रत्नोकी राशि देखते हुए महाराज भरतने माना था कि निधियो-की सख्या प्रसिद्धि मात्रसे ही निश्चित की गयी है । भावार्थ – प्रत्येक दूकानपर रत्नोकी राशियाँ देखकर उन्होने इस बातका निश्चय किया था कि निधियोकी सख्या नौ है यह प्रसिद्धि मात्र है, वास्तवमे वे असंख्यात है ॥ १३८ ॥ जो मोतियोसे सहित है, जिसमें अनेक रत्न देदीप्यमान हो रहे है और जो मनुष्योके समूहरूपी लहरोसे व्याप्त हो रहा है ऐसे उस बाजाररूपी समुद्र-को रथोने जहाजके समान पार किया था ॥ १३९ ॥ उस समय वह राजमार्ग चलते हुए घोड़ों-के समुदायरूपी लहरोंसे, चमकती हुई तलवाररूपी मछलियोसे और बडे-बडे हाथीरूपी मगरो-से ठीक समुद्रकी शोभा धारण कर रहा था ॥१४०॥ उस समय वह बाजारका रास्ता महाराज-के तम्बू तक चारो ओरसे अनेक राजकुमारोसे भरा हुआ था इसलिए वास्तवमे राजमार्ग हो रहा था ॥ १४१ ॥ तदनन्तर जिसके समीप ही रत्नोके देदीप्यमान तोरण लग रहे है, घेरकर रखे हुए रथोके समूहसे जिसकी बाहरकी शोभा बढ रही है – जो घोड़ोके समूहसे भरा हुआ है, हाथियोके समूहसे जिसके भीतर जाना कठिन है, जो हाथियोकी बड़ी भारी सेनासे सुशोभित है, हाथियोके बच्चे और हथिनियोसे भी भरा हुआ है । अनेक छत्रोके समूहकी छाया होनेसे

---

१ पल्ययनादिपरिकरान् । २ शिखरात् । ३ कटकाद् बहि । ४ धृतरत्नार्घम् । ५ प्रमाणम् । ६. नवनिधिरूपेण स्थिताम् । तथास्थितान् ल० । ७. तरङ्गाकुलम् । ८. मत्स्यविशेषैः । ९ रथसमूहपरिवेष्टेन कृतबाह्यपरिकरम् । १० ईप्सितसमाप्तनागवनम् । नागवनसदृशमिति यावत् । ११ सेवितम् ।

प्रविशद्भिश्च निर्यद्भिरपर्यन्तैर्नियोगिभिः । महाब्धेरिव कल्लोलैस्तत्समाविर्भवद्ध्वनि ॥१४५॥
जनतोत्सारणव्यग्रमहादौवारपालकम् । कृतमङ्गलनिर्घोषं वाग्देव्येव कृतास्पदम् ॥१४६॥
चिरानुभूतमप्येवमपूर्वमिव शोभया । नृपो नृपाङ्गणं पश्यन् किमप्यासीत् सविस्मयः ॥१४७॥
निधयो यस्य पर्यन्ते मध्ये रत्नान्यनन्तशः । महतः शिबिरस्यास्य विशेषं कोऽनुवर्णयेत् ॥१४८॥

शार्दूलविक्रीडितम्

स श्रीमानिति विश्वतः स्वशिबिरं लक्ष्म्या निवासायितं
पश्यन्नात्तधृतिर्विलङ्घ्य विशिखाः[1] स्वर्गापहाग्निश्रियः ।
संभ्राम्यत्प्रतिहाररुद्धजनतासंबाधमुत्केतनं
प्राविक्षत् कृ[2]तसंनिवेशमचिरादात्मालयं श्रीपतिः[3] ॥१४९॥
तत्राविष्कृतमङ्गले सुरसरिद्वीचीभुवा वायुना
[4]संमृष्टाङ्गणवेदिके विकिरता तापच्छिदः शीकरान् ।
शस्ते वास्तुनि[5] विस्तृते स्थपतिना सद्यः समुत्थापिते
लक्ष्मीमान् सुखमावसन्निधिपतिः प्राचीं[6] दिशं निर्जयन् ॥१५०॥

जो कहीपर किसी वडे भारी बगीचाके समान जान पडता है और कही अनेक राजाओकी मण्डलीसे युक्त होनेके कारण सभामण्डपके समान मालूम होता है, जो प्रवेश करते हुए और वाहर निकलते हुए अनेक कर्मचारियोसे लहरोसे शव्द करते हुए किसी महासागरके किनारेके समान जान पडता है । जहाँपर वडे-वडे द्वारपाल लोग मनुष्योकी भीडको दूर हटानेमे लगे हुए है, जहाँ अनेक प्रकारके मगलमय शव्द हो रहे है और इसीलिए जो ऐसा जान पडता है मानो सरस्वती देवीने ही उसमे अपना निवास कर रखा हो तथा जो चिरकालसे अनुभूत होनेपर भी अपनी अनोखी शोभासे अपूर्वके समान मालूम हो रहा है ऐसे राजभवनके आँगनको देखते हुए महाराज भरत भी कुछ-कुछ आश्चर्यचकित हो गये थे ॥१४२–१४७॥ जिसके चारो ओर निधियाँ रखी हुई है और वीचमे अनेक प्रकारके रत्न रखे हुए है ऐसे उस वडे भारी शिविरकी विशेषताका कौन वर्णन कर सकता है ॥ १४८ ॥ इस प्रकार लक्ष्मीके निवासस्थानके समान सुशोभित अपने शिविरको चारो ओरसे देखते हुए जो अत्यन्त सन्तुष्ट हो रहे है ऐसे लक्ष्मीपति श्रीमान् भरतने, चारो ओर दौडते हुए द्वारपालोके द्वारा जिसमे मनुष्योकी भीडका उपद्रव दूर किया जा रहा है, जिसपर अनेक पताकाएँ फहरा रही है, और जिसमे अनेक प्रकारकी रचना की गयी है ऐसे अपने तम्बूमें शीघ्र ही प्रवेश किया ॥१४९॥ जिसमे मगलद्रव्य रखे हुए है; गगा नदीकी लहरोसे उत्पन्न हुए तथा सन्तापको दूर करनेवाली जलकी बूँदोंको वरसाते हुए वायुसे जिसके आँगनकी वेदी साफ की गयी है, जो प्रशंसनीय है, विस्तृत है तथा स्थपति (शिलावट) रत्नके द्वारा वहुत शीघ्र खडा किया गया है, वनाया गया है ऐसे तम्बूमें पूर्व दिशाको जीतनेवाले, निधियोके स्वामी श्रीमान् भरतने सुखपूर्वक निवास किया

---

१ रथ्या । 'रथ्या प्रतोली विशिखा' इत्यमरः । २ विहितसम्यग्रचनम् । ३ भरतेश्वरः । ४ सम्मार्जित । ५ गृहे । ६ पूर्वाम् ।

राज्ञामावसथेषु शान्तजनताक्षोभेषु पीताम्भसा-
मश्वानां पटमण्डपेषु निवहे स्वैरं तृणग्रासिनि ।
गङ्गातीरसरोवगाहिनि वनेष्वालानिते हास्तिके
जिष्णोरस्तकटकं चिरादिव कृतावासं तदा लक्ष्यते ॥१५१॥
तत्रासीनमुपायनैः कुलधनैः कन्याप्रदानादिभिः
प्राच्या मण्डलभूभुजः समुचितैराराधयन् साधनैः[1] ।
संरुद्धाः[2] प्रविहाय मानमपरे [3]प्राणंसिषुश्चक्रिणं
दूरादानतमौलयो जिनमिव प्राज्योदयं[4] नाकिनः ॥१५२॥

*इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भरतराजविजय-
प्रयाणवर्णनं नाम सप्तविंशतितमं पर्व ॥२७॥*

॥१५०॥ जिस समय राजाओके तम्बुओमे मनुष्योकी भीड़का क्षोभ शान्त हो गया था, घोड़ों-के समूह जल पीकर कपडेके बने हुए मण्डपोमे अपने इच्छानुसार घास खाने लगे थे, और हाथियो-के समूह गंगा नदीके किनारेके सरोवरोमे अवगाहन कराकर–स्नान कराकर–वनोंमे बाँध दिये गये थे उस समय विजयी महाराज भरतकी वह सेना ऐसी जान पडती थी मानो चिरकालसे ही वहाँ रह रही हो ॥१५१॥ जिस प्रकार श्रेष्ठ महिमाको धारण करनेवाले तथा समवसरण सभामें विराजमान जिनेन्द्रदेवकी देव लोग आराधना करते हैं उसी प्रकार श्रेष्ठ वैभवको धारण करनेवाले तथा उस मण्डपमें बैठे हुए महाराज भरतको पूर्वदिशाके राजाओने अपनी कुल-परम्परासे आया हुआ धन भेटमें देकर, कन्याएँ प्रदान कर तथा और भी अनेक योग्य वस्तुएँ देकर उनकी आराधना–सेवा की थी। इसी प्रकार उनकी सेनाके द्वारा रोके हुए अन्य कितने ही राजाओने अहकार छोडकर दूरसे ही मस्तक झुकाकर चक्रवर्तीके लिए प्रणाम किया था ॥१५२॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण श्रीमहापुराणसंग्रहके
भाषानुवादमें भरतराजका राजाओकी विजयके लिए प्रयाण करना
इस बातका वर्णन करनेवाला सत्ताईसवाँ पर्व समाप्त हुआ।

---

१ सेनाभि । २ परिवृता । ३ नमस्कुर्वन्ति स्म । ४ प्रचुराभ्युदयम् ।

अष्टाविंशतितमं पर्व

अथान्येद्युर्दिनारम्भे कृतप्राभातिकक्रियः । प्रयाणमकरोच्चक्री चक्ररत्नानुमार्गतः[1] ॥१॥
अलङ्घ्यं चक्रमाक्रान्तपरचक्र[2]पराक्रमम् । दण्डश्च दण्डितारातिर्द्वयमस्य[3] पुरोऽभवत् ॥२॥
रक्ष्यं देवसहस्रेण चक्रं दण्डश्च तादृशः । जयाङ्गमिदमेवास्य द्वयं शेषः परिच्छदः[4] ॥३॥
विजयार्ध[5]प्रतिस्पर्धिवर्ष्माणं यागहस्तिनम्[6] । प्रतस्थे प्रभुरारुह्य नाम्ना विजयपर्वतम् ॥४॥
प्राचीं दिशमथो जेतुमापयोधेस्तमुद्यतम् । नूनं[7] स्तम्बेरमव्याजादूहे[8] विजयपर्वतः[9] ॥५॥
सुरेभं[10] शरदभ्राभमारूढो जयकुञ्जरम् । स रेजे दीप्तमुकुटः सुरेभं[11] सुरराडिव ॥६॥
सितातपत्रमस्योच्चैर्विधृतं श्रियमादधे । यशसां प्रसवागारमिव[12] तद्व्याजजृम्भितम् ॥७॥
लक्ष्मीप्रहासविशदा चामराली समन्ततः । व्यधूयतास्य विध्वस्ततापा ज्योत्स्नेव शारदी ॥८॥
जयद्विरदमारूढो ज्वलज्जैत्रास्त्रभासुरः । जयलक्ष्मीकटाक्षाणामगमत् स शरव्यताम्[13] ॥९॥
महामुकुटबद्धानां सहस्राणि[14] समन्ततः । तमनुप्रचलन्ति स्म सुराधिपमिवामराः ॥१०॥

अथानन्तर–दूसरे दिन सवेरा होते ही जो प्रातःकालके समय करने योग्य समस्त क्रियाएँ कर चुके है ऐसे चक्रवर्ती भरतने चक्ररत्नके पीछे-पीछे प्रस्थान किया ॥१॥ शत्रु-समूहके पराक्रमको नष्ट करनेवाला तथा स्वय दूसरोंके द्वारा उल्लंघन न करने योग्य चक्ररत्न और शत्रुओंको दण्डित करनेवाला दण्डरत्न, ये दोनों ही रत्न चक्रवर्तीकी सेनाके आगे-आगे रहते थे ॥२॥ चक्ररत्न एक हजार देवोके द्वारा रक्षित था और दण्डरत्न भी इतने ही देवोके द्वारा रक्षित था । वास्तवमे चक्रवर्तीकी विजयके कारण ये दो ही थे, शेष सामग्री तो केवल शोभाके लिए थी ॥३॥ अबकी वार चक्रवर्तीने, जिसका शरीर विजयार्ध पर्वतके साथ स्पर्धा कर रहा है ऐसे विजयपर्वत नामके पूज्य हाथीपर सवार होकर प्रस्थान किया था ॥४॥ उस समय ऐसा मालूम होता था मानो समुद्र पर्यन्त पूर्व दिशाको जीतनेके लिए उद्यत हुए महाराज भरतको उस हाथीके छलसे विजयार्ध पर्वत ही धारण कर रहा हो ॥५॥ जिस प्रकार देदीप्यमान मुकुटको धारण करनेवाला इन्द्र ऐरावत हाथीपर चढा हुआ सुशोभित होता है उसी प्रकार देदीप्यमान मुकुटको धारण करनेवाला भरत शरदृतुके वादलोके समान सफेद और देवोके द्वारा दिये हुए उस विजयपर्वत हाथीपर चढा हुआ सुशोभित हो रहा था ॥६॥ भरतेश्वरके ऊपर लगा हुआ सफेद छत्र ऐसी शोभा धारण कर रहा था मानो छत्रके बहानेसे यशकी उत्पत्तिका स्थान ही हो ॥७॥ लक्ष्मीके हास्यके समान निर्मल और शरदृतुकी चाँदनीके समान सन्तापको नष्ट करनेवाली चमरोकी पक्ति महाराज भरतके चारो ओर ढोली जा रही थी ॥८॥ विजय नामके हाथीपर आरूढ हुए और विजय प्राप्त करानेवाले प्रकाशमान अस्त्रोसे देदीप्यमान होनेवाले भरतेश्वर जयलक्ष्मीके कटाक्षोके लक्ष्य वन रहे थे । भावार्थ – उनकी ओर विजयलक्ष्मी देख रही थी ॥९॥ जिस प्रकार देव लोग इन्द्रके पीछे-पीछे चलते है उसी प्रकार हजारों मुकुटबद्ध वडे-वडे राजा लोग चारो ओर भरत महाराजके पीछे-पीछे चल रहे थे ॥१०॥ 'आज

---

१ अनुगमनात् । २ अरिनिकर । परराष्ट्रं वा । ३ चक्रिण । ४ परिकर । ५ विजयार्धगिरिणा स्पर्धमानदेहम् । ६ पूजोपेतगजम् । ७ ननु ल० । ८ धरति स्म । ९ विजयार्धगिरि । १० सुशब्दम् । ११ ऐरावतम् । १२ क्षत्रव्याज । १३ लक्ष्यताम् । 'लक्ष लक्ष्य शरव्यं च' इत्यभिधानात् । १४ अपरिमिता इत्यर्थ. ।

दूरमद्य प्रयातव्यं निवेष्टव्यमुपार्णवम्[1] । [2]त्वरध्वमिति सेनान्यः सैनिकानुदतिष्ठयन् ॥११॥
त्वर्यतां प्रस्थितो देवो दवीयश्च[3] प्रयाणकम् । बलाधिकारिणामित्थं वचो बलमचुक्षुभत् ॥१२॥
अद्यासिन्धु[4] प्रयातव्यं गङ्गाद्वारे निवेशनम् । [5]संश्राव्यो मागधोऽद्यैव विलङ्घ्य पयसां निधिम् ॥१३॥
समुद्रमद्य पश्यामः समुद्रङ्गत्तरङ्गकम्[6] । [7]समुद्रं लङ्घतेऽद्यैव समुद्रं[8] शासनं विभोः ॥१४॥
अन्योन्यस्येति संजल्पैः संप्रास्थिषत[9] सैनिकाः । प्रयाणभेरीप्रध्वानस्तदोद्यन् [10]द्यामदिध्वनत्[11] ॥१५॥
ततः प्रचलिता सेना सानुगङ्गं धृतायतिः । मिमानेव तदायामं पप्रथे प्रथितध्वनिः ॥१६॥
सचामरा चलद्धंसां सबलाकां[12] पताकिनी[13] । अन्वियाय चमूर्गङ्गा सतुरङ्गा तरङ्गिणीम्[14] ॥१७॥
राजहंसैः कृताध्यासा क्वचिदप्यस्खलद्गतिः । चमूरब्धिं प्रति प्रायात्[15] सा द्वितीयेव जाह्नवी ॥१८॥
[16]विपरीतामतद्वृत्ति[17]र्निम्नगा[18]मुन्नतस्थितिः । त्रिमार्गगां व्यजेष्टासौ पृतना बहुमार्गगा ॥१९॥

वहुत दूर जाना है और समुद्रके समीप ही ठहरना है इसलिए जल्दी करो' इस प्रकार सेनापति लोग सैनिकोको जल्दी-जल्दी उठा रहे थे ॥११॥ 'अरे जल्दी करो, महाराज प्रस्थान कर गये, और आजका पडाव वहुत दूर है' इस प्रकार सेनापतियोके वचन सेनाको क्षोभित कर रहे थे ॥१२॥ 'आज समुद्र तक चलना है, गगाके द्वारपर ठहरना है और आज ही समुद्रको उल्लंघन कर मागधदेवको वश करना है ॥१३॥ आज हम लोग, जिसमें ऊँची-ऊँची लहरे उठ रही है ऐसे समुद्रको देखेगे और आज ही समुद्रको उल्लंघन करनेके लिए महाराजकी मुहर सहित आज्ञा है' ॥१४॥ इस प्रकार परस्पर वार्तालाप करते हुए सैनिकोने प्रस्थान किया, उस समय प्रयाण-कालमे वजनेवाले नगाडोंके उठे हुए शब्दने आकाशको शब्दायमान कर दिया था ॥१५॥ तदनन्तर, जिसका शब्द सब ओर फैल रहा है ऐसी वह सेना गंगा नदीके किनारे-किनारे लम्बी होकर इस प्रकार चलने लगी मानो उसकी लम्बाईका नाप करती हुई ही चल रही हो ॥१६॥ उस समय वह सेना ठीक गंगा नदीका अनुकरण कर रही थी क्योंकि जिस प्रकार गंगा नदीमे हस चलते है उसी प्रकार उस सेनामें चमर ढुलाये जा रहे थे, जिस प्रकार गंगा नदीमे वगुला उडा करते है उसी प्रकार उस सेनामे ध्वजाएँ फहरायी जा रही थीं और जिस प्रकार गंगा नदीमे अनेक तरंग उठा करते है उसी प्रकार उस सेनामे अनेक घोड़े उछल रहे थे ॥१७॥ वह सेना समुद्रकी ओर इस प्रकार जा रही थी मानो दूसरी गगा नदी ही जा रही हो क्योकि जिस प्रकार गंगा नदीमे राजहस निवास करते हैं उसी प्रकार उस सेनामें भी राजहंस अर्थात् श्रेष्ठ राजा लोग निवास कर रहे थे और जिस प्रकार गगा नदीकी गति कही भी स्खलित नही होती उसी प्रकार उस सेनाकी गति भी कही स्खलित नही हो रही थी ॥१८॥ अथवा उस सेनाने गगा नदीको जीत लिया था क्योकि गगा नदी विपरीत अर्थात् उलटी प्रवृत्ति करनेवाली थी (पक्षमे वि-परीत – पक्षियोसे व्याप्त थी) परन्तु सेना विपरीत नही थी अर्थात् सदा चक्रवर्तीके आज्ञानुसार ही काम करती थी, गगा नदी निम्नगा अर्थात् नीच पुरुपको प्राप्त होनेवाली थी (पक्षमे ढालू स्थानकी ओर वहनेवाली थी) परन्तु सेना उसके विरुद्ध उन्नतगा अर्थात् उन्नत पुरुप–चक्रवर्तीको प्राप्त होनेवाली थी और इसी प्रकार गगा त्रिमार्गगा अर्थात् तीन मार्गोसे गमन करनेवाली थी (पंक्षमें त्रिमार्गगा, यह गंगाका एक नाम है) परन्तु

१ अर्णवसमीपे । २ वेगं कुरुध्वम् । ३ दूरतरम् । ४ आ समुद्रम् । ५ साधनीय. । ससाध्यो इ०, अ०, द०, ल० । ६ उच्चैश्चलद्वीचिकम् । ७ समुद्रलङ्घनेऽद्यैव ल०, द०, इ० । ८ मुद्रया सहितम् । ९ गन्तुमुपक्रान्तवन्तः । १० खम् । ११ ध्वनिमकारयत् । १२ विसकण्ठिकासहितम् । १३ सपताकावती । १४ तरङ्गवतीम् । १५ अगच्छत् । १६ पक्षिभि. परिवृताम् । प्रतिकूलामिति ध्वनि । १७ विपरीत-वृत्तिरहितेत्यर्थः । १८ नीचपथगामिति ध्वनि ।

अनुगङ्गातटं यान्ती ध्वजिनी सा ध्वजांशुकैः । वररेणुभिराकीर्णं संममार्जेव खाङ्गणम् ॥२०॥
दुर्विगाहा महाग्राहाः[1] सैन्यान्युत्तेररन्तरं । गङ्गानुगा धुनीर्[2] वह्वीर्बहुराजकुलस्थितीः[3] ॥२१॥
मार्गे[4] बहुविधान् देशान् सरितः पर्वतानपि । [5] वनर्धीन् वनदुर्गाणि खनीरप्यत्यगात् प्रभुः ॥२२॥
अगोष्पदेष्वरण्येषु[6] दृशं व्यापारयन् विभुः । भूमिच्छिद्रपिधानाय[7] क्षणं यत्नमिवातनोत् ॥२३॥
पथि प्रणेमुरागत्य संभ्रान्ता मण्डलाधिपाः । दण्डोपनतवृत्तस्य[8] विषयोऽयमि[9]ति प्रभुम् ॥२४॥
स[10] चक्रं धेहि[11] राजेन्द्र सधुरं[12] प्राज[13] सारथे । संजल्प इति नास्यासीदयत्नावनतद्विपः ॥२५॥
प्रतियोद्धुमशक्तास्तं [14] प्रधनेषु जिगीषवः । तत्पदं प्रणतिव्याजात् समौलिभिरताडयन् ॥२६॥
[15] विभुत्वमरिचक्रेषु भूपरागानुरञ्जनम्[16] । स्वचक्र इव सोऽधत्त महतां चित्रमीहितम् ॥२७॥

सेना अनेक मार्गोसे गमन करनेवाली थी ॥१९॥ गंगानदीके किनारे-किनारे जाती हुई वह सेना अपनी फहराती हुई ध्वजाओसे ऐसी जान पड़ती थी मानो वनकी धूलिसे भरे हुए आकाशरूपी आँगनको ध्वजाओके वस्त्रोसे साफ ही कर रही हो ॥२०॥ महाराज भरतकी सेनाओंने गगाकी ओर आनेवाली उन अनेक नदियोको पार किया था जो राजकुलकी स्थितिके समान जान पड़ती थी क्योकि जिस प्रकार राजकुलकी स्थिति दुर्विगाह अर्थात् दु खसे जाननेके योग्य होती है उसी प्रकार वे नदियाँ भी दुर्विगाह अर्थात् दु खसे प्रवेश करने योग्य थी और राजकुलकी स्थिति जिस प्रकार महाग्राह अर्थात् महास्वीकृतिसे सहित होती है उसी प्रकार वे नदियाँ भी महाग्राह अर्थात् वडे-वड़े मगर-मच्छोंसे सहित थी ॥२१॥ धनवान् महाराज भरत मार्गमे पड़ते हुए अनेक देश, नदियाँ, पर्वत, वन, किले और खान आदि सवको उल्लंघन करते हुए आगे चले जा रहे थे ॥२२॥ गाय आदि जानवरोके संचारसे रहित अर्थात् अगम्य वनोंमे दृष्टि डालते हुए भरतेश्वर ऐसे जान पडते थे मानो पृथिवीके छिद्रोंको टाँकनेके लिए क्षण-भरके लिए न यत्न ही कर रहे हो ॥२३॥ मार्गमे घवड़ाये हुए अनेक मण्डलेश्वर राजा भरतको यह सोचकर प्रणाम कर रहे थे कि यह देश दण्डरत्नके धारकका है ॥२४॥ मार्गमे महाराज भरतेश्वरके समस्त शत्रु विना प्रयत्नके ही नम्रीभूत होते जाते थे इसलिए उन्हे कभी यह शव्द नही कहने पड़ते थे कि हे राजेन्द्र, आप चक्ररत्न धारण कीजिए और हे सारथे, तुम रथ चलाओ ॥२५॥ जीतनेकी इच्छा करनेवाले अन्य कितने ही राजा लोग युद्धमे भरतेश्वरसे लड़नेके लिए समर्थ नही हो सके थे इसलिए नमस्कारके वहाने अपने मुकुटोसे ही उनके पैरोंकी ताड़ना कर रहे थे ॥२६॥ महाराज भरत जिस प्रकार अपने राज्यमे विभुत्व अर्थात् ऐश्वर्य धारण करते थे उसी प्रकार शत्रुओके राज्यों मे भी विभुत्व अर्थात् पृथिवीका अभाव धारण करते थे—उनकी भूमि छीन लेते थे, (विगत भूर्येषा तेपा भाव विभुत्वम्) और जिस प्रकार अपने राज्यमे भूप-रागानुरजन अर्थात्

---

१ महानक्रा , पक्षे महास्वीकाराः । २ नदी । ३ राजकुलस्थितेः समा [प्रकारार्थे वहुच्] । ४ वहुसंख्यान् । वहुस्थितान् ल०, इ० । वहुतिथान् ट० । ५ सरोवरान् । धनवान् ल०, प०, इ० । वलवान् अ०, स० । ६ अगम्येषु । ७ भूगर्तांच्छादनाय । ८ दण्डेन प्राप्त वृत्त यस्य स तस्य । ९ प्रणाम । १० प्रसिद्धस्त्वम् । ११ धारय । १२ यानमुखम् । 'धू स्त्री क्लीवे यानमुखम्' इत्यभिधानात् । १३ प्रेरय, 'अज प्रेरणे च' । १४ युद्धेषु । प्रधनेषु ल०, द०, इ०, प०, म०, अ० । १५ प्रभुत्वम्, व्यापित्व च । १६ स्वराष्ट्रपक्षे भूपाना-मनुरागरञ्जनम् । अरिराष्ट्रपक्षे भुव परागरञ्जनम् ।

संध्यादिविषये[1] नास्य समकक्षो[2] हि पार्थिवः । [3]षाड्गुण्यमत एवास्मिन् चरितार्थमभूत्[4] प्रभौ[5] ॥२८॥
प्रतिराष्ट्रमुपानीतप्राभृतान् विषयाधिपान् । संभावयन् प्रसादेन सोऽत्यगाद् विषयान् बहून् ॥२९॥
नास्त्रे[6] व्यापारितो हस्तो मौर्वी धनुषि नार्पिता । केवलं प्रभुशक्त्यैव प्राची दिग्विजिताऽमुना ॥३०॥
गोकुलानामुपान्तेषु सोऽपश्यद् युववल्लवान्[7] । वनवल्लीभिराबद्धजूटकान्[8] गोऽभिरक्षिणः ॥३१॥
मन्थाकर्षश्रमोद्भूतस्वेदबिन्दुचिताननाः । मथ्नतीः[9] सकुचोत्कम्प सलीलत्रिकनर्तनैः[10] ॥३२॥
मन्थरज्जुसमाकृष्टिक्लान्तबाहूः[11] श्लथांशुकाः । स्रस्तस्तनांशुका लक्ष्यत्रिवलीभङ्गुरोदराः[12] ॥३३॥
क्षुब्धाभिघातोच्चलितस्थलगोरसबिन्दुभिः[13] । विरलैरङ्गसंलग्नैः शोभां कामपि पुष्णतीः ॥३४॥
मन्थारवानुसारेण किंचिदारब्धमूर्छनाः[14] । विस्रस्तकवरीबन्धाः कामस्येव पताकिकाः ॥३५॥
[15]गोष्ठाङ्गणेषु सल्लापैः[16] स्वैरमारब्धमन्थनाः । प्रभुर्गोपवधूः पश्यन् किमप्यासीत् समुत्सुकः ॥३६॥
वने वनगजैर्जुष्टे[17] प्रभुमेनं वनेचराः । दन्तैर्वनकरीन्द्राणामद्राक्षुः सह मौक्तिकैः ॥३७॥

राजाओके प्रेमपूर्ण अनुरागको धारण करते थे उसी प्रकार शत्रुओके राज्योमे भी भू-परागानुरजन अर्थात् पृथिवीकी धूलिसे अनुरंजन धारण करते थे, शत्रुओको धूलिमें मिला देते थे, सो ठीक ही है, क्योकि महापुरुषोंकी चेष्टाएँ आश्चर्य करनेवाली होती ही है ॥२७॥ सन्धि आदि गुणोके विषयमे कोई भी राजा महाराज भरतके बरावर नही था इसलिए सन्धि आदि छहो गुण उन्हीमे चरितार्थ हुए थे । भावार्थ – कोई भी राजा इनके विरुद्ध नही था इसलिए इन्हे किसीसे सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और आश्रय नही करने पडते थे ॥२८॥ प्रत्येक देशमे भेट लेकर आये हुए वहाँके राजाओका बड़ी प्रसन्नतासे आदर-सत्कार करते हुए महाराज भरत बहुत-से देशोको उल्लघन कर आगे बढते जाते थे ॥२९॥ भरतेश्वरने न तो कभी तलवारपर अपना हाथ लगाया था और न कभी डोरी ही धनुपपर चढायी थी । उन्होने केवल अपनी प्रभुत्वशक्तिसे ही पूर्व दिशाको जीत लिया था ॥३०॥ उन्होने गोकुलोके समीप ही गायोकी रक्षा करनेवाले तथा वनकी लताओसे जिन्होने अपने शिरके बालोका जूडा बाँध रखा है ऐसे तरुण ग्वाला देखे ॥३१॥ कढनियोके खीचनेके परिश्रमसे उत्पन्न हुए पसीनेकी बूँदोसे जिनके मुख व्याप्त हो रहे है, जो लीलापूर्वक नितम्बोको नचा-नचाकर स्तनोको हिलाती हुई दही मथ रही है, कढनियोके खीचनेसे जिनकी भुजाएँ थक गयी है, जिनके सब वस्त्र ढीले पड़ गये है, जिनके स्तनोपर-का वस्त्र भी नीचेकी ओर खिसक गया है, जिनके कृश उदरमें त्रिवलीकी रेखाएँ साफ-साफ दिख रही है, रई (फूल) के आघातसे उछल-उछलकर शरीरसे जहाँ-तहाँ लगी हुई दहीकी बड़ी-बड़ी बूँदोसे जो एक प्रकारकी विचित्र शोभाको पुष्ट कर रही है, मन्थनसे होनेवाले शब्दोके साथ-साथ ही जिन्होने कुछ गाना भी प्रारम्भ किया है, जिनके केशपाशका बन्धन खुल गया है और इसीलिए जो कामदेवकी पताकाओके समान जान पड़ती है, तथा गोशालाके आँगनोमें अपने इच्छानुसार वार्तालाप करती हुई जिन्होने दहीका मथना प्रारम्भ किया है ऐसी ग्वालाओकी स्त्रियोको देखते हुए महाराज भरतेश्वर कुछ उत्कण्ठित हो उठे थे ॥३२–३६॥ जगली हाथियोसे भरे हुए वनमें रहनेवाले भील लोगोने जंगली हाथियोके दाँत और मोती भेटकर महाराजके दर्शन किये थे ॥३७॥ जिनका शरीर श्याम है जिनके

---

१ सन्धिविग्रहयानासनद्वैधाश्रयाना विषये । २ समानप्रतिपत्तिक । ३ सन्ध्यादिगुणसमूहः । ४ कृतकृत्यम् । ५ प्रभो स०, अ०, द० । ६ नासौ ल०, द०, इ० । ७ तरुणगोपालान् । 'गोपे गोपालगोसख्यागोदुगाभीरवल्लवा ' इत्यभिधानात् । ८ केशपाशान् । ९ मथन कुर्वती । १० नितम्ब । 'त्रिका कूपस्य वेमौ स्यात् त्रिक पृष्ठवरे त्रये' इत्यभिधानात् । ११ समाकर्पणग्लाना । १२ मनोज्ञ । १३ मथन । १४ स्वरविश्रवण । १५ गोस्थान । 'गोष्ठ गोस्थानकम्' इत्यभिधानात् । १६ मिथो भाषणैः । १७ सेविते ।

श्यामाङ्गीरनभिव्यक्तरोमराजीस्तनूदरीः । परिधानीकृतालोलपल्लवव्यक्तसंवृतीः[1] ॥३८॥
चमरीबालकाविद्धकबरीबन्धबन्धुराः । [2]फलिनीफलसंदृब्धमालारचितकण्ठिकाः ॥३९॥
कस्तूरिकामृगाध्यासवासिताः सुरभीर्मृदः । संचिन्वतीर्वनाभोगे प्रसाधनजिघृक्षया ॥४०॥
पुलिन्दकन्यकाः सैन्यमालोकनविस्मिताः । [3]अव्याजसुन्दराकारा दूरादालोकयत् प्रभुः ॥४१॥
चमरीबालकान् केचित् केचित् कस्तूरिकाण्डकान् । प्रभोरुपायनीकृत्य ददृशुर्म्लेच्छराजकाः[4] ॥४२॥
तत्रान्तपालदुर्गाणां सहस्राणि सहस्रशः । लब्धचक्रधरादेशः सेनानीः समशिश्रियत् ॥४३॥
अपूर्वरत्नसंदर्भैः [5]कुप्यसारधनैरपि । अन्तपालाः प्रभोराज्ञां सप्रणामैरमानयन्[6] ॥४४॥
ततो विदूरमुल्लङ्घ्य सोऽध्वानं सह सेनया । गङ्गाद्वारमनुप्रापत् स्वमिवालङ्घ्यमर्णवम् ॥४५॥
बहिः[7]समुद्रमुद्रिक्तं द्वैप्यं[8] निम्नोपगं[9] जलम् । समुद्रस्येव [10]निष्यन्दमब्धेराराद् व्यलोकयत् ॥४६॥
वर्षारम्भो युगारम्भे योऽभूत् कालानुभावतः[11] । ततः प्रभृति संवृद्धं जलं द्वीपान्तमावृणोत् ॥४७॥
अलङ्घ्यत्वान्[12]महीयस्त्वाद् द्वीपपर्यन्तवेष्टनात् । द्वैप्यमम्बु [13]समुद्रिक्तमगादुपसमुद्रताम् ॥४८॥
पश्यन्नुपसमुद्रं तं गत्वा स्थलपथेन[14]स । गङ्गोपवनवेद्यन्तर्भागे[15] सैन्यं न्यवीविशत् ॥४९॥

शरीरपर अभी रोमराजी प्रकट नही हुई है, उदर भी जिनका कृश है, वस्त्रके समान धारण किये हुए चंचल पत्तोसे जिनके शरीरका सवरण प्रकट हो रहा है, चमरी गायके वालोसे वँधे हुए केशपाशोसे जो वहुत ही सुन्दर जान पड़ती है, गुजाफलोसे वनी हुई मालाओंको जिन्होने अपना कण्ठहार वनाया है, कस्तूरी मृगके वैठनेसे सुगन्धित हुई मिट्टीको आभूपण वनानेकी इच्छासे जो वनके किसी एक प्रदेशमे इकट्ठी कर रही है, जिनका आकार वास्तवमे सुन्दर है और जो सेनाके देखनेसे विस्मित हो रही है ऐसी भीलोकी कन्याओको भरतने दूरसे ही देखा था ॥३८–४१॥ कितने ही म्लेच्छ राजाओने चमरी गायके वाल और कितने ही ने कस्तूरी-मृगकी नाभि भेट कर भरतके दर्शन किये थे ॥४२॥ वहाँपर सेनापतिने चक्रवर्तीकी आज्ञा प्राप्त कर अन्तपालोके लाखो किले अपने वश किये ॥४३॥ अन्तपालोने अपूर्व-अपूर्व रत्नोके समूह तथा सोना चाँदी आदि उत्तम धन भेट कर भरतेश्वरको प्रणाम किया तथा उसकी आज्ञा स्वीकार की ॥४४॥ तदनन्तर सेनाके साथ-साथ वहुत कुछ दूर मार्गको व्यतीत कर वे गगाद्वारको प्राप्त हुए और उसके वाद ही अपने समान अलघनीय समुद्रको प्राप्त हुए ॥४५॥ उन्होने समुद्रके समीप ही; समुद्रसे वाहर उछल-उछलकर गहरे स्थानमे इकट्ठे हुए द्वीपसम्वन्धी उस जलको देखा जो कि समुद्रके निष्यन्दके समान मालूम होता था अथवा समुद्रके जलके समान ही निश्चल–स्थायी था अर्थात् उपसमुद्रको देखा, समुद्रका जो जल उछल-उछलकर समुद्रके समीप ही द्वीपके किसी गहरे स्थानमें इकट्ठा होता जाता है वही उपसमुद्र कहलाता है। उपसमुद्र द्वीपके भीतर होता है इसलिए उसका जल द्वैप्य कहलाता है। उपसमुद्रका जल ऐसा जान पडता था मानो समुद्रका स्वेद ही इकट्ठा हो गया हो ॥४६॥ कर्मभूमिरूप युगके प्रारम्भमे जो वर्पा हुई थी तवसे लेकर कालके प्रभावसे वढता हुआ वही जल द्वीपके अन्त भाग तक पहुँच गया था ॥४७॥ जो जल समुद्रसे उछल-उछलकर द्वीपमे आया था वह अलंघनीय था, वहुत गहरा था और उसने द्वीपके सव समीपवर्ती भागको घेर लिया था इसलिए वही उपसमुद्र कहलाने लगा था ॥४८॥ उस उपसमुद्रको देखते हुए भरतने सुखकर मार्गसे जाकर

१ अभ्यन्तरप्रदेशाः । २ गुञ्जारचित । ३ अनुपाधि । ४ व्याध । ५ कार्पासश्रीखण्डादि । ६ अपूजयन् । ७ समुद्रस्य वहिः । ८ द्वीपसवन्धि । ९ अगाधभावप्राप्तम् । १० प्रस्रवणम् । ११ सामर्थ्यत । १२ अत्यन्तमहत्त्वात् । १३ उत्कटम् । १४ सुखपथेन ल०, सुलपथेन इ०, ल० । 'सुखेन लायते गृह्यते इति सुलः', इति 'इ' टिप्पण्याम् । १५ वेद्यन्तभागे ल० ।

वेदिकातोरणद्वारमस्ति [1]तत्रोच्छ्रितं महत् । शनैस्तेन[2] प्रविश्यान्तर्वणं सैन्यं न्यविक्षत ॥५०॥
तत्र [3]वास्तुवशादस्य किंचित्संकुचितायत. । स्कन्धावारनिवेशोऽभूद्लङ्घ्यव्यूहविस्तृतिः[4] ॥५१॥
नन्दनप्रतिमे[5] तस्मिन् वने रुद्धातपाङ्घ्रिपे । गङ्गाशीतानिलस्पर्शैस्तद्वलं सुखमावसन्[6] ॥५२॥
तस्मिन् पौरुपसाध्येऽपि कृत्ये[7] दैवं प्रमाणयन् । लवणाब्धिजयोद्युक्तः सोऽभ्यैच्छद् दैविकीं क्रियाम् ॥५३॥
[8]अधिवासितजैत्रास्त्रः स त्रिरात्रमुपोषिवान् । मन्त्रानुस्मृतिपूतात्मा शुचितल्पोपगः शुचिः ॥५४॥
सायं[9] प्रातिकनिःशेपकरणीये समाहितः । पुरोधोऽधिष्ठितां पूजां स व्यधात् परमेष्ठिनाम् ॥५५॥
सेनान्यं वलरक्षार्थे नियोज्य विधिवद् विभुः । प्रतस्थे धृतदिव्यास्त्रो जिगीपुर्लवणाम्बुधिम् ॥५६॥
[10]प्रतिग्रहापसारादिचिन्ताऽभून्नास्य चेतसि । [11]विलिलङ्घयिषोरब्धिमहो[12]स्थैर्यं महात्मनाम्॥५७॥
अजितंजयमारुक्षद् रथं दिव्यास्त्रसंभृतम् । योजितं वाजिभिर्दिव्यैर्जलस्थलविलङ्घिभिः ॥५८॥
[13]पत्रश्यामरथं प्रोच्चैश्चलच्चक्राङ्ककेतनम् । तमूहुर्जवना[14] वाहा [15]दिव्यसव्येष्ट्रचोदिताः[16] ॥५९॥
ततोऽस्मै दत्तपुण्याशीः पुरोधा [17]धृतमङ्गलः । त्व देव विजयस्वेति स [18]इमामृचमापठत् ॥६०॥

गगाके उपवनकी वेदीके अन्तभागमे सेनाका प्रवेश कराया ॥४९॥ वहाँ वेदिकामें एक बड़ा भारी तोरणद्वार है जो कि उत्तर द्वार कहलाता है, उसी द्वारसे धीरे-धीरे प्रवेश कर वनके भीतर सेना ठहरी ॥५०॥ वहाँ चक्रवर्तीका जो शिविर था डेरोके कारण उसकी लम्वाई कुछ सकुचित हो गयी थी पर सेनाकी रचनाका विस्तार अलंघनीय था ॥५१॥ जो नन्दन वनके समान है तथा जिसके वृक्ष सूर्यके आतापको रोकनेवाले है ऐसे उस वनमे भरतकी वह सेना गगा नदीके शीतल वायुके स्पर्शसे सुखपूर्वक निवास करती थी ॥५२॥ यद्यपि मागध देवको वश करना यह कार्य पौरुपसाध्य है अर्थात् पुरुपार्थसे ही सिद्ध हो सकता है तथापि उसमें दैवकी प्रमाणता मानकर लवण समुद्रको जीतनेके लिए तत्पर हुए भरत महाराजने भगवान् अरहन्त देवके आराधन करनेका विचार किया ॥५३॥ जिसने मन्त्र-तन्त्रोसे विजयके शस्त्रोका सस्कार किया है, तीन दिन उपवास किया है, मन्त्रके स्मरणसे जिसका आत्मा पवित्र है, जो पवित्र शय्यापर वैठा हुआ है, स्वय पवित्र है, सायकाल और प्रात कालकी समस्त क्रियाओमें सावधान है और पुरोहित जिसके समीप वैठा है ऐसे उस भरतने पच परमेष्ठीकी पूजा की ॥५४–५५॥ भरतने विधिपूर्वक सेनाकी रक्षाके लिए सेनापतिको नियुक्त किया और स्वयं दिव्य अस्त्र धारण कर लवण समुद्रको जीतनेकी इच्छासे प्रस्थान किया ॥५६॥ समुद्रको उल्लघन करनेकी इच्छा करनेवाले भरतके चित्तमें यह भी चिन्ता नही हुई थी कि क्या-क्या साथ लेना चाहिए और क्या-क्या यहाँ छोड देना चाहिए सो ठीक ही है क्योकि महापुरुपोका धैर्य ही आश्चर्यजनक होता है ॥५७॥ जो देवोपनीत अस्त्र-शस्त्रोसे भरा हुआ है और जिसमे जल स्थल दोनोपर समान रूपसे चलनेवाले दिव्य घोड़े जुते हुए है ऐसे अजितजय नामके रथपर भरतेश्वर आरूढ हुए ॥५८॥ जो पत्तोके समान हरितवर्ण है, जिसपर वहुत ऊँचे चक्रके आकारसे चिह्नित ध्वजा फहरा रही है और जो दिव्य सारथिके द्वारा प्रेरित है–हाँका जा रहा है–ऐसे उस रथको वेगशाली घोडे ले जा रहे थे ॥५९॥ तदनन्तर हे देव, आपकी जय हो इस प्रकार भरतके लिए

---

१ तत्रोत्तर द०, ल० । २ द्वारेण । ३ गृहसामर्थ्यात् । ४ वलविन्यासविस्तार । ५ सदृशे । ६ –माविशत् ल० । ७ मागधामरसाधनरूपकार्ये । ८ मन्त्रसस्कृत । ९ अस्तमनप्रभातसवन्धि । १० स्वीकारत्यजनादि । ११ विलङ्घितुमिच्छो । १२ मतास्थैर्य अ०, स०, इ० । १३ वाहनवाजिभि श्यामवर्णीकृतरथम् । अनेकतद्रथाश्वा हरिद्वर्णा इत्युक्ता । १४ वेगिन । १५ दिव्यसारथिप्रेरिता । 'नियन्ता प्राजिता यन्ता सूत क्षत्ता च सारथि । सव्येष्टृदक्षिणस्थौ च सञ्ज्ञारथकुटुम्बिन' इत्यभिधानात् । (सव्येष्टेति ऋदन्त इति केचित्), १६ चोदित ता० । नोदिता स०, अ० । १७ धृतमङ्गलम् अ०, स०, इ० । १८ ऋचं मन्त्रमित्यर्थ ।

जयन्ति विधुताशेषबन्धना धर्मनायकाः[1]। त्वं धर्मविजयी भूत्वा तत्प्रसादाज्जयाखिलम् ॥६१॥
सन्त्यब्धिनिलया देवास्त्वद्भुक्त्यन्तर्निवासिनः[2]। तान् विजेतुमयं कालस्तवेत्युच्चैर्जुघोष च ॥६२॥
ततः कतिपयैरेव नायकैः परिवारितः। जगतीतलमारुक्षद्[3] गङ्गाद्वारस्य चक्रभृत् ॥६३॥
न केवलं समुद्रान्तःप्रवेशद्वारमेव तत्। कार्यसिद्धेरपि द्वारं तदमंस्त रथाङ्गभृत्[4] ॥६४॥
धृतमङ्गलवेषस्य[5] तद्वेद्यारोहणं विभोः। विजयश्रीसमुद्वाहवेद्यारोहणवद् बभौ ॥६५॥
मद्गृहाङ्गणवेदीयं जगतीति विकल्पयन्। दृशं व्यापारयामास कुल्याबुद्ध्या[6] महोदधौ ॥६६॥
स प्रतिज्ञामिवारूढो जगतीं तां महायतिम्। निस्तीर्णमिव[7] तत्पारं पारावारमजीगणत् ॥६७॥
मुहुः प्रचलदुद्वेलकल्लोलमनिलाहतम्। विलङ्घनाभयादुच्चैः फूत्कुर्वन्तमिवारवैः ॥६८॥
वीचिबाहुभिरुन्मुक्तैः सरत्नैः शीकरोत्करैः। पाद्यं स्वस्येव तन्वानं मौक्तिकाक्षतमिश्रितैः ॥६९॥
असङ्ख्यशङ्खमाक्रान्तविश्वद्वीपमपारकम्। परैरलङ्घ्यमक्षोभ्यं स्वबलौघानुकारिणम् ॥७०॥
[8]उत्फेनजृम्भिकारम्भैः सापस्मारमिवोल्वणम्। केनाप्यशक्यमाधर्तुं क्वचिदप्यनवस्थितम् ॥७१॥

पवित्र आशीर्वाद देकर मगलद्रव्य धारण किये हुए पुरोहितने इस नीचे लिखी हुई ऋचाको पढा ॥६०॥ समस्त कर्मबन्धनको नष्ट करनेवाले धर्मनायक-तीर्थंकर देव सदा जयवन्त रहते है इसलिए उनके प्रसादसे तू भी धर्मपूर्वक विजय प्राप्त कर, सबको जीत ॥६१॥ उसी समय पुरोहितने यह भी जोरसे घोषणा की कि हे देव, इस समुद्रमे निवास करनेवाले देव आपके उपभोग करने योग्य क्षेत्रके भीतर ही रहते हैं इसलिए उन्हे जीतनेके लिए आपका यह समय है ॥६२॥ तदनन्तर कुछ वीर पुरुषोसे घिरे हुए चक्रवर्ती भरत गगाद्वारकी वेदीपर जा चढे ॥६३॥ चक्रवर्तीने उस गगाद्वारकी वेदीको केवल समुद्रके भीतर प्रवेश करनेका द्वार ही नही समझा था किन्तु अपने कार्यकी सिद्धि होनेका भी द्वार समझा था ॥६४॥ मंगल वेषको धारण करनेवाले चक्रवर्तीका उस वेदीपर आरूढ होना विजय-लक्ष्मीके विवाहकी वेदीपर आरूढ होनेके समान बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहा था ॥६५॥ यह वेदी मेरे घरके आँगनकी वेदी है इस प्रकार कल्पना करते हुए भरतने महासागरपर कृत्रिम नदीकी बुद्धिसे दृष्टि डाली थी। भावार्थ—भरतने अपने बलकी अधिकतासे गङ्गाकी वेदीको ऐसा समझा था मानो यह हमारे घरके आंगनकी ही वेदी है और महासमुद्रको ऐसा माना था मानो यह एक छोटी-सी नहर ही है ॥६६॥ वे उस बड़ी लम्बी वेदीपर इस प्रकार आरूढ हुए थे जैसे अपनी प्रतिज्ञापर ही आरूढ हुए हों और समुद्रको उन्होने ऐसा माना था जैसे उसके दूसरे किनारेपर ही पहुँच गये हों ॥६७॥ उस वेदीपर-से उन्होने समुद्र देखा, उस समुद्रमें बारबार तटको उल्लंघन करनेवाली लहरे उठ रही थी, पवन उसका ताड़न कर रहा था और वह अपने गम्भीर शब्दोसे ऐसा मालूम होता था मानो उल्लघनके भयसे रो ही रहा हो। तरंगरूपी भुजाओसे किनारेपर छोड़े हुए रत्नसहित जलके छोटे-छोटे कणोसे वह ऐसा जान पडता था मानो भरतके लिए मोती और अक्षतोसे मिला हुआ अर्घ ही दे रहा हो। उस समुद्रमे असंख्यात शख थे, उसने समस्त द्वीपोंको आक्रान्त कर लिया था, वह पाररहित था, उसका कोई उल्लघन नही कर सकता था और न उसे कोई क्षोभित ही कर पाता था इसलिए वह ठीक भरतकी सेनाके समूहका अनुकरण कर रहा था क्योकि उसमे भी बजाये जानेवाले असंख्यात शंख थे, उसने भी समस्त द्वीप आक्रान्त कर लिये थे—अपने अधीन बना लिये थे, वह भी अपार था, वह भी दूसरोके द्वारा अलघनीय तथा क्षोभित करनेके अयोग्य था। वह समुद्र किसी अपस्मार (मृगी)

१ तीर्थकरा। २ त्वत्पालनक्षेत्र। ३ वेदिभुवम्। ४ रथाङ्गधृत् द०, इ०, ल०। ५ मङ्गलालकारस्य। ६ 'कुल्याल्पा कृत्रिमा सरित्'। ७ पारगतम्। ८ उद्गतडिण्डीराभिवृद्धि। पक्षे उद्गतफेन।

अकस्मादुच्चरद्ध्वानमनिमित्तचलाचलम्[1] । अकारणकृतावर्तमति सङ्कुसुकस्थितिम्[2] ॥७२॥
हसन्तमिव फेनोघैर्लसन्तमिव[3] वीचिभिः । चलन्तमिव कल्लोलैर्माद्यन्तमिव घूर्णितैः ॥७३॥
सरत्नमुल्वणविषं[4] मुक्तशूत्कारभीकरम्[5] । स्फुरत्तरङ्गनिर्मोकं स्फुरन्तमिव भोगिनम् ॥७४॥
[6]अत्यम्बुपानादुद्रिक्तप्रतिश्यायमिवाधिकम् । क्षुतानीव विकुर्वाणं ध्वनितानि सहस्रशः ॥७५॥
[7]आद्यूनमसकृत्पीतविश्वस्रोतस्विनीरसम् । रसातिरेकादुद्गारं तन्वानमिव स्वान्कृतैः ॥७६॥
निजगम्भीरपातालमहागर्तापदेशतः[8] । अतृप्यन्तमिवाम्भोभिरातालुविवृताननम् ॥७७॥

के रोगीके समान जान पडता था क्योकि जिस प्रकार अपस्मारका रोगी फेनसहित आती हुई जृम्भिकाओं अर्थात् जमुहाइयोसे व्याकुल रहता है उसी प्रकार वह समुद्र भी फेनसहित उठती हुई जृम्भिका अर्थात् लहरोसे व्याकुल था, जिस प्रकार अपस्मारका रोगी किसीके द्वारा पकड़-कर नही रखा जा सकता उसी प्रकार वह समुद्र भी किसीके द्वारा नही रोका जा सकता और जिस प्रकार अपस्मारका रोगी किसी भी जगह स्थिर नही रहता इसी प्रकार वह समुद्र भी किसी जगह स्थिर नही था—लहरोके कारण चंचल हो रहा था। वह समुद्र अकस्मात् ही गम्भीर शब्द करता था, विना कारण ही चचल था और विना कारण ही उसमें आवर्त अर्थात् भँवर पडते थे, इसलिए उसकी दशा किसी अत्यन्त अस्थिर मनुष्यसे भी वढकर हो रही थी क्योंकि अत्यन्त अस्थिर मनुष्य भी अचानक शब्द करने लगता है, चिल्ला उठता है, विना कारण ही काँपने लगता है, और विना कारण ही आवर्त करने लगता है, इधर-उधर भागने लगता है। वह समुद्र फेन उठनेसे ऐसा जान पडता था मानो हँस ही रहा हो, ज्वार-भाटाओंसे ऐसा मालूम होता था मानो लास्य (नृत्य) ही कर रहा हो, लहरोसे ऐसा सुशोभित होता था मानो चल ही रहा हो और हिलनेसे ऐसा दिखाई देता था मानो नशेमे झूम ही रहा हो अथवा वह समुद्र किसी सर्पके समान जान पडता था क्योंकि जिस प्रकार सर्प रत्नसहित होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी रत्नसहित था, जिस प्रकार सर्पमें उत्कट विष अर्थात् जहर रहता है उसी प्रकार समुद्रमें भी उत्कट विष अर्थात् जल था, जिस प्रकार सर्प सू सू आदि फुकारोंसे भयंकर होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी सू सू आदि शब्दोसे भयकर था, जिस प्रकार सर्पके देदीप्यमान कांचली होती है उसी प्रकार उस समुद्रके भी देदीप्यमान लहरे थी, और जिस प्रकार सर्प चंचल रहता है उसी प्रकार वह समुद्र भी चचल था। अथवा वह समुद्र ऐसा जान पड़ता था मानो अधिक पानी पीनेसे उसे सर्दी (जुकाम) ही हो गयी हो और इसीलिए हजारों शब्दोंके वहाने छीके ही ले रहा हो। अथवा वह समुद्र किसी आद्यून अर्थात् वहुत खानेवाले—पेटू मनुष्य-के समान जान पडता था, क्योकि जिस प्रकार आद्यून मनुष्य वहुत खाता है और वादमें भोजन-की अधिकता होनेसे डकारे लेता है उसी प्रकार उस समुद्रने भी समस्त नदियोका जल पी लिया था और वादमे जलकी अधिकता होनेसे वह भी शब्दोके वहाने डकारे ले रहा था। वह समुद्र अपने गम्भीर पातालरूपी महाउदरके बहानेसे जलसे कभी तृप्त नही होता था और इसीलिए मानो उसने तालु पर्यन्त अपना मुख खोल रखा था। भावार्थ—वह समुद्र किसी ऐसे मनुष्यके समान जान पडता था जो बहुत खानेपर भी तृप्त नही होता, क्योकि जिस प्रकार तृप्त नही होनेवाला मनुष्य वहुत कुछ खाकर भी तृष्णासे अपना मुख खोले रहता है उसी प्रकार वह समुद्र भी बहुत कुछ जल ग्रहण कर चुकनेपर भी तृष्णासे अपना मुख खोले रहता था—नदियो

---

१ चञ्चलम् । २ नितराम् अस्थिरस्थितिम् । 'असंकुसुकोऽस्थिरे' इत्यमरः । विशेपनिघ्नवर्ग । ३ नृत्यन्तम् । ४ उत्कटजलम् । ५ सीकरम् प० । ६ उत्कटपीनसम् 'प्रतिश्यायस्तु पीनसः' इत्यभिधानात् । ७ औदरिकम् । तृप्तिरहितमित्यर्थ । ८-गर्भाप-ल० ।

दिशां रावणमाक्रान्त्याचलग्राहं[2] विभीषणम्[3] । रक्षसामिव संपातमतिकायं[4] महोदरम्[5] ॥७८॥
वीचीबाहुभिराघ्नन्तमजस्रं तटवेदिकाम् । समर्यादत्वमाहत्य श्रावयन्तमिवात्मनः ॥७९॥
चलद्भिरचलोदग्रैः कल्लोलैरतिवर्तिनम् । सरिद्युवतिसंभोगादसंमान्तमिवात्मनि ॥८०॥
तरङ्गिततनुं वृद्धं पृथुकं व्यक्तरङ्गितम् । सरत्नमतिकान्ताङ्गं सग्राहमतिभीषणम् ॥८१॥
लावण्येऽपि न संभोग्यं गाम्भीर्येऽप्यनवस्थितम् । महत्त्वेऽपि कृताक्रोशं व्यक्तमेव जलाशयम् ॥८२॥
न चास्य मदिरासङ्गो न कोऽपि मदनज्वरः । तथाप्युद्रिक्त[6]कन्दर्पमारूढमधुविक्रियम् ॥८३॥

का अन्य जल ग्रहण करनेके लिए तत्पर रहता था । वह समुद्र समस्त दिशाओमे व्याप्त होकर शब्द कर रहा था इसलिए 'रावण' था, उसने अनेक पहाड़ अपने जलके भीतर डुबा लिये थे इसलिए 'अचलग्राह' था । वह सब जीवोको भय उत्पन्न कराता था इसलिए विभीषण था, अत्यन्त वडा था इसलिए 'अतिकाय' था और वहुत गहरा होनेसे 'महोदर' था इस प्रकार वह ऐसा जान पडता था मानो राक्षसोंका समूह ही हो । वह समुद्र अपनी तरगरूपी भुजाओं-के द्वारा किनारेकी वेदीपर निरन्तर आघात करता रहता था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो धक्का देकर उसे अपने समर्यादपनेको ही सुना रहा हो । वह पर्वतके समान ऊँची उठती हुई लहरोसे किनारेको उल्लंघन कर रहा था इसलिए ऐसा जान पडता था मानो नदीरूप स्त्रियोके साथ सम्भोग करनेसे अपने-आपमे ही नही समा रहा हो । उसके शरीरमे अनेक तरग-रूपी सिकुडने उठ रही थी इसलिए वह वृद्ध पुरुपके समान जान पडता था, (पक्षमे अत्यन्त वडा था) अथवा वह समुद्र किसी पृथुक अर्थात् बालकके समान मालूम होता था (पक्षमे पृथुक अधिक है जल जिसमे ऐसा था) क्योकि जिस प्रकार वालक पृथिवीपर घुटनोके वल चलता है उसी प्रकार वह समुद्र भी लहरोके द्वारा पृथिवीपर चल रहा था, जिस प्रकार वालक सरकता है उसी प्रकार वह भी लहरोसे सरकता था, जिस प्रकार वालक अत्यन्त सुन्दर होता है उसी प्रकार वह भी अत्यन्त सुन्दर था । इसके सिवाय वह समुद्र मगरमच्छ आदि जलचरजीवो-से सहित था तथा अत्यन्त भयकर था अथवा वह समुद्र स्पष्ट ही जलाशय (ड और ल मे अभेद होनेसे जडाशय) अर्थात् मूर्ख था क्योकि लावण्य रहनेपर भी वह उपभोग करने योग्य नही था जो लावण्य अर्थात् सुन्दरतासे सहित होता है वह उपभोग करने योग्य अवश्य होता है परन्तु समुद्र वैसा नही था (पक्षमे लावण्य अर्थात् खारापन होनेसे किसीके पीने योग्य नही था) गम्भीरता होनेपर भी वह स्थिर नही था, जो गम्भीरता अर्थात् धैर्यसे सहित होता है वह स्थिर अवश्य रहता है परन्तु समुद्र ऐसा नही था (पक्षमें गम्भीरता अर्थात् गहराई होनेपर भी वह लहरोसे चंचल रहता था) और महत्त्वके रहते-हुए भी वह चिल्लाता रहता था—गालियाँ वका करता था, जो महत्त्व अर्थात् बड़प्पनसे सहित होता है वह वडा शान्त रहता है, चिल्लाता नही है परन्तु समुद्र ऐसा नही था (पक्षमें वडा भारी होनेपर भी लहरोके आघातसे शब्द करता रहता था) इन सब कारणोसे स्पष्ट है कि वह जडाशय अवश्य था (पक्षमे जल है आशयमे जिसके अर्थात् जलसे भरा हुआ था) । उस समुद्रके यद्यपि मद्यका सगम नही था—मद्य-पानका अभाव था तथापि वह आरूढ मधुविक्रिय था अर्थात् मद्यपानसे उत्पन्न होनेवाले विकार—नशाको धारण कर रहा था, इसी प्रकार यद्यपि उसके काम-ज्वर नही था तथापि वह उद्रिक्त-कन्दर्प था अर्थात् तीव्र काम-विकारको धारण करनेवाला था । भावार्थ—इस श्लोकमें श्लेप-

---

१ रौतीति रावणस्तम् । शब्द कुर्वन्तमिति यावत् । पक्षे दशास्यम् । २ पर्वतस्वीकारवन्तम् । पक्षे अचलग्राहमिति कश्चिद् राक्षसम् । ३ भयकरम् । पक्षे रावणानुजम् । ४ अतिशयं मूर्तिम् महान्तमित्यर्थः । पक्षे अतिकायमिति कश्चिदसुरम् । ५ महाकुक्षिम् । पक्षे महोदरमिति राक्षसम् । ६ उत्कटकामम्, पक्षे उत्कटजलदर्पम् ।

अनाशितंभवं[1] पीत्वा सुस्वादुसरितां जलम् । गतागतानि कुर्वन्तं संतोषादिव वीचिभिः ॥८४॥
नदीवधूभिरासेव्यं कृतरत्नपरिग्रहम् । [2]महाभोगिभिराराध्यं चातुरन्तमिव[3] प्रभुम् ॥८५॥
यादोदोर्घातनिर्घातैर्[4]दूरोच्चलितशीकरैः । सपताकमिवाशेषशेषार्णवविनिर्जयात् ॥८६॥
कुलाचलपृथुस्तम्भजम्बूद्वीपमहौकसः[5] । विनीलरत्ननिर्माणमेकं सालमिवोच्छ्रितम् ॥८७॥
अनादिमस्तपर्यन्तमखिलार्थावगाहनम् । गम्भीरशब्दसंदर्भं श्रुतस्कन्धमिवापरम् ॥८८॥
नित्यप्रवृत्तशब्दत्वाद् द्रव्यार्थिकनयाश्रितम् । वीचीनां क्षणभङ्गित्वात् पर्यायनयगोचरम् ॥८९॥
नित्यानुबद्धतृष्णत्वात् शश्वज्जलपरिग्रहात्[6] । गुरूणां[7] च तिरस्कारात् किंराजानमिवान्वहम्[8] ॥९०॥

मूलक विरोधाभास अलकार है इसलिए प्रारम्भ-कालमें विरोध मालूम होता है परन्तु वादमें उसका परिहार हो जाता है। परिहार इस प्रकार समझना चाहिए कि वह मद्यके सगमसे रहित होकर मधु अर्थात् पुष्परसकी विक्रिया धारण कर रहा था अथवा मनोहर जलपक्षियों-की क्रियाएँ धारण कर रहा था और कामज्वरसे रहित होकर भी उद्रिक्त-क-दर्प था अर्थात् जलके अहंकारसे सहित था। वह समुद्र किनारेपर आती-जाती हुई लहरोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो जिससे कभी तृप्ति न हो ऐसा नदियोका मीठा जल पीकर लहरो-द्वारा सन्तोपसे गमना-गमन ही कर रहा हो। अथवा वह समुद्र चक्रवर्तीके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार चक्रवर्ती अनेक स्त्रियोके द्वारा सेवित होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी नदीरूपी अनेक स्त्रियोंके द्वारा सेवित था, जिस प्रकार चक्रवर्तीके पास अनेक रत्नोका परिग्रह रहता है उसी प्रकार उस समुद्रके पास भी अनेक रत्नोंका परिग्रह था, जिस प्रकार चक्रवर्ती महाभोगी अर्थात् बडे-बडे राजाओके द्वारा आराधन करने योग्य होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी महाभोगी अर्थात् बड़े-बडे सर्पोंके द्वारा आराधन करने योग्य था और जिस प्रकार चक्रवर्ती चारो ओर प्रसिद्ध रहता है उसी प्रकार वह समुद्र भी चारो ओर प्रसिद्ध था—व्याप्त था। जल-जन्तुओंके आघातसे उडी हुई और बहुत दूर तक ऊँची उछटी हुई जलकी बूँदोसे वह समुद्र ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो बाकीके समस्त समुद्रोको जीतनेसे अपनी विजय-पताका ही फहरा रहा हो। उस समुद्र-का नीले रगका पानी वायुके वेगसे ऊपरको उठ रहा था जिससे वह ऐसा जान पडता था मानो कुलाचलरूपी बडे-बडे खम्भोपर बने हुए जम्बूद्वीपरूपी विशाल घरका नील रत्नोसे बना हुआ एक ऊँचा कोट ही हो। अथवा वह समुद्र दूसरे श्रुतस्कन्धके समान जान पडता था क्योंकि जिस प्रकार श्रुतस्कन्ध आदि-अन्त-रहित है उसी प्रकार वह समुद्र भी आदि-अन्त-रहित था, जिस प्रकार श्रुतस्कन्ध समस्त पदार्थोका अवगाहन-निरूपण करनेवाला है उसी प्रकार वह समुद्र भी समस्त पदार्थोका अवगाहन-प्रवेशन-धारण करनेवाला है, और जिस प्रकार श्रुतस्कन्ध-में गम्भीर शब्दोकी रचना है उसी प्रकार उस समुद्रमें भी गम्भीर शब्द होते रहते थे—अथवा वह समुद्र द्रव्यार्थिक नयका आश्रय लेता हुआ-सा जान पड़ता था क्योकि जिस प्रकार द्रव्या-र्थिक नयसे प्रत्येक पदार्थमे नित्य शब्दकी प्रवृत्ति होती है उसी प्रकार उस समुद्रमे भी नित्य शब्द-की प्रवृत्ति हो रही थी अर्थात् निरन्तर गम्भीर शब्द होता रहता था। अथवा उसकी लहरे क्षण-भगुर थी इसलिए वह पर्यायार्थिकके गोचर भी मालूम होता था क्योकि पर्यायार्थिक नय पदार्थोको क्षणभंगुर अर्थात् अनित्य बतलाता है। अथवा वह समुद्र किसी दुष्ट राजाके समान मालूम होता था क्योंकि जिस प्रकार दुष्ट राजा सदा तृष्णासे सहित होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी सदा तृष्णासे सहित रहता था अर्थात् प्रतिक्षण अनेक नदियोका जल ग्रहण करते रहने-

१ अतृप्तिकरम् । २ महासर्पैः । ३ सार्वत्रिकं प्रसिद्धमित्यर्थः । चातुरङ्ग—स०, इ०, अ०, प० । ४ निर्धूतै—ल० । ५ महागृहस्य । ६ जडस्वीकारात् । ७ गुरुद्रव्याणामध करणात् । ८ कुत्सितराजानम् ।

समस्त्वमतिगम्भीरं भोगिभिर्वृतवेलकम् । सुराजानमिवात्युच्चैर्वृत्तिं मर्यादया धृतम् ॥६१॥
अनेकमन्तरद्वीपमन्तर्वर्तिनमात्मनः । दुर्गदेशमिवाहार्यं पालयन्तमलङ्घनैः ॥६२॥
गर्जद्भिरतिगम्भीरं नभोव्यापिभिरूर्जितैः । आपूर्यमाणमम्भोभिर्घनौघैः किङ्करैरिव ॥६३॥
[1]रङ्गितैश्चलितैः[2] क्षोभैरुत्थितैश्च[3] विवर्तनैः[4] । ग्रहाविष्टमिवोज्जृम्भं[5] सध्वानं च सघूर्णितम् ॥६४॥
रत्नांशुचित्रिततलं मुक्ताशबलितार्णसम् । ग्राहैरध्यासितं विष्वक्सुखालोकं च भीषणम् ॥६५॥
नदीनं[6] रत्नभूयिष्ठमप्राणं[7] चिरजीवितम्[8] । समुद्रमपि[9] चोन्मुद्रं[10][11] झषकेतुममन्मथम्[12] ॥६६॥

पर भी सन्तुष्ट नही होता था, जिस प्रकार दुष्ट राजा जल (जड) अर्थात् मूर्ख मनुष्योसे घिरा रहता है उसी प्रकार वह समुद्र भी निरन्तर जल अर्थात् पानीसे घिरा रहता था, और जिस प्रकार दुष्ट राजा गुरु अर्थात् पूज्य महापुरुषोंका तिरस्कार करता है उसी प्रकार वह समुद्र भी गुरु अर्थात् भारी वजनदार पदार्थोका तिरस्कार करता रहता था अर्थात् उन्हे डुवोता रहता था। अथवा वह समुद्र किसी उत्तम राजाके समान जान पड़ता था क्योकि जिस प्रकार उत्तम राजा सत्त्व अर्थात् पराक्रमसे सहित होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी सत्त्व अर्थात् जल-जन्तुओंसे सहित था, जिस प्रकार उत्तम राजा अत्यन्त गम्भीर होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी अत्यन्त गम्भीर अर्थात् गहरा था, जिस प्रकार उत्तम राजाके समीप अनेक भोगी अर्थात् राजा लोग विद्यमान रहते है उसी प्रकार उस समुद्रकी वेला (तट) पर भी अनेक भोगी अर्थात् सर्प विद्यमान रहते थे, जिस प्रकार उत्तम राजाकी वृत्ति उच्च होती है उसी प्रकार उस समुद्रकी वृत्ति भी उच्च थी अर्थात् उसका जल हवासे ऊँचा उठ रहा था और जिस प्रकार उत्तम राजा मर्यादा अर्थात् कुल-परम्परासे आयी हुई समीचीन पद्धतिसे सहित होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी मर्यादा अर्थात् पालीसे सहित था। वह समुद्र अपने मध्यमे रहनेवाले अनेक अन्तर्द्वीपोकी रक्षा कर रहा था वे अन्तर्द्वीप उसके अलघनीय तथा हरण करनेके अयोग्य किलोके समान जान पड़ते थे। वह अतिशय गम्भीर समुद्र ऐसा जान पड़ता था मानो सेवकोके समान निरन्तर बढ़ते हुए, गरजते हुए और आकाशमें फैले हुए मेघोके द्वारा ही जलसे भरा गया हो अथवा वह समुद्र किसी ग्रहाविष्ट अर्थात् भूत लगे हुए मनुष्यके समान जान पड़ता था क्योकि जिस प्रकार ग्रहाविष्ट मनुष्य जमीनपर रेंगता है, चलता है, क्षुब्ध होता है, ऊँचा उछलता है और इधर-उधर घूमता है अथवा करवटे वदलता है उसी प्रकार वह समुद्र भी लहरोसे पृथिवीपर रेंग रहा था, चल रहा था, क्षुब्ध था, ऊँचा उछलता और इधर-उधर घूमता था अर्थात् कभी इधर लहरता था तो कभी उधर लहरता था, तथा ग्रहाविष्ट मनुष्य जिस प्रकार उज्जृम्भ अर्थात् उठती हुई जमुहाइयोसे सहित होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी उज्जृम्भ अर्थात् उठती हुई लहरोसे सहित था, जिस प्रकार ग्रहाविष्ट मनुष्य शब्द करता है उसी प्रकार समुद्र भी शब्द कर रहा था और जिस प्रकार ग्रहाविष्ट मनुष्य काँपता रहता है उसी प्रकार वह समुद्र भी वायुसे काँपता रहता था। उस समुद्रका तल भाग रत्नोकी किरणोंसे चित्र-विचित्र हो रहा था, उसका जल मोतियोसे चित्रित था, और वह चारो ओर मगरमच्छोसे भरा हुआ था इसलिए वह देखनेमे अच्छा भी लगता था और भयानक भी मालूम होता था। वह समुद्र अनेक रत्नोसे

१ भूप्रसर्पणै । २ चलनै । ३ उत्थानै. । ४ भ्रमणै । ५ उज्जृम्भणम् । पक्षे जृम्भिकासहितम् । ६ सरित्-पतिम् । निस्वसदृशम् । 'नञ्भात्रे निषेधे च स्वरूपार्थे व्यतिक्रमे । ईषदर्थे च सादृश्ये तद्विरुद्धतदन्ययो ॥' इत्यभिधानात् । ७ आप प्राण यस्य स तम् । पक्षे गतप्राणम् । ८ चिरकालस्थायिनम् । –जीविनम् अ०, प०, व०, स०, इ० । ९ मुद्रया सहितम् । १० मुद्रारहितम् । महान्तमित्यर्थ । ११ झषाङ्कितम् । १२ मत् मनो मथ्नातीति मन्मथ. न मन्मथ अमन्मथस्त मनोहरमित्यर्थ ।

अदृष्टपारमक्षोभ्यमसंहार्य[1]मनुत्तरम्[2] । सिद्धालयमिव व्यक्तमव्यक्तममृतास्पदम्[3] ॥९७॥
क्वचिन्महोपलच्छाया[4]धृतसंध्याभ्रविभ्रमम् । कृतान्धतमसारम्भं क्वचिन्नीलाश्मरश्मिभिः ॥९८॥
हरिन्मणिप्रभोत्सर्पैः क्वचित्संदिग्ध[5]शैवलम् । क्वचिच्च कौङ्कुमीं कान्ति तन्वानं विद्रुमाङ्कुरैः ॥९९॥
क्वचिच्छुक्तिपुटोद्भेदसमुच्छलितमौक्तिकम् । तारकानिकराकीर्णं हसन्तं जलभृत्पथम् ॥१००॥
वेलापर्यन्तसंमू[6]र्छत्सर्वरत्नांशुशीकरैः[7] । क्वचिदिन्द्रधनुर्लेखां लिखन्तमिव खाङ्गणे ॥१०१॥
रथाङ्गपाणिरित्युच्चैः संभृतं रत्नकोटिभिः । महानिधिमिवापूर्वमपश्यन्मकराकरम्[8] ॥१०२॥

भरा हुआ था इसलिए नदीन अर्थात् दीन नही था यह उचित था (पक्षमे 'नदी इन' नदियोका स्वामी था) परन्तु अप्राण अर्थात् प्राणरहित होकर भी चिरजीवित अर्थात् बहुत समय तक जीवित रहनेवाला था, समुद्र अर्थात् मुद्रासहित होकर भी उन्मुद्र अर्थात् मुद्रारहित था और झषकेतु अर्थात् मछलीरूप पताकासे सहित होकर भी अमन्मथ अर्थात् कामदेव नही था यह विरुद्ध बात थी किन्तु नीचे लिखे अनुसार अर्थमे परिवर्तन कर देनेसे कोई विरुद्ध बात नही रहती । वह प्राणरहित होनेपर भी चिरजीवित अर्थात् चिरस्थायी रहनेवाला था अथवा चिरकालसे जलसहित था, समुद्र अर्थात् सागर होकर भी उन्मुद्र अर्थात् उत्कृष्ट आनन्दको देनेवाला था (उद्-उत्कृष्टा मुदं हर्षं राति-ददातीति उन्मुद्र·) और झषकेतु अर्थात् समुद्र अथवा मछलियोके उत्पातसे सहित होकर भी अमन्मथ अर्थात् काम नही था । अथवा वह समुद्र स्पष्ट ही सिद्धालयके समान जान पड़ता था क्योकि जिस प्रकार सिद्धालयका पार दिखाई नही देता है उसी प्रकार उस समुद्रका भी पार दिखाई नही देता था – दोनो ही अदृष्टपार थे, जिस प्रकार सिद्धालय अक्षोभ्य है अर्थात् आकुलतारहित है उसी प्रकार समुद्र भी अक्षोभ्य था अर्थात् क्षोभित करनेके अयोग्य था उसे कोई गँदला नही कर सकता था, जिस प्रकार सिद्धालयका कोई संहार नही कर सकता उसी प्रकार उस समूहका भी कोई संहार नही कर सकता था, जिस प्रकार सिद्धालय अनुत्तर अर्थात् उत्कृष्ट है उसी प्रकार वह समुद्र भी अनुत्तर अर्थात् तैरनेके अयोग्य था, जिस प्रकार सिद्धालय अव्यक्त अर्थात् अप्रकट है उसी प्रकार वह समुद्र भी अव्यक्त अर्थात् अगम्य था और सिद्धालय जिस प्रकार अमृतास्पद अर्थात् अमृत (मोक्ष) का स्थान है उसी प्रकार वह समुद्र भी अमृत (जल) का स्थान था । कही तो वह समुद्र पद्मराग-मणियोसे सन्ध्याकालके बादलोकी शोभा अथवा सन्देह धारण कर रहा था और कही नील मणियोकी किरणोसे गाढ अन्धकारका प्रारम्भ करता हुआ-सा जान पड़ता था । कही हरित मणियोकी कान्तिके प्रसारसे उसमे शेवालका सन्देह हो रहा था और कही वह मूँगाओके अकुरोसे कुकुमकी कान्ति फैला रहा था । कही सीपोके सम्पुट खुल जानेसे उसमे मोती तैर रहे थे और उनसे वह ऐसा जान पडता था मानो ताराओके समूहसे भरे हुए आकाशकी ओर हँस ही रहा हो । तथा कहीपर किनारेके समीप ही समस्त रत्नोकी किरणोसहित जलकी छोटी-छोटी बूँदे पड़ रही थी उनसे ऐसा जान पड़ता था मानो आकाशरूपी आँगनमे इन्द्रधनुपकी रेखा ही लिख रहा हो । इस प्रकार जो ऊँचे तक करोड़ो रत्नोसे भरा हुआ था ऐसे उस समुद्रको चक्रवर्तीने अपूर्व महानिधिके समान देखा ॥ ९८–१०२ ॥

१ अविनाश्यम् । २ न विद्यते उत्तर श्रेष्ठो यस्मात् स तम् । ३ सलिलपीयूपनिवासम् । पक्षे अभयस्थानम् । 'सुधाकरयज्ञशेषसलिलाज्यमोक्षधन्वन्तरिविपकन्दच्छिन्नसहायदिविजेष्वमृतम्' इत्यभिधानात् । ४ पद्मराग-माणिक्य । ५ लिप्त । सन्देहविपयीकृत । ६ समुत्सर्पन्नानारत्नमरीचियुतशीकरै । ७ –सकरै. प० । ८ मकरालयम् ल० ।

दृष्ट्वाऽथ तं महाभागः[1] कृतधीर्धीरनिःस्वनम्। दृष्ट्यैवातुलयच्चक्री गोष्पदावज्ञयार्णवम् ॥१०३॥
ततोऽभिमतसंसिद्ध्यै कृतसिद्धनमस्क्रियः। रथं प्रचोदयेत्युच्चैः[2]प्राजितारमचोदयत् ॥१०४॥
[3]विमुक्तप्रग्रहैर्वाहैरुह्यमानो मनोजवैः। लवणाब्धौ द्रुतं[4]प्रायाद् यानपात्रायितो रथः ॥१०५॥
रथो मनोरथात् पूर्वं रथात् पूर्वं मनोरथः। इति संभाव्यवेगोऽसौ रथो वार्धिं व्यगाहत ॥१०६॥
जलस्तम्भः प्रयुक्तो नु जलं न स्थलतां गतम्। स्यन्दनं यदमी वाहा जले निन्युः स्थलास्थया[5] ॥१०७॥
तथैव चक्रचीत्कारः तथैवोच्चैः प्रधौरितम्[6]। यथा बहिर्जले[7] पूर्वमहो पुण्यं रथाङ्गिनः ॥१०८॥
महद्भिरपि कल्लोलैः[8]शीक्यमानास्तुरङ्गमाः। रथं निन्युरनायासात् प्रत्युतैषां स[9] विश्रमः[10] ॥१०९॥
[11]रथचक्रसमुत्पीडाज्जलोत्पीडः[12] खमुत्पतन्। न्यधाद् ध्वजांशुके जाड्यं जलानामीदृशी गतिः ॥११०॥
नाङ्गरागस्तुरङ्गाणामार्द्रितः श्रमघर्मितैः[13]। क्षालितः खुरवेगोत्थैः केवलं शीकरैरपाम् ॥१११॥
क्षणं रथाङ्गसङ्घट्टाज्जलमब्धेर्द्विधाऽभवत्। व्यभावि भाविनां वर्त्म चक्रिणामिव सूत्रितम् ॥११२॥
रथोऽस्याभिमतां भूमिं प्रापत्सारथिचोदितः। मनोरथोऽपि संसिद्धिं पुण्यसारथिचोदितः ॥११३॥

तदनन्तर–महाभाग्यशाली बुद्धिमान् भरतने गम्भीर शब्द करते हुए उस समुद्रको देखकर, दृष्टि मात्रसे ही उसे गायके खुरके समान तुच्छ समझ लिया ॥१०३॥ और फिर अपने मनोरथकी सिद्धिके लिए सिद्ध परमेष्ठीको नमस्कार कर 'शीघ्र ही रथ बढाओ' इस प्रकार सारथिके लिए जोरसे प्रेरणा की ॥१०४॥ जिनकी रास ढीली कर दी गयी है और जिनका वेग मनके समान है ऐसे घोडोके द्वारा ले जाया जानेवाला वह रथ लवणसमुद्रमे जहाजकी नाई शीघ्रताके साथ जा रहा था ॥१०५॥ मनोरथसे पहले रथ जाता है अथवा रथसे पहले मनोरथ जाता है इस प्रकार जिसके वेगकी सम्भावना की जा रही है ऐसा वह रथ समुद्रमे बड़े वेगके साथ जा रहा था ॥१०६॥ क्या वह जलस्तम्भिनी विद्यासे थँभा दिया गया था अथवा स्थलपनेको ही प्राप्त हो गया था क्योंकि चक्रवर्तीके घोड़े स्थल समझकर ही जलमे रथ खीचे लिये जा रहे थे ॥१०७॥ जिस प्रकार जलके बाहर पहियोका चीत्कार शब्द होता था उसी प्रकार जलके भीतर भी हो रहा था और जिस प्रकार जलके बाहर घोडे दौडते थे उसी प्रकार जलके भीतर भी दौड़ रहे थे, अहा ! चक्रवर्तीका पुण्य भी कैसा आश्चर्यजनक था ! ॥१०८॥ वे घोडे बडी-बडी लहरोसे सीचे जानेपर भी विना किसी परिश्रमके रथको ले जा रहे थे। उन लहरोसे उन्हे कुछ दु ख नही होता था वल्कि उनका परिश्रम दूर होता जाता था ॥१०९॥ रथके पहियेके आघातसे आकाशकी ओर उछलनेवाले जलके समूहने ध्वजाके वस्त्रमे भी जाड्य अर्थात् भारीपन ला दिया था सो ठीक ही है क्योकि जलका ऐसा ही स्वभाव होता है। भावार्थ– सस्कृत काव्योमे ड और ल के वीच कोई भेद नही माना जाता इसलिए जलानाम्की जगह जडानाम् पढकर चतुर्थ चरणका ऐसा अर्थ करना चाहिए कि मूर्ख मनुष्योका यही स्वभाव होता है कि वे दूसरोमे भी जाड्य अर्थात् मूर्खता उत्पन्न कर देते है ॥११०॥ घोड़ोके शरीर-पर लगाया हुआ अंगराग (लेप) परिश्रमसे उत्पन्न हुए पसीनेसे गीला नही हुआ था केवल खुरोके वेगसे उठे हुए जलके छीटोसे ही धुल गया था ॥१११॥ रथके पहियोके सघट्टनसे क्षण-भरके लिए जो समुद्रका जल फटकर दोनो ओर होता जाता था वह ऐसा मालूम होता था मानो आगे होनेवाले सगर आदि चक्रवर्तियोके लिए सूत्र डालकर मार्ग ही तैयार किया जा रहा हो ॥११२॥ सारथिके द्वारा चलाया हुआ चक्रवर्तीका रथ उनके अभिलषित स्थानपर पहुँच

१ महाभागं ल०। २ सारथिम्। ३ त्यक्तरज्जुभि। ४ अगच्छत्। ५ स्थलमिति बुद्ध्या। ६ गतिविशेषाक्रान्तम्। ७ जलाद् वहि। स्थले इत्यर्थ। ८ सिच्यमाना। ९ सेचनविधि। १० श्रमहरणकारणम्। ११ समुत्पीडनात्। १२ जलसमूहः। जलाना जडानामिति ध्वनि'। १३ स्वेदै।

गत्वा कतिपयान्यब्धौ योजनानि रथः प्रभोः । स्थितो[1]ऽन्तर्जलमाक्रम्य ग्रस्ताश्व इव वार्धिना ॥११४॥
द्विषड्योजनमागाह्य स्थिते [2]मध्येऽर्णवं रथे । रथाङ्गपाणिरारुष्टो[3] जग्राह किल कार्मुकम् ॥११५॥
[4]स्फुरज्ज्यं वज्रकाण्डं तद्धनुरारोपितं यदा । तदा जीवितसंदेहदोलारूढमभूज्जगत् ॥११६॥
स्फुरन्मौर्वीरवस्तस्य मुहुः प्रध्वानयन् दिशः । प्रक्षोभमनयद्वार्धिं चलत्तिमिकुलाकुलम् ॥११७॥
संहार्यः [5]किममुष्याब्धिरुत विश्वमिदं जगत् । इत्याशङ्क्य क्षणं तस्थे तदा नभसि खेचरैः ॥११८॥
वक्रेऽपि गुणवत्यस्मिन्नृजुकर्मणि कार्मुके । अमोघं संदधे बाणं श्लाघ्य[6]स्थानकमास्थितः ॥११९॥
अहं हि भरतो नाम चक्री वृषभनन्दनः । तस्माद्भवन्तु[7] मद्भुक्तिवासिनो[8] व्यन्तरामराः ॥१२०॥
इति व्यक्तलिपिन्यासो दूतमुख्य इव द्रुतम् । स पत्री[9] चक्रिणा मुक्तः [10]प्राङ्मुखीमास्थितो गतिम् ॥१२१॥
[11]जितनिर्घातनिर्घोषं ध्वनिं कुर्वन्नभस्तलात् । न्यपप्तन्मागधावासे तत्सैन्यं क्षोभमानयन् ॥१२२॥
किमेष क्षुभितोऽम्भोधिः कल्पान्तपवनाहतः । निर्घातः किंस्विदुद्भ्रान्तो भूमिकम्पो नु जृम्भते ॥१२३॥
[12]इत्याकुलाकुलधियस्तन्निकायोपगाः सुराः । परिवव्रुरुपेत्यैनं सन्नद्धा मागधं प्रभुम् ॥१२४॥
देव दीप्रः शरः कोऽपि पतितोऽस्मत्सभाङ्गणे । तेनायं प्रकृतः[13] क्षोभो न किंचित्कारणान्तरम् ॥१२५॥

गया और पुण्यरूपी सारथिके द्वारा प्रेरित हुआ उनका मनोरथ भी सफलताको प्राप्त हो गया ॥११३॥ महाराज भरतका रथ समुद्रमे कुछ योजन जाकर जलके भीतर ही खड़ा हो गया मानो समुद्रने ऊपरकी ओर बढकर उसके घोडे ही थाम लिये हो ॥११४॥ जब वह रथ समुद्रके भीतर बारह योजन चलकर खड़ा हो गया तब चक्रवर्तीने कुछ कुपित होकर धनुष उठाया ॥११५॥ जिसकी प्रत्यंचा (डोरी) स्फुरायमान है और काण्ड वज्रके समान है ऐसा वह धनुष जिस समय चक्रवर्तीने प्रत्यचासे युक्त किया था उसी समय यह जगत् अपने जीवित रहनेके सन्देह रूपी झूलापर आरुढ हो गया था अर्थात् समस्त संसारको अपने जीवित रहनेका सन्देह हो गया था ॥११६॥ समस्त दिशाओंको बार-बार शब्दायमान करते हुए चक्रवर्तीके धनुषकी स्फुराय-मान प्रत्यचाके शब्दने इधर-उधर भागते हुए मच्छोके समूहसे भरे हुए समुद्रको भी क्षोभित कर दिया था ॥११७॥ क्या यह चक्रवर्ती इस समुद्रका सहार करना चाहता है अथवा समस्त ससारका ? इस प्रकार आशका कर विद्याधर लोग उस समय क्षण-भरके लिए आकाशमें खडे हो गये थे ॥११८॥ जो टेढा होकर भी गुणवान् (पक्षमे डोरीसे सहित) और सरल कार्य करनेवाला था (पक्षमें सीधा बाण छोड़नेवाला था) ऐसे उस धनुषपर चक्रवर्तीने प्रशसनीय-योग्य आसनसे खड़े होकर भी व्यर्थ न जानेवाला अमोघ नामका बाण रखा ॥११९॥ 'मैं वृषभ-देवका पुत्र भरत नामका चक्रवर्ती हूँ इसलिए मेरे उपभोगके योग्य क्षेत्रमे रहनेवाले सब व्यन्तर देव मेरे अधीन हो इस प्रकार जिसपर स्पष्ट अक्षर लिखे हुए है ऐसा हुआ वह चक्रवर्तीके द्वारा चलाया हुआ बाण मुख्य दूतकी तरह पूर्व दिशाकी ओर मुख कर चला ॥१२०–१२१॥ और जिसने वज्रपातके शब्दको जीत लिया है ऐसा भारी शब्द करता हुआ तथा मागध देवकी सेनामें क्षोभ उत्पन्न करता हुआ वह बाण आकाश-तलसे मागध देवके निवासस्थानमें जा पड़ा ॥१२२॥ क्या यह कल्पान्त कालके वायुसे ताड़ित हुआ समुद्र ही क्षोभको प्राप्त हुआ है ? अथवा जोरसे शब्द करता हुआ वज्र पड़ा है ? अथवा भूमिकम्प ही हो रहा है ? इस प्रकार जिनकी बुद्धि अत्यन्त व्याकुल हो रही है ऐसे उसके समीप रहनेवाले व्यन्तरदेव तैयार होकर मागध देवके पास आये और उसे घेरकर खड़े हो गये ॥१२३-१२४॥ हे देव, हमारे सभा-

---

१ जलमध्ये । २ अर्णवमध्ये । ३ क्रुद्ध । ४ स्फुरन्ती ज्या मौर्वी यस्य स तम् । ५ चक्रिण. । ६ स्थानकम् प्रत्यालीढादिस्थानम् । ७ मदधीना भवन्तु । ८ मम क्षेत्रवासिन इत्यर्थ । ९ बाण । १० पूर्वाभिमुखीम् । ११ अशनि । १२ अत्याकुलबुद्धय । १३ विहित ।

येनायं प्रहितः पत्री नाकिना दानवेन वा । तस्य कर्तुं प्रतीकारमिमं सज्जा वयं[1] प्रभो ॥१२६॥
इत्यारक्षि[2]भटैस्तूर्णमेत्य विज्ञापितः प्रभुः । अलमाध्वं[3] भटालापैरित्युच्चैः प्रत्युवाच तान् ॥१२७॥
यूयं त[4] एव मद्ग्राह्याः सोऽहमेवास्मि मागधः । श्रुतपूर्वमिदं किं वः सोढपूर्वो यदेत्यरिः ॥१२८॥
बिभर्ति यः पुमान् प्राणान् परिभूति[5]मलीमसान् । न गुणैर्लिङ्गमात्रेण पुमानेष प्रतीयते ॥१२९॥
स चित्रपुरुषो वास्तु चञ्चापुरुष[6] एव च[7] । यो विनापि गुणैः पौरुषैर्नाम्नैव[8] पुरुषायते ॥१३०॥
स पुमान् यः पुनीते स्वं कुलं जन्म च पौरुषैः । भटब्रुवो जनो यस्तु तस्यास्त्व[9]भवनिर्भुवि ॥१३१॥
विजिगीषुतया देवा[10] वयं नेच्छाविहारतः[11] । ततोऽरिविजयादेव संपदस्तु सदापि नः ॥१३२॥
वस्तुवाहनराज्याङ्गैराराधयति यः परम् । परभोगीणमैश्वर्यं[12] तस्य मन्ये विडम्बनम् ॥१३३॥
शरशाली प्रभुः कोऽपि मत्तोऽयं[13] धनमीप्सति । धनायतोऽस्य दास्यामि निधनं प्रधनैः[14] समम् ॥१३४॥
विचूर्ण्यैनं शरं तावत् कोपाग्नेः प्रथमेन्धनम् । करवाणीदमेवास्तु[15] तनुशल्कैरुपेन्धनम्[16] ॥१३५॥

भवनके आँगनमे कोई देदीप्यमान बाण आकर पड़ा है उसीसे यह क्षोभ हुआ है इसका दूसरा कारण नही है ॥१२५॥ हे प्रभो, जिस किसी देव अथवा दानवने यह बाण छोड़ा है हम सब लोग उसका प्रतिकार करनेके लिए तैयार है ॥१२६॥ इस प्रकार रक्षा करनेवाले वीर योद्धाओ-ने शीघ्र ही आकर अपने स्वामी मागध देवसे निवेदन किया और मागध देवने भी बडे जोरसे उन्हे उत्तर दिया कि चुप रहो, इस प्रकार वीर वाक्योसे कुछ लाभ नही है ॥१२७॥ तुम लोग वे ही मेरे अधीन रहनेवाले देव हो और मैं भी वही मागध देव हूँ, क्या मुझे कभी पहले अपना शत्रु सहन हुआ है? यह बात तुम लोगोंने पहले भी कभी सुनी है? ॥१२८॥ जो पुरुष पराभव-मे मलिन हुए अपने प्राणोको धारण करता है वह गुणोसे पुरुष नही कहलाता किन्तु केवल लिग-से ही पुरुष कहलाता है ॥१२९॥ जो पुरुष, पुरुषोमे पाये जानेवाले गुणोके बिना केवल नामसे ही पुरुष बनना चाहता है वह या तो चित्रमें लिखा हुआ पुरुष है अथवा तृण काष्ठ वगैरहसे बना हुआ पुरुष है ॥१३०॥ जो अपने पराक्रमसे अपने कुल और जन्मको पवित्र करता है वास्तवमे वही पुरुष कहलाता है, इसके विपरीत जो मनुष्य झूठमूठ ही अपनेको वीर कहता है पृथिवीपर उसका जन्म न लेना ही अच्छा है ॥१३१॥ हम लोग शत्रुओको जीतनेसे ही 'देव' कहलाते है, इच्छानुसार जहाँ-तहाँ विहार करनेमात्रसे देव नही कहलाते इसलिए हम लोगोकी सम्पत्ति सदा शत्रुओको विजय करनेमात्रसे ही प्राप्त हो ॥१३२॥ जो मनुष्य रत्न आदि वस्तु, हाथी घोड़े आदि वाहन और छत्र चमर आदि राज्यके चिह्न देकर किसी दूसरेकी आरा-धना–सेवा करता है उसका ऐश्वर्य दूसरोके उपभोगके लिए हो और मै ऐसे ऐश्वर्यको केवल विडम्बना समझता हूँ ॥१३३॥ बाण चलानेवाला यह कोई राजा मुझसे धन चाहता है सो इसके लिए मै युद्धके साथ-साथ निधन अर्थात् मृत्यु दूँगा ॥१३४॥ सबसे पहले मै इस बाण-को चूर कर अपने क्रोधरूपी अग्निका पहला ईंधन बनाऊँगा, यही बाण अपने छोटे-छोटे टुकड़ों-

१ प्रभो वयम् स०, अ०, प०, इ० । २ अङ्गरक्षिभटैः । ३ तूष्णीं तिष्ठत । ४ ते पूर्वस्मिन् विद्यमाना एव । ५ परिभव । ६ तृणपुरुष । 'चञ्चोऽनलादिनिर्माणे चञ्चा तु तृणपूरुषे' इत्यभिधानात् । करिकलभन्यायमाश्रित्य पुनः पुरुषशब्दप्रयोगः । ७ वा ल०, ब०, अ०, प०, स०, द०, इ० । ८ पुरुषसंबन्धिभिः । ९ अनुत्पत्ति । 'नञो नि शापे' इति अनिप्रत्ययान्त । १० दीव्यन्ति विजिगीषन्तीति देवा । ११ स्वैरविहारत । क्रीडाविहारत इति भाव. । १२ परभोगिभ्यो हितम् । १३ अस्मत् । १४ प्रधनै द०, इ०, ल०, अ०, प०, स० । युद्धे । 'युद्धमायोधनं जन्यं प्रधनं प्रविदारणम्' इत्यभिधानात् । १५ अलङ्करवाणि (चूर्णीकृतशरीरेन्धनैः) । शत्रुशरीरशकलैः । १६ सधुक्षणम्, अग्निज्वालनम् ।

साक्षेपमिति संरम्भादुदीर्य निष्ठुरं गिरम्। व्यरंसीद् दशनज्योत्स्नां संहरन्मागधामरः ॥१३६॥
ततस्तमनुसरन्त्यर्णाः सुरा दृष्टपरम्पराः। प्रभुं शमयितुं क्रोधाद् इत्यूचुर्वृद्धैर्हि भोः[1] स्थितिः ॥१३७॥
यथार्थं[3] समयस्यं च मितं च बहुविस्तरम्। अनाकुलं च गम्भीरं नाभिलाप्यमीदृशं वचः ॥१३८॥
सत्यं परिभवः सोढुमशक्यो मानशालिनाम्। बलवद्भिर्विरोधस्तु स्वपराभवकारणम् ॥१३९॥
सत्यमेव यशो रक्ष्यं प्राणैरपि धनैरपि। ननु प्रभुमनाश्रित्य कथं लभ्येत धीधनैः ॥१४०॥
अलब्धलाभो लब्धार्थपरिरक्षणमित्यपि। द्वयमेतत् सुखालभ्यं जिगीषोराश्रयं विना ॥१४१॥
बलिनामपि सन्त्येव बलीयांसो मनस्विनः। बलवानस्म्यहमिति नोत्सेक्तव्यमतः परम् ॥१४२॥
न किंचिदप्यनालोच्य विधेयं सिद्धिकाम्यता। ततः शरः कुतस्त्योऽयं निर्णेयो वेति कस्य ताम् ॥१४३॥
श्रुतं च बहुशोऽस्माभिराप्तीयं पुष्कलं वचः। जिनाः सचक्रवर्त्यर्थं वत्स्यन्त्यत्रेति भारते ॥१४४॥
नूनं चक्रिण एवायं जयाशंसी शरागमः। घनान्धतमसोच्छित्तिः भास्वतोऽन्यत्र किं भवेत् ॥१४५॥
अथवालं संशय्य चक्रपाणेरयं शरः। व्यनक्ति व्यक्तमेवैनं तन्नामाक्षरमालिका ॥१४६॥

से मेरी क्रोधरूपी अग्निको प्रज्वलित करनेवाला हो ॥१३५॥ इस प्रकार वह मागध देव क्रोधसे तिरस्कारके साथ-साथ कठोर वचन कहकर दाँतोंकी कान्तिको संकुचित करता हुआ जब चुप हो रहा ॥१३६॥ तब कुल-परम्पराको देखनेवाले समीपवर्ती देव उसका क्रोध शमन करनेके लिए उससे कहने लगे सो ठीक ही है क्योंकि राजा लोगोंकी स्थिति विद्याकी अपेक्षा वृद्ध हुए मनुष्योंसे ही होती है, भावार्थ–जो मनुष्य विद्यावृद्ध अर्थात् विद्याकी अपेक्षा बड़े हैं उन्हींसे राजा लोगोंकी मर्यादा स्थिर रहती है किन्तु जो मनुष्य केवल अवस्थासे बड़े हैं उनसे कुछ लाभ नहीं होता ॥१३७॥ उन देवोंने जो वचन कहे थे वे समयके अनुकूल थे, अर्थसे भरे हुए थे, परिमित थे, अर्थकी अपेक्षा बहुत विस्तारवाले थे, आकुलतारहित थे और गम्भीर थे सो ठीक ही है क्योंकि मूर्खोंके ऐसे वचन कभी नहीं निकलते हैं ॥१३८॥ उन देवोंने कहा कि हे प्रभो, यह ठीक है कि अभिमानी मनुष्योंको अपना पराभव सहन नहीं हो सकता है परन्तु बलवान् पुरुषोंके साथ विरोध करना भी तो अपने पराभवका कारण है ॥१३९॥ यह बिलकुल ठीक है कि अपने प्राण अथवा धन देकर भी यशकी रक्षा करनी चाहिए परन्तु वह यश किसी समर्थ पुरुषका आश्रय किये विना बुद्धिमान् मनुष्योंको किस प्रकार प्राप्त हो सकता है? ॥१४०॥ प्राप्त नहीं हुई वस्तुका प्राप्त होना और प्राप्त हुई वस्तुकी रक्षा करना ये दोनों ही कार्य किसी विजिगीषु राजाके आश्रयके विना सुखपूर्वक प्राप्त नहीं हो सकते ॥१४१॥ हे प्रभो, बलवान् मनुष्योंकी अपेक्षा और भी अधिक बलवान् तथा बुद्धिमान् हैं इसलिए मैं बलवान् हूँ इस प्रकार कभी गर्व नहीं करना चाहिए ॥१४२॥ सिद्धि अर्थात् सफलताकी इच्छा करनेवाले पुरुषको विना विचारे कुछ भी कार्य नहीं करना चाहिए इसलिए यह बाण कहाँसे आया है? और किसका है? पहले इस बातकी खोज करनी चाहिए ॥१४३॥ इस भारतवर्षमें चक्रवर्तियोंके साथ तीर्थंकर निवास करेंगे, अवतार लेंगे ऐसे आप्त पुरुषोंके यथार्थ वचन हम लोगोंने अनेक बार सुने हैं ॥१४४॥ विजयको सूचित करनेवाला यह बाण अवश्य ही चक्रवर्तीका ही होगा क्योंकि सघन अन्धकारको नष्ट करनेवाला प्रकाश क्या सूर्यके सिवाय किसी अन्य वस्तुमें भी सम्भव हो सकता है? अर्थात् नहीं ॥१४५॥ अथवा इस विषयमें संशय करना व्यर्थ है। यह बाण चक्रवर्तीका ही है, क्योंकि इसपर खुदे हुए नामके अक्षरोंकी माला साफ-साफ ही

१ प्रभो. स्थितिर्विद्यावृद्धैर्भवति हि। २ प्रभो ल०। ३ यथावसरमन्यं च द०, ल०, अ०, प०, स०, इ०। ४ अभिलपणीयम्। ५ बुद्धिहीनानाम्। ६ सिद्धि वाञ्छता। ७ कस्य सवन्धि। ८ विचार्यताम्। ९ आप्तसवन्धि। १० रवि विवर्ज्य। ११ शङ्का मा कार्षी.। १२ चक्रिनामाक्षर।

तदेनं शरमभ्यर्च्य गन्धमाल्याक्षतादिभिः । पूज्याद्यैव विभोराज्ञा गत्वास्माभिः शरार्पणा ॥१४७॥
मा गा मागध वैचित्यं[1] कार्यमेतद् विनिश्चिनु । न युक्तं तत्प्रतीपत्वं[2] तव तद्देशवासिनः[3] ॥१४८॥
तदलं देव संरभ्य[4] तत्प्रातीप्यं[5] न शान्तये । महतः सरिदोघस्य[6] कः प्रतीप तरन् सुखी ॥१४९॥
बलवाननुवर्त्यश्चेदनुनेयोऽद्य चक्रभृत् । महत्सु वैतसीं[7] वृत्तिमामनन्त्यविपत्करीम् ॥१५०॥
इहामुत्र च जन्तूनामुन्नत्यै पूज्यपूजनम् । तापं[8] तत्रानुबध्नाति पूज्यपूजाव्यतिक्रमः ॥१५१॥
इति तद्वचनात्किंचित् प्रबुद्ध इव[10] तत्क्षणम् । अज्ञातमेवमेतत्स्यादित्यसौ प्रत्यपद्यत[11] ॥१५२॥
ससंभ्रममिवास्याभूच्चित्तं किंचित्ससाध्वसम् । साशङ्कमिव[12] सोद्वेगं प्रबुद्धमिव च क्षणम् ॥१५३॥
ततः प्रसेदुषी[13] तस्य नचिरादेव[14] शेमुषी । पूर्वापरं व्यलोकिष्ट कोपापायात् प्रशेमुषी[15] ॥१५४॥
सोऽयं चक्रभृतामाद्यो भरतोऽलङ्घ्यशासनः । प्रतीक्ष्यः[16] सर्वथास्माभिरनुनेयश्च सादरम् ॥१५५॥
चक्रित्वं चरमाङ्गत्वं पुत्रत्वं च जगद्गुरोः । इत्यस्य पूज्यमेकैकं किं पुनस्तत्समुच्चितम् ॥१५६॥
इति निश्चित्य[17] संभ्रान्तैरनुयातः सुरोत्तमैः । महसा चक्रिणं द्रष्टुमुच्चचाल स मागधः ॥१५७॥

चक्रवर्तीको प्रकट कर रही है ॥१४६॥ इसलिए गन्ध माला अक्षत आदिसे इस वाणकी पूजा कर हम लोगोको आज ही वहाँ जाकर उनका यह वाण उन्हे अर्पण कर देना चाहिए और आज ही उनकी आज्ञा मान्य करनी चाहिए ॥१४७॥ हे मागध, आप किसी प्रकारके विकारको प्राप्त मत हूजिए, और हम लोगोके द्वारा कहे हुए इस कार्यका अवश्य ही निश्चय कीजिए, क्योकि उनके देशमे रहनेवाले आपको उनके साथ विरोध करना उचित नही है ॥१४८॥ इसलिए हे देव, क्रोध करना व्यर्थ है, चक्रवर्तीके साथ वैर करनेसे कुछ शान्ति नही होगी क्योकि नदीके वडे भारी प्रवाहके प्रतिकूल तैरनेवाला कौन सुखी हो सकता है ? अर्थात् कोई नही ॥१४९॥ यदि बलवान् मनुष्यको अनुकूल बनाये रखना चाहिए यह नीति है तो चक्रवर्तीको आज ही प्रसन्न करना चाहिए, क्योंकि वड़े पुरुषोके विषयमे वेतके समान नम्र वृत्ति ही दु.ख दूर करनेवाली है ऐसा विद्वान् लोग मानते हैं ॥१५०॥ पूज्य मनुष्योकी पूजा करनेसे इस लोक तथा परलोक–दोनों ही लोकोमें जीवोंकी उन्नति होती है और पूज्य पुरुषोकी पूजाका उल्लघन अर्थात् अनादर करनेसे दोनो ही लोकोमें पापबन्ध होता है ॥१५१॥ इस प्रकार उन देवोके वचनोसे जिसे उसी समय कुछ-कुछ बोध उत्पन्न हुआ है ऐसे उस मागध देवने मुझे यह हाल मालूम नही था यह कहते हुए उनके वचन स्वीकार कर लिये ॥१५२॥ उस समय उसके चित्तमें कुछ घबड़ाहट, कुछ भय, कुछ आशंका, कुछ उद्वेग और कुछ प्रबोध-सा उत्पन्न हो रहा रहा था ॥१५३॥ तदनन्तर थोड़ी ही देरमें निर्मल हुई और क्रोधके नष्ट हो जानेसे शान्त हुई उसकी बुद्धिने आगे पीछेका सब हाल देख लिया ॥१५४॥ यह वही चक्रवर्तियोमे पहला चक्रवर्ती भरत है जिसकी कि आज्ञाका कोई उल्लंघन नही कर सकता, हम लोगोको हरएक प्रकारसे इसकी पूजा करनी चाहिए और आदरसहित इसकी आज्ञा माननी चाहिए ॥१५५॥ यह चक्रवर्ती है, चरमशरीरी है और जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवका पुत्र है, इन तीनोमें-से एक-एक गुण ही पूज्य होता है फिर जिसमे तीनोंका समुदाय है उसकी तो बात ही क्या कहनी है ? ॥१५६॥ इस प्रकार निश्चय कर वह मागध देव शीघ्र ही चक्रवर्तीको देखनेके लिए आकाश-मार्गसे चला, उस समय सम्भ्रमको प्राप्त हुए अनेक अच्छे-अच्छे देव उसके पीछे-पीछे

---

१ चित्तविकारम् । २ चक्रिप्रतिकूलत्वम् । ३ –वर्तिन. ल० । ४ संरम्भ मा कार्षी । ५ प्रातिकूल्यम् । ६ प्रवाहस्य । ७ वेतसम्बन्धिनीम् । अनुकूलतामित्यर्थः । ८ पापं ल० । ९ जन्तौ । १० एव । ११ अनुमेने । १२ इव अवधारणे । १३ प्रसन्नवती । १४ अल्पकालेनैव । १५ उपशमवती । १६ पूज्य. । साशयिक, सशयापन्नमानस । १७ सम्भ्रमवद्भिः ।

स्फुरन्मणिकिरीटांशुरचितेन्द्रशरासनम्। क्षणेनोल्लङ्घ्य संप्रापत् तं देशं यत्र चक्रभृत् ॥१५८॥
पुरोधाय[1] शरं रत्नपटले सुनिवेशितम्। मागधः प्रभुमानंसी[2]दार्य स्वीकुरु मामिति ॥१५९॥
चक्रोत्पत्तिक्षणे भद्र यन्नायामोऽनभिज्ञकाः[3]। महान्तमपराधं नस्त्वं क्षमस्वार्थितो[4] मुहुः ॥१६०॥
युष्मत्पादरजःस्पर्शाद् वार्धिरेव न केवलम्। पूता वयमपि श्रीमन् त्वत्पादाम्बुजसेवया ॥१६१॥
रत्नान्यमून्यनर्घाणि स्वर्गेऽप्यसुलभानि च। अधो[5] निधीनामाधातुं सोपयोगानि सन्तु ते ॥१६२॥
हारोऽयमतिरोचिष्णुरवाराहै[6]रशुक्तिजैः। अवेणुद्विपसंभूतैः इद्धो मुक्ताफलैर्युतः[7] ॥१६३॥
तव वक्षःस्थलाश्लेषा[8]दुपेया[9]दुपहारताम्[10]। स्फुरन्ती[11] कुण्डले चामू कर्णासङ्गात् पवित्रताम् ॥१६४॥
इत्यस्मै कुण्डले दिव्ये हारं च वितातार सः। त्रैलोक्यसारसंदोहमिवैकध्यमुपागतम्[12] ॥१६५॥
रत्नैश्चाभ्यर्च्य रत्नेशं मागधः प्रीतमानसः। प्रभोरवाप्तसत्कारः तन्मतात् स्वमगात् पदम् ॥१६६॥
अथ तत्रस्थ एवाब्धिं सान्तर्द्वीपं विलोकयन्। प्रभुर्विसिस्मिये[13] किंचिद् बह्वाश्चर्यो हि वारिधिः ॥१६७॥
ततः कुतूहलाद् वार्धिं पश्यन्तं धूर्गतः[14] पतिम्। तमित्युवाच दन्तांशुकुसुममञ्जरीः किरन् ॥१६८॥

पृथ्वीवृत्तम्

अयं जलधिरुच्चलत्तरलवीचिबाहूद्धतस्फुरन्मणिगणार्चनो ध्वनदसङ्ख्यशङ्खाकुलः।
तवार्घमिव संविधित्सुरनुवेलमुच्चैर्नदन् मरुद्धुतजलाननो दिशतु शश्वदानन्दथुम्[15] ॥१६९॥

जा रहे थे ॥१५७॥ देदीप्यमान मणियोसे जड़े हुए मुकुटकी किरणोंसे जिसमें इन्द्रधनुष बन रहा है ऐसे आकाशको क्षण-भरमे उल्लंघन कर वह मागध देव जहाँ चक्रवर्ती था उस स्थान-पर जा पहुँचा ॥१५८॥ रत्नके पिटारेमें रखे हुए बाणको सामने रखकर मागध देवने भरतके लिए नमस्कार किया और कहा कि हे आर्य, मुझे स्वीकार कीजिए–अपना ही समझिए ॥१५९॥ हे भद्र, हम अज्ञानी लोग चक्र उत्पन्न होनेके समय ही नहीं आये सो आप हमारे इस भारी अपराधको क्षमा कर दीजिए, हम वार-वार प्रार्थना करते है ॥१६०॥ हे श्रीमन्, आपके चरणोकी धूलिके स्पर्शसे केवल यह समुद्र ही पवित्र नही हुआ है किन्तु आपके चरणकमलोकी सेवा करनेसे हम लोग भी पवित्र हो गये है ॥१६१॥ हे प्रभो, यद्यपि ये रत्न अमूल्य है और स्वर्गमें भी दुर्लभ है तथापि आपकी निधियोके नीचे रखनेके काम आवें ॥१६२॥ यह अतिशय देदीप्यमान तथा सूअर, सीप, बाँस और हाथीमें उत्पन्न न होनेवाले दिव्य मोतियोसे गुथा हुआ हार आपके वक्ष स्थलके आलिंगनसे पूज्यताको प्राप्त हो तथा ये देदीप्यमान–चमकते हुए दोनों कुण्डल आपके कानोंकी संगतिसे पवित्रताको प्राप्त हों ॥१६३–१६४॥ इस प्रकार उस मागध देवने एकरूपताको प्राप्त हुए तीनों लोकोकी सार वस्तुओके समुदायके समान सुशोभित होनेवाला हार और दोनों दिव्य कुण्डल भरतके लिए समर्पित किये ॥१६५॥ तदनन्तर जिसका चित्त अत्यन्त प्रसन्न हो रहा है ऐसे मागध देवने अनेक प्रकारके रत्नोंसे रत्नोके स्वामी भरत चक्रवर्तीकी पूजा की और फिर उनसे आदर-सत्कार पाकर उन्हींकी सम्मतिसे वह अपने स्थानपर चला गया ॥१६६॥

अथानन्तर–वहाँ खडे रहकर ही अन्तर्द्वीपोंसहित समुद्रको देखते हुए महाराज भरत-को कुछ आश्चर्य हुआ सो ठीक ही है क्योकि वह लवणसमुद्र अनेक आश्चर्योसे सहित था ॥१६७॥ तदनन्तर दाँतोंकी किरणेरूपी पुष्पमजरीको विखेरता हुआ सारथि कौतूहल-से समुद्रको देखनेवाले भरतसे इस प्रकार कहने लगा ॥१६८॥ कि, उछलती हुई चचल लहरों

१ अग्रे कृत्वा। २ नमस्करोति स्म। ३ आगता। ४ प्रार्थित। ५ निधि प्रयत्नेन स्थापयितुमधः शिलाकर्तुं सप्रयोजनानि भवन्त्विति भावः। ६ न सूकरजे। ७ इक्षुजे.। ८ संगात्। ९ उपगच्छत्। १० पूज्यताम्। ११ स्फुरती कुण्डले चेमे ल०। १२ एकप्रकारम्। १३ विस्मितवान्। १४ यानमुख गत.। सारथिरित्यर्थ। १५ आनन्दम्।

अमुष्यजलमुत्पतद्गगनमेतदालक्ष्यते शशाङ्ककरकोमलच्छविभिराततं शीकरैः ।
प्रहासमिव दिग्वधूपरिचयाय विश्वग्दधत् तितांसु[1] दिव चात्मन. प्रतिदिशं यशो भागशः ॥१७०॥
क्वचित्स्फुटितशुक्तिमौक्तिकततं सतारं नभो जयत्यलिमलीमसं मकरमीनराशिश्रितम् ।
क्वचित्सलिलमस्य भोगिकुल[2] संकुलं सून्नतं नरेन्द्रकुलमुत्तमस्थितिजिगीषतीवोद्भटम् ॥१७१॥
इतो विशति गाङ्गमम्बु शरदम्बुदाच्छच्छवि स्रुतं हिमवतोऽमुतश्च सुरसं पयः सैन्धवम्[3] ।
तथापि न जलागमेन धृतिरस्य पोपूर्यते ध्रुवं न जलसंग्रहैरिह जलाशयो[4] द्रायति[5] ॥१७२॥

वसन्ततिलकावृत्तम्

व्याप्योदरं चलकुलाचलसंनिकाशाः पुत्रा इवास्य तिमयः पयसा प्रपुष्टाः ।
कल्लोलकाश्च-परिमारहिताः समन्तादन्योन्यघट्टनपराः सममावसन्ति[6] ॥१७३॥

रूपी भुजाओंके द्वारा धारण किये हुए देदीप्यमान मणियोके समूह ही जिसकी पूजाकी सामग्री है, जो शब्द करते हुए असंख्यात शखोसे आकुल है, जो प्रत्येक वेलाके साथ जोरसे शब्द कर रहा है, वायुके द्वारा कम्पित हुआ जल ही जिसके नगाड़े है और जो इन सबसे ऐसा जान पड़ता है मानो आपके लिए अर्घ ही देना चाहता हो ऐसा यह समुद्र सदा आपके लिए आनन्द देवे ॥१६९॥ आकाशकी ओर उछलता हुआ और चन्द्रमाकी किरणोके समान कोमल कान्तिवाले जलके छोटे-छोटे छीटोसे व्याप्त हुआ इस समुद्रका यह जल ऐसा जान पड़ता है मानो दिशारूपी स्त्रियोके साथ परिचय करनेके लिए चारो ओरसे हास्य ही कर रहा हो अथवा अपना यश बाँटकर प्रत्येक दिशामे फैलाना ही चाहता हो ॥१७०॥ खुली हुई सीपोके मोतियोसे व्याप्त हुआ, भ्रमरके समान काला और मकर, मीन, मगर-मच्छ आदि जल-जन्तुओकी राशि–समूहसे भरा हुआ यह समुद्रका जल कही ताराओसहित, भ्रमरके समान श्याम और मकर मीन आदि राशियों से भरे हुए आकाशको जीतता है तो कही राजाओके कुलको जीतना चाहता है क्योकि जिस प्रकार राजाओका कुल भोगी अर्थात् राजाओके समूहसे व्याप्त रहता है उसी प्रकार यह जल भी भोगी अर्थात् सर्पोके समूहसे व्याप्त है, जिस प्रकार राजाओका कुल सून्नत अर्थात् अत्यन्त उत्कृष्ट होता है उसी प्रकार यह जल भी सून्नत अर्थात् अत्यन्त ऊँचा है, जिस प्रकार राजाओका कुल उत्तम स्थिति अर्थात् मर्यादासे सहित होता है उसी प्रकार यह जल भी उत्तम स्थिति अर्थात् अवधि (हद) से सहित है, और राजाओका कुल जिस प्रकार उद्भट अर्थात् उत्कृष्ट योद्धाओसे सहित होता है उसी प्रकार यह जल भी उद्भट अर्थात् प्रबल है ॥१७१॥ इधर हिमवान् पर्वत-से निकला हुआ तथा शरदऋतुके बादलोके समान स्वच्छ कान्तिको धारण करनेवाला गंगा नदीका जल प्रवेश कर रहा है और उस ओर सिन्धु नदीका मीठा जल प्रवेश कर रहा है, फिर भी जलके आनेसे इसका सन्तोष पूरा नही होता है, सो ठीक ही है क्योकि जलाशय (जिसके बीचमे जल है, पक्षमे जड़ आशयवाला-मूर्ख) जल (पक्षमे जड-मूर्ख) के संग्रहसे कभी भी सन्तुष्ट नही होता है । भावार्थ – जिस प्रकार जलाशय-जडाशय अर्थात् मूर्ख मनुष्य जलसंग्रह-जड़संग्रह अर्थात् मूर्ख मनुष्योके सग्रहसे सन्तुष्ट नही होता उसी प्रकार जलाशय अर्थात् जलसे भरा हुआ समुद्र या तालाब जल सग्रह अर्थात् पानीके सग्रह करनेसे सन्तुष्ट नही होता ॥१७२॥ इस समुद्र-के उदर अर्थात् मध्यभाग अथवा पेटमे व्याप्त होकर पय अर्थात् जल अथवा दूधसे अत्यन्त पुष्ट हुए तथा चलते हुए कुलाचलोके समान बडे-बडे इसके पुत्रोके समान मगरमच्छ और प्रमाणरहित

---

१ विस्तारितुमिच्छत् । २ सर्पसमूह पक्षे भोगिसमूह । ३ सिन्धुनदीसंबन्धि । ४ जलाधार जडबुद्धिश्च । ५ द्रायति तृप्यति । द्रै तृप्तौ । – ६ माविशन्ति ल०, द० ।

आपो धनं धृतरसाः सरितोऽस्य दाराः पुत्रायिता[1] जलचराः सिकताश्च रत्नम् ।
इत्थं विभूति[2]लवदुर्ललितो विचित्रं धत्ते महोदधिरिति प्रथि[3]मानमेषः ॥१७४॥
निःश्वासधूमसलिनाः फणमण्डलान्तः[4]सुव्य[5]क्तरत्नरुचयः परितो भ्रमन्तः ।
व्यायच्छमानतनवो[6] रुषितै[7]रकस्मादत्रोल्मुकश्रि[8]यममी दधते फणीन्द्राः ॥१७५॥
[9]पादैरयं जलनिधिः शिशिरैरपीन्दोरास्पृश्यमानसलिलः सहसा समुद्यन् ।
रोषादिवोच्चलति[10] मुक्तगभीरनादो वेलाच्छलेन[11] न महान् सहतेऽभिभूतिम्[12] ॥१७६॥
नाकौकसां धृतरसं[13] सहकामिनीभिराक्रीडनानि[14] [15]सुमनोहरकाननानि ।
द्वीपस्थलानि रुचिराणि सहस्रशोऽस्मिन् सन्त्यन्तरीपमिव[16] दुर्गनिवेशनानि[17] ॥१७७॥

अनेक लहरे ये सव चारों ओरसे एक दूसरेको धक्का देते हुए एक ही साथ इस समुद्रमे निवास कर रहे है ॥१७३॥ हे प्रभो, इस समुद्रके जल ही धन है, रस अर्थात् जल अथवा शृंगार या स्नेहको धारण करनेवाली नदियाँ ही इसकी स्त्रियाँ है, मगरमच्छ आदि जलचर जीव ही इसके पुत्र है और वालू ही इसके रत्न है इस प्रकार यह थोड़ी-सी विभूतिको धारण करता है तथापि महोदधि इस भारी प्रसिद्धिको धारण करता है यह आश्चर्यकी वात है। भावार्थ – इस श्लोकमे कविने समुद्रकी दरिद्र अवस्थाका चित्रण कर उसके महोदधि नामपर आश्चर्य प्रकट किया है। दरिद्र अवस्थाका चित्रण इस प्रकार है। हे प्रभो, इस समुद्रके पास आजीविकाके योग्य कुछ भी धन नही है। केवल जल ही इसका धन है अर्थात् दूसरोको पानी पिला पिला-कर ही अपना निर्वाह करता है, इसकी नदीरूप स्त्रियोका भी बुरा हाल है वे वेचारी रस-जल धारण करके अर्थात् दूसरेका पानी भर-भरकर ही अपनी आजीविका चलाती है। पुत्र है परन्तु वे सब जलचर अर्थात् (जडचर) मूर्ख मनुष्योके नौकर है अथवा मूर्ख होनेसे नौकर है अथवा पानीमे रहकर शेवाल वीनना आदि तुच्छ कार्य करते है, इसके सिवाय कुलपरम्परासे आयी हुई सोना-चाँदी रत्न आदिकी सम्पत्ति भी इसके पास कुछ नही है – वालू ही इसके रत्न है, यद्यपि इसमे अनेक रत्न पैदा होते है परन्तु वे इसके निजके नही है उन्हे दूसरे लोग ले जाते है इसलिए दूसरेके ही समझना चाहिए इस प्रकार यह विलकुल ही दरिद्र है फिर भी महोदधि (महा + उ + दधि*) अर्थात् लक्ष्मीका वडा भारी निवासस्थान इस नामको धारण करता है यह आश्चर्यकी वात है। आश्चर्यका परिहार ऊपर लिखा जा चुका है ॥१७४॥ जो निश्वासके साथ निकलते हुए धूमसे मलिन हो रहे है, जिनके फणाओके मध्यभागमें रत्नोंकी कान्ति स्पष्ट रूपसे प्रकट हो रही है, जो चारों ओर गोलाकार घूम रहे हैं, जिनके शरीर बहुत लम्बे है, और जो अकस्मात् ही क्रोध करने लगते है ऐसे ये सर्प इस समुद्रमे अलातचक्रकी शोभा धारण कर रहे है ॥१७५॥ इस समुद्रका जल चन्द्रमाके शीतल पादो अर्थात् पैरोसे (किरणोसे) स्पर्श किया जा रहा है, इसलिए ही मानो यह क्रोधसे गम्भीर शब्द करता हुआ ज्वारकी लहरोके छलसे वदला चुकानेके लिए अकस्मात् आकाशकी ओर उछलकर दौड़ रहा है सो ठीक ही है क्योकि महापुरुष तिरस्कार नही सह सकते ॥१७६॥ इस समुद्रके जलके

---

१ पुत्रा इव आचरिता । २ विभूतेरैश्वर्यस्य लवो लेशस्तेन दुर्ललितो दुर्गर्व । लवशब्दोऽत्र विचित्र-कारणम् । ३ प्रसिद्धताम् । ४ फणमण्डलमध्ये । ५ सुप्रकट । ६ दीर्घभवच्छरीराः । ७ रोषैः । ८ अलात-शोभाम् । ९ किरणै. चरणैरिति ध्वनि । १० –दिवोच्छ्वलति ल० । ११ जलविकारव्याजेन । 'अब्ध्यम्बुविकृता वेला' इत्यभिधानात् । १२ पराभवम् । १३ क्रियाविशेषणम् । मतिरस द० । प्रतरसा ल० । १४ आसमन्तात् क्रीडनानि येषु तानि । १५ समनोहर इत्यपि क्वचित् पाठ । १६ अन्तर्द्वीपमिव । 'द्वीपोऽस्त्रियामन्तरीप यदन्तर्वारिणस्तटम् ।' इत्यभिधानात् । १७ महाद्वीपमध्यवर्तीनि गिरिदुर्गादिनिवेशनानि च सन्तीत्यर्थ. ।
* 'दधि क्षीरोत्तरावस्थाभापे श्रीवाससर्जयो ' इति मेदिनी ।

मालिनीवृत्तम्

अयमनिभृतवेलैः[1] रुद्धरोधोऽन्तरालैरनिलचलविलोलैर्भूरिकल्लोलजालैः ।
तटवनमभिहन्ति व्यक्तमस्मै[3] प्रकुप्यन् मम किल बहिररमान्नास्ति वृत्तिर्मुधेति[4] ॥१७८॥
अविगणितमहत्त्वा यूयमस्मान् स्वपादैरमिहथ[5] किमलङ्घ्यं वो वृथा तौङ्गचमेतत् ।
वयमिव किमलङ्घयाः किं गभीरा इतीत्थं परिवदति[6] विरावैर्नूनं[7] मब्धि कुलाद्रीन् ॥१७९॥

प्रहर्षिणीवृत्तम्

अत्रायं भुजगशिशुर्विलाभिशङ्की[8] व्यात्तास्यं तिमिममिधावति प्रहृष्टः ।
तं सोऽपि स्वगलविलावलग्नलग्नं[9] स्वान्त्राशया[10] विहितदयो न जेगिलीति[11] ॥१८०॥

दोधकवृत्तम्

एष[12] महामणिरश्मिविकीर्णं तोयममुष्य[13] धनामिषशङ्कः[14] ।
मीनगणोऽनुसरन् सहसास्माद् वह्निभिया पुनरप्यपयाति ॥१८१॥
लोलतरङ्गविलोलितदृष्टिर्वृद्धतरोऽसुमतिः[15] सुमतं[16] नः ।
हीं रथमेष तिमिङ्गिलशङ्की पश्यति पश्य तिमिः[17] स्तिमिताक्षः[18] ॥१८२॥

भुजङ्गप्रयातवृत्तम्

इहामी भुजङ्गाः शनैः फणाग्रै समुत्क्षिप्य भोगान्[19] समुद्वीक्षमाणाः ।
विभाव्यन्त एते तरङ्गोरुदंस्नैर्धृता दीपिकौघा महावार्धिनेव ॥१८३॥

भीतर अपनी देवागनाओके साथ बड़े वेगसे आते हुए देवोके हजारों क्रीड़ा करनेके स्थान है, हजारों मनोहर वन हैं और हजारो सुन्दर द्वीप है तथा वे सब ऐसे जान पडते हैं मानो इसके भीतर बने हुए किले ही हो ॥१७७॥ ज्वार-भाटाओसे चचल हुआ यह समुद्र इस वनके बाहर मेरा जाना नही हो सकता हे इसलिए इसपर प्रकट क्रोध करता हुआ अपने किनारेके वनको वायुके वेगसे अतिगय चंचल और पृथिवी तथा आकाशके मध्य भागको रोकनेवाली अनेक लहरोके समूहसे व्यर्थ ही ताडन कर रहा है ॥१७८॥ हे प्रभो, यह गरजता हुआ समुद्र ऐसा जान पड़ता है मानो अपने ऊँचे शब्दोसे कुल पर्वतोको यही कह रहा है कि हे कुलपर्वतो, तुम्हारी ऊँचाई वहुत है इसलिए क्या तुम अपने पैरो अर्थात् अन्तके भागोसे हम लोगोकी ताड़ना कर रहे हो ? तुम्हारी यह व्यर्थकी ऊँचाई क्या उल्लंघन करनेके अयोग्य है ? क्या तुम हमारे समान अलंघ्य अथवा गम्भीर हो ? ॥१७९॥ इधर यह साँपका वच्चा अपना विल समझकर प्रसन्न होता हुआ, मुख फाड़े हुए मच्छके मुखमे दौडा जा रहा है और वह भी अपने गले रूप विलमें लगे हुए इस साँपके वच्चेको अपनी आँत समझ दयाके कारण नही निगल रहा है ॥१८०॥ इधर यह मछलियोका समूह पद्मराग मणिकी किरणोसे व्याप्त हुए इस समुद्रके जलको मास समझकर उसे लेनेके लिए दौड़ता है और फिर अकस्मात् ही अग्नि समझकर वहाँसे लौट आता है ॥१८१॥ हे देव, इधर देखिए, चचल लहरोसे जिसकी दृष्टि चचल हो रही है और जो वहुत ही वूढा है ऐसा यह मच्छ इस रथको मछलियोको खानेवाला वड़ा मच्छ समझकर निश्चल दृष्टिसे देख रहा है, हमारा खयाल है कि यह वडा दुर्बुद्धि है ॥१८२॥ इधर

---

१ अस्थिर। अचलमित्यर्थः। २ आकाशमण्डलैः 'भूम्याकाशरह प्रयोगानयेपु रोधस्' । ३ तटवनाय। ४ वृथा। ५ अभिताडयथ। ६ पक्षिध्वनिभि.। ७ इव। ८ विवृताननम्। ९ मध्य। मध्यम चावलग्न च तुद्योऽस्त्री' इत्यमर। १० निजपुरीतद्विद्याकृतकृतय (?) [निजपुरीतद्विभ्रमकृतदय]। ११ भृश गिलति। १२ पद्मराग। १३ समुद्रस्य। १४ पलल। १५ अशोभनवुद्धिः। १६ साधुज्ञातम्। १७ मत्स्यः। १८ 'स्तिमिता वार्द्रनिश्चलामित्यभिधानात्। १९ शरीराणि। 'भोग सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययो'।

भुजङ्गप्रयातैरिदं वारिराशेर्जलं लक्ष्यतेऽन्तःस्फुरद्रत्नकोटि ।
महानीलवेश्मेव दीपैरनेकैर्ज्वलद्भिश्चलद्भिस्ततध्वान्तनुद्भिः[1] ॥१८४॥

मत्तमयूरवृत्तम्

वाताघातात् [2]पुष्करवाद्यध्वनिमुच्चैस्तन्वानेऽब्धौ मन्द्रगभीरं कृतलास्याः ।
द्वीपोपान्ते सन्ततमस्मिन् सुरकन्या रंरम्यन्ते मत्तमयूरैः सममेताः[3] ॥१८५॥
नीलं श्यामाः कृतरवमुच्चैर्धृतनादा[4] विद्युद्वन्तः[5] स्फुरितभुजङ्गोत्फणरत्नम् ।
आश्लिष्यन्तो जलदसमूहा जलमस्य व्यक्तिं[6] नोपव्रजितुमलं[7] ते[8] घनकाले ॥१८६॥
पश्याम्भोधेरनुतटमेनां वनराजीं राजीवास्य[9] प्रशमिततापां विततापाम्[10] ।
वेलोत्सर्पज्जलकणिकाभिः[11] परिधौतां नीलां शाटीमिव[12] सुमनोभिः प्रविकीर्णाम् ॥१८७॥

तोटकवृत्तम्

परितः[13] सरसीः सरसैः कमलैः सुहिताः[14] सुचिरं विचरन्ति मृगाः ।
[15]उपतीरममुष्य निसर्गसुखां वसतिं[16] निरुपद्रुतिमेत्य वने ॥१८८॥
अनुतीरवनं[17] मृगयूथमिदं कनकस्थलमुज्ज्वलितं रुचिभिः ।
परिवीक्ष्य दवानलशङ्कि भृशं[18] परिधावति धावति तीरभुवः ॥१८९॥

रत्नसहित फणाके अग्रभागसे अपने मस्तकको ऊँचा उठाकर आकाशकी ओर देखते हुए ये सर्प ऐसे जान पड़ते हैं मानो इस महासमुद्रने अपने तरंगोरूपी बड़े-बड़े हाथोंसे दीपकोंके समूह ही धारण कर रखे हों ॥१८३॥ जिसके भीतर करोड़ो रत्न देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसा यह महासमुद्रका जल सर्पोंके इधर-उधर जानेसे ऐसा दिखाई देता है मानो फैले हुए अन्धकारको नष्ट करते हुए, जलते हुए और चलते हुए अनेक दीपकोसे सहित महानील मणियोंका बना हुआ घर ही हो ॥१८४॥ जिस समय यह समुद्र वायुके आघातसे पुष्कर (एक प्रकारका बाजा)के समान गम्भीर और ऊँचे शब्द करता है उस समय इस द्वीपके किनारेपर इन उन्मत्त मयूरोंके साथ साथ नृत्य करती हुई ये देवकन्याएँ निरन्तर क्रीड़ा किया करती हैं ॥ १८५ ॥ वर्षाऋतुमें बादलोंके समूह और इस समुद्रका जल दोनों एक समान रहते हैं क्योंकि वर्षाऋतुमें बादलोंके समूह काले रहते हैं और समुद्रका जल भी काला रहता है, बादलोंके समूह जोरसे गरजते हुए आनन्दित होते हैं और समुद्रका जल भी जोरसे शब्द करता हुआ आनन्दित होता है – लहराता रहता है, बादलोंके समूहमें बिजली चमकती है और समुद्रके जलमें भी सर्पोंके ऊँचे उठे हुए फणाओंपर रत्न चमकते रहते हैं, इस प्रकार बादलोंके समूह अपने समान इस समुद्रके जलका आलिंगन करते हुए वर्षाऋतुमें किसी दूसरी जगह नहीं जा सकते यह स्पष्ट है ॥ १८६ ॥ कमलके समान सुन्दर मुखको धारण करनेवाले हे देव, समुद्रके किनारे-किनारेकी इन वनपंक्तियोंको देखिए जिनमें कि सूर्यका सन्ताप बिलकुल ही शान्त हो गया है, जहाँ-तहाँ विस्तृत जल भरा हुआ है, जो फूलोंसे व्याप्त हो रही है और जो बड़ी-बड़ी लहरोंके उछलते हुए जलकी बूँदोंसे धोई हुई नीले रंगकी साड़ियोंके समान जान पड़ती है ॥१८७॥ इस समुद्रके किनारेके वनमें उपद्रवरहित तथा स्वभावसे ही सुख देनेवाले स्थानपर आकर सरस कलमी धानोंको खाते हुए ये हरिण बहुत काल तक इन तालाबोंके चारों ओर घूमा करते हैं ॥१८८॥ इस किनारेके वनमें कान्ति

---

१ व्याप्तान्धकारनाशकैः । २ जलमिति वाद्य अथवा चर्मानद्धवाद्यभेद । ३ सममेतैः. ल०, द० । ४ धृतमोदा ल० । ५ तडिद्वन्त । ६ व्यक्त ल० । ७ गन्तुम् । ८ मेघसमूहा । ९ कमलास्य । १० विस्तृतजलाम् । ११ जललवैः । 'कणिका कथ्यतेऽत्यन्ता सूक्ष्मवस्त्वग्निमन्थयो.' ॥ १२ वस्त्रम् । १३ सरसीना समन्तत । १४ पोषिता । १५ तटे । १६ निरुपद्रवाम । १७ तटवने । १८ परिमण्डले (वेलायाम्)

प्रहर्षिणी

लावण्यादयमभिसारयन्[1] सरित्स्त्रीरास्रस्तप्रतनु[2] जलांशुकास्तरङ्गैः ।
आश्लिष्यन्मुहुरपि नोपयाति तृप्तिं संभोगैरतिरसिको न तृप्यतीह ॥१९०॥

वसन्ततिलका

रो[3]धोभुवोऽस्य तनुशीकरवारिसिक्ता संमार्जिता विरलमुच्चलितैस्तरङ्गैः ।
भान्तीह संततलताविगलत्प्रसूननित्योपहारसुभगा द्युसदां[4] निषेव्याः ॥१९१॥

मन्दाक्रान्ता

स्वर्गोद्यानश्रियमिव[5] हसत्युत्प्रसूने वनेऽस्मिन् मन्दाराणां सरति[6] पवने मन्दमन्दं वनान्तात् ।
मन्दाक्रान्ताः[7] सललितपदं किंचिदारब्धगानाश्चङ्क्रम्यन्ते खगयुवतयस्तीरदेशेष्वमुष्य ॥१९२॥

प्रहर्षिणी

अप्सव्य[8] स्तिमिरयमाजिघांसुरारादभ्येति द्रुतमभिभावु[9]कोऽम्सुयोनिम्[10][11] ।
शैलोच्चानपि निगिरंस्तिमीनितोऽन्यो व्यत्यास्ते[12] सममनुना युयुत्समानः ॥१९३॥

पृथ्वी

जलादजगरस्तिमिं शयुमपि[13] स्थलादप्सुजो[14] विकर्षति[15] युयुत्सया[16] कृतदृढग्रहो[17] दुर्ग्रहः[18] ।
तथापि न जयो मिथोऽस्ति समकक्ष्ययोरेनयोर्ध्रुवं न [19]समकक्ष्ययोरिह जयेतरप्रक्रमः[20] ॥१९४॥

से प्रकाशमान सुवर्णमय स्थानोको देखकर जिसे दावानलकी शका हो रही है ऐसा यह हरिणोका समूह बहुत शीघ्र किनारेकी पृथ्वीकी ओर लौटता हुआ दौड़ा जा रहा है ॥ १८९ ॥ यह समुद्र, जिनके जलरूपी सूक्ष्म वस्त्र कुछ-कुछ नीचेकी ओर खिसक गये है ऐसी नदीरूपी स्त्रियोको लावण्य अर्थात् सुन्दरताके कारण (पक्षमें खारापनके कारण) अपनी ओर बुलाता हुआ तथा तरंगोके द्वारा बार-बार उनका आलिगन करता हुआ भी कभी तृप्तिको प्राप्त नही होता सो ठीक ही है क्योंकि जो अत्यन्त रसिक अर्थात् कामी (पक्षमे जलसहित) होता है वह इस संसारमे अनेक वार सम्भोग करनेपर भी तृप्त नही होता है ॥१९०॥ जो छोटी-छोटी बूँदोके पानीके सींचनेसे स्वच्छ हो गयी है, निरन्तर लताओंसे गिरते हुए फूलोंके उपहारसे जो सदा सुन्दर जान पडती है, और जो देवोके द्वारा सेवन करने योग्य है ऐसी ये यहाँकी किनारेकी भूमियाँ विरल-विरल रूपसे उछलती हुई लहरोसे अत्यन्त सुशोभित हो रही है ॥ १९१ ॥ स्वर्गके उपवनकी शोभाकी ओर हँसनेवाले तथा फूलोसे भरे हुए इस वनमे मन्दार वृक्षोके वनके मध्य भागसे यह वायु धीरे-धीरे चल रहा है और इसी समय जिन्होने कुछ-कुछ गाना प्रारम्भ किया है ऐसी ये धीरे-धीरे चलनेवाली विद्याधरियाँ इस समुद्रके किनारेके प्रदेशोंपर लीलापूर्वक पैर रखती उठाती हुई टहल रही है ॥ १९२ ॥ इधर, इस जलमें उत्पन्न हुए अन्य अनेक मच्छोको तिरस्कार कर उनके मारनेकी इच्छा करता हुआ यह इसी जलमें उत्पन्न हुआ वडा मच्छ वहुत शीघ्र दूरसे उनके सन्मुख आ रहा है और पर्वतके समान बडे-वडे मच्छोको निगलता हुआ यह दूसरा बडा मच्छ उस पहले वडे मच्छके साथ युद्ध करनेकी इच्छा करता हुआ खडा है॥१९३॥ इधर, यह अजगर जलमे-से किसी वड़े मच्छको अपनी ओर खीच रहा है और मजवूतीसे पकड़ने-

---

१ अभिसारिकाः कुर्वन् । २ श्लक्ष्ण । ३ तटभूमयः । ४ देवानाम् । ५ हसतीति हसत् तस्मिन् । ६ सरतीति सरत् तस्मिन् । ७ मन्दगमना । ८ अप्सु भवः । ९ आहन्तुमिच्छुः । १० अभिभवशीलः । ११ शङ्ख जलचर वा । १२ वैपरीत्येन स्थितः । १३ अजगरम् । १४ मत्स्य । १५ आकर्षति । १६ योद्धुमिच्छया । १७ परस्परविहितदृढग्रहणम् । ग्रह स्वीकारः । १८ गृहीतुमशक्यः । १९ समबलयोः । २० अपजय ।

वनं[1] वनगजैरिदं जलनिधेः समाहतालितं वनं वनगजैरिव स्फुटविमुक्तसंराविणम्।
मृदङ्गपरिवादनश्रियमुपादधत्तिकटे तनोति तटमुच्चलत्सपदि दिक्षु संमार्जनम्॥१९५॥
तरत्तिमिकलेवरं स्फुटितशुक्तिशल्का[2]चितं स्फुरत्परुषनिःस्वनं विवृतरन्ध्रपातालकम्।
भयानकमितो जलं जलनिधेर्ल[3]सत्पन्नगप्रमुक्ततनु[4]कृत्तिसंशयितवीचिमालाकुलम्॥१९६॥
इतो धुतवनोऽनिलः शिशिरशीकरानाकिरन्नुपैति शनकैस्तटद्रुमसुगन्धिपुष्पाहरः[5]।
इतश्च परुषोऽनिलः स्फुरति धूतकल्लोलसात्कृतस्वनभयानकस्तिमिकलेवरानाधुनन्॥१९७॥

शार्दूलविक्रीडितम्

अस्योपान्तभुवश्चकासति तरां वेलोच्चलन्मौक्तिकैराकीर्णाः कुसुमोपहारजनितां लक्ष्मीं दधाना भृशम्।
सेवन्ते सह सुन्दरीभिरमरा याः स्वर्गलोकान्तरं मन्वाना[6] धृतसंमदास्तटवनच्छायातरून्संश्रिताः॥१९८॥
एते ते मकरादयो जलचरा मत्वैव कुक्षिम्भरिं[7] वाराशिमनन्तरायमधिकं पुत्रा इवास्योरसाः[8]।
भागस्य[9] प्रतिलिप्सया नु[10] जनकस्याक्रोशतोऽप्यग्रतो युध्यन्ते मिलिताः परस्परमहो बद्धक्रुधो धिग्धनम्॥१९९॥
लोकानन्दिभिरप्रमैः[11] परिगतैरुच्चावचैर्भोगिनां[12] सान्द्रैरधिमस्तकं[13] शुचितमैः संतापविच्छेदिभिः।
पातालैर्विवृताननैर्मुहुरपि प्राप्तव्ययैरक्षयैरासंसारममुष्य नास्ति विरमो[14] गर्जद्भिरेभिरपि॥२००॥

वाला यह दुष्ट मच्छ भी लड़नेकी इच्छासे उसे जमीनपर-से अपनी ओर खींच रहा है तथापि एक समान बल रखनेवाले इन दोनोंमे परस्पर किसीकी जीत नही हो रही है सो ठीक ही है क्योकि इस संसारमे जो समान शक्तिवाले है उनमें परस्पर जय और पराजयका निर्णय नही होता है॥ ॥१९४॥ जंगली हाथियोके द्वारा अतिशय ताडन किया हुआ यह समुद्रका जल, जिसमे जंगली हाथी स्पष्ट रूपसे गर्जना कर रहे है ऐसे किसी वनके समान तथा मृदंग बजनेकी शोभाको धारण करता हुआ और दिशाओंमें उछलता हुआ किनारेको बहुत शीघ्र शुद्ध कर रहा है॥१९५॥ जिसमे अनेक मछलियोके शरीर तैर रहे हैं, जो खुली हुई सीपोंके टुकड़ोंसे व्याप्त है, जिसमे कठोर शब्द हो रहे हैं, जिसने अपने रन्ध्रोमे पातालको भी धारण कर रखा है, और जो तैरते हुए साँपोंसे छूटी हुई काँचलियोसे लोगोको ऐसा सन्देह उत्पन्न करता है मानो लहरोके समूहसे ही व्याप्त हो ऐसा यह समुद्रका जल इधर बहुत भयानक हो रहा है॥ १९६॥ इधर, वनको हिलाता हुआ, शीतल जलकी बूँदोंको बरसाता हुआ और वृक्षोके सुगन्धित फूलोकी सुगन्धिका हरण करता हुआ वायु धीरे-धीरे किनारेकी ओर बह रहा है और इधर बडे-बडे मच्छोके शरीरको कँपाता हुआ तथा हिलती हुई लहरोके शब्दोसे भयंकर यह प्रचण्ड वायु बह रहा है॥ १९७॥ जो बड़ी-बडी लहरोसे उछलते हुए मोतियोमे व्याप्त होकर फूलोके उपहारसे उत्पन्न हुई अतिशय शोभाको धारण करती है, किनारेके वनके छायादार वृक्षोके नीचे बैठे हुए देव लोग हर्षित होकर अपनी-अपनी देवांगनाओके साथ जिनकी सेवा करते है और इसीलिए जो दूसरे स्वर्गलोककी शोभा बढाती है ऐसी ये इस समुद्रके किनारेकी भूमियाँ अत्यन्त सुशोभित हो रही है॥१९८॥ ये मगरमच्छ आदि जलचर जीव, जिसके पास अनन्त धन है ऐसे इस समुद्रको अपने उदरका पालन-पोषण करनेवाला पिता समझकर सगे पुत्रोंके समान उसका धन बाँटकर अपने भाग (हिस्से)को अधिक रूपसे लेनेकी इच्छासे, गर्जनाके शब्दोंके बहाने चिल्लाते हुए पिताके सामने ही इकट्ठे होकर क्रोधित होते हुए परस्परमे लड रहे है, हाय! ऐसे धनको धिक्कार हो॥१९९॥ मुँह खोलकर पडे हुए अनेक पातालो अर्थात् विवरो और

१ जलम्। २ शकल। ३ ललत्पन्नग—ल०, अ०, द०, इ०, प०, स०, ब०,। चलत्सर्पम्। ४ निर्मोक। ५ पुष्पाण्याहर्तुं शील। ६ तन्वाना प०। ७ स्वोदरपूरकम्। 'उभावात्मभरि कुक्षिंभरिः स्वोदरपूरके।' इत्यभिधानात्। ८ उरसि भवा। ९ भाग लब्धुमिच्छया। १० इव। ११ प्रमाणरहितैः। १२ नानाप्रकारैः। १३ मस्तके। १४ वियोगः।

स्रग्धरा

वज्रद्रोण्यामनुष्य क्वथदिव जठरं व्यक्तबुद्बुद्बुदाम्बुस्फूर्जत्पातालरन्ध्रोच्छ्वसदनिलवलाद्विष्वगावर्तमानम्[1] ।
प्रस्तीर्णानेकरत्नान्यपहरति जनेनूनमुत्तप्तमन्तः प्रायो रायां[2] वियोगो जनयति महतोऽप्युग्रमन्तर्विदाहम् ।२०१।

प्रहर्षिणी

आयुष्मन्निति बहुविस्मयोऽयमब्धिः सद्रत्नः सकलजगज्जनोपजीव्यः ।
गम्भीरप्रकृतिरनल्पसत्त्वयोगः प्रायस्त्वामनुहरते[3] विना जडिम्ना[4] ॥२०२॥

वसन्ततिलका

इत्थं नियन्तरि[5] परां श्रियमम्बुराशेरावर्णयत्यनुगतैर्वचनैर्विचित्रैः ।
प्राप प्रमोदमधिकं नचिराच्च[6] सम्राट् सेनानिवेशमभियातुमना बभूव ॥२०३॥

बड़वानलोके द्वारा बार-बार ह्रास होनेपर भी जिनका कभी क्षय नही हो पाता है, जो लोगोंको आनन्द देनेवाले है, प्रमाण-रहित है, अनेक प्रकारके है, सर्पोके फणाओंपर आरूढ है, अत्यन्त पवित्र है, और सन्तापको नष्ट करनेवाले है ऐसे रत्नो तथा जलके समूहोकी अपेक्षा इस समुद्रका जबतक ससार है तबतक कभी भी नाश नही होता। भावार्थ—यद्यपि इस समुद्रके अनेक रत्न इसके विवरों-बिलोमे घुसकर नष्ट हो जाते है और जलके समूह वडवानलमें जलकर कम हो जाते है तथापि इसके रत्न और जलके समूह कभी भी विनाशको प्राप्त नही हो पाते क्योकि जितने नष्ट होते है उससे कही अधिक उत्पन्न हो जाते है ।।२००।। बहुत बड़े पातालरूपी छिद्रोके द्वारा ऊपरकी ओर बढते हुए वायुके जोरसे जो चारो ओर घूम रहा है और जिसमें जलके अनेक बबूले उठ रहे है ऐसा यह समुद्रका उदर अर्थात् मध्यभाग वज्रकी कड़ाहीमे खौलता हुआ-सा जान पडता है अथवा लोग इसके जहाँ-तहाँ फैले हुए अनेक रत्न ले जाते है इसलिए मानो यह भीतर ही भीतर सन्तप्त हो रहा है सो ठीक ही है क्योकि धनका वियोग प्रायः करके बड़े-बड़े पुरुषोके हृदयमें भी भयंकर दाह उत्पन्न कर देता है ।।२०१।। हे आयुष्मन्, जिस प्रकार आप अनेक आश्चर्योसे भरे हुए है उसी प्रकार यह समुद्र भी अनेक आश्चर्योसे भरा हुआ है, जिस प्रकार आपके पास अच्छे-अच्छे रत्न है उसी प्रकार इस समुद्रके पास भी अच्छे-अच्छे रत्न है, जिस प्रकार संसारके समस्त प्राणी आपके उपजीव्य है अर्थात् आपकी सहायतासे ही जीवित रहते है उसी प्रकार इस समुद्रके भी उपजीव्य है अर्थात् समुद्रमे उत्पन्न हुए रत्न मोती तथा जल आदिसे अपनी आजीविका करते है, जिस प्रकार आप गम्भीर प्रकृतिवाले है उसी प्रकार यह समुद्र भी गम्भीर (गहरी) प्रकृतिवाला है और जिस प्रकार आप अनल्पसत्त्व योग अर्थात् अनन्त शक्तिको धारण करनेवाले है उसी प्रकार यह समुद्र भी अनल्पसत्त्व योग अर्थात् बडे-बडे जलचर जीवोसे सहित है अथवा जिस प्रकार आप अनालसत्व योग अर्थात् आलस्यके सम्बन्धसे रहित है उसी प्रकार यह समुद्र भी अनालसत्व योग अर्थात् नाल (नरा) रहित जीवोके सम्बन्धसे सहित है इस प्रकार यह समुद्र ठीक आपका अनुकरण कर रहा है। यदि अन्तर है तो केवल इतना ही है कि यह जलकी ऋद्धिसे सहित है और आप जल अर्थात् मूर्ख (जड) मनुष्योकी ऋद्धिसे सहित है ।।२०२।। इस प्रकार जब सारथिने समुद्रकी उत्कृष्ट शोभाका वर्णन किया तब सम्राट् भरत बहुत ही अधिक आनन्दको प्राप्त हुए तथा शीघ्र ही अपनी छावनीमे जानेके लिए उद्यत हुए ।।२०३।।

---

१ –वर्त्यमानम् द०, प०, ल० । २ धनानाम् । ३ अनुकरोति । ४ जडत्वेन । ५ सारथी । ६ आशु ।

मालिनी

अथ रथपरिवृत्त्यै[1] सारथौ कृच्छ्रकृच्छ्राद् विपमवलन[2] भुग्नग्रीवमश्वान्नुनुत्सौ[3] ।
धुवति मरुति मन्दं वीचिवेगोपशान्ते शिविरमभिनिधीनामीशिता संप्रतस्थे ॥२०४॥
कथमपि रथचक्रं[4] सारयित्वाम्बुरुद्धं[5] प्रवहणकृतकोपान् वाजिनोऽनुप्रसाध्य[6] ।
रथमधि जलमब्धौ चोदयामास सूतो जलधिरपि नृपानु[7] व्रज्ययेवोच्चचाल ॥२०५॥
अयमयमुदमारो[8] वारिराशेर्वरूथं स्थगयति रथवेगादेष भिन्नोर्मिरब्धिः ।
इति किल[9] तटसद्भिस्तर्क्यमाणो रथोऽयं जवनतुरगकृष्टः[10] प्राप पारेसमुद्रम्[11] ॥२०६॥

शिखरिणी

[12]तरङ्गात्यस्तोऽयं [13]समघटितसर्वाङ्गघटनो रथः क्षेमात् प्राप्तो रथचरणहेतिश्च[14] कुशली ।
तुरङ्गा धौताङ्गा जलधिसलिलैरक्षतखुरा महत्पुण्यं जिष्णोरिति किल जजल्पुस्तटजुषः[15] ॥२०७॥
नृपैर्गङ्गाद्वारे प्रणतमणिमौल्यर्पितकरैरधस्तात्तद्वेद्याः सजयजयघोषैरधिकृतैः[16] ।
वहिर्द्वारं[17] सैन्यैर्युगपदसकृद्घोषितजयैर्विभुर्दृष्टः प्रापत् स्वशिबिरबहिस्तोरणभुवम् ॥२०८॥

अथानन्तर–जब सारथिने वड़ी कठिनाईसे रथ लौटानेके लिए विपम रूपसे घूमनेके कारण गलेको कुछ टेढा कर घोडोंको हाँका, मन्द-मन्द वायु वहने लगा और लहरोका वेग शान्त हो गया तब निधियोके स्वामी भरतने छावनीकी ओर प्रस्थान किया ।।२०४।। पानीसे रुके हुए रथके पहियोको किसी तरह वाहर निकालकर और वार-वार हाँकने अथवा वोझ धारण करनेके कारण कुपित हुए घोड़ोंको प्रसन्न कर सारथि समुद्रमे जलके भीतर ही रथ चला रहा था, और वह समुद्र भी उस रथके पीछे-पीछे जानेके लिए ही मानो उछल रहा था ।।२०५।। अरे, यह समुद्रकी बड़ी भारी लहर रथकी छतरीको अवश्य ही ढक लेगी और इधर रथके वेगसे समुद्रकी लहरें भी फट गयी है इस प्रकार किनारेपर खडे हुए लोग जिसके विषयमें अनेक प्रकारके तर्क-वितर्क कर रहे है ऐसा वह वेगशाली घोड़ोसे खीचा हुआ रथ समुद्रके किनारेपर आ पहुँचा ।।२०६।। जिसके समस्त अगोकी रचना एक समान सुन्दर है ऐसा यह रथ लहरों-को उल्लघन करता हुआ कुशलतापूर्वक किनारे तक आ गया है, चक्ररत्नको धारण करनेवाले चक्रवर्ती भरत भी सकुशल आ गये है और समुद्रके जलसे जिनके समस्त अंग धुल गये है तथा जिनके खुर भी नही घिसे है ऐसे घोडे भी राजी-खुशी आ पहुँचे हैं । अहा ! विजयी चक्रवर्तीका वडा भारी पुण्य है, इस प्रकार किनारेपर खडे हुए लोग परस्परमें वार्तालाप कर रहे थे ।।२०७।। जो वेदीके नीचे गंगाद्वारपर नियुक्त किये गये है, जिन्होने नवाये हुए मणिमय मुकुटो-पर अपने-अपने हाथ जोडकर रखे है और जो जय-जय शब्दका उच्चारण कर रहे हैं ऐसे राजा लोग, तथा दरवाजेके बाहर एक साथ वार-वार जयघोप करनेवाले सैनिक लोग जिसे देख

---

१ परिवर्तनाय । २ विपमाकर्पणकुटिलग्रीवं यथा भवति तथा । ३ प्रेरितुमिच्छौ सति । ४ गमयित्वा । ५ प्रेरण । ६ प्रसादं नीत्वा । ७ अनुगमनेन । ८ जलसमूह । ९ तीरस्थै । १० वेगाश्वाकृष्ट । ११ समुद्रस्य पारम् । १२ तरङ्गान् अत्यस्त तरङ्गात्यस्त. इति द्वितीयातत्पुरुप । वररुचिना तथैवोक्तत्वात् । १३ समानं यथा भवति तथा घटित । १४ चक्रायुधः । १५ तटसेविन । तीरस्था इत्यर्थ । १६ अधिकारिभि । १७ द्वारस्य वाह्ये ।

शार्दूलविक्रीडितम्

तत्रोद्घोषितमङ्गलैर्जयजयेत्यानन्दितो वन्दिभिर्गत्वातः शिबिरं नृपालयमहाद्वारं समासादयन्।
[1]अन्तर्वंशिकलोकवारवनितादत्ताक्षताशासनः[2] प्राविक्षन्निजकेतनं निधिपतिर्वातोल्लसत्केतनम् ॥२०९॥

वसन्ततिलका

देवोऽयमक्षततनुर्विजिताब्धिरागात् ते यूयमानयत साक्षतसिद्धशेषाः।
आशीध्वमाध्वमिह[3] संमुखमेत्य तूर्णमित्युत्थितः कलकलः कटके तदाभूत् ॥२१०॥
जीवेति नन्दतु भवानिति वर्धिषीष्ठाः देवेति निर्जयरिपूनिति गां[4] जयेति।
त्वं[5] स्ताच्चिरायुरिति कामितमाप्नुहीति[6] पुण्याशिषां शतमलम्भि तदा स वृद्धैः ॥२११॥
जीयादरीनिह भवानिति निर्जितारिर्देव प्रशाधि[7] वसुधामिति सिद्धरत्नः।
त्वं जीवताच्चिरमिति प्रथमं चिरायुरायोजि मङ्गलधिया पुनरुक्तवाक्यैः ॥२१२॥
देवोऽयमम्बुधिमगाधमलङ्घ्यपारमुल्लङ्घ्य लब्धविजयः पुनरप्युपायात्[8]।
पुण्यैकसारथिरिहेति विनान्तरायैः पुण्ये प्रसेदुषि[9] नृणां किमिवास्त्यलङ्घ्यम् ॥२१३॥

रहे हैं ऐसा वह भरत अपनी छावनीके बाहरवाली तोरणभूमिपर आ पहुँचा ॥२०८॥ वहाँपर जय जय इस प्रकार मंगलशब्द करते हुए वन्दीजन जिन्हे आनन्दित कर रहे है ऐसे वे महाराज भरत छावनीके भीतर जाकर राजभवनके बड़े द्वारपर जा पहुँचे वहाँ परिवारके लोगो तथा वेश्याओने उन्हे मगलाक्षत तथा आशीर्वाद दिये। इस प्रकार निधियोके स्वामी भरतने जिसपर वायुके द्वारा ध्वजाएँ फहरा रही हैं ऐसे अपने तम्बूमे प्रवेश किया ॥२०९॥ जिन्होने शरीरमें कुछ चोट लगे विना ही समुद्रको जीत लिया है ऐसे ये भरत महाराज आ गये हैं, इसलिए तुम मगलाक्षतसहित सिद्ध तथा शेपाक्षत लाओ, तुम आशीर्वाद दो और तुम बहुत शीघ्र सामने जाकर खड़े होओ इस प्रकार उस समय सेनामे बड़ा भारी कोलाहल उठ रहा था ॥२१०॥ हे देव, आप चिरकाल तक जीवित रहे, समृद्धिमान् हो, सदा बढ़ते रहे, आप शत्रुओको जीतिए, पृथिवीको जीतिए, आप चिरायु रहिए और समस्त मनोरथोको प्राप्त कीजिए – आपकी सब इच्छाएँ पूर्ण हो इस प्रकार उस समय वृद्ध मनुष्योने भरत महाराजके लिए सैकड़ो पवित्र आशीर्वाद प्राप्त कराये थे ॥२११॥ यद्यपि भरतेश्वर शत्रुओको पहले ही जीत चुके थे तथापि उस समय उन्हे आशीर्वाद दिया गया था कि देव, आप शत्रुओको जीतिए, यद्यपि उन्होंने चौदह रत्नोको पहले ही प्राप्त कर लिया था तथापि उन्हे आशीर्वाद मिला था कि हे देव! आप पृथिवीका शासन कीजिए, और इसी प्रकार वे पहले ही से चिरायु थे तथापि आशीर्वादमे उनसे कहा गया था कि हे देव, आप चिरकाल तक जीवित रहे – चिरायु हो। इस प्रकार मगल समझकर लोगोने उन्हे पुनरुक्त (कार्य हो चुकनेपर उसी अर्थको सूचित करनेके लिए फिरसे कहे हुए) वचनोसे युक्त किया था ॥२१२॥ एक पुण्य ही जिनका सहायक है ऐसे महाराज भरत अगाध और पाररहित समुद्रको उल्लंघन कर तथा योग्य उपायसे विजय प्राप्त कर विना किसी विघ्न-बाधाके यहाँ वापस आ गये है सो ठीक ही है क्योकि निर्मल पुण्यके रहते

१ कञ्चुकी। 'अन्तर्वंशिका अन्तःपुराधिकारिणः।' 'अन्तःपुरेष्वधिकृतः स्यादन्तर्वंशिको जनः' इत्यभिधानात्। २ आशीर्वचनः। ३ आशिष कुरुध्वम्। ४ भुवम्। ५ भव। ६ याहि। ७ शासु अनुशिष्टौ लोट्। ८ उपागमत्। ९ प्रसन्ने सति।

पुण्यादयं भरतचक्रधरो जिगीषुरुद्वेलमनिलाहतवीचिमालम् ।
प्रोलङ्घ्य वार्धिममरं सहसा विजिग्ये पुण्ये बलीयसि किमस्ति जगत्यजय्यम् ॥२१४॥
पुण्योदयेन मकराकरवारिसीम[1] पृथ्वी स्ववशादकृत[2] चक्रधरः पृथुश्रीः ।
दुर्लङ्घ्यमब्धिमवगाह्य विनोपसर्गैः पुण्यात् परं न खलु साधनमिष्टसिद्धयै ॥२१५॥
चक्रायुधोऽयमरिचक्रभयंकरश्रीराक्रम्य [3]सिन्धुमतिभीषणनक्रचक्रम् ।
चक्रे वशे सुरमवश्यमनन्यवश्यं पुण्यात् परं न हि वशीकरणं जगत्याम् ॥२१६॥
पुण्यं जले स्थलमिवाभ्यवपद्यते[4] नॄन् पुण्यं स्थले जलमिवाशु नियन्ति तापम् ।
पुण्यं जलस्थलभये शरणं तृतीयं पुण्यं कुरुध्वमत एव जना जिनोक्तम् ॥२१७॥
पुण्यं परं शरणमापदि दुर्विलङ्घ्यं पुण्यं दरिद्रति[5] जने धनदायि पुण्यम् ।
पुण्यं सुखार्थिनि जने सुखदायि रत्नं पुण्यं जिनोदितमतः सुजनाश्चिनुध्वम् ॥२१८॥
पुण्यं जिनेन्द्रपरिपूजनसाध्यमाद्यं पुण्यं सुपात्रगतदानसमुत्थमन्यत् ।
पुण्यं व्रतानुचरणादुपवासयोगात् पुण्यार्थिनामिति चतुष्टयमर्जनीयम् ॥२१९॥

हुए मनुष्योको क्या अलंघनीय (प्राप्त न होने योग्य) रह जाता है ? अर्थात् कुछ भी नही ॥२१३॥ सबको जीतनेकी इच्छा करनेवाले भरत चक्रवर्तीने पुण्यके प्रभावसे, जिसमे ज्वार-भाटा उठ रहे है और जिसमें लहरोके समूह वायुसे ताड़ित हो रहे हैं ऐसे समुद्रको उल्लघन कर शीघ्र ही मागध देवको जीत लिया सो ठीक ही है क्योंकि अतिशय बलवान् पुण्यके रहते हुए संसारमें अजय्य अर्थात् जीतनेके अयोग्य क्या रह जाता है ? अर्थात् कुछ भी नही ॥२१४॥ बहुत भारी लक्ष्मीको धारण करनेवाले चक्रवर्ती भरतने पुण्यकर्मके उदयसे ही विना किसी उपद्रवके उल्लंघन करनेके अयोग्य समुद्रको उल्लंघन कर समुद्रका जल ही जिसकी सीमा है ऐसी पृथिवीको अपने अधीन कर लिया, सो ठीक ही है क्योकि इष्ट पदार्थोकी सिद्धिके लिए पुण्यसे बढकर और कोई साधन नही है ॥२१५॥ शत्रुओके समूहके लिए जिनकी सम्पत्ति बहुत ही भयंकर है ऐसे चक्रवर्ती भरतने अत्यन्त भयकर मगर-मच्छोके समूहसे भरे हुए समुद्रको उल्लंघन कर अन्य किसीके वश न होने योग्य मागध देवको निश्चित रूपसे वश कर लिया, सो ठीक ही है क्योकि लोकमे पुण्यसे बढकर और कोई वशीकरण (वश करनेवाला) नही है ॥२१६॥ पुण्य ही मनुष्योको जलमें स्थलके समान हो जाता है, पुण्य ही स्थलमें जलके समान होकर शीघ्र ही समस्त सन्तापको नष्ट कर देता है और पुण्य ही जल तथा स्थल दोनो जगहके भयमें एक तीसरा पदार्थ होकर शरण होता है, इसलिए हे भव्यजनो, तुम लोग जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा कहे हुए पुण्यकर्म करो ॥२१७॥ पुण्य ही आपत्तिके समय किसीके द्वारा उल्लंघन न करनेके योग्य उत्कृष्ट शरण है, पुण्य ही दरिद्र मनुष्योके लिए धन देनेवाला है और पुण्य ही सुखकी इच्छा करनेवाले लोगोके लिए सुख देनेवाला है, इसलिए हे सज्जन पुरुषो ! तुम लोग जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा कहे हुए इस पुण्यरूपी रत्नका संचय करो ॥२१८॥ जिनेन्द्र भगवान्की पूजा करनेसे उत्पन्न होनेवाला पहला पुण्य है, सुपात्रको दान देनेसे उत्पन्न हुआ, दूसरा पुण्य है व्रत पालन करनेसे उत्पन्न हुआ, तीसरा पुण्य है और उपवास करनेसे उत्पन्न हुआ, चौथा पुण्य है इस प्रकार पुण्यकी इच्छा करनेवाले पुरुपोको ऊपर लिखे हुए चार प्रकारके पुण्योका

---

१ सीमा ल०, इ०, द०, अ०, प०, स० । २ स्वाधीनं चकार । ३ समुद्रम् । ४ प्राप्नोति । – मिवाभ्युपपद्यते ल०, द० । ५ दरिद्रयति ।

इत्थं स्वपुण्यपरिपाकजमिष्टलाभं[1] संश्लाघयन्[2] जनतया[3] श्रुतपुण्यघोषः ।
चक्री सभागृहगतो नृपचक्रमध्ये शक्रोपमः पृथुनृपासनमध्यवात्सीत्[4] ॥२२०॥

हरिणी

धुततटवने रक्ताशोकप्रवालपुटोद्भिदि[5] स्पृशति पवने मन्दं तरङ्गविभेदिनि ।
अनुसरसरित्सैन्यैः सार्धं प्रभुः सुखमावसज्जलनिधिजयश्लाघाशीर्भिर्जिनाननुचिन्तयन् ॥२२१॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे
पूर्वार्णवद्वारविजयवर्णनं नामाष्टाविंशं पर्व ॥२८॥

■

संचय करना चाहिए ॥ २१९ ॥ इस प्रकार जिसने लोगोके समूहसे पुण्यकी घोषणा सुनी है ऐसे चक्रवर्ती भरत, अपने पुण्यकर्मके उदयसे प्राप्त हुए इष्ट वस्तुओके लाभकी प्रशसा करते हुए सभाभवनमे पहुँचे और वहाँ राजाओके समूहके मध्यमे इन्द्रके समान वडे भारी राजसिहासनपर आरूढ हुए ॥ २२० ॥ जिस समय किनारेके वनको हिलानेवाला, रक्त अशोक वृक्षकी कोपलोके संपुटको भेदन करनेवाला और लहरोको भिन्न-भिन्न करनेवाला वायु धीरे-धीरे वह रहा था उस समय समुद्रको जीतनेकी प्रशसा और आशीर्वादके साथ-साथ जिनेन्द्र भगवान्का स्मरण करते हुए भरतने गगा नदीके किनारे-किनारे ठहरी हुई सेनाके साथ सुखसे निवास किया था ॥२२१॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसग्रहके
भाषानुवादमे पूर्वसमुद्रके द्वारको विजय करनेका वर्णन
करनेवाला अट्ठाईसवाँ पर्व समाप्त हुआ ।

■

१ उदयजम् । २ स श्लाघयन् ल० । ३ जनसमूहेन । ४ अधिवसति स्म । ५ पल्लवपुटोद्भेदिनि ।

एकोनत्रिंशत्तमं पर्व

अथ चक्रधरो जैनीं कृत्वेज्यामिष्टसाधनीम् । प्रतस्थे दक्षिणामाशां जिगीषुरनुतोयधि ॥१॥
[1]यतोऽस्य [2]पटुढक्कानां ध्वनिरामन्द्रमुच्चरन् । मूर्छितः[3] काहलारावैरब्धिध्वानं तिरोदधे[4] ॥२॥
प्रयाणभेरीनिःस्वानः सम्मूर्छन्[5] गजबृंहितैः । दिङ्मुखान्यनयत् क्षोभं हृदयानि च विद्विषाम् ॥३॥
विबभुः पवनोद्धूता जिगीषोर्जयकेतनाः । वारिधेरिव [6]कल्लोलानुद्वेलानाजुहूषवः[7] ॥४॥
एकतो लवणाम्भोधिरन्यतोऽप्युपसागरः । तन्मध्ये [8]यान्बलौघोऽस्य तृतीयोऽब्धिरिवाबभौ ॥५॥
हस्त्यश्वरथपादातं देवाश्च सनभश्चराः । षडङ्गं बलमस्येति पप्रथे व्याप्य रोदसी[9] ॥६॥
पुरः प्रतस्थे दण्डेन[10] चक्रेण तदनन्तरम् । ताभ्यां विशोधिते मार्गे तद्बलं प्रययौ सुखम् ॥७॥
तच्चक्रमरिचक्रस्य केवलं क्रकचायितम्[11] । दण्डोऽपि दण्डपक्षस्य कालदण्ड[12] इवापरः ॥८॥
प्रययौ निकषाम्भोधिं[13] समया तटवेदिकाम्[14] । अनुवेलावनं सम्राट् सैन्यैः संश्रावयन्[15] दिशः ॥९॥
अनुवार्धितटं [16]कर्षन्नलङ्घ्यां स्वामनीकिनीम् । आज्ञालतां नृपाद्रीणां मूर्ध्नि रोपयति स्म सः ॥१०॥
चलिते चलितं पूर्वं निर्याते निःसृतं पुरः । प्रयाते यातमेवास्मिन्[17] सेनानीभिरिवारिभिः ॥११॥

अथानन्तर – चक्रवर्ती भरत समस्त इष्ट वस्तुओंको सिद्ध करनेवाली जिनेन्द्रदेवकी पूजा कर दक्षिण दिशाको जीतनेकी इच्छा करते हुए समुद्रके किनारे-किनारे चले ॥ १ ॥ जिस समय चक्रवर्ती जा रहे थे उस समय तुरहीके शब्दोंसे मिली हुई पटरूपी नगाड़ोंकी गम्भीर ध्वनि समुद्रकी गर्जनाको भी ढक रही थी ॥२॥ हाथियोंकी चिंघाड़ोंसे मिले हुए प्रस्थानके समय बजनेवाले नगाड़ोंके शब्द समस्त दिशाओं तथा शत्रुओंके हृदयोंको क्षोभ प्राप्त करा रहे थे ॥ ३ ॥ जीतनेकी इच्छा करनेवाले चक्रवर्तीकी वायुसे उड़ती हुई विजय-पताकाएँ ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो ज्वारसे उठी हुई समुद्रकी लहरोंको ही बुला रही हों ॥ ४ ॥ उस सेनाके एक ओर (दक्षिणकी ओर) तो लवण समुद्र था और दूसरी (उत्तरकी) ओर उपसागर था उन दोनोंके बीच जाता हुआ वह सेनाका समूह ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो तीसरा समुद्र ही हो ॥५॥ हाथी, घोड़े, रथ, पियादे, देव और विद्याधर यह छह प्रकारकी चक्रवर्तीकी सेना आकाश और पृथिवीके अन्तरालको व्याप्त कर सब ओर फैल गयी थी ॥ ६ ॥ सेनामें सबसे आगे दण्डरत्न और उसके पीछे चक्ररत्न चलता था तथा इन दोनोंके द्वारा साफ किये हुए मार्गमें सुखपूर्वक चक्रवर्तीकी सेना चलती थी ॥ ७ ॥ चक्रवर्तीका वह एक चक्र ही शत्रुओंके समूहको नष्ट करनेके लिए करोतके समान था तथा दण्ड ही दण्ड देने योग्य शत्रुओंके लिए दूसरे यमदण्डके समान था ॥ ८ ॥ सम्राट् भरत समुद्रके समीप-समीप किनारेकी वेदीके पास-पास किनारेके अनुसार अपनी सेनाके द्वारा दिशाओंको गुँजाते हुए – सचेत करते हुए चले ॥ ९ ॥ अपनी अलघनीय सेनाको समुद्रके किनारे-किनारे चलाते हुए चक्रवर्ती भरत अपनी आज्ञा-रूपी लताको राजारूपी पर्वतोंके मस्तकपर चढ़ाते जाते थे ॥ १० ॥ महाराज भरतके शत्रु उनके सेनापतियोंके समान थे, क्योंकि जिस प्रकार महाराजके चलनेकी इच्छा होते ही सेनापति

---

१ गच्छतः । २ पटु प०, इ०, द० । ३ मिश्रितः । ४ आच्छादयति स्म । ५ मिश्रीभवन् । ६ उज्जृम्भितान् । ७ स्पर्द्धां कर्तुमिच्छवः । ८ गच्छन् । ९ द्यावापृथिव्यौ । 'भूद्यावौ रोदस्यौ रोदसी च ते' इत्यमरः । १० दण्डरत्नेन । ११ करपत्रमिवाचरितम् । १२ यमस्य दण्डः । १३ अम्भोधेः समीपम् । 'निकषा त्वन्तिके मध्ये' । १४ तटवेदिकायाः समीपे । १५ सावयन् । १६ प्रापयन् । १७ भरते ।

निष्क्रान्त इति संभ्रान्तैरायात इति भीवशैः । प्राप्त[1] इत्यनवस्थैश्च[2] प्रणेमे सोऽरिभूमिपैः ॥१२॥
[3]महापगारयस्येव तरुरस्य बलीयसः । यो यः [4]प्रतीपमभवत् स स निर्मूलतां ययौ ॥१३॥
[5]प्रतीपवृत्तिमादर्शे छायात्मानं[6] च नात्मनः । विक्रमैकरसश्चक्री सोऽसोढ[7] किमुत द्विषम् ॥१४॥
चमूरवश्रवादेव[8] कैश्चिदस्य विरोधिभिः । [9]चमूरुवृत्तमारब्धमतिदूरं पलायितैः[10] ॥१५॥
[11]महाभोगैर्नृपैः कैश्चिद् भयादुत्सृष्टमण्डलैः[12] । भुजङ्गैरिव निर्मोकस्तत्यजेऽपि परिच्छदः[13] ॥१६॥
प्रदुष्टान् भोगिनः[14] काश्चित् प्रभुरुद्धृत्य मन्त्रतः[15] । वल्मीकेष्विव दुर्गेषु [16]कुल्यानन्यानतिष्ठिपत्[17] ॥१७॥

पहले ही चलनेके लिए तैयार हो जाते है उसी प्रकार उनके शत्रु भी महाराजको चलनेके लिए तत्पर सुनकर स्वय चलनेके लिए तत्पर हो जाते थे अर्थात् स्थान छोड़कर भागनेकी तैयारी करने लगते थे अथवा भरतकी ही शरणमें आनेके लिए उद्यत हो जाते थे, जिस प्रकार महाराजके नगरसे बाहर निकलते ही सेनापति उनसे पहले बाहर निकल आते है उसी प्रकार उनके शत्रु भी महाराजको नगरसे बाहर निकला हुआ सुनकर स्वयं अपने नगरसे बाहर निकल आते थे अर्थात् नगर छोडकर बाहर जानेके लिए तैयार हो जाते थे अथवा भरतसे मिलनेके लिए अपने नगरोसे बाहर निकल आते थे और जिस प्रकार महाराजके प्रस्थान करते ही सेनापति उनसे पहले प्रस्थान कर देते है उसी प्रकार उनके शत्रु भी महाराजका प्रस्थान सुनकर उनसे पहले ही प्रस्थान कर देते थे अर्थात् अन्यत्र भाग जाते थे अथवा चक्रवर्तीसे मिलनेके लिए आगे बढ आते थे ॥११॥ चक्रवर्ती भरत नगरसे बाहर निकला यह सुनकर जो व्याकुल हो जाते थे, चक्रवर्ती आया यह सुनकर जो भयभीत हो जाते थे और वह समीप आया यह सुनकर जो अस्थिरचित्त हो जाते थे ऐसे शत्रु राजा लोग उन्हे जगह-जगह प्रणाम करते ॥१२॥ जिस प्रकार किसी महानदीके बलवान् वेगके विरुद्ध खडा हुआ वृक्ष निर्मूल हो जाता है—जडसहित उखड़ जाता है उसी प्रकार जो राजा उस बलवान् चक्रवर्तीके विरुद्ध खड़ा होता था—उसके सामने विनयभाव धारण नही करता था वह निर्मूल हो जाता था—वशसहित नष्ट हो जाता था ॥१३॥ एक पराक्रम ही जिसे प्रिय है ऐसा वह भरत जब कि दर्पणमे उलटे पडे हुए अपने प्रतिविम्बको भी सहन नही करता था तब शत्रुओको किस प्रकार सहन करता ? ॥१४॥ कितने ही विरोधी राजाओने तो उनकी सेनाका शब्द सुनते ही बहुत दूर भागकर हरिणकी वृत्ति प्रारम्भ की थी ॥१५॥ और कितने ही वैभवशाली बड़े-बड़े राजाओने भयसे अपने-अपने देश छोडकर छत्र चमर आदि राज्य-चिह्नोको उस प्रकार छोड़ दिया था जिस प्रकार कि बडे-बडे फणाओको धारण करनेवाले सर्प अपने वलयाकार आसनको छोडकर काँचली छोड देते है ॥१६॥ जिस प्रकार दुष्ट सर्पोको मन्त्रके जोरसे उठाकर वामीमें डाल देते है उसी प्रकार भरतने अन्य कितने ही भोगी-विलासी दुष्ट राजाओको मन्त्र (मन्त्रियोके साथ की हुई सलाह) के जोरसे उखाड़कर किलोमे डाल दिया था, उनके स्थानपर अन्य कुलीन राजाओको बैठाया

---

१ समीपं प्राप्त.। २ अवस्थामतिक्रान्तै । त्यक्तपूर्वस्वभावैरित्यर्थ । ३ महानदीवेगस्य। ४ प्रतिकूलम्। ५ प्रतिकूलवृत्तिम्। ६ छायास्वरूपम्। 'आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म च' इत्यमर । ७ सहति स्म। ८ सेनाध्वनिसमाकर्णनात्। ९ कम्भोजादिदेशजकृष्णविशेषवर्तनम्। 'कदली कन्दली चीनश्चमूरुप्रियकावपि। समूरुश्चेति हरिणा अमी अजिनयोनय।' इत्यभिधानात्। १० पलायिभि· ल०, प०, द०,। ११ पक्षे महाकायै। 'भोग सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययो' इत्यभिधानात्। १२ त्यक्तभूभागै। पक्षे त्यक्तवलयै। १३ परिच्छदोऽपि छत्रचामरादिपरिकरोऽपि परित्यक्तत। १४ पक्षे सर्पान्। १५ मन्त्रशक्ति। १६ सत्कुलजाम्। १७ स्थापयति स्म।

अनन्यशरणैरन्यैस्तापविच्छेदमिच्छुभिः । तत्पादपादपच्छाया न्यषेवि सुखशीतला ॥१८॥
केषांचित् पत्रनिर्मोक्षं[1] छायापायं[2] च भूभुजाम् । पादपानामिव ग्रीष्मः समभ्यर्णश्चकार[3] सः ॥१९॥
ध्वस्तोष्मप्रसरा[4] गाढमुच्छ्वसन्तोऽन्तराकुलाः । प्राप्तेऽस्मिन्[5] वैरिभूपालाः प्रापुर्मर्तव्यशेषताम्[6] ॥२०॥
[7]वैरकाम्यति यः[8] स्मास्मिन् प्रागेव विननाश सः । [9]विदिध्यापयिषुर्वह्निं शलभः कुशली किमु ॥२१॥
वस्तुवाहनसर्वस्वमाच्छिद्य[10] प्रभुराहरन्[11] । अरिन्विमरिचक्रेषु[12] व्यक्तमेव चकार सः ॥२२॥
स्वयमर्पितसर्वस्वा नमन्तश्चक्रवर्तिनम् । पूर्वमप्यरयः पश्चादधिकारित्वमाचरन्[13] ॥२३॥
[14]साधनैरमुनाक्रान्ता या धरा ध्वतसाध्वसा[15] । साधनैरेव तं तोषं नीत्वाऽभूद्धतसाध्वसा ॥२४॥
[16]कुल्याः कुलधनान्यस्मै दत्वा स्वां भुवमार्जिजन्[17] । कुल्या[18] धनजलौघस्य जिगीषोस्ते हि पार्थिवाः॥२५॥
प्रजाः करभराक्रान्ता यस्मिन् स्वामिनि दुःस्थिताः[19] । तमुद्धृत्य पदे तस्य[20] युक्तदण्डं न्यधाद् विभुः॥२६॥

था ॥१७॥ जिन्हे अन्य कोई शरण नही थी और जो अपना सन्ताप नष्ट करना चाहते थे ऐसे कितने ही राजाओने सुख तथा शान्ति देनेवाली भरतके चरणरूपी वृक्षोकी छायाका आश्रय लिया था ॥१८॥ जिस प्रकार समीप आया हुआ ग्रीष्म ऋतु वृक्षोके पत्र अर्थात् पत्तोका नाश कर देता है और उनकी छाया अर्थात् छाँहरीका अभाव कर देता है उसी प्रकार समीप आये हुए भरतने कितने ही राजाओके पत्र अर्थात् हाथी घोड़े आदि वाहनो (सवारियो) का नाश कर दिया था और उनकी छाया अर्थात् कान्तिका अभाव कर दिया था। भावार्थ–भरतके समीप आते ही कितने ही राजा लोग वाहन छोडकर भाग जाते थे तथा उनके मुखकी कान्ति भयसे नष्ट हो जाती थी ॥१९॥ महाराज भरतके समीप आते ही शत्रु राजाओका सब तेज (पक्षमे गरमी) नष्ट हो गया था, उनके भारी-भारी श्वासोच्छ्वास चलने लगे थे और वे अन्त करणमे व्याकुल हो रहे थे, इसलिए वे मरणोन्मुख मनुष्यकी समानताको प्राप्त हो रहे थे ॥२०॥ जिस पुरुषने भरतके साथ शत्रुता करनेकी इच्छा की थी वह पहले ही नष्ट हो चुका था, सो ठीक ही है क्योकि अग्निको बुझानेकी इच्छा करनेवाला पतगा क्या कभी सकुशल रह सकता है ? अर्थात् नही ॥२१॥ महाराज भरतने शत्रुओके हीरा मोती आदि रत्न तथा सवारी आदि सब धन छीन लिया था और इस प्रकार उन्होने समस्त अरि अर्थात् शत्रुओंके समूहको स्पष्ट रूपसे अरि अर्थात् धनरहित कर दिया था ॥२२॥ अपने आप समस्त धन भेट कर चक्रवर्तीको नमस्कार करनेवाले राजा लोग यद्यपि पहले शत्रु थे तथापि पीछेसे वे बड़े भारी अधिकारी हुए थे ॥२३॥ जो पृथिवी पहले भरतकी सेनासे आक्रान्त होकर भयभीत हो रही थी वही पृथिवी अब अपने धनसे भरतको सन्तोष प्राप्त कराकर निर्भय हो गयी थी ॥२४॥ उच्च कुलोमें उत्पन्न हुए अनेक राजाओने भरतेश्वरके लिए अपनी कुल-परम्परासे चला आया धन देकर फिरसे अपनी पृथिवी प्राप्त की थी सो ठीक ही है क्योकि वे राजा विजयाभिलाषी राजाके लिए धनरूपी जालके प्रवाहकी प्राप्तिके लिए 'कुल्या'–नदी अथवा नहरके समान होते है। भावार्थ–विजयी राजाओको धनकी प्राप्ति साधारण राजाओसे होती है॥२५॥ जिस राजाके रहते हुए प्रजा करके बोझसे दबकर दु खी हो रही थी,

१ वाहननिर्णाशम् पक्षे पर्णविनाशम्। २ तेजोहानिम्। ३ समीपस्थ। ४ निरस्तप्रभावप्रसरा। पक्षे निरस्तोष्णप्रसरा। ५ भरते। ६ मरणकालप्राप्तपुरुषसमानतामित्यर्थ.। ७ वैरमिच्छति। ८ यो नास्मिन् इ०। (ना पुमान् इति इ० टिप्पणी)। ९ क्षपयितुमिच्छु। १० आकृष्य। ११ स्वीकुर्वन्। १२ न विद्यते रा धनं येषा तानि अरीणि तेषा भावस्तत्त्वम्, निर्धनत्वमित्यर्थ.। १३ अधिकशत्रुत्वमिति ध्वनि.। १४ मैन्यै। १५ निरस्तभीति.। १६ कुलजा.। १७ उपार्जयति स्म। अर्ज गतिस्थानार्जनोपार्जनेषु। १८ सरित। 'कुल्या कुलवधूः सरित्'। अथवा कृत्रिमसरित। तत्पक्षे 'कुल्याल्पा कृत्रिमा सरित्'। १९ दु.खिता ल०। २० योग्यदण्डकारिपुरुषं स्थापयामास।

निजग्राह[1] नृपान्[2] दृप्तानन्वग्राहीत्[3] सत्क्रियान् । न्याय्य[4]: क्षात्रो[5]ऽयमित्येव प्रजाहितविधित्सया ॥२७॥
योगक्षेमौ जगत्स्थित्यै न प्रजास्वेव केवलम् । प्रजापालेष्वपि[6] प्रायस्तस्य चिन्त्यत्वमीयतुः ॥२८॥
पार्थिवस्यैकराष्ट्रस्य[7] मता वर्णाश्रमा:[8] प्रजाः । पार्थिवाः सार्वभौमस्य प्रजा[9] यत्तेन ते[10] धृताः[11] ॥२९॥
पुण्यं साधनमस्यैकं चक्रं तस्यैव पोषकम् । तद्द्वयं साध्यसिद्ध्यङ्गं सेनाङ्गानि विभूतये ॥३०॥
इति मण्डलभूपालान् बलात् प्राणमयन्नयम्[12] । [13]मानमेवाभनक्[14] तेषां न सेवाप्रणयं विभुः ॥३१॥
प्रतिप्रयाणमभ्येत्य [15]प्राणंसिषुरमुं नृपाः । प्राणरक्षामिवास्याज्ञां वहन्तः स्वेषु मूर्धसु ॥३२॥
प्रणताननुजग्राह सातिरेकैः[16] फलैः प्रभुः । किमु कल्पतरोः सेवास्त्यफलाल्पफलापि वा ॥३३॥
[17]संप्रेक्षितैः स्मितैर्हासैः सविश्रम्भैश्च[18] जल्पितैः[19] । सम्राट् संभावयामास नृपान् संमाननैरपि[20] ॥३४॥
स्मितैः प्रसादं संजल्पैर्विस्रम्भं हसितैर्मुदम् । प्रेक्षितैरनुरागं च व्यनक्ति स्म नृपेषु सः ॥३५॥

भरतने उसे हटाकर उसके पदपर किसी अन्य नीतिमान् राजाको बैठाया था ॥२६॥ उन्होने अहंकारी राजाओंको दण्डित किया था और सत्कार अथवा उत्तम कार्य करनेवाले राजाओं-पर अनुग्रह किया था सो ठीक ही है क्योकि प्रजाका हित करनेकी इच्छासे क्षत्रियोंका यह धर्म ही न्यायपूर्ण है ॥२७॥ राजा भरतने जगत्‌की स्थितिके लिए केवल प्रजाके विषयमे ही योग (नवीन वस्तुको प्राप्त करना) और क्षेम (प्राप्त हुई वस्तुकी रक्षा करना) की चिन्ता नही की थी किन्तु प्रजाकी रक्षा करनेवाले राजाओके विषयमे भी प्राय उन्हे योग और क्षेमकी चिन्ता रहती थी ॥२८॥ किसी एक देशके राजाकी प्रजा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्ण रूप मानी जाती है परन्तु चक्रवर्तीकी प्रजा नम्रीभूत हुए राजा लोग ही माने जाते है इस-लिए चक्रवर्तीको प्रजाके साथ-साथ राजाओंकी चिन्ता करना भी उचित है ॥२९॥ भरतके समस्त कार्योको सिद्ध करनेवाला एक पुण्य ही मुख्य साधन था, और चक्ररत्न उस पुण्यकी पुष्टि करनेवाला था, पुण्य और चक्ररत्न ये दोनों ही उसके साध्य (सिद्ध करने योग्य विजय रूप कार्य) की सिद्धिके अंग थे, बाकी हाथी घोडे आदि सेनाके अग केवल वैभवके लिए थे ॥३०॥ इस प्रकार मण्डलेश्वर राजाओसे बलपूर्वक प्रणाम कराते हुए चक्रवर्तीने उनका केवल मान भग ही किया था, अपनी सेवाके लिए जो उनका प्रेम था उसे नष्ट नही किया था ॥३१॥ प्राणोकी रक्षाके समान भरतकी आज्ञाको अपने मस्तकपर धारण करते हुए अनेक राजा लोग प्रत्येक पडावपर आकर उन्हे प्रणाम करते थे ॥३२॥ प्रणाम करनेवाले राजाओको महाराज भरतने बहुत अधिक फल देकर अनुगृहीत किया था सो ठीक ही है क्योकि कल्पवृक्षकी सेवा क्या कभी फलरहित अथवा थोडा फल देनेवाली हुई है ? ॥३३॥ सम्राट् भरतने कितने ही राजाओकी ओर देखकर, कितने ही राजाओकी ओर मुसकराकर, कितने ही राजाओकी ओर हँसकर, कितने ही राजाओंके साथ विश्वासपूर्वक वार्तालाप कर, और कितने ही राजाओ-का सन्मान कर उन्हे प्रसन्न किया था ॥३४॥ उन्होने कितने ही राजाओपर मुसकराकर अपनी प्रसन्नता प्रकट की थी, कितने ही राजाओपर वार्तालाप कर अपना विश्वास प्रकट किया था, कितने ही राजाओंपर हँसकर अपना हर्ष प्रकट किया था और कितने ही राजाओपर प्रेमपूर्ण

---

१ निग्रह करोति स्म । २ दर्पाविष्टान् । ३ स्वीकृतवान् । ४ न्यायादनपेत । ५ क्षत्रियधर्म । ६ पार्थिवेषु । ७ एकदेशवत । ८ क्षत्रियादिवर्णा. ब्रह्मचर्याद्या आश्रमा । ९ प्रजायन्ते प०, ल० । १० पार्थिवा । ११ स्वीकृता । १२ प्रह्वीभूतानकुर्वन् । १३ गर्वमेव । १४ मर्दयति स्म । 'भञ्जोऽवमर्दने' । १५ नमस्कुर्वन्ति स्म । १६ तैर्दत्तधनात् साधिकै । १७ स्निग्धावलोकनैः । सप्रेक्षणै ल० । १८ सविश्वासै । 'समौ विश्रम्भ-विश्वासौ' इत्यमर. । १९ वचनै । २० वस्त्राभरणादिपूजनै ।

[1]अतार्प्सीत् प्रणतानेष [2]समताप्सीद् विरोधिनः । शमप्रतापौ क्ष्मां जेतुः[3] पार्थिवस्योचितौ गुणौ ॥३६॥
प्रसन्नया दृशैवास्य प्रसादः प्रणते रिपौ । भ्रूभङ्गेनास्फुटत्[4] कोपः सत्यं बहुनटो[5] नृपः ॥३७॥
[6]अङ्गान्मणिभिरत्यङ्गैर्वङ्गांस्तुङ्गैर्मतङ्गजैः[7] । तैश्च तैश्च कलिङ्गेशान् सोऽभ्यनन्ददुपानतान्[8] ॥३८॥
[9]मागधायितमेवास्य स्फुटं [10]मागधिकैर्नृपैः । कीर्तयद्भिर्गुणानुच्चैः प्रसादमभिलापुकैः ॥३९॥
कुरूनवन्तीन् पाञ्चालान् काशीश्च सह कोसलैः । वैदर्भानप्यनायासादाचकर्ष[11] चमूपतिः ॥४०॥
[12]व्रजन् मद्रांश्च कच्छांश्च चेदीन् वत्सान् ससुह्मकान् । पुण्ड्रानोण्ड्रांश्च गौडांश्च [13]मतमश्रावयद् विभोः ॥४१॥
दशार्णान् कामरूपांश्च काश्मीरानप्युशीनरान् । मध्यमानपि भूपालान् सोऽचिराद् वशमानयत ॥४२॥
ददुरस्मै नृपाः प्राच्यकलिङ्गाङ्गारजान्[14] गजान् । गिरीनिव महोच्छ्रायान् [15]प्रश्चोतन्मदनिर्झरान् ॥४३॥
[16]दशार्णकवनोद्भूतानपि चेदिककूशजान्[17] । दिङ्नागस्पर्धिनो नागा[18] आदुर्नाग[19]वनाधिपाः ॥४४॥
विभोर्बलभरक्षोभमासहन्तीव दुःसहम् । सुषुवेऽनन्तरत्नानि गर्भिणीव[20] वसुन्धरा ॥४५॥

दृष्टि डालकर अपना प्रेम प्रकट किया था ॥३५॥ उन्होने नम्रीभूत राजाओको सन्तुष्ट किया था और विरोधी राजाओंको अच्छी तरहसे सन्तप्त किया था सो ठीक ही है क्योकि पृथिवीको जीतनेके लिए शान्ति और प्रताप ये दो ही राजाओके योग्य गुण माने गये है ॥३६॥ राजा भरत नमस्कार करनेवाले पुरुषपर अपनी प्रसन्न दृष्टिसे प्रसन्नता प्रकट करते थे और साथ ही शत्रुके ऊपर भौह टेढी कर क्रोध प्रकट करते जाते थे इसलिए यह उक्ति सच मालूम होती है कि राजा लोग नट तुल्य होते है ॥३७॥ उत्तम-उत्तम मणियोको भेट कर नमस्कार करते हुए अंग देशके राजाओपर, ऊँचे-ऊँचे हाथियोको भेट कर नमस्कार करते हुए वग देशके राजाओ-पर और मणि तथा हाथी दोनोको भेट कर नमस्कार करते हुए कलिग देशके राजाओपर वह भरत बहुत ही प्रसन्न हुए थे ॥३८॥ भरतेश्वरके प्रसादकी इच्छा करनेवाले मगध देशके राजा उनके उत्कृष्ट गुण गा रहे थे इसलिए वे ठीक मागध अर्थात् वन्दीजनोके समान जान पड़ते थे ॥३९॥ भरत महाराजके सेनापतिने कुरु, अवन्ती, पांचाल, काशी, कोशल और वैदर्भ देशोंके राजाओको बिना किसी परिश्रमके अपनी ओर खीच लिया था अर्थात् अपने वश कर लिया था ॥४०॥ मद्र, कच्छ, चेदि, वत्स, सुह्म, पुण्ड्र, औण्ड्र और गौड देशोंमें जा-जाकर सेनापतिने सब जगह भरत महाराजकी आज्ञा सुनायी थी ॥४१॥ उसने दशार्ण, कामरूप, कश्मीर, उशीनर और मध्यदेशके समस्त राजाओंको बहुत शीघ्र वश कर लिया था ॥४२॥ वहाँके राजाओं-ने जिनसे मदके निर्झरने झर रहे है ऐसे, पूर्व देशमे उत्पन्न होनेवाले तथा कलिग और अंगार देशमे उत्पन्न होनेवाले, पर्वतोके समान ऊँचे-ऊँचे हाथी महाराज भरतके लिए भेटमे दिये थे ॥४३॥ जिनमें हाथी उत्पन्न होते है ऐसे वनोके स्वामियोंने दिग्गजोके साथ स्पर्द्धा करनेवाले, दशार्णक वनमे उत्पन्न हुए तथा चेदि और ककूश देशमे उत्पन्न हुए हाथी महाराजके लिए प्रदान किये थे ॥४४॥ उस समय भरतेश्वरको पृथिवीपर जहाँ-तहाँ अनेक रत्न भेटमे मिल रहे थे इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो गर्भिणीके समान पृथिवीने चक्रवर्तीकी सेनाके बोझसे उत्पन्न हुए दु.सह क्षोभको न सह सकनेके कारण ही अनन्त रत्न उत्पन्न किये हुए हों ॥४५॥

१ तर्पयामास । २ सन्तापयति स्म । ३ जेतुं ल०, इ०, अ०, प०, स० । ४ व्यक्तो बभूव । ५ नटसदृश । ६ अङ्गदेशाधिपान् । ७ अनर्घ्यैं । ८ आनतान् । ९ मागधीयित –प०, इ० । स्तुतिपाठका इवाचरितान् । १० मगधाधिपै । ११ स्वीकृतवान् । १२ गच्छन् । १३ शासनम्, आज्ञामित्यर्थः । १४ प्राक्दिक्सबन्धिकलिङ्गदेशाङ्गारजान् । १५ गलत् । १६ दशार्णदेशसंबन्धि । १७ चेदिकसेरुजान् ल०, द० । १८ दधति स्म । १९ गजवन । २० गर्भस्थशिशुरिव ।

आपाण्डरगिरिप्रस्थादा च वैभारपर्वतात् । आशैलाद् गोरथादस्य विचे[1]रुर्जयकुञ्जराः ॥४६॥
वङ्गाङ्गपुण्ड्मगधान् [2]मलदान् काशिकौसलान् । सेनानीः परिबभ्राम जिगीषुर्जयसाधनैः ॥४७॥
कालिन्दकालकूटौ च किरातविषयं तथा । मल्लदेशं च संप्रापन्म[3]तादस्य[4] चमूपतिः ॥४८॥
धुनीं सुमागधी गङ्गां गोमतीं च कपीवतीम् । रथास्फां[5] च नदीं तीर्त्वा[6] भ्रेमुरस्य चमूगजाः ॥४९॥
गम्भीरामतिगम्भीरां कालतोयां च कौशिकीम् । नदीं कालमही ताम्रामरुणां निचुरामपि[7] ॥५०॥
तं लौहित्य[8]समुद्रं च कम्बुकं च महत्सरः । चमूमतङ्गजास्तस्य भेजुः प्राच्य[9]वनोपगाः ॥५१॥
दक्षिणेन[10] नदं शोणमुत्तरेण च नर्मदाम् । बीजानदीमुभयतः परितो मेखलानदीम् ॥५२॥
विचेरुः स्वखुरोद्धूतधूलीसंरुद्धदिङ्मुखाः । [11]जविनोऽस्य स्फुरत्प्रोथा[12] जयसाधनवाजिनः ॥५३॥
औदुम्बरी[13] च पनसां तमसां प्रमृशामपि । [14]पपुरस्य द्विपाः शुक्तिमती च यमुनामपि ॥५४॥
चेदिपर्वतमुल्लङ्घ्य चेदिराष्ट्रं[15] विजिग्यिरे[16] । पम्पा[17]सरोऽम्भोऽतिगमा विभोरस्य तुरंगमाः ॥५५॥
तमृश्यमूकमाक्रम्य कोलाहलगिरिं श्रिताः । प्राङ्माल्यगिरिमासेदुर्जयिनोऽस्य जयद्विपाः ॥५६॥
नागप्रियाद्रिमाक्रम्य [18]कृतपावज्ञया विभोः । सेनाचराः स्ववशाच्चक्रुर्गजांश्चेदिककूशजान्[19] ॥५७॥
नदीं वृत्रवती[20] क्रान्त्वा वन्येभक्षततरोधसम्[21] । भेजुश्चित्रवतीमस्य चमूवीरास्तुरंगमैः ॥५८॥

हिमवान् पर्वतके निचले भागसे लेकर वैभार तथा गोरथ पर्वत तक सब जगह भरत महाराजके विजयी हाथी घूम रहे थे ॥४६॥ सबको जीतनेकी इच्छा करनेवाला भरतका सेनापति अपनी विजयी सेनाके साथ-साथ वंग, अंग, पुण्ड्र, मगध, मालव, काशी और कोशल देशोंमें सब जगह घूमा था ॥४७॥ भरतकी सम्मतिसे वह सेनापति कालिन्द, कालकूट, भीलोका देश, और मल्ल देशमें भी पहुँचा था ॥४८॥ उनकी सेनाके हाथी सुमागधी, गगा, गोमती, कपीवती और रथास्फा नदीको तैरकर जहाँ-तहाँ घूम रहे थे ॥४९॥ पूर्व दिशाके पास-पास जानेवाले उनकी सेनाके हाथी अत्यन्त गहरी गम्भीरा, कालतोया, कौशिकी, कालमही, ताम्रा, अरुणा और निचुरा आदि नदियों तथा लौहित्य समुद्र और कबुक नामके बडे-बडे सरोवरोंमे घूमे थे ॥५०–५१॥ जिन्होने अपने खुरोसे उठी हुई धूलिसे समस्त दिशाएँ भर दी है, जो बडे वेगशाली है और जिनके नथने चंचल हो रहे है ऐसे महाराज भरतकी विजयी सेनाके घोडे शोण नामके नदकी दक्षिण ओर, नर्मदा नदीकी उत्तर ओर, वीजा नदीके दोनो ओर और मेखला नदीके चारो ओर घूमे थे ॥५२–५३॥ भरतके हाथियोने उदुम्बरी, पनसा, तमसा, प्रमृशा, शुक्तिमती और यमुना नदीका पान किया था ॥५४॥ चक्रवर्तीके घोडोने पम्पा सरोवरके जलको पार किया था तथा चेदि नामके पर्वतको उल्लंघन कर चेदि नामके देशको जीता था ॥५५॥ सबको जीतनेवाले भरतके विजयी हाथी ऋष्यमूक पर्वतको उल्लंघन कर कोलाहल पर्वत तक जा पहुँचे थे और फिर माल्य पर्वतके पूर्व भागके समीप भी जा पहुँचे थे ॥५६॥ भरतकी सेनाके लोगोने देहली-जैसा समझ अवज्ञापूर्वक नागप्रिय पर्वतको उल्लघन कर चेदि और ककूश देशमे उत्पन्न हुए हाथियोको अपने अधीन कर लिया था ॥५७॥ उनकी सेनाके वीर पुरुष घोड़ोके द्वारा वृत्रवती नदीको पार कर जिसके किनारे जगली हाथियोसे खूँदे गये है ऐसी चित्र

---

१ चरन्ति स्म । २ मलयान् इ०, अ० । मालयान् प० । मालवान् ल०, द० । ३ आज्ञात । ४ चक्रिण । ५ रथस्या अ० । रेवस्या प०, ट० । रवस्था द० । ६ अवतीर्य । ७ निधुरामपि ल० । ८ लौहित्यसमुद्रनामसरोवरम् । ९ पूर्व । १० शोणनदस्य दक्षिणस्या दिशि । ११ वेगिन । १२ नासिका । १३ उदुम्बरी स०, इ०, अ०, प०, द०, ल० । १४ 'ययु' इत्यपि पाठ । यानमकुर्वन् । १५ चेदिदेशम् । १६ जयन्ति स्म । १७ पम्पासरोजलमतिक्रान्ता । १८ देहली । १९ –सेरुजान् ल०, द० । २० वेत्रवती इ० । छत्रवती प० । वृत्तवती अ०, स०, । २१ वनगजक्षुण्णतटाम् ।

रुद्ध्वा माल्यवतीतीरवनं वन्येभसंकुलम् । यामुनं च पयः पीत्वा जिग्युरस्य द्विपा दिशः ॥५९॥
अनुवेणुमतीतीरं गत्वास्य जयसाधनम् । वत्सभूमिं[1] समाक्रम्य दशार्णामप्यलङ्घयत्[2] ॥६०॥
विशालां नालिकां सिन्धुं परां निष्कुन्दरीमपि । बहुवज्रां च रम्यां च नदीं सिकतिनीमपि ॥६१॥
ऊहां[3] च समतोयां च कञ्जामपि कपीवतीम् । निर्विन्ध्यां च धुनीं जम्बूमतीं च सरिदुत्तमाम् ॥६२॥
वसुमत्यापगामब्धिगामिनीं शर्करावतीम् । सिप्रां च कृतमालां च परिजां पनसामपि ॥६३॥
नदीमवन्तिकामां च हस्तिपानीं च निम्नगाम् । कागन्धुमापगां[4] व्याघ्रीं धुनीं चर्मण्वतीमपि ॥६४॥
शतभोगां च नन्दां च नदीं करभवेगिनीम् । चुल्लितापीं च रेवां च सप्तपारां च कौशिकीम् ॥६५॥
सरितोऽमूरगाधापा विष्वगारुद्ध्य तद्बलम् । तुरंगमखुरोत्खाततीरा विस्तारिणीर्व्यधात् ॥६६॥
तैरश्चिकं गिरिं क्रान्त्वा रुद्ध्वा वैडूर्यभूधरम् । भटाः कूटाद्रिमुल्लङ्घ्य पारियात्रमशिश्रियन् ॥६७॥
गत्वा पुष्पगिरेः प्रस्थान्[5] सानून् सितगिरेरपि[6] । गदागिरेर्निकुञ्जेषु[7] बलान्यस्य विशश्रमुः[8] ॥६८॥
वातपृष्ठदरीभागान्[9] ऋक्षवत्[10] कुक्षिभिः[11] समम् । तत्सैनिकाः श्रयन्ति स्म कम्बलाद्रितटान्यपि ॥६९॥
वासवन्तं महाशैलं विलङ्घ्यासुरधूपने[12] । स्थित्वाऽस्य सैनिकाः प्रापन् मदेभानङ्गरैयिकान्[13] ॥७०॥
निःसपत्नमिति क्ष्मेमुरितश्चेतश्च सैनिकाः । द्विपान् वनविभागेषु[14] कर्षन्तोऽस्य निजैर्गजैः ॥७१॥
दुस्तराः सुतरा जाताः संभुक्ताः सरितो बलैः । स्वारोहाश्च[15] दुरारोहा गिरयः क्षुण्णसानवः ॥७२॥

वती नदीको प्राप्त हुए थे ॥५८॥ जगली हाथियोसे भरे हुए माल्यवती नदीके किनारेके वनको घेरकर तथा यमुना नदीका पानी पीकर भरतके हाथियोने उस ओरकी समस्त दिशाएँ जीत ली थी ॥५९॥ उनकी विजयी सेनाने वेणुमती नदीके किनारे-किनारे जाकर वत्स देशकी भूमिपर आक्रमण किया और फिर दशार्णा (धसान) नदीको भी उल्लघन किया – पार किया ॥६०॥ भरतकी सेनाने विशाला, नालिका, सिन्धु, पारा, निःकुन्दरी, बहुवज्रा, रम्या, सिकतिनी, कुहा, समतोया, कंजा, कपीवती, निर्विन्ध्या, नदियोमें श्रेष्ठ जम्बूमती, वसुमती समुद्र तक जानेवाली शर्करावती, सिप्रा, कृतमाला, परिजा, पनसा, अवन्तिकामा, हस्तिपानी, कागन्धु, व्याघ्री, चर्मण्वती, शतभागा, नन्दा, करभवेगिनी, चुल्लितापी, रेवा, सप्तपारा, और कौशिकी इन अगाध जलसे भरी हुई नदियोको चारो ओरसे घेरकर जिनके किनारे घोड़ोके खुरोसे खुद गये है ऐसी उन नदियोको वहुत चौड़ा कर दिया था ॥६१–६६॥ सैनिकोने तैरश्चिक नामके पर्वतोको लाँघकर वैडूर्य नामका पर्वत जा घेरा और फिर कूटाचलको उल्लंघन कर पारियात्र नामका पर्वत प्राप्त किया ॥६७॥ भरतकी वह सेना पुष्प गिरिके शिखरोपर चढकर सितगिरिके शिखरोपर जा चढी और फिर वहाँसे चलकर उसने गदा नामक पर्वतके लतागृहोमे विश्राम किया ॥६८॥ भरतके सैनिकोने ऋक्षवान् पर्वतकी गुफाओके साथ-साथ वातपृष्ठ पर्वतकी गुफाओका आश्रय लिया और फिर वहाँसे चलकर कम्वल नामक पर्वतके किनारोपर आश्रय प्राप्त किया ॥६९॥ वे सैनिक वासवन्त नामके महापर्वतको उल्लघन कर असुरधूपन नामक पर्वतपर ठहरे और फिर वहाँसे चलकर मदेभ आनंग और रैमिक पर्वतपर जा पहुँचे ॥७०॥ सेनाके लोग उन देशोको शत्रुरहित समझकर अपने हाथियोके द्वारा वनके प्रदेशोमे हाथी पकड़ते हुए जहाँ-तहाँ घूम रहे थे ॥७१॥ जो नदियाँ दुस्तर अर्थात् कठिनाईसे तैरने योग्य थी वे ही नदियाँ सैनिकोके द्वारा उपभुक्त होनेपर सुतर 'अर्थात् सुखसे

---

१ वलम् । २ 'दशार्णान्' इत्यपि क्वचित् । ३ कुहा ल० । ४ कामधुन्यापगाम् । ५ सानून् । ६ सितगिरे–ल० । ७ नितम्बेषु । ८ विश्राम्यन्ति स्म । ९ वातपृष्ठगिरिकन्दरप्रदेशान् । १० भल्लूका इव । ११ तद्गीरस्थितगुहाभि. सह इत्यर्थ । १२ असुरधूपन इति पर्वतविशेषे । १३ मदेभश्च आनङ्गश्च रैयिकश्च तान् । १४ स्वीकुर्वन्त । १५ सुखारोहा. ।

राष्ट्राण्यवधयस्तेषां राष्ट्रीयाश्च महीभुजः । फलाय जज्ञिरे भर्तुर्योजिताश्चामुना[1] फलैः ॥७३॥
नृपानवारपारीणान्[2] [3]द्वैप्यानप्युपसागरे । वली वलैरवष्टभ्य[4] प्रापोपवनजान्[5] गजान् ॥७४॥
रत्नान्यपि विचित्राणि तेभ्यो लब्ध्वा यथेप्सितम् । तानेवास्थापयत्तत्र संतुष्टः प्रभुराज्ञया ॥७५॥
महान्ति गिरिदुर्गाणि निम्नदुर्गाणि च प्रभोः । सिद्धानि वलरुद्धानि किमसाध्यं महीयसाम् ॥७६॥
इत्थं स पृथिवीमध्यान्[6] पौरस्त्यान्निर्जयन्नृपान् । प्रतस्थे दक्षिणामाशां[7] दाक्षिणात्यजिगीषया ॥७७॥
यतो यतो वलं जिष्णोः प्रचलत्युद्धनायकम् । ततस्ततः स्म सामन्ता नमन्त्यानम्रमौलयः ॥७८॥
त्रिकलिङ्गाधिपानोद्रान् कच्छान्ध्रविषयाधिपान् । प्रातरान् केरलांश्चोलान्[8] पुन्नागांश्च व्यजेष्ट सः ॥७९॥
कुटुम्बानोलिकांश्चैव स माहिषकमेकुरान् । पाण्डयानन्तरपाण्ड्यांश्च दण्डेन[9] वशमानयत् ॥८०॥
नृपानेतान् विजित्याशु प्रणमय्य स्वपादयोः । हृत्वा तत्साररत्नानि प्रभुः प्रापत् परां मुदम् ॥८१॥
सेनानीरपि वभ्राम[10] विभोराज्ञां समुद्वहन् । गिरीन् ससरितो देशान्[11] कालिङ्गकवनाश्रितान् ॥८२॥
स साधनैः समं भेजे तैलामिक्षुमतीमपि । नदीं नक्ररवां वङ्गां श्वसनां च महानदीम् ॥८३॥

तैरने योग्य हो गयी थी । इसी प्रकार जो पर्वत दुरारोह अर्थात् कठिनाईसे चढने योग्य थे वे ही पर्वत सैनिकोंके द्वारा शिखरोंके चूर्ण हो जानेसे स्वारोह अर्थात् सुखपूर्वक चढ़ने योग्य हो गये थे ॥७२॥ देश, उनकी सीमाएँ और देशोके राजा लोग सम्राट् भरतेश्वरको फल प्रदान करनेके लिए ही उत्पन्न हुए थे तथा वदलेमे भरतने भी उन्हे अनेक फलोसे युक्त किया था । भावार्थ — सम्राट् भरत जहाँ-जहाँ जाते थे वहाँ-वहाँके लोग उन्हे अनेक प्रकारके उपहार दिया करते थे और भरत भी उनके लिए अनेक प्रकारकी सुविधाएँ प्रदान करते थे ॥७३॥ जो राजा लोग उपसमुद्रके उस पार रहते थे अथवा उप-समुद्रके भीतर द्वीपोमे रहते थे उन सवको वलवान् भरतने सेनाके द्वारा अपने वश किया था तथा वनमे उत्पन्न होनेवाले हाथियोंको पकड़-पकडकर उनका पोषण किया था ॥७४॥ महाराज भरतने उन राजाओसे अपनी इच्छानुसार अनेक प्रकारके रत्न लेकर सन्तुष्ट हो अपनी आज्ञासे उनके स्थानोपर उन्हीको फिरसे विराजमान किया था ॥७५॥ जो वडे-वडे किले पहाडोंके ऊपर थे और जो जमीनके नीचे वने हुए थे वे सव सेनाके द्वारा घिरकर भरतके वशीभूत हो गये थे, सो ठीक ही है क्योकि महापुरुषोंको क्या असाध्य है ? ॥७६॥ इस प्रकार भरतने पूर्व दिशाके समस्त राजाओको जीतकर दक्षिण दिशाके राजाओको जीतनेकी इच्छासे उस पृथिवीके मध्यभागसे दक्षिण दिशाकी ओर प्रस्थान किया ॥७७॥ उत्कृष्ट सेनापति सहित विजयी भरतकी सेना जहाँ-जहाँ जाती थी वहाँ-वहाँके राजा लोग सामन्तोसहित मस्तक झुका-झुकाकर उन्हे नमस्कार करते थे ॥७८॥ दक्षिणमे भरतने त्रिकलिग, ओद्र, कच्छ, प्रातर, केरल, चेर और पुन्नाग देशोके सव राजाओको जीता था ॥७९॥ तथा कूट, ओलिक, महिप, कमेकुर, पाण्ड्य और अन्तरपाण्ड्य देशके राजाओंको दण्डरत्नके द्वारा अपने वशीभूत किया था ॥८०॥ सम्राट् भरतने इन सव राजाओको शीघ्र ही जीतकर उनसे अपने चरणोमे प्रणाम कराया और उनके सारभूत रत्न लेकर परम आनन्द प्राप्त किया ॥८१॥ चक्रवर्तीकी आज्ञा धारण करता हुआ सेनापति भी कालिंगक वनके समीपवर्ती अनेक पहाडो, नदियो तथा देशोमे घूमा था ॥८२॥ वह अपनी सेनाओके, साथ-साथ तैला, इक्षुमती, नक्ररवा, वगा और श्वसना आदि महानदियोको प्राप्त हुआ था

---

१ सेनान्या । २ उभयतीरे भवान् । 'पारावारपरेभ्य इति ख' इति प्राग्जितीयेऽर्थे ख । 'पारावारे परे तीरे' इत्यमरः । ३ द्वीपे जातान् । ४ घाटी कृत्वा । ५ पुपोप वनजान् ल०, द०, इ०, अ० । ६ पूर्वदिग्भवान् । ७ दक्षिणदिगि जाता । ८ चेरान् ल०, द० । ९ वलेन । १० प्रभो—ल० । ११ कलिङ्गदेशसवन्धि ।

धुनीं वैतरणीं माषवतीं च समहेन्द्रकाम् । सैनिकैः सममुत्तीर्य ययौ शुष्कनदीमपि ॥८४॥
सप्तगोदावरं तीर्त्वा[1] पश्यन् गोदावरीं शुचिम् । सरो मानसमासाद्य मुमुदे शुचिमानसः ॥८५॥
[2]सुप्रयोगां नदीं तीर्त्वा कृष्णवेणां[3] च निम्नगाम् । सन्नीरां च प्रवेणीं च व्यतीयाय समं बलैः ॥८६॥
कुब्जां धैर्यां च चूर्णां च वेणां सूकरिकामपि । [4]अम्बेणां च नदीं पश्यन् दाक्षिणात्यानशुश्रुवत्[5] ॥८७॥
महेन्द्राद्रिं समाक्रामन् विन्ध्योपान्तं च निर्जयन् । [6]नागपर्वतमध्यास्य प्रययौ मलयाचलम् ॥८८॥
गोशीर्षं दर्दुराद्रिं च गिरिं पाण्ड्यकवाटकम् । स शीतगुहमासीदन्[7] गं श्रीकटनाह्वयम् ॥८९॥
श्रीपर्वतं च किष्किन्धं निर्जयञ्जयसाधनैः । तत्र तत्रोचितैर्लाभैरवर्धत चमूपतिः ॥९०॥
कर्णाटकान् स्फुटाटो[8]पविकटोद्भट[9]वेषकान् । हरिद्राञ्जनताम्बूलप्रियान् प्रायो यशोधनान् ॥९१॥
आन्ध्रान् [10]रुन्द्रप्रहारेषु कृतलक्षान्[11] कदर्यकान्[12] । पाषाणकठिनानङ्गैर्न परं हृदयैरपि ॥९२॥
कालिङ्गकान् गज[13]प्रायसाधनान् सकलाधनान् । प्रायेण तादृशानोड्रान् जडानुद्[14]मरप्रियान् ॥९३॥
[15]चोलिकाञ्शालिकप्रायान्[16] प्रायशोऽनृजुचेष्टितान्[17] । केरलान् सरलालापान् कलागोष्ठीषु[18] चुञ्चुकान्[19] ॥९४॥
पाण्ड्यान् प्रचण्डदोर्दण्डखण्डितारातिमण्डलान् । प्रायो गजप्रियान् धन्विकुन्तभूयिष्ठसाधनान् ॥९५॥

॥८३॥ तथा वैतरणी, माषवती और महेन्द्रका इन नदियोको अपने सैनिकोके साथ पार कर वह शुष्क नदीपर जा पहुँचा था ॥८४॥ सप्तगोदावरको पार कर पवित्र गोदावरीको देखता हुआ वह पवित्र हृदयवाला सेनापति मानस सरोवरको पाकर बहुत प्रसन्न हुआ ॥८५॥ तदनन्तर उसने सेनाओके साथ-साथ सुप्रयोगा नदीको पार कर कृष्णवेणा, सन्नीरा और प्रवेणी नामकी नदीको पार किया ॥८६॥ तथा कुब्जा, धैर्या, चूर्णी, वेणा, सूकरिका और अम्बर्णा नदीको देखते हुए उसने दक्षिण दिशाके राजाओको चक्रवर्तीकी आज्ञा सुनायी ॥८७॥ फिर महेन्द्र पर्वतको उल्लघन कर विन्ध्याचलके समीपवर्ती प्रदेशोको जीतता हुआ नागपर्वतपर चढकर वह सेनापति मलय पर्वतपर गया ॥८८॥ वहाँसे अपनी सेनाके साथ-साथ गोशीर्ष, दर्दुर, पाण्ड्य, कवाटक और शीतगुह नामके पर्वतोपर पहुँचा तथा श्रीकटन, श्रीपर्वत और किष्किन्ध पर्वतोको जीतता हुआ वहाँके राजाओसे यथायोग्य लाभ पाकर वह सेनापति अतिशय वृद्धिको प्राप्त हुआ ॥८९–९०॥ प्रकट रूपसे धारण किये हुए आडम्बरोसे जिनका वेष विकट तथा शूरवीरताको उत्पन्न करनेवाला है, जिन्हे हल्दी, ताम्बूल और अजन बहुत प्रिय है; तथा प्राय: कर जिनके यश ही धन है ऐसे कर्णाटक देशके राजाओको, जो कठिन प्रहार करनेमें सिद्धहस्त हैं जो बड़े कृपण है और जो केवल शरीरकी अपेक्षा ही पाषाणके समान कठोर नही है किन्तु हृदय-की अपेक्षा भी पाषाणके समान कठोर है ऐसे आन्ध्र देशके राजाओको, जिनके प्राय. हाथियों-की सेना है और जो कला-कौशल रूप धनसे सहित है ऐसे कलिग देशके राजाओंको, जो प्राय: कलिग देशके समान है, मूर्ख है और लडनेवाले है ऐसे ओण्ड्र देशके राजाओंको, जिन्हें प्राय: झूठ बोलना प्रिय नही है और जिनकी चेष्टाएँ कुटिल है ऐसे चोल देशके राजाओंको, मधुर गोष्ठी करनेमे प्रवीण तथा सरलतापूर्वक वार्तालाप करनेवाले केरल देशके राजाओंको, जिनके भुजदण्ड अत्यन्त बलिष्ठ है, जिन्होंने शत्रुओके समूह नष्ट कर दिये है, जिन्हें हाथी बहुत प्रिय है और जो युद्धमे प्राय: धनुष तथा भाला आदि शस्त्रोंका अधिकतासे प्रयोग करते है ऐसे पाण्ड्य

---

१ तीर्थ अ०, स०, ल० । २ 'सुप्रवेगाम्' इत्यपि क्वचित् । ३ कृष्णवर्णा ल० । ४ अभ्यर्णा ल० । ५ श्रावयति स्म । ६ नागपर्वते स्थित्वा । ७ आगमत् । ८ गर्व । ९ मनोहर. । 'विकट सुन्दरे प्रोक्तो विशालविकरालयो' इत्यभिधानात् । १० दुख । ११ कृतव्याजान् । 'व्याजोऽपदेशो लक्ष्य च' इत्यमर । १२ कृपणान् । 'कदर्ये कृपणक्षुद्रकिंपचानमितपचा' इत्यमर । १३ करिबहुलसेनान् । १४ युद्ध । १५ द्राविडान् । १६ अलीक अनृत । १७ वक्रवर्तनान् । १८ कलगोष्ठीषु चञ्चुरान् ल०, द० । १९ प्रतीतान् ।

[1]दृष्टापदानानन्यांश्च तत्र तत्र व्युदुत्थितान्[2] । जयसैन्यैरवस्कन्द्य[3] सेनानीरनयद् वशम् ॥९६॥
ते च सत्कृत्य सेनान्यं पुरस्कृत्य ससाध्वसम् । चक्रिणं प्रणमन्ति स्म दूरादूरीकृतायतिम्[4] ॥९७॥
करग्रहेण संपीड्य दक्षिणाशां वधूमिव । [5]प्रसभं हृततत्सारो दक्षिणाब्धिमगात प्रभुः ॥९८॥
[6]लवङ्गलवलीप्रायमेलागुल्मलतान्तिकम्[7] । वेलोपान्तवनं पश्यन् महती धृतिमाप सः ॥९९॥
तमासिषेविरे मन्दमान्दोलितसरोजलाः । एलासुगन्धयः सौम्या वेलान्तवनवायवः ॥१००॥
मरुदुद्धूतशाखाग्रविकीर्णसुमनोऽञ्जलिः । नूनं प्रत्यगृहीदेनं वनोद्देशो विशांपतिम् ॥१०१॥
पवनाधूतशाखाग्रैर्व्यक्तषट्पदनिःस्वनैः । विश्रान्त्यै सैनिकानस्य व्याहरन्निव[8] पादपाः ॥१०२॥
अथ तस्मिन् वनाभोगे[9] सैन्यमावासयद् विभुः । वैजयन्तमहाद्वारनिकटेऽम्बुनिधेस्तटे ॥१०३॥
सन्नागं[10] बहुपुन्नागं[11] सुमनोभि[12]रधिष्ठितम् । बहुपत्ररथ[13] जिष्णोर्बलं तद्वनमावसत्[14] ॥१०४॥

देशके राजाओको और जिन्होने प्रतिकूल खडे होकर अपना पराक्रम दिखलाया है ऐसे अन्य देशके राजाओंको सेनापतिने अपनी विजयी सेनाके द्वारा आक्रमण कर अपने अधीन किया था ॥९१–९६॥ उन राजाओने सेनापतिका सत्कार कर तथा भयसहित कुछ भेंट देकर जिन्होने उनका भविष्यत्काल अर्थात् आगे राजा बना रहने देना स्वीकार कर लिया है ऐसे चक्रवर्तीको दूरसे ही प्रणाम किया था ॥९७॥ जिस प्रकार पुरुप करग्रह अर्थात् पाणिग्रहण संस्कारसे किसी स्त्रीको वशीभूत कर लेता है उसी प्रकार चक्रवर्ती भरतने करग्रह अर्थात् टैक्स वसूलीसे दक्षिण दिशाको अपने वश कर लिया था और फिर जबरदस्ती उसके सार पदार्थोंको छीन-कर दक्षिण समुद्रकी ओर प्रयाण किया था ॥९८॥ वहाँ वह चक्रवर्ती, जिनमे प्राय. लवग और लवलीकी लताएँ लगी हुई है तथा जो इलायचीके छोटे-छोटे पौधोकी लताओंसे सहित है ऐसे किनारेके समीपवर्ती वनको देखता हुआ बहुत भारी सन्तोपको प्राप्त हुआ था ॥९९॥ जो तालाबोंके जलको हिला रहा है, जिसमें इलायचीकी सुगन्धि मिली हुई है और जो सौम्य है ऐसे किनारेके वनकी वायु उस चक्रवर्तीकी सेवा कर रही थी ॥१००॥ वायुसे हिलती हुई शाखाओके अग्रभागसे जिसने फूलोकी अजलि बिखेर रखी है ऐसा वह वनका प्रदेश ऐसा जान पड़ता था मानो इस चक्रवर्तीकी अगवानी ही कर रहा हो ॥१०१॥ वृक्षोंकी शाखाओंके अग्र-भाग वायुसे हिल रहे थे और उनपर भ्रमर स्पष्ट शब्द कर रहे थे, जिससे ऐसा जान पडता था मानो वे वृक्ष हाथ हिला-हिलाकर भ्रमरोके शब्दोके बहाने पुकार-पुकारकर विश्राम करनेके लिए भरतके सैनिकोंको बुला ही रहे हो ॥१०२॥

अथान्तर–चक्रवर्तीने उस वनके मैदानमें समुद्रके किनारे वैजयन्त नामक महाद्वारके निकट अपनी सेना ठहरायी ॥१०३॥ वह वन और भरतकी सेना दोनो ही समान थे क्योकि जिस प्रकार वन सनाग अर्थात् मोथाके पौधोसे सहित था उसी प्रकार सेना भी सनाग अर्थात् हाथियोसे सहित थी, जिस प्रकार वन बहुपुन्नाग अर्थात् नागकेशरके बहुत वृक्षोसे सहित था उसी प्रकार सेना भी बहुपुन्नाग अर्थात् अनेक उत्तम पुरुषोसे सहित थी, जिस प्रकार वन सुमन अर्थात् फूलोंसे सहित था उसी प्रकार वह सेना भी सुमन अर्थात् देव अथवा अच्छे हृदय-वाले पुरुपोसे सहित थी, और जिस प्रकार वन बहुपत्ररथ अर्थात् अनेक पक्षियोसे सहित होता

---

१ दृष्टसामर्थ्यात् । 'अपादान कर्मणि स्यादतिवृत्तेऽवखण्डने ।' इत्यभिधानात् । २ अभ्युत्थितान् । ३ आक्रम्य । ४ अङ्गीकृतसपदम् । ५ बलात्कारेण । ६ चन्दनलता । ७ 'तताङ्कितम्' इत्यपि क्वचित् । तत विस्मृतम् । ८ आह्वयन्ति स्मेव । ९ विस्तारे । १० प्रशस्तगजम् । सुनागवृक्ष च । ११ पुरुषश्रेष्ठ नागकेसर च । १२ देवै. कुसुमैश्च । १३ बहुवाहनस्यन्दनम् बहुलविहग च । 'पतत्रिपत्त्रिपतगपतत्पत्त्ररथाण्डजा' इत्यभिधानात् । १४ एवविध बलमेवंविधं वनमावसत् ।

सच्छायान्[1] सफलांस्तुङ्गान् बहुपत्र[2]परिच्छदान् । अश्रेनन्त जनाः प्रीत्या [3]पार्थिवांस्तापविच्छिदः ॥१०५॥
सच्छायानप्यसंभाव्याफलान् प्रोज्झ्य महाद्रुमान् । सफलान् विरलच्छायानप्यहो शिश्रियुर्जनाः[5] ॥१०६॥
[4]आकालिकीमनाहृत्य बहिश्छायां तदातनीम् । भाविनीं तरुमूलेषु छायामाशिश्रियञ्जनाः ॥१०७॥
वनस्थलीस्तरुच्छायानिरुद्धद्युमणित्विपः । [6]सजानयस्तरस्तीरेष्वध्यासिषत सैनिकाः ॥१०८॥
सप्रेयसीभिरावद्धप्रणयैराश्रिता नृपैः । कल्पपादपजां लक्ष्मीं व्यक्तमूहुर्वनद्रुमाः ॥१०९॥
कपयः [7]कपिकच्छूनामुद्धुनानाः फलच्छटाः[8] । सैनिकानाकुलांश्चक्रुर्निविष्टान् वी[9]रुधामधः ॥११०॥
सरःपरिसरेष्वासन् प्रभोराश्वीयमन्दुराः । सुन्दराः स्वैरमाहार्यै[10]र्वाप्पच्छेद्यैस्तृणाङ्कुरैः[11] ॥१११॥

है उसी प्रकार वह सेना भी अनेक सवारियों और रथोंसे सहित थी, इस प्रकार भरतकी वह सेना अपने समान वनमें ठहरी ॥१०४॥ उस वनके पार्थिव अर्थात् वृक्ष (पृथिव्या भवः, 'पार्थिव') पार्थिव अर्थात् राजाओ (पृथिव्या अधिप· 'पार्थिव') के समान थे, क्योंकि जिस प्रकार राजा सच्छाय अर्थात् उत्तम कान्तिसे सहित होते हैं उसी प्रकार उस वनके वृक्ष भी सच्छाय अर्थात् उत्तम छाया (छाँहरी) से सहित थे, जिस प्रकार राजा लोग सफल अर्थात् आय-से सहित होते है उसी प्रकार उस वनके वृक्ष भी सफल अर्थात् फलोसे सहित थे। जिस प्रकार राजा लोग तुंग अर्थात् ऊँची प्रकृतिके –उदार होते है उसी प्रकार उस वनके वृक्ष भी तुंग अर्थात् ऊँचे थे, जिस प्रकार राजा लोग वहुपत्रपरिच्छद अर्थात् अनेक सवारी आदिके वैभवसे सहित होते है उसी प्रकार उस वनके वृक्ष भी वहुपत्रपरिच्छद अर्थात् अनेक पत्तोके परिवारसे सहित थे और जिस प्रकार राजा लोग ताप अर्थात् दरिद्रतासम्बन्धी दुःखको नष्ट करनेवाले होते हैं उसी प्रकार उस वनके वृक्ष भी ताप अर्थात् सूर्यके घामसे उत्पन्न हुई गरमीको नष्ट करनेवाले थे, इस प्रकार भरतके सैनिक, राजाओंकी समानता रखनेवाले वृक्षोंका आश्रय वडे प्रेमसे ले रहे थे ॥१०५॥ सेनाके कितने ही लोग उत्तम छायासे सहित होनेपर भी जिनसे फल मिलनेकी सम्भावना नहीं थी ऐसे बड़े-वडे वृक्षोको छोड़कर थोड़ी छायावाले किन्तु फलयुक्त वृक्षोका आश्रय ले रहे थे। भावार्थ – जिस प्रकार धनाढ्य होनेपर भी उचित वृत्ति न देनेवाले कंजूस स्वामीको छोडकर सेवक लोग अल्पधनी किन्तु उचित वृत्ति देनेवाले उदार स्वामीका आश्रय लेने लगते है उसी प्रकार सैनिक लोग फलरहित वडे-वडे वृक्षोंको छोड़कर फलसहित छोटे-छोटे वृक्षोका आश्रय ले रहे थे ॥१०६॥ सेनाके लोग उस समयकी थोड़ी देर रहनेवाली वाहरकी छाया छोड़कर वृक्षोके नीचे आगे आनेवाली छायामें वैठे थे ॥१०७॥ वनस्थलीके वृक्षोकी छायासे जिनपर सूर्यकी धूप रुक गयी है ऐसे कितने ही सैनिक अपनी-अपनी स्त्रियोंसहित तालाबोके किनारोपर वैठे हुए थे ॥१०८॥ परस्परके प्रेमसे बँधे हुए राजा लोग अपनी-अपनी स्त्रियोसहित जिनके नीचे वैठे हुए है ऐसे वनके वृक्ष कल्पवृक्षोसे उत्पन्न हुई शोभाको स्पष्ट रूपसे धारण कर रहे थे। भावार्थ – वनके वे वृक्ष कल्पवृक्षोके समान जान पड़ते थे और उनके नीचे वैठे हुए स्त्री-पुरुष भोगभूमिके आर्य तथा आर्याओंके समान मालूम होते थे ॥१०९॥ वहाँ करेचकी कलियोको हिलाते हुए वानर उन लताओंके नीचे बैठे हुए सैनिकोंको व्याकुल कर रहे थे क्योंकि करेचकी फलियोके रोये शरीरपर लग जानेसे खुजली उठने लगती है ॥११०॥ तालाबोके समीप ही इच्छानुसार चरने योग्य तथा भापसे ही टूटनेवाले सुकोमल घासके

१ सच्छायान् तेजस्विनश्च । २ वहुदलपरिकरान्, बहुवाहनपरिकराश्च । ३ वृक्षान् नृपतीश्च । ४ अस्थिराम् । ५ –माशिश्रियुर्जना· ल०, द० । ६ स्त्रीसहिता. । ७ मर्कटीनाम् । 'कपिकच्छुश्च मर्कटी' इत्यभिधानात् । ८ फल-मञ्जरीः । ९ लतानाम् । १० सर्वत्रप्रदेशेषु सुलभैरित्यर्थ । ११ कोमलै ।

अवतारितपर्याण[1]मुखभाण्डाद्युपस्करः। स्फुरत्प्रोथैर्मुखैरश्वाः क्ष्मां[2] जघ्नुर्विविवृत्सवः[3] ॥११२॥
सान्द्रपद्मरज.कीर्णाः[4] सरसामन्तिकस्थले। मन्दं[5] दुधुवुरङ्गानि वाहाः कृतविवर्तनाः ॥११३॥
विबभावम्बरे कञ्जरजःपुञ्जोऽनिलोद्धत.[6]। अयत्न[7]रचितोऽश्वानामिवोच्चैः पटमण्डपः ॥११४॥
रजस्वलां महीं स्पृष्ट्वा[9] जुगुप्सव इवोत्थिताः। द्रुतं विविशुरम्भांसि सरसीनां महाहयाः ॥११५॥
वारि[10]वारिजकिंजल्कतनान्यश्वा विगाहिताः। धौतमप्यङ्गरागं स्वं भेजुरम्भोजरेणुभिः ॥११६॥
सरोवगाहनिर्धूतश्रमाः पीताम्भसो हयाः। आमीलिताक्षमध्यूषुर्विततान् पटमण्डपान् ॥११७॥
नालिकेरद्रुमेष्वासीदुचितो[11]वर्ष्मशालिनः। निवेशो हास्तिकस्यास्य विभोस्तालीवनेषु च ॥११८॥
प्रपतन्नालिकेरौघस्थपुटा वनभूमयः। हस्तिनां स्थानतामीयुर्नरैरेव[12] प्रान्तसारितैः[13] ॥११९॥
द्विपानुदन्यतस्तीव्रं[14] [15]वमथुव्यञ्जितश्रमान्। निन्युर्जलोपयोगाय सरांस्यभिनिषादिनः[16] ॥१२०॥
नीचैर्गतेन[17] सुव्यक्तमार्गसंजनितश्रमान्। गजानाधोरणा निन्युः सरसीरवगाहने[18] ॥१२१॥

अकुरोसे सुन्दर, चक्रवर्तीके घोड़ोंकी घुडसाले थी ॥१११॥ जिनपर-से पलान और लगाम आदि सामग्री उतार ली गयी है ऐसे घोडे जमीनपर लोटनेकी इच्छा करते हुए, हिलते हुए नथनो-से युक्त मुखोसे जमीनको सूँघ रहे थे ॥११२॥ कमलोंकी सान्द्र परागमे भरे हुए, तालावके समीपवर्ती प्रदेशपर लोटकर वे घोडे धूलि झाडनेके लिए धीरे-धीरे अपने शरीर हिला रहे थे ॥११३॥ जो कमलोंकी परागका समूह वायुसे उड़कर आकाशमे छा गया था वह ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो घोडोके लिए वहुत ऊँचा कपडेका मण्डप ही वनाया गया हो ॥११४॥ वडे-वडे घोड़े पृथिवीको रजस्वला अर्थात् धूलिसे युक्त (पक्षमे रजोधर्म-से युक्त) देखकर ग्लानि करते हुए-से उठे और शीघ्र ही सरोवरोके जलमें घुस गये ॥११५॥ कमलकी केशरसे भरे हुए जलमे प्रविष्ट हुए घोड़ोका अगराग (शोभाके लिए शरीरपर लगाया हुआ एक प्रकारका लेप) यद्यपि धुल गया था तथापि उन्होने कमलोके परागसे अपने उस अगरागको पुन. प्राप्त कर लिया था। भावार्थ–कमलोकी केशरसे भरे हुए पानीमें स्नान करनेसे उनके शरीरपर जो कमलोंकी केशरके छोटे-छोटे कण लग गये थे उनसे अंगराग-की कमी नही मालूम होती थी ॥११६॥ सरोवरोमें घुसकर स्नान करनेमे जिनका सब परि-श्रम दूर हो गया है और जिन्होने इच्छानुसार जल पी लिया है ऐसे घोडे कपडेके वडे-वडे मण्डपों-में कुछ-कुछ नेत्र वन्द किये हुए खडे थे ॥११७॥ ऊँचे-ऊँचे शरीरोसे सुशोभित होनेवाले, महाराज भरतके हाथियोके डेरे नारियल और ताड़ वृक्षके वनोमें वनाये गये थे जो कि सर्वथा उचित थे ॥११८॥ जो वनकी भूमि ऊपरसे पड़ते हुए नारियलोके समूहसे ऊँची-नीची हो रही थी वही नारियलोके एक ओर हटा देनेसे हाथियोंके योग्य स्थान वन गयी थी ॥११९॥ जिन्हे वहुत प्यास लगी है तथा जो वमथु अर्थात् सूँडसे निकाले हुए जलके छींटोसे अपना परिश्रम प्रकट कर रहे है ऐसे हाथियोको महावत लोग पानी पिलानेके लिए तालावोपर ले गये थे ॥१२०॥ जो धीरे-धीरे चलनेसे मार्गमे उत्पन्न हुए परिश्रमको प्रकट कर रहे है ऐसे हाथियोको महावत

---

१ पल्ययनखलीनादिपरिकरा। २ आघ्रापयन्ति स्म ३ विवर्तयितुमिच्छव। ४–कीर्णे ल०। ५ कम्पन्ति स्म। ६ –निलोद्धुत ल०। ७ अयं नु ल०। ८ कुसुमरजोवनीम्, ऋतुमतीमिति ध्वनि। ९ दृष्ट्वा ल०, द०। १० जलानीत्यर्थ.। ११ प्रमाणम्। 'वर्ष्म देहप्रमाणयो.' इत्यभिधानात्। १२ गजैरेव। १३ स्वकरैर्भीत्याकारेण पर्यन्तप्रसारितै। १४ तृषितान्। 'उदन्या तु पिपासा तृट्' इत्यभिधानात्। १५ करशी-करप्रकटित। 'वमथु. करशीकर' इत्यभिधानात्। १६ हस्त्यारोहा.। 'हस्त्यारोहा निषादिन' इत्यमर। १७ मन्दगमनेन। स्खलद्गमनेन वा। अगमनेनेत्यर्थ। 'अल्पे नीचैर्महत्युच्चै'। १८ अवगाहनार्थम्।

प्रवेष्टुमब्जिनीपत्रच्छन्नं नागो नवग्रहः[1] । नैच्छत प्रचोद्यमानोऽपि वारि वारी[2]विशङ्कया ॥१२२॥
वनं विलोकयन् स्वैरं कवलोचितपल्लवम् । गजश्चिरगृहीतोऽपि किमप्यासीत समुत्सुकः ॥१२३॥
स्वैरं न पपुरम्भांसि नागृह्णन् कवलानपि । केवलं वनसंभोगसुखानां[3] सस्मरुर्गजाः ॥१२४॥
उत्पुष्करान्[4] स्फुरद्रौक्म[5]कक्ष्यान्निन्युर्द्विपान् सरः । सनगूनिव[6] नीलाद्रीन् सविद्युत इवाम्बुदान् ॥१२५॥
वनद्विपमदामोदवाहिने गन्धवाहिने[7] । अजः कुप्यञ्जलोपान्तं निन्ये कृच्छ्रान्निषादिना ॥१२६॥
अकस्मात कुपितो दन्ती शिरस्तिर्यग्विधूनयन् । अनङ्कुशवशस्तीव्रमाधोरणमखेदयत् ॥१२७॥
वन्यानेकपसंभोगसंक्रान्तमदवासनाम् । [8]विगाढुं सरसीं नैच्छन्मदेभः करिणीमिव ॥१२८॥
पीतं वनद्विपै. पूर्वमम्बु तद्दानवासितम् । द्विपः करेण संजिघ्रन्[9] [10]नापादास्फालयत् परम् ॥१२९॥
पीताम्भसो मदासारैर्वृद्धिं निन्युः सरोजलम् । गजा मुधा धनादानं नूनं वाञ्छन्ति नोन्नताः ॥१३०॥
उत्पुष्करं सरोमध्ये निमग्नोऽपि मदद्विपः । रंरणद्भि[11] खमुत्पत्य व्यज्यते स्म मधुव्रतैः ॥१३१॥
पीताम्बुरम्बुदस्पर्धि बृंहितो मदकुंजरः । दुधाव[12] गण्डकण्डूयां[13] चण्डगण्डूषवारिभिः ॥१३२॥

लोग नहलानेके लिए तालावोपर ले गये थे ॥१२१॥ कोई नवीन पकडा हुआ हाथी वार-वार प्रेरित होनेपर भी कमलिनीके पत्तोसे ढँके हुए जलमे समुद्रकी आशकासे प्रवेश नही करना चाहता था ॥१२२॥ वहुत दिनका पकड़ा हुआ भी कोई हाथी अपने इच्छानुसार खाने योग्य नवीन पत्तोवाले वनको देखता हुआ विलक्षण रीतिसे उत्कण्ठित हो रहा था ॥१२३॥ कितने ही हाथियोने इच्छानुसार न तो पानी ही पिया था और न ग्रास ही उठाये थे, वे केवल वनके सम्भोगमे उत्पन्न सुखोका स्मरण कर रहे थे ॥१२४॥ जिनकी सूँड ऊँची उठी हुई है और जिनकी वगलमें सुवर्णकी मालाएँ देदीप्यमान हो रही है ऐसे हाथियोको महावत लोग सरोवरोपर ले जा रहे थे, उस समय वे हाथी ऐसे जान पड़ते थे मानो अजगरसहित नील पर्वत ही हो अथवा विजलीसहित मेघ ही हो ॥१२५॥ जो जगली हाथीके मदकी गन्धको धारण करनेवाले वायुसे कुपित हो रहा है ऐसे किसी हाथोको उसका महावत वड़ी कठिनाईसे जलके समीप ले जा सका था ॥१२६॥ अचानक कुपित हुआ कोई हाथी अपने शिरको तिरछा हिला रहा था, वह अंकुशके वश भी नही होता था और महावतको खेदखिन्न कर रहा था ॥१२७॥ जंगली हाथीके सम्भोगसे जिसमें मदकी वास फैल रही है ऐसी हथिनीको जिस प्रकार कोई मदोन्मत्त हाथी नही चाहता है उसी प्रकार जिसमे जगली हाथियोकी क्रीड़ासे मदकी गन्ध मिली हुई है ऐसी सरोवरीमे कोई मदोन्मत्त हाथी प्रवेश नही करना चाहता था ॥१२८॥ जिस पानीको पहले वनके हाथी पी चुके थे और इसीलिए जो मदकी गन्धसे भरा हुआ था ऐसे पानीको सेनाके हाथियोने नही पिया था, वे केवल सूँडसे सूँघ-सूँघकर उसे उछाल रहे थे ॥१२९॥ जिन हाथियोने तालावका पानी पिया था उन्होने अपना मद वहा-वहाकर तालावका वह पानी वढा दिया था, सो ठीक ही है क्योकि जो उन्नत अर्थात् वड़े होते है वे किसीका व्यर्थ ही धन लेनेकी इच्छा नही करते है ॥१३०॥ कोई मदोन्मत्त हाथी यद्यपि सूँड़ ऊपर उठाकर तालावके मध्यभागमे डूवा हुआ था तथापि आकाशमें उड़कर शव्द करते हुए भ्रमरोसे 'वह यहाँ है', इस प्रकार साफ समझ पड़ता था । ॥१३१॥ जो पानी पी चुका है और जिसकी गर्जना मेघोके साथ स्पर्धा कर रही है ऐसा कोई मदोन्मत्त हाथी अपने कुरलेके जलकी तेज फटकारसे कपोलोकी खुजली शान्त कर रहा था

---

१ नवो नूतनो ग्रह स्वीकारो यस्य स । २ गजवन्धनहेतुभूतगतिशङ्कया । 'वारी तु गजवन्धनी' इत्यभिधानात् । ३ वनस्य सभोगाज्जातसुखानाम् । ४ उद्गतहस्ताग्रान् । ५ सुवर्णमयसवरत्रान् । 'दूष्या कक्ष्या वरत्रा स्यात्' इत्यभिधानात् । ६ अजगरसहितान् । ७ अनिलाय । ८ विगाढु ल०, द० । ९ आघ्रापयन् । १० न पिवन्ति स्म । ११ भृशं गुञ्जद्भि । १२ अपनयति स्म । १३ कपोलकण्डूयनम् ।

विमुक्तं व्यक्तसूत्कारं करमुत्क्षिप्य वारणैः। वारि स्फटिकदण्डस्य लक्ष्मीमूहे समुच्चलत्[1] ॥१३३॥
उदगाहैर्विनिर्धूतश्रमाः केचिन्मतङ्गजाः। बिसभङ्गै[3]र्धृतिं प्रापुः[4] हेलया कवलीकृतैः ॥१३४॥
मृणालैरधिदन्ताग्रमर्पितैर्विबभुर्गजाः। अजस्रमम्बुसेकाद्[5] रदैः[6] प्ररोहितैरिव ॥१३५॥
प्रमाद्यन् द्विरदः कश्चिन्मृणालं स्वकरोद्धृतम्। ददावालानबुद्ध्येव नियन्त्रे[8] द्विगुणीकृतम् ॥१३६॥
चरणालग्नमाकर्षन् मृणालं भीलुको गजः। बहिःसरस्तटं[9] [10]व्यास्थदन्दुतन्तुकशङ्कया[11] ॥१३७॥
करैरुत्क्षिप्य पद्मानि स्थिताः स्तम्बेरमा बभुः। देवतानुस्मृतिं किंचित् कुर्वन्तोऽर्घोच्चैरिवोद्धृतैः ॥१३८॥
सरस्तरङ्गधौताङ्गा रेजुस्तुङ्गा मतङ्गजाः। शृङ्गारिता इवालग्नैः सान्द्रैरम्भोजरेणुभिः ॥१३९॥
ययुः करिभिरारुद्धं परिहृत्य[12] सरोजलम्। पतत्रिणः सरस्तीरं तद्युक्तमबलीयसाम् ॥१४०॥
सरोवगाहनिर्णिक्तमूर्तयोऽपि[13] मतङ्गजाः। [14]रजःप्रमाथैरात्मानं चक्रुरेव मलीमसम् ॥१४१॥
वयं जात्यैव मातङ्गा[15] मदेनोद्दीपिताः पुनः। कुतस्त्या शुद्धिरस्माकमित्यात्तं नु[16] रजो गजैः ॥१४२॥

वसन्ततिलकावृत्तम्

इत्थं सरस्सु रुचिरं प्रविहृत्य नागाः संतापमन्त[17]रुदितं प्रशमय्य तोयैः।
तीरद्रुमानुपययुः किमपि प्रतोपाद् बन्धं तु तत्र नियतं न विदांबभूवुः[18] ॥१४३॥

॥१३२॥ कितने ही हाथी सूँड़ ऊँची उठाकर सू सू शब्द करते हुए ऊपरको पानी छोड़ रहे थे, उस समय आकाशकी ओर उछलता हुआ वह पानी ठीक स्फटिक मणिके बने हुए दण्डेकी शोभा धारण कर रहा था ॥१३३॥ पानीमे प्रवेश करनेसे जिनका सब परिश्रम दूर हो गया है ऐसे कितने ही हाथी लीलापूर्वक मृणालके टुकडे खाकर सन्तोष धारण कर रहे थे ॥१३४॥ कितने ही हाथी अपने दाँतोके अग्रभागपर रखे हुए मृणालोमे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो निरन्तर पानीके सींचनेसे उनके दाँत ही अंकुरित हो उठे हों ॥१३५॥ मदमे अत्यन्त उन्मत्त हुआ कोई हाथी अपनी सूँड़से ऊपर उठाये हुए मृणालको बाँधनेकी साँकल समझकर उसे दोहरी कर महावतको दे रहा था ॥१३६॥ अपने पैरमे लगे हुए मृणालको खींचता हुआ कोई भीरु हाथी उसे बाँधनेकी साँकल समझकर तालावके बाहरी तटपर ही खडा रह गया था ॥१३७॥ अपनी सूँडोसे कमलोको उठाकर खड़े हुए हाथी ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो हाथोमें अर्घ लेकर किसी देवताका कुछ स्मरण ही कर रहे हों ॥१३८॥ जिनके शरीर तालावकी लहरोंसे धुल गये हैं ऐसे ऊँचे-ऊँचे हाथी सघन रूपसे लगे हुए कमलोकी परागसे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो स्नान कराकर उनका शृंगार ही किया गया हो ॥१३९॥ हाथियोसे घिरे हुए तालावके जलको छोडकर सब पक्षी तालावके किनारेपर चले गये थे सो ठीक ही है क्योंकि निर्बल प्राणियोको ऐसा ही करना योग्य है ॥१४०॥ तालावोमे प्रवेश करनेसे जिनके शरीर निर्मल हो गये है ऐसे कितने ही हाथी धूल उड़ाकर फिरसे अपने-आपको मैला कर रहे थे ॥१४१॥ प्रथम तो हम लोग जातिसे ही मातंग अर्थात् चाण्डाल हैं (पक्षमें–हाथी हैं) और फिर मद अर्थात् मदिरासे (पक्षमें–गण्डस्थलसे बहते हुए तरल पदार्थसे) उत्तेजित हो रहे हैं इसलिए हम लोगोकी शुद्धि अर्थात् पवित्रता (पक्षमे–निर्मलता) कहाँसे रह सकती है ऐसा समझकर ही मानो हाथियोने अपने ऊपर धूल डाल ली थी ॥१४२॥ इस प्रकार वे हाथी बहुत देर तक सरोवरोमे क्रीडा कर और अन्तरंगमें उत्पन्न हुए सन्तापको जलसे शान्त कर किनारेके वृक्षों-

१ समुच्छ्वलत् ल०, द०, इ०, अ०, प०, स०। २ जलावगाहैः। ३ मृणालखण्डैः। ४ धृतवन्तः। ५ दन्तैः ल०, द०। ६ संजातप्ररोहैः, अङ्कुरितैः। ७ बन्धनरज्जु। ८ आरोहकाय। ९ सरस्तटीबाह्यप्रदेशे। १० प्रक्षिपति स्म। 'असु क्षेपणे'। ११ शृङ्खलासूत्र। 'अथ शृङ्खले'। 'अन्दुको निगलोऽस्त्री स्याद्' इत्यभिधानात्। १२ त्यक्त्वा। १३ शुद्ध। १४ धूलिप्रक्षेपैः। १५ श्वपचा इति ध्वनिः। १६ इव। १७ अभ्यन्तरोद्भूतम्। १८ न विदन्ति स्म।

हृत्वा सरोऽम्बु करिणो निजदानवारि संवर्धितं [1]विनिमयादनृणाश्व[2] सन्तः ।
तद्वीचिहस्तजनितप्रतिरोधशङ्का व्यासंगिनो नु सरसः प्रसभं निरीयुः ॥१४४॥
आधोरणा मदमषीमलिनान् करीन्द्रान् निर्णेक्तु[3]मम्बु सरसामवगाहयन्तः ।
शेकुर्न केवलमपामुपयोगमात्रं [4]तीरस्थिताननु नयैस्तदचीकरन्त[5] ॥१४५॥
स्वैरं नवाम्बुपरिपीतमयत्नलभ्यतीरद्रुमेषु न कृतः कवलग्रहोऽपि ।
छायास्वलम्भि न[6] तु विश्रमणं प्रभिन्नैः[7] स्तम्बेरमैर्वत मदः खलु नात्मनीनः[8] ॥१४६॥
नाध्वा द्रुतं गुरुतरैरपि नातियातो[9] युद्धेषु जातु न किमप्यपराद्धमेभिः ।
भारक्षमाश्च करिणः सविशेषमेव वद्धास्तथाप्यनिभृता[10] इति दिक्चलत्वम् ॥१४७॥
वध्नीथ[11] नः किमिति हन्त विनापराधाज् जानीत[12] भोः[13] प्रतिफलत्यचिरादिदं वः ।
इत्युच्चलत्सृणि[14] विधूय शिरांसि बन्धे वैरं नु यन्तृषु गजाः स्म विभावयन्ति ॥१४८॥
आघातुको[15] द्विरदिनः सविशेषमेव गात्रापरान्तकर[16]वालधिषु न्ययोजि ।
वन्धेन सिन्धुरवरास्त्वितरे[17] तथा नो गाढीभवत्यविरतान्न[18] परत्र[19] वन्धः ॥१४९॥

के समीप आ गये थे, यद्यपि वहाँ उनके बाँधनेका स्थान नियत था तथापि क्रीड़ासे उत्पन्न हुए अतिशय सन्तोषसे उन्हे उसका कुछ भी ज्ञान नही था ॥१४३॥ हाथियोने तालावोका जो पानी पिया था उसे मानो अपना वदला चुकानेके लिए ही अपने मदरूपी जलसे वढ़ा दिया था, इस प्रकार प्यासरहित हो सुखकी साँस लेते हुए वे हाथी, 'ये तालाव अपनी लहरेंरूपी हाथोसे कही हमे रोक न ले' ऐसी आशंका कर तालावोसे शीघ्र ही वाहर निकल आये थे ॥१४४॥ मदरूपी स्याहीसे मलिन हुए हाथियोको निर्मल करनेके लिए तालावोके जलमे प्रवेश कराते हुए महावत जव उन्हे जलके भीतर प्रविष्ट नही करा सके तव उन्होने केवल जल ही पिलाना चाहा परन्तु वहुत कुछ अनुनय-विनय करनेपर भी वे किनारेपर खड़े हुए उन हाथियोको केवल जल भी पिलानेके लिए समर्थ नही हो सके थे। भावार्थ – मदोन्मत्त हाथी न तो पानीमे ही घुसे थे और न उन्होने पानी ही पिया था ॥१४५॥ मदोन्मत्त हाथियोने न तो अपने इच्छानुसार विना यत्नके प्राप्त हुआ पानी ही पिया था, न किनारेके वृक्षोंसे कुछ तोडकर खाया ही था और न वृक्षोकी छायामे कुछ विश्वास ही प्राप्त किया था, खेद है कि यह मद कभी भी आत्माका भला करनेवाला नही है ॥१४६॥ इन हाथियोने शरीर भारी होनेसे शीघ्र ही मार्ग तय नही किया यह वात नही है अर्थात् इन्होने भारी होनेपर भी शीघ्र ही मार्ग तय किया है, इन्होने युद्धमे भी कभी अपराध नही किया है और ये भार ढोनेके लिए भी सवसे अधिक समर्थ हैं फिर भी केवल चचल होनेसे इन्हे बद्ध होना पडा है इसलिए इस चचलताको ही धिक्कार हो ॥१४७॥ तुम लोग इस प्रकार बिना अपराधके हम लोगोको क्यो वाँध रहे हो ? तुम्हारा यह कार्य तुम्हे शीघ्र ही इसका वदला देगा यह तुम खूव समझ लो इस प्रकार वाँधनेके कारण महावतोमे जो वैर था उसे वे हाथी अकुशको ऊपर उछालकर मस्तक हिलाते हुए स्पष्ट रूपसे जतला रहे थे ॥१४८॥ जो हाथी जीवोंका घात करनेवाले थे वे शरीरके आगे पीछे तथा सूँड़ और पूँछ आदि

१ नैमेयात् । 'परिदान परीवर्त नैमेयनियमावपि' इत्यभिधानात् । २–दतृणा. श्वसन्त ल० ।–दनृणा श्वसन्त. द० । ३ शुद्धान् कर्तुम् । ४ तीरे स्थितान्–ल० । ५ कारयन्ति स्म । ६ नैव । ७ मत्तै । 'प्रभिन्नो गर्जितो मत्त ' इत्यभिधानात् । ८ आत्महितम् । ९ नानुयातो प०, ल० । १० चञ्चला. । ११ वन्धनं कुरुथ । १२लोट् । १३ भो यूयम् । १४ उच्चलदकुशं यथा भवति तथा । 'अंकुशोऽस्त्री सृणि स्त्रियाम्' इत्यभिधानात् । १५ हिंस्रक । 'शरारुर्घातुको हिंस्र ' इत्यभिधानात् । १६ अपरगात्रान्त । शरीरापरभाग । 'द्वौ पूर्वपश्चाद्-जङ्घादिदेशौ गात्रापरे क्रमात्' इति रभस । गात्रे इत्युक्ते पूर्वजङ्घा, अपरे इत्युक्ते हस्तिन अपरजङ्घा, अन्त इत्युक्ते हस्तिनो मध्यप्रदेश , कर इत्युक्ते हस्तिनो हस्त , वालधिरित्युक्ते पुच्छविशेष शरीरमध्य । १७ अघातुका । १८ असयतात् । अन्नतिकादित्यर्थ । १९ सयते ।

आलानिता वनतरुष्वतिमात्रमुच्चस्कन्धेषु सिन्धुरवराश्च तथोच्चकैर्यत्[२] ।
तन्नूनमाश्रयणमिष्टमुदात्तमेव सधारणाय महतामहतात्मसारम् ॥१५०॥
इत्थं नियन्तृभिरनेकपवृन्दमुच्चैरालानितं तरुषु स्मामि[३] निमीलिताक्षम् ।
तस्थौ सुखं विचतुरेण[४] कृताङ्गहारं[५] लीलोपयुक्तकवलं स्फुटकर्णतालम् ॥१५१॥
उत्तारिताखिलपरिच्छदलाघवेन प्रव्यञ्जितद्रुतगतिक्र[६]मलक्ष्यवेगा. ।
आपातुमम्बुसरसां परितः प्रसस्रुरुच्छृङ्खलै[७]रनुगता. कलभैः करिण्य ॥१५२॥
प्राक्पीतमम्बु सरसां[८] कृतमौष्ट्रकेण[९] स्वोद्गाल[१०]दूषितमुपात्ततदङ्गगन्धम्[११] ।
नापातुमैच्छदुदिदन्य[१२]षितोऽपि वर्कः[१३] सर्वो हि वाञ्छति जनो विगयं मनोज्ञम् ॥१५३॥
पीतं पुरा गजतया सलिलं मदाम्बु संवासितं सरसिजाकरमेत्य तूर्णम् ।
प्रीत्या पपुः कलभकाश्च करेणवश्च संभोगहेतुरुदितो[१४] हि सगन्ध[१५]भाव. ॥१५४॥

प्रहर्षिणी

पीत्वाऽम्भो व्यपगमितान्तरङ्गतापाः संतापं बहिरुदितं सरोवगाहै. ।
नीत्वान्तं[१६] गजकलभैः समं करिण्यः संभोक्तु सपदि वनद्रुमान् विचेरुः ॥१५५॥

सब जगह बन्धनोसे युक्त किये गये थे और जो हाथी किसीका घात नही करते थे वे बन्धनसे युक्त नही किये गये थे इससे यह सिद्ध होता है कि जो अविरत अर्थात् हिंसा आदि पापोके त्यागसे रहित है उन्हीके कर्मबन्धन सुदृढ रूपसे होता है और जो विरत अर्थात् हिंसा आदि पापोके त्यागसे सहित है उनके कर्मका बन्ध नही होता ॥१४९॥ जिनके स्कन्ध बहुत ऊँचे गये है ऐसे वनके वृक्षोमे ही सेनाके ऊँचे-ऊँचे हाथी बाँधे गये थे सो ठीक ही है क्योकि महा-पुरुषोंको धारण करनेके लिए जिसकी स्वशक्ति नष्ट नही हुई है ऐसा बहुत बडा ही आश्रय चाहिए ॥१५०॥ इस प्रकार महावतोंके द्वारा ऊँचे वृक्षोमे बाँधा हुआ वह हाथियोका समूह अपनी आधी आँखे बन्द किये हुए सुखसे खड़ा था, उस समय वह अपना सब शरीर हिला रहा था, लीलापूर्वक ग्रास ले रहा था और कान फड़फडा रहा था ॥१५१॥ पलान आदि सब सामान उतार लेनेसे हलकी होकर जिन्होने जल्दी-जल्दी चलकर अपनी शीघ्र गति प्रकट की है, तथा चंचल बच्चे जिनके पीछे-पीछे आ रहे है ऐसी हथिनियाँ तालावोका पानी पीनेके लिए चारो ओर-से जा रही थी ॥१५२॥ तालावोके जिस पानीको पहले ऊँटोके समूह पी चुके थे, जो ऊँटोके उगालसे दूषित हो गया था और जिसमे ऊँटोके शरीरकी गन्ध आने लगी थी ऐसे पानीको हाथीका बच्चा प्यासा होनेपर भी नही पीना चाहता था, सो ठीक ही है क्योकि सभी कोई अपने मनके विषयभूत पदार्थके अच्छे होनेकी चाह रखते है ॥१५३॥ जिसे पहले हाथियोंके समूह पी चुके थे और जिसमे उनके मद जलकी गन्ध आ रही है ऐसे पानीको हथिनियाँ तथा उनके बच्चे बहुत शी तालावपर जाकर बड़े प्रेमसे पी रहे थे सो ठीक ही है क्योकि समानता ही साथ-साथ खाने-पीने आदि सम्भोगका कारण होती है ॥१५४॥ जिन्होने जल पीकर अन्तरंगका सन्ताप दूर किया है और तालावमे घुसकर बाहरी सन्ताप नष्ट किया है ऐसी हथिनियाँ अपने

---

१ आधोरणै. । २ यस्मात् वारणात् । ३ अर्ध । ४ विदृश्यानि विगतानि चत्वारि यस्य तेन । ५ अङ्गविक्षेपम् । ६ पाद । ७ स्वच्छन्दवृत्तिभि. । ८ सम्पूर्णम् । ९ उष्ट्रसमूहेण । १० निजोद्गार । ११ उष्ट्रशरीरगन्धम् । १२ भृशं तृषित । १३ तरुणगज. । विवकः अ० । १४ उक्त. । १५ परिमलत्व मित्रत्वं च । १६ नाशम् ।

वल्लीनां सकुसुमपल्लवाग्रभङ्गान् गुल्मौघानपि सरसां कडङ्गरांश्च[1] ।
सुस्वादून् मृदुविटपान् वनद्रुमाणां तद्यूथं कवलयति स्म धेनुकानाम्[2] ॥१५६॥
कुञ्जेषु [3]प्रतनुतृणाङ्कुरान् प्रमृद्नन्[4] वप्रान्तानपि[5] रदनैः शनैर्विनिघ्नन् ।
वल्लर्यग्रग्रसनचणः[6] फलेग्रहिः[7] सन् व्यालोलः कलभगणश्चिरं विजह्रे ॥१५७॥
प्रत्यग्राः किसलयिनीर्गृहाण शाखा भ[8]ङ्ग्ध्युच्चैर्वनगहनं निषीद[9] कुञ्जे ।
संभोग्यानुपसरसल्लकीवनान्तानित्येवं[10] व्यहृत[11] वने करेणुवर्गः ॥१५८॥
संभोगैर्वनमिति निर्विशन्[12] यथेष्टं स्वातन्त्र्यान्मुहुरपि [13]धूर्गतैर्निषिद्धः[14] ।
बद्धव्यः सहकलभः करेणुवर्गः संप्रापत् समुचितमात्मनो निवेशम् ॥१५९॥
वित्रस्तैरपथमुपाहृतस्तुरंगैः पर्यस्तो[15] रथ इह [16]भग्नधूर्निरक्षः[17] ।
एतास्ता द्रुतमपयान्त्यपेत्य मार्गाद् वारस्त्रीवहनपराश्च वेगसर्यः[18] ॥१६०॥
वित्रस्तः[19] करभनिरीक्षणाद् गजोऽयं भीरुत्वं प्रकटयति प्रधावमानः ।
[20]उत्त्रस्तात्पतति च वेसरादमुष्माद् विस्रस्तस्तनजघनांशुका पुरन्ध्री ॥१६१॥
इत्युच्चैर्व्यतिवदतां[21] पृथग्जनानां संजल्पैः क्षुभितखरोष्ट्रकौक्षकैश्च[22] ।
[23]व्याक्रोशैर्जनितरवैश्च सैनिकानां संक्षोभः क्षणमभवच्चमूषु राज्ञाम् ॥१६२॥

बच्चोके साथ खानेके लिए शीघ्र ही वनके वृक्षोकी ओर चली गयीं ॥१५५॥ वह हथिनियोका समूह लताओके पुष्पसहित नवीन पत्तोंके अग्रभागोको, छोटे-छोटे पौधोको, रसीले कडंगरि वृक्षोंको और वनके वृक्षोकी स्वादिष्ट तथा कोमल शाखाओको खा रहा था ॥१५६॥ लता-गृहोमे पतली घासके अकुरोंको खूँदता हुआ खेतोंकी मेडको अपने दाँतोसे धीरे-धीरे तोड़ता हुआ, लताओके अग्रभागके खानेमें चतुर तथा फलोको तोड़ता हुआ वह चचल हाथियोके बच्चो-का समूह चिरकाल तक क्रीडा करता रहा था ॥१५७॥ पत्तेवाली नवीन लताओको ग्रहण कर, ऊँची-ऊँची शाखाओसे युक्त सघन वनमे जा, लतागृहमे बैठ और खानेके योग्य सल्लकी वनोके समीप जा इस प्रकार महावतोकी आज्ञासे वह हथिनियोका समूह वनमे इधर-उधर विहार कर रहा था ॥१५८॥ इस प्रकार जो अनेक प्रकारकी क्रीड़ाओके द्वारा वनका अपनी इच्छा-नुसार उपभोग कर रहा है, स्वतन्त्रतापूर्वक आगे चलनेसे महावत लोग जिसे रोक रहे हैं और जो बाँधनेके योग्य है ऐसा वह हथिनियोंका समूह बच्चोके साथ अपने ठहरने योग्य स्थानपर जा पहुँचा ॥१५९॥ इधर हाथियोंसे डरे हुए इन घोडोने यह रथ कुमार्गमें ले जाकर पटक दिया है, इसका धुरा और भौरा टूट गया है तथा वेश्याओको ले जानेमे तत्पर ये खच्चरियाँ अपना मार्ग छोड़कर बहुत शीघ्र भागी जा रही है ॥१६०॥ इधर यह ऊँट देखनेसे डरा हुआ हाथी दौडा जा रहा है और उससे अपना भीरुपना प्रकट कर रहा है तथा इधर जिसके स्तन और जघन-परका वस्त्र खिसक गया है ऐसी यह स्त्री डरे हुए खच्चरसे गिर रही है ॥१६१॥ इस प्रकार जोर-जोरसे बोलते हुए साधारण पुरुपोकी बातचीतके शब्दोसे, क्षोभको प्राप्त हुए गधे, ऊँट तथा बैलोके शब्दोसे और परस्पर बुलानेसे उत्पन्न हुए सैनिकोके कठोर शब्दोसे राजाओकी

---

१ वुसानि । 'कडङ्गरो वुस क्लीवे' इत्यभिधानात् । २ करिणीनाम् । 'करिणी धेनुका वशा' इत्यमर । सुरभीणाम् । ३ कोमल । ४ मर्दयन् । ५ सान्वन्तान् । 'स्नुर्वप्र सानुरस्त्रियाम्' इत्यमर । ६ भक्षणसमर्थ । ७ फलानि गृह्णन् । ८ भङ्गं कुरु । ९ आस्स्व । १० सादिजनानुनयै । ११ विहाति स्म । १२ अनुभवन् । १३ सादिभि । १४ निषिद्ध । १५ उत्तान यथा पतित. । १६ भग्नयानमुख. । १७ निर्गतावयत्र. । १८ वेसरा । १९ भय गत । २० चकितात् । २१ परस्परभाषमाणानाम् । २२ वृषभैः । २३ परस्पराह्वयै ।

मालिनी

अवनिपतिसमाजेनानुयातस्तुरंगैरकृशविभवयोगान्निर्जयन् लोकपालान् ।
प्रतिदिशमुपशृण्वन्नाशिषश्चक्रपाणिः शिबिरमविशदुच्चैर्वन्दिनां पुण्यघोषैः ॥१६३॥
अथ सरसिजिनीनां गन्धमादाय सान्द्रं धुततटवनवीथिर्मन्दमावान्[1] समन्तात् ।
श्रममखिलमनैत्सीत्[2] कर्तुमस्योपचारं प्रहित इव सगन्धः[3] सिन्धुना[4] गन्धवाहः ॥१६४॥
अविदितपरिमाणैरन्वितो रत्नशङ्खैः[5] स्फुरितमणिशिखाग्रैर्भोगिभिः[6] सेवनीयः ।
सततमुपचितात्मा[7] रुद्धदिक्चक्रवालो जलनिधिमनुजह्ने[8] तस्य सेनानिवेशः ॥१६५॥

शार्दूलविक्रीडितम्

तत्रावासितसाधनो[9] निधिपतिर्गत्वा रथेनाम्बुधिं जैत्रास्त्रप्रतितर्जितामरसभस्तं व्यन्तराधीश्वरम् ।
जित्वा मागधवत् क्षणाद्वरतनुं तत्साह्वमम्भोनिधेर्द्वीपं शश्वदलंचकार यशसा कल्पान्तरस्थायिना ॥१६६॥
लेभेऽभेद्यमुरश्छदं वरतनोर्ग्रैवेयकं च स्फुरच्चूडारत्नमुदंशु दिव्यकटकान् सूत्रं च रत्नोज्ज्वलम् ।
सद्रत्नैरिति पूजितः स भगवान्[10] श्रीवैजयन्तार्णव-द्वारेण प्रतिसंनिवृत्य कटकं प्राविक्षदुत्तोरणम् ॥१६७॥

सेनाओमें क्षण-भरके लिए वडा भारी क्षोभ उत्पन्न हो गया था ॥१६२॥ घोड़ोपर वैठे हुए अनेक राजाओका समूह जिसके पीछे-पीछे चल रहा है ऐसा वह चक्रवर्ती अपने वडे भारी वैभवसे लोकपालोंको जीतता हुआ तथा प्रत्येक दिशासे बन्दीजनोके मगल गानोके साथ-साथ आशीर्वाद सुनता हुआ अपने उच्च शिविरमें प्रविष्ट हुआ ॥१६३॥

अथानन्तर जो किनारेके वनकी पक्तियोको हिला रहा है ऐसा वायु कमलिनियोंकी उत्कट गन्ध लेकर धीरे-धीरे चारो ओर वह रहा था और समुद्रके द्वारा भेजे हुए किसी खास सम्वन्धीके समान चक्रवर्तीके समस्त परिश्रमको दूर कर रहा था ॥१६४॥ उस समय वह चक्रवर्तीकी सेनाका स्थान (पडाव) ठीक समुद्रका अनुकरण कर रहा था क्योकि जिस प्रकार समुद्र प्रमाणरहित शख और रत्नोसे सहित होता है उसी प्रकार वह चक्रवर्तीकी सेनाका स्थान भी प्रमाणरहित शंख आदि निधियों तथा रत्नोसे सहित था, जिस प्रकार समुद्र, जिनके मस्तक-पर अनेक रत्न देदीप्यमान हो रहे है ऐसे भोगी अर्थात् सर्पोंसे सेवनीय होता है उसी प्रकार वह चक्रवर्तीकी सेनाका स्थान भी, जिनके मस्तकपर अनेक मणि देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसे भोगी अर्थात् राजाओके द्वारा सेवनीय था, जिस प्रकार समुद्र निरन्तर वढता रहता है उसी प्रकार वह चक्रवर्तीकी सेनाका स्थान भी निरन्तर वढता जाता था, और जिस प्रकार समुद्र सब दिशाओंको घेरे रहता है उसी प्रकार वह चक्रवर्तीकी सेनाका स्थान भी सव दिशाओको घेरे हुए था ॥१६५॥ जिसने अपनी सेना समुद्रके किनारे ठहरा दी है और जिसने अपने विजय-शील शस्त्रोसे मागध देवकी सभाको जीत लिया है ऐसे निधियोके स्वामी चक्रवर्तीने रथके द्वारा समुद्रमें जाकर मागध देवके समान व्यन्तरोके स्वामी वरतनु देवको भी जीता और समुद्रके भीतर रहनेवाले उसके वरतनु नामक द्वीपको कल्पान्त काल तक स्थिर रहनेवाले अपने यशसे सदाके लिए अलंकृत कर दिया ॥१६६॥ भरतने वरतनु देवसे कभी न टूटनेवाला कवच, देदीप्यमान हार, चमकता हुआ चूडारत्न, दिव्य कड़े और रत्नोंसे प्रकाशमान यज्ञोपवीत इतनी वस्तुएँ प्राप्त की। तदनन्तर उत्तम रत्नोसे जिसकी पूजा की गयी है ऐसे ऐश्वर्यशाली

---

१ आगच्छन् । २ अपनयति स्म । ३ वन्धु । ४ समुद्रेण । ५ चक्रादिरत्नशङ्खनिधिभि । पक्षे मौक्तिकादि-रत्नशङ्खै । ६ पक्षे सर्पै । ७ वर्द्धितस्वरूप । ८ अनुकरोति स्म । ९ निवासितवल. । १० पूज्य. ।

स्वच्छं स्वं हृदयं स्फुटं प्रकटयन्मुक्ताफलच्छद्मना स्वं चान्तर्गतरागमाशु कथयन्नुद्यत्प्रवालाङ्कुरैः।
सर्वस्वं च समर्पयन्नुपन[1]यन्नन्तर्वणं[2] दक्षिणो वारां राशिरमात्यवद्विभुमसौ निर्व्याजमाराधयत् ॥१६८॥
आस्थाने[3] जयदुन्दुभीननु नदन्[4] प्राभातिके मङ्गले गम्भीरध्वनितैर्जयध्वनिमिव प्रस्पष्टमुच्चारयन्।
सुव्यक्तं स जलाशयोऽप्यजल[5]धीर्वारांपतिः श्रीपतिं निभृ[6]त्यस्थितिरन्वियाय सुचिरं शक्रो यथाद्यं जिनम्

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे
दक्षिणार्णवद्वारविजयवर्णनं नामैकोनत्रिंशं पर्व ॥२९॥

■

भरतने वैजयन्त नामक समुद्रके द्वारसे वापस लौटकर अनेक प्रकारके तोरणोसे सुशोभित किये गये अपने शिविरमें प्रवेश किया ॥१६७॥ उस समय वह दक्षिण दिशाका लवणसमुद्र ठीक मन्त्रीकी तरह छलरहित हो भरतकी सेवा कर रहा था, क्योंकि जिस प्रकार मन्त्री अपने स्वच्छ हृदयको प्रकट करता है उसी प्रकार वह समुद्र भी मोतियोके छलसे अपने स्वच्छ हृदय (मध्यभाग) को प्रकट कर रहा था, जिस प्रकार मन्त्री अपने अन्तरंगका अनुराग (प्रेम) प्रकट करता है उसी प्रकार वह समुद्र भी उत्पन्न होते हुए मूंगाओके अंकुरोसे अपने अन्तरगका अनुराग (लाल वर्ण) प्रकट कर रहा था, जिस प्रकार मन्त्री अपना सर्वस्व समर्पण कर देता है उसी प्रकार समुद्र भी अपना सर्वस्व (जल) समर्पण कर रहा था, जिस प्रकार मन्त्री अपना गुप्त धन उनके समीप रखता है उसी प्रकार वह समुद्र भी अपना गुप्त धन (मणि आदि) उनके समीप रख रहा था, जिस प्रकार मन्त्री दक्षिण (उदार सरल) होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी दक्षिण (दक्षिणदिशावर्ती) था ॥१६८॥ अथवा जिस प्रकार इन्द्र दास होकर अनन्त चतुष्टयरूप लक्ष्मीके स्वामी प्रथम जिनेन्द्र भगवान् वृषभदेवकी सेवा करता था उसी प्रकार वह समुद्र भी दास होकर राज्यलक्ष्मीके अधिपति भरत चक्रधरकी सेवा कर रहा था, क्योंकि जिस प्रकार इन्द्र आस्थान अर्थात् समवसरण सभामें जाकर विजय-दुन्दुभि बजाता था उसी प्रकार वह समुद्र भी भरतके आस्थान अर्थात् सभामण्डपके समीप अपनी गर्जनासे विजय-दुन्दुभि बजा रहा था, जिस प्रकार इन्द्र प्रात.कालके समय पढे जानेवाले मगल-पाठके लिए जय जय शब्दका उच्चारण करता था उसी प्रकार वह समुद्र भी प्रात.कालके समय पढ़े जानेवाले भरतके मंगल-पाठके लिए अपने गम्भीर शब्दोसे जय जय शब्दका स्पष्ट उच्चारण कर रहा था, जिस प्रकार इन्द्र जलाशय (जडाशय) अर्थात् केवलज्ञानकी अपेक्षा अल्पज्ञानी होकर भी अपने ज्ञानकी अपेक्षा अजलधी (अजड़धी) अर्थात् विद्वान् (अजडा धीर्यस्य स) अथवा अजड (ज्ञानपूर्ण परमात्मा) का ध्यान करनेवाला (अजडं ध्यायतीत्यजडधीः) था उसी प्रकार वह समुद्र भी जलाशय अर्थात् जलयुक्त होकर भी अजलधी अर्थात् जल प्राप्त करनेकी इच्छासे (नास्ति जले धीर्यस्य सः) रहित था, इस प्रकार वह समुद्र चिरकाल तक भरतेश्वरकी सेवा करता रहा ॥१६९॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहके
भाषानुवादमे दक्षिण समुद्रके द्वारके विजयका वर्णन करनेवाला
उनतीसवाँ पर्व समाप्त हुआ।

■

---

१ प्रापयन्। २ अन्तर्जलम्। ३ समवसरणे। ४ सदृशं ध्वनन्। ५ पटुबुद्धि। ६ भृत्यवृत्ति।

त्रिंशत्तमं पर्व

[1]अथापरान्तं[2] निर्जेतुमुद्यतः [3]प्रभुरुद्ययौ । [4]दक्षिणापरदिग्भागं वशीकुर्वन् स्वसाधनैः ॥१॥
पुरः प्रयातमश्वीयैरन्वक्[5] प्रचलितं रथैः । मध्ये हस्तिघटा [6]प्रायात् सर्वत्रैवात्र पत्तयः ॥२॥
[7]सदेवबलमित्यस्य चतुरङ्गं विभोर्बलम् । विद्याभृतां बलै. सार्द्धं षड्भिरङ्गैर्विपप्रथे[8] ॥३॥
प्रचलद्बलसंक्षोभादुच्चचाल किलार्णव । महतामनुवृत्तिं नु श्रावयन्ननुजीविनाम्[9] ॥४॥
बलैः प्रसह्य[10] निर्भुक्ताः[11] प्रह्वन्ति स्म[12] महीभुजः[13] । सरितः कर्दमन्ति[14] स्म स्थलन्ति स्म महाद्रयः ॥५॥
सुरसाः[15] कृतनिर्वाणा.[16] स्पृहणीया बुभुक्षुभिः[17] । महद्भिः समगुद्योगैः[18] फलन्ति[19] स्मास्य सिद्धयः[20] ॥६॥
अभेद्या दृढसंधाना[21] विपक्षजय[22] हेतवः । [23]शक्तयोऽस्य स्फुरन्ति स्म सेनाश्च विजिगीषुषु ॥७॥
फलेन[24] योजितास्तीक्ष्णा. सपक्षा[25] दूरगामिनः । नाराचै.[26] सममेतस्य योधा जग्मुर्जयाङ्गताम् ॥८॥

अथानन्तर–पश्चिम दिशाको जीतनेके लिए उद्यत हुए चक्रवर्ती भरत अपनी सेनाके द्वारा दक्षिण और पश्चिम दिशाके मध्यभाग (नैर्ऋत्य दिशा) को जीतते हुए निकले ॥१॥ उनकी सेनामें घोडोके समूह सबसे आगे जा रहे थे, रथ सबसे पीछे चल रहे थे, हाथियोका समूह बीचमे जा रहा था और प्यादे सभी जगह चल रहे थे ॥२॥ हाथी, घोडे, रथ, प्यादे इस प्रकार चार तरहकी भरतकी सेना देव और विद्याधरोकी सेनाके साथ-साथ चल रही थी । इस प्रकार वह सेना अपने छह अंगोके द्वारा चारो ओर विस्तार पा रही थी ॥३॥ उस चलती हुई सेना-के क्षोभसे समुद्र भी क्षुभित हो उठा था – लहराने लगा था और ऐसा जान पडता था मानो 'सबको महापुरुषोंका अनुकरण करना चाहिए' यही बात सेवक लोगोको सुना रहा हो ॥४॥ सेनाके द्वारा जबरदस्ती आक्रमण किये हुए राजा लोग नम्र हो गये थे, नदियोंमें कीचड़ रह गया था और बडे-बडे पहाड़ समान – जमीनके सदृश–हो गये थे ॥५॥ जिनका उपभोग अत्यन्त मनो-रम है, जो सन्तोष उत्पन्न करनेवाली है, और जो उपभोगकी इच्छा करनेवाले मनुष्योके द्वारा चाहने योग्य है ऐसी इस चक्रवर्तीकी समस्त सिद्धियाँ इसके बडे भारी उद्योगोके साथ-ही-साथ फल जाती थी अर्थात् सिद्ध हो जाती थी – ॥६॥ जिन्हे कोई भेद नही सकता है, जिनका सगठन अत्यन्त मजबूत है और जो शत्रुओके क्षयका कारण है ऐसी भरतकी शक्ति तथा सेना दोनो ही शत्रु राजाओपर अपना प्रभाव डाल रहे थे ॥७॥ भरतके योद्धा उनके वाणोके समान थे, क्योकि जिस प्रकार योद्धा फल अर्थात् इच्छानुसार लाभसे युक्त किये जाते थे उसी प्रकार वाण भी फल अर्थात् लोहेकी नोकसे युक्त किये जाते थे, जिस प्रकार योद्धा तीक्ष्ण अर्थात् तेजस्वी थे उसी प्रकार वाण भी तीक्ष्ण अर्थात्

---

१ 'रूप्याद्रिनाथनतमौलिविराजिरत्नमदोहनिर्गलितदीप्तिमयाङ्घ्रिपद्मम् । देव नमामि सतत जगदेकनाथ भक्त्या प्रणष्टदुरित जगदेकनाथम् ॥ 'त' पुस्तकेऽधिकोऽय श्लोक' । २ अपरदिगवधिम् । ३ अभ्युदयवान् । ४ नैर्ऋत्य-दिग्भागम् । ५ पश्चात् । ६ अगच्छत् । ७ सदेव ल० । ८ प्रकाशते स्म । ९ भटानाम् । १० बलात्कारेण । ११ निर्जिता । १२ प्रणता इव आचरन्ति स्म । १३ महीभुज वृक्षा वा । १४ कर्दमा इवाचरिता । १५ सिद्धिपक्षे रागसहिता । फलपक्षे रससहिता । 'गुणे रागे द्रवे रस ' इत्यमर' । १६ कृतसुखा । १७ भोक्तु-मिच्छुभि । आश्रितजनैरित्यर्थ । १८ उत्साहैः । १९ फलानीवाचरन्ति स्म । २० कार्यसिद्धय. । २१ दृढ-संबन्धाः । २२ –क्षय–ल० । २३ प्रभुमन्त्रोत्साहरूपा. । २४ तीरिफलेन अभीष्टफलेन च । २५ पक्षसहिता' सहायाश्च । २६ वाणै ।

दूरमुत्सारिताः सैन्यैः परित्यक्तपरिच्छदाः । विपक्षाः सत्यमेवास्य [1]विपक्षत्वमुपाययुः ॥९॥
आक्रान्त[2]भूभृतो नित्यं भुञ्जानाः फलसंपदम्[3] । कुपतित्वं[4] ययुश्चित्रं कोपेऽप्यस्य विरोधिनः ॥१०॥
संधिविग्रहचिन्तास्य[5] पदविद्यास्व[6]भूत् परम् । धूतयातव्यपक्षस्य[7] क्व संधानं क्व विग्रहः ॥११॥
इत्यजेतव्यपक्षोऽपि यदयं दिग्जयोद्यतः । तन्नूनं [8]भुक्तिमात्मीयां तद्व्याजेन[9] परीयिवान्[10] ॥१२॥
आक्रान्ताः सैनिकैरस्य विभोः पारेऽर्णवं[11] भुवः । पूगद्रुमकृतच्छाया नालिकेरवनैस्तताः ॥१३॥
निपपे[12] नालिकेराणां तरुणानां स्रुतो[13] रसः । सरस्तीरतरुच्छाया विश्रान्तैरस्य सैनिकैः ॥१४॥

पैने थे, जिस प्रकार योद्धा सपक्ष अर्थात् सहायकोंसे सहित थे उसी प्रकार बाण भी सपक्ष अर्थात् पंखोसे सहित थे, और जिस प्रकार योद्धा दूर तक गमन करनेवाले थे उसी प्रकार बाण भी दूर तक गमन करनेवाले थे, इस प्रकार वे दोनों साथ-साथ ही विजयके अंग हो रहे थे ॥८॥ भरतके विपक्ष (विरुद्धः पक्षो येषा ते विपक्षा.) अर्थात् शत्रुओको उनकी सेनाने दूर भगा दिया था और उनके छत्र चमर आदि सब सामग्री भी छीन ली थी इसलिए वे सचमुच ही विपक्षपनेको (विगत पक्षो येषां ते विपक्षास्तेषा भावस्तत्त्वम्) प्राप्त हो गये थे अर्थात् सहायरहित हो गये थे ॥९॥ यह एक आश्चर्यकी बात थी कि भरतके विरोधी राजा सेनाके द्वारा आक्रमण किये जानेपर तथा उनके क्रोधित होनेपर भी अनेक प्रकारकी फल-सम्पदाओका उपभोग करते हुए कुपतित्व अर्थात् पृथिवीके स्वामीपनेको प्राप्त हो रहे थे। भावार्थ – इस श्लोकमें श्लेषमूलक विरोधाभास अलंकार है इसलिए पहले तो विरोध मालूम होता है बादमे उसका परिहार हो जाता है। श्लोकका जो अर्थ ऊपर लिखा गया है उससे विरोध स्पष्ट ही झलक रहा है क्योंकि भरतके क्रोधित होनेपर और उनकी सेनाके द्वारा आक्रमण किये जानेपर कोई भी शत्रु सुखी नहीं रह सकता था परन्तु नीचे लिखे अनुसार अर्थ बदल देनेसे उस विरोधका परिहार हो जाता है–भरतके विरोधी राजा लोग, उनके कुपित होने तथा सेनाके द्वारा आक्रमण किये जानेपर अपनी राजधानी छोड़कर जंगलोमे भाग जाते थे, वहाँ फल खाकर ही अपना निर्वाह करते थे और इस प्रकार कु-पतित्व अर्थात् कुत्सित राजवृत्ति (दरिद्रता) को प्राप्त हो रहे थे ॥१०॥ उस भरतको सन्धि (स्वर अथवा व्यंजनोको मिलाना) और विग्रह (व्युत्पत्ति) की चिन्ता केवल व्याकरण शास्त्रमे ही हुई थी अन्य शत्रुओंके विषयमे नही हुई थी सो ठीक ही है क्योकि जिसने समस्त शत्रुओंको नष्ट कर दिया है उसे कहाँ सन्धि (अपना पक्ष निर्बल होनेपर बलवान् शत्रुके साथ मेल करना) करनी पड़ती है ? और कहाँ विग्रह (युद्ध) करना पड़ता है ? अर्थात् कही नही ॥११॥ इस प्रकार भरतके यद्यपि जीतने योग्य कोई शत्रु नही था तथापि वे जो दिग्विजय करनेके लिए उद्यत हुए थे सो केवल दिग्विजयके छलसे अपने उपभोग करने योग्य क्षेत्रमे चक्कर लगा आये थे – घूम आये थे ॥१२॥ महाराज भरतके सैनिकोने, जहाँ सुपारीके वृक्षोके द्वारा छाया की गयी है और जो नारियलके वनोंसे व्याप्त हो रही है ऐसे समुद्रके किनारेकी भूमिपर आक्रमण किया था ॥१३॥ सरोवरोके किनारेके वृक्षोकी छायामे विश्राम करनेवाले भरतके सैनिकोने नारियलके तरुण अर्थात् बड़े-बड़े वृक्षो

१ सहायपुरुषरहितत्वम् । २ आक्रान्ता भूभृतो ल० । भूभृतः राजान पर्वताश्च । ३ अभीष्टफलसपदम्, वनस्पतिफलसपद च । ४ भूपतित्व कुत्सितपतित्वं च । ५ सधानयुद्धचिन्ता च । ६ शब्दशास्त्रेषु । ७ निरस्तशत्रुपक्षस्य । ८ पालनक्षेत्रम् । ९ दिग्विजयछद्मना । १० प्रदक्षिणीकृतवान् । ११ समुद्रतीरम् । 'पारे मध्येऽग्र: षष्ठ्या' । १२ पान क्रियते स्म । १३ निसृत ।

स्फुरत्परुषसंपातपत्रनाधूननोत्थितः । तालीवनेषु[1] तत्सैन्यैः शुश्रुवे मर्मरध्वनिः[2] ॥१५॥
समं ताम्बूलवल्लीभिरपश्यत् क्रमुकान् विभुः । एककार्यत्वमस्माकमितीव[3] मिलितान्मिथः ॥१६॥
नृपस्ताम्बूलवल्लीनामुपघ्नान्[4] क्रमुकद्रुमान् । निध्यायन् वेष्टि[5] तांस्ताभिर्मुमुदे दम्पतीयितान् ॥१७॥
स्वाध्यायमिव कुर्वाणान् वनेष्वविरतस्वनान्[6] । [7]वीन्मुनीनिव सोऽपश्यद् यत्रास्त[8] मितवासिनः ॥१८॥
पनसानि मृदून्यन्तः कण्टकीनि वहिस्त्वचि । सुरसान्यमृतानीव जनाः [9]प्रादन् यथेप्सितम् ॥१९॥
नालिकेररस. पानं पनसान्यशनं परम् । मरीचान्युपदंशश्च वन्या[10] वृत्तिरहो सुखम् ॥२०॥
सरसानि मरीचानि किमप्यास्वाद्य विष्किरान् । स्वनः[11] प्रभुरद्राक्षीद् गलदश्रुविलोचनान् ॥२१॥
विदश्य[12] मञ्जरीस्तीक्ष्णा मरीचानां सशङ्कितम् । शिरो विधुन्वतोऽपश्यत् प्रभुस्तरुणमर्कटान् ॥ २२ ॥
वनस्पतीन् फलानम्रान् वीक्ष्य लोकोपकारिणः । जाताः कल्पद्रुमास्तित्वे[13] निरारेकास्तदा जनाः ॥२३॥
लतायुवतिसंसक्ताः प्रसवाढ्या वनद्रुमाः । करदा[14] इव तस्यासन् प्रीणयन्तः फलैर्जनान् ॥२४॥
नालिकेरासवैर्मत्ताः [15]किंचिदाघूर्णितेक्षणाः । यशोऽस्य जगुरामन्द्रकुहरं[16] सिंहलाङ्गनाः ॥२५॥

से निकला हुआ रस खूव पिया था ॥१४॥ वहाँ भरतकी सेनाके लोगोने ताड़ वृक्षोके वनोमें वायुके हिलनेसे उठी हुई वहुत कठोर सूखे पत्तोकी मर्मर-ध्वनि सुनी थी ॥१५॥ वहाँ सम्राट् भरतने हम लोगोंका एक ही समान कार्य होगा यही समझकर जो पानकी वेलोके साथ-साथ परस्परमे मिल रहे थे ऐसे सुपारीके वृक्ष देखे ॥१६॥ जो पानोकी लताओके आश्रय थे तथा जो उनके साथ लिपटकर स्त्री-पुरुषके समान जान पडते थे ऐसे सुपारीके वृक्षोको वडे गौरके साथ देखकर महाराज भरत वहुत ही प्रसन्न हुए थे ॥१७॥ उन वनोमे सूर्यास्तके समय निवास करनेवाले जो पक्षी निरन्तर शव्द कर रहे थे और ऐसे जान पड़ते थे मानो सूर्यास्तके समय निवास करनेवाले तथा स्वाध्याय करते हुए मुनि ही हो उन्हे भरतने देखा था ॥१८॥ जो भीतर कोमल है तथा वाहरी त्वचापर काँटोसे युक्त है ऐसे अमृतके समान मीठे कटहलके फल सेनाके लोगोने अपनी इच्छानुसार खाये थे ॥१९॥ वहाँ पीनेके लिए नारियलका रस, खानेके लिए कटहलके फल और व्यंजनके लिए मिरचे मिलती थी, इस प्रकार सैनिकोके लिए वनमे होनेवाली भोजनकी व्यवस्था भी सुखकर मालूम होती थी ॥२०॥ जो सरस अर्थात् गीली मिरचे खाकर कुछ-कुछ शव्द कर रहे है और जिनकी आँखोसे आँसू गिर रहे है ऐसे पक्षियोको भी भरतने देखा था ॥२१॥ जो तरुण वानर वहुत तेज मिरचोके गुच्छोंको नि.शक रूपसे खाकर वादमे चरपरी लगनेसे सिर हिला रहे थे उन्हे भी महाराजने देखा ॥२२॥ उस समय वहाँ फलोसे झुके हुए तथा लोगोका उपकार करनेवाले वृक्षोको देखकर लोग कल्प-वृक्षोके अस्तित्वमे शंकारहित हो गये थे ॥२३॥ जो लतारूप स्त्रियोसे लिपटे हुए है और अनेक फलोसे युक्त है ऐसे वनके वृक्ष अपने फलोसे सेनाके लोगोंको सन्तुष्ट करते हुए ऐसे जान पड़ते थे मानो भरतके लिए कर ही दे रहे हों ॥२४॥ जो नारियलकी मदिरा पीकर उन्मत्त हो रही है और इसीलिए जिनके नेत्र कुछ-कुछ घूम रहे है ऐसी सिंहल द्वीपकी स्त्रियाँ वहाँ गद्गद

---

१ तालवनेषु । २ शुष्कपर्णध्वनि । 'अथ मर्मर, स्वनिते वस्त्रपर्णानाम्' इत्यभिधानात् । ३ पर्णक्रमुकमेलनादेक-कार्यत्वमिति । ४ आश्रयभूतान् । 'स्यादुपघ्नोऽन्तिकाश्रये' इत्यमर । ५ विध्याय वे–ल० । ६ –स्वनम् ल० । ७ विहगान् । ८ यत्र रविरस्तं गतस्तत्र वासिनः । ९ भक्षयन्ति स्म । भक्षितवन्त इत्यर्थ. । १० वनवास । ११ रव कुर्वत । १२ भक्षयित्वा । १३ निस्सन्देहा । १४ कर सिद्धायं ददतीति करदा, कुटुम्बिजना इवेत्यर्थ । 'आलस्योपहत पादः पादः पापण्डमाश्रित । राजान सेवते पाद. पाद कृपिमुपागत. ॥' १५ प्रचलायित । १६ गम्भीरगह्वर यथा भवति तथा । गद्गदसहितकम्पन कुहरशब्देनोच्यते ।

त्रिकूट[1] मलयोत्सङ्गे गिरौ पाण्ड्यकवाटके । जगुरस्य यशो मन्द्रमूर्च्छनाः किन्नराङ्गनाः ॥२६॥
मलयोपान्तकान्तारे सह्याचलवनेषु च । यशो [2]वनेचरस्त्रीभिरुज्जगेऽस्य जयार्जितम् ॥२७॥
चन्दनोद्यानमाधूय मन्दं गन्धवहो ववौ । मलयाचलकुञ्जेभ्यो हरन्निर्झरशीकरान् ॥२८॥
विष्वग्विसारी[3] दाक्षिण्यं[4] समुज्झन्नपि सोऽनिल । संभावयन्निवातिथ्यै[5]र्विभोः श्रममपाहरत् ॥२९॥
एलालवङ्गसंवाससुरभिश्वसितै[6]र्मुखैः । स्तनैरापाण्डुभिः सान्द्रचन्दनद्रवचर्चितैः ॥३०॥
[7]सलीलमृदुभिर्यातैर्नितम्बभरमन्थरैः[8] । स्मितैरनङ्गपुष्पास्त्रस्तवकोद्भेदविभ्रमैः ॥३१॥
कोकिलालापमधुरै[9]र्ज्वलितै(जल्पितै)रनतिस्फुटैः । मृदुबाहुलतान्दोलसुभगैश्च विचेष्टितैः ॥३२॥
लास्यैः स्खलत्पदन्यासैर्मुक्ताप्रायैर्विभूषणैः । मदमञ्जुभिरुद्गीतैर्जितालिकुलशिञ्जितै[10] ॥३३॥
तमालवनवीथीषु संचरन्त्यो यदृच्छया । मनोऽस्य जह्रुरारूढयौवनाः केरलस्त्रियः ॥३४॥
प्रसाध्य दक्षिणामाशां [11]विभुस्त्रैराज्यपालकान् । समं प्रणमयामास विजित्य जयसाधनैः ॥३५॥

कण्ठसे महाराज भरतका यश गा रही थी ।।२५।। त्रिकूट पर्वतपर, मलयगिरिके मध्यभाग-पर और पाण्ड्यकवाटक नामके पर्वतपर किन्नर जातिकी देवियाँ गम्भीर स्वरसे चक्रवर्ती-का यश गा रही थी ।।२६।। इसी प्रकार मलय गिरिके समीपवर्ती वनमें और सह्य पर्वतके वनोंमे भीलोकी स्त्रियाँ विजयसे उत्पन्न हुआ महाराजका यश जोर-जोरसे गा रही थी ।।२७।। उस समय मलय गिरिके लतागृहोंसे झरनोके जलके छोटे-छोटे कण हरण करता हुआ तथा चन्दनके वगीचेको हिलाता हुआ वायु धीरे-धीरे बह रहा था ।।२८।। वह वायु दक्षिण दिशा-को छोडकर चारो ओर बह रहा था और ऐसा जान पडता था मानो अतिथि-सत्कारके द्वारा भरतका सन्मान करता हुआ ही उनका परिश्रम दूर कर रहा था। भावार्थ—इस श्लोकमे दाक्षिण्य शब्दके श्लेष तथा अपि शब्दके सन्निधानसे नीचे लिखा हुआ विरोध प्रकट होता है—'वह वायु यद्यपि दाक्षिण्य (स्वामीके इच्छानुसार प्रवृत्ति करना) भावको छोडकर स्वछन्दता पूर्वक चारों ओर घूम रहा था तथापि उसने एक आज्ञाकारी सेवककी तरह भरतका अतिथि-सत्कार कर उनका सव परिश्रम दूर कर दिया था, जो स्वामीके विरुद्ध आचरण करता है वह उसकी सेवा क्यो करेगा ? यह विरोध है परन्तु दाक्षिण्य शब्दका दक्षिण दिशा अर्थ लेनेसे वह विरोध दूर हो जाता है ('दक्षिणो दक्षिणोद्भूतसरलच्छन्दवर्तिषु' इति मेदिनी, दक्षि-णस्य भावो दाक्षिण्यम्, पक्षे दक्षिणैव दाक्षिण्यम्) ।।२९।। तमाल वृक्षोके वनकी गलियोमें इच्छानुसार इधर-उधर घूमती हुई केरल देशकी तरुण स्त्रियाँ इलायची, लौग आदि सुगन्धित वस्तुओके सम्बन्धसे जिनके नि श्वास सुगन्धित हो रहे है ऐसे मुखोसे, जो घिसे हुए चन्दनके गाढ लेपसे सुशोभित हो रहे है ऐसे स्तनोसे, नितम्बोंके भारसे मन्थर लीलासहित सुकोमल गमनसे, जो कामदेवके पुष्परूपी शस्त्रोके गुच्छोके खिलनेके समान सुशोभित हो रहे है ऐसे मन्द हास्यसे, कोयलकी कूकके समान मनोहर तथा अव्यक्त वाणीसे, सुकोमल बाहु-रूपी लताओके इधर-उधर फिरानेसे सुन्दर चेष्टाओसे, जिसमें स्खलित होते हुए पैर पड़ रहे है ऐसे नृत्योसे, अधिकतर मोतियोके वने हुए आभूषणोंसे, भ्रमरसमूहकी गुंजारको जीतनेवाले मदसे मनोहर उत्कृष्ट गीतोसे चक्रवर्ती भरतका मन हरण कर रही थी ।।३०–३४।। इस प्रकार महाराज भरतने अपनी विजयी सेनाके द्वारा दक्षिण दिशाको वश कर चोल, केरल और पाण्ड्य

---

१ त्रिकूटे म०, द०, ल०, अ०, प०, स० । त्रिकूटगिरिमलयाचलसानौ । २ वनचर–ल० । ३ विसरणशील । ४ दक्षिणदिग्भाग । आनुकूल्येन च । ५ अतिथौ साधुभि. उपचारैरित्यर्थ । ६ उच्छ्वासै । ७ गमनै । ८ मन्दै । ९ जल्पितै वचनै । १० सिञ्जनै. अ०, प०, ब०, स० । ११ त्रिराज्येषु जातान् । चोरकेरल-पाण्ड्यान् ।

कालिङ्गैर्[1]गजैरस्य [2]मलयोपान्तभूधरा. । [3]तुलयद्भिरिवोन्मानमाक्रान्ताः स्वेन वर्ष्मणा ॥३६॥
दिशां प्रान्तेषु विश्रान्तैर्दिग्जयेऽस्य चमूगजैः । दिग्गजत्वं स्वसाच्चक्रे शोभायै तत्कथान्तरम्[4] ॥३७॥
ततोऽ[5]परान्तमारुह्य[6] सह्याचलतटोपगः । पश्चिमार्णववेद्यान्त[7]पालकानजयद् विभुः[8] ॥३८॥
जयसाधनमस्याब्धेरारात्तीरं व्यजृम्भत[9] । महासाधनमप्युच्चैः[10] परं[11] पारमवाष्टमत्[12] ॥३९॥
उपसिन्धु[13]रिति व्यक्तमुभयोस्तीरयोर्बलम् । दृष्ट्वास्य साध्वसात्क्षुभ्यन्निवाभूदाकुलाकुलः ॥४०॥
ततः स्म बलसंक्षोभादितो वार्धिः प्रसर्पति । इत. स्म बलसंक्षोभात् ततोऽब्धिः प्रतिसर्पति ॥४१॥
हरिन्मणिप्रभोत्सर्पैस्ततमब्धेर्बभौ जलम् । चिराद् विवृत्तमस्यैव[14] सशैवलमधस्तलम् ॥४२॥
पद्मरागांशुभिर्भिन्नं क्वचनाब्धेर्व्यभाज्जलम् । क्षोभादिवास्य[15] हृच्छीर्णमुच्चलच्छोणितच्छटम्[16] ॥४३॥
सह्योत्सङ्गे[17] लुठन्नब्धिर्नूनं दु.खं न्यवेदयत् । सोऽपि संधारयन्नेनं बन्धुकृत्यमिवातनोत् ॥४४॥
असह्यैर्बलसंघट्टैः सह्यः[18] सह्यतिपीडितः । शाखोद्धारमिव[19] व्यक्तमकरोद् [20]रुग्णपादपैः ॥४५॥

इन तीन राजाओको एक साथ जीता और एक ही साथ उनसे प्रणाम कराया ॥३५॥ जो अपने शरीरसे मानो मलय पर्वतकी ऊँचाईकी ही तुलना कर रहे हैं ऐसे कलिंग देशके हाथियोने मलय पर्वतके समीपवर्ती अन्य समस्त छोटे-छोटे पर्वतोको व्याप्त कर लिया था ॥३६॥ दिग्विजयके समय दिशाओके अन्त भागमें विश्राम करनेवाले भरतके हाथियोंने दिग्गजपना अपने अधीन कर लिया था अर्थात् स्वयं दिग्गज बन गये थे इसलिए अन्य आठ दिग्गजोकी कथा केवल शोभाके लिए ही रह गयी थी ॥३७॥ तदनन्तर पश्चिमी भागपर आरूढ होकर सह्य पर्वतके किनारेके समीप होकर जाते हुए भरतने पश्चिम समुद्रकी वेदीके अन्तकी रक्षा करनेवाले राजाओको जीता ॥३८॥ भरतकी वह विजयी सेना समुद्रके समीप किनारे-किनारे सब जगह फैल गयी थी और वह इतनी वड़ी थी कि उसने समुद्रका दूसरा किनारा भी व्याप्त कर लिया था ॥३९॥ उस समय हवासे लहराता हुआ उपसमुद्र ऐसा जान पडता था मानो दोनो किनारेपर भरतकी सेना देखकर भयसे ही अत्यन्त आकुल हो रहा हो ॥४०॥ उस किनारेका उपसमुद्र सेनाके क्षोभसे इस किनारेकी ओर आता था और इस किनारेका उपसमुद्र सेनाके क्षोभसे उस किनारेकी ओर जाता था ॥४१॥ ऊपर फैली हुई हरे मणियोकी कान्तिसे व्याप्त हुआ वह समुद्रका जल ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो इस समुद्रका शेवालसहित नीचेका भाग ही बहुत समय वाद उलटकर ऊपर आ गया हो ॥४२॥ कही-कहीपर पद्मराग मणियोकी किरणोसे व्याप्त हुआ समुद्रका जल ऐसा जान पडता था मानो सेनाके क्षोभसे समुद्रका हृदय ही फट गया हो और उसीसे खूनकी छटाएँ निकल रही हो ॥४३॥ सह्य पर्वतकी गोदमे लोटता. हुआ (लहराता हुआ) वह समुद्र ऐसा जान पडता था मानो उससे अपना दु.ख ही कह रहा हो और सह्यपर्वत भी उसे धारण करता हुआ ऐसा मालूम होता था मानो उसके साथ अपना वन्धुभाव (भाईचारा) ही वढा रहा हो ॥४४॥ सेनाके असह्य सघटनोसे अत्यन्त पीड़ित हुआ वह सह्यपर्वत अपने टूटे हुए वृक्षोसे ऐसा जान पड़ता था मानो अपने मस्तकपर लकडियोका गट्ठा रख-

---

१ कलिङ्गवने जातै । कलिङ्गवनजाता उन्नतकायाश्च । उक्त च दण्डिना देशविरोधप्रतिपादनकाले 'कलिङ्गवनसभूता मृगप्राया मतङ्गजा.' इति । २ मलयदेशसमीपस्थपर्वता । ३ गुणयद्भि'— अ०, ड०, स० । ४ दिग्गजा. सन्तीति कथाभेद. । ५ अपरदिग्भागम् । ६ व्याप्य । ७ वेलान्त—इत्यपि क्वचित् । ८ प्रभु· ल० । ९ विजृम्भितम् ल० । १० —मप्युच्चै' द०, ल०, अ०, प०, स० । ११ अपरतीरम् । १२ अशिश्रियत् । १३ उपसमुद्र । १४ परिणतम् । चिरकालप्रवर्तितम् । १५ हृत् हृदयम् शीर्ण विदीर्णं सत् । १६ —मुच्छ्वल— ल० द० । १७ सह्यगिरिसानौ । १८ पश्चिमार्णवपर्वतः । १९ पल्लव गृहीत्वा आक्रोशम् । २० भुग्न । 'रुग्णं भुग्ने' इत्यमर. । भुग्न—ल० । भग्न—द० ।

चलत्सत्त्वो [1]गुहारन्ध्रैर्विमुञ्चन्नाकुलं स्वनम् । [2]महाप्राणोऽद्रिरुत्क्रान्ति[3]मियायेव चलक्षतः ॥४६॥
चलच्छाखी चलत्सत्त्वः चलच्छिथिलमेखलः । नाम्नैवाचलतां भेजे सोऽद्रिरेवं चलाचलः ॥४७॥
गजतावन[4]संभोगैस्तुरङ्गखुरघट्टनैः । मह्योत्सङ्गभुवः क्षुण्णाः स्थलीभावं क्षणाद् ययुः ॥४८॥
आपश्चिमार्णवतटादा च मध्यमपर्वतात् । आतुङ्गवरकादद्रेस्तुङ्गगण्डोपलाङ्कितात् ॥४९॥
तं कृष्णगिरिमुल्लङ्घ्य तं च शैलं सुमन्दरम् । मुकुन्दं चाद्रिमुद्दसा जयेभास्तस्य बभ्रमुः ॥५०॥
तत्रा[5]परान्तकान् नागान् ह्रस्वग्रीवान्[6] परान् रदैः । युक्तान्[7] पीनायतस्निग्धैः श्यामान् [8]स्वक्षान् मृदुत्वचः ॥५१॥
[9]महोत्सङ्गानुदग्राङ्गान् रक्तजिह्वोष्ठतालुकान् । मानिनो दीर्घवालोष्ठान् पद्मगन्धमदच्युतः ॥५२॥
संतुष्टान् स्वे वने शूरान् दृढपादान् सुवर्ष्मणः । स भेजे तद्वनाधीशैः ससंभ्रममुपाहृतान्[10] ॥५३॥
वनरोमावलीस्तुङ्गतटारोहा[11] नहून्नदीः । पूर्वापराब्धिगाः[12] सोऽत्यैत् सह्याद्रेर्दुहितृरिव[13] ॥५४॥
संचरद्भीषणग्राहैर्भीमां [14]भैमरथीं नदीम् । नक्रचक्रकृतावर्तैर्दारुवेणां च दारुणाम् ॥५५॥

कर भरतके प्रति अपनी पराजय ही स्वीकृत कर रहा हो (पूर्व कालमें यह एक पद्धति थी कि पराजित राजा सिरपर लकडियोंका गट्ठा रखकर गलेमे कुल्हाड़ी लटकाकर अथवा मुखमे तृण दबाकर विजयी राजाके सामने जाते थे और उससे क्षमा माँगते थे।) ॥४५॥ वह पर्वत-रूपी बडा भारी प्राणी सेनाके द्वारा घायल हो गया था, उसके शिखर टूट-फूट गये थे, उसका सत्त्व अर्थात् धैर्य विचलित हो गया था–उसके सब सत्त्व अर्थात् प्राणी इधर-उधर भाग रहे थे, वह गुफाओके छिद्रोसे व्याकुल शब्द कर रहा था और इन सब लक्षणोसे ऐसा जान पडता था मानो बहुत शीघ्र मरना ही चाहता हो ॥४६॥ उस पर्वतके सब वृक्ष हिलने लगे थे, सब प्राणी इधर-उधर चंचल हो रहे थे–भाग रहे थे और उसके चारो ओरका मध्यभाग भी शिथिल होकर हिलने लगा था इस प्रकार वह पर्वत नाममात्रसे ही अचल रह गया था, वास्तवमे चल हो गया था ॥४७॥ लोगोकी वनक्रीड़ाओसे तथा घोड़ोके खुरोके संघटनसे उस सह्य पर्वतके ऊपरकी भूमि चूर-चूर होकर क्षण-भरमे स्थलपनेको प्राप्त हो गयी थी अर्थात् जमीनके समान सपाट हो गयी थी ॥४८॥ चक्रवर्ती भरतके मदोन्मत्त विजयी हाथी, पश्चिम समुद्रके किनारेसे लेकर मध्यम पर्वत तक और मध्यम पर्वतसे लेकर ऊँची-ऊँची चट्टानोसे चिह्नित तुंगवरक पर्वत तक, कृष्ण गिरि, सुमन्दर तथा मुकुन्द नामके पर्वतको उल्लंघन कर, चारो ओर घूम रहे थे ॥४९–५०॥ जिनकी गरदन कुछ छोटी है, जो देखनेमें उत्कृष्ट है, मोटे लम्बे और चिकने दाँतोसे सहित है, काले है, जिनकी सब इन्द्रियाँ अच्छी है, चमड़ा कोमल है, पीठ चौड़ी है, शरीर ऊँचा है, जीभ, होठ और तालु लाल है, जो मानी है, जिनकी पूँछ और होठ लम्बे है, जिनसे कमलके समान गन्धवाला मद झर रहा है, जो अपने ही वनमे सन्तुष्ट है, शूरवीर है, जिनके पैर मजबूत है, शरीर अच्छा है और जिन्हे उन वनोके स्वामी बडे हर्ष या क्षोभके साथ भेट देनेके लिए लाये है ऐसे पश्चिम दिशामे उत्पन्न होनेवाले हाथी भी भरतने प्राप्त किये थे ॥५१–५३॥ वन ही जिनकी रोमावली है और ऊँचे किनारे ही जिनके नितम्ब है ऐसी सह्य पर्वतकी पुत्रियोके समान पूर्व तथा पश्चिम समुद्रकी ओर बहनेवाली अनेक नदियाँ महाराज भरतने उल्लंघन की थी–पार की थी ॥५४॥ चलते-फिरते हुए भयंकर मगरमच्छोसे भयानक भीमरथी नदी, नाकुओसे समूहसे की हुई आवर्तोसे भयंकर दारुवेणा नदी, किनारे

---

१ गुह्यरन्ध्रै ल० । २ सिहादिसत्त्वरूपमहाप्राण । 'प्राणो हृन्मारुते चोले काले जीवेऽनिले बले ।' इत्यभिधानात् । ३ मरणावस्थाम् (मृतिम्) । ४ जनता ल०, द० । ५ पश्चिमदिक्समीपान् । ६ कुब्जस्कन्धोत्कृष्टान् । ७ पीनायित–ल० । ८ सुनेत्रान् । ९ बृहदुपरिभागान् । १० उपायनीकृतान् । ११ नितम्बाः । १२ अगात् । १३ पुत्रीरिव । १४ भीमरथी ल० ।

नीरां तीरस्थवानीर[1]शाखाग्रस्थगिताम्भसम् । मूलां कूलंकपैरोघैरुन्मूलिततटद्रुमाम्[2] ॥५६॥
वाणामविरता[3]वाणां केत[4]वामम्बुसंभृताम् । करीरित[5]तटोत्सङ्गां करीरीं सरिदुत्तमाम् ॥५७॥
प्रहरां[6]विषमग्राहैर्दूषितामसतीमिव । मुररां कुररैः[7] सेव्यामपपङ्कां[8] सतीमिव ॥५८॥
पारां पारेजलं[9]कूजत्क्रौञ्चकादम्ब[10]सारसाम् । [11]दमनां समनिम्नेषु[12][13]समानामस्खलद्गतिम् ॥५९॥
मदस्रुति[14]मिवाबद्धवेणिकां[15] सह्यदन्तिनः । गोदावरीमविच्छिन्नप्रवाहामतिविस्तृताम् ॥६०॥
करीरवण[16]संरुद्धतटपर्यन्तभूतलाम् । तापीमातपसंतापात् कवोष्णा बिभ्रतीमपः ॥६१॥
रम्यां तीरतरुच्छायासंसुप्तमृगशावकाम् । [17]खातामिवापरान्तस्य[18] नदीं लाङ्गलखातिकाम् ॥६२॥
सरितोऽमूः समं सैन्यैरुत्ततार चमूपतिः । तत्र तत्र [19]समाकर्षन्मदिनो वनग्रामजान् ॥६३॥
प्रसारितसरिज्जिह्वो योऽब्धिं पातुमिवोद्यतः । सह्याचलं तमुल्लङ्घ्य विन्ध्याद्रिं प्राप तद्बलम् ॥६४॥
भूभृतां[20] पतिमुत्तुङ्गं पृथुवंशं[21] धृतायतिम्[22] । पैरलङ्घ्यमद्राक्षीद् विन्ध्याद्रिं स्वमिव प्रभुः ॥६५॥

पर स्थित वेतोकी शाखाओके अग्रभागसे जिसका जल ढँका हुआ है ऐसी नीरा नदी, किनारेको तोड़नेवाले अपने प्रवाहसे जिसने किनारेके वृक्ष उखाड दिये है ऐसी मूला नदी, जिसमे निरन्तर शब्द होता रहता है ऐसी वाणा नदी, जलसे भरी हुई केतवा नदी, जिसके किनारेके प्रदेश हाथियोने तोड दिये है अथवा जिसके किनारेके प्रदेश करीर वृक्षोसे व्याप्त है ऐसी करीरी नामकी उत्तम नदी, विषमग्राह अर्थात् नीच मनुष्योसे दूषित व्यभिचारिणी स्त्रीके समान विषम ग्राह अर्थात् बडे-बडे मगरमच्छोसे दूषित प्रहरा नदी, सती स्त्रीके समान अपंका अर्थात् कीचड-रहित, (पक्षमे–कलकरहित) तथा कुरर पक्षियोंके द्वारा सेवा करने योग्य मुररा नदी, जिसके जलके किनारेपर क्रौंच, कलहंस (वदक) और सारस पक्षी शब्द कर रहे है ऐसी पारा नदी, जो समान तथा नीची भूमिपर एक समान जलसे भरी रहती है तथा जिसकी गति कही भी स्खलित नही होती है ऐसी मदना नदी, जो सह्य पर्वतरूपी हाथीके बहते हुए मदके समान जान पडती है, जो अनेक धाराएँ बाँधकर बहती है, जिसका प्रवाह बीचमे कही नही टूटता, और जो अत्यन्त चौडी है ऐसी गोदावरी नदी, जिसके किनारेके समीपकी भूमि करीर वृक्षोके वनोसे भरी हुई है और जो धूपकी गरमीसे कुछ-कुछ गरम जलको धारण करती है ऐसी तापी नदी, तथा जिसके किनारेके वृक्षोकी छायामें हरिणोके बच्चे सो रहे है और जो पश्चिम देशकी परिखाके समान जान पडती है ऐसी मनोहर लांगलखातिका नदी, इत्यादि अनेक नदियो-को सेनापतिने अपनी सेनाके साथ-साथ पार किया था। उस समय वह सेनापति मदोन्मत्त जंगली हाथियोको भी पकड़वाता जाता था ॥५५–६३॥ जो अपनी नदियोरूपी जीभोको फैलाकर मानो समुद्रको पीनेके लिए ही उद्यत हुआ है ऐसे उस सह्य पर्वतको उल्लघन कर भरतकी सेना विन्ध्याचलपर पहुँची ॥६४॥ चक्रवर्ती भरतने उस विन्ध्याचलको अपने समान ही देखा था क्योकि जिस प्रकार आप भूभृत् अर्थात् राजाओके पति थे उसी प्रकार विन्ध्याचल भी भूभृत् अर्थात् पर्वतोका पति था, जिस प्रकार आप उत्तुग अर्थात् अत्यन्त उदार हृदय थे उसी प्रकार वह विन्ध्याचल भी उत्तुग अर्थात् अत्यन्त ऊँचा

१ वेतस। २ प्रवाहै.। ३ अविच्छिन्नविष्वग्वाणाम् । अविरत आवाणो यस्या सा। ४ केतवा ल०। ५ गजप्रेरित। ६ विषममकरैः, पक्षे नीचग्रहणै.। ७ पक्षिविशेषै। ८ अपगतकर्दमाम्। पक्षे अपगतदोषपङ्काम्। ९ तीरजले। १० कलहस। ११ मदनां ल०, द०। १२ समानप्रदेशेषु। निम्नदेशेषु च। १३ जलेन समानाम्। १४ मदस्रवणम्। १५ प्रवाहाम्। कुल्याम् वा। १६ वेणुवन। १७ खातिकाम्। १८ पश्चिमदेशस्य। १९ स्वीकुर्वन्। २० राज्ञा गिरीणा च। २१ महान्वयं महावेणुं च। २२ धृतधनागमम्। धृतायाम च। 'आयतिर्दीर्घताया स्यात् प्रभुतागामिकालयो।'

भाति यः शिखरैस्तुङ्गैर्दूरव्यायतनिर्झरैः । सपताकैर्विमानौघैर्विश्रमायेव[1] संश्रितः ॥६६॥
यः पूर्वापरकोटिभ्यां विगाह्याम्बुनिधिं स्थितः । नूनं[2] दावभयात्सख्यममुना[3] प्रचिकीर्षति[4] ॥६७॥
नयन्ति निर्झरा यस्य शश्वत्पुष्टिं तटद्रुमान् । स्वपादाश्रयिणः पोष्याः प्रभुणेतीव शंसितुम् ॥६८॥
तटस्थपुट[5]पाषाणस्खलितोच्छलिताम्भसः । नदीवधूः कृतध्वानं निर्झरैर्हसतीव यः ॥६९॥
वनाभोगमपर्यन्तं यस्य दग्धुमिवाक्षमः । भृगुपाताय[6] दावाग्निः शिखराण्यधिरोहति ॥७०॥
ज्वलद्दावपरीतानि यत्कूटानि वनेचरैः । चामीकरमयानीव लक्ष्यन्ते शुचि[7]संनिधौ ॥७१॥
समातङ्ग[8] वनं यस्य सभुजङ्गपरिग्रहम्[9] । विजाति[10] कण्टकाकीर्णं क्वचिद्व्रजेऽतिकष्टताम् ॥७२॥
क्षीव[11]कुञ्जरयोगेऽपि क्वचिदक्षीवकुञ्जरम्[12] । विपत्रमपि[13] सत्पत्रपल्लवं भाति यद्वनम् ॥७३॥

था, जिस प्रकार आप पृथुवंश अर्थात् विस्तृत-उत्कृष्ट वंश (कुल) को धारण करनेवाले थे उसी प्रकार वह विन्ध्याचल भी पृथुवंश अर्थात् बड़े-बड़े बाँसके वृक्षोंको धारण करनेवाला था, जिस प्रकार आप धृतायति अर्थात् उत्कृष्ट भविष्यको धारण करनेवाले थे उसी प्रकार वह विन्ध्याचल भी धृतायति अर्थात् लम्बाईको धारण करनेवाला था, और जिस प्रकार आप दूसरोंके द्वारा अलंघ्य अर्थात् अजेय थे उसी प्रकार वह विन्ध्याचल भी दूसरोंके द्वारा अलंघ्य अर्थात् उल्लंघन न करने योग्य था ॥६५॥ जिनमें बहुत दूर तक फैलनेवाले झरने झर रहे हैं ऐसे ऊँचे-ऊँचे शिखरों-से वह पर्वत ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो पताकाओंसहित अनेक विमानोंके समूह ही विश्राम करनेके लिए उसपर ठहरे हों ॥६६॥ वह पर्वत अपने पूर्व और पश्चिम दिशाके दोनों कोणोंमें समुद्रमें प्रवेश कर खड़ा हुआ था और उससे ऐसा जान पड़ता था मानो दावानलके डरसे समुद्रके साथ मित्रता ही करना चाहता हो ॥६७॥ उस विन्ध्याचलके झरने 'स्वामीको अपने चरणोंको आश्रय लेनेवाले पुरुषोंका अवश्य ही पालन करना चाहिए' मानो यह सूचित करनेके लिए ही अपने किनारेके वृक्षोंका सदा पालन-पोषण करते रहते थे ॥६८॥ वह पर्वत शब्द करते हुए निर्झरनोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो अपने किनारेके ऊँचे-नीचे पत्थरोंसे स्खलित होकर जिनका पानी ऊपरकी ओर उछल रहा है ऐसी नदीरूपी स्त्रियोंकी हँसी ही कर रहा हो ॥६९॥ उस पर्वतके शिखरोंपर लगा हुआ दावानल ऐसा जान पड़ता था मानो उसके सीमारहित बहुत बड़े वनप्रदेशको जलानेके लिए असमर्थ हो ऊपरसे गिरकर आत्म-घात करनेके लिए ही उसके शिखरोंपर चढ़ रहा हो ॥७०॥ आषाढ़ महीनेके समीप जलते हुए दावानलसे घिरे हुए उस पर्वतके शिखर वहाँके भीलोंको सुवर्णसे बने हुएके समान दिखाई देते थे ॥७१॥ उस पर्वतका वन कहीं-कहीं मातंग अर्थात् हाथियोंसे सहित था अथवा मातंग अर्थात् चाण्डालोंसे सहित था, भुजंग अर्थात् सर्पोंके परिवारसे युक्त था अथवा भुजंग अर्थात् नीच (विट-गुण्डे) लोगोंके परिवारसे युक्त था और अनेक प्रकारके काँटोंसे भरा हुआ था अथवा अनेक प्रकारके उपद्रवी लोगोंसे भरा हुआ था इसलिए वह बहुत ही दु:खदायी अथवा शोचनीय अवस्थाको धारण कर रहा था ॥७२॥ उस पर्वतपर-का वन क्षीवकुंजर अर्थात् मदोन्मत्त हाथियोंसे युक्त होकर भी अक्षीवकुंजर अर्थात् मदोन्मत्त हाथियोंसे रहित था, और विपत्र अर्थात् पत्तोंसे रहित होकर भी सत्पत्रपल्लव अर्थात् पत्तों तथा कोंपलोंसे सहित

---

१ इव । २ मित्रत्वम् । ३ समुद्रेण । ४ कर्तुमिच्छति । ५ तटनिम्नोन्नत । ६ प्रपातपतनाय । 'प्रपातस्त्वतटो भृगुः' इत्यभिधानात् । ७ ग्रीष्म । ८ सगजं पक्षे सचाण्डालम् । ९ ससर्प, पक्षे सविट् । १० पक्षिजाति, पक्षे नीच जाति । ११ मत्तगज । १२ अक्षीवं समुद्रलवणम् 'सामुद्रं यत्तु लवणमक्षीवं वशिरञ्च तत्' । कुञ्जो गुल्मगुहान्तौ रान्ति ददातीति । १३ वीनां पत्राणि पक्षा यस्मिन् सन्तीति, अथवा विगताऽत्रम् ।

स्फुटद्वेणुदरोन्मुक्तैर्व्यस्तैर्मुक्ताफलैः क्वचित् । वनलक्ष्म्यो हसन्तीव स्फुटद्दन्तांशु[1] यद्वने ॥७४॥
गुहामुखस्फुरद्धीरनिर्झरप्रतिशब्दकैः । गर्जतीव कृतस्पर्धो महिम्ना यः कुलाचलैः ॥७५॥
[2]स्फुटन्निम्नोन्नतोद्देशैश्चित्रवर्णैश्च धातुभिः[3] । मृगरूपैरतर्क्यैश्च चित्राकारं बिभर्ति यः ॥७६॥
ज्वलन्त्योषधयो यस्य वनान्तेषु तमीमुखे । देवताभिरिवोत्क्षिप्ता[4] दीपिकास्तिमिरच्छिदः ॥७७॥
क्वचिन्मृगेन्द्रभिन्नेभकुम्भोच्चलितमौक्तिकैः[5] । मदुपान्तस्थलं धत्ते प्रकीर्णकुसुमश्रियम्[6] ॥७८॥
स तमालोकयन् दूरादाससाद महागिरिम् । आह्वयन्तमिवासक्त[7] मरुद्धूतैस्तटद्रुमैः ॥७९॥
स तद्वनगतान् दूरादपश्यद् वनकर्बुरान् । सयूथानुद्धनुर्वंशान्[8] किरातान् करिणोऽपि च ॥८०॥
सरिद्वधूस्तदुत्सङ्गे[10] विवृत्तशफरीक्षणाः । तद्वल्लभा इवापश्यत् स्फुरद्विहतमन्मनाः[11] ॥८१॥

था इस प्रकार विरोधरूप होकर भी सुशोभित हो रहा था। भावार्थ – इस श्लोकमे विरोधाभास अलकार है, विरोध ऊपर दिखाया जा चुका है अब उसका परिहार देखिए – वहाँका वन क्षीवकुंजर अर्थात् मदोन्मत्त हाथियोसे युक्त होनेपर भी अक्षीवकुंजर अर्थात् समुद्री नमक तथा हाथीदाँतोको देनेवाला था अथवा सोहाजनाके लतामण्डपोको प्रदान करनेवाला था और विपत्र अर्थात् पक्षियोके पंखोसे सहित होकर भी उत्तम पत्तो तथा नवीन कोपलोसे सहित था (अक्षीव च कुञ्जश्चेत्यक्षीवकुञ्जौ, तौ राति ददातीत्यक्षीवकुञ्जरम् अथवा 'अक्षीवाणां शोभाञ्जनाना कुञ्जं लतागृह - राति ददाति', 'सामुद्रं यत्तु लवणमक्षीवं वशिर च तत्' 'कुञ्जो दन्तेऽपि न स्त्रियाम्' 'शोभाञ्जने शिग्रुतीक्ष्णगन्धकाक्षीवमोचकाः इति सर्वत्रामर') ॥७३॥ उस पर्वतके वनमे कही-कहीपर फटे हुए वाँसोके भीतरसे निकलकर चारो ओर फैले हुए मोतियोंसे ऐसा जान पडता था मानो वनलक्ष्मियाँ ही दाँतोकी किरणे फैलाती हुई हँस रही हो ॥७४॥ गुफाओके द्वारोसे निकलती हुई झरनोकी गम्भीर प्रतिध्वनियोसे वह पर्वत ऐसा जान पडता था मानो अपनी महिमाके कारण कुलाचलोके साथ स्पर्धा करता हुआ गरज ही रहा हो ॥७५॥ वह पर्वत ऊँचे नीचे प्रदेशोसे, अनेक रंगकी धातुओसे और हरिणोके अचिन्तनीय वर्णोंसे प्रकट रूप ही एक विचित्र प्रकारका आकार धारण कर रहा था ॥७६॥ उस पर्वतके वनोमें रात्रि प्रारम्भ होनेके समय अनेक प्रकारकी औषधियाँ प्रकाशमान होने लगती थी जो कि ऐसी जान पड़ती थी मानो देवताओने अन्धकारको नष्ट करनेवाले दीपक ही जलाकर लटका दिये हो ॥७७॥ कही-कहीपर उस पर्वतके समीपका प्रदेश, सिंहोके द्वारा फाड़े हुए हाथियोके मस्तकोसे उछलकर पड़े हुए मोतियोसे ऐसा जान पड़ता था मानो बिखरे हुए फूलोकी शोभा ही धारण कर रहा हो ॥७८॥ जो वायुसे हिलते हुए किनारेके वृक्षोंसे बुलाता हुआ-सा जान पडता था ऐसे अपनेमें आसक्त उस महापर्वतको दूरसे ही देखते हुए चक्रवर्ती भरत उसपर जा पहुँचे ॥७९॥ वहाँ जाकर उन्होने उस पर्वतके वनोमे रहनेवाले झुण्डके झुण्ड भील और हाथी देखे। वे भील मेघोके समान काले थे और धनुषोके वाँसोको ऊँचा उठाकर कन्धोपर रखे हुए थे तथा हाथी भी मेघोके समान काले थे और धनुषके समान ऊँची उठी हुई पीठकी हड्डीको धारण किये हुए थे ॥८०॥ उस पर्वतके किनारेपर उन्होंने चंचल मछलियाँ ही जिनके नेत्र है और बोलते हुए पक्षियोके शब्द ही जिनके मनोहर शब्द है ऐसी उस विन्ध्याचलकी प्यारी स्त्रियोके समान नदीरूपी स्त्रियोको बडी ही उत्कण्ठाके साथ

---

१ स्फुरद्दन्तांशु–ल० । २ व्यक्त । ३ गैरिकादिभि । ४ उद्धृता । ५ –च्छ्वलित–ल०, द० । ६ पुष्पोपहारशोभाम् । ७ अनवरतम् । ८ ममसूहान् । ९ उद्गतधनुषो वेणून् । उद्गतधनुराकारपृष्ठस्थाश्च । १० पर्वतमानो। ११ विहगध्वनिरेवाव्यक्तवाचो यासा ता । –मुन्मना ल०, द० ।

मध्येविन्ध्यमथैक्षिष्ट[1] नर्मदां सरिदुत्तमाम् । प्रततामिव तत्कीर्तिमासमुद्रमपारिकाम् ॥८२॥
तरङ्गितपयोवेगां भुवो [2]वेणीमिवायताम् । पताकामिव विन्ध्याद्रेः शेषाद्रिजयशंसिनीम् ॥८३॥
सा धुनी बलसंक्षोभादुड्डीनविहगावलिः । विभोरुपागमे बद्धतोरणेव क्षणं व्यभात् ॥८४॥
नर्मदा[3] सत्यमेवासीन्नर्मदा नृपयोषिताम् । [4]यदुपोरूत्तरन्तीस्ताः शफरीभिरघट्टयत् ॥८५॥
तामुत्तीर्य जनक्षोभादुत्पतत्पतगावलिम्[5] । बलं विन्ध्योत्तरप्रस्थानाक्रामत कुतुपास्थया[6] ॥८६॥
तस्या[7] [8]दक्षिणतोऽपश्यद् विन्ध्य[9]मुत्तरतोऽप्यसौ । [10]द्विधाकृतमिवात्मानमपर्यन्तं दिशोर्द्वयोः ॥८७॥
स्कन्धावारनिवेशोऽस्य नर्मदामभितोऽद्युतत् । प्रथिम्ना[11] विन्ध्यमावेष्ट्य स्थितो विन्ध्य इवापरः ॥८८॥
[12]गजैर्गण्डोपलैरश्वैरश्ववक्त्रैश्च[13] विद्रुतैः । स्कन्धावारः स विन्ध्यश्च भिदां[14] नावापतुर्मिथः ॥८९॥
बलोपभुक्तनिःशेषफलपल्लवपादपः । अप्रसूनलतावीरुद्विन्ध्यो वन्ध्यस्तदाभवत ॥९०॥
वैणवैस्तण्डुलैर्मुक्ताफलमिश्रैः कृतार्चनाः । अध्यूषुः[15] सैनिकाः स्वैरं रम्या विन्ध्याचलस्थलीः[16] ॥९१॥

देखा ॥८१॥ तदनन्तर उन्होंने विन्ध्याचलके मध्य भागमे समुद्र तक फैली हुई और किसी-से न रुकनेवाली उसकी कीर्तिके समान नर्मदा नामकी उत्तम नदी देखी ॥८२॥ जिसके जल-का प्रवाह अनेक लहरोंसे भरा हुआ है ऐसी वह नर्मदा नदी पृथिवीरूपी स्त्रीकी लम्वी चोटी-के समान जान पड़ती थी अथवा शेष सब पर्वतोको जीत लेनेकी सूचना करनेवाली विन्ध्याचल-की विजय-पताकाके समान मालूम होती थी ॥८३॥ सेनाके क्षोभसे जिसके ऊपर पक्षियोंकी पक्तियाँ उड़ रही है ऐसी वह नदी क्षण-भरके लिए ऐसी जान पड़ती थी मानो उसने चक्रवर्ती-के आनेपर तोरण ही बाँधे हों ॥८४॥ चूँकि वह नर्मदा नदी जलको पार करनेवाली रानियोके लिए उनकी जाँघोके पास मछलियोंके द्वारा धक्का देती थी इसलिए वह सचमुच ही उन्हे नर्मदा अर्थात् क्रीड़ा प्रदान करनेवाली हुई थी ॥८५॥ मनुष्योके क्षोभसे जिसके पक्षियोकी पक्ति ऊपर-को उड रही है ऐसी उस नर्मदा नदीको पार कर उस सेनाने देहली समझकर विन्ध्याचलके उत्तर-की ओर आक्रमण किया ॥८६॥ वहाँ भरतने दक्षिण और उत्तर दोनो ही ओर विन्ध्याचलको देखा, उस समय दोनो ओर दिखाई देनेवाला वह पर्वत ऐसा जान पडता था मानो अपने दो भाग कर दोनो दिशाओको ही अर्पण कर रहा हो ॥८७॥ भरतकी सेनाका पड़ाव नर्मदा नदी-के दोनो किनारोपर था और वह ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो अपने विस्तारसे विन्ध्याचल-को घेरकर कोई दूसरा विन्ध्याचल ही ठहरा हो ॥८८॥ उस समय सेनाका पडाव और विन्ध्या-चल दोनो ही परस्परमें किसी भेद (विशेषता) को प्राप्त नही हो रहे थे क्योकि जिस प्रकार सेनाके पड़ावमें हाथी थे उसी प्रकार विन्ध्याचलमे भी हाथियोके समान ही गण्डोपल अर्थात् वडी-बड़ी काली चट्टाने थी और सेनाके पड़ावमे जिस प्रकार अनेक घोड़े इधर-उधर फिर रहे थे उसी प्रकार उस विन्ध्याचलमे भी अनेक अश्ववक्त्र अर्थात् घोडोके मुखके समान मुखवाले किन्नर जातिके देव इधर-उधर फिर रहे थे (कवि-सम्प्रदायमे किन्नरोंके मुखोका वर्णन घोड़ोके मुखोके समान किया जाता है) ॥८९॥ सेनाने उस विन्ध्याचलके समस्त फल, पत्ते और वृक्षोका उपभोग कर लिया था और लताओं तथा छोटे-छोटे पौधोको पुष्परहित कर दिया था इसलिए वह विन्ध्याचल उस समय वन्ध्याचल अर्थात् फल-पुष्प आदिसे रहित हो गया था ॥९०॥ मोतियोसे मिले हुए वाँसी चावलोसे जिनेन्द्रदेवकी पूजा करते हुए सैनिक लोगोने वहाँ इच्छा-

---

१ –मवैक्षिष्ट अ०, स०, इ० । २ प्रवेणीम् । ३ नर्म क्रीडा ता ददातीति नर्मदा । ४ ऊरुसमीपे । यदपो ह्युत्तरन्ती–ल० । ५ पक्षी । ६ देहलीति बुद्ध्या । ७ नर्मदायाः । ८ दक्षिणस्या दिशि स्थित । ९ उत्तरस्या दिशि स्थितम् । १० विन्ध्याचलम् नर्मदाविन्ध्याचलमध्ये विभिद्य द्विधाकृत्य गतेति भाव । ११ पृथुत्वेन । १२ गण्डशैलै । १३ किन्नरैः । १४ भेदम् । १५ निवसन्ति स्म । १६ –स्थिति ल० ।

कृतावासं च तत्रैनं ददृशुस्तद्वनाधिपाः । वन्यैरुपायनैः श्लाघ्यैरगदैश्च[1] महौषधैः ॥९२॥
उपानिन्युः[2] करीन्द्राणां दन्तानस्मै समौक्तिकान् । किरातवर्या[3] [4]वर्या हि स्वोचिता सत्क्रिया प्रभौ[5] ॥९३॥
पश्चिमार्धेन[6] विन्ध्याद्रिमुल्लङ्घ्योत्तीर्य नर्मदाम् । विजेतुमपरामाशां प्रतस्थे चक्रिणो बलम् ॥९४॥
गत्वा किंचिदु[7]दग्भूयः प्रतीचीं[8] दिशमानशे । प्राक् प्रतापोऽस्य दुर्वारः सचक्रं चरमं[9] बलम् ॥९५॥
तदा प्रचलदश्वीयखुरोद्धूतं[10] महीरजः । न केवलं द्विषां तेजो रुरोध द्युमणेरपि ॥९६॥
लाटा ललाट[11]संघृष्टभूपृष्ठाश्चाटुभाषिणः । लालाटिकपदं[12] भेजुः प्रभोराज्ञावशीकृताः ॥९७॥
केचित्सौराष्ट्रिकैर्नागैः परे[13] पाञ्चनदैर्गजैः । तं तद्वनाधिपा वीक्षांचक्रिरे चक्रचालिताः ॥९८॥
चक्रसंदर्शनादेव त्रस्ता निर्मण्डलग्रहाः[14] । ग्रहा[15] इव नृपाः केचित् चक्रिणो वशमाययुः ॥९९॥
दिश्यानिव[16] द्विपान् क्ष्मापान्पृथुवंशान्मदोद्धुरान् । प्रचक्रे[17] प्रगुणांश्चक्री बलादाक्रम्य दिक्पतीन् ॥१००॥
नृपान् सौराष्ट्रकानुष्ट्[18]वामीगतभृतोपदान् । [19]समाजयन् प्रभुर्भेजे रम्या रैवतकस्थलीः[20] ॥१०१॥

नुसार निवास किया था सो ठीक ही है क्योंकि विन्ध्याचलपर रहना बहुत ही रमणीय होता है ॥९१॥ विन्ध्याचलके वनोंके राजाओंने वनोंमें उत्पन्न हुई, रोग दूर करनेवाली और प्रशंसनीय बड़ी-बड़ी ओषधियाँ भेंट कर वहाँपर निवास करनेवाले राजा भरतके दर्शन किये ॥९२॥ भीलोंके राजाओंने बड़े-बड़े हाथियोंके दाँत और मोती महाराज भरतकी भेंट, किये सो ठीक ही है क्योंकि स्वामीका सत्कार अपनी योग्यताके अनुसार ही करना चाहिए ॥९३॥ विन्ध्याचलको पश्चिमी किनारेके अन्तभागसे उल्लंघन कर और नर्मदा नदीको पार कर चक्रवर्तीकी सेनाने पश्चिम दिशाको जीतनेके लिए प्रस्थान किया ॥९४॥ वह सेना पहले तो कुछ उत्तर दिशाकी ओर बढ़ी और फिर पश्चिम दिशामे व्याप्त हो गयी। सेनामें सबसे आगे महाराज भरतका दुर्निवार प्रताप जा रहा था और उसके पीछे-पीछे चक्रसहित सेना जा रही थी ॥९५॥ उस समय वेगसे चलते हुए घोड़ोके समूहके खुरोंसे उड़ी हुई पृथिवीकी धूलिने केवल शत्रुओंके ही तेजको नही रोका था किन्तु सूर्यका तेज भी रोक लिया था ॥९६॥ जिन्होने अपने ललाटसे पृथिवीतलको घिसा है और जो मधुर भाषण कर रहे है ऐसे भरतकी आज्ञासे वश किये हुए लाट देशके राजा उनके लालाटिक पदको प्राप्त हुए थे। (ललाटं पश्यति लालाटिक —स्वामी क्या आज्ञा देते है ? यह जाननेके लिए जो सदा स्वामीके मुखकी ओर ताका करते है उन्हे लालाटिक कहते है।) ॥९७॥ चक्र रत्नसे विचलित हुए कितने ही वनके राजाओंने सोरठ देशमे उत्पन्न हुए और कितने ही राजाओने पंजाबमें उत्पन्न हुए हाथी भेंट देकर भरतके दर्शन किये ॥९८॥ जो चक्रके देखनेसे ही भयभीत हो गये है और जिन्होंने अपने देशका अभिमान छोड दिया है ऐसे कितने ही राजा लोग सूर्य चन्द्र आदि ग्रहोंके समान चक्रवर्तीके वश हो गये थे। भावार्थ—जिस प्रकार समस्त ग्रह भरतके वशीभूत थे—अनुकूल थे उसी प्रकार उस दिशाके समस्त राजा भी उनके वशीभूत हो गये थे ॥९९॥ चक्रवर्ती भरतने दिग्गजोंके समान पृथुवंश अर्थात् उत्कृष्ट वंशमे उत्पन्न हुए (पक्षमें-पीठपर-की चौड़ी रीढसे सहित) और मदोद्धुर अर्थात् अभिमानी (पक्षमे-मदजलसे उत्कट) राजाओंको जबरदस्ती आक्रमण कर अपने वश किया था ॥१००॥ सैकडों ऊँट और घोड़ियोकी भेट लेकर आये हुए सोरठ देशके राजाओसे

१ व्याधिघातकैः । २ उपायनीकृत्य नयन्ति स्म । उपनिन्युः अ०, इ०, प०, स०, द० । ३ श्रेष्ठा । ४ चर्या ल० । ५ विभौ म०, अ० । ६ पश्चिमान्तेन ल०, द० । ७ उत्तरदिशम् । ८ पश्चिमाम् । ९ पश्चात् । १० खुरोद्भूतमहीरज ल० । ११ संदष्ट–इ०, प०, द० । १२ विशिष्टभृत्यपदम् । 'लालाटिकः प्रभोर्भावदर्शी कार्यक्षमश्च यः' इत्यभिधानात् । १३ पञ्चनदीषु जातैः । १४ देशग्रहणरहिताः । १५ आदित्यग्रहाः । १६ दिशि भवान् । १७ प्रणतान् । १८ उष्ट्राश्वसमूहवृतोपदान् । १९ तोषयन् । २० ऊर्जयन्तगिरिस्थलीः ।

सुराष्ट्रेषूर्जयन्ताद्रिमद्रिराजमिवोच्छ्रितम् । ययौ प्रदक्षिणीकृत्य भावितीर्थमनुस्मरन् ॥१०२॥
क्षौमांशुकदुकूलैश्च चीनपट्टाम्बरैरपि । पटीभेदैश्च[1] देशेशा ददृशुस्तमुपायनैः ॥१०३॥
कांश्चित् समानदानाभ्यां कांश्चिद्वि[2] स्रम्भभाषितैः । प्रसन्नैर्वीक्षितैः कांश्चिद् भूपान्विभुररञ्जयत् ॥१०४॥
गजप्रवेकैर्[3] जात्यश्वै रत्नैरपि पृथग्विधैः[4] । तमानर्चुर्नृपास्तुष्टाः स्वराष्ट्रोपगतं प्रभुम् ॥१०५॥
तरस्विभिर्वपुर्मेधावयःसत्त्वगुणान्वितैः । तुरंगमैस्तुरुष्काद्यैर्[5] विभुमाराधयन् परे ॥१०६॥
केचित्काम्बोजवाह्लीकतैतिलारट्टसैन्धवैः[6] । वानायुजैः[7] सगान्धारैर्वापेयैरपि[8] वाजिभिः ॥१०७॥
कुलोपकुलसंभूतैर्नानादिग्देशचारिभिः । आजानेयैः[9] समग्राङ्गैः प्रभुमैक्षन्त पार्थिवाः ॥१०८॥
प्रतिप्रयाणमित्यस्य रत्नलाभो न केवलम् । यशोलाभश्च दुःसाध्यान् बलात् साधयतो नृपान् ॥१०९॥
जलस्थलपथान् विष्वगारुध्य जयसाधनैः । प्रत्यन्तपालभूपालानजयत्तच्चमूपतिः ॥११०॥
विलङ्घ्य विविधान् देशानरण्यानीः सरिद्गिरीन् । तत्र तत्र[10] विभोराज्ञां सेनानीराश्वशुश्रुवत्[11] ॥१११॥
प्राच्यानिव स भूपालान् प्रतीच्यानप्यनुक्रमात् । श्रावयन् हृततन्मानधनः प्रापापराम्बुधिम् ॥११२॥

सेवा कराते हुए अथवा उनसे प्रीतिपूर्वक साक्षात्कार (मुलाकात) करते हुए चक्रवर्ती भरत गिरनार पर्वतके मनोहर प्रदेशोमे जा पहुँचे ॥१०१॥ भविष्यत् कालमे होनेवाले तीर्थंकर नेमिनाथका स्मरण करते हुए वे चक्रवर्ती सोरठ देशमे सुमेरु पर्वतके समान ऊँचे गिरनार पर्वतकी प्रदक्षिणा कर आगे बढ़े ॥१०२॥ उन-उन देशोके राजाओंने उत्तम-उत्तम रेशमी वस्त्र, चायना सिल्क तथा और भी अनेक प्रकारके अच्छे-अच्छे वस्त्र भेट देकर महाराज भरतके दर्शन किये ॥१०३॥ भरतने कितने ही राजाओंको सन्मान तथा दानसे, कितने ही राजाओको विश्वास तथा स्नेहपूर्ण बातचीतसे और कितने ही राजाओको प्रसन्नतापूर्ण दृष्टिसे अनुरक्त किया था ॥१०४॥ कितने ही राजाओने सन्तुष्ट होकर उत्तम हाथी, कुलीन घोड़े और अनेक प्रकारके रत्नोसे अपने देशमें आये हुए महाराज भरतकी पूजा की थी—॥१०५॥ अन्य कितने ही राजाओने वेगसे चलनेवाले, तथा शरीर, बुद्धि, अवस्था और बल आदि गुणोसे सहित तुरुष्क आदि देशोमे उत्पन्न हुए घोडोके द्वारा भरतकी सेवा की ॥१०६॥ कितने ही राजाओने उसी देशके घोड़े-घोडियोसे उत्पन्न हुए, तथा एक देशके घोड़े और अन्य देशकी घोडियोसे उत्पन्न हुए, नाना दिशाओं और देशोमें सचार करनेवाले, कुलीन और पूर्ण अंगोपाग धारण करनेवाले, काम्बोज, वाल्हीक, तैतिल, आरट्ट, सैन्धव, वानायुज, गान्धार और वापि देशमे उत्पन्न हुए घोडे भेट कर महाराजके दर्शन किये थे ॥१०७–१०८॥ इस प्रकार भरतको प्रत्येक पड़ावपर केवल रत्नोकी ही प्राप्ति नही हुई थी किन्तु अपने पराक्रमसे बड़े-बड़े दुःसाध्य (कठिनाइयोंसे जीते जाने योग्य) राजाओको जीत लेनेसे यशकी भी प्राप्ति हुई थी ॥१०९॥ भरतके सेनापतिने अपनी विजयो सेनाओके द्वारा चारो ओरसे जल तथा स्थलके मार्ग रोककर पहाड़ी राजाओको जीता ॥११०॥ सेनापतिने अनेक प्रकारके देश, बडे-बडे जगल, नदियाँ और पर्वत उल्लघन कर सब जगह शीघ्र ही सम्राट् भरतकी आज्ञा स्थापित की ॥१११॥ इस प्रकार चक्रवर्ती क्रम-क्रमसे पूर्व दिशाके राजाओके समान पश्चिम दिशाके राजाओको भी वश करता हुआ तथा उसके अभिसान और धनका हरण करता हुआ पश्चिम समुद्रकी ओर

---

१ सूत्रवस्त्रद्वयं पटी । २ स्नेह । ३ श्रेष्ठै । ४ नानाविधै । ५ तुरुष्कदेशजात्याद्यै । ६ तैतिल-आरट्ट-सिन्धुदेशजै. । ७ वानायुदेशे जातै । ८ वापिदेशभवै, पार्गेयै द०, वाणये ल० । ९ कुलीनै । 'आजानेया. कुलीना स्यु.' इत्यभिधानात्, जात्यश्वैरित्यर्थ । १० प्रभो– ल० । ११ श्रावयति स्म ।

वेलासरित्करान्[1] वार्द्धिरतिदूरं प्रसारयन्। नूनं[2] प्रत्यग्रहीदेवं नानारत्नार्घमुद्वहन् ॥११३॥
शूर्पोन्मेयानि[3] रत्नानि वार्धेरित्यप्रशंसिनी[4]। यानपात्रमहामानैरुन्मेयान्यत्र तानि यत् ॥११४॥
नाम्नैव लवणाम्भोधिरित्युदन्वान् लघूकृतः। रत्नाकरोऽयमित्युच्चैर्बहु मेने तदा नृपैः ॥११५॥
पतन्यत्र पतङ्गोऽपि[5] तेजसा याति मन्दताम्। दिदीपे तत्र तेजोऽस्य प्रतीच्यां[6] जयतो नृपान् ॥११६॥
धारयंश्चक्ररत्नस्य[7] पारयः संगरोदधेः[8]। द्विषा[9]मुदे[10]जयस्तीव्रं स तिग्मांशुरिवाद्युतत् ॥११७॥
अनुवार्द्धि तटं गत्वा सिन्धुद्वारे न्यवेशयत्। स्कन्धावारं स लक्ष्मीवानक्षोभ्यं स्वमिवाशयम् ॥११८॥
सिन्धोस्तटवने रम्ये न्यविक्षन्नास्य सैनिकाः। चमूद्विरदसंभोगनिकुब्जीभूतपादपे[11] ॥११९॥
तत्राधिवासितानोङ्गः[12] पुरश्चरणकर्मवित्[13]। पुरोधा धर्मचक्रेशान्[14] प्रपूज्य विधिवत्ततः ॥१२०॥
सिद्धशेषाक्षतैः पुण्यैर्गन्धोदकविमिश्रितैः। अभ्यनन्दत्सुयज्वा[15] तं पुण्याशीर्भिश्च चक्रिणम् ॥१२१॥
ततोऽसौ धृतदिव्यास्त्रो रथमारुह्य पूर्ववत्[16]। जगाहे लवणाम्भोधिं गोष्पदावज्ञया प्रभुः ॥१२२॥

चला ॥११२॥ उस समय वह समुद्र ऐसा जान पड़ता था मानो किनारेपर वहनेवाली नदियाँरूपी हाथोंको बहुत दूर तक फैलाकर नाना प्रकारके रत्नरूपी अर्घको धारण करता हुआ महाराज भरतकी अगवानी ही कर रहा हो अर्थात् आगे बढकर सत्कार ही कर रहा हो ॥११३॥ जो लोग कहा करते है कि समुद्रके रत्न सूपसे नापे जा सकते है वे उसकी ठीक-ठीक प्रशसा नही करते बल्कि अप्रशंसा ही करते है क्योकि यहाँ तो इतने अधिक रत्न है कि जो वड़े-वडे जहाजरूप नापोसे भी नापे जा सकते है ॥११४॥ यह समुद्र 'लवण समुद्र' इस नामसे विलकुल ही तुच्छ कर दिया गया है, वास्तवमे यह रत्नाकर है इस प्रकार उस समय भरत-आदि राजाओने उसे वहुत वड़ा माना था ॥११५॥ जिस दिशामें जाकर सूर्य भी अपने तेजकी अपेक्षा मन्द (फीका) हो जाता है उसी दिशामे पश्चिमी राजाओंको जीतते हुए चक्रवर्ती भरत का तेज अतिशय देदीप्यमान हो रहा था ॥११६॥ चक्ररत्नको धारण करता हुआ, युद्ध-रूपी समुद्रको पार करता हुआ और शत्रुओंको उद्विग्न करता हुआ वह भरत उस समय ठीक सूर्यके समान देदीप्यमान हो रहा था ॥११७॥ जो राज्यलक्ष्मीसे युक्त है ऐसे उस भरत-ने समुद्रके किनारे-किनारे जाकर अपने हृदयके समान कभी क्षुब्ध न होनेवाला अपनी सेनाका पडाव सिन्धु नदीके द्वारपर लगवाया। भावार्थ – जहाँ सिन्धु नदी समुद्रमें जाकर मिलती है वहाँ अपनी सेनाके डेरे लगवाये ॥११८॥ सेनाके हाथियोके उपभोगसे जहाँके वृक्ष निकुंज अर्थात् लतागृहोके समान हो गये है ऐसे सिन्धु नदीके किनारेके मनोहर वनमे भरतकी सेनाके लोगोने निवास किया ॥११९॥ तदनन्तर कार्यके प्रारम्भमे करने योग्य समस्त कार्योको जाननेवाले पुरोहितने वहाँपर मन्त्रके द्वारा चक्ररत्नकी पूजा कर विधिपूर्वक धर्मचक्रके स्वामी अर्थात् जिनेन्द्रदेवकी पूजा की और फिर गन्धोदकसे मिले हुए पवित्र सिद्ध शेषाक्षतो और पुण्यरूप अनेक आशीर्वादोसे चक्रवर्ती भरतको आनन्दित किया ॥१२०–१२१॥ तदनन्तर

१ वेलासरित एव करा. तान्। २ इव। ३ प्रस्फोटनेन उन्मातुं योग्यानि। प्रस्फोटन शूर्पमस्त्रीत्यभिधानात्। ४ वेला। –रिम्प्रशसिभि ल०। प्रशस्तेऽपि न प्रशस्या। (प्रशस्ताऽपि न प्रशस्या)। ५ सूर्य। ६ प्रतीच्यानिति पाठ। ७ चक्ररत्न धारयन्। ८ प्रतिज्ञासमुद्र समाप्त कुर्वन्। ९ शत्रून्। १० कम्पयन्। (एज कम्पने इति धातु। 'दारिपारिवेद्युदेजिजेतिसाहिसाहिलिम्पविन्दोपसर्गात् इति कर्तरि शप् प्रत्यय'। 'मध्ये कर्तरि शप्' इति शव्विधानात् एजयादेश)। ११ नितरा ह्रस्वीभूत। १२ समन्त्रक पूजितचक्ररत्नः (अन. शकटम् तस्याङ्गम् चक्रम्)। १३ पूर्वसेवा। १४ पञ्चपरमेष्ठिनः। १५ पुरोहित। सुष्ठु दृष्टवान्। 'यज्वा तु विधिनेष्टवान्' इत्यमर। 'सुयजोङ् वनिप्' इति अतीतार्थे सुयजधातुभ्या ङ्वनिप्प्रत्यय। १६ मागध-विजये यथा।

प्रभा[1] समजयत्तत्र प्रभासं व्यन्तराधिपम्। प्रभासमूहमर्कस्य स्वभासा तर्जयन्प्रभुः ॥१२३॥
जयश्रीशफरीजालं[2] मुक्ताजालं ततोऽमरात्। लेभे सान्तानिकीं[3] मालां हेममालां च चक्रभृत् ॥१२४॥
इति पुण्योदयाज्जिष्णुर्व्यजेष्टामरसत्तमान्। तस्मात् पुण्यधनं प्राज्ञाः शश्वदर्जयतोर्जितम् ॥१२५॥

शार्दूलविक्रीडितम्

स्वङ्ग[4]त्तुङ्गतुरङ्गसाधनखुरक्षुण्णा[5]न्महीस्थण्डिलाद्
उद्भूतैरणरे[7]णुभिर्जलनिधेः कालुष्यमापादयन्[8]।
सिन्धुद्वारमुपेत्य तत्र विधिना जित्वा प्रभासामरं
तस्मात्सारधनान्यवापदतुलश्रीरग्रणीश्चक्रिणाम् ॥१२६॥
लक्ष्म्यान्दोल[9]लतामिवोरसि दधत् संतानपुष्पस्रजं
मुक्ताहेममयेन[10] जालयुगलेनालंकृतोच्चैस्तनुः।
लक्ष्म्युद्वाह[11]गृहादिवाप्रतिभयो[12] निर्यन्निधेरम्भसां
लक्ष्मीशो रुरुचे भृशं नववरच्छायां[13] परामुद्वहन् ॥१२७॥

जिसने दिव्य अस्त्र धारण किये हैं ऐसे भरतने पहलेके समान रथपर चढकर गोष्पदके समान तुच्छ समझते हुए लवण समुद्रमे प्रवेश किया ॥१२२॥ अपनी प्रभासे सूर्यकी प्रभाके समूहको तिरस्कृत करते हुए भरतने वहाँ जाकर अतिशय कान्तिमान् प्रभास नामके व्यन्तरोके स्वामी-को जीता ॥१२३॥ तदनन्तर चक्रवर्तीने उस प्रभासदेवसे जयलक्ष्मीरूपी मछलीको पकड़ने-के लिए जालके समान मोतियोंका जाल, कल्पवृक्षके फूलोकी माला और सुवर्णका जाल भेट स्वरूप प्राप्त किये ॥१२४॥ इस प्रकार विजयी भरतने अपने पुण्यकर्मके उदयसे अच्छे-अच्छे देवोको भी जीता इसलिए हे पण्डितजन, तुम भी उत्कृष्ट फल देनेवाले पुण्यरूपी धनका सदा उपार्जन करो ॥१२५॥ अनुपम लक्ष्मीके धारक भरत, उछलते हुए बडे-बडे घोडोकी सेना-के खुरोसे खुदी हुई पृथिवीसे उडती हुई रथकी धूलिके द्वारा समुद्रको कलुपता प्राप्त कराते हुए (गँदला करते हुए) सिन्धुद्वारपर पहुँचे और वहाँ उन्होने विधिपूर्वक प्रभास नामके देवको जीतकर उससे सारभूत धन प्राप्त किया ॥१२६॥ जो अपने वक्षःस्थलपर लक्ष्मीके झूला-की लताके समान कल्पवृक्षके फूलोकी माला धारण किये हुए है, जिसका ऊँचा शरीर मोती और सुवर्णके वने हुए दो जालोसे अलङ्कृत हो रहा है, जो निर्भय है और लक्ष्मीका स्वामी है ऐसा यह भरत लक्ष्मीके विवाहगृहके समान समुद्रसे निकल रहा है और नवीन वरकी उत्कृष्ट कान्तिको धारण करता हुआ अत्यन्त सुशोभित हो रहा है ॥१२७॥ इस प्रकार समुद्र-पर्यन्त पूर्व दिशाके राजाओंको, वैजयन्त पर्वत तक दक्षिण दिशाके राजाओंको और पश्चिम समुद्र

---

१ प्रकृष्टदीप्तिम्। २ जयश्रीरेव शफरी मत्सी तस्या जालम् पाशः। ३ कल्पवृक्षजाताम्। ४ वलगत्। ५ चूर्णीकृतात्। ६ शर्कराप्रायप्रदेशात्। ७ सङ्गरपांशुभिः। ८ सपादयन्। ९ लक्ष्म्या प्रेङ्खोलिकारज्जुम्। १० मालायुग्मेन। ११ विवाह। १२ भयरहित। १३ नूतनवरशोभाम्।

प्राच्या[1] नाजलधे[2] रपाच्यनृपती[3] नावैजयन्ताज्जयन्
निर्जित्यापरसिन्धुसीमघटितामार्गां प्रतीचीमपि ।
दिक्पालानिव पार्थिवान्प्रणमयन्नाकम्पयन्नाकिनो
दिक्चक्रं विजितारिचक्रमकरोदित्थं स भूभृत्प्रभुः ॥१२८॥
पुण्याच्च[4]क्रधरश्रियं विजयिनीमैन्द्रीं च दिव्यश्रियं
पुण्यात्तीर्थकरश्रियं च परमां नैःश्रेयसीं चाश्नुते ।
पुण्यादित्यसुभृच्छ्रियां चतसृणामाविर्भवेद् भाजनं
तस्मात्पुण्यमुपार्जयन्तु सुधियः पुण्याज्जिनेन्द्रागमात् ॥१२९॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे पश्चिमार्णवद्वारविजयवर्णनं नाम त्रिंशं पर्व ॥३०॥

■

को सीमा तक पश्चिम दिशाको जीतकर दिक्पालोंके समान समस्त राजाओंसे नमस्कार कराते हुए तथा देवोंको भी कम्पायमान करते हुए राजाधिराज भरतने समस्त दिशाओंको शत्रुरहित कर दिया ।।१२८।। पुण्यसे सबको विजय करनेवाली चक्रवर्तीकी लक्ष्मी मिलती है, इन्द्रकी दिव्य लक्ष्मी भी पुण्यसे मिलती है, पुण्यसे ही तीर्थंकरकी लक्ष्मी प्राप्त होती है और परम कल्याणरूप मोक्षलक्ष्मी भी पुण्यसे ही मिलती है इस प्रकार यह जीव पुण्यसे ही चारों प्रकारकी लक्ष्मीका पात्र होता है, इसलिए हे सुधी जन ! तुम लोग भी जिनेन्द्र भगवान्‌के पवित्र आगमके अनुसार पुण्यका उपार्जन करो ।।१२९।।

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहके भाषानुवादमें पश्चिमसमुद्रके द्वारका विजय वर्णन करनेवाला तीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ।

■

---

१ पूर्वदिक्देशजान् । २ पूर्वसमुद्रपर्यन्तम् । ३ दक्षिणदेशभूपान् । ४ पवित्रात् ।

एकत्रिंशत्तमं पर्व

कौबेरीमथ निर्जेतुमाशामभ्युद्यतो विभुः । प्रतस्थे वाजिभूयिष्ठैः साधनैः स्थगयन् दिशः ॥१॥
धौरितैर्[1] गतं[2] मुत्साहैः सत्त्वं शिक्षां च लाघवैः । जातिं वपुर्गुणैस्तज्ज्ञास्तदाश्वानां विजज्ञिरे[3] ॥२॥
धौरितं गतिचातुर्यमुत्साहस्तु पराक्रमः । शिक्षाविनयसंपत्ती रोमच्छाया वपुर्गुणः ॥३॥
पुरोभागान्[4] निवाल्येतुं[5] पश्चाद्भागैः[6] कृतोद्यमाः । प्रययुर्द्रुतमध्वानमध्वनीना[7] स्तुरङ्गमाः ॥४॥
खुरोद्धतान् महीरेणून् स्वाङ्गस्पर्शभयादिव । केचिद् व्यतीयुरध्वान्तं[8][9] महाश्वाः कृतविक्रमाः ॥५॥
छायात्मानः[10] सहोत्थान[11] केचित्सोढुमिवाक्षमाः । खुरैरघट्टयन् वाहाः स तु सौक्ष्म्यान्नवाधितः ॥६॥
केचिन्नृत्तमिवातेनुर्महीरङ्गे तुरङ्गमाः । क्रमैश्चङ्क्रमणारम्भे[12] कृतमड्डुकवादनैः[13] ॥७॥
स्थिरप्रकृतिसत्त्वानामश्वानां चलताऽभवत । प्रचलत्खुरसंक्षुण्णभुवां गतिषु केवलम् ॥८॥
कोट्योऽष्टादशास्य स्युर्वाजिनां वायुरंहसाम्[14] । आजानेयप्रधानानां[15] योग्यानां चक्रवर्तिनः ॥९॥
रुद्धरोधोवनाक्षुण्णक्षतटभूर्हासयन्त्यपः । सिन्धोः[16] प्रतीपतां[17] भेजे प्रयान्ती सा पताकिनी ॥१०॥

अथानन्तर–उत्तर दिशाको जीतनेके लिए उद्यत हुए चक्रवर्ती भरत जिनमे अनेक घोडे है ऐसी सेनाओंसे दिशाओको व्याप्त करते हुए निकले ॥१॥ उस समय घोड़ोंके गुण जानने वाले लोगोने धौरित नामकी गतिसे उनकी चाल जानी, उत्साहसे उनका वल जाना, स्फूर्तिके साथ हलकी चाल चलनेसे उनकी शिक्षा जानी और शरीरके गुणोसे उनकी जाति जानी ॥२॥ गतिकी चतुराईको धौरित, उत्साहको पराक्रम, विनयको शिक्षा और रोमोकी कान्तिको शरीरका गुण कहते है ॥३॥ अच्छी तरह मार्ग तय करनेवाले घोड़े मार्गमे वहुत जल्दी-जल्दी जा रहे थे और ऐसे जान पड़ते थे मानो अपने पीछेके भागोसे अगले भागोंको उल्लघन ही करना चाहते हो ॥४॥ अपने खुरोसे उडती हुई पृथिवीकी धूलिका कही हमारे ही शरीरके साथ स्पर्श न हो जावे इस भयसे ही मानो अनेक बडे-बड़े घोडे अपना पराक्रम प्रकट करते हुए मार्गमे उस धूलिको उल्लघित कर रहे थे ॥५॥ कितने ही घोडे अपनी छायाका भी अपने साथ चलना नही सह सकते थे इसलिए ही मानो वे उसे अपने खुरोसे तोड़ रहे थे परन्तु सूक्ष्म होनेसे उस छायाको कुछ भी वाधा नही होती थी ॥६॥ कितने ही घोड़े ऐसे जान पड़ते थे मानो चलनेके प्रारम्भमे वजते हुए नगाड़े आदि वाजोके साथ-साथ अपने पैरोसे पृथ्वीरूपी रंगभूमिपर नृत्य ही कर रहे हो ॥७॥ जिनका स्वभाव और पराक्रम स्थिर है परन्तु जिन्होने अपने चलते हुए खुरोसे पृथ्वी खोद डाली है ऐसे घोड़ोंकी चंचलता केवल चलनेमें ही थी अन्यत्र नही थी ॥८॥ जिनका वेग वायुके समान है, जो उत्तम जातिके है और जो योग्य है ऐसे चक्रवर्तीके घोड़ों-की संख्या अठारह करोड थी ॥९॥ जिसने किनारेके वन रोक लिये है, जिसने किनारेकी पृथिवी

---

१ धाराभि । 'आस्कन्दितं धौरितक रेचित वल्गित प्लुतम् । गतयोऽमू पञ्च धारा.।' पदैरुत्प्लुत्योत्प्लुत्य गमनम् आस्कन्दितम् । कङ्कशिखिक्रोडनकुलगतै सदृशम् धौरितकम् । मध्यमवेगेन चक्रवद् भ्रमणम् रेचितम् । पद्भिर्वल्गितम् वल्गितम् । मृगसाम्येन लङ्घन प्लुतम् । आस्कन्दितादीनि पञ्चपदानि धाराशब्दवाच्यानि । धारेत्यश्वगति, सा ये आस्कन्दितादिभेदेन पञ्चविधा भवतीत्यर्थ । २ गमनम् । ३ बुबुधिरे । ४ पूर्वकायान् । ५ अतिगन्तुम् । ६ अपरकायै । ७ अध्वनि समर्था । ८ अतीत्यागच्छन् । ९ मार्गे । १० छायास्वरूपस्य । ११ छायात्मा । १२ शीघ्रगमनारम्भे । १३ वाद्यविशेष । १४ पवनवेगिनाम् । १५ जात्यश्वमुख्यानाम् । १६ सिन्धुनद्या । १७ प्रतिकूलताम् ।

प्रभोरिवागमात्तुष्टा सिन्धुः सैन्याधिनायकान् । तरङ्गपवनैर्मन्दमासिषेवे सुखाहरैः[1] ॥११॥
गङ्गावर्णनयोपेतां फेनाढ्यां[2] संमुखागताम् । तां पश्यन्नुत्तरामाशां जितां मेने निधीश्वरः ॥१२॥
अनुसिन्धुतटं सैन्यैरुदीच्यान् साधयन्नृपान् । विजयार्द्धाचलोपान्तमाससाद शनैर्मनुः ॥१३॥
स गिरिर्मणिनिर्माणनवकूटविशङ्कटः[3] । ददृशे प्रभुणा दूराद् धृतार्घ इव राजतः[4] ॥१४॥
स शैलः पवनाधूतचलशाखाग्रबाहुभिः । दूरादभ्यागतं जिष्णुमाजुहावेव पादपैः ॥१५॥
सोऽचलः शिखरोपान्तनिपतन्निर्झराम्बुभिः । प्रभोरुपागते पाद्यं संविधित्सुरिवाचकात्[6] ॥१६॥
स नगो नागपुन्नागपूगादिद्रुमसङ्कटैः[7] । रम्यैस्तटवनोद्देशैराह्वत् प्रभुमिवासितुम्[8] ॥१७॥
रजो वितानयन्[9] पौष्पं पवनैः परितो वनम् । सो[10]ऽभ्युत्तिष्ठन्निवास्यासीत् कूजत्कोकिलडिण्डिमः ॥१८॥
किमत्र बहुना सोऽद्रिर्विभुं दिग्विजयोद्यतम् । प्रत्यैच्छदिव संप्रीत्या सत्काराङ्गैरतिस्फुटैः ॥१९॥
[11]पिनद्धतोरणामुच्चैर्लङ्घ्य वनवेदिकाम् । नियन्त्रित[12] बलाध्यक्षैर्जगाहेऽन्तर्वणं बलम् ॥२०॥
वनोपान्तभुवः सैन्यैरारुद्धा रुद्धदिङ्मुखैः । उड्डीनविहगप्राणा निरुच्छ्वासास्तदाभवन् ॥२१॥

तोड दी है और जो जलको कम करती जाती है ऐसी चलती हुई वह सेना मानो सिन्धु नदीके साथ शत्रुता ही धारण कर रही थी। भावार्थ–वह सेना सिन्धु नदीको हानि पहुँचाती हुई जा रही थी ॥१०॥ वह सिन्धु नदी मानो चक्रवर्ती भरतके आनेसे सन्तुष्ट होकर ही सुख देनेवाली अपनी लहरोके पवनसे धीरे-धीरे सेनाके मुख्य लोगोकी सेवा कर रही थी ॥११॥ जो गंगा नदीके समस्त वर्णनसे सहित है और फेनोसे भरी हुई है ऐसी सामने आयी हुई सिन्धु नदीको देखते हुए निधिपति—भरत उत्तर दिशाको जीती हुईके समान समझने लगे थे ॥१२॥ सिन्धु नदीके किनारे-किनारे अपनी सेनाओके द्वारा उत्तर दिशाके राजाओको वश करते हुए कुलकर–भरत धीरे-धीरे विजयार्ध पर्वतके समीप जा पहुँचे ॥१३॥ जो मणियोके वने हुए नौ शिखरोसे वहुत विशाल मालूम होता था ऐसा वह चाँदीका विजयार्ध पर्वत भरतने दूरसे ऐसा देखा मानो शिखरोके वहानेसे अर्घ ही धारण कर रहा हो ॥१४॥ जिनकी शाखाओके अग्रभागरूपी भुजाएँ वायुसे हिल रही है ऐसे वृक्षोसे वह पर्वत ऐसा जान पडता था मानो दूरसे सन्मुख आये हुए विजयी भरतको वुला ही रहा हो ॥१५॥ शिखरोके समीपसे ही पड़ते झरनोके जलसे वह पर्वत ऐसा अच्छा सुशोभित हो रहा था मानो चक्रवर्ती भरतके आनेपर उनके लिए पाद्य अर्थात् पैर धोनेका जल ही देना चाहता हो ॥१६॥ वह पर्वत पुन्नाग, नागकेसर और सुपारी आदिके वृक्षोसे भरे हुए तथा मनोहर अपने किनारेके वनके प्रदेशोसे ऐसा जान पडता था मानो विश्राम करनेके लिए स्वामी भरतको वुला ही रहा हो ॥१७॥ जो अपने वनके चारो ओर वायुसे उड़ते हुए फूलोंकी परागका चँदोवा तान रहा है और शब्द करते हुए कोकिल ही जिसके नगाड़े है ऐसा वह पर्वत भरतका सन्मान करनेके लिए सामने खडे हुए के समान जान पड़ता था ॥१८॥ इस विषयमे अधिक कहनेसे क्या लाभ है ? इतना ही वहुत है कि वह पर्वत वडे प्रेमसे प्रकट किये हुए सत्कारके सव साधनोसे दिग्विजय करनेके लिए उद्यत हुए भरतका मानो सत्कार ही कर रहा था ॥१९॥ जिसके चारो ओर तोरण वँधे हुए है ऐसी वनकी ऊँची वेदीको उल्लंघन कर सेनापतियोके द्वारा नियन्त्रित की हुई (वश की हुई) सेनाने वनके भीतर प्रवेश किया ॥२०॥ समस्त दिशाओमे फैलनेवाली सेनाओसे उस वनके समीप

---

१ सुखस्याहरणम् स्वीकारो येभ्य(पञ्चमी) स्ते तैः, सुखाकरैरित्यर्थः । २ फेनाढ्याम् प०, ल० । ३ विशाल. । ४ रजतमय । ५ सविधातुमिच्छुः । ६ अभात् । ७ संकुलैः, ल०, प०, द०, म०, अ०, इ० । ८ वस्तुम् । ९ विस्तारयन् । १० अभिमुखमुत्थितन् । ११ विभक्त अ०, प०, द०, स०, ल०, इ० । १२ नियमितम् ।

अभूतपूर्वमुद्भूतप्रतिध्वानं बलध्वनिम् । श्रुत्वा [1]बलवदुत्त्रेसु[2]स्तिर्यञ्चो वनगोचराः ॥२२॥
बलक्षोभादिभो[3] निर्यन् बलक्षोऽभाद्[4] वनान्तरात । सुरेभः[5] सुविभक्ताङ्गः[6] सुरेभ[7] इव वर्ष्मणा ॥२३॥
प्रबोधजृम्भणादास्यं व्याददौ[8] किल केसरी । न मेऽस्त्यन्तर्भयं किंचित् पश्यतेऽतीव दर्शयन् ॥२४॥
शरभो रभसादूर्ध्वमुत्पत्योत्तानितः पतन् । सुस्थ एव पदैः पृष्ठ्यै[9]रभून्निर्मातृकौशलात्[10] ॥२५॥
[11]विषाणोल्लिखितस्कन्धो रुषिताऽऽताम्रितेक्षणः[12] । खुरोत्खातावनिः सैन्यैर्ददृशे महिषो विभीः[13] ॥२६॥
चमूरवश्रवोद्भूत[14]साध्वसाः क्षुद्रका मृगाः । विजयार्द्धगुहोत्सगान् युगक्षय[15] इवाश्रयन् ॥२७॥
अनुद्रुता[16] मृगाः शावैः पलायां चक्रिरेऽभितः । वित्रस्ता वेपमानाङ्गाः[17] सिक्ताभयरसैरिव ॥२८॥
वराहाहाररतिं[18] मुक्त्वा वराहा मुक्तपल्वलाः[19] । विनेशु[20]र्विस्फुटद्यूथा[21] श्चमूक्षोभादितोऽमुतः ॥२९॥
[22]वरणावरणास्तस्थुः करिणोऽन्ये भयद्रुताः । हरिणा हरिणा[23]रातिगुहान्तानधिशिश्रियरे ॥३०॥

की समस्त भूमियाँ भर गयी थी, उनके पक्षीरूपी प्राण उड़ गये थे और उस समय वे ऐसी जान पड़ती थी मानो श्वासोच्छ्‌वाससे रहित ही हो गयी हो । अर्थात् सेनाओके बोझसे दबकर मानो मर ही गयी हों ॥२१॥ जो पहले कभी सुननेमें नही आया था और जिसकी प्रतिध्वनि उठ रही थी ऐसा सेनाका कलकल शब्द सुनकर वनमे रहनेवाले पशु बहुत ही भयभीत और दु खी हो गये थे ॥२२॥ जो अपने शरीरकी अपेक्षा ऐरावत हाथीके समान था, जिसके समस्त अंगो-पांगोका विभाग ठीक-ठीक हुआ था, और जो मधुर गर्जना कर रहा था ऐसा कोई सफेद रंगका हाथी सेनाके क्षोभसे वनके भीतरसे निकलता हुआ बहुत ही अच्छा सुशोभित हो रहा था ॥२३॥ मेरे मनमें कुछ भी भय नही है जिसकी इच्छा हो सो देख ले इस प्रकार दिखलाता हुआ ही मानो कोई सिह जागकर जमुहाई लेता हुआ मुँह खोल रहा था ॥२४॥ अष्टापद बड़े वेगसे ऊपरकी ओर उछलकर ऊपरकी ओर मुँह करके नीचे पड़ गया था परन्तु बनानेवाले (नामकर्म) की चतुराईसे पीठपर-के पैरोसे ठीक-ठीक आ खड़ा हुआ था—उसे कोई चोट नही आयी थी ॥२५॥ जो पत्थरसे अपने कन्धे घिस रहा है, जिसके नेत्र क्रोधित होनेसे कुछ-कुछ लाल हो रहे है और जो खुरोंसे पृथिवी खोद रहा है ऐसा एक निर्भय भैसा सेनाके लोगोंने देखा था॥२६॥ सेनाके शब्द सुननेसे जिनके भय उत्पन्न हो रहा है ऐसे छोटे-छोटे पशु प्रलयकालके समान विजयार्ध पर्वतकी गुफाओके मध्य भागका आश्रय ले रहे थे। भावार्थ—जिस प्रकार प्रलयकालके समय जीव विजयार्धकी गुफाओंमें जा छिपते है उसी प्रकार उस समय भी अनेक जीव सेनाके शब्दोंसे डरकर विजयार्धकी गुफाओमे जा छिपे थे ॥२७॥ जिनके पीछे-पीछे बच्चे दौड़ रहे है और जिनका शरीर कँप रहा है ऐसे डरे हुए हरिण चारो ओर भाग रहे थे तथा वे उस समय ऐसे मालूम होते थे मानो भयरूपी रससे सीचे ही गये हो ॥२८॥ सेनाके क्षोभसे जिन्होने जलसे भरे हुए छोटे-छोटे तालाब (तलैया) छोड़ दिये है और जिनके झुण्ड बिखर गये है ऐसे सूअर अपने उत्तम आहारमें प्रेम छोड़कर इधर-उधर घुस रहे थे ॥२९॥ कितने ही अन्य हाथी भयसे भागकर वृक्षोसे ढकी हुई जगहमे छिपकर जा खडे हुए थे और हरिण सिहोकी गुफाओ

---

१ अधिकम् । २ तत्रसुः । ३ धवल । ४ रेजे । ५ शोभनध्वनिः । ६ मुव्यक्तावयव । ७ देवगण । ८ विवृत-मकरोत् । ९ पृष्ठवर्तिभि. । १० निर्माणकर्म अथवा विधि । ११ पाषाणो ल० । १२ रोषेणारुणीकृतः । १३ निर्भीति । १४ सेनाध्वन्याकर्णनाज्जात । १५ प्रलयकाले यथा । १६ अनुगता. । १७ कम्पमानशरीरा । १८ उत्कृष्टाहारप्रीतिम् । १९ त्यक्तवेशन्ता । २० नश्यन्ति स्म । विविशु ल० । २१ विप्रकीर्णवृन्दा । २२ वृक्षविशेषाच्छादना मन्त. । २३ सिह ।

इति सत्त्वा वनस्येव प्राणाः प्रचलिता भृशम्। प्रत्यापत्तिं[1] चिराद्दीयुः[2] सैन्यक्षोभे प्रसेदुषि[3] ॥३१॥
[4]प्रयायानुवनं किंचिदन्तरं तदनन्तरम्। [5]रूप्याद्रेर्मध्यमं कूटं संनिकृष्य[6] स्थितं बलम् ॥३२॥
ततस्तस्मिन् वने मन्दं मरुतां दोलितद्रुमे। नृपाज्ञया बलाध्यक्षा स्कन्धावारं न्यवेशयन् ॥३३॥
स्वैरं जगृहुरावासान् सैनिकाः सानुमत्तटे[7]। स्वयं गलत्प्रसूनौघ[8]घनशाखि वने वने ॥३४॥
सरस्तीरतरूपान्तलतामण्डपगोचराः। रम्या बभूवुरावासाः सैनिकानामयत्नतः ॥३५॥
वनप्रवेशमुन्मुग्धाः[9] प्राहुर्वैराग्यकारणम्। तत्प्रवेशो [10]यतस्तेषामभवद् रागवृद्धये ॥३६॥
अथ तत्र कृतावास ज्ञात्वा सनियमं प्रभुम्। अगान्मागधवत् द्रष्टुं विजयार्द्धाधिपः सुरः ॥३७॥
तिरीटशिखरोदग्रो लम्बप्रालम्बनिर्झरः[11]। स भास्वत्कटको[12] रेजे राजताद्रिरिवापरः ॥३८॥
सितांशुकधरः स्रग्वी हरिचन्दनचर्चितः। स बभौ धृतरत्नार्घो निधिः शङ्ख इवोच्छ्रितः ॥३९॥
ससंभ्रमं च सोऽभ्येत्य प्रहृतामगमत्प्रभोः। ससत्कारं च तं चक्री भद्रासनमलम्भयत् ॥४०॥

के भीतर ही जा ठहरे थे ॥३०॥ इस प्रकार वनके प्राणोके समान अत्यन्त चंचल हुए प्राणी सेनाका क्षोभ शान्त होनेपर वहुत देरमे अपने-अपने स्थानोंपर वापस लौटे ॥३१॥ तदनन्तर वह सेना वन ही वन कुछ दूर जाकर विजयार्ध पर्वतके पाँचवे कूटके समीप पहुँचकर ठहर गयी ॥३२॥ सेनाके ठहरनेपर सेनापतियोने महाराजकी आज्ञासे, जिसके वृक्ष मन्द-मन्द वायुसे हिल रहे थे ऐसे उस वनमे सेनाके डेरे लगवा दिये थे ॥३३॥ जिसमे अपने आप फूलोके समूह गिर रहे है और जो घने-घने लगे हुए वृक्षोंसे सघन है ऐसे विजयार्ध पर्वतके किनारेके वनमे सैनिक लोगोने अपने इच्छानुसार डेरे ले लिये थे ॥३४॥ सरोवरोके किनारेके वृक्षोके समीप ही जो लतागृहोके स्थान थे वे विना प्रयत्न किये ही सेनाके लोगोके मनोहर डेरे हो गये थे ॥३५॥ 'वनमे प्रवेश करना वैराग्यका कारण है, ऐसा मूर्ख मनुष्य ही कहते है क्योंकि उस वनमे प्रवेश करना उन सैनिकोकी रागवृद्धिका कारण हो रहा था। भावार्थ—वनमें जानेसे सेनाके लोगोका राग वढ रहा था इसलिए वनमे जाना वैराग्यका कारण है ऐसा कहनेवाले पुरुप मूर्ख ही है ॥३६॥

अथानन्तर—महाराज भरतको वहाँ नियमानुसार ठहरा हुआ जानकर विजयार्ध पर्वतका स्वामी विजयार्ध नामका देव मागध देवके समान भरतके दर्शन करनेके लिए आया ॥३७॥ उस समय वह देव किसी दूसरे विजयार्ध पर्वतके समान सुशोभित हो रहा था, क्योकि जिस प्रकार विजयार्ध पर्वत शिखरसे ऊँचा है उसी प्रकार वह देव भी मुकुटरूपी शिखरसे ऊँचा था, जिस प्रकार विजयार्ध पर्वतपर झरने झरते है उसी प्रकार उस देवके गलेमे भी झरनो-के समान हार लटक रहे थे और जिस प्रकार विजयार्ध पर्वतका कटक अर्थात् मध्यभाग देदीप्यमान है उसी प्रकार उसका कटक अर्थात् हाथोका कडा भी देदीप्यमान था ॥३८॥ जो सफेद वस्त्र धारण किये हुए है, मालाएँ पहने है, जिसके शरीरपर सफेद चन्दन लगा हुआ है और जो रत्नोंका अर्घ धारण कर रहा है ऐसा वह देव खड़ी की हुई शख नामक निधिके समान सुशोभित हो रहा था ॥३९॥ उस देवने वडी शीघ्रताके साथ आकर चक्रवर्तीको नमस्कार किया और

१ पुनस्तत्प्राप्ति पूर्वस्थितिमित्यर्थ । २ जग्मु. । ३ प्रशान्ते सति । ४ गत्वा । ५ रौप्याद्रे प०, द०, ल० । रूपाद्रे अ०, स०, द० । ६ समीप गत्वा । ७ अद्रिसानौ । ८ 'निपु निमित्तसमारोहपरिणाहघनोद्घनावनोपघ्न-निघोग्घसघामूर्त्यत्यादानाङ्गासन्ननिमित्तप्रशस्तगणा' इति सूत्रेण निमित्तार्थ्यनिघशब्दो निपातित निमित्त-शब्द' समारोहपरिणाहे वर्तते ऊर्ध्वविशालतायां वर्तते इत्यर्थ । समारोहपरिणाह 'परिणाहो विशालता' उत्सेधः विशाल इत्यर्थ । अस्मिन्नर्थे घनोद्धनाद्घनोपघ्ननिघद्घमघामूर्त्यत्यादानाङ्गासन्ननिमित्तप्रशस्तगणा इति निपातनात् सिद्धि. । ९ जडा । १० यस्मात् कारणात् । ११ ऋजुलम्बिहार । १२ करवलय एव सानु ।

[1]गोपायिताऽहमस्याद्रेर्मध्यमं कूटमावसन् । स्वैरचारी चिरादद्य त्वयाऽस्मि परवान्[2] विभो ॥४१॥
विद्धि मां विजयार्द्धाख्यममुं च गिरिमूर्जितम् । अन्योऽन्य[3]संश्रयादावामलङ्घ्यावचलस्थिती ॥४२॥
देव दिग्विजयस्यार्द्धं विभजन्नेष सानुमान् । विजयार्द्धश्रुतिं धत्ते [4]तात्स्थ्यात तद्रूढयो[5] वयम् ॥४३॥
आयुष्मन् युष्मदीयाज्ञां मूर्ध्ना स्रजमिवोद्वहन् । [6]पदातिनिर्विशेषोऽस्मि विज्ञाप्यं किमतः परम् ॥४४॥
इति ब्रुवंस्तथोत्थाय [7]शिवैस्तीर्थाम्बुभिः प्रभुम् । [8]सोऽभ्यषिञ्चत् सुरैः सार्द्धं स्वं नियोगं निवेदयन् ॥४५॥
तदा प्रणेदुरामन्द्रमानकाः पथि वार्मुचाम् । विचेरुर्मरुतो मन्दमाधूतवनवीथयः ॥४६॥
ननृतुः सुरनर्तक्यः सलीलानर्तितभ्रुवः । जगुश्च मङ्गलान्यस्य जयशंसीनि किन्नराः ॥४७॥
कृताभिषेकमेनं च शुभ्रनेपथ्यधारिणम् । युयोज रत्नलाभेन लम्भयन् स जयाशिषः ॥४८॥
स तस्मै रत्नभृङ्गारं सितमातपवारणम् । प्रकीर्णक[9]युगं दिव्यं ददौ च हरिविष्टरम् ॥४९॥
इति प्रसाधितस्तेन वचोभिः सानुवर्तनैः । प्रसादतरलां दृष्टिं तत्र व्यापारयत् प्रभुः ॥५०॥
विसर्जितश्च सानुज्ञं प्रभुणा कृतसत्क्रियः । भृत्यत्वं प्रतिपद्यास्य स्वमोकः प्रत्यगात् सुरः ॥५१॥
विजयार्द्धे जिते कृत्स्नं जितं दक्षिणभारतम् । मन्वानो निधिराट् तच्च चक्ररत्नमपूजयत् ॥५२॥

चक्रवर्तीने भी उसे सत्कारपूर्वक उत्तम आसनपर बैठाया ॥४०॥ भरतसे उस देवने कहा कि मै इस पर्वतका रक्षक हूँ और इस पर्वतके बीचके शिखरपर रहता हूँ। हे प्रभो, मै आजतक अपनी इच्छानुसार रहता था—स्वतन्त्र था परन्तु आज बहुत दिनमे आपके अधीन हुआ हूँ ॥४१॥ मुझे तथा इस ऊँचे पर्वतको आप विजयार्ध जानिए अर्थात् हम दोनोंका नाम विजयार्ध है और हम दोनो ही परस्पर एक दूसरेके आश्रयसे अलघ्य तथा निश्चल स्थितिसे युक्त है ॥४२॥ हे देव, यह पर्वत दिग्विजयका आधा-आधा विभाग करता है इसलिए ही यह विजयार्ध नामको धारण करता है और उसपर रहनेसे मेरा भी विजयार्ध नाम रूढ हो गया है ॥४३॥ हे आयुष्मन्, मै आपकी आज्ञाको मालाके समान मस्तकपर धारण करता हूँ और आपके पैदल चलनेवाले एक सैनिकके समान ही हूँ, इसके सिवाय मै और क्या प्रार्थना करूँ ? ॥४४॥ इस प्रकार कहता हुआ और 'दिग्विजय करनेवाले चक्रवर्तियोका अभिषेक करना मेरा काम है' इस तरह अपने नियोगकी सूचना करता हुआ वह देव उठा और अनेक देवोके साथ-साथ कल्याण करनेवाले तीर्थजलसे सम्राट् भरतका अभिषेक करने लगा ॥४५॥ उस समय आकाशमे गम्भीर शब्द करते हुए नगाडे बज रहे थे और वन-गलियोको कम्पित करता हुआ वायु धीरे-धीरे बह रहा था ॥४६॥ लीलापूर्वक भौहोको नचाती हुई नृत्य करनेवाली देवागनाएँ नृत्य कर रही थी और किन्नर देव भरतकी विजयको सूचित करनेवाले मगलगीत गा रहे थे ॥४७॥ तदनन्तर जिनका अभिषेक किया जा चुका है और जो सफेद वस्त्र धारण किये हुए है ऐसे भरतको विजय करनेवाला आशीर्वाद देते हुए उस देवने अनेक रत्नोकी प्राप्तिसे युक्त किया अर्थात् अनेक रत्न भेट किये ॥४८॥ उस देवने उनके लिए रत्नोका भृगार, सफेद छत्र, दो चमर और एक दिव्य सिहासन भी भेट किया था ॥४९॥ इस प्रकार ऊपर लिखे हुए सत्कारसे तथा विनय-सहित वचनोसे प्रसन्न हुए भरतने उस देवपर प्रसन्नतासे चचल हुई अपनी दृष्टि डाली ॥५०॥ अनन्तर भरतने जिसका आदर-सत्कार किया है और 'जाओ' इस प्रकार आज्ञा देकर जिसे विदा किया है ऐसा वह विजयार्ध देव उनका दासपना स्वीकार कर अपने स्थानपर वापस चला गया ॥५१॥ विजयार्ध पर्वतके जीत लेनेपर समस्त दक्षिण भारत जीत लिया गया

---

१ रक्षिता । २ नाथवान् परवश इत्यर्थ । 'परवान्नाथवानपि' इत्यभिधानात् । ३ परस्परमाधाराधेयरूप-सश्रयात् । ४ तस्मिन् तिष्ठति इति तत्स्थ तस्य भाव तात्स्थ्यम् तस्मात् । ५ विजयार्द्ध इति रूढयः । ६ पत्तिसदृश । ७ मङ्गलै । ८ विजयार्द्धकुमार. । ९ चामरयुगलम् ।

गन्धैः पुष्पैश्च धूपैश्च दीपैश्च सजलाक्षतैः । फलैश्च चरुभिर्दिव्यैश्चक्रेज्यां निरवर्तयत् ॥५३॥
विजयार्द्धजयेऽप्यासीदमन्दोऽस्य जयोद्यमः । उत्तरार्धजयाशंसा[1] प्रत्यागूर्णस्य[2] चक्रिणः ॥५४॥
ततः प्रतीपमागत्य[3] रूप्याद्रेः[4] पश्चिमां गुहाम् । निक[5]षा वनमारुध्य बलैरीशो न्यविक्षत ॥५५॥
दक्षिणेन तमद्रीन्द्रं[6] मध्ये [7]वेदिकयोर्द्वयोः । बलं निविविशे भर्त्तुः सिन्ध्वास्तटवनाद् बहिः ॥५६॥
भूयो द्रष्टव्यमत्रास्ति बह्वाश्चर्ये धराधरे । इति तत्र चिरावासं बहु मेने किलाधिराट् ॥५७॥
चिरासनेऽपि[8] तत्रास्य नासीत् स्वल्पोऽप्युपक्षयः[9] । [10]प्रत्युतापूर्वलाभेन प्रभुरापूर्यताब्धिवत् ॥५८॥
कृतासनं च तत्रैनं श्रुत्वा द्रष्टुमुपागमन् । पार्थिवाः पृथिवीमध्यात् मध्ये[11] नद्योर्द्वयोः स्थितः ॥५९॥
दूरानतचलन्मौलिसंदष्टकरकुड्मलाः[12] । प्रणमन्तः स्फुटीचक्रुः प्रभौ भक्तिं महीभुजः ॥६०॥
कुङ्कुमागरु[13] कर्पूरसुवर्णमणिमौक्तिकैः । रत्नैरन्यैश्च रत्नेशं भक्त्यानर्चुर्नृपाः परम् ॥६१॥
विष्वगापूर्यमाणस्य रैराशिभिरनारतम् । कोश[14]प्रावेशरत्नानामियत्तां कोऽस्य निर्णयेत् ॥६२॥
देशाध्यक्षा बलाध्यक्षैर्बलं सुकृतरक्षणम् । यवसेन्धन[15] संधानैस्तदोपजगृ[16]हुश्चिरम् ॥६३॥
उत्तरार्द्धजयोद्योगं प्रभोः श्रुत्वा तदागमन् । पार्थिवाः कुरुराजाद्याः[17] समग्रबलवाहनाः ॥६४॥

ऐसा मानते हुए चक्रवर्तीने चक्ररत्नकी पूजा की ॥५२॥ उन्होने चक्ररत्नकी पूजा गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, जल, अक्षत, फल और दिव्य नैवेद्यके द्वारा की थी ॥५३॥ विजयार्ध पर्वत तक विजय कर लेनेपर भी उत्तरार्धको जीतनेकी आशासे उद्यत हुए चक्रवर्तीका विजयका उद्योग शिथिल नही हुआ था ॥५४॥ तदनन्तर–वह भरत कुछ पीछे लौटकर विजयार्ध पर्वतकी पश्चिम गुहाके समीपवर्ती वनको अपनी सेवाके द्वारा घेरकर ठहर गया ॥५५॥ विजायार्ध पर्वतके दक्षिणकी ओर पर्वत तथा वन दोनोकी वेदियोके बीचमे सिन्धु नदीके किनारेके वनके बाहर भरतकी सेना ठहरी थी ॥५६॥ अनेक आश्चर्योंसे भरे हुए इस पर्वतपर बहुत कुछ देखने योग्य है यही समझकर चक्रवर्तीने वहाँ बहुत दिन तक रहना अच्छा माना था ॥५७॥ वहाँपर बहुत दिनतक रहनेपर भी भरतका थोड़ा भी खर्च नही हुआ था, बल्कि अपूर्व-अपूर्व वस्तुओके लाभ होनेसे वह समुद्रके समान भर गया था ॥५८॥ भरतको वहाँ रहता हुआ सुनकर गंगा और सिन्धु दोनो नदियोंके बीचमे रहनेवाले अनेक राजा लोग अपनी-अपनी पृथ्वीसे उनके दर्शन करनेके लिए आये थे ॥५९॥ दूरसे झुके हुए चंचल मुकुटोपर जिन्होने अपने हाथ जोड़कर रखे है ऐसे नमस्कार करते हुए राजा लोग महाराज भरतमे अपनी भक्ति प्रकट कर रहे थे ॥६०॥ उन राजाओने केशर, अगुरु, कपूर, सुवर्ण, मोती, रत्न तथा और भी अनेक वस्तुओसे भक्तिपूर्वक चक्रवर्तीका उत्तम सन्मान किया था ॥६१॥ धनकी राशियों-से निरन्तर चारों ओरसे भरते हुए भरतके खजानेमे प्रविष्ट हुए रत्नोकी मर्यादा (सख्या) का भला कौन निर्णय कर सकता था ? भावार्थ–उसके खजानेमे इतने अधिक रत्न इकट्ठे हो गये थे कि उनकी गणना करना कठिन था ॥६२॥ उस समय समीपवर्ती देशोके राजाओने, सेनापतियोके द्वारा जिसकी अच्छी तरह रक्षा की गयी है ऐसी भरतकी सेनाको चिरकाल तक भूसा, ईधन आदि वस्तुएँ देकर उपकृत किया था ॥६३॥ महाराज भरत विज-यार्ध पर्वतसे उत्तर भागको जीतनेका उद्योग कर रहे है यह सुनकर कुरु देशके राजा जयकुमार

१ इच्छामुद्दिश्य । २ उद्यतस्य । ३ पश्चिमदिशम् । ४ रौप्याद्रेः प० । रूप्याद्रे. अ०, स०, इ० । ५ वनस्य समीपम् । ६ तस्य अद्रीन्द्रस्य दक्षिणस्या दिशि । ७ पर्वतवेदिकावनवेदिकयो । ८ बहुकालनिवसने सत्यपि । ९ धनव्ययः । १० पुन· किमिति चेत् । ११ गङ्गासिन्धुनदीमध्यात् । १२ कुट्मला द०, ल०, अ०, स०, इ० । १३ कालागुरु 'कालागुर्वगुरु. स्याद्' इत्यमर । १४ भाण्डागारप्रवेशयोग्य । १५ तृण । १६ उपकारं चक्रु । १७ सोमप्रभपुत्राद्या ।

आहूताः केचिदाजग्मुः प्रभुणा मण्डलाधिपाः । अनाहूताश्च संभेजुर्विभुं चारभटाः[1] परे ॥६५॥

विदेशः[2] किल यातव्यो जेतव्या म्लेच्छभूमिपाः[3] । इति संचिन्त्य सामन्तैः प्रायः सज्जं[4] धनुर्बलम् ॥६६॥

धन्विनः शरनाराचसंभृतेषुधिबन्धनैः । न्यवेदयन्निवात्मानमृणदासमर्थीशिनाम् ॥६७॥

धनुर्धरा धनुः सज्ज्यमा[5]स्फाल्य[6] चकृषुः[7] परे । चिकीर्षव इवारीणां जीवाकर्षं सहुंकृताः ॥६८॥

करवालान् करे कृत्वा तुलयन्ति स्म केचन । स्वामिसत्कारभारेण[8] नूनं तान् प्रमिमित्सवः[9] ॥६९॥

[10]संवर्मिता भृशं रेजुर्भटाः प्रोल्लासितासयः[11] । निर्मोकैरिव[12] विश्लिष्टैः[13] लल्लजिह्वामहाहयः ॥७०॥

साटोपं स्फुरिताः[14] केचिद् वल्गन्ति स्माभितो भटाः । अस्युद्यताः[15] पुरोऽरातीन् पश्यन्त[16] इव संमुखम् ॥७१॥

[17]अस्त्रैर्व्यस्त्रैश्च[18] [19]शस्त्रैश्च शिरस्त्रैः[20] सतनुत्रकैः । दधुर्जयनशाला[21]नां लीलां[22] रथ्याः सुसंभृताः ॥७२॥

रथिनो[23] रथकट्यासु[24] गुर्वीरायुधसंपदः । समारोप्यापि पत्तिभ्यो भेजुरेवातिगौरवम्[25] ॥७३॥

तथा और भी अनेक राजा लोग अपनी समस्त सेना और सवारियाँ लेकर उसी समय आ पहुँचे ॥६४॥ कितने ही मण्डलेश्वर राजा भरतके बुलाये हुए आये थे और कितने ही शूर वीर लोग बिना बुलाये ही उनके समीप आ उपस्थित हुए थे ॥६५॥ अब विदेशमें जाना है और म्लेच्छ राजाओंको जीतना है यही विचार कर सामन्तोंने प्रायः धनुष-बाणको धारण करने वाली सेना तैयार की थी ॥६६॥ धनुष धारण करनेवाले योद्धा छोटे-बड़े बाणोंसे भरे हुए तरकसोंके बाँधनेसे ऐसे जान पड़ते थे मानो वे अपने स्वामियोंसे यही कह रहे हों कि हम लोग आपके ऋणके दास हैं अर्थात् आज तक आप लोगोंने जो हमारा भरण-पोषण किया है उसके बदले हम लोग आपकी सेवा करनेके लिए तत्पर हैं ॥६७॥ हुंकार शब्द करते हुए कितने ही धनुषधारी लोग अपने डोरीसहित धनुषको आस्फालन कर खींच रहे थे और उससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो शत्रुओंके जीवोंको ही खींचना चाहते हों ॥६८॥ कितने ही योद्धा लोग हाथमें तलवार लेकर उसे तोल रहे थे मानो स्वामीसे प्राप्त हुए सत्कारके भारके साथ उसका प्रमाण ही करना चाहते हों ॥६९॥ जो कवच धारण किये हुए हैं और जिनकी तलवारें चमक रही हैं ऐसे कितने ही योद्धा इतने अच्छे सुशोभित हो रहे थे मानो जिनकी काँचली कुछ ढीली हो गयी है और जीभ बार-बार बाहर लपक रही है ऐसे बड़े-बड़े सर्प ही हों ॥७०॥ कितने ही योद्धा अभिमानसहित हाथमें तलवार उठाये और गर्जना करते हुए चारों ओर इस प्रकार घूम रहे थे मानो शत्रुओंको अपने सामने ही देख रहे हों ॥७१॥ आग्नेय बाण आदि अस्त्र, महा-स्तम्भ आदि व्यस्त्र, तलवार धनुष आदि शस्त्र, शिरकी रक्षा करनेवाले लोहके टोप और कवच आदिसे भरे हुए रथोंके समूह ठीक आयुधशालाओंकी शोभा धारण कर रहे थे ॥७२॥ रथोंमें सवार होनेवाले योद्धा यद्यपि भारी-भारी शस्त्रोंको रथोंपर रखकर जा रहे थे तथापि

---

१ वीरभटा । 'शूरवीरश्च विक्रान्तो भटश्चारभटो मत.' इति हलायुध. । २ नानादेश । ३ भूभुज म०, द०, अ०, प०, स०, ल०, इ० । ४ सन्नद्धीकृतम् । ५ ज्यासहितम् । ६ आताड्य, टणत्कारं कृत्वा । स्फाल्या चकृषु ब०, द०, अ०, म०, प०, स०, ल०, इ० । ७ आकर्षयन्ति स्म । ८ भारेण सह । ९ प्रमातुमिच्छव । १० धृतकवचा । ११ प्रकर्षेणोत्लासितखड्गा । १२ शिथिलै । १३ चलत् । १४ आस्फालिते भुजा. । १५ खड्गे उद्युक्ता । १६ शत्रून् प्रत्यक्षमालोकयन्निव । १७ दिव्यायुधै. । १८ गरलगुडाद्यायुधै । १९ सामान्यायुधै । २० शीर्षकै । २१ शस्त्रशालानाम् । २२ वीथ्या. । २३ रथिका । २४ रथसमूहेषु । २५ अतिश्लाघनम् । अति भारयुक्तमिति ध्वनि', अत्यर्थं वेग गता इत्यर्थ ।

हस्तिनां पदरक्षार्थे सुभटा योजिता नृपैः । राजन्यैः सह युध्वानः कृताश्चाभिनिपादिनः ॥७४॥
प्रवीरा राजयुध्वानः क्लृप्ताः पत्तिषु नायकाः । अश्वीये[1] च ससन्नाहाः[2] सोत्तरङ्गा[3] स्तुरंगिणः ॥७५॥
आरचय्य बलान्येके स्वानीक्षांचक्रिरे नृपाः । दण्डमण्डलभोगासंहतव्यूहैः[4] सुयोजितैः ॥७६॥
चक्रिणोऽवसरः[5] कोऽस्य योऽस्माभिः सा[6]ध्यतेऽल्पकैः । भक्तिरेषा तु नः काले प्रभोर्यदनुसर्पणम्[7] ॥७७॥
प्रभोरवसरः सार्यः[8] प्रसार्यं नो यशोधनम् । विरोधिबलमुत्सार्यं संधार्यं पुरुषव्रतम् ॥७८॥
द्रष्टव्या विविधा देशा लब्धव्याश्च जयाशिषः । इत्युदाचक्रिरे[9]ऽन्योन्यं भटाः श्लाघ्यैरुदाहृतैः ॥७९॥
गिरिदुर्गोऽयमुल्लङ्घ्यो महन्यः सरितोऽन्तरा[10] । इत्यपायेक्षिणः केचिदयानं[11] बहु मेनिरे ॥८०॥
इति नानाविधैर्भावैः संजल्पैश्च लघूत्थिताः । प्रस्थिताः सैनिकाः प्रापन् सेश्वरा[12] शिबिरं प्रभोः ॥८१॥

वे पैदल चलनेवाले सैनिकोकी अपेक्षा अधिक गौरव अर्थात् भारीपन (पक्षमे श्रेष्ठता) को प्राप्त हो रहे थे । भावार्थ—पैदल चलनेवाले सैनिक अपने शस्त्र कन्धेपर रखकर जा रहे थे और रथोपर सवार होनेवाले सैनिक अपने सब शस्त्र रथोपर रखकर जा रहे थे तो भी वे पैदल चलनेवालोकी अपेक्षा अधिक भारी हो रहे थे यह बडे आश्चर्यकी बात है परन्तु अति गौरव शब्दका अर्थ अतिशय श्रेष्ठता लेनेपर वह आश्चर्य दूर हो जाता है । पैदल सैनिकोकी अपेक्षा रथपर सवार होनेवाले सैनिक श्रेष्ठ होते ही है ॥७३॥ राजाओने हाथियोके पैरोकी रक्षा करनेके लिए जिन शूरवीर योद्धाओंको नियुक्त किया था वे अनेक राजाओके साथ युद्ध करते थे और उन हाथियोके चारों ओर विद्यमान रहते थे अथवा समय-पर महावत भी बनाये जाते थे ॥७४॥ जो राजाओके साथ भी युद्ध करनेवाले थे ऐसे श्रेष्ठ शूरवीर पैदल सेनाके सेनापति बनाये गये और जो घुडसवार कवच पहने हुए तथा लहराते हुए नदीके प्रवाहके समान थे उन्हे घुडसवार सेनाका सेनापति बनाया था ॥७५॥ कितने ही राजा लोग अच्छी तरह योजित किये हुए दण्डव्यूह, मण्डलव्यूह, भोगव्यूह और असंहृतव्यूहसे अपनी सेनाकी रचना कर उसे देख रहे थे ॥७६॥ इस चक्रवर्तीका ऐसा कौन-सा कार्य है जिसका हम तुच्छ लोग स्मरण भी कर सकते हो अर्थात् कार्यका सिद्ध करना तो दूर रहा उसका स्मरण भी नही कर सकते, फिर भी हम लोग जो स्वामीके पीछे-पीछे चल रहे है सो यह हम लोगोकी इस समयपर होने वाली भक्ति ही है । हम लोगोंको स्वामीका कार्य सिद्ध करना चाहिए, अपना यशरूपी धन फैलाना चाहिए, शत्रुओंकी सेना दूर हटानी चाहिए, पुरुषार्थ धारण करना चाहिए, अनेक देश देखने चाहिए और विजयके अनेक आशीर्वाद प्राप्त करने चाहिए, इस प्रकार प्रशसनीय उदाहरणोके द्वारा योद्धा लोग परस्परमें बातचीत कर रहे थे ॥७७–७९॥ यह दुर्गम पर्वत उल्लंघन करना है और बीचमे बड़ी-बड़ी नदियाँ पार करनी है इस प्रकार अनेक विघ्न-बाधाओंका विचार करते हुए कितने ही लोग आगे नही जाना ही अच्छा समझते थे ॥८०॥ इस प्रकार अनेक प्रकारके भावो और परस्परकी बातचीतके साथ जल्दी उठकर जिन्होने प्रस्थान किया है ऐसे सैनिक लोग अपने-अपने स्वामियोसहित चक्रवर्तीके शिबिरमे जा पहुँचे ॥८१॥

---

१ अश्वसमूहे । २ सकवचा । ३ ऊर्मिसमाना । ४ दण्डादीनि चत्वारि व्यूहभेदनामानि । अत्राभिधानम्-'तिर्यग्वृत्तिस्तु दण्ड स्याद् भोगोऽन्यावृत्तिरेव च । मण्डल सर्वतो वृत्ति प्रागवृत्तिरसहृतः' । ५ समय. । ६ स्मर्यते द०, ल०, अ०, प०, ह०, स० । ७ अनुवर्तनम् । ८ प्रापणीयः । ९ ऊचिरे । १० मध्ये मध्ये । ११ वाहनरहितत्वम् अथवा अगमनम् । १२ निजस्वामिसहिता ।

प्रचेलुः सर्वसामग्र्या नृपाः[1] संभृतकोष्ठिकाः[2] । प्रभोश्चिरं जयोद्योगमाकलय्याहिमाचलम् ॥८२॥
भटैर्लाकुटिकैः[3] केचिद्वृता लालाटिकैः[4] परे । नृपाः पश्चात्कृतानीका विभोर्निकटमाययुः ॥८३॥
समन्तादिति सामन्तैरापतद्भिः ससाधनैः । समिद्धशासनश्चक्री समेत्य जयकारितः[5] ॥८४॥
सामवायिकसामन्तसमाजैरिति[6] सर्वतः । सरिदोघैरिवाम्भोधिरापूर्यत विभोर्बलम् ॥८५॥
सवनः[7] सावनिः[8] सोऽद्रिः परितो रुरुधे बलैः । जिनजन्मोत्सवे मेरुरनीकैरिव[9] नाकिनाम् ॥८६॥
विजयार्द्धाचलप्रस्था[10] विभोरध्यासिता बलैः । स्वर्गावासश्रियं तेनुर्विभक्तैर्नृपमन्दिरैः[11] ॥८७॥
प्रक्ष्वेलित[12] रथं विष्वक् प्रहेषिततुरंगमम् । प्रबृंहितगजं सैन्यं ध्वनिसादकरोद्[13] गिरिम् ॥८८॥
बलध्वानं गुहारन्ध्रैः प्रतिश्रुद्भूत[14] मुद्वहन् । सोऽद्रिरुद्रिक्तरोधो[15] ध्रुवं फूत्कारमातनोत् ॥८९॥
अत्रान्तरे ज्वलन्मौलिप्रभापिञ्जरिताम्बरः । ददृशे प्रभुणा व्योम्नि गिरेरवतरन् सुरः ॥९०॥
स ततोऽवतरन्नद्रेर्बभौ[16] सानुचरोऽमरः । सवनः[17] कल्पशाखीव लसदाभरणांशुकः ॥९१॥

भरतेश्वरका हिमवान् पर्वत तक विजय प्राप्त करनेका उद्योग बहुत समयमे पूर्ण होगा ऐसा समझकर राजा लोग सब प्रकारकी सामग्रीसे कोठे भर-भरकर निकले ॥८२॥ कितने ही राजा लाठी धारण करनेवाले योद्धाओके साथ, और कितने ही ललाटकी ओर देखनेवाले उत्तम सेवकोके साथ, अपनी सेना पीछे छोडकर भरतके निकट आये ॥८३॥ इस प्रकार अपनी-अपनी सेना सहित चारो ओरसे आते हुए अनेक सामन्तोंने एक जगह इकट्ठे होकर, जिनकी आज्ञा सब जगह देदीप्यमान है ऐसे चक्रवर्तीका जय-जयकर किया ॥८४॥ जिस प्रकार नदियोके समूहसे समुद्र भर जाता है उसी प्रकार सहायता देनेवाले सामन्तोके समूहसे भरतकी सेना सभी ओरसे भर गयी थी ॥८५॥ जिस प्रकार भगवान्के जन्म-कल्याणके समय वन और भूमि सहित सुमेरु पर्वत देवोकी सेनाओसे भर जाता है उसी प्रकार वह विजयार्ध पर्वत भी वन और भूमिसहित चारो ओरसे सेनाओसे भर गया था ॥८६॥ भरतकी सेनाओंसे अधिष्ठित हुए विजयार्ध पर्वतके शिखर अलग-अलग तने हुए राजमण्डपोसे स्वर्गकी शोभा धारण कर रहे थे ॥८७॥ जिसमे चारो ओरसे रथ चल रहे है, घोडे हिनहिना रहे हैं और हाथी गरज रहे है ऐसी उस सेनाने उस विजयार्ध पर्वतको एक शब्दोके ही अधीन कर दिया था अर्थात् शब्दमय बना दिया था ॥८८॥ गुफाओके छिद्रोसे जिसकी प्रतिध्वनि निकल रही है ऐसे सेनाके शब्दोको धारण करता हुआ वह पर्वत ऐसा जान पडता था मानो सेनासे घिर जानेके कारण फू फू शब्द ही कर रहा हो अर्थात् रो ही रहा हो। ८९॥

इसी बीचमे भरतने, देदीप्यमान मुकुटकी कान्तिसे जिसने आकाशको भी पीला कर दिया है और जो पर्वतपर-से नीचे उतर रहा है ऐसा एक देव आकाशमें देखा ॥९०॥ जिसके आभूषण तथा वस्त्र देदीप्यमान हो रहे है ऐसा वह देव अपने सेवकोसहित उस पर्वतसे उतरता हुआ ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो जिसके आभूषण और वस्त्र देदीप्यमान हो रहे है ऐसा वनसहित

---

१ भूपा ल० । २ तण्डुलादिभारवाहकबलीवर्दाः । ३ लकुटम् आयुध येषा तैः । ४ प्रभोर्भावदर्शिभि 'लालाटिक प्रभोर्भावदर्शी कार्यक्षमश्च यः' इत्यभिधानात् । ५ जयकारं नीतः संजातजयकारो वा जय जयेति स्तुत इति यावत् । ६ मिलित । ७ वनसहित । ८ अवनिसहितः । ९ सैन्यैः । १० सानव । ११ मण्डलैः ल० । १२ सिंहनादित 'क्ष्वेडा तु सिंहनादः स्यात्' इत्यभिधानात् । १३ शब्दमयमकरोत् । १४ प्रतिध्वनिभूतम् 'सती प्रतिश्रुत्प्रतिध्वाने' इत्यभिधानात् । १५ उत्कटसेनानिरोध । १६ अनुचरैः सहितः । १७ वनेन सहितः

दिव्यः प्रभान्वयः[1] कोऽपि संमूर्च्छति[2] किमम्बरे । तडित्पुञ्जः किमग्न्यर्चिरिति[3] दृष्टः क्षणं जनैः ॥९२॥
किमप्येतदधिज्योतिरित्यादावविशेषतः । पश्चादवयवव्यक्त्या प्रव्यक्तपुरुषाकृतिः ॥९३॥
कृतमालश्रुतिव्यक्त्यै[4] कृतमालः स चम्पकैः । कृतमाल इवोत्फुल्लो निदध्ये[5] प्रभुणाऽग्रतः ॥९४॥
सप्रणामं च संप्राप्तं तं वीक्ष्य सहसा विभुः । यथार्हप्रतिपत्त्याऽस्मा आसनं प्रत्यपादयत्[6] ॥९५॥
प्रभुणाऽनुमतश्चायं कृतासनपरिग्रहः । क्षणं विसिस्मिये पश्यन् धामा[7] मुप्याति[8] मानुपम्[9] ॥९६॥
संभाषितश्च संभ्राजा पूर्वं पूर्वार्द्धभाषिणा[10] । सुरः प्रचक्रमे वक्तुमिति प्रश्रयवद्वचः ॥९७॥
क्व वयं क्षुद्रका देवाः क्व भवान् दिव्यमानुपः । पौतन्य[11] मुचितं मन्ये[12] वाचाटयति[13] नः स्फुटम् ॥९८॥
आयुष्मन् कुशलं प्रष्टुं जिह्नीमः[14] शासितुस्तव । त्वदायत्ता यतः[15] कृत्स्ना जगतः कुशलक्रिया ॥९९॥
लोकस्य कुशलाधाने[16] निरूढं[17] यस्य कौशलम् । कुशलं[18] दक्षिणस्याऽस्य बाहोस्ते क्ष्मां जिगीषतः १००
देवानां प्रिय देवत्वं तवाशेषजगज्जयात् । नाम्नैव तु वय देवा जातिमात्रकृतोक्तयः ॥१०१॥
गीर्वाणा[19] वयमन्यत्र[20] जिगीषौ शितगीश्शराः[21] । त्वयि कुण्ठगिरो[22] जाताः प्रस्खलद्गर्वगद्गदाः १०२

कल्पवृक्ष ही हो ॥९१॥ क्या कोई दिव्य प्रभाका समूह आकाशमे फैल रहा है ? अथवा क्या बिजलीका समूह है ? अथवा क्या अग्निकी ज्वाला है ? इस प्रकार अनेक कल्पनाओं-से लोगोने जिसे क्षण-भर देखा था जो पहले तो यह कोई कान्तिका समूह है इस प्रकार सामान्य रूपसे देखा गया था, परन्तु बादमे अवयवोके प्रकट होनेसे जिसका पुरुषका-सा आकार साफ-साफ प्रकट हो रहा था, जो अपना कृतमाल नाम प्रकट करनेके लिए चम्पाके फूलोंकी माला पहने हुआ था और जो उससे फूले हुए कृतमाल वृक्षके समान जान पड़ता था ऐसे उस देवको चक्रवर्ती भरतने अपने सामने खडा हुआ देखा ॥९२–९४॥ आनेके साथ ही नमस्कार करते हुए उस देवको अकस्मात् अपने सामने देखकर भरतने उसे यथायोग्य सत्कारके साथ आसन दिया ॥९५॥ भरतकी आज्ञासे वह देव आसनपर बैठा और उनके लोकोत्तर तेजको देखता हुआ क्षण-भरके लिए आश्चर्य करने लगा ॥९६॥ प्रथम ही, पहले बोलनेवाले सम्राट् भरतने जिसके साथ बातचीत की है ऐसा वह देव नीचे लिखे अनुसार विनयसहित वचन कहने लगा ॥९७॥ हे देव, हम क्षुद्र देव कहाँ ? और आप दिव्य मनुष्य कहाँ ? तथापि मै ऐसा मानता हूँ कि हम लोगोका यथायोग्य देवपना ही हम लोगोको स्पष्ट रूपसे वाचालित कर रहा है अर्थात् जबरदस्ती बुलवा रहा है ॥९८॥ हे आयुष्मन्, आप-जैसे शासन करनेवालोका कुशल-मंगल पूछनेके लिए हम लोग लज्जित हो रहे है क्योकि इस जगत्का सब तरहका कल्याण करना आपके ही अधीन है ॥९९॥ जगत्का कल्याण करनेके लिए जिसकी चतुराई प्रसिद्ध है और जो समस्त पृथिवीको जीतना चाहती है ऐसी आपकी इस दाहिनी भुजाकी कुशलता है न ? ॥१००॥ हे देव, आप देवोके भी प्रिय है, आपने समस्त जगत्को जीत लिया है इसलिए यह देवपना आपके ही योग्य है हम लोग तो अत्यन्त तुच्छ देव है—केवल देव जातिमे जन्म होनेसे ही देव कहलाने लगे है । यहाँ पर 'देवाना' 'प्रिय' ये दोनों ही पद पृथक्-पृथक् है, अथवा ऐसा

१ प्रभासंतान । २ व्याप्नोति । ३ अग्निशिखामतिक्रान्त । ४ कृतमालनामा । कृतमाल आरग्वध । 'आरग्वधे राजवृक्ष शम्भाकचतुरंगुला । आरेवतव्याधिघातकृतमालसुवर्णका ॥' इत्यभिधानात्। ५ दृश्यते स्म । ६ प्रापयत् । ७ तेज । ८ चक्रिण । ९ मानुपमतीतम् । १० संस्कृतभापिणा । पूर्वाभि—अ०, प०, स०, द०, ल० । ११ पूतानाया अपत्य पौतन तस्य भाव पौतन्यम् । देवत्वमित्यर्थ । १२ नूनम् । १३ वाचाल करोति । १४ लज्जामहे । १५ यस्मात् कारणात् । १६ क्षेमकरणे । १७ प्रख्यातम् । १८ क्षेम किम् । १९ गीरेव शापानुग्रह-समर्था बाणा साधनं निग्रहानुग्रहयोरेपामिति गीर्वाणा. देवा इत्यर्थ । २० जिगीपो त्वत्त अन्यत्र । २१ शीत-शीश्वरा ट० । मन्दानामीश्वरा इत्यर्थं । शीते शेरते एते शीतशय. तेपामीश्वरा क्रियासु मन्दानामीश्वरा इत्यर्थ । 'मूढाल्पापटुनिर्भाग्या । मन्दा स्यु ।' इत्यमर । २२ मन्दवचस ।

[1]राजोक्तिस्त्वयि राजेन्द्र राजतेऽनन्यगामिनी । अखण्डमण्डलां कृत्स्नां षट्खण्डां गां नियच्छति[2] ॥१०३॥
चक्रात्मना ज्वलत्येष प्रतापस्तव दुःसहः । प्रथते दण्डनीतिश्च दण्डरत्नछलाद् विभोः ॥१०४॥
इंगितव्या[3] मही कृत्स्ना स्वतन्त्रस्त्वमसीश्वरः । निधिरत्नर्द्धिरैश्वर्यं कः परस्त्वादृशः प्रभुः ॥१०५॥
भ्रमत्येकाकिनी लोकं शश्वत्कीर्तिरनर्गला[4] । सरस्वती च वाचाला कथं ते ते[5] प्रिये[6] प्रभोः ॥१०६॥
इति प्रतीतमाहात्म्यं त्वां सभाजयितुं[7] दिवः । त्वद्बलध्वानसंक्षोभसम्भाध्वसाद् वयमागताः ॥१०७॥
कूटस्था वयमस्याद्रेः स्वपदा[8]द्विचालिनः । भूमिमेतावती[9] तावत् त्वया देवावतारिताः ॥१०८॥
विप्रकृष्टान्तरावासवासिनो व्यन्तरा वयम् । संविधेयास्त्वये[10]दानीं प्रत्यासन्नाः पदातयः ॥१०९॥
विद्धि मां विजयार्द्धस्य मर्मज्ञममृताशनम् । कृतमालं गिरेरस्य कूटेऽमुष्मिन् कृतालयम् ॥११०॥
मयि स्वसात्कृते[11] देव स्वीकृतोऽयं महाचलः । सगुहाकाननस्यास्य गिरेर्गर्भविदस्म्यहम् ॥१११॥
गर्भज्ञोऽहं गिरेरस्मीत्यत्यल्पमिदमुच्यते । द्वीपाब्धिवलये कृत्स्ने नास्माकं कोऽप्यगोचरः ॥११२॥

अर्थ करना चाहिए कि हे प्रिय, समस्त जगत्को जीतनेसे आप देवोके भी देव हैं ॥१०१॥ हम गीर्वाण है और आपके अतिरिक्त विजयकी इच्छा करनेवाले किसी दूसरे पुरुषके विषय-मे यद्यपि हम वचनरूपी तीक्ष्ण बाणोको धारण करते है तथापि आपके विषयमें हम लोग कुण्ठितवचन हो रहे है, हमारा अहकार जाता रहा है और हमारे वचन गद्गद स्वरसे निकल रहे है ॥१०२॥ हे राजेन्द्र, आप छह खण्डोमे बँटी हुई समस्त प्रदेशसहित इस सम्पूर्ण पृथिवी-का शासन करते है इसलिए दूसरी जगह नही रहनेवाली राजोक्ति आपमे ही सुशोभित हो रही है—आप ही वास्तवमे राजा है ॥१०३॥ हे विभो, चक्ररत्नके बहानेसे यह आपका दु.सह प्रताप देदीप्यमान हो रहा है और दण्डरत्नके छलसे आपकी दण्डनीति प्रसिद्ध हो रही है ॥१०४॥ यह समस्त पृथिवी आपके अधीन है—पालन करने योग्य है, आप इसके स्वतन्त्र ईश्वर है और निधियाँ तथा रत्न ही आपका ऐश्वर्य है इसलिए आपके समान ऐश्वर्यशाली दूसरा कौन है ? ॥१०५॥ हे प्रभो, आपकी कीर्ति स्वच्छन्द होकर समस्त लोकमें सदा अकेली फिरा करती है और सरस्वती वाचाल है अर्थात् बहुत बोलनेवाली है फिर भी न जाने ये दोनो ही स्त्रियाँ आपको प्रिय क्यों है ? ॥१०६॥ इस प्रकार जिनका माहात्म्य प्रसिद्ध है ऐसे आपकी सेवा करनेके लिए हम लोग आपकी सेनाके शब्दके क्षोभसे भयभीत हो आकाश-से यहाँ आये है ॥१०७॥ हे देव, हम लोग इस पर्वतके शिखरपर रहते है और अपने स्थानसे कभी भी विचलित नही होते परन्तु इस भूमिपर आपके द्वारा ही अवतारित हुए हैं—उतारे गये है ॥१०८॥ हम लोग दूर-दूर तक अनेक स्थानोमें रहनेवाले व्यन्तर है अब आप हम लोगोको अपने समीप रहनेवाले सेवक बना लीजिए ॥१०९॥ आप मुझे इस पर्वतके इस शिखरपर रहनेवाला और विजयार्ध पर्वतका मर्म जाननेवाला कृतमाल नामका देव जानिए ॥११०॥ हे देव, आपने मुझे वश कर लिया है इसलिए इस महापर्वतको अपने अधीन हुआ ही समझिए क्योकि मैं गुफाओ और वनसहित इस पर्वतका समस्त भीतरी हाल जानता हूँ ॥१११॥ अथवा मै 'इस पर्वतका भीतरी हाल जाननेवाला हूँ' यह बहुत ही थोड़ा कहा गया है क्योकि समस्त द्वीप और समुद्रोंके भीतर ऐसा कोई भी प्रदेश नही है जो हम लोगोंका जाना

---

१ राजेति शब्द । २ शास्ति । ३ ऐश्वर्यवती भवितु योग्या । ४ प्रतिबन्धरहिता । ५ कीर्तिसरस्वत्यौ । ६ प्रियतमे (बभूवतु) । ७ सेवितुम् । ८ स्वस्थानात् । ९ एतावद्भूमिपर्यन्तम् । 'यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मानेऽवधारणे' । १० संविधापयितुं योग्या । ११ त्वदधीने कृते ।

[1]वटस्थानवटस्थांश्च[2] कूटस्थान् कोटरोटजान्[3] । [4]अक्षपाटान् क्षपाटांश्च[5] विद्धि नः सार्व सर्वगान्[6] ॥११३॥
इति प्रशान्तमोजस्वि[7] वचः संभाष्य सादरम् । सोऽमरो वितरतारस्मै भूषणानि चतुर्दश[8][9] ॥११४॥
तान्यनन्योपलभ्यानि प्राप्य चक्री परां मुदम् । भेजे [10]तत्कृतसत्कारैः सुरः सोऽप्याप संमदम् ॥११५॥
तं रूप्याद्रिगुहाद्वारप्रवेशोपायशंसिनम् । प्रविसर्ज्य स्वसेनान्यं प्राहिणोत् प्रभुरग्रतः ॥११६॥
त्वमुद्घाट्य गुहाद्वारं यावन्निर्वाति[11] सा गुहा । तावत् पाश्चात्त्यखण्डस्य[12] निर्जयाय कुरूद्यमम् ॥११७॥
इति चक्रधरादेशं[13] मूर्ध्ना माल्यमिवोद्वहन् । कृतमालामरोद्दिष्टकृत्स्नोपायप्रयोगवित् ॥११८॥
कृती कतिपयैरेव तुरंगैः सपरिच्छदैः । प्रतस्थे वाजिरत्नेन दण्डपाणिश्चमूपतिः ॥११९॥
किंचिच्चान्तरमुल्लङ्घ्य स सिन्धोर्वनवेदिकाम् । विगाह्य विजयार्द्धस्य संप्रापत् तटवेदिकाम् ॥१२०॥
तत्सोपानेन रूप्याद्रेरारुह्य जगतीतलम् । प्रत्यङ्मुखो[14] गुहोत्संग[15]माससाद चमूपतिः ॥१२१॥
जयताच्चक्रवर्तीति सोऽश्वरत्नमधिष्ठितः[16] । दण्डेन[17] ताडयामास गुहाद्वारं स्फुरद्ध्वनिः ॥१२२॥
दण्डरत्नाभिघातेन गुहाद्वारे निरर्गले[18] । तद्गर्भाद् बलवानूष्मा निर्ययौ किल संततः[19] ॥१२३॥
दधद्दण्डाभिघातोत्थं [20]क्रेङ्कारमररीपुटम्[21] । सवेदनमिवास्वेदि[22] निर्गतासु गुहोष्मणा ॥१२४॥

हुआ न हो ॥११२॥ हे सार्व अर्थात् सबका हित करनेवाले, वटके वृक्षोपर, छोटे-छोटे गड्ढोंमें, पहाडोके शिखरोपर, वृक्षोकी खोलो और पत्तोकी झोपडियोंमे रहनेवाले तथा दिन और रात्रिमें भ्रमण करनेवाले हम लोगोको आप सब जगह जानेवाले समझिए ॥११३॥ इस प्रकार आदरसहित शान्त और ओजपूर्ण वचन कहकर उस देवने भरतके लिए चौदह आभूपण दिये ॥११४॥ जो किसी दूसरेको प्राप्त नही हो सकते थे ऐसे उन आभूषणोंको पाकर चक्रवर्ती परम हर्पको प्राप्त हुए और चक्रवर्तीके द्वारा किये हुए सत्कारोसे वह देव भी अत्यन्त हर्पको प्राप्त हुआ ॥११५॥ तदनन्तर विजयार्ध पर्वतकी गुफाके द्वारसे प्रवेश करनेका उपाय वतलानेवाले उस देवको भरत चक्रवर्तीने विदा किया और गुफाका द्वार खोलनेके लिए सबसे आगे अपना सेनापति भेजा ॥११६॥ चक्रवर्तीने सेनापतिसे कहा कि तुम गुफाका द्वार उघाड़कर जवतक गुफा शान्त हो तवतक पश्चिम खण्डको जीतनेका उद्योग करो ॥११७॥ इस प्रकार चक्रवर्तीकी आज्ञाको मालाके समान मस्तकपर धारण करता हुआ और कृतमाल देवके द्वारा वतलाये हुए समस्त उपायोके प्रयोगको जाननेवाला वह चतुर सेनापति कुछ घोडे और सैनिकोके साथ दण्डरत्न हाथमे लेकर अश्वरत्नपर आरूढ होकर चला ॥११८–११९॥ और कुछ थोडी दूर जाकर तथा सिन्धु नदीके वनकी वेदीको उल्लघन कर विजयार्ध पर्वतके तटकी वेदीपर जा पहुँचा ॥१२०॥ प्रथम ही वह सेनापति सीढ़ियोके द्वारा विजयार्ध पर्वतकी वेदिकापर चढा और फिर पश्चिमकी ओर मुँहकर गुफाके आगे जा पहुँचा ॥१२१॥ अश्वरत्नपर वैठे हुए सेनापतिने चक्रवर्तीकी जय हो इस प्रकार कहकर दण्डरत्नसे गुफाद्वारका ताड़न किया जिससे वड़ा भारी शव्द हुआ ॥१२२॥ दण्डरत्नकी चोटसे गुफाका द्वार खुल जानेपर उसके भीतरसे वडी भारी गरमी निकलने लगी ॥१२३॥ दण्डरत्नके प्रहारसे उत्पन्न हुए क्रेङ्कार शव्दको धारण करते हुए दोनो किवाड़ ऐसे जान पड़ते थे मानो वेदनासे सहित होनेके

---

१ न्यग्रोधस्थान् । २ पातालस्थान् । 'गर्तावटौ भुवि श्वभ्रे' इत्यभिधानात् । श्वभ्रगर्तावटागादा भुवो विवरवाचका' इति कात्येनोक्तम् । ३ वृक्षविवरपर्णशालासु जातान् 'पर्णशालोटजोऽस्त्रियाम्' इत्यभिधानात् । ४ राक्षसेभ्योऽन्यान् । ५ क्षपा रात्रि तस्यामटन्तीति क्षपाटा तान् राक्षसानित्यर्थ । 'पलकषो रात्रिमटो रात्र्यटो जललोहित' इत्यभिधानात् । ६ सहितान् । ७ तेजोऽन्वितम् । ८ ददौ । ९ तिलकादिचतुर्दशाभरणानि । १० चक्रिकृत । ११ उपशान्तिमेति । १२ पश्चिमखण्डस्य । १३ आज्ञाम् । १४ पश्चिमाभिमुख. । १५ समीपम् । १६ आरूढ । १७ दण्डरत्नेन । १८ अर्गलरहिते सति । १९ विस्तृत । २० ध्वनिविशेषः । २१ कवाटयुगलम् 'कटावमररं तुल्ये' इत्यभिधानात् । २२ स्विद्यति स्म स्वेदितमित्यर्थ ।

उद्घाटितकवाटेन द्वारेणोष्माणमुद्वमन् । रराज राजतः शैलो लब्धोच्छ्वासश्चिरादिव ॥१२५॥
कवाटपुटविश्लेषादुच्चचार महान् ध्वनिः । दण्डेनाभिहतस्याद्रेराक्रोश इव विस्फुरन् ॥१२६॥
गुहोष्मणा स नाश्लेषि[1] विदूरमपवाहितः[2] । तरस्विनाऽश्वरत्नेन देवताभिश्च रक्षितः ॥१२७॥
निपेतुरमरस्त्रीणां दृक्क्षेपैः सममम्बरात् । सुमनःप्रकरास्तस्मिन् हासा इव जयश्रियः ॥१२८॥
तटवेदीं ससोपानां रूप्याद्रेः समतीयिवान् । सोऽभ्यैत्[3] सतोरणां सिन्धोः पश्चिमां वनवेदिकाम् ॥१२९॥
वेदिकां तामतिक्रम्य संजगाहे[4] परां[5] भुवम् । नानाकरपुरग्रामसीमारामैरलंकृताम् ॥१३०॥
प्रविष्टमात्र एवास्मिन् प्रजास्त्रासमुपाययुः । समं[6] दारगवैरन्या घटन्ते स्म[7] पलायितुम् ॥१३१॥
केचित् कृतधियो धीराः सार्घाः पुण्याक्षतादिभिः । प्रत्यग्रहीपुरभ्येत्य सबलं बलनायकम् ॥१३२॥
न भेतव्यं न भेतव्यमाध्वमाध्वं यथासुखम्[8] । इत्य[9]स्याज्ञाकरा[10] विष्वग्भ्रेमुराश्वासितप्रजाः ॥१३३॥
म्लेच्छखण्डमखण्डाज्ञः परिक्रामन् प्रदक्षिणम् । तत्र तत्र विभोराज्ञां म्लेच्छराजैरजिग्रहत्[11] ॥१३४॥
इदं चक्रधरक्षेत्रं स चैष निकटे[12] प्रभुः । तमाराधयितुं यूयं त्वरध्वं सह साधनैः ॥१३५॥
भरतस्यादिराजस्य चक्रिणोऽप्रतिशासनम्[13] । शासनं शिरसा दध्वं[14] यूयमित्यन्वशाच्च[15] तान् ॥१३६॥

कारण चिल्ला ही रहे हो, उन्हे दु.खसे पसीना ही आ गया हो और गुफाके भीतरकी गरमी-से उनके प्राण ही निकले जा रहे हों ॥१२४॥ जिसके किवाड़ खुल गये है ऐसे द्वारसे गरमी-को निकालता हुआ वह विजयार्ध पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो वहुत दिन वाद उसने उच्छ्वास ही लिया हो ॥१२५॥ दोनो किवाड़ोके खुलनेसे एक वडा भारी शव्द हुआ था और वह ऐसा जान पडता था मानो दण्डरत्नके द्वारा ताडित हुए पर्वतके रोनेका शव्द ही हो ॥१२६॥ वेगशाली अश्वरत्न जिसे वहुत दूर तक भगा ले गया है और देवताओने जिसकी रक्षा की है ऐसे उस सेनापतिको गुफाकी गरमी छू भी नही सकी थी ॥१२७॥ उस समय उस सेना-पतिपर देवागनाओके कटाक्षोके साथ-साथ आकाशसे फूलोंके समूह पड़ रहे थे और वे जयलक्ष्मी-के हासके समान जान पड़ते थे ॥१२८॥ सेनापति सीढियोसहित विजयार्ध पर्वतके किनारे-की वेदीको उल्लघन करता हुआ तोरणसहित सिन्धु नदीके पश्चिम ओरवाली वनकी वेदिका के सम्मुख पहुँचा ॥१२९॥ उसने उस वेदिकाको भी उल्लघन कर अनेक खानि, पुर, ग्राम, सीमा और वाग-वगीचोसे सुन्दर म्लेच्छखण्डकी उत्तम भूमिमें प्रवेश किया ॥१३०॥ उस भूमिमे सेनापतिके प्रवेश करते ही वहाँकी समस्त प्रजा घवड़ा गयी, उसमें-से कितने ही लोग स्त्रियों तथा गाय-भैंस आदिके साथ भागनेके लिए तैयार हो गये ॥१३१॥ कितने ही वुद्धिमान् तथा धीर वीर पुरुष पवित्र अक्षत आदिका वना हुआ अर्घ लेकर सेनासहित सेनापतिके सम्मुख गये और उसका सत्कार किया ॥१३२॥ अरे डरो मत, डरो मत, जिसको जिस प्रकार सुख हो उसी प्रकार रहो इस प्रकार प्रजाको आश्वासन देते हुए चक्रवर्तीके सेवक चारो ओर घूमे थे ॥१३३॥ अखण्ड आज्ञाको धारण करनेवाला वह सेनापति प्रदक्षिणा रूपसे म्लेच्छखण्ड मे घूमता हुआ जगह-जगह म्लेच्छ राजाओसे चक्रवर्तीकी आज्ञा स्वीकृत करवाता जाता था ॥१३४॥ सेनापतिने म्लेच्छ राजाओंको यह भी सिखलाया कि यह चक्रवर्तीका क्षेत्र है और वह प्रसिद्ध चक्रवर्ती समीप ही है इसलिए तुम सव अपनी-अपनी सेनाओके साथ उनकी सेवा करनेके लिए शीघ्रता करो । चक्रवर्ती भरत इस युगके प्रथम अथवा सवसे मुख्य राजा है इसलिए कभी भंग नही होनेवाली उनकी आज्ञाको तुम सव अपने मस्तकपर धारण करो ॥१३५–१३६॥

१ न आलिङ्गितः । २ अपनीत । ३ अभ्यगच्छत् । ४ प्रविशति स्म । सज्गाहे ल० । ५ पश्चिमाम् । ६ (द्वन्द्वसमास) कलत्रधेनुभि. । ७ चेष्टन्ते स्म । ८ यथासुख तिष्ठत । ९ सेनान्य । १० भृत्या । ११ अग्राह-यत् । १२ समीपे आस्ते । १३ न विद्यते प्रतिशासन यस्य । १४ धारयत । १५ शास्ति स्म ।

जाता वयं चिरादद्य सनाथा इत्युदाशिषः[1]। केचिच्चक्रधरस्याज्ञामशठा[2] प्रत्यपत्सत[3] ॥१३७॥
संधिविग्रहयानादिषाड्गुण्यकृतविक्रमाः। बलात् प्रमाणिताः केचिद् ऐश्वर्यलवदर्पिताः ॥१३८॥
कांश्चिद् दुर्गाश्रितान् म्लेच्छानवस्कन्दनिरोधनैः[4]। सेनानीर्वशमानिन्ये नमत्यज्ञोऽधिकं क्षतः[5] ॥१३९॥
केचिद् बलैरवष्टब्धाः[6] स्तत्पीडां सोढुमक्षमाः। शासने चक्रिणस्तस्थुः स्नेहो नापीलितात् खलात् ॥१४०॥
इत्युपायैरुपायज्ञः साधयन्म्लेच्छभूभुजः। तेभ्यः कन्यादिरत्नानि प्रभोर्भोग्यान्युपाहरत् ॥१४१॥
धर्मकर्मबहिर्भूता इत्यमी म्लेच्छका मताः। अन्यथाऽन्यैः[7] समाचारैरार्यावर्तेन[8] ते समाः ॥१४२॥
इति प्रसाध्य तां भूमिमभूमिं[9] धर्मकर्मणाम्। म्लेच्छराजबलैः सार्द्धं सेनानीर्न्यवृतत् पुनः ॥१४३॥
रराज राजराजस्य साश्वरत्नचमूपतिः। सिद्धदिग्विजयो जैत्रः प्रताप इव मूर्तिमान् ॥१४४॥
सतोरणामतिक्रम्य स सिन्धोर्वनवेदिकाम्। विगाढश्च[10] ससोपानां रूप्याद्रेस्तटवेदिकाम् ॥१४५॥
आरूढो जगतीमद्रेर्व्यूढोरस्को[11] महाभुजः। षड्भिर्मासैः प्रशान्तोष्म सोऽध्यवासीद्[12] गुहामुखम्[13] ॥१४६॥
तत्रासीनश्च संशोध्य बह्वपायं गुहोदरम्। कृतारक्षाविधिः सम्यक् प्रत्यायाच्छिबिरं[14] प्रभोः ॥१४७॥

'आज हम लोग बहुत दिनमें सनाथ हुए है इसलिए जोर-जोरसे आशीर्वाद देते हुए कितने ही बुद्धिमान् लोगोने चक्रवर्तीकी आज्ञा स्वीकृत की थी ॥१३७॥ जिन्होने सन्धि, विग्रह और यान आदि छह गुणोमे अपना पराक्रम दिखाया था और जो थोड़े-से ही ऐश्वर्यसे उन्मत्त हो गये थे ऐसे कितने ही राजाओसे सेनापतिने जबरदस्ती प्रणाम कराया था ॥१३८॥ किलेके भीतर रहनेवाले कितने ही म्लेच्छ राजाओंको सेनापतिने उनका चारो ओरसे आवागमन रोककर वश किया था सो ठीक ही है क्योकि अज्ञानी लोग अधिक दु.खी किये जानेपर ही नम्रीभूत होते है ॥१३९॥ कितने ही राजा लोग सेनाओके द्वारा घिरकर उससे उत्पन्न हुए दु.खको सहन करनेके लिए असमर्थ हो चक्रवर्तीके शासनमें स्थित हुए थे, सो ठीक ही है क्योकि विना पेले खल अर्थात् खलीसे स्नेह अर्थात् तेल उत्पन्न नही होता (पक्षमें विना दु:खी किये हुए खल अर्थात् दुर्जनसे स्नेह अर्थात् प्रेम उत्पन्न नही होता) ॥१४०॥ इस प्रकार उपायोको जाननेवाले सेनापति-ने अनेक उपायोके द्वारा म्लेच्छ राजाओको वश किया और उनसे चक्रवर्तीके उपभोगके योग्य कन्या आदि अनेक रत्न भेटमे लिये ॥१४१॥ ये लोग धर्मक्रियाओसे रहित है इसलिए म्लेच्छ माने गये है, धर्मक्रियाओके सिवाय अन्य आचरणोसे आर्यखण्डमे उत्पन्न होनेवाले लोगोके समान है ॥१४२॥ इस प्रकार वह सेनापति, धर्मक्रियाओसे रहित उस म्लेच्छभूमिको वश कर म्लेच्छराजाओकी सेनाके साथ फिर वापस लौटा ॥१४३॥ जिसने दिग्विजय कर लिया है, सबको जीतना ही जिसका स्वभाव है, और जो अश्वरत्नसे सहित है ऐसा वह राजाधि-राज भरतका सेनापति ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो मूर्तिमान् प्रताप ही हो ॥१४४॥ तोरणोंसहित सिन्धु नदीके वनकी वेदीको उल्लंघन कर वह सेनापति सीढियोसहित विजयार्ध पर्वतके वनकी वेदीपर जा चढा ॥१४५॥ जिसका वक्ष:स्थल बहुत बड़ा है और जिसकी भुजाएँ बहुत लम्बी है ऐसा वह सेनापति पर्वतकी वेदिकापर चढ़कर छह महीनेमे जिसकी गरमी शान्त हो गयी है ऐसी गुफाके द्वारपर ठहर गया ॥१४६॥ वहाँ ठहरकर उसने अनेक विघ्नों-से भरे हुए गुफाके भीतरी भागको शुद्ध (साफ) कराया और फिर अच्छी तरहसे उसकी रक्षा

---

१ उद्गताशीर्वचना। २ निष्कपटवृत्तयो भूत्वा। ३ अङ्गीकार कृतवन्त.। ४ धाटीनिरोधनै। निग्रहस्तु निरोध स्याद्' इत्यमर'। अभ्यासाधनात्मकनिग्रहै.। उक्तं च विदग्धचूडामणौ 'अभ्यवस्कन्दनं त्वभ्यासादनम्' (घेरेका नाम)। ५ अधिक पीडितो भूत्वा। ६ वेष्टिता। ७ विवाहादिभि। ८ पुण्यभूम्या आर्यखण्डे-नेत्यर्थ। 'आर्यावर्त पुण्यभूमि' इत्यभिधानात्। ९ अस्थानम्। १० प्रविष्टः। ११ विशालवक्षस्थल:। १२ तस्थौ। १३ गुहाद्वारम्। १४ स्कन्धावारं प्रत्यगात्।

अथ संमुखमागत्य [1]सानीकैर्नृपसत्तमैः । प्रत्यगृह्यत सेनानीः सजयानकनिःस्वनम् ॥१४८॥
विभक्ततोरणामुच्चैः प्रचलत्केतुमालिकाम् । महावीथीमतिक्रम्य प्राविक्षत् स नृपालयम् ॥१४९॥
तुरंगमवराद्दूरात् कृतावतरणः कृती । प्रभोर्नृपासनस्थस्य प्रापदास्थानमण्डपम् ॥१५०॥
दूरानतचलन्मौलिसंदष्टकरकुड्मलः । प्रणनाम प्रभुं सभ्यैर्वीक्ष्यमाणः सविस्मितैः ॥१५१॥
मुखरैर्जयकारेण म्लेच्छराजैः ससाध्वसम् । प्रणेमे प्रभुरभ्येत्य ललाटस्पृष्टभूतलैः ॥१५२॥
तदुपाहृत[2]रत्नाद्यैर्[3]चयन्नुपढौकितैः[4] । नामादेशं[5] च [6]तानस्मै प्रभवेऽसौ न्यवेदयत ॥१५३॥
सप्रसादं च संमान्य सत्कृतास्ते महीभुजः । प्रभोरनुमताद् भूयः स्वमोकः प्रत्ययासिषुः[7] ॥१५४॥
इत्थं पुण्योदयाच्चक्री बलात् प्रत्यन्तपालकान्[8] । विजिग्ये दण्डमात्रेण जयः पुण्यादृते कुतः ॥१५५॥

मालिनी

अथ नृपतिसमाजैरर्चितः सानुरागं विजितसकलदुर्गः प्रह्वयन् म्लेच्छनाथान् ।
पुनरपि विजयायायोजि सोऽग्रेसरत्वे जय इव जयचिह्नैर्मानितो रत्नभर्त्रा ॥१५६॥
जयति जिनवराणां शासनं यत्प्रसादात् पदमिदमधिराज्ञां प्राप्यते हेलयैव ।
समुचितनिधिरत्नप्राज्यभोगोपभोगप्रकटितसुखसारं भूरि संपत्प्रसारम् ॥१५७॥

का उपाय कर वह चक्रवर्तीकी छावनीमे वापस लौट आया ॥१४७॥ सेनापतिके वहाँ पहुँचनेपर अनेक उत्तम-उत्तम राजाओने अपनी सेनाओके साथ सामने जाकर विजयसूचक नगाड़ोके शब्दोके साथ-साथ उसका स्वागत-सत्कार किया ॥१४८॥ जिसमे अनेक तोरण लगे हुए हैं और जिसमे बहुत ऊँची अनेक पताकाओके समूह फहरा रहे हैं ऐसे राजमार्गको उल्लंघन कर वह सेनापति महाराज भरतके डेरेमे प्रविष्ट हुआ ॥१४९॥ वह व्यवहार कुशल सेनापति दूरसे ही उत्तम घोड़ेपर-से उतर पड़ा और जहाँ महाराज भरत राजसिंहासनपर बैठे हुए थे उस सभामण्डपमे जा पहुँचा ॥१५०॥ दूरसे ही झुके हुए चचल मुकुटपर जिसने अपने दोनो हाथ जोड़कर रखे हैं और सभासद् लोग जिसे आश्चर्यके साथ देख रहे हैं ऐसे सेनापतिने महाराज भरतको नमस्कार किया ॥१५१॥ जिन्होने अपने ललाटसे पृथिवीतलका स्पर्श किया है और जो जय-जय शब्द करनेसे वाचालित हो रहे हैं ऐसे म्लेच्छ राजाओने भयसहित सामने आकर भरतको नमस्कार किया ॥१५२॥ उन म्लेच्छ राजाओके द्वारा उपहारमें लाये हुए रत्न आदिको सामने रखकर सेनापतिने महाराज भरतसे नाम ले लेकर सबका परिचय कराया ॥१५३॥ महाराजने प्रसन्नताके साथ सन्मान करके उन सब राजाओंका सत्कार किया, तदनन्तर वे राजा महाराजकी अनुमतिसे अपने-अपने स्थानपर वापस चले गये ॥१५४॥ इस प्रकार चक्रवर्तीने पुण्य कर्मके उदयसे केवल दण्डरत्नके द्वारा ही म्लेच्छ राजाओको जबरदस्ती जीत लिया था सो ठीक ही है क्योकि पुण्यके बिना विजय कहाँसे हो सकती है ? ॥१५५॥

अथानन्तर–अनेक राजाओके समूहने प्रेमपूर्वक जिसका सत्कार किया है, जिसने सब किले जीत लिये है, जिसने म्लेच्छ राजाओको नम्रीभूत किया है, जो साक्षात् विजयके सामान सुशोभित हो रहा है और विजयके चिह्नोसे जिसका सन्मान किया गया है ऐसे उस सेनापतिको रत्नोके स्वामी भरत महाराजने विजय प्राप्त करनेके लिए फिर भी प्रधान सेनापतिके पदपर नियुक्त किया ॥१५६॥ योग्य निधियाँ, रत्न तथा उत्कृष्ट भोग-उपभोगकी वस्तुओ

---

१ समैन्यै । २ तन्म्लेच्छराजेभ्य आहृत । ३ पूजयन् । ४ प्रभो. समीपं नीतै । ५ नामोद्देशम् । ६ म्लेच्छराजान् । ७ निजावास संप्रतिजग्मु । ८ म्लेच्छराजान् 'प्रत्यन्तो म्लेच्छदेश. स्यादित्यभिधानात् ।

शार्दूलविक्रीडितम्

छत्रं चन्द्रकरापहासि रुचिरं चामीकरप्रोज्ज्वलद्-
दण्डं चामरयुग्मकं सुरसरिड्डिण्डीरपिण्डच्छविः।
रुक्माद्रेरिव संविभक्तमपरं कूटं मृगेन्द्रासनं
लेभेऽसौ विजयार्द्धनाथविजयाद्रत्नान्यथान्यान्यपि ॥१५८॥
गीर्वाणः कृतमाल इत्यभिमतः संपूज्य तं सादरं
प्रादादाभरणानि[1] यानि न पुनस्तेषामिहास्त्युन्मितिः[2]।
सम्राट् तैश्चका[3]दलंकृततनुः कल्पद्रुमः पुष्पितो
मेरोः सानुमिवाश्रितो मणिमयं सोऽध्यासितो विष्टरम् ॥१५९॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे विजयार्द्धगुहाद्वारोद्घाटनवर्णनं नामैकत्रिंशं पर्व ॥३१॥

■

के द्वारा जिसमे सुखोंका सार प्रकट रहता है, और जिसमे अनेक सम्पदाओंका प्रसार रहता है ऐसा यह चक्रवर्तीका पद जिसके प्रसादसे लीलामात्रमें प्राप्त हो जाता है ऐसा यह जिनेन्द्र भगवान्‌का शासन सदा जयवन्त रहे ॥१५७॥ महाराज भरतने विजयार्ध पर्वतके स्वामीको जीतकर उससे चन्द्रमाकी किरणोंकी हँसी करनेवाला सुन्दर छत्र, सुवर्णमय देदीप्यमान दण्डोंसे युक्त तथा गंगा नदीके फेनके समान कान्तिवाले दो मनोहर चमर, सुमेरु पर्वतसे अलग किये हुए उसके शिखरके समान सिंहासन तथा और भी अन्य अनेक रत्न प्राप्त किये थे ॥१५८॥ 'कृतमाल' इस नामसे प्रसिद्ध देवने सत्कार कर महाराज भरतके लिए जो आभूषण दिये थे इस भरतक्षेत्रमे उनकी उपमा देने योग्य कोई भी पदार्थ नही है। उन अनुपम आभूषणोसे जिनका शरीर अलंकृत हो रहा है और जो मणियोके बने हुए सिंहासनपर विराजमान है ऐसे महाराज भरतेश्वर उस समय मेरु पर्वतके शिखरपर स्थित फूले हुए कल्प वृक्षके समान अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे ॥१५९॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध, भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहके हिन्दी भाषानुवादमे विजयार्ध पर्वतकी गुफाका द्वार उघाडनेका वर्णन करनेवाला इकतीसवाँ पर्व समाप्त हुआ।

■

---

१ ददौ। २ उपमा। ३ बभौ।

द्वात्रिंशत्तमं पर्व

अथान्येद्युरुपारूढसंभ्रमैर्बलनायकैः । प्रत्यपाल्यत[1] संनद्धैः प्रयाणसमयः प्रभोः ॥१॥
गजताश्वीयरथ्यानां[2] पादातानां[3] च संकुलैः । न नृपाजिरमेवासीद् रुद्धमद्रेर्वनान्यपि ॥२॥
जयकुञ्जरमारूढः परीतो[4] नृपकुञ्जरैः । रेजे [5]निर्यन्प्रयाणाय सम्राट् शक्र इवामरैः ॥३॥
किंचित पश्चान्मुखं[6] गत्वा सेनान्या शोधिते पथि । ध्वजिनी संकुचन्त्यासीदीर्याशुद्धिं श्रितेव सा ॥४॥
प्रगुणस्थानसोपानां[7] रूप्याद्रेः श्रेणिमश्रमात् । मुनेः शुद्धिरिव श्रेणीमारूढा सा पताकिनी[8] ॥५॥
तमिस्रेति गुहा यास्मौ गिरिव्याससमायतिः[9] । उच्छ्रिता योजनान्यष्टौ [10]ततोऽर्धाधिकविस्तृतिः[11] ॥६॥
वाज्रं कपाटयोर्युग्मं या स्वोच्छ्रायमितोच्छ्रिति । दधे पृथक्[12] स्वविष्कम्भसाधिकद्व्यंशविस्तृतिः[13] ॥७॥
परार्ध्यमणिनिर्माणरुचिमद्द्वारबन्धना । [14]तदधस्तलनिस्सर्पत्सिन्धुस्रोतोविराजिता ॥८॥
अशक्योद्घाटनाऽन्येषां मुक्त्वा चक्रिचमूपतिम् । तन्निरर्गलितत्वाच्च[15] प्रागेव कृतनिर्वृतिः[16] ॥९॥

अथानन्तर—दूसरे दिन जिन्हे जल्दी हो रही है और जो हरएक प्रकारसे तैयार हैं ऐसे सेनापति लोग चक्रवर्तीके चलनेके समयकी प्रतीक्षा करने लगे ॥१॥ हाथियोंके समूह, घोडोंके समूह, रथोके समूह और पैदल चलनेवाले सैनिक, इन सबकी भीड़से केवल महाराजका आँगन ही नही भर गया था किन्तु विजयार्ध पर्वतके वन भी भर गये थे ॥२॥ विजयी हाथीपर चढा हुआ और अनेक श्रेष्ठ राजाओंसे घिरा हुआ चक्रवर्ती जब विजयके लिए निकला तब ऐसा सुशोभित हो रहा था जैसा कि ऐरावत हाथीपर चढा हुआ और देवोसे घिरा हुआ इन्द्र सुशोभित होता है ॥३॥ भरतकी वह सेना कुछ पश्चिमकी ओर जाकर सेनापतिके द्वारा शुद्ध किये हुए मार्गमे सकुचित होकर चल रही थी और ऐसी जान पड़ती थी मानो वह ईर्यापथ शुद्धिको ही प्राप्त हुई हो ॥४॥ जिस प्रकार मुनियोंकी विशुद्धता उत्तम गुणस्थान (आठवें, नौवे, दशवें रूपी सीढियोसे युक्त श्रेणी (उपशम श्रेणी अथवा क्षपकश्रेणी) पर चढती है उसी प्रकार चक्रवर्तीकी सेना, जिसपर उत्तम सीढियाँ बनी हुई है ऐसी विजयार्ध पर्वतकी श्रेणीपर जा चढी थी ॥५॥ वहाँ तमिस्रा नामकी वह गुफा थी जो कि पर्वतकी चौड़ाईके बराबर लम्बी थी, आठ योजन ऊँची थी और उससे डेवढी अर्थात् बारह योजन चौड़ी थी जो अपनी ऊँचाईके बराबर ऊँचे और कुछ अधिक छह-छह योजन चौडे वज्रमयी किवाड़ोंके युगल धारण कर रही थी, जिसके दरवाजेकी चौखट महामूल्य रत्नोसे बनी हुई होनेसे अत्यन्त देदीप्यमान थी, जो अपने नीचेसे निकलते हुए सिन्धु नदीके प्रवाहसे सुशोभित थी, चक्रवर्तीके सेनापतिको छोडकर जिसे और कोई उघाड़ नही सकता था, जो सेनापतिके द्वारा पहले ही उघाड दी जानेसे शान्त पड़ गयी थी—भीतरकी गरमी निकल जानेसे ठण्डी पड़ गयी थी । जो यद्यपि जगत्की सृष्टिके समान अनादि थी तथापि किसीके द्वारा बनायी हुईके समान मालूम

---

१ प्रतीक्ष्यते स्म । २ सैन्यानाम् ल० । ३ पदातीनाम् ल० । ४ परिवृत । ५ निर्गच्छन् । ६ पश्चिमाभिमुखम् । ७ ऋजुसस्थानसोपाना प्रकृष्टगुणस्थानसोपानाच । ८ सेना । ९ पञ्चाशद्योजनायामेति भावः । १० अष्टयोजनोत्सेधात् । ११ द्वादशयोजनविस्तारेत्यर्थः । १२ यमलकवाटे एकैककवाटम् । १३ द्वादशयोजनविस्तारवद् गुहाया साधिकद्वितीय विस्तारम् । यमलरूपकवाटे एकैककवाटस्य साधिकषड्योजनविस्तृतिरित्यर्थः । १४ द्वारबन्धादधस्तलनिर्गच्छत् । देहल्या अधस्तले निर्गच्छदिति भाव । १५ तेन चमूपतिना समुद्घाटितकवाटत्वात् । १६ कृतोपशान्ति ।

जगत्स्थितिरिवानाद्या घटितेव[1] च केनचित्[2] । जैनी [3]श्रुतिरिवोपात्तगाम्भीर्या मुनिभिर्मता ॥१०॥
व्यायता जीविताशेव मूर्च्छेव च तमोमयी । गतेवोल्लाघतां[4] कृच्छ्रान्मुक्तोष्मा शोधितोदरा[5] ॥११॥
कुटीव च प्रसूताया निषिद्धान्यप्रवेशना । कृतरक्षाविधिर्द्वारि धृतमङ्गलसंविधिः ॥१२॥
तामालोक्य बलं[6] जिष्णोर्दूरादासीत्स साध्वसम् । तमसा सूचिभेद्येन कज्जलेनेव संभृताम् ॥१३॥
चक्रिणा ज्ञापितो भूयः सेनानीः सपुरोहितः । तत्तमोनिर्गमोपाये प्रयत्नमकरोत्ततः ॥१४॥
काकिणीमणिरत्नाभ्यां प्रतियोजनमालिखत् । गुहाभित्तिद्वये सूर्यसोमयोर्मण्डलद्वयम् ॥१५॥
तत्प्रकाशकृतोद्योतं सज्योत्स्नातमसंनिधिम् । गुहामध्यमपध्वान्तं व्यगाहत ततो बलम् ॥१६॥
चक्ररत्नोज्ज्वलद्दीपे ससेनान्या[7] पुरः स्थिते । बलं तदनुमार्गेण प्रविभज्य द्विधा ययौ ॥१७॥
परिसिन्धु[8] नदीस्रोतः प्राक् पश्चाच्चोभयोः[9] पथोः । बलं [10]प्रायज्जलं सिन्धोरुपयुज्योपयुज्य तत् ॥१८॥
पथि द्वैधे[11] स्थिता तस्मिन् सेनाग्रण्या नियन्त्रिता[12] । सा चमूः संशयद्वैधं[13] तदा प्रापद् दिगाश्रयम्[14] ॥
ततः प्रयाणकैः कैश्चित् प्रभूतयवसोदकैः[15] । गुहार्द्धसंमितां[16] भूमिं व्यतीयाय[17] पतिर्विशाम् ॥२०॥

होती थी, अत्यन्त गम्भीर (गहरी) होनेके कारण जिसे मुनि लोग जिनवाणीके समान मानते थे क्योंकि जिनवाणी भी अन्त्यन्त गम्भीर (गूढ अर्थोंसे भरी हुई) होती है। जो जीवित रहनेकी आशाके समान लम्बी थी, मूर्च्छाके समान अन्धकारमयी थी, गरमी निकल जाने तथा भीतरका प्रदेश शुद्ध हो जानेसे जो नीरोग अवस्थाको प्राप्त हुईके समान जान पडती थी, जिसमे चक्रवर्तीकी सेनाको छोडकर अन्य किसीका प्रवेश करना मना था, जिसके द्वारपर रक्षाकी सब विधि की गयी थी, जिसके समीप मगलद्रव्य रखे हुए थे और इसलिए जो प्रसूता (बच्चा उत्पन्न करनेवाली) स्त्रीकी कुटी (प्रसूतिगृह) के समान जान पडती थी ॥९–१२॥ सुई-की नोकसे भी जिसका भेद नही हो सकता ऐसे कज्जलके समान गाढ अन्धकारसे भरी हुई उस गुफाको देखकर चक्रवर्तीकी सेना दूरसे ही भयभीत हो गयी थी ॥१३॥ तदनन्तर जिसे चक्रवर्तीने आज्ञा दी है ऐसे सेनापतिने पुरोहितके साथ-साथ, उस अन्धकारसे निकलनेका उपाय करनेके लिए फिर प्रयत्न किया ॥१४॥ उन्होंने गुफाकी दोनो ओरकी दीवालोपर काकिणी और चूड़ामणि रत्नसे एक-एक योजनकी दूरीपर सूर्य और चन्द्रमाके मण्डल लिखे ॥१५॥ तदनन्तर उन मण्डलोके प्रकाशसे जिसमें प्रकाश किया जा रहा है, चाँदनी और धूप दोनो ही जिसमें मिल रहे है तथा जिसका सब अन्धकार नष्ट हो गया है, ऐसे गुफाके मध्य भागमे सेनाने प्रवेश किया ॥१६॥ आगे-आगे सेनापतिके साथ-साथ चक्ररत्नरूपी देदीप्यमान दीपक चल रहा था और उसके पीछे-पीछे उसी मार्गसे दो भागोमे विभक्त होकर सेना चल रही थी ॥१७॥ वह सेना सिन्धु नदीके प्रवाहको छोड़कर पूर्व तथा पश्चिमकी ओरके दोनो मार्गोमे सिन्धु नदीके जलका उपयोग करती हुई जा रही थी ॥१८॥ उन दोनो मार्गोपर चलती हुई तथा सेनापतिके द्वारा वश की हुई वह सेना उस समय दिशाओसम्बन्धी सशयकी द्विविधताको प्राप्त हो रही थी अर्थात् उसे इस बातका सशय हो रहा था कि पूर्वदिशा कौन है? और पश्चिम दिशा कौन है? ॥१९॥ तदनन्तर जिनमे घास और पानी अधिक है ऐसे कितने ही मुकाम चलकर महाराज

१ निर्मितेव । २ केनचित् पुरुषेण । ३ परमागम । ४ ऋजुत्वं गतेव । 'उल्लाघो निर्गतो गदात्' । ५ शोधितान्तरा ल० । ६ गुहाम् । ७ सेनापतिसमन्विते । ८ सिन्धुनदीप्रवाह वर्जयित्वा । परिशब्दस्य वर्जनार्थत्वात् । ९ पश्चात् पूर्वापर । १० अगच्छत् । ११ द्विप्रकारवती । १२ नियमिता । १३ संशयभेदं संशयविनाश वा । १४ उपदेशाश्रय वा संशयभेद प्राप । पूर्वादिदिग्भेदे सेना सन्देहवती जातेत्यर्थ । १५ तृण, घास । 'घासो यवस तृणमर्जुमि'त्यभिधानात् । १६ गुहानामर्द्धप्रमिताम् । १७ अत्यगात् ।

[1]यत्रोन्मग्नजला सिन्धुर्निमग्नजलया समम्। प्रविष्टा तिर्यगद्रेस्तं[2] तं[3] प्राप चमूरीशितुः ॥२१॥
तयोरारात्तटे सैन्यं निवेश्य भरतेश्वरः। वैषम्यमुभयोर्नद्योः प्रेक्षांचक्रे सकौतुकम् ॥२२॥
एकाऽधः पातयत्यन्या[4] दार्वाद्युत्प्लावयत्यरम्। मिथो विरुद्धयोगे ये संगते ते कथंचन ॥२३॥
नद्योरुत्तरणोपायः को नु स्यादिति तर्कयन्। द्रुतमाह्वापयामास तत्रस्थः स्थपतिं पतिः ॥२४॥
[5]तयोरारात्तटे पश्यन्नुत्पतन्निपतज्जलम्। दृष्ट्यैव तुलयामास[6] जलाञ्जलिमिव[7] क्षणम् ॥२५॥
उपर्युच्छ्वासयत्येनां महान् वायुः स्फुरन्नधः। वायुरन्यस्त्वधोवृत्तिं[8] रमुष्यां च विजृम्भते ॥२६॥
उपनाहादृते[9] कोऽन्यः प्रतीकारोऽनयोरिति। भिषग्वर इवारेभे संक्रमोपक्रमं[10] कृती ॥२७॥
अमानुषेष्वरण्येषु ये केचन महाद्रुमाः। स तानानाययामास[11] दिव्यशक्त्यनुभावतः ॥२८॥
सारदारुभिरुत्तम्भ्य[12] स्तम्भानन्तर्जलस्थितान्[13]। स्थपतिः स्थापयामास तेषामुपरि[14] संक्रमम्[15] ॥२९॥
बलव्यसनमाशङ्क्य[16] चिरवृत्तौ[17] स धीरधीः। क्षणान्निष्पादयामास संक्रमं प्रभुशासनात् ॥३०॥
कृतः कलकलः सैन्यैर्निष्ठिते सेतुकर्मणि। तदैव च बलं कृत्स्नमुत्ततार परं तटम्[18] ॥३१॥

भरतने गुफाकी आधी भूमि तय की ॥२०॥ और जहाँपर 'उन्मग्नजला' नदी 'निमग्नजला' नदीके साथ-साथ दोनों तरफकी दीवालोंके कुण्डोंसे निकलकर सिन्धु नदीमें प्रविष्ट होती है उस स्थानपर चक्रवर्तीकी सेना जा पहुँची ॥२१॥ महाराज भरतेश्वर उन दोनों नदियों-के किनारेके समीप ही सेना ठहराकर कौतुकके साथ उन दोनों नदियोंकी विषमता देखने लगे ॥२२॥ इन दोनोंमें-से एक अर्थात् निमग्नजला तो लकड़ी आदिको शीघ्र ही नीचे ले जा रही है और दूसरी अर्थात् उन्मग्नजला प्रत्येक पदार्थको शीघ्र ही ऊपरकी ओर उछाल रही है। यद्यपि ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं तथापि किसी प्रकार यहाँ आकर सिन्धु नदीमें मिल रही हैं ॥२३॥ इन नदियोंके उतरनेका उपाय क्या है ? इस प्रकार विचार करते हुए चक्रवर्तीने वहाँ खड़े-खड़े ही शीघ्र ही अपने स्थपति (सिलावट) रत्नको बुलाया ॥२४॥ जिनका पानी ऊपर तथा नीचेकी ओर जा रहा है ऐसी उन दोनों नदियोंको देखते हुए सिलावट रत्नने उन्हें अपनी दृष्टिमात्रसे ही क्षण-भरमें अंजलि-भर जलके समान तुच्छ समझ लिया ॥२५॥ उसने समझ लिया कि इस उन्मग्नजला नदीको इसके नीचे रहनेवाला महावायु ऊपरकी ओर उछा-लता है और इस निमग्नजला नदीको उसके ऊपर रहनेवाला महावायु नीचेकी ओर ले जाता है ॥२६॥ इसलिए इन दोनोंका पुल बाँधनेके सिवाय और क्या उपाय हो सकता है ऐसा विचार कर उत्तम वैद्यके समान कार्यकुशल सिलावट रत्नने उन नदियोंके पार होनेका उपाय अर्थात् पुल बाँधनेका उपाय प्रारम्भ कर दिया ॥२७॥ उसने अपनी दिव्य शक्तिकी सामर्थ्यसे निर्जन वनोंमें जो कुछ बड़े-बड़े वृक्ष थे वे मँगवाये। भावार्थ – अपने आश्रित देवोंके द्वारा सघन जंगलोंसे बड़े-बड़े वृक्ष मँगवाये ॥२८॥ उसने मजबूत लकड़ियोंके द्वारा जलके भीतर मजबूत खम्भे खड़े कर उनपर पुल तैयार कर दिया ॥२९॥ अधिक समय लगनेपर सेनाको दुःख होगा इस बातका विचार कर उस गम्भीर बुद्धिके धारक सिलावटने भरतेश्वरकी आज्ञा-से क्षण-भरमें ही पुल तैयार कर दिया था ॥३०॥ पुल तैयार होते ही सेनाओंने आनन्दसे कोलाहल किया और उसी समय चक्रवर्तीकी समस्त सेना उतरकर नदियोंके उस किनारे

१ यस्मिन् प्रदेशे। २ पूर्वापरभित्तिद्वयदण्डान् निर्गत्य। ३ प्रदेशम्। ४ काष्ठादि। ५ स तन्नदीद्वयम ल०, इ०, अ०, प०, स०। ६ ददर्शेत्यर्थः। ७ उत्पतनिपतरूपत्वादञ्जलियुक्तजलवत्। ८ अधोगमनवृत्तिः। ९ बन्धनात् विना। १० सेतूपक्रमम्। ११ आनयति स्म। १२ विन्यस्य। १३ जलं स्थिरात् ब०, द०। जले स्थिरात् इ०। १४ स्तम्भानाम्। १५ सेतुम्। १६ बलस्य पीडा भविष्यन्तीति विशङ्क्य। १७ चिरकालेऽतीते सति। १८ अपरतीरम्।

नायकैः सममन्येद्युः प्रभुर्गजवटावृतः । महापथेन तेनैव जलदुर्गं व्यलङ्घयत् ॥३२॥
ततः कतिपयैरेव प्रयाणैरतिवाहितैः[1] । गिरिदुर्गं विलंघ्योदग्गुहाद्वा[2]रमवासदत् ॥३३॥
निरर्गलीकृतं द्वार [3]पौरस्त्यैरिभसाधनैः । व्यतीत्य प्रभुरस्याद्रेरध्युवास वनावनिम्[4] ॥३४॥
अधिशय्य गुहागर्भं चिरं मातुरिवोदरम् । लब्धं जन्मान्तरं मेने[5] नि.सृतैः सैनिकैर्वहिः ॥३५॥
गुहेयमतिगृध्येव[6] गिलित्वा[7] जनतामिमाम् । जरणाशक्तितो[8] नूनमुज्जगाल[9] वहिः पुनः ॥३६॥
व्यजनैरिव शाखाग्रैर्वीजयन् वनवीरुधाम् । गुहोष्मणां चिरं खिन्नां चमूमाश्वासयन्मरुत् ॥३७॥
तद्वनं पवनाधूतं चलच्छाखाकरोत्करैः । प्रभोरपागमे तोषान्ननर्तेव धृतार्तवम्[10] ॥३८॥
पूर्ववत् पश्चिमे खण्डे वलाग्रण्या प्रसाधिते । विजेतुं मध्यमं खण्डं साधनैः प्रभुरुद्ययौ ॥३९॥
न करै. पीडितो लोको न भुवः शोषितो रसः । नार्केणेव जनस्तप्तः प्रभुणाऽभ्युद्यताप्युदक्[11] ॥४०॥
कौवेरीं दिगमास्थाय[12] तपत्येकान्तत.[13] करैः । भानुर्भरतराजस्तु भुवस्तापमपाकरोत् ॥४१॥
कृतव्यूहानि[14] सैन्यानि संहतानि[15] परस्परम् । नातिभूमिं ययुर्जिष्णोर्न स्वैरं परिवभ्रमुः ॥४२॥

पर जा पहुँची ॥३१॥ दूसरे दिन हाथियोके समूहसे घिरे हुए महाराज भरतने अनेक राजाओं-के साथ-साथ उसी जलमय महामार्गसे कठिन रास्ता तय किया ॥३२॥ तदनन्तर कितने ही मुकाम चलकर और उस पर्वतरूपी दुर्ग (कठिन मार्ग) को उल्लंघन कर वे उस गुफाके उत्तर द्वारपर जा पहुँचे ॥३३॥ आगे चलनेवाली हाथियोकी सेनाके द्वारा उघाड़े हुए उत्तर द्वारको उल्लंघन कर चक्रवर्तीने विजयार्ध पर्वतके वनकी भूमिमे निवास किया ॥३४॥ माताके उदर-के समान गुहाके गर्भमें चिरकाल तक निवास कर वहाँसे वाहर निकले हुए सैनिकोने ऐसा माना था मानो दूसरा जन्म ही प्राप्त हुआ हो ॥३५॥ सेनाको वाहर प्रकट करती हुई वह गुफा ऐसी जान पड़ती थी मानो पहले वह वड़ी भारी तृष्णा इस मनुष्य-समूहको निगल गयी थी परन्तु पचानेकी शक्ति न होनेसे अव उसे फिर वाहर उगल रही हो ॥३६॥ उस समय पखोके समान वनलताओंकी शाखाओके अग्रभागसे हवा करता हुआ वायु ऐसा जान पड़ता था मानो चिरकाल तक गुफाकी गरमीसे दु खी हुई सेनाको आश्वासन ही दे रहा हो ॥३७॥ जिसने ऋतु-सम्वन्धी अनेक फल-फूल धारण किये है और जो वायुसे हिल रहा है ऐसा वह वन उस समय ऐसा जान पड़ता था मानो चक्रवर्तीके आनेपर सन्तुष्ट होकर हिलते हुए अपने शाखा रूपी हाथोंके समूहसे नृत्य ही कर रहा हो ॥३८॥ जव सेनापति पहलेकी तरह यहाँके भी पश्चिम म्लेच्छ खण्डको जीत चुका तव महाराज भरत अपनी सेनाओके द्वारा मध्यम म्लेच्छ खण्डको जीतनेके लिए उद्यत हुए ॥३९॥ यद्यपि भरत सूर्यके समान उत्तर दिशाकी ओर निकले थे तथापि जिस प्रकार सूर्य अपने कर अर्थात् किरणोसे लोगोंको पीड़ित करता है. पृथिवी-का रस अर्थात् जल सुखा देता है, और मनुष्योको सन्तप्त करता है उस प्रकार उन्होने अपने कर अर्थात् टेक्ससे लोगोको पीडित नही किया था, पृथिवीका रस अर्थात् आनन्द नही सुखाया था–नष्ट नही किया था और न' मनुष्योको सन्तप्त अर्थात् दु'खी ही किया था ॥४०॥ सूर्य उत्तर दिशामे पहुँचकर अपनी किरणोंसे सन्ताप करता है परन्तु महाराज भरतने पृथिवीका सन्ताप दूर कर दिया था ॥४१॥ जिनमें अनेक व्यूहोकी रचना की गयी है और जो परस्परमें मिली हुई है ऐसी भरतकी सेनाएँ न तो उनसे वहुत दूर ही जाती थी और न स्वच्छन्दतापूर्वक

१ अपनीतै. । २ उत्तरगुहाद्वारम् । ३ पुरोगतै । ४ वनभूमिम् । ५ मन्यते स्म । ६ अतिवाञ्छया । ७ निगरण कृत्वा । ८ जरणशक्त्यभावात् । ९ उद्गिलति स्म । १० ऋतौ भवम् आर्तवम् पुष्पादि । धृतमार्तव येन तत् । ११ उत्तरदिग्भागः । १२ उत्तरस्या दिशि स्थित्वा । १३ नितराम् । १४ विहितरचनानि । १५ सवद्धानि मिलितानि वा ।

प्रसाधितानि दुर्गाणि कृतं चाशक्यसाधनम् । परचक्रमवष्टब्धं[1] चक्रिणो जयसाधनैः ॥४३॥
बलवान्नाभियोक्तव्यो[2] रक्षणीयाश्च संश्रिताः । यतितव्यं क्षितित्राणे जिगीषोर्वृत्तमीदृशम् ॥४४॥
इत्यलङ्घ्यबलश्चक्री चक्ररत्नमनुव्रजन् । कियतीमपि तां[3] भूमिमवाष्टम्भीत[4] स्वसाधनैः ॥४५॥
तावच्च परचक्रेण[5] स्वचक्रस्य[6] पराभवम् । चिलातावर्तनामानौ प्रभू शुश्रुवतुः किल ॥४६॥
अभूतपूर्वमेतन्नौ[7] परचक्रमुपस्थितम् । व्यसनं प्रतिकर्तव्यमित्यास्तां संगतौ मिथः ॥४७॥
ततो धनुर्धरप्रायं सहाश्वीयं सहास्तिकम् । इतोऽमुतश्च संजग्मे[8] तत्सैन्यं म्लेच्छराजयोः ॥४८॥
कृतोद्यविग्रहारम्भौ संरम्भं प्रतिपद्य तौ । विक्रम्य[9] चक्रिणः सैन्यैर्भेजतुर्विजिगीषुताम् ॥४९॥
तावच्च सुधियो धीराः कृतकार्याश्च मन्त्रिणः । निषिध्य तौ रणारम्भाद् वचः पथ्यमिदं जगुः ॥५०॥
न किंचिदप्यनालोच्य विधेयं सिद्धिकाम्यता[10] । अनालोचितकार्याणां दवीयस्यो[11] ऽर्थसिद्धयः ॥५१॥
कोऽयं प्रभुरवष्टम्भी कुतस्त्यो वा कियद्बलः[12] । बलवान् इत्यनालोच्य नाभिषेण्यः[13] कथंचन[14] ॥५२॥
विजयार्द्धचलोल्लङ्घी नैष सामान्यमानुषः । दिव्यो[15] दिव्यानुभावो[16] वा भवेदेष न संशयः ॥५३॥

इधर-उधर ही घूमती थी ॥४२॥ चक्रवर्तीकी विजयी सेनाओने अनेक किले अपने वश किये, जिन्हे कोई वश नही कर सकता था, ऐसे राजाओको वश किया और शत्रुओके देश घेरे ॥४३॥ बलवान्‌के साथ युद्ध नही करना, शरणमे आये हुएकी रक्षा करना, और अपनी पृथिवीकी रक्षा करनेमे प्रयत्न करना यही विजयकी इच्छा करनेवाले राजाके योग्य आचरण है ॥४४॥ इस प्रकार जिनकी सेना अथवा पराक्रमको कोई उल्लघन नही कर सकता ऐसे चक्रवर्ती भरतने चक्ररत्नके पीछे-पीछे जाते हुए अपनी सेनाके द्वारा वहाकी कितनी ही भूमिको अपने अधीन कर लिया ॥४५॥ इतनेमे ही चिलात और आवर्त नामके दो म्लेच्छ राजाओने शत्रुओकी सेनाके द्वारा अपनी सेनाका पराभव होता सुना ॥४६॥ हमारे देशमे शत्रुओकी सेना आकर उपस्थित होना यह हम दोनोके लिए बिलकुल नयी बात है, इस आये हुए संकटका हमे प्रतिकार करना चाहिए ऐसा विचारकर वे दोनो ही म्लेच्छ राजा परस्पर मिल गये ॥४७॥ तदनन्तर जिसमे प्रायः करके धनुष धारण करनेवाले योद्धा है, तथा जो हाथियो और घोडोके समूहसे सहित है ऐसी उन दोनो राजाओकी सेना इधर-उधरसे आकर इकट्ठी मिल गयी ॥४८॥ जिन्होने भारी युद्ध करनेका उद्योग किया है ऐसे वे दोनों ही राजा क्रोधित होकर तथा पराक्रम प्रकट कर चक्रवर्तीकी सेनाओके साथ विजिगीषुपनको प्राप्त हुए अर्थात् उन्हे जीतनेकी इच्छासे उनके प्रतिद्वन्द्वी हो गये ॥४९॥ इसीके बीच, बुद्धिमान् धीर-वीर तथा सफलतापूर्वक कार्य करनेवाले मन्त्रियोने उन दोनो राजाओको युद्धके उद्योगसे रोककर नीचे लिखे अनुसार हितकारी वचन कहे ॥५०॥ हे प्रभो, सिद्धिकी इच्छा करनेवालोको बिना विचारे कुछ भी नही करना चाहिए क्योकि जो बिना विचारे कार्य करते है उनके कार्योकी सिद्धि बहुत दूर हो जाती है ॥५१॥ हमारी सेनाको रोकनेवाला यह कौन राजा है? कहाँसे आया है ? इसकी सेना कितनी है और यह कितना बलवान् है इन सब बातोका विचार किये बिना ही उसकी सेनाके सम्मुख किसी भी तरह नही जाना चाहिए ॥५२॥ विजयार्ध पर्वतको उल्लघन करनेवाला यह कोई साधारण मनुष्य नही है, यह या तो कोई देव होगा या कोई दिव्य प्रभावका धारक होगा इसमे

---

१ व्याप्तम् । २ अभिषेणनीय । ३ महतीम् । ४ वेष्टयति स्म । ५ परसैन्येन । ६ स्वराष्ट्रस्य ७ आवयो । ८ सगतमभूत् । ९ अधिका शक्ति विधाय । १० सिद्धिमिच्छता । ११ दूरतरा । १२ कियद्बल अ०, स०। इ०। १३ सेनया अभियातव्य । १४ सर्वथा । १५ देव. । १६ दिव्यसामर्थ्य. ।

तदास्तां समरारम्भः संभाव्यो दुर्गसंश्रयः । तदाश्रितैरनायासात् जेतुं शक्यो रिपुर्महान् ॥ ५४ ॥
स्वभावदुर्गमेतन्नः क्षेत्रं केनाभिभूयते । हिमवद्विजयार्द्धाद्रिगङ्गा[1]सिन्धुतटावधि ॥५५॥
अन्यच्च देवताः सन्ति सत्यमस्मत्कुलोचिताः । [2]नागामेघमुखा नाम ते निरुन्धन्तु शात्रवान् ॥५६॥
इति तद्वचनाज्जातजयाशंसौ जनेश्वरौ । देवतानुस्मृतिं सद्यः चक्रतुः कृतपूजनौ ॥५७॥
ततस्ते जलदाकारधारिणो घनगर्जिताः । परितो वृष्टिमातेनुः सानिलामनिलाशनाः[3] ॥५८॥
तज्जलं जलदोद्गीर्णं बलमाप्लाव्य जैष्णवम्[4] । अधस्तिर्यगथोऽर्ध्वं च समन्तादभ्यदुद्रवत्[5] ॥५९॥
न चेल[6]क्नोपमस्यासीत् शिबिरे वृष्टिरीशितुः । बहिरेकार्णवं कृत्स्नमकरोद् व्याप्य रोदसी ॥६०॥
छत्ररत्नमुपर्यासीच्चर्मरत्नमधोऽभवत । ताभ्यामावेष्ट्य तद्रुद्धं बलं [7]स्यूतमिवाभितः ॥६१॥
मध्येरत्नद्वयस्यास्य स्थितमासप्तमाद् दिनात । जलप्लवे बलं भर्त्तुर्व्यक्तमण्डायितं[8] तदा ॥६२॥
चक्ररत्नकृतोद्योते रुद्धद्वादशयोजने । तत्राण्डके[9] स्थितं जिष्णोर्निराबाधमभूद् बलम् ॥६३॥
प्रविभक्तचतुर्द्वारं सेनान्यान्तःसुरक्षितम् । बहिर्जयकुमारेण ररक्षे किल तद्बलम् ॥६४॥
तदा पटकुटीभेदाः [10]कीडिकाश्च विशङ्कटाः[11] । कृताः स्थपतिरत्नेन [12]रथाश्चाम्बरगोचराः ॥६५॥

कुछ भी सन्देह नही है ॥ ५३ ॥ इसलिए युद्धका उद्योग दूर रहे, हम लोगोको किसी किलेका आश्रय लेना चाहिए, क्योकि किलेका आश्रय लेनेवाले पुरुष वड़ेसे वड़े शत्रुको सहज ही जीत सकते है ॥ ५४ ॥ हिमवान् पर्वतसे विजयार्ध पर्वत तक और गगा नदीसे सिन्धु नदीके किनारे तक का यह हमारा क्षेत्र स्वभावसे ही किलेके समान है, इसका पराभव कौन कर सकता है ? इसे कौन जीत सकता है ? ॥ ५५ ॥ और दूसरी वात यह भी है कि हमारी कुल-परम्परासे चले आये नागमुख और मेघमुख नामके जो देव है वे अवश्य ही शत्रुओको रोक लेंगे ॥ ५६ ॥ इस प्रकार मन्त्रियोके वचनोसे जिन्हे विजय करनेकी इच्छा उत्पन्न हुई है ऐसे उन दोनो राजाओं-ने शीघ्र ही पूजन कर देवताओका स्मरण किया ॥५७॥ स्मरण करते ही नागमुख देव, वादलों-का आकार धारण कर घनघोर गर्जना करते हुए चारो ओर झंझावायुके साथ-साथ जलकी वृष्टि करने लगे ॥ ५८ ॥ मेघोंके द्वारा वरसाया हुआ वह जल भरतेश्वरकी सेनाको डुवोकर ऊपर नीचे तथा अगल-वगल चारों ओर वहने लगा ॥ ५९ ॥ यद्यपि वह जल इतना अधिक वरसा था कि उसने आकाश और पृथिवीके अन्तरालको व्याप्त कर वाहर एक समुद्र-सा वना दिया था परन्तु चक्रवर्तीके शिविर (छावनी)मे वस्त्रका एक टुकड़ा भिगोने योग्य भी वृष्टि नही हुई थी ॥ ६० ॥ उस समय भरतकी सेनाके ऊपर छत्ररत्न था और नीचे चर्मरत्न था, उन दोनो रत्नोसे घिरकर रुकी हुई सेना ऐसी मालूम होती थी मानो चारों ओरसे सी ही दी गयी हो अर्थात् चर्मरत्न और छत्ररत्न इन दोनोमे चारों ओरसे टाँके लगाकर वीचमे ही रोक दी गयी हो ॥ ६१ ॥ उस जलके प्रवाहमे भरतकी वह सेना सात दिनतक दोनो रत्नोके भीतर ठहरी थी और उस समय वह ठीक अण्डाके समान जान पड़ती थी ॥ ६२ ॥ जिसमे चक्ररत्नके द्वारा प्रकाश किया जा रहा है ऐसे उस वारह योजन लम्बे-चौड़े अण्डाकार तम्बूमे ठहरी हुई भरतकी सेना सब तरहकी पीडासे रहित थी ॥ ६३ ॥ उस वड़े तम्बूमे चारो दिशाओमें चार दरवाजे विभक्त किये गये थे, उसके भीतरकी रक्षा सेनापतिने की थी और वाहरसे जय-कुमार उस सेनाकी रक्षा कर रहे थे ॥ ६४ ॥ उस समय सिलावट रत्नने अनेक प्रकारके कपड़े-के तम्वू, घासकी वडी-वड़ी झोपड़ियाँ और आकाशमे चलनेवाले रथ भी तैयार किये थे ॥६५॥

---

१ गाङ्गसिन्धु–ल० । २ नागमेघ–ल० । ३ नागा. । ४ जिष्णोश्चक्रिण. सैन्यं । ५ अभिधावति स्म । ६ पटमार्द्र यथा भवति । ७ ऊतम् तन्तुना सवद्धमित्यर्थ । ८ अण्डमिवाचरितम् । ९ पञ्जरे । १० कीटिकाः कुटीरा , शाला. । किटिकाश्च ल०, द०, अ० प०, स० । ११ विशाला । १२ रथा. सत्त्वरगोचरा. प० ।

बहिः कलकलं श्रुत्वा किमेतदिति पार्थिवाः । करं व्यापारयामासुः क्रुद्धाः कौक्षेयकं[1] प्रति ॥६६॥
ततश्चक्रधरादिष्टा[2] गणबद्धामरास्तदा । नागानुत्सारयामासु[3] रारुष्टा[4] हुंकृतैः क्षणात् ॥६७॥
बलवान् कुरुराजोऽपि[5] मुक्तसिंहप्रगर्जितः । दिव्यास्त्रैरजयन्नागान् रथं दिव्यमधिष्ठितः ॥६८॥
तदा रणाङ्गणे वर्षन् शरधारामनारतम् । स रेजे धृतसन्नाहः[6] प्रावृषेण्य[7] इवाम्बुदः ॥६९॥
तन्मुक्ता विशिखा दीप्रा रेजिरे समराजिरे[8] । द्रष्टुं तिरोहितान्नागान् दीपिका इव बोधिताः ॥७०॥
ततो निववृते[9] जित्वा नागान् मेघमुखानसौ । कुमारो रणसंरम्भात् प्राप्तमेघस्वरश्रुतिः[10] ॥७१॥
कुरुराजस्तदा स्फूर्जत्पर्जन्य[11]स्तनितोर्जितैः । गर्जितैर्निर्जयन् मेघमुखान् ख्यातस्तदाज्ञया ॥७२॥
तोषितैरवदानेन[12] घोषितोऽस्य जयोऽमरैः । दन्ध्वनद्दुन्दुभिध्वानबधिरीकृतदिङ्मुखैः ॥७३॥
ततो दृष्टापदानोऽयं[13] तुष्टुवे[14] चक्रिणा मुहुः । नियोजितश्च सत्कृत्य वीरे वीराग्रणीपदे ॥७४॥
इन्द्रजाल इवामुष्मिन् व्यतिक्रान्तेऽहिविप्लवे । [15]प्रत्यापत्तिमगाद् भूयो बलमाविर्भवज्जयम् ॥७५॥
विध्वस्ते पन्नगानीके विबलौ म्लेच्छनायकौ । चक्रिणश्चरणावेत्य भयभ्रान्तौ प्रणेमतुः ॥७६॥
धनं यशोधनं चास्मै कृतागः परिशोधनम्[16] । दत्वा प्रसीद देवेति तौ भृत्यत्वमुपेयतुः ॥७७॥

बाहर कोलाहल सुनकर 'यह क्या है' इस प्रकार कहते हुए राजाओंने क्रोधित होकर अपना हाथ तलवारकी ओर बढ़ाया ॥ ६६ ॥ तदनन्तर उस समय जिन्हें चक्रवर्तीने आदेश दिया है ऐसे गणबद्ध जातिके देवोंने क्रुद्ध होकर अपने हुंकार शब्दोंके द्वारा क्षण-भरमें नागमुख देवोंको हटा दिया ॥ ६७ ॥ अतिशय बलवान् कुरुवंशी राजा जयकुमारने भी दिव्य रथपर बैठकर सिंह-गर्जना करते हुए, दिव्य शस्त्रोंके द्वारा उन नागमुख देवोंको जीता ॥ ६८ ॥ उस समय युद्धके आँगनमें निरन्तर बाणोंकी वर्षा करता हुआ और शरीरपर कवच धारण किये हुए वह जयकुमार वर्षाऋतुके बादलके समान सुशोभित हो रहा था ॥ ६९ ॥ जयकुमारके द्वारा छोड़े हुए वे देदीप्यमान बाण युद्धके आँगनमें ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो छिपे हुए नागमुखों-को देखनेके लिए जलाये हुए दीपक ही हों ॥७०॥ तदनन्तर वह जयकुमार नागमुख और मेघ-मुख देवोंको जीतकर तथा मेघेश्वर नाम पाकर उस युद्धसे वापस लौटा ॥ ७१ ॥ उस समय वह जयकुमार बिजली गिरानेके पहले भयंकर शब्द करते हुए बादलोंकी गर्जनाके समान अपनी तेज गर्जनाके द्वारा मेघमुख देवोंको जीतता हुआ मेघेश्वर नामसे प्रसिद्ध हुआ था ॥७२॥ बार-बार बजते हुए दुन्दुभियोंके शब्दोंसे जिन्होंने समस्त दिशाएँ बहिरी कर दी हैं ऐसे देवों-ने इस जयकुमारके पराक्रमसे सन्तुष्ट होकर इसका जयजयकार किया था ॥ ७३ ॥ तदनन्तर जिसका पराक्रम देख लिया गया है ऐसे इस जयकुमारकी चक्रवर्तीने भी बार-बार प्रशंसा की और उस वीरका सत्कार कर उन्होंने उसे मुख्य शूरवीरके पदपर नियुक्त किया ॥ ७४ ॥ इन्द्र-जालके समान वह नागमुख देवोंका उपद्रव शान्त हो जानेपर जिसकी जीत प्रकट हो रही है ऐसी वह भरतकी सेना पुनः स्वस्थताको प्राप्त हो गयी अर्थात् उपद्रव टल जानेपर सुखका अनुभव करने लगी ॥ ७५ ॥ नागमुख देवोंकी सेनाके भाग जानेपर वे दोनों ही चिलात और आवर्त नामके म्लेच्छ राजा निर्बल हो गये और भयसे घबड़ाकर चक्रवर्तीके चरणोंके समीप आकर प्रणाम करने लगे ॥ ७६ ॥ उन्होंने अपराध क्षमा कराकर भरतके लिए बहुत-सा धन तथा यशरूपी धन दिया और 'हे देव, प्रसन्न होइए' इस प्रकार कहकर उनकी दासता स्वीकार

---

१ खड्गम् । २ आज्ञापिता. । ३ पलायितान् चक्रु । ४ क्रुद्धा. । ५ जयकुमारः । ६ वृतकवच. । ७ प्रावृषि भव. । ८ समरागणे । ९ न्यवृतत् । १० प्राप्तमेघस्वरसंज्ञ । ११ मेघ । १२ पराक्रमेण । १३ दृष्टावदातोऽयं स०, ल०, द० । दृष्टावदानोऽय द०, प० । दृष्टसामर्थ्य । १४ स्तूयते स्म । १५ पूर्वस्थितिम् । स्वरूपात् प्रच्युतस्य पुन स्वरूपे अवस्थानम्, आश्वासमित्यर्थ. । १६ कृतदोषस्य परिशोधनं यस्मात् तत् ।

निस्सपत्नां महीमेनां कुर्वन्नर्वाङ्निधीश्वरः[1] । आ हिमाद्रितटाद् भूय: प्रयाणमकरोद् बलैः ॥७८॥
सिन्धुरोधोभुवः[2] क्षुन्दन्[3] प्रयाणे जयसिन्धुरैः । सिन्धुप्रपात[4]मासीदन्[5] सिन्धुदेव्या न्यषेचि[6] सः ॥७९॥
ज्ञात्वा समागतं जिष्णुं देवि स्वावासगोचरम् । उपेयाय[7] समुद्धृत्य रत्नार्घं सपरिच्छदा[8] ॥८०॥
पुण्यैः[9] सिन्धुजलैरेनं हेमकुम्भशतोद्धृतैः । साभ्यषिञ्चत स्वहस्तेन भद्रासननिवेशितम् ॥८१॥
कृतमङ्गलनेपथ्यमभ्यनन्दज्जयाशिषा । देव त्वद्दर्शनादद्य पूतास्मीत्यवदच्च तम् ॥८२॥
तत्र भद्रासनं दिव्यं लब्ध्वा तदुपढौकितम् । कृतानुव्रजनां[10] किंचित् सिन्धुदेवीं व्यसर्जयत् ॥८३॥
हिमाचलमनुप्राप्तस्तत्तटानि जयं[11] जयम् । कैश्चित्प्रयाणकैः प्रापत् हिमवत्कूटसंनिधिम्[12] ॥८४॥
पुरोहितसखस्तत्र कृतोपवसनक्रियः । अध्यशेत[13] शुचिं शय्यां दिव्यास्त्राण्यधिवासयन्[14] ॥८५॥
विधिरेष न चाशक्तिरिति[15] संभावितो नृपैः । स राज्यमकरोच्चापं[16] वज्रकाण्डमयत्नतः ॥८६॥
तत्रामोघं शरं दिव्यं[17] समधत्तोर्ध्वगामिनम् । वैशाखस्थानमास्थाय[18] स्वनामाक्षरचिह्नितम् ॥८७॥
मुक्तसिंहप्रणादेन यदा मुक्तः शरोऽमुना[19] । तदा सुरगणैस्तुष्टैर्मुक्तोऽस्य कुसुमांजलिः ॥८८॥

की ।।७७।। इस समस्त पृथिवीको शत्रुरहित करते हुए प्रथम निधिपति—चक्रवर्तीने फिर अपनी सेनाके साथ-साथ हिमवान् पर्वतके किनारे तक गमन किया ।।७८।। गमन करते समय अपने विजयी हाथियोके द्वारा सिन्धु नदीके किनारेकी भूमिको खूँदते हुए भरतेश्वर जब सिन्धुप्रपात-पर पहुँचे तब सिन्धु देवीने उनका अभिषेक किया ।।७९।। वह देवी भरतको अपने निवास-स्थानके समीप आया हुआ जानकर रत्नोंका अर्घ लेकर परिवारके साथ उनके पास आयी थी ।।८०।। और उसने अपने हाथसे सुवर्णके सैकड़ो कलशोंमें भरे हुए सिन्धु नदीके पवित्र जलसे भद्रासनपर बैठे हुए महाराज भरतका अभिषेक किया था ।।८१।। अभिषेक करनेके बाद उस देवीने मगलरूप वस्त्राभूषण पहने हुए महाराज भरतको विजयसूचक आशीर्वादोसे आनन्दित किया तथा यह भी कहा कि हे देव, आज आपके दर्शनसे मै पवित्र हुई हूँ ।।८२।। वहाँ उस सिन्धु देवीका दिया हुआ दिव्य भद्रासन प्राप्त कर भरतने आगेके लिए प्रस्थान किया और कुछ दूर तक पीछे-पीछे आती हुई सिन्धु देवीको विदा किया ।।८३।। हिमवान् पर्वतके समीप पहुँचकर उसके किनारोंको जीतते हुए भरत कितने ही मुकाम चलकर हिमवत् कूटके निकट जा पहुँचे ।।८४।। वहाँ उन्होने पुरोहितके साथ-साथ उपवास कर और दिव्य अस्त्रोंकी पूजा कर डाभकी पवित्र शय्यापर शयन किया ।।८५।। अस्त्रोकी पूजा करना यह एक प्रकारकी विधि ही है, कुछ चक्रवर्तीका असमर्थपना नही है, ऐसा विचार कर राजाओने जिनका सन्मान किया है ऐसे भरतराजने विना प्रयत्नके ही अपना वज्रकाण्ड नामका धनुप डोरीसे सहित किया ।।८६।। और वैशाख नामका आसन लगाकर अपने नामके अक्षरोसे चिह्नित तथा ऊपरकी ओर जानेवाला अपना अमोघ (अव्यर्थ) दिव्य बाण उस धनुपपर रखा ।।८७।। जिस समय सिंहनाद करते हुए भरतने वह बाण छोड़ा था उस समय देवोके समूहने सन्तुष्ट होकर उनपर फूलोकी अजलियाँ छोड़ी थी, अर्थात् फूलोंकी वर्षा की थी ।।८८।।

१ उत्कृष्टनिधिपति । 'वरे त्वर्वागि'त्यभिधानात् । २ सिन्धुनदीतीरभूमी । ३ संचूर्णयन् । ४ सिन्धुनदी-पतनकुण्डम् । ५ आगच्छन् । ६ न्यषेवि द० । सेवते स्म । ७ उपाययौ । ८ सपरिकरा । ९ पवित्रैः । १० विहितानुगमनाम् । ११ जयन् जयन् ल०, अ०, इ० । जयं जयन् प०, स० । १२ हिमवन्नामकूट । १३ अधिशेते स्म । १४ मन्त्रैरभिपूजयन् । १५ शक्यभावो न । १६ मौर्वीसहितम् । १७ सधानमकरोत् । १८ वैशाखस्थाने स्थित्वा, वितस्त्यन्तरेण स्थिते पादद्वये विशाख, तथा चोक्त धनुर्वेदे । वामपादप्रसारे दक्षिणसंकोचे प्रत्यलीढ दक्षिणजघाप्रसारे वामसंकोचे चालीढम् । तुल्यपादयुगम् समपदम् । वितस्त्यन्तरेण स्थिते पादद्वये विशाख, मण्डलाकृति पादद्वयं मण्डलम् । १९ चक्रिणा ।

स शरो दूरमुत्पत्य क्वचिदप्यस्खलद्गतिः । [1]संप्राप्यद्धिमवत्कूटं तद्वेश्माकम्पयन् पतन् ॥८९॥
स मागधवदाध्याय[2] ज्ञातचक्रधरागमः । उच्चचाल चलन्मौलिस्तन्निवासी[3] सुरोत्तमः ॥९०॥
संप्राप्तश्च तमुद्देशं यमध्यास्ते स्म चक्रभृत । दरोपरूढ[4] संरम्भो धनुर्ज्यामसकृत्स्पृशन् ॥९१॥
तुङ्गोऽयं हिमवानद्रिरलङ्घ्यश्च पृथग्जनैः[5] । लङ्घितोऽद्य त्वया देव त्वद्वृत्तमतिमानुपम्[6] ॥९२॥
[7]विप्रकृष्टान्तराः क्वास्मदावासाः क्व भवच्छरः[8] । तथाप्याकम्पितास्तेन[9] पततैकपदे[10] वयम् ॥९३॥
त्वत्प्रतापः शरव्याजादुत्पतन् गगनाङ्गणम् । गणवद्धपदे कर्तुमस्मान् नाहूतवान् ध्रुवम् ॥९४॥
विजिताब्धिः समाक्रान्तविजयार्द्धगुहोदरः । हिमाद्रिशिखरेष्वद्य जृम्भते ते जयोद्यमः[11] ॥९५॥
जयवादोऽनुवादोऽयं[12] सिद्धदिग्विजयस्य ते । जयतान् नन्दताज्जिष्णो वर्द्धिषीष्ट भवानिति ॥९६॥
समुच्चरन् जयध्वानमुखरः स सुरैः समम् । प्रभु सभाजयामास[13] सोपचारं सुरोत्तमः ॥९७॥
अभिषिच्य च राजेन्द्रं राजवद्विधिना[14] ददौ । गोशीर्षचन्दनं[15] सोऽस्मै सममौषधिमालया[16] ॥९८॥
त्वद्भुक्तिवासिनो[17] देव दूरानमितमौलयः । देवास्त्वामानमन्त्येते त्वत्प्रसादाभिकाङ्क्षिणः ॥९९॥

जिसकी गति कही भी स्खलित नही होती ऐसा वह वाण ऊपरकी ओर दूर तक जाकर वहाँपर रहनेवाले देवके भवनमें पडकर उस भवनको हिलाता हुआ हिमवत्कूटपर जा पहुँचा ॥८९॥ मागध देवके समान कुछ विचार कर जिसने चक्रवर्तीका आगमन समझ लिया है ऐसा वहाँका रहनेवाला देव अपना मस्तक झुकाता हुआ चला ॥९०॥ और जिसने अपना कुछ क्रोध रोक लिया है ऐसा वह देव धनुपकी चापका स्पर्श करता हुआ उस स्थानपर जा पहुँचा जहाँपर कि चक्रवर्ती विराजमान थे ॥९१॥ वह देव भरतसे कहने लगा कि हे देव, यह हिमवान् पर्वत अत्यन्त ऊँचा है और साधारण पुरुपोके द्वारा उल्लंघन करने योग्य नही है फिर भी आज आपने उसका उल्लघन कर दिया है इसलिए आपका चरित्र मनुष्योको उल्लंघन करनेवाला अर्थात् लोकोत्तर है ॥९२॥ हे देव, वहुत दूर वने हुए हम लोगोके आवास कहाँ ? और आपका वाण कहाँ ? तथापि पड़ते हुए इस वाणने हम सवको एक ही साथ कम्पित कर दिया ॥९३॥ हे देव, यह आपका प्रताप वाणके व्याजसे आकाशमे उछलता हुआ ऐसा जान पड़ता था मानो हम लोगोंको गणवद्ध (चक्रवर्तीके अधीन रहनेवाली एक प्रकारकी देवोकी सेना) देवोंके स्थानपर नियुक्त होनेके लिए वुला ही रहा था ॥९४॥ जिसने समुद्रको भी जीत लिया है और विजयार्ध पर्वतकी गुफाओके भीतर भी आक्रमण कर लिया है ऐसा यह आपका विजय करनेका उद्यम आज हिमवान् पर्वतके शिखरोंपर भी फैल रहा है ॥९५॥ हे प्रभो, आपका समस्त दिग्विजय सिद्ध हो चुका है इसलिए हे जयशील, आपकी जय हो, आप समृद्धिमान् हो और सदा वढते रहे इस प्रकार आपका जयजयकार वोलना पुनरुक्त है ॥९६॥ इस प्रकार उच्चारण करता हुआ जो जय जय शब्दोसे वाचाल हो रहा है ऐसा वह उत्तम देव अन्य अनेक उत्तम देवोके साथ-साथ सव तरहके उपचारोसे भरतकी सेवा करने लगा ॥९७॥ तथा राजाओके योग्य विधिसे राजाधिराज भरतका अभिषेक कर उसने उनके लिए औषधियोंके समूहके साथ गोशीर्ष नामका चन्दन सर्मपित किया ॥९८॥ और कहा कि हे देव, आपके क्षेत्रमे रहनेवाले ये देव आपकी प्रसन्नताकी इच्छा करते हुए दूरसे ही मस्तक झुकाकर आपके लिए नमस्कार

१ संप्रापद्धिम– प०, ल० । २ विचार्येत्यर्थः । ३ हिमवत्कूटवामी । हेमवान्नाम । ४ ईपत्पीडित । ५ सामान्यै । ६ दिव्यमित्यर्थः । ७ दूर । ८ भवतो वाण. । ९ शरेण । १० युगपत् । ११ जयोद्योग । १२ सार्थकं पुनर्वचनमनुवादः । १३ संभावयामास । १४ राजार्हविधानेन । १५ हरिचन्दनम् । १६ वनपुष्पमालया । १७ तव पालनक्षेत्रवासिन ।

धेहि[1] देव ततोऽस्मासु प्रसादतरलां दृशम् । स्वामिप्रसादलाभो हि वृत्तिलाभो[2]ऽनुजीविनाम्[3] ॥१००॥
निदेशै[4] रुचितैश्चास्मान् संभावयितुमर्हसि । वृत्तिलाभादपि प्रायस्तल्लाभः[5] किङ्करैर्मतः ॥१०१॥
मानयन्निति[6] तद्वाक्यं[7] स तानमरसत्तमान् । व्यसर्जयत्स्वसात्कृत्य यथास्वं कृतमाननान् ॥१०२॥
हिमवज्जयशंसीनि मङ्गलान्यस्य किन्नराः । जगुस्तत्कुञ्जदेशेषु[8] स्वैरमारब्धमूर्च्छनाः ॥१०३॥
असकृत् किन्नरस्त्रीणामाधुन्वानाः स्तनावृतीः[9] । सरोवीचिभिदो मन्दमाववुस्तद्वनानिलाः ॥१०४॥
स्थलाब्जिनीवनाद्विष्वक् किरन् किञ्जल्कजं रजः । हिमी हिमाद्रिकुञ्जेभ्यस्तं सिषेवे समीरणः ॥१०५॥
स्थलाम्भोरुहिणीवास्य कीर्तिः साकं[10] जयश्रिया । हिमाचलनिकुञ्जेषु पप्रथे[11] दिग्जयार्जिता ॥१०६॥
हिमाचलस्थलेष्वस्य धृतिरासीत् प्रपश्यतः । कृतोपहारकृत्येषु[12] स्थलाम्भोजैर्विकस्वरैः ॥१०७॥
तमुच्चैर्वृत्तिमाक्रान्तदिक्चक्रं विश्रुतायतिम्[13] । स्वमिवानल्परत्नर्द्धिं हिमाद्रिं बहुमंस्त[14] सः ॥१०८॥

कर रहे हैं ॥९९॥ इसलिए हे देव, हम लोगोपर प्रसन्नतासे चंचल हुई दृष्टि डालिए क्योंकि स्वामीकी प्रसन्नता प्राप्त होना ही सेवक लोगोकी आजीविका प्राप्त होना है । भावार्थ – स्वामी लोग सेवकोंपर प्रसन्न रहे यही उनकी उचित आजीविका है ॥१००॥ हे स्वामिन्, आप उचित आज्ञाओके द्वारा हम लोगोको सन्मानित करनेके योग्य हैं अर्थात् आप हम लोगोको उचित आज्ञाएँ दीजिए क्योकि सेवक लोग स्वामीकी आज्ञा मिलनेको आजीविका (तनख्वाह)की प्राप्तिसे भी कही बढकर मानते है ॥ १०१ ॥ इस प्रकारके उस देवके वचनोकी प्रशंसा करते हुए भरतने उन सब उत्तम देवोका सत्कार किया और सबको अपने अधीन कर विदा कर दिया ॥ १०२ ॥ उस समय अपने इच्छानुसार स्वरोका चढाव-उतार करनेवाले किन्नर देव उस पर्वतके लतागृहोके प्रदेशोमें 'भरतने हिमवान् देवको जीत लिया है' इस बातको सूचित करनेवाले मगलगीत गा रहे थे ॥ १०३ ॥ उस समय वहाँ किन्नर देवोकी स्त्रियोंके स्तन ढकनेवाले वस्त्रोंको बार-बार हिलाता हुआ तथा तालावकी तरगोको छिन्न-भिन्न करता हुआ उस हिमवान् पर्वतके वनोका वायु धीरे-धीरे वह रहा था ॥ १०४ ॥ स्थल-कमलिनियोके वनके चारो ओर केशरसे उत्पन्न हुआ रज फैलाता हुआ तथा हिमवान् पर्वतके लतागृहोसे आया हुआ शीतल वायु महाराज भरतकी सेवा कर रहा था ॥ १०५ ॥ दिग्विजय करनेसे प्राप्त हुई भरतकी कीर्ति जयलक्ष्मीके साथ-साथ स्थलकमलिनियोके समान हिमवान् पर्वतके लतागृहोमें फैल रही थी ॥ १०६ ॥ जिन्होने फूले हुए स्थल-कमलोसे उपहारका काम किया है ऐसे हिमवान् पर्वतके स्थलोमे चारों ओर देखते हुए भरतको बहुत ही सन्तोष होता था ॥१०७॥ वह हिमवान् पर्वत ठीक भरतके समान था क्योकि जिस प्रकार भरत उच्चैर्वृत्ति अर्थात् उत्कृष्ट व्यवहार धारण करनेवाले थे उसी प्रकार वह पर्वत भी उच्चैर्वृत्ति अर्थात् बहुत ऊँचा था, जिस प्रकार भरतने अपने तेजसे समस्त दिशाएँ व्याप्त कर ली थी उसी प्रकार उस पर्वतने भी अपने विस्तार-से समस्त दिशाएँ व्याप्त कर ली थी, जिस प्रकार भरत आयति अर्थात् उत्तम भवितव्यता (भविष्यत्काल) धारण करते थे उसी प्रकार वह पर्वत भी आयति अर्थात् लम्बाई धारण कर रहा था और जिस प्रकार भरतके पास अनेक रत्नरूपी सम्पदाएँ थी उसी प्रकार उस पर्वत-के पास भी अनेक रत्नरूपी सम्पदाएँ थी । इस प्रकार अपनी समानता रखनेवाले उस हिमवान्

१ कुरु । २ जीवितलाभ । 'आजीवो जीविका वार्ता वृत्तिर्वर्तनजीवने' इत्यभिधानात् । ३ सेवकानाम् । ४ शासनैः । 'अपवादस्तु निर्देशो निदेशः शासनं च सः । शिष्टिश्चाज्ञा च' इत्यभिधानात् । ५ आज्ञालाभः । ६ पूजयन् । ७ तद्देवस्य वचनम् । ८ हिमवन्निकुञ्जप्रदेशेषु । 'निकुञ्जकुञ्जौ वा क्लीबे लतादिपिहितोदरे' इत्यभिधानात् । ९ उरोजाच्छादनवस्त्राणि । १० सह । 'साकं सत्रा समं सह' इत्यभिधानात् । ११ प्रकृष्टोऽभवत् । १२ विहितपुष्पोपहारव्यापारेषु । १३ धृतधनागमम् । १४ बहुमानमकरोत् ।

अत्रान्तरे[1] गिरीन्द्रेऽस्मिन् व्यापारितदृशं प्रभुम् । विनोदयितुमित्युच्चैः पुरोधा गिरमभ्यधात् ॥१०९॥
हिमवानयमुत्तुङ्गः संगतः सततं श्रिया[2] । कुलक्षोणीभृतां धुर्यो[3] धत्ते युष्मदनुक्रियाम्[4] ॥११०॥
अहो महानयं शैलो दुरारोहो दुरुत्तरः[5] । शरसंधानमात्रेण सिद्धो[6] युष्मन्महोदयात् ॥१११॥
चित्रैरलंकृता रत्नैरस्य श्रेणी हिरण्मयी । शतयोजनमात्रोच्चा टङ्कच्छिन्नेव भात्यसौ ॥११२॥
स्वपूर्वापरकोटिभ्यां विगाह्य लवणार्णवम् । स्थितोऽयं गिरिराभाति मानदण्डायितो भुवः ॥११३॥
[7]द्विर्विस्तृतोऽयमद्रीन्द्रो भरताद् भरतर्षभ[8] । मूले चोपरिभागे च तुल्यविस्तारसंमतिः[9] ॥११४॥
अस्यानुसानु रम्येयं वनराजी विराजते । शश्वदध्युषिता सिद्धविद्याधरमहोरगैः ॥११५॥
तटाभोगा[10] विभान्त्यस्य ज्वलन्मणिविचित्रिताः । चित्रिता इव संक्रान्तैः स्वर्वधूप्रतिबिम्बकैः ॥११६॥
पर्यटन्ति तटेष्वस्य सप्रेयस्यो[11] नभश्चराः । स्वैरसंभोगयोग्येषु हारिभिर्लतिकागृहैः ॥११७॥
विविक्त[12]रमणीयेषु सानुष्वस्य धृतोत्सवाः । न धृतिं दधतेऽन्यत्र गीर्वाणाः साप्सरोगणाः ॥११८॥

पर्वतको भरतने बहुत कुछ माना था—आदरकी दृष्टिसे देखा था ॥ १०८ ॥ इसी बीचमें, जब कि महाराज भरत अपनी दृष्टि हिमवान् पर्वतपर डाले हुए थे—उसकी शोभा निहार रहे थे तब पुरोहित उन्हे आनन्दित करनेके लिए नीचे लिखे अनुसार उत्कृष्ट वचन कहने लगा ॥१०९॥ हे प्रभो, यह हिमवान् पर्वत बहुत ही उत्तुग अर्थात् ऊँचा है, सदा श्री अर्थात् शोभा-से सहित रहता है और कुलक्षोणीभृत् अर्थात् कुलाचलोमें श्रेष्ठ है इसलिए आपका अनुकरण करता है—आपकी समानता धारण करता है क्योकि आप भी तो उत्तुग अर्थात् उदारमना है, सदा श्री अर्थात् राज्यलक्ष्मीसे सहित रहते है और कुलक्षोणीभृत् अर्थात् वंशपरम्परासे आये हुए राजाओमें श्रेष्ठ है ॥ ११० ॥ अहा, कितना आश्चर्य है कि यह बडा भारी पर्वत, जो कि कठिनाईसे चढने योग्य है और जिसका पार होना अत्यन्त कठिन है, डोरीपर बाण रखते ही आपके पुण्य प्रतापसे आपके वश हो गया है ॥१११॥ इसकी सुवर्णमयी श्रेणी अनेक प्रकार-के रत्नोसे सुशोभित हो रही है, सौ योजन ऊँची है और ऐसी जान पड़ती है मानो टाँकीसे गढ कर ही बनायी गयी हो ॥ ११२ ॥ अपने पूर्व और पश्चिमके कोणोसे 'लवण समुद्रमे प्रवेश कर' पड़ा हुआ यह पर्वत ऐसा सुशोभित हो रहा है मानो पृथिवीके नापनेका एक दण्ड ही हो ॥११३॥ हे भरतश्रेष्ठ, यह श्रेष्ठ पर्वत भरतक्षेत्रसे दूने विस्तारवाला है और मूल, मध्य तथा ऊपर तीनों भागोमे इसका समान विस्तार है ॥ ११४ ॥ जिसमे सिद्ध, विद्याधर और नागकुमार निरन्तर निवास करते है ऐसी यह मनोहर वनकी पंक्ति इस पर्वतके प्रत्येक शिखरपर शोभाय-मान हो रही है ॥११५॥ देदीप्यमान मणियोसे चित्र-विचित्र हुए इस पर्वतके किनारेके प्रदेश बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहे है और भीतर पड़ते हुए देवागनाओके प्रतिबिम्बोसे ऐसे जान पडते है मानो उनमें अनेक चित्र ही खींचे गये हो ॥ ११६ ॥ सुन्दर लतागृहोंसे अपनी इच्छानुसार उपभोग करने योग्य इस पर्वतके किनारोपर अपनी-अपनी स्त्रियोके साथ विद्याधर लोग टहल रहे है ॥ ११७ ॥ जो देव लोग अपनी अप्सराओके साथ इस पर्वतके निर्जन पवित्र और रमणीय किनारोंपर क्रीड़ा कर लेते है फिर उन्हें किसी दूसरी जगह सन्तोष नही होता

---

१ अस्मिन्नवसरे। २ श्रीदेव्या लक्ष्म्या च। ३ मुख्य। ४ तवानुकरणम्। ५ अवतरितुमशक्यः। ६ राद्धो ल०। ७ द्विगुणविस्तार.। ८ भरतश्रेष्ठ। ९ तुल्या विस्तार—ल०, द०। १० सानुविस्तारा। ११ प्रियतमामहिता। १२ पवित्र। 'विविक्तौ पूतविजनौ' इत्यभिधानात्।

पर्यन्तेऽस्य[1] वनोद्देशा विकासि कुसुमस्मिताः। हसन्तीवामरोद्यानश्रियमात्मीयया श्रिया ॥११९॥
स्वेन मूर्ध्ना बिभर्त्येष श्रियं नित्यानपायिनीम्।
स्मार्त्ताः[2] स्मरन्ति यां शच्याः सौभाग्यमदकर्षिणीम् ॥१२०॥
मूर्ध्नि पद्महृदोऽस्यास्ति धृतश्री[3] र्बहुवर्णनः। प्रसन्नवारिरुत्फुल्लहैमपङ्कजमण्डनः ॥१२१॥
हृदस्यास्य पुरःप्रत्यक्तोरण[4] द्वारनिर्गते। गङ्गासिन्धू महानद्यौ धत्तेऽयं धरणीधरः ॥१२२॥
सरितं रोहितास्यां च दधात्येष शिलोच्चयः। तदुदक्तोरण[5] द्वाराभिःसृत्योदङ्मुखीं[6] गताम् ॥१२३॥
महापगाभिरित्याभिरलङ्घ्याभिर्विभात्ययम्। तिसृभिः शक्तिभिः स्वं वा भूभृद्भावं विभावयन् ॥१२४॥
शिखरैरेष कुत्कीलः कीलयन्निव खाङ्गणम्। सिद्धाध्वानं[7] रुणद्धीद्धैः परार्ध्यै रुद्धदिङ्मुखैः ॥१२५॥
[8]परश्शतमिहाद्रीन्द्रे सन्त्यावासाः सुधाशिनाम्। येऽनल्पां कल्पजां[9] लक्ष्मीं हसन्तीव स्वसंपदा ॥१२६॥
इत्यनेकगुणेऽप्यस्मिन् दोषोऽस्त्येको महान् गिरौ। यत् पर्यन्तगतान्धत्ते गुरुरप्यगुरुद्रुमान्[10] ॥१२७॥
अलङ्घ्यमहिमोदग्रो गरिमाक्रान्तविष्टपः। जगद्गुरोः[11] पुरोरामामयं धत्ते धराधरः ॥१२८॥

है ॥ ११८ ॥ जो फूले हुए फूलरूपी हास्यसे सहित है ऐसे इसके किनारेके वनके प्रदेश ऐसे जान पड़ते है मानो अपनी शोभासे देवोके बगीचेकी शोभाकी हँसी ही कर रहे हो ॥ ११९ ॥ यह पर्वत अपने मस्तक (शिखर) से उस शोभाको धारण करता है, जो कि, सदा नाशरहित है और स्मृतिके जानकार पण्डित लोग जिसे इन्द्राणीके सौभाग्यका अहंकार दूर करनेवाली कहते है ॥१२०॥ इसके मस्तकपर पद्म नामका वह सरोवर है जिसमे कि श्री देवीका निवास है, शास्त्रकारोने जिसका बहुत कुछ वर्णन किया है, जिसमें स्वच्छ जल भरा हुआ है, और जो फूले हुए सुवर्ण कमलोसे सुशोभित है ॥१२१॥ यह पर्वत क्रमसे इस पद्मसरोवरके पूर्व तथा पश्चिम तोरणसे निकली हुई गंगा और सिन्धुनामकी महानदियोंको धारण करता है ॥१२२॥ तथा पद्म सरोवरके उत्तर तोरणद्वारसे निकलकर उत्तरकी ओर गयी हुई रोहितास्या नदीको भी यह पर्वत धारण करता है ॥१२३॥ यह पर्वत इन अलंघ्य तीन महानदियोसे ऐसा सुशोभित होता है मानो उत्साह, मन्त्र और प्रभुत्व इन तीन शक्तियोसे अपना भूभृद्भाव अर्थात् राजापना (पक्षमें पर्वतपना) ही प्रकट कर रहा हो ॥१२४॥ देदीप्यमान तथा दिशाओको व्याप्त करनेवाले अपने अनेक शिखरोसे यह पर्वत ऐसा जान पड़ता है मानो आकाशरूपी आँगनको कीलोसे युक्त कर देवोका मार्ग ही रोक रहा हो ॥१२५॥ इस पर्वतराजपर देवोके अनेक आवास है जो कि अपनी शोभासे स्वर्गकी बहुत भारी शोभाकी भी हँसी करते है ॥१२६॥ इस प्रकार इस पर्वतमे अनेक गुण होनेपर भी एक बडा भारी दोप है और वह यह कि यह स्वय गुरु अर्थात् बड़ा होकर भी अपने चारो ओर लगे हुए अगुरु द्रुम अर्थात् छोटे-छोटे वृक्षोको धारण करता है (परिहार पक्षमें अगुरु द्रुमका अर्थ अगुरु चन्दनके वृक्ष लेना चाहिए) ॥१२७॥ यह पर्वत जगद्गुरु भगवान् वृपभदेवकी सदृशता धारण करता है क्योकि जिस प्रकार भगवान् वृपभदेव अपनी अलघ्य महिमासे उदग्र अर्थात् उत्कृष्ट है उसी प्रकार यह पर्वत भी अपनी अलघ्य महिमासे उदग्र अर्थात् ऊँचा है और जिस प्रकार भगवान् वृपभदेवने अपनी गरिमा अर्थात् गुरुपनेसे समस्त विश्वको व्याप्त कर लिया है उसी प्रकार इस पर्वतने भी अपनी गरिमा अर्थात् भारीपनसे समस्त विश्वको व्याप्त कर लिया है। भावार्थ — जिस प्रकार भगवान् वृपभदेवका गुरुपना समस्त लोकमे प्रसिद्ध हे उसी प्रकार इस पर्वतका भारीपना भी लोकमे प्रसिद्ध

१ पर्यन्तस्य ल०। २ स्मृतिवेदिन। ३ धृता श्री (देवी) येन स। ४ पूर्वपश्चिमदिवस्थतोरण। ५ तत्पद्मसरोवरस्थोत्तरदिवस्थतोरण। ६ उत्तरदिङ्मुखीम्। ७ देवभेदमार्गम्। ८ अपरिमिताः। 'पग सख्या शताधिकात्। ९ स्वर्गजाम्। १० कालागुरुतरून्, लघुतरूनिति ध्वनि। ११ उपमाम्।

इत्यस्याद्रेः परां शोभां शंसत्युच्चैः[1] पुरोधसि । प्रशशंस तमद्रीन्द्रं संप्रीतो भरताधिपः ॥१२९॥
स्वभुक्तिक्षेत्रसीमानं सोऽभिनन्द्य[2] हिमाचलम् । प्रत्यावृतत प्रभुर्द्रष्टुं[3] वृषभाद्रिं कुतूहलात् ॥१३०॥
यो योजनशतोच्छ्रायो मूले तावच्च विस्तृतः । तदर्द्धविस्तृतिर्मूर्ध्नि भुवो मौलिरिवोद्गतः ॥१३१॥
यस्योत्संगभुवो रम्याः कदली[4]षण्डमण्डितैः । संभोगाय नभोगानां वल्गन्ते स्म[5] लतालयैः ॥१३२॥
सनागमं[6] सनागैश्च[7] सपुन्नागैः परिष्कृतम् । [8]यदुपान्ते वनं सेव्यं मुच्यते जातु नामरैः ॥१३३॥
स्वतटस्फटिकोत्सर्पत्प्रभादिग्धहरिन्मुखम्[9] । शरदभ्रैरिवारब्धवपुषं[10] सनभोजुषम्[11] ॥१३४॥
तं शैलं भुवनस्यैकं ललाममिव[12] निरूपयन्[13] । कलयामास लक्ष्मीवान् स्वयशःप्रतिमानकम्[14] ॥१३५॥
तमेकपाण्डुरं[15] शैलमाकल्पान्तमनश्वरम् । स्वयशोराशिनीकाशं[16] पश्यन्नभिननन्द सः ॥१३६॥
सोऽचलः प्रभुमायान्तं[17] मायान्तमखिलद्विषाम् । प्रत्यग्रहीदिवाभ्येत्य[18] विष्वद्र्यग्भिर्वनानिलैः ॥१३७॥
तत्तटोपान्तविश्रान्तखचरोरगकिन्नरैः । प्रोद्गीयमानममलं शुश्रुवे[19] स्वयशोऽमुना ॥१३८॥
जयलक्ष्मीमुखालोकमङ्गलादर्शविभ्रमाः । तत्तटीभित्तयो जहुर्मनोऽस्य स्फटिकामलाः ॥१३९॥

है, अथवा इस पर्वतने अपने विस्तारसे लोकका बहुत कुछ अंश व्याप्त कर लिया है ॥१२८॥ इस प्रकार जब पुरोहित उस पर्वतकी उत्कृष्ट शोभाका वर्णन कर चुका तब भरतेश्वरने भी प्रसन्न होकर उस पर्वतकी प्रशंसा की ॥१२९॥ अपने उपभोग करनेयोग्य क्षेत्रकी सीमा स्वरूप हिमवान् पर्वतकी प्रशंसा कर महाराज भरत कुतूहलवश वृषभाचलको देखनेके लिए लौटे ॥१३०॥

जो सौ योजन ऊँचा है, मूल तथा ऊपर क्रमसे सौ और पचास योजन चौडा है एवं ऊपरकी ओर उठा हुआ होनेसे पृथिवीके मस्तकके समान जान पड़ता है। जिसके ऊपरके मनोहर प्रदेश केलोंके समूहसे सुशोभित लतागृहोंसे आकाशगामी देव तथा विद्याधरोंके उपभोग करने योग्य है, नाग, सहजना और नागकेशरके वृक्षोंसे घिरे हुए तथा सेवन करने योग्य जिस पर्वत-के समीपके वनोंको देव लोग कभी नहीं छोड़ते हैं। अपने तटपर लगे हुए स्फटिक मणियोंकी फैलती हुई प्रभासे जिसने समस्त दिशाएँ व्याप्त कर ली है, जिसका शरीर शरदृऋतुके बादलोंसे बना हुआ-सा जान पडता है और जो सदा देव तथा विद्याधरोंसे सहित रहता है, ऐसे उस पर्वतको लोकके एक आभूषणके समान देखते हुए श्रीमान् भरतने अपने यशका प्रतिबिम्ब माना था ॥१३१-१३५॥ जो एक सफेद रंगका है और जो कल्पान्त काल तक कभी नष्ट नहीं होता ऐसे उस वृषभाचलको अपने यशकी राशिके समान देखते हुए महाराज भरत बहुत ही आनन्दित हुए थे ॥१३६॥ उस समय वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो समस्त शत्रुओं-की सर्वमुखी भाग्यको नष्ट करनेवाले चक्रवर्ती भरतको अपने समीप आता हुआ जानकर चारोंओर बहनेवाले वनके वायुके द्वारा सामने जाकर उनका स्वागत-सत्कार ही कर रहा हो ॥१३७॥ वहाँपर भरतने उस पर्वतके किनारेके समीप विश्राम करते हुए विद्याधर नागकुमार और किन्नर देवोंके द्वारा गाया हुआ अपना निर्मल यश भी सुना था ॥१३८॥ स्फटिकके समान

---

१ स्तुतिं कुर्वति सति । २ प्रशस्य । ३ व्यावुटितवान् । ४ खण्ड-अ०, द०, स०, ल० । ५ समर्था भवन्ति । ६ नागवृक्षसहितम् । ७ सर्जकतरुभिः । ८ यदुपान्तवनं ल०, प०, द०, अ०, प०, स० । ९ लिप्तदिङ्मुखम् । १० घटित । ११ आकाशस्पर्शनसहितम्, देव-विद्याधर-सहितम् । १२ तिलकम् । १३ विलोकयन् । १४ सदृशम् । १५ केवलं धवलम् । १६ समानम् । १७ आ समन्तात् अयः आयः तस्य अन्तः अन्तक नाश इत्यर्थः । विभूत्यन्तकम् समन्तात्पुण्यनाशकमित्यर्थः । 'अतः शुभावहो विधिः' रित्यभिधानात् । १८ समन्तात् प्रसारिभिः । विष्वद्र्यङ् विष्वगञ्चतीत्यभिधानात् । १९ श्रूयते स्म ।

अधिमेखलमस्यासीच्छिलाभित्तिषु चक्रिणः । स्वनामाक्षरविन्यासे धृति[1] विश्वक्षमाजितः[2] ॥१४०॥
काकिणीरत्नमादाय यदा लिलिखिषत्ययम्[3] । तदा राजसहस्राणां[4] नामान्यत्रैक्षताधिराट् ॥१४१॥
असंख्यकल्पकोटीषु येऽतिक्रान्ता धराभुजः । तेषां नामभिराकीर्णं तं पश्यन् स सिस्मिप्मये ॥१४२॥
ततः किंचित् स्खलद्गर्वो विलक्षीभूय[5] चक्रिराट् । अनन्यशासनामेनां न मेने भरतावनीम् ॥१४३॥
स्वयं कस्यचिदेकस्य निरस्यन्नामशासनम् । स मेने निखिलं लोकं प्रायः स्वार्थपरायणम् ॥१४४॥
अथ तत्र शिलापट्टे स्वहस्ततलनिस्तले[6] । प्रशस्तिमित्युदात्तार्थं व्यलिखत् स यशोधनः ॥१४५॥
स्वस्तीक्ष्वाकुकुलव्योमतलप्रालेयदीधितिः । चातुरन्त[7]महीभर्ता[8] भरतः शातमातुरः[9] ॥१४६॥
श्रीमानानम्रनिःशेषखचरामरभूचरः । प्राजापत्यो[10] मनुर्मान्यः शूरः शुचिरुदारधीः ॥१४७॥
चरमाङ्गधरो धीरो[11] धौरेयश्चक्रधारिणाम् । परिक्रान्तं धराचक्रं जिष्णुना येन दिग्जये ॥१४८॥
यस्याष्टादशकोटयोऽश्वा जलस्थलविलङ्घिनः । लक्षाश्चतुरशीतिश्च मदेभा जयसाधने ॥१४९॥
यस्य दिग्विजये विष्वग्बलरेणुभिरुत्थितैः । सदिङ्मुखं खमारुद्धं कपोतगलकर्बुरैः ॥१५०॥

निर्मल और विजयलक्ष्मीके मुख देखनेके लिए मगलमय दर्पणके समान उस वृषभाचलके किनारे-की दीवारे भरतका मन हरण कर रही थी ॥ १३९ ॥ समस्त पृथिवीको जीतनेवाले चक्रवर्ती भरतको उस पर्वतके किनारेकी शिलाकी दीवारोपर अपने नामके अक्षर लिखनेमे वहुत कुछ सन्तोष हुआ था ॥ १४० ॥ चक्रवर्ती भरतने काकिणी रत्न लेकर ज्यों ही वहाँ कुछ लिखनेकी इच्छा की त्यो ही उन्होने वहाँ लिखे हुए हजारो चक्रवर्ती राजाओके नाम देखे ॥१४१॥ असख्यात करोड कल्पोमें जो चक्रवर्ती हुए थे उन सवके नामोसे भरे हुए उस वृषभाचलको देखकर भरत-को वहुत ही विस्मय हुआ ॥ १४२ ॥ तदनन्तर जिसका कुछ अभिमान दूर हुआ है ऐसे चक्र-वर्तीने आश्चर्यचकित होकर इस भरतक्षेत्रकी पृथिवीको अनन्यशासन अर्थात् जिसपर दूसरेका शासन न चलता हो ऐसा नही माना था । भावार्थ – वृषभाचलकी दीवालोपर असंख्यात चक्रवर्तियोके नाम लिखे हुए देखकर भरतका सव अभिमान नष्ट हो गया और उन्होने स्वीकार किया कि इस भरतक्षेत्रकी पृथिवीपर मेरे समान अनेक शक्तिशाली राजा हो गये है ॥ १४३ ॥ चक्रवर्ती भरतने किसी एक चक्रवर्तीके नामकी प्रशस्तिको स्वयं – अपने हाथसे मिटाया और वैसा करते हुए उन्होने प्रायः समस्त ससारको स्वार्थपरायण समझा ॥ १४४ ॥

अथानन्तर – यश ही जिसका धन है ऐसे चक्रवर्तीने अपने हाथके तलभागके समान चिकने उस शिलापट्टपर नीचे लिखे अनुसार उत्कृष्ट अर्थसे भरी हुई प्रशस्ति लिखी ॥ १४५ ॥ स्वस्ति श्री इक्ष्वाकु वशरूपी आकाशका चन्द्रमा और चारो दिशाओकी पृथिवीका स्वामी मै भरत हूँ, मै अपनी माताके सौ पुत्रोमे-से एक वडा पुत्र हूँ, श्रीमान् हूँ, मैने समस्त विद्याधर देव और भूमिगोचरी राजाओको नम्रीभूत किया है, प्रजापति भगवान् वृषभदेवका पुत्र हूँ, मनु हूँ, मान्य हूँ, शूरवीर हूँ, पवित्र हूँ, उत्कृष्ट वुद्धिका धारक हूँ, चरमशरीरी हूँ, धीर वीर हूँ, चक्रवर्तियोमे प्रथम हूँ और इसके सिवाय जिस विजयीने दिग्विजयके समय समस्त पृथिवीमण्डल-की परिक्रमा दी है अर्थात् समस्त पृथिवीमण्डलपर आक्रमण किया है, जिसके जल और स्थल-मे चलनेवाले अठारह करोड़ घोड़े है, जिसकी विजयी सेनामे चौरासी लाख मदोन्मत्त हाथी

---

१ सतोष. । २ सकलमहीविजयिन । ३ लिखितुमिच्छति । ४ अपरिमिताना राज्ञामित्यर्थ । ५ विस्मयान्वितो भूत्वा । 'विलक्षो विस्मयान्विते' इत्यभिधानात् । ६ वर्तुले समतले इत्यर्थ । ७ चतुरन्तो द०, प०; ऊ०, अ०, स० । ८ त्रिसमुद्र-हिमवद्गिरिपर्यन्तमहीनाथ. । ९ शतस्य माता शतमाता तस्या अपत्यं शातमातुर । १० प्रजापते पुरोरपत्य पुमान् । ११ मुख्यः ।

प्रसाधितदिशो यस्य यशः शशिकलामलम् । सुरैरसकृदुद्गीतं कुलक्षोणीध्रकुक्षिषु ॥१५१॥
दिग्जये यस्य सैन्यानि विश्रान्तान्यधिदिक्तटम् । चक्रानुभ्रान्तितान्तानि[1] क्रान्त्वा हैमवतीस्थलीः ॥१५२॥
नप्ता श्रीनाभिराजस्य पुत्रः श्रीवृषभेशिनः । षट्खण्डमण्डितामेनां यः स्म शास्त्यखिलां महीम् ॥१५३॥
मत्वाऽस्मां गत्वरीं[2] लक्ष्मीं जित्वरः[3] सर्वभूभृताम् । जगद्विसृत्वरीं[4] कीर्तिमतिष्ठिपदिहाचले ॥१५४॥
इति प्रशस्तिमात्मीयां विलिखन्[5] स्वयमक्षरैः । प्रसूनप्रकरैर्मुक्तैर्नृपोऽवचकिरे[6]ऽमरैः ॥१५५॥
तत्रोच्चैश्चरद्ध्वाना मन्द्रदुन्दुभयोऽध्वनन् । दिवि देवा जयेत्याशीश्शतान्युच्चैरघोषयन् ॥१५६॥
स्वर्धुनीसीकरासारवाहिनो गन्धवाहिनः । मन्दं विचेरुराधूत[7]सान्द्रमन्दारनन्दनाः ॥१५७॥
न केवलं शिलाभित्तावस्य नामाक्षरावली । लिखितानेन चान्द्रेऽपि बिम्बे तल्लाञ्छनच्छलात् ॥१५८॥
लिखितं[8] साक्षिणो भुक्तिरित्यस्तीहापि शासने । लिखितं सोऽचलो भुक्तिर्दिग्जये साक्षिणोऽमराः ॥१५९॥
अहो महानुभावोऽयं चक्री दिक्चक्रनिर्जये । येनाक्रान्तं महीचक्रमानक्रवसतित्रिकात्[9] ॥१६०॥
सञ्चराद्रिरलङ्घ्योऽपि हेलयालङ्घितोऽमुना । कीर्तिः स्थलाब्जिनीवास्य रूढा हैमाचलस्थले ॥१६१॥

है, जिसकी दिग्विजयके समय चारो ओर उठी हुई कबूतरके गलेके समान कुछ-कुछ मलिन सेनाकी धूलिसे समस्त दिशाओके साथ-साथ आकाश भर जाता है, समस्त दिशाओको वश करनेवाले जिसका चन्द्रमाकी कलाओके समान निर्मल यश कुलपर्वतोके मध्यभागमे देव लोग बार-बार गाते है, दिग्विजयके समय चक्रके पीछे-पीछे चलनेसे थकी हुई जिसकी सेनाओने हिमवान् पर्वतकी तराईको उल्लंघन कर दिशाओके अन्तभागमे विश्राम लिया है, जो श्री नाभिराजका पौत्र है, श्री वृषभदेवका पुत्र है, जिसने छह खण्डोसे सुशोभित इस समस्त पृथिवीका पालन किया है और जो समस्त राजाओंको जीतनेवाला है ऐसे मुझ भरतने लक्ष्मीको नश्वर समझकर जगत्मे फैलनेवाली अपनी कीर्तिको इस पर्वतपर स्थापित किया है ॥ १४६ – १५४ ॥ इस प्रकार चक्रवर्तीने अपनी प्रशस्ति स्वयं अक्षरोके द्वारा लिखी, जिस समय चक्रवर्ती उक्त प्रशस्ति लिख रहे थे उस समय देव लोग उनपर फूलोकी वर्षा कर रहे थे ॥ १५५ ॥ वहाँ जोर-जोरसे शब्द करते हुए गम्भीर नगाड़े बज रहे थे, आकाशमें देव लोग जय-जय इस प्रकार सैकड़ो आशीर्वाद रूप शब्दोंका उच्चारण कर रहे थे ॥ १५६ ॥ और गंगा नदीके जलकी बूँदोंके समूहको धारण करता हुआ तथा कल्पवृक्षोके सघन वनको हिलाता हुआ वायु धीरे-धीरे बह रहा था ॥१५७॥ भरतके नामके अक्षरोकी पंक्ति केवल शिलाकी दीवारपर ही नही लिखी गयी थी किन्तु उन्होने काले चिह्नके बहानेसे चन्द्रमाके मण्डलमें भी लिख दी थी । भावार्थ – चन्द्रमाके मण्डलमे जो काला-काला चिह्न दिखाई देता है वह उसका चिह्न नही है, किन्तु भरतके नामके अक्षरोकी पंक्ति ही है, यहाँ कविने अपह्नुति अलंकारका आश्रय लेकर वर्णन किया है ॥१५८॥ अन्य प्रशस्तियोके समान भरतकी इस प्रशस्तिमें भी लेख, साक्षी और उपभोग करनेयोग्य क्षेत्र ये तीनो ही बाते थी क्योकि लेख तो वृषभाचलपर लिखा ही गया था, दिग्विजय करनेसे छह खण्ड भरत उपभोग करनेयोग्य क्षेत्र था और देव लोग साक्षी थे ॥ १५९ ॥ अहा, यह चक्रवर्ती बड़ा प्रतापी है क्योकि इसने समस्त दिशाओको जीतते समय पूर्व पश्चिम और दक्षिणके तीनो समुद्रपर्यन्त समस्त भूमण्डलपर आक्रमण किया है – समस्त भरतको अपने वश कर लिया है । यद्यपि विजयार्ध पर्वत उल्लघन करनेयोग्य नही है तथापि इसने

१ चक्रानुगमनेन खिन्नानि । २ गमनशीलाम् । ३ जयनशीलः । ४ विसरणशीलाम् । ५ व्यलिखत् ल०, अ०, द०, स० । ६ आकीर्ण. । ७ – राध्मात ल० । ८ पत्रम् । ९ पूर्वदक्षिणपश्चिमसमुद्रपर्यन्तम् ।

इति दृष्टापदान[1] तं तुष्टुवुर्नाकिनायकाः । दिष्ट्या[2] स्म वर्धयन्त्येनं साङ्गनाश्च नभश्चराः ॥१६२॥
भूयः प्रोत्साहितो देवैर्जयोद्योगमनूनयन्[3] । गङ्गापातमभीयाय[4] व्याहूत इव तत्स्वनैः ॥१६३॥
गलद्गङ्गाम्बुनिष्ठ्यूताः शीकरा मदशीकरैः । संमूर्च्छुर्नृपेभाणां[6] व्यात्युक्षीं[7] वा तितांसवः[8] ॥१६४॥
पतद्गङ्गाजलावर्तपरिवर्द्धितकौतुकः । प्रत्याग्राहि स तत्पाते गङ्गादेव्या धृतार्घया ॥१६५॥
सिंहासने निवेश्यैनं प्राङ्मुखं सुखशीतलैः । सोऽभ्यषिञ्चज्जलैर्गाङ्गैः शशाङ्ककरहासिभिः ॥१६६॥
कृतमङ्गलसङ्गीतनान्दीतूर्यरवाकुलम् । निर्वर्त्य मज्जनं जिष्णुर्भेजे मण्डनमप्यत. ॥१६७॥
अथास्मै व्यत[9]रत् प्रांशु[10] रत्नांशुस्थगिताम्बरम् । सेन्द्रचापमिवाद्रीन्द्रशिखरं हरिविष्टरम् ॥१६८॥
चिरं वर्द्धस्व वर्द्धिष्णो जीवतान्नन्दताद् भवान् । इत्यनन्तरमाशास्य तिरोऽभूत् सा विसर्जिता ॥१६९॥
अनुगङ्गातटं सैन्यैराव्रजन्विषयाधिपैः । सिषेवे पवमानैश्च गङ्गाम्बुकणवाहिभिः ॥१७०॥
गङ्गातटवनोपान्तनिवेशेषु विशाम्पतिम् । सुखयामासुरन्वीपमायाता[11] वनमारुताः[12] ॥१७१॥

उसे लीलामात्रमें ही उल्लघन कर दिया है और इसकी कीर्ति स्थल-कमलिनीके समान हिमालय पर्वतकी शिखरपर आरूढ हो गयी है। इस प्रकार जिनका पराक्रम देख लिया गया है ऐसे उन भरत महाराजकी बडे-बडे देव भी स्तुति कर रहे थे और अपनी-अपनी स्त्रियोसे सहित विद्याधर लोग भी भाग्यसे उन्हे बढा रहे थे अर्थात् आशीर्वाद दे रहे थे ॥१६०–१६२॥

तदनन्तर–जिन्हे देवोने फिर भी उत्साहित किया है ऐसे महाराज भरतने अपने विजयके उद्योगको कम न करते हुए गंगापात (जहाँ हिमवान् पर्वतसे गगा नदी पडती है उसे गंगापात कहते है) के सम्मुख इस प्रकार गये मानो उसके शब्दोके द्वारा बुलाये ही गये हो ॥१६३॥ ऊपरसे गिरती हुई गंगा नदीके जलके समीपसे उछटे हुए छोटे-छोटे जलकण राजाओके हाथियों-के मदकी बूँदोके साथ इस प्रकार मिल रहे थे मानो वे दोनो परस्पर फाग ही खेलना चाहते हो अर्थात् एक दूसरेको सीचना ही चाहते हो ॥१६४॥ पडते हुए गगाजलकी भँवरोंसे जिसका कौतूहल बढ रहा है ऐसे भरतका गंगापातके स्थानपर अर्घ धारण करनेवाली गगादेवीने सामने आकर सत्कार किया ॥१६५॥ गंगादेवीने चक्रवर्ती भरतको पूर्व दिशाकी ओर मुख कर सिहासनपर बैठाया और फिर सुखकारी, शीतल तथा चन्द्रमाकी किरणोकी हँसी करनेवाले गगा नदीके जलसे उनका अभिषेक किया ॥१६६॥ जिसमे मंगल संगीत, आशीर्वाद वचन और तुरही आदि बाजोके शब्द मिले हुए है ऐसे अभिषेकको समाप्त कर विजयशील भरतने उसी गगादेवीसे सब वस्त्राभूपण भी प्राप्त किये ॥१६७॥ तदनन्तर देदीप्यमान रत्नोकी किरणोसे जिसने आकाश भी व्याप्त कर लिया है और जो इन्द्रधनुपसहित सुमेरु पर्वतके शिखरके समान जान पडता है ऐसा एक सिहासन गंगादेवीने भरतके लिए समर्पित किया ॥१६८॥ और फिर 'सदा बढनेवाले हे महाराज भरत, आप चिर काल तक बढते रहिए, चिरकाल तक जीवित रहिए और चिरकाल तक आनन्दित रहिए अथवा समृद्धिमान् रहिए इस प्रकार आशीर्वाद देकर महाराज भरतके द्वारा विदा हो वह गंगादेवी तिरोहित हो गयी ॥१६९॥

अथानन्तर–सेनाके साथ-साथ गगाके किनारे-किनारे जाते हुए भरतकी अनेक देशोके स्वामी-राजाओने और गंगा नदीके जलकी बूँदोको धारण करनेवाले वायुने सेवा की थी ॥१७०॥ गगा किनारेके वनोके समीपवर्ती भागोमे पीछेसे आता हुआ वनका वायु चक्रवर्ती

---

१ दृष्टसामर्थ्यम् । दृष्टावदान प०, अ० । दृष्टावदानं ल० । २ सन्तोषेण । ३ अनून कुर्वन् मवर्द्धयन्नित्यर्थ । ४ अभिमुखमगच्छत् । ५ प्रसरन्ति स्म । ६ नृपसवन्धिगजानाम् । ७ परस्परसेचनम् । ८ विस्तारितुमिच्छव । ९ ददौ । १० उन्नत । ११ अनुकूलताम् । १२ वनवायव ल० ।

वने वनचरस्त्रीणामुदस्यन्नलकावलीः । मुहुस्स्खलन् कलापेषु नृत्यद्वनशिखण्डिनाम् ॥१७२॥
विलोलितालिराधुन्वन्नुत्फुल्ला वनवल्लरीः । गिरिनिर्झरसंश्लेषशिशिरो मन्दमाववौ ॥१७३॥
प्रतिप्रयाणमानम्रा नृपास्तद्देशवासिनः । प्रभुमाराधयांचक्रुराक्रान्ता जयसाधनैः ॥१७४॥
कृत्स्नामिति प्रसाध्यैनामुत्तरां भरतावनिम् । प्रत्यासीददथो जिष्णुर्विजयार्द्धाचलस्थलीः[1] ॥१७५॥
तत्रावासितसैन्यं[2] च सेनान्यं [3]प्रभुरादिशत् । अपावृत[4] गुहाद्वारः प्राच्यखण्डं[5] जयेत्वरम्[6] ॥१७६॥
यावदभ्येति सेनानीम्लेच्छराजजयोद्यमात् । तावत्प्रभोः किलातीयुर्मासाः षट् सुखसंगिनः ॥१७७॥
दक्षिणोत्तरयोः श्रेण्योः निवसन्तोऽम्बरेचराः । विद्याधराधिपैः सार्द्धं प्रभुं द्रष्टुमिहाययुः[7] ॥१७८॥
विद्याधरधराधीशैराराद्‌ानम्रमौलिभिः । नखांशुमालिकाव्याजादाज्ञास्य शिरसा धृता ॥१७९॥
नमिश्च विनमिश्चैव विद्याधर[8]धराधिपौ । स्वसारधनसामग्र्या विभुं[9] द्रष्टुमुपेयतुः ॥१८०॥
विद्याधरधरासारधनोपायनसंपदा । [10]तदुपानीतयाऽनन्यलभ्ययासीद्विभोर्धृतिः ॥१८१॥
तदुपाकृतरत्नौघैः कन्यारत्नपुरःसरैः । सरिदोघैरिवोदन्वानापूर्यत तदा प्रभुः ॥१८२॥
स्वसारं[11] च नमेर्धन्यां सुभद्रां नामकन्यकाम् । उदुवाह[12] स लक्ष्मीवान् कल्याणैः खचरोचितैः ॥१८३॥

को सुखी कर रहा था ।।१७१।। वहाँके वनमें भीलोंकी स्त्रियोके केशोके समूहको उड़ाता हुआ नृत्य करते हुए वनमयूरोकी पूँछपर बार-बार टकराता हुआ भ्रमरोंको इधर-उधर भगाता हुआ, फूली हुई वनकी लताओंको कुछ कुछ हिलाता हुआ और पहाड़ी झरनोके स्पर्शसे शीतल हुआ वायु चारो ओर बह रहा था ।।१७२-१७३।। विजय करनेवाली सेनाके द्वारा दवाये हुए उन देशोमे निवास करनेवाले राजा लोग नम्र होकर प्रत्येक पड़ावपर महाराज भरतकी आराधना करते थे ।।१७४।। इस प्रकार उत्तर भरत क्षेत्रकी समस्त पृथिवीको वश कर विजयी महाराज भरत फिरसे विजयार्ध पर्वतकी तराईमे आ पहुँचे ।।१७५।। वहाँपर उन्होने सेना ठहराकर सेनापतिके लिए आज्ञा दी कि 'गुफाका द्वार उघाडकर शीघ्र ही पूर्व खण्डकी विजय प्राप्त करो' ।।१७६।। जबतक सेनापति म्लेच्छराजाओंको जीतकर वापस आया तबतक सुखपूर्वक रहते हुए महाराज भरतके छह महीने वहीपर व्यतीत हो गये ।।१७७।। विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण तथा उत्तर श्रेणीपर निवास करनेवाले विद्याधर लोग अपने-अपने स्वामियोके साथ महाराज भरतका दर्शन करनेके लिए वहींपर आये ।।१७८।। दूरसे ही मस्तक झुकानेवाले विद्याधर राजाओने नखोंकी किरणोंके समूहके बहानेसे महाराज भरतकी आज्ञा अपने सिरपर धारण की थी। भावार्थ-नमस्कार करते समय विद्याधर राजाओके मस्तकपर जो भरत महाराजके चरणोके नखोकी किरणे पड़ती थी उनसे वे ऐसे मालूम होते थे मानो भरतकी आज्ञा ही अपने मस्तकपर धारण कर रहे हों ।।१७९।। नमि और विनमि दोनों ही विद्याधरोके राजा अपने मुख्य धनकी सामग्रीके साथ भरतके दर्शन करनेके लिए समीप आये ।।१८०।। नमि और विनमि जो अन्य किसीको नही मिलनेवाली विद्याधरोंके देशकी मुख्य धनरूप सम्पत्ति भेटमें लाये थे उससे महाराज भरतको भारी सन्तोष हुआ था ।।१८१।। जिस प्रकार नदियोके प्रवाहसे समुद्र पूर्ण हो जाता है उसी प्रकार उस समय नमि और विनमिके द्वारा उपहारमे लाये हुए कन्यारत्न आदि अनेक रत्नोके समूहसे महाराज भरतकी इच्छा पूर्ण हो गयी थी ।।१८२।। श्रीमान् भरतने राजा नमिकी बहिन सुभद्रा नामकी उत्तम कन्याके साथ

---

१ स्थलीम् ल०, द०, इ०, अ०, स० । २ सैन्यश्च ल० । ३ विभुः । ४ उद्घाटित । ५ पूर्वखण्डम् । ६ शीघ्रम् । ७ आगच्छन् । ८ क्षेत्र । ९ प्रभुं ल०, अ०, स०, इ०, द० । १० विद्याधरैरुपायनीकृतया । ११ भगिनीम् । 'भगिनी स्वसा' इत्यभिधानात् । १२ परिणीतवान् ।

तां मनोज्ञरसस्येव स्रुतिं संप्राप्य चक्रभृत् । स्वं मेने सफलं जन्म परमानन्दनिर्भरः ॥१८४॥
तावान्निर्जितनिःशेषम्लेच्छराजबलो बले । जयलक्ष्मीं पुरस्कृत्य सेनानीः प्रभुमैक्षत ॥१८५॥
कृतकार्यं च सत्कृत्य तं तांश्च म्लेच्छनायकान् । विसर्ज्य सम्राट् सज्जोऽभूत् प्रत्यायातुमपाङ्महीम्[2] १८६
जयप्रयाणशंसिन्यस्तदा भेर्यः प्रदध्वनुः । विष्वग्बलार्णवे क्षोभमातन्वन्त्यो महीभृताम् ॥१८७॥
तां काण्डकप्रपाताख्यां प्रागेवोद्घाटितां गुहाम् । प्रविवेश बलं जिष्णोश्चक्ररत्नपुरोगमाम् ॥१८८॥
गङ्गापगोभयप्रान्तमहावीथीद्वयेन सा । व्यतीयाय गुहां सेना कृतद्वारां चमूभृता[3] ॥१८९॥
मुच्यमाना गुहा सैन्यैश्चिराडुच्छ्वसितेव सा । चमूरपि गुहारोधान्निःसृत्योज्जीवितेव सा ॥१९०॥
नाट्यमालामरस्तत्र रत्नार्घैः प्रभुमर्चयन् । प्रत्यगृह्णाद् गुहाद्वारि पूर्णकुम्भादिमङ्गलैः ॥१९१॥
कृतोपच्छन्दनं[4] चामुं नाट्यमालं सुरर्षभम्[5] । व्यसर्जयद्यथोद्देशं[6] सत्कृत्य भरतर्षभः ॥१९२॥
कृतोदयमिनं ध्वान्तात्परितो गगनेचराः । परिचेरुर्नभोमार्गमारुध्य धृतसायकाः ॥१९३॥

मालिनीवृत्तम्

नमिविनमिपुरोगैरन्वितः[7] खेचरेन्द्रैः खचरगिरिगुहान्तर्ध्वान्तमुत्सार्य दूरम् ।
रविरिव किरणौघैर्द्योतयन्दिग्विभागान् निधिपतिरुदियाय[8] प्रीणयन् जीवलोकम् ॥१९४॥
सरसकिसलयान्त स्पन्दमन्दे सुरस्त्रीस्तनतटपरिलग्नक्षौमसंक्रान्तवासे[9] ।
सरति[10] मरुति मन्दं कन्दरेष्वद्रिभर्तुर्निधिपतिशिबिराणां प्रादुरासन्निवेशाः ॥१९५॥

विद्याधरोके योग्य मगलाचारपूर्वक विवाह किया ॥१८३॥ रसकी धाराके समान मनोहर उस सुभद्राको पाकर उत्कृष्ट आनन्दसे भरे हुए चक्रवर्तीने अपना जन्म सफल माना था ॥१८४॥ इतनेमे ही जिसने अपनी सेनाके द्वारा समस्त म्लेच्छ राजाओकी सेना जीत ली है ऐसे सेनापतिने जयलक्ष्मीको आगे कर महाराज भरतके दर्शन किये ॥१८५॥ जिसने अपना कार्य पूर्ण किया है ऐसे सेनापतिका सन्मान कर और आये हुए म्लेच्छ राजाओंको विदा कर सम्राट् भरतेश्वर दक्षिणकी पृथिवीकी ओर आनेके लिए तैयार हुए ॥१८६॥ उस समय विजयके लिए प्रस्थान करनेकी सूचना देनेवाली भेरियाँ राजाओकी सेनारूपी समुद्रमें क्षोभ उत्पन्न करती हुई चारों ओर बज रही थी ॥१८७॥ चक्ररत्न जिसके आगे चल रहा है ऐसी भरतकी सेनाने पहलेसे ही उघाड़ी हुई काण्डकप्रपात नामकी प्रसिद्ध गुफामे प्रवेश किया ॥१८८॥ उस सेनाने गंगा नदीके दोनो किनारोपर-की दो बड़ी-बडी गलियोमें-से, सेनापतिके द्वारा जिसका द्वार पहलेसे ही खोल दिया गया है ऐसी उस गुफाको पार किया ॥१८९॥ सेनाके द्वारा छोड़ी हुई वह गुफा ऐसी जान पड़ती थी मानो चिरकालसे उच्छ्वास ही ले रही हो और वह सेना भी गुफाके रोधसे निकलकर ऐसी मालूम होती थी मानो फिरसे जीवित हुई हो ॥१९०॥ वहाँ नाट्यमाल नामके देवने दक्षिण गुफाके द्वारपर पूर्णकलश आदि मंगलद्रव्य रखकर तथा रत्नोंके अर्घसे अर्घ देकर भरत महाराजकी अगवानी की थी – सामने आकर सत्कार किया था ॥१९१॥ भरत महाराजने अनेक प्रकारकी स्तुति करनेवाले उस नाट्यमाल नामके श्रेष्ठ देवका सत्कार कर उसे अपने स्थानपर जानेके लिए विदा कर दिया ॥१९२॥ धनुष-बाण धारण करनेवाले विद्याधर चारों ओरसे आकाशमार्गको घेरकर, सूर्यके समान अन्धकारसे परे रहकर उदित होनेवाले चक्रवर्तीकी परिचर्या करते थे ॥१९३॥ जिनमें नमि और विनमि मुख्य हैं ऐसे विद्याधरोसहित तथा विजयार्ध पर्वतकी गुफाके भीतरी अन्धकारको दूर हटाकर सूर्यके समान किरणोके समूहसे दिशाओंको प्रकाशित करता हुआ वह निधियोका अधिपति चक्रवर्ती समस्त जीवलोकको आनन्दित करता हुआ उदित हुआ अर्थात् गुफाके बाहर निकला ॥१९४॥ रस-

---

१ मनोज्ञा रसस्येव । २ दक्षिणभूमिम् । ३ सेनान्या । ४ कृतसान्त्वनम् । ५ सुरश्रेष्ठम् । ६ निजदेशमनतिक्रम्य । ७ पुर मरै । ८ उदेति स्म । ९ सुगन्धे । १० वाति सति ।

किसलयपुटभेदी देवदारुद्रुमाणामसकृदमरसिन्धोः सीकरान्व्याधुनानः ।
श्रमसलिलममुष्णा[1] दुष्णसंभूष्णु[2] जिष्णोः खचरगिरितटान्तान्निष्पतन्मातरिश्वा ॥१९६॥
सपदि विजयसैन्यैर्निर्जितम्लेच्छखण्डः समुपहृतजयश्रीश्चक्रिणादिष्टमात्रात्[4] ।
जिनमिव जयलक्ष्मीं सन्निधानं निधीनां परि[5]वृढमुपतस्थौ[6] नम्रमौलिश्चमूभृत् ॥१९७॥

शार्दूलविक्रीडितम्

जित्वा म्लेच्छनृपौ विजित्य च [7]सुरं प्रालेयशैलेगिनं[8] देव्यौ[9] च प्रणमय्य दिव्यमुभयं स्वीकृत्य भद्रासनम् ।
हेलानिर्जितखेचराद्रिरधिराट् प्रत्यन्तपालान् जयन् सेनान्या विजयी व्यजेष्ट निखिलां षट्खण्डभूषां भुवम् १९८
पुण्यादित्ययमाहिमाह्वयगिरेरातोयधेः [10]प्राक्तनादाचापा[11]च्यपयोनिधेर्जलनिधेरा च प्रतीच्यादितः ।
चक्रेऽस्मामरिचक्र[12]भीकरकरश्चक्रेण चक्री वशे तस्मात्पुण्यमुपार्जयन्तु सुधियो जैने मते सुस्थिताः ॥१९९॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे
भरतोत्तरार्द्धविजयवर्णनं नाम द्वात्रिंशत्तमं पर्व ॥३२॥

■

युक्त नवीन कोमल पत्तोके भीतर प्रवेश करनेसे मन्द हुआ तथा देवांगनाओके स्तनतटपर लगे हुए रेशमी वस्त्रोंमें जिसकी सुगन्धि प्रवेश कर गयी है ऐसा वायु जिस समय उस विजयार्ध पर्वतकी गुफाओमे धीरे-धीरे वह रहा था उस समय निधियोके स्वामी चक्रवर्तीकी सेनाके डेरोकी रचना शुरू हुई थी ॥१९५॥ देवदारु वृक्षोके कोमल पत्तोके सम्पुटको भेदन करनेवाला तथा गगा नदीके जलकी बूँदोको वार-वार हिलाता हुआ और विजयार्ध पर्वतके किनारेके अन्त भागसे आता हुआ वायु गरमोसे उत्पन्न हुए महाराज भरतके पसीनेको दूर कर रहा था ॥१९६॥ चक्रवर्तीके द्वारा आज्ञा प्राप्त होनेमात्रसे ही जिसने अपनी विजयी सेनाओंके द्वारा वहुत शीघ्र समस्त म्लेच्छ खण्ड जीत लिये हैं और जो जयलक्ष्मीको ले आया है ऐसा सेनापति अपना मस्तक झुकाये हुए, निधियोके स्वामी भरत महाराजके समीप आ उपस्थित हुआ। उस समय भरत ठीक जिनेन्द्रदेवके समान मालूम होते थे क्योकि जिस प्रकार जिनेन्द्र देवके समीप सदा जयलक्ष्मी विद्यमान रहती है उसी प्रकार उनके समीप भी जयलक्ष्मी सदा विद्यमान रहती थी ॥१९७॥ विजयी भरतने (चिलात और आनर्त नामके) दोनों म्लेच्छराजाओंको जीतकर हिमवान् पर्वतके स्वामी हिमवान् देवको कुछ ही समयमे जीता, तथा (गंगा सिन्धु नामकी) दोनो देवियोसे प्रणाम कराकर (उनके द्वारा दिये हुए) दो दिव्य भद्रासन स्वीकृत किये, और विजयार्ध पर्वतको लीला मात्रमे जीतकर उसके समीपवर्ती राजाओको जीतते हुए उन्होने सेनापतिके साथ-साथ छह खण्डोसे सुशोभित भरत क्षेत्रकी समस्त पृथिवीको जीता ॥१९८॥ जिनका हाथ अथवा टैक्स शत्रुओके समूहमें भय उत्पन्न करनेवाला है ऐसे चक्रवर्ती भरतने चक्ररत्नके द्वारा पुण्यसे ही हिमवान् पर्वतसे लेकर पूर्व दिशाके समुद्र तक और दक्षिण समुद्रसे लेकर पश्चिम समुद्र तक समस्त पृथिवी अपने वश की थी। इसलिए वुद्धिमान् लोगोंको जैन-मतमे स्थिर रहकर सदा पुण्य उपार्जन करना चाहिए ॥१९९॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहके हिन्दी भाषानुवादमें उत्तरार्ध भरतकी विजयका वर्णन करनेवाला
बत्तीसवाँ पर्व समाप्त हुआ।

■

---

१ अनाशयत् । २ उष्णमंजातम् । ३ आगच्छन् । ४ आज्ञात. । ५ नाथम् । ६ प्राप्तवानित्यर्थ । ७ सुचिरं ल०, द० । ८ हिमवद्गिरिपतिम् । ९ गङ्गादेवीसिन्धुदेव्यौ । १० पूर्वात् । ११ दक्षिणसमुद्रात् । १२ भयंकरकर । 'भयकर प्रतिभय'मित्यभिधानात् ।

त्रयस्त्रिंशत्तमं पर्व

श्रीमानानमिताशेषनृपविद्याधरामरः । सिद्धदिग्विजयश्चक्री न्यवृतत्स्वां पुरीं प्रति ॥१॥
नवास्य निधयः सिद्धा रत्नान्यपि चतुर्दश । सिद्धविद्याधरैः[1] सार्द्धं षट्‌खण्डधरणीभुजः[2] ॥२॥
जित्वा महीमिमां कृत्स्नां लवणाम्भोधिमेखलाम् । प्रयाणमकरोच्चक्री साकेतनगरं प्रति ॥३॥
प्रकीर्णकचलद्वीचिरुल्लसच्छत्रबुद्बुदा । निर्ययौ विजयार्द्धाद्रितटाद् गङ्गेव सा चमूः ॥४॥
करिणीनौभिरश्वीयकल्लोलैर्जनतोर्मिभिः । दिशो रुन्धन्बलाम्भोधिः प्रससर्प स्फुरद्ध्वनिः ॥५॥
चलतां रथचक्राणां चीत्कारैर्हयहेषितैः । बृंहितैश्च गजेन्द्राणां शब्दाद्वैतं तदाभवत् ॥६॥
भेर्यः प्रस्थानशंसिन्यो नेदुरामन्द्रनिःस्वनाः । अकालस्तनि[3]ताशङ्कामातन्वानाः शिखण्डिनाम् ॥७॥
तदाऽभूद्रुद्धमश्वीयं हास्तिकेन प्रसर्पता । न्यरोधि पत्तिवृन्दं च प्रयान्त्या रथकल्पया ॥८॥
पादातकृतसंबाधात् पथः[4] पर्यन्तपातिनः[5] । हया गजा वरूथाश्च भेजुस्तिर्यक्प्रचोदिताः ॥९॥
पर्वतोदग्रमारूढो गजं विजयपर्वतम् । प्रतस्थे विचलन्मौलि चक्री शक्रसमद्युतिः ॥१०॥
अनुगङ्गातटं देशान् विलङ्घ्य ससरिद्‌गिरीन् । कैलासशैलसान्निध्यं[6] प्रापत्चक्रिणो बलम् ॥११॥

अथानन्तर – जिन्होने समस्त राजा विद्याधर और देवोको नम्रीभूत किया है तथा समस्त दिग्विजयमे सफलता प्राप्त की है ऐसे श्रीमान् चक्रवर्ती भरत अपनी अयोध्यापुरीके प्रति लौटे ॥१॥ इन महाराज भरतको नौ निधियाँ और चौदह रत्न सिद्ध हुए थे तथा विद्याधरोंके साथ-साथ छह खण्डोंके समस्त राजा भी इनके वश हुए थे ॥२॥ लवण समुद्र ही जिसकी मेखला है ऐसी इस समस्त पृथिवीको जीतकर चक्रवर्तीने अपने अयोध्या नगरकी ओर प्रस्थान किया ॥३॥ ढुलते हुए चमर ही जिसकी लहरे है और ऊपर चमकते हुए छत्र ही जिसके बबूले है ऐसी वह सेना गंगाके समान विजयार्ध पर्वतके तटसे निकली ॥४॥ हथिनीरूपी नावोसे, घोड़ोके समूहरूपी लहरोसे और मनुष्योके समूहरूपी छोटी-छोटी तरगोसे दिशाओंको रोकता हुआ तथा खूब शब्द करता हुआ वह सेनारूपी समुद्र चारो ओर फैल गया ॥५॥ उस समय चलते हुए रथोके पहियोके चीत्कार शब्दसे, घोडोकी हिनहिनाहटसे और हाथियोकी गर्जनासे शब्दाद्वैत हो रहा था अर्थात् सभी ओर एक शब्द-ही-शब्द नजर आ रहा था ॥६॥ जिनका शब्द अतिशय गम्भीर है ऐसी प्रस्थान-कालको सूचित करनेवाली भेरियाँ मयूरोंको असमयमे ही बादलोके गरजनेकी शका बढाती हुई शब्द कर रही थीं ॥७॥ उस समय दौडते हुए हाथियोके समूहसे घोड़ोका समूह रुक गया था और चलते हुए रथोंके समूहसे पैदल चलनेवाले सिपाहियोका समूह रुक गया था ॥८॥ पैदल सेनाके द्वारा जिन्हे कुछ बाधा की गयी है ऐसे हाथी घोड़े और रथ – थोड़ी दूर तक कुछ तिरछे चलकर ठीक रास्तेपर आ रहे थे । भावार्थ – सामने पैदल मनुष्योकी भीड देखकर हाथी घोडे और रथ बगलसे बरककर आगे निकल रहे थे ॥९॥ जिनका मुकुट कुछ-कुछ हिल रहा है और जिनकी कान्ति इन्द्रके समान है ऐसे चक्रवर्तीने पर्वतके समान ऊँचे विजय पर्वत नामके हाथीपर सवार होकर प्रस्थान किया ॥१०॥ चक्रवर्ती की वह सेना गगा नदीके किनारे-किनारे अनेक देश, नदी और पर्वतोंको उल्लंघन करती हुई

---

१ सिद्धा विद्या–ल०, इ०, द०, अ०, स०, प० । २ षट्खण्डस्थितमहीपालाः । ३ मेघध्वनि । ४ मार्गान् । सबाधान्पथ अ०, प०, स०, इ०, द० । ५ मार्गं विहाय पर्यन्ते वर्तमाना भूत्वा । ६ संप्रापच्चक्रिणा बलम् ल० ।

कैलासाचलमभ्यर्णमथालोक्य रथाङ्गभृत् । निवेश्य निकटे सैन्यं प्रययौ जिनमर्चितुम् ॥१२॥
प्रयान्तमनुजग्मुस्तं भरतेशं महाद्युतिम् । रोचिष्णुमौलयः क्ष्मापाः सौधर्मेन्द्रमिवामराः ॥१३॥
अचिराच्च [1]तमासाद्य शरदम्बरसच्छविम् । जिनस्येव यशोराशिमभ्यनन्दद्विशां पतिः ॥१४॥
निपतन्निर्झरारावैराह्वयन्तमिवामरान् । त्रिजगद्गुरुमेत्याराात् सेवध्वमिति सादरम् ॥१५॥
मरुदान्दोलितोदग्रशाखाग्रैस्तटपादपैः । प्रतोषादिव नृत्यन्तं विकासिकुसुमस्मितैः ॥१६॥
तटनिर्झरसंपातैर्दातुं पाद्यमिवोद्यतम् । वन्दारो[2]र्भव्यवृन्दस्य विष्वगास्कन्दतो[3] जिनम् ॥१७॥
शिखरोल्लि[4]खिताम्भोदपटलोद्गी[5]र्णवारिभिः । दावभीत्येव सिञ्चन्तं स्वपर्यन्तलतावनम् ॥१८॥
शुचिग्राव[6]विनिर्माणैः शिखरैः स्थगिताम्बरैः । गतिप्रसरमर्कस्य न्यक्कुर्वाणमिवोच्छ्रितैः ॥१९॥
क्वचित् किंनरसंभोग्यैः[7] क्वचित् पन्नगसेवितैः । क्वचिच्च [8]खचराक्रीडै[9]र्वनैराविष्कृतश्रियम् ॥२०॥
क्वचिद्विरलनीलांशुमिलितैः स्फटिकोपलैः । शशाङ्कमण्डलाशङ्कामातन्वन्तं[10] नभोजुषाम् ॥२१॥
हरिन्मणिप्रभाजालैर्भाजालैश्च प्रभाश्मनाम्[11] । क्वचिदिन्द्रधनुर्लेखामालिखन्तं नभोऽङ्गणे ॥२२॥

क्रमसे कैलास पर्वतके समीप जा पहुँची ॥११॥ तदनन्तर चक्रवर्तीने कैलास पर्वतको समीप ही देखकर सेनाओंको वही पासमें ठहरा दिया और स्वयं जिनेन्द्र भगवान्‌की पूजा करनेके लिए प्रस्थान किया ॥१२॥ जिस प्रकार सौधर्म इन्द्रके पीछे-पीछे देदीप्यमान मुकुटको धारण करनेवाले अनेक देव जाते है उसी प्रकार आगे-आगे जाते हुए अतिशय कान्तिमान् महाराज भरतके पीछे-पीछे देदीप्यमान मुकुटको धारण करनेवाले अनेक राजा लोग जा रहे थे ॥१३॥ जिसकी क्रान्ति शरदृऋतुके बादलोके समान है और इसीलिए जो जिनेन्द्र भगवान्‌के यशके समूहके समान जान पडता है ऐसे उस कैलास पर्वतको वहुत शीघ्र पाकर महाराज भरत वहुत ही प्रसन्न हुए ॥१४॥ जो पड़ते हुए झरनोके शब्दोंसे ऐसा जान पड़ता है मानो समीप आकर तीनों जगत्‌के गुरु भगवान् वृषभदेवकी सेवा करो इस प्रकार देव लोगोंको आदरपूर्वक वुला ही रहा हो – जिनकी ऊँची-ऊँची शाखाओंके अग्रभाग वायुके द्वारा हिल रहे है और जिनपर फूले हुए फूल उनके मन्द हास्यके समान मालूम होते है ऐसे अपने किनारोपर-के वृक्षोंसे जो ऐसा जान पड़ता है मानो सन्तोषसे नृत्य ही कर रहा हो—जो किनारोंपर-से झरनोके पड़नेसे ऐसा जान पडता है मानो जिनेन्द्र भगवान्‌की वन्दना करनेके लिए चारों ओरसे आते हुए भव्य जीवों-के समूहके लिए पैर धोनेके लिए जल देनेको ही उद्यत हुआ हो – जो शिखरोंसे विदीर्ण हुए बादलोके समूहसे गिरते हुए जलसे ऐसा जान पड़ता है मानो दावानलके डरसे अपने समीपवर्ती लताओंके वनको सीच ही रहा हो—जो स्फटिक मणिके सफेद पत्थरोसे वने हुए और आकाश-को घेरनेवाले अपने ऊँचे-ऊँचे शिखरोसे ऐसा जान पड़ता है मानो सूर्यकी गतिके फैलावको रोक ही रहा हो—जिनमे कही तो किन्नर जातिके देव सम्भोग कर रहे है, कही नागकुमार जाति-के देव सेवा कर रहे है और कही विद्याधर लोग क्रीडा करते है ऐसे अनेक वनोसे जिसकी शोभा प्रकट हो रही है – जो कहीपर कुछ-कुछ नीलमणियोकी किरणोसे मिले हुए स्फटिक मणियोंके पत्थरोसे देवोको चन्द्रमण्डलकी आशंका उत्पन्न करता रहता है । जो कहींपर हरे रंगके मणियों-की प्रभाके समूहसे और स्फटिक मणियोंकी प्रभाके समूहसे आकाशरूपी आँगनमे इन्द्रधनुष-की रेखा लिख रहा था । कहीपर पद्मराग मणियोंकी किरणोसे मिले हुए स्फटिक मणियोंकी किरणोसे जिसके किनारेका समीपभाग कुछ-कुछ लाली लिये हुए सफेद रगका हो गया है और

१ कैलासम् । २ वन्दनशीलस्य । ३ आगच्छत. । ४ विदारित । ५ उद्गत । ६ स्फटिकपाषाण । ७ सभोगै. द०, अ०, स० । ८ खेचरा–प० । ९ खचराणाम् आसमन्तात् क्रीडा येषु तानि । १० -मातन्वान–द०, ल०, अ०, स०, इ० । ११ पद्मरागाणाम् ।

पद्मरागांशुभिर्भिन्नैः[1] स्फटिकोपलरश्मिभिः । आरक्तश्वेतवप्रान्तं[2] किलासिनमिव[3] क्वचित् ॥२३॥
क्वचिद्विश्लिष्ट[4]शैलेयपटलैर्बहुदद्रुणैः[5] । मृगेन्द्रनखरोल्लेखसहैर्गण्डोपलैस्ततम् ॥२४॥
क्वचिद्गुहान्तराद् गुञ्जन्मृगेन्द्रप्रतिनादिनीः । तटीर्दधानमुद्बद्धमदैः परिहृतागजैः ॥२५॥
क्वचित् सितोपलोत्संगचारिणीरमराङ्गनाः[6] । बिभ्राणं शरदभ्रान्तर्वर्तिनीरिव विद्युतः ॥२६॥
तमित्यद्भुतया लक्ष्म्या परीतं भूभृतां पतिम् । स्वमिवालङ्घ्यमालोक्य चक्रपाणिरगान्मुदम् ॥२७॥
गिरेरधस्तले दूराद् वाहनादिपरिच्छदम् । विहाय पादचारेण ययौ किल स धर्मधीः ॥२८॥
पद्भ्यामारोहतोऽस्याद्रिं नासीत् खेदो मनागपि । हितार्थिनां हि खेदाय नात्मनीनः[7] क्रियाविधिः ॥२९॥
आरुरोह स तं शैलं सुरशिल्पिविनिर्मितैः । विविक्तैर्मणिसोपानैस्स्वर्गस्येवाधिरोहणैः ॥३०॥
अधित्यकासु[8] सोऽस्याद्रेः प्रस्थाय वनराजिषु । लम्भितो[9]ऽतिथिसत्कारमिव शीतैर्वनानिलैः ॥३१॥
क्वचिदुत्फुल्लमन्दारवणवीथीविहारिणीः । विविक्त[10]सुमनोभूषाः सोऽपश्यद्वनदेवताः ॥३२॥
क्वचिद्वनान्तसंसुप्तनिजशावानुशायिनीः । मृगीरपश्यदारब्ध[11]मृदुरोमन्थमन्थराः ॥३३॥
क्वचिन्नि[12]कुञ्जसंसुप्तान् बृहतः शयु[13]पोतकान् । [14]पुरीतन्निकरानद्रेरिवापश्यत्स पुञ्जितान् ॥३४॥
क्वचिद् गजमदामोदवासितान् गण्डशैलकान् । ददर्श[15] हरिरारोषादुल्लिखन्नखराङ्कुरैः ॥३५॥

इसलिए जो ऐसा जान पड़ता है मानो उसे किल्लास (कुष्ठ) रोग ही हो गया हो। जिनपर कहीं-कहीं अनेक धातुओंके टुकड़े टूट-टूटकर पड़े हैं तथा जो सिंहोंके नखोंका आघात सहनेवाली हैं और इसलिए जो ऐसी जान पड़ती हैं मानो उनपर बहुत-सा दाद हो गया हो ऐसी अनेक चट्टानों-से जो व्याप्त हो रहा है। कहीं-कहींपर जिनमें गुफाओंके भीतर गरजते हुए सिंहोंकी प्रतिध्वनि व्याप्त हो रही है और इसीलिए जिन्हें मदोन्मत्त हाथियोंने छोड़ दिया है ऐसे अनेक किनारोंको जो धारण कर रहा है—और जो कहीं-कहींपर शरदऋतुके बादलोंके भीतर रहनेवाली बिज-लियोंके समान स्फटिक मणियोंकी शिलाओंपर चलनेवाली देवांगनाओंको धारण कर रहा है—इस प्रकार अद्भुत शोभासे सहित उस कैलास पर्वतको देखकर चक्रवर्ती भरत बहुत ही आनन्दको प्राप्त हुए। और उसका खास कारण यह था कि चक्रवर्तीके समान ही अलघ्य था और भूभृत् अर्थात् पर्वतों (पक्षमें राजाओं) का अधिपति था ॥१५–२७॥ धर्मबुद्धिको धारण करनेवाले महाराज भरत पर्वतके नीचे दूरसे ही सवारी आदि परिकरको छोड़कर पैदल चलने लगे ॥२८॥ पर्वतपर पैदल चढ़ते हुए भरतको थोड़ा भी खेद नहीं हुआ था सो ठीक ही है क्योंकि कल्याण चाहनेवाले पुरुषोंको आत्माका हित करनेवाली क्रियाओंका करना खेद-के लिए नहीं होता है ॥२९॥ स्वर्गकी सीढ़ियोंके समान देवरूपी कारीगरोंके द्वारा बनायी हुई पवित्र मणिमयी सीढ़ियोंके द्वारा महाराज भरत उस कैलास पर्वतपर चढ़ रहे थे ॥३०॥ चढ़ते-चढ़ते वे उस पर्वतके ऊपरकी भूमिपर जा पहुँचे और वहाँ उन्होंने वनकी पंक्तियोंमें वनकी शीतल वायुके द्वारा मानो अतिथिसत्कार ही प्राप्त किया था ॥३१॥ वहाँ उन्होंने कहीं तो फूले हुए मन्दार वनकी गलियोंमें घूमती हुई तथा फूलोंके पवित्र आभूषण धारण किये हुई वनदेवियोंको देखा ॥३२॥ कहीं वनके भीतर अपने बच्चोंके साथ लेटी हुई और धीरे-धीरे रोमन्थ करती हुई हरिणियोंको देखा ॥३३॥ कहीं संकुचित होकर सोते हुए और एक जगह इकट्ठे हुए अजगरके उन बड़े-बड़े बच्चोंको देखा जो कि उस पर्वतकी अंतड़ियोंके समूहके समान जान पड़ते थे ॥३४॥ और कहींपर हाथियोंके मदसे सुवासित बड़ी-बड़ी काली चट्टानोंको हाथी

---

१ मिलितैः । २ पाटलसान्वन्तम् । 'श्वेतरक्तस्तु पाटलः' इत्यभिधानात् । ३ सिध्मलम् । 'किलासी सिध्मलः' इत्यभिधानात् । ४ शिथिलितकुसुमसमूहैः । ५ दद्रुरोगिसदृशैः । 'दद्रुणो दद्रुरोगी स्याद्' इत्यभिधानात् । ६ स्फटिकशिलामध्य । ७ आत्महित । ८ ऊर्ध्वभूमिषु । ९ प्रापित । १० विभिन्न । ११ उपक्रान्त । १२ निकुञ्ज ल०, द०, अ०, प०, इ०, स० । १३ अजगरशिशून् । १४ अन्त्रसमूहान् । १५ दृश्यते स्म ।

शाखामृगा[1] मृगेन्द्राणां गर्जितैरिह तर्जिताः । पुञ्जीभूता निकुञ्जेषु पश्य तिष्ठन्ति साध्वसात् ॥४६॥
मुनीन्द्रपाठनिर्घोषैरितो रम्यमिदं वनम् । तृणाग्रकवलग्रासिकुरंगकुलसंकुलम् ॥४७॥
इतश्च हरिणाराति[2] कठोरारवभीषणम् । विमुक्तकवलच्छेदप्रपलायितकुञ्जरम् ॥४८॥
जरज्जरन्त[3] शृङ्गाग्रक्षतवल्मीकरोधसः[4] । इतो रम्या वनोद्देशा वराहोत्खातपल्वलाः[5] ॥४९॥
मृगैः प्रविष्टवेशन्तै[6] र्वंशस्तम्बोपगै[7] र्गजैः । सूच्यते हरिणाक्रान्तं वनमेतद् भयानकम् ॥५०॥
वनप्रवेशिभिर्नित्यं नित्यं स्थण्डिलशायिभिः । न मुच्यतेऽयमद्रीन्द्रो मृगैर्मुनिगणैरपि ॥५१॥
इति प्रशान्तो रौद्रश्च सदैवायं धराधरः । सन्निधानाज्जिनेन्द्रस्य शान्त एवाधुना पुनः ॥५२॥
गजैः पश्य मृगेन्द्राणां संवासमिह[8] कानने । नखरक्षतमार्गेषु[9] स्वैरमास्पृशतामिमान् ॥५३॥
[10]चारणाध्युपितानेते [11]गुहोत्संगानशङ्किताः । विशन्त्यनुगताः शावैः पाकसत्त्वैः[12] समं मृगाः[13] ॥५४॥
अहो परममाश्चर्यं तिरश्चामपि यद्गणैः । अनुयातं[14] मुनीन्द्राणामज्ञातभयसंपदाम् ॥५५॥
सोऽयमष्टापदैर्जुष्टो[15] मृगैरन्वर्थनामभिः[16] । पुनरष्टापदख्यातिं पुरैति[17] त्वदुपक्रमम्[18] ॥५६॥
स्फुरन्मणितटोपान्तं तारकाचक्रमापतत्[19] । न याति व्यक्तिमस्याद्रेस्तद्रोचिश्छन्नमण्डलम् ॥५७॥

गयी है और जो मदरूपी जलसे मलिन हो रहे हैं ऐसे इस वनके वृक्ष हाथियोकी वनक्रीड़ाको साफ-साफ सूचित कर रहे है ॥४५॥ इधर देखिए, सिहोकी गर्जनासे डरे हुए ये बन्दर भयसे इकट्ठे होकर लतामण्डपोमे बैठे हुए हैं ॥४६॥ यह वन इधर तो बड़े-बड़े मुनियोके पाठ करनेके शब्दोसे रमणीय हो रहा है और इधर तृणोंके अग्रभागका ग्रास खानेवाले हरिणोके समूहसे व्याप्त हो रहा है ॥४७॥ इधर सिहोके कठोर शब्दोसे भयंकर हो रहा है और इधर खाना-पीना छोडकर हाथियोके समूह भाग रहे है ॥४८॥ इधर, जिनमे वृद्ध जगली भैसाओने सीगोकी नोकसे बामियोके किनारे खोद दिये है और सूअरोने छोटे-छोटे तालाव खोद डाले है ऐसे ये सुन्दर-सुन्दर वनके प्रदेश है ॥४९॥ छोटे-छोटे तालावोमे घुसे हुए हरिणो और बाँसकी झाडियोके समीप छिपकर खड़े हुए हाथियोसे साफ-साफ सूचित होता है कि इस भयकर वनपर अभी-अभी सिंहने आक्रमण किया है ॥५०॥ सदा वनमे प्रवेश करनेवाले और सदा जमीनपर सोनेवाले हरिण और मुनियोके समूह इस वनको कभी नही छोड़ते है ॥५१॥ इस प्रकार यह पर्वत सदा शान्त और भयंकर रहता है परन्तु इस समय श्री जिनेन्द्रदेवके सन्निधानसे शान्त ही है ॥५२॥ इधर, इस वनमे सिहोंका हाथियोके साथ सहवास देखिए, ये सिंह अपने नखोसे किये हुए हाथियोके घावोका इच्छानुसार स्पर्श कर रहे है ॥५३॥ जिनके पीछे-पीछे वच्चे चल रहे हैं ऐसे हरिण, सिह, व्याघ्र आदि दुष्ट जीवोंके साथ-साथ चारण-मुनियोसे अधिष्ठित गुफाओंमें निर्भय होकर प्रवेश करते हैं ॥५४॥ अहा, वड़ा आश्चर्य है कि पशुओके समूह भी, जिन्हे वनके भय और शोभाका कुछ भी पता नही है ऐसे मुनियोके पीछे-पीछे फिर रहे है ॥५५॥ सार्थक नामको धारण करनेवाले अष्टापद नामके जीवोसे सेवित हुआ यह पर्वत आपके चढनेके बाद अष्टापद नामको प्राप्त होगा ॥५६॥ जिसपर अनेक मणि देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसे इस पर्वतके किनारेके समीप आता हुआ नक्षत्रोका समूह उन मणियोकी किरणोसे अपना मण्डल तिरोहित हो जानेसे प्रकटताको प्राप्त नही हो रहा है । भावार्थ —

१ मर्कटा. । २ सिंह । ३ वृद्धमहिष । ४ वामलूरतटा. । 'वामलूरश्च नाकुश्च वल्मीक पुन्नपुंसकम्' इत्यभिधानात् । ५ अल्पसरोवरा. । ६ पल्वलै । 'वेशन्त पल्वलं चाल्पसर' इत्यभिधानात् । ७ वेणुपुञ्जसमीपगैः । ८ सहवासम् । ९ नखरक्षतकीर्णपवितपु । १० चारणमुनिभिराश्रितान् । ११ गुहामध्यान् । १२ सिंहशार्दूलादिक्रूरमृगैः । १३ हरिणादय. । १४ अनुगतम् । १५ सेवित । १६ सार्थाऽभिधानैः । १७ भविष्यत्काले आगमिष्यति । १८ त्वया प्रथमोपक्रम यथा भवति तथा । १९ आगच्छत् ।

किंचिदन्तरमारुह्य पश्यन्नद्रेः परां श्रियम् । प्राप्तावसरमित्यूचे वचनं च पुरोधसा ॥३६॥
पश्य देव गिरेरस्य प्रदेशान्बहुविस्मयान् । रमन्ते त्रिदशा यत्र स्वर्गावासेऽप्यनादराः ॥३७॥
पर्याप्तमेतदेवास्य प्राभवं भुवनातिगम् । देवो यदेनमध्यास्ते चराचरगुरुः पुरुः ॥३८॥
महाद्रिरयमुत्संगसंगिनीः सरिदङ्गनाः । शश्वद् बिभर्ति कामीव गलन्नीलजलांशुकाः ॥३९॥
क्रीडाहेतोरहिंस्रोऽपि[1] मृगेन्द्रो गिरिकन्दरात् । महाहिमयमाकर्षन्दैर्घ्यान्मुञ्चत्यपारयन्[2] ॥४०॥
सर्वद्वन्द्व[3]सहान्सार्वान्[4] जनतातापहारिणः । मुनीनिव वनाभोगानेष[5] धत्तेऽधिमेखलम् ॥४१॥
हरीन्नखरनिर्भिन्नमदद्विरदमस्तकान् । निर्झरैः पापभीत्येव तर्जयत्येष सारवैः[6] ॥४२॥
धत्ते सानुचरान्[7] भद्रान् उच्चैर्वंशान्[8] स्ववग्रहान्[9] । वनद्विपानयं शैलो भवानिव महीभुजः[10] ॥४३॥
ध्वनतो घनसंघातान्[11] शरभा रभसादमी । द्विरदाशङ्कयोत्पत्य पतन्तो यान्ति शोच्यताम् ॥४४॥
कपोलकाषसंरुग्णत्वचो[12] मदजलाविलाः[13] । द्विपानां वनसंभोगं सूचयन्तीह[14] शाखिनः ॥४५॥

समझकर नखरूपी अंकुरोसे विदारण करता हुआ सिंह देखा ॥३५॥ भरत महाराज कुछ दूर आगे चढकर जब पर्वतकी शोभा देखने लगे तब पुरोहितने अवसर पाकर नीचे लिखे अनुसार वचन कहे ॥३६॥ हे देव, इस पर्वतके अनेक आश्चर्योसे भरे हुए उन प्रदेशोको देखिए जिन-पर कि देव लोग भी स्वर्गवासमें अनादर करते हुए क्रीड़ा कर रहे है ॥३७॥ समस्त लोकको उल्लंघन करनेवाली इस पर्वतकी महिमा इतनी ही बहुत है कि चर और अचर–सभीके गुरु भगवान् वृषभदेव इसपर विराजमान हैं ॥३८॥ यह महापर्वत अपनी गोदी अर्थात् नीचले मध्यभागमे रहनेवाली और जिनके नीले जलरूपी वस्त्र छूट रहे हैं ऐसी नदीरूपी स्त्रियोंको कामी पुरुषकी तरह सदा धारण करता है ॥३९॥ यह सिंह अहिंसक होनेपर भी केवल क्रीड़ा-के लिए पर्वतकी गुफामे-से एक बड़े भारी सर्पको खीच रहा है परन्तु लम्बा होनेसे खीचनेके लिए असमर्थ होता हुआ उसे छोड़ भी रहा है ॥४०॥ यह पर्वत अपने तटभागपर ऐसे अनेक वनके प्रदेशोको धारण करता है जो कि ठीक मुनियोंके समान जान पड़ते हे क्योकि जिस प्रकार मुनि सब प्रकारके द्वन्द्व अर्थात् शीत उष्ण आदिकी बाधा सहन करते हैं उसी प्रकार वे वनके प्रदेश भी सब प्रकारके द्वन्द्व अर्थात् पशुपक्षियो आदिके युगल सहन करते हैं,—धारण करते हैं, जिस प्रकार मुनि सबका कल्याण करते है उसी प्रकार वनके प्रदेश भी सबका कल्याण करते है और जिस प्रकार मुनि जनसमूहके सन्ताप अर्थात् मानसिक व्यथाको दूर करते है उसी प्रकार वनके प्रदेश भी संताप अर्थात् सूर्यके घामसे उत्पन्न हुई गरमीको दूर करते हैं ॥४१॥ यह पर्वत शब्द करते हुए झरनोसे ऐसा जान पड़ता है मानो जिन्होने अपने नखोसे मदोन्मत्त हाथियो-के मस्तक विदारण किये है ऐसे सिहोको पापके डरसे तर्जना ही कर रहा हो–डाट ही दिखा रहा हो ॥४२॥ हे नाथ, जिस प्रकार आप सानुचर अर्थात् सेवकोंसहित, भद्र, उच्च कुलमे उत्पन्न हुए और उत्तम शरीरवाले अनेक राजाओंको धारण करते है–उन्हे अपने अधीन रखते है, उसी प्रकार यह पर्वत भी सानुचर अर्थात् शिखरोपर चलनेवाले, पीठपर-की उच्च रीढ़से युक्त और उत्तम शरीरवाले भद्र जातिके जंगली हाथियोको धारण करता है ॥४३॥ इधर ये अष्टापद, गरजते हुए मेघोके समूहको हाथी समझकर उनपर उछलते हैं परन्तु फिर नीचे गिरकर शोचनीय दशाको प्राप्त हो रहे हैं ॥४४॥ कपोलोके घिसनेसे जिनकी छाल घिस

---

१ अघातुकोऽपि । २ समर्थो भूत्वा । ३ प्राणियुगल, पक्षे दु ख । ४ सर्वहितान् । ५ गिरि । ६ ध्वनिसहितैः । ७ सानुषु चरन्तीति सानुचरास्तान्, पक्षे अनुचरैः सहितान् । ८ उन्नतपृष्ठास्थीन्, पक्षे इक्ष्वाक्वादिवंशान् । ९ स्वविग्रहान् ट० । शोभनललाटान् । 'अवग्रहो ललाट स्याद्' इत्यभिधानात् । पक्षे—सुष्ठु स्वतन्त्रतानिषेधान् । 'अवग्रह इति ख्यातो वृष्टिरोधे गजालिके । स्वतन्त्रतानिषेधेऽपि प्रतिबन्धेऽप्यवग्रह.' इत्यभिधानात् । १० भूपतीन् । ११ मेघसमूहान् । १२ गण्डस्थलनिघर्षणप्रभग्न । १३ आर्द्रा. । १४ गिरौ ।

किंचिदन्तरमारुह्य पश्यन्नद्रेः परां श्रियम् । प्राप्तावसरमित्यूचे वचनं च पुरोधसा ॥३६॥
पश्य देव गिरेरस्य प्रदेशान्बहुविस्मयान् । रमन्ते त्रिदशा यत्र स्वर्गावासेऽप्यनादृताः ॥३७॥
पर्याप्तमेतदेवास्य प्राभवं भुवनातिगम् । देवो यदेनमध्यास्ते चराचरगुरुः पुरुः ॥३८॥
महाद्रिरयमुत्संगसंगिनीः सरिदङ्गनाः । शश्वद् बिभर्ति कामीव गलन्नीलजलांशुकाः ॥३९॥
क्रीडाहेतोरहिंस्रोऽपि[1] मृगेन्द्रो गिरिकन्दरात् । महाहिमयमाकर्षन्दैर्घ्यान्मुञ्चन्नपारयन्[2] ॥४०॥
सर्वद्वन्द्व[3]सहान्सार्वान्[4] जनतातापहारिणः । मुनीनिव वनाभोगानेष[5] धत्तेऽधिमेखलम् ॥४१॥
हरीन्नखरनिर्भिन्नमदद्विरदमस्तकान् । निर्झरैः पापभीत्येव तर्जयत्येष सारवैः[6] ॥४२॥
धत्ते सानुचरान्[7] भद्रान् उच्चैर्वंशान्[8] स्ववग्रहान्[9] । वनद्विपानयं शैलो भवानिव महीभुजः[10] ॥४३॥
ध्वनतो घनसंघातान्[11] शरभा रभसादमी । द्विरदाशङ्कयोत्पत्य पतन्तो यान्ति शोच्यताम् ॥४४॥
कपोलकाषसंरुग्णत्वचो[12] मदजलाविलाः[13] । द्विपानां वनसंभोगं सूचयन्तीह[14] शाखिनः ॥४५॥

समझकर नखरूपी अंकुरोसे विदारण करता हुआ सिंह देखा ॥३५॥ भरत महाराज कुछ दूर आगे चढकर जब पर्वतकी शोभा देखने लगे तब पुरोहितने अवसर पाकर नीचे लिखे अनुसार वचन कहे ॥३६॥ हे देव, इस पर्वतके अनेक आश्चर्योंसे भरे हुए उन प्रदेशोंको देखिए जिन-पर कि देव लोग भी स्वर्गवासमें अनादर करते हुए क्रीड़ा कर रहे हैं ॥३७॥ समस्त लोकको उल्लंघन करनेवाली इस पर्वतकी महिमा इतनी ही बहुत है कि चर और अचर—सभीके गुरु भगवान् वृषभदेव इसपर विराजमान हैं ॥३८॥ यह महापर्वत अपनी गोदी अर्थात् नीचले मध्यभागमे रहनेवाली और जिनके नीले जलरूपी वस्त्र छूट रहे हैं ऐसी नदीरूपी स्त्रियोंको कामी पुरुषकी तरह सदा धारण करता है ॥३९॥ यह सिंह अहिंसक होनेपर भी केवल क्रीड़ा-के लिए पर्वतकी गुफामें-से एक बडे भारी सर्पको खीच रहा है परन्तु लम्बा होनेसे खीचनेके लिए असमर्थ होता हुआ उसे छोड भी रहा है ॥४०॥ यह पर्वत अपने तटभागपर ऐसे अनेक वनके प्रदेशोको धारण करता है जो कि ठीक मुनियोंके समान जान पड़ते हैं क्योंकि जिस प्रकार मुनि सब प्रकारके द्वन्द्व अर्थात् शीत उष्ण आदिकी बाधा सहन करते हैं उसी प्रकार वे वनके प्रदेश भी सब प्रकारके द्वन्द्व अर्थात् पशुपक्षियो आदिके युगल सहन करते हैं,—धारण करते हैं, जिस प्रकार मुनि सबका कल्याण करते हैं उसी प्रकार वनके प्रदेश भी सबका कल्याण करते हैं और जिस प्रकार मुनि जनसमूहके सन्ताप अर्थात् मानसिक व्यथाको दूर करते हैं उसी प्रकार वनके प्रदेश भी संताप अर्थात् सूर्यके घामसे उत्पन्न हुई गरमीको दूर करते हैं ॥४१॥ यह पर्वत शब्द करते हुए झरनोसे ऐसा जान पड़ता है मानो जिन्होने अपने नखोसे मदोन्मत्त हाथियो-के मस्तक विदारण किये हैं ऐसे सिहोंको पापके डरसे तर्जना ही कर रहा हो—डाट ही दिखा रहा हो ॥४२॥ हे नाथ, जिस प्रकार आप सानुचर अर्थात् सेवकोसहित, भद्र, उच्च कुलमे उत्पन्न हुए और उत्तम शरीरवाले अनेक राजाओंको धारण करते हैं—उन्हे अपने अधीन रखते हैं, उसी प्रकार यह पर्वत भी सानुचर अर्थात् शिखरोपर चलनेवाले, पीठपर-की उच्च रीढसे युक्त और उत्तम शरीरवाले भद्र जातिके जंगली हाथियोको धारण करता है ॥४३॥ इधर ये अष्टापद, गरजते हुए मेघोके समूहको हाथी समझकर उनपर उछलते हैं परन्तु फिर नीचे गिरकर शोचनीय दशाको प्राप्त हो रहे है ॥४४॥ कपोलोंके घिसनेसे जिनकी छाल घिस

---

१ अघातुकोऽपि । २ समर्थो भूत्वा । ३ प्राणियुगल, पक्षे दु ख । ४ सर्वहितान् । ५ गिरि. । ६ ध्वनिसहितैः । ७ सानुषु चरन्तीति सानुचरास्तान्, पक्षे अनुचरैः सहितान् । ८ उन्नतपृष्ठास्थीन्, पक्षे इक्ष्वाक्वादिवंशान् । ९ स्वविग्रहान् ट० । शोभनललाटान् । 'अवग्रहो ललाट स्याद्' इत्यभिधानात् । पक्षे—सुष्ठु स्वतन्त्रतानिषे-धान् । 'अवग्रह इति ख्यातो वृष्टिरोधे गजालिके । स्वतन्त्रतानिषेधेऽपि प्रतिबन्धेऽप्यवग्रहः' इत्यभिधानात् । १० भूपतीन् । ११ मेघसमूहान् । १२ गण्डस्थलनिघर्षणभग्न । १३ आर्द्रा. । १४ गिरौ ।

शाखामृगा[1] मृगेन्द्राणां[2] गर्जितैरिह तर्जिताः । पुञ्जीभूता निकुञ्जेपु पश्य तिष्ठन्ति साध्वसात् ॥४६॥
मुनीन्द्रपाठनिर्घोषैरितो रम्यमिदं वनम् । तृणाग्रकवलग्रासिकुरंगकुलसंकुलम् ॥४७॥
इतश्च हरिणाराति[2] कठोरारवभीषणम् । विमुक्तकवलच्छेदप्रपलायितकुञ्जरम् ॥४८॥
जरज्जरन्त[3]श्रृङ्गाग्रक्षतवल्मीकरोधसः[4] । इतो रम्या वनोद्देशा वराहोत्खातपल्वलाः[5] ॥४९॥
मृगैः प्रविष्टवेशन्तै[6]र्वंशस्तम्बोपगै[7]र्गजैः । सूच्यते हरिणाक्रान्तं वनमेतद् भयानकम् ॥५०॥
वनप्रवेशिभिर्नित्यं नित्यं स्थण्डिलशायिभिः । न मुच्यतेऽयमद्रीन्द्रो मृगैर्मुनिगणैरपि ॥५१॥
इति प्रशान्तो रौद्रश्च सदैवायं धराधरः । सन्निधानाज्जिनेन्द्रस्य शान्त एवाधुना पुनः ॥५२॥
गजैः पश्य मृगेन्द्राणां संवासमिह[8] कानने । नखरक्षतमार्गेपु[9] स्वैरमास्पृशतामिमान् ॥५३॥
[10]चारणाध्युषितानेते [11]गुहोत्संगानशङ्किताः । विशन्त्यनुगताः शावैः पाकसत्त्वैः[12] समं मृगाः[13] ॥५४॥
अहो परममाश्चर्यं तिरश्चामपि यद्गणैः । अनुयातं[14] मुनीन्द्राणामज्ञातभयसंपदाम् ॥५५॥
सोऽयमष्टापदैर्जुष्टो[15] मृगैरन्वर्थनामभिः[16] । पुनरष्टापदख्यातिं पुरेति[17] त्वदुपक्रमम्[18] ॥५६॥
स्फुरन्मणितटोपान्तं तारकाचक्रमापतत्[19] । न याति व्यक्तिमस्याद्रेस्तद्रोचिश्छन्नमण्डलम् ॥५७॥

गयी है और जो मदरूपी जलसे मलिन हो रहे हैं ऐसे इस वनके वृक्ष हाथियोंकी वनक्रीड़ाको साफ-साफ सूचित कर रहे है ॥४५॥ इधर देखिए, सिंहोकी गर्जनासे डरे हुए ये वन्दर भयसे इकट्ठे होकर लतामण्डपोमें वैठे हुए है ॥४६॥ यह वन इधर तो वड़े-वडे मुनियोके पाठ करनेके शव्दोंसे रमणीय हो रहा है और इधर तृणोंके अग्रभागका ग्रास खानेवाले हरिणोके समूहसे व्याप्त हो रहा है ॥४७॥ इधर सिहोके कठोर शव्दोसे भयंकर हो रहा है और इधर खाना-पीना छोड़कर हाथियोके समूह भाग रहे हैं ॥४८॥ इधर, जिनमें वृद्ध जंगली भैंसाओने सीगोकी नोकसे वामियोके किनारे खोद दिये है और सूअरोने छोटे-छोटे तालाव खोद डाले है ऐसे ये सुन्दर-सुन्दर वनके प्रदेश हैं ॥४९॥ छोटे-छोटे तालावोमे घुसे हुए हरिणो और वाँसकी झाडियोके समीप छिपकर खड़े हुए हाथियोसे साफ-साफ सूचित होता है कि इस भयकर वनपर अभी-अभी सिंहने आक्रमण किया है ॥५०॥ सदा वनमे प्रवेश करनेवाले और सदा जमीनपर सोनेवाले हरिण और मुनियोके समूह इस वनको कभी नही छोडते है ॥५१॥ इस प्रकार यह पर्वत सदा शान्त और भयकर रहता है परन्तु इस समय श्री जिनेन्द्रदेवके सन्निधानसे शान्त ही है ॥५२॥ इधर, इस वनमे सिंहोंका हाथियोके साथ सहवास देखिए, ये सिंह अपने नखोसे किये हुए हाथियोके घावोंका इच्छानुसार स्पर्श कर रहे हैं ॥५३॥ जिनके पीछे-पीछे वच्चे चल रहे है ऐसे हरिण, सिह, व्याघ्र आदि दुष्ट जीवोके साथ-साथ चारण-मुनियोंसे अधिष्ठित गुफाओमें निर्भय होकर प्रवेश करते हैं ॥५४॥ अहा, वड़ा आश्चर्य है कि पशुओके समूह भी, जिन्हे वनके भय और शोभाका कुछ भी पता नही है ऐसे मुनियोंके पीछे-पीछे फिर रहे हैं ॥५५॥ सार्थक नामको धारण करनेवाले अष्टापद नामके जीवोंसे सेवित हुआ यह पर्वत आपके चढ़नेके वाद अष्टापद नामको प्राप्त होगा ॥५६॥ जिसपर अनेक मणि देदीप्यमान हो रहे है ऐसे इस पर्वतके किनारेके समीप आता हुआ नक्षत्रोका समूह उन मणियोंकी किरणोसे अपना मण्डल तिरोहित हो जानेसे प्रकटताको प्राप्त नही हो रहा है। भावार्थ –

---

१ मर्कटा । २ सिंह । ३ वृद्धमहिष । ४ वामलूरतटा । 'वामलूरश्च नाकुश्च वल्मीकं पुन्नपुंसकम्' इत्यभिधानात् । ५ अल्पसरोवरा । ६ पल्वलैः । 'वेशन्तं पल्वलं चाल्पसरः' इत्यभिधानात् । ७ वेणुपुञ्जसमीपगैः । ८ सहवासम् । ९ नखरक्षतकीर्णपंक्तिपु । १० चारणमुनिभिराश्रितान् । ११ गुहामध्यान् । १२ सिंहशार्दूलादिक्रूरमृगैः । १३ हरिणादयः । १४ अनुगतम् । १५ सेवितः । १६ सार्थाऽभिधानैः । १७ भविष्यत्काले आगमिष्यति । १८ त्वया प्रथमोपक्रमं यथा भवति तथा । १९ आगच्छन् ।

ज्वलन्त्योषधिजालेऽपि निशि नाभ्येति किन्नरः । तमोविशङ्कयाऽस्याद्रेरिन्द्रनीलमयीस्तटीः ॥५८॥
हरिन्मणितटोत्सर्पन्मयूखानत्र भूधरे । तृणाङ्कुरधियोपेत्य मृगा यान्ति विलक्ष्यताम्[1] ॥५९॥
सरोजराग[2]रत्नांशुच्छुरिता[3] वनराजयः । ततः संध्यातपेनेव [4]पुष्णन्तीह परां श्रियम् ॥६०॥
सूर्यांशुभिः परामृष्टाः सूर्यकान्ता ज्वलन्त्यमी । प्रायस्तेजस्विसंपर्कस्तेजः पुष्णाति तादृशम् ॥६१॥
इहेन्दुकरसंस्पर्शात्प्रक्षरन्तोऽप्यनुक्षपम्[5] । चन्द्रकान्ता न हीयन्ते[6] विचित्रा पुद्गलस्थितिः ॥६२॥
सुराणामभिगम्यत्वात् सिंहासनपरिग्रहात्[7] । महत्त्वादचलत्वाच्च गिरिरेष जिनायते ॥६३॥
शुद्धस्फटिकसंकाशनिर्मलोदारविग्रहः । शुद्धात्मेव शिवायास्तु तवायमचलाधिपः ॥६४॥
इति शंसति[8] तस्याद्रेः परां शोभां पुरोधसि । शंसाकूत[9] इवानन्दं परं प्राप परंतपः[10] ॥६५॥
किंचिच्चान्तरमुल्लङ्घ्य प्रसन्नेनान्तरात्मना । प्रत्यासन्नजिनास्थानं विदामास विदांवरः ॥६६॥
निपतत्पुष्पवर्षेण दुन्दुभीनां च निःस्वनैः । विदांबभूव[11] लोकेशमभ्यासकृतसंनिधिम्[12] ॥६७॥

किनारेके समीप संचार करते हुए नक्षत्रोंके समूहपर मणियोंकी कान्ति पड़ रही है जिससे वे मणियोंके समान ही जान पड़ते हैं, पृथक् रूपसे दिखाई नहीं देते हैं ॥५७॥ यद्यपि यहाँ रात्रिके समय ओषधियोंका समूह प्रकाशमान रहता है तथापि किन्नर जातिके देव अन्धकारकी आशंकासे इन्द्रनील मणियोंके बने हुए इस पर्वतके किनारोंके सम्मुख नहीं जाते हैं ॥५८॥ इस पर्वतपर हरित मणियोंके बने हुए किनारोंकी फैलती हुई किरणोंको हरी घासके अंकुर समझकर हरिण आते हैं परन्तु घास न मिलनेसे बहुत ही आश्चर्य और लज्जाको प्राप्त होते हैं ॥५९॥ इधर पद्मराग मणियोंकी किरणों-सी व्याप्त हुई वनकी पंक्तियाँ ऐसी उत्कृष्ट शोभा धारण कर रही हैं मानो उनपर सन्ध्याकालकी लाल-लाल धूप ही फैल रही हो ॥६०॥ ये सूर्यकान्त मणि सूर्यकी किरणोंका स्पर्श पाकर जल रही हैं सो ठीक ही है क्योंकि प्रायः तेजस्वी पदार्थका सम्बन्ध तेजस्वी पदार्थके तेजको पुष्ट कर देता है ॥६१॥ इस पर्वतपर चन्द्रमाकी किरणोंका स्पर्श होनेपर चन्द्रकान्त मणियोंसे यद्यपि प्रत्येक रात्रिको पानी झरता है तथापि ये कुछ भी कम नहीं होते सो ठीक ही है क्योंकि पुद्गलका स्वभाव बड़ा ही विचित्र है ॥६२॥ अथवा यह पर्वत ठीक जिनेन्द्रदेवके समान जान पड़ता है क्योंकि जिस प्रकार जिनेन्द्रदेवके समीप देव आते हैं उसी प्रकार इस पर्वतपर भी देव आते हैं, जिस प्रकार जिनेन्द्रदेवने सिंहासन स्वीकार किया है उसी प्रकार इस पर्वतने भी सिंहासन अर्थात् सिंहके आसनोंको स्वीकार किया है – इसपर जहाँ-तहाँ सिंह बैठे हुए हैं अथवा सिंह और असन वृक्ष स्वीकार किये हैं, जिस प्रकार जिनेन्द्रदेव महान् अर्थात् उत्कृष्ट हैं उसी प्रकार यह पर्वत भी महान् अर्थात् ऊँचा है और जिनेन्द्रदेव जिस प्रकार अचल अर्थात् अपने स्वरूपमें स्थिर हैं उसी प्रकार यह पर्वत भी अचल अर्थात् स्थिर है ॥६३॥ हे देव, जिसका उदार शरीर शुद्ध स्फटिकके समान निर्मल है ऐसा यह पर्वतराज कैलास शुद्धात्माकी तरह आपका कल्याण करनेवाला हो ॥६४॥ इस प्रकार जब पुरोहितने उस पर्वतकी उत्कृष्ट शोभाका वर्णन किया तब शत्रुओंको सन्तप्त करनेवाले महाराज भरत इस प्रकार परम आनन्दको प्राप्त हुए मानो सुखरूप ही हो गये हों ॥६५॥ विद्वानोंमें श्रेष्ठ भरत चक्रवर्ती प्रसन्न चित्तसे कुछ ही आगे बढ़े थे कि उन्हें वहाँ समीप ही जिनेन्द्रदेवका समवसरण जान पड़ा ॥६६॥ ऊपरसे पड़ती हुई पुष्पवृष्टिसे और दुन्दुभि बाजोंके शब्दोंसे उन्होंने जान

---

१ विस्मयताम् । २ पद्मराग । ३ मिश्रिताः । ४ वर्द्धयन्ति । ५ रात्रौ रात्रौ । ६ न कृशा भवन्ति । ७ हरिविष्टरस्वीकारात्, पक्षे सिंहानामशनवृक्षाणां च स्वीकारात् । ८ स्तुतिं कुर्वति सति । ९ सुखायत्तः । १० परं शत्रुं तापयतीति परंतपश्चक्री । ११ जानाति स्म । १२ समीपविहितस्थितिम् ।

मन्दारकुसुमोद्गन्धिरान्दोलितलतावनः । पवनस्तममीयाय[1] प्रत्युद्यन्निव पावनः ॥६८॥
सुमनोवृष्टिरापप्तदापूरितनभोङ्गणा । विरजीकृतभूलोकैः समं शीतैरपां[2] कणैः ॥६९॥
[3]शुश्रुवे ध्वनिरामन्द्रो दुन्दुभीनां नभोऽङ्गणे । श्रुतः केकिभिरुग्रीवैर्घनस्तनितशङ्किभिः ॥७०॥
गुल्फदघ्न[4]प्रसूनौघसंमर्दमृदुना पथा[5] । तमद्रिमेपमश्रान्तः[6] प्रययौ स नृपाग्रणीः ॥७१॥
ततोऽधिरुह्य तं शैलमपश्यत् सोऽस्य[7] मूर्धनि । प्रागुक्तवर्णनोपेतं जैनमास्थानमण्डलम् ॥७२॥
समेत्या[8]वसरावेक्षास्तिष्ठन्त्य[9]स्मिन् सुरासुरा । इति तज्ज्ञैर्निरुक्तं तत्सरणं समवादिकम्[10] ॥७३॥
आखण्डलधनुर्लेखामखण्डपरिमण्डलाम् । जनयन्तं निजोद्योतैर्धूलीसालमथासदत्[11] ॥७४॥
हेमस्तम्भाग्रविन्यस्तरत्नतोरणभासुरम् । धुलीसालमतीत्यासौ मानस्तम्भमपूजयत् ॥७५॥
मानस्तम्भस्य पर्यन्ते[12] सरसीः ससरोरुहाः । जैनीरिव श्रुतीः स्वच्छशीतलापो[13] ददर्श सः ॥७६॥
धूलीसालपरिक्षेपस्यान्तर्भागे समन्ततः । वीथ्यन्तरेषु सोऽपश्यद् देवावासोचिता भुवः[14] ॥७७॥
अतीत्य परतः किंचिद् ददर्श जलखातिकाम् । सुप्रसन्नामगाधां च मनोवृत्तिं सतामिव ॥७८॥
वल्लीवनं ततोऽद्राक्षीन्नानापुष्पलताततम् । पुष्पासवरसामत्तभ्रमद्भ्रमरसंकुलम् ॥७९॥

लिया था कि त्रिलोकीनाथ जिनेन्द्रदेव समीप ही विराजमान है ॥६७॥ मन्दार वृक्षोंके फूलों-से सुगन्धित और लताओंके वनको कम्पित करनेवाला वायु उनके सामने इस प्रकार आया था मानो उनकी अगवानी ही कर रहा हो ॥६८॥ जिन्होंने पृथ्वीको धूलिरहित कर दिया है ऐसी जलकी शीतल बूँदोंके साथ-साथ आकाशरूपी आँगनको भरती हुई फूलोंकी वर्षा पड़ रही थी ॥६९॥ जिन्हें मेघोंकी गर्जना समझनेवाले मयूर, अपनी गरदन ऊँची कर सुन रहे हैं ऐसे आकाशरूपी आँगनमे होनेवाले दुन्दुभि बाजोंके गम्भीर शब्द भी महाराज भरतने सुने थे ॥७०॥ राजाओमे श्रेष्ठ महाराज भरत, पैरकी गाँठो तक ऊँचे फैले हुए फूलोके सम्मर्दसे जो अत्यन्त कोमल हो गया है ऐसे मार्गके द्वारा बिना किसी परिश्रमके बाकी बचे हुए उस पर्वत-पर चढ गये थे ॥७१॥ तदनन्तर उस पर्वतपर चढकर भरतने उसके मस्तकपर पहले कही हुई रचनासे सहित जिनेन्द्रदेवका समवसरणमण्डल देखा ॥७२॥ इसमें समस्त सुर और असुर आकर दिव्य ध्वनिके अवसरकी प्रतीक्षा करते हुए बैठते हैं इसलिए जानकार गणधरादि देवोने इसका समवसरण ऐसा सार्थक नाम कहा है ॥७३॥

अथानन्तर—महाराज भरत, जो अपने प्रकाशसे अखण्ड मण्डलवाले इन्द्रधनुषकी रेखा-को प्रकट कर रहा है ऐसे धूलिसालके समीप जा पहुँचे ॥७४॥ सुवर्णके खम्भोके अग्रभागपर लगे हुए रत्नोके तोरणोसे जो अत्यन्त देदीप्यमान हो रहा है ऐसे धूलिसालको उल्लंघन कर उन्होने मानस्तम्भकी पूजा की ॥७५॥ जिनमें स्वच्छ और शीतल जल भरा हुआ है और कमल फूल रहे हैं ऐसी जिनेन्द्र भगवान्की वाणीके समान मानस्तम्भके चारो ओरकी बावड़ियाँ भी महाराज भरतने देखी ॥७६॥ धूलिसालकी परिधिके भीतर चारो ओरसे गलियोके बीच-बीचमे उन्होने देवोके निवास करने योग्य पृथ्वी भी देखी ॥७७॥ कुछ और आगे चलकर उन्होने जलसे भरी हुई परिखा देखी। वह परिखा सज्जन पुरुषोके चित्तकी वृत्तिके समान स्वच्छ और गम्भीर थी ॥७८॥ तदनन्तर जो अनेक प्रकारके फूलोकी लताओसे व्याप्त हो रहा है और जो फूलोंके आसवरूपी रससे मत्त होकर फिरते हुए भ्रमरोसे व्याप्त है ऐसा लता-

---

१ अभिमुखं जगाम । २ जलानाम् । ३ भरतेन श्रूयते स्म । ४ घुण्टिकप्रमाण । 'तद्ग्रन्थी घुण्टिके गुल्फौ' इत्यभिधानात् । ५ मार्गेण । ६ श्रमरहित । ७ कैलासस्य । ८ समागत्य । ९ प्रभोरवसरमालोकयन्त । १० समवसरणम् । ११ आगमत् । १२ पर्यन्तसरसी ल० । १३ शैत्यजलाः, पक्षे शान्तिजला. । १४ देव-प्रासादभूमी ।

ततः किंचित्पुरो गच्छन् सालमाद्यं व्यलोकयत् । निषधाद्रितटस्पर्धिवपुषं रत्नभाजुषम् ॥८०॥
सुरदौवारिकारक्ष्यतत्प्रतोलीतलाश्रितान् । सोऽपश्यन्मङ्गलद्रव्यभेदांस्तत्राष्टधा स्थितान् ॥८१॥
ततोऽन्तः प्रविशन्वीक्ष्य द्वितयं नाट्यशालयोः । प्रीतिं प्राप परां चक्री शक्रस्त्रीवर्तनोचितम् ॥८२॥
स धूपघटयोर्युग्मं तत्र वीथ्युभयान्तयोः । सुगन्धीन्धनसंदोहोद्गन्धिधूपं व्यलोकयत् ॥८३॥
कक्षान्तरे द्वितीयेऽस्मिन्नसौ वनचतुष्टयम् । निदध्यौ[1] विगलत्पुष्पैः कृतार्घमिव शाखिभिः ॥८४॥
[2]प्रफुल्लवनमाशोकं साप्तपर्णं च चाम्पकम् । आम्रेडितं वनं[3] प्रेक्ष्य सोऽभूदाम्रेडितोत्सवः[4] ॥८५॥
तत्र चैत्यद्रुमांस्तुङ्गान् जिनबिम्बैरधिष्ठितान् । पूजयामास लक्ष्मीवान् पूजितान्नृसुरेशिनाम् ॥८६॥
तत्र किन्नरनारीणां गीतैरामन्द्रमूर्च्छनैः । लेभे परां धृतिं चक्री गायन्तीनां जिनोत्सवम् ॥८७॥
सुगन्धिपवनामोदनिःश्वासा कुसुमस्मिता । वनश्रीः कोकिलालापैः संजजल्पेव[5] चक्रिणा ॥८८॥
भृङ्गीसंगीतसंमूर्च्छत्[6] कोकिलानकनिस्स्वनैः । अनङ्गविजयं जिष्णोर्वनानीवोद्घोषयन् ॥८९॥
त्रिजगज्जनताजस्रप्रवेशरभसोत्थितम् । तत्राश्रृणोन्महावोपमपां घोषमिवोदधेः ॥९०॥
वनवेदीमथापश्यद् वनरुद्धावने. परम् । वनराजीविलासिन्याः काञ्चीमिव कणन्मणिम्[7] ॥९१॥
तद्गोपुरावनिं क्रान्त्वा ध्वजरुद्धावनिं सुरान्[8] । आजुहू[9]षुमिवाऽपश्यन्मरुद्धूतैर्ध्वजांशुकैः ॥९२॥

वन देखा ॥७९॥ वहाँसे कुछ आगे जाकर उन्होने पहला कोट देखा जो कि निषध पर्वतके किनारेके साथ स्पर्धा कर रहा था और रत्नोंकी दीप्तिसे सुशोभित था ॥८०॥ देवरूप द्वारपाल जिसकी रक्षा कर रहे है ऐसे गोपुरद्वारके समीप रखे हुए आठ मगलद्रव्य भी उन्होने देखे ॥८१॥ तदनन्तर भीतर प्रवेश करते हुए चक्रवर्ती भरत इन्द्राणीके नृत्य करनेके योग्य दोनो ओरकी दो नाट्यशालाओको देखकर परम प्रीतिको प्राप्त हुए ॥८२॥ वहाँसे कुछ आगे चलकर मार्गके दोनो ओर बगलमे रखे हुए तथा सुगन्धित ईंधनके समूहके द्वारा जिनसे अत्यन्त सुगन्धित धूम निकल रहा है ऐसे दो धूपघट देखे ॥८३॥ इस दूसरी कक्षामें उन्होंने चार वन भी देखे जो कि झड़ते हुए फूलोंवाले वृक्षोसे अर्घ देते हुएके समान जान पड़ते थे ॥८४॥ फूले हुए अशोक वृक्षोका वन, सप्तपर्ण वृक्षोका वन, चम्पक वृक्षोंका वन और आमोंका सुन्दर वन देखकर भरत महाराजका आनन्द भी दूना हो गया था ॥८५॥ श्रीमान् भरतने उन वनोंमें जिनप्रतिमाओंसे अधिष्ठित और इन्द्र नरेन्द्र आदिके द्वारा पूजित वहुत ऊँचे चैत्यवृक्षोंकी भी पूजा की ॥८६॥ उन्ही वनोमे किन्नर जातिकी देवियाँ भगवान्का उत्सव गा रही थी, उनके गम्भीर तानवाले गीतोसे चक्रवर्ती भरतने परम सन्तोष प्राप्त किया था ॥८७॥ सुगन्धित पवन ही जिसका सुगन्धिपूर्ण निःश्वास है और फूल ही जिसका मन्द हास्य है ऐसी वह वनकी लक्ष्मी कोयलोके मधुर शब्दोसे ऐसी जान पड़ती थी मानो चक्रवर्तीके साथ वार्तालाप ही कर रही हो ॥८८॥ भ्रमरियोके सगीतसे मिले हुए कोकिलारूपी नगाड़ोके शब्दोसे वे वन ऐसे जान पड़ते थे मानो जिनेन्द्र भगवान्ने जो कामदेवको जीत लिया है उसीकी घोषणा कर रहे हो ॥८९॥ वहाँपर तीनो लोकोके जनसमूहके निरन्तर प्रवेश करनेकी उतावलीसे जो समुद्रके जलकी गर्जनाके समान वडा भारी कोलाहल हो रहा था उसे भी भरत महाराजने सुना था ॥९०॥ तदनन्तर उन वनोसे रुकी हुई पृथिवीके आगे उन्होने वनपक्तिरूपी विलासिनी स्त्रीकी मणिमयी मेखलाके समान मणियोसे जड़ी हुई वनकी वेदी देखी ॥९१॥ वनवेदीके मुख्य द्वारकी भूमिको उल्लघन कर चक्रवर्ती भरतने ध्वजाओसे रुकी हुई पृथिवी देखी, वह पृथिवी उस समय ऐसी मालूम हो रही थी मानो वायुसे हिलते हुए ध्वजाओंके वस्त्रोके द्वारा

१ ददर्श । २ प्रफुल्लवन– ल० । ३ आम्रेडितवनं ल० । आम्रमिति स्तुतम् । ४ द्वित्रिगुणितोत्सव । ५ जल्पति स्म । ६ समिश्रीभवत् । ७ स्फुरद्रत्नाम् । ८ सुराट् ल०, द० । ९ आह्वातुमिच्छुम् ।

सावनिः सावनीवोद्यद् ध्वजमालातताम्बरा । सचक्रा सगजा रेजे जिनराजजयोर्जिता ॥९३॥
केतवो हरिवस्त्राब्जबर्हिणेभगरुत्मताम् । स्रगुक्षहंसचक्राणां दशधोक्ता जिनेशिनः ॥९४॥
तानेकशः शतं चाष्टौ ध्वजान् प्रतिदिशं स्थितान् । वरीवस्यन्नगाच्चक्री स तद्ध्वजावने परम् ॥९५॥
द्वितीयमार्जुनं सालं सगोपुरचतुष्टयम् । व्यतीत्य परतोऽपश्यन्नाट्यशालादिपूर्ववत् ॥९६॥
तत्र पश्यन्सुरस्त्रीणां नृत्यं गीतं निशामयन् । धूपामोदं च संजिघ्रन् सुप्रीताक्षोऽभवद् विभुः ॥९७॥
कक्षान्तरे ततस्तस्मिन् कल्पवृक्षवनावनिम् । स्रग्वस्त्राभरणादीष्टफलदां स निरूपयन् ॥९८॥
सिद्धार्थपादपांस्तत्र सिद्धबिम्बैरधिष्ठितान् । परीत्य प्रणमन् प्रार्चीदर्चितान्नाकिनायकैः ॥९९॥
वनवेदीं ततोऽतीत्य चतुर्गोपुरमण्डनाम् । प्रासादरुद्धामवनीं स्तूपांश्च प्रभुरैक्षत ॥१००॥
प्रासादा विविधास्तत्र सुरावासाय कल्पिताः । त्रिचतुष्पञ्चभूम्याद्या नानाच्छन्दैरलंकृताः ॥१०१॥
स्तूपाश्च रत्ननिर्माणाः सान्तरा रत्नतोरणैः । समन्ताज्जिनबिम्बैस्ते निचिताङ्गाश्चकाशिरे ॥१०२॥
तां पश्यन्नर्चयंस्तांश्च तांश्च तांश्च स कीर्तयन् । तां च कक्षां व्यतीयाय विस्मयं परमीयिवान् ॥१०३॥

उन्हे बुला ही रही हो ॥९२॥ वह ध्वजाभूमि यज्ञभूमिके समान सुशोभित हो रही थी क्योंकि जिस प्रकार यज्ञभूमिका आकाश अनेक फहराती हुई ध्वजाओंके समूहसे व्याप्त होता है उसी प्रकार उस ध्वजाभूमिका आकाश भी अनेक फहराती हुई ध्वजाओके समूहसे व्याप्त हो रहा था, जिस प्रकार यज्ञभूमि धर्मचक्र तथा हाथी आदिके मागलिक चिह्नोसे सहित होती है उसी प्रकार वह ध्वजाभूमि भी चक्र और हाथीके चिह्नोसे सहित थी, तथा जिस प्रकार यज्ञभूमि जिनेन्द्रदेवके जय अर्थात् जयजयकार शब्दोसे व्याप्त होती है उसी प्रकार वह ध्वजाभूमि भी जिनेन्द्रदेवके जयजयकार शब्दोसे व्याप्त थी अथवा कर्मरूपी शत्रुओको जीत लेनेसे प्रकट हुई थी ॥९३॥ जिनराजकी वे ध्वजाएँ सिह, वस्त्र, कमल, मयूर, हाथी, गरुड, माला, वैल, हंस और चक्र इन चिह्नोके भेदसे दश प्रकारकी थी ॥९४॥ वे ध्वजाएँ प्रत्येक दिशामे एक-एक प्रकारकी एक सौ आठ स्थित थी, उन सबकी पूजा करते हुए चक्रवर्ती महाराज उस ध्वजाभूमिसे आगे गये ॥९५॥ आगे चलकर उन्होने चार गोपुर दरवाजोसहित चाँदीका बना हुआ दूसरा कोट देखा और उसे उल्लंघन कर उसके आगे पहलेके समान ही नाट्यशाला आदि देखी ॥९६॥ वहाँ देवांगनाओके नृत्य देखते हुए, उनके गीत सुनते हुए और धूपकी सुगन्ध सूँघते हुए महाराज भरतकी इन्द्रियाँ बहुत ही सन्तुष्ट हुई थी ॥९७॥ आगे चलकर उन्होने उसी कक्षाके मध्यमे माला, वस्त्र और आभूषण आदि अभीष्ट फल देनेवाली कल्प वृक्षोके वनकी भूमि देखी ॥९८॥ उसी वनभूमिमे उन्होने सिद्धोंकी प्रतिमाओसे अधिष्ठित और इन्द्रोके द्वारा पूजित सिद्धार्थ वृक्षोकी प्रदक्षिणा दी, उन्हे प्रणाम किया और उनकी पूजा की ॥९९॥ तदनन्तर चार गोपुर दरवाजोसे सुशोभित वनकी वेदीको उल्लंघन कर चक्रवर्तीने अनेक महलोसे भरी हुई पृथिवी और स्तूप देखे ॥१००॥ वहाँ देवोके रहनेके लिए जो महल बने हुए थे वे तीन खण्ड, चार खण्ड, पाँच खण्ड आदि अनेक प्रकारके थे तथा नाना प्रकारके उपकरणोसे सजे हुए थे ॥१०१॥ जिनके बीच-बीचमे रत्नोके तोरण लगे हुए है और जिनपर चारो ओरसे जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाएँ विराजमान है ऐसे वे रत्नमयी स्तूप भी बहुत अधिक सुशोभित हो रहे थे ॥१०२॥ उन स्तूपोंको देखते हुए, उनकी पूजा करते हुए और उन्हीका वर्णन करते हुए जिन्हे परम आश्चर्य प्राप्त हो रहा है ऐसे भरतने क्रम-क्रमसे उस कक्षाको उल्लघन

१ यज्ञसवन्धिनीव । सवन यज्ञ । २ मालावृषभ । ३ एकैकस्मिन् (दिशि) । ४ पूजयन् । ५ प्रथमसालोक्तवत् । ६ शृण्वन् । ७ आघ्राणयन् । ८ प्रीतेन्द्रिय । ९ वनावनिम् ल०, प० । १० पश्यन् । ११ स्वस्तिकसर्वतोभद्रनन्द्यावर्तरुचकवर्द्धमानादिरचनाविशेषै । १२ व्यतीतवान् ।

नभःस्फटिकनिर्माणं प्राकारवलयं ततः । [1]प्रत्यासत्तेर्जिनस्येव लब्धशुद्धिं ददर्श सः ॥१०४॥
तत्र कल्पोपमै[2]र्देवै[3]र्महाद्वारपालकैः । सादरं सोऽभ्यनुज्ञातः प्रविवेश सभां विभोः ॥१०५॥
समन्ताद्योजनायामविष्कम्भपरिमण्डलम् । श्रीमण्टपं जगद्विश्वमपश्यन्मान्तमात्मनि ॥१०६॥
तत्रापश्यन्मुनीनिद्धबोधान्देवीश्च कल्पजाः । सार्यिका नृपकान्ताश्च ज्योतिर्वन्योरगामरीः ॥१०७॥
भावनव्यन्तरज्योतिःकल्पेन्द्रान्पार्थिवान्मृगान् । भगवत्पादसंप्रेक्षाप्रीतिप्रोत्फुल्ललोचनान् ॥१०८॥
गणानिति क्रमात् पश्यन्परीयाय परंतपः । त्रिमेखलस्य पीठस्य प्रथमां मेखलां श्रितः ॥१०९॥
तत्रानर्च मुदा चक्री धर्मचक्रचतुष्टयम् । यक्षेन्द्रैर्विधृतं मूर्ध्ना ब्रध्नबिम्बानुकारि यत् ॥११०॥
द्वितीयमेखलायां च [4]प्राचदष्टौ महाध्वजान् । चक्रेभोक्षाब्जपञ्चास्यस्रग्वस्त्रगरुडाङ्कितान् ॥१११॥
मेखलायां तृतीयस्यामथैक्षिष्ट जगद्गुरुम् । वृषभं स कृती यस्यां श्रीमद्गन्धकुटीस्थिता ॥११२॥
तद्गर्भे रत्नसंदर्भरुचिरे हरिविष्टरे । मेरुशृङ्ग इवोत्तुङ्गे सुनिविष्टं महातनुम् ॥११३॥
छत्रत्रयकृतच्छायमप्यच्छायमघच्छिदम् । स्वतेजोमण्डलाक्रान्तनृसुरासुरमण्डलम्[5] ॥११४॥
अशोकशाखिचिह्नेन व्यञ्जयन्तमिवाञ्जसा । स्वपादाश्रयिणां शोकनिरासे[6] शक्तिमात्मनः ॥११५॥
चलत्प्रकीर्णकाकीर्णपर्यन्तं कान्तविग्रहम् । रुक्माद्रिमिव वप्रान्त[7]पतन्निर्झरसंकुलम् ॥११६॥

किया ॥१०३॥ आगे चलकर उन्होंने आकाशस्फटिकका बना हुआ तीसरा कोट देखा । वह कोट ऐसा जान पड़ता था मानो जिनेन्द्रदेवकी समीपताके कारण उसे शुद्धि ही प्राप्त हो गयी हो ॥१०४॥ वहाँ महाद्वारपालके रूपमें खड़े हुए कल्पवासी देवोंसे आदरसहित आज्ञा लेकर भरत महाराजने भगवान्‌की सभामें प्रवेश किया ॥१०५॥ वहाँ उन्होंने चारों ओरसे एक योजन लम्बा, चौड़ा, गोल और अपने भीतर समस्त जगत्‌को स्थान देनेवाला श्रीमण्डप देखा ॥१०६॥ उसी श्रीमण्डपके मध्यमें उन्होंने जिनेन्द्र भगवान्‌के चरणोंके दर्शन करनेसे उत्पन्न हुई प्रीतिसे जिनके नेत्र प्रफुल्लित हो रहे हैं ऐसे क्रमसे बैठे हुए उज्ज्वल ज्ञानके धारी मुनि, कल्पवासिनी देवियाँ, आर्यिकाओंसे सहित रानी आदि स्त्रियाँ, ज्योतिषी, व्यन्तर और भवनवासी देवोंकी देवियाँ, भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी देव, राजा आदि मनुष्य और मृग आदि पशु ऐसे बारह संघ देखे तथा इन्हींको देखते हुए महाराज भरतने तीन कटनीदार पीठकी प्रथम कटनीका आश्रय लेकर उसकी प्रदक्षिणा दी ॥१०७–१०९॥ उस प्रथम कटनीपर चक्रवर्तीने, जिन्हें यक्षोंके इन्द्रोंने अपने मस्तकपर धारण कर रखा है और जो सूर्यके बिम्बका अनुकरण कर रहे हैं ऐसे चारों दिशाओंके चार धर्मचक्रोंकी प्रसन्नताके साथ पूजा की ॥११०॥ दूसरी कटनीपर उन्होंने चक्र, हाथी, बैल, कमल, सिंह, माला, वस्त्र और गरुड़के चिह्नोंसे चिह्नित आठ महाध्वजाओंकी पूजा की ॥१११॥ तदनन्तर विद्वान् चक्रवर्तीने, जिसपर शोभायुक्त गन्धकुटी स्थित थी ऐसी तीसरी कटनीपर जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवको देखा ॥११२॥ उस गन्धकुटीके भीतर जो रत्नोंकी बनावटसे बहुत ही सुन्दर और मेरु पर्वतके शिखरके समान ऊँचे सिंहासनपर बैठे हुए थे, जिनका शरीर बड़ा – जिनपर तीन छत्र छाया कर रहे थे परन्तु जो स्वयं छायारहित थे, पापोंको नष्ट करनेवाले थे, जिन्होंने अपने प्रभामण्डलसे मनुष्य, देव और धरणेन्द्र सभीके समूहको व्याप्त कर लिया था–जो अशोक वृक्षके चिह्नसे ऐसे जान पड़ते थे मानो अपने चरणोंका आश्रय लेनेवाले जीवोंका शोक दूर करनेके लिए अपनी शक्ति ही प्रकट कर रहे हों–जिनके समीपका भाग चारों ओरसे ढुलते हुए चामरोंसे व्याप्त हो रहा था, जो सुन्दर शरीरके धारक थे और इसीलिए जो उस सुमेरु

१ सामीप्यात् । २ कल्पजैः । ३ दिव्यैः । ४ अपूजयत् । ५ समूहम् । ६ शोकविच्छेदे । ७ सानुप्रान्त ।

तेजसां चक्रवालेन स्फुरता परितो वृतम् । परिवेषवृतस्यार्कमण्डलस्यानुकारकम् ॥११७॥
वियद्[1]दुन्दुभिभि[2]र्मन्द्रघोषैरुद्घोषितोदयम् । सुमनोवर्षिभिर्दिव्यजी[3]मूतैरूर्जितश्रियम् ॥११८॥
स्फुरद्गम्भीरनिर्घोषप्रीणितत्रिजगत्सभम् । प्रावृषेण्यं[4] पयोवाहमिव धर्माम्बुवर्षिणम् ॥११९॥
नानाभाषात्मिकां दिव्यभाषामेकात्मिकामपि । प्रथयन्तमयत्नेन हृद्ध्वान्तं नुदतीं नृणाम् ॥१२०॥
अमेयवीर्यमाहार्यविरहे[5]ऽप्यतिसुन्दरम् । सुवाग्विभवमुत्सर्पत्सौरभं शुभलक्षणम् ॥१२१॥
अस्वेदमलमच्छायमपक्ष्मस्पन्दबन्धुरम् । सुसंस्थानमभेद्यं[6] च दधानं वपुरूर्जितम् ॥१२२॥
इत्यप्रतर्क्यमाहात्म्यं दूरादालोकयन् जिनम् । प्रह्वोऽभूत्स महीस्पृष्ट[7]जानुरानन्दनिर्भरः ॥१२३॥
दूरानतचलन्मौलिरालोलमणिकुण्डलः । स रेजे प्रणमन् भक्त्या जिनं रत्नैरिवार्घयन् ॥१२४॥
ततो विधिवदानर्च जलगन्धस्रगक्षतैः । चरुप्रदीपधूपैश्च सफलैः स फलेप्सया ॥१२५॥
कृतपूजाविधिर्भूयः प्रणम्य परमेष्ठिनम् । स्तोतुं स्तुतिभिरत्युच्चैरारेभे भरताधिपः ॥१२६॥
त्वां स्तोष्ये परमात्मानमपारगुणमच्युतम् । चोदितोऽहं बलाद् भक्त्या शक्त्या मन्दोऽप्यमन्दया ॥१२७॥

पर्वतके समान जान पड़ते थे जो कि शिखरोके समीप भागसे पड़ते हुए झरनोसे व्याप्त हो रहा है–जो चारों ओरसे फैलते हुए कान्तिमण्डलसे व्याप्त हो रहे थे और उससे ऐसे जान पड़ते थे मानो गोल परिधिसे घिरे हुए सूर्यमण्डलका अनुकरण ही कर रहे हों–गम्भीर शब्द करनेवाले आकाशदुन्दुभियोके द्वारा जिनका माहात्म्य प्रकट हो रहा था तथा फूलोंकी वर्षा करनेवाले दिव्य मेघोके द्वारा जिनकी शोभा बढ़ रही थी–जिन्होने चारों ओर फैलती हुई अपनी गम्भीर गर्जनासे तीनों लोकोके जीवोंकी सभाको सन्तुष्ट कर दिया था और इसीलिए जो धर्मरूपी जलकी वर्षा करते हुए वर्षाऋतुके मेघके समान जान पड़ते थे, जो उत्पत्तिस्थानकी अपेक्षा एक रूप होकर भी अतिशयवश श्रोताओंके कर्णकुहरके समीप अनेक भाषाओंरूप परिणमन करनेवाली और जीवोंके हृदयका अन्धकार दूर करनेवाली दिव्य ध्वनिको विना किसी प्रयत्नके प्रसारित कर रहे थे–जो अनन्त वीर्यको धारण कर रहे थे, आभूषणरहित होनेपर भी अतिशय सुन्दर थे, वाणीरूपी उत्तम विभूतिके धारक थे, जिनके शरीरसे सुगन्धि निकल रही थी, जो शुभ लक्षणोसे सहित थे, पसीना और मलसे रहित थे, जिनके शरीरकी छाया नही पड़ती थी, जो आँखोंके पलक न लगनेसे अतिशय सुन्दर थे, समचतुरस्र संस्थानके धारक थे, और जो छेदन-भेदनरहित अतिशय बलवान् शरीरको धारण कर रहे थे–ऐसे अचिन्त्य माहात्म्यके धारक श्री जिनेन्द्र भगवान्को दूरसे ही देखते हुए भरत महाराज आनन्दसे भर गये तथा उन्होने अपने दोनों घुटने जमीनपर टेककर श्री भगवान्को नमस्कार किया ॥११३–१२३॥ दूरसे ही नम्र होनेके कारण जिनका मुकुट कुछ-कुछ हिल रहा है और मणिमय कुण्डल चचल हो रहे हैं ऐसे भक्तिपूर्वक जिनेन्द्रदेवको प्रणाम करते हुए चक्रवर्ती भरत ऐसे जान पड़ते थे मानो उन्हे रत्नोंके द्वारा अर्घ ही दे रहा हो ॥१२४॥ तदनन्तर उन्होने मोक्षरूपी फल प्राप्त करनेकी इच्छासे विधिपूर्वक जल, चन्दन, पुष्पमाला, अक्षत, नैवेद्य, दीप, धूप और फलोके द्वारा भगवान्की पूजा की ॥१२५॥ पूजाकी विधि समाप्त कर चुकनेके बाद भरतेश्वरने परमेष्ठी वृषभदेवको प्रणाम किया और फिर अच्छे-अच्छे स्तोत्रोंके द्वारा उनकी स्तुति करना प्रारम्भ किया ॥१२६॥ हे भगवन्, आप परमात्मा है, अपार गुणोंके धारक हैं, अविनश्वर हैं और मैं शक्तिसे हीन हूँ तथापि बड़ी भारी भक्तिसे जबरदस्ती प्रेरित होकर आपकी स्तुति करता

१ विष्वग् इ० । २ आकाशे ध्वनद्दुन्दुभिः । ३ सुरमेघैः । ४ प्रावृषि भवम् । ५ आभरणाद् विरहितेऽपि । ६ समचतुरस्र । ७ महीपृष्ठ ल० ।

क्व ते गुणा गणेन्द्राणामप्यगण्या[1] क्व मादृशः। तथापि प्रयते[2] स्तोतुं भक्त्या त्वद्गुणनिघ्नया[3] ॥१२८॥
फलाय त्वद्गता भक्तिरनल्पाय प्रकल्पते। स्वामिसंपत्प्रपुष्णाति ननु संपत्परम्पराम् ॥१२९॥
घातिकर्ममलापायात् प्रादुरासन् गुणास्तव। घनावरणनिर्मुक्तमूर्तेर्भानोर्यथांऽशवः ॥१३०॥
यथार्थदर्शनज्ञानसुखवीर्यादिलब्धयः। क्षायिक्यस्तव निर्जाता[4] घातिकर्मविनिर्जयात् ॥१३१॥
केवलाख्यं परं ज्योतिस्तव देव यदोदगात्[5]। तदा लोकमलोकं च त्वमबुद्धा विनावधेः ॥१३२॥
सार्वज्ञ्यं[6] तव वक्तीश वचः शुद्धिरशेषगा[7]। न हि वाग्विभवो मन्दधियामस्तीह पुष्कलः[8] ॥१३३॥
वक्तृप्रामाण्यतो देव वचःप्रामाण्यमिष्यते। न ह्यशुद्धतराद् वक्तुः प्रभवन्त्युज्ज्वला गिरः ॥१३४॥
सप्तभङ्ग्यात्मिकेयं ते भारती विश्वगोचरा। आप्तप्रतीति[9]ममलां त्वय्युद्भावयितुं क्षमा ॥१३५॥
स्यादस्त्येव हि नास्त्येव स्यादवक्तव्यमित्यपि। स्यादस्ति नास्त्यवक्तव्यमिति[10] ते सार्व[11] भारती॥१३६॥

हूँ ॥१२७॥ हे देव, जो गणधर देवोके द्वारा भी गम्य नही है ऐसे कहाँ तो आपके अनन्त गुण और कहाँ मुझ सरीखा मन्द पुरुष ? तथापि आपके गुणोके अधीन रहनेवाली भक्तिसे प्रेरित होकर आपकी स्तुति करनेका प्रयत्न करता हूँ ॥१२८॥ हे भगवन्, आपके विषय-में की हुई थोड़ी भक्ति भी बहुत भारी फल देनेके लिए समर्थ रहती है सो ठीक ही है क्योकि स्वामीकी सम्पत्ति सेवक जनोंकी सम्पत्तिकी परम्पराको पुष्ट करती ही है ॥१२९॥ हे नाथ, जिस प्रकार मेघोके आवरणसे छूटे हुए सूर्यकी अनेक किरणे प्रकट हो जाती है उसी प्रकार घातिया कर्मरूपी मलके दूर हो जानेसे आपके अनेक गुण प्रकट हुए है ॥१३०॥ हे प्रभो, घातिया कर्मोको जीत लेनेसे आपके यथार्थ दर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्य आदि क्षायिक लब्धियाँ प्रकट हुई है ॥१३१॥ हे देव, जिस समय आपके केवलज्ञान नामकी उत्कृष्ट ज्योति प्रकट हुई थी उसी समय आपने मर्यादाके बिना ही समस्त लोक और अलोकको जान लिया था ॥१३२॥ हे ईश, सब जगह जानेवाली अर्थात् संसारके सब पदार्थोका निरूपण करनेवाली आपके वचनोकी शुद्धि आपके सर्वज्ञपनेको प्रकट करती है सो ठीक ही है क्योकि इस जगत्में मन्द बुद्धि-वाले जीवोंके इतना अधिक वचनोका वैभव कभी नही हो सकता है ॥१३३॥ हे देव, वक्ता-की प्रमाणतासे ही वचनोकी प्रमाणता मानी जाती है क्योकि अत्यन्त अशुद्ध वक्तासे उज्ज्वल वाणी कभी उत्पन्न नही हो सकती है ॥१३४॥ हे नाथ, समस्त पदार्थोको विषय करनेवाली आपकी यह सप्तभंगरूप वाणी ही आपमें आप्तपनेकी निर्मल प्रतीति उत्पन्न करानेके लिए समर्थ है ॥१३५॥ हे सबका हित करनेवाले, आपकी सप्तभगरूप वाणी इस प्रकार है कि जीवादि पदार्थ कथचित् है ही, कथचित् नही ही है, कथचित् दोनो प्रकार ही है, कथंचित् अवक्तव्य ही है, कथचित् अस्तित्व रूप होकर अवक्तव्य है, कथचित् नास्तित्व रूप होकर अवक्तव्य है और कथचित् अस्तित्व तथा नास्तित्व—दोनो रूप होकर अवक्तव्य है। विशेषार्थ—जैनागममे प्रत्येक वस्तुमे एक-एक धर्मके प्रतिपक्षी धर्मकी अपेक्षासे सात-सात भंग माने गये है, जो कि इस प्रकार है—१ स्यादस्त्येव, २ स्यान्नास्त्येव, ३ स्यादस्ति च नास्त्येव, ४ स्यादवक्तव्यमेव, ५ स्यादस्ति चावक्तव्यं च, ६ स्यान्नास्ति चावक्तव्य च और ७ स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यं च। इनका स्पष्ट अर्थ यह है कि संसारका

१ –मप्यगम्या ल०। २ प्रयत्न करिष्ये। ३ त्वद्गुणाधीनतया। ४ नितरा जाता। ५ उदेति स्प। ६ सर्वज्ञ-ताम्। ७ सर्वगा। ८ सम्पूर्ण। ९ आप्तस्य निश्चितिम्। १० स्यादस्त्येवेत्यादिना सप्तभंगी योजनीया, कथ-मिति चेत्, (१) स्यादस्त्येव, (२) स्यान्नास्त्येव, (३) द्वयमपि मिलित्वा स्यादस्तिनास्त्येव, (४) स्यादवक्तव्यमेव, (५) स्यादवक्तव्यपदेन सह स्यादस्ति नास्तीति द्वयं योजनीयम्, कथम् ? स्यादस्त्यवक्तव्यम्, (६) स्यान्नास्त्य-वक्तव्यमिति, (७) स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यमिति। ११ सर्वहित।

विरुद्धावद्धवाग्जालरुद्धव्यामुग्धबुद्धिषु । अश्रद्धेयमनाप्तेषु सार्वज्ञ्यं त्वयि तिष्ठते[1] ॥१३७॥
रविः पयोधरोत्संगसुप्तरश्मिर्विकासिभिः । सूच्यतेऽब्जैर्यथा तद्वद्धुद्धैर्वाग्विभवैर्भवान् ॥१३८॥

प्रत्येक पदार्थ स्वचतुष्टय (द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव) की अपेक्षा अस्तित्व रूप ही है, परचतुष्टयकी अपेक्षा नास्तित्व रूप ही है और एक साथ दोनों धर्म नही कहे जा सकनेके कारण अवक्तव्य रूप भी है, इस प्रकार प्रत्येक पदार्थमे मुख्यतासे अस्तित्व, नास्तित्व और अवक्तव्य ये तीन धर्म पाये जाते है। इन्ही मुख्य धर्मोके संयोगसे सात-सात धर्म हो जाते है। जैसे 'जीवोऽस्ति' जीव है। यहाँपर जीव और अस्तित्व क्रियामें विशेष्य विशेषण सम्बन्ध है। विशेषण विशेष्यमें ही रहता है इसलिए जीवका अस्तित्व जीवमें ही है दूसरी जगह नही है, इसी प्रकार 'जीवो नास्ति'-जीव नही है यहाँपर भी जीव और नास्तित्वमे विशेष्य-विशेषण सम्बन्ध है इसलिए ऊपर कहे हुए नियमसे नास्तित्व जीवमे ही है दूसरी जगह नही है। जीवके इन अस्तित्व और नास्तित्व रूप धर्मोको एक साथ कह नही सकते इसलिए उसमे एक अवक्तव्य नामका धर्म भी है। इन तीनो धर्मोमे-से जब जीवके केवल अस्तित्व धर्मकी विवक्षा करते है तब 'स्याद् अस्त्येव जीव.' ऐसा पहला भंग होता है, जब नास्तित्व धर्मकी विवक्षा करते है तब 'नास्त्येव जीवः' ऐसा दूसरा भंग होता है, जब दोनोंकी क्रम-क्रमसे विवक्षा करते है तब 'स्यादस्ति च नास्त्येव जीव.' इस प्रकार तीसरा भंग होता है, जब दोनोकी अक्रम अर्थात् एक साथ विवक्षा करते हैं तब दो विरुद्ध धर्म एक कालमें नही कहे जा सकनेके कारण 'स्यादवक्तव्यमेव' ऐसा चौथा भंग होता है, जब अस्तित्व और अवक्तव्य इन दो धर्मोकी विवक्षा करते है तब 'स्यादस्ति चावक्तव्यं च' ऐसा पाँचवाँ भंग होता है, जब नास्तित्व और अवक्तव्य इन दो धर्मोकी विवक्षा करते हैं तब 'स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च' ऐसा छठा भंग हो जाता है और जब अस्तित्व, नास्तित्व तथा अवक्तव्य इन धर्मोकी विवक्षा करते है तब 'स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यं च' ऐसा सातवॉ भंग हो जाता है। संयोगकी अपेक्षा प्रत्येक पदार्थमें प्रत्येक धर्म सात-सात भगके रूप रहता है इसलिए उन्हे कहनेके लिए जिनेन्द्र भगवान्ने सप्त-भंगी (सात भगोंके समूह) रूप वाणी-के द्वारा उपदेश दिया है। जिस समय जीवके अस्तित्व धर्मका निरूपण किया जा रहा है उस समय उसके अवशिष्ट धर्मोका अभाव न समझ लिया जाये इसलिए उसके साथ विवक्षा-सूचक स्याद् शब्दका भी प्रयोग किया जाता है तथा सन्देह दूर करनेके लिए नियमवाचक एव या च आदि निपातोंका भी प्रयोग किया जाता है जिससे सब मिलाकर 'स्यादस्त्येव जीवः' इस वाक्यका अर्थ होता है कि जीव किसी अपेक्षासे है ही। इसी प्रकार अन्य वाक्योका अर्थ भी समझ लेना चाहिए। जैनधर्म अपनी व्यापक दृष्टिसे पदार्थके भीतर रहनेवाले उसके समस्त धर्मोका विवक्षानुसार कथन करता है इसलिए वह स्याद्वादरूप कहलाता है। वास्तवमें इस सर्वमुखी दृष्टिके विना वस्तुका पूर्ण स्वरूप कहा भी तो नही जा सकता ॥१३६॥ हे देव, जिनकी वुद्धि प्रत्यक्षादि प्रमाणोसे विरुद्ध तथा सम्बन्धरहित वचनोंके जालमें फँसकर व्यामुग्ध हो गयी है ऐसे कुदेवोमे श्रद्धान नही करने योग्य सर्वज्ञता आपमें विराजमान है। भावार्थ – सर्वज्ञ वही हो सकता है जिसके वचनोंमें कही भी विरोध नही आता है। संसारके अन्य देवी-देवताओ-के वचनोंमें पूर्वापर विरोध पाया जाता है और इसीसे उनकी भ्रान्त वुद्धिका पता चल जाता है इन सब कारणोंको देखते हुए 'वे सर्वज्ञ थे' ऐसा विश्वास नही होता परन्तु आपके वचनों अर्थात् उपदेशोमे कही भी विरोध नही आता तथा आपने वस्तुके समस्त धर्मोका वर्णन किया है इससे आपकी वुद्धि–ज्ञान-निर्भ्रान्त है और इसीलिए आप सर्वज्ञ है ॥१३७॥ जिस प्रकार मेघोंके

१ प्रमाणभूते निर्णयाय तिष्ठतीत्यर्थः। 'स्थेयप्रकाशने इति स्थेयविषये आत्मनेपदे–विवादपदे निर्णेता प्रमाण-भूत' पुरुप. स्थेय.।

यथान्धतमसे दूरात्तर्क्यते विरुतैः शिखी[1] । तथा त्वमपि सुव्यक्तैः सूक्तैराप्तोऽसि मन्महे[2] ॥१३९॥
आस्तामाध्यात्मिकीयं ते ज्ञानसंपन्महोदया । बहिर्विभूतिरेवैषा शास्ति नः शास्तृतां[3] त्वयि ॥१४०॥
परार्ध्यमासनं सैंहं कल्पितं सुरशिल्पिभिः । रत्नरुक्छुरितं[4] भाति तावकं[5] मेरुशृङ्गवत् ॥१४१॥
[6]सुरैरुच्छ्रितमेतत्ते छत्राणां त्रयमूर्जितम् । त्रिजगत्प्राभवे[7] चिह्नं न प्रतीमः कथं[8] वयम् ॥१४२॥
चामराणि तवामूनि वीज्यमानानि चामरैः । शंसन्त्यनन्यसामान्यमैश्वर्यं भुवनातिगम् ॥१४३॥
परितस्त्वत्सभां देव वर्षन्त्येते सुराम्बुदाः । सुमनोवर्षमुद्गन्धि व्याहूतमधुपव्रजम् ॥१४४॥
सुरदुन्दुभयो मन्द्रं ध्वनन्त्येते[9] नभोऽङ्गणे । सुरकिंकरहस्ताग्रताडितास्त्वज्जयोत्सवे ॥१४५॥
सुरैरासेवितोपान्तो जनताशोकतापनुत्[10] । प्रायस्त्वामयमन्वेति[11] नवाशोकमहीरुहः ॥१४६॥
त्वद्देहदीप्तयो दीप्राः प्रसरन्त्यभितः सभाम् । धृतबालातपच्छायास्तन्वाना नयनोत्सवम् ॥१४७॥

बीचमे जिसकी समस्त किरणें छिप गयी है ऐसा सूर्य यद्यपि दिखाई नही देता तथापि फूले हुए कमलोंसे उसका अस्तित्व सूचित हो जाता है उसी प्रकार आपका प्रत्यक्ष रूप भी दिखाई नही देता तथापि आपके श्रेष्ठ वचनोके वैभवके द्वारा आपके प्रत्यक्ष रूपका अस्तित्व सूचित हो रहा है। भावार्थ – आपके महान् उपदेश ही आपको सर्वज्ञ सिद्ध कर रहे हैं ॥१३८॥ अथवा जिस प्रकार सघन अन्धकारमें यद्यपि मयूर दिखाई नही देता तथापि अपने शब्दोंके द्वारा दूर-से ही पहचान लिया जाता है उसी प्रकार आपका आप्तपना यद्यपि प्रकट नही दिखाई देता तथापि आप अपने स्पष्ट और सत्यार्थ वचनोमे आप्त कहलानेके योग्य है ॥१३९॥ अथवा हे देव, जिसका बड़ा भारी अभ्युदय है ऐसी यह आपकी अध्यात्मसम्बन्धी ज्ञानरूपी सम्पत्ति दूर रहे, आपकी यह बाह्य विभूति ही हम लोगोको आपके हितोपदेशीपनका उपदेश दे रही है। भावार्थ – आपकी बाह्य विभूति ही हमे बतला रही है कि आप मोक्षमार्गरूप हितका उपदेश देनेवाले सच्चे वक्ता और आप्त हैं ॥१४०॥ हे भगवन्, देवरूप कारीगरोंके द्वारा बनाया हुआ और रत्नोंकी किरणोसे मिला हुआ आपका यह श्रेष्ठ सिंहासन मेरु पर्वतके शिखर-के समान सुशोभित हो रहा है ॥१४१॥ देवोके द्वारा ऊपरकी ओर धारण किया हुआ यह आपका प्रकाशमान छत्रत्रय आपकी तीनों लोकोकी प्रभुताका चिह्न है ऐसा हम क्यों न विश्वास करे ? भावार्थ – आपके मस्तकके ऊपर आकाशमें जो देवोने तीन छत्र लगा रखे हैं वे ऐसे मालूम होते है मानो आप तीनो लोकोंके स्वामी है यही सूचित कर रहे हों ॥१४२॥ देवोंके द्वारा ढुलाये हुए ये चमर तीनों जगत्को उल्लंघन करनेवाले आपके असाधारण ऐश्वर्यको सूचित कर रहे हैं ॥१४३॥ हे देव, ये देवरूपी मेघ आपकी सभाके चारों ओर अत्यन्त सुगन्धित तथा भ्रमरोके समूहको बुलानेवाली फूलोकी वर्षा कर रहे है ॥१४४॥ हे प्रभो, आपके विज-योत्सवमें देवरूप किंकरोके हाथोके अग्र भागसे ताड़ित हुए ये देवोके दुन्दुभि बाजे आकाश रूप आँगनमें गम्भीर शब्द कर रहे है ॥१४५॥ जिसका समीप भाग देवोके द्वारा सेवित है अर्थात् जिसके समीप देव लोग बैठे हुए हैं और जो जनसमूहके शोक तथा सन्तापको दूर करने-वाला है ऐसा यह अशोकवृक्ष प्रायः आपका ही अनुकरण कर रहा है क्योकि आपका समीप भाग भी देवोके द्वारा सेवित है और आप भी जनसमूहके शोक और सन्तापको दूर करनेवाले है ॥१४६॥ जिसने प्रात कालके सूर्यकी कान्ति धारण की है और जो नेत्रोंका उत्सव बढ़ा रही है ऐसी यह आपके शरीरकी देदीप्यमान कान्ति सभाके चारो ओर फैल रही है। भावार्थ –

१ बर्हि। २ श्रुतैर्योग्यो भवसि। ३ शिक्षकत्वम्। ४ रत्नकान्तिमिश्रितम्। ५ त्वत्संबन्धि। ६ देवैरुद्धृतम्। ७ त्रैलोक्यप्रभुत्वे। ८ कथं न विश्वासं कुर्म.। ९ नदन्त्येते ल०। १० सतापहारि। ११ अनुकरोति।

दिव्यभाषा तवाशेषभाषा भेदानुकारिणी । निरस्यति मनोध्वान्तमवाचामपि[1] देहिनाम् ॥१४८॥
प्रातिहार्यमयी भूतिरियमष्टतयी प्रभो । महिमानं तवाचष्टे विस्पष्टं विष्टपातिगम् ॥१४९॥
त्रिमेखलस्य पीठस्य मेरोरिव गरीयसः । चूलिकेव विभात्युच्चैः सेव्या गन्धकुटी तव ॥१५०॥
वन्दारूणां मुनीन्द्राणां स्तोत्रप्रतिरवैर्मुहुः । स्तोतुकामेव भक्त्या त्वां सैषा भात्यतिसंसदात् ॥१५१॥
परार्ध्यरत्ननिर्माणामेनामत्यन्तभास्वराम् । त्वामध्यासीनमानम्रा नाकभाजो भजन्त्यमी ॥१५२॥
सशिखामणयोऽमीषां नम्राणां भान्ति मौलयः । सदीपा इव रत्नार्घाः स्थापितास्त्वत्पदान्तिके[2] ॥१५३॥
नतानां सुरकोटीनां चकास्त्यधिमस्तकम् । प्रसादांशा इवालग्ना युष्मत्पादनखांशवः ॥१५४॥
नखदर्पणसंक्रान्तबिम्बान्यमरयोषिताम् । दधत्यमूनि वक्त्राणि त्वत्पादाब्जाम्बुजश्रियम् ॥१५५॥
वक्त्रेष्वमरनारीणां संधत्ते कुङ्कुमश्रियम् । युष्मत्पादतलच्छाया प्रसरन्ती जपाऽरुणा ॥१५६॥
गणाध्युषित[3] भूभागमध्यवर्ती त्रिमेखल । पीठाद्रिरयमाभाति तवाविष्कृतमङ्गलः ॥१५७॥
प्रथमोऽस्य परिक्षेपो धर्मचक्रैरलंकृतः । द्वितीयोऽपि तवाऽमीभिर्दिक्ष्वष्टासु महाध्वजैः ॥१५८॥
श्रीमण्डपनिवेशस्ते योजनप्रमितोऽप्ययम् । त्रिजगज्जनताऽजस्रप्रावेशोपग्रहक्षमः[4] ॥१५९॥
धूलीसालपरिक्षेपो मानस्तम्भाः सरांसि च । खातिका सलिलापूर्णा वल्लीवनपरिच्छदः ॥१६०॥

आपके भामण्डलकी प्रभा सभाके चारों ओर फैल रही है ॥१४७॥ समस्त भाषाओंके भेदोका अनुकरण करनेवाली अर्थात् समस्त भाषाओ रूप परिणत होनेवाली आपकी यह दिव्य ध्वनि जो वचन नही बोल सकते ऐसे पशु पक्षी आदि तिर्यचोके भी हृदयके अन्धकारको दूर कर देती है ॥१४८॥ हे प्रभो, आपकी यह प्रातिहार्यरूप आठ प्रकारकी विभूति आपकी लोकोत्तर महिमाको स्पष्ट रूपसे प्रकट कर रही है ॥१४९॥ मेरु पर्वतके समान ऊँचे तीन कटनीदार पीठपर सबके द्वारा सेवन करने योग्य आपकी यह ऊँची गन्धकुटी मेरुकी चूलिकाके समान सुशोभित हो रही है ॥१५०॥ वन्दना करनेवाले उत्तम मुनियोके स्तोत्रोकी प्रतिध्वनिसे यह गन्धकुटी ऐसी जान पडती है मानो भक्तिवश हर्षसे आपकी स्तुति ही करना चाहती हो ॥१५१॥ हे प्रभो, जो श्रेष्ठ रत्नोसे बनी हुई और अतिशय देदीप्यमान इस गन्धकुटीमे विराजमान है ऐसे आपकी, स्वर्गमे रहनेवाले देव नम्र होकर सेवा कर रहे है ॥१५२॥ हे देव, जो अग्रभागमें लगे हुए मणियोसे सहित है ऐसे इन नमस्कार करते हुए देवोके मुकुट ऐसे जान पडते है मानो आपके चरणोके समीप दीपकसहित रत्नोके अर्घ ही स्थापित किये गये हो ॥१५३॥ नमस्कार करते हुए करोडो देवोके मस्तकोपर जो आपके चरणोके नखोकी किरणे पड रही है वे ऐसी सुशोभित हो रही है मानो उनपर प्रसन्नताके अंश ही लग रहे हो ॥१५४॥ आपके नखरूपी दर्पणमे जिनका प्रतिबिम्ब पड़ रहा है ऐसे ये देवागनाओके मुख आपके चरणोके समीपमें कमलोकी शोभा धारण कर रहे है ॥१५५॥ जवाके फूलके समान लाल वर्ण जो यह आपके पैरोके तलवोकी कान्ति फैल रही है वह देवागनाओके मुखोपर कुंकुमकी शोभा धारण कर रही है ॥१५६॥ जो बारह सभाओसे भरी हुई पृथिवीके मध्यभागमें वर्तमान है और जिसपर अनेक मगल द्रव्य प्रकट हो रहे है ऐसा यह तीन कटनीदार आपका पीठरूपी पर्वत बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहा है ॥१५७॥ इस पीठकी पहली परिधि धर्मचक्रोसे अलकृत है और दूसरी परिधि भी आठो दिशाओमे फहराती हुई आपकी इन बडी-बडी ध्वजाओसे सुशोभित है ॥१५८॥ यद्यपि आपके श्रीमण्डपकी रचना एक ही योजन लम्बी-चौडी है तथापि वह तीनो जगत्के जनसमूहके निरन्तर प्रवेश कराते रहने रूप उपकारमें समर्थ है ॥१५९॥ हे प्रभो, यह धूलीसालकी परिधि, ये मानस्तम्भ, सरोवर, स्वच्छ जलसे भरी हुई परिखा, लता-

---

१ तिरश्चाम् । २ तव पादसमीपे । ३ द्वादशगणस्थित । ४ उपकारदक्ष । त्रिजगज्जनाना स्थानदाने समर्थ इत्यर्थ ।

सालत्रितयमुत्तुङ्गचतुर्गोपुरमण्डितम् । मङ्गलद्रव्यसंदोहो निधयस्तोरणानि च ॥१६१॥
नाट्यशालाद्वयं दीप्तं लसद्धूपघटीद्वयम् । वनराजिपरिक्षेपश्चैत्यद्रुमपरिष्कृतः[1] ॥१६२॥
वनवेदीद्वयं प्रोच्चैर्ध्वजमालाततावनिः । कल्पद्रुमवनाभोगः[2] स्तूपहर्म्यावलीत्यपि ॥१६३॥
सदोऽवनि[3]रियं देव नृसुरासुरपावनी । त्रिजगत्सारसंदोह इवैकत्र निवेशितः ॥१६४॥
बहिर्विभूतिरित्युच्चैराविष्कृतमहोदया । लक्ष्मीमाभ्यन्तरीं व्यक्तं व्यनक्ति जिन तावकीम् ॥१६५॥
सभापरिच्छदः सोऽयं सुरैस्तव विनिर्मितः । वैराग्यातिशयं नाथ नोपहन्त्य[4]प्रतर्कितः[5] ॥१६६॥
इत्यद्भुतमाहात्म्यस्त्रिजगद्वल्लभो भवान् । । स्तुत्योपतिष्ठमानं[6] मां [7]पुनीतात्पूतशासनः ॥१६७॥
अलं स्तुतिप्रपञ्चेन तवाचिन्त्यतमा गुणाः । जयेशान नमस्तुभ्यमिति संक्षेपतः स्तुवे ॥१६८॥
जयेश जय निर्दग्धकर्मेन्धन जराजर । जय लोकगुरो सार्व जयताज्जय जिष्णवे[8] ॥१६९॥
जय लक्ष्मीपते जिष्णो जयानन्तगुणोज्ज्वल । जय विश्वजगद्बन्धो जय विश्वजगद्धित ॥१७०॥
जयाखिलजगद्वेदिन् जयाखिलसुखोदय । जयाखिलजगज्ज्येष्ठ जयाखिलजगद्गुरो ॥१७१॥
जय निर्जितमोहारे जय तर्जितमन्मथ । जय जन्मजरातङ्कविजयिन् विजितान्तक ॥१७२॥

वनोंका समूह – ऊँचे-ऊँचे चार गोपुर दरवाजोंसे सुशोभित तीन कोट, मंगल द्रव्योंका समूह, निधियाँ, तोरण – दो-दो नाटयशालाएँ, दो-दो सुन्दर धूप घट, चैत्यवृक्षोंसे सुशोभित वन पक्तियोंकी परिधि – दो वनवेदी, ऊँची-ऊँची ध्वजाओंकी पंक्तिसे भरी हुई पृथिवी, कल्पवृक्षोंके वनका विस्तार, स्तूप और मकानोंकी पंक्ति – इस प्रकार मनुष्य देव और धरणेन्द्रोंको पवित्र करनेवाली आपकी यह सभाभूमि ऐसी जान पड़ती है मानो तीनों जगत्‌की अच्छी-अच्छी वस्तुओका समूह ही एक जगह इकट्ठा किया गया हो ॥१६०–१६४॥ हे जिनेन्द्र, जिससे आपका महान् अभ्युदय या ऐश्वर्य प्रकट हो रहा है ऐसी यह आपकी अतिशय उत्कृष्ट वाह्य विभूति आपकी अन्तरंग लक्ष्मीको स्पष्ट रूपसे प्रकट कर रही है ॥१६५॥ हे नाथ, जिसके विषयमें कोई तर्क-वितर्क नही कर सकता ऐसी यह देवोंके द्वारा रची हुई आपके समवसरणकी विभूति आपके वैराग्यके अतिशयको नष्ट नही कर सकती है। भावार्थ – समवसरण सभाकी अनुपम विभूति देखकर आपके हृदयमे कुछ भी रागभाव उत्पन्न नही होता है ॥१६६॥ इस प्रकार जिनकी अद्भुत महिमा है, जो तीनो लोकोके स्वामी है, और जिनका शासन अतिशय पवित्र है ऐसे आप स्तुतिके द्वारा उपस्थान (पूजा) करनेवाले मुझे पवित्र कीजिए ॥१६७॥ हे भगवन्, आपकी स्तुतिका प्रपञ्च करना व्यर्थ है क्योकि आपके गुण अत्यन्त अचिन्त्य है इसलिए मै संक्षेपसे इतनी ही स्तुति करता हूँ कि हे ईशान, आपकी जय हो और आपको नमस्कार हो ॥१६८॥ हे ईश, आपकी जय हो, हे कर्मरूप ईधनको जलानेवाले, आपकी जय हो, हे जरारहित, आपकी जय हो, हे लोकोके गुरु, आपकी जय हो, हे सबका हित करनेवाले, आपकी जय हो, और हे जयशील, आपकी जय हो ॥१६९॥ हे अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मीके स्वामी जयनशील, आपकी जय हो। हे अनन्तगुणोंसे उज्ज्वल, आपकी जय हो। हे समस्त जगत्के वन्धु, आपकी जय हो। हे समस्त जगत्का हित करनेवाले, आपकी जय हो ॥१७०॥ हे समस्त जगत्‌को जाननेवाले, आपकी जय हो। हे समस्त सुखोको प्राप्त करनेवाले, आपकी जय हो। हे समस्त जगत्‌में श्रेष्ठ, आपकी जय हो। हे समस्त जगत्के गुरु, आपकी जय हो ॥१७१॥ हे मोहरूपी शत्रुको जीतनेवाले, आपकी जय हो। हे कामदेवको भर्त्सना करने

१ अलङ्कृत 'परिष्कारो विभूषणम्' इत्यभिधानात्। २ नवाभोग. द०, ड०,। ३ समवसरणभूमि । ४ न नाशयति । ५ ऊहातीत ऊहितुमशक्य इत्यर्थः । ६ स्तोत्रेणार्चयन्तम् । ७ पवित्रं कुरु । ८ जयशील ।

जय निर्मद निर्माय जय निर्मोह निर्मम । जय निर्मल निर्द्वन्द्व जय निष्कल[1] पुष्कल ॥१७३॥
जय प्रबुद्ध सन्मार्ग जय दुर्मार्गरोधन । जय कर्मारिमर्माविद्[2] मंचक्र जयोद्धुर[3] ॥१७४॥
जयाध्वरपते यज्वन् जय पूज्य महोदय । जयोद्धुर जयाचिन्त्य[4] सद्धर्मरथसारथे ॥१७५॥
जय निस्तीर्णसंसारपारावारगुणाकर । जय निःशेषनिष्पीतविद्यारत्नाकर प्रभो ॥१७६॥
नमस्ते परमानन्तसुखरूपाय तायिने[5] । नमस्ते परमानन्दमयाय परमात्मने ॥१७७॥
नमस्ते भुवनोद्भासिज्ञानभाभारभासिने[6] । नमस्ते नयनानन्दिपरमौदरिकत्विषे ॥१७८॥
नमस्ते मस्तकन्यस्तस्वहस्ताञ्जलिकुड्मलैः । स्तुताय त्रिदशाधीशैः स्वर्गावतरणोत्सवे ॥१७९॥
नमस्ते प्रचलन्मौलिघटिताञ्जलिबन्धनैः । नुताय[7] मेरुशैलाग्रस्नाताय सुरसत्तमैः ॥१८०॥
नमस्ते मुकुटोपाग्रलग्नहस्तपुटोद्भटैः[8] । लौकान्तिकैरधीष्टाय[9] परिनिष्क्रमणोत्सवे ॥१८१॥
नमस्ते स्वकिरीटाग्ररत्नग्रावान्तचुम्बिभिः । कराब्जमुकुलैः प्राप्तकेवलेज्याय नाकिनाम् ॥१८२॥
नमस्ते पारनिर्वाणकल्याणेऽपि प्रवर्त्स्यति[10] । पूजनीयाय वह्नीन्द्रैर्ज्वलन्मुकुटकोटिभिः ॥१८३॥

वाले, आपकी जय हो। हे जन्मजरारूपी रोगको जीतनेवाले, आपकी जय हो। हे मृत्युको जीतनेवाले, आपकी जय हो ॥ १७२॥ हे मदरहित, मायारहित, आपकी जय हो। हे मोह-रहित, ममतारहित, आपकी जय हो। हे निर्मल और निर्द्वन्द्व, आपकी जय हो। हे शरीर-रहित, और पूर्ण ज्ञानसहित, आपकी जय हो ॥ १७३ ॥ हे समीचीन मार्गको जाननेवाले, आप-की जय हो। हे मिथ्या मार्गको रोकनेवाले, आपकी जय हो। हे कर्मरूपी शत्रुओके मर्मको वेधन करनेवाले, आपकी जय हो। हे धर्मचक्रके द्वारा विजय प्राप्त करनेमे उत्कट, आपकी जय हो ॥ १७४ ॥ हे यज्ञके अधिपति, आपकी जय हो। हे कर्मरूप ईंधनको ध्यानरूप अग्नि-में होम करनेवाले, आपकी जय हो। हे पूज्य तथा महान् वैभवको धारण करनेवाले, आपकी जय हो। हे उत्कृष्ट दयारूप चिह्नसे सहित तथा हे समीचीन धर्मरूपी रथके सारथि, आपकी जय हो ॥१७५॥ हे संसाररूपी समुद्रको पार करनेवाले, हे गुणोकी खानि, आपकी जय हो। हे समस्त विद्यारूपी समुद्रका पान करनेवाले, हे प्रभो, आपकी जय हो ॥१७६॥ आप उत्कृष्ट अनन्त सुखरूप है तथा सबकी रक्षा करनेवाले है इसलिए आपको नमस्कार हो। आप परम आनन्दमय और परमात्मा है इसलिए आपको नमस्कार हो ॥ १७७ ॥ आप समस्त लोकको प्रकाशित करनेवाले ज्ञानकी दीप्तिके समूहसे देदीप्यमान हो रहे है इसलिए आपको नमस्कार हो। आपके परमौदारिक शरीरकी कान्ति नेत्रोको आनन्द देनेवाली है इसलिए आपको नमस्कार हो ॥ १७८ ॥ हे देव, स्वर्गावतरण अर्थात् गर्भकल्याणकके उत्सवके समय इन्द्रोने अपने हाथो-की अंजलिरूपी विना खिले कमल अपने मस्तकपर रखकर आपकी स्तुति की थी इसलिए आपको नमस्कार हो ॥१७९॥ अपने नम्र हुए मस्तकपर दोनो हाथ जोडकर रखनेवाले उत्तम-उत्तम देवोने जिनकी स्तुति की है तथा सुमेरु पर्वतके अग्रभागपर जिनका जन्माभिषेक किया गया है ऐसे आपके लिए नमस्कार है ॥ १८० ॥ दीक्षाकल्याणकके उत्सवके समय अपने मुकुट-के समीप ही हाथ जोडकर लगा रखनेवाले लौकान्तिक देवोने जिनका अधिष्ठान अर्थात् स्तुति की है ऐसे आपके लिए नमस्कार हो ॥ १८१ ॥ अपने मुकुटके अग्रभागमे लगे हुए रत्नोका चुम्बन करनेवाले देवोके हाथरूपी मुकुलित कमलोके द्वारा जिनके केवलज्ञानकी पूजा की गयी है ऐसे आपके लिए नमस्कार हो ॥१८२॥ हे भगवन्, जब आपका मोक्षकल्याणक होगा

---

१ शरीरबन्धनरहित। २ मर्म विध्यति ताडयतीति मर्मावित् तस्य संबुद्धि। 'नहिवृतिवृषिव्यधिसहितनिरुचि क्वौ कारकस्येति' दीर्घ.। ३ उद्भट। ४ दयाचिह्न द०, ल०, इ०, अ०, प०, स०। ५ पालकाय। ६ ज्ञान-किरणसमूहप्रकाशिने। ७ स्तुताय। ८ भ्रमद्भि, समर्थं वा। ९ अधिकमिष्टाय सत्कारानुमतायेत्यर्थ। १० भाविनि।

नमस्ते प्राप्तकल्याणमहेज्याय महौजसे । प्राज्यत्रैलोक्यराज्याय ज्यायसे ज्यायसामपि ॥१८४॥
नमस्ते नतनाकीन्द्रचूलारत्नार्चिताङ्घ्रये । नमस्ते दुर्जयारातिनिर्जयोपार्जितश्रिये ॥१८५॥
नमोऽस्तु तुभ्यमिद्धर्द्धे सपर्यामर्हते[1] पराम् । रहोरजोऽरिघाता[2]प्राप्ततन्नामस्थये[3] ॥१८६॥
जितान्तक नमस्तुभ्यं जितमोह नमोऽस्तु ते । जितानङ्ग नमस्ते स्तात्[4] विरागाय स्वयम्भुवे ॥१८७॥
त्वां नमस्यन्[5] जनैर्नम्रैर्नमस्यते सुकृती पुमान् । गां जयेज्जितजेत[6]व्यस्त्वज्जयोद्घोषणाकृती ॥१८८॥
त्वत्स्तुतेः पूतवागस्मि त्वत्स्मृतेः पूतमानसः । त्वन्नतेः पूतदेहोऽस्मि धन्योऽस्म्यद्य त्वदीक्षणात् ॥१८९॥
अहमद्य कृतार्थोऽस्मि जन्माद्य सफलं मम । सुनिर्वृत्ते[7] दृशौ मेऽद्य सुप्रसन्नं मनोऽद्य मे ॥१९०॥
त्वत्तीर्थसरसि स्वच्छे पुण्यतोयसुसंभृते । सुस्नातोऽहं चिरादद्य पूतोऽस्मि सुखनिर्वृतः[8] ॥१९१॥
त्वत्पादनखभाजालसलिलैरस्तकल्मषैः । अधिमस्तकमालग्नैरभिषिक्त इवास्म्यहम् ॥१९२॥
एकतः सार्वभौमश्रीरियमप्रतिशासना । एकतश्च भवत्पादसेवालोकैकपावनी ॥१९३॥

उस समय भी देदीप्यमान मुकुटोको धारण करनेवाले वह्निकुमार देवोके इन्द्र आपकी पूजा करेंगे इसलिए आपको नमस्कार हो ॥ १८३ ॥ हे नाथ, आपको गर्भ आदि कल्याणकोके समय बडी भारी पूजा प्राप्त हुई है, आप महान् तेजके धारक है, आपको तीन लोकका उत्कृष्ट राज्य प्राप्त हुआ है और आप बड़ोमे भी बडे अथवा श्रेष्ठोमे भी श्रेष्ठ है इसलिए आपको नमस्कार हो ॥ १८४ ॥ नमस्कार करते हुए स्वर्गके इन्द्रोके मुकुटमें लगे हुए मणियोसे जिनके चरणोंकी पूजा की गयी है ऐसे आपके लिए नमस्कार हो और जिन्होने कर्मरूपी दुर्जेय शत्रुओको जीतकर अनन्तचतुष्टयरूपी उत्तम लक्ष्मी प्राप्त की है ऐसे आपके लिए नमस्कार हो ॥ १८५ ॥ हे उत्कृष्ट ऋद्धियोंको धारण करनेवाले, आप उत्कृष्ट पूजाके योग्य है तथा रहस् अर्थात् अन्तराय रज अर्थात् ज्ञानावरण दर्शनावरण और अरि अर्थात् मोहनीय कर्मके नष्ट करनेसे आपने 'अरिहन्त' ऐसा सार्थक नाम प्राप्त किया है इसलिए आपको नमस्कार हो ॥ १८६ ॥ हे मृत्युको जीतनेवाले, आपको नमस्कार हो। हे मोहको जीतनेवाले, आपको नमस्कार हो। और हे कामको जीतनेवाले, आप वीतराग तथा स्वयम्भू है इसलिए आपको नमस्कार हो ॥ १८७ ॥ हे नाथ, जो आपको नमस्कार करता है वह पुण्यात्मा पुरुष अन्य अनेक नम्र पुरुषोके द्वारा नमस्कृत होता है और जो आपके विजयकी घोषणा करता है वह कुशल पुरुष जीतने योग्य समस्त कर्मरूप शत्रुओको जीतकर गो अर्थात् पृथिवी या वाणीको जीतता है ॥ १८८ ॥ हे देव, आज आपकी स्तुति करनेसे मेरे वचन पवित्र हो गये है, आपका स्मरण करनेसे मेरा मन पवित्र हो गया है, आपको नमस्कार करनेसे मेरा शरीर पवित्र हो गया है और आपके दर्शन करनेसे मै धन्य हो गया हूँ ॥ १८९ ॥ हे भगवन्, आज मैं कृतार्थ हो गया हूँ, आज मेरा जन्म सफल हो गया है, आज मेरे नेत्र सन्तुष्ट हो गये है और आज मेरा मन अत्यन्त प्रसन्न हो गया है ॥ १९० ॥ हे देव, स्वच्छ और पुण्यरूप जलसे खूब भरे हुए आपके तीर्थरूपी सरोवरमें मैने चिरकालसे अच्छी तरह स्नान किया है इसीलिए मैं आज पवित्र तथा सुखसे सन्तुष्ट हो रहा हूँ ॥ १९१ ॥ हे प्रभो, जिसने समस्त पाप नष्ट कर दिये है ऐसा जो यह आपके चरणोके नखोकी कान्तिका समूहरूप जल मेरे मस्तकपर लग रहा है उससे मै ऐसा मालूम होता हूँ मानो मेरा अभिषेक ही किया गया हो ॥१९२॥ हे विभो, एक ओर तो मुझे दूसरेके शासनसे रहित यह चक्रवर्तीकी विभूति प्राप्त हुई है और एक ओर

---

१ पूजाया योग्याय । २ अन्तरायज्ञानावरणमोहनीयघातात् । ३ अर्हन्निति नामप्रसिद्धाय । ४ भवतु । ५ नमस्कुर्वन् । ६ भोजितजेतव्यपक्ष । ७ अत्यन्तसुखवत्यौ । ८ सुखतृप्त. ।

यद्दिग्भ्रान्तिविमूढेन[1] महदेनो[2] मयाऽर्जितम् । तत्त्वत्संदर्शनाल्लीनं[3] तमो नैशं रवेर्यथा[4] ॥१९४॥
त्वत्पदस्मृतिमात्रेण पुमानेति पवित्रताम् । किमुत त्वद्गुणस्तुत्या भक्त्यैवं सुप्रयुक्तया ॥१९५॥
भगवंस्त्वद् गुणस्तोत्राद् यन्मया पुण्यमार्जितम्[5] । तेनास्तु त्वत्पदाम्भोजे परा भक्तिः सदापि मे ॥१९६॥

वसन्ततिलकावृत्तम्

इत्थं चराचरगुरुं परमादिदेवं स्तुत्वाऽधिराट् धरणिपैः सममिद्धबोधः ।
आनन्दबाष्पलवसिक्तपुरःप्रदेशो भक्त्या ननाम करकुड्मललग्नमौलिः ॥१९७॥
श्रुत्वा पुराणपुरुषाच्च पुराणधर्मं कर्मारिचक्रजयलब्धविशुद्धबोधात् ।
संप्रीतिमाप परमां भरताधिराजः प्रायो धृतिः कृतधियां स्वहितप्रवृत्तौ ॥१९८॥
आमृच्छ्य च स्वगुरुमादिगुरुं निधीशो व्यालोलमौलितटताडितपादपीठः ।
भूयोऽनुगम्य च मुनीन् प्रणतेन मूर्ध्ना स्वावासभूमिमभिगन्तुमना बभूव ॥१९९॥
भक्त्यार्पितां स्रजमिवाधिपदं जिनस्य स्वां दृष्टिमन्वितलसत्सुमनोविकासाम्[6] ।
शेषास्थयैव[7] च पुनर्विनिवर्त्य कृच्छात् चक्राधिपो जिनसभाभवनात्प्रतस्थे ॥२००॥

समस्त लोकको पवित्र करनेवाली आपके चरणोकी सेवा प्राप्त हुई है ॥१९३॥ हे भगवन्, दिशाभ्रम होनेसे विमूढ होकर अथवा दिग्विजयके लिए अनेक दिशाओमे भ्रमण करनेके लिए मुग्ध होकर मैने जो कुछ पाप उपार्जन किया था वह आपके दर्शन मात्रसे उस प्रकार विलीन हो गया है जिस प्रकार कि सूर्यके दर्शनसे रात्रिका अन्धकार विलीन हो जाता है ॥१९४॥ हे देव, आपके चरणोके स्मरणमात्रसे ही जब मनुष्य पवित्रताको प्राप्त हो जाता है तब फिर इस प्रकार भक्तिसे की हुई आपके गुणोकी स्तुतिसे क्यों नही पवित्रताको प्राप्त होगा ? अर्थात् अवश्य ही होगा ॥१९५॥ हे भगवन्, आपके गुणोंकी स्तुति करनेसे जो मैने पुण्य उपार्जन किया है उससे यही चाहता हूँ कि आपके चरणकमलोमे मेरी भक्ति सदा बनी रहे ॥१९६॥ इस प्रकार चर अचर जीवोंके गुरु सर्वोत्कृष्ट भगवान् वृषभदेवको नमस्कार कर जिसने आनन्दके आँसुओंकी बूँदोसे सामनेका प्रदेश सीच दिया है, जिसका ज्ञान प्रकाशमान हो रहा है, और जिसने दोनो हाथ जोडकर अपने मस्तकसे लगा रखे है ऐसे चक्रवर्ती भरतने भक्तिपूर्वक भगवान्को नमस्कार किया ॥१९७॥ कर्मरूपी शत्रुओके समूहको जीतनेसे जिन्हे विशुद्ध ज्ञान प्राप्त हुआ है ऐसे पुराण पुरुष भगवान् वृषभदेवसे पुरातन धर्मका स्वरूप सुनकर भरताधिपति महाराज भरत बड़ी प्रसन्नताको प्राप्त हुए सो ठीक ही है क्योकि बुद्धिमान् पुरुषोको प्रायः अपना हित करनेमे ही सन्तोष होता है ॥१९८॥ तदनन्तर अपने चचल मुकुटके किनारेसे जिन्होने भगवान्के पादपीठका स्पर्श किया है ऐसे निधियोके स्वामी भरत महाराज अपने पिता आदिनाथ भगवान्से पूछकर तथा वहाँ विराजमान अन्य मुनियोको नम्र हुए मस्तकसे नमस्कार कर अपनी निवासभूमि अयोध्याको जानेके लिए तत्पर हुए ॥१९९॥ चक्राधिपति भरतने जिसमे अनुक्रमसे खिले हुए सुन्दर फूल गुँथे हुए है और जो श्री जिनेन्द्रदेवके चरणोमे भक्तिपूर्वक अर्पित की गयी है ऐसी मालाके समान, सुन्दर मनकी प्रसन्नतासे युक्त अपनी दृष्टिको शेषाक्षत समझ बड़ी कठिनाईसे हटाकर भगवान्के सभाभवन अर्थात् समवसरणसे प्रस्थान किया ॥२००॥

---

१ दिग्विजयभ्रमणमूढेन । २ महत्पापम् । ३ नष्टम् । ४ आदित्यस्य । ५ –मर्जितम् ल० । ६ शोभनमनोविकासाम्, सुपुष्पविकासा च । ७ सिद्धशेषास्थया ।

आलोकयन् जिनसभावनिभूतिमिद्धां विस्फारितेक्षणयुगो युगदीर्घबाहुः ।
पृथ्वीश्वरैरनुगतः प्रणतोत्तमाङ्गैः प्रत्यावृतत्स्वसदनं मनुवंशकेतुः ॥२०१॥
पुण्योदयान्निधिपतिर्विजिताखिलाशस्तन्निर्जितौ[1] गमितषष्टिसमाः[2] सहस्रः ।
प्रीत्याऽभिवन्द्य जिनमाप परं प्रमोदं [3]तत्पुण्यसंग्रहविधौ सुधियो यतध्वम्[4] ॥२०२॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे
भरतराजकैलासाभिगमनवर्णनं नाम त्रयस्त्रिंशत्तमं पर्व ॥३३॥

■

भगवान्के समवसरणकी प्रकाशमान विभूतिको देखनेसे जिनके दोनों नेत्र खुल रहे हैं, जिनकी भुजाएँ युग (जुवांरी) के समान लम्बी है, मस्तक झुकाये हुए अनेक राजा लोग जिनके पीछे-पीछे चल रहे हैं और जो कुलकरोंके वंशकी पताकाके समान जान पड़ते हैं ऐसे भरत महाराज अपने घरकी ओर लौटे ॥२०१॥ चूँकि पुण्यके उदयसे ही चक्रवर्तीने समस्त दिशाएँ जीती, तथा उनके जीतनेमें साठ हजार वर्ष लगाये और फिर प्रीतिपूर्वक जिनेन्द्रदेवको नमस्कार कर उत्कृष्ट आनन्द प्राप्त किया । इसलिए हे बुद्धिमान् जन, पुण्यके संग्रह करनेमें प्रयत्न करो ॥२०२॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण
महापुराणसंग्रहके भाषानुवादमें भरतराजका कैलास पर्वतपर
जानेका वर्णन करनेवाला तैंतीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ।

■

१ निखिलदिग्जये । २ सवत्सर । ३ तस्मात् कारणात् । ४ प्रयत्नं कुरुध्वम् ।

चतुस्त्रिंशत्तमं पर्व

अथावरुह्य[1] कैलासादद्रीन्द्रादिव[2] देवराट् । चक्री प्रयाणमकरोद् विनीताभिमुखं कृती ॥१॥
सैन्यैरनुगतो रेजे [3]प्रयांश्चक्री निजालयम् । गङ्गौघ[4] इव दुर्वारः सरिदोघैरपाम्पतिः ॥२॥
ततः कतिपयैरेव प्रयाणैश्चक्रिणो वलम् । अयोध्यां प्रापदाबद्धतोरणां चित्रकेतनाम् ॥३॥
चन्दनद्रवसंसिक्तसुसंमृष्ट[5]महीतला । पुरी स्नातानुलिप्तेव सा रेजे पत्युरागमे ॥४॥
नातिदूरं[6] निविष्टस्य प्रवेशसमये प्रभोः[7] । चक्रमस्तारि चक्रं च नाक्रंस्त[8] पुरगोपुरम्[9] ॥५॥
सा पुरी गोपुरोपान्तस्थितचक्रांशुरञ्जिता । धृतसंध्यातपेवासीत् कुङ्कुमापिञ्जरच्छविः ॥६॥
सत्यं भरतराजोऽयं धौरेयश्चक्रिणामिति । धृतदिव्येव[10] सा जज्ञे ज्वलच्चक्रा पुरः[11] पुरी ॥७॥
ततः कतिपये[12] देवाश्चक्ररत्नाभिरक्षिणः । स्थितमेकपदे[13] चक्रं वीक्ष्य विस्मयमाययुः ॥८॥
सुरा जातरुष केचित्किं किमित्युच्चरद्गिरः । अलातचक्रव[14]द्भ्रेमुः करवालार्पितैः करैः ॥९॥
किमम्बरमणेर्बिम्बमम्बरात्परिलम्बते । प्रतिसूर्यः किमुद्भूत इत्यन्ये[15] मुमुहुर्मुहुः ॥१०॥

अथानन्तर – सुमेरु पर्वतसे इन्द्रकी तरह कैलास पर्वतसे उतरकर उस बुद्धिमान् चक्रवर्तीने अयोध्याकी ओर प्रस्थान किया ॥१॥ सेनाके साथ-साथ अपने घरकी ओर प्रस्थान करता हुआ चक्रवर्ती ऐसा सुशोभित होता था मानो नदियोके समूहके साथ किसीसे न रुकनेवाला गंगाका प्रवाह समुद्रकी ओर जा रहा हो ॥ २ ॥ तदनन्तर कितने ही मुकाम तय कर चक्रवर्तीकी वह सेना जिसमें तोरण बँधे हुए हैं और अनेक ध्वजाएँ फहरा रही हैं ऐसी अयोध्या नगरीके समीप जा पहुँची ॥ ३ ॥ जिसकी बुहारकर साफ की हुई पृथिवी घिसे हुए गीले चन्दनसे सीची गयी है ऐसी वह अयोध्यानगरी उस समय इस प्रकार सुशोभित हो रही थी मानो उसने पतिके आनेपर स्नान कर चन्दनका लेप ही किया हो ॥४॥ महाराज भरत नगरीके समीप ही ठहरे हुए थे वहाँसे नगरीमें प्रवेश करते समय जिसने समस्त शत्रुओके समूहको नष्ट कर दिया है ऐसा उनका चक्ररत्न नगरके गोपुरद्वारको उल्लंघन कर आगे नही जा सका – वाहर ही रुक गया ॥ ५ ॥ गोपुरके समीप रुके हुए चक्रकी किरणोसे अनुरक्त होनेके कारण जिसकी कान्ति कुंकुमके समान कुछ-कुछ पीली हो रही है ऐसी वह नगरी उस समय इस प्रकार जान पडती थी मानो उसने सन्ध्याकी लालिमा ही धारण की हो ॥ ६ ॥ जिसके आगे चक्ररत्न देदीप्यमान हो रहा है ऐसी वह नगरी उस समय ऐसी जान पडती थी मानो यह भरतराज सचमुच ही सब चक्रवर्तियोमें मुख्य है, अपनी इस वातकी प्रामाणिकता सिद्ध करनेके लिए उसने तप्त अयोगोलक आदिको ही धारण किया हो ॥ ७ ॥ तदनन्तर चक्ररत्नकी रक्षा करनेवाले कितने ही देव चक्रको एक स्थानपर खडा हुआ देखकर आश्चर्यको प्राप्त हुए ॥ ८ ॥ जिन्हे क्रोध उत्पन्न हुआ है ऐसे कितने ही देव, क्या है ? क्या है ? इस प्रकार चिल्लाते हुए हाथमे तलवार लेकर अलातचक्रकी तरह चारो ओर घूमने लगे ॥ ९ ॥ क्या यह आकाशसे सूर्यका विम्ब लटक पडा है ? अथवा कोई दूसरा ही सूर्य उदित हुआ है ? ऐसा विचार कर कितने ही लोग वार-वार मोहित हो रहे थे ॥ १० ॥

---

१ अवतीर्य । २ मेरो. । ३ गच्छन् । ४ गागौघ ल०, । ५ मुण्डुमंमार्जित । ६ ममीपे । ७ विभोः ल०, द० । ८ प्रवेशं नाकरोत् । ९ पुरगोपुरे र०, ल० । १० शपथ । ११ अग्रभागे । १२ केचन । १३ युगपत् सपदि वा । १४ चक्रवत्काष्ठाग्निभ्रमणवत् । १५ मुह्यन्ति स्म ।

कस्याप्यकालचक्रेण[1] पतितव्यं[2] विरोधिन । क्रूरेणेव ग्रहेणाद्य यतश्चक्रेण चक्रितम् ॥११॥
अथवाद्यापि जेतव्यः[3] पक्षः कोऽप्यस्ति चक्रिणः । चक्रस्खलनतः कैश्चिदित्थं तज्ज्ञैर्वितर्कितम् ॥१२॥
सेनानीप्रमुखास्तावत् प्रभवे[4] तन्न्यवेदयन् । तद्वार्ताऽऽकर्णनाच्चक्री किमप्यासीत्सविस्मयः ॥१३॥
अचिन्तयच्च किं नाम चक्रमप्रतिशासने । मयि स्थिते स्खलत्यद्य क्वचिदप्यस्खलद्गति ॥१४॥
संप्रधार्यमिदं[5] तावदित्याहूय पुरोधसम् । धीरो धीरतरां वाचमित्युच्चैराजगौ मनुः ॥१५॥
वदनोऽस्य मुखाम्भोजाद् व्यक्ताकूता[6] सरस्वती । निर्ययौ सदलंकारा शम्फलीव[7] जयश्रियः ॥१६॥
चक्रमाक्रान्तदिक्चक्रमरिचक्रभयंकरम् । कस्मान्नास्मत्पुरद्वारि क्रमते न्यक्कृतार्करुक् ॥१७॥
विश्वदिग्विजये पूर्वदक्षिणापरवार्द्धिषु । यदासीदस्खलद्वृत्ति रूप्याद्रेश्च गुहाद्वये ॥१८॥
चक्रं तदधुना कस्मात् स्खलत्यस्मद्गृहाङ्गणे । प्रायोऽस्माभिर्विरुद्धेन भवितव्यं जिगीषुणा ॥१९॥
किमसाध्यो द्विषत्कश्चिदस्त्यस्मद्भुक्तिगोचरे[8] । सनाभिः[9] कोऽपि किं वाऽस्मान् द्वेष्टि दुष्टान्तराशयः ॥२०॥
यः कोऽप्यकारणद्वेषी खलोऽस्मान्नाभिनन्दति । प्रायः स्खलन्ति चेतांसि महत्स्वपि दुरात्मनाम् ॥२१॥
विमत्सराणि चेतांसि महतां परवृद्धिषु । मत्सरीणि तु तान्येव क्षुद्राणामन्यवृद्धिषु ॥२२॥
अथवा दुर्मदाविष्टः कश्चिदप्रणतोऽस्ति मे । स्ववर्ग्यस्तन्मदोच्छित्यै[10] नूनं चक्रेण चक्रितम् ॥२३॥

आज यह चक्र क्रूरग्रहके समान वक्र हुआ है इसलिए अकालचक्रके समान किसी विरोधी शत्रु-पर अवश्य ही पडेगा ।।११।। अथवा अब भी कोई चक्रवर्तीके जेतव्य पक्षमे है – जीतने योग्य शत्रु विद्यमान है इस प्रकार चक्रके रुक जानेसे चक्रके स्वरूपको जाननेवाले कितने ही लोग विचार कर रहे थे ।।१२।। सेनापति आदि प्रमुख लोगोने यह बात चक्रवर्तीसे कही और उसके सुनते ही वे कुछ आश्चर्य करने लगे ।। १३ ।। वे विचार करने लगे कि जिसकी आज्ञा कही भी नही रुकती ऐसे मेरे रहते हुए भी, जिसकी गति कही भी नही रुकी ऐसा यह चक्ररत्न आज क्यों रुक रहा है ? ।। १४ ।। इस बातका विचार करना चाहिए यही सोचकर धीर वीर मनु-ने पुरोहितको बुलाया और उसने नीचे लिखे हुए बहुत ही गम्भीर वचन कहे ।।१५।। कहते हुए भरत महाराजके मुखकमलसे स्पष्ट अभिप्रायवाली और उत्तम-उत्तम अलंकारोसे सजी हुई जो वाणी निकल रही थी वह ऐसी जान पडती थी मानो विजयलक्ष्मीकी दूती ही हो ।।१६।। जिसने समस्त दिशाओके समूहपर आक्रमण किया है जो शत्रुओंके समूहके लिए भयकर है और जिसने सूर्यकी किरणोका भी तिरस्कार कर दिया है ऐसा यह चक्र मेरे ही नगरके द्वारमें क्यों नही आगे बढ रहा है – प्रवेश कर रहा है ? ।।१७।। जो समस्त दिशाओंको विजय करनेमे पूर्व-दक्षिण और पश्चिम समुद्रमें कही नही रुका, तथा जो विजयार्धकी दोनो गुफाओंमे नही रुका वही चक्र आज मेरे घरके आँगनमे क्यो रुक रहा है ? प्राय मेरे साथ विरोध रखनेवाला कोई विजिगीषु (जीतकी इच्छा करनेवाला) ही होना चाहिए ।।१८–१९।। क्या मेरे उपभोगके योग्य क्षेत्र (राज्य) में ही कोई असाध्य शत्रु मौजूद है अथवा दुष्ट हृदयवाला मेरे गोत्रका ही कोई पुरुष मुझसे द्वेष करता है ।।२०।। अथवा बिना कारण ही द्वेष करनेवाला कोई दुष्ट पुरुष मेरा अभिनन्दन नही कर रहा है – मेरी वृद्धि नही सह रहा है सो ठीक ही है क्योकि दुष्ट पुरुषोंके हृदय प्राय कर बड़े आदमियोपर भी बिगड़ जाते है ।।२१।। महापुरुषोंके हृदय दूसरोकी वृद्धि होनेपर मात्सर्यसे रहित होते है परन्तु क्षुद्र पुरुषोके हृदय दूसरोकी वृद्धि होने-पर ईर्ष्यासहित होते है ।।२२।। अथवा दुष्ट अहकारसे घिरा हुआ कोई मेरे ही घरका

---

१ अपमृत्युना । २ गन्तव्यम् मर्तव्यमित्यर्थ । ३ जेतव्यपक्षः ल०, द० । ४ चक्रिणे । ५ विचार्यम् । ६ व्यक्ताभिप्राया । ७ कुट्टणी । ८ भुक्तिक्षेत्रे । ९ सपिण्ड । 'सपिण्डास्तु सनाभय' इत्यभिधानात् । नाभिसंबन्धीत्यर्थ । १० आत्मवर्गे भव. ।

खलूपेक्ष्य[1] लघीया[2]नप्युच्छेद्यो लघु[3] तादृशः । क्षुद्रो रेणुरिवाक्षिस्थो रु[4]जत्यरिरुपेक्षितः ॥२४॥
बलादुद्धरणीयो हि क्षोदीयानपि[5] कण्टकः । अनुद्धृतः पदस्थोऽसौ भवेत्पीडाकरो भृशम् ॥२५॥
चक्रं नाम परं दैवं रत्नानामिदमग्रिमम् । गतिस्खलनमेतस्य न विना कारणाद् भवेत् ॥२६॥
ततो नाल्पमिदं कार्यं यच्चक्रेणार्य सूचितम् । सूचिते[6] खलु राज्याङ्गे[7] विकृतिर्नाल्पकारणात् ॥२७॥
तदत्र कारणं चिन्त्यं त्वया धीमन्निदन्तया[8] । अनिरूपित[9]कार्याणां नेह नामुत्र सिद्धयः ॥२८॥
त्वयीदं कार्यविज्ञानं तिष्ठते[10] दिव्यचक्षुषि । तमसां छेदने कोऽन्यः प्रभवेदंशुमालिनः ॥२९॥
निवेद्य कार्यमित्यस्मै दैवज्ञाय[11] मिताक्षरैः । विरराम प्रभुः प्रायः प्रभवो मितभाषिणः ॥३०॥
ततः प्रसन्नगम्भीरपदालंकारकोमलाम् । भारती भरतेशस्य प्रबोधायेति सोऽब्रवीत् ॥३१॥
अस्ति माधुर्यमस्त्योजस्तदस्ति पदसौष्ठवम् । अस्त्यर्थानुगमोऽन्यत्किं[12] यन्नास्ति त्वद्वचोमये[13] ॥३२॥
शास्त्रज्ञा वयमेकान्तात् नाभिज्ञा कार्ययुक्तिषु । शास्त्रप्रयोगवित् कोऽन्यस्त्वत्समो राजनीतिषु ॥३३॥
त्वमादिराजो राजर्षिस्तद्विद्यास्त्व[14]दुपक्रमम्[15] । तद्विदस्तत्प्रयुञ्जाना न जिहीमः कथं वयम् ॥३४॥

मनुष्य नम्र नही हो रहा है, जान पड़ता है यह चक्र उसीका अहकार दूर करनेके लिए वक्र हो रहा है ॥२३॥ शत्रु अत्यन्त छोटा भी हो तो भी उसकी उपेक्षा नही करनी चाहिए, द्वेष करनेवाला छोटा होनेपर भी शीघ्र ही उच्छेद करने योग्य है क्योकि आँखमे पड़ी हुई धूलिकी कणिकाके समान उपेक्षा किया हुआ छोटा शत्रु भी पीड़ा देनेवाला हो जाता है ॥२४॥ काँटा यदि अत्यन्त छोटा हो तो भी उसे जबरदस्ती निकाल डालना चाहिए क्योकि पैरमें लगा हुआ काँटा यदि निकाला नही जायेगा तो वह अत्यन्त दु.खका देनेवाला हो सकता है ॥२५॥ यह चक्ररत्न उत्तम देवरूप है और रत्नोमे मुख्य रत्न है इसकी गतिका स्खलन विना किसी कारणके नही हो सकता है ॥२६॥ इसलिए हे आर्य, इस चक्रने जो कार्य सूचित किया है वह कुछ छोटा नही है क्योकि यह राज्यका उत्तम अंग है इसमे किसी अल्पकारणसे विकार नही हो सकता है ॥२७॥ इसलिए हे बुद्धिमान् पुरोहित, आप इस चक्ररत्नके रुकनेमे क्या कारण है इसका अच्छी तरह विचार कीजिए क्योकि विना विचार किये हुए कार्योकी सिद्धि न तो इस लोकमे होती है और न परलोक ही मे होती है ॥२८॥ आप दिव्य नेत्र है इसलिए इस कार्यका ज्ञान आपमे ही रहता है अर्थात् आप ही चक्ररत्नके रुकनेका कारण जान सकते है क्योकि अन्धकारको नष्ट करनेमे सूर्यके सिवाय और कौन समर्थ हो सकता है ? ॥२९॥ इस प्रकार महाराज भरत थोडे ही अक्षरोके द्वारा इस निमित्तज्ञानीके लिए अपना कार्य निवेदन कर चुप हो रहे सो ठीक ही है क्योंकि प्रभु लोग प्राय: थोड़े ही बोलते है ॥३०॥ तदनन्तर निमित्तज्ञानी पुरोहित भरतेश्वरको समझानेके लिए प्रसन्न तथा गम्भीर पद और अलकारोसे कोमल वचन कहने लगा ॥३१॥ जो माधुर्य, जो ओज, जो पदोका सुन्दर विन्यास और जो अर्थकी सरलता आपके वचनोमे नही है वह क्या किसी दूसरी जगह है ? अर्थात् नही है ॥३२॥ हम लोग तो केवल शास्त्रको जाननेवाले है कार्य करनेकी युक्तियोमे अभिज्ञ नही है परन्तु राजनीतिमें शास्त्रके प्रयोगको जाननेवाला आपके समान दूसरा कौन है ? अर्थात् कोई नही है ॥३३॥ आप राजाओमे प्रथम राजा है और राजाओमे ऋषिके समान श्रेष्ठ होनेसे राजर्षि है यह राजविद्या केवल आपसे ही उत्पन्न हुई है इसलिए उसे जाननेवाले हम लोग

---

१ नोपेक्षणीय । २ अतिशयने लघु । ३ शीघ्रम् । ४ पीडा करोति । ५ अतिशयेन क्षुद्र· । ६ सुष्ठूचिते । ७ चक्रे । ८ प्रतीयमानस्वरूपतया । ९ अविचारित । १० निश्चितं भवति । ११ नैमित्तिकाय । १२ व्यक्तं प०, ल० । १३ तव वचन-प्रपञ्चे । १४ राजविद्या. । १५ त्वदुपक्रमात् ल० । त्वया पूर्वं प्रवर्तितं कार्यविज्ञानम् ।

तथापि त्वत्कृतोऽस्मासु सत्कारोऽनन्यगोचरः । तनोति गौरवं लोके ततः स्मो वक्तुमुद्यता ॥३५॥
इत्यनुश्रुतमस्माभिर्देव दैवज्ञशासनम्[1] । नास्ति चक्रस्य विश्रान्तिः सावशेषे दिशां जये ॥३६॥
ज्वलदर्चिः करालं वो जैत्रमस्त्रमिदं ततः । संस्तम्भितमिवातर्क्यं[2] पुरद्वारि विलम्बते ॥३७॥
अरिर्मित्रमरेर्मित्रं मित्रमित्रमिति श्रुतिः । श्रुतिमात्रे स्थिता देव प्रजास्त्वय्यनुशासति ॥३८॥
तथाप्यस्त्येव जेतव्य पक्ष. कोऽपि तवाधुना । योऽन्तर्गृहे कृतोत्थानः क्रूरो रोग इवोदरे ॥३९॥
बहिर्मण्डलमेवासीत् परिक्रान्तमिदं त्वया । अन्तर्मण्डलसंशुद्धिर्मनागद्यापि जायते ॥४०॥
जितजेतव्यपक्षस्य न नम्रा भ्रातरस्तव । व्युत्थिताश्च[3] सजातीया विघाताय न नु प्रभोः ॥४१॥
स्वपक्षैरेव तेजस्वी महानप्युपरुद्ध्यते[4] । प्रत्यर्कमर्ककान्तेन[5] ज्वलतेदमुदाहृतम्[6] ॥४२॥
विबलोऽपि सजातीयो लब्ध्वा तीक्ष्णं प्रतिष्कसम्[7] । दण्डः परश्वधस्येव[8] निवर्हयति[9] पार्थिवम्[10] ॥४३॥
भ्रातरोऽमी तवाजय्या बलिनो मानशालिनः । [11]यवीयांस्तेषु धौरेयो धीरो बाहुबली बली ॥४४॥
[12]एकान्नशतसंख्यास्ते[13] सोदर्या वीर्यशालिनः । प्रभोरादिगुरोर्नान्यं प्रणमाम इति स्थिता ॥४५॥

आपके ही सामने उसका प्रयोग करते हुए क्यों न लज्जित हो ॥३४॥ तथापि आपके द्वारा किया हुआ हमारा असाधारण सत्कार लोकमे हमारे गौरवको बढा रहा है इसलिए ही मै कुछ कहनेके लिए तैयार हुआ हूँ ॥३५॥ हे देव, हम लोगोंने निमित्तज्ञानियोका ऐसा उपदेश सुना है कि जबतक दिग्विजय करना कुछ भी बाकी रहता है तबतक चक्ररत्न विश्राम नही लेता अर्थात् चक्रवर्तीकी इच्छाके विरुद्ध कभी भी नही रुकता है ॥३६॥ जो जलती हुई ज्वालाओं-से भयंकर है ऐसा वह आपका विजयी शस्त्र नगरके द्वारपर गुप्त रीतिसे रोके हुएके समान अटक-कर रह गया है ॥३७॥ हे देव, आपके प्रजाका शासन करते हुए शत्रु, मित्र, शत्रुका मित्र, और मित्रका मित्र ये शब्द केवल शास्त्रमे ही रह गये है अर्थात् व्यवहारमें न आपका कोई मित्र है और न कोई शत्रु ही है सब आपके सेवक है ॥३८॥ तथापि अब भी कोई आपके जीतने योग्य रह गया है और वह उदरमे किसी भयंकर रोगके समान आपके घरमें ही प्रकट हुआ है ॥३९॥ आपके द्वारा यह बाह्यमण्डल ही आक्रान्त – पराजित हुआ है परन्तु अन्तर्मण्डलकी विशुद्धता तो अब भी कुछ नही हुई है। भावार्थ – यद्यपि आपने बाहरके लोगोंको जीत लिया है तथापि आपके घरके लोग अब भी आपके अनुकूल नही है ॥४०॥ यद्यपि आपने समस्त शत्रु पक्षको जीत लिया है तथापि आपके भाई आपके प्रति नम्र नही है–उन्होने आपके लिए नमस्कार नही किया है। वे आपके विरुद्ध खडे हुए है और सजातीय होनेके कारण आपके द्वारा विघात करने योग्य भी नही है ॥४१॥ तेजस्वी पुरुष बड़ा होनेपर भी अपने सजातीय लोगो-के द्वारा रोका जाता है यह बात सूर्यके सम्मुख जलते हुए सूर्यकान्त मणिके उदाहरणसे स्पष्ट है ॥४२॥ सजातीय पुरुष निर्बल होनेपर भी किसी बलवान् पुरुषका आश्रय पाकर राजा-को उस प्रकार नष्ट कर देता है जिस प्रकार निर्बल दण्ड कुल्हाड़ीका तीक्ष्ण आश्रय पाकर अपने सजातीय वृक्ष आदिको नष्ट कर देता है ॥४३॥ ये आपके बलवान् तथा अभिमानी भाई अजेय है और इनमे भी अतिशय युवा धीर वीर तथा बलवान् बाहुबली मुख्य है ॥४४॥ आपके ये निन्यानवे भाई बड़े बलशाली है, हम लोग भगवान् आदिनाथको छोड़कर और

---

१ विभिन्नशास्त्रम् । २ –मिवात्यर्थ स०, इ०, अ० । –मिवाव्यक्तं प०, ल० । ३ विरुद्धाचरणा. । ४ बाध्यते । ५ सूर्यकान्तपाषाणेन । ६ उदाहरणं कृतम् । ७ प्रतिश्रयम् प०, ल० । सहायम् । ८ परशो । 'परशुश्च परश्वध' इत्यभिधानात् । ९ नाशयति (लूप वर्ह हिंसायाम्) । १० पृथिव्या भवम् । वृक्षं नृपं च । ११ कनिष्ठ । 'जघन्यजे स्यु कनिष्ठयवीयोऽवरजानुजा' इत्यभिधानात् । १२ एकोन–ल०, द०, इ०, प० । १३ बाहुबलिना रहितेन सह इय संख्या, वृषभसेनेन प्रागेव दीक्षावग्रहणात् ।

तदत्र[1] प्रतिकर्तव्यमाशु चक्रधर त्वया । ऋणव्रणाग्निशत्रूणां शेषं नोपेक्षते कृती ॥४६॥
राजन् राजन्वती भूयात् त्वयैवेयं वसुंधरा । माभूद्राजवती[2] तेषां भूम्ना द्वैराज्यदुःस्थिता[3] ॥४७॥
त्वयि राजनि राजोक्तिर्देव नान्यत्र राजते । सिंहे स्थिते मृगेन्द्रोक्तिं हरिणा बिभृयुः कथम् ॥४८॥
देव त्वामनुवर्तन्तां भ्रातरो धूतमत्सराः । ज्येष्ठस्य कालमुख्यस्य शास्त्रोक्तमनुवर्तनम् ॥४९॥
तच्छासनहरा[4] गत्वा सोपायमुपजल्प्य[5] तान् । त्वदाज्ञानुवशान् कुर्युर्विगृह्य[6] ब्रूयुरन्यथा ॥५०॥
मिथ्यामदोद्धतः कोऽपि नोपेयाद्यदि ते वशम् । स नाशयेद्बताऽऽत्मानमात्मगृह्यं[7] च राजकम् ॥५१॥
राज्यं कुलकलत्रं च नेष्टं साधारणं[8] द्वयम् । भुङ्क्ते सार्द्धं परैर्यस्तत्[9] नरः पशुरेव सः ॥५२॥
किमत्र बहुनोक्तेन त्वामेत्य प्रणमन्तु ते । यान्तु वा शरणं देवं त्रातारं जगतां जिनम् ॥५३॥
न तृतीया गतिस्तेषामेषैषां[10] द्वितयी गतिः[11] । प्रविशन्तु त्वदास्थानं वनं वामी मृगैः समम् ॥५४॥
स्वकुलान्युल्मुकानीव[12] दहन्त्यननुवर्तनैः । अनुवर्तीनि तान्येव नेत्रस्यानन्दथुं परम्[13] ॥५५॥

किसीको प्रणाम नही करेगे ऐसा वे निश्चय कर वैठे है ॥४५॥ इसलिए हे चक्रधर, आपको इस विपयमें शीघ्र ही प्रतिकार करना चाहिए क्योकि बुद्धिमान् पुरुप ऋण, घाव, अग्नि और शत्रुके वाकी रहे हुए थोडे भी अशकी उपेक्षा नही करते है ॥४६॥ हे राजन्, यह पृथिवी केवल आपके द्वारा ही राजन्वती अर्थात् उत्तम राजासे पालन की जानेवाली हो, आपके भाइयो-के अधिक होनेसे अनेक राजाओके सम्वन्धसे जिसकी स्थिति विगड़ गयी है ऐसी होकर राजवती अर्थात् अनेक साधारण राजाओसे पालन की जानेवाली न हो। भावार्थ–जिस पृथिवीका शासक उत्तम हो वह राजन्वती कहलाती है और जिसका शासक अच्छा न हो, नाममात्रका ही हो वह राजवती कहलाती है। पृथिवीपर अनेक राजाओका राज्य होनेसे उसकी स्थिति छिन्न-भिन्न हो जाती है इसलिए एक आप ही इस रत्नमयी वसुन्धराके शासक हों, आपके अनेक भाइयोमे यह विभक्त न होने पावे ॥४७॥ हे देव, आपके राजा रहते हुए राजा यह शब्द किसी दूसरी जगह सुशोभित नही होता सो ठीक ही है क्योंकि सिहके रहते हुए हरिण मृगेन्द्र शब्दको किस प्रकार धारण कर सकते है ? ॥४८॥ हे देव, आपके भाई ईर्ष्या छोड़कर आपके अनुकूल रहे क्योकि आप उन सवमे वड़े है और इस कालमे मुख्य है इसलिए उनका आपके अनुकूल रहना शास्त्रमें कहा हुआ है ॥४९॥ आपके दूत जावे और युक्तिके साथ वातचीत कर उन्हे आपके आज्ञाकारी बनावे, यदि वे इस प्रकार आज्ञाकारी न हो तो विग्रह कर (विगडकर) अन्य प्रकार भी वातचीत करे ॥५०॥ मिथ्या अभिमानसे उद्धत होकर यदि कोई आपके वश नही होगा तो खेद है कि वह अपने-आपको तथा अपने अधीन रहनेवाले राजाओके समूहका नाश करावेगा ॥५१॥ राज्य और कुलवती स्त्रियाँ ये दोनो ही पदार्थ साधारण नही हैं, इनका उपभोग एक ही पुरुष कर सकता है। जो पुरुप इन दोनोका अन्य पुरुपोके साथ उपभोग करता है वह नर नही है पशु ही है ॥५२॥ इस विपयमें वहुत कहनेसे क्या लाभ है या तो वे आकर आपको प्रणाम करे या जगत्की रक्षा करनेवाले जिनेन्द्रदेवकी शरणको प्राप्त हों ॥५३॥ आपके उन भाइयोकी तीसरी गति नही है, इनके ये ही दो मार्ग है कि या तो वे आपके शिविरमें प्रवेश करें या मृगोके साथ वनमे प्रवेश करे ॥५४॥ सजातीय लोग परस्परके विरुद्ध आचरणसे अंगारेके

१ कारणात् । २ कुत्सितराजवती । 'सुराज्ञि देशे राजन्वान् स्यात्ततोऽन्यत्र राजवान्' इत्यभिधानात् । ३ द्वयो राज्ञो राज्येन दुःस्थिता । ४ त्वच्छासन–द०, ल० । दूता । ५ उक्त्वा । ६ विवाद कृत्वा । ७ आत्मना स्वीकरणीयम् । ८ सर्वेपामनुभवनीयम् । ९ द्वयम् । १०–मेषैषा ल० । ११ उपाय । १२ स्वगोत्राणि । तव भ्रातर इत्यर्थः । १३ पर. अ०, इ०, स० ।

प्रशान्तमत्सराः शान्तास्त्वां नत्वा नम्रमौलयः । सोदर्याः सुखमेधन्तां त्वत्प्रसादाभिकाङ्क्षिणः ॥५६॥
इति शासति शास्त्रज्ञे पुरोधसि सुमेधसि । प्रतिपद्यापि तत्कार्यं चक्री चुक्रोध तत्क्षणम् ॥५७॥
आरुष्टकलुषां दृष्टिं क्षिपन्दिक्ष्विव दिग्बलिम् । सधूमामिव कोपाग्नेः शिखां भ्रुकुटिमुत्क्षिपन् ॥५८॥
भ्रातृभाण्डकृतामर्षविषवेगमिवोद्वमन्[1] । वाक्छलेनोच्छलन्[2] रोषाद् बभाषे परुषा गिरः ॥५९॥
किं किमात्थ[3] दुरात्मानो भ्रातरः प्रणता न माम् । पश्य मद्दण्डचण्डोल्कापातात्तान् शकलीकृतान्[4] ॥६०॥
अदृष्टमश्रुतं कृत्यमिदं वैरमकारणम् । अवध्याः किल कुल्यत्वादिति[5] तेषां मनीषितम् ॥६१॥
यौवनोन्मादजस्तेषां भटवातोऽस्ति[6] दुर्मदः[7] । ज्वलच्चक्राभितापेन स्वेदस्तस्य प्रतिक्रिया ॥६२॥
अकरां[8] भोक्तुमिच्छन्ति[9] गुरुदत्तामिमान्तकें[10] । तत्किं[11] भटावलेपेन[12] भुक्तिं ते श्रावयन्तु[13] मे ॥६३॥
प्रतिशय्यानिपातेन[14] भुक्तिं ते साधयन्तु वा । शितास्त्रकण्टकोत्संगपतितारणाङ्गणे ॥६४॥
क्व वयं जितजेतव्या भोक्तव्ये[15] संगताः क्व ते । तथापि[16] संविभागोऽस्तु तेषां मदनुवर्तने ॥६५॥

समान जलाते रहते है और वे ही लोग परस्परमें अनुकूल रहकर नेत्रोके लिए अतिशय आनन्द रूप होते है ॥५५॥ इसलिए ये आपके भाई मात्सर्य छोड़कर शान्त हो मस्तक झुकाकर आपको नमस्कार करे और आपकी प्रसन्नताकी इच्छा रखते हुए सुखसे वृद्धिको प्राप्त होते रहें ॥५६॥ इस प्रकार शास्त्रके जाननेवाले बुद्धिमान् पुरोहितके कह चुकनेपर चक्रवर्ती भरतने उसीके कहे अनुसार कार्य करना स्वीकार कर उसी क्षण क्रोध किया ॥५७॥ जो क्रोधसे कलुषित हुई अपनी दृष्टिको दिशाओंके लिए बलि देते हुएके समान सब दिशाओमे फेक रहे है, क्रोधरूपी अग्निकी धूमसहित शिखाके समान भृकुटियाँ ऊँची चढा रहे है, भाईरूपी मूलधनपर किये हुए क्रोधरूपी विषके वेगको जो वचनोके छलसे उगल रहे है और जो क्रोधसे उछल रहे है ऐसे महाराज भरत नीचे लिखे अनुसार कठोर वचन कहने लगे ॥५८–५९॥ हे पुरोहित, क्या कहा ? क्या कहा ? वे दुष्ट भाई मुझे प्रणाम नही करते है, अच्छा तो तू उन्हे मेरे दण्डरूपी प्रचण्ड उल्कापातसे टुकड़े किया हुआ देख ॥६०॥ उनका यह कार्य न तो कभी देखा गया है, न सुना गया है, उनका यह वैर बिना कारण ही किया हुआ है, उनका खयाल है कि हम लोग एक कुलमे उत्पन्न होनेके कारण अवध्य है ॥६१॥ उन्हे यौवनके उन्मादसे उत्पन्न हुआ योद्धा होनेका कठिन वायुरोग हो रहा है इसलिए जलते हुए चक्रके सन्तापसे पसीना आना ही उसका प्रतिकार–उपाय है ॥६२॥ वे लोग पूज्य पिताजीके द्वारा दी हुई पृथिवीको बिना कर दिये ही भोगना चाहते है परन्तु केवल योद्धापनेके अहकारसे क्या होता है ? अब या तो वे लोगोको सुनावे कि भरत ही इस पृथिवीका उपभोग करनेवाला है हम सब उसके अधीन है या युद्धके मैदानमे तीक्ष्ण शस्त्ररूपी काँटोके ऊपर जिनका शरीर पड़ा हुआ है ऐसे वे भाई प्रतिशय्या–दूसरी शय्या अर्थात् रणशय्यापर पडकर उसका उपभोग प्राप्त करे। भावार्थ–जीते-जी उन्हे इस पृथिवीका उपभोग प्राप्त नही हो सकता ॥६३–६४॥ जिसने जीतने योग्य समस्त लोगोको जीत लिया है ऐसा कहाँ तो मै, और मेरे उपभोग करने योग्य क्षेत्रमे स्थित कहाँ वे लोग ? तथापि मेरे आज्ञानुसार चलनेपर उनका भी विभाग (हिस्सा)

१ 'भाण्ड भपणमात्रेऽपि भाण्डमूला वणिग्धने । नदीमात्रे तुरगाणा भूषणे भाजनेऽपि च' । २ उत्पतन् । ३ वदसि । ४ खण्ड । ५ कुले भवा कुल्यास्तेषा भाव तस्मात् । ६ वयं भटा इति गर्व । ७ दुर्निवारः । ८ अवलिम् । 'भागधेय करो बलिः' इत्यभिधानात् । ९ भूमिम् । १० कुत्सिताः । ११ तर्हि । १२ भटगर्वेण । १३ साधयन्त्वित्यर्थः । १४ पूर्व शय्यायाः प्रतिशय्या–अन्य शय्यातस्या निपातेन मरणशय्या इत्यर्थ. । १५ वृत्तिक्षेत्रे । १६ सम्यक्क्षेत्रादिविभाग ।

न भोक्तुमन्यथाकारं[1] मही तेभ्यो ददाम्यहम् । कथंकारमिदं[2] चक्रं विश्रमं यात्वतज्जये[3] ॥६६॥
इदं महदनाख्येयं[4] यत्प्राज्ञो बन्धुवत्सलः । स बाहुबलिसाह्वोऽपि[5] भजते विकृतिं कृती ॥६७॥
अबाहुबलिनानेन[6] राजकेन नतेन किम् । नगरेण गरेणेव[7] भुक्तेनापोदनेन[8] किम् ॥६८॥
किं किंकरैः करालास्त्रप्रतिनिर्जित[9]शात्रवैः । अनाज्ञावशमेतस्मिन् नवविक्रमशालिनि[10] ॥६९॥
किं वा सुरभटैरेभिरुद्भटारभटीरसैः[11] । मय्येवमसमां स्पर्द्धां तस्मिन्कुर्वति गर्विते ॥७०॥
इति जल्पति संरम्भाच्च[12]क्रपाणावुपक्रमम्[13] । तस्योपचक्रमे कर्तुं पुनरित्थं पुरोहितः ॥७१॥
जितजेतव्यतां देव घोषयन्नपि किं मुधा । जितोऽसि क्रोधवेगेन प्राग्जय्यो वशिनां हि सः ॥७२॥
बालास्ते बालभावेन[14] विल[15]सन्त्वपथेऽप्यलम् । देवे जितारिषड्वर्गे न तमः[16] स्थातुमर्हति ॥७३॥
क्रोधान्धतमसे मग्नं यो नात्मानं समुद्धरेत् । स कृत्यसंशयद्वैधान्नो[17] त्तरीतुमलंतराम् ॥७४॥
किं तरां स विजानाति कार्याकार्यमनात्मवित् । यः स्वान्तःप्रभवान् जेतुमरीन्न प्रभवेत्प्रभुः ॥७५॥
तद्देव विरमामुष्मात् संरम्भादपकारिणः । जितात्मानो जयन्ति क्ष्मां क्षमया हि जिगीषवः ॥७६॥

हो सकता है ॥६५॥ और किसी तरह उनके उपभोगके लिए मै उन्हे यह पृथिवी नही दे सकता हूँ। उन्हें जीते विना यह चक्ररत्न किस प्रकार विश्राम ले सकता है ? ॥६६॥ यह वडी निन्दाकी वात है कि जो अतिशय बुद्धिमान् है, भाइयोंमें प्रेम रखनेवाला है, और कार्यकुशल है वह वाहुवली भी विकारको प्राप्त हो रहा है ॥६७॥ बाहुवलीको छोड़कर अन्य सव राज-पुत्रोने नमस्कार भी किया तो उससे क्या लाभ है और पोदनपुरके विना विपके समान इस नगरका उपभोग भी किया तो क्या हुआ ॥६८॥ जो नवीन पराक्रमसे शोभायमान वाहुवली हमारी आज्ञाके वश नही हुआ तो भयंकर शस्त्रोसे शत्रुओका तिरस्कार करनेवाले सेवकोसे क्या प्रयोजन है ? ॥६९॥ अथवा अहंकारी बाहुवली जव इस प्रकार मेरे साथ अयोग्य ईर्ष्या कर रहा है तव अतिशय शूरवीरतारूप रसको धारण करनेवाले मेरे इन देवरूप योद्धाओसे क्या प्रयोजन है ? ॥७०॥ इस प्रकार जव चक्रवर्ती क्रोधसे बहुत बढ-बढकर वातचीत करने लगे तव पुरोहितने उन्हें शान्त कर उपायपूर्वक कार्य प्रारम्भ करनेके लिए नीचे लिखे अनुसार उद्योग किया ॥७१॥ हे देव, मैने जीतने योग्य सवको जीत लिया है ऐसी घोपणा करते हुए भी आप क्रोधके वेगसे व्यर्थ ही क्यो जीते गये ? जितेन्द्रिय पुरुपोको तो क्रोधका वेग पहले ही जीतना चाहिए ॥७२॥ वे आपके भाई वालक है इसलिए अपने वालस्वभाव-से कुमार्गमे भी अपने इच्छानुसार क्रीड़ा कर सकते है परन्तु जिसने काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य इन छहो अन्तरग शत्रुओको जीत लिया है ऐसे आपमे यह अन्धकार ठहरने-के योग्य नही है अर्थात् आपको क्रोध नही करना चाहिए ॥७३॥ जो मनुष्य क्रोधरूपी गाढ अन्धकारमें डूवे हुए अपने आत्माका उद्धार नही करता वह कार्यके संशयरूपी द्विविधासे पार होनेके लिए समर्थ नही है। भावार्थ – क्रोधसे कार्यकी सिद्धि होनेमे सदा सन्देह वना रहता है ॥७४॥ जो राजा अपने अन्तरगसे उत्पन्न होनेवाले शत्रुओको जीतनेके लिए समर्थ नही है वह अपने आत्माको नही जाननेवाला कार्य और अकार्यको कैसे जान सकता है ? ॥७५॥ इसलिए हे देव, अपकार करनेवाले इस क्रोधसे दूर रहिए क्योकि जीतकी इच्छा रखनेवाले जिते-

१ अन्यथा । २ कथम् । ३ तेषां जयाभावे । ४ अवाच्यम् । ५ वाहुवलिनामा । ६ वाहुवलिकुमाररहितेन । ७ गरलेनेव । ८ पोदनपुररहितेन । ९ तर्जित – ल०, द० । १० वाहुवलिनि । ११ अधिकभयानकरसैः । १२ क्रोधात् । १३ युद्धारम्भम् । १४ वालत्वेन । १५ गर्विता भूत्वा वर्तन्त इत्यर्थः । १६ अज्ञानम् । १७ कार्यसंदेहद्वैविध्यात् ।

विजितेन्द्रियवर्गाणां सुश्रुतश्रुतसंपदाम् । परलोकजिगीषूणां क्षमा साधनमुत्तमम् ॥७७॥
लेखसाध्ये च कार्येऽस्मिन् विफलोऽतिपरिश्रमः । तृणाङ्कुरे नखच्छेद्ये कः[1] परश्वधमुद्धरेत ॥७८॥
ततस्तितिक्षमाणेन[2] साध्यो भ्रातृगणस्त्वया । सोपचारं प्रयुक्तेन वचोहरगणेन सः ॥७९॥
अद्यैव च प्रहेतव्याः समं लेखैर्वचोहराः । गत्वा ब्रूयुश्च तानेत[3] चक्रिणं भजताग्रजम् ॥८०॥
कल्पानोकहसेवेव तत्सेवाऽभीष्टदायिनी । गुरुकल्पोऽग्रजश्चक्री स मान्यः[4] सर्वथापि वः ॥८१॥
विदूरस्थैर्न युष्माभिरैश्वर्यं तस्य राजते । तारागणैरनासन्नैरिव बिम्बं निशापतेः ॥८२॥
साम्राज्यं नास्य तोषाय यद्भवद्भिर्विना भवेत् । सहभोग्यं हि बन्धूनामधिराज्यं सतां मुदे ॥८३॥
इदं[5] वाचिकमन्यत्तु लेखार्थादवधार्यताम् । इति सोपायनैर्लेखैः प्रत्याय्यास्ते[6] मनस्विनः ॥८४॥
यशस्य[7]मिदमेवार्य कार्यं श्रेयस्यमेव[8] च । चिन्त्यमुत्तरकार्यं च साम्ना तेष्ववशेषु वै ॥८५॥
बिभ्यता[9] जननिर्वादादनुष्ठेयमिदं त्वया । स्थायुकं[10] हि यशो लोके[11] गत्वर्यो ननु संपदः ॥८६॥
इति तद्वचनाच्चक्री वृत्तिमारभटीं जहौ । अनुवर्तनसाध्या हि महतां चित्तवृत्तयः ॥८७॥
आस्तां भुजबली तावद् यत्नसाध्यो[12] महाबलः । शेषैरेव परीक्षिष्ये भ्रातृभिस्तद् द्विजिह्मताम्[13] ॥८८॥

न्द्रिय पुरुष केवल क्षमाके द्वारा ही पृथिवीको जीतते है ॥७६॥ जिन्होंने इन्द्रियोंके समूहको जीत लिया है, शास्त्ररूपी सम्पदाका अच्छी तरह श्रवण किया है और जो परलोकको जीतनेकी इच्छा रखते है ऐसे पुरुषोके लिए सबसे उत्कृष्ट साधन क्षमा ही है ॥७७॥ जो लेख लिखकर भी किया जा सकता है ऐसे इस कार्यमे अधिक परिश्रम करना व्यर्थ है क्योकि जो तृणका अंकुर नखसे तोड़ा जा सकता है उसके लिए भला कौन कुल्हाड़ी उठाता है ॥७८॥ इसलिए आपको शान्त रहकर भेटसहित भेजे हुए दूतोंके द्वारा ही यह भाइयोका समूह वश करना चाहिए ॥७९॥ आज ही आपको पत्रसहित दूत भेजना चाहिए, वे जाकर उनसे कहे कि चलो और अपने बडे भाईकी सेवा करो ॥८०॥ उनकी सेवा कल्पवृक्षकी सेवाके समान आपके सब मनोरथोको पूर्ण करनेवाली होगी । वह आपका बड़ा भाई पिताके तुल्य है, चक्रवर्ती है और सब तरहसे आप लोगोके द्वारा पूज्य है ॥८१॥ जिस प्रकार दूर रहनेवाले तारागणोसे चन्द्रमाका बिम्ब सुशोभित नही होता है उसी प्रकार दूर रहनेवाले आप लोगोसे उनका ऐश्वर्य सुशोभित नही होता है ॥८२॥ आप लोगोके बिना यह राज्य उनके लिए सन्तोष देनेवाला नही हो सकता क्योकि जिसका उपभोग भाइयोके साथ-साथ किया जाता है वही साम्राज्य सज्जन पुरुषोको आनन्द देनेवाला होता है ॥८३॥ 'यह मौखिक सन्देश है, बाकी समाचार पत्रसे मालूम कीजिए' इस प्रकार भेटसहित पत्रोके द्वारा उन प्रतापी भाइयोको विश्वास दिलाना चाहिए ॥८४॥ हे आर्य, आपके लिए यही कार्य यश देनेवाला है और यही कल्याण करनेवाला है यदि वे इस तरह शान्तिसे वश न हो तो फिर आगेके कार्यका विचार करना चाहिए ॥८५॥ आपको लोकापवादसे डरते हुए यही कार्य करना चाहिए क्योकि लोकमें यश ही स्थिर रहनेवाला है, सम्पत्तियाँ तो नष्ट हो जानेवाली है ॥८६॥ इस प्रकार पुरोहितके वचनोसे चक्रवर्तीने अपनी क्रोधपूर्ण वृत्ति छोड दी सो ठीक ही है क्योकि महापुरुषोकी चित्तकी वृत्ति अनुकूल वचन कहनेसे ही ठीक हो जाती है ॥८७॥ इस समय जो प्रयत्नसे वश नही किया जा सकता ऐसा महाबलवान् बाहुबली दूर रहे पहले शेष भाइयोके द्वारा ही

---

१ परशुम् । २ सहमानेन । ३ आगच्छत । ४ पूज्य । ५ सदेशवाक् । 'सदेशवाग् वाचिक स्याद्' इत्यभिधानात् । ६ विश्वास्या । ७ यशस्करम् । ८ श्रेयस्करम् । ९ जनापवादात् । १० स्थिरतरम् । ११ गमनशीला १२ यत्र साध्या महाभुज अ०, प०, स०, इ०, ल० । १३ बाहुबलिन. कुटिलताम् ।

इति निर्धार्य कार्यज्ञान् कार्ययुक्तौ विविक्तधीः । प्राहिणोत्स निसृष्टार्थान्[1] दूताननुजसंनिधिम् ॥८९॥
गत्वा च ते[2] यथोद्देशं दृष्ट्वा तांस्तान्यथोचितम् । जगुः संदेशमीशस्य तेभ्यो दूता यथास्थितम् ॥९०॥
अथ ते सह संभूय कृतकार्यनिवेदनान् । दूतानित्यूचुरारूढप्रभुत्वमदकर्कशाः ॥९१॥
यदुक्तमादिराजेन तत्सत्यं नो[3]ऽभिसंमतम् । गुरोरसंनिधौ पूज्यो ज्यायान्भ्राताऽनुजैरिति ॥९२॥
प्रत्यक्षो गुरुरस्माकं प्रतपत्येष[4] विश्वदृक् । स नः प्रमाणमैश्वर्यं तद्वितीर्णमिदं हि नः ॥९३॥
तदत्र गुरुपादाज्ञा तन्त्रा[5] न स्वैरिणो[6] वयम् । न देयं भरतेशेन नादेयमिह किंचन ॥९४॥
यत्तु नः संविभागार्थमिदमामन्त्रणं कृतम् । चक्रिणा तेन सुप्रीता[7] प्रीणाकण्ठं[8] वयमागलात्[9] ॥९५॥
इति सत्कृत्य तान्दूतान् सन्मानैः प्रभुवत्प्रभौ । विहितोपायनाः[10] सद्यः प्रतिलेखैर्व्यसर्जयन् ॥९६॥
दूतसात्कृतसन्मानाः[11] प्रभुसात्कृतवीचिकाः[12] । गुरुसात्कृत्य तत्कार्यं[13] प्रापुस्ते गुरुसंनिधिम् ॥९७॥
गत्वा च गुरुमद्राक्षुर्मितोचितपरिच्छदाः[14] । महागिरिमिवोत्तुङ्गं कैलासशिखरालयम्[15] ॥९८॥
प्रणिपत्य विधानेन प्रपूज्य च यथाविधि । व्यजिज्ञपन्निदं वाक्यं कुमारा मारविद्विषम् ॥९९॥
त्वत्तः स्मो लब्धजन्मानस्त्वत्तः प्राप्ताः परां श्रियम् । त्वत्प्रसादैषिणो देव त्वत्तो नान्यमुपास्महे[16] ॥१००॥

उनकी कुटिलताकी परीक्षा करूँगा । इस प्रकार निश्चय कर कार्य करनेमे जिसकी बुद्धि कभी भी मोहित नही होती ऐसे चक्रवर्तीने कार्यके जाननेवाले निःसृष्टार्थ दूतोको अपने भाइयोंके समीप भेजा ॥८८–८९॥ उन दूतोने भरतके आज्ञानुसार जाकर उनके योग्यरीतिसे दर्शन किये और उनके लिए चक्रवर्तीका सन्देश सुनाया ॥९०॥ तदनन्तर–प्राप्त हुए ऐश्वर्यके मदसे जो कठोर हो रहे है ऐसे वे सब भाई दूतोके द्वारा कार्यका निवेदन हो चुकनेपर परस्परमे मिलकर उनसे इस प्रकार वचन कहने लगे ॥९१॥ कि जो आदिराजा भरतने कहा है वह सच है और हम लोगोको स्वीकार है क्योकि पिताके न होनेपर बडा भाई ही छोटे भाइयोके द्वारा पूज्य होता है ॥९२॥ परन्तु समस्त ससारको जानने-देखनेवाले हमारे पिता प्रत्यक्ष विराजमान है वे ही हमको प्रमाण हैं, यह हमारा ऐश्वर्य उन्हीका दिया हुआ है ॥९३॥ इसलिए हम लोग इस विषयमे पिताजीके चरणकमलोकी आज्ञाके अधीन है, स्वतन्त्र नही है । इस संसारमे हमें भरतेश्वरसे न तो कुछ लेना है और न कुछ देना है ॥९४॥ तथा चक्रवर्तीने हिस्सा देनेके लिए जो हम सबको आमन्त्रण दिया है अर्थात् बुलाया है उससे हम लोग बहुत सन्तुष्ट हुए है और गले तक तृप्त हो गये है ॥९५॥ इस प्रकार राजाओकी तरह योग्य सन्मानोसे उन दूतोका सत्कार कर तथा भरतके लिए उपहार देकर और बदलेके पत्र लिखकर उन राजकुमारोने दूतोंको शीघ्र ही विदा कर दिया ॥९६॥ इस प्रकार जिन्होने दूतोका सन्मान कर भरतके लिए योग्य उत्तर दिया है ऐसे वे सब राजकुमार, पूज्य पिताजीका दिया हुआ कार्य उन्हीको सौपनेके लिए उनके समीप पहुँचे ॥९७॥ जिनके पास परिमित तथा योग्य सामग्री है ऐसे उन राजकुमारोने किसी महापर्वतके समान ऊँचे और कैलासके शिखरपर विद्यमान पूज्य पिता भगवान् वृषभदेवके जाकर दर्शन किये ॥९८॥ उन राजकुमारोने विधिपूर्वक प्रणाम किया, विधिपूर्वक पूजा की और फिर कामदेवको नष्ट करनेवाले भगवान्से नीचे लिखे वचन कहे ॥९९॥ हे देव, हम लोगोंने आपसे ही जन्म पाया है, आपसे ही यह उत्कृष्ट विभूति पायी है और अब भी आपकी प्रसन्नताकी इच्छा रखते है, हम लोग आपको छोडकर और किसीकी उपासना नहीं

१ न्यस्तार्थान् । असकृत्संपादितप्रयोजनानित्यर्थः । २ कुमाराः । ३ अस्माकम् । ४ प्रकाशते । ५ प्रधानाः । ६ स्वेच्छाचारिणः । ७ संतोषिताः । ८ तृप्ताः । ९ कन्धरपर्यन्तम् । १० कृतप्राभृताः । ११ दूतानामायत्तीकृत । १२ भरतायत्तीकृतसंदेशाः । १३ भरतकृतकार्यम् । १४ परिकराः । १५ कैलासशिखरमालयो यस्य । १६ आराधयाम ।

गुरुप्रसाद इत्युच्चैर्जनो वक्त्येष केवलम्। वयं तु तद्रसाभिज्ञास्त्वत्प्रसादार्जितश्रियः[1] ॥१०१॥
त्वत्प्रणामानुरक्तानां त्वत्प्रसादाभिकाङ्क्षिणाम्। त्वद्वचःकिंकराणां नो यद्वा तद्वाऽस्तु[3] नापरम् ॥१०२॥
इति स्थिते प्रणामार्थं भरतोऽस्माञ्जुहूषति[4]। तत्रात्र कारणं विद्मः किं मदः किंनु मत्सरः ॥१०३॥
युष्मत्प्रणमनाभ्यासरसदुर्ललितं[5] शिरः। नान्यप्रणमने देव धृतिं बध्नाति जातु नः ॥१०४॥
किमम्भोजरजःपुञ्जपिञ्जरं वारि मानसे। निषेव्य राजहंसोऽयं रमतेऽन्यसरोजले ॥१०५॥
किमप्सरःशिरोजान्त[6]सुमनोगन्धलालितः। तुम्बीवनान्त[7]मभ्येति[8] प्राणान्तेऽपि मधुव्रतः ॥१०६॥
मुक्ताफलाच्छमापाय[9]गगनाम्बुनवाम्बुदात्। शुष्यत्सरोऽम्बु किं वाञ्छेदुदन्यन्नपि[10] चातकः ॥१०७॥
इति युष्मत्पदाब्जन्म[11]रजोरञ्जितमस्तकाः। प्रणन्तुमसदाप्ता[12]नामिहामुत्र[13] च नेश्महे[14] ॥१०८॥
परप्रणामविमुखीं भयसंगविवर्जिताम्। वीरदीक्षां वयं धर्तुं भवत्पार्श्वमुपागताः ॥१०९॥
तदेव कथयास्माकं हितं पथ्यं च वर्त्म यत्। येनेहामुत्र च स्याम[15] त्वद्भक्तिदृढवासनाः ॥११०॥
परप्रणामसंजातमानभङ्गभयातिगाम्[16]। पदवीं तावकीं[17] देव भवेमहि[18] भवे भवे ॥१११॥
मानखण्डनसंभूतपरिभूति[19]भयातिगाः। योगिनः सुखमेधन्ते वनेषु हरिभिः समम् ॥११२॥

करना चाहते ॥१००॥ इस संसारमे लोग यह 'पिताजीका प्रसाद है' ऐसा केवल कहते ही है परन्तु आपके प्रसादसे जिन्हे उत्तम सम्पत्ति प्राप्त हुई है ऐसे हम लोग इस वाक्यके रसका अनुभव ही कर चुके है ॥१०१॥ आपको प्रणाम करनेमे तत्पर, आपकी प्रसन्नताको चाहनेवाले और आपके वचनोके किंकर हम लोगोका चाहे जो हो परन्तु हम लोग और किसीकी उपासना नही करना चाहते है ॥१०२॥ ऐसा होनेपर भी भरत हम लोगोको प्रणाम करनेके लिए बुलाता है सो इस विषयमे उसका मद कारण है अथवा मात्सर्य यह हम लोग कुछ नही जानते ॥१०३॥ हे देव, जो आपको प्रणाम करनेके अभ्यासके रससे मस्त हो रहा है ऐसा यह हमारा शिर किसी अन्यको प्रणाम करनेमें सन्तोष प्राप्त नही कर रहा है ॥१०४॥ क्या यह राजहंस मानसरोवरमे कमलोंकी परागकी समूहसे पीले हुए जलकी सेवा कर किसी अन्य तालाबके जलकी सेवा करता है? अर्थात् नही करता है? ॥१०५॥ क्या अप्सराओके केशोमें लगे हुए फूलोकी सुगन्धसे सन्तुष्ट हुआ भ्रमर प्राण जानेपर भी तूँवीके वनमे जाता है अर्थात् नहीं जाता है ॥१०६॥ अथवा जो चातक नवीन मेघसे गिरते हुए मोतीके समान स्वच्छ आकाश-गत जलको पी चुका है क्या वह प्यासा होकर भी सूखते हुए सरोवरके जलको पीना चाहेगा? अर्थात् नही ॥१०७॥ इस प्रकार आपके चरणकमलोकी परागसे जिनके मस्तक रग रहे है ऐसे हम लोग इस लोक तथा परलोक—दोनों ही लोकोमें आप्तभिन्न देव और मनुष्योंको प्रणाम करनेके लिए समर्थ नही है ॥१०८॥ जिसमें किसी अन्यको प्रणाम नही करना पड़ता, और जो भयके सम्बन्धसे रहित है ऐसी वीरदीक्षाको धारण करनेके लिए हम लोग आपके समीप आये हुए है ॥१०९॥ इसलिए हे देव, जो मार्ग हित करनेवाला और सुख पहुँचाने वाला हो वह हम लोगोको कहिए जिससे इस लोक तथा परलोक दोनो ही लोकोंमें हम लोगो-की वासना आपकी भक्तिमें दृढ हो जावे ॥११०॥ हे देव, जो दूसरोंको प्रणाम करनेसे उत्पन्न हुए मानभंगके भयसे दूर रहती है ऐसी आपकी पदवीको हम लोग भवभवमे प्राप्त होते रहे ॥१११॥ मानभंगसे उत्पन्न हुए तिरस्कारके भयसे दूर रहनेवाले योगी लोग वनों

१ गुरुप्रसादसामर्थ्य। २ प्रसादोर्जित–द०, ल०। ३ यत्किंचिद् भवति तदस्तु। ४ आह्वातुमिच्छति। ५ गर्वितम्। ६ देवस्त्रीणां केशमध्यपुष्पगन्धलालित। ७ अलाबुवनमध्यम्। ८ अभिगच्छति। ९–मापीय द०, ल०। आपाय–पीत्वा। १० पिपासन्नपि। ११ पदकमल। १२ नमस्कर्तुम्। १३ अनाप्तानाम्। १४ समर्था न भवाम। १५ भवाम। लोट्। १६ अतिक्रान्ताम्। १७ तव संबन्धिनीम्। १८ प्राप्नुम.। भू प्राप्तावात्मनेपदम्। १९ परिभव।

ब्रुवाणानिति साक्षेपं स्थापयन्पथि शाश्वते । भगवानिति तानुच्चैरन्वशादनुशासिता[1] ॥११३॥
महामाना[2] वपुष्मन्तो[3] वयस्सत्त्वगुणान्विता । कथमन्यस्य संवाह्या यूयं भद्रा द्विपा इव ॥११४॥
भङ्गिना[4] किमु राज्येन जीवितेन चलेन किम् । किं च भो यौवनोन्मादैरैश्वर्यबलदूषितैः ॥११५॥
किं बलैर्बलिनां गम्यैः किं[5] हार्यैर्वस्तुवाहनैः । तृष्णाग्निबोधनैरेभिः किं धनैरिन्धनैरिव ॥११६॥
भुक्त्वापि सुचिरं कालं यैर्न तृप्तिः क्लमः[6] परम् । विषयैस्तैरलं भुक्तैर्विषमिश्रैरिवाशनैः ॥११७॥
किं च भो विषयास्वादः कोऽप्यनास्वादितोऽस्ति वः । स एव पुनरास्वादः किं तेनास्त्याशितंभवः[7] ॥११८॥
यत्र[8] शस्त्राणि मित्राणि शत्रवः पुत्रबान्धवाः । कलत्रं सर्वभोगीणा[9] धरा राज्यं धिगीदृशम् ॥११९॥
भुनक्तु नृपशार्दूलो[10] भरतो भरतावनिम् । यावत्पुण्योदयस्तावत्तत्रालं वोऽतितिक्षया[11] ॥१२०॥
तेनापि[12] त्याज्यमेवेदं राज्यं भङ्गि[13] यदा तदा । हेतोरशाश्वतस्यास्य युध्यध्वे बत किं मुधा ॥१२१॥
[14]तदलं स्पर्द्धया दध्वं यूयं धर्ममहातरोः । दयाकुसुमम्लानि यत्तन्मुक्तिफलप्रदम्[15] ॥१२२॥
पराराधनदैन्योनं परैराराध्यमेव यत् । तद्वो महाभिमानानां तपो मानाभिरक्षणम् ॥१२३॥
दीक्षा रक्षा गुणा भृत्या दयेयं प्राणवल्लभा । इति ज्याय[16]स्तपोराज्यमिदं श्लाघ्यपरिच्छदम् ॥१२४॥

मे सिंहोंके साथ सुखसे बढते रहते है ॥११२॥ इस प्रकार आक्षेपसहित कहते हुए राजकुमारो-को अविनाशी मोक्षमार्गमें स्थित करते हुए हितोपदेशी भगवान् वृषभदेव इस प्रकार उपदेश देने लगे ॥११३॥ महा अभिमानी और उत्तम शरीरको धारण करनेवाले तथा तारुण्य अवस्था, बल और गुणोसे सहित तुम लोग उत्तम हाथियोंके समान दूसरोके सवाह्य अर्थात् सेवक (पक्षमें वाहन करने योग्य सवारी) कैसे हो सकते हो ? ॥११४॥ हे पुत्रो, इस विनाशी राज्यसे क्या हो सकता है ? इस चंचल जीवनसे क्या हो सकता है ? और ऐश्वर्य तथा बलसे दूषित हुए इस यौवनके उन्मादसे क्या हो सकता है ? ॥११५॥ जो बलवान् मनुष्योके द्वारा जीती जा सकती है ऐसी सेनाओसे क्या प्रयोजन है ? जिनकी चोरी की जा सकती है ऐसे सोना, चाँदी, हाथी, घोड़ा आदि पदार्थो से क्या प्रयोजन है ? और ईंधनके समान तृष्णारूपी अग्निको प्रज्वलित करनेवाले इस धनसे भी क्या प्रयोजन है ? ॥११६॥ चिरकाल तक भोग कर भी जिनसे तृप्ति नही होती, उलटा अत्यन्त परिश्रम ही होता है ऐसे विष मिले हुए भोजनके समान इन विषयोंका उपभोग करना व्यर्थ है ॥११७॥ हे पुत्रो, तुमने जिसका कभी आस्वादन नही किया हो ऐसा भी क्या कोई विषय बाकी है ? यह सब विषयोंका वही आस्वाद है जिसका कि तुम अनेक बार आस्वादन (अनुभव) कर चुके हो फिर भला तुम्हे इनसे तृप्ति कैसे हो सकती है ? ॥११८॥ जिसमे शस्त्र मित्र हो जाते है, पुत्र और भाई वगैरह शत्रु हो जाते है तथा सबके भोगने योग्य पृथिवी ही स्त्री हो जाती है ऐसे राज्यको धिक्कार हो ॥११९॥ जबतक पुण्यका उदय है तबतक राजाओंमें श्रेष्ठ भरत इस भरत क्षेत्रकी पृथिवीका पालन करे इस विषयमे तुम लोगोका क्रोध करना व्यर्थ है ॥१२०॥ यह विनश्वर राज्य भरतके द्वारा भी जब कभी छोड़ा ही जावेगा इसलिए इस अस्थिर राज्यके लिए तुम लोग व्यर्थ ही क्यो लडते हो ॥१२१॥ इसलिए ईर्ष्या करना व्यर्थ है, तुम लोग धर्मरूपी महावृक्षके उस दयारूपी फूलको धारण करो जो कभी भी म्लान नही होता और जिसपर मुक्तिरूपी महाफल लगता है ॥१२२॥ जो दूसरोंकी आराधनासे उत्पन्न हुई दीनतासे रहित है बल्कि दूसरे पुरुष ही जिसकी आराधना करते हैं ऐसा तपश्चरण ही महा अभिमान धारण करनेवाले तुम लोगोके मानकी रक्षा करनेवाला है ॥१२३॥ जिसमें दीक्षा ही रक्षा करनेवाली है, गुण ही सेवक है, और यह दया ही प्राणप्यारी स्त्री है इस

---

१ उपदेशक । २ महाभिमानिन. प्रमाणाञ्च । ३ सवाह्या. । ४ विनश्वरेण । ५ हर्तुं योग्यै. । ६ ग्लानि । ७ तृप्ति. । ८ राज्ये । ९ सर्वेषा भोगेभ्यो हिता । १० नृपश्रेष्ठ । ११ अक्षमया । १२ भरतेनापि । १३ यस्मिन् काले विनश्वरमिति । १४ कारणात् । १५ महाफलम् ल० । १६ श्रेष्ठम् ।

इत्याकर्ण्य विभोर्वाक्यं परं निर्वेदमागताः । महाप्राव्राज्यमास्थाय[1] निष्क्रान्तास्ते गृहाद्वनम्[2] ॥१२५॥
निर्दिष्टां गुरुणा साक्षाद्दीक्षां नववधूमिव । नवा इव वराः प्राप्य रेजुस्ते युवपार्थिवाः ॥१२६॥
या कचग्रहपूर्वेण[3] प्रणये नातिभूमिगा[4] । तया पाणिगृहीत्येव[5] दीक्षया ते धृतिं[6] दधुः ॥१२७॥
तपस्तीव्रमथासाद्य ते चकासुर्नृपर्षयः । स्वतेजोरुद्धविश्वाशा[7] ग्रीष्ममर्कांशवो[8] यथा ॥१२८॥
तेऽतितीव्रैस्तपोयोगैस्तनूभूतां तनुं दधुः । तपोलक्ष्म्या समुत्कीर्णामिव दीप्तां तपोगुणैः ॥१२९॥
स्थिताः सामयिके वृत्ते[9] जिनकल्पविशेषिते । ते तेपिरे तपस्तीव्रं ज्ञानशुद्धयुपबृंहितम् ॥१३०॥
वैराग्यस्य परां[10] कोटीमारूढास्ते युगेश्वराः । स्वसाच्चक्रुस्तपोलक्ष्मीं राज्यलक्ष्म्यामनुत्सुकाः ॥१३१॥
तपोलक्ष्म्या परिष्वक्ता[11] मुक्तिलक्ष्म्यां कृतस्पृहाः । ज्ञानसंपत्प्रसक्तास्ते राजलक्ष्मीं विसस्मरुः ॥१३२॥
द्वादशाङ्गश्रुतस्कन्धमधीत्यैते महाधियः । तपोभावनयात्मानमलंचक्रुः प्रकृष्टया ॥१३३॥
स्वाध्यायेन मनोरोधस्ततोऽक्षाणां विनिर्जयः । इत्याकलय्य ते धीराः स्वाध्यायधियमादधुः ॥१३४॥
आचाराङ्गेन निःशेषं साध्वाचारमवेदिषुः । [12]चर्याशुद्धिमतो[13] रेजुरतिक्रम[14]विवर्जिताम् ॥१३५॥

प्रकार जिसकी सब सामग्री प्रशंसनीय है ऐसा यह तपरूपी राज्य ही उत्कृष्ट राज्य है ॥१२४॥ इस प्रकार भगवान्‌के वचन सुनकर वे सब राजकुमार परम वैराग्यको प्राप्त हुए और महादीक्षा धारण कर घरसे वनके लिए निकल पडे ॥१२५॥ साक्षात् भगवान् वृषभदेवके द्वारा दी हुई दीक्षाको नयी स्त्रीके समान पाकर वे तरुण राजकुमार नये वरके समान बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहे थे ॥१२६॥ उनकी वह दीक्षा किसी विवाहिता स्त्रीके समान जान पड़ती थी क्योकि जिस प्रकार विवाहिता स्त्री कचग्रह अर्थात् केश पकड़कर बड़े प्रणय अर्थात् प्रेमसे समीप आती है उसी प्रकार वह दीक्षा भी कचग्रह अर्थात् केशलोच कर बडे प्रणय अर्थात् शुद्ध नयोसे उनके समीप आयी हुई थी इस प्रकार विवाहिता स्त्रीके समान सुशोभित होनेवाली दीक्षासे वे राजकुमार अन्तःकरणमें सुखको प्राप्त हुए थे ॥१२७॥ अथानन्तर जिन्होने अपने तेजसे समस्त दिशाओको रोक लिया है ऐसे वे राजर्षि तीव्र तपश्चरण धारण कर ग्रीष्म ऋतुके सूर्यकी किरणोके समान अतिशय देदीप्यमान हो रहे थे ॥१२८॥ वे राजर्षि जिस शरीरको धारण किये हुए थे वह तीव्र तपश्चरणसे कृश होनेपर भी तपके गुणोसे अत्यन्त देदीप्यमान हो रहा था और ऐसा मालूम होता था मानो तपरूपी लक्ष्मीके द्वारा उकेरा ही गया हो ॥१२९॥ वे लोग जिनकल्प दिगम्बर मुद्रासे विशिष्ट सामायिक चारित्रमे स्थित हुए और ज्ञानकी विशुद्धिसे वढ़ा हुआ तीव्र तपश्चरण करने लगे ॥१३०॥ वैराग्यकी चरम सीमाको प्राप्त हुए उन तरुण राजर्षियोने राज्यलक्ष्मीसे इच्छा छोडकर तपरूपी लक्ष्मीको अपने वश किया था ॥१३१॥ वे राजकुमार तपरूपी लक्ष्मीके द्वारा आलिंगित हो रहे थे, मुक्तिरूपी लक्ष्मीमें उनकी इच्छा लग रही थी और ज्ञानरूपी सम्पदामें आसक्त हो रहे थे। इस प्रकार वे राज्यलक्ष्मीको बिलकुल ही भूल गये थे ॥१३२॥ उन महाबुद्धिमानोंने द्वादशागरूप श्रुतस्कन्धका अध्ययन कर तपकी उत्कृष्ट भावनासे अपने आत्माको अलंकृत किया था ॥१३३॥ स्वाध्याय करनेसे मनका निरोध होता है और मनका निरोध होनेसे इन्द्रियोका निग्रह होता है यही समझकर उन धीर-वीर मुनियोने स्वाध्यायमें अपनी बुद्धि लगायी थी ॥१३४॥ उन्होने आचारांगके

---

१ आश्रित्य। २ वन प्रति गृहान्निष्क्रान्ता –निर्गता। ३ प्रकृष्टनयेन स्नेहेन। ४ सीमातिक्रान्ता। ५ तस्याः पाणिद्वयी प्राप्य सुखमन्तरुपागता प०, ल०। पत्नी। ६ सतोषम्। ७ सकलदिश। ८ ग्रीष्मकाल प्राप्य। ९ चारित्रे। १० काष्ठा–म०, अ०, प०, द०, स०, इ०, ल०। ११ आलिङ्गिताः। १२ चारित्रशुद्धिम्। १३ आचाराङ्गपरिज्ञानात्। १४ अतीचार।

ज्ञात्वा सूत्रकृतं[1] सूक्तं निखिलं सूत्रतोऽर्थतः। धर्मक्रियासमाधाने ते दधुः सूत्रधारताम् ॥१३६॥
स्थानाध्ययनमध्यायशतैर्गम्भीरमब्धिवत्। विगाह्य तत्त्वरत्नानामयुस्ते भेदमञ्जसा ॥१३७॥
समवायाख्यमङ्गं[2] ते समधीत्य सुमेधसः। द्रव्यादिविषयं सम्यक् समवायं[3] मभुत्सत ॥१३८॥
स्वभ्यस्तात्पञ्चमादङ्गाद् व्याख्याप्रज्ञप्तिसंज्ञितात्। साध्ववादीधरन्[4] धीराः प्रश्नार्थान् विविधानमी ॥१३९॥
[5]ज्ञातृधर्मकथां सम्यक् बुद्ध्वा बोद्ध्रनबोधयन्। धर्म्यां कथामसंमोहात्ते यथोक्तां[6] महर्षिणा ॥१४०॥
तेऽधीत्योपासकाध्यायमङ्गं सप्तममूर्जितम्। निखिलं श्रावकाचारं श्रोतृभ्यः समुपादिशन् ॥१४१॥
तथान्तकृद्दशादङ्गात् मुनीनन्तकृतो[7] दश[8]। तीर्थं प्रति[9] विदामासुः सोढासह्योपसर्गकान् ॥१४२॥
अनुत्तरविमानौपपादिकान्दश तादृशान्। शमिनो नवमादङ्गाद् विदांचक्रुर्विदांवराः ॥१४३॥
प्रश्नव्याकरणात्प्रश्नमुपादाय शरीरिणाम्। सुखदुःखादिसंप्राप्तिं व्याचक्रुस्ते समाहिताः ॥१४४॥
विपाकसूत्रनिर्ज्ञातसदसत्कर्मपक्तयः। बद्धकक्षास्तदुच्छित्त्यै[10] तपश्चक्रुरतन्द्रिताः ॥१४५॥
दृष्टिवादेन निर्ज्ञातदृष्टिभेदा जिनागमे। ते तेनुः परमां भक्तिं परं संवेगमाश्रिताः ॥१४६॥
तदन्तर्गत[11]निःशेषश्रुततत्त्वावधारिणः। चतुर्दशमहाविद्यास्थानान्यध्यैषत क्रमात् ॥१४७॥

द्वारा मुनियोका समस्त आचरण जान लिया था इसीलिए वे अतिचाररहित चर्याकी विशुद्धताको प्राप्त हुए थे ॥१३५॥ वे शब्द और अर्थसहित समस्त सूत्रकृतागको जानकर धर्मक्रियाओंके धारण करनेमें सूत्रधारपना अर्थात् मुख्यताको धारण कर रहे थे ॥१३६॥ जो सैकडो अध्यायोसे समुद्रके समान गम्भीर है ऐसे स्थानाध्ययन नामके तीसरे अंगका अध्ययन कर उन्होने तत्त्वरूपी रत्नोके भेद शीघ्र ही जान लिये थे ॥१३७॥ समीचीन बुद्धिको धारण करनेवाले उन राजकुमारोने समवाय नामके चौथे अंगका अच्छी तरह अध्ययन कर द्रव्य आदिके समूहको जान लिया था ॥१३८॥ अच्छी तरह अभ्यास किये हुए व्याख्याप्रज्ञप्ति नामके पाँचवे अंगसे उन धीर-वीर राजकुमारोने अनेक प्रकारके प्रश्न-उत्तर जान लिये थे ॥१३९॥ वे धर्मकथा नामके छठे अंगको जानकर और उसका अच्छी तरह अवगम कर महर्षि भगवान् वृषभदेवके द्वारा कही हुई धर्मकथाएँ अज्ञानी लोगोको विना किसी त्रुटिके ठीक-ठीक बतलाते थे ॥१४०॥ अतिशय श्रेष्ठ उपासकाध्ययन नामके सातवे अंगका अध्ययन कर उन्होने श्रोताओके लिए समस्त श्रावकाचारका उपदेश दिया था ॥१४१॥ उन्होने अन्त कृद्दश नामके आठवे अगसे प्रत्येक तीर्थकरके तीर्थमे असह्य उपसर्गोको जीतकर मुक्त होनेवाले दश अन्त कृत मुनियोका वृत्तान्त जान लिया था ॥१४२॥ जाननेवालोमे श्रेष्ठ उन राजकुमारोने अनुत्तरविमानौपपादिक नामके नौवे अंगसे प्रत्येक तीर्थकरके तीर्थमे असह्य उपसर्ग जीतकर अनुत्तर विमानोंमें उत्पन्न होनेवाले दश-दश मुनियोका हाल जान लिया था ॥१४३॥ वे स्थिर चित्तवाले मुनिराज प्रश्नव्याकरण नामके दशवे अगसे प्रश्न समझकर जीवोके सुख-दु ख आदिका वर्णन करने लगे ॥१४४॥ विपाकसूत्र नामके ग्यारहवे अगसे जिन्होने कर्मोकी शुभ-अशुभ समस्त प्रकृतियाँ जान ली है ऐसे वे मुनि कर्मोका नाश करनेके लिए तत्पर हो प्रमाद छोड़कर तीव्र तपश्चरण करते थे ॥१४५॥ दृष्टिवाद नामके बारहवे अंगसे जिन्होने समस्त दृष्टिके भेद जान लिये है ऐसे वे राजकुमार परम सवेगको प्राप्त होकर जैनशास्त्रोमे उत्कृष्ट भक्ति करने लगे थे ॥१४६॥ उस बारहवे अंगके अन्तर्गत समस्त श्रुतज्ञानके रहस्यका निश्चय करनेवाले उन मुनियोने क्रमसे चौदह महाविद्याओके स्थान अर्थात् चौदह पूर्वोका भी अध्ययन

१ अङ्गम्। २ अङ्गम्। ३ समूहम्। 'समवायश्चयो गण' इत्यभिधानात्। ४ अवधारयन्ति स्म। ५ ज्ञात्वा ल०, द०। ६ यथोक्ता ल०, द०। ७ संसारविनाशकारिणः। ८ दश प्रकारान्। ९ तीर्थकर-प्रवर्तनकालमुद्दिश्य। १० तदुच्छित्त्यै अ०, इ०, स०। ११ द्वादशाङ्गान्तर्गत।

ततोऽमी श्रुतनिःशेषश्रुतार्थाः श्रुतचक्षुषः । श्रुतार्थभावनोत्कर्षाद् दधुः शुद्धिं तपोविधौ ॥१४८॥
वाग्देव्या सममालापो मया मौनमनारतम् । इतीर्ष्यन्तीव संतापं व्यधत्तेषु तपःक्रिया ॥१४९॥
तनुतापमसह्यं ते सहमाना मनस्विनः । बाह्यमाध्यात्मिकं चोग्रं तपः सुचिरमाचरन् ॥१५०॥
ग्रीष्मेऽर्ककरसंतापं सहमानाः सुदुःसहम् । ते भेजुरातपस्थानमारूढगिरिमस्तकाः ॥१५१॥
शिलातलेषु तप्तेषु निवेशितपदद्वयाः । प्रलम्बितभुजास्तस्थुर्गिर्यग्रग्रावगोचरे[1] ॥१५२॥
तप्तपांसुचिता भूमिर्दावदग्धा वनस्थली । याता जलाशयाः शोषं दिशो धूमान्धकारिताः ॥१५३॥
इत्यत्युग्रतरे ग्रीष्मे संप्लुष्ट[2]गिरिकानने । तस्थुरातपयोगेन ते सोढजरठातपा[3] ॥१५४॥
मेघान्धकारिताशेषदिक्चक्रे जलदागमे । योगिनो गमयन्ति स्म तरुमूलेषु शर्वरीः ॥१५५॥
मुसलस्थूलधाराभिर्वर्षत्सु जलवाहिषु[4] । निशामनैषुर[5]व्यथ्या[6] वार्षिकी[7] ते महर्षयः ॥१५६॥
ध्यानगर्भ[8]गृहान्तःस्था धृतिप्रावारसंवृताः[9] । सहन्ते स्म महासत्त्वास्ते घनाघनदुर्दिनम् ॥१५७॥
ते हिमानी[10]परिक्लिष्टां तनुयष्टिं हिमागमे । दधु[11]रभ्यवकाशेषु[12] शयाना मौनमास्थिताः ॥१५८॥
[13]अनग्नमुषिता[14] एव नग्नास्तेऽनग्निसेविनः । धृतिसंवर्मिते[15]रंगैः सेहिरे हिममारुतान् ॥१५९॥

किया था ॥१४७॥ तदनन्तर जिन्होने समस्त श्रुतके अर्थोका श्रवण किया है और श्रुतज्ञान ही जिनके नेत्र है ऐसे वे मुनि श्रुतज्ञानकी भावनाके उत्कर्षसे तपश्चरणमे विशुद्धता धारण करने लगे ॥१४८॥ ये लोग सरस्वती देवीके साथ तो बातचीत करते हैं और मेरे साथ निरन्तर मौन धारण करते है इस प्रकार ईर्ष्या करती हुईके समान तपश्चरणकी क्रिया उन्हे बहुत सन्ताप देती थी ॥१४९॥ असह्य कायक्लेश सहन करते हुए वे तेजस्वी मुनि अतिशय कठिन अन्तरंग और बाह्य दोनो प्रकारका तप चिरकाल तक करते रहे ॥१५०॥ ग्रीष्मऋतुमें पर्वतोके शिखरपर आरूढ होकर अत्यन्त असह्य सूर्यकी किरणोके सतापको सहन करते हुए वे आतापन योगको प्राप्त हुए थे अर्थात् धूपमें बैठकर तपस्या करते थे ॥१५१॥ पर्वतोके अग्रभागकी चट्टानोकी तपी हुई शिलाओपर दोनो पैर रखकर तथा दोनो भुजाएँ लटका कर खडे होते थे ॥१५२॥ जिस ग्रीष्मऋतुमें पृथिवी तपी हुई धूलिसे व्याप्त हो रही है, वनके सब प्रदेश दावानलसे जल गये है, तालाब सूख गये है और दिशाएँ धूएँसे अन्धकारपूर्ण हो रही है इस प्रकारके अत्यन्त कठिन और जिसमे पर्वतोंके वन जल गये है ऐसी ग्रीष्मऋतुमें तीव्र सन्ताप सहन करते हुए वे मुनिराज आतापन योग धारण कर खडे होते थे ॥१५३–१५४॥ जिसमे समस्त दिशाओका समूह बादलोके छा जानेसे अन्धकारयुक्त हो गया है ऐसी वर्षाऋतु-मे वे योगी वृक्षोके नीचे ही अपनी रात्रियाँ बिता देते थे ॥१५५॥ जब बादल मूसलके समान मोटी-मोटी धाराओसे पानी बरसाते थे तब वे महर्षि वर्षाऋतुकी उन रात्रियोंको निश्चल होकर व्यतीत करते थे ॥१५६॥ ध्यानरूपी गर्भगृहके भीतर स्थित और धैर्यरूपी ओढनी-को ओढे हुए वे महाबलवान् मुनि बादलोसे ढके हुए दुर्दिनोंको सहन करते थे ॥१५७॥ शीत-ऋतुके दिनोमे मौन धारण कर खुले आकाशमे शयन करते हुए वे मुनि बहुत भारी बर्फसे अत्यन्त दुःखी हुई अपने शरीरको लकड़ीके समान निश्चल धारण करते थे ॥१५८॥ वे मुनि नग्न होकर भी कभी अग्निसेवन नही करते थे, वस्त्रोसे सहित हुएके समान सदा निर्द्वन्द्व रहते थे

१ पर्वतशिखरपाषाणप्रदेशे । २ सदग्ध । ३ प्रवृद्धातपा । ४ मेघेषु । ५ नयन्ति स्म । ६ निश्चला निर्भया इत्यर्थ । ७ वर्षाकालसबन्धिनीम् । ८ वासगृहम् । ९ धैर्यकम्बलपरिवेष्टिता । १० हिमसंहति । ११ – रभ्राव – प०, ल० । १२ तरुलतागुल्मगुहादिरहितप्रबलवायुसहितप्रदेशेषु । १३ अनग्नं यथा भवति तथा सावरणमिवेत्यर्थ । १४ स्थिता. । १५ धैर्यकवचितै. ।

हेमन्तीपु[1] त्रियामासु स्थगितास्ते[2] हिमोच्चयैः । प्रावारितै[3] रिवाङ्गैः स्वैर्धीराः स्वैरमशेरत ॥१६०॥
त्रिकालविषयं योगमास्थायैवं[4] दुरुद्वहम् । सुचिरं धारयन्ति स्म धीरास्ते धृतियोगत ॥१६१॥
दधानास्ते तपस्तापमन्तर्दीप्तं दुरासदम् । रेजुस्तरङ्गितैरङ्गैः प्रायोऽनुकृतवार्द्धयः ॥१६२॥
ते स्वभुक्तोज्झितं भूयो नैच्छन् भोगपरिच्छदम् । निर्भुक्तमाल्यनिःसारं मन्यमाना मनीषिणः ॥१६३॥
फेनोर्मिहिमसन्ध्याभ्रचलं जीवितमङ्गिनाम् । मन्वाना दृढमासक्तिं भेजुस्ते पथि शाश्वते ॥१६४॥
संसारावासनिर्विण्णा गृहावासाद्विनिःसृताः । जैने मार्गे विमुक्त्यङ्गे ते परां धृतिमादधुः ॥१६५॥
इतो[5] ऽन्यदुत्तरं[6] नास्तीत्यारूढदृढभावनाः । तेऽमी मनोवचःकायैः श्रद्दधुर्गुरुशासनम् ॥१६६॥
तेऽनुरक्ता जिनप्रोक्ते सूक्ते धर्मे सनातने । उत्तिष्ठन्ते स्म मुक्त्यर्थं वद्धकक्ष्या मुमुक्षवः ॥१६७॥
संवेगजनितश्रद्धाः शुद्धे वर्त्मन्यनुत्तरे । दुरापां भावयामासुस्ते महाव्रतभावनाम् ॥१६८॥
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं विमुक्तताम्[7] । रात्र्यभोजनषष्ठानि व्रतान्येतान्यभावयन् ॥१६९॥
यावज्जीवं व्रतेष्वेषु ते दृढीकृतसंगराः[8] । त्रिविधेन[9] [10]प्रतिक्रान्तदोषाः शुद्धिं परां दधुः ॥१७०॥
सर्वारम्भविनिर्मुक्ता निर्मला[11] निष्परिग्रहाः । मार्गमाराधयञ्जैनं व्युत्सृष्टतनुयष्टयः ॥१७१॥

और धैर्यरूपी कवचसे ढके हुए अंगोसे शीतल पवनको सहन करते थे ॥१५९॥ शीतऋतुकी रात्रियोमें वर्फके समूहसे ढके हुए वे धीर-वीर मुनिराज स्वतन्त्रतापूर्वक इस प्रकार शयन करते थे मानो उनके अग वस्त्रसे ही ढके हो ॥१६०॥ इस प्रकार वे धीर-वीर मुनि तीनो काल-सम्वन्धी कठिन योग लेकर अपने धैर्यगुणके योगसे उन्हे चिर काल तक धारण करते थे ॥१६१॥ अन्तरंगमे देदीप्यमान और अतिशय कठिन तपके तेजको धारण करते हुए वे मुनि तरगोके समान अपने अंगोसे ऐसे जान पडते थे मानो समुद्रका ही अनुकरण कर रहे हो ॥१६२॥ वे वुद्धिमान् अपने-द्वारा उपभोग कर छोड़ी हुई भोगसामग्रीको भोगमे आयी हुई मालाके समान सारहीन मानते हुए फिर उसकी इच्छा नही करते थे ॥१६३॥ वे प्राणियोंके जीवनको फेन, ओस अथवा सन्ध्याकालके वादलोके समान चंचल मानते हुए अविनाशी मोक्षमार्गमे दृढ़ता-के साथ आसक्तिको प्राप्त हुए थे ॥१६४॥ ससारके निवाससे विरक्त हुए और घरके आवास-से छूटे हुए वे मुनिराज मोक्षके कारणभूत जिनेन्द्रदेवके मार्गमे परम सन्तोप धारण करते थे ॥१६५॥ इससे वढकर और कोई शासन नही है इस प्रकारकी मजवूत भावनाएँ जिन्हे प्राप्त हो रही हैं ऐसे वे राजर्पि मन वचन कायसे भगवान्के शासनका श्रद्धान करते थे ॥१६६॥ जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा कहे हुए और अनादिसे चले आये यथार्थ जैनधर्ममे अनुरक्त हुए वे मोक्षाभिलापी मुनिराज मोक्षके लिए कमर कसकर खडे हुए थे ॥१६७॥ सवेग होनेसे जिन्हे शुद्ध और सर्वश्रेष्ठ मोक्षमार्गमे श्रद्धान उत्पन्न हुआ है ऐसे वे मुनि कठिनाईसे प्राप्त होने योग्य महाव्रतकी भावनाओका निरन्तर चिन्तवन किया करते थे ॥१६८॥ अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रहत्याग और रात्रिभोजनत्याग इन छह महाव्रतोका वे निरन्तर पालन करते थे ॥१६९॥ जिन्होने ऊपर कहे हुए छह व्रतोकी जीवनपर्यन्तके लिए दृढप्रतिज्ञा धारण की है और मन, वचन तथा कायसे उन व्रतोके समस्त दोप दूर कर दिये है ऐसे वे मुनिराज परम विशुद्धिको धारण कर रहे थे ॥१७०॥ जिन्होने सव प्रकारके आरम्भ छोड दिये है, जो ममता-रहित है, परिग्रहरहित है और शरीररूप लकडीसे भी जिन्होने ममत्व छोड़ दिया है ऐसे वे

---

१ हिमानीपु ल०, प० । हेमन्तसवन्धिनीपु । २ आच्छादितैः । ३ हिमोच्चयस्थगितान्तत्वात् प्रावरणान्वितैरिव । ४ प्रतिज्ञा कृत्वा । ५ गुरुशासनात् । ६ अधिकम् । ७ नि.परिग्रहताम् । ८ दृढीकृतप्रतिज्ञा. । ९ मनोवाक्कायेन । १० प्रतिक्रमणरूपेण निरस्त । ११ निर्ममा ल०, इ०, अ०, स०, प०, द० ।

सर्वोपधिविधिनिर्मुक्ता युक्ता[1] धर्मे जिनोदिते । नैच्छन् वालाग्रमात्रं च द्विधाम्नातं[2] परिग्रहम् ॥१७२॥
निर्मूर्च्छास्ते[3] स्वदेहेऽपि धर्मवर्त्मनि सुस्थिताः । संतोषभावनापास्ततृष्णाः सन्तो विजह्रिरे[4] ॥१७३॥
वसन्ति स्मानिकेतास्ते[5] यत्रास्तं[6] भानुमानितः[7] । तत्रैकत्र[8] क्वचिद्देशे नैस्संग्यं परमाश्रिताः[9] ॥१७४॥
विविक्तैकान्तसेवित्वाद्[10] ग्रामेष्वेकाहवासिनः[11] । पुरेष्वपि न पञ्चाहात्परं तस्थुर्नृपर्षयः[12] ॥१७५॥
शून्यागारश्मशानादिविविक्तालयगोचराः[13] । ते वीरवसतीर्भेजुरुज्झिताः सप्तभिर्भयैः ॥१७६॥
तेऽभ्यनन्दन्महासत्त्वाः पाकसत्त्वैरधिष्ठिताः । गिर्यग्रकन्दरारण्यवसतीः प्रतिवासरम् ॥१७७॥
सिंहर्क्षवृकशार्दूलतरक्ष्वादि[14] निषेविते । वनान्ते ते वसन्ति स्म तदारसितभीषणे[15] ॥१७८॥
स्फुरद्गुरुपशार्दूलगर्जितप्रतिनिःस्वनैः । आगुञ्जत्पर्वतप्रान्ते[16] ते स्म तिष्ठन्त्यसाध्वसाः ॥१७९॥
कण्ठीरवकिशोराणां[17] कठोरं[18] कण्ठनिस्वनैः । प्रोन्नादिनि[19] वने ते स्म निवसन्त्यस्तभीतयः ॥१८०॥
नृत्यत्कबन्धपर्यन्त[20] संचरद्डाकिनीगणाः । [21]प्रवद्धकौशिकध्वाननिरुद्धो[22]पान्तकानना. ॥१८१॥
[23]शिवानाम[24] शिवैर्ध्वानैरारुद्धाखिलदिङ्मुखा । महापितृवनोद्देशा निशास्वेभिः[25] सिषेविरे[26] ॥१८२॥

मुनि जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा कहे हुए मोक्षमार्गकी आराधना करते थे ॥१७१॥ सव प्रकारके परिग्रहसे रहित होकर जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहे हुए धर्मका आचरण करते हुए वे राजकुमार वाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे दो प्रकारके कहे हुए परिग्रहोमें-से वालकी नोकके वरावर भी किसी परिग्रहकी चाह नही करते थे ॥१७२॥ जिन्हे अपने शरीरमें भी ममत्व नही है, जो धर्मके मार्गमे स्थित है और सन्तोषकी भावनासे जिन्होंने तृष्णाको दूर कर दिया है ऐसे वे उत्तम मुनिराज सव जगह विहार करते थे ॥१७३॥ परिग्रह-त्याग व्रतको उत्कृष्ट रूपसे पालन करनेवाले वे गृहरहित मुनिराज जहाँ सूर्य डूव जाता था वहीं किसी एक स्थानमे ठहर जाते थे ॥१७४॥ वे राजर्षि एकान्त और पवित्र स्थानमें रहना पसन्द करते थे इसलिए गाँवोंमे एक दिन रहते थे और नगरोमे पाँच दिनसे अधिक नही रहते थे ॥१७५॥ वे मुनि सात भयोसे रहित होकर शून्यगृह अथवा श्मशान आदि एकान्त-स्थानोमे वीरताके साथ निवास करते थे ॥ १७६ ॥ वे महावलवान् राजकुमार सिह आदि दुष्ट जीवोसे भरी हुई पर्वतोकी गुफाओं और जंगलोमें ही प्रतिदिन निवास करना अच्छा समझते थे ॥१७७॥ सिह, रीछ, भेड़िया, व्याघ्र, चीता आदिसे भरे हुए और उन्हीके शव्दोसे भयंकर वनके वीचमे वे मुनिराज निवास करते थे ॥१७८॥ चारो ओर फैलते हुए व्याघ्रकी गर्जनाकी प्रतिध्वनियोसे गूँजते हुए पर्वतके किनारोपर वे मुनि निर्भय होकर निवास करते थे ॥१७९॥ सिहोके वच्चोकी कठोर कण्ठगर्जनासे शव्दायमान वनमे मुनिराज भयरहित होकर निवास करते थे ॥१८०॥ जहाँ नाचते हुए शिररहित धडोके समीप डाकिनियोके समूह फिर रहे है, जिनके समीपके वन उल्लुओके प्रचण्ड शव्दोंसे भर रहे है और जहाँ शृगालोके अमंगलरूप शव्दोंसे सव दिशाएँ व्याप्त हो रही है ऐसी वड़ी-वड़ी श्मशानभूमियोंमे रात्रिके समय वे मुनिराज निवास करते थे ॥१८१-१८२॥

१ स्थिता प०, ल० । २ वाह्याभ्यन्तररूपेण द्विधा प्रोक्तम् । ३ निर्मोहाः । ४ विहरन्ति स्म । ५ अनगारा । ६ आदित्य । ७ प्राया । ८ क्वचिदनियतप्रदेशे । ९ आश्रिताः । १० विशुद्धविजनप्रदेशेषु स्थातु प्रियत्वादिति भाव. । ११ एकदिवसवासिन । १२ निवसन्ति स्म । १३ एकान्तप्रदेशो गोचरविषयो येषा ते । १४ ऋक्ष-भल्लूक-वृक-ईहामृगशार्दूलद्वीपितरक्षुमृगादि । १५ तेषा सिहादीनाम् आरावैर्भयकरे । १६ ध्वनत्पर्वतसानुमध्ये । १७ सिहशावानाम् । १८ कठिनै प०, ल०, द० । १९ ध्वनि कुर्वति । २० समीप । २१ प्रचण्ड ल०, द० । २२ कृतघूकनिनादव्याप्त । २३ जम्वुकानाम् । २४ अमङ्गलै । २५ तपोधनै । २६ सेव्यन्ते स्म ।

सिंहा इव नृसिंहास्ते[1] तस्थुर्गिरिगुहाश्रयाः । जिनोक्त्यनुगतैः स्वान्तैरनुद्विग्नैः[2] समाहिताः ॥१८३॥
पाकसत्त्व[3]शताकीर्णां वनभूमिं भयानकाम्[4] । तेऽध्यवात्सुस्त[5]मिस्रासु[6] निशासु ध्यानमास्थिताः[7] ॥१८४॥
न्यषेवन्त वनोद्देशान् निषेव्यान्वनदन्तिभिः । ते तद्दन्ताग्रनिर्भिन्नतरुस्थपुटितान्तरान्[8] ॥१८५॥
वनेषु वनमातङ्गबृंहितप्रतिनादिनीः । दरीस्तेऽध्यूषु[9]रारुष्टैराक्रान्ताः करिशत्रुभिः[10] ॥१८६॥
स्वाध्याययोगसंसक्ता न स्वपन्ति स्म रात्रिषु । सूत्रार्थभावनोद्युक्ता जागरूकाः[11] सदा यमी ॥१८७॥
पल्यङ्केन निषण्णास्ते वीरासनजुषोऽथवा[12] । शयाना वैकपार्श्वेन शर्वरीरत्यवाहयन्[13] ॥१८८॥
त्यक्तोपधिभरा धीरा व्युत्सृष्टाङ्गा निरम्बराः । नैष्किंचन्यविशुद्धास्ते मुक्तिमार्गममार्गयन् ॥१८९॥
निर्व्यपेक्षा निराकाङ्क्षा वायुवीथ्यनुगामिनः[14] । व्यहरन् वसुधामेनां सग्रामनगराकराम् ॥१९०॥
विहरन्तो महीं कृत्स्नां ते कस्याप्यनभिद्रुहः[15] । मातृकल्पा दयालुत्वात्पुत्रकल्पेषु देहिषु ॥१९१॥
जीवाजीवविभागज्ञा ज्ञानोद्योतस्फुरद्दृशः । सावद्यं परिजह्रुस्ते प्रासुकावसथाशनाः[16] ॥१९२॥
स्याद्यत्किंचिच्च सावद्यं तत्सर्वं त्रिविधेन ते । रत्नत्रितयशुद्ध्यर्थं यावज्जीवमवर्जयन् ॥१९३॥
त्रसान् हरितकायांश्च पृथिव्यप्पवनानलान् । जीवकायानपायेभ्यस्ते[17] स्म रक्षन्ति यत्नतः ॥१९४॥

सिंहके समान निर्भय, सब पुरुषोमें श्रेष्ठ और पर्वतोकी गुफाओमे ठहरनेवाले वे मुनिराज जिनेन्द्रदेवके उपदेशके अनुसार चलनेवाले खेदरहित चित्तसे शान्त होकर निवास करते थे ॥१८३॥ वे मुनिराज अँधेरी रातोके समय सैकडो दुष्ट जीवोसे भरी हुई भयंकर वनकी भूमियोमे ध्यान धारण कर निवास करते थे ॥१८४॥ जो जगली हाथियोके द्वारा सेवन करने योग्य हैं तथा जिनके मध्यभाग हाथियोके दाँतोके अग्रभागसे टूटे हुए वृक्षोंसे ऊँचे नीचे हो रहे है ऐसे वनके प्रदेशोंमें वे महामुनि निवास करते थे ॥१८५॥ जिनमे जगली हाथियोकी गर्जनाकी प्रतिध्वनि हो रही है और उस प्रतिध्वनिसे कुपित हुए सिहोसे जो भर रही है ऐसी वनकी गुफाओमे वे मुनि निवास करते थे ॥१८६॥ वे मुनिराज स्वाध्याय और ध्यानमें आसक्त होकर रात्रियोंमें भी नही सोते थे, किन्तु सूत्रोके अर्थके चिन्तवनमे तत्पर होकर सदा जागते रहते थे ॥१८७॥ वे मुनिराज पर्यंकासनसे वैठकर, वीरासनसे वैठकर अथवा एक करवटसे ही सोकर रात्रियाँ बिता देते थे ॥१८८॥ जिन्होंने परिग्रहका भार छोड़ दिया है, शरीरसे ममत्व दूर कर दिया है, जो वस्त्ररहित हैं और परिग्रहत्यागसे जो अत्यन्त विशुद्ध है ऐसे वे धीर-वीर मुनि मोक्षका मार्ग ही खोजते रहते थे ॥१८९॥ किसीकी अपेक्षा न करनेवाले, आकांक्षाओसे रहित और आकाशकी तरह निर्लेप वे मुनिराज गाँव और नगरोके समूहसे भरी हुई इस पृथिवीपर विहार करते थे ॥१९०॥ समस्त पृथिवीपर विहार करते हुए और किसी भी जीवसे द्रोह नही करते हुए वे मुनि दयालु होनेसे समस्त प्राणियोंको पुत्रके तुल्य मानते थे और उनके साथ माताके समान व्यवहार करते थे ॥१९१॥ वे जीव और अजीवके विभागको जाननेवाले थे, ज्ञानके प्रकाशसे उनके नेत्र देदीप्यमान हो रहे थे अथवा ज्ञानका प्रकाश ही उनका स्फुरायमान नेत्र था, वे प्रासुक अर्थात् जीवरहित स्थानमे ही निवास करते थे और उनका भोजन भी प्रासुक ही था, इस प्रकार उन्होंने समस्त सावद्य भोगका परिहार कर दिया था ॥१९२॥ उन मुनियोने रत्नत्रयकी विशुद्धिके लिए, संसारमें जितने सावद्य (पापारम्भसहित) कार्य है उनका जीवन पर्यन्तके लिए त्याग कर दिया था ॥१९३॥ वे त्रसकाय, वनस्पति

१ पुरुषश्रेष्ठा । २ अखेदितै । ३ क्रूरमृग । ४ भयकराम् । ५ निवसन्ति स्म । ६ अन्धकारवतीषु 'तमिस्रा तामसी रात्रि.' इत्यभिधानात् । ७ आश्रिता । ८ निम्नोन्नतमध्यान् । ९ अधिवसन्ति स्म । १० सिंहै । ११ जागरणशीलाः । १२ वा । १३ नयन्ति स्म । १४ वायुवन्नि परिग्रहा इत्यर्थः । १५ अघातुका । १६ निरवद्यान्तसाहाराः । १७ अपसार्य ।

अदीनमनसः शान्ताः परमोपेक्षयान्विताः । मुक्तिशाठ्यास्त्रिभिर्गुप्ताः कामभोगेष्वविस्मिताः ॥१९५॥
जिनाज्ञानुगताः शश्वत्संसारोद्विग्नमानसाः । गर्भवासजरामृत्युपरिवर्तनभीरवः ॥१९६॥
श्रुतज्ञानदृशो दृष्टपरमार्था विचक्षणाः । ज्ञानदीपिकया साक्षाच्चक्रुस्ते पदमक्षरम् ॥१९७॥
ते चिरं भावयन्ति स्म सन्मार्गं मुक्तिसाधनम् । परदत्तविशुद्धान्नभोजिनः पाण्यमत्रकाः ॥१९८॥
शङ्किताभिहृतोद्दिष्टक्रयक्रीतादिलक्षणम् । सूत्रे निषिद्धमाहारं नैच्छन्प्राणात्ययेऽपि ते ॥१९९॥
भिक्षां नियतवेलायां गृहपङ्क्त्यनतिक्रमात् । शुद्धामाददिरे धीरा मुनिवृत्तौ समाहिताः ॥२००॥
शीतमुष्णं विरुक्षं च स्निग्धं सलवणं न वा । तनुस्थित्यर्थमाहारमाजहुस्ते गतस्पृहाः ॥२०१॥
अक्षम्रक्षणमात्रं ते प्राणधृत्यै विपस्वणुः । धर्मार्थमेव च प्राणान् धारयन्ति स्म केवलम् ॥२०२॥
न तुष्यन्ति स्म ते लब्धौ व्यषीदन्नाप्यलब्धितः । मन्यमानास्तपोलाभमधिकं धुतकल्मषाः ॥२०३॥

काय, पृथिवीकाय, जलकाय, वायुकाय और अग्निकाय इन छह कायके जीवोंकी बड़े यत्नसे रक्षा करते थे ॥१९४॥ उन मुनियोका हृदय दीनतासे रहित था, वे अत्यन्त शान्त थे, परम उपेक्षासे सहित थे, मोक्ष प्राप्त करना ही उनका उद्देश्य था, तीन गुप्तियोके धारक थे और काम भोगोमें कभी आश्चर्य नही करते थे ॥१९५॥ वे सदा जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाके अनुसार चला करते थे, उनका हृदय संसारसे उदासीन रहा करता था और वे गर्भमे निवास करना, बुढ़ापा और मृत्यु इन तीनोके परिवर्तनसे सदा भयभीत रहते थे ॥१९६॥ श्रुतज्ञान ही जिनके नेत्र है और जो परमार्थको अच्छी तरह जानते है ऐसे वे चतुर मुनिराज ज्ञानरूपी दीपिकाके द्वारा अविनाशी परमात्मपदका साक्षात्कार करते थे ॥१९७॥ जो दूसरेके द्वारा दिये हुए विशुद्ध अन्नका भोजन करते है तथा हाथ ही जिनके पात्र है ऐसे वे मुनिराज मोक्षके कारणस्वरूप समीचीन मार्गका निरन्तर चिन्तवन करते रहते थे ॥१९८॥ शकित अर्थात् जिसमें ऐसी शंका हो जावे कि यह शुद्ध है अथवा अशुद्ध, अभिहृत अर्थात् जो किसी दूसरेके यहाँसे लाया गया हो, उद्दिष्ट अर्थात् जो खासकर अपने लिए तैयार किया गया हो, और क्रयक्रीत अर्थात् जो कीमत देकर बाजारसे खरीदा गया हो इत्यादि आहार जैन शास्त्रोमें मुनियोके लिए निषिद्ध बताया है। वे मुनिराज प्राण जानेपर भी ऐसा निषिद्ध आहार लेनेकी इच्छा नही करते थे ॥१९९॥ मुनियोंकी वृत्तिमें सदा सावधान रहनेवाले वे धीर-वीर मुनि घरोंकी पक्तियोका उल्लंघन न करते हुए निश्चित समयमे शुद्ध भिक्षा ग्रहण करते थे ॥२००॥ जिनकी लालसा नष्ट हो चुकी है ऐसे वे मुनिराज शरीरकी स्थितिके लिए ठण्डा, गरम, रूखा, चिकना, नमकसहित अथवा बिना नमकका जैसा कुछ प्राप्त होता था वैसा ही आहार ग्रहण करते थे ॥२०१॥ वे मुनि प्राण धारण करनेके लिए अक्षम्रक्षण मात्र ही आहार लेते थे और केवल धर्मसाधन करनेके लिए ही प्राण धारण करते थे। भावार्थ – जिस प्रकार गाड़ी ओगनेके लिए थोड़ीसी चिकनाईकी आवश्यकता होती है भले ही वह चिकनाई किसी भी पदार्थकी हो इसी प्रकार शरीररूपी गाड़ीको ठीक-ठीक चलानेके लिए कुछ आहारकी आवश्यकता होती है भले ही वह सरस या नीरस कैसा ही हो। अल्प आहार लेकर मुनिराज शरीरको स्थिर रखते है और उससे संयम धारण कर मोक्षकी प्राप्ति करते है वे मुनिराज भी ऐसा ही करते थे ॥२०२॥ वे पापरहित मुनिराज, आहार मिल जानेपर सन्तुष्ट नही होते थे और नही मिलनेपर तपश्चरण

---

१ मुक्तसाध्या अ०, प०, इ०, स०। मुक्तिसाध्या ल०। २ जन्म। ३ पाणिपालका द०, ल०, स०, इ०। पाणिपुटभाजनाः। ४ स्थूलतण्डुलाशनादिकं दत्त्वा स्वीकृत कलमौदनादिक। ५ आत्मानमुद्दिश्य। ६ पणादिकं दत्वा स्वीकृतम्। ७ परमागमे। ८ निषेधितम्। ९ यत्याचारे। १० आददु। ११ प्राणधारणार्थम्। १२ भुञ्जते स्म। १३ धर्म-निमित्तम्। १४ लाभे सति।

स्तुतिं निन्दां सुखं दुःख तथा मानं[1] विमाननाम्[2] । समभावेन तेऽपश्यन् सर्वत्र समदर्शिनः ॥२०४॥
वाचंयमत्वमास्थाय[3] चरन्तो[4] गोचरार्थिनः । निर्यान्ति स्माप्यलाभेन नाभञ्जन् मौनसंगरम्[5] ॥२०५॥
महोपवासम्लानाङ्गा यतन्ते स्म तनुस्थितौ । तत्राप्यशुद्धमाहारं[6] नैषिपुर्मनसाऽप्यमी ॥२०६॥
गोचराग्रगता[7] योग्यं भुक्त्वान्नमविलम्बितम्[8] । प्रत्याख्याय[9] पुनर्वीरा निर्ययुस्ते तपोवनम् ॥२०७॥
तपस्तापतनूभूततनवोऽपि मुनीश्वराः । अनुबद्धात्तपोयोगान्न[10] चेलुर्दृढसंगराः[11] ॥२०८॥
तीव्रं तपस्यतां[12] तेषां गात्रेषु श्लथताऽभवत् । प्रतिज्ञा या तु सद्ध्यानसिद्धावशिथिलैव सा ॥२०९॥
नाभूत्परिषहैर्भङ्गस्तेषां चिरमुपोषुषाम् । गताः परिषहा एव भङ्गं तान् जेतुमक्षमाः ॥२१०॥
तपस्तनूनपात्तापाद्[13] भूत्तेषां पराद्युतिः । निष्टप्तस्य सुवर्णस्य दीप्तिर्नन्वतिरेकिणी[14] ॥२११॥
तपोऽग्नितप्तदीप्ताङ्गास्तेऽन्तःशुद्धिं परां दधुः । तप्तायां तनुमूषायां शुद्ध्यत्यात्मा हि हेमवत् ॥२१२॥
त्वगस्थिमात्रदेहास्ते ध्यानशुद्धिमधुस्तराम् । सर्वं हि परिकर्मेदं[15] बाह्यमध्यात्मशुद्धये ॥२१३॥
योगजाः सिद्धयस्तेषामणिमादिगुणर्द्धयः । प्रादुरासन्विशुद्धं हि तपः सूते महत्फलम् ॥२१४॥

रूपी अधिक लाभ समझते हुए विषाद नही करते थे ॥२०३॥ सब पदार्थो मे समान दृष्टि रखनेवाले वे मुनि स्तुति, निन्दा, सुख, दुःख तथा मान-अपमान सभीको समान रूपसे देखते थे ॥२०४॥ वे मुनि मौन धारण करके ईर्यासमितिसे गमन करते हुए आहारके लिए जाते थे और आहार न मिलनेपर भी मौनव्रतकी प्रतिज्ञा भंग नही करते थे ॥२०५॥ अनेक महोपवास करनेसे जिनका शरीर म्लान हो गया है ऐसे वे मुनिराज केवल शरीरकी स्थितिके लिए ही प्रयत्न करते थे परन्तु अशुद्ध आहारकी मनसे भी कभी इच्छा नही करते थे ॥२०६॥ गोचरीवृत्तिके धारण करनेवालोमे मुख्य वे धीर-वीर मुनिराज शीघ्र ही योग्य अन्नका भोजन कर तथा आगेके लिए प्रत्याख्यान कर तपोवनके लिए चले जाते थे ॥२०७॥ यद्यपि तपश्चरणके सन्तापसे उनका शरीर कृश हो गया था तथापि दृढप्रतिज्ञाको धारण करनेवाले वे मुनिराज प्रारम्भ किये हुए तपसे विराम नही लेते थे ॥२०८॥ तीव्र तपस्या करनेवाले उन मुनियोके शरीरमे यद्यपि शिथिलता आ गयी थी तथापि समीचीन ध्यानकी सिद्धिके लिए जो उनकी प्रतिज्ञा थी वह शिथिल नही हुई थी ॥२०९॥ चिरकाल तक उपवास करनेवाले उन मुनियोका परीषहोंके द्वारा पराजय नही हो सका था बल्कि परीषह ही उन्हे जीतनेके लिए असमर्थ होकर स्वय पराजयको प्राप्त हो गये थे ॥२१०॥ तपरूपी अग्निके सन्तापसे उनके शरीरकी कान्ति बहुत ही उत्कृष्ट हो गयी थी सो ठीक ही है क्योंकि तपे हुए सुवर्णकी दीप्ति बढ ही जाती है ॥२११॥ तपश्चरणरूपी अग्निसे तप्त होकर जिनके शरीर अतिशय देदीप्यमान हो रहे है ऐसे वे मुनिराज अन्तरगकी परम विशुद्धिको धारण कर रहे थे सो ठीक ही है क्योकि शरीररूपी मूसा (साँचा) तपाये जानेपर आत्मा सुवर्णके समान शुद्ध हो ही जाती है ॥२१२॥ यद्यपि उनके शरीरमे केवल चमड़ा और हड्डी ही रह गयी थी तथापि वे ध्यानकी उत्कृष्ट विशुद्धता धारण कर रहे थे सो ठीक ही है क्योकि उपवास आदि समस्त बाह्य साधन केवल आत्मशुद्धिके लिए ही है ॥२१३॥ योगके प्रभावसे उत्पन्न होनेवाली अणिमा महिमा आदि ऋद्धियाँ उन मुनियोके प्रकट हो गयी थी सो ठीक ही है क्योकि विशुद्ध तप बहुत बड़े-बड़े फल उत्पन्न करता है ॥२१४॥

---

१ पूजाम् । २ अवज्ञाम् । ३ मौनित्वम् । ४ गोचार । ५ मौनप्रतिज्ञाम् । ६ इच्छा न चक्रुः । ७ गोचारभिक्षाया मुख्यता गताः । ८ शीघ्रम् । ९ प्रत्याख्यानं गृहीत्वा । १० – नारेभु,– अ०, स०, इ० प०, द० । ११ दृढप्रतिज्ञा । १२ तपः कुर्वताम् । १३ तपोऽग्निजनितसतापात् । १४ न व्यतिरेकिणी ल०, द० । १५ अनशनादि ।

तपोमयः प्रणीतो[1]ऽग्निः कर्माण्याहुतयोऽभवन् । विधिज्ञास्ते[2] सुयज्वानो मन्त्रः स्वायंभुवं वचः ॥२१५॥
महाध्वर[3]पतिर्देवो वृषभो दक्षिणा[4] दया । फलं कामितसंसिद्धिरपवर्गः क्रियावधिः[5] ॥२१६॥
[6]इतीमामार्षभीमिष्टि[7]मभिसंधाय तेऽञ्जसा । प्रावीवृत[8]न्ननूचाना[9]स्तपोयज्ञमनुत्तरम् ॥२१७॥
इत्यमूमनगाराणां परां संगीर्य[10] भावनाम् । ते तथा[11] निर्वहन्ति स्म निसर्गोऽयं महीयसाम् ॥२१८॥
किमत्र बहुना धर्मक्रिया यावत्यविप्लुता । तां कृत्स्नां ते स्वसाच्चक्रुस्त्यक्तराजन्यविक्रियाः[12] ॥२१९॥

वसन्ततिलकावृत्तम्

इत्थं पुराणपुरुषादधिगम्य बोधिं
　　　　तत्तीर्थमानससरःप्रियराजहंसाः ।
ये राज्यभूमिमवधूय[13] विधूतमोहाः
　　　　प्राव्राजिषुर्भरतराजमनन्तुकामाः[14] ॥२२०॥
ते पौरवा[15] मुनिवराः पुरुधैर्यसारा
　　　　धीरानगारचरितेषु[16] कृतावधानाः ।
योगीश्वरानु[17]गतमार्गमनुप्रपन्नाः
　　　　शं[18] नो[19] दिशन्त्वखिललोकहितैकतानाः[20] ॥२२१॥

जिसमें तपश्चरण ही सस्कारकी हुई अग्नि थी, कर्म ही आहुति अर्थात् होम करने योग्य द्रव्य थे, विधिविधानको जाननेवाले वे मुनि ही होम करनेवाले थे । श्री जिनेन्द्रदेवके वचन ही मन्त्र थे, भगवान् वृपभदेव ही यज्ञके स्वामी थे; दया ही दक्षिणा थी, इच्छित वस्तुकी प्राप्ति होना ही फल था और मोक्षप्राप्त होना ही कार्यकी अन्तिम अवधि थी । इस प्रकार भगवान् ऋषभ-देवके द्वारा कहे हुए यज्ञका सकल्प कर उन तपस्वियोने तपरूपी श्रेष्ठ यज्ञकी प्रवृत्ति चलायी थी ॥२१५-२१७॥ इस तरह वे मुनि, मुनियोंकी उत्कृष्ट भावनाकी प्रतिज्ञा कर उसका अच्छी तरह निर्वाह करते थे सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुषोंका यह स्वभाव ही है ॥२१८॥ इस विषयमे बहुत कहनेसे क्या लाभ है उन सब मुनियोने राज्यअवस्थामें होनेवाले समस्त विकार भावोंको छोड़कर अनादि कालसे जितनी भी वास्तविक क्रियाएँ चली आती थीं उन सबको अपने अधीन कर लिया था ॥२१९॥

इस प्रकार पुराणपुरुष भगवान् आदिनाथसे रत्नत्रयकी प्राप्ति कर जो उनके तीर्थ-रूपी मानससरोवरके प्रिय राजहंस हुए थे, जिन्होने राज्यभूमिका परित्याग कर सब प्रकार-का मोह छोड़ दिया था, जो भरतराजको नमस्कार नही करनेकी इच्छासे ही दीक्षित हुए थे, उत्कृष्ट धैर्य ही जिनका बल था, जो धीर-वीर मुनियोके आचरण करनेमें सदा सावधान रहते थे, जो योगिराज भगवान् वृषभदेवके द्वारा अगीकार किये हुए मार्गका पालन करते थे और जो

---

१ मंस्कृताग्नि· 'प्रणीत. मस्कृतानल' इत्यभिधानात् । २ तपोधना· । ३ महायज्ञ । ४ होमान्ते याचकादीना देयद्रव्यम् । ५ क्रियावसान । ६ ऋषभसवन्धिनीम् । ७ यजनम् । ८ चक्रु. । ९ प्रवचने साङ्गे अधीतिन. । 'अनूचान प्रवचने साङ्गेऽधीती' इत्यभिधानात् । १० प्रतिज्ञा कृत्वा । ११ संवहन्ति स्म स०, ल० । १२ त्यक्तराजसमूहविकारा. । १३ त्यक्त्वेत्यर्थः । १४ नमस्कारं न कर्तुकामा । १५ पुरो सवन्धिन. । १६ यत्याचारेपू । १७ अङ्गीकृत्य । १८ सुखम् । १९ वो प०, स०, ल० । नः अस्माकम् । २० जनहितेऽनन्यवृत्तयः ।

शार्दूलविक्रीडितम्

नत्वा विश्वसृजं चराचरगुरुं देवं [1]दिवीशार्चितं
नान्यस्य प्रणतिं व्रजाम इति ये दीक्षां परां सश्रिताः ।
ते नः सन्तु तपोविभूतिमुचितां स्वीकृत्य मुक्तिश्रियां
बद्धेच्छावृषभात्मजा जिनजुषाम[2]ग्रेसराः श्रेयसे ॥२२२॥
स श्रीमान् भरतेश्वरः [3]प्रणिधिभिर्यान्प्रह्वतां नानयत्
संभोक्तुं निखिलां विभज्य वसुधां सार्द्धं च यैर्नोऽशकत्[4] ।
निर्वाणाय पितृषभं जिनवृषं ये शिश्रियुः[5] श्रेयसे
ते नो मानधना हरन्तु दुरितं निर्दग्धकर्मेन्धनाः ॥२२३॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भरतराजानुजदीक्षावर्णनं नाम चतुस्त्रिंशत्तमं पर्व ॥३४॥

■

समस्त लोकका हित करनेवाले थे ऐसे वे भगवान् वृषभदेवके पुत्र तुम सबका कल्याण करे ॥२२०–२२१॥ त्रस और स्थावर जीवोके गुरु तथा इन्द्रोके द्वारा पूज्य भगवान् वृषभदेवको नमस्कार कर अब हम किसी दूसरेको प्रणाम नहीं करेगे ऐसा विचार कर जिन्होने उत्कृष्ट दीक्षा धारण की थी, जिन्होने योग्य तपश्चरणरूपी विभूतिको स्वीकार कर मोक्षरूपी लक्ष्मीके प्रति अपनी इच्छा प्रकट की थी और जिनेन्द्र भगवान्की सेवा करनेवालोमे सबसे मुख्य है ऐसे भगवान् वृषभदेवके पुत्र हम सबके कल्याणके लिए हो ॥२२२॥ वह प्रसिद्ध श्रीमान् भरत अपने दूतोके द्वारा जिन्हे नम्रता प्राप्त नही करा सका और न विभाग कर जिनके साथ समस्त पृथिवीका उपभोग ही कर सका तथा जिन्होने निर्वाणके लिए अपने पिता श्री जिनेन्द्रदेवका आश्रय लिया ऐसे अभिमानरूपी धनको धारण करनेवाले और कर्मरूपी ईंधनको जलानेवाले वे मुनिराज हम सब लोगोके पापोका नाश करे ॥२२३॥

इस प्रकार आर्पनामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिपष्टिलक्षण महापुराण सग्रहके भाषानुवादमे भरतराजके छोटे भाइयोकी दीक्षाका वर्णन करनेवाला चौतीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ।

■

---

१ इन्द्र । २ जिन जुषन्ते सेवन्त इति जिनजुष तेषाम् । ३ चरै । 'प्रणिधि प्रार्थने चरे' इत्यभिधानात् । ४ समर्थो नाभूत् । ५ आश्रयन्ति स्म ।

पञ्चत्रिंशत्तमं पर्व

अथ चक्रधरस्यासीत् किंचित् चिन्ताकुलं मनः । दोर्बलिन्यनुनेतव्ये[1][2] यूनि दोर्दर्पशालिनि ॥१॥
अहो भ्रातृगणोऽस्माकं नाभिनन्दति[3] नन्दथुम्[4] । सनाभित्वादवध्यत्वं मन्यमानोऽयमात्मनः[5] ॥२॥
अवध्यं[6] शतमित्यास्था नूनं[7] भ्रातृशतस्य मे । यतः[8] प्रणामविमुखं गतवन्तः[9] प्रतीपताम्[10] ॥३॥
न तथाऽस्मादृशां खेदो भवत्यप्रणते द्विषि । दुर्गर्विते यथा ज्ञातिवर्गेऽन्तर्गेहवर्तिनि ॥४॥
मुखैरनिष्टवाग्वह्निर्दीपितैरतिधूमिताः । दहन्त्यलातवच्च स्वाः[11] प्रातिकूल्यानिलेरिताः ॥५॥
प्रतीपवृत्तयः[12] कामं सन्तु चान्ये कुमारकाः । बाल्यात् प्रभृति येऽस्माभिः स्वातन्त्र्येणोपलालिताः ॥६॥
युवा तु दोर्बली प्राज्ञः क्रमज्ञः प्रश्रयी[13] पटुः । कथं नाम गतोऽस्मासु विक्रियां[14] सुजनोऽपि सन् ॥७॥
कथं च सोऽनुनेतव्यो[15] बली मानधनोऽधुना । जयाङ्गं यस्य दोर्दर्पः श्लाघ्यते रणमूर्द्धनि ॥८॥
सोऽयं भुजबली बाहुबलशाली मदोद्धतः । महानिव गजो माद्यन् दुर्ग्रहोऽनुनयैर्विना ॥९॥
न स सामान्यसंदेशैः प्रह्वीभवति दुर्मदी । ग्रहो दुष्ट इवाविष्टो[16] मन्त्रविद्याचणैर्विना[17] ॥१०॥

अथानन्तर भुजाओके गर्वसे शोभायमान युवा वाहुवलीको वश करनेके लिए चक्रवर्ती-का मन कुछ चिन्तासे आकुल हुआ ॥१॥ वह विचारने लगा कि यह हमारे भाइयोंका समूह एक ही कुलमें उत्पन्न होनेसे अपने-आपको अवध्य मानता हुआ हमारे आनन्दका अभिनन्दन नहीं करता है अर्थात् हमारे आनन्द-वैभवसे ईर्ष्या रखता है ॥२॥ हमारे भाइयोके समूहका यह विश्वास है कि हम सौ भाई अवध्य हैं इसीलिए ये प्रणाम करनेसे विमुख होकर मेरे शत्रु हो रहे है ॥३॥ किसी शत्रुके प्रणाम न करनेपर मुझे वैसा खेद नही होता जैसा कि घरके भीतर रहनेवाले मिथ्याभिमानी भाइयोके प्रणाम नहीं करनेसे हो रहा है ॥४॥ अनिष्ट वचन-रूपी अग्निसे उद्दीपित हुए मुखोसे जो अत्यन्त धूमसहित हो रहे हैं और जो प्रतिकूलतारूपी वायुसे प्रेरित हो रहे है ऐसे ये मेरे निजी भाई अलातचक्रकी तरह मुझे जला रहे है ॥५॥ जिन्हे हमने वालकपनसे ही स्वतन्त्रतापूर्वक खिला-पिलाकर वड़ा किया है ऐसे अन्य कुमार यदि मेरे विरुद्ध आचरण करनेवाले हों तो खुशीसे हों परन्तु वाहुवली तरुण, वुद्धिमान्, परिपाटी-को जाननेवाला, विनयी, चतुर और सज्जन होकर भी मेरे विपयमें विकारको कैसे प्राप्त हो गया ? ॥६–७॥ जो अतिशय बलवान् है, मानरूपी धनसे युक्त है, और विजयका अग स्वरूप जिसकी भुजाओका बल युद्धके अग्रभागमे बड़ा प्रशंसनीय गिना जाता है ऐसे इस वाहुवलीको इस समय किस प्रकार अपने अनुकूल बनाना चाहिए ॥८॥ जो भुजाओके बलसे शोभायमान है और अभिमानरूपी मदसे उद्धत हो रहा है ऐसा यह वाहुवली किसी मदोन्मत्त वड़े हाथीके समान अनुनय-अर्थात् शान्तिसूचक कोमल वचनोके बिना वश नही हो सकता ॥९॥ यह अहंकारी वाहुवली सामान्य सन्देशोंसे वश नही हो सकता क्योकि शरीरमें घुसा हुआ दुष्ट पिशाच

---

१ वाहुवलिकुमारे । २ वशीकर्तु योग्ये सति । ३ नाभिवर्द्धयति । ४ आनन्दम् । ५ भ्रातृगण । ६ वहुजन एकपुरुपेणावध्य इति वुद्धया । ७ भ्रातृगणस्य प०, ल०, द० । ८ यस्मात् कारणात् । ९ प्राप्तम् । १० प्रतिकूलत्वम् । ११ वान्धवा. । १२ प्रतिकूलवर्तना. । १३ विनयवान् । १४ विकारम् । १५ स्वीकार्य । १६ प्रवेशित..। १७ प्रतीतै. । समर्थैरित्यर्थ ।

शेषक्षत्रिययूनां च तस्य चास्त्यन्तरं[1] महत् । मृगसामान्य[2]मानायैर्धर्तुं[3] किं शक्यते हरिः ॥११॥
सोऽभेद्यो नीतिचुञ्चुत्वाद् दण्डसाध्यो न विक्रयी । नैष सामप्रयोगस्य विषयो विकृताशयः ॥१२॥
ज्वलत्येव स तेजस्वी स्नेहेनोपकृतोऽपि सन् । घृताहुतिप्रसेकेन यथेद्धार्चिर्मखानिलः[4] ॥१३॥
स्वभावपरुषे चास्मिन् प्रयुक्तं साम नार्थकृत्[5] । वपुषि द्विरदस्येव योजितं [6]त्वच्यमौषधम् ॥१४॥
प्रायो व्याख्यात एवास्य भावः शेषैः कुमारकैः । [7]मदाज्ञाविमुखैस्त्यक्तराज्यभोगैर्वनोन्मुखैः[8] ॥१५॥
भूयोऽप्यनुनयैरस्य परीक्षिष्यामहे मतम्[9] । तथाप्यप्रणते तस्मिन् विधेयं चिन्त्यमुत्तरम् ॥१६॥
ज्ञातिव्याजनिगूढान्तर्विक्रियो[10] निष्प्रतिक्रियः । सोऽन्तर्गृहोत्थितो वह्निरिवाशेषं दहेत् कुलम्[11] ॥१७॥
अन्तःप्रकृतिजः[12] कोपो विघाताय प्रभोर्मतः । तरुशाखाग्रसंघट्टजन्मा वह्निर्यथा गिरेः ॥१८॥
तदाशु प्रतिकर्तव्यं स बली वक्रतां श्रित. । क्रूरे ग्रह इवामुष्मिन् प्रशान्ते शान्तिरेव नः ॥१९॥
इति निश्चित्य कार्यज्ञं दूतं मन्त्रविशारदम् । तत्प्रान्तं प्राहिणोच्चक्री निसृष्टार्थतयाऽन्वितम्[13] ॥२०॥

मन्त्रविद्यामे.चतुर पुरुषोके विना वश नही हो सकता ॥१०॥ शेष क्षत्रिय युवाओमे और वाहुवलीमें वडा भारी अन्तर है, साधारण हरिण यदि पाशसे पकड़ लिया जाता है तो क्या उससे सिंह भी पकड़ा जा सकता है ? अर्थात् नही। भावार्थ–हरिण और सिंहमे जितना अन्तर है उतना ही अन्तर अन्य कुमारों तथा वाहुवलीमे है ॥११॥ वह नीतिमें चतुर होनेसे अभेद्य है, अर्थात् फोड़ा नही जा सकता, पराक्रमी है इसलिए युद्धमे भी वश नही किया जा सकता और उसका आशय अत्यन्त विकारयुक्त हो रहा है इसलिए उसके साथ शान्तिका भी प्रयोग नहीं किया जा सकता। भावार्थ–उसके साथ भेद, दण्ड और साम तीनो ही उपायोसे काम लेना व्यर्थ है ॥१२॥ जिस प्रकार यज्ञकी अग्नि घीकी आहुति पड़नेसे और भी अधिक प्रज्वलित हो उठती है उसी प्रकार वह तेजस्वी वाहुवली स्नेह अर्थात् प्रेमसे उपकृत होकर और भी अधिक प्रज्वलित हो रहा है–क्रोधित हो रहा है ॥१३॥ जिस प्रकार हाथीके शरीरपर लगायी हुई चमडाको कोमल करनेवाली ओषधि कुछ काम नही करती उसी प्रकार स्वभावसे ही कठोर रहनेवाले इस वाहुवलीके विषयमे साम उपायका प्रयोग करना भी कुछ काम नही देगा ॥१४॥ जो मेरी आज्ञासे विमुख है, जिन्होने राज्यभोग छोड़ दिये है और जो वनमे जानेके लिए उन्मुख है ऐसे वाकी समस्त राजकुमारोने इसका अभिप्राय प्रायः प्रकट ही कर दिया है ॥१५॥ यद्यपि यह सव है तथापि फिर भी कोमल वचनोके द्वारा उसकी परीक्षा करेंगे। यदि ऐसा करनेपर भी नम्रीभूत नही हुआ तो फिर आगे क्या करना चाहिए इसका विचार करना चाहिए ॥१६॥ भाईपनेके कपटसे जिसके अन्तरंगमे विकार छिपा हुआ है और जिसका कोई प्रतिकार नही है ऐसा यह वाहुवली घरके भीतर उठी हुई अग्निके समान समस्त कुलको भस्म कर देगा ॥१७॥ जिस प्रकार वृक्षोकी शाखाओके अग्रभागकी रगड़से उत्पन्न हुई अग्नि पर्वतका विघात करनेवाली होती है उसी प्रकार भाई आदि अन्तरग प्रकृतिसे उत्पन्न हुआ प्रकोप राजाका विघात करनेवाला होता है ॥१८॥ यह वलवान् वाहुवली इस समय प्रतिकूलताको प्राप्त हो रहा है इसलिए इसका शीघ्र ही प्रतिकार करना चाहिए क्योकि क्रूर ग्रहके समान इसके शान्त हो जानेपर ही मुझे शान्ति हो सकती है ॥१९॥ ऐसा निश्चय कर चक्रवर्तीने कार्यको जाननेवाले, मन्त्र करनेमें चतुर तथा नि.सृष्टार्थतासे सहित

१ भेद । 'अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्द्धिभेदतादर्थ्ये' इत्यभिधानात् । २ सामान्यं कृत्वा । ३ जालैः । 'आनाय पुंसि जालं स्यात्' इत्यभिधानात् । ४ यज्ञाग्निः । ५ कार्यकारी न । ६ त्वचे हितम् । ७ मम शासनम् । ८ वनाभिमुखैः । ९ अभिप्राय । १० अन्तर्गूढविकार. । ११ गृहं गोत्र च । १२ स्ववर्ग जात. । १३ असकृत् सपादितप्रयोजनतया ।

उचितं[1] युग्यमारूढो वयसा नातिकर्कशः । अनुद्धतेन वेषेण प्रतस्थे स तदन्तिकम् ॥२१॥
आत्मनेव द्वितीयेन स्निग्धेनानुगतो द्रुतम् । निजानुजीविलोकेन[2] हस्तशम्बल[3]वाहिना ॥२२॥
सोऽन्वीपं[4] वक्ति चेदेवं[5]महं ब्रूयामकत्थनः[6] । विगृह्य[7] यदि स ब्रूयाद् विरहं[8] विग्रहं घटे[9] ॥२३॥
सधिं च पणबन्धं[10] च कुर्यात् सोऽन्तरमेव नः । विक्रम्य[11] क्षिप्रमेष्यामि[12] विजिगीषावसंगते[13] ॥२४॥
गुणयन्निति संपत्तिविपत्ती स्वान्यपक्षयोः । स्वयं निगूढमन्त्रत्वादनिर्भेद्योऽन्यमन्त्रिभिः ॥२५॥
मन्त्रभेदभयाद् गूढं स्वपन्नेकः[14] प्रयाणके । युद्धापसारभूमीश्च[15] स पश्यन् दूरमन्यगात्[16] ॥२६॥
क्रमेण देशान् सिन्धूंश्च[17] देशसंधींश्च[18] सोऽतियन्[19] । प्रापत् संख्यातरात्रैस्तत् पुरं पोदनसाह्वयम् ॥२७॥
बहिःपुरमथासाद्य रम्याः सरयवतीर्भुवः । पक्वशालिवनोद्देशान् स पश्यन् प्राप नन्दथुम्[20] ॥२८॥
पश्यन् स्तम्बकरिस्तम्बान्[21] प्रभूतफल[22]शालिनः । कृतरक्षान् जनैर्यत्नात् स मेने स्वार्थिनं[23] जनम् ॥२९॥
सकुटुम्बिभि[24]रुदात्रै[25]र्नृत्यद्भिरभिनन्दितान् । केदारलाव[26]संघर्षं[27]र्घोषोपान्त्यशामयत्[28] ॥३०॥

दूतको बाहुबलीके समीप भेजा। भावार्थ–जिस दूतके ऊपर कार्य सिद्ध करनेका सब भार सौप दिया जाता है वह निःसृष्टार्थ दूत कहलाता है। यह दूत स्वामीके उद्देश्यकी रक्षा करता हुआ प्रसगानुसार कार्य करता है। चक्रवर्ती भरतने ऐसा ही दूत बाहुबलीके पास भेजा था ॥२०॥ जो उमरमे न तो बहुत छोटा था और न बहुत बड़ा ही था ऐसा वह दूत अपने योग्य रथपर सवार होकर नम्रताके वेषसे बाहुबलीके समीप चला ॥२१॥ जिसने मार्गमे काम आने-वाली भोजन आदिकी समस्त सामग्री अपने साथ ले रखी है और जो प्रेम करनेवाला है ऐसे अपने ही समान एक सेवकसे अनुगत होकर वह दूत वहाँसे शीघ्र ही चला ॥२२॥ वह दूत मार्गमें विचार करता जाता था कि यदि वह अनुकूल बोलेगा तो मैं भी अपनी प्रशसा किये बिना ही अनुकूल बोलूँगा और यदि वह विरुद्ध होकर युद्धकी बात करेगा तो मैं युद्ध नही होनेके लिए उद्योग करूँगा ॥२३॥ यदि वह सन्धि अथवा पणबन्ध (कुछ भेट देना आदि) करना चाहेगा तो मेरा यह अन्तरंग ही है अर्थात् मै भी यही चाहता हूँ, इसके सिवाय यदि वह चक्रवर्तीको जीतनेकी इच्छा करेगा तो मैं भी कुछ पराक्रम दिखाकर शीघ्र वापस लौट आऊँगा ॥२४॥ इस प्रकार जो अपने पक्षकी सम्पत्ति और दूसरेके पक्षकी विपत्तिका विचार करता जाता था, जो अपने मन्त्रको छिपाकर रखनेसे दूसरे मन्त्रियोके द्वारा कभी फोडा नही जा सकता था और जो मन्त्रभेदके डरसे पडावपर किसी एकान्त स्थानमे गुप्त रीतिसे शयन करता था ऐसा वह दूत युद्ध करने तथा उससे निकलनेकी भूमियोको देखता हुआ बहुत दूर निकल गया ॥२५–२६॥ क्रम-क्रमसे अनेक देश, नदी और देशोकी सीमाओका उल्लघन करता हुआ वह दूत बाहुबली-के पोदनपुर नामक नगरमे जा पहुँचा ॥२७॥ नगरके बाहर धानोसे युक्त मनोहर पृथिवी-को पाकर और पके हुए चावलोंके खेतोंको देखता हुआ वह दूत बहुत ही आनन्दको प्राप्त हुआ था ॥२८॥ जो बहुत-से फलोसे शोभायमान है और किसानोके द्वारा बड़े यत्नसे जिनकी रक्षा की जा रही है ऐसे धानके गुच्छोको देखते हुए दूतने मनुष्योको बडा स्वार्थी समझा था ॥२९॥ जो खेतोंको देखकर आनन्दसे नाच रहे है और खेत काटनेके लिए जिन्होने हँसिया ऊँचे उठा रखे

---

१ वाहनम्। 'सर्व स्याद् वाहनं धान युग्य पत्र च धोरणम्' इत्यभिधानात्। २ अनुचरजनेन। ३ पाथेय। ४ अनुकूलम्। ५ अनुकूलवृत्त्या। ६ अश्लाघमान। – मकत्थन ल०। ७ कलहं कृत्वा। ८ नाशम्। ९ करोमि। १० निष्क्रग्रन्थिम्। प्राभृतमित्यर्थ। ११ विक्रमं कृत्वा। १२ आगच्छामि। १३ सधि न गते सति। १४ शयान। १५ युद्धापसारणयोग्यभूमि। १६ -मभ्यगात् ल०, प०, अ०, स०। १७ नदी। १८ देश-सीम्न। १९ अतीत्य गच्छन्। २० आनन्दम्। २१ व्रीहिगुच्छान्। 'धान्यं व्रीहि स्तम्बकरि स्तम्बो गुच्छस्तृणादितः।' इत्यभिधानात्। २२ बहल। २३ निजप्रयोजनवन्तम्। २४ कृपीवलैः। २५ उद्गतलवित्रै। २६ छेदन। २७ समर्द। २८ अशृणोत्।

क्वचिच्छुकमुखाकृष्टकणाः[1] कणिशमञ्जरीः । शालिवप्रेषु[2] सोऽपश्यद् विटैर्भुक्ता इव स्त्रियः ॥३१॥
सुगन्धिकलमामोदसंवादि[3] श्वसि[4] तानिलैः । वासयन्तीर्दिशः शालिकणिशैरवतंसिताः ॥३२॥
पीनस्तनतटोत्सङ्गगलद्घर्माम्बुबिन्दुभिः । मुक्तालंकारजां लक्ष्मीं घटयन्तीर्निजोरसि ॥३३॥
सरजोऽब्जरजःकीर्णसीमन्तरुचिरैः कचैः । [5]चूडामाबध्नतीः स्वैरग्रन्थितोत्पलदामकैः ॥३४॥
दधतीरातपक्लान्तमुखपर्यन्तसंगिनीः । लावण्यस्येव कणिकाः श्रमघर्माम्बुविप्रुषः ॥३५॥
शुकान् शुकच्छदच्छायैरुचिराङ्गीस्तनांशुकैः । छोत्कुर्वतीः कलक्वाणं सोऽपश्यच्छालिगोपिकाः ॥३६॥
[6]अभ्यद्यात्रकुटीयन्त्रचीत्कारैरिक्षुवाटकान् । फूत्कुर्वत इवाद्राक्षीदतिपीडाभयेन सः ॥३७॥
उपक्षेत्रं[7] च गोधेनूर्महोधोभरमन्थराः[9] । वात्सकेनोत्सुकाः स्तन्यं[10] क्षरतीर्निचचाय[11] सः ॥३८॥
इति रम्यान् पुरस्यास्य सीमान्तान् स विलोकयन् । मेने कृतार्थमात्मानं लब्धतद्दर्शनोत्सवम् ॥३९॥
उपशल्यभुवः[12] कुल्याप्रणालीप्रसृतोदकाः । शालीक्षुजीरकक्षेत्रैर्वृतास्तस्य[13] मनोऽहरन् ॥४०॥
वापीकूपतडागैश्च सारामैरम्बुजाकरैः । पुरस्यास्य बहिर्देशास्तेनादृश्यन्त हारिणः ॥४१॥
पुरगोपुरमुल्लङ्घ्य स निचायन् वणिक्पथान् । तत्र [14]पूगीकृतान् मेने रत्नराशीन्निधीनिव ॥४२॥

है ऐसे कुटुम्बसहित किसानोके द्वारा प्रशंसनीय, खेत काटनेके संघर्षके लिए बजती हुई तुरईके शब्दोको भी वह दूत सुन रहा था ॥३०॥ कही धानके खेतोमे वह दूत जिनके कुछ दाने तोताओ ने अपने मुखसे खींच लिये है ऐसी बालोके समूह इस प्रकार देखता था मानो विट पुरुषोके द्वारा भोगी हुई स्त्रियाँ ही हों ॥३१॥ जो सुगन्धित धानको सुगन्धिके समान सुवासित अपनी श्वासकी वायुसे दशो दिशाओको सुगन्धित कर रही थी, जिन्होने धानकी बालोसे अपने कानो-के आभूषण बनाये थे, जो अपने वक्षःस्थलपर स्थूल स्तनतटके समीपमे गिरती हुई पसीनेकी बूँदोसे मोतियोंके अलंकारसे उत्पन्न होनेवाली शोभाको धारण कर रही थी, जो परागसहित कमलोकी रजसे भरे हुए माँगसे सुन्दर तथा अच्छी तरह गुँथी हुई नीलकमलोकी मालाओसे सुशोभित केशोसे चोटियाँ बाँधे हुई थी, जो घामसे दुःखी हुए मुखपर लगी हुई सौन्दर्यके छोटे-छोटे टुकड़ोके समान पसीनेकी बूँदोको धारण कर रही थी, जिनके शरीर तोतेके पंखोके समान कान्तिवाली–हरी-हरी चोलियोसे सुशोभित हो रहे थे, और जो मनोहर शब्द करती हुई छो-छो करके तोतोको उड़ा रही थी ऐसी धानकी रक्षा करनेवाली स्त्रियाँ उस दूतने देखी ॥३२–३६॥ जो चलते हुए कोल्हुओके चीत्कार शब्दोके बहाने अत्यन्त पीड़ासे मानो रो ही रहे थे ऐसे ईखके खेत उस दूतने देखे ॥३७॥ खेतोके समीप ही, बडे भारी स्तनके भारसे जो धीरे-धीरे चल रही है, जो बछडोंके समूहसे उत्कण्ठित हो रही है और जो दूध झरा रही है ऐसी नवीन प्रसूता गाये भी उसने देखी ॥३८॥ इस प्रकार इस नगरके मनोहर सीमाप्रदेशों-को देखता हुआ और उन्हे देखकर आनन्द प्राप्त करता हुआ वह दूत अपने आपको कृतार्थ मानने लगा ॥३९॥ जिनके चारों ओर नहरकी नालियोसे पानी फैला हुआ है और जो धान ईख और जीरेके खेतोसे घिरी हुई है ऐसी उस नगरके बाहरकी पृथिवियाँ उस दूतका मन हरण कर रही थी ॥४०॥ बावडी, कुएँ, तालाब, बगीचे और कमलोके समूहोसे उस नगरके बाहरके प्रदेश उस दूतको बहुत ही मनोहर दिखाई दे रहे थे ॥४१॥ नगरके गोपुरद्वारको

१ धान्याग्राः । २ केदारेषु । ३ परिस्पर्धि । ४ उच्छ्वास । ५ शिखाम् । 'शिखा चूडा केशपाशः' इत्यभिधानात् । ६ इक्षुयन्त्रगृह । ७ क्षेत्रसमीपे । ८ गोनवसूतिकाः । 'धेनुः स्यान्नवप्रसूतिका' इत्यभि-धानात् । ९ महापीनभारमन्दगमनाः । १० क्षीरम् । ११ ददर्श । 'चायृज् पूजानिशामनयोः' । १२ ग्रामान्तभूमिः । 'ग्रामान्तमुपशल्यं स्याद्' इत्यभिधानात् । १३ दूतस्य । १४ वृन्दीकृतान् । 'पूगः क्रमुकवृन्दयोः' इत्यभिधानात् । पुञ्जीकृतानित्यर्थः । पुञ्जीकृतान् ल० । पूगकृतान् अ०, प०, स०, इ० ।

नृपोपा[1]यनवाजीभलालामदजलाविलम्[2] । कृतच्छटमिवालोक्य सोऽभ्यनन्दन्नृपाङ्गणम् ॥४३॥
स निवेदितवृत्तान्तो महादौवारपालकैः । नृपं नृपासनासीनमुपासी[3]दद् वचोहरः ॥४४॥
पृथुवक्षस[4]टं तुङ्गमुकुटोदग्रश्टङ्गकम् । जयलक्ष्मीविलासिन्याः क्रीडाशैलमिवैककम् ॥४५॥
ललाटपट्टमारूढपट्टबन्धं सुविस्तृतम् । जयश्रिय इवोद्वाहपट्टं दधतमुच्चकैः ॥४६॥
दधानं तुलिताशेषराजन्यकयशोधनम् । तुलादण्डमिवोदूढभूभारं भुजदण्डकम् ॥४७॥
मुखेन पङ्कजच्छायां नेत्राभ्यामुत्पलश्रियम् । दधानमप्यना[5]सन्नविजातिमजलाशयम्[6] ॥४८॥
विभ्राणमतिविस्तीर्णं मनो वक्षश्च यद्द्वयम् । [7]वाग्देवीकमलावत्योर्गतं नित्यावकाशताम् ॥४९॥
रक्षावृत्तिपरिक्षेपं गुणग्रामं[8] महाफलम् । निवेशयन्तमात्माङ्गे मनःसु च महीयसाम् ॥५०॥
स्फुरदाभरणोद्योतच्छद्मना निखिला दिशः । प्रतापज्वलनेनेव लिम्पन्तमलघीयसा ॥५१॥
मुखेन चन्द्रकान्तेन[9] पद्मरागेण[10] चारुणा । चरणेन विराजन्तं वज्रसारेण[11] वर्ष्मणा ॥५२॥

उल्लघन कर बाजारके मार्गोको देखता हुआ वह दूत वहाँ इकट्ठी की हुई रत्नोकी राशियोको निधियोके समान मानने लगा ॥४२॥ जो राजाकी भेंटमे आये हुए घोडे और हाथियोंकी लार तथा मदजलसे कीचडसहित हो रहा था और उससे ऐसा मालूम होता था मानो उसपर जल ही छीटा गया हो ऐसे राजाके आँगनको देखकर वह दूत बहुत ही प्रसन्न हो रहा था ॥४३॥ जिसने मुख्य-मुख्य द्वारपालोंके द्वारा अपना वृत्तान्त कहला भेजा है ऐसा वह दूत राजसिहासन-पर बैठे हुए महाराज बाहुबलीके समीप जा पहुँचा ॥४४॥ वहाँ जाकर उसने महाराज बाहु-बलीको देखा, उनका वक्ष स्थल किनारेके समान चौडा था, वे स्वयं ऊँचे थे और उनका मुकुट शिखरके समान उन्नत था इसलिए वे विजयलक्ष्मीरूपी स्त्रीके क्रीड़ा करनेके लिए एक अद्वितीय पर्वतके समान जान पड़ते थे—जिसपर यह बँधा हुआ है ऐसे लँम्बे-चौड़े ललाटपट्टको धारण करते हुए वे ऐसे जान पडते थे मानो विजयलक्ष्मीका उत्कृष्ट विवाहपट्ट ही धारण कर रहे हों। वे बाहुबली स्वामी, जिसने समस्त राजाओका यशरूपी धन तोल लिया है और जिसने समस्त पृथिवीका भार उठा रखा है ऐसे तराजूके दण्डके समान भुजदण्डको धारण कर रहे थे—यद्यपि वे मुखसे कमलकी और नेत्रोसे उत्पलकी शोभा धारण कर रहे थे तथापि उनके सपीप न तो विजाति अर्थात् पक्षियोकी जातियाँ थी और न वे स्वयं जलाशय अर्थात् सरोवर ही थे। भावार्थ—इस श्लोकमें विरोधाभास अलंकार है इसलिए विरोधका परिहार इस प्रकार करना चाहिए कि वे यद्यपि मुख और नेत्रोंसे कमल तथा उत्पलकी शोभा धारण करते थे तथापि उनके पास विजाति अर्थात् वर्णसकर लोगोका निवास नही था और न वे स्वय जलाशय अर्थात् जड आशयवाले मूर्ख ही थे। वे बाहुबली जिनपर क्रमसे सरस्वती देवी और लक्ष्मीदेवीका निरन्तर निवास रहता था ऐसे अत्यन्त विस्तृत (उदार और लम्बे चौडे) मन और वक्ष.स्थलको धारण कर रहे थे—वे, प्रजाकी रक्षाके कारण तथा बडे-बडे फल देनेवाले गुणोंके समूहको अपने शरीरमे धारण कर रहे थे और अन्य महापुरुषोके मनमे धारण कराते थे—वे अपने देदीप्यमान आभूषणोकी कान्तिके छलसे ऐसे जान पड़ते थे मानो अपने विशाल प्रतापरूपी अग्निसे समस्त दिशाओंको लिप्त ही कर रहे हो। वे चन्द्रकान्त मणिके समान मुखसे, पद्मराग मणिके समान सुन्दर चरणोसे और वज्रके समान सुदृढ अपने

---

१ परनृपैः प्राभृतीकृत । २ कर्दमितम् । ३ उपागमत् । ४ सानुम् । ५ अनासन्नहीनजातिम् । पक्षे पक्षिजातिम् । ६ अमन्दबुद्धिम् । ७ सरस्वतीलक्ष्म्यो । ८ गुणसमूहम् । निगम (गाँव) मिति ध्वनि । ९ चन्द्रवत् कान्तेन । १० चन्द्रकान्तशिलयेति ध्वनि । ११ पद्मवदरुणेन । पद्मरागरत्नेनेति ध्वनि. ११ वज्रवत् स्थिरावयवेन । वज्रान्त.सारेणेति ध्वनि ।

हरिन्मणिमयस्तम्भमिवैकं हरितत्विषम् । लोकावष्टम्भमाधातुं[1] सृष्टमाद्येन वेधसा[2] ॥५३॥
[3]सर्वाङ्गसंगतं तेजो दधानं क्षात्रमूर्जितम् । नूनं[4] तेजोमयैरेव घटितं परमाणुभिः ॥५४॥
तमित्यालोकयन् दूराद् धाम्नः[5] पुञ्जमिवोच्छिखम् । चचाल प्रणिधिः[6] किंचित् प्रणिधाना[7]न्निधीशितुः॥५५॥
प्रणमंश्चरणावेत्य दधद्दूरानतं शिरः । ससत्कारं कुमारेण नातिदूरे न्यवेशि सः ॥५६॥
त शासनहरं जिष्णोर्निविष्टमुचितासने । कुमारो निजगादेति स्मितांशून् विष्वगाकिरन् ॥५७॥
चिराच्चक्रधरस्याद्य वयं[8]चिन्त्यत्वमागताः । भद्र भद्रं[9] जगद्भर्तुर्बहुचिन्त्यस्य चक्रिणः ॥५८॥
विश्वक्ष[10]त्रजयोद्योगमद्यापि न समापयन्[11] । स कच्चिद्[12] भूभुजां भर्तुः कुशली दक्षिणो भुजः ॥५९॥
श्रुता विश्वदिशः सिद्धा जिताश्च निखिला नृपाः । कर्तव्यशेषमस्याद्य किमस्ति वद नास्ति वा ॥६०॥
इति प्रशान्तमोजस्वि वचःसारं मिताक्षरम् । वदन् कुमारो दूतस्य वचनावसरं[13] व्यधात् ॥६१॥
अथोपाचक्रमे वक्तुं वचो हारि[14] वचोहरः । वागर्थाविव संपिण्ड्य[15] दर्शयन् दशनांशुभिः[16] ॥६२॥
त्वद्वचः[17] संमुखीनेऽस्मिन् कार्यं सुव्यक्तमीक्ष्यते । असंस्कृतोऽपि[18] यत्रार्थं प्रत्यक्षयति[19] मादृशः[20] ॥६३॥
वयं वचोहरा नाम प्रभोः शासनहारिणः । गुणदोषविचारेषु मन्दास्तच्छन्दवर्तिनः[21] ॥६४॥

शरीरसे वहुत ही अधिक सुशोभित हो रहे थे। उनकी कान्ति हरे रगकी थी इसलिए वे ऐसे जान पडते थे मानो आदि ब्रह्मा भगवान् वृषभदेवके द्वारा लोकको सहारा देनेके लिए वनाया हुआ हरित मणियोका एक खम्भा ही हो। समस्त शरीरमे फैले हुए अतिशय श्रेष्ठ क्षात्रतेजको धारण करते हुए महाराज बाहुवली ऐसे जान पड़ते थे मानो तेजरूप परमाणुओसे ही उनकी रचना हुई हो। जिसकी ज्वाला ऊपरकी ओर उठ रही है ऐसे तेजके पुजके समान महाराज बाहुबलीको दूरसे देखता हुआ वह चक्रवर्तीका दूत अपने ध्यानसे कुछ विचलित-सा हो गया अर्थात् घवडा-सा गया ॥४५–५५॥ दूरसे ही झुके हुए शिरको धारण करनेवाले उस दूतने जाकर कुमारके चरणोमें प्रणाम किया और कुमारने भी उसे सत्कारके साथ अपने समीप ही बैठाया ॥५६॥ कुमार बाहुवली अपने मन्द हास्यकी किरणोको चारो ओर फैलाते हुए योग्य आसनपर बैठे हुए उस भरतके दूतसे इस प्रकार कहने लगे ॥५७॥ कि आज चक्रवर्तीने वहुत दिनमे हम लोगोका स्मरण किया, हे भद्र, जो समस्त पृथिवीके स्वामी है और जिन्हे वहुत लोगोकी चिन्ता रहती है ऐसे चक्रवर्तीकी कुशल तो है न? ॥५८॥ जिसने समस्त क्षत्रियोको जीतनेका उद्योग आज तक भी समाप्त नही किया है ऐसे राजाधिराज भरतेश्वरकी वह प्रसिद्ध दाहिनी भुजा कुशल है न? ॥५९॥ सुना है कि भरतने समस्त दिशाएँ वग कर ली है और समस्त राजाओको जीत लिया है। हे दूत, कहो अव भी उनको कुछ कार्य वाकी रहा है या नही? ॥६०॥ इस प्रकार जो अत्यन्त शान्त है, तेजस्वी है, साररूप है, और जिनमे थोड़े अक्षर है ऐसे वचन कहकर कुमारने दूतको कहनेके लिए अवसर दिया ॥६१॥

तदनन्तर दाँतोकी किरणोसे शब्द और अर्थ दोनोको मिलाकर दिखलाता हुआ दूत मनोहर वचन कहनेके लिए तैयार हुआ ॥६२॥ वह कहने लगा कि हे प्रभो, आपके इस वचनरूपी दर्पणमे आगेका कार्य स्पष्ट रूपसे दिखाई देता है क्योंकि उसका अर्थ मुझ-जैसा मूर्ख भी प्रत्यक्ष जान लेता है ॥६३॥ हे नाथ, हम लोग तो दूत है केवल स्वामीका समाचार ले जाने-

---

१ आधारम् । २ आदिब्रह्मणेत्यर्थ । ३ सप्ताङ्ग अथवा सर्वशरीर । ४ इव । ५ धाम्ना तेजसाम् । ६ चर । ७ गुणदोषविचारानुस्मरणं प्रणिधानम्, तस्मात् । अभिप्रायादित्यर्थ । ८ चिन्तितुं योग्याश्चिन्त्याः तेषा भाव. चिन्त्यत्वम् । ९ कुशलम् । १० क्षेत्र–इ० । ११ सम्पूर्ण न कुर्वन् । १२ किम् । १३ वचनस्यावसरम् । १४ मनोज्ञम् । १५ पिण्डीकृत्य । १६ दन्तकान्तिभि । १७ तव वाग्दर्पणे । १८ सस्काररहितः । १९ प्रत्यक्ष करोति । २० मद्विध । २१ चक्रिवशवर्तिन । – च्छन्दचारिण ल०, द० ।

ततश्चक्रधरेणायं यदादिष्टं[1] प्रियोचितम् । प्रयोक्तृगौरवादेव तद्ग्राह्यं साध्वसाधु वा ॥६५॥
गुरोर्वचनमादेयमविकल्प्येति[2] या श्रुतिः । तत्प्रामाण्यादमुष्याज्ञा संविधेया त्वयाधुना ॥६६॥
ऐक्ष्वाकः[3] प्रथमो राज्ञां भरतो भवदग्रजः । परिक्रान्ता मही कृत्स्ना येन नामयताऽमरान् ॥६७॥
गङ्गाद्वारं समुल्लङ्घ्य यो रथेनाप्रतिष्कशः[4] । चलदाविद्धकल्लोलं[5] मकरोन्मकरालयम् ॥६८॥
शरव्याजः प्रतापाग्निर्ज्वलत्यस्य जलेऽम्बुधेः । पपौ न केवलं वार्धिं मानं च त्रिदिवौकसाम् ॥६९॥
मा नाम प्रणति यस्य [6]भ्राजिष्णुर्द्युसदः कथम् । आकृष्टाः शरपाशेन प्राध्वंकृत्य[7] गले बलात् ॥७०॥
[8]शरव्यमकरोद्यस्य शरपातो महाम्बुधौ । प्रसभं मगधावासं क्रान्तद्वादशयोजनः ॥७१॥
विजयार्द्धाचले यस्य विजयो घोषितोऽमरैः । जयतो विजयार्द्धेशं शरेणामोघपातिना ॥७२॥
कृतमालादयो देवा गता यस्य विधेयताम्[9] । [10]कृतमस्योभयश्रेणीन[11]भोगजयवर्णनैः ॥७३॥
गुहामुखमपध्वान्तं[12] व्यतीत्य जयसाधनैः । उत्तरां विजयार्द्धाद्रेर्यो व्यगाहत तां महीम् ॥७४॥
म्लेच्छानिच्छतोऽप्याज्ञां प्रच्छाद्य[13] जयसाधनैः । सेनान्या यो जयं प्राप बलादाच्छिद्य[14] तद्धनम् ॥७५॥

वाले है हम लोग सदा स्वामीके अभिप्रायके अनुसार चलते है तथा गुण और दोषोका विचार करनेमें भी असमर्थ है ॥६४॥ इसीलिए हे आर्य, चक्रवर्तीने जो प्रिय और उचित आज्ञा दी है वह अच्छी हो या बुरी, केवल कहनेवालेके गौरवसे ही स्वीकार करने योग्य है ॥६५॥ गुरुके वचन बिना किसी तर्क-वितर्कके मान लेना चाहिए यह जो शास्त्रका वचन है उसे प्रमाण मानकर इस समय आपको चक्रवर्तीकी आज्ञा स्वीकार कर लेनी चाहिए ॥६६॥ वह भरत इक्ष्वाकुवशमे उत्पन्न हुआ है अथवा इक्ष्वाकु अर्थात् भगवान् वृषभदेवका पुत्र है, राजाओमें प्रथम है, आपका बडा भाई है और इसके सिवाय देवोंसे भी नमस्कार कराते हुए उसने समस्त पृथिवी अपने वश कर ली है ॥६७॥ उसने गंगाद्वारको उल्लघन कर अकेले ही रथपर बैठकर समुद्रको जिसकी चचल लहरे एक दूसरेसे टकरा रही है ऐसा कर दिया ॥६८॥ बाणके बहाने-से इसकी प्रतापरूपी अग्नि समुद्रके जलमे भी प्रज्वलित रहती है, उस अग्निने केवल समुद्र-को ही नही पिया है किन्तु देवोंका मान भी पी डाला है ॥६९॥ भला, देव लोग उसे कैसे न नमस्कार करेंगे ? क्योकि उसने बाणरूपी जालसे गलेमें बाँधकर उन्हे जबरदस्ती अपनी ओर खींच लिया था ॥७०॥ बारह योजन दूर तक जानेवाले उसके बाणने महासागरमे रहनेवाले मागधदेवके निवासस्थानको भी जबरदस्ती अपना निशाना बनाया था ॥७१॥ व्यर्थ न जाने-वाले बाणके द्वारा विजयार्ध पर्वतके स्वामी विजयार्धदेवको जीतनेवाले उस भरतकी विजय-घोषणा देवोने भी की थी ॥७२॥ कृतमाल आदि देव उसकी अधीनता प्राप्त कर चुके है और उत्तर दक्षिण दोनो श्रेणियोके विद्याधरोने भी उसकी जयघोषणा की है ॥७३॥ जिसका अन्ध-कार दूर कर दिया गया है ऐसे गुफाके दरवाजेको अपनी विजयी सेनाके साथ उल्लघन कर उसने विजयार्ध पर्वतकी उत्तर दिशाकी भूमिपर भी अपना अधिकार कर लिया है ॥७४॥ म्लेच्छ लोग यद्यपि उसकी आज्ञा नही मानना चाहते थे तथापि उसने सेनापतिके द्वारा अपनी

१ उपदेशितम् । २ भेदमकृत्वा । ३ इक्ष्वाको सकाशात् संजातः । ४ असहाय । ५ परस्परताडित । अथवा कुटिल । 'आविद्ध कुटिल भुग्न वेल्लित वक्रम्' इत्यभिधानात् । ६ अगु । माङ्योगादडभाव । ७ बन्धनं कृत्वा । 'प्राध्व बन्धे' इति सूत्रेण तिसज्ञाया 'तिदुस्वत्याड्क्षन्यस्त तत्पुरुष' इति समास, 'समासे को नञ ल्य' इति क्त्वाप्रत्ययस्य ल्यादेश । ८ लक्ष्यम् । ९ विनयग्राहिताम् । 'विनेयो विनयग्राही' इत्यभिधानात् । १० पर्याप्तम् । ११ श्रेणीनभोगैर्जयवर्णनम् द०, इ० । श्रेणिनभोगैर्जयवर्णनै. ल० । १२ अपगतान्धकार कृत्वा । १३ मवेष्ट्य । १४ बलादाकृष्य ।

कृतोऽभिषेको यस्यारादभ्येत्य सुरसत्तमैः । यस्याचलेन्द्रकूटेषु स्थलपद्मायितं यशः ॥७६॥
रत्नार्घैः पर्युपासातां[1] य स्त्रधुन्यधिदेवते[2] । वृषभाद्रितटे येन टङ्कोत्कीर्णं कृतं यशः ॥७७॥
घटदासीकृता लक्ष्मीः सुराः किङ्करतां गताः । यस्य स्वाधीनरत्नस्य निधयः सुवते धनम् ॥७८॥
स यस्य जयसैन्यानि निर्जित्य निखिला दिशः । भ्रमन्ति स्माखिलाम्भोधितटान्तवनभूमिषु ॥७९॥
त्वामायुष्मन् जगन्मान्यो मानयन्[3] कुशलाशिषा । समादिशन्ति चक्राङ्कां[4] प्रथयन्नधिराजताम् ॥८०॥
मदीयं राज्यमाक्रान्तनिखिलद्वीपसागरम् । राजतेऽस्मत्प्रियभ्रात्रा न बाहुबलिना विना ॥८१॥
ताः संपदस्तदैश्वर्यं ते भोगाः स परिच्छदः । ये समं बन्धुभिर्भुक्ताः सविभक्तसुखोदयैः ॥८२॥
अन्यच्च नमिताशेषनृसुरासुरखेचरम् । नाधिराज्य विभात्यस्य[4] प्रणामविमुखे त्वयि ॥८३॥
न दुनोति मनस्तीव्रं रिपुरप्रणतस्तथा । बन्धुरप्रणमन् गर्वाद् दुर्विदग्धो यथा प्रभुम् ॥८४॥
[5]तदुपेत्य प्रणामेन पूज्यतां प्रभुरक्षमी । प्रभुप्रणतिरेवेष्टा प्रसूतिर्ननु संपदाम् ॥८५॥
अवन्ध्यशासनस्यास्य शासनं[6] ये विमन्वते[7] । शासनं[8] द्विषतां तेषां चक्रमप्रतिशासनम् ॥८६॥
प्रचण्डदण्डनिर्घात[9]निपातपरिखण्डितान् । तदाज्ञाखण्डनव्यग्रान् पश्यैनान्[10] मण्डलाधिपान् ॥८७॥

सेनासे हराकर और जबरदस्ती उनका धन छीनकर उनपर विजय प्राप्त की है ॥७५॥ अच्छे-अच्छे देवोने आकर उसका अभिषेक किया है और उसका निर्मल यश बडे-बड़े पर्वतोके शिखरों-पर स्थलकमलोके समान सुशोभित हो रहा है ॥७६॥ गंगा-सिन्धु दोनो नदियोके देवताओ-ने रत्नोके अर्घो के द्वारा उसकी पूजा की है तथा वृषभाचलके तटपर उसने अपना यश टाकीसे उकेरकर लिखा है ॥७७॥ उसने लक्ष्मीको घटदासी अर्थात् पानी भरनेवाली दासीके समान किया है, देव उसके सेवक हो रहे है, समस्त रत्न उसके स्वाधीन है और निधियाँ उसे धन प्रदान करती रहती है ॥७८॥ और उसकी विजयी सेनाओने समस्त दिशाओको जीतकर सब समुद्रोके किनारेके वनोकी भूमिमे भ्रमण किया है ॥७९॥ हे आयुष्मन्, जगत्मे माननीय वही महाराज भरत अपने चक्रवर्तीपनेको प्रसिद्ध करते हुए कल्याण करनेवाले आशीर्वादसे आपका सन्मान कर आज्ञा कर रहे है ॥८०॥ कि समस्त द्वीप और समुद्रो तक फैला हुआ, यह हमारा राज्य हमारे प्रिय भाई बाहुबलीके बिना शोभा नही देता है ॥८१॥ सम्पत्तियाँ वही है, ऐश्वर्य वही है, भोग वही है और सामग्री वही है जिसे भाई लोग सुखके उदयको बाँटते हुए साथ-साथ उपभोग करे ॥८२॥ दूसरी एक बात यह है कि आपके प्रणाम करनेसे विमुख रहनेपर जिसमे समस्त मनुष्य, देव, धरणेन्द्र और विद्याधर नमस्कार करते है ऐसा उनका चक्रवर्तीपना भी सुशोभित नही होता है ॥८३॥ प्रणाम नही करनेवाला शत्रु स्वामीके मनको उतना अधिक दु खी नही करता है जितना कि अपनेको झूठमूठ चतुर माननेवाला और अभिमानसे प्रणाम नही करनेवाला भाई करता है ॥८४॥ इसलिए आप किसी अपराधकी क्षमा नही करनेवाले महाराज भरतके समीप जाकर प्रणामके द्वारा उनका सत्कार कीजिए क्योकि स्वामीको प्रणाम करना अनेक सम्पदाओको उत्पन्न करनेवाला है और यही सबको इष्ट है ॥८५॥ जिसकी आज्ञा कभी व्यर्थ नही जाती ऐसे उस भरतकी आज्ञाका जो कोई भी उल्लघन करते है उन शत्रुओका शासन करनेवाला उसका वह चक्ररत्न है जिसपर स्वयं किसीका शासन नही चल सकता ॥८६॥ आप भरतकी आज्ञाका खण्डन करनेसे व्याकुल हुए इन मण्डलाधिपति राजाओको देखिए जो भयकर दण्डरूपी वज्रके गिरनेसे खण्ड-खण्ड

१ अपूजयताम् । २ गगासिन्धू देव्यौ । ३ पूजयन् । ४ चक्रिण. । ५ तत्कारणात् । ६ आज्ञाम् । ७ अवज्ञा कुर्वन्ति । ८ शिक्षकम् । ९ दण्डरत्नाशनि । १० पश्यैतान् ब०, अ०, प०, द०, स०, इ० ।

[1]तदेत्य द्रुतमायुष्मन् पूरयास्य मनोरथम् । युवयोरस्तु सांगत्यात् संगतं निखिलं जगत् ॥८८॥
इति तद्वचनस्यान्ते कृतमन्दस्मितो युवा । धीरं वचो गभीरार्थमाचचक्षे विचक्षणः ॥८९॥
साधूक्तं साधुवृत्तत्वं त्वया वदयता प्रभोः । वाचस्पत्यं तदेवेष्टं पोषकं स्वमतस्य यत्[2] ॥९०॥
साम[3] दर्शयता नाम भेददण्डौ विशेषतः । प्रयुञ्जानेन साध्येऽर्थे[4] स्वातन्त्र्यं दर्शितं त्वया ॥९१॥
स्वतन्त्रस्य प्रभोः सत्यं स त्वमन्तश्चरश्चरः[5] । अन्यथा कथमेवास्य [6]व्यनंक्ष्यन्तर्गतं गतम्[7] ॥९२॥
[8]निसृष्टार्थतयाऽस्मासु [9]निर्दिष्टस्त्वं निधीशिना । विशिष्टोऽसि न वैशिष्ट्यं परमर्मस्पृगीदृशम् ॥९३॥
अयं खलु खलाचारो यद्बलात्कारदर्शनम् । स्वगुणोत्कीर्तनं दोषोद्भावनं च परेषु यत् ॥९४॥
विवृणोति खलोऽन्येषां दोषान् स्वांश्च गुणान् स्वयम् । संवृणोति च दोषान् स्वान् परकीयान् गुणानपि ॥९५॥
अनिराकृतसंतापां सुमनोभिः[10] समुज्झिताम् । फलहीनां श्रयन्त्यज्ञाः[11] खलतां[12] खलतामिव[13] ॥९६॥
सतामसंमतां विष्वगाचितां विरसैः फलैः । मन्ये दुःखलतामेनां खलतां लोकतापिनीम् ॥९७॥
सोपप्रदानं[14] सामादौ प्रयुक्तमपि बाध्यते । पराभ्यां भेददण्डाभ्यां न्याय्ये[15] विप्रतिषेधिनि[16] ॥९८॥

हो रहे हैं ॥८७॥ इसलिए हे दीर्घायु कुमार, आप शीघ्र ही चलकर इसके मनोरथ पूर्ण कीजिए। आप दोनों भाइयोके मिलापसे यह समस्त संसार मिलकर रहेगा ॥८८॥ इस प्रकार उस दूतके कह चुकनेके बाद चतुर और जवान बाहुबली कुमार कुछ मन्द-मन्द हँसकर गम्भीर अर्थसे भरे हुए धीर वीर वचन कहने लगे ॥८९॥ वे बोले कि हे दूत, अपने स्वामीकी साधु वृत्तिको प्रकट करते हुए तूने सब सच कहा है क्योंकि जो अपने मतकी पुष्टि करनेवाला हो वही कहना ठीक होता है ॥९०॥ साम अर्थात् शान्ति दिखलाते हुए तूने विशेषकर भेद और दण्ड भी दिखला दिये हैं तथा उनका प्रयोग करते हुए तूने यह भी बतला दिया कि तू अपना अर्थ सिद्ध करनेमें कितना स्वतन्त्र है? ॥९१॥ इस प्रकार कहनेवाला तू सचमुच ही अपने स्वतन्त्र स्वामीका अन्तरग दूत है, यदि ऐसा न होता तो तू उसके हृदयगत अभिप्रायको कैसे प्रकट कर सकता था ॥९२॥ चक्रवर्तीने तुझपर समस्त कार्यभार सौंपकर मेरे पास भेजा है, यद्यपि तू चतुर है तथापि इस प्रकार दूसरेका मर्मछेदन करना चतुराई नही है ॥९३॥ अपनी जबरदस्ती दिखलाना वास्तवमे दुष्टोका काम है तथा अपने गुणोका वर्णन करना और दूसरोमे दोष प्रकट करना भी दुष्टोका ही काम है ॥९४॥ दुष्ट पुरुष, दूसरेके दोष और अपने गुणोका स्वय वर्णन किया करते है तथा अपने दोष और दूसरेके गुणोको छिपाते रहते हैं ॥९५॥ खलता अर्थात् दुष्टता खलता अर्थात् आकाशकी बेलके समान है क्योकि जिस प्रकार आकाशकी बेलसे किसीका सन्ताप दूर नही होता उसी प्रकार दुष्टतासे किसीका सन्ताप दूर नही होता, जिस प्रकार आकाशकी बेल सुमन अर्थात् फूलोसे शून्य होती है उसी प्रकार दुष्टता भी सुमन अर्थात् विद्वान् पुरुषोसे शून्य होती है और जिस प्रकार आकाशकी बेल फलरहित होती है उसी प्रकार दुष्टता भी फलरहित होती है अर्थात् उससे किसीको कुछ लाभ नही होता, ऐसी इस दुष्टताका केवल मूर्ख लोग ही आश्रय लेते है ॥९६॥ जो सज्जन पुरुषोको इष्ट नही है, जो सब ओरसे विरस अर्थात् नीरस अथवा विद्वेषरूपी फलोसे व्याप्त है तथा लोगोको सन्ताप देनेवाली है ऐसी इस खलता–दुष्टताको मै दु.खलता अर्थात् दु खकी बेल ही समझता हूँ ॥९७॥ यदि न्यायपूर्ण विरोध करनेवाले पुरुषके विषय-

१ तत् कारणात्। २ वचः। ३ शान्तिम्। ४ परब्रह्मकरणादिप्रयोजने। ५ हृदये वर्तमान। ६ व्यक्त करोषि। ७ बुद्धिम्। ८ असकृत्सपादितप्रयोजनतया। ९ नियुक्त। १० कुसुमैः। शोभनहृदयैश्च। ११ श्रयन्त्यजा ल०, द०। १२ दुर्जनत्वम्। १३ आकाशलतामिव। १४ दानसहितम्। १५ न्यायान्विते पुरुषे। १६ भेददण्डाभ्या विकार गच्छति सति।

यथा[1] विपर्ययमेवैषामुपायानां नियोजनम्[2]। सिद्ध्यङ्गं तद्विपर्यासः फलिष्यति परामयम् ॥९९॥
नैकान्तशमनं साम समाम्नातं सहोष्मणि[3]। स्निग्धेऽपि हि जने तप्ते सर्पिर्षीवाम्बुसेचनम् ॥१००॥
उपप्रदानमप्येवं प्रायं[4] मन्ये महौजसि। [5]समित्सहस्रदानेऽपि दीप्तस्याग्नेः कुतः शमः ॥१०१॥
लोहस्येवोपतप्तस्य[6] मृदुता न मनस्विनः। दण्डोऽप्यनुनयग्राह्ये सामजे न मृगद्विषि[7] ॥१०२॥
ततो [8]व्यत्यासयन्नेना[9]नुपायाननुपायवित्। स्वयं प्रयोगवैगुण्यात् सीदत्येव न मादृशः[10] ॥१०३॥

मे पहले कुछ देनेके विधानके साथ सामका प्रयोग किया जावे और बादमे भेद तथा दण्ड उपाय काममे लाये जावे तो उनके द्वारा पहले प्रयोगमे लाया हुआ साम उपाय वाधित हो जाता है। भावार्थ–यदि न्यायवान् विरोधीके लिए पहले कुछ देनेका प्रलोभन देकर साम अर्थात् शान्तिका प्रयोग किया जावे और वादमें उसीके लिए भेद तथा दण्डकी धमकी दी जावे तो ऐसा करनेसे उसका पहले प्रयोग किया हुआ साम उपाय व्यर्थ हो जाता है क्योकि न्यायवान् विरोधी उसकी कूटनीतिको सहज ही समझ जाता है ॥९८॥ साम, दाम, दण्ड, भेद इन चारो उपायोका यथायोग्य स्थानमें नियोग करना कार्यसिद्धिका कारण है और विपरीत नियोग करना पराभवका कारण है। भावार्थ – जो जिसके योग्य है उसके साथ वही उपाय काममे लानेसे सफलता प्राप्त होती है और विरुद्ध उपाय काममे लानेसे तिरस्कार प्राप्त होता है ॥९९॥ प्रतापशाली पुरुषके साथ साम अर्थात् शान्तिका प्रयोग करना एकान्तरूपसे शान्ति करनेवाला नही माना जा सकता क्योकि प्रतापशाली मनुष्य स्निग्ध अर्थात् स्नेही होनेपर भी यदि क्रोधसे उत्तप्त हो जावे तो उसके साथ शान्तिका प्रयोग करना स्निग्ध अर्थात् चिकने किन्तु गरम घीमे पानी सीचनेके समान है। भावार्थ – जिस प्रकार गरम घीमे पानी डालनेसे वह शान्त नही होता वल्कि और भी अधिक चट्पटाने लगता है उसी प्रकार क्रोधी मनुष्य शान्तिके व्यवहारसे शान्त नही होता वल्कि और भी अधिक बड़बडाने लगता है ॥१००॥ इसी प्रकार अतिशय प्रतापशाली पुरुषको कुछ देनेका विधान करना भी मैं नि सार समझता हूँ क्योकि हजारों समिधाएँ (लकड़ियाँ) देनेपर भी प्रज्वलित अग्नि कैसे शान्त हो सकती है। ॥१०१॥ जिस प्रकार लोहा तपानेसे नरम नही होता उसी प्रकार तेजस्वी मनुष्य कष्ट देनेसे नरम नही होता इसलिए उसके साथ दण्डका प्रयोग करना निरर्थक है क्योकि अनुनय विनय कर पकड़ने योग्य हाथीपर ही दण्ड चल सकता है सिहपर नही। विशेष–लोहा गरम अवस्थामे नरम हो जाता है इसलिए यहाँ लोहाका उदाहरण व्यतिरेकरूपसे मानकर ऐसा भी अर्थ किया जा सकता है कि जिस प्रकार तपा हुआ लोहा नरम हो जाता है उस प्रकार तेजस्वी मनुष्य कष्टमे पडकर नरम नही होता इसलिए उसपर दण्डका प्रयोग करना व्यर्थ है। अरे, दण्ड भी प्रेम पुचकार कर पकड़ने योग्य हाथीपर ही चल सकता है न कि सिहपर भी ॥१०२॥ इसलिए इन साम दान आदि उपायोका विपरीत प्रयोग करनेवाले और इसलिए ही उपाय न जाननेवाले आप जैसे लोग इन चारो उपायोके प्रयोगका ज्ञान न होनेसे स्वय दु खी होते है ॥१०३॥

---

१ सामभेदादियोग्यपुरुषमनतिक्रम्य। २ वचननियोजनम्। ३ सप्रतापे। ४ एतत्सदृशम्। ५ इन्धनसमूह। ६ उपतप्तस्य लोहस्य यथा मृदुतास्ति तथा उपतप्तस्य मनस्विनो मृदुता नास्तीत्यर्थ। ७ सिंहे। ८ वैपरीत्येन योजयन्। ९ न्नेतानु–ल०, द०, अ०, प०, स०। समाधीन्। १० भवादृश द०, ल०, अ०, प०, स०, इ०।

साम्नाऽपि दुष्करं साध्या वयमित्युपसंहृते[1] । [2]तत्रोत्सेकं प्रयुञ्जानो व्यक्तं मुग्धायते भवान् ॥१०४॥
वयसाधिक इत्येव न श्लाघ्यो भरताधिपः । जरन्नपि गजः कक्षां[3] गाहते[4] किं हरेः शिशोः ॥१०५॥
प्रणयः[5] प्रश्रयश्चेति[6] संगतेषु सनाभिषु । तेष्वेवासंगतेष्वङ्ग[7] तद्द्वयस्य[8] हता गतिः ॥१०६॥
ज्येष्ठः प्रणम्य इत्येतत्काममस्त्वन्यदा सदा । मूर्ध्न्यारोपितखड्गस्य प्रणाम इति कः क्रमः ॥१०७॥
दूत नो[9] दूयते चित्तमन्योत्सेकानुवर्तनैः[10] । तेजस्वी भानुरेकः किमन्योऽप्यस्त्यतः परम्[11] ॥१०८॥
राजोक्तिर्मयि तस्मिंश्च[12] संविभक्ताऽऽदिवेधसा[13] । राजराजः[14] स इत्यद्य[15] स्फोटो गण्डस्य[16] मूर्धनि[17] ॥१०९॥
कामं स राजराजोऽस्तु[18] रत्नैर्यातोऽतिगृध्नुताम् । वयं राजा न इत्येव सौराज्ये[19] स्वे[20] व्यवस्थिताः ॥११०॥
बालानिव[21][22] छलादस्मान् आहूय प्रणमय्य[23] च । पिण्डाखण्ड[24] इवाभाति महीखण्डस्तदर्पितः[25] ॥१११॥
स्वदोर्द्रुमफलं श्लाघ्यं यत्किंचन मनस्विनाम् । न [26]चातुरन्तमप्यैश्यं[27] परभ्रूलतिकाफलम् ॥११२॥

हे दूत, हम लोग शान्तिसे भी वश नही किये जा सकते यह निश्चय होनेपर भी आप हमारे साथ अहकारका प्रयोग कर रहे है, इससे स्पष्ट मालूम होता है कि आप मूर्ख है ॥१०४॥ भरतेश्वर उमरमें बड़े है इतने ही से वे प्रशसनीय नही कहे जा सकते क्योकि हाथी बूढा होनेपर भी क्या सिंहके वच्चेकी बरावरी कर सकता है ? ॥१०५॥ हे दूत, प्रेम और विनय ये दोनो परस्पर मिले हुए कुटुम्बी लोगोमें ही सम्भव हो सकते है, यदि उन्ही कुटुम्बियोमे विरोध हो जावे तो उन दोनो ही की गति नष्ट हो जाती है। भावार्थ–जवतक कुटुम्बियोमें परस्पर मेल रहता है तबतक प्रेम और विनय दोनो ही रहते है और ज्यो ही उनमे परस्पर विरोध हुआ त्यो ही दोनो नष्ट हो जाते है ॥१०६॥ बडा भाई नमस्कार करने योग्य है यह बात अन्य समयमे अच्छी तरह हमेशा हो सकती है परन्तु जिसने मस्तकपर तलवार रख छोड़ी है उसको प्रणाम करना यह कौन-सी रीति है ? ॥१०७॥ हे दूत, दूसरेके अहकारके अनुसार प्रवृत्ति करनेसे हमारा चित्त दु खी होता है, क्योकि ससारमे एक सूर्य ही तेजस्वी है। क्या उससे अधिक और भी कोई तेजस्वी है ॥१०८॥ आदि ब्रह्मा भगवान् वृषभदेवने 'राजा' यह शब्द मेरे लिए और भरतके लिए–दोनोके लिए दिया है, परन्तु आज भरत 'राजराज' हो गया है सो यह कपोल-के ऊपर उठे हुए गूमड़ेके समान व्यर्थ है ॥१०९॥ अथवा रत्नोके द्वारा अत्यन्त लोभको प्राप्त हुआ वह भरत अपने इच्छानुसार भले ही 'राजराज' रहा आवे, हम अपने धर्मराज्यमे स्थिर रहकर राजा ही बने रहेगे ॥११०॥ वह भरत वालकोके समान छलसे हम लोगोको वुलाकर और प्रणाम कराकर कुछ पृथिवी देना चाहता है तो उसका दिया हुआ पृथिवीका टुकडा खलीके टुकडेके समान तुच्छ मालूम होता है ॥१११॥ तेजस्वी मनुष्योके लिए जो कुछ थोडा-वहुत अपनी भुजारूपी वृक्षका फल प्राप्त होता है वही प्रशंसनीय है, उनके लिए दूसरेकी भौह-रूपी लताका फल अर्थात् भौहके इशारेसे प्राप्त हुआ चार समुद्रपर्यन्त पृथिवीका ऐश्वर्य भी

१ विरतिं गते सति। २ तत्र तूष्णीं स्थिते पुसि। उत्सेक साहसम्, गर्वमित्यर्थ । ३ समानताम्। ४ प्राप्नोति। ५ स्नेह । ६ विनय.। ७ भो । ८ प्रणयप्रश्रयस्य। ९ अस्माकम्। १० वर्तनै ल०, द०, अ०, प०, स०। ११ भानो सकाशादन्य । १२ भरते। १३ आदिब्रह्मणा। १४ भरतेश्वरपक्षे राज्ञा प्रभूणा राजा राजराज, राज्ञा यक्षाणा राजा राजराज लोभैर्जित इति ध्वनि । भुजवलिपक्षे तिस्र शक्तय षड्गुणा. चतुरुपाया. सप्ताङ्गराज्यानि एतैर्गुणै राजन्त इति राजान'। १५ पिटकः। 'विस्फोट. पिटकस्त्रिषु' इत्यभिधानात्। १६ गलगण्डस्य। 'गलगण्डो गण्डमाला' इत्यभिधानात्। १७ उपरीत्यर्थ । १८ कुबेर इति ध्वनि.। १९ सुराज्यव्यापारे। २० आत्मीये। २१ बलादिव द०। २२ व्याजात्। २३ नमस्कारयित्वा। २४ पिण्याकशकलः। २५ भरतेन दत्त'। २६ चत्वारो दिगन्तो यस्य तत्। २७ प्रभुत्वम्।

पराज्ञोपहतां लक्ष्मीं यो वाञ्छेत् पार्थिवोऽपि सन् । सोऽपार्थयति[1] तामुक्तिं[2] सर्पोक्तिमिव डुण्डुभः[3] ॥११३॥
परावमानमलिनां भूतिं[4] धत्ते नृपोऽपि यः । नृपशोस्तस्य[5] नन्वेष भारो राज्यपरिच्छदः ॥११४॥
मानभङ्गार्जितैर्भोगैर्यः प्राणान्धर्तुमीहते । तस्य भग्नरदस्येव द्विरदस्य कुतो भिदा[6] ॥११५॥
छत्रभङ्गाद्विनाप्यस्य [7]छायाभङ्गोऽभिलक्ष्यते । यो मानभङ्गभारेण बिभर्त्यवनतं शिरः ॥११६॥
मुनयोऽपि[8] समानाश्चेत् त्यक्तभोगपरिच्छदाः । को नाम राज्यभोगार्थी पुमानुज्झेत समानताम्[9] ॥११७॥
वरं वनाधिवासोऽपि वरं प्राणविसर्जनम् । कुलाभिमानिनः पुंसो न पराज्ञाविधेयता[10] ॥११८॥
मानमेवाभिरक्षन्तु धीराः प्राणैः प्रणश्वरैः । नन्वलंकुरुते विश्वं शश्वन्मानार्जितं यशः ॥११९॥
[11]चारु चक्रधरस्यायं त्वयाऽत्युक्तः[12] पराक्रमः । कुतो यतोऽर्थवादोऽयं[13] स्तुतिनिन्दापरायणः[14] ॥१२०॥
वचोभिः पोषयन्त्येव पण्डिताः परिफल्ग्वपि[15] । प्रक्रान्तायां[16] स्तुतौ विष्टः सिंहो ग्राममृगो[17] ननु ॥१२१॥
इदं वाचनिकं कृत्स्नं त्वदुक्तं प्रतिभाति नः । क्वास्य दिग्विजयारम्भः क्व धनोच्छन[18] चुञ्चुता ॥१२२॥

प्रशंसनीय नहीं है ॥११२॥ जिस प्रकार पनया साँप 'सर्प' इस शब्दको निरर्थक करता है उसी प्रकार जो मनुष्य राजा होकर भी दूसरेकी आज्ञासे उपहत हुई लक्ष्मीको धारण करता है वह 'राजा' इस शब्दको निरर्थक करता है ॥११३॥ जो पुरुष राजा होकर भी दूसरेके अपमानसे मलिन हुई विभूतिको धारण करता है निश्चयसे उस मनुष्यरूपी पशुके लिए यह राज्यकी समस्त सामग्री भारके समान है ॥११४॥ जिसके दाँत टूट गये हैं ऐसे हाथीके समान जो पुरुष मानभंग होनेपर प्राप्त हुए भोगोपभोगोंसे प्राण धारण करना चाहता है उस पुरुषमें और पशुमें भेद कैसे हो सकता है ? ॥११५॥ जो राजा मानभंगके भारसे झुके हुए शिरको धारण करता है उसकी छायाका नाश छत्रभंग होनेके विना ही हो जाता है। भावार्थ – यहाँ छाया शब्दके दो अर्थ हैं अनातप और कान्ति। जब छत्रभंग होता है तभी छाया अर्थात् अनातपका नाश होता है परन्तु यहाँपर छत्रभंगके विना ही छायाके नाशका वर्णन किया गया है इसलिए विरोध मालूम होता है परन्तु छत्र भंगके विना ही उनकी छाया अर्थात् कान्तिका नाश हो जाता है, ऐसा अर्थ करनेसे उसका परिहार हो जाता है ॥११६॥ जिन्होंने भोगोपभोग-की सब सामग्री छोड़ दी है ऐसे मुनि भी जब अभिमान (आत्मगौरव) से सहित होते हैं तब फिर राज्य भोगनेकी इच्छा करनेवाला ऐसा कौन पुरुष होगा जो अभिमानको छोड़ देगा ? ॥११७॥ वनमें निवास करना अच्छा है और प्राणोंको छोड़ देना भी अच्छा है किन्तु अपने कुलका अभि-मान रखनेवाले पुरुषको दूसरेकी आज्ञाके अधीन रहना अच्छा नहीं है ॥११८॥ धीर वीर पुरुषोंको चाहिए कि वे इन नश्वर प्राणोंके द्वारा अभिमानकी ही रक्षा करें क्योंकि अभिमानके साथ कमाया हुआ यश इस संसारको सदा सुशोभित करता रहता है ॥११९॥ तूने जो बहुत कुछ बढ़ाकर चक्रवर्तीके पराक्रमका वर्णन किया है सो ठीक है क्योंकि तेरा यह सब कहना स्तुति निन्दामें तत्पर है अर्थात् स्तुतिरूप होकर भी निन्दाको सूचित करनेवाला है ॥१२०॥ पण्डित लोग निःसार वस्तुको भी अपने वचनोंसे पुष्ट किया ही करते हैं सो ठीक ही है क्योंकि स्तुति प्रारम्भ करनेपर कुत्तेको भी सिंह कहना पड़ता है ॥१२१॥ हे दूत, तेरे द्वारा कहा

---

१ अपगतार्थं करोति । २ पार्थिवाख्याम् । ३ राजिल । 'समौ राजिलडुण्डुभौ' इत्यभिधानात् । ४ संपदम् । ५ मनुजानडुह् । ६ भेद । ७ तेजोहानिः । ८ अभिमानान्विता । ९ साभिमानिताम् । १० अधीनता । ११ वरं ल०, द०, अ०, प०, म०, इ० । १२ अतिक्रम्योक्त. । १३ सत्यवाद अथवा असत्यारोपमर्थवादः । १४ स्तुतिरूपोऽर्थवादो निन्दारूपोऽर्थवादश्चेति द्वये तत्पर । १५ अतिनिस्सारवस्त्वपि । १६ प्रारम्भितायां सत्याम् । १७ सारमेय । १८ धनापनयन ।

दधच्चाक्रचरीं[1] वृत्तिं बलिं[2] भिक्षामिवाहरन् । दीनतायाः परां कोटिं[3] प्रभुरारोपितस्त्वया ॥१२३॥
सत्यं दिग्विजये चक्री जितवानमरानिति । [4]प्रत्येयमिदमेतत्तु[5] चिन्त्यमत्र[6] ननु त्वया ॥१२४॥
स किं न दर्भशय्यायां सुप्तो नोपोषितोऽथवा । प्रवृत्तो जलमायायां[7] शरपातं समाचरन् ॥१२५॥
कृतचक्रपरिभ्रान्ति[8]र्दण्डेनायतिशालिना । घटयन् [9]पार्थिवानेष सकुलालायते बत ॥१२६॥
आगः[10] परागमातन्वन् स्वयमेष कलंकितः । चिरं कलंकयत्येष कुलं[11] कुलभृतामपि ॥१२७॥
नृपानाकर्षतो दूरान्मन्त्रैस्तन्त्रैश्च योजितैः । श्लाघ्यते कियदेतस्य पौरुषं लज्जया विना ॥१२८॥
दुनोति नो भृशं दूत श्लाघ्यतेऽस्य यदाहवः । दोलायितं जले यस्य बलं म्लेच्छबलैस्तदा ॥१२९॥
यशोधनमसंहार्यं क्षत्रपुत्रेण रक्ष्यताम् । निखनन्तो[12] निधीन् भूमौ बहवो निधनं[13] गताः ॥१३०॥
रत्नैः किमस्ति वा कृत्यं यान्यरत्निमितां[14] भुवम् । [15]न यान्ति यत्कृते यान्ति केवलं निधनं नृपाः १३१

हुआ यह समस्त कार्य हम लोगोको केवल वचनाडम्बर ही जान पडता है क्योकि कहाँ तो इसका दिग्विजयका प्रारम्भ करना और कहाँ धन इकट्ठा करनेमे तत्पर होना ? ॥१२२॥ जिस प्रकार भिक्षुक चक्र धारण कर भिक्षा माँगता हुआ अतिशय दीनताको प्राप्त होता है उसी प्रकार चक्रवर्तीकी वृत्ति धारण कर भिक्षाके समान कर वसूल करता हुआ तेरा स्वामी भरत तेरे द्वारा दीनताकी परम सीमाको प्राप्त करा दिया गया है ॥१२३॥ यह ठीक है कि चक्रवर्तीने दिग्विजयके समय देवोको भी जीत लिया है परन्तु यह बात केवल विश्वास करने योग्य है अन्यथा तू यहाँ इतना तो विचार कर कि जलस्तम्भन करनेमे प्रवृत्त हुए तेरे स्वामी भरतने जब बाण छोडा था तब वह क्या दर्भकी शय्यापर नही सोया था अथवा उसने उपवास नही किया था ॥१२४–१२५॥ जिस प्रकार कुम्हार आयति अर्थात् लम्बाईसे शोभायमान डण्डेके द्वारा चक्रको घुमाता हुआ पार्थिव अर्थात् मिट्टीके घट बनाता है उसी प्रकार भरत भी आयति अर्थात् सुन्दर भविष्यसे शोभायमान डण्डे (दण्डरत्न) से चक्र (चक्ररत्न) को घुमाता हुआ पार्थिव अर्थात् पृथिवीके स्वामी राजाओको वश करता फिरता है, इसलिए कहना पड़ता है कि तुम्हारा यह राजा कुम्हारके समान आचरण करता है ॥१२६॥ वह भरत पापकी धूलिको उड़ाता हुआ स्वय कलकित हुआ है और कुलीन मनुष्योके कुलको भी सदाके लिए कलकित कर रहा है ॥१२७॥ हे दूत, प्रयोगमे लाये हुए मन्त्र-तन्त्रोके द्वारा दूरसे ही अनेक राजाओंको बुलानेवाले इस भरतका पराक्रम तू लज्जाके विना कितना वर्णन कर रहा है ? ॥१२८॥ हे दूत, जिस समय तू इसके युद्धकी प्रशंसा करता है उस समय हम लोगोको बहुत दु.ख होता है क्योकि उस समय म्लेच्छोकी सेनाके द्वारा भरतकी सेना पानीमे हिडोले झूल रही थी अर्थात् हिडोलेके समान कँप रही थी ॥१२९॥ क्षत्रियपुत्रको तो जिसे कोई हरण न कर सके ऐसे यशरूपी धनकी ही रक्षा करनी चाहिए क्योकि इस पृथिवीमे निधियोको गाड़कर रखनेवाले अनेक लोग मर चुके है। भावार्थ–अमरता यशसे ही प्राप्त होती है ॥१३०॥ अथवा जो रत्न एक हाथ पृथिवी तक भी साथ नही जाते और जिनके लिए राजा लोग केवल मृत्युको ही प्राप्त होते है ऐसे रत्नोसे क्या निकल सकता है ? ॥१३१॥

---

१ चक्रम्येय चाक्री सा चासौ चरी च चाक्रचरी ताम् । चक्रचरसबन्धिनीम् । चाक्रधरी ल०, द०, अ०, प०, स०, इ० । २ करम् । ३ परमप्रकर्षम् । ४ शपथ कृत्वा विश्वास्यम् । ५ वक्ष्यमाणम् । ६ अमरजये । ७ समुद्रजलस्तम्भनरूपमायायाम् । ८ दण्डरत्नेन सैन्येन वा । ९ नृपान् । पृथिवीविकारांश्च । मृत्पिण्डान् । १० पराग । अपराधरेणुम् । 'पापापराधयोराग.' इत्यभिधानात् । ११ मनूनाम् । कुलधृतामपि ट० । १२ निक्षिपन्त । १३ विनाशम् । १४ हस्तप्रमिताम् । 'अरत्निस्तु निष्कनिष्ठेन मुष्टिना' इत्यभिधानात् । १५ गत्यन्तरगमनेन सह न यान्ति ।

तुलापुरुष एवायं यो नाम निखिलैर्नृपैः । तुलितो रत्न[1]पुञ्जेन वत नैश्वर्यमीदृशम् ॥१३२॥
ध्रुवं स्वगुरुणा दत्तामाचिच्छित्सति[2] नो भुवम् । [3]प्रत्याख्येयत्वमुत्सृज्य गृध्नोरस्य[4] किमौषधम् ॥१३३॥
दूत तातवितीर्णां नो महीमेनां कुलोचिताम् । [5]भ्रातृजायामिवाऽऽदित्सो[6]र्नास्य लज्जा भवत्पतेः ॥१३४॥
देयमन्यत् स्वतन्त्रेण यथाकामं जिगीषुणा । मुक्त्वा कुलकलत्रं च क्ष्मातलं च भुजार्जितम् ॥१३५॥
भूयस्त[7]दलमालप्य स वा भुङ्क्तां महीतलम् । चिरमेकातपत्राङ्कमहं वा भुजविक्रमी ॥१३६॥
कृतं वृथा भटालापैरर्थसिद्धिबहिष्कृतैः । सङ्ग्रामनिकषे व्यक्तिः पौरुषस्य ममास्य च ॥१३७॥
ततः समरसंघट्टे यद्वा तद्वाऽस्तु नौ द्वयोः । नीरे[8]कमिदमेकं नो वचो हर[10] वचोहर[11] ॥१३८॥
इत्याविष्कृतमानेन कुमारेण वचोहरः । द्रुतं विसर्जितोऽगच्छन्[12] पतिं सन्नाहयेत्[13] परम् ॥१३९॥
तदा मुकुटसंघट्टादुच्छलन्मणिकोटिभिः[14] । कृतोल्मुक[15]शतक्षेपैः इवोत्तस्थे महीशिभिः ॥१४०॥
क्षणं समरसंघट्टपिशुनो भटसंकटः[16] । श्रूयते स्म भटालापो बले भुजबलीशितुः ॥१४१॥
चिरात् समरसंमर्दः स्वामिनोऽयमभूदिह । किं वयं स्वामिसत्कारादनृणीभवितुं क्षमाः ॥१४२॥

जो समस्त राजाओंके द्वारा रत्नोकी राशिसे तोला गया है ऐसा यह भरत एक प्रकारका तुला-पुरुष है खेद है कि ऐसा ऐश्वर्य नही होता ॥१३२॥ अवश्य ही वह भरत अपने पूज्य पिता श्री भगवान् वृषभदेवके द्वारा दी हुई हमारी पृथिवीको छीनना चाहता है सो इस लोभीका प्रत्याख्यान अर्थात् तिरस्कार करनेके सिवाय और कुछ उपाय नही है ॥१३३॥ हे दूत, पिताजीके द्वारा दी हुई यह हमारे ही कुलकी पृथिवी भरतके लिए भाईकी स्त्रीके समान है अब वह उसे ही लेना चाहता है सो तेरे ऐसे स्वामीको क्या लज्जा नही आती ? ॥१३४॥ जो मनुष्य स्वतन्त्र है और इच्छानुसार शत्रुओको जीतनेकी इच्छा रखते है वे अपने कुलकी स्त्रियों और भुजाओसे कमायी हुई पृथिवीको छोडकर वाकी सव कुछ दे सकते है ॥१३५॥ इसलिए वार-वार कहना व्यर्थ है, एक छत्रसे चिह्नित इस पृथिवीको वह भरत ही चिरकाल तक उपभोग करे अथवा भुजाओमे पराक्रम रखनेवाला मै ही उपभोग करूँ। भावार्थ—मुझे पराजित किये विना वह इस पृथिवीका उपभोग नही कर सकता ॥१३६॥ जो प्रयोजनकी सिद्धिसे रहित है ऐसे शूरवीरताके इन व्यर्थ वचनोसे क्या लाभ है ? अव तो युद्धरूपी कसौटीपर ही मेरा और भरतका पराक्रम प्रकट होना चाहिए ॥१३७॥ इसलिए हे दूत, तू यह हमारा सन्देहरहित एक वचन ले जा अर्थात् जाकर भरतसे कह दे कि अब तो हम दोनोका जो कुछ होना होगा वह युद्धकी भीड़में ही होगा ॥१३८॥ इस प्रकार अभिमान प्रकट करनेवाले कुमार वाहुवलीने उस दूतको यह कहकर शीघ्र ही विदा कर दिया कि जा और अपने स्वामी को युद्धके लिए जल्दी तैयार कर ॥१३९॥ उस समय जिनके मुकुटोके संघर्षणसे करोड़ों मणि उछल-उछलकर इधर-उधर पड़ रहे है और उन मणियोसे जो ऐसे जान पडते है मानो अग्निके सैकडो फुलिगोंको ही इधर-उधर फैला रहे हो ऐसे राजा लोग उठ खड़े हुए ॥१४०॥ उसी क्षण अनेक योद्धाओंसे भरी हुई महाराज वाहुवलीकी सेनामें युद्धकी भीड़को सूचित करनेवाला योद्धा लोगोका परस्परका आलाप सुनाई देने लगा था ॥१४१॥ इस समय स्वामीके यह युद्धकी तैयारी वहुत दिनमें हुई है, क्या अब हम लोग स्वामीके सत्कारसे उऋण (ऋणमुक्त) हो सकेंगे ? भावार्थ—स्वामीने आजतक पालन-पोषण कर जो हम लोगोंका महान् सत्कार किया है क्या उसका वदला

१ रत्नार्थम् । २ छेत्तुमिच्छति ३ निराकरणीयत्वम् । 'प्रत्याख्यातो निराकृतः' इत्यभिधानात् । हेयत्वमित्यर्थः (हेयत्वमेव औषधमित्यर्थः) । ४ लुब्धस्य । ५ अनुजकलत्रम् । ६ आदातुमिच्छो । ७ तत् कारणात् । ८ वहु-प्रलापैरलम् । ९ निःसन्देहम् । १० स्वीकुरु । ११ भो दूत । १२ गच्छ पतिं द०, ल०, । १३ सन्नद्धं कुरु । १४ रत्नसमूहैः । १५ अलात । १६ भटसमूहैः ।

पोषयन्ति महीपाला भृत्यानवसरं प्रति । न चेदवसरः सार्यः[1] किमेभिस्तृणमानुषैः ॥१४३॥
कलेवरमिदं त्याज्यमर्जनीयं यशोधनम् । जयश्रीर्विजये लभ्या नाल्पोदर्को रणोत्सवः ॥१४४॥
मन्दातपशरच्छाये प्रत्यङ्गैर्व्रणजर्जरैः । लप्स्यामहे कदा नाम विश्रमं[2] रणमण्डपे ॥१४५॥
प्रत्यनीककृतानेकव्यूहं[3] निर्भिद्य सायकैः । शरशय्यामसंबाधमध्याशिष्ये कदा न्वहम् ॥१४६॥
कर्णतालानिलाधूति[4]विधूतसमरश्रमः । गजस्कन्धे निषीदामि[5] कदाहं क्षणमूर्छितः ॥१४७॥
दन्तिदन्ता[6]र्गलप्रोतोद्गलदन्त्र[7]स्खलद्वचाः । जयलक्ष्मीकटाक्षाणां कदाऽहं लक्ष्यतां भजे ॥१४८॥
गजदन्तान्तरालम्बिस्वान्त्रमालावरत्रया[8] । कर्हि[9] दोलामिवारोप्य तुलयामि जयश्रियम् ॥१४९॥
ब्रुवाणैरिति सङ्ग्रामरसिकैरुद्भटैर्भटैः । शस्त्राणि सशिरस्त्राणि सज्जान्यासन् बले बले ॥१५०॥
ततः कृतभयं भूयो भटभ्रुकुटितर्जितैः । पलायितमिव क्वाऽपि[10] परिच्छित्तिमगादहः[11] ॥१५१॥
[12]अथोरुष्यद्भटानीकनेत्रच्छायार्पितां रुचम् । दधान इव तिग्मांशुरभूदारक्तमण्डलः ॥१५२॥
[13]क्षणमस्ताचलप्रस्थकाननक्ष्माजपल्लवैः । सदृगालोहितच्छायो ददृशेऽर्कांशुसंस्तरः[14] ॥१५३॥

हम कुछ दे सकेंगे ? ॥१४२॥ राजा लोग किसी खास अवसरके लिए ही सेवक लोगोंका पालन-पोषण करते हैं, यदि वह अवसर नहीं साधा गया अर्थात् अवसर पड़नेपर स्वामीका कार्य सिद्ध नहीं किया गया तो फिर तृणसे बने हुए इन पुरुषोंसे क्या लाभ है ? भावार्थ—जो पुरुष अवसर पड़नेपर स्वामीका साथ नहीं देते वे घास-फूसके बने हुए पुरुषोंके समान सर्वथा सारहीन हैं ॥१४३॥ अब यह शरीर छोड़ना चाहिए, यशरूपी धन कमाना चाहिए और विजय लाभकर जयलक्ष्मी प्राप्त करनी चाहिए, यह युद्धका उत्सव कुछ थोड़ा फल देनेवाला नहीं है ॥१४४॥ हम लोग, घावोंसे जर्जर हुए शरीरके प्रत्येक अंगोंसे, जिसमें घामको मन्द करनेवाली बाणोंकी छाया पड रही है ऐसे युद्धके मण्डपमें कब विश्राम करेंगे ? ॥१४५॥ कोई कहता था कि मैं कब अपने बाणोंसे शत्रुओंकी सेनाके द्वारा किये हुए अनेक व्यूहोंको छेदकर बिना किसी उपद्रवके बाणोंकी शय्यापर शयन करूँगा ॥१४६॥ कोई कहता था कि मैं कब युद्धमें क्षण-भरके लिए मूर्छित होकर हाथीके कानरूपी ताडपत्रकी वायुके चलनेसे जिसके युद्धका सब परिश्रम दूर हो गया है ऐसा होता हुआ हाथीके कन्धेपर बैठूँगा ? ॥१४७॥ हाथीके दाँतरूपी अर्गलोंमें पिरोये जानेसे जिसकी अँतड़ियाँ निकल रही हैं तथा जिसके मुखसे टूटे-फूटे शब्द निकल रहे हैं ऐसा होता हुआ मैं कब जयलक्ष्मीके कटाक्षोंका निशाना बन सकूँगा ? भावार्थ—वह दिन कब होगा जब कि मैं मरता हुआ भी विजय प्राप्त करूँगा ? ॥१४८॥ कोई कहता था कि हाथियोंके दाँतोंके बीचमें लटकती हुई अपनी अँतड़ियोंके समूहरूपी मजबूत रस्सीपर झूलाके समान विजयलक्ष्मीको बैठाकर मैं कब उसे तोलूँगा ? ॥१४९॥ इस प्रकार कहते हुए युद्धके प्रेमी बड़े-बड़े योद्धाओंने प्रत्येक सेनामें अपने-अपने शस्त्र तथा शिरकी रक्षा करनेवाली टोपियाँ सँभाल लीं ॥१५०॥

तदनन्तर दिन समाप्त हो गया सो ऐसा मालूम होता था मानो योद्धाओंकी भौंहोंके तिरस्कारसे भयभीत होकर कहीं भाग ही गया हो ॥१५१॥ अथानन्तर सूर्यका मण्डल लाल हो गया मानो उसने क्रोधित हुए योद्धाओंकी सेनाके नेत्रोंकी छायाके द्वारा दी हुई लाल कान्ति ही धारण की हो ॥१५२॥ उस समय क्षण-भरके लिए सूर्यकी किरणोंका समूह अस्ताचल

---

१ न गम्यश्चेत् । २ विश्राम ल०, द०, अ०, प०, स० । ३ शत्रुकृतसेनारचनाम् । ४ अवधूनन । ५ निषण्णो भवामि । 'कदाकर्ह्योर्वा' इति भविष्यदर्थे लट् । ६ परिघ । ७–तोदगलदस्र–ट० । निर्यद्रक्त । ८ निजपुरीतद्मालदूष्यया । 'दूष्या कक्ष्या वरत्रा स्याद्' इत्यभिधानात् । ९ कदा । १० विनाशम् । ११ दिवस । १२ अथारुष्य–ल० । १३ भानु । १४ रविकिरणसमूहः ।

करैर्गिर्यग्रसंलग्नैः भानुरालक्ष्यत क्षणम् । पातभीत्या करालाग्रैः[1] करालम्बमिवाश्रयन् ॥१५४॥
पतन्तं वारुणी[2]संगात् परिलुप्तविभावसुम्[3] । नालम्बत[4] बतास्ताद्रिर्भानुं बिभ्यदिवैनसः[5] ॥१५५॥
गतो नु दिनमन्वेष्टुं[6] प्रविष्टो नु रसातलम् । तिरोहितो नु शृङ्गाग्रैरस्ताद्रेर्नैक्षि भानुमान् ॥१५६॥
विघटय्य तमो नैशं[7] करैराक्रम्य भूभृतः[8] । दिनावसाने[9] पर्यास्थदहो[10] रविरनंशुक.[11] ॥१५७॥
तिर्यङ्मण्डलगत्यैव[12] शश्वद् भानुरयं भ्रमन् । [13]विप्रकर्षाज्जनैर्मूढैरग्राहीव[14] पतन्नधः ॥१५८॥
व्यसनेऽस्मिन्[15] दिनेशस्य शुचेव परिपीडिताः । विच्छायानि मुखान्यूहु[16]स्तमोरुद्धा दिगङ्गनाः॥१५९॥

के शिखरपर लगे हुए वनके वृक्षोकी कोपलोके समान कुछ-कुछ लाल रगका दिखाई दे रहा था ॥१५३॥ उस समय वह सूर्य अस्ताचलके शिखरपर लगे हुए किरणोंसे क्षण-भरके लिए ऐसा जान पड़ता था मानो नीचे गिरनेके भयसे अपने किरणरूपी हाथोसे किसीके हाथका सहारा ही ले रहा हो ॥१५४॥ जो सूर्य वारुणी अर्थात् पश्चिम दिशा (पक्षमे मदिरा) के समागमसे पतित हो रहा है और जिसका कान्तिरूपी धन नष्ट हो गया है ऐसे सूर्यको मानो पापसे डरते हुए ही अस्ताचलने आलम्वन नही दिया था । भावार्थ – वारुणी शब्दके दो अर्थ होते है मदिरा और पश्चिम दिशा । पश्चिम दिशामे पहुँचकर सूर्य प्राकृतिक रूपसे नीचेकी ओर ढलने लगता है । यहाँ कविने इसी प्राकृतिक दृश्यमें श्लेषमूलक उत्प्रेक्षा अलंकारकी पुट देकर उसे और भी सुन्दर वना दिया है । वारुणी अर्थात् मदिराके समागमसे मनुष्य अपवित्र हो जाता है उसका स्पर्श करना भी पाप समझा जाने लगता है, सूर्य भी वारुणी अर्थात् पश्चिम दिशा (पक्षमें मदिरा) के समागमसे मानो अपवित्र हो गया था । उसका स्पर्श करनेसे कहीं मै भी पापी न हो जाऊँ इस भयसे अस्ताचलने उसे सहारा नही दिया – गिरते हुएको हस्तालम्बन देकर गिरनेसे नही वचाया । सूर्य डूव गया ॥१५५॥ उस समय सूर्य दिखाई नही देता था सो ऐसा जान पड़ता था मानो वीते हुए दिनको खोजनेके लिए गया हो, अथवा पाताललोकमे घुस गया हो अथवा अस्ताचलके शिखरोके अग्रभागसे छिप गया हो ॥१५६॥ जिस प्रकार कोई वीर पुरुष दारिद्र्यरूपी अन्धकारको नष्ट कर और अपने कर अर्थात् टैक्स-द्वारा भूभृत् अर्थात् राजाओंपर आक्रमण कर दिन अर्थात् भाग्यके अन्तमे अनशुक अर्थात् विना वस्त्रके यो ही चला जाता है उसी प्रकार सूर्य रात्रिसम्वन्धी अन्धकारको नष्ट कर तथा कर अर्थात् किरणोसे भूभृत् अर्थात् पर्वतोंपर आक्रमण कर दिनके अन्तमे अनशुक अर्थात् किरणोके विना यो ही चला गया – अस्त हो गया, यह कितने दु खकी वात है । ॥१५७॥ यह सूर्य तो मेरु पर्वतके चारों ओर गोलाकार तिरछी गतिसे निरन्तर घूमता रहता है तथापि दूर होनेसे दिखाई नही देता इसलिए मूर्ख पुरुषोको नीचे गिरता हुआ-सा जान पड़ता है ॥१५८॥ सूर्यकी इस विपत्तिके समय मानो शोकसे पीड़ित हुई दिशारूपी स्त्रियाँ अन्धकारसे भर जानेके कारण कान्तिरहित मुख धारण कर रही थी । भावार्थ – पतिकी विपत्तिके समय जिस प्रकार कुलवती स्त्रियोके मुख शोकसे कान्तिहीन हो जाते है उसी प्रकार सूर्यकी विपत्तिके समय दिशारूपी स्त्रियोके मुख शोकसे कान्तिहीन हो गये थे । अन्धकार छा जानेसे दिशाओकी

१ विस्तृताग्रै । 'करालो दन्तुरे तुङ्गे विशाले विकृतेऽपि च' इत्यभिधानात् । २ वरुणसम्बन्धिदिक्संगात् । मद्यसंगादिति ध्वनिः । ३ कान्तिरेव धनं यस्य । पक्षे विभा च वसु च विभावसुनी, परिप्लुते विभावसुनी यस्य तम् । ४ न धरति स्म । ५ पापात् । ६ गवेषणाय । ७ निशासम्बन्धि । ८ पर्वतानाम् । नृपाश्च । ९ दिवसान्ते । भाग्यावसाने च । दिवाव – ल०, द० । १० पतितवान् । ११ कान्तिरहितः, वस्त्ररहित इति ध्वनि । १२ मेरुप्रदक्षिणरूपतिर्यग्विम्बगमनेन । १३ दूरात् । १४ स्वीकृत. । १५ विपदि । १६ धरन्ति स्म ।

पद्मिन्यो म्लानपद्मास्या द्विरेफकरुणारुतैः । शोचन्त्य इव संवृत्ता वियोगादहिमत्विषः ॥१६०॥
संध्यातपततान्यासन् वनान्यस्तमहीभृतः । परीतानीव दावाग्निशिखयातिकरालया ॥१६१॥
अनुरक्तापि संध्येयं परित्यक्ता विवस्वता । प्रविष्टेवाग्निमारक्तच्छविरालक्ष्यताम्बरे ॥१६२॥
शनैराकाशवाराशिविद्रुमोद्यानराजिवत् । रुरुचे दिशि वारुण्यां संध्यासिन्दूरसच्छविः ॥१६३॥
चक्रवाकीमनस्तापदीपनो[1] नु हुताशनः । पप्रथे पश्चिमाशान्ते संध्यारागो जपारुणः ॥१६४॥
[2]सांध्यो रागः स्फुरन् दिक्षु क्षणमैक्षि प्रियागमे । मानिनीनां मनोरागः कृत्स्नो [3]मूर्छन्निवैकतः ॥१६५॥
धृतरक्तांशुकां संध्यामनुयान्तीं दिनाधिपम् । बहु मेने सतीं लोकः कृतानुमरणामिव[4] ॥१६६॥
चक्रवाकीं धृतोत्कण्ठमनुयान्तीं कृतस्वनाम् । [5]विजहावेव चक्राह्वो[6] नियतिं को नु लङ्घयेत ॥१६७॥
रवेः किमपराधोऽयं कालस्य नियतेः किमु । रथाङ्गमिथुनान्यासन् वियुक्तानि यतो मिथः ॥१६८॥
घनं तमो विनार्केण व्यानशे निखिला दिशः । विना तेजस्विना प्रायस्तमो रुन्धे[7] नु संततम् ॥१६९॥
तमो[8]ऽवगुण्ठिता रेजे रजनी तारकातता । विनीलवसना भास्वन्मौक्तिकेवाभिसारिका[9] ॥१७०॥

शोभा जाती रही थी ॥१५९॥ कमलिनियोंके कमलरूपी मुख मुरझा गये थे जिससे वे ऐसी जान पड़ती थी मानो सूर्यका वियोग होनेसे भ्रमरोंके करुणाजनक शब्दोंके बहाने रुदन करती हुई शोक ही कर रही हों ॥१६०॥ सायंकालके लाल-लाल प्रकाशसे व्याप्त हुए अस्ताचलके वन ऐसे जान पड़ते थे मानो अत्यन्त भयंकर दावानलकी शिखासे ही घिर गये हों ॥१६१॥ यद्यपि यह सन्ध्या अनुरक्त अर्थात् प्रेम करनेवाली (पक्षमें लाल) थी तथापि सूर्यने उसे छोड़ दिया था इसलिए ही वह लाल रंगकी सन्ध्या आकाशमें ऐसी जान पड़ती थी मानो उसने अग्निमें ही प्रवेश किया हो। भावार्थ – पतिव्रता स्त्रियाँ पतियोंके द्वारा अपमानित होनेपर अपनी विशुद्धताका परिचय देनेके लिए सीताके समान अग्निमें प्रवेश करती हैं यहाँपर कविने भी समासोक्ति अलंकारका आश्रय लेकर सन्ध्यारूपी स्त्रीको सूर्यरूपी पतिके द्वारा अपमानित होनेपर अपनी विशुद्धता – सच्चरित्रताका परिचय देनेके लिए सन्ध्या कालकी लालिमा रूपी अग्निमे प्रवेश कराया है ॥१६२॥ सिन्दूरके समान श्रेष्ठ कान्तिको धारण करनेवाली वह सन्ध्या धीरे-धीरे पश्चिम दिशामें ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो आकाशरूपी समुद्रमे मूँगोंके बगीचोंकी पंक्ति ही हो ॥१६३॥ जवाके फूलके समान लाल-लाल वह सन्ध्याकालकी लाली पश्चिम दिशाके अन्तमे ऐसी फैल रही थी मानो चकवियोंके मनके सन्तापको बढ़ानेवाली अग्नि ही हो ॥१६४॥ समस्त दिशाओंमें फैलती हुई सन्ध्याकालकी लाली क्षण-भरके लिए ऐसी दिखाई देती थी मानो पतियोंके आनेपर मान करनेवाली स्त्रियोंके मनका समस्त अनुराग ही एक जगह इकट्ठा हुआ हो ॥१६५॥ लाल किरणेरूपी वस्त्र धारण कर सूर्यरूपी पतिके पीछे-पीछे जाती हुई सन्ध्याको लोग पतिके साथ मरनेवाली सतीके समान बहुत कुछ मानते थे ॥१६६॥ चकवाने बड़ी उत्कण्ठासे अपने पीछे-पीछे आती हुई और शब्द करती हुई चकवीको आखिर छोड ही दिया था सो ठीक ही है क्योंकि नियति अर्थात् दैविक नियमका उल्लघन कौन कर सकता है ? ॥१६७॥ उस समय चकवा चकवियोंके जोड़े परस्परमे बिछुड़ गये थे – अलग-अलग हो गये थे, सो यह क्या सूर्यका अपराध है ? अथवा कालका अपराध है ? अथवा भाग्यका ही अपराध है ? ॥१६८॥ सूर्यके बिना सब दिशाओमे गाढ़ अन्धकार फैल गया था सो ठीक ही है क्योकि तेजस्वीके विना प्रायः सब ओर अन्धकार ही भर जाता है ॥१६९॥ अन्धकारसे घिरी हुई और ताराओसे व्याप्त हुई वह रात्रि ऐसी सुशोभित हो रही

---

१ उद्दीपनकारी । २ सध्याराग ल०, द० । ३ प्रसर्पन् । ४ सममरणाम् । अग्निप्रवेशं कुर्वतीमित्यर्थ । ५ मुमुचे । ६ चक्राङ्गो ल०, द०, अ०, स०, इ० । ७ व्याप्नोति । ८ तमसाच्छादिता । ९ वेश्या ।

ततान्धतमसे लोके जनैरुन्मीलितेक्षणैः । नादृश्यत पुरः किंचिन् मिथ्यात्वेनेव दूषितैः ॥१७१॥
प्रसह्य[1] तमसा रुद्धो लोकोऽन्तर्व्याकुलीभवन् । दृष्टिवैफल्य[2] दृष्टेर्नु बहु मेने शयालुताम्[3] ॥१७२॥
दीपिका रचिता रेजुः प्रतिवेश्म स्फुरत्विषः । [4]घनान्धतमसोच्छेदे प्रक्लृप्ता[5] इव सूचिकाः ॥१७३॥
तमो विधूय दूरेण जगदानन्दिभिः करैः । उदियाय शशी लोकं क्षीरेण क्षालयन्निव ॥१७४॥
अखण्डमनुरागेण निजं मण्डलमुद्वहन् । सुराजेव कृतानन्दमुदगाद् विधुरुत्करः ॥१७५॥
दृष्ट्वैवाक्रष्टहरिणं हरिं हरिणलाञ्छनम् । तिमिरौघः प्रदुद्राव करियूथसदृग् महान् ॥१७६॥
ततताराबली रेजे ज्योत्स्नापूरः सुधाछवेः । सबुद्‌बुद इवाकाशसिन्धोरोधः परिक्षरन् ॥१७७॥
हंसपोत इवान्विच्छन्[6] शशी तिमिरशैवलम् । तारा सहचरीक्रान्तं विजगाहे[7] नभःसरः ॥१७८॥
तमो निःशेषमुद्धूय जगदाप्लावयन् करैः । प्रालेयांशुस्तदा विश्वं सुधामयमिवातनोत् ॥१७९॥
तमो दूरं विधूयाऽपि विधुरासीत् कलङ्कवान् । निसर्गजं तमो नूनं महताऽपि सुदुस्त्यजम् ॥१८०॥

थी मानो नील वस्त्र पहने हुई और चमकीले मोतियोके आभूषण धारण किये हुई कोई अभिसारिणी स्त्री ही हो ॥१७०॥ जिस प्रकार मिथ्या दर्शनसे दूषित पुरुषोको कुछ भी दिखाई नही देता – पदार्थके स्वरूपका ठीक-ठीक ज्ञान नही होता उसी प्रकार गाढ अन्धकारसे भरे हुए लोकमे पुरुषोको आँख खोलनेपर भी सामनेकी कुछ भी वस्तु दिखाई नही देती थी ॥१७१॥ जबरदस्ती अन्धकारसे घिरे हुए लोग भीतर ही भीतर व्याकुल हो रहे थे और उनकी दृष्टि भी कुछ काम नही देती थी इसलिए उन्होने सोना ही अच्छा समझा था ॥१७२॥ घर-घरमे लगाये हुए प्रकाशमान दीपक ऐसे अच्छे सुशोभित हो रहे थे मानो अत्यन्त गाढ अन्धकारको भेदन करनेके लिए बहुत-सी सुइयाँ ही तैयार की गयी हों ॥१७३॥ इतने ही में जगत्को आनन्दित करनेवाली किरणोसे अन्धकारको दूरसे ही नष्ट कर चन्द्रमा इस प्रकार उदय हुआ मानो लोकको दूधसे नहला ही रहा हो ॥१७४॥ वह चन्द्रमा किसी उत्तम राजाके समान संसारको आनन्दित करता हुआ उदय हुआ था, क्योकि जिस प्रकार उत्तम राजा अनुराग अर्थात् प्रेमसे अपने अखण्ड (सम्पूर्ण) मण्डल अर्थात् देशको धारण करता है उसी प्रकार वह चन्द्रमा भी अनुराग अर्थात् लालिमासे अपने अखण्डमण्डल अर्थात् प्रतिबिम्बको धारण कर रहा था और उत्तम राजा जिस प्रकार चारो ओर अपना कर अर्थात् टैक्स फैलाता है उसी प्रकार वह चन्द्रमा भी चारो ओर अपने कर अर्थात् किरणे फैला रहा था ॥१७५॥ हरिणके चिह्नवाले चन्द्रमाको देखकर अन्धकारका समूह बड़ा होनेपर भी इस प्रकार भाग गया था जिस प्रकार कि हरिणको पकड़े हुए सिहको देखकर हाथियोंका बड़ा भारी झुण्ड भाग जाता है ॥१७६॥ जिसमे ताराओंकी पङ्क्ति फैली हुई है ऐसा चन्द्रमाकी चाँदनीका समूह उस समय ऐसा अच्छा जान पड़ता था मानो बुद्‌बुदोंसहित ऊपरसे पडता हुआ आकाशरूपी समुद्रका प्रवाह ही हो ॥१७७॥ हसके बच्चेके समान वह चन्द्रमा अन्धकाररूपी शैवालको खोजता हुआ तारेरूपी हंसियोंसे भरे हुए आकाशरूपी सरोवरमें अवगाहन कर रहा था – इधर-उधर घूम रहा था ॥१७८॥ समस्त अन्धकारको नष्ट कर जगत्को किरणोसे भरते हुए चन्द्रमाने उस समय यह समस्त ससार अमृतमय बना दिया था ॥१७९॥ अन्धकारको दूर करके भी वह चन्द्रमा कलकी बन रहा था सो ठीक ही है क्योकि स्वाभाविक अन्धकार बड़े पुरुषोसे छूटना

---

१ हठात् । २ नेत्रविफलत्वदर्शनात् । ३ शयनशीलताम् । ४ घनावतमसोद्‌भेदे ट० । निविडान्धकारभेदने । ५ कृता । ६ इवान्विष्टान् ल०, द०, प० । ७ विवेश ।

भिषजेव करैः स्पृष्टा दिशस्तिमिरभेदिभिः । शनैर्दृश इवालोकमातेनुः शिशिरत्विषा ॥१८१॥
इति प्रदोषसमये जाते प्रस्पष्टतारके । सौधोत्संगभुवो भेजुः पुरन्ध्र्यः सह कामिभिः ॥१८२॥
चन्दनद्रवसिक्ताङ्ग्यः स्रग्विण्यः[1] सावतंसिकाः । लसदाभरणा रेजुस्तन्व्यः कल्पलता इव ॥१८३॥
इन्दुपादैः समुत्कर्षमगान्मकरकेतनः । तदोदन्वानिवोद्वेलो मनोवृत्तिषु कामिनाम् ॥१८४॥
रमणा[2] रमणीयाश्च चन्द्रपादाः सचन्दनाः । [3]मदाश्च मदनारम्भमातन्वन् रमणीजने ॥१८५॥
शशाङ्ककरजैत्रास्त्रैस्तर्जयन्निखिलं जगत् । नृपवल्लभिकावासान्मनोभूरभ्यषेणयन्[4] ॥१८६॥
नास्वादि मदिरा स्वैरं नाजघ्रे न करेऽर्पिता । केवलं मदनावेशात्तरुण्यो भेजुरुत्कताम्[5] ॥१८७॥
उत्संगसंगिनी भर्तुः काचिन्मदविघूर्णिता । कामिनी मोहनास्त्रेण वतानङ्गेन तर्जिता ॥१८८॥
सखीवचनमुल्लङ्घ्य भङ्क्त्वा मानं निरर्गला[6] । प्रयान्ती रमणावासं काप्यनङ्गेन धीरिता[7] ॥१८९॥
शंफलीवचनैर्दूना काचित् पर्यश्रुलोचना । चक्राह्वेव भृशं तेपे नायाति प्राणवल्लभे ॥१९०॥
शून्यगानस्वनै[8] स्त्रीणामलिज्याकलझंकृतैः[9] । पूर्वरंगमिवानङ्गो रचयामास कामिनाम् ॥१९१॥

भी कठिन है ॥१८०॥ जिस प्रकार वैद्यके द्वारा तिमिर रोगको नष्ट करनेवाले हाथोंसे स्पर्श की हुई आँखे धीरे-धीरे अपना प्रकाश फैलाने लगती है उसी प्रकार चन्द्रमाके द्वारा अन्धकार-को नष्ट करनेवाली किरणोंसे स्पर्श की हुई दिशाएँ धीरे-धीरे अपना प्रकाश फैलाने लगी थी ॥१८१॥ इस प्रकार जिसमे तारागण स्पष्ट दिखाई दे रहे है ऐसा सायंकालका समय होनेपर सब स्त्रियाँ अपने-अपने पतियोके साथ महलोकी छतोंपर जा पहुँची ॥१८२॥ जिनके समस्त शरीरपर घिसे हुए चन्दनका लेप लगा हुआ है, जो मालाएँ धारण किये हुई है, कानोमें आभूषण पहने है और जिनके समस्त आभरण देदीप्यमान हो रहे है ऐसी वे स्त्रियाँ कल्पलताओके समान सुशोभित हो रही थी ॥१८३॥ उस समय चन्द्रमाकी किरणोसे जिस प्रकार समुद्र लहराता हुआ वृद्धिको प्राप्त होने लगता है उसी प्रकार कामी मनुष्योंके मनमें काम उद्वेलित होता हुआ बढ रहा था ॥१८४॥ सुन्दर पति, चन्द्रमाकी किरणे और चन्दन सहित मद ये सब मिलकर स्त्रियोमे कामकी उत्पत्ति कर रहे थे ॥१८५॥ चन्द्रमाकी किरणेरूपी विजयी शस्त्रोके द्वारा समस्त जगत्को तिरस्कृत करता हुआ कामदेव राजाकी स्त्रियोके निवासस्थानमें भी सेनासहित जा पहुँचा था ॥१८६॥ तरुण स्त्रियोंने न तो मदिराका स्वाद लिया, न इच्छानुसार उसे सूघा और न हाथमें ही लिया, केवल कामदेवके आवेशसे ही उत्कण्ठाको प्राप्त हो गयी, अर्थात् कामसे विह्वल हो उठी ॥१८७॥ पतिकी गोदमे बैठी हुई और मदसे झूमती हुई कोई स्त्री कामदेवके द्वारा मोहन अस्त्रसे ताडित की गयी थी ॥१८८॥ कामदेवसे प्रेरित हुई कोई स्त्री सखीके वचन उल्लघन कर तथा मान छोड़कर स्वतन्त्र हो अपने पतिके निवासस्थानको जा रही थी ॥१८९॥ कोई स्त्री पतिके न आनेपर वापस लौटी हुई दूतीके वचनोसे दुःखी होकर आँखोसे आँसू छोड़ रही थी और चकवीके समान अत्यन्त विह्वल हो रही थी – तडप रही थी ॥१९०॥ शून्य हृदयसे गाये हुए स्त्रियोके सुन्दर गीतोसे तथा भ्रमरपक्तिके मनोहर झकारोसे कामदेव कामी पुरुषोके लिए पूर्वरग अर्थात् नाटकके प्रारम्भमें होनेवाला एक अग विशेष ही मानो बना रहा था। भावार्थ – उस समय स्त्रियाँ पतियोकी प्राप्तिके लिए बेसुध होकर गा रही थी और उड़ते हुए भ्रमरोकी गुंजार फैल रही थी जिससे ऐसा मालूम होता था मानो कामदेवरूपी नट कामक्रीडारूप नाटकके पहले होनेवाले सगीत विशेष ही दिखला रहा हो। नाटकके पहले जो मगल-सगीत होता है उसे पूर्वरग कहते है ॥१९१॥

---

१ मालभारिण । २ प्रियतमा । ३ मदाश्च ल० । ४ सेनया सहाभ्यगमयन् । ५ उत्कण्ठताम् । ६ प्रतिबन्धरहिता । ७ धैर्य नीता । ८ चित्तसंमोहनहेतुगीतविशेषैः । ९ कलध्वनिभेदै ।

गोत्रस्खलन[1]संवृद्ध[2]मन्युमन्यामनन्यजः[3] । नोपैक्षिष्ट प्रियोत्संगमनयन्नवसंगताम्[4] ॥१९२॥
नेन्दुपादैर्धृतिं लेभे नोशीरैर्न[5] जलार्द्रया[6] । खण्डिता[7] मानिनी काचिदन्तस्तापे बलीयसि ॥१९३॥
काचिदुत्तापिभिर्बाणैस्तापिताऽपि मनोभुवा । नितम्बिनी प्रतीकारं नैच्छद्धैर्यावलम्बिनी ॥१९४॥
अनुरक्ततया दूरं नीतया प्रणयोचिताम् । भूमिं[8] यूनाऽन्यया सोढः संदेशः[9] परुषाक्षरः ॥१९५॥
आलि[10] त्वं नालिकं[11] ब्रूहि गतः किन्नु विलक्षताम्[12] । प्रियानामा[13]क्षरैः क्षीणैः मोहान्मय्यवतारितैः ॥१९६॥
यथा तव हृतं चेतस्तया लज्जाऽप्यहारि किम् । येन निस्त्रप[14] भूयोऽपि प्रणयोऽस्मासु तन्यते ॥१९७॥
सैवानुवर्तनीयो ते सुभगं[15] मन्यमानिनी । अस्थाने योजिता प्रीतिर्जायतेऽनुशयाय[16] ते[17] ॥१९८॥
इति प्राणप्रियां कांचित् संदिशन्तीं[18] सखीजने । युवा सादरमभ्येत्य नानुनिन्ये[19] न मानिनीम् ॥१९९॥
चन्द्रपादास्तपन्तीव चन्दनं दहतीव माम् । संधुक्ष्यत इवाऽमीभिः कामाग्निर्व्यजनानिलैः ॥२००॥

गोत्रस्खलन अर्थात् भूलसे किसी दूसरी स्त्रीका नाम ले देनेसे जिसका क्रोध बढ़ रहा है ऐसी किसी अन्य नवीन व्याही हुई स्त्रीकी भी कामदेवने उपेक्षा नहीं की थी किन्तु उसे भी पतिके समीप पहुँचा दिया था । भावार्थ–प्रौढा स्त्रियोंकी अपेक्षा नवोढा स्त्रियोंमें अधिक मान और लज्जा रहा करती है परन्तु उस चन्द्रोदयके समय वे भी कामसे उन्मत्त हो सब मान और लज्जा भूलकर पतियोंके पास जा पहुँची थीं ॥१९२॥ जिस किसी स्त्रीका पति वचन देकर भी अन्य स्त्रीके पास चला गया था ऐसी अभिमानिनी खण्डिता स्त्रीके मनका सन्ताप इतना अधिक बढ गया था कि उसे न तो चन्द्रमाकी किरणोंसे सन्तोष मिलता था, न उशीर (खस) से और न पंखेसे ही ॥१९३॥ धीरज धारण करनेवाली कोई स्त्री कामदेवके द्वारा अत्यन्त पीड़ा देनेवाले बाणोंसे दुःखी होकर भी उसका प्रतीकार नहीं करना चाहती थी । भावार्थ–अपने धैर्यगुणसे कामपीड़ाको चुपचाप सहन कर रही थी ॥१९४॥ कोई तरुण पुरुष प्रेमसे भरी हुई अपनी अन्य स्त्रीको प्रेम करने योग्य किसी दूर स्थानमें ले गया था, वहाँ वह उसके कठोर अक्षरोंसे भरे हुए सन्देशको चुपचाप सहन कर रही थी ॥१९५॥ कोई स्त्री अपनी सखीसे कह रही थी कि हे सखि, सच कह कि क्या वह भ्रमसे मेरे विषयमें कहे हुए और अत्यन्त क्षीण अपनी प्रियाके नामके अक्षरोंसे कुछ चकित हुआ था ? ॥१९६॥ कोई स्त्री अपने अपराधी पतिसे कह रही थी कि हे निर्लज्ज, जिसने तेरा चित्त हरण किया है क्या उसने तेरी लज्जा भी छीन ली है ? क्योंकि तू फिर भी मुझपर प्रेम करना चाहता है ॥१९७॥ कोई स्त्री पतिको ताना दे रही थी कि आप अपने आपको बड़ा सौभाग्यशाली समझते हैं इसलिए जाइए उसी मान करनेवाली स्त्रीकी सेवा कीजिए क्योंकि अयोग्य स्थानमें की गयी प्रीति आपके सन्तापके लिए ही होगी । भावार्थ–मुझसे प्रेम करनेपर आपको सन्ताप होगा इसलिए अपनी उसी प्रेयसीके पास जाइए ॥१९८॥ इस प्रकार सखियोंके लिए सन्देश देती हुई किसी अहंकार करनेवाली प्यारी स्त्रीको उसका तरुण पति आकर बड़े आदरके साथ नहीं मना रहा था क्या ? अर्थात् अवश्य ही मना रहा था ॥१९९॥ कोई स्त्री अपनी सखीसे कह रही थी कि ये चन्द्रमाकी किरणें मुझे सन्ताप दे रही हैं, यह चन्दन जला-सा रहा है और यह पंखोंकी हवा मेरी कामाग्निको बढा

१ नामस्खलन । २ प्रवृद्धक्रोधाम् । ३ काम. । ४ नववधूमित्यर्थः । ५ लामज्जकैः । 'मूलेऽस्योशीरमस्त्रियाम्' । 'अभयं नलदं सेव्यममृणालं जलाशयम् । लामज्जकं लघुलयमवदाहेष्टकापथे ।'' इत्यभिधानात् । ६ व्यजनेन । ७ वियुक्ता । ८ सदनम् (शय्यागृहम्) । ९ वाचिकम् । १० भो सखि । ११ अनृतम् । १२ विस्मयान्विताम् । १३ दिव्यैः । १४ निर्लज्ज । १५ अहं सुभगेति मन्यमाना रामा । १६ पश्चात्तापाय । १७ तव । १८ संजल्पन्तीम् । वचन प्रेषयन्तीम् । १९ -न्येऽय ल०, द० । अनुनयं नाकरोदिति न । (अपि तु करोत्येव) ।

तमानयानुनीयेह नय मां वा तदन्तिकम् । त्वदधीना मम प्राणाः प्राणेशे बहुवल्लभे[1] ॥२०१॥
इत्यनङ्गातुरा काचित् संदिशन्ती सखीं मिथः[2] । भुजोपरोधमाश्लेषि पत्या प्रत्यग्रखण्डिता[3] ॥२०२॥
राज्ये मनोभवस्यास्मिन् स्वैरं संरम्यतामिति । कामिनीकलकांचीभिरुद्घोषीव घोषणा ॥२०३॥
कर्णोत्पलनिलीनालिकुलकोलाहलस्वनैः । उपजेपे[4] किमु स्त्रीणां कर्णजाहे[5] मनोभुवा ॥२०४॥
स्तनाङ्गरागसंमर्दी परिरम्भोऽतिनिर्दयः । ववृधे कामिवृन्देषु रभसश्च कचग्रहः ॥२०५॥
आरक्तकलुषा दृष्टिर्मुखमापाटलाधरम्[6] । रतान्ते कामिनामासीत् सीत्कृतं चाऽसकृत्कृतम् ॥२०६॥
पुष्पसंमर्दसुरभीरास्रस्तजघनांशुकाम् । संभोगावसितौ[7] शय्या मिथुनान्यधिशेरत ॥२०७॥
कैश्चिद् वीरभटैर्भाविरणारम्भकृतोत्सवैः । प्रियोपरोधान्मन्देच्छैरप्यासेवि रतोत्सवः ॥२०८॥
केचित् कीर्त्यङ्गनासंगसुखसंगकृतस्पृहाः । प्रियाङ्गनापरिष्वङ्गमङ्गीचक्रुर्न मानिनः ॥२०९॥
निर्जितारिभटैर्भोग्या प्रिया नास्माभिरन्यथा[8] । इति जातिभटाः केचिन्न भेजुः शयनान्यपि ॥२१०॥
शरतल्पगतानल्पसुखसंकल्पनः परे । नाभ्यनन्दन् प्रियातल्पमनल्पेच्छा भटोत्तमाः ॥२११॥
स्वकामिनीभिरारब्धवीरालापैर्भटैः परैः । विभावरी विभाताऽपि[9] सा नावेदि रणोन्मुखैः ॥२१२॥

सी रही है ॥२००॥ इसलिए मनाकर या तो उन्हें यहाँ ले आ या मुझे ही उनके पास ले चल, यह ठीक है कि प्राणपतिके अनेक स्त्रियाँ हैं इसलिए उन्हें मेरी परवाह नहीं है किन्तु मेरे प्राण तो उन्हींके अधीन हैं ॥२०१॥ इस प्रकार कामदेवसे पीड़ित होकर कोई स्त्री अपनी सखीसे सन्देश कह ही रही थी कि इतनेमें उस नवीन विरहिणी स्त्रीको पास ही छिपे हुए उसके पतिने दोनों भुजाओंसे पकड़कर परस्पर आलिंगन किया ॥२०२॥ उस समय मनोहर शब्द करती हुई स्त्रियोंकी करधनियाँ मानो यही घोषणा कर रही थीं कि आप लोग कामदेवके इस राज्यमें इच्छानुसार क्रीड़ा करो ॥२०३॥ उन स्त्रियोंके कर्णफूलके कमलोंमें छिपे हुए भ्रमरोंके समूह कोलाहल कर रहे थे और उससे ऐसा जान पड़ता था मानो कामदेव स्त्रियोंके कानोंके समीप लगकर कुछ गुप्त बातें ही कर रहा हो ॥२०४॥ उस समय कामी लोगोंके समूहमें स्त्रियोंके स्तनोंपर लगे हुए लेपको मर्दन करनेवाला और अत्यन्त निर्दय आलिंगन बढ़ रहा था तथा वेगपूर्वक केशोंकी पकड़ा-पकड़ी भी बढ़ रही थी ॥२०५॥ सम्भोगके बाद कामी लोगोंके नेत्र कुछ-कुछ लाल और कलुषित हो गये थे, मुख कुछ-कुछ गुलाबी अधरोंसे युक्त हो गया था तथा उससे सी-सी शब्द भी बार-बार हो रहा था ॥२०६॥ सम्भोग-क्रियाके समाप्त होनेपर स्त्री और पुरुष दोनों ही उन शय्याओंपर सो गये जो कि फूलोंके सम्मर्दसे सुगन्धित हो रही थीं और जिनपर खुलकर अधोवस्त्र पड़े हुए थे ॥२०७॥ जिन्हें होनेवाले युद्धके प्रारम्भमें बड़ा आनन्द आ रहा था ऐसे कितने ही शूरवीर योद्धाओंने इच्छा न रहते हुए भी अपनी प्यारी स्त्रियोंके आग्रहसे सम्भोग सुखका अनुभव किया था ॥२०८॥ कीर्तिरूपी स्त्रीके समागमसे उत्पन्न होनेवाले सुखमें जिनकी इच्छा लग रही है ऐसे कितने ही मानी योद्धाओंने अपनी प्यारी स्त्रियोंका आलिंगन स्वीकार नहीं किया था ॥२०९॥ 'जब हम लोग शत्रुके योद्धाओंको जीत लेंगे तभी प्रियाका उपभोग करेंगे अन्यथा नहीं' ऐसी प्रतिज्ञा कर कितने ही स्वाभाविक शूरवीर शय्याओंपर ही नहीं गये थे ॥२१०॥ बड़ी-बड़ी इच्छाओंको धारण करनेवाले कितने ही उत्तम शूरवीरोंने बाणोंकी शय्यापर सोनेसे प्राप्त हुए भारी सुखका संकल्प किया था इसलिए ही उन्होंने प्यारी स्त्रियोंकी शय्यापर सोना अच्छा नहीं समझा था ॥२११॥ जिन्होंने अपनी स्त्रियोंके साथ अनेक शूरवीरोंकी कथाएँ कहना प्रारम्भ किया है ऐसे युद्धके

---

१ बहुस्त्रीके सति । २ रहसि । ३ नूतनवियुक्ता । ४ रहो बभाषे । भेदकुमन्त्र. नुचितः । ५ कर्णमूले । ६ ईषदरुण । ७ सुरतावमाने । नास्माभि–ल०, द०, अ०, प०, स०, इ० । ९ प्रभातापि ।

केचिद्रणरसासक्तमनसोऽपि पुरः स्थितम् । कान्तासंगरसं स्वैरं भेजुः समरसा भटाः ॥२१३॥
प्रहारकर्कशो दष्टदशनच्छदनिष्ठुरः । रतारम्भो रणारम्भनिर्विशेषो न्यपेत्रि तैः ॥२१४॥
रतानुवर्तनै र्गाढपरिरम्भैर्मुखार्पणैः[1] । मनांसि कामिनां जह्रुः कामिन्यस्ताः स्मरातुराः ॥२१५॥
दगर्द्धवीक्षितैः सान्तर्हासैर्मन्मनजल्पितैः[2] । अकाण्डरुपितैश्चण्डैर्विवृत्तैरसमभ्रुभिः[3] ॥२१६॥
तासामकृतकस्नेहगर्भैः कृतककैतवैः । रसिकोऽभूद् रतारम्भः संभोगान्तेषु कामिनाम् ॥२१७॥
तेषां निधुवनारम्भमतिभूमिगतं तदा । संद्रष्टुमसहन्तीव पर्यवर्तत[4] सा निशा ॥२१८॥
अलं बत चिरं रत्वा दम्पती ताम्यथो[5] युवाम् । लम्बितेन्दुमुखी तस्थौ इतीवापरदिग्वधूः ॥२१९॥
विघटय्य रथाङ्गानां मिथुनानि मिथोऽशुमान् । तापेन तत्कृतेनेव[6] परितो[7]ऽभ्युदियाय सः ॥२२०॥
तावदासीद् दिनारम्भो गतं नैशं तमो लयम् । सहस्रांशुर्दिशं प्राची परिरेभे[8] करोत्करैः ॥२२१॥
किरणैस्तरुणैरेव तमः शार्वरमुद्धृतम् । तरणेः करणीयं तु दिनश्रीपरिरम्भणम्[9] ॥२२२॥
कोककान्तानुरागेण समं पद्माकरे श्रियम् । पुष्णन्नुष्णांशुरुद्यच्छन्[10] मुष्णात्कौमुदीं श्रियम् ॥२२३॥

सन्मुख हुए अन्य योद्धा लोगोंको सवेरा होते हुए भी वह रात जान नहीं पड़ी थी। भावार्थ— कथाएँ कहते-कहते रात्रि समाप्त हो गयी, सवेरा हो गया फिर भी उन्हें मालूम नहीं हुआ ॥२१२॥ युद्ध और संभोगमें एक-सा आनन्द माननेवाले कितने ही योद्धाओंका चित्त यद्यपि युद्धके रसमें आसक्त हो रहा था तथापि उन्होंने सामने प्राप्त हुए स्त्रीसंभोगके रसका भी इच्छानुसार उपभोग किया था ॥२१३॥ उन योद्धाओंने रणके प्रारम्भके समान ही संभोगका प्रारम्भ किया था, क्योंकि जिस प्रकार रणका प्रारम्भ परस्परके प्रहारों (चोटों) से कठोर होता है उसी प्रकार संभोगका प्रारम्भ भी परस्परके प्रहारों अर्थात् कचग्रह, नखक्षत आदिसे कठोर था, और जिस प्रकार रणका प्रारम्भ होठ चबाये जानेसे निर्दय होता है उसी प्रकार संभोगका प्रारम्भ भी होठोंके चुम्बन आदिसे निर्दय था ॥२१४॥ कामसे पीड़ित हुई कितनी ही स्त्रियाँ पतियोंका गाढ आलिंगन कर, चुम्बनके लिए उन्हें अपना मुख देकर और उनके साथ संभोगकर उनका मन हरण कर रही थीं ॥२१५॥ आधी नजरसे देखना, भीतर-ही-भीतर हँसते हुए अव्यक्त शब्द कहना, असमयमें रूस जाना, बड़ी तेजीके साथ करवट बदलना, भौंहोंको आड़ी तिरछी चलाना और स्वाभाविक स्नेहसे भरा हुआ झूठा छल-कपट दिखाना आदि स्त्रियोंके अनेक व्यापारोंसे संभोगका एक दौर समाप्त हो जानेपर भी कामी पुरुषोंका पुनः संभोग प्रारम्भ हो रहा था और बड़ा ही रसीला था ॥२१६–२१७॥ उस समय वह रात्रि पोदनपुरके स्त्री-पुरुषोंके उस बढ़े हुए संभोगको देख नहीं सकी थी इसलिए ही मानो उलट पड़ी थी अर्थात् समाप्त हो चुकी थी — प्रातःकालके रूपमें बदल गयी थी ॥२१८॥ जिसका चन्द्रमारूपी मुख नीचेकी ओर लटक रहा है ऐसी पश्चिम दिशारूपी स्त्री मानो यही कहती हुई खड़ी थी कि हे स्त्री पुरुषो, रहने दो, बहुत देर तक क्रीड़ा कर चुके, नहीं तो तुम दोनों ही दुःख पाओगे ॥२१९॥ सूर्यने सायंकालके समय चकवा-चकवियोंको परस्पर अलग-अलग किया था इसी सन्तापसे व्याप्त हुआ मानो वह फिरसे उदय होने लगा ॥२२०॥ इतनेमें ही दिनका प्रारम्भ हुआ, रात्रिका अन्धकार विलीन हो गया और सूर्यने अपनी किरणोंके समूहसे पूर्वदिशाका आलिंगन किया ॥२२१॥ रात्रिका अन्धकार तो सूर्यकी लाल किरणोंसे ही नष्ट हो गया था अब तो सूर्यको केवल दिनरूपी लक्ष्मीका आलिंगन करना बाकी रह गया था ॥२२२॥ सूर्य चकवियोंके अनुरागके साथ-ही-साथ कमलोंकी शोभा बढ़ा रहा था और उदय

१ गाढं परि ल० । २ अव्यक्तभाषणैः । ३ विषमभ्रुभिः । ४ प्रलयं गता । ५ ताम्यता ल० । ६ विघटनकृतेन । ७ व्याप्तः । ८ आलिङ्गनं चकार । ९ आलिङ्गनम् । १० –रुद्गच्छन् ल०, द० ।

तमः कवाटमुद्घाट्य दिङ्मुखानि प्रकाशयन्। जगदुद्घाटिताक्षं[1] वा व्यधादुष्णकरः करैः ॥२२४॥
प्रातस्तरामथोत्थाय[2] पद्माकरपरिग्रहम्। तन्वन् भानुः प्रतापेन जिगीषोर्वृत्तिमन्वगात्[3] ॥२२५॥
सुकण्ठा पेठुरत्युच्चैः प्रभोः प्राबोधिकास्तदा। स्वयं प्रबुद्धमप्येनं प्रबोधं[4] युयुक्षवः[5] ॥२२६॥

हरिणीच्छन्दः

अशिशिरकरो लोकानन्दी जनैरभिनन्दितो
बहुमतकरं तेजस्तन्वन्नितोऽयमुदेष्यति।
नृवर जगतामुद्योताय त्वमप्युदयोचितं
विधिमनुसरन्[6] शय्योत्संगं जहीहि मुदे श्रियः ॥२२७॥
कतरकतमे[7] नाक्रान्तास्ते[8] बलैर्बलशालिनो
भुजबलमिदं लोकः प्रायो न वेत्ति तवाल्पकः।
भरतपतिना सार्द्धं युद्धे जयाय कृतोद्यमो
नृपवर भवान् भूयाद् भर्ता नृवीरजयश्रियः ॥२२८॥
रविरविरलानश्रून्[9] जातानिवाश्रमशाखिनां
तुहिनकणिकपातानाशु[10] प्रमृज्य करोत्करैः।
अयमुदयति प्राप्तानन्दैरितोऽम्बुजिनीवनैः
उदयसमये प्रत्युद्यातो[11] धृतार्घमिवाम्बुजैः ॥२२९॥

होते ही चाँदनीकी शोभाको भी चुराता जाता था – नष्ट करता जाता था ॥२२३॥ सूर्यने अपने किरणरूपी हाथोंसे अन्धकाररूपी किवाड़ खोलकर दिशाओंके मुँह प्रकाशित कर दिये थे और समस्त जगत् नेत्र खोल दिये थे ॥२२४॥ वह सूर्य विजयकी इच्छा करनेवाले किसी राजाकी वृत्तिका अनुकरण कर रहा था क्योंकि जिस प्रकार विजयकी इच्छा करनेवाला राजा बड़े सवेरे उठकर अपने प्रतापसे पद्माकर अर्थात् लक्ष्मीका हाथ स्वीकार करता है उसी प्रकार सूर्य भी बड़े सवेरे उदय होकर अपने प्रतापसे पद्माकर अर्थात् कमलोंके समूहको स्वीकार कर रहा था – अपने तेजसे उन्हें विकसित कर रहा था ॥२२५॥ यद्यपि उस समय महाराज बाहुबली स्वयं जाग गये थे तथापि उन्हें जगानेका उद्योग करते हुए सुन्दर कण्ठवाले बन्दीजन जोर-जोरसे नीचे लिखे हुए मंगलपाठ पढ़ रहे थे ॥२२६॥ हे पुरुषोत्तम, जो लोगोंको आनन्द देनेवाला है और लोग जिसकी प्रशंसा कर रहे हैं ऐसा यह सूर्य सब लोगोंको अच्छा लगनेवाले तेजको फैलाता हुआ इधर पूर्व दिशासे उदय हो रहा है इसलिए आप भी जगत्को प्रकाशित और लक्ष्मीको आनन्दित करनेके लिए सूर्योदयके समय होनेवाली योग्य क्रियाओंको करते हुए शय्याका मध्यभाग छोड़िए ॥२२७॥ हे राजाओंमें श्रेष्ठ, आपकी सेनाओंने कितने-कितने बलशाली राजाओंपर आक्रमण नहीं किया है, ये छोटे-छोटे लोग प्रायः आपकी भुजाओंके बलको जानते भी नहीं हैं। हे नरवीर, आपने भरतेश्वरके साथ युद्धमें विजय प्राप्त करनेके लिए उद्यम किया है इसलिए विजयलक्ष्मीके स्वामी आप ही हों ॥२२८॥ हे देव, बगीचेके वृक्षोंपर पड़ी हुई ओसकी बूँदोंको निरन्तर पड़ते हुए आँसुओंके समान अपनी किरणोंके समूहसे शीघ्र ही पोंछता हुआ यह सूर्य उदय हो रहा है और उदय होते समय ऐसा जान पड़ता है मानो कमलिनियोंके वन जिन्हें आनन्द प्राप्त हो रहा है ऐसे कमलोंके द्वारा अर्घ्य लेकर उसकी

१ विवृतनेत्रम्। २ अतिशयप्रातःकाले। ३ अनुकरोति स्म। ४ प्रबोधन – द०, ल०। ५ योक्तुमिच्छवः। ६ अनुगच्छन्। ७ के के। ८ तव। ९ -नश्रुव्राता–द०। १० -कापाता – ल०, द०। ११ प्रतिगृहीतः।

अयमनुसरन् कोकः कान्तां तटान्तरशायिनी-
मविरलगलद्बाष्पव्याजादिवोत्सृजतीं शुचम् ।
विशति बिसिनीपत्रच्छन्नां सरोजसरस्तटीं
सरसिजरजःकीर्णौ पक्षौ विधूय शनैः शनैः ॥२३०॥

जरठबिसिनीकन्दच्छायामुपस्तरलास्त्विष-
स्तुहिनकिरणो दिक्पर्यन्तादयं प्रतिसंहरन् ।
अनुकुमुदिनीषण्डं तन्वन् करानमृतश्च्युतो
द्रढयति परिष्वङ्गासंगं वियोगभयादिव ॥२३१॥

तिमिरकरिणां यूथं भित्वा तदस्रपरिप्लुता-
मिव तनुमयं बिभ्रच्छोणां निशाकरकेसरी ।
वनमिव नभः क्रान्त्वाऽस्ताद्रेर्गुहागहनान्यतः
श्रयति नियतं निद्रासंगाद्[1] विजिह्मिततारकः[2] ॥२३२॥

सरति सरसीतीरं हंसः ससारसकूजितं
झटिति घटते कोकद्वन्द्वं विशापमिवाधुना[3] ।
पतति[4] पततां[5] वृन्दं विष्वक् द्रुमेषु कृतारुतं[6]
गतमिव जगत्प्रत्यापत्तिं[7] समुद्यति[8] भास्वति[9] ॥२३३॥

उदयशिखरिग्रावश्रेणीसरोरुहरागिणी
गगनजलधेरातन्वाना[10] प्रवालवनश्रियम् ।
दिगिभवदने सिन्दूरश्रीरलक्तकपाटला
प्रसरतितरां सन्ध्यादीप्तिर्दिगाननमण्डनी[11] ॥२३४॥

अगवानी ही कर रहे हो ॥२२९॥ इधर देखिए, जो दूसरे किनारेपर सो रही है और निरन्तर बहते हुए आँसुओंके बहानेसे जो मानो शोक ही छोड़ रही है ऐसी अपनी स्त्री चकवीके पीछे-पीछे जाता हुआ यह चकवा कमलोके परागसे भरे हुए अपने दोनो पंखोको झटकाकर कमलिनियोके पत्तोंसे ढके हुए कमलसरोवरके तटपर धीरे-धीरे प्रवेश कर रहा है ॥२३०॥ यह चन्द्रमा पके हुए मृणालकी कान्तिको चुरानेवाली अपनी कान्तिको सब दिशाओंके अन्तसे खीच रहा है तथा अमृत वरसानेवाली अपनी किरणोको प्रत्येक कुमुदिनियोके समूहपर फैलाता हुआ वियोगके डरसे ही मानो उनके साथ आलिङ्गनके सम्बन्धको दृढ कर रहा है ॥२३१॥ जो अन्धकाररूपी हाथियोके समूहको भेदन कर उनके रक्तसे ही तर हुएके समान लाल-लाल दिखनेवाले शरीर (मण्डल) को धारण कर रहा है तथा नीद आ जानेसे जिसकी नक्षत्ररूपी आँखोंकी पुतलियाँ तिरोहित अथवा कुटिल हो रही है ऐसा यह चन्द्रमारूपी सिह वनके समान आकाशको उल्लंघन कर अब अस्ताचलकी गुहारूप एकान्त स्थानका निश्चित रूपसे आश्रय ले रहा है ॥२३२॥ सूर्य उदय होते ही हस, सारस पक्षियोकी बोलीसे सहित सरोवरके किनारे-पर जा रहे है, चकवा चकवियोके जोड़े परस्परमें इस प्रकार मिल रहे है मानो अब उनका शाप ही दूर हो गया हो, पक्षियोके समूह चारों ओर शब्द करते हुए वृक्षोपर पड़ रहे है और यह जगत् फिरसे अपने पहले रूपको प्राप्त हुआ-सा जान पड़ता है ॥२३३॥ उदयाचलकी चट्टानोंपर पैदा होनेवाले कमलोंके समान लाल तथा आकाशरूपी समुद्रमे मूँगाके वनकी

---

१ अभिनिवेशात् । २ वक्रिततारक. । अक्ष कनीनिकेति ध्वनि. । ३ विगतशापम् । आक्रोशमित्यर्थ । ४ आश्रयति । ५ पक्षिणाम् । ६ कृतसमन्ताद् ध्वनिः । कृतारवं ल० । ७ पूर्वस्थितिम् । ८ उदिते सति । ९ आदित्ये । १० विद्रुम । ११ मण्डयतीति मण्डनी ।

कमलमलिनी नालं[1] वेष्टुं[2] बत प्रविकस्वरं
गतमरुणतां बालार्कस्य प्रसारिभिरंशुभिः ।
परिगतमिव[3] प्लुष्यद्भिः कणैरनिलार्चिषां
नियतविपदं धिग् व्यामूढिं विवेकपराङ्मुखीम् ॥२३५॥
उपवनतरूनाधुन्वाना विलोलितषट्पदाः
कृतपरिचया वीचीचक्रैः सरस्सु सरोरुहाम् ।
[4]रतिपरिमलानाकर्षन्तः सरोजरजो जडाः[5]
प्रतिदिशममी मन्दं वान्ति [6]प्रगेतनमारुताः ॥२३६॥

मालिनीच्छन्दः

नृपवर जिनभर्तुर्मङ्गलैरेभिरिष्टैः
प्रकटितजयघोषैस्त्वं विबुध्यस्व भूयः ।
भवति निखिलविघ्नप्रप्रशान्तिर्यतस्ते
रणशिरसि जयश्रीकामिनीं कामुकस्य ॥२३७॥
जयति दिविजनाथैः प्राप्तपूजर्द्धिरर्हन्
धुतदुरितपरागो वीतरागोऽपरागः[7] ।
कृतनतिशतयज्व[8] प्रज्वलन्मौलिरत्न-
[9]च्छुरितरुचिररोचिर्मञ्जरीपिञ्जराङ्घ्रिः ॥२३८॥

शोभा फैलाती हुई, दिशारूपी हाथियोके मुखपर सिन्दूरके समान दिखनेवाली, महावरके समान गुलाबी और दिशाओके मुखोंको अलकृत करनेवाली यह प्रभात-सन्ध्याकी कान्ति चारों ओर बड़ी तेजीसे फैल रही है ॥२३४॥ हे नाथ, यह खिला हुआ कमल लाल सूर्यकी फैलनेवाली किरणोंसे लाल-लाल हो रहा है और ऐसा मालूम होता है मानो अग्निके फैलते हुए फुलिगोसे व्याप्त ही हो रहा हो तथा इसी भयसे यह भ्रमरी उसमे प्रवेश करनेके लिए समर्थ नही हो रही है । आचार्य कहते है कि जिसमे आपत्ति सदा निश्चित रहती है और जो विवेकसे पराङ्मुख है ऐसी मूर्खताको धिक्कार है ॥२३५॥ हे राजन्, जो उपवनके वृक्षोंको हिला रहा है, भ्रमरोंको चंचल कर रहा है, जिसने कमलोके तालावमे लहरोके साथ परिचय प्राप्त किया है, जो स्त्री-पुरुषोके संभोगकी सुगन्धिको खीच रहा है और जो कमलोके परागसे भारी हो रहा है ऐसा यह प्रात.कालका वायु सब दिशाओमे धीरे-धीरे वह रहा है ॥२३६॥ हे राजाओंमे श्रेष्ठ, जिनमें जय-जयकी घोषणा प्रकट रूपसे की गयी है ऐसे जिनेन्द्र भगवान्‌के इन इष्ट मगलोसे आप फिरसे जग जाइए क्योकि इन्ही मंगलोके द्वारा रणके अग्रभागमें विजयलक्ष्मी रूपी स्त्रीको चाहनेवाले आपके समस्त विघ्नोकी अच्छी तरह शान्ति होगी ॥२३७॥

अनेक इन्द्रोंके द्वारा जिन्हे पूजाकी ऋद्धि प्राप्त हुई है, जिन्होने पापरूपी धूल नष्ट कर डाली है, जो वीतराग हैं – जिन्होने रागद्वेष नष्ट कर दिये हैं और नमस्कार करते हुए इन्द्रोंके देदीप्यमान मुकुटके रत्नोसे मिली हुई सुन्दर किरणोकी मंजरीसे जिनके चरण कुछ-कुछ पीले हो

१ असमर्थः । २ प्रवेशाय । ३ व्याप्तम् । ४ सुरतसमये दम्पत्यनुभुक्तकस्तूरीकर्पूरादिपरिमलान् । ५ मन्दाः । ६ प्रातःकाले भव । ७ वीतरागद्वेषः । ८ इन्द्र । ९ व्याप्त ।

जयति जयविलासः सूच्यते यस्य पौष्पै-
रलिकुलतरुणमैर्निर्जितानङ्गमुक्तैः ।
[1]अनुपदयुगमस्त्रैर्मङ्गशोकादिवावि-
ष्कृतकरुणनिनादैः सोऽयमाद्यो जिनेन्द्रः ॥२३९॥

जयति जितमनोभूर्भूरिधामा[2] स्वयम्भू-
र्जिनपतिरपरागः[3] क्षालितागः परागः ।
सुरमुकुटविटङ्कोदूढ[4]पादाम्बुजश्रीः-
जगद्[5]जगदगारप्रान्तविश्रान्तबोधः ॥२४०॥

जयति मदनबाणैरक्षतात्मापि योऽधात्[6]
त्रिभुवनजयलक्ष्मीकामिनीं वक्षसि स्वे ।
स्वयमवृत च मुक्तिप्रेयसी यं विरूपा[7]-
प्यनवमसुखतातिं तन्वती सोऽयमर्हन् ॥२४१॥

जयति समरभेरीभैरवारावभीमं
बलमरचि न कूजच्चण्डकोदण्डकाण्डम् ।
भ्रुकुटिकुटिलमास्यं येन नाकारि वोच्चैः
मनसिजरिपुघाते सोऽयमाद्यो जिनेशः[8] ॥२४२॥

स जयति जिनराजो दुर्विभाव[10]प्रभावः
प्रभुरभिभवितुं यं [11]नाशकन्मारवीरः ।
दिविजविजयदूरारूढगर्वोऽपि[12] गर्वं
न हृदि हृदिशयोऽधाद् यत्र[13] [14]कुण्ठास्त्रवीर्यः ॥२४३॥

रहे हैं ऐसे श्री अर्हन्तदेव सदा जयवन्त रहें ॥२३८॥ जिनके भीतर भ्रमरोके समूह गुंजार कर रहे हैं और उनसे जो ऐसे मालूम होते हैं मानो अपनी पराजयके शोकसे रोते हुए कामदेवके करुण क्रन्दनको ही प्रकट कर रहे हों तथा उसी हारे हुए कामदेवने अपने पुष्परूपी शस्त्र भगवान्के चरण-युगलके सामने डाल रखे हों ऐसे पुष्पोके समूहसे जिनके विजयकी लीला सूचित होती है वे प्रथम जिनेन्द्र श्री वृषभदेव जयवन्त हों ॥२३९॥ जिन्होंने कामदेवको जीत लिया है, जिनका तेज अपार है, जो स्वयभू है, जिनपति है, वीतराग है, जिन्होने पापरूपी धूलि धो डाली है, जिनके चरणकमलोंकी शोभा देव लोगोने अपने मुकुटके अग्रभागपर धारण कर रखी है और जिनका ज्ञान लोक-अलोकरूपी घरके अन्त तक फैला हुआ है ऐसे श्री प्रथम जिनेन्द्र सदा जयवन्त रहें ॥२४०॥ जिनकी आत्मा कामदेवके वाणोसे घायल नही हुई है तथापि जिन्होने तीनों लोकोंकी जयलक्ष्मीरूपी स्त्रीको अपने वक्षःस्थलपर धारण किया है और मुक्तिरूपी स्त्रीने जिन्हें स्वय वर बनाया इसके सिवाय वह मुक्तिरूपी स्त्री विरूपा अर्थात् कुरूपा (पक्षमें आकाररहित) होकर भी जिनके लिए उत्कृष्ट सुख-समूहको वढा रही है वे अर्हन्तदेव सदा जयवन्त हों ॥२४१॥ जिन्होने जगद्विजयी कामदेवरूपी शत्रुको नष्ट करनेके लिए न तो युद्धके नगाड़ोके भयंकर शब्दोसे भीषण तथा शब्द करते हुए धनुषोसे युक्त सेना ही रची और न अपना मुँह ही भौंहोंसे टेढ़ा किया वे प्रथम जिनेन्द्र भगवान् वृषभदेव सदा जयवन्त रहें ॥२४२॥ जो सब जगत्के स्वामी है, कामदेवरूपी योद्धा भी जिन्हे जीतने-

---

१ पदयुगसमीपे । २ वहलतेजा । ३ अपगतराग । ४ वलभ्या धृत । ५ लोकालोकालयप्रान्त । ६ धारयति स्म । ७ अमूर्तापि, कुरूपापीति ध्वनि । ८ अप्रमितसुखपरम्पराम् । ९ जिनेन्द्र ल०, द० । १० अचिन्त्य । ११ समर्थो ना भूत् । १२ अत्यर्थं । १३ सर्वज्ञे । १४ मन्द । 'कुण्ठो मन्दः क्रियासु च' इत्यभिधानात् ।

जयति तरुरशोको दुन्दुभिः पुष्पवर्षं
चमरिरुहसमेतं विष्टरं सैंहमुद्धम्[१]।
वचनमसममुच्चैरातपत्रं च तेजः[२]
त्रिभुवनजयचिह्नं यस्य [३]सार्वो जिनोऽसौ ॥२४४॥
जयति जननतापच्छेदि यस्य क्रमाब्जं
विपुलफलदमारान्नम्रनाकीन्द्रभृङ्गम्।
समुपनतजनानां प्रीणनं कल्पवृक्ष-
स्थितिमतनुमहिम्ना सोऽवतात्तीर्थकृद्वः ॥२४५॥
नृवर भरतराज्योऽप्यूर्जितस्यास्य युष्मद्-
भुजपरिघयुगस्य प्राप्नुयान्नैव कक्षाम्[४]।
भुजबलमिदमास्तां दृष्टिमात्रेऽपि कस्ते
रणनिपकगतस्य स्थातुमीशः क्षितीशः ॥२४६॥
[५]तदलमधिप कालक्षेपयोगेन निद्रां
जहिहि महति कृत्ये [६]जागरूकस्त्वमेधि[७]।
सपदि च जयलक्ष्मीं प्राप्य भूयोऽपि देवं
जिनमवनम[८] भक्त्या शासितारं जयाय ॥२४७॥

हरिणीच्छन्दः

इति समुचितैरुच्चैरुच्चाव[९]चैर्जयमङ्गलैः
सुघटितपदैर्भूयोऽर्मीभिर्जयाय विबोधितः।
शयनममुचन्निद्रापायात् स पार्थिवकुञ्जरः
सुरगज इवोत्सङ्गं गङ्गाप्रतीरभुवः शनैः ॥२४८॥

के लिए समर्थ नही हो सका तथा जिनके सामने, देवोंको जीतनेसे जिसका अहंकार बढ गया है ऐसा कामदेव भी शस्त्र और सामर्थ्यके कुण्ठित हो जानेसे हृदयमें अहकार धारण नही कर सका ऐसे अचिन्त्य प्रभावके धारक वे प्रसिद्ध जिनेन्द्रदेव सदा जयवन्त रहे ॥२४३॥ अशोक वृक्ष, दुन्दुभि, पुष्पवृष्टि, चमर, उत्तम सिंहासन, अनुपम वचन, ऊँचा छत्र और भामण्डल ये आठ प्रातिहार्य जिनके तीनो लोकोको जीतनेके चिह्न हैं वे सबका हित करनेवाले श्री वृषभ-जिनेन्द्र सदा जयवन्त रहे ॥२४४॥ जिनके चरणकमल जन्मरूप सन्तापको नष्ट करनेवाले हैं, स्वर्ग मोक्ष आदि बडे-बड़े फल देनेवाले है, दूरसे नमस्कार करते हुए इन्द्र ही जिनके भ्रमर हैं और जो शरणमे आये हुए लोगोको कल्पवृक्षके समान सन्तुष्ट करनेवाले हैं ऐसे वे तीर्थंकर भगवान् सदा विजयी हो और अपने विशाल माहात्म्यसे तुम सबकी रक्षा करे ॥२४५॥ हे पुरुषोत्तम, महाराज भरत भी आपके दोनो भुजारूपी अर्गलदण्डोकी तुलना नही प्राप्त कर सकते हैं, अथवा भुजाओंका बल तो दूर रहे, जब आप युद्धके निकट जा पहुँचते हैं तब आपके देखने मात्रसे ही ऐसा कौन राजा है जो आपके सामने खड़ा रहनेके लिए समर्थ हो सके ॥२४६॥ इसलिए हे अधीश्वर, समय व्यतीत करना व्यर्थ है, निद्रा छोड़िए, इस महान् कार्यमें सदा जागरूक रहिए और शीघ्र ही विजयलक्ष्मीको पाकर अन्य सब जगह विजय प्राप्त करनेके लिए सबपर शासन करनेवाले देवाधिदेव जिनेन्द्रदेवको भक्तिपूर्वक फिरसे नमस्कार कीजिए ॥२४७॥ इस प्रकार जिनमे अच्छे-अच्छे पदोकी योजना की गयी है ऐसे अनेक प्रकारके

---

१ प्रशस्तम्। २ प्रभामण्डलम्। ३ सर्वहितः। ४ समानताम्। ५ तत् कारणात्। ६ जागरणशील। ७ भव। ८ नमस्कुरु। ९ नानाप्रकारै।

जयकरिघटाबन्धै[1] रुन्धन्[2] दिशो मदविह्वलै-
[3]र्बलपरिवृढैरारूढश्रीरुदूढपराक्रमः ।
[4]नृपकतिपयैरारादेत्य प्रणम्य दिदृक्षितो
भुजबलि युवा भेजे सैन्यैर्भुवं समरोचिताम् ॥२४९॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे कुमारबाहुबलिरणोद्योगवर्णनं नाम पञ्चत्रिंशत्तमं पर्व ॥३५॥

उत्कृष्ट तथा राजाओंके योग्य, विजय करानेवाले मंगल-गीतोंके द्वारा बाहुबली महाराज विजय प्राप्त करनेके लिए जगे और जिस प्रकार ऐरावत हाथी निद्रा छूट जानेसे गगाके किनारेकी भूमिका साथ धीरे-धीरे छोड़ता है उसी प्रकार उन्होने भी निद्रा छूट जानेसे धीरे-धीरे शय्याका साथ छोड़ दिया ॥२४८॥ सेनाके मुख्य-मुख्य लोगोके द्वारा जिसकी शोभा बढ़ रही है, जो स्वयं विशाल पराक्रम धारण किये हुए है और कितने ही राजा लोग दूर-दूरसे आकर प्रणाम करते हुए जिसे देखना चाहते है ऐसा वह तरुण बाहुबली मदोन्मत्त विजयी हाथियोकी घटाओसे दिशाओको रोकता हुआ सेनाके साथ-साथ युद्धके योग्य भूमिमे जा पहुँचा ॥२४९॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत तिरसठशलाकापुरुषोका वर्णन करनेवाले महापुराणसंग्रहमे कुमार बाहुबलीके युद्धका उद्योग वर्णन करनेवाला पैंतीसवाँ पर्व समाप्त हुआ।

---

१ समूहै । २ व्याप्नुवन् । ३ सेनामहत्तरै । ४ कतिपयैर्नृपै. ।

षट्त्रिंशत्तमं पर्व

अथ दूतवचश्चण्डमरुदाघातघूर्णितः । प्रचचाल बलाम्भोधिर्जिष्णोरारुध्य रोदसी[1] ॥१॥
साङ्ग्रामिक्यो[2] महाभेर्यस्तदा धीरं प्रदध्वनुः । [3]यद्ध्वानैः साध्वसं भेजुः [4]खड्गव्यग्रा नभश्चराः ॥२॥
बलानि प्रविभक्तानि[5] निधीशस्य विनिर्ययुः । पुरः पादातमश्वीयमाराद्[6]आराच्च हास्तिकम् ॥३॥
रथकट्यापरिक्षेपो[7] बलस्योभयपक्षयोः[8] । अग्रतः पृष्ठतश्चासीदूर्ध्वं च खचरामरा ॥४॥
षडङ्गबलसामग्र्या सम्पन्नः पार्थिवैः समं[9] । प्रतस्थे भरताधीशो निजानुजजिगीषया ॥५॥
महान् गजघटाबन्धो[10] रेजे सजयकेतनः । गिरीणामिव संघातः संचारी सह शाखिभिः[11] ॥६॥
[12]श्च्योतन्मदजलासारसिक्तभूमिर्मदद्विपैः[13] । प्रतस्थे रुद्धदिक्चक्रैः शैलैरिव सनिर्झरैः ॥७॥
जयस्तम्बेरमा रेजुस्तुङ्गाः शृङ्गारिताङ्गकाः । सान्द्रसंध्यातपक्रान्ताश्चलन्त इव भूधराः ॥८॥
चमूमतङ्गजा रेजुः सज्जाः[14] सजयकेतनाः । कुलशैला इवायाताः प्रभोः स्वबलदर्शने[15] ॥९॥
गजस्कन्धगता[16] रेजुर्धूर्गता विधृताङ्कुशाः । प्रदीप्तोद्भटनेपथ्या[17] दर्पाः संपिण्डिता इव ॥१०॥

अथानन्तर—दूतके वचनरूपी तेज वायुके आघातसे प्रेरित हुआ चक्रवर्तीका सेना रूपी समुद्र आकाश और पृथिवीको रोकता हुआ चलने लगा ॥१॥ उस समय युद्धकी सूचना करनेवाले बडे-बडे नगाड़े गम्भीर शब्दोंसे बज रहे थे और उनके शब्दोसे तलवार उठानेमें व्यग्र हुए विद्याधर भयभीत हो रहे थे ॥२॥ चक्रवर्तीकी सेनाएँ अलग-अलग विभागोंमें विभक्त होकर चल रही थी, सबसे आगे पैदल सैनिकोका समूह था, उससे कुछ दूरपर घोड़ोका समूह था और उससे कुछ दूर हटकर हाथियोंका समूह था ॥३॥ सेनाके दोनो ओर रथोके समूह थे तथा आगे पीछे और ऊपर विद्याधर तथा देव चल रहे थे ॥४॥ इस प्रकार छह प्रकारकी सेना-सामग्रीसे सम्पन्न हुए महाराज भरतेश्वरने अपने छोटे भाईको जीतनेकी इच्छासे अनेक राजाओंके साथ प्रस्थान किया ॥५॥ उस समय विजय-पताकाओसे सहित बडे-बड़े हाथियोंके समूह ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो वृक्षोंके साथ-साथ चलते हुए पर्वतोके समूह ही हों ॥६॥ जिनसे झरते हुए मदजलकी वृष्टिसे समस्त भूमि सींची गयी है और जिन्होंने सब दिशाएँ रोक ली है ऐसे मदोन्मत्त हाथियोके साथ चक्रवर्ती भरत चल रहे थे, उस समय वे हाथी ऐसे मालूम होते थे मानो झरनोसे सहित पर्वत ही हों ॥७॥ जिनके समस्त शरीरपर शृंगार किया गया हो और जो बहुत ऊँचे है ऐसे वे विजयके हाथी ऐसे सुशोभित होते थे मानो सन्ध्याकालकी सघन धूपसे व्याप्त हुए चलते-फिरते पर्वत ही हों ॥८॥ जो सब प्रकारसे सजाये गये है और जिनपर विजय-पताकाएँ फहरा रही है ऐसे वे सेनाके हाथी इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे मानो महाराज भरतको अपना बल दिखानेके लिए कुलाचल ही आये हों ॥९॥ जिन्होंने देदीप्यमान तथा वीररसके योग्य वेष धारण किया है, और जिन्होने अकुश हाथमे ले रखा है ऐसे हाथियोके कन्धोपर बैठे हुए महावत लोग ऐसे जान पड़ते थे मानो एक जगह

---

१ द्यावापृथिव्यौ । २ युद्धहेतव. । ३ सुध्वानैः ल० । ४ आयुधस्वीकारव्याकुलाः । ५ संकरमकृत्वा प्रविभाजितानि । ६ समीपे । ७ रथसमूहपरिवृत्ति । ८ उभयपार्श्वयोरित्यर्थ., मौलवैतनिकयो., मूल कारणं पुरुषं प्राप्ताः । वेतनेन जीवन्तो वैतनिका । ९ सह । १० आसमूह । ११ वृक्षै । १२ स्रवत् । १३ वेगवद्वर्ष । 'धारासंपात आसार.' । १४ सन्नद्धीकृताः । १५ निजबलदर्शने । १६ गजारोहका । १७ वीररसालकारा ।

कौक्षेयकैर्निशाता[1]ग्रधाराग्रैः सादिनो[2] बभुः । मूर्त्तीभूय भुजोपाग्रलग्नैर्वा[3] स्वैः पराक्रमैः ॥११॥
धन्विनः शरनाराच[4]संभृतेपुधयो[5] बभुः । वनक्ष्माजा महाशाखाः कोटरस्थैरिवाहिभिः ॥१२॥
रथिनो रथकक्ष्यासु संभृतोचितहेतयः । सङ्ग्रामवार्धितरणे[6] प्रस्थिता नाविका[7] इव ॥१३॥
भटा हस्त्युरसं[8] भेजुः सशिरस्त्रतनुत्रकाः[9] । समुत्खातनिशातासिपाणयः पादरक्षणे[10] ॥१४॥
पुस्फुरुः[11] स्फुरदस्त्रौघा भटाः संदंशिताः[12] परे । औत्पातिका[13] इवानीलाः सोल्का मेघाः समुत्थिताः॥१५॥
करवालं करालाग्रं करे कृत्वा भटोऽपरः । पश्यन् मुखरसं तस्मिन् [14]स्वशौर्यं परिजज्ञिवान्[15] ॥१६॥
कराग्रविधृतं खड्गं तुलयन् कोऽप्यभाद् भटः । [16]प्रमिमित्सुरिवानेन[17] स्वामिसत्कारगौरवम् ॥१७॥
महामुकुटबद्धानां साधनानि[18] प्रतस्थिरे । पादातहास्तिकाश्वीयरथकक्ष्यापरिच्छदैः[19] ॥१८॥
बभुर्मुकुटबद्धास्ते रत्नांशूदग्रमौलयः । सलीलालोकपालानामंशा[20] भुवमिवागताः ॥१९॥
परिवेष्ट्य निरैयन्त[21] पार्थिवाः पृथिवीश्वरम् । दूरात् स्वबलसामग्रीं दर्शयन्तो यथायथम् ॥२०॥
[22]प्रत्यग्रसमरारम्भसंश्रवोद्भ्रान्तचेतसः । [23]भटीराश्वासयामासुर्भटाः [24]प्रत्याय्य धीरितैः[25] ॥२१॥

इकट्ठा हुआ अभिमान ही हो ॥१०॥ घुडसवार लोग, जिनकी आगेकी धारका अग्रभाग बहुत तेज है ऐसी तलवारोंसे ऐसे जान पडते थे मानो उनके पराक्रम ही मूर्तिमान् होकर उनकी भुजाओके अग्रभाग अर्थात् हाथोंमें आ लगे हों ॥११॥ जिनके तरकस अनेक प्रकारके वाणोंसे भरे हुए है ऐसे धनुर्धारी लोग इस प्रकार जान पड़ते थे मानो बड़ी-बड़ी शाखावाले वनके वृक्ष कोटरोंमें रहनेवाले सर्पोसे ही सुशोभित हो रहे हों ॥१२॥ जिन्होने रथोके समूहमें युद्धके योग्य सब शस्त्र भर लिये है ऐसे रथोंपर बैठनेवाले योद्धा लोग इस प्रकार चल रहे थे मानो युद्धरूपी समुद्रको पार करनेके लिए नाव चलानेवाले खेवटिया ही हों ॥१३॥ जिन्होंने शिरपर टोप और शरीरपर कवच धारण किया है तथा हाथमें पैनी तलवार ऊँची उठा रखी है ऐसे कितने ही योद्धा लोग हाथियोके पैरोकी रक्षा करनेके लिए उनके सामने चल रहे थे ॥१४॥ जिनके हाथोमे शस्त्रोंके समूह चमक रहे है और जो लोहेके कवच पहने हुए है ऐसे कितने ही योद्धा ऐसे देदीप्यमान हो रहे थे मानो किसी उत्पातको सूचित करनेवाले उल्कासहित काले काले मेघ ही उठ रहे हों ॥१५॥ कोई अन्य योद्धा पैनी धारवाली तलवार हाथमे लेकर उसमें अपने मुखका रंग देखता हुआ अपने पराक्रमका परिज्ञान प्राप्त कर रहा था ॥१६॥ कोई अन्य योद्धा हाथके अग्र भागपर रखी हुई तलवारको तोलता हुआ ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो वह उससे अपने स्वामीके आदर-सत्कारका गौरव ही तोलना चाहता हो ॥१७॥ पैदल सेना, हाथियोके समूह, घुड़सवार और रथोके समूह आदि सामग्रीके साथ-साथ महामुकुट-बद्ध राजाओंकी सेनाएँ भी चल रही थीं ॥१८॥ रत्नोंकी किरणोसे जिनके मुकुट ऊँचे उठ रहे है ऐसे वे मुकुटबद्ध राजा इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे मानो लीलासहित लोकपालोंके अंश ही पृथ्वीपर आ गये हो ॥१९॥ अनेक राजा लोग महाराज भरतको घेरकर चल रहे थे और दूरसे ही अपनी सेनाकी सामग्री यथायोग्यरूपसे दिखलाते जाते थे ॥२०॥ नवीन

---

१ निशित । २ अश्वारोहा । 'अश्वारोहास्तु सादिन' इत्यभिधानात् । ३ इव । ४ प्रक्ष्वेडनास्तु नाराचा' । ५ इपुधि तूणीर' । 'तूणोपासङ्गतूणीरनिषङ्गा इपुधिर्द्वयो । तूण्यामित्यभिधानात् । संभृतेपुधय. ल०, द०, अ०, प०, स०, इ० । ६ समरसमुद्रोत्तरणार्थम् । ७ कर्णधारा । 'कर्णधारस्तु नाविकः' इत्यभिधानात् । ८ हस्तिमुख्यम् । ९ कवच । १० पादरक्षार्थम् । ११ स्फुरन्ति स्म । १२ कवचिता । 'संनद्धो वर्मित सज्जो दशितो व्यूढकण्टक'' इत्यभिधानात् । १३ उत्पातहेतव । १४ स्व शौर्यम् ल० । १५ बुबुधे । १६ प्रमातुमिच्छु.। प्रतिमित्सु – द०, ल०, प०, इ०, अ०, स० । १७ खड्गेन सह । १८ बलानि । १९ परिकरै । २० केचिल्लो-कपाला इत्यर्थ । २१ निर्ययु । २२ नूतनरणाम्भसंश्रवणादुद्भ्रान्तचेतो यासा तास्ताः । २३ भटयोषित' । २४ विश्वास्य । २५ धीरवचनै ।

भूरेणवस्तदाश्वीयखुरोद्धृताः खलङ्घिनः[1] । क्षणविघ्नितसंप्रेक्षाः[2] प्रचक्रुरमराङ्गनाः ॥२२॥
[3]रजःसंतमसे रुद्धदिक्चक्रे व्योमलङ्घिनि । चक्रोद्योतो नृणां चक्रे दृशः स्वविषयोन्मुखीः ॥२३॥
समुद्भटरणप्रायैः[4] भटालापैर्महीश्वराः । प्रयाणके धृतिं प्रापुर्जनजल्पैश्च पीदृशैः ॥२४॥
रणभूमिं प्रसाध्यारात्[5] स्थितो बाहुबली नृपः । अयं च नृपशार्दूलः[7] प्रस्थितो निर्नियन्त्रणः ॥२५॥
न विद्मः किंनु खल्वत्र स्यादू भ्रात्रोरनयोरिति । प्रायो न शान्तये युद्धमानयोरनुजीविनाम्[9] ॥२६॥
विरूपकमिदं[10] युद्धमारब्धं भरतेशिना । ऐश्वर्यमदद्दुर्वाराः स्वैरिणः प्रभवोऽथवा[11] ॥२७॥
इमे मकुटबद्धाः किं नैनौ वारयितुं क्षमाः । येऽमी समग्रसामग्र्या[12] सङ्ग्रामयितुमागताः ॥२८॥
अहो महानुभावोऽयं कुमारो भुजविक्रमी । क्रुद्धे चक्रधरेऽप्येवं यो योद्धुं सम्मुखं स्थितः ॥२९॥
[13]अथवा तन्त्रभूयस्त्वं[14] न जयाङ्गं मनस्विनः । ननु सिंहो जयत्येकः संहितानपि[15] दन्तिनः ॥३०॥
अयं च चक्रभृद् देवो नेष्टः सामान्यमानुषः । योऽभिरक्ष्यः सहस्रेण प्रणम्राणां सुधाभुजाम्[16] ॥३१॥
[17]तन्मा भूदनयोर्युद्धं जनसंक्षयकारणम् । कुर्वन्तु देवताः शान्तिं यदि संनिहिता इमाः ॥३२॥
इति माध्यस्थ्यवृत्त्यैके[18] जनाः श्लाघ्यं वचो जगुः । पक्षपातहताः केचित् स्वपक्षोत्कर्षमुज्जगुः ॥३३॥

युद्धका प्रारम्भ सुनकर जिनके चित्त व्याकुल हो रहे हैं ऐसी स्त्रियोंको वीर योद्धा बड़ी धीरताके साथ समझाकर आश्वासन दे रहे थे ॥२१॥ उस समय घोड़ोंके खुरोंसे उठी हुई और आकाशको उल्लंघन करनेवाली पृथिवीकी धूल क्षण-भरके लिए देवांगनाओंके देखनेमें भी बाधा कर रही थी ॥२२॥ समस्त दिशाओंको व्याप्त करनेवाले और आकाशको उल्लंघन करनेवाले उस धूलिसे उत्पन्न हुए अन्धकारमें चक्ररत्नका प्रकाश ही मनुष्योंके नेत्रोंको अपना-अपना विषय ग्रहण करनेके सम्मुख कर रहा था ॥२३॥ राजा लोग रास्तेमें अत्यन्त उत्कट वीररससे भरे हुए योद्धाओंके परस्परके वार्तालापसे तथा इसी प्रकारके अन्य लोगोंकी बात-चीतसे ही उत्साहित हो रहे थे ॥२४॥ उधर राजा बाहुबली रणभूमिको दूरसे ही युद्धके योग्य बनाकर ठहरे हुए हैं और इधर राजाओंमें सिंहके समान तेजस्वी महाराज भरत भी यन्त्रणा-रहित (उच्छृंखल) होकर उनके सम्मुख जा रहे हैं ॥२५॥ नहीं मालूम इस युद्धमें इन दोनों भाइयोंका क्या होगा ? प्रायः कर इनका यह युद्ध सेवकोंकी शान्तिके लिए नहीं है । भावार्थ — इस युद्धमें सेवकोंका कल्याण दिखाई नहीं देता है ॥२६॥ भरतेश्वरने यह युद्ध बहुत ही अयोग्य प्रारम्भ किया है सो ठीक ही है क्योंकि जो ऐश्वर्यके मदसे रोके नहीं जा सकते ऐसे प्रभु लोग स्वेच्छाचारी ही होते हैं ॥२७॥ जो ये मुकुटबद्ध राजा समस्त सामग्रीके साथ युद्ध करनेके लिए आये हुए हैं वे क्या इन दोनोंको नहीं रोक सकते हैं ? ॥२८॥ अहो, भुजाओंका पराक्रम रखनेवाला यह कुमार बाहुबली भी महाप्रतापी है जो कि चक्रवर्तीके कुपित होनेपर भी इस प्रकार युद्धके लिए सम्मुख खड़ा हुआ है ॥२९॥ अथवा शूरवीर लोगोंको सामग्रीकी अधिकता विजयका कारण नहीं है क्योंकि एक ही सिंह झुण्डके झुण्ड हाथियोंको जीत लेता है ॥३०॥ नमस्कार करते हुए हजारों देव जिसकी रक्षा करते हैं ऐसा यह चक्रको धारण करनेवाला भरत भी साधारण पुरुष नहीं है ॥३१॥ इसलिए जो अनेक लोगोंके विनाशका कारण है ऐसा इन दोनोंका युद्ध नहीं हो तो अच्छा है, यदि देव लोग यहाँ समीपमें हों तो वे इस युद्धकी शान्ति करें ॥३२॥ इस प्रकार कितने ही लोग मध्यस्थ भावसे प्रशंसनीय वचन कह रहे थे

---

१ आकाशलङ्घिन । २ आलोकना । ३ रजोऽन्धकारे । ४ वीररसबहुलैः । ५ अलङ्कृत्वा । ६ समीपे । ७ नृपश्रेष्ठ भरत इत्यर्थः । ८ निरङ्कुशः । ९ भटानाम् । १० कष्टम् । ११ —बो यत ल० । १२ युद्धं कारयितुम् । १३ तथाहि । १४ सेनाबाहुल्यम् । १५ संयुक्तान् । १६ देवानाम् । १७ तत् कारणात् । १८ अन्ये ।

एवं[1] प्रायैर्जनालापैर्महीनाथा विनोदिताः । द्रुतं[2] प्रापुस्तमुद्देशं यत्र वीराग्रणीरसौ[3] ॥३४॥
दोर्दर्पं[4] विगणय्यास्य दुर्विलङ्घ्यमरातिभिः । त्रेसुः प्रतिभटाः प्रायस्त[5]स्मिन्नासन्नसंनिधौ[6] ॥३५॥
इत्यभ्यर्णे बले जिष्णो[7]र्बलं भुजबलीशिनः । जलमब्धेरिवाक्षुभ्यद् वीरध्वाननिरुद्धदिक् ॥३६॥
अथोभयबले धीराः[8] संनद्धगजवाजयः[9] । बलान्यारचयामासुरन्योऽन्यं प्रयुयुत्सया[10] ॥३७॥
तावच्च मन्त्रिणो मुख्याः संप्रधार्याबदन्निति । शान्तये नैनयोर्युद्धं[11] ग्रहयोः क्रूरयोरिव ॥३८॥
चरमाङ्गधरावेतौ नानयोः काचन क्षतिः । क्षयो जनस्य पक्षस्य[12] व्याजेनानेन[13] जृम्भितः ॥३९॥
इति निश्चित्य मन्त्रज्ञा भीत्वा भूयो जनक्षयात् । तयोरनुमतिं लब्ध्वा धर्म्यं रणमघोषयन् ॥४०॥
अकारणरणेनालं जनसंहारकारिणा । महानेव[14] मधर्मश्च गरीयांश्च यशोवधः[15] ॥४१॥
बलोत्कर्षपरीक्षेयमन्यथाऽप्युपपद्यते[16] । [17]तदस्तु युवयोरेव मिथो युद्धं त्रिधात्मकम् ॥४२॥
भ्रूभङ्गेन[18] विना भङ्गः सोढव्यो युवयोरिह । विजयश्च विनोत्सेकात्[19] धर्मो ह्येष सनाभिषु ॥४३॥
इत्युक्तौ पार्थिवैः सर्वैः सोपरोधैश्च मन्त्रिभिः । तौ कृच्छ्रात् प्रत्यपत्सातां[20] तादृशं युद्धमुद्धतौ ॥४४॥

और कितने ही पक्षपातसे प्रेरित होकर अपने ही पक्षकी प्रशसा कर रहे थे ॥३३॥ प्राय लोगोके इसी प्रकारके वचनोसे मन वहलाते हुए राजा लोग शीघ्र ही उस स्थानपर जा पहुँचे जहाँ वीरशिरोमणि कुमार वाहुवली पहलेसे विराजमान था ॥३४॥ वाहुवलीके समीप पहुँचते ही भरतके योद्धा, जिसका शत्रु कभी उल्लंघन नही कर सकते ऐसा वाहुवलीकी भुजाओका दर्प देखकर प्राय कुछ डर गये ॥३५॥ इस प्रकार चक्रवर्ती भरतकी सेनाके समीप पहुँचनेपर वीरोके शब्दोसे दिशाओको भरनेवाली वाहुवलीकी सेना समुद्रके जलके समान क्षोभको प्राप्त हुई ॥३६॥

अथानन्तर – दोनो ही सेनाओंमें जो शूरवीर लोग थे वे परस्पर युद्ध करनेकी इच्छासे अपने हाथी घोडे आदि सजाकर सेनाकी रचना करने लगे – अनेक प्रकारके व्यूह आदि वनाने लगे ॥३७॥ इतनेमें ही दोनो ओरके मुख्य-मुख्य मन्त्री विचारकर इस प्रकार कहने लगे कि क्रूरग्रहोके समान इन दोनोका युद्ध शान्तिके लिए नही है ॥३८॥ क्योकि ये दोनो ही चरम शरीरी है, इनकी कुछ भी क्षति नही होगी, केवल इनके युद्धके वहानेसे दोनो ही पक्षके लोगोका क्षय होगा ॥३९॥ इस प्रकार निश्चय कर तथा भारी मनुष्योके सहारसे डरकर मन्त्रियोने दोनोकी आज्ञा लेकर धर्मयुद्ध करनेकी घोषणा कर दी ॥४०॥ उन्होने कहा कि मनुष्योंका संहार करनेवाले इस कारणहीन युद्धसे कोई लाभ नही है क्योकि इसके करनेसे वड़ा भारी अधर्म होगा और यशका भी वहुत विघात होगा ॥४१॥ यह वलके उत्कर्पकी परीक्षा अन्य प्रकारसे भी हो सकती है इसलिए तुम दोनोका ही परस्पर तीन प्रकारका युद्ध हो ॥४२॥ इस युद्धमें जो पराजय हो वह तुम दोनोको भौहके चढ़ाये विना ही – सरलतासे सहन कर लेना चाहिए तथा जो विजय हो वह भी अहकारके विना तुम दोनोको सहन करना चाहिए क्योंकि भाई भाइयोका यही धर्म है ॥४३॥ इस प्रकार जव समस्त राजाओ और मन्त्रियोने वड़े आग्रह-के साथ कहा तव कही बड़ी कठिनतासे उद्धत हुए उन दोनों भाइयोने वैसा युद्ध करना स्वीकार

---

१ एवमाद्यै । २ प्राप्ता ल०, प०, द० । ३ भुजवली स्थित । ४ विचार्य । ५ वाहुवलिनि । ६ अत्यासन्ने सति । ७ भरतस्य । ८ वीरा ल०, द०, अ०, प०, स०, इ० । ९ वाजिन अ०, स०, द० । १० प्रकर्षेण योद्धुमिच्छया । ११ नानयो – ल० । १२ सहायस्य । १३ युद्धच्छलेन । १४ एवं सति । युद्धे सतीत्यर्थ । १५ कीर्तिनाश । १६ घटते इत्यर्थ । १७ तत् कारणात् । १८ क्रोधाभावेनेत्यर्थ । १९ गर्वाभावादित्यर्थ । २० अनुमेनाते।

जलदृष्टिनियुद्धेषु[1] योऽनयोर्जयमाप्स्यति । स जयश्रीविलासिन्याः पतिरस्तु स्वयंवृतः ॥४५॥
इत्युद्घोष्य कृतानन्दमानन्दिन्या गभीरया । भेर्या चमूप्रधानानां[2] न्यधुरेकत्र संनिधिम् ॥४६॥
नृपा भरतगृह्या ये तानेकत्र न्यवेशयन् । ये बाहुबलिगृह्याश्च पार्थिवांस्तानतोऽन्यतः ॥४७॥
मध्ये महीभृतां तेषां रेजतुस्तौ नृपौ स्थितौ । गतौ निषधनीलाद्री कुतश्चिदिव[3] संनिधिम्[4] ॥४८॥
[5]तयोर्भुजबली रेजे महाग्रावसच्छविः । जम्बूद्रुम इवोत्तुङ्गः सभृङ्गोऽसित[6]मूर्द्धजः ॥४९॥
रराज राजराजोऽपि तिरीटोदग्रविग्रहः । सचूलिक इवाद्रीन्द्रः तप्तचामीकरच्छविः ॥५०॥
दधद्धीरतरां दृष्टिं निर्निमेषामनुद्धताम्[7] । दृष्टियुद्धे जयं प्राप प्रसभं[8] भुजविक्रमी ॥५१॥
विनिवार्य कृतक्षोभमनिवार्यं बलार्णवम् । मर्यादया यवीयांसं[9] जयेनायोजयन्नृपाः ॥५२॥
सरसीजलमागाढौ[10] जलयुद्धे मदोद्धतौ । दिग्गजाविव तौ दीर्घैर्व्यात्युक्षीमासतुर्भुजैः[11] ॥५३॥
अधिवक्षस्तरं जिष्णो रेजुरच्छा जलच्छटाः । शैलभर्तुरिवोत्सङ्गसङ्गिन्यः[12] सुतयोऽम्भसाम् ॥५४॥
जलौघो भरतेशेन मुक्तो दोर्बलशालिनः । [13]प्रांशोरप्राप्य दूरेण मुखमारात् समापतत् ॥५५॥

किया ॥४४॥ 'इन दोनोके बीच जलयुद्ध, दृष्टियुद्ध और बाहुमे जो विजय प्राप्त करेगा वही विजय-लक्ष्मीका स्वयं स्वीकार किया हुआ पति हो, इस प्रकार सबको आनन्द देनेवाली गम्भीर भेरियोके द्वारा जिसमे सबको हर्ष हो इस रीतिसे घोषणा कर मन्त्री लोगोने सेनाके मुख्य-मुख्य पुरुषोंको एक जगह इकट्ठा किया ॥४५-४६॥ जो भरतके पक्षवाले राजा थे उन्हे एक ओर बैठाया और जो बाहुबलीके पक्षके थे उन्हे दूसरी ओर बैठाया ॥४७॥ उन सब राजाओं-के बीचमें बैठे हुए भरत और बाहुबली ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो किसी कारणसे निषध और नीलपर्वत ही पास-पास आ गये हो ॥४८॥ उन दोनोमे नीलमणिके समान सुन्दर छविको धारण करता हुआ और काले-काले केशोसे सुशोभित कुमार बाहुबली ऐसा जान पड़ता था मानो भ्रमरोसे सहित ऊँचा जम्बूवृक्ष ही हो ॥४९॥ इसी प्रकार मुकुटसे जिसका शरीर ऊँचा हो रहा है और जो तपाये हुए सुवर्णके समान कान्तिको धारण करनेवाला है ऐसा राज-राजेश्वर भरत भी इस प्रकार सुशोभित हो रहा था मानो चूलिकासहित गिरिराज—सुमेरु ही हो ॥५०॥ अत्यन्त धीर तथा पलकोंके संचारसे रहित शान्त दृष्टिको धारण करते हुए कुमार बाहुबलीने दृष्टियुद्धमे बहुत शीघ्र विजय प्राप्त कर ली ॥५१॥ हर्षसे क्षोभ मचाते हुए बाहुबलीके दुर्निवार सेनारूपी समुद्रको रोककर राजाओने बड़ी मर्यादाके साथ कुमार बाहुबलीको विजयसे युक्त किया अर्थात् दृष्टियुद्धमें उनकी विजय स्वीकार की ॥५२॥ तदनन्तर मदोन्मत्त दिग्गजोके समान अभिमानसे उद्धत हुए वे दोनो भाई जलयुद्ध करनेके लिए सरोवरके जलमे प्रविष्ट हुए और अपनी लम्बी-लम्बी भुजाओंसे एक दूसरेपर पानी उछालने लगे ॥ ५३ ॥ चक्रवर्ती भरतके वक्ष:स्थलपर बाहुबलीके द्वारा छोडी हुई जलकी उज्ज्वल छटाएँ ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो सुमेरुपर्वतके मध्यभागमें जलका प्रवाह ही पड़ रहा हो। ॥५४॥ भरतेश्वरके द्वारा छोडा हुआ जलका प्रवाह अत्यन्त ऊँचे बाहुबलीके मुखको दूर छोड़कर दूरसे ही नीचे जा पड़ा ॥ भवार्थ — भरतेश्वरने भी बाहुबलीके ऊपर पानी फेका था परन्तु बाहुबलीके ऊँचे होनेके कारण वह पानी उनके मुख तक नही पहुँच सका, दूरसे ही नीचे जा पड़ा। भरतका शरीर पाँच-सौ धनुष ऊँचा था और बाहुबलीका पाँच-सौ पच्चीस

१ जलयुद्धदृष्टियुद्धबाहुयुद्धेषु । 'नियुद्धं बाहुयुद्धे' इत्यभिधानात् । २ चक्रुः । ३ कारणात् । ४ सम्मेलनमित्यर्थः । ५ तयोर्मध्ये । ६ नीलकेश । ७ शान्ताम् । ८ शीघ्रम् । ९ अनुजम् । 'जघन्यजे स्युः कनिष्ठयवीयोऽवरजानुजाः' इत्यभिधानात् । १० प्रविष्टौ । ११ परस्परं जलसेचनं चक्रतुः । १२ प्रवाहाः । १३ उन्नतस्य ।

भरतेशः किलात्रापि न यदाप जयं तदा । बलैर्भुजबलीशस्य भूयोऽप्युद्घोषितो जयः ॥५६॥
नियुद्धमथ[1] संगीर्य[2] नृसिंहौ सिंहविक्रमौ । धीरावाविष्कृतस्पर्द्धौ तौ रङ्गमवतेरतुः[3] ॥५७॥
[4]वल्गितास्फोटितैश्चित्रैः[5]धरणैर्बन्ध[6]पीलितैः । दोर्दर्पशालिनोरासीद् बाहुयुद्धं तयोर्महत् ॥५८॥
ज्वलन्मुकुटमाचक्रो हेलयोद्भ्रमितोऽमुना । लीलामलातचक्रस्य[7] चक्री भेजे क्षणं भ्रमन् ॥५९॥
यवीयान्[8] नृपशार्दूलं ज्यायांसं[9] जितभारतम् । जित्वाऽपि नानयद् भूमिं प्रभुरित्येव गौरवात् ॥६०॥
[10]भुजोपरोधमुद्धृत्य स तं धत्ते स्म दोर्बली । हिमाद्रिमिव नीलाद्रिर्महाकटकभास्वरम् ॥६१॥
तदा कलकलश्चक्रे पक्ष्यैर्भुजबली शिवः । नृपैर्भरतगृह्यैस्तु लज्जया नमितं शिरः ॥६२॥
समक्षमीक्षमाणेषु पार्थिवेषूभयेष्वपि । परां विमानतां[11] प्राप्य ययौ चक्री विलक्षताम्[12] ॥६३॥
बद्धभ्रुकुटिरुद्भ्रान्तरुधिरारुणलोचनः । क्षणं दुरीक्षतां भेजे चक्री प्रज्वलितः क्रुधा ॥६४॥
क्रोधान्धेन तदा दध्ये कर्तुमस्य पराजयम् । चक्रमुत्कृत्तनिः[13]शेषद्विषचक्रं निधीशिना ॥६५॥
[14]आध्यानमात्रमेत्यारादद[15]ः कृत्वा प्रदक्षिणाम् । अवध्यस्यास्य[16] पर्यन्ते[17] तस्थौ मन्दीकृतातपम् ।६६।

धनुष । इसलिए बाहुबलीके द्वारा छोड़ा हुआ पानी भरतके मुख तथा वक्षःस्थलपर पड़ता था परन्तु भरतके द्वारा छोड़ा हुआ पानी बीचमें ही रह जाता था – बाहुबलीके मुख तक नही पहुँच पाता था ।।५५।। इस प्रकार जब भरतेश्वरने इस जलयुद्धमे भी विजय प्राप्त नही की तब बाहुबलीकी सेनाओंने फिरसे अपनी विजयकी घोषणा कर दी ।।५६।। अथानन्तर सिंहके समान पराक्रमको धारण करनेवाले धीरवीर तथा परस्पर स्पर्धा करनेवाले वे दोनों नर-शार्दूल – श्रेष्ठ पुरुष बाहुयुद्धकी प्रतिज्ञा कर रंगभूमिमें आ उतरे ।।५७।। अपनी-अपनी भुजाओंके अहंकारसे सुशोभित उन दोनों भाइयोंका, अनेक प्रकारसे हाथ हिलाने, ताल ठोकने, पैंतरा बदलने और भुजाओके व्यायाम आदिसे बड़ा भारी बाहु युद्ध (मल्ल युद्ध) हुआ ।।५८।। जिसके मुकुटकी दीप्तिका समूह अतिशय देदीप्यमान हो रहा है ऐसे भरतको बाहुबलीने लीला मात्रमें ही घुमा दिया और उस समय घूमते हुए चक्रवर्तीने क्षण-भरके लिए अलातचक्रकी लीला धारण की थी ।।५९।। बाहुबलीने राजाओमें श्रेष्ठ, बड़े तथा भरत क्षेत्रको जीतनेवाले भरत-को जीतकर भी 'ये बडे है' इसी गौरवसे उन्हे पृथिवीपर नही पटका ।।६०।। किन्तु भुजाओंसे पकडकर ऊँचा उठाकर कन्धेपर धारण कर लिया । उस समय भरतेश्वरको कन्धेपर धारण करते हुए बाहुबली ऐसे जान पड़ते थे मानो नीलगिरिने बड़े-बड़े शिखरोसे देदीप्यमान हिमवान् पर्वतको ही धारण कर रखा हो ।।६१।। उस समय बाहुबलीके पक्षवाले राजाओने बड़ा कोला-हल मचाया और भरतके पक्षके लोगोने लज्जासे अपना शिर झुका लिया ।।६२।। दोनों पक्षके राजाओके साक्षात् देखते हुए चक्रवर्ती भरतका अत्यन्त अपमान हुआ था इसलिए वे भारी लज्जा और आश्चर्यको प्राप्त हुए ।।६३।। जिसने भौहे चढ़ा ली है, जिसकी रक्तके समान लाल-लाल ऑखे इधर-उधर फिर रही हैं और जो क्रोधसे जल रहा है ऐसा वह चक्रवर्ती क्षण-भरके लिए भी दुर्निरीक्ष्य हो गया अर्थात् वह क्रोधसे ऐसा जलने लगा कि उसे कोई क्षण-भर नही देख सकता था ।।६४।। उस समय क्रोधसे अन्धे हुए निधियोके स्वामी भरतने बाहुबलीकी पराजय करनेके लिए समस्त शत्रुओके समूहको उखाड़कर फेकनेवाले चक्ररत्नका स्मरण किया ।।६५।। स्मरण करते ही वह चक्ररत्न भरतके समीप आया, भरतने बाहुबलीपर चलाया

१ बाहुयुद्धम् । २ प्रतिज्ञा कृत्वा । ३ प्रविष्टावित्यर्थः । ४ वलगनभुजास्फालनैः । वलिता – प०, इ० । ५ पदाचारिभि । ६ बाहुबन्ध । ७ काष्ठाग्निभ्रमणस्य । ८ अनुजः । ९ ज्येष्ठम् । १० बाहुपीडन यथा भवति तथा । ११ परिभवम् । १२ विस्मयान्वितम । १३ उच्छिन्न । – मुक्षिप्त – ल०, द० । १४ स्मृत । १५ एतच्चक्रम् । १६ भुजबलिन । १७ समीपे ।

कृतं[1] कृतं वतानेन साहसेनेति धिक्कृतः । तदा महत्तमैश्चक्री जगामानुशयं[2] परम् ॥६७॥
[3]कृतापदान इत्युच्चैः करेण तुलयन्नृपम् । सोऽवतीर्यांसतो[4] धीरोऽनिकृष्टां[5] भूमिमापिपत्[6] ॥६८॥
सत्कृतः स जयाशंसमभ्येत्य नृपसत्तमैः । मेने सोत्कर्षमात्मानं तदा भुजबली प्रभुः ॥६९॥
अचिन्तयच्च किन्नाम कृते[7] राज्यस्य भङ्गिनः[8] । लज्जाकरो विधिर्भ्रात्रा ज्येष्ठेनायमनुष्ठितः[9] ॥७०॥
[10]विपाककटु साम्राज्यं क्षणध्वंसि धिगस्त्विदम् । दुस्त्यजं त्यजदप्येतदङ्गिभिर्दुष्कलत्रवत् ॥७१॥
अहो विषयसौख्यानां वैरूप्यम्[11] अपकारिता । [12]भङ्गुरत्वमरुच्यत्वं [13]सक्तैर्नान्विष्यते[14] जनैः ॥७२॥
को नाम मतिमानीप्सेद् विषयान् विषदारुणान् । येषां वशगतो जन्तुर्यात्यनर्थपरम्पराम् ॥७३॥
वरं विषं यदेकस्मिन् भवे हन्ति न हन्ति वा । विषयास्तु पुनर्घ्नन्ति हन्त जन्तूननन्तशः ॥७४॥
आपातमात्र[15]रम्याणां विपाककटुकात्मनाम् । विषयाणां कृते[16] नाज्ञो[17] यात्यनर्थानपार्थकम् ॥७५॥

परन्तु उनके अवध्य होनेसे वह उनकी प्रदक्षिणा देकर तेजरहित हो उन्हींके पास जा ठहरा। भावार्थ – देवोपनीत शस्त्र कुटुम्बके लोगोंपर सफल नहीं होते, बाहुबली भरतेश्वरके एकपितृक भाई थे इसलिए भरतका चक्र बाहुबलीपर सफल नहीं हो सका, उसका तेज फीका पड़ गया और वह प्रदक्षिणा देकर बाहुबलीके समीप ही ठहर गया ॥६६॥ उस समय बड़े-बड़े राजाओंने चक्रवर्तीको धिक्कार दिया और दुःखके साथ कहा कि 'बस-बस' 'यह साहस रहने दो' – बन्द करो, यह सुनकर चक्रवर्ती और भी अधिक सन्तापको प्राप्त हुए ॥६७॥ आपने खूब पराक्रम दिखाया, इस प्रकार उच्च स्वरसे कहकर धीर-वीर बाहुबलीने पहले तो भरतराजको हाथोंसे तोला और फिर कन्धेसे उतारकर नीचे जमीनपर रख दिया अथवा (धीरो अनिकृष्टा ऐसा पदच्छेद करनेपर) उच्च स्थानपर विराजमान किया ॥६८॥ अनेक अच्छे-अच्छे राजाओंने समीप आकर महाराज बाहुबलीके विजयकी प्रशंसा करते हुए उनका सत्कार किया और बाहुबलीने भी उस समय अपने आपको उत्कृष्ट अनुभव किया ॥६९॥ साथ ही साथ वे यह भी चिन्तवन करने लगे कि देखो, हमारे बड़े भाईने इस नश्वर राज्यके लिए यह कैसा लज्जाजनक कार्य किया है ॥७०॥ यह साम्राज्य फलकालमें बहुत दुःख देनेवाला है, और क्षणभंगुर है इसलिए इसे धिक्कार हो, यह व्यभिचारिणी स्त्रीके समान है क्योंकि जिस प्रकार व्यभिचारिणी स्त्री एक पतिको छोड़कर अन्य पतिके पास चली जाती है उसी प्रकार यह साम्राज्य भी एक पतिको छोड़कर अन्य पतिके पास चला जाता है। यह राज्य प्राणियोंको छोड देता है परन्तु अविवेकी प्राणी इसे नहीं छोड़ते यह दुःखकी बात है ॥७१॥ अहा, विषयोंमें आसक्त हुए पुरुष, इन विषयजनित सुखोंका निन्द्यपना, अपकार, क्षणभंगुरता और नीरसपनेको कभी नहीं सोचते हैं ॥७२॥ जिनके वशमें पडे हुए प्राणी अनेक दुःखोंकी परम्पराको प्राप्त होते हैं ऐसे विषके समान भयंकर विषयोंको कौन बुद्धिमान् पुरुष प्राप्त करना चाहेगा? ॥७३॥ विष खा लेना कहीं अच्छा है क्योंकि वह एक ही भवमें प्राणीको मारता है अथवा नहीं भी मारता है परन्तु विषय सेवन करना अच्छा नहीं है क्योंकि ये विषय प्राणियोंको अनन्त बार फिर-फिरसे मारते हैं ॥७४॥ जो प्रारम्भ कालमें तो मनोहर मालूम होते हैं परन्तु फलकाल-

---

१ अलमलम्। २ पश्चात्तापम्। ३ कृतपराक्रमस्त्वमिति। कृतोपादान – अ०, ल०। ४ भुजशिखरात्। 'स्कन्धो भुजशिरोऽंसोऽस्त्री' इत्यभिधानात्। ५ अवस्थाम्। ६ – मापपत् प०, ल०। ७ निमित्तम्। ८ विनश्वरस्य। ९ – मधिष्ठितः प०, ल०। १० परिणमन। ११ कुत्सितत्वम्। १२ विनश्वरत्वम्। १३ आसक्तैः। १४ न मृग्यते। न विचार्यत इत्यर्थ। १५ अनुभवनकाल। १६ निमित्तम्। १७ पुमान्।

अत्यन्तरसिकानादौ पर्यन्ते प्राणहारिण. । [1]किंपाकपाकविषमान् विषयान् कः कृती भजेत ॥७६॥
शस्त्रप्रहारदीप्ताग्निवज्राशनि[2] महोरगाः । न तथोद्वेजकाः[3] पुंसां यथाऽमी विषयद्विषः ॥७७॥
महाब्धिरौद्रसंग्रामभीमारण्यसरिद्गिरीन् । भोगार्थिनो भजन्त्यज्ञा धनलाभ[4]धनायया ॥७८॥
दीर्घदोर्घातनिर्घात[5] निर्घोषविषमीकृते । यादसां यादसां[6] पत्यौ चरन्ति विषयार्थिनः ॥७९॥
समापतच्छरव्रातनिरुद्धगगनाङ्गणम् । रणाङ्गणं विशन्त्यस्तभियो भोगैर्विलोभिताः ॥८०॥
चरन्ति वनमानुष्या[7] यत्र सत्रासलोचनाः[8] । ताः पर्यटन्त्यरण्यानीर्भोगाशोपहता जडाः ॥८१॥
सरितो विषमावर्तभीषणा ग्राहसंकुलाः । [9]तितीर्षन्ति बताविष्टा[10] विषमैर्विषयग्रहैः ॥८२॥
आरोहन्ति दुरारोहान् गिरीनप्यभियोऽङ्गिनः[11] । रसायनरसज्ञान[12] बलवाद्विमोहिताः ॥८३॥
अनिष्टवनितेवेयमालिङ्गति बलाज्जरा । कुर्वती पलितव्याजाद् रभसेन कचग्रहम् ॥८४॥
[13]भोगेष्वत्युत्सुकः प्रायो न च वेद[14] हिताहितम् । भुक्तस्य जरसा जन्तोर्मृतस्य च किमन्तरम्[15] ॥८५॥
[16]प्रसह्य पातयन् भूमौ गात्रेषु कृतवेपथुः[17] । जरापातो[18] नृणां कष्टो ज्वरः शीत इवोद्भवन् ॥८६॥

में कड़वे (दु:ख देनेवाले) जान पड़ते है.ऐसे विषयोके लिए यह अज्ञ प्राणी क्या व्यर्थ ही अनेक दु:खोंको प्राप्त नही होता है ? ॥७५॥ जो प्रारम्भ कालमे तो अत्यन्त आनन्द देनेवाले है और अन्तमे प्राणोका अपहरण करते है ऐसे किंपाक फल (विषफल) के समान विषम इन विषयों-को कौन वुद्धिमान् पुरुष सेवन करेगा ? ॥७६॥ ये विषयरूपी शत्रु प्राणियोको जैसा उद्वेग करते है वैसा उद्वेग शस्त्रोंका प्रहार, प्रज्वलित अग्नि, वज्र, विजली और वडे-वड़े सर्प भी नहीं कर सकते है ॥७७॥ भोगोकी इच्छा करनेवाले मूर्ख पुरुष धन पानेकी इच्छासे वडे-वडे समुद्र, प्रचण्ड युद्ध, भयंकर वन, नदी और पर्वतोमें प्रवेश करते है ॥७८॥ विषयोंकी चाह रखनेवाले पुरुष जलचर जीवोकी लम्बी-लम्बी भुजाओंके आघातसे उत्पन्न हुए वज्रपात-जैसे कठोर शब्दोसे क्षुब्ध हुए समुद्रमें भी जाकर सचार करते है ॥७९॥ भोगोसे लुभाये हुए पुरुष, चारो ओरसे पड़ते हुए वाणोके समूहसे जहाँ आकाशरूपी आँगन भर गया है ऐसे युद्धके मैदानमे भी निर्भय होकर प्रवेश कर जाते है ॥८०॥ जिनमे वनचर लोग भी भयसहित नेत्रोसे संचार करते है ऐसे भयकर वडे-वड़े वनोमे भी भोगोकी आशासे पीडित हुए मूर्ख मनुष्य घूमा करते है ॥८१॥ कितने दु.खकी बात है कि विषयरूपी विषम ग्रहोंसे जकड़े हुए कितने ही लोग, ऊँची-नीची भँवरोसे भयंकर और मगरमच्छोसे भरी हुई नदियोको भी पार करना चाहते है ॥८२॥ रसायन तथा रस आदिके ज्ञानका उपदेश देनेवाले धूर्तोके द्वारा मोहित होकर उद्योग करनेवाले कितने ही पुरुष कठिनाईसे चढने योग्य पर्वतोंपर भी चढ़ जाते है ॥८३॥ यह जरा सफेद-वालोके वहानेसे वेगपूर्वक केशोंको पकडती हुई अनिष्ट स्त्रीके समान जवरदस्ती आलिगन करती है ॥८४॥ जो प्राणी भोगोमें अत्यन्त उत्कण्ठित हो रहा है वह हित और अहितको नही जानता तथा जिसे वृद्धावस्थाने घेर लिया है उसमे और मरे हुएमे क्या अन्तर है ? अर्थात् वेकार होनेसे वृद्ध मनुष्य भी मरे हुएके समान है ॥८५॥ यह वुढापा मनुष्यको शीतज्वरके समान अनेक कष्ट देनेवाला है क्योकि जिस प्रकार शीतज्वर उत्पन्न होते ही जवरदस्ती जमीनपर

---

१ अम्वीरपक्वफल । २ वज्ररूपाशनि । ३ भयंकरा । ४ धनलाभवाञ्छया । ५-अशनि । ६-जलजन्तूनाम् । 'यादांसि जलजन्तव' इत्यभिधानात् । यादसा पत्यौ समुद्रे । 'रत्नाकरो जलनिधिर्यादःपतिरपां पति' इत्यभिधानात् । ७ वनेचराः । ८ भयसहिता । ९ तरीतुमिच्छन्ति । १० ग्रस्ता इत्यर्थ । ११-प्यभियोगिनः ल०, प०, अ०, इ० । १२ पलितस्तम्भौषधसिद्धरसज्ञानाज्जातवलेवादान्मोहिता । १३ भोक्तु योग्यवस्तुषु । १४ न जानाति । १५ भेद । १६ वलात्कारेण । १७ कम्पः । १८ प्राप्ति. ।

अङ्गसादं[1] मतिभ्रंशं[2] वाचामस्फुटतामपि । जरा सुरा च निर्विष्टा[3] घटयत्याशु देहिनाम् ॥८७॥
कालव्यालगजेनेदमायुरालानकं बलात् । चाल्यते यद्बलाधानं जीविताल्म्बनं नृणाम् ॥८८॥
शरीरबलमेतच्च गजकर्णवदस्थिरम् । रोगा[4]खूपहतं चेदं[5] जरद्देहकुटीरकम् ॥८९॥
इत्यशाश्वतमप्येतद् राज्यादि भरतेश्वरः । शाश्वतं मन्यते कष्टं मोहोपहतचेतनः ॥९०॥
चिरमाकलयन्नेवमग्रजस्यानुदात्तताम्[6] । व्याजहारैनमुद्दिश्य गिरः प्रपरुषाक्षराः ॥९१॥
शृणु भो नृपशार्दूल क्षणं[7] वैलक्ष्यमुत्सृज । मुह्यतेदं[8] त्वयाऽलम्बि दुरीहमतिसाहसम् ॥९२॥
अभेद्ये मम देहाद्रौ त्वया चक्रं नियोजितम् । विद्ध्यकिंचित्करं[9] वात्रं शैले वज्रमिवापतत् ॥९३॥
अन्यत्र भ्रातृभाण्डानि भङ्क्त्वा राज्यं यदीप्सितम् । त्वया धर्मो यशश्चैव[10] तेन[11] पेशलमर्जितम् ॥९४॥
चक्रभृद्भरतः स्रष्टुः सूनुराद्यस्य योऽग्रणीः । कुलस्योद्धारकः सोऽभूदिति[12] डाऽस्थायि च त्वया ॥९५॥
जितां च मन्यसैवाद्य[13] यत्पापोपहतामिमाम् । मन्यसेऽनन्यभोगीनां[14] नृपश्रियमनश्वरीम् ॥९६॥
प्रेयसीयं तवैवास्तु राज्यश्रीर्या त्वयाऽदृता । नोचितैषा ममायुष्मन् बन्धो[15] न हि सतां मुदे ॥९७॥

पटक देता है उसी प्रकार बुढापा भी जबरदस्ती जमीनपर पटक देता है और जिस प्रकार शीतज्वर शरीरमें कम्पन पैदा कर देता है उसी प्रकार बुढापा भी शरीरमे कम्पन पैदा कर देता है ॥८६॥ शरीरमें प्रविष्ट हुई तथा उपभोगमें आयी हुई जरा और मदिरा दोनों ही लोगोंके शरीरको शिथिल कर देती हैं, उनकी बुद्धि भ्रष्ट कर देती हैं और वचनोंमें अस्पष्टता ला देती हैं ॥८७॥ जिसके बलका सहारा मनुष्योके जीवनका आलम्बन है ऐसा यह आयुरूपी खम्भा कालरूपी दुष्ट हाथीके द्वारा जबरदस्ती उखाड़ दिया जाता है ॥८८॥ यह शरीरका बल हाथीके कानके समान चंचल है और यह जीर्ण-शीर्ण शरीररूपी झोंपड़ा रोगरूपी चूहोंके द्वारा नष्ट किया हुआ है ॥८९॥ इस प्रकार यह राज्यादि सब विनश्वर हैं फिर भी मोहके उदयसे जिसकी चेतना नष्ट हो गयी है ऐसा भरत इन्हे नित्य मानता है यह कितने दु.खकी बात है ? ॥९०॥ इस प्रकार बड़े भाईकी नीचताका चिरकाल तक विचार करते हुए बाहुबलीने भरतको उद्देश्य कर नीचे लिखे अनुसार कठोर अक्षरोंवाली वाणी कही ॥९१॥ हे राजाओंमें श्रेष्ठ, क्षण-भरके लिए अपनी लज्जा या झेप छोड़, मैं कहता हूँ सो सुन । तूने मोहित होकर ही इस न करने योग्य बड़े भारी साहसका सहारा लिया है ॥९२॥ जो कभी भिद नही सकता । ऐसे मेरे शरीररूपी पर्वतपर तूने चक्र चलाया है सो तेरा यह चक्र वज्रके बने हुए पर्वतपर पड़ते हुए वज्रके समान व्यर्थ है ऐसा निश्चयसे समझ ॥९३॥ दूसरी बात यह है कि जो तूने भाईरूप बरतनोंको तोड़कर राज्य प्राप्त करना चाहा है सो उससे तूने बहुत ही अच्छा धर्म और यशका उपार्जन किया है ॥९४॥ तूने अपनी यह स्तुति भी स्थापित कर दी कि चक्रवर्ती भरत आदिब्रह्मा भगवान् वृषभदेवका ज्येष्ठ पुत्र था तथा वह अपने कुलका उद्धारक हुआ था ॥९५॥ हे भरत, आज तूने जिसे जीता है और जो पापसे भरी हुई है ऐसी इस राज्य-लक्ष्मीको तू एक अपने ही द्वारा उपभोग करने योग्य तथा अविनाशी समझता है ॥९६॥ जिसका तूने आदर किया है ऐसी यह राज्यलक्ष्मी अब तुझे ही प्रिय रहे, हे आयुष्मन्, अब यह मेरे योग्य नही है क्योकि बन्धन सज्जन पुरुषोके आनन्दके लिए नही होता है । भावार्थ – यह लक्ष्मी स्वयं एक प्रकारका बन्धन है अथवा कर्म बन्धका कारण है इसलिए सज्जन पुरुष इसे

---

१ श्रमम् । २ भ्रंशम् । ३ अनुभुक्ता । ४ मूषिक । ५ जीर्ण । ६ निकृष्टताम् । ७ विस्मयान्वितत्वम् । ८ मुह्यतीति मुह्यन् तेन । ९ न किंचित्कृत । किमपि कर्तुमसमर्थ इत्यर्थः । १० राज्याभिलाषेण । ११ प्रशस्तम् । १२ स्तुति । १३ यस्मात् कारणात् । १४ अनन्यभोगायिताम् । १५ बन्धकारणपरिग्रह ।

दूषितां कण्टकैरेनां फलिनीमपि ते श्रियम् । करेणापि स्पृशेद् धीमान् लतां कण्टकिनीं च कः ॥९८॥
विषकण्टकजालीव त्याज्यैषा सर्वथाऽपि नः । निष्कण्टकां तपोलक्ष्मीं स्वाधीनां कर्तुमिच्छताम् ॥९९॥
मृष्यतां[1] च तदस्माभिः कृतमागो[2] यदीदृगम् । प्रच्युतो विनयात् सोऽहं स्वं चापलसदीदृगम्[3] ॥१००॥
इत्युच्चरद् गिरामोघो[4] मुखाद् बाहुबलीशितुः । ध्वनिरब्दादिवाऽऽततं[5] जिष्णोराह्लादयन्मनः ॥१०१॥
हा दुष्ट[6] कृतमित्युच्चैरात्मान स विगर्हयन् । अन्वतापत्स पापेन कर्मणा स्वेन चक्रराट् ॥१०२॥
प्रयुक्तानुनयं भूयो मनुमन्त्यं स धीरयन् । न्यवृतन्न स्वसंकल्पाद[7] हो स्थैर्यं मनस्विनाम् ॥१०३॥
महाबलिनि निक्षिप्तराज्यर्द्धिः स स्वनन्दने । दीक्षामुपादधे जैनीं गुरोराराधयन् पदम् ॥१०४॥
दीक्षावल्ल्या परिष्वक्त[8]स्त्यक्ताशेषपरिच्छदः । स रेजे सलतः[9] पत्रमोक्षक्षाम[10] इव द्रुमः ॥१०५॥
गुरोरनुमतेऽधीती[11] दधदेकविहारिताम् । प्रतिमायोगमावर्ष[12]मातस्थे किल संवृतः[13] ॥१०६॥
स[14] शंसितव्रतोऽनाश्वान्[15] वनवल्लीततान्तिकः । वल्मीकरन्ध्रनिःसर्पत् सर्पैरासीद् भयानकः[16] ॥१०७॥
[17]श्वसदाविर्भवद्भोग[18]भुजङ्गशिशुजृम्भितैः । विषाङ्कुरैरिवोपाङ्घ्रि[19] स रेजे वेष्टितोऽभितः ॥१०८॥

कभी नहीं चाहते ॥९७॥ यद्यपि यह तेरी लक्ष्मी फलवती है तथापि अनेक प्रकारके काँटोसे – विपत्तियोंसे दूषित है। भला, ऐसा कौन वुद्धिमान् होगा जो काँटेवाली लताको हाथसे छुयेगा भी ॥९८॥ अब हम कण्टकरहित तपरूपी लक्ष्मीको अपने अधीन करना चाहते हैं इसलिए यह राज्यलक्ष्मी हम लोगोके लिए विषके काँटोकी श्रेणीके समान सर्वथा त्याज्य है ॥९९॥ अतएव जो मैने यह ऐसा अपराध किया है उसे क्षमा कर दीजिए। मैं विनयसे च्युत हो गया था अर्थात् मैंने आपकी विनय नही की सो इसे मैं अपनी चंचलता ही समझता हूँ ॥१००॥ जिस प्रकार मेघसे निकलती हुई गर्जना सन्तप्त मनुष्योंको आनन्दित कर देती है उसी प्रकार महाराज वाहुवलीके मुखसे निकलते हुए वाणीके समूहने चक्रवर्ती भरतके सन्तप्त मनको कुछ-कुछ आनन्दित कर दिया था ॥१०१॥ 'हा मैंने वहुत ही दुष्टताका कार्य किया है' इस प्रकार जोर-जोरसे अपनी निन्दा करता हुआ चक्रवर्ती अपने पाप कर्मसे वहुत ही सन्तप्त हुआ ॥१०२॥ जिसमें अनेक प्रकारके अनुनय-विनयका प्रयोग किया गया है इस रीतिसे अन्तिम कुलकर महाराज भरतको वार-वार प्रसन्न करता हुआ वाहुवली अपने संकल्पसे पीछे नही हटा सो ठीक ही है क्योंकि तेजस्वी पुरुपोकी स्थिरता भी आश्चर्यजनक होती है ॥१०३॥ उसने अपने पुत्र महाबलीको राज्यलक्ष्मी सौप दी और स्वयं गुरुदेवके चरणोकी आराधना करते हुए जैनी दीक्षा धारण कर ली ॥१०४॥ जिसने समस्त परिग्रह छोड दिया है तथा जो दीक्षा रूपी लतासे आलिंगित हो रहा है ऐसा वह वाहुवली उस समय ऐसा जान पडता था मानो पत्तोके गिर जानेसे कृश लतायुक्त कोई वृक्ष ही हो ॥१०५॥ गुरुकी आज्ञामें रहकर शास्त्रोंका अध्ययन करनेमे कुशल तथा एक विहारीपन धारण करनेवाले जितेन्द्रिय वाहुवलीने एक वर्ष तक प्रतिमा योग धारण किया अर्थात् एक ही जगह एक ही आसनसे खड़े रहनेका नियम लिया ॥१०६॥ जिन्होने प्रशंसनीय व्रत धारण किये हैं, जो कभी भोजन नही करते, और जिनके समीपका प्रदेश वनकी लताओसे व्याप्त हो रहा है ऐसे वे वाहुवली वामीके छिद्रोसे निकलते हुए सर्पोसे वहुत ही भयानक हो रहे थे ॥१०७॥ जिनके फणा प्रकट हो रहे हैं ऐसे फुँकारते हुए सर्पके वच्चोंकी उछल-कूदसे चारो ओरसे घिरे हुए वे वाहुवली ऐसे सुशोभित

१ क्षम्यताम् । २ अपराध । ३ भृशमपश्यम् । ४ प्रवाह । ५ भरतस्य । ६ दुष्ठु ट० । निन्दा । 'निन्दाया दुष्ठु सुष्ठु प्रशसने ।' इत्यभिधानात् । ७ निजवैराग्यादित्यर्थः । ८ आलिङ्गित । ९ लतया सहितः । १० पर्णमोचनकृश. । ११ अधीतवान् । १२ वर्षावधि । १३ निभृत. । १४ स्तुत । १५ उपवासी । १६ भयंकर । १७ उच्छ्वसत् । १८ फण । १९ अङ्घ्रिसमीपे ।

दधानः स्कन्धपर्यन्तलम्बिनीः[1] केशवल्लरीः । सोऽन्वगाद्[2] कृष्णाहिमण्डलं हरिचन्दनम् ॥१०९॥
माधवीलतया गाढमुपगूढः[3] प्रफुल्लया । शाखाबाहुभिरावेष्ट्य सधीच्येव[4] सहासया[5] ॥११०॥
विद्याधरी करालून[6]पल्लवा सा किलाशुषत् । पादयोः कामिनीवास्य सामि[7] नम्राऽनुनेष्यती[8] ॥१११॥
रेजे स तदवस्थोऽपि तपो दुश्चरमाचरन् । कामीव मुक्तिकामिन्यां स्पृहयालुः कृशीभवन् ॥११२॥
तपस्तनूनपात्ताप[9]संतप्तस्यास्य केवलम् । शरीरमशुषन्नोर्ध्वंशोषं[10] कर्माप्यशर्मदम् ॥११३॥
तीव्रं तपस्यतोऽप्यस्य नासीत् कश्चिदुपप्लवः । अचिन्त्यं महतां धैर्यं येनायान्ति[11] न विक्रियाम् ॥११४॥
सर्वंसहः[12] [13]क्षमासारं प्रशान्तः शीतलं जलम् । निःसंगः पवनं दीप्तः[14] स जिगाय हुताशनम् ॥११५॥
क्षुधं पिपासां शीतोष्णं सदंशमशकद्वयम् । मार्गाच्यवनसंसिद्ध्यै[15] द्वन्द्वानि सहते स्म सः ॥११६॥
स नाग्न्यं[16] परमं बिभ्रदभेदीन्द्रियधूर्तकैः । ब्रह्मचर्यस्य[17] सा[18] गुप्तिर्नाग्न्यं नाम परं तपः ॥११७॥
रतिं चारतिमप्येष द्वितयं स्म तितिक्षते[19] । न ह्यरतिबाधा हि विषयानभिषङ्गिणः[20] ॥११८॥

हो रहे थे मानो उनके चरणोंके समीप विषके अंकूरे ही लग रहे हों ॥१०८॥ कन्धों पर्यन्त लटकती हुई केशरूपी लताओंको धारण करनेवाले वे बाहुबली मुनिराज अनेक काले सर्पोंके समूहको धारण करनेवाले हरिचन्दन वृक्षका अनुकरण कर रहे थे ॥१०९॥ फूली हुई वासन्ती-लता अपनी शाखारूपी भुजाओंके द्वारा उनका गाढ आलिंगन कर रही थी और उससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो हार लिये हुए कोई सखी ही अपनी भुजाओंसे उनका आलिंगन कर रही हो ॥११०॥ जिसके कोमल पत्ते विद्याधरियोंने अपने हाथसे तोड़ लिये हैं ऐसी वह वासन्ती लता उनके चरणोंपर पड़कर सूख गयी थी और ऐसी मालूम होती थी मानो कुछ नम्र होकर अनुनय करती हुई कोई स्त्री ही पैरोंपर पड़ी हो ॥१११॥ ऐसी अवस्था होनेपर भी वे कठिन तपश्चरण करते थे जिससे उनका शरीर कृश हो गया था और उससे ऐसे जान पड़ते थे मानो मुक्तिरूपी स्त्रीकी इच्छा करता हुआ कोई कामी ही हो ॥११२॥ तपरूपी अग्निके सन्तापसे सन्तप्त हुए बाहुबलीका केवल शरीर ही खड़े-खड़े नहीं सूख गया था किन्तु दुःख देनेवाले कर्म भी सूख गये थे अर्थात् नष्ट हो गये थे ॥११३॥ तीव्र तपस्या करते हुए बाहुबलीके कभी कोई उपद्रव नहीं हुआ था सो ठीक ही है क्योंकि बड़े पुरुषोंका धैर्य अचिन्त्य होता है जिससे कि वे कभी विकारको प्राप्त नहीं होते ॥११४॥ वे सब बाधाओंको सहन कर लेते थे, अत्यन्त शान्त थे, परिग्रहरहित थे और अतिशय देदीप्यमान थे इसलिए उन्होंने अपने गुणोंसे पृथ्वी, जल, वायु, और अग्निको जीत लिया था ॥११५॥ वे मार्गसे च्युत न होनेके लिए भूख, प्यास, शीत, गरमी, तथा डांस, मच्छर आदि परीषहोंके दुःख सहन करते थे ॥११६॥ उत्कृष्ट नाग्न्य व्रतको धारण करते हुए बाहुबली इन्द्रियरूपी धूर्तोंके द्वारा नहीं भेदन किये जा सके थे। ब्रह्मचर्यकी उत्कृष्ट रूपसे रक्षा करना ही नाग्न्य व्रत है और यही उत्तम तप है। भावार्थ – वे यद्यपि नग्न रहते थे तथापि इन्द्रियरूप धूर्त उन्हें विकृत नहीं कर सके थे ॥११७॥ वे रति और अरति इन दोनों परिषहोंको भी सहन करते थे अर्थात् रागके कारण उपस्थित होनेपर किसीसे राग नहीं करते थे और द्वेषके कारण उपस्थित होनेपर किसीसे द्वेष नहीं करते थे सो ठीक ही है क्योंकि विषयों-

---

१ भुजशिखर । २ अनुकरोति स्म । ३ आलिङ्गितः । ४ सख्या । ५ सहारया अ०, स०, इ०, ल० । ६ छेदित । ७ ईषद् । ८ अनुनयं कुर्वती । ९ अग्नि । १० 'ऊर्ध्वात् पूः शुषः' इति णमुप्रत्ययान्तः । ऊर्ध्वभूतं शरीरमित्यर्थः । ११ धैर्येण । १२ सकलपरीषहोपसर्गं सहमानः । १३ भूभारमित्यर्थः । १४ तपोविशेषेण दीप्तः । १५ परीषहान् । १६ नग्नत्वम् । १७ प्रसिद्धा । १८ रक्षा । १९ सहते स्म । २० विषयवाञ्छारहितस्य ।

नास्यासीत् स्त्रीकृता बाधा भोगनिर्वेदमायुषः[1] । शरीरमशुचि स्त्रैणं[2] पश्यतश्चर्मपुत्रिकाम् ॥११९॥
स्थितश्चर्यां निषद्यां च शय्यां चासोढ हेलया । मनसाऽनभि[3]संधित्सन्नुपा[4]नच्छयनासनम् ॥१२०॥
स सेहे वधमाक्रोशं परमार्थविदां वरः । शरीरके स्वयं त्याज्ये निःस्पृहोऽनभिनन्दथुः[5] ॥१२१॥
[6]याचित्रियेण नास्येष्टा विष्वाणेन[7] तनुस्थितिः । तेन[8] वाचंयमो[9] भूत्वा याञ्चाबाधामसोढ सः ॥१२२॥
जल्लं मलं तृणस्पर्शं सोऽसोढो[10]ढोत्तमक्षम. । व्युत्सृष्टतनुसंस्कारो निर्विशेषसुखासुखः[11] ॥१२३॥
रोगस्यायतनं[12] देहमाध्यायन्[13] धीरधीरसौ । विविधातङ्कजां बाधां सहते स्म सुदुःसहाम् ॥१२४॥
प्रज्ञापरिषहं प्राज्ञो ज्ञानजं गर्वमुत्सृजन् । आसर्वज्ञं[14] तदुत्कर्षात् स ससाह[15] ससाहसः ॥१२५॥
स सत्कारपुरस्कारे नासीज्जातु समुत्सुकः । पुरस्कृतो मुदं नागात् सत्कृतो न स्म तुष्यति ॥१२६॥
परीषहमलाभं च संतुष्टो जयति स्म सः । अज्ञानादर्शनोद्भूता बाधासीन्नास्य योगिन. ॥१२७॥

की इच्छा न रखनेवाले पुरुषको रति तथा अरतिकी बाधा नही होती ॥११८॥ भोगोसे विरक्त हुए तथा स्त्रियोके अपवित्र शरीरको चमडेकी पुतलीके समान देखते हुए उन बाहुबली महाराजको स्त्रियोके द्वारा की हुई कोई बाधा नही हुई थी अर्थात् वे अच्छी तरह स्त्रीपरिषह सहन करते थे ॥११९॥ वे हमेशा खडे रहते थे और जूता तथा शयन आदिकी मनसे भी इच्छा नही करते थे इसलिए उन्होंने चर्या, निषद्या और शय्या परिषहको लीला मात्रमें ही जीत लिया था ॥१२०॥ जो स्वय नष्ट हो जानेवाले शरीरमे निःस्पृह रहते है और न उसमे कोई आनन्द ही मानते है ऐसे परमार्थके जाननेवालोमें श्रेष्ठ बाहुबली महाराज वध और आक्रोश परिषहको भी सहन करते थे ॥१२१॥ याचनासे प्राप्त हुए भोजनके द्वारा शरीरकी स्थिति रखना उन्हे इष्ट नही था इसलिए वे मौन रहकर याचना परिषहकी बाधाको सहन करते थे ॥१२२॥ जिन्होने उत्तम क्षमा धारण की है, शरीरका संस्कार छोड़ दिया है और जिन्हे सुख तथा दुःख दोनों ही समान है ऐसे उन मुनिराजने स्वेद मल तथा तृण स्पर्श परिषहको भी सहन किया था ॥१२३॥ 'यह शरीर रोगोंका घर है' इस प्रकार चिन्तवन करते ही वे धीर-वीर बुद्धिके धारक बाहुबली बड़ी कठिनतासे सहन करनेके योग्य रोगोसे उत्पन्न हुई बाधाको भी सहन करते थे ॥१२४॥ ज्ञानका उत्कर्ष सर्वज्ञ होने तक है अर्थात् जबतक सर्वज्ञ न हो जावे तबतक ज्ञान घटता बढता रहता है इसलिए ज्ञानसे उत्पन्न हुए अहंकारका त्याग करते हुए अतिशय बुद्धिमान् और साहसी वे मुनिराज प्रज्ञा परिषहको सहन करते थे। भावार्थ – केवलज्ञान होनेके पहले सभीका ज्ञान अपूर्ण रहता है ऐसा विचार कर वे कभी ज्ञानका गर्व नही करते थे ॥१२५॥ वे अपने सत्कार पुरस्कारमें कभी उत्कण्ठित नही होते थे। यदि किसीने उन्हे अपने कार्यमें अगुआ बनाया तो वे हर्षित नही होते थे और किसीने उनका सत्कार किया तो सन्तुष्ट नही होते थे। भावार्थ – अपने कार्यमें किसीको अगुआ बनाना पुरस्कार कहलाता है तथा स्वय आये हुएका सम्मान करना सत्कार कहलाता है। वे मुनिराज सत्कार पुरस्कार दोनोमे ही निरुत्सुक रहते थे – उन्होने सत्कार पुरस्कार परिषह अच्छी तरह सहन किया था ॥१२६॥ सदा सन्तुष्ट रहनेवाले बाहुबलीजीने अलाभ परिषहको जीता था तथा अज्ञान और अदर्शनसे उत्पन्न होनेवाली बाधाएँ भी उन मुनिराजको नही हुई थी ॥१२७॥

१ निर्वेदं गतस्य । –मीयुष प०, इ०, द० । २ स्त्रीसंबन्धि । ३ अभिसंधानमकुर्वन् । ४ पादत्राण । 'पादूरुपानत् स्त्री' इत्यभिधानात् । ५ आनन्दरहित । ६ याचनया निवृत्तेन । ७ भोजनेन । ८ तेन कारणेन । ९ मौनी भूत्वा । १० धृत । ११ समानसुखदुःखः । १२ गृहम् । १३ स्मरन् । १४ ज्ञानोत्कर्षात् । उपर्युपरि केवलज्ञानादित्यर्थ । १५ सहते स्म ।

परीषहजयादस्य विपुला निर्जराऽभवत् । कर्मणां निर्जरोपायः परीषहजयः परः ॥१२८॥
क्रोधं तितिक्षया[1] मानमुत्सेक[2]परिवर्जनैः । मायामृजुतया लोभं संतोषेण जिगाय सः ॥१२९॥
[3]पञ्चेन्द्रियाण्यनायासात् सोऽजयज्जितमन्मथः । विषयेन्धनदीप्तस्य कामाग्नेः शमनं तपः ॥१३०॥
आहारभयसंज्ञे च समैथुनपरिग्रहे । अनङ्गविजयादेताः संज्ञाः क्षपयति स्म सः ॥१३१॥
इत्यन्तरङ्गशत्रूणां स भञ्जन्[4] प्रसरं मुहुः । जयति स्मात्मनात्मानमात्मविद् विदिताखिलः[5] ॥१३२॥
व्रतं च समितीः सर्वाः सम्यगिन्द्रियरोधनम् । अचेलतां च केशानां प्रतिलुञ्चनमं[6]गरम् ॥१३३॥
आवश्यकेष्वसंबाधमस्नानं क्षितिशायिताम् । अदन्तधावनं स्थित्वा भुक्तिं भक्तं च नासकृत्[7] ॥१३४॥
प्राहुर्मूलगुणानेतान् तथोत्तरगुणाः परे । तेषा[8]माराधने यत्नं सोऽतनिष्टातनुर्मुनिः[9] ॥१३५॥
[10]एतेष्वहापयन्[11] कांचिद् व्रतशुद्धिं परां श्रित । सोऽदीपि किरणैर्भास्वानिव दीप्तैस्तपोंऽशुभिः ॥१३६॥
गौरवैस्त्रिभिरुन्मुक्तः परां निःशल्यतां गतः । [12]धर्मैर्दशभिरारूढदार्ढ्योऽभून्मुक्तिवर्त्मनि ॥१३७॥
गुप्तित्रयमयीं [13]गुप्तिं श्रितो ज्ञानासिभासुरः । संवर्मितः[14] समितिभिः स भेजे विजिगीषुताम् ॥१३८॥

इस प्रकार परिषहोके जीतनेसे उनके बहुत बड़ी कर्मोकी निर्जरा हो गयी थी सो ठीक ही है क्योकि परिषहोको जीतना ही कर्मोकी निर्जरा करनेका श्रेष्ठ उपाय है ॥१२८॥ उन्होने क्षमासे क्रोधको, अहंकारके त्यागसे मानको, सरलतासे मायाको और सन्तोषसे लोभको जीता था ॥१२९॥ कामदेवको जीतनेवाले उन मुनिराजने पॉच इन्द्रियोको अनायास ही जीत लिया था सो ठीक ही है क्योकि विषयरूपी ईंधनसे जलती हुई कामरूपी अग्निको शमन करनेवाला तपश्चरण ही है। भावार्थ–इन्द्रियोको वश करना तप है और यह तभी हो सकता है जब कामरूपी अग्निको जीत लिया जावे ॥१३०॥ उन्होंने कामको जीत लेनेसे आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन संज्ञाओंको नष्ट किया था ॥१३१॥ इस प्रकार अन्तरंग शत्रुओंके प्रसारको बार-बार नष्ट करते हुए उन आत्मज्ञानी तथा समस्त पदार्थोको जाननेवाले मुनिराजने अपने आत्माके द्वारा ही अपने आत्माको जीत लिया था ॥१३२॥ पॉच महाव्रत, पॉंच समितियॉं, पॉंच इन्द्रियदमन, वस्त्र परित्याग, केशोका लोंच करना, छह आवश्यकोमें कभी बाधा नही होना, स्नान नही करना, पृथिवीपर सोना, दॉतौन नही करना, खड़े होकर भोजन करना और दिनमे एक बार आहार लेना, इन्हे अट्ठाईस मूलगुण कहते हैं। इनके सिवाय चौरासी लाख उत्तर गुण भी है, वे महामुनि उन सबके पालन करनेमें प्रयत्न करते थे ॥१३३–१३५॥ इनमे कुछ भी नही छोड़ते हुए अर्थात् सबका पूर्ण रीतिसे पालन करते हुए वे मुनिराज व्रतोकी उत्कृष्ट विशुद्धिको प्राप्त हुए थे तथा जिस प्रकार देदीप्यमान किरणोसे सूर्य प्रकाशमान होता है उसी प्रकार वे भी तपकी देदीप्यमान किरणोसे प्रकाशमान हो रहे थे ॥१३६॥ वे रसगौरव, शब्द गौरव, और ऋद्धिगौरव इन तीनोंसे सहित थे, अत्यन्त निःशल्य थे और दशधर्मोके द्वारा उन्हे मोक्षमार्गमे अत्यन्त दृढता प्राप्त हो गयी थी ॥१३७॥ वे मुनिराज किसी विजिगीषु अर्थात् शत्रुओको जीतनेकी इच्छा करनेवाले राजाके समान जान पड़ते थे क्योकि जिस प्रकार विजिगीषु राजा किसी दुर्ग आदि सुरक्षित स्थानका आश्रय लेता है, तलवारसे देदीप्यमान होता है और कवच पहने रहता है उसी प्रकार उन मुनिराजने भी तीन गुप्तियोंरूपी दुर्गोका आश्रय ले रखा था, वे भी ज्ञानरूपी तलवारसे देदीप्यमान हो रहे थे और पॉच समितियॉरूप कवच पहन रखा था। भावार्थ – यथार्थमे वे कर्मरूप शत्रुओको जीतनेकी इच्छा रखते थे

१ क्षमया। २ गर्ग। ३ त०, ब०, अ०, स०, इ०, प०, द० पुस्तकसंमतोऽयं क्रमः। ल० पुस्तके १२९-१३० श्लोकयोर्व्यतिक्रमोऽस्ति। ४ समूहम्। ५ ज्ञातसकलपदार्थ। ६ प्रतिज्ञाम्। ७ एकभुक्तमित्यर्थः। ८ मूलोत्तरगुणानाम्। ९ महान्। १० प्रोक्तगुणेषु। ११ हानिमकुर्वन्। १२ उत्तमक्षमादिभिः। १३ रक्षाम्। १४ कवचितः।

कषायतस्करैर्नास्य हृतं रत्नत्रयं धनम् । सततं जागरूकस्य भूयो भूयोऽप्रमाद्यतः ॥१३९॥
वाचंयमस्य[1] तस्यासीन्न जातु विकथादरः । नाभिद्यतेन्द्रियैरस्य मनोदुर्गं सुसंवृतम् ॥१४०॥
मनोऽगारे महत्यस्य बोधिता ज्ञानदीपिका । व्यदीपि तत[2] एवासन् विश्वेऽर्था ध्येयतापदे ॥१४१॥
मतिश्रुताभ्यां निःशेषमर्थतत्त्वं विचिन्वतः[3] । करामलकवद् विश्वं तस्य विस्पष्टतामगात् ॥१४२॥
परीषहजयैर्दीप्तो विजितेन्द्रियशात्रवः । कषायशत्रूनुच्छेद्य स तपो राज्यमन्वभूत् ॥१४३॥
योगजाश्चर्द्धयस्तस्य प्रादुरासंस्तपोबलात् । यतोऽस्याविरभूच्छक्तिस्त्रैलोक्यक्षोभणं प्रति ॥१४४॥
चतुर्भेदेऽपि बोधेऽस्य समुत्कर्षस्तदोदभूत्[4] । तत्तदावरणीयानां क्षयोपशमजृम्भितः ॥१४५॥
मतिज्ञानसमुत्कर्षात् कोष्ठबुद्धयादयोऽभवन् । श्रुतज्ञानेन[5] विश्वाङ्गपूर्ववित्त्वादिविस्तरः ॥१४६॥
परमावधिमुल्लङ्घ्य स सर्वावधिमासदत् । मनःपर्ययबोधे[6] च संप्रापद् विपुलां[7] मतिम् ॥१४७॥
ज्ञानशुद्ध्या तपःशुद्धिरस्यासीदतिरेकिणी । ज्ञानं हि तपसो मूलं यद्वन्मूलं महातरोः ॥१४८॥

॥१३८॥ कषायरूपी चोरोके द्वारा उनका रत्नत्रयरूपी धन नही चुराया गया था क्योकि वे सदा जागते रहते थे और बार-बार प्रमादरहित होते रहते थे । भावार्थ – लोकमें भी देखा जाता है कि जो मनुष्य सदा जागता रहता है और कभी प्रमाद नही करता उसकी चोरी नही होती । भगवान् बाहुबली अपने परिणामोके शोधमे निरन्तर लवलीन रहते थे और प्रमादको पासमे भी नही आने देते थे इसलिए कषायरूपी चोर उनके रत्नत्रयरूपी धनको नही चुरा सके थे ॥१३९॥ वे सदा मौन रहते थे इसलिए कभी उनका विकथाओमे आदर नही होता था । और उनका मनरूपी दुर्ग अत्यन्त सुरक्षित था इसलिए वह इन्द्रियोके द्वारा नही तोड़ा जा सका था । भावार्थ – वे कभी विकथाएँ नही करते थे और पाँचो इन्द्रियों तथा मनको वशमें रखते थे ॥१४०॥ उनके मनरूपी विशाल घरमें सदा ज्ञानरूपी दीपक प्रकाशमान रहता था इसलिए ही समस्त पदार्थ उनके ध्येयकोटिमे थे अर्थात् ध्यान करने योग्य थे । भावार्थ – पदार्थोका ध्यान करनेके लिए उनका ज्ञान होना आवश्यक है, मुनिराज बाहुबलीको सब पदार्थो-का ज्ञान था इसलिए सभी पदार्थ उनके ध्यान करने योग्य थे ॥१४१॥ वे मति और श्रुत ज्ञान-के द्वारा संसारके समस्त पदार्थोका चिन्तवन करते रहते थे इसलिए उन्हे यह जगत् हाथपर रखे हुए आँवलेके समान अत्यन्त स्पष्ट था ॥१४२॥ जो परिषहोंको जीत लेनेसे देदीप्यमान हो रहे है और जिन्होने इन्द्रियरूपी शत्रुओंको जीत लिया है ऐसे वे बाहुबली कषायरूपी शत्रुओंको छेदकर तपरूपी राज्यका अनुभव कर रहे थे ॥१४३॥ तपश्चरणका बल पाकर उन मुनिराजके योगके निमित्तसे होनेवाली ऐसी अनेक ऋद्धियाँ प्रकट हुई थी जिनसे कि उनके तीनो लोकोमे क्षोभ पैदा करनेकी शक्ति प्रकट हो गयी थी ॥१४४॥ उस समय उनके मतिज्ञाना-वरण आदि कर्मोके क्षमोपशमसे मतिज्ञान आदि चारो प्रकारके ज्ञानोमे वृद्धि हो गयी थी ॥१४५॥ मतिज्ञानकी वृद्धि होनेसे उनके कोष्ठबुद्धि आदि ऋद्धियाँ प्रकट हो गयी थी और श्रुत ज्ञानके बढनेसे समस्त अंगो तथा पूर्वोके जानने आदिकी शक्तिका विस्तार हो गया था ॥१४६॥ वे अवधिज्ञानमे परमावधिको उल्लंघन कर सर्वावधिको प्राप्त हुए थे तथा मन.पर्यय ज्ञानमें विपुलमति मन पर्यय ज्ञानको प्राप्त हुए थे ॥१४७॥ उन मुनिराजके ज्ञानकी शुद्धि होनेसे तपकी शुद्धि भी बहुत अधिक हो गयी थी सो ठीक ही है क्योकि जिस प्रकार किसी बड़े वृक्षके ठह-रनेमे मूल कारण उसकी जड़ है उसी प्रकार तपके ठहरने आदिमे मूल कारण ज्ञान है ॥१४८॥

१ मौनव्रतिन । २ ज्ञानदीपिकायाः सकाशात् । ३ चिन्तयतः । ४ उदेति स्म । ५ द्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्ववेदित्व-तन्निरूपणादिविस्तरः । ६ बोधि प०, ल० । ७ विपुलमतिमन पर्ययज्ञानम् ।

तपसोऽग्रेण चोग्रोग्रतपसा चातिकर्शित.[1] । स दीप्ततपसाऽत्यन्तं दिदीपे [2]दीप्तिमानिव ॥१४९॥
सोऽतप्यत तपस्तप्तं तपो घोरं महच्च यत् । तथोत्तराण्यपि प्रापत्समुत्कर्षाण्यनुक्रमात् ॥१५०॥
तपोभिरकृशैरेभिः स बभौ मुनिसत्तमः । [3]घनोपरोधनिर्मुक्तः करैरिव गभस्तिमान्[4] ॥१५१॥
विक्रियाऽष्टतयी[5] चित्रं प्रादुरासीत्तपोबलात् । [6]विक्रियां निखिलां हित्वा तीव्रमस्य तपस्यतः[7] ॥१५२॥
प्राप्तौषधर्द्धेरस्यासीत् संनिधिर्जगते हितः । [8]आमर्शक्ष्वेल[9]जल्लाद्यैः[10] प्राणिनामुपकारिणः ॥१५३॥
[11]अनाशुषोऽपि तस्यासीद् [12]रसर्द्धिः शक्तिमात्रतः । तपोबलसमुद्भूता बलर्द्धिरपि पप्रथे ॥१५४॥
अक्षीणावसथः[13] सोऽभूत्तथाऽक्षीण[14]महाशनः (नसः)[15] । सूते हि फलमक्षीणं तपोऽक्षू[16]णमुपासितम् ।१५५।
निर्द्वन्द्ववृत्तिरध्यात्ममिति निर्जित्य जित्वरः । ध्यानाभ्यासे मनश्चक्रे योगी योगविदां वरः ॥१५६॥
क्षमामथोत्तमां भेजे परं मार्दवमार्जवम् । सत्यं शौचं तपस्त्यागावाकिंचन्यं च संयमम् ॥१५७॥
ब्रह्मचर्यं च धर्म्यस्य ध्यानस्यैता हि भावनाः । [17]योगसिद्धौ परां [18]सिद्धिमामनन्तीह योगिनः ॥१५८॥

वे महामुनि उग्र, और महाउग्र तपसे अत्यन्त कृश हो गये थे तथा दीप्त नामक तपसे सूर्यके समान अत्यन्त देदीप्यमान हो रहे थे ॥१४९॥ उन्होने तप्तघोर और महाघोर नामके तपश्चरण किये थे तथा इनके सिवाय उत्तर तप भी उनके खूब बढ़ गये थे ॥१५०॥ इन बड़े-बड़े तपोसे वे उत्तम मुनिराज ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो मेघोके आवरणसे निकला हुआ सूर्य ही अपनी किरणोसे सुशोभित हो रहा हो ॥१५१॥ यद्यपि वे मुनिराज समस्त प्रकारकी विक्रिया अर्थात् विकार भावोको छोड़कर कठिन तपस्या करते थे तथापि आश्चर्यकी वात है कि उनके तपके वलसे आठ प्रकारकी विक्रिया प्रकट हो गयी थी। भावार्थ – रागद्वेप आदि विकार भावोंको छोडकर कठिन तपस्या करनेवाले उन बाहुवली महाराजके अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, और वशित्व यह आठ प्रकारकी विक्रिया ऋद्धि प्रकट हुई थी ॥१५२॥ जिन्हे अनेक प्रकारकी औषध ऋद्धि प्राप्त है और जो आमर्श, क्ष्वेल तथा जल्ल आदिके द्वारा प्राणियोका उपकार करते है ऐसे उन मुनिराजकी समीपता जगत्का कल्याण करनेवाली थी। भावार्थ – उनके समीप रहनेवाले लोगोंके समस्त रोग नष्ट हो जाते थे ॥१५३॥ यद्यपि वे आहार नही लेते थे तथापि शक्ति मात्रसे ही उनके रसऋद्धि प्रकट हुई थी और तपश्चरणके बलसे प्रकट हुई उनकी बल ऋद्धि भी विस्तार पा रही थी। भावार्थ – भोजन करनेवाले मुनिराजके ही रसऋद्धिका उपयोग हो सकता है परन्तु वे भोजन नही करते थे इसलिए उनके शक्तिमात्रसे रसऋद्धिका सद्भाव बतलाया है ॥१५४॥ वे मुनिराज अक्षीणसंवास तथा अक्षीणमहानस ऋद्धिको भी धारण कर रहे थे सो ठीक ही है क्योकि पूर्ण रीतिसे पालन किया हुआ तप अक्षीण फल उत्पन्न करता है ॥१५५॥ विकल्परहित चित्तकी वृत्ति धारण करना ही अध्यात्म है ऐसा निश्चय कर योगके जाननेवालोमें श्रेष्ठ उन जितेन्द्रिय योगिराजने मनको जीतकर उसे ध्यानके अभ्यासमे लगाया ॥१५६॥ उत्तमक्षमा, उत्तममार्दव, उत्तमआर्जव, उत्तमसत्य, उत्तमशौच, उत्तमसयम, उत्तमतप, उत्तमत्याग, उत्तमआकिचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य ये दश धर्मध्यानकी भावनाएँ है। इस लोकमें योगकी सिद्धि होनेपर ही उत्कृष्ट सिद्धि – सफलता – मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है ऐसा योगी लोग मानते है ॥१५७–१५८॥

१ कृशीकृतः । २ रवि. । ३ मेघ । ४ तरणि । ५ अष्टप्रकारा । ६ विकारम् । ७ तप कुर्वतः । ८ छर्दि. । ९ निष्ठीवन । १० स्वेदोत्थमलाद्यै । ११ अनशनव्रतिनः । १२ अमृतस्रवादि । १३ आलय । १४ महत् । १५ 'त०' पुस्तके 'महानस.' पाठ सुपाठ. इति टिप्पणे लिखितम् । १६ अन्योन्यम् । १७ ध्याननिष्पन्ने सति । १८ मुक्तिम् ।

अनित्यात्राणसंसारैकत्वाऽन्यत्वान्यशौचताम् । निर्जरास्रवसंरो[1]धलोकस्थित्यनुचिन्तनम् ॥१५९॥
धर्मस्याख्याततां बोधेर्दुर्लभत्वं च लक्षयन् । सोऽनुप्रेक्षाविधिं [2]दध्यौ विशुद्धं द्वादशात्मकम् ॥१६०॥
[3]आज्ञापायौ विपाकं च संस्थानं चानुचिन्तयन् । सध्यानमभजद् धर्म्यं कर्मांशान् परिशातयन्[4] ॥१६१॥
दीपिकायामिवामुष्यां ध्यानदीप्तौ निरीक्षिताः । क्षणं विशीर्णाः कर्मांशाः कज्जलांशा इवाभितः ॥१६२॥
तद्देहदीप्तिप्रसरो दिङ्मुखेषु परिस्फुरन् । तद्वनं गारुडग्रावच्छायातत[5]मिवातनोत् ॥१६३॥
तत्पदोपान्तविश्रान्ता विस्रब्धा[6] मृगजातयः । बबाधिरे मृगैर्नान्यैः क्रूरैरक्रूरतां श्रितैः ॥१६४॥
विरोधिनोऽप्यमी मुक्तविरोध[7]स्वैरमासिताः । तस्योपाङ्घ्रीभसिंहाद्याः शशंसुर्वैभवं मुनेः ॥१६५॥
[8]जरज्जम्बूकमाघ्राय मस्तके [9]व्याघ्रधेनुका । स्वशावनिर्विशेषं[10] तामपीप्यत्[11] [12]स्तन्यमात्मनः ॥१६६॥
करिणो हरिणारातीनन्वीयुः सह यूथपैः । स्तनपानोत्सुका भेजुः करिणीः सिंहपोतकाः ॥१६७॥
कलभान् [13]कलभाङ्कारमुखरान् नखरैः खरैः । कण्ठीरवः स्पृशन् कण्ठे नाभ्यनन्दि[14] न यूथपैः ॥१६८॥
करिण्यो बिसिनीपत्रपुटैः पानीयमानयत् । तद्योगपीठपर्यन्तभुवः सम्मार्जनेच्छया ॥१६९॥
[15]पुष्करैः [16]पुष्करोदस्तैर्न्यस्तैरधिपदद्वयम् । स्तम्बेरमा मुनिं भेजुरहो शमकरं तपः ॥१७०॥
उपाङ्घ्रि भोगिनां[17] भोगैर्विनीलैर्व्यरुचन्मुनिः । विन्यस्तैरर्चनायेव नीलैरुत्पलदामकैः ॥१७१॥

अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, वोधि दुर्लभ और धर्माख्यातत्व इन बारह भावनाओंका उन्होंने विशुद्ध चित्तसे चिन्तवन किया था ॥१५९-१६०॥ वे आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थानका चिन्तवन करते हुए तथा कर्मोके अंशोंको क्षीण करते हुए धर्मध्यान धारण करते थे ॥ १६१॥ जिस प्रकार दीपिकाके प्रज्वलित होनेपर उसके चारों ओर कज्जलके अंश दिखाई देते है उसी प्रकार उनकी ध्यानरूपी दीपिकाके प्रज्वलित होनेपर उसके चारों ओर क्षणभर नष्ट हुए कर्मोंके अंश दिखाई देते थे ॥१६२॥ सव दिशाओमें फैलता हुआ उनके शरीरकी दीप्तिका समूह उस वनको नीलमणिकी कान्तिसे व्याप्त हुआ-सा वना रहा था ॥१६३॥ उनके चरणोके समीप विश्राम करनेवाले मृग आदि पशु सदा विश्वस्त अर्थात् निर्भय रहते थे, उन्हे सिंह आदि दुष्ट जीव कभी वाधा नही पहुँचाते थे क्योकि वे स्वयं वहाँ आकर अक्रूर अर्थात् शान्त हो जाते थे ॥१६४॥ उनके चरणोंके समीप हाथी, सिंह आदि विरोधी जीव भी परस्परका वैरभाव छोड़कर इच्छानुसार उठते-वैठते थे और इस प्रकार वे मुनिराजके ऐश्वर्यको सूचित करते थे ॥१६५॥ हालकी व्यायी हुई सिंही भैंसेके वच्चेका मस्तक सूँघकर उसे अपने वच्चेके समान अपना दूध पिला रही थी ॥१६६॥ हाथी अपने झुण्डके मुखियोके साथ-साथ सिंहोके पीछे-पीछे जा रहे थे और स्तनके पीनेमे उत्सुक हुए सिंहके वच्चे हथिनियोंके समीप पहुँच रहे थे ॥१६७॥ वालकपनके कारण मधुर शब्द करते हुए हाथियोंके वच्चोको सिंह अपने पैने नाखूनोसे उनकी गरदनपर स्पर्श कर रहा था और ऐसा करते हुए उस सिंहको हाथियोंके सरदार वहुत ही अच्छा समझ रहे थे – उसका अभिनन्दन कर रहे थे ॥१६८॥ उन मुनिराजके ध्यान करनेके आसनके समीपकी भूमिको साफ करनेकी इच्छासे हथिनियाँ कमलिनीके पत्तोंका दोना वनाकर उनमें भर-भरकर पानी ला रही थीं ॥१६९॥ हाथी अपने सूँड़के अग्रभागसे उठाकर लाये हुए कमल उनके दोनो चरणोंपर रख देते थे और इस तरह वे उनकी उपासना करते थे । अहा,

---

१ संवर । २ ध्यायति स्म । ३ आज्ञाविचयापायविचयौ । ४ कृशीकुर्वन् । ५ व्याप्तम् । ६ निश्चला । ७ विरोधा. ल०, प०, अ०, स०, द०,। ८ जरज्जन्तुक ल०, इ० । जरत् वृद्ध । ९ नवप्रसूतव्याघ्री । १० समानम् । ११ पाययति स्म । १२ स्तनक्षीरम् । १३ मनोज्ञ-ध्वनिनिर्विशेषान् । १४ द्वौ नञौ पूर्वमर्थं गमयत , अभ्यनन्दीदित्यर्थः । १५ कमलैः । १६ कराग्रोद्धत । १७ सर्पाणा शरीरै ।

फणमात्रोद्गता रन्ध्रात्[1] फणिनः [2]शितयोऽद्युतन् । कृताः कुवलयैरर्घा मुनेरिव पदान्तिके ॥१७२॥
रेजुर्वनलता नम्रैः शाखाग्रैः कुसुमोज्ज्वलैः । मुनिं भजन्त्यो भक्त्येव पुष्पार्घैर्नतिपूर्वकम् ॥१७३॥
शश्वद्विकासिकुसुमैः शाखाग्रैरनिलाहतैः । बभुर्वनद्रुमास्तोषान्निनृत्सव[3] इवासकृत् ॥१७४॥
कलैरलिरुतोद्गानैः[4] फणिनो ननृतुः किल । उत्फणाः फणरत्नांशुदीप्रैः[5] भोगैः[6] विवर्तितैः ॥१७५॥
पुंस्कोकिलकलालापडिण्डिमानुगतैर्लयैः[7] । [8]चक्षुःश्रवस्तु पश्यत्सु [9]तद्द्विषोऽनटिषु[10] मुहुः ॥१७६॥
महिम्ना शमिनः[11] शान्तमित्यभूत्तच्च काननम् । धत्ते हि महतां योगः[12] शममप्यशमात्मसु[13] ॥१७७॥
शान्तस्वनैर्नदन्ति स्म वनान्तेऽस्मिन् शकुन्तयः । घोषयन्त इवात्यन्तं[14] शान्तमेतत्तपोवनम् ॥१७८॥
तपोनुभावादस्यैवं प्रशान्तेऽस्मिन् वनाश्रये । विनिपातः[15] कुतोऽप्यासीत् कस्यापि न कथञ्चन ॥१७९॥
[16]महसास्य तपोयोगजृम्भितेन महीयसा । बभूवुर्हृतहृद्ध्वान्ताः तिर्यञ्चोऽप्यनभिद्रुहः[17] ॥१८०॥
गतिस्खलनतो ज्ञात्वा योगस्थं तं मुनीश्वरम् । असकृत्पूजयामासुरवतीर्य नभश्चराः ॥१८१॥
महिम्नाऽस्य तपोवीर्यजनितेनालघीयसा । मुहुरासनकम्पोऽभून्नतमूर्ध्नां सुधाशिनाम् ॥१८२॥

तपश्चरण कैसी शान्ति उत्पन्न करनेवाला है, ॥१७०॥ वे मुनिराज चरणोंके समीप आये हुए सर्पोंके काले फणाओसे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो पूजाके लिए नीलकमलोंकी मालाएँ ही बनाकर रखी हों ॥१७१॥ वामीके छिद्रोंसे जिन्होंने केवल फणा ही वाहर निकाले है ऐसे काले सर्प उस समय ऐसे जान पड़ते थे,मानो मुनिराजके चरणोंके समीप किसीने नील-कमलोंका अर्घ ही बनाकर रखा हो ॥१७२॥ वनकी लताएँ फूलोंसे उज्ज्वल तथा नीचेको झुकी हुई छोटी छोटी डालियोंसे ऐसी अच्छी सुशोभित हो रही थी मानो फूलोंका अर्घ लेकर भक्तिसे नमस्कार करती हुई मुनिराजकी सेवा ही कर रही हों ॥१७३॥ वनके वृक्ष, जिनपर सदा फूल खिले रहते हैं और जो वायुसे हिल रहे हैं ऐसे शाखाओंके अग्रभागोसे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो सन्तोषसे बार-बार नृत्य ही करना चाहते हों ॥१७४॥ जिनके फणा ऊँचे उठ रहे है ऐसे सर्प, भ्रमरोके शब्दरूपी सुन्दर गानेके साथ-साथ फणाओंपर लगे हुए रत्नोकी किरणोंसे देदीप्यमान अपने फणाओंको घुमा-घुमाकर नृत्य कर रहे थे ॥१७५॥ मोर, कोकिलोंके सुन्दर शव्दरूपी डिण्डिम बाजेके अनुसार होनेवाले लयके साथ-साथ सर्पोंके देखते रहते भी बार-बार नृत्य कर रहे थे ॥१७६॥ इस प्रकार अतिशय शान्त रहनेवाले उन मुनिराजके माहात्म्यसे वह वन भी शान्त हो गया था सो ठीक ही है, क्योंकि महापुरुषोका संयोग क्रूर जीवोमे भी शान्ति उत्पन्न कर देता है ॥१७७॥ इस वनमें अनेक पक्षी शान्त शब्दोंसे चहक रहे थे और वे ऐसे जान पडते थे मानो इस बातकी घोषणा ही कर रहे हों कि यह तपोवन अत्यन्त शान्त है ॥१७८॥ उन मुनिराजके तपके प्रभावसे यह वनका आश्रम ऐसा शान्त हो गया था कि यहाँके किसी भी जीवको किसीके भी द्वारा कुछ भी उपद्रव नही होता था ॥१७९॥ तपके सम्बन्धसे बढे हुए मुनिराजके बढे भारी तेजसे तिर्यंचोंके भी हृदयका अन्धकार दूर हो गया था और अब वे परस्परमें किसीसे द्रोह नही करते थे – अहिंसक हो गये थे ॥१८०॥ विद्याधर लोग गति भंग हो जानेसे उनका सद्भाव जान लेते थे और विमानसे उतरकर ध्यान-में बैठे हुए उन मुनिराजकी बार-बार पूजा करते थे ॥१८१॥ तपकी शक्तिसे उत्पन्न हुए मुनि-राजके वड़े भारी माहात्म्यसे जिनके मस्तक झुके हुए है ऐसे देवोंके आसन भी बार-बार कम्पाय-

---

१ वल्मीकविलात् । २ कृष्णा. । ३ नर्तितुमिच्छव । ४–द्गीतै. ल० । ५ दीप्तै–इ०, ल० । ६ शरीरै । ७ तालनिवद्धै. । ८ सर्पेपु । 'कुण्डली गूढपाच्चक्षुश्रवाः काकोदरः फणी' इत्यभिधानात् । ९ सर्पद्विष । मयूरा इत्यर्थ । १० नटन्ति स्म । ११ यते । १२ संयोगः । १३ क्रूरस्वरूपेपु । १४ अत्यन्तं प्रसन्नम् । १५ बाधेत्यर्थ । १६ तेजसा । १७ अहिंसका. ।

विद्याधर्यः कदाचिच्च क्रीडाहेतोरुपागताः । वल्लीरुद्वेष्टयामासु[1] र्मुनेः सर्वाङ्गसंगिनीः ॥१८३॥
इत्युपारूढ[2] सद्ध्यानबलोद्भूततपोबलः । स लेश्याशुद्धिमास्कन्दन्[3] शुक्लध्यानोन्मुखोऽभवत् ॥१८४॥
वत्सरानशनस्यान्ते भरतेशेन पूजितः । स भेजे परमज्योतिः केवलाख्यं यदक्षरम् ॥१८५॥
संक्लिष्टो भरताधीशः सोऽस्मत्त[4] इति यत्किल । हृद्यस्य[5] हार्द[6] [7] तेनासीत् तत्पूजाऽपेक्षि[8] केवलम्[9] ॥१८६॥
केवलार्कोदयात् प्राक्च पश्चाच्च विधिवद् व्यधात् । सपर्यां भरताधीशो योगिनोऽस्य प्रसन्नधीः ॥१८७॥
[10]स्वागःप्रमार्जनार्थेज्या[11] प्राक्तनी भरतेशिनः । [12]पाश्चात्याऽन्यायताऽपीज्या[13] केवलोत्पत्तिमन्वभूत् ॥
या कृता भरतेशेन महेज्या स्वानुजन्मनः । प्राप्तकेवलबोधस्य को हि तद्वर्णने क्षमः ॥१८९॥
[14]स्वजन्मानुगमो[15]ऽस्त्येको धर्मरागस्तथाऽपरः । जन्मान्तरानुबन्धश्च[16] प्रेमबन्धोऽतिनिर्भरः ॥१९०॥
[17] इत्येकशोऽप्यमी भक्तिप्रकर्षस्य प्रयोजकाः । तेषां नु सर्वसामग्री कां न पुष्णाति सत्क्रियाम् ॥१९१॥
सामात्यः समहीपाल[18] सान्तःपुरपुरोहितः । तं बाहुबलियोगीन्द्रं प्रणनामाधिराट् मुदा ॥१९२॥

मान होने लगते थे ॥१८२॥ कभी-कभी क्रीड़ाके हेतुसे आयी हुई विद्याधरियाँ उनके सर्व शरीर-पर लगी हुई लताओको हटा जाती थी ॥१८३॥ इस प्रकार धारण किये हुए समीचीनधर्म-ध्यानके बलसे जिनके तपकी शक्ति उत्पन्न हुई है ऐसे वे मुनि लेश्याकी विशुद्धिको प्राप्त होते हुए शुक्लध्यानके सम्मुख हुए ॥१८४॥ एक वर्षका उपवास समाप्त होनेपर भरतेश्वरने आकर जिनकी पूजा की है ऐसे महामुनि बाहुबली कभी नष्ट नही होनेवाली केवलज्ञानरूपी उत्कृष्ट ज्योतिको प्राप्त हुए। भावार्थ – दीक्षा लेते समय बाहुबलीने एक वर्षका उपवास किया था। जिस दिन उनका वह उपवास पूर्ण हुआ उसी दिन भरतने आकर उनकी पूजा की और पूजा करते ही उन्हे अविनाशी उत्कृष्ट केवलज्ञान प्राप्त हो गया ॥१८५॥ वह भरतेश्वर मुझसे संक्लेशको प्राप्त हुआ है अर्थात् मेरे निमित्तसे उसे दुःख पहुँचा है यह विचार बाहुबलीके हृदयमे विद्यमान रहता था, इसलिए केवलज्ञानने भरतकी पूजाकी अपेक्षा की थी। भावार्थ – भरतके पूजा करते ही बाहुबलीका हृदय शल्यरहित हो गया और उसी समय उन्हें केवलज्ञान भी प्राप्त हो गया ॥१८६॥ प्रसन्न है बुद्धि जिसकी ऐसे सम्राट् भरतने केवलज्ञानरूपी सूर्यके उदय होनेके पहले और पीछे–दोनों ही समय विधिपूर्वक उन मुनिराजकी पूजा की थी ॥१८७॥ भरतेश्वरने केवलज्ञान उत्पन्न होनेके पहले जो पूजा की थी वह अपना अपराध नष्ट करनेके लिए की थी और केवलज्ञान होनेके बाद जो बड़ी भारी पूजा की थी वह केवलज्ञानकी उत्पत्ति-का अनुभव करनेके लिए की थी ॥१८८॥ जिन्हे केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है ऐसे अपने छोटे भाई बाहुबलीकी भरतेश्वरने जो बड़ी भारी पूजा की थी उसका वर्णन करनेमें कौन समर्थ हो सकता है ? ॥१८९॥ प्रथम तो बाहुबली भरतके छोटे भाई थे, दूसरे भरतको धर्मका प्रेम बहुत था, तीसरे उन दोनोंका अन्य अनेक जन्मोसे सम्बन्ध था, और चौथे उन दोनोंमे बड़ा भारी प्रेम था इस प्रकार इन चारोंमे-से एक-एक भी भक्तिकी अधिकताको बढानेवाले है, यदि यह सब सामग्री एक साथ मिल जाये तो वह कौन-सी उत्तम क्रियाको पुष्ट नहीं कर सकती अर्थात् उससे कौन-सा अच्छा कार्य नही हो सकता ? ॥१९०–१९१॥ सम्राट् भरतेश्वरने

१ मोचयामासुः । २ प्रकटीभूत । ३ गच्छन् । ४ मत् । ५ भुजबलिन. । ६ स्नेह' । 'प्रेमा ना प्रियता हार्द प्रेम स्नेह.' इत्यभिधानात् । ७ हार्देन । ८ भरतपूजापेक्षि । ९ केवलज्ञानम् । १० निजापराधनिवारणार्था । ११ प्राग्भवा । १२ पश्चाद्भवा । १३ अत्यधिका । १४ निजजननेन । १५ अनुगमनम् । महोत्पत्तिरित्यर्थः । १६ – नुबद्धश्च ब०, अ०, म०, प०, इ० । १७ एकैकमपि । १८ महीपालै. सहित. ।

किमत्र बहुना रत्नैः कृतोऽर्घः स्वर्णदीजलम् । पाद्यं रत्नार्चिषो दीपास्तण्डुलेज्या च मौक्तिकैः ॥१९३॥
हविः[1] पीयूषपिण्डेन धूपो देवद्रुमांशकैः[2] । पुष्पार्चा पारिजातादिसुरागसुमनश्चयैः ॥१९४॥
सरत्ना निधयः सर्वे फलस्थाने नियोजिताः । पूजां रत्नमयीमित्थं रत्नेशो निरवर्तयत् ॥१९५॥
सुराश्चासनकम्पेन ज्ञाततत्केवलोदयाः । चक्रुरस्य परामिज्यां गता[3] ध्वरपुरःसराः ॥१९६॥
ववुर्मन्दं स्वरुद्यानतरुधूननचुञ्चवः । तदा सुगन्धयो वाताः स्वर्धुनीशीकराहराः ॥१९७॥
मन्द्रं पयोमुचां मार्गे दध्वनुश्च सुरानकाः । पुष्पोत्करो दिवोऽपतत् कल्पानोकहसंभवः ॥१९८॥
रत्नातपत्रमस्योच्चैर्निर्मितं सुरशिल्पिभिः । परार्ध्यमणिनिर्माणमभाद् दिव्यं च विष्टरम् ॥१९९॥
स्वयं व्यधूयतास्योच्चैः[4] प्रान्तयोश्चामरोत्करः । सभावनिश्च तद्योग्या पप्रथे प्रथितोदया ॥२००॥
सुरैरित्यर्चितः प्राप्तकेवलर्द्धिः स योगिराट् । व्यद्युतन्मुनिभिर्जुष्टः[5] शशीवोडुभिराश्रितः ॥२०१॥
घातिकर्मक्षयोद्भूतामुद्वहन् परमेष्ठिताम् । विजहार महीं कृत्स्नां सोऽभिगम्यः[6] सुधाशिनाम् ॥२०२॥
इत्थं स विश्वविद्विश्वं प्रीणयन् स्ववचोऽमृतैः । कैलासमचलं प्रापत् पूतं संनिधिना गुरोः[7] ॥२०३॥

मन्त्रियोंके साथ, राजाओके साथ और अन्त पुरकी समस्त स्त्रियो तथा पुरोहितके साथ उन बाहुबली मुनिराजको बडे हर्षसे नमस्कार क्रिया था ॥१९२॥ इस विषयमें अधिक कहाँतक कहा जावे, संक्षेपमें इतना ही कहा जा सकता है कि उसने रत्नोका अर्घ बनाया था, गंगाके जलकी जलधारा दी थी, रत्नोंकी ज्योतिके दीपक चढाये थे, मोतियोसे अक्षतकी पूजा की थी, अमृतके पिण्डसे नैवेद्य अर्पित किया था, कल्पवृक्षके टुकड़ो (चूर्णो) से धूपकी पूजा की थी, पारिजात आदि देववृक्षोके फूलोके समूहसे पुष्पोकी अर्चा की थी, और फलोंके स्थानपर रत्नों-सहित समस्त निधियाँ चढ़ा दी थी इस प्रकार उसने रत्नमयी पूजा की थी ॥१९३–१९५॥ आसन कम्पायमान होनेसे जिन्हे वाहुबलीके केवलज्ञान उत्पन्न होनेका बोध हुआ है ऐसे इन्द्र आदि देवोने आकर उनकी उत्कृष्ट पूजा की ॥१९६॥ उस समय स्वर्गके बगीचेके वृक्षोंको हिलाने-में चतुर तथा गगा नदीकी बूँदोंको हरण करनेवाला सुगन्धित वायु धीरे-धीरे वह रहा था ॥१९७॥ देवोके नगाड़े आकाशमें गम्भीरतासे वज रहे थे और कल्पवृक्षोसे उत्पन्न हुआ फूलो-का समूह आकाशमे पड़ रहा था ॥१९८॥ उनके ऊपर देवरूपी कारीगरोके द्वारा बनाया हुआ रत्नोंका छत्र सुशोभित हो रहा था और नीचे बहुमूल्य मणियोका बना हुआ दिव्य सिंहासन देदीप्यमान हो रहा था ॥१९९॥ उनके दोनों ओर ऊँचाईपर चमरोंका समूह स्वयं ढुल रहा था तथा जिसका ऐश्वर्य प्रसिद्ध है ऐसी उनके योग्य सभाभूमि अर्थात् गन्धकुटी भी बनायी गयी थी ॥२००॥ इस प्रकार देवोने जिनकी पूजा की है और जिन्हे केवलज्ञानरूपी ऋद्धि प्राप्त हुई है ऐसे वे योगिराज अनेक मुनियोसे घिरे हुए इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे मानो नक्षत्रो-से घिरा हुआ चन्द्रमा ही हो ॥२०१॥ जो घातियाकर्मोके क्षयसे उत्पन्न हुई अर्हन्त परमेष्ठी-की अवस्थाको धारण कर रहे है तथा इसीलिए देव लोग जिनकी उपासना करते है ऐसे भगवान् बाहुबलीने समस्त पृथिवीमें विहार किया ॥२०२॥ इस प्रकार समस्त पदार्थोको जाननेवाले बाहुबली अपने वचनरूपी अमृतके द्वारा समस्त ससारको सन्तुष्ट करते हुए, पूज्य पिता भगवान् वृषभदेवके सामीप्यसे पवित्र हुए कैलास पर्वतपर जा पहुँचे ॥२०३॥

---

१ चरु । २ हरिचन्दनशकलै । ३ इन्द्र । ४ उभयपार्श्वयो । ५ सेवित । ६ आराध्यः । ७ वृषभस्य ।

मालिनी

सकलनृपसमाजे[1] दृष्टिमल्लाम्बुयुद्धै-
र्विजितभरतकीर्तिर्यः प्रवव्राज मुक्त्यै ।
तृणमिव विगणय्य प्राज्यसाम्राज्यभारं
चरमतनुधराणामग्रणीः सोऽवताद् वः ॥२०४॥
भरतविजयलक्ष्मीर्जाज्वलच्चक्रमूर्त्या[2]
यमिनमभिसरन्ती क्षत्रियाणां समक्षम् ।
चिरतरमवधूता[3]पत्रपापात्रमासी-[4]
दधिगतगुरुमार्गः सोऽवताद् दोर्वली वः ॥२०५॥
स जयति जयलक्ष्मीसंगमाशाम[5]वन्ध्यां
विदधदधिकधामा संनिधौ पार्थिवानाम् ।
सकलजगदगारव्याप्तकीर्तिस्तपस्या-[6]
मभजत यशसे यः सूनुराद्यस्य धातुः ॥२०६॥
जयति भुजवलीशो बाहुवीर्यं स यस्य
प्रथितमभवदग्रे क्षत्रियाणां नियुद्धे ।
भरतनृपतिनामा[7] यस्य नामाक्षराणि
स्मृतिपथमुपयान्ति[8] प्राणिवृन्दं पुनन्ति ॥२०७॥
जयति भुजगवक्त्रोद्वान्तनिर्यद्गराग्निः[9]
प्रशममसकृदापत् प्राप्य पादौ यदीयौ ।
सकलभुवनमान्यः खेचरस्त्रीकराग्रो-
द्ग्रथितविततवीरुद्वेष्टितो दोर्वलीशः ॥२०८॥

जिन्होंने समस्त राजाओंकी सभामे दृष्टियुद्ध, मल्लयुद्ध और जलयुद्धके द्वारा भरतकी समस्त कीर्ति जीत ली थी, जिन्होने वडे भारी राज्यके भारको तृणके समान तुच्छ समझकर मुक्ति प्राप्त करनेके लिए दीक्षा धारण की थी और जो चरमशरीरियोमें सवसे मुख्य थे ऐसे भगवान् वाहुवली तुम सवकी रक्षा करे ॥२०४॥ सव क्षत्रियोके सामने भरतकी विजयलक्ष्मी देदीप्यमान चक्रकी मूर्तिके वहानेसे जिन वाहुवलीके समीप गयी थी परन्तु जिनके द्वारा सदाके लिए तिरस्कृत होकर लज्जाका पात्र हुई थी और जिन्होने अपने पिताका मार्ग (मुनिमार्ग) स्वीकृत किया था वे भगवान् वाहुवली तुम सबकी रक्षा करे ॥२०५॥ जो अनेक राजाओंके सामने सफल हुई जयलक्ष्मीके समागमकी आशाको धारण कर रहे थे, सवसे अधिक तेजस्वी थे, जिनकी कीर्ति समस्त जगत्रूपी घरमे व्याप्त थी और जिन्होने वास्तविक यशके लिए तप धारण किया था वे आदिब्रह्मा भगवान् वृषभदेवके पुत्र सदा जयवन्त हो ॥२०६॥ जिनकी भुजाओका वल क्षत्रियोके सामने भरतराजके साथ हुए मल्लयुद्धमे प्रसिद्ध हुआ था, और जिनके नामके अक्षर स्मरणमें आते ही प्राणियोके समूहको पवित्र कर देते है वे वाहुवली स्वामी सदा जयवन्त हों ॥२०७॥ जिनके चरणोको पाकर सर्पोके मुँहके उच्छ्वाससे निकलती हुई विषकी अग्नि वार-वार शान्त हो जाती थी, जो समस्त लोकमें मान्य है, और जिनके शरीरपर फैली हुई लताओको विद्याधरियाँ अपने हाथोके अग्रभागसे हटा देती थी वे वाहुवली स्वामी

---

१ समक्षे । २ भृशं ज्वलत् । ३ भुजवलिना अवधीरता । ४ लज्जाभाजनम् । ५ संगवाञ्छाम् । ६ तप इत्यर्थ. । ७ सह । ८ उपगतानि भूत्वा । ९ विषाग्नि ।

जयति भरतराजप्रांशुमौल्यग्ररत्नो-
पललुलितनखेन्दुः स्रष्टुराद्यस्य सूनुः ।
भुजगकुलकलापैराकुलैर्नाकुलत्वं
धृतिबलकलितो यो योगभृन्नैव भेजे ॥२०९॥
[1]शितिभिरलिकुलाभैराभुजं लम्बमानैः
[2]पिहितभुजविटङ्को मूर्धजैर्वेल्लि[3]ताग्रैः ।
जलधरपरिरोधध्याममूर्धेव भूध्रः
श्रियमपुपदनूनां दोर्बली यः स नोऽव्यात् ॥२१०॥
स जयति हिमकाले यो हिमानीपरीतं[4]
वपुरचल इवोच्चैर्बिभ्रदाविर्बभूव ।
नवघनसलिलौघैर्यश्च धौतोऽब्दकाले[5]
खरघृणि[6]किरणानप्युष्णकाले विषेहे[7] ॥२११॥
जगति [8]जयिनमेनं योगिनं योगिवर्यै-
रधिगतमहिमानं मानितं[9] माननीयैः ।
स्मरति हृदि नितान्तं यः स शान्तान्तरात्मा[10]
भजति विजयलक्ष्मीमाशु जैनीमजय्याम् ॥२१२॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भुजबलिजलमल्लदृष्टियुद्धविजयदीक्षाकेवलोत्पत्तिवर्णनं नाम षट्त्रिंशत्तमं पर्व ॥३६॥

सदा जयवन्त हों ॥२०८॥ भरतराजके ऊँचे मुकुटके अग्र भागमे लगे हुए रत्नोसे जिनके चरण-के नखरूपी चन्द्रमा अत्यन्त चमक रहे थे, जो धैर्य और बलसे सहित थे तथा जो इसलिए ही क्षोभको प्राप्त हुए सर्पोके समूहसे कभी आकुलताको प्राप्त नही हुए थे वे आदि ब्रह्मा भगवान् वृषभदेवके पुत्र बाहुबली योगिराज सदा जयवन्त रहे ॥२०९॥ भ्रमरोंके समूहके समान काले, भुजाओं तक लटकते हुए तथा जिनका अग्रभाग टेढ़ा हो रहा है ऐसे मस्तकके बालोसे जिनकी भुजाओंका अग्रभाग ढक गया है और इसलिए ही जो मेघोंके आवरणसे मलिन शिखरवाले पर्वतकी पूर्ण शोभाको पुष्ट कर रहे हैं वे भगवान् बाहुबली हम सबकी रक्षा करे ॥२१०॥ जो शीतकालमें बर्फसे ढके हुए ऊँचे शरीरको धारण करते हुए पर्वतके समान प्रकट होते थे, वर्षाऋतुमें नवीन मेघोके जलके समूहसे प्रक्षालित होते थे – भीगते रहते थे और ग्रीष्मकालमे सूर्यकी किरणोंको सहन करते थे वे बाहुबली स्वामी सदा जयवन्त हों ॥२११॥ जिन्होने अन्तरंग-बहिरंग शत्रुओपर विजय प्राप्त कर ली है, बड़े-बड़े योगिराज ही जिनकी महिमा जान सकते हैं, और जो पूज्य पुरुषोके द्वारा भी पूजनीय है ऐसे इन योगिराज बाहुबलीको जो पुरुष अपने हृदयमें स्मरण करता है उसका अन्तरात्मा शान्त हो जाता है और वह शीघ्र ही जिनेन्द्रभगवान्‌की अजय्य (जिसे कोई जीत न सके) विजयलक्ष्मी – मोक्षलक्ष्मीको प्राप्त होता है ॥२१२॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहके भाषानुवादमे बाहुबलीका जल-युद्ध, मल्ल-युद्ध और नेत्र-युद्धमें विजय प्राप्त करना, दीक्षा धारण करना, और केवलज्ञान उत्पन्न होनेका वर्णन करनेवाला छत्तीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ।

---

१ कृष्णैः । २ आच्छादितबाहुवलभी. । ३ वक्र । 'अविरुद्धं कुटिल भुग्नं वेल्लित वक्रमित्यपि' इत्यभिधानात् । ४ हिमसहतिवेष्टितम् । 'हिमानी हिमसंहति.' इत्यभिधानात् । ५ प्रावृट्काले । ६ सूर्य । ७ सहति स्म । ८ जयशीलम् । ९ पूजितम् । १० उपशान्तचित्तः ।

सप्तत्रिंशत्तमं पर्व

अथ निर्वर्तिताशेषदिग्जयो भरतेश्वरः । पुरं साकेतमुत्केतु प्राविक्षत् परया श्रिया ॥१॥
[1]तत्रास्य[2] नृपशार्दूलैरभिषेकः कृतो मुदा । [3]चातुरन्तजयश्रीस्ते प्रथतां भुवनेष्विति ॥२॥
तमभ्यषिञ्चन् पौराश्च सान्तःपुरपुरोधसः । चिरायुः पृथिवीराज्यं [4]क्रियाद् देव भवानिति ॥३॥
राज्याभिषेचने भर्तुर्यो विधिर्वृषभेशिनः । स सर्वोऽत्रापि तीर्थाम्बुसं[5]भारादिः कृतो नृपैः ॥४॥
[6]तथाऽभिषिक्तस्तेनैव विधिनाऽलंकृतोऽधिराट् । तथैव जयघोषादिः प्रयुक्तः सामरैर्नृपैः ॥५॥
तथैव सत्कृता विश्वे पार्थिवाः ससनाभयः । तथैव तर्पितो लोकः परया दानसंपदा ॥६॥
[6]तथाध्वनन् महाघोषा[7] नान्दीघोषा महानकाः । प्रक्षुभ्यदब्धिनिर्घोषो येषां घोषैरधः कृतः ॥७॥
आनन्दिन्यो महाभेर्यस्तथैवाभिहता मुहुः । संगीतविधिरारब्धः तथा प्रमदमण्डपे ॥८॥
मूर्धाभिषिक्तैः प्राप्ताभिषेकस्यास्याजनि द्युतिः । मेराविवाभिषिक्तस्य नाकीन्द्रैरादिवेधसः ॥९॥
गङ्गासिन्धू सरिद्देव्यौ साक्षतैस्तीर्थवारिभिः । [8]अभ्यैक्षिष्टां तमभ्येत्य रत्नभृङ्गारसंभृतैः ॥१०॥
कृताभिषेकमेनं च नृपासनमधिष्ठितम् । [9] गणबद्धामरा भेजुः प्रणम्रैर्मणिमौलिभिः ॥११॥

अथानन्तर जिसने समस्त दिग्विजय समाप्त कर लिया है ऐसे भरतेश्वरने जिसमें अनेक ध्वजाएँ फहरा रही है ऐसे अयोध्यानगरमें बड़े वैभवके साथ प्रवेश किया ॥१॥ चतुरंग विजयसे उत्पन्न हुई आपकी लक्ष्मी संसारमे अतिशय वृद्धि और प्रसिद्धिको प्राप्त होती रहे यही विचार कर बड़े-बड़े राजाओने उस अयोध्या नगरमें हर्षके साथ महाराज भरतका अभिषेक किया था ॥२॥ हे देव, आप दीर्घजीवी होते हुए चिरकाल तक पृथिवीका राज्य करे, इस प्रकार कहते हुए अन्तःपुर तथा पुरोहितोंके साथ नगरके लोगोने उनका अभिषेक किया था ॥३॥ जो विधि भगवान् वृषभदेवके राज्याभिषेकके समय हुई थी, तीर्थोका जल इकट्ठा करना आदि वह सब विधि महाराज भरतके अभिषेकके समय भी राजाओने की थी ॥४॥ देवोके साथ-साथ राजाओने भगवान् वृषभदेवके समान ही भरतेश्वरका अभिषेक किया था, उसी प्रकार आभूषण पहनाये थे और उसी प्रकार जयघोषणा आदि की ॥५॥ उसी प्रकार परिवारके लोगोके साथ-साथ राजाओका सत्कार किया गया था, और उसी प्रकार दानमे दी हुई सम्पत्तिसे सब लोग सन्तुष्ट किये गये थे ॥६॥ जिनके शब्दोने क्षोभित हुए समुद्रके शब्दको भी तिरस्कृत कर दिया था ऐसे बड़े-बड़े शब्दोवाले मांगलिक नगाडे उसी प्रकार बजाये गये थे ॥७॥ उसी प्रकार आनन्दकी महाभेरियाँ बार-बार बजायी जा रही थी और आनन्दमण्डपमें संगीतकी विधि भी उसी प्रकार प्रारम्भ की गयी थी ॥८॥ मेरु पर्वतपर इन्द्रोके द्वारा अभिषेक किये हुए आदिब्रह्मा भगवान् वृषभदेवकी जैसी कान्ति हुई थी उसी प्रकार राजाओके द्वारा अभिषेकको प्राप्त हुए महाराज भरतकी भी हुई थी ॥९॥ गगा-सिन्धु नदियोकी अधिष्ठात्री गंगा-सिन्धु नामकी देवियोने आकर रत्नोके भृंगारोंमे भरे हुए अक्षत सहित तीर्थजलसे भरतका अभिषेक किया था ॥१०॥ जिनका अभिषेक समाप्त हो चुका और जो राजसिंहासनपर बैठे हुए है ऐसे महाराज भरतकी अनेक गणबद्धदेव अपने मणिमयी मुकुटोको नवा-नवाकर

---

१ साकेतपुर्याम् । २ चक्रिण । ३ चतुर्दिक्षु भवा जयलक्ष्मीः । चातुरङ्ग–ल०, अ०, प०, स०, इ० । ४ कुरु । ५ समूह । ६ यथा॰ वृषभोऽभिषिक्त. । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् । ७ प्रथममङ्गलरवाः । ८ अभिषेकं चक्रतु । ९ अङ्गरक्षदेवा. ।

नखांशुकुसुमोद्भेदैरारक्तैः पाणिपल्लवैः । तास्तन्व्यो भुजशाखाभिर्भेजुः कल्पलताश्रियम् ॥३७॥
स्तनाब्जकुड्मलैरास्यपङ्कजैश्च विकासिभिः । अब्जिन्य इव ता रेजुर्मदनावासभूमिकाः ॥३८॥
मन्ये पात्राणि गात्राणि तासां कामग्रहोच्छ्रितौ । यदावेशवशादेष[1] दशां प्राप्तोऽतिवर्तिनीम् ॥३९॥
शङ्के[2] निशातपाषाणान्नखानासां मनोभुवः । यत्रोपारूढ[3]तैक्ष्ण्यैः स्वैरविध्यत् कामिनः शरैः ॥४०॥
सत्यं महेषुधी जङ्घे तासां मदनधन्विनः । कामस्यारोहनिःश्रेण्यौ[4] स्थानीयावूरुदण्डकौ ॥४१॥
कटी कुटी मनोजस्य काञ्चीसालकृतावृतिः । नाभिरासां गभीरैका कूपिका चित्तजन्मनः ॥४२॥
मनोभुवोऽतिवृद्धस्य मन्येऽवष्टम्भ[5]यष्टिका । रोमराजिः स्तनौ चास्यां कामरत्नकरण्डकौ ॥४३॥
कामपाशायतौ बाहू शिरीषोद्गमकोमलौ । कामस्योच्छ्वसितं[6] कण्ठः सुकण्ठीनां मनोहरः ॥४४॥
मुखं रतिसुखागारप्रमुखं[7] मुखबन्धनम्[8] । वैराग्यरससंगस्य तासां च दशनच्छदः[9] ॥४५॥
दृग्विलासाः शरास्तासां कर्णान्तौ लक्ष्यतां गतौ । भ्रूवल्लरी धनुर्यष्टिर्जिगीषोः पुष्पधन्विनः ॥४६॥
ललाटाभोगमेतासां मन्ये वाह्यालिका[10] स्थलम् । अनङ्गनृपतेरिष्ट[11]भोगकन्दुकचारिणः ॥४७॥
[12]अलकाः कामकृष्णाहेः शिशवः[13] परिपुञ्जिताः । कुञ्चिताः केशवल्लर्यो मदनस्येव वागुराः[14] ॥४८॥

वाले जिनके नेत्ररूपी वाणोसे यह समस्त संसार जीता गया था ऐसी वत्तीस हजार रानियाँ और भी उनके अन्त.पुरमे थी ॥३६॥ वे छियानवे हजार रानियाँ नखोकी किरणरूपी फूलों-के खिलनेसे, कुछ-कुछ लाल हथेलीरूपी पल्लवोसे और भुजारूपी शाखाओंसे कल्पलताकी शोभा धारण कर रही थी ॥३७॥ कामदेवके निवास करनेकी भूमिस्वरूप वे रानियाँ स्तनरूपी कमलोकी वोड़ियोसे और खिले हुए मुखरूपी कमलोंसे कमलिनियोके समान सुशोभित हो रही थी ॥३८॥ मै समझता हूँ कि इन रानियोंके शरीर कामरूपी पिशाचकी उन्नतिके पात्र थे क्योकि उनके आवेशके वशसे ही यह कामदेव सवको उल्लंघन करनेवाली विशाल अवस्थाको प्राप्त हुआ था ॥३९॥ अथवा मुझे यह भी शंका होती है कि उन रानियोंके नख, कामदेवके वाण पैने करनेके पाषाण थे क्योकि वह उन्हीपर घिसकर पैने किये हुए वाणोसे कामी लोगों-पर प्रहार किया करता था ॥४०॥ यह भी सच है कि उनकी जंघाएँ कामदेवरूपी धनुर्धारीके वडे-वड़े तरकस थे और ऊरुदण्ड (घुटनोसे ऊपरका भाग) कामदेवके चढनेकी नसैनीके समान थे ॥४१॥ करधनीरूपी कोटसे घिरी हुई उनकी कमर कामदेवकी कुटीके समान थी और उनकी नाभि कामदेवकी गहरी कूपिका (कुइयाँ) के समान जान पड़ती थी ॥४२॥ मै मानता हूँ कि उनकी रोमराजि कामदेवरूपी अत्यन्त वृद्ध पुरुषके सहारेकी लकडी थी और उनके स्तन कामदेवके रत्न रखनेके पिटारे थे ॥४३॥ शिरीषके फूलके समान कोमल उनकी दोनों भुजाएँ कामदेवके पाशके समान लम्बी थी और अच्छे कण्ठवाली उन रानियोंका मनोहर कण्ठ कामदेवके उच्छ्वासके समान था ॥४४॥ उनका मुख रति (प्रीति) रूपी सुखका प्रधान भवन था और उनके होठ वैराग्यरसकी प्राप्तिके मुखबन्धन अर्थात् द्वार वन्द करनेवाले कपाट थे ॥४५॥ उन रानियोंके नेत्रोंके कटाक्ष विजयकी इच्छा करनेवाले कामदेवके वाणोके समान थे, कानके अन्तभाग उसके लक्ष्य अर्थात् निशानोंके समान थे और भौहरूपी लता धनुषकी लकड़ीके समान थी ॥४६॥ मै समझता हूँ कि उन रानियोंके ललाटका विस्तार इष्टभोग रूपी गेदसे खेलनेवाले कामदेवरूपी राजाके खेलनेका मानो मैदान ही हो ॥४७॥ उनके

---

१ चक्री । २ शङ्का करोमि । ३ प्राप्त । ४ सदृशौ इत्यर्थ । ५ आधार । ६ जीवितम् । ७ प्रकृष्टद्वारम् । ८ पीनाहः । 'पीनाहो मुखबन्धनमस्य यत्' इत्यभिधानात् । ९ रदनच्छद –ल० । १० 'सेतु । 'सेतुराली स्त्रिया पुमान्' । ११ इष्टभोगा एव कन्दुक । १२ चूर्णकुन्तला । 'अलकाश्चूर्णकुन्तला' इत्यभिधानात् । १३ शावका । 'पृथुक शावक शिशु' इत्यभिधानात् । १४ मृगबन्धनी ।

इत्यनङ्गमयीं सृष्टिं तन्वानाः स्वाङ्गसंगिनीम् । मनोऽस्य[1] जगृहुः कान्ताः कान्तैः स्वैः कामचेष्टितैः ॥४९॥
तासां मृदुकरस्पर्शैः प्रेमस्निग्धैश्च वीक्षितैः । महती धृतिरस्यासीज्जल्पितैरपि मन्मनैः[2] ॥५०॥
स्मितेष्वासां दरोद्भिन्नो[3] हसितेषु विकस्वरः । फलितः[4] परिरम्भेषु[5] रसिकोऽभूद्रतद्रुमः ॥५१॥
भ्रूक्षेपयन्त्रपाषाणैः दृक्क्षेपक्षेपणीकृतैः । [6]बहुदुर्गरणस्तासां स्मरोऽभूत सकचग्रहः ॥५२॥
खरः प्रणयगर्भेषु कोपेष्वनुनये मृदुः । स्तब्धो व्यलीकमानेषु मुग्धः प्रणयकैतवे ॥५३॥
निर्दयः परिरम्भेषु सानुज्ञानो मुखार्पणे । प्रतिपत्तिषु संमूढः पटुः करणचेष्टिते ॥५४॥
संकल्पेष्वाहितोत्कर्षो मन्दः [7]प्रत्यग्रसंगमे । प्रारम्भे रसिको दीप्तः प्रान्ते करुणकातरः[8] ॥५५॥
इत्युच्चावचतां[9] भेजे तासां दीप्तः स मन्मथः । प्रायो भिन्नरसः कामः कामिनां हृदयंगमः ॥५६॥
प्रकाममधुरानित्थं कामान् [10]कामातिरेकिणः । स ताभिर्निर्विशन् रेमे [11]वपुष्मानिव मन्मथः ॥५७॥
ताश्च तच्चित्तहारिण्यस्तरुण्यः प्रणयोद्धुराः । बभूवुः प्राप्तसाम्राज्या इव [12]रत्युत्सवश्रियः ॥५८॥

इकट्ठे हुए आगेके सुन्दर बाल कामदेवरूपी काले सर्पके बच्चोंके समान जान पड़ते थे तथा कुछ-कुछ टेढ़ी हुई केशरूपी लताएँ कामदेवके जालके समान जान पड़ती थीं ॥४८॥ इस प्रकार अपने शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाली काममयी रचनाको प्रकट करती हुई वे रानियाँ अपनी सुन्दर कामकी चेष्टाओंसे महाराज भरतका मन हरण करती थीं ॥४९॥ उनके कोमल हाथोंके स्पर्शसे, प्रेमपूर्ण सरस अवलोकनसे, और अव्यक्त मधुर शब्दोंसे इसे बहुत ही सन्तोष होता था ॥५०॥ रससे भरा हुआ सुरतरूपी वृक्ष इन रानियोंके मन्द-मन्द हँसनेपर कुछ खिल जाता था, जोरसे हँसनेपर पूर्णरूपसे खिल जाता था और आलिंगन करनेपर फलोंसे युक्त हो जाता था ॥५१॥ भौंहोंके चलानेरूप यन्त्रोंसे फेंके हुए पत्थरोंके द्वारा तथा दृष्टियोंके फेंकनेरूपी यन्त्र विशेषों (गुथनों) के द्वारा उन स्त्रियोंका बहुत प्रकारका किलेबन्दीका युद्ध होता था और कामदेव उसमें सबकी चोटी पकड़नेवाला था । भावार्थ – कामदेव उन स्त्रियोंसे अनेक प्रकारकी चेष्टा कराता था ॥५२॥ कामदेव इनके प्रेमपूर्ण क्रोधके समय कठोर हो जाता था, अनुनय करने अर्थात् पतिके द्वारा मनाये जानेपर कोमल हो जाता था, झूठा अभिमान करनेपर उद्दण्ड हो जाता था, प्रेमपूर्ण कपट करते समय भोला या अनजान हो जाता था, आलिंगनके समय निर्दय हो जाता था, चुम्बनके लिए मुख प्रदान करते समय आज्ञा देनेवाला हो जाता था, स्वीकार करते समय विचार मूढ हो जाता था, हाव-भाव आदि चेष्टाओंके समय अत्यन्त चतुर हो जाता था, संकल्प करते समय उत्कर्षको धारण करनेवाला हो जाता था, नवीन समागमके समय लज्जासे कुछ मन्द हो जाता था, सम्भोग प्रारम्भ करते समय अत्यन्त रसिक हो जाता था और सम्भोगके अन्तमें करुणासे कातर हो जाता था । इस प्रकार उन रानियोंका अत्यन्त प्रज्वलित हुआ कामदेव ऊँच-नीची अवस्थाको प्राप्त होता था अर्थात् घटता-बढ़ता रहता था सो ठीक ही है जो काम प्रायः भिन्न-भिन्न रसोंसे भरा रहता है वही कामी पुरुषोंको सुन्दर मालूम होता है ॥५३–५६॥ इस प्रकार वह चक्रवर्ती उन रानियोंके साथ अत्यन्त मधुर तथा इच्छाओंसे भी अधिक भोगोंको भोगता हुआ शरीरधारी कामदेवके समान क्रीड़ा करता था ॥५७॥ भरतके चित्तको हरण करनेवाली और प्रेमसे भरी हुई वे तरुण स्त्रियाँ ऐसी जान पड़ती थीं मानो साम्राज्यको प्राप्त हुई रत्युत्सवरूपी लक्ष्मी ही हों ॥५८॥ उनकी

---

१ भरतस्य । २ अव्यक्तैः । ३ ईषद्विकसित । ४ फलित ल० । ५ आलिङ्गनेषु । ६ दुर्गयुद्धसदृशः । ७ नव । ८ करुणरसातुर । ९ नानालंकारताम् । १० मनोरथवृद्धिकरान् । ११ मूर्तिमान् । १२ रत्युत्सवे श्रियः ल० ।

नाटकानां सहस्राणि द्वात्रिंशत्प्रमितानि वै । सातोद्यानि सगेयानि यानि रम्याणि भूमिभिः[1] ॥५९॥
द्वासप्ततिः सहस्राणि[2] पुरामिन्द्रपुरश्रियम् । स्वर्गलोक इवाभाति नृलोको यैरलंकृतः ॥६०॥
ग्रामकोटयश्च विज्ञेया विभोः षण्णवतिप्रमाः । नन्दनोद्देशजित्वर्यो[3] यासामारामभूमयः ॥६१॥
द्रोणामुखसहस्राणि[4] नवतिर्नव चैव हि । धनधान्यसमृद्धीनामधिष्ठानानि यानि वै ॥६२॥
पत्तनानां सहस्राणि चत्वारिंशत्तथाऽष्ट च । रत्नाकरा इवाभान्ति येषामुरुा[5] वणिक्पथाः ॥६३॥
षोडशैव सहस्राणि खेटानां पुरिमा मता । प्राकारगोपुरट्टाल[6]खातवप्रादिशोभिनाम् ॥६४॥
भवेयुरन्तरद्वीपाः षट्पञ्चाशत्प्रमामिताः । कुमानुषजनाकीर्णा येऽर्णवस्य खिलायिताः[7] ॥६५॥
संवाहानां सहस्राणि संख्यातानि[8] चतुर्दश । वहन्ति यानि लोकस्य योगक्षेमविधाविधिम्[9] ॥६६॥
स्थालीनां कोटिरेकोक्ता रन्धने[10] या नियोजिता । [11]पक्त्री स्थालीविलीयानां[12] तण्डुलानां महानसे ॥६७॥
[13]कोटीशतसहस्रं स्याद्धलानां कुलिशैः[14] समम् । [15]कर्मान्तकर्षणे यस्य विनियोगो निरन्तरः ॥६८॥
तिस्रोऽस्य [16]व्रजकोट्यः स्युर्गोकुलैः शश्वदाकुलाः । यत्र मन्थरवाकृष्टास्तिष्ठन्ति स्माध्वगाः क्षणम् ॥६९॥
[17]कुक्षिवासशतान्यस्य सप्तैवोक्तानि कोविदैः । [18]प्रत्यन्तवासिनो यत्र न्यवात्सुः[19] कृतसंश्रयाः ॥७०॥

विभूतिमे बत्तीस हजार नाटक थे जो कि भूमियोंसे मनोहर थे और अच्छे-अच्छे बाजों तथा गानोंसे सहित थे ॥५९॥ इन्द्रके नगर समान शोभा धारण करनेवाले ऐसे बहत्तर हजार नगर थे जिनसे अलंकृत हुआ यह नरलोक स्वर्गलोकके समान जान पड़ता था ॥६०॥ उस चक्रवर्तीके ऐसे छियानवे करोड़ गाँव थे कि जिनके बगीचोंकी शोभा नन्दन वनको भी जीत रही थी। ॥६१॥ जो धन-धान्यकी समृद्धियोंके स्थान थे ऐसे निन्यानवे हजार द्रोणामुख अर्थात् बन्दरगाह थे ॥ ६२ ॥ जिनके प्रशंसनीय बाजार रत्नाकर अर्थात् समुद्रोंके समान सुशोभित हो रहे थे ऐसे अड़तालीस हजार पत्तन थे ॥६३॥ जो कोट, कोटके प्रमुख दरवाजे, अटारियाँ, परिखाएँ और परकोटा आदिसे शोभायमान हैं ऐसे सोलह हजार खेट थे ॥६४॥ जो कुभोग-भूमि या मनुष्योंसे व्याप्त थे तथा समुद्रके सारभूत पदार्थके समान जान पड़ते थे ऐसे छप्पन अन्तरद्वीप थे ॥६५॥ जो लोगोंके योग अर्थात् नवीन वस्तुओंकी प्राप्ति और क्षेम अर्थात् प्राप्त हुई वस्तुओंकी रक्षा करना आदिकी समस्त व्यवस्थाओंको धारण करते थे तथा जिनके चारों ओर परिखा थी ऐसे चौदह हजार संवाह थे* ॥ ६६ ॥ पकानेके काम आनेवाले एक करोड़ हण्डे थे जो कि पाकशालामें अपने भीतर डाले हुए बहुत-से चावलोंको पकानेवाले थे ॥६७॥ फसल आनेके बाद जो निरन्तर खेतोंको जोतनेमें लगाये जाते हैं और जिनके साथ बीज बोनेकी नाली लगी हुई है ऐसे एक लाख करोड हल थे ॥६८॥ दही मथनेके शब्दोंसे आकर्षित हुए पथिक लोग जहाँ क्षण-भरके लिए ठहर जाते हैं और जो निरन्तर गायोंके समूहसे भरी रहती है ऐसी तीन करोड़ व्रज अर्थात् गौशालाएँ थीं ॥ ६९ ॥ जहाँ आश्रय पाकर समीपवर्ती लोग आकर ठहरते थे ऐसे कुक्षिवासोंकी† संख्या पण्डित लोगोंने सात-सौ

---

१ वेषे । २ पुराणाम् । ३ जयशीला. । ४ नवाधिकनवति । ५ प्रशस्ता. । ६ धूलिकुट्टिम । ७ अप्रतिहत-स्थानायिता । 'द्वे खिलाप्रहते समे' इत्यभिधानात् । ८ सख्यातानि – ल० । ९ विधानप्रकारम् । १० पचने । ११ पचनकरी । १२ स्थालीविलमर्हन्तीति स्थालीविलीयास्तेषाम् । पचनार्हताम् इत्यर्थ । १३ कोटीना लक्षम् । १४ कुलिशै द०, अ०, प०, स०, इ० । कुलिशैः ल० । कुटिभै ट० । १५ आसन्नफलविषयक्षेत्रकर्षणे । १६ गोस्थानकम् । 'व्रजो गोष्ठाध्ववृन्देषु' इत्यभिधानात् । १७ रत्नाना क्रयविक्रयस्थान । १८ म्लेच्छा । १९ निवसन्ति स्म । * पहाड़ोंपर बसनेवाले नगर संवाह कहलाते हैं । † जहाँ रत्नोंका व्यापार होता है उन्हे कुक्षिवास कहते है ।

दुर्गाटवी[1] सहस्राणि तस्याष्टाविंशतिर्मता । [2]वनधन्वाननिम्नाद्रिविभागैर्या विभागिताः ॥७१॥
म्लेच्छराजसहस्राणि तस्याष्टदशसंख्यया । [3]रत्नानामुद्भवक्षेत्रं यैः[4] समन्तादधिष्ठितम् ॥७२॥
कालाख्यश्च महाकालो नैस्सर्प्यः पाण्डुकाह्वया । पद्ममाणवपिङ्गाब्ज[5] सर्वरत्नपदादिकाः ॥७३॥
निधयो नव तस्यासन् प्रतीतैरिति नामभिः । यैरयं गृहवार्तायां[6] निश्चिन्तोऽभून्निधीश्वरः ॥७४॥
निधिः पुण्यनिधेरस्य कालाख्यः प्रथमो मतः । यतो[7] लौकिकशब्दादिवार्तानां प्रभवोऽन्वहम् ॥७५॥
इन्द्रियार्था मनोज्ञा ये वीणावंशानकादयः । तान् प्रसूते यथाकालं निधिरेष विशेषतः ॥७६॥
असिमष्यादिषट्कर्मसाधनद्रव्यसंपदः । यतः शश्वत् प्रसूयन्ते महाकालो निधिः स वै ॥७७॥
शय्यासनालयादीनां नै.सर्प्यात् प्रभवो निधेः । पाण्डुकाद्धान्यसंभूतिः षड्रसोत्पत्तिरप्यतः ॥७८॥
पट्टांशुकदुकूलादिवस्त्राणां प्रभवो यतः । स पद्माख्यो निधिः पद्मागर्भाविर्भावितोऽद्युतत् ॥७९॥
दिव्याभरणभेदानामुद्भवः पिङ्गलान्निधेः । माणवान्नीतिशास्त्राणां शस्त्राणां च समुद्भवः ॥८०॥
शङ्खात् प्रदक्षिणावर्तात् सौवर्णी सृष्टिमुत्सृजन्[8] । स शङ्खनिधिरुत्प्रेङ्ख[9]द्रुक्मरोचिर्जितार्करुक् ॥८१॥
सर्वरत्नान्महानीलनीलस्थूलो[10] पलादयः । प्रादु.सन्ति[11] मणिच्छायारचितेन्द्रायुधत्विष. ॥८२॥
रत्नानि द्वितयान्यस्य जीवाजीवविभागतः । [12]क्ष्मात्राणैश्वर्यसंभोगसाधनानि चतुर्दश ॥८३॥

वतलायी है ।।७०।। अट्ठाईस हजार ऐसे सघन वन थे जो कि निर्जल प्रदेश और ऊँचे-ऊँचे पहाड़ी विभागोमे विभक्त थे ।।७१।। जिनके चारो ओर रत्नोके उत्पन्न होनेके क्षेत्र अर्थात् खानें विद्यमान है ऐसे अठारह हजार म्लेच्छ राजा थे ।।७२।। महाराज भरतके काल, महाकाल, नैस्सर्प्य, पाण्डुक, पद्म, माणव, पिग, शंख और सर्वरत्न इन प्रसिद्ध नामोसे युक्त ऐसी नौ निधियाँ थी कि जिनसे चक्रवर्ती घरकी आजीविकाके विषयमें विलकुल निश्चिन्त रहते थे ।।७३–७४।। पुण्यकी निधिस्वरूप महाराज भरतके पहली काल नामकी निधि थी जिससे प्रत्येक दिन लौकिक शब्द अर्थात् व्याकरण आदिके शास्त्रोकी उत्पत्ति होती रहती थी ।।७५।। तथा वीणा, वाँसुरी, नगाडे आदि जो-जो इन्द्रियोके मनोज्ञ विषय थे उन्हे भी यह निधि समयानुसार विशेष रीतिसे उत्पन्न करती रहती थी ।।७६।। जिससे असि, मषी आदि छह कर्मोके साधनभूत द्रव्य और सपदाएँ निरन्तर उत्पन्न होती रहती थी वह महाकाल नामकी दूसरी निधि थी ।।७७।। शय्या, आसन तथा मकान आदिकी उत्पत्ति नैसर्प्य नामकी निधिसे होती थी । पाण्डुक निधिसे धान्योंकी उत्पत्ति होती थी । इसके सिवाय छह रसोकी उत्पत्ति भी इसी निधिसे होती थी ।।७८।। जिससे रेशमी सूती आदि सव तरहके वस्त्रोकी उत्पत्ति होती रहती है और जो कमलके भीतरी भागोसे उत्पन्न हुएके समान प्रकाशमान है ऐसी पद्म नामकी निधि अत्यन्त देदीप्यमान थी ।।७९।। पिंगल नामकी निधिसे अनेक प्रकारके दिव्य आभरण उत्पन्न होते रहते थे और माणव नामकी निधिसे नीतिशास्त्र तथा अनेक प्रकारके शस्त्रोकी उत्पत्ति होती रहती थी ।।८०।। जो अपने प्रदक्षिणावर्त नामके शंखसे सुवर्णकी सृष्टि उत्पन्न करती थी और जिसने उछलती हुई सुवर्ण-जैसी कान्तिसे सूर्यकी किरणोको जीत लिया है ऐसी शख नामकी निधि थी ।।८१।। जिसके मणियोकी कान्तिसे इन्द्रधनुषकी शोभा प्रकट हो रही है ऐसी सर्वरत्न नामकी निधिसे महानील, नील तथा पद्मराग आदि अनेक तरहके रत्न प्रकट होते थे ।।८२।। इनके सिवाय भरत महाराजके जीव और अजीवके भेदसे दो विभागोमे वँटे हुए चौदह रत्न भी थे जो कि पृथिवीकी रक्षा और ऐश्वर्यके उपभोग करनेके साधन थे ।।८३।।

---

१ मरुभूमि । 'समानो मरुधन्वानौ' इत्यभिधानात् । २ धन्वन्निम्नानिम्नाद्रि–द० । वनधन्वननम्रादि–ल० । ३ कुक्षिवासम् । ४ म्लेच्छराजैः । ५ पिङ्ग पिङ्गल । अब्ज कमल । ६ व्यापारे । ७ कालनिधे । ८ जनयन् । ९ उच्चलत् । १० पद्मराग । ११ प्रकटीभवन्ति । १२ पृथ्वीरक्षा ।

चक्रातपत्रदण्डासिमणयश्चर्म काकिणी । चमूगृहपतीभाश्वयोषित्तक्षपुरोधसः ॥८४॥
[1]चक्रासिदण्डरत्नानि सच्छत्राण्यायुधालयात् । जातानि मणिचर्माभ्यां काकिणी श्रीगृहोदरे ॥८५॥
स्त्रीरत्नगजवाजीनां प्रभवो[2] रौप्यशैलतः । रत्नान्यन्यानि साकेताज्जज्ञिरे निधिभिः समम् ॥८६॥
निधीनां सह रत्नानां[3] गुणान् को नाम वर्णयेत् । [4]यैरावर्जितमूर्जस्वि[5] हृदयं चक्रवर्तिनः ॥८७॥
भेजे षडृतुजानिष्टान् भोगान् पञ्चेन्द्रियोचितान् । स्त्रीरत्नसार[6]थिस्तद्धि[7] निधानं[8] सुखसंपदाम् ॥८८॥
कान्तारत्नमभूत्तस्य सुभद्रेत्यनुपद्रुतम्[9] । [10]भद्रिकाऽसौ प्रकृत्यैव[11] जात्या विद्याधरान्वया ॥८९॥
शिरीषसुकुमाराङ्गी [12]चम्पकच्छदसच्छविः । बकुलामोदनिःश्वासा पाटला[13] पाटलाधरा[14] ॥९०॥
प्रबुद्धपद्मसौम्यास्या नीलोत्पलदलेक्षणा । सुभ्रूरलिकुलानीलमृदुकुञ्चितमूर्द्धजा ॥९१॥
तनूदरी वरारोहा[15] [16]वामोरुर्निविडस्तनी । मृदुबाहुलता साऽभून्मदनाग्नेरिवारणिः[17] ॥९२॥
तत्क्रमौ[18] नूपुरासङ्गगुञ्जितैर्मुखरीकृतौ । मदनद्विरदस्येव तेनतुर्जयडिण्डिमम् ॥९३॥
निःश्रेणीकृत्य तज्जङ्घे सदूरुद्वारबन्धनाम् । वासगेहास्थयाऽनङ्गस्तच्छ्रोणीं[19] नूनमारुहत् ॥९४॥

चक्र, छत्र, दण्ड, असि, मणि, चर्म और काकिणी ये सात अजीव रत्न थे और सेनापति, गृहपति, हाथी, घोड़ा, स्त्री, सिलावट और पुरोहित ये सात सजीव रत्न थे ॥८४॥ चक्र, दण्ड, असि और छत्र ये चार रत्न आयुधशालामे उत्पन्न हुए थे तथा मणि, चर्म और काकिणी ये तीन रत्न श्रीगृहमे प्रकट हुए थे ॥८५॥ स्त्री, हाथी और घोड़ाकी उत्पत्ति विजयार्ध शैलपर हुई थी तथा अन्य रत्न निधियोंके साथ-साथ अयोध्यामें ही उत्पन्न हुए थे ॥८६॥ जिनके द्वारा सेवन किया हुआ चक्रवर्तीका हृदय अतिशय बलिष्ठ हो रहा था उन निधियों और रत्नोका वर्णन कौन कर सकता है ? ॥८७॥ वह चक्रवर्ती स्त्रीरत्नके साथ-साथ छहो ऋतुओमें उत्पन्न होनेवाले पंचेन्द्रियोके योग्य भोगोका उपभोग करता था सो ठीक ही है क्योकि स्त्री ही समस्त सुख सम्पदाओका भण्डार है ॥८८॥ महाराज भरतके रोगादि उपद्रवोसे रहित सुभद्रा नामकी स्त्रीरत्न थी, वह सुभद्रा स्वभावसे ही भद्रा अर्थात् कल्याणरूप थी और जातिसे विद्याधरोंके वंशकी थी ॥८९॥ उसके समस्त अंग शिरीषके फूलके समान कोमल थे, कान्ति चम्पाकी कलीके समान थी, श्वासोच्छ्वास वकौली (मौलश्री) के फूलके समान सुगन्धित था, अधर गुलावके फूलके समान कुछ-कुछ लाल थे, मुख प्रफुल्लित कमलके समान सुन्दर था, नेत्र नील कमलके दलके समान थे, भौंहे अच्छी थीं, केश भ्रमरोके समूहके समान काले, कोमल और कुछ-कुछ टेढ़े थे, उदर कृश था, नितम्ब सुन्दर थे, जाँघे मनोहर थी, स्तन कठोर थे और भुजारूपी लताएँ कोमल थी, इस प्रकार वह सुभद्रा कामरूपी अग्निको उत्पन्न करनेके लिए अरणिके समान थी । भावार्थ – जिस प्रकार अरणि नामकी लकडीसे अग्नि उत्पन्न होती है उसी प्रकार उस सुभद्राने दर्शकोके मनमें कामाग्नि उत्पन्न हो उठती थी ॥९०–९२॥ नूपुरोकी मनोहर झंकारसे वाचालित हुए उसके दोनो चरण ऐसे जान पड़ते थे मानो कामदेवरूपी हाथीके विजयके नगाडे ही बजा रहे हो ॥९३॥ ऐसा मालूम होता था मानो कामदेव अपने निवासगृहपर पहुँचनेकी इच्छासे उस सुभद्राकी दोनो जंघाओको नसैनी बनाकर जिसमें उत्तम ऊरु ही

१ चक्रदण्डासि–ल०, द०, अ०, प०, स०, इ० । २ उत्पत्तिः । ३ रत्नसहितानाम् । ४ रत्ननिधिभि. । ५ वशीकृतम् । ६ सहाय । ७ स्त्रीरत्नम् । ८ स्थानम् । ९ रोगादिभिरपीडितम् । १० मङ्गलमूर्ति । ११ स्वभावेन । १२ चम्पककुसुमदल । १३ कुबेराक्षी । १४ ईषदरुण । १५ उत्तमनितम्बा । "वरारोहा मत्तकाशिन्युत्तमा वरवर्णिनी" इत्यभिधानात् । १६ मनोहर । १७ अग्निमन्थनकाष्ठम् । १८ सुभद्राचरणौ । १९ कटिम् । 'कटो ना श्रोणिफलकं कटिः श्रोणिः ककुद्मती' इत्यभिधानात् ।

निःसृत्य नाभिवल्मीकात् कामकृष्णभुजंगमः । रोमावलीछलेनास्या ययौ कुचकरण्डकौ[1] ॥९५॥
निर्मोकमिव कामाहेः दधानोद्धं[2] स्तनांशुकम् । भुजगीमिव तद्धत्यै[3] [4]सैकामेकावलीमधात् ॥९६॥
वभ्रे हारलतां कण्ठलग्नां सा नाभिलम्बिनीम् । मन्त्ररक्षामिवानङ्गग्रथितां कामदीपिनीम् ॥९७॥
हाराक्रान्तस्तनाभोगा सा स्म धत्ते परां श्रियम् । सीतेव[5] यमकाद्रिस्पृक्प्रवाहा सरिदुत्तमा ॥९८॥
बाहू तस्या जितानङ्गपाशौ लक्ष्मीमुदूहतुः[6] । कामकल्पद्रुमस्येव प्ररोहौ दीप्तभूषणौ ॥९९॥
रेजे करतलं तस्याः सूक्ष्मरेखाभिराततम् । जयरेखा इवाबिभ्रदन्यस्त्रीनिर्जयार्जिता ॥१००॥
मुखमुत्क्रु तनूदर्यास्तरलापाङ्गमावभौ । सशर ससहेष्वासं[7] [8]जयागारमिवाननोः[9] ॥१०१॥
वक्त्रमस्याः शशाङ्कस्य कान्तिं जित्वा स्वशोभया । दधे नु[10] भ्रूपताकाङ्कं कर्णाभ्यां जयपत्रकम् ॥१०२॥
[11]हेमपत्राङ्कितौ तन्व्याः[12] कर्णौ लीलामवापतुः । स्वर्वधूनिर्जयायेव कृतपत्रावलम्बनौ ॥१०३॥
कपोलावुज्ज्वलौ तस्या दधतुर्दर्पणश्रियम् । द्रष्टुकामस्य कामस्य[13] स्वा दशा दशधा स्थिताः ॥१०४॥
[14]मध्येचक्षुरधीराक्ष्या नासिकाऽभान्मुखोन्मुखी[15] । तदामोदमिवाघ्रातुं कृतयत्ना कुतूहलात् ॥१०५॥
कृत्वा श्रोतृपदे[16] कर्णौ तन्नेत्रे विभ्रमैर्मिथः । कृतस्पर्धे इवाभातां पुष्पत्राणे[17] सभापतौ ॥१०६॥

दरवाजेके वन्धन है ऐसे उसके नितम्बोपर जा पहुँचा हो ॥९४॥ रोमावलीके छलसे कामदेव-रूपी काला सर्प उसकी नाभिरूपी वामीसे निकलकर उसके स्तनरूपी पिटारोंके समीप जा पहुँचा था ॥९५॥ वह सुभद्रा कामरूपी सर्पकी काँचलीके समान सुन्दर स्तनवस्त्र (चोली) धारण करती थी और उस कामरूप सर्पको सन्तुष्ट करनेके लिए सर्पिणीके समान श्रेष्ठ एकावली हारको धारण करती थी ॥९६॥ वह कण्ठमें पड़ी हुई, नाभि तक लटकती हुई और कामको उद्दीपित करनेवाली जिस हाररूपी लताको धारण कर रही थी वह ऐसी मालूम होती थी मानो कामदेवके द्वारा गूँथा हुआ और मन्त्रोसे मन्त्रित हुआ रक्षाका डोरा ही हो। ॥९७॥ जिसके स्तनोंका मध्यभाग हारसे व्याप्त हो रहा है ऐसी वह सुभद्रा इस प्रकारकी उत्कृष्ट शोभा धारण कर रही थी मानो जिसका प्रवाह दोनो ओरके यमक पर्वतोको स्पर्श कर रहा है ऐसी उत्तम सीता नदी ही हो ॥९८॥ कामदेवके पाशको जीतनेवाली तथा देदीप्यमान आभूपणोंसे सुशोभित उसकी दोनो भुजाएँ ऐसी शोभा धारण कर रही थी मानो कामरूपी कल्पवृक्षके दो अंकूरे ही हो ॥९९॥ सूक्ष्म रेखाओसे व्याप्त हुआ उसका करतल ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो अन्य स्त्रियोके पराजयसे उत्पन्न हुई विजयकी रेखाएँ ही धारण कर रहा हो ॥१००॥ जिसकी भौहे ऊपरको उठी हुई है और जिसमे चचल कटाक्ष हो रहे है ऐसा उस कृशोदरीका मुख ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो वाण और महाधनुपसे सहित कामदेव-की आयुधशाला ही हो ॥१०१॥ उसका मुख अपनी शोभाके द्वारा चन्द्रमाकी कान्तिको जीत-कर क्या कानोके वहानेसे भौंहरूपी पताकाके चिह्नसहित विजयपत्र (जीतका प्रमाणपत्र) ही धारण कर रहा था ॥१०२॥ सोनेके पत्रोसे चिह्नित उसके दोनो कान ऐसी शोभा धारण कर रहे थे मानो उन्होने देवागनाओको जीतनेके लिए कागज-पत्र ही ले रखे हो ॥१०३॥ उसके दोनो उज्ज्वल कपोल ऐसे जान पडते थे मानो अपनी दश प्रकारकी अवस्थाओको देखनेकी इच्छा करनेवाले कामदेवके दर्पणकी शोभा ही धारण कर रहे हो ॥१०४॥ उस चंचल लोचनवाली सुभद्राकी नाक आँखोके वीचमे मुँहकी ओर झुकी हुई थी और उससे

१–करण्डकम् द०, ल०, इ०, अ० प०, स० । २ प्रशस्तम् । ३ कामाहे सतोषाय । ४ सुन्दराम् । ५ सीता-नदी । ६ ददाते स्म । ७ महाचापसहितम् । ८ शस्त्रशालाम् । ९ अनङ्गस्य । १० इव । ११ कर्णपत्र । १२ तस्याः ल०, द० । १३ आत्मीया । १४ चक्षुषोर्मध्ये । १५ मुखस्याभिमुखी । १६ श्रोतृजनस्थाने । १७ कामे सभापतौ सति ।

अभूत् कान्तिश्चकोराक्ष्या ललाटे लुलितालके । हेमपट्टान्तसंलग्ननीलोत्पलविडम्बिनी ॥१०७॥
तस्या विनीलविस्रस्तकवरीबन्धबन्धुरम्[1] । केशपाशमनङ्गस्य मन्ये पाशं प्रसारितम् ॥१०८॥
इत्यस्या रूपमुद्भूतसौष्ठवं त्रिजगज्जयि । मत्वानङ्गस्तदङ्गेषु संनिधानं व्यधात् ध्रुवम् ॥१०९॥
तद्रूपालोकनोच्चक्षुस्तद्गात्रस्पर्शनोत्सुकः । तन्मुखामोदमाजिघ्रन् रसयश्चासकृन्मुखम् ॥११०॥
तद्गेयकलनिक्वाणश्रुतिसंसक्तकर्णकः । तद्गात्रविपुलारामे स रेमे सुखनिर्वृतः[2] ॥१११॥
पञ्च बाणाननङ्गस्य वदन्त्येतान्[3] कुण्ठितान्[4] । पुष्पेषुसंकथा लोके प्रसिद्ध्यैव गता प्रथाम् ॥११२॥
धनुर्लतां मनोजस्य प्राहुः पुष्पमयीं जडाः । सुकुमारतरं स्त्रैणं[5] वपुरेवातनोर्धनुः ॥११३॥
पञ्चबाणाननङ्गस्य नियच्छन्ति[6] कुतो[7] जडाः । यदेव कामिनां हारि तदस्त्रं कामदीपनम् ॥११४॥
स्मितमालोकितं हासो जल्पितं मदमन्मनम्[8] । कामाङ्गमिदमेवान्यत् कैतवं तस्य[9] पोषकम् ॥११५॥
आरूढयौवनोष्माणौ स्तनावस्या हिमागमे । रोम्णां[10] हृषितमस्याङ्गे शिशिरोत्थं विनिन्यतुः[11] ॥११६॥
हिमानिलैः कुचोत्कम्पमाहितं[12] सा हृतक्लमैः । [13]प्रेयस्करतलस्पर्शैरपनिन्ये[14]ऽङ्कशायिनी ॥११७॥

वह ऐसी जान पडती थी मानो कौतूहलसे मुँहका सुगन्ध सूँघनेके लिए प्रयत्न ही कर रही हो ॥१०५॥ उसके दोनो नेत्र ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो कामदेवके सभापति रहते हुए कानोको साक्षी बनाकर परस्परमे हाव-भावके द्वारा स्पर्धा ही कर रहे हो ॥१०६॥ जिसपर काली-काली अलके बिखर रही है ऐसे चकोरके समान नेत्रवाली उस सुभद्राके ललाटपर जो कान्ति थी वह सुवर्णके पटियेपर लटकती हुई नीलकमलकी मालाके समान बहुत ही सुन्दर जान पड़ती थी ॥१०७॥ अत्यन्त काले और नीचेकी ओर लटकते हुए कबरीके बन्धनसे सुशोभित उसके केशपाश ऐसे अच्छे जान पड़ते थे मानो फैला हुआ कामदेवका पाश ही हो ॥१०८॥ इस प्रकार जिसकी उत्तमता प्रकट है ऐसे उस सुभद्राके रूपको तीनो जगत्का जीतनेवाला जानकर ही मानो कामदेवने उसके प्रत्येक अगोंमें अपना निवासस्थान बनाया था ॥१०९॥ उसका रूप देखनेके लिए जो सदा चक्षुओको ऊपर उठाये रहता है, उसके शरीरका स्पर्श करनेके लिए जो सदा उत्कण्ठित बना रहता है, जो बार-बार उसके मुखकी सुगन्ध सूँघा करता है, बार-बार उसके मुखका स्वाद लिया करता है और उसके सगीतके सुन्दर शब्दोंके सुननेमे जिसके कान सदा तल्लीन रहते है ऐसा वह चक्रवर्ती उस सुभद्राके शरीररूपी बडे बगीचेमे सुखसे सन्तुष्ट होकर क्रीड़ा किया करता था ॥११०-१११॥ कविलोग, जिनका कही प्रतिबन्ध नही होता ऐसा सुभद्राका रूप, कोमल स्पर्श, मुखकी सुगन्ध, ओठोका रस और सगीतमय सुन्दर शब्द इन पाँचको ही कामदेवके पाँच बाण बतलाते है। लोकमें जो कामदेवके पाँचो बाणोकी चर्चा है वह रूढि मात्रसे ही प्रसिद्ध हो गयी है ॥११२॥ मूर्ख लोग कहते है कि कामदेवका धनुष फूलोका है परन्तु वास्तवमे स्त्रियोका अत्यन्त कोमल शरीर ही उसका धनुष है ॥११३॥ न जाने क्यो मूर्ख लोग कामदेवको पाँच बाण ही प्रदान करते है अर्थात् उसके पाँच बाण बतलाते है क्योकि जो कुछ भी कामी लोगोके चित्तको हरण करनेवाला है वह सभी कामको उत्तेजित करनेवाला कामदेवका बाण है। भावार्थ – कामदेवके अनेक बाण है ॥११४॥ स्त्रियोका मन्द हास्य, तिरछी चितवन, जोरसे हँसना और कामके आवेशसे अस्पष्ट बोलना यही सब कामदेवके अग है इनके सिवाय जो उनका कपट है वह इन्ही सबका पोषण करनेवाला है ॥११५॥ जो जवानीके कारण गर्म हो रहे है ऐसे सुभद्राके दोनो स्तन हेमन्तऋतुमें ठण्डसे उठे हुए भरतके शरीरके रोमाचोको दूर करते थे ॥११६॥ गोदमे शयन करनेवाली सुभद्रा शीतलवायुके

---

१ गलित । २ सुखतृप्त । ३ तद्रूपादीन् । ४ अमन्दान् । ५ स्त्रिया इदम् । ६ नियमयन्ति । ७ किं कारणम् । ८ मदेनाव्यक्तभाषिणम् । ९ कामस्य । १० रोमाञ्चम् । 'रोमाञ्चो रोमहर्षणम्' इत्यभिधानात् । ११ नाशं चक्रतुरित्यर्थः । १२ कृतम् । १३ प्रियतमहस्ततल । १४ अपहरति स्म ।

साशोककलिकां चूतमञ्जरीं कर्णसंगिनीम् । दधती[1] चम्पकप्रोतैः[2] केशान्तैः साऽरुचन्मधौ ॥११८॥
मधौ[3] मधुमदारक्तलोचनामास्खलद्गतिम् । बहु मेने प्रियः कान्तां मूर्तामिव मदश्रियम् ॥११९॥
कलैरलिकुलक्वाणैः सान्यपुष्टविकूजितैः । मधुर मधुरभ्यष्टौत्[4] तुष्ट्येवामुं[5] विशाम्पतिम् ॥१२०॥
[6]कलकण्ठीकलक्वाणमूर्छितैरलिझङ्कृतैः[7][8] । व्यज्यते स्म स्मराकाण्डावस्कन्दो[9] डिण्डिमायितैः ॥१२१॥
[10]पुष्प्यच्चूतवनोद्गन्धितत्फुल्लकमलाकरः । पप्रथे सुरभिर्मासः[11] सुरभीकृतदिङ्मुखः ॥१२२॥
हृतालिकुलझंकारः संचरन्मलयानिलः । अनङ्गनृपतेराज्ञीद् घोषयन्निव शासनम्[12] ॥१२३॥
सन्ध्यारुणां कलामिन्दोर्मेने लोको जगद्घसः[13] । करालामिव रक्ताक्तां[14] दंष्ट्रां मदनरक्षसः ॥१२४॥
उन्मत्तकोकिले काले तस्मिन्नुन्मत्तषट्पदे । नानुन्मत्तो जनः कोऽपि मुक्त्वानङ्ग[15] द्रुहो मुनीन् ॥१२५॥
सायमुदगाहनिर्णिक्तै[16] रङ्गैस्तुहिनशीतलैः । ग्रीष्मे मदनतापार्तं सास्याङ्गं निरवापयत्[17] ॥१२६॥
चन्दनद्रवसंसिक्तसुन्दराङ्गलतां प्रियाम् । परिरभ्य[18] दृढं दोर्भ्यां स लेभे गात्रनिर्वृतिम्[19] ॥१२७॥
मदनज्वरतापार्तां तीव्रग्रीष्मोष्मनिःसहाम्[20] । स तां निर्वापयामास स्वाङ्गस्पर्शसुखाम्बुभिः ॥१२८॥

द्वारा उत्पन्न हुई स्तनोंकी कँपकँपीको क्लेश दूर करनेवाले प्रिय पतिके करतलके स्पर्शसे दूर करती थी ॥११७॥ अशोकवृक्षकी कलीके साथ-साथ कानोमे लगी हुई आमकी मंजरीको धारण करती हुई वह सुभद्रा वसन्तऋतुमें चम्पाके फूलोसे गुँथी हुई चोटीसे बहुत ही अधिक सुशोभित हो रही थी ॥११८॥ वसन्तऋतुमें मधुके मदसे जिसकी आँखे कुछ-कुछ लाल हो रही है और जिसकी गति कुछ-कुछ लड़खड़ा रही है – स्खलित हो रही है ऐसी उस सुभद्राको भरत महाराज मूर्तिमती मदकी शोभाके समान बहुत कुछ मानते थे ॥११९॥ वह वसन्तऋतु सन्तुष्ट होकर भ्रमरोंकी सुन्दर झकार और कोकिलाओकी कमनीय कूकसे मानो राजा भरतकी सुन्दर स्तुति ही करता था ॥१२०॥ कोयलोके सुन्दर शब्दोसे मिली हुई भ्रमरोंकी झकारसे ऐसा जान पडता था मानो कामदेवने नगाड़ोके साथ अकस्मात् आक्रमण ही किया हो – छापा ही मारा हो ॥१२१॥ फूले हुए आमके वनोसे जो अत्यन्त सुगन्धित हो रहा है, जिसमे कमलोंके समूह फूले हुए है और जिसने समस्त दिशाएँ सुगन्धित कर दी है ऐसा वह वसन्तका चैत्र मास चारो ओर फैल रहा था ॥१२२॥ भ्रमरसमूहकी झकारको हरण करनेवाला, चारो ओर फिरता हुआ मलयसमीर ऐसा जान पड़ता था मानो कामदेवरूपी राजाके शासनकी घोषणा ही कर रहा हो ॥१२३॥ उस समय सन्ध्याकालकी लालीसे कुछ लाल हुई चन्द्रमाकी कलाको लोग ऐसा मानते थे मानो जगत्को निगलनेवाले कामदेवरूपी राक्षसकी रक्तसे भीगी हुई भयंकर डाँढ ही हो ॥१२४॥ जिसमे कोयल और भ्रमर सभी उन्मत्त हो जाते है ऐसे उस वसन्तके समय कामदेवके साथ द्रोह करनेवाले मुनियोको छोड़कर और कोई ऐसा मनुष्य नही था जो उन्मत्त न हुआ हो ॥१२५॥ सायंकालके समय जलमे अवगाहन करनेसे जो स्वच्छ किये गये है और जो बर्फके समान शीतल है ऐसे अपने समस्त अगोंसे वह सुभद्रा ग्रीष्मकालमें कामके सन्तापसे सन्तप्त हुए भरतके शरीरको शान्त करती थी ॥१२६॥ जिसकी शरीररूपी सुन्दर लतापर घिसे हुए चन्दनका लेप किया गया है ऐसी अपनी प्रिया सुभद्राको भरत महाराज दोनो हाथोसे गाढ आलिंगन कर अपना शरीर शान्त करते थे ॥१२७॥ जो कामज्वरके सन्तापसे पीडित हो रही है और जिसे ग्रीष्मकालकी तीव्र गरमी बिलकुल ही सहन

१ बध्नन्ती ल० । २ खचितै. । ३ वसन्ते । ४ स्तौति स्म । ५ तोषेणैव । ६ कोकिला । ७ मिश्रितै. । ८ प्रकटीक्रियते स्म । ९ कामकालधाटीः । १० पुष्पीभवत् । पुष्पचूत–इ०, अ०, प०, स०, द०, ल० । ११ वसन्त । १२ आज्ञाम् । १३ लोकभक्षकस्य । १४ रुधिरलिप्ताम् । १५ कामघातकान् । १६ संध्याकाल-जलप्रवेशशुद्धैः । १७ उष्ण परिहृत्य शैत्य चकारेत्यर्थः । १८ आलिङ्ग्य । १९ शरीरसुखम् । २० असहमानाम् ।

उत्फुल्लमल्लिकामोदवाहिभिर्गन्धवाहिभिः[1] । स सायंप्रातिकैर्भेजे[2] धृतिं रतिसुखाहरैः[3] ॥१२९॥
उत्फुल्लपाटलोद्गन्धि मल्लिकामालभारिणीम्[4] । उपगूह्य[5] प्रियां प्रेम्णा नैदाघीं[6] सोऽनयन्निशाम् ॥१३०॥
सा घनस्तनितव्याजात् तर्जितेव मनोभुवा ।भुजोपपीडमाश्लिष्य[7] शिश्ये पत्या तपात्यये[8] ॥१३१॥
नवाम्बुकलुषाः पूरा ध्वनिरुन्मदकेकिनाम् । कदम्बामोदिनो वाताः कामिनां धृतयेऽभवन्[9] ॥१३२॥
आरूढकालिकां पश्यन् बलाकामालभारिणीम् । घनालीं पथिकः साश्रुर्दिशो मेनेऽन्धकारिताः ॥१३३॥
धारारज्जुभिरानद्धा वागुरेव[10] प्रसारिता । रोधाय पथिकैणानां[11] लुब्धकेनेव हृद्भुवा ॥१३४॥
कृतावधिः प्रियो नागादगाच्च जलदागमः । इत्युदीक्ष्य[12] घनात्[13] काचिद् हृदि शून्याऽभवत् सती ॥१३५॥
विभिन्दन्[14] केतकीसूचीस्तत्पांसूनाकिरन्मरुत् । पान्थानां दृष्टिरोधाय धूलिक्षेपमिवाकरोत् ॥१३६॥
इत्यभ्यर्णतमे तस्मिन् काले जलदमालिनि । स वासभवने रम्ये प्रियामरमयन्मुहुः ॥१३७॥
आकृष्टनिचुलामोदं[15] तद्वक्त्रामोदमाहरन् । तस्याः स्तनतटोत्संगे सोऽनैषीद् वार्षिकीं[16] निशाम् ॥१३८॥
स रेमे शरदारम्भे विहरन् कान्तया समम् । वनेष्वभिनवोद्भिन्नसप्तच्छदसुगन्धिषु ॥१३९॥

नही हो सकती ऐसी उस सुभद्राको महाराज भरत अपने शरीरके स्पर्शसे उत्पन्न हुए सुखरूपी जलसे शान्त करते थे ॥१२८॥ खिली हुई मालतीकी सुगन्धको धारण करनेवाले तथा रति-समयमें सुख पहुँचानेवाले सायंकाल और प्रातःकालकी वायुके द्वारा चक्रवर्ती भरत बहुत ही अधिक सन्तोष प्राप्त करते थे ॥१२९॥ फूले हुए गुलाबकी सुगन्धयुक्त मालतीकी मालाओंको धारण करनेवाली उस सुभद्राको आलिंगन कर महाराज भरत बड़े प्रेमसे ग्रीष्मकालकी रात व्यतीत करते थे ॥१३०॥ वर्षाऋतुमें मेघोंकी गर्जनाके बहानेसे मानो कामदेवने जिसे घुडकी दिखाकर भयभीत किया है ऐसी वह सुभद्रा भुजाओंसे आलिंगन कर पतिके साथ शयन करती थी ॥ १३१ ॥ उस वर्षाऋतुमें नये जलसे मलिन हुए नदियोंके प्रवाह, उन्मत्त मयूरोंके शब्द और कदम्बके फूलोंकी सुगन्धिसे युक्त वायु ये सब कामी लोगोंके सन्तोषके लिए थे ॥१३२॥ जिसपर कालिमा छायी हुई है और जो बगुलाओंकी पंक्तिको धारण कर रही है ऐसी मेघमाला-को देखते हुए पथिक आँसू डालते हुए दिशाओंको अन्धकारपूर्ण मानते थे ॥१३३॥ उस वर्षा-ऋतुमें जो जलकी धाराएँ पड़ती थीं उनसे रस्सियोंके समान व्याप्त हुई यह पृथिवी ऐसी जान पड़ती थी मानो कामदेवरूपी शिकारीने पथिकरूपी हिरणोंको रोकनेके लिए जाल ही फैलाया हो ॥१३४॥ जो आनेकी अवधि करके गया था ऐसा पति अबतक नहीं आया और यह वर्षा ऋतु आ गयी इस प्रकार बादलोंको देखकर कोई पतिव्रता स्त्री अपने हृदयमें शून्य हो रही थी अर्थात् चिन्तासे उसकी विचारशक्ति नष्ट हो गयी थी ॥१३५॥ केतकीकी बौंडियोंको भेदन करता हुआ और उनकी धूलको चारों ओर बिखेरता हुआ वायु ऐसा जान पड़ता था मानो पथिकोंकी दृष्टि रोकनेके लिए धूलि ही उड़ा रहा हो ॥१३६॥ इस प्रकार उस वर्षाकालमें जब बादलों-के समूह अत्यन्त निकट आ जाते थे तब चक्रवर्ती भरत अपने मनोहर महलमें प्रिया सुभद्राको बार-बार प्रसन्न करता था—उसके साथ क्रीडा करता था ॥१३७॥ जिसने पानीमें उत्पन्न होने-वाले बेतकी सुगन्धि खींच ली है ऐसे उस सुभद्राके मुखकी सुगन्धको ग्रहण करता हुआ चक्रवर्ती उसके स्तनतटके समीप ही वर्षाऋतुकी रात्रि व्यतीत करता था ॥१३८॥ शरद्ऋतु-

---

१ पवनैः । २ सन्ध्याकालप्रभातकालभवैः । ३ रतिसुखकरैरित्यर्थः । ४ बिभ्रतीम् । ५ आलिङ्ग्य । उपगुह्य ब०, प०, द० । उपगूह्य अ०, ल०, स० । ६ निदाघसंबन्धिनीम् । ७ भुजाभ्यां पीडयित्वा । ८ वर्षाकाले । ९ संतोषाय । १० मृगबन्धिनी । ११ पान्थमृगाणाम् । १२ आलोक्य । १३ घनानन्तरस्तेपे प्रोषितभर्तृका द० । १४ भिन्दन् । १५ हिज्जुल । 'निचुलो हिज्जुलोऽम्बुजः' इत्यभिधानात् । १६ वर्षाकालसंबन्धिनीम् ।

स कान्तां रमयामास हारज्योत्स्नाञ्चितस्तनीम् । शारदीं निर्विशन् ज्योत्स्नां सौधोत्सङ्गेषु हारिषु ॥१४०॥
सोत्पलां[1] कुब्जकैर्दब्धां[2] मालां चूडान्तलम्बिनीम् । बाला पत्युरुरःसंगान्मेने बहुरतिश्रियम्[3] ॥१४१॥
इति सोत्कर्षमेवास्यां प्रथयन् प्रेमनिघ्नताम्[4] । स रेमे रतिसाद्भूतो[5] भोगाङ्गैर्दशधोदितैः ॥१४२॥
सरत्ना निधयो दिव्याः[6] पुरं शय्यासने चमूः । नाट्यं सभाजनं[7] भोज्यं वाहनं चेति तानि वै ॥१४३॥
दशाङ्गमिति भोगाङ्गं निर्विशन् स्वाशितं[8] भवम् । [9]स चिरं पालयामास भुवमेकातपवारणाम्[10] ॥१४४॥
षोडशास्य सहस्राणि गणबद्धामराः प्रभोः । ये युक्ता धृतनिस्त्रिंशा निधिरत्नात्मरक्षणे ॥१४५॥
क्षितिसार[11] इति ख्यातः प्राकारोऽस्य गृहावृतिः । गोपुरं सर्वतोभद्रं प्रोल्लसद्रत्नतोरणम् ॥१४६॥
नन्द्यावर्तो निवेशोऽस्य शिविरस्यालघीयसः । प्रासादो वैजयन्ताख्यो यः सर्वत्र सुखावहः ॥१४७॥
दिक्स्वस्तिका सभाभूमिः परार्ध्यमणिकुट्टिमा । तस्य चङ्क्रमणी[12] यष्टिः[13] सुविधिर्मणिनिर्मिता ॥१४८॥
गिरिकूटकमित्यासीत् सौधं दिगवलोकने[14] । वर्धमानकमित्यन्यत्[15] प्रेक्षागृहमभूद् विभोः ॥१४९॥
धर्मान्तोऽस्य[16] महानासीद् धारागृहसमाह्वयः । गृहकूटकमित्युच्चैर्वर्षावासः प्रभोरभूत् ॥१५०॥
पुष्करावर्त्यभिख्यं च हर्म्यमस्य सुधासितम् । कुबेरकान्तमित्यासीद् भाण्डागारं यदक्षयम् ॥१५१॥

के प्रारम्भमें वह चक्रवर्ती, जिनमे नवीन खिले हुए सप्तच्छद वृक्षोंकी सुगन्ध फैल रही है ऐसे वनोमे अपनी स्त्रीके साथ विहार करता हुआ क्रीडा करता था ॥१३९॥ राजभवनकी मनोहर छतोंपर शरदऋतुकी चाँदनीका उपभोग करता हुआ वह चक्रवर्ती हारकी कान्तिसे जिसके स्तन सुशोभित हो रहे हैं ऐसी प्रिया सुभद्राको प्रसन्न करता था – उसके साथ क्रीडा करता था ॥१४०॥ जब कभी रानी सुभद्रा पतिके वक्ष स्थलपर लेट जाती थी उस समय उसकी चोटीके अन्त भागसे लटकती हुई नील कमलयुक्त भद्रतरणीके फूलोसे गुम्फित मालाको वह रतिकी लक्ष्मीके समान मानती थी ॥१४१॥ इस प्रकार इस सुभद्रादेवीमे प्रेमकी परवशताको अच्छी तरह प्रकट करता हुआ और रतिसुखके अधीन हुआ वह चक्रवर्ती दश प्रकारके कहे हुए भोगोके साधनोसे क्रीडा करता था ॥१४२॥ रत्नसहित नौ निधियाँ, रानियाँ, नगर, शय्या, आसन, सेना, नाट्यशाला, वरतन, भोजन और सवारी ये दश भोगके साधन कहलाते है ॥१४३॥ इस प्रकार अपनेको तृप्त करनेवाले दश प्रकारके भोगके साधनोका उपभोग करते हुए महाराज भरतने चिरकाल तक जिसपर एक ही छत्र है ऐसी पृथिवीका पालन किया ॥१४४॥ चक्रवर्ती भरतके ऐसे सोलह हजार गणवद्ध देव थे जो कि तलवार धारण कर निधि, रत्न और स्वयं उनकी रक्षा करनेमे सदा तत्पर रहते थे ॥१४५॥ उनके घरको घेरे हुए क्षितिसार नामका कोट था और देदीप्यमान रत्नोके तोरणोंसे युक्त सर्वतोभद्र नामका गोपुर था ॥१४६॥ उनकी वड़ी भारी छावनीके ठहरनेका स्थान नन्द्यावर्त नामका था और जो सव ऋतुओमें सुख देनेवाला है ऐसा वैजयन्त नामका महल था ॥१४७॥ बहुमूल्य मणियोसे जड़ी हुई दिक्स्वस्तिका नामकी सभाभूमि थी और टहलनेके समय हाथमे लेनेके लिए मणियोकी वनी हुई सुविधि नामकी लकडी थी ॥१४८॥ सब दिशाएँ देखनेके लिए गिरिकूटक नामका राजमहल था और उन्ही चक्रवर्तीके नृत्य देखनेके लिए वर्धमानक नामकी नृत्यशाला थी ॥१४९॥ उन चक्रवर्तीके गरमीको नष्ट करनेवाला धारागृह नामका वड़ा भारी स्थान था और वर्षाऋतुमे निवास करनेके लिए वहुत ऊँचा गृहकूटक नामक महल था ॥१५०॥ चूनासे सफेद हुआ पुष्करावर्त नामका

१ 'कुब्जिका भद्रतरणी वृहत्पत्रातिकेशरा । महासहा' इति धन्वन्तरि. । २ रचिताम् । ३ रतिश्रीसमानामिति । 'पत्युरुरस्यस्य स्थिता सजिघ्रति स्म सा' प०, ल० । ४ स्नेहाधीनताम् । ५ रत्यधीन । ६ देव्य द०, ल०, प० । ७ भाजनसहितम् । ८ स्वस्य तृप्तिजनकम् । ९ सुचिरं ल० । १० एकच्छत्राम् । ११ क्षितिसार इति नामा । १२ आलिङ्गभूमिः, आन्दोलनभूमिरित्यर्थः । १३ सुविधिनामा । १४ दिशावलोकार्थम् । १५ नृत्तदर्शनगृहम् । १६ घर्मान्तिमज्ञाम् ।

वसुधारकमित्यासीत् कोष्ठागारं महाव्ययम् । जीमूतनामधेयं च मज्जनागारमूर्जितम् ॥१५२॥
रत्नमालाऽतिरोचिष्णुर्बभूवास्यावतंसिका । देवरम्येति रम्या स्या मता दूष्यकुटी[1] पृथुः ॥१५३॥
सिंहवाहिन्यभूच्छय्या सिंहैरूढा भयानकैः । सिंहासनमथोऽस्योच्चैर्गुणैर्नाम्नाऽप्यनुत्तरम् ॥१५४॥
चामराण्युपमामानं[2] व्यतीत्यानुपमान्यभान्[3] । विजयार्द्धकुमारेण वितीर्णानि निधीशिने ॥१५५॥
भास्वत्सूर्यप्रभं तस्य बभूवातपवारणम् । परार्ध्यरत्ननिर्माणं जितसूर्यशतप्रभम् ॥१५६॥
नाम्ना विद्युत्प्रभे चास्य रुचिरे मणिकुण्डले । जित्वा ये[4] वैद्युतीं[5] दीप्तिं रुरुचाते स्फुरत्त्विषी ॥१५७॥
रत्नांशुजटिलास्तस्य पादुका विषमोचिकाः[6] । परेषां पदसंस्पर्शाद् मुञ्चन्त्यो विषमुल्बणम् ॥१५८॥
अभेद्याख्यमभूत्तस्य तनुत्राणं प्रभास्वरम् । द्विषतां शरनाराचैर्यदभेद्यं महाहवे ॥१५९॥
रथोऽजितञ्जयो नाम्ना जयलक्ष्मीभरोद्वहः । यत्र शस्त्राणि जैत्राणि दिव्यान्यासन्ननेकशः ॥१६०॥
चण्डाकाण्डाशनिप्रख्यज्याघाताऽकम्पिताखिलम् । जितदैत्यामरं तस्य वज्रकाण्डमभूद्धनुः ॥१६१॥
अमोघपातास्तस्यासन् नामोघाख्या महेषवः । यैरसाध्यजये चक्री कृतश्लाघो रणाङ्गणे ॥१६२॥
प्रचण्डा वज्रतुण्डाख्या शक्तिरस्यारिखण्डिनी । बभूव वज्रनिर्माणाश्लाघ्या वज्रिजयेऽपि या ॥१६३॥
कुन्तः सिंहाटको नाम यः सिंहनखराङ्कुरैः[7] । स्पर्धते स्म निशाताग्रो मणिदण्डाग्रमण्डनः[8] ॥१६४॥

खास महल था और कुवेरकान्त नामका भाण्डारगृह था जो कभी खाली नही होता था ॥१५१॥ वसुधारक नामका वड़ा भारी अटूट कोठार था और जीमूत नामका वड़ा भारी स्नानगृह था ॥१५२॥ उस चक्रवर्तीके अवतंसिका नामकी अत्यन्त देदीप्यमान रत्नोकी माला थी और देवरम्या नामकी वहुत वड़ी सुन्दर चाँदनी थी ॥१५३॥ भयंकर सिंहोंके द्वारा धारण की हुई सिंहवाहिनी नामकी शय्या थी और गुण तथा नाम दोनोसे अनुत्तर अर्थात् उत्कृष्ट वहुत ऊँचा सिंहासन था ॥१५४॥ जो विजयार्धकुमारके द्वारा निधियोके स्वामी चक्रवर्तीके लिए समर्पित किये गये थे ऐसे अनुपमान नामके उनके चमर उपमाको उल्लंघन कर अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे ॥१५५॥ उस चक्रवर्तीके वहुमूल्य रत्नोंसे वना हुआ और सैकड़ों सूर्यकी प्रभाको जीतने-वाला सूर्यप्रभ नामका अतिशय देदीप्यमान छत्र था ॥१५६॥ उनके देदीप्यमान कान्तिके धारक विद्युत्प्रभ नामके दो ऐसे सुन्दर कुण्डल थे जो कि विजलीकी दीप्तिको पराजित कर सुशोभित हो रहे थे ॥१५७॥ महाराज भरतके रत्नोकी किरणोसे व्याप्त हुई विषमोचिका नामकी ऐसी खड़ाऊँ थी जो कि दूसरेके पैरका स्पर्श होते ही भयंकर विप छोड़ने लगती थी ॥१५८॥ उनके अभेद्य नामका कवच था जो कि अत्यन्त देदीप्यमान था और महायुद्धमें शत्रुओं-के तीक्ष्ण वाणोसे भी भेदन नही किया जा सकता था ॥१५९॥ विजयलक्ष्मीके भारको धारण करनेवाला अजितजय नामका रथ था जिसपर शत्रुओको जीतनेवाले अनेक दिव्य शस्त्र रखे रहते थे ॥१६०॥ असमयमें होनेवाले प्रचण्ड वज्रपातके समान जिसकी प्रत्यंचाके आघातसे समस्त संसारका कँप जाता था और जिसने देव, दानव – सभीको जीत लिया था ऐसा वज्रकाण्ड नामका धनुप उस चक्रवर्तीके पास था ॥१६१॥ जो कभी व्यर्थ नही पड़ते ऐसे उसके अमोघ नामके वड़े-वड़े वाण थे। इन वाणोंके द्वारा ही चक्रवर्ती जिसमें विजय पाना असाध्य हो ऐसे युद्धस्थलमें प्रशंसा प्राप्त करता था ॥१६२॥ राजा भरतके शत्रुओंको खण्डित करनेवाली वज्रतुण्डा नामकी शक्ति थी, जो कि वज्रकी वनी हुई थी और इन्द्रको भी जीतनेमे प्रशंसनीय थी ॥१६३॥ जिसकी नोक वहुत तेज थी, जो मणियोके वने हुए डण्डेके अग्रभागपर सुशोभित

---

१ पटकुटी । २ उपमाप्रमाणम् । ३ भान्ति स्म । ४ कुण्डले । ५ विद्युत्संबन्धिनीम् । ६ विषमोचिकासंज्ञा । ७ महाशरैः । ८ मणिमयदण्डाग्र मण्डनम् अलंकारो यस्य ।

तस्यासि[1]पुत्रिका दीप्रा रत्नानद्धस्फुरत्त्सरुः[2] । लोहवाहिन्यभून्नाम्ना जयश्रीदर्पणायिता ॥१६५॥
कणपोऽस्य[3] मनोवेगो जयश्रीप्रणयावहः । द्विषत्कुलकुलक्ष्माभ्र[4]दलने योऽशनीयितः ॥१६६॥
सौनन्दकाख्यमस्याभूदसिरत्नं स्फुरद्द्युति । यस्मिन् करतलारूढे दोलारूढमिवाखिलम् ॥१६७॥
प्रादुर्भूतमुखं खेटं विभोर्भूतमुखाङ्कितम् । स्फुरताऽऽजीमुखे येन द्विषां मृत्युमुखायितम् ॥१६८॥
चक्ररत्नमभूज्जिष्णोर्दिक्चक्राक्रमणक्षमम् । नाम्ना सुदर्शनं दीप्रं यद्दुर्दर्शमरातिभिः ॥१६९॥
प्रचण्डश्चण्डवेगाख्यो दण्डोऽभूच्चक्रिणः पृथुः । स यस्य विनियोगोऽभूद् बिलकण्टकशोधने ॥१७०॥
नाम्ना वज्रमयं दिव्यं चर्मरत्नमभूद् विभोः । तद्बलं यद्बलाधानान्निस्तीर्णं[5] जलविप्लवात् ॥१७१॥
मणिश्चूडामणिर्नाम चिन्तारत्नमनुत्तरम् । जगच्चूडामणेरस्य चित्तं येनानुरञ्जितम् ॥१७२॥
सा चिन्ताजननीत्यस्य काकिणी भास्वराऽभवत् । या रूप्याद्रिगुहाध्वान्तविनिर्भेदैकदीपिका ॥१७३॥
चमूपतिरयोध्याख्यो नृरत्नमभवत् प्रभोः । समरेऽरिजयाद्यस्य रोदसी व्यानशे यशः ॥१७४॥
बुद्धिसागरनामास्य पुरोधाः पुरुधीरभूत् । धर्म्या क्रिया यदायत्ता प्रतीकारोऽपि दैविके ॥१७५॥
सुधीर्गृहपतिर्नाम्ना कामवृष्टिरभीष्टदः । व्ययोऽप[6]व्ययचिन्तायां नियुक्तो यो निधीशिनः[7] ॥१७६॥

हो रहा था और जो सिंहके नाखूनोके साथ स्पर्धा करता था ऐसा उनका सिंहाटक नामका भाला था ॥१६४॥ जो अत्यन्त देदीप्यमान थी, जिसकी रत्नोसे जड़ी हुई मूठ वहुत ही चमक रही थी, और जो विजयलक्ष्मीके दर्पणके समान जान पड़ती थी ऐसी लोहवाहिनी नामकी उनकी छुरी थी ॥१६५॥ मनोवेग नामका एक कणप (अस्त्रविशेष) था जो कि विजयलक्ष्मीपर प्रेम करनेवाला था और शत्रुओंके वंशरूपी कुलाचलोको खण्डित करनेके लिए वज्रके समान था ॥१६६॥ भरतके सौनन्दक नामकी श्रेष्ठ तलवार थी जिसकी कान्ति अत्यन्त देदीप्यमान हो रही थी और जिसे हाथमे लेते ही यह समस्त जगत् झूलामें वैठे हुएके समान काँप उठता था ॥१६७॥ उनके भूतोके मुखोसे चिह्नित भूतमुख नामका खेट (अस्त्रविशेष) था, जो कि युद्धके प्रारम्भमे चमकता हुआ शत्रुओके लिए मृत्युके मुखके समान जान पड़ता था ॥१६८॥ उन विजयी चक्रवर्तीके सुदर्शन नामका चक्र था, जो कि समस्त दिशाओपर आक्रमण करनेमें समर्थ था, देदीप्यमान था और जो शत्रुओंके द्वारा देखा भी नही जा सकता था ॥१६९॥ जिसका नियोग गुफाके काँटे वगैरह शोधनेमे था ऐसा चण्डवेग नामका वहुत भारी प्रचण्ड (भयंकर) दण्ड उस चक्रवर्तीके था ॥१७०॥ भरतेश्वर महाराजके वज्रमय चर्मरत्न था, वह चर्मरत्न, कि जिसके वलसे उनकी सेना जलके उपद्रवसे पार हुई थी – वची थी ॥१७१॥ उनके चूडामणि नामका वह उत्तम चिन्तामणि रत्न था जिसने कि जगत्के चूड़ामणि-स्वरूप महाराज भरतका चित्त अनुरक्त कर लिया था ॥१७२॥ चिन्ताजननी नामकी वह काकिणी थी जो कि अत्यन्त देदीप्यमान हो रही थी और जो विजयार्ध पर्वतकी गुफाओका अन्धकार दूर करनेके लिए मुख्य दीपिकाके समान थी ॥१७३॥ उन प्रभुके अयोध्य नामका सेनापति था जो कि मनुष्योमे रत्न था और युद्धमे शत्रुओको जीतनेसे जिसका यश आकाश और पृथिवीके वीच व्याप्त हो गया था ॥१७४॥ समस्त धार्मिक क्रियाएँ जिसके अधीन थीं और दैविक उपद्रव होनेपर उनका प्रतिकार करना भी जिसके आश्रित था ऐसा वुद्धिसागर नामका महा-वुद्धिमान् पुरोहित था ॥१७५॥ उनके कामवृष्टि नामका गृहपति रत्न था, जो कि अत्यन्त वुद्धिमान् था, इच्छानुसार सामग्री देनेवाला था तथा जो चक्रवर्तीके छोटे-वड़े सभी खर्चोकी

---

१ क्षुरिका । 'स्याच्छस्त्री चासिपुत्री च क्षुरिका चासिधेनुका ।' इत्यभिधानात् । २ मुष्टिः । 'त्सरुः खड्गादि-मुष्टि स्याद्' इत्यभिधानात् । ३ कणवोऽस्य ल० । ४ पर्वत । ५ निस्तरणमकरोत् । ६ आय । ७ चक्रिण. ।

रत्नं स्थपतिरप्यस्य वास्तुविद्यापदात्तधीः[1] । नाम्ना भद्रमुखोऽनेकप्रासादघटने पटुः ॥१७७॥
शैलोदग्रो महानस्य[2] याग हस्तीक्षरन्मदः । भद्रो गिरिचरः[3] शुभ्रो नाम्ना विजयपर्वतः ॥१७८॥
पवनस्य जयन् वेगं हयोऽस्य पवनंजयः । विजयार्द्धगुहोत्सङ्ग हेलया यो व्यलङ्घयत् ॥१७९॥
प्रागुक्तवर्णनं चास्य स्त्रीरत्नं रूढनामकम् । स्वभावमधुरं हृद्यं रसायनमिवापरम् ॥१८०॥
रत्नान्येतानि दिव्यानि बभूवुश्चक्रवर्तिनः । देवताकृतरक्षाणि यान्यलङ्घ्यानि विद्विषाम् ॥१८१॥
आनन्दिन्योऽब्धिनिर्घोषा भेर्योऽस्य द्वादशाभवन् । द्विषड्योजनमापूर्य स्वैर्ध्वानैर्याः प्रदध्वनुः ॥१८२॥
आसन् विजयघोषाख्याः पटहा द्वादशापरे । गृहकेकिभिरुद्ग्रीवैः सानन्दं श्रुतनिःस्वनाः ॥१८३॥
गम्भीरावर्त्तनामानः शङ्खा गम्भीरनिःस्वनाः । चतुर्विंशतिरस्यासन् शुभाः पुण्याब्धिसंभवाः ॥१८४॥
कटका रत्ननिर्माणा विभोर्वीराङ्गदाह्वयाः । रेजुः प्रकोष्ठमावेष्ट्य तडिद्वलयविभ्रमाः ॥१८५॥
पताकाकोटयोऽस्याष्टचत्वारिंशत्प्रमा मताः । मरुत्प्रेङ्खोलि[4]तोत्प्रेङ्खदंशुकोन्मृष्टखाङ्गणाः ॥१८६॥
महाकल्याणकं नाम दिव्याशनमभूद् विभोः । कल्याणाङ्गस्य [5]येनास्य तृप्तिपुष्टीबलान्विते ॥१८७॥
भक्ष्याश्चामृतगर्भाख्या रुच्यास्वादाः सुगन्धयः । नान्ये[6] जरयितुं[7] शक्ता यान् [8]गरिष्ठरसोत्कटान् ॥१८८॥
स्वाद्यं[9] चामृतकल्पाख्यं हृद्यास्वादं सुसंस्कृतम् । रसायनरसं दिव्यं पानकं चामृताह्वयम् ॥१८९॥

चिन्तामे नियुक्त था । ॥१७६॥ मकान बनानेकी विद्यामे जिसकी बुद्धि प्रवेश पाये हुई है और जो अनेक राजभवनोके बनानेमे चतुर है ऐसा भद्रमुख नामका उनका शिलावटरत्न (इजीनियर) था ॥१७७॥ जो पर्वतके समान ऊँचा था, बहुत बड़ा था, पूज्य था, जिससे मद झर रहा था, भद्र जातिका था और जिसका गर्जन उत्तम था ऐसा विजयपर्वत नामका सफेद हाथी था ॥१७८॥ जिसने विजयार्धपर्वतकी गुफाके मध्यभागको लीलामात्रमे उल्लंघन कर दिया था ऐसा वायुके वेगको जीतनेवाला पवनंजय नामका घोड़ा था ॥१७९॥ और जिसका वर्णन पहले कर चुके है, जिसका नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है, जो स्वभावसे ही मधुर है और जो किसी अन्य रसायनके समान हृदयको आनन्द देनेवाला है ऐसा सुभद्रा नामका स्त्रीरत्न था ॥१८०॥ इस प्रकार चक्रवर्तीके ये दिव्य रत्न थे जिनकी देव लोग रक्षा किया करते थे, और जिन्हे शत्रु कभी उल्लंघन नही कर सकते थे ॥१८१॥ उस चक्रवर्तीके समुद्रके समान गम्भीर आवाजवाली आनन्दिनी नामकी बारह भेरियाँ थी जो अपनी आवाजको बारह योजन दूर तक फैलाकर बजती थी ॥१८२॥ इनके सिवाय बारह नगाडे और थे जिनकी आवाज घरके मयूर ऊँची गरदन कर बड़े आनन्दके साथ सुना करते थे ॥१८३॥ जिनकी आवाज अतिशय गम्भीर है, जो शुभ है, और पुण्यरूपी समुद्रसे उत्पन्न हुए है ऐसे गम्भीरावर्त नामके चौबीस शख थे ॥१८४॥ उस प्रभुके रत्नोके बने हुए वीरागद नामके कड़े थे जो कि हाथकी कलाईको घेरकर सुशोभित हो रहे थे और जिनकी कान्ति बिजलीके कड़ोके समान थी ॥१८५॥ वायुके झँकोरेसे उड़ते हुए कपड़ोसे जिन्होने आकाशरूपी आँगनको झाडकर साफ कर दिया है ऐसी उसकी अडतालीस करोड़ पताकाएँ थी ॥१८६॥ महाराज भरतके महाकल्याण नामका दिव्य भोजन था जिससे कि कल्याणमय शरीरको धारण करनेवाले उनके बलसहित तृप्ति और पुष्टि दोनों ही होती थी ॥१८७॥ जो अत्यन्त गरिष्ठ रससे उत्कट है, जिन्हे कोई अन्य पचा नही सकता तथा जो रुचिकर, स्वादिष्ट और सुगन्धित है ऐसे उसके अमृतगर्भ नामके भक्ष्य अर्थात् खाने योग्य मोदक आदि पदार्थ थे ॥१८८॥ जिनका स्वाद हृदयको अच्छा

१ वास्तुविद्यास्थाने स्वीकृतबुद्धिः । २ पूज्य । ३ गिरिवर ल०, प० । ४ चलनेनोच्चलत् । ५ आहारेण । ६ पुरुषा । ७ जीर्णीकर्तुम् । ८ अतिगुरु । ९ क्रमुकदाडिमादि । "ओदनाद्यशन, स्वाद्यं ताम्बूलादि, जलादिकम् । पेय, स्वाद्यमपूपाद्य, त्याज्यान्येतानि शक्तिकैः ।"

पुण्यकल्पतरोरासन् फलान्येतानि चक्रिणः । यान्यनन्योपभोग्यानि भोगाङ्गान्यतुलानि वै ॥१९०॥
पुण्याद् विना कुतस्तादृग्रूपसंपदनीदृशी । पुण्याद् विना कुतस्तादृगभेद्यं गात्रबन्धनम् ॥१९१॥
पुण्याद् विना कुतस्तादृङ्निधिरत्नर्द्धिरूर्जिता । पुण्याद् विना कुतस्तादृगिभाश्वादिपरिच्छदः ॥१९२॥
पुण्याद् विना कुतस्तादृगन्तःपुरमहोदयः । पुण्याद् विना कुतस्तादृग् दशाङ्गो भोगसंभवः ॥१९३॥
पुण्याद् विना कुतस्तादृगाज्ञाद्वीपाब्धिलङ्घिनी । पुण्याद् विना कुतस्तादृग्जयश्रीर्जित्वरी दिशाम् ॥१९४॥
पुण्याद् विना कुतस्तादृक्प्रतापः प्रणतामरः । पुण्याद् विना कुतस्तादृगुद्योगो लङ्घितार्णवः ॥१९५॥
पुण्याद् विना कुतस्तादृक् प्राभवं त्रिजगज्जयि । पुण्याद् विना कुतस्तादृक् [1]नगराजजयोत्सवः ॥१९६॥
पुण्याद् विना कुतस्तादृक् सत्कार[2]स्तत्कृतोऽधिकः । पुण्याद् विना कुतस्तादृक् [3]सरिद्देव्यभिषेचनम् ॥१९७॥
पुण्याद् विना कुतस्तादृक् खचराचलनिर्जयः । पुण्याद् विना कुतस्तादृग्रत्नलाभोऽन्यदुर्लभः ॥१९८॥
पुण्याद् विना कुतस्तादृगा[4]यतिर्भरतेऽखिले । पुण्याद् विना कुतस्तादृक् कीर्तिर्दिक्तटलङ्घिनी[5] ॥१९९॥
ततः[6] पुण्योदयोद्भूतां मत्वा चक्रभृतः श्रियम् । चिनुध्वं भो बुधाः पुण्यं यत्पुण्यं सुखसंपदाम् ॥२००॥

लगनेवाला है और मसाले वगैरहसे जिनका सस्कार किया गया है ऐसे अमृतकल्प नामके उनके स्वाद्य पदार्थ थे तथा रसायनके समान रसीला अमृत नामका दिव्य पानक अर्थात् पीने योग्य पदार्थ था ॥१८९॥ चक्रवर्तीके ये सब भोगोपभोगके साधन उसके पुण्यरूपी कल्पवृक्षके फल थे, उन्हे अन्य कोई नही भोग सकता था और वे संसारमे अपनी वरावरी नही रखते थे ॥१९०॥

पुण्यके विना चक्रवर्तीके समान अनुपम रूपसम्पदा कैसे मिल सकती है ? पुण्यके विना वैसा अभेद्य शरीरका वन्धन कैसे मिल सकता है ? पुण्यके विना अतिशय उत्कृष्ट निधि और रत्नोकी ऋद्धि कैसे प्राप्त हो सकती है ? पुण्यके विना वैसे हाथी, घोड़े आदिका परिवार कैसे मिल सकता है ? पुण्यके विना वैसे अन्त पुरका वैभव कैसे मिल सकता है ? पुण्यके विना दस प्रकारके भोगोपभोग कहाँ मिल सकते है ? पुण्यके विना द्वीप और समुद्रोको उल्लघन करनेवाली वैसी आज्ञा कैसे प्राप्त हो सकती है ? पुण्यके विना दिशाओको जीतनेवाली वैसी विजयलक्ष्मी कहाँ मिल सकती है ? पुण्यके विना देवताओंको भी नम्र करनेवाला वैसा प्रताप कहाँ प्राप्त हो सकता है ? पुण्यके विना समुद्रको उल्लंघन करनेवाला वैसा उद्योग कैसे मिल सकता है ? पुण्यके विना तीनो लोकोको जीतनेवाला वैसा प्रभाव कहाँ हो सकता है ? पुण्यके विना वैसा हिमवान् पर्वतको विजय करनेका उत्सव कैसे मिल सकता है ? पुण्यके विना हिमवान् देवके द्वारा किया हुआ वैसा अधिक सत्कार कहाँ मिल सकता है ? विना पुण्यके नदियोंकी अधिष्ठात्री देवियोके द्वारा किया हुआ वैसा अभिषेक कहाँ हो सकता है ? पुण्यके विना विजयार्ध पर्वतको जीतना कैसे हो सकता है ? पुण्यके विना अन्य मनुष्योको दुर्लभ वैसे रत्नोंका लाभ कहाँ हो सकता है ? पुण्यके विना समस्त भरतक्षेत्रमे वैसा सुन्दर विस्तार कैसे हो सकता है ? और पुण्यके विना दिशाओके किनारेको उल्लघन करनेवाली वेसी कीर्ति कैसे हो सकती है ? इसलिए हे पण्डित जन, चक्रवर्तीकी विभूतिको पुण्यके उदयसे उत्पन्न हुई मानकर उस पुण्यका सचय करो जो कि समस्त सुख और सम्पदाओकी दुकानके समान

---

१ हिमवद्गिरि । २ हिमवन्नगस्थसुरकृत । ३ गङ्गासिन्धुदेवी । ४ धनागम प्रभावो वा । ५ लम्भिनी इ० । ६ तत कारणात् ।

शार्दूलविक्रीडितम्

इत्याविष्कृतसंपदो विजयिनस्तस्याखिलक्ष्माभृतां
स्फीतामप्रतिशासनां प्रथयतः षट्खण्डराज्यश्रियम् ।
कालोऽनल्पतरोऽप्यगात् क्षण इव प्राक्पुण्यकर्मोदया-
दुद्भूतैः प्रमदावहैः षड्ऋतुजैर्भोगैरतिस्वादुभिः ॥२०१॥

नानारत्न[1]निधानदेशविलसत्संपत्तिगुर्वीमिमां
साम्राज्यश्रियमेकभोगनियतां[2] कृत्वाऽखिलां पालयन् ।
योऽभून्नैव किलाकुलः कुलवधूमेकामिवाङ्कस्थितां
सोऽयं चक्रधरोऽभुनक्[3] भुवममूमेकातपत्रां चिरम् ॥२०२॥

यन्नाम्ना भरतावनित्वमगमत् षट्खण्डभूषा[4] मही
येना[5]सेतुहिमाद्रिरक्षितमिदं क्षेत्रं कृतारिक्षयम् ।
यस्याविर्निधिरत्नसंपदुचिता लक्ष्मीरुरःशायिनी
स श्रीमान् भरतेश्वरो निधिभुजामग्रेसरोऽभूत् प्रभुः ॥२०३॥

यः स्तुत्यो जगतां त्रयस्य न पुनः स्तोता स्वयं कस्यचिद्
ध्येयो योगिजनस्य यश्च न तरां ध्याता स्वयं कस्यचित् ।
यो नन्तॄनपि[6] नेतुमुन्नतिमलं[7] नन्तव्यपक्षे[8] स्थितः
स श्रीमान् जयताज्जगत्त्रयगुरुर्देवः पुरु पावनः ॥२०४॥

है ॥१९१–२००॥ इस प्रकार जिसने सम्पदाएँ प्रकट की है, जिसने समस्त राजाओंको जीत लिया है, और जो दूसरेके शासनसे रहित अपने छह खण्डकी विस्तृत राज्यलक्ष्मीको निरन्तर फैलाता रहता है ऐसे उस चक्रवर्ती भरतका बड़ा भारी समय पूर्व पुण्यकर्मके उदयसे उत्पन्न हुए, सब तरहका आनन्द देनेवाले और अत्यन्त स्वादिष्ट छहो ऋतुओके भोगोके द्वारा क्षण-भरके समान व्यतीत हो गया था ॥२०१॥ अनेको रत्नो, निधियो और देशोसे सुशोभित हुई सम्पत्तिके द्वारा जो भारी गौरवको प्राप्त हो रही है ऐसी इस समस्त साम्राज्यलक्ष्मीको एक अपने ही उपभोग करनेके योग्य बनाकर उसका पालन करता हुआ जो चक्रवर्ती गोदमे बैठी हुई कुलवधूकी रक्षा करते हुएके समान कभी व्याकुल नही हुआ वह भरत एक छत्रवाली इस पृथिवीका चिरकाल तक पालन करता रहा था ॥२०२॥ छह खण्डोसे विभूषित पृथिवी जिसके नामसे भरतभूमि नामको प्राप्त हुई, जिसने दक्षिण समुद्रसे लेकर हिमवान् पर्वत तकके इस क्षेत्रमे शत्रुओका क्षय कर उसकी रक्षा की, तथा प्रकट हुई निधि और रत्न आदि सम्पदाओं-से योग्य लक्ष्मी जिसके वक्षःस्थलपर शयन करती थी वह प्रभु – श्रीमान् भरतेश्वर निधियोके स्वामी अर्थात् चक्रवर्तियोमें प्रथम और मुख्य चक्रवर्ती हुआ था ॥२०३॥ जो तीनो जगत्के जीवोके द्वारा स्तुति करनेके योग्य है परन्तु जो स्वयं किसीकी स्तुति नही करते, बड़े-बडे योगी लोग जिनका ध्यान करते है परन्तु जो किसीका ध्यान नही करते, जो नमस्कार करनेवालोको भी उन्नत स्थानपर ले जानेके लिए समर्थ है परन्तु स्वयं नमस्कार करने योग्य पक्षमें स्थित है अर्थात् किसीको नमस्कार नही करते, वे तीनो जगत्के गुरु अत्यन्त पवित्र श्रीमान् भगवान्

---

१ निधि । २ आत्मन एकस्यैव भोगनियताम् । ३ पालयति स्म । ४ षट्खण्डालकारा । ५ दक्षिणसमुद्रात् प्रारम्य हिमवद्गिरिपर्यन्तम् । ६ नमनशीलान् । ७ समर्थ. । ८ नमनयोग्यपक्षे । स्वयं कस्यापि नन्ता नेत्यर्थ ।

यं नत्वा पुनरानमन्ति न परं स्तुत्वा च यं नापरं
भव्याः संस्तुवते श्रयन्ति न परं यं संश्रिताः श्रेयसे ।
यं सत्कृत्य कृतादरं कृतधियः सत्कुर्वते नापरं
स श्रीमान् वृषभो जिनो [1]भवभयान्नस्त्रायतां तीर्थकृत ॥२०५॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भरतेश्वराभ्युदयवर्णनं नाम सप्तत्रिंशत्तमं पर्व ॥३७॥

वृषभदेव सदा जयवन्त रहे ॥२०४॥ भव्य लोग जिन्हे नमस्कार कर फिर किसी अन्यको नमस्कार नही करते, जिनकी स्तुति कर फिर किसी अन्यकी स्तुति नही करते, जिनका आश्रय लेकर कल्याणके लिए फिर किसी अन्यका आश्रय नही लेते, और बुद्धिमान् लोग जिनका सबने आदर किया है ऐसे जिनका सत्कार कर फिर किसी अन्यका सत्कार नही करते वे श्रीमान् वृषभ जिनेन्द्र तीर्थंकर हम सबकी संसारके भयसे रक्षा करे ॥२०५॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिपष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहके भाषानुवादमें भरतेश्वरके वैभवका वर्णन करनेवाला यह सैंतीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ।

---

१ संसारभीतेरपसार्य ।

अष्टत्रिंशत्तमं पर्व

जयन्त्यखिल वाङ्मार्गगामिन्यः सूक्तयोऽर्हताम् । धृतान्धतमसा दीप्रा यारित्वषोंऽशुमतामिव ॥१॥
स जीयात् वृषभो मोहविषसुप्तमिदं जगत् । पटविद्येव[2] यद्विद्या सद्यः समुदतिष्ठपत् ॥२॥
तं नत्वा परमं ज्योतिर्वृषभं वीरमन्वतः । द्विजन्मनामथोत्पत्तिं वक्ष्ये श्रेणिक भोः शृणु ॥३॥
भरतो भारतं वर्षं[3] निर्जित्य सह पार्थिवैः । षष्ट्या वर्षसहस्रैस्तु दिशां निवत्रृते जयात् ॥४॥
कृतकृत्यस्य तस्यान्तश्चिन्तेयमुदपद्यत । परार्थे संपदास्माकी सोपयोगा कथं भवेत् ॥५॥
महामहमहं कृत्वा जिनेन्द्रस्य महोदयम् । प्रीणयामि जगद्विश्वं विष्वग् [4]विश्राणयन् धनम् ॥६॥
नानगारा वसून्यस्मत् प्रतिगृह्णन्ति निःस्पृहाः । सागारः कतमः[5] पूज्यो धनधान्यसमृद्धिभिः ॥७॥
[6]येऽणुव्रतधरा धीरा धौरेया[7] गृहमेधिनाम् । तर्पणीया हि तेऽस्माभिरीप्सितैर्वसुवाहनैः ॥८॥
इति निश्चित्य राजेन्द्रः सत्कर्तुमुचितानिमान् । [8]परीचिक्षिपुराह्वास्त तदा सर्वान् महीभुजः ॥९॥
सदाचारैर्निजैरिष्टैरनुजीविभि[9]रन्विताः । अद्यास्मदुत्सवे यूयमायातेति[10] पृथक् पृथक् ॥१०॥
हरितैरङ्कुरैः पुष्पैः फलैश्चाकीर्णमङ्गणम् । संम्राडचीकरत्तेषां परीक्षायै स्ववेश्मनि ॥११॥
तेष्वव्रता विना संगात्[11] प्राविक्षन् नृपमन्दिरम् । तानेकतः समुत्सार्य शेषानाह्वयत् प्रभुः ॥१२॥

जो समस्त भाषाओंमे परिणत होनेवाली है, जिसने अज्ञानरूपी गाढ अन्धकारव
नष्ट कर दिया है और जो सूर्यकी किरणोके समान देदीप्यमान है वह अरहन्त भगवान्‌की सुन्द
वाणी सदा जयवन्त हो ॥१॥ गारुड़ी विद्याके समान जिनकी विद्याने मोहरूपी विपसे सो
हुए इस समस्त संसारको बहुत शीघ्र जगा दिया वे भगवान् वृषभदेव सदा जयवन्त रहे ॥२
गौतमस्वामी राजा श्रेणिकसे कहते है कि हे श्रेणिक, मै उन परमज्योति-स्वरूप भगवान् वृषभदे
तथा भगवान् महावीर स्वामीको नमस्कार कर अब यहाँसे द्विजोकी उत्पत्ति कहता हूँ सो सुन
॥३॥ भरत चक्रवर्ती अनेक राजाओके साथ भारतवर्षको जीतकर साठ हजार वर्पमे दिग्विजय
वापस लौटे ॥४॥ जब वे सब कार्य कर चुके तब उनके चित्तमें यह चिन्ता उत्पन्न हुई कि दूसरे
के उपकारमे मेरी इस सम्पदाका उपयोग किस प्रकार हो सकता है ? ॥५॥ मै श्री जिनेन्द्रदेवक
बडे ऐश्वर्यके साथ महामह नामका यज्ञ कर धन वितरण करता हुआ समस्त संसारक
सन्तुष्ट करूँ ? ॥६॥ सदा निःस्पृह रहनेवाले मुनि तो हम लोगोसे धन लेते नही है परन्
ऐसा गृहस्थ भी कौन है जो धन-धान्य आदि सम्पत्तिके द्वारा पूजा करनेके योग्य है ॥७॥ ज
अणु व्रतको धारण करनेवाले है, धीर वीर है और गृहस्थोंमें मुख्य है ऐसे पुरुष ही हम लोगों
द्वारा इच्छित धन तथा सवारी आदिक वाहनोके द्वारा तर्पण करनेके योग्य है ॥८॥ इस प्रका
निश्चय कर सत्कार करनेके योग्य व्यक्तियोंकी परीक्षा करनेकी इच्छासे राजराजेश्व
भरतने उस समय समस्त राजाओंको बुलाया ॥९॥ और सबके पास खबर भेज दी कि आ
लोग अपने-अपने सदाचारी इष्ट मित्र तथा नौकर-चाकर आदिके साथ आज हमारे उत्सवमे
अलग-अलग आवे ॥१०॥ इधर चक्रवर्तीने उन सबकी परीक्षा करनेके लिए अपने घरके
ऑगनमे हरे-हरे अंकुर, पुष्प और फल खूब भरवा दिये ॥११॥ उन लोगोमें जो अव्रती थे वे

---

१ सर्वभावात्मिका इत्यर्थ । २ गारुडविद्या । ३ क्षेत्रम् । ४ वितरन् । ५ कश्चन । ६ अणुव्रता- ल०
७ धुरीणा । ८ परीक्षितुमिच्छु । ९ भृत्यैः । १० आगच्छत । ११ विचारात् प्रतिबन्धाद् वा ।

ते तु स्वव्रतसिद्ध्यर्थमीहमाना[1] महान्वयाः । नैषुः[2] प्रवेशनं तावद् यावदार्द्राङ्कुराः पथि ॥१३॥
सधान्यैर्हरितैः कीर्णमनाक्रम्य नृपाङ्गणम् । निश्चक्रमुः[3] कृपालुत्वात् केचित् सावद्यभीरवः ॥१४॥
कृतानुबन्धना[4] भूयश्चक्रिणः किल तेऽन्तिकम् । प्रासुकेन[5] पथाऽन्येन भेजुः क्रान्त्वा नृपाङ्गणम् ॥१५॥
प्राक् केन हेतुना यूयं नायाताः पुनरागताः । केन ब्रूतेति पृष्टास्ते प्रत्यभापन्त चक्रिणम् ॥१६॥
प्रवालपत्रपुष्पादेः पर्वणि व्यपरोपणम्[6] । न कल्पतेऽद्य तज्जानां[7] जन्तूनां नो[8]ऽनभिद्रुहाम्[9] ॥१७॥
सन्त्येवानन्तशो जीवा हरितेष्वङ्कुरादिषु । निगोता इति सार्वज्ञं[10] देवास्माभिः श्रुतं वचः ॥१८॥
तस्मान्नास्माभिराक्रान्तमद्यत्वे[11] त्वद्गृहाङ्गणम् । कृतोपहारमार्द्रार्द्रैः[12] फलपुष्पाङ्कुरादिभिः ॥१९॥
इति तद्वचनात् सर्वान् सोऽभिनन्द्य दृढव्रतान् । पूजयामास लक्ष्मीमान्[13] दानमानादिसत्कृतैः ॥२०॥
तेषां कृतानि चिह्नानि सूत्रैः पद्माह्वयान्निधेः । [14]उपात्तैर्ब्रह्मसूत्राह्वैरेकाद्येकादशान्तकैः ॥२१॥
गुणभूमिकृताद् भेदात्[15] क्लृप्तयज्ञोपवीतिनाम्[16] । सत्कारः क्रियते स्मैषामव्रताश्च बहिः कृताः ॥२२॥
अथ ते कृतसन्मानाः चक्रिणा व्रतधारिणः । भजन्ति स्म परं दार्ढ्यं[17] लोकश्चैनानपूजयत ॥२३॥
इज्यां वार्तां च दत्तिं च स्वाध्यायं संयमं तपः । श्रुतोपासकसूत्रत्वात् स तेभ्यः समुपादिशत् ॥२४॥

विना किसी सोच-विचारके राजमन्दिरमें घुस आये। राजा भरतने उन्हे एक ओर हटाकर वाकी वचे हुए लोगोंको बुलाया ॥१२॥ परन्तु बड़े-बड़े कुलमें उत्पन्न हुए और अपने व्रतकी सिद्धिके लिए चेष्टा करनेवाले उन लोगोने जवतक मार्गमे हरे अकूरे है तवतक उसमें प्रवेश करनेकी इच्छा नही-की ॥१३॥ पापसे डरनेवाले कितने ही लोग दयालु होनेके कारण हरे धान्योंसे भरे हुए राजाके आँगनको उल्लंघन किये विना ही वापस लौटने लगे ॥१४॥ परन्तु जव चक्रवर्तीने उनसे बहुत ही आग्रह किया तव वे दूसरे प्रासुक मार्गसे राजाके आँगनको लाँघकर उनके पास पहुँचे ॥१५॥ आप लोग पहले किस कारणसे नही आये थे, और अव किस कारणसे आये है ? ऐसा जव चक्रवर्तीने उनसे पूछा तव उन्होने नीचे लिखे अनुसार उत्तर दिया ॥१६॥ आज पर्वके दिन कोंपल, पत्ते तथा पुष्प आदिका विघात नही किया जाता और न जो अपना कुछ विगाड़ करते है ऐसे उन कोंपल आदिमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंका भी विनाश किया जाता है ॥१७॥ हे देव, हरे अंकुर आदिमें अनन्त निगोदिया जीव रहते है, ऐसे सर्वज्ञदेवके वचन हमलोगोने सुने है ॥१८॥ इसलिए जिसमें गीले-गीले फल, पुष्प और अकुर आदिसे शोभा की गयी है ऐसा आपके घरका आँगन आज हम लोगोने नही खूँदा है ॥१९॥ इस प्रकार उनके वचनोसे प्रभावित हुए सम्पत्तिशाली भरतने व्रतोंमे दृढ रहनेवाले उन सबकी प्रशंसा कर उन्हे दान मान आदि सत्कारसे सन्मानित किया ॥२०॥ पद्म नामकी निधिसे प्राप्त हुए एकसे लेकर ग्यारह तककी सख्यावाले ब्रह्मसूत्र नामके सूत्रसे (व्रतसूत्रसे) उन सबके चिह्न किये ॥२१॥ प्रतिमाओंके द्वारा किये हुए भेदके अनुसार जिन्होने यज्ञोपवीत धारण किये है ऐसे इन सबका भरतने सत्कार किया तथा जो व्रती नही थे उन्हे वैसे ही जाने दिया ॥२२॥ अथानन्तर चक्रवर्तीने जिनका सन्मान किया है ऐसे व्रत धारण करनेवाले वे लोग अपने-अपने व्रतोंमे और भी दृढताको प्राप्त हो गये तथा अन्य लोग भी उनकी पूजा आदि करने लगे ॥२३॥ भरतने उन्हे उपासकाध्ययनागसे इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और

---

१ चेष्टमाना.। २ नेच्छन्ति स्म । ३ निर्गता । ४ निर्बन्धा । ५ मार्गेण । ६ हिंसनम् । ७ प्रवालपत्रपुष्पादिजातानाम् । ८ अस्माकम् । ९ अहिंसकानाम् । १० सर्वज्ञस्येदम् । ११ इदानीम् । १२ नितरामार्द्रैः । १३ वस्त्रादिदानसद्वचनादिपूजासत्कारैः । १४ स्वीकृतैः । १५ दार्शनिकादिगुणनिलयविहितात् । १६ कृत । १७ जनः ।

कुलधर्मोऽयमित्येषामर्हत्पूजादिवर्णनम् । तदा भरतराजर्षिरन्ववोचदनुक्रमात् ॥२५॥
प्रोक्ता पूजार्हता[1]मिज्या सा चतुर्धा सदार्चनम्[2] । चतुर्मुखमहः कल्पद्रुमाश्चाष्टाह्निकोऽपि च ॥२६॥
तत्र नित्यमहो नाम शश्वज्जिनगृहं प्रति । स्वगृहान्नीयमानाऽर्चा गन्धपुष्पाक्षतादिका ॥२७॥
चैत्यचैत्यालयादीनां भक्त्या निर्मापणं च यत् । शासनीकृत्य दानं च ग्रामादीनां सदार्चनम् ॥२८॥
या च पूजा मुनीन्द्राणां नित्यदानानुषङ्गिणी । स च नित्यमहो ज्ञेयो यथा शक्त्युपकल्पितः ॥२९॥
महामुकुटबद्धैश्च क्रियमाणो महामहः । चतुर्मुखः स विज्ञेयः सर्वतोभद्र इत्यपि ॥३०॥
दत्त्वा [3]किमिच्छकं दानं सम्राड्भिर्यः प्रवर्त्यते । कल्पद्रुममहः सोऽयं जगदाशाप्रपूरणः ॥३१॥
आष्टाह्निको महः सार्वजनिको[4] रूढ एव सः । महानैन्द्रध्वजोऽन्यस्तु सुरराजैः कृतो महः ॥३२॥
बलिस्नपनमित्यन्यस्त्रिसंन्ध्यासेवया समम् । उक्तेष्वेव विकल्पेषु ज्ञेयमन्यच्च तादृशम् ॥३३॥
एवंविधविधानेन या महेज्या जिनेशिनाम् । विधिज्ञास्तामुशन्तीज्यां वृत्तिं प्राथमकल्पिकीम्[5] ॥३४॥
वार्ता विशुद्धवृत्त्या स्यात् कृष्यादीनामनुष्ठितिः[6] । चतुर्धा वर्णिता दत्तिर्दयापात्रसमान्वयैः ॥३५॥
सानुकम्पमनुग्राह्ये प्राणिवृन्देऽभयप्रदा । त्रिशुद्ध्यनुगता सेयं दयादत्तिर्मता बुधैः ॥३६॥
महातपोधनायार्चाप्रतिग्रहपुरःसरम्[7] । प्रदानमशनादीनां पात्रदानं तदिष्यते ॥३७॥

तपका उपदेश दिया ॥२४॥ यह इनका कुलधर्म है ऐसा विचार कर राजर्षि भरतने उस समय अनुक्रमसे अर्हत्पूजा आदिका वर्णन किया ॥२५॥ वे कहने लगे कि अर्हन्त भगवान्‌की पूजा नित्य करनी चाहिए, वह पूजा चार प्रकारकी है सदार्चन, चतुर्मुख, कल्पद्रुप और आष्टाह्निक ॥२६॥ इन चारो पूजाओंमे-से प्रतिदिन अपने घरसे गन्ध, पुष्प, अक्षत इत्यादि ले जाकर जिनालयमे श्री जिनेन्द्रदेवकी पूजा करना सदार्चन अर्थात् नित्यमह कहलाता है ॥२७॥ अथवा भक्तिपूर्वक अर्हन्तदेवकी प्रतिमा और मन्दिरका निर्माण कराना तथा दानपत्र लिखकर ग्राम खेत आदिका दान देना भी सदार्चन (नित्यमह) कहलाता है ॥२८॥ इसके सिवाय अपनी शक्तिके अनुसार नित्य दान देते हुए महामुनियोंकी जो पूजा की जाती है उसे भी नित्य-मह समझना चाहिए ॥२९॥ महामुकुटबद्ध राजाओके द्वारा जो महायज्ञ किया जाता है उसे चतुर्मुख यज्ञ जानना चाहिए । इसका दूसरा नाम सर्वतोभद्र भी है ॥३०॥ जो चक्रवर्तियोके द्वारा किमिच्छक (मुँहमाँगा) दान देकर किया जाता है और जिसमे जगत्‌के समस्त जीवो-की आशाएँ पूर्ण की जाती है वह कल्पद्रुप नामका यज्ञ कहलाता है । भावार्थ – जिस यज्ञमें कल्पवृक्षके समान सबकी इच्छाएँ पूर्ण की जावे उसे कल्पद्रुम यज्ञ कहते है, यह यज्ञ चक्रवर्ती ही कर सकते है ॥३१॥ चौथा आष्टाह्निक यज्ञ है जिसे सब लोग करते है और जो जगत्‌में अत्यन्त प्रसिद्ध है । इसके सिवाय एक ऐन्द्रध्वज महायज्ञ भी है जिसे इन्द्र किया करता है ॥३२॥ वलि अर्थात् नैवेद्य चढ़ाना, अभिषेक करना, तीनों सन्ध्याओमें उपासना करना तथा इनके समान और भी जो पूजाके प्रकार है वे सब उन्ही भेदोंमे अन्तर्भूत है ॥३३॥ इस प्रकारकी विधिसे जो जिनेन्द्रदेवकी महापूजा की जाती है उसे विधिके जाननेवाले आचार्य इज्या नामकी प्रथम वृत्ति कहते है ॥३४॥ विशुद्ध आचरणपूर्वक खेती आदिका करना वार्ता कहलाती है तथा दयादत्ति, पात्रदत्ति, समदत्ति और अन्वयदत्ति ये चार प्रकारकी दत्ति कही गयी है ॥३५॥

अनुग्रह करने योग्य प्राणियोके समूहपर दयापूर्वक मन वचन कायकी शुद्धिके साथ उनके भय दूर करनेको पण्डित लोग दयादत्ति मानते है ॥३६॥ महातपस्वी मुनियोके लिए

---

१ –ता नित्या सा ल० । २ नित्यमह । 'अर्चा पूजा च नित्यमह' । ३ भवत' किमिष्टमिति प्रश्नपूर्वक तदभिवाञ्छितस्य दानम् । ४ सर्वजने भव । ५ प्रथमकल्पे भवाम् । षट्कर्मसु प्रथमोक्तामित्यर्थः । ६ अनुष्ठानम् । ७ पूजास्थानविधिपूर्वकम् ।

समानायात्मनाऽन्यस्मै क्रियामन्त्रव्रतादिभिः । [1]निस्तारकोत्तमायेह भूहेमाद्यतिसर्जनम्[2] ॥३८॥
समानदत्तिरेषा स्यात् पात्रे मध्यमतामिते[3] । समानप्रतिपत्त्यैव प्रवृत्ता[4] श्रद्धयाऽन्विता ॥३९॥
आत्मान्वयप्रतिष्ठार्थं सूनवे यदशेषतः । समं समयवित्ताभ्यां[5] स्ववर्गस्यातिसर्जनम् ॥४०॥
सैषा सकलदत्तिः स्यात् स्वाध्यायः श्रुतभावना । तपोऽनशनवृत्त्यादि संयमो व्रतधारणम् ॥४१॥
विशुद्धा वृत्तिरेषेषां षट्तयीष्टा द्विजन्मनाम् । योऽतिक्रामेदिमां सोऽज्ञो नाम्नैव न गुणैर्द्विजः[6] ॥४२॥
तपः श्रुतं च जातिश्च त्रयं ब्राह्मण्यकारणम् । तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः ॥४३॥
अपापोपहतां वृत्तिः स्यादेषां जातिरुत्तमा । दत्तीज्याधीति[7] मुख्यत्वाद् व्रतशुद्ध्या सुसंस्कृता[8] ॥४४॥
मनुष्यजातिरेकैव जातिनामोदयोद्भवा । [9]वृत्तिभेदाहिताद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते ॥४५॥
ब्राह्मणा व्रतसंस्कारात् क्षत्रियाः शस्त्रधारणात् । वणिजोऽर्थार्जनान्न्याय्यात् शूद्रा [10]न्यग्वृत्तिसंश्रयात् ४६
तपःश्रुताभ्यामेवातो[11] जातिसंस्कार इष्यते । असंस्कृतस्तु यस्ताभ्यां जातिमात्रेण स द्विजः ॥४७॥
द्विर्जातो हि द्विजन्मेष्टः क्रियातो गर्भतश्च यः । क्रियामन्त्रविहीनस्तु केवलं नामधारकः ॥४८॥
तदेषां जातिसंस्कारं द्रढयन्निति सोऽधिराट् । स प्रोवाच द्विजन्मभ्यः क्रियाभेदानशेषतः ॥४९॥

सत्कारपूर्वक पड़गाह कर जो आहार आदि दिया जाता है उसे पात्रदान कहते हैं ॥३७॥ क्रिया, मन्त्र और व्रत आदिसे जो अपने समान है तथा जो संसारसमुद्रसे पार कर देनेवाला कोई अन्य उत्तम गृहस्थ है उसके लिए पृथिवी सुवर्ण आदि देना अथवा मध्यम पात्रके लिए समान बुद्धिसे श्रद्धाके साथ जो दान दिया जाता है वह समानदत्ति कहलाता है ॥३८-३९॥ अपने वंशकी प्रतिष्ठाके लिए पुत्रको समस्त कुलपद्धति तथा धनके साथ अपना कुटुम्ब समर्पण करनेको सकलदत्ति कहते हैं। शास्त्रोंकी भावना (चिन्तवन) करना स्वाध्याय है, उपवास आदि करना तप है और व्रत धारण करना संयम है ॥४०-४१॥ यह ऊपर कही हुई छह प्रकारकी विशुद्ध वृत्ति इन द्विजोके करने योग्य है। जो इनका उल्लंघन करता है वह मूर्ख नाममात्रसे ही द्विज है, गुणसे द्विज नही है ॥४२॥ तप, शास्त्रज्ञान और जाति ये तीन ब्राह्मण होनेके कारण हैं, जो मनुष्य तप और शास्त्रज्ञानसे रहित है वह केवल जातिसे ही ब्राह्मण है ॥४३॥ इन लोगोंकी आजीविका पापरहित है इसलिए इनकी जाति उत्तम कहलाती है तथा दान, पूजा, अध्ययन आदि कार्य मुख्य होनेके कारण व्रतोकी शुद्धि होनेसे वह उत्तम जाति और भी सुसस्कृत हो गयी है ॥४४॥ यद्यपि जाति नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई मनुष्य जाति एक ही है तथापि आजीविकाके भेदसे होनेवाले भेदके कारण वह चार प्रकारकी हो गयी है ॥४५॥ व्रतोके सस्कारसे ब्राह्मण, शस्त्र धारण करनेसे क्षत्रिय, न्यायपूर्वक धन कमानेसे वैश्य और नीच वृत्तिका आश्रय लेनेसे मनुष्य शूद्र कहलाते हैं ॥४६॥ इसलिए द्विज जातिका सस्कार तपश्चरण और शास्त्राभ्याससे ही माना जाता है परन्तु तपश्चरण और शास्त्राभ्याससे जिसका सस्कार नही हुआ है वह जातिमात्रसे द्विज कहलाता है ॥४७॥ जो एक वार गर्भसे और दूसरी वार क्रियासे इस प्रकार दो वार उत्पन्न हुआ हो उसे द्विजन्मा अथवा द्विज कहते है परन्तु जो क्रिया और मन्त्र दोनोसे ही रहित है वह केवल नामको धारण करनेवाला द्विज है ॥४८॥ इसलिए इन द्विजोंकी जातिके संस्कारको दृढ़ करते हुए सम्राट् भरतेश्वरने द्विजोके लिए नीचे लिखे अनुसार क्रियाओंके समस्त भेद कहे ॥४९॥

---

१ ससारसागरोत्तारक। २ दानम्। ३ मध्यमत्व गते। ४ प्रवृत्त्या ल०। ५ सद्धर्मधनाभ्याम्। ६ गुणैर्द्विजः ल०, अ०, प०, स०, इ०। ७ स्वाध्याय। ८ सुसस्कृता सती। ९ वर्तन। १० नीचवृत्ति। ११ अतः कारणात्।

ताश्च क्रियास्त्रिधाऽऽम्नाताः श्रावकाध्यायसंग्रहे । सद्दृष्टिभिरनुष्ठेया महोदर्काः शुभावहाः ॥५०॥
गर्भान्वयक्रियाश्चैव तथा दीक्षान्वयक्रियाः । कर्त्रन्वयक्रियाश्चेति तास्त्रिधैवं बुधैर्मताः ॥५१॥
आधानाद्यास्त्रिपञ्चाशज्ज्ञेया गर्भान्वयक्रियाः । चत्वारिंशदथाष्टौ च स्मृता दीक्षान्वयक्रियाः ॥५२॥
कर्त्रन्वयक्रियाश्चैव सप्त तज्ज्ञैः समुच्चिताः । तासां यथाक्रमं नामनिर्देशो[1]ऽयमनूद्यते[2] ॥५३॥
अङ्गानां[3] सप्तमादङ्गाद्[4] दुस्तरादर्णवादपि । श्लोकैरष्टाभिरुन्नेष्ये[5] प्राप्तं ज्ञानलवं मया ॥५४॥
आधानं प्रीतिसुप्रीती धृतिर्मोदः प्रियोद्भवः । नामकर्मबहिर्याननिषद्याः प्राशनं तथा ॥५५॥
व्युष्टिश्च[6] केशवापश्च लिपिसंख्यानसंग्रहः । उपनीतिर्व्रतं चर्या व्रतावतरणं तथा ॥५६॥
विवाहो वर्णलाभश्च कुलचर्या गृहीशिता । प्रशान्तिश्च गृहत्यागो दीक्षाद्यं जिनरूपता ॥५७॥
मौनाध्ययनवृत्तत्वं तीर्थकृत्त्वस्य भावना । गुरुस्थानाभ्युपगमो गणोपग्रहणं तथा ॥५८॥
स्वगुरुस्थानसंक्रान्तिर्निस्संगत्वात्मभावना । योगनिर्वाणसंप्राप्तिर्योगनिर्वाणसाधनम् ॥५९॥
इन्द्रोपपादाभिषेकौ विधिदानं सुखोदयः । इन्द्रत्यागावतारौ च हिरण्योत्कृष्टजन्मता ॥६०॥
मन्दरेन्द्राभिषेकश्च गुरुपूजोपलम्भनम् । यौवराज्यं स्वराज्यं च चक्रलाभो दिशां जयः ॥६१॥
चक्राभिषेकसाम्राज्ये निष्क्रान्तिर्योगसंमहः । आर्हन्त्यं तद्विहारश्च योगत्यागोऽग्रनिर्वृतिः ॥६२॥
त्रयः पञ्चाशदेता हि मता गर्भान्वयक्रियाः । गर्भाधानादिनिर्वाणपर्यन्ताः परमागमे ॥६३॥
अवतारो वृत्तलाभः स्थानलाभो गणग्रहः । पूजाराध्यपुण्ययज्ञौ दृढचर्योपयोगिता ॥६४॥
इत्युद्दिष्टाभिरष्टाभिरुपनीत्यादयः[7] क्रियाः । चत्वारिंशत्प्रमायुक्तास्ताः स्युर्दीक्षान्वयक्रियाः ॥६५॥

उन्होने कहा कि श्रावकाध्याय सग्रहमे वे क्रियाएँ तीन प्रकारकी कही गयी है, सम्यग्दृष्टि पुरुपोको उन क्रियाओंका पालन अवश्य करना चाहिए क्योकि वे सभी उत्तम फल देनेवाली और शुभ करनेवाली है ॥५०॥ गर्भान्वय क्रिया, दीक्षान्वय क्रिया और कर्त्रन्वय क्रिया इस प्रकार विद्वान् लोगोंने तीन प्रकारकी क्रियाएँ मानी है ॥५१॥ गर्भान्वय क्रियाएँ, आधान आदि तिरेपन जानना चाहिए और दीक्षान्वय क्रियाएँ अड़तालीस समझना चाहिए ॥५२॥ इनके सिवाय उस विपयके जानकार विद्वानोंने कर्त्रन्वय क्रियाएँ सात संग्रह की है । अब आगे यथाक्रमसे उन क्रियाओंका नाम निर्देश किया जाता है ॥५३॥ जो समुद्रसे भी दुस्तर है ऐसे बारह अंगोमें सातवे अग (उपासकाध्ययनाग) से जो कुछ मुझे ज्ञानका अंश प्राप्त हुआ है उसे मै नीचे लिखे हुए आठ श्लोकोसे प्रकट करता हूँ ॥५४॥ १ आधान, २ प्रीति, ३ सुप्रीति, ४ धृति, ५ मोद, ६ प्रियोद्भव, ७ नामकर्म, ८ बहिर्यान, ९ निषद्या, १० प्राशन, ११ व्युष्टि, १२ केशवाप, १३ लिपि सख्यानसंग्रह, १४ उपनीति, १५ व्रतचर्या, १६ व्रतावतरण, १७ विवाह, १८ वर्णलाभ, १९ कुलचर्या, २० गृहीशिता, २१ प्रशान्ति, २२ गृहत्याग, २३ दीक्षाद्य, २४ जिनरूपता, २५ मौनाध्ययनवृत्तत्व, २६ तीर्थकृत्भावना, २७ गुरुस्थानाभ्युपगम, २८ गणोपग्रहण, २९ स्वगुरुस्थानसंक्रान्ति, ३० नि सगत्वात्मभावना, ३१ योगनिर्वाणसंप्राप्ति, ३२ योगनिर्वाणसाधन, ३३ इन्द्रोपपाद, ३४ अभिषेक, ३५ विधिदान, ३६ सुखोदय, ३७ इन्द्रत्याग, ३८ अवतार, ३९ हिरण्योत्कृष्टजन्मता, ४० मन्दरेन्द्राभिषेक, ४१ गुरुपूजोपलम्भन, ४२ यौवराज्य, ४३ स्वराज्य, ४४ चक्रलाभ, ४५ दिग्विजय, ४६ चक्राभिषेक, ४७ साम्राज्य, ४८ निष्क्रान्ति, ४९ योगसन्मह, ५० आर्हन्त्य, ५१ तद्विहार, ५२ योगत्याग और ५३ अग्रनिर्वृत्ति । परमागममे ये गर्भसे लेकर निर्वाणपर्यन्त तिरपन क्रियाएँ मानी गयी है ॥५५-६३॥ १ अवतार, २ वृत्तलाभ, ३ स्थानलाभ, ४ गणग्रह, ५ पूजाराध्य, ६ पुण्ययज्ञ, ७ दृढचर्या और ८ उपयोगिता

---

१ नामसंकीर्तन । २ अनुवाद्यते । ३ –द्वादशाङ्गानाम् मध्ये । ४ उपासकाध्ययनात् । ५ उद्देश करिष्ये इत्यर्थ । ६ अभ्युपगम । ७ गर्भान्वयक्रियासु आदौ त्रयोदशक्रिया मुक्त्वा शेषा उपनीत्यादयः ।

तास्तु कर्त्रन्वया ज्ञेया या: प्राप्या: पुण्यकर्तृभि: । फलरूपतया वृत्ता:[1] सन्मार्गाराधनस्य वै ॥६६॥
सज्जाति: सद्गृहित्वं च पारिव्राज्यं सुरेन्द्रता । साम्राज्यं परमार्हन्त्यं परनिर्वाणमित्यपि ॥६७॥
स्थानान्येतानि सप्त स्यु: परमाणि जगत्त्रये । अर्हद्वागमृतास्वादात् प्रतिलभ्यानि देहिनाम् ॥६८॥
क्रियाकल्पोऽयमाम्नातो बहुभेदो महर्षिभि: । संक्षेपतस्तु तल्लक्ष्म[2] वक्ष्ये संचक्ष्य[3] विस्तरम् ॥६९॥
आधानं नाम गर्भादौ संस्कारो मन्त्रपूर्वक: । पत्नीमृतुमतीं स्नातां पुरस्कृत्यार्हदिज्यया ॥७०॥
[4]तत्रार्चनाविधौ चक्रत्रयं छत्रत्रयान्वितम् । जिनार्चामभित:[5] स्थाप्यं समं पुण्याग्निभिस्त्रिभि: ॥७१॥
त्रयोऽग्नयोऽर्हद्गणभृच्छेषकेवलिनिर्वृतौ । ये हुतास्ते प्रणेतव्या:[6] सिद्धार्चावेद्युपाश्रया:[7] ॥७२॥
[8]तेष्वर्हदिज्याशेषांशैराहुतिर्मन्त्रपूर्विका । विधेया शुचिभिर्द्रव्यै: पुंस्पुत्रोत्पत्तिकाम्यया[9] ॥७३॥
तन्मन्त्रास्तु यथाम्नायं वक्ष्यन्तेऽन्यत्र पर्वणि[10] । सप्तधा पीठिकाजातिमन्त्रादिप्रविभागत: ॥७४॥
विनियोगस्तु सर्वासु क्रियास्वेषां[11] मतो जिनै: । अव्यामोहादतस्तज्ज्ञै: प्रयोज्यास्त[12] उपासकै: ॥७५॥
गर्भाधानक्रियामेनां प्रयुज्यादौ यथाविधि । सन्तानार्थं विना रागाद् दम्पतिभ्यां[13] न्यवेयताम् ॥७६॥

इति गर्भाधानम् ।

इन कही हुई आठ क्रियाओंके साथ उपनीति नामकी चौदहवी क्रियासे तिरपनवी निर्वाण (अग्र-निर्वृति) क्रिया तककी चालीस क्रियाएँ मिलाकर कुल अडतालीस दीक्षान्वय क्रियाएँ कहलाती है ॥ ६४–६५ ॥ कर्त्रन्वय क्रियाएँ वे है जो कि पुण्य करनेवाले लोगोको प्राप्त हो सकती है और जो समीचीन मार्गकी आराधना करनेके फलस्वरूप प्रवृत्त होती है ॥ ६६ ॥ १ सज्जाति, २ सद्गृहित्व, ३ पारिव्राज्य, ४ सुरेन्द्रता, ५ साम्राज्य, ६ परमार्हन्त्य और ७ परमनिर्वाण ये सात स्थान तीनो लोकोमे उत्कृष्ट माने गये हैं और ये सातों ही अर्हन्त भगवान्‌के वचनरूपी अमृतके आस्वादनसे जीवोंको प्राप्त हो सकते हैं ॥ ६७–६८ ॥ महर्षियोने इन क्रियाओका समूह अनेक प्रकारका माना – अनेक प्रकारसे क्रियाओका वर्णन किया है परन्तु मै यहाँ विस्तार छोड़-कर सक्षेपसे ही उनके लक्षण कहता हूँ ॥ ६९ ॥ चतुर्थ स्नानके द्वारा शुद्ध हुई रजस्वला पत्नी-को आगे कर गर्भाधानके पहले अर्हन्तदेवकी पूजाके द्वारा मन्त्रपूर्वक जो संस्कार किया जाता है उसे आधान क्रिया कहते हैं ॥ ७० ॥ इस आधान क्रियाकी पूजामे जिनेन्द्र भगवान्‌की प्रतिमाके दाहिनी ओर तीन चक्र, बायी ओर तीन छत्र और सामने तीन पवित्र अग्नि स्थापित करे ॥७१॥ अर्हन्त भगवान् (तीर्थकर) के निर्वाणके समय, गणधरदेवोके निर्वाणके समय और सामान्य केवलियोके निर्वाणके समय जिन अग्नियोमें होम किया गया था ऐसी तीन प्रकारकी पवित्र अग्नियाँ सिद्ध प्रतिमाकी वेदीके समीप ही तैयार करनी चाहिए ॥७२॥ प्रथम ही अर्हन्त देवकी पूजा कर चुकनेके बाद शेष बचे हुए पवित्र द्रव्यसे पुत्र उत्पन्न होनेकी इच्छा कर मन्त्रपूर्वक उन तीन अग्नियोमे आहुति करनी चाहिए ॥ ७३ ॥ उन आहुतियोके मन्त्र आगेके पर्वमे शास्त्रा-नुसार कहे जावेगे । वे पीठिका मन्त्र, जातिमन्त्र आदिके भेदसे सात प्रकारके है ॥ ७४ ॥ श्रीजिनेन्द्रदेवने इन्ही मन्त्रोका प्रयोग समस्त क्रियाओमे बतलाया है इसलिए उस विषयके जान-कार श्रावकोंको व्यामोह (प्रमाद) छोडकर उन मन्त्रोका प्रयोग करना चाहिए ॥ ७५ ॥ इस प्रकार कही हुई इस गर्भाधानकी क्रियाको पहले विधिपूर्वक करके फिर स्त्री-पुरुष दोनोको विष-यानुरागके बिना केवल सन्तानके लिए समागम करना चाहिए ॥ ७६ ॥ इस प्रकार यह गर्भा-धान क्रियाकी विधि समाप्त हुई ।

---

१ प्रवर्तिता । २ क्रियालक्षणम् । ३ वर्जयित्वा । ४ तत्र आदानक्रियायाम् । तत्रार्चनविधौ ल० । ५ जिनविम्बस्य समन्तत: । ६ सस्कार्या: । ७ सिद्धप्रतिमाश्रिततिर्यग्वेदिसमीपाश्रिता । ८ अग्निषु । ९ वाञ्छया । १० सर्गे । ११ मन्त्राणाम् । १२ मन्त्रा: । १३ विधीयताम् ल० । व्यवीयताम् द० । अभिगम्यताम् ।

गर्भाधानात् परं मासे तृतीये संप्रवर्तते । प्रीतिर्नाम क्रिया प्रीतैर्याऽनुष्ठेया द्विजन्मभिः ॥७७॥
तत्रापि पूर्ववन्मन्त्रपूर्वा पूजा जिनेशिनाम् । द्वारि तोरणविन्यासः पूर्णकुम्भौ च संमतौ ॥७८॥
तदादि प्रत्यहं भेरीशब्दो घण्टाध्वनान्वितः[1] । यथाविभवमेवैतैः प्रयोज्यो गृहमेधिभिः ॥७९॥
इति प्रीतिः ।

आधानात् पञ्चमे मासि क्रिया सुप्रीतिरिष्यते । या सुप्रीतैः प्रयोक्तव्या परमोपासकव्रतैः ॥८०॥
तत्राप्युक्तो विधिः पूर्वः सर्वोऽर्हद्बिम्बसन्निधौ । कार्यो मन्त्रविधानज्ञैः साक्षीकृत्याग्निदेवताः ॥८१॥
इति सुप्रीतिः ।

धृतिस्तु सप्तमे मासि कार्या तद्वत्क्रियादरैः । गृहमेधिभिरव्यग्रमनोभिर्गर्भवृद्धये ॥८२॥
इति धृतिः ।

नवमे मास्यतोऽभ्यर्णे मोदो नाम क्रियाविधिः । तद्वदेवादृतैः कार्यो गर्भपुष्ट्यै द्विजोत्तमैः ॥८३॥
तत्रेष्टो गात्रिकाबन्धो[2] मङ्गल्यं[3] च प्रसाधनम्[4] । रक्षासूत्रविधानं[5] च गर्भिण्या द्विजसत्तमैः ॥८४॥
इति मोदः ।

प्रियोद्भवः प्रसूतायां[6] जातकर्मविधिः स्मृतः । जिनजातकमाध्याय प्रवर्त्यो यो यथाविधि ॥८५॥
अवान्तरविशेषोऽत्र क्रियामन्त्रादिलक्षणः । भूयान्[7] समस्त्यसौ ज्ञेयो मूलोपासकसूत्रतः ॥८६॥
इति प्रियोद्भवः ।

गर्भाधानके बाद तीसरे माहमें प्रीति नामकी क्रिया होती है जिसे सन्तुष्ट हुए द्विज लोग करते है ॥ ७७ ॥ इस क्रियामे भी पहलेकी क्रियाके समान मन्त्रपूर्वक जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनी चाहिए, दरवाजेपर तोरण बाँधना चाहिए तथा दो पूर्ण कलश स्थापना करना चाहिए ॥ ७८ ॥ उस दिनसे लेकर गृहस्थोंको प्रतिदिन अपने वैभवके अनुसार घण्टा और नगाड़े बजवाने चाहिए ॥ ७९ ॥ यह दूसरी प्रीति क्रिया है ।

गर्भाधानसे पाँचवे माहमे सुप्रीति क्रिया की जाती है जो कि प्रसन्न हुए उत्तम श्रावकोंके द्वारा की जाती है ॥ ८० ॥ इस क्रियामे भी मन्त्र और क्रियाओंको जाननेवाले श्रावकोंको अग्नि तथा देवताकी साक्षी कर अर्हन्त भगवान्‌की प्रतिमाके समीप पहले कही हुई समस्त विधि करनी चाहिए ॥ ८१ ॥ यह तीसरी सुप्रीति नामकी क्रिया है ।

जिनका आदर किया गया है और जिनका चित्त व्याकुल नही है ऐसे गृहस्थोको गर्भकी वृद्धिके लिए गर्भसे सातवे महीनेमें पिछली क्रियाओके समान ही धृति नामकी क्रिया करनी चाहिए ॥८२॥ यह चौथी धृति नामकी क्रिया है ।

तदनन्तर नौवे महीनेके निकट रहनेपर मोद नामकी क्रिया की जाती है यह क्रिया भी पिछली क्रियाओंके समान आदरयुक्त उत्तम द्विजोंके द्वारा गर्भकी पुष्टिके लिए की जाती है ॥८३॥ इस क्रियामे उत्तम द्विजोको गर्भिणीके शरीरपर गात्रिकाबन्ध करना चाहिए अर्थात् मन्त्रपूर्वक बीजाक्षर लिखना चाहिए, मंगलमय आभूषणादि पहनाना चाहिए और रक्षाके लिए कंकणसूत्र आदि बाँधनेकी विधि करनी चाहिए ॥८४॥ यह पाँचवी मोदक्रिया है ।

तदनन्तर प्रसूति होनेपर प्रियोद्भव नामकी क्रिया की जाती है, इसका दूसरा नाम जातकर्म विधि भी है। यह क्रिया जिनेन्द्र भगवान्‌का स्मरण कर विधिपूर्वक करनी चाहिए ॥८५॥ इस क्रियामे क्रिया मन्त्र आदि अवान्तर विशेष कार्य बहुत भारी है इसलिए इसका पूर्ण ज्ञान मूलभूत उपासकाध्ययनाङ्गसे प्राप्त करना चाहिए ॥८६॥ यह छठवी प्रियोद्भव क्रिया है ।

---

१ स्वनान्वित ल० । २ गात्रेषु बीजाक्षराणां मन्त्रपूर्वक न्यास । ३ शोभनम् । ४ अलङ्कारः । ५ रक्षार्थं कङ्कणसूत्रबन्धनविधानम् । ६ प्रसूताया सत्याम् । ७ महान् ।

द्वादशाहात् परं नामकर्म जन्मदिनान्मतम् । अनुकूले सुतस्यास्य पित्रोरपि सुखावहे ॥८७॥
यथाविभवमत्रेष्टं देवर्षिद्विजपूजनम् । शस्तं च नामधेयं तत् स्थाप्यमन्वयवृद्धिकृत् ॥८८॥
अष्टोत्तरसहस्राद् वा जिननामकदम्बकात् । घटपत्रविधानेन ग्राह्यमन्यतम शुभम् ॥८९॥

इति नामकर्म ।

बहिर्यानं ततो[1] द्वित्रैर्मासैस्त्रिचतुरैरुत[2] । यथानुकूलमिष्टेऽह्नि कार्यं तूर्यादिमङ्गलैः ॥९०॥
ततः प्रभृत्यभीष्टं हि शिशोः प्रसववेश्मनः[3] । बहिःप्रणयनं मात्रा धात्र्युत्सङ्गगतस्य वा ॥९१॥
तत्र बन्धुजनादर्थलाभो यः पारितोषिकः[4] । स तस्योत्तरकालेऽर्प्यो धनं पित्र्यं यदाप्स्यति ॥९२॥

इति बहिर्यानम् ।

ततः परं निषद्यास्य क्रिया बालस्य कल्प्यते । तद्योग्ये तल्प[5] आस्तीर्णे[6] कृतमङ्गलसन्निधौ ॥९३॥
सिद्धार्चनादिकः सर्वो विधिः पूर्ववदत्र[7] च । यतो[8] दिव्यासनार्हत्वमस्य स्यादुत्तरोत्तरम् ॥९४॥

इति निषद्या ।

जन्मदिनसे बारह दिनके बाद, जो दिन माता पिता और पुत्रके अनुकूल हो, सुख देनेवाला हो उस दिन नामकर्मकी क्रिया की जाती है ॥८७॥ इस क्रियामे अपने वैभवके अनुसार अर्हन्तदेव और ऋषियोंकी पूजा करनी चाहिए, द्विजोका भी यथायोग्य सत्कार करना चाहिए तथा जो वशकी वृद्धि करनेवाला हो ऐसा कोई उत्तम नाम बालकका रखना चाहिए ॥८८॥ अथवा जिनेन्द्रदेवके एक हजार आठ नामोके समूहसे घटपत्रकी विधिसे कोई एक शुभ नाम ग्रहण कर लेना चाहिए। भावार्थ – भगवान्के एक हजार आठ नामोके एक हजार आठ कागजके टुकड़ोपर अष्टगन्धसे सुवर्ण अथवा अनारकी कलमसे लिखकर उनकी गोली बना लेवे और पीले वस्त्र तथा नारियल आदिसे ढके हुए एक घड़ेमे भर देवे, कागजके एक टुकड़ेपर 'नाम' ऐसा शब्द लिखकर उसकी गोली बना लेवे इसी प्रकार एक हजार सात कोरे टुकड़ोंकी गोलियाँ बनाकर इन सबको एक दूसरे घडेमे भर देवे, अनन्तर किसी अबोध कन्या या बालकसे दोनों घड़ोमें-से एक-एक गोली निकलवाता जावे। जिस नामकी गोलीके साथ नाम ऐसा लिखी हुई गोली निकले वही नाम बालकका रखना चाहिए। यह घटपत्र विधि कहलाती है ॥८९॥ यह सातवी नामकर्म क्रिया है।

तदनन्तर दो-तीन अथवा तीन-चार माहके बाद किसी शुभ दिन तुरही आदि मांगलिक बाजोके साथ-साथ अपनी अनुकूलताके अनुसार बहिर्यान क्रिया करनी चाहिए ॥९०॥ जिस दिन यह क्रिया की जावे उसी दिनसे माता अथवा धायकी गोदमे बैठे हुए बालकका प्रसूति-गृहसे बाहर ले जाना शास्त्रसम्मत है ॥९१॥ उस क्रियाके करते समय बालकको भाई बान्धव आदिसे पारितोपिक – भेटरूपसे जो कुछ धनकी प्राप्ति हो उसे इकट्ठा कर, जब वह पुत्र पिताके धनका अधिकारी हो तब उसके लिए सौप देवे ॥९२॥ यह आठवी बहिर्यान क्रिया है।

तदनन्तर, जिसके समीप मङ्गलद्रव्य रखे हुए है और जो बालकके योग्य हैं ऐसे बिछाये हुए आसनपर उस बालककी निषद्या क्रिया की जाती है अर्थात् उसे उत्तम आसनपर बैठा लेते है ॥९३॥ इस क्रियामे सिद्ध भगवान्की पूजा करना आदि सब विधि पहलेके समान ही करनी चाहिए जिससे इस बालककी उत्तरोत्तर दिव्य आसनपर बैठनेकी योग्यता होती रहे ॥९४॥ यह नौवी निषद्या क्रिया है।

---

१ द्वौ वा त्रयो वा द्वित्रास्तैः । २ अथवा । ३ प्रसववेश्मन सकाशात् । ४ परितोषे भव । ५ शय्यायाम् । ६ विस्तीर्णे । ७ निषद्याक्रियायाम् । ८ निषद्याक्रियाया ।

गते मासपृथक्त्वे[1] च जन्माद्यस्य[2] यथाक्रमम् । अन्नप्राशनमाम्नातं पूजाविधिपुरःसरम् ॥९५॥

इति अन्नप्राशनम् ।

ततोऽस्य हायने[3] पूर्णे व्युष्टिर्नाम क्रिया मता । वर्षवर्धनपर्यायशब्दवाच्या यथाश्रुतम्[4] ॥९६॥

[5]अत्रापि पूर्ववद्दानं जैनी पूजा च पूर्ववत् । इष्टबन्धुसमाह्वानं समाशादिश्च[6] लक्ष्यताम् ॥९७॥

इति व्युष्टिः ।

केशवापस्तु केशानां शुभेऽह्नि व्यपरोपणम्[7] । क्षौरेण कर्मणा देवगुरुपूजापुरःसरम् ॥९८॥

गन्धोदकार्द्रितान् कृत्वा केशान् शेषाक्षतोचितान् । मौण्ड्यमस्य विधेयं स्यात् सचूलं[8] स्वाऽन्वयोचितम्[9] ॥९९॥

स्नपनोदकधौताङ्गमनुलिप्तं सभूषणम्[10] । प्रणमय्य[11] मुनीन् पश्चाद् योजयेद् बन्धुताशिषा[12] ॥१००॥

चौलाख्यया प्रतीतेयं कृतपुण्याहमङ्गला । क्रियास्यामादृतो लोको यतते परया मुदा ॥१०१॥

इति केशवाप. ।

ततोऽस्य पञ्चमे वर्षे प्रथमाक्षरदर्शने । ज्ञेयः क्रियाविधिर्नाम्ना लिपिसंख्यानसंग्रहः ॥१०२॥

यथाविभवमत्रापि ज्ञेयः पूजापरिच्छदः । उपाध्यायपदे चास्य मतोऽधीती[13] गृहव्रती ॥१०३॥

इति लिपिसंख्यानसंग्रहः ।

क्रियोपनीतिर्नामास्य वर्षे गर्भाष्टमे मता । यत्रापनीतकेशस्य मौञ्जी सव्रतबन्धना ॥१०४॥

जव क्रम-क्रमसे सात-आठ माह व्यतीत हो जाये तब अर्हन्त भगवान्‌की पूजा आदि कर वालकको अन्न खिलाना चाहिए ॥९५॥ यह दसवी अन्नप्राशन क्रिया है ।

तदनन्तर एक वर्ष पूर्ण होनेपर व्युष्टि नामकी क्रिया की जाती है इस क्रियाका दूसरा नाम शास्त्रानुसार वर्षवर्धन है ॥९६॥ इस क्रियामें भी पहले ही के समान दान देना चाहिए, जिनेन्द्र भगवान्‌की पूजा करनी चाहिए, इष्टबन्धुओंको वुलाना चाहिए और सवको भोजन कराना चाहिए ॥९७॥ यह ग्यारहवी व्युष्टि क्रिया है ।

तदनन्तर, किसी शुभ दिन देव और गुरुकी पूजाके साथ-साथ क्षौरकर्म अर्थात् उस्तरासे वालकके वाल वनवाना केशवाप क्रिया कहलाती है ॥९८॥ प्रथम ही वालोंको गन्धोदकसे गीला कर उनपर पूजाके वचे हुए शेष अक्षत रखे और फिर चोटी सहित अथवा अपनी कुलपद्धतिके अनुसार उसका मुण्डन करना चाहिए ॥९९॥ फिर स्नान करानेके लिए लाये हुए जलसे जिसका समस्त शरीर साफ कर दिया गया है, जिसपर लेप लगाया गया है और जिसे उत्तम आभूपण पहनाये गये है ऐसे उस वालकसे मुनियोको नमस्कार करावें, पश्चात् सव भाई, वन्धु उसे आशीर्वादसे युक्त करे ॥१००॥ इस क्रियामें पुण्याहमंगल किया जाता हैं और यह चौल क्रिया नामसे प्रसिद्ध है इस क्रियामे आदरको प्राप्त हुए लोग वडे हर्पसे प्रवृत्त होते हैं ॥१०१॥ यह केशवाप नामकी वारहवी क्रिया है ।

तदनन्तर पाँचवे वर्पमें वालकको सर्वप्रथम अक्षरोंका दर्शन करानेके लिए लिपिसख्यान नामकी क्रियाकी विधि की जाती है ॥१०२॥ इस क्रियामें भी अपने वैभवके अनुसार पूजा आदिकी सामग्री जुटानी चाहिए और अध्ययन करानेमें कुशल व्रती गृहस्थको ही उस वालकके अध्यापकके पदपर नियुक्त करना चाहिए ॥१०३॥ यह तेरहवी लिपिसख्यान क्रिया है ।

गर्भसे आठवे वर्पमे वालककी उपनीति (यज्ञोपवीत धारण) क्रिया होती है । इस क्रियामें केशोका मुण्डन, व्रतवन्धन तथा मौञ्जीवन्धनकी क्रियाएँ की

---

१ सप्ताष्टमासे । २ जन्मदिनात् प्रारभ्य । ३ संवत्सरे । 'संवत्सरो वत्सरोऽब्दो हायनोऽस्त्री शरत् समा' इत्यभिधानात् । ४ शास्त्रानुसारेण । ५ तत्रापि ल० । ६ सहभोजनादि । ७ अपनयनम् । ८ चूडासहितम् । शिखासहितमित्यर्थ. । ९ वान्वयोचितम् ल० । चान्वयोचितम् द० । १० अलंकारयुक्तशिशुम् । ११ मुनिभ्यो नमन कारयित्वा । १२ बन्धुसमूहकृताशीर्वचनेन । १३ अधीतवान् ।

कृतार्हत्पूजनस्यास्य मौञ्जीबन्धो जिनालये । गुरुसाक्षिविधातव्यो व्रतार्पणपुरस्सरम् ॥१०५॥
शिखी सिताशुकः सान्तर्वासा[1] निर्वेषविक्रिय[2] । व्रतचिह्नं दधत्सूत्रं[3] तदोक्तो ब्रह्मचार्यसौ ॥१०६॥
चरणोचितमन्यच्च[4] नामधेयं तदस्य[5] वै । वृत्तिश्च भिक्षयाऽन्यत्र राजन्यादुद्धवैभवात् ॥१०७॥
[6]सोऽन्तःपुरे चरेत् पात्र्यां[7] नियोग इति केवलम् । [8]तदग्रं देवसात्कृत्य[9] ततोऽन्नं योग्यमाहरेत्[10] ॥१०८॥
इत्युपनीतिः ।

व्रतचर्यामतो[11] वक्ष्ये क्रियामस्योपविभ्रतः । कट्यूरूरःशिरोलिङ्गमनूचानव्रतोचितम् ॥१०९॥
कटीलिङ्गं भवेदस्य मौञ्जीबन्धस्त्रिभिर्गुणैः । रत्नत्रितयशुद्ध्यङ्गं तद्धि चिह्नं द्विजात्मनाम् ॥११०॥
तस्येष्टमूरुलिङ्गं[12] च सुधौतसितशाटकम्[13] । आर्हतानां कुलं पूतं विशालं चेति सूचने ॥१११॥
उरोलिङ्गमथास्य स्याद् ग्रथितं सप्तभिर्गुणैः । यज्ञोपवीतकं सप्तपरमस्थानसूचकम् ॥११२॥
शिरोलिङ्गं च तस्येष्टं परं मौण्ड्यमनाविलम्[14] । मौण्ड्यं मनोवचःकायगतमस्योपबृंहयत् ॥११३॥
एवंप्रायेण[15] लिङ्गेन विशुद्धं धारयेद् व्रतम् । स्थूलहिंसाविरत्यादि ब्रह्मचर्योपबृंहितम् ॥११४॥
दन्तकाष्ठग्रहो नास्य न ताम्बूलं न चाञ्जनम् । न हरिद्रादिभिः स्नानं शुद्धस्नानं दिनं प्रति ॥११५॥

जाती है ॥१०४॥ प्रथम ही जिनालयमे जाकर जिसने अर्हन्तदेवकी पूजा की है ऐसे उस बालकको व्रत देकर उसका मौञ्जीबन्धन करना चाहिए अर्थात् उसकी कमरमें मूँजकी रस्सी बाँधनी चाहिए ॥१०५॥ जो चोटी रखाये हुए है, जिसकी सफेद धोती और सफेद दुपट्टा है, जो वेष और विकारोसे रहित है, तथा जो व्रतके चिह्नस्वरूप यज्ञोपवीत सूत्रको धारण कर रहा है ऐसा वह बालक उस समय ब्रह्मचारी कहलाता है ॥१०६॥ उस समय उसके आचरणके योग्य और भी नाम रखे जा सकते है। उस समय बडे वैभवशाली राजपुत्रको छोडकर सबको भिक्षावृत्तिसे ही निर्वाह करना चाहिए और राजपुत्रको भी अन्तःपुरमें जाकर माता आदिसे किसी पात्रमे भिक्षा माँगनी चाहिए, क्योकि उस समय भिक्षा लेनेका यह नियोग ही है। भिक्षामे जो कुछ प्राप्त हो उसका अग्रभाग श्री अरहन्तदेवको समर्पण कर बाकी बचे हुए योग्य अन्नका स्वय भोजन करना चाहिए ॥१०७–१०८॥ यह चौदहवी उपनीति क्रिया है।

अथानन्तर ब्रह्मचर्य व्रतके योग्य कमर, जाँघ, वक्षःस्थल और शिरके चिह्नको धारण करनेवाले इस ब्रह्मचारी बालककी व्रतचर्या नामकी क्रियाका वर्णन करते है ॥१०९॥ तीन लरकी मूँजकी रस्सी बाँधनेसे कमरका चिह्न होता है, यह मौजीबन्धन रत्नत्रयकी विशुद्धिका अग है और द्विज लोगोंका एक चिह्न है ॥११०॥ अत्यन्त धुली हुई सफेद धोती उसकी जाँघका चिह्न है, वह धोती यह सूचित करती है कि अरहन्त भगवान्‌का कुल पवित्र और विशाल है ॥१११॥ उसके वक्षःस्थलका चिह्न सात लरका गुँथा हुआ यज्ञोपवीत है, यह यज्ञोपवीत सात परमस्थानोका सूचक है ॥११२॥ उसके शिरका चिह्न स्वच्छ और उत्कृष्ट मुण्डन है जो कि उसके मन, वचन, कायके मुण्डनको बढानेवाला है। भावार्थ – शिर मुण्डनसे मन, वचन, काय पवित्र रहते है ॥११३॥ प्राय इस प्रकारके चिह्नोसे विशुद्ध और ब्रह्मचर्यसे बढ़े हुए स्थूल हिंसाका त्याग (अहिंसाणु व्रत) आदि व्रत उसे धारण करना चाहिए ॥११४॥ इस ब्रह्मचारीको वृक्षकी दातौन नही करनी चाहिए, न पान खाना चाहिए, न अजन लगाना चाहिए और न हल्दी आदि लगाकर स्नान करना चाहिए, उसे प्रतिदिन केवल

१ अन्तर्वस्त्रेण सहित । २ वेषविकाररहितः । ३ यज्ञसूत्रम् । ४ वर्तनायोग्यम् । ५ तदास्य ल० । ६ राजन्य । ७ पात्रे भिक्षां प्रार्थयेदित्यर्थ । ८ भिक्षान्नम् । ९ देवस्य चरुं समर्प्य । १० शेषान्नं भुञ्जीत । ११ –मह ल० । १२ ब्रह्मचर्यव्रत । १३ धवलवस्त्रम् । १४ उष्णीषादिरहितम् । १५ एवं प्रकारेण ।

न [1]खट्वाशयनं तस्य नान्याङ्गपरिघट्टनम् । भूमौ केवलमेकाकी शयीत व्रतशुद्धये ॥११६॥
यावद् विद्यासमाप्तिः स्यात् तावदस्येदृशं व्रतम् । ततोऽप्यूर्ध्वं व्रतं तत स्याद् तन्मूलं गृहमेधिनाम् ११७
सूत्रमौपासिकं चास्य स्यादध्येयं गुरोर्मुखात् । विनयेन ततोऽन्यच्च शास्त्रमध्यात्मगोचरम् ॥११८॥
शब्दविद्यार्थशास्त्रादि [2] चाध्येयं नास्य [3]दुष्यति । सुसंस्कारप्रबोधाय [4]वैयात्यख्यातयेऽपि च ॥११९॥
[5]ज्योतिर्ज्ञानमथच्छन्दोज्ञानं [6] ज्ञानं च शाकुनम् । [7]संख्याज्ञानमितीदं च तेनाध्येयं विशेषतः ॥१२०॥
इति व्रतचर्या ।

ततोऽस्याधीतविद्यस्य [8]व्रतवृत्त्यवतारणम् । विशेषविषयं तच्च स्थितस्यौत्सर्गिके [9] व्रते ॥१२१॥
मधुमांसपरित्यागः पञ्चोदुम्बरवर्जनम् । हिंसादिविरतिश्चास्य व्रतं स्यात सार्वकालिकम् ॥१२२॥
व्रतावतरण चेदं गुरुसाक्षिकृतार्चनम् [10] । वत्सराद् द्वादशादूर्ध्वमथवा षोडशात् परम् ॥१२३॥
कृतद्विजार्चनस्यास्य व्रतावतरणोचितम् । वस्त्राभरणमाल्यादिग्रहण गुर्वनुज्ञया ॥१२४॥
शस्त्रोपजीविवर्ग्यश्चेद् [11] धारयेच्छस्त्रमप्यदः । [12]स्ववृत्तिपरिरक्षार्थं शोभार्थं चास्य तद्ग्रहः ॥१२५॥
भोगब्रह्मव्रतादेवमवतीर्णो भवेत्तदा । कामब्रह्मव्रतं [13]त्वस्य तावद्यावक्रियोत्तरा [14] ॥१२६॥
इति व्रतावतरणम् ।

जलसे शुद्ध स्नान करना चाहिए ॥११५॥ उसे खाट अथवा पलँगपर नही सोना चाहिए, दूसरेके शरीरसे अपना शरीर नही रगड़ना चाहिए, और व्रतोंको विशुद्ध रखनेके लिए अकेला पृथिवीपर सोना चाहिए ॥११६॥ जबतक विद्या समाप्त न हो तबतक उसे यह व्रत धारण करना चाहिए और विद्या समाप्त होनेपर वे व्रत धारण करना चाहिए जो कि गृहस्थोके मूलगुण कहलाते है ॥११७॥ सबसे पहले इस ब्रह्मचारीको गुरुके मुखसे श्रावकाचार पढना चाहिए और फिर विनयपूर्वक अध्यात्मशास्त्र पढना चाहिए ॥११८॥ उत्तम सस्कारोंको जागृत करनेके लिए और विद्वत्ता प्राप्त करनेके लिए इसे व्याकरण आदि शव्दशास्त्र और न्याय आदि अर्थशास्त्रका भी अभ्यास करना चाहिए क्योकि आचार-विपयक ज्ञान होनेपर इनके अध्ययन करनेमें कोई दोष नही है ॥११९॥ इसके बाद ज्योतिपशास्त्र, छन्दशास्त्र, शकुनशास्त्र और गणितशास्त्र आदिका भी उसे विशेषरूपसे अध्ययन करना चाहिए ॥१२०॥ यह पन्द्रहवी व्रतचर्या क्रिया है ।

तदनन्तर जिसने समस्त विद्याओका अध्ययन कर लिया है ऐसे उस ब्रह्मचारीकी व्रतावतरण क्रिया होती है । इस क्रियामें वह साधारण व्रतोंका तो पालन करता ही है परन्तु अध्ययनके समय जो विशेप व्रत ले रखे थे उनका परित्याग कर देता है । ॥१२१॥ इस क्रियाके बाद उसके मधुत्याग, मासत्याग, पाँच उदुम्बर फलोंका त्याग और हिसा आदि पॉच स्थूल पापोंका त्याग, ये सदा काल अर्थात् जीवन पर्यन्त रहनेवाले व्रत रह जाते है ॥१२२॥ यह व्रतावतरण क्रिया गुरुकी साक्षीपूर्वक जिनेन्द्र भगवान्‌की पूजा कर बारह अथवा सोलह वर्ष बाद करनी चाहिए ॥१२३॥ पहले द्विजोका सत्कार कर फिर व्रतावतरण करना उचित है और व्रतावतरणके बाद गुरुकी आज्ञासे वस्त्र, आभूषण और माला आदिका ग्रहण करना उचित है ॥१२४॥ इसके बाद यदि वह शस्त्रोपजीवी अर्थात् क्षत्रिय वर्गका है तो वह अपनी आजीविकाकी रक्षाके लिए शस्त्र भी धारण कर सकता है अथवा केवल शोभाके लिए भी शस्त्र ग्रहण किया जा सकता है ॥१२५॥ इस प्रकार इस क्रियामे यद्यपि वह भोगोपभोगोके ब्रह्मव्रतका अर्थात् ताम्बूल आदिके त्यागका अवतरण (परित्याग) कर देता है तथापि

---

१ मञ्चक । २ नीतिशास्त्र । ३ दूष्यते ल०, द० । ४ धाष्टर्च । ५ ज्योतिःशास्त्रम् । ६ छन्द शास्त्रम् । ७ गणितशास्त्रम् । ८ वृत्ति जीवन । ९ साधारणे । १० कृताराधनम् । ११ वर्गे भव । १२ निजजीवन । १३ चास्य ल० । १४ वक्ष्यमाणा, वैवाहिकी ।

ततोऽस्य [1]गुर्वनुज्ञानादिष्टा वैवाहिकी क्रिया । वैवाहिके[2] कुले कन्यामुचितां परिणेष्यतः ॥१२७॥
सिद्धार्चनविधिं सम्यक् निर्वर्त्य द्विजसत्तमाः । कृताग्नित्रयसंपूजाः कुर्युस्तत्साक्षितां[3] क्रियाम् ॥१२८॥
पुण्याश्रमे[4] क्वचित् सिद्धप्रतिमाभिमुखं तयोः । दम्पत्योः परया भूत्या कार्यः पाणिग्रहोत्सवः ॥१२९॥
वेद्यां [5]प्रणीतमग्नीनां त्रयं द्वयमथैककम् । ततः प्रदक्षिणीकृत्य प्रसज्य विनिवेशनम् ॥१३०॥
पाणिग्रहणदीक्षायां नियुक्तं तद्वधूवरम् । आसप्ताहं[6] चरेद् ब्रह्मव्रतं देवाग्निसाक्षिकम् ॥१३१॥
क्रान्त्वा स्वस्योचितां भूमिं तीर्थभूमीर्विहृत्य च । स्वगृहं प्रविशेद् भूत्या परया तद्वधूवरम् ॥१३२॥
विमुक्तकङ्कणं पश्चात् स्वगृहे शयनीयकम् । अधिशय्य यथाकालं भोगाङ्गैरुपलालितम् ॥१३३॥
सन्तानार्थमृतावेव कामसेवां मिथो भजेत् । शक्तिकालव्यपेक्षोऽयं[7] क्रमोऽशक्तेष्वतोऽन्यथा ॥१३४॥
इति विवाहक्रिया ।
एवं कृतविवाहस्य गार्हस्थ्यमनुतिष्ठतः । स्वधर्मानतिवृत्त्यर्थं वर्णलाभमथो[8] ब्रुवे ॥१३५॥
[9]ऊढभार्योऽप्ययं तावदस्वतन्त्रो गुरोर्गृहे । ततः स्वातन्त्र्यसिद्ध्यर्थं वर्णलाभोऽस्य वर्णितः ॥१३६॥
गुरोरनुज्ञया लब्धधनधान्यादिसंपदः । पृथक्कृतालयस्यास्य वृत्तिर्वर्णाप्तिरिष्यते ॥१३७॥
तदापि पूर्ववत्सिद्धप्रतिमानर्चमग्रतः[10] । कृत्वाऽस्योपासकान्[11] मुख्यान् साक्षीकृत्यार्पयेद् धनम् ॥१३८॥

जब तक उसके आगेकी क्रिया नही होती तब तक वह कामपरित्यागरूप ब्रह्मव्रतका पालन करता रहता है ॥१२६॥ यह सोलहवी व्रतावतरण क्रिया है ।

तदनन्तर विवाहके योग्य कुलमें उत्पन्न हुई कन्याके साथ जो विवाह करना चाहता है ऐसे उस पुरुपकी गुरुकी आज्ञासे वैवाहिकी क्रिया की जाती है ॥१२७॥ उत्तम द्विजोको चाहिए कि वे सबसे पहले अच्छी तरह सिद्ध भगवान्‌की पूजा करे और फिर तीनों अग्नियोकी पूजा कर उनकी साक्षीपूर्वक उस वैवाहिकी (विवाह सम्बन्धी) क्रियाको करे ॥१२८॥ किसी पवित्र स्थानमे बड़ी विभूतिके साथ सिद्ध भगवान्‌की प्रतिमाके सामने वधू-वरका विवाहोत्सव करना चाहिए ॥१२९॥ वेदीमें जो तीन, दो अथवा एक अग्नि उत्पन्न की थी उसकी प्रदक्षिणाएँ देकर वधू-वरको समीप ही बैठना चाहिए ॥१३०॥ विवाहकी दीक्षामें नियुक्त हुए वधू और वरको देव और अग्निकी साक्षीपूर्वक सात दिन तक ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना चाहिए ॥१३१॥ फिर अपने योग्य किसी देशमे भ्रमण कर अथवा तीर्थभूमिमे विहारकर वर और वधू बड़ी विभूतिके साथ अपने घरमे प्रवेश करे ॥१३२॥ तदनन्तर जिनका कंकण छोड़ दिया है, ऐसे वर और वधू अपने घरमे समयानुसार भोगोपभोगके साधनोसे सुशोभित शय्यापर शयन कर केवल सन्तान उत्पन्न करनेकी इच्छासे ऋतुकालमे ही परस्पर काम-सेवन करे । काम-सेवनका यह क्रम काल तथा शक्तिकी अपेक्षा रखता है इसलिए शक्तिहीन पुरुषोंके लिए इससे विपरीत क्रम समझना चाहिए अर्थात् उन्हे ब्रह्मचर्यसे रहना चाहिए ॥१३३-१३४॥ यह सत्रहवी विवाह-क्रिया है ।

इस प्रकार जिसका विवाह किया जा चुका है और जो गार्हस्थ्यधर्मका पालन कर रहा है ऐसा पुरुष अपने धर्मका उल्लघन न करे इसलिए उसके अर्थ वर्णलाभ क्रियाको कहते है ॥१३५॥ यद्यपि उसका विवाह हो चुका है तथापि वह जबतक पिताके घर रहता है तबतक अस्वतन्त्र ही है इसलिए उसको स्वतन्त्रता प्राप्त करनेके लिए यह वर्णलाभकी क्रिया कही गयी है ॥१३६॥ पिताकी आज्ञासे जिसे धनधान्य आदि सम्पदाएँ प्राप्त हो चुकी है और मकान भी जिसे अलग मिल चुका है ऐसे पुरुषकी स्वतन्त्र आजीविका करने लगनेको वर्णलाभ कहते है ॥१३७॥ इस क्रियाके समय भी पहलेके समान सिद्ध प्रतिमाओका पूजन

---

१ गुरुरनुमतात् । २ विवाहोचिते । ३ साक्षि ता ल० । ४ पवित्रप्रदेशे । ५ मस्कृतम् । ६ सप्तदिवसपर्यन्तम् । ७ सन्तानार्थम् ऋतुकाले कामसेवाक्रम । ८ -मतो ल० । ९ विवाहित । १० आदौ । ११ कृत्वान्योप-ल० ।

धनमेतदुपादाय स्थित्वाऽस्मिन् स्वगृहे पृथक् । गृहिधर्मस्त्वया धार्यः कृत्स्नो दानादिलक्षणः ॥१३९॥
यथाऽस्मत्पितृदत्तेन धनेनास्माभिरर्जितम् । यशो धर्मश्च तद्वत्त्वं यशोधर्मानुपार्जय ॥१४०॥
इत्येवमनुशिष्यैनं[1] वर्णलाभे नियोजयेत् । [2]सदार. सोऽपि तं धर्मं तथानुष्ठातुमर्हति ॥१४१॥
इति वर्णलाभक्रिया ।

लब्धवर्णस्य तस्येति कुलचर्याऽनुकीर्त्यते । सा त्विज्यादत्तिवार्तादिलक्षणा प्राक् प्रपञ्चिता ॥१४२॥
विशुद्धा वृत्तिरस्यार्यषट्कर्मानुप्रवर्तनम् । गृहिणां कुलचर्येष्टा कुलधर्मोऽप्ययं मतः ॥१४३॥
इति कुलचर्याक्रिया ।

कुलचर्यामनुप्राप्तो धर्मे दार्ढ्यमथोद्वहन् । गृहस्थाचार्यभावेन[3] संश्रयेत स गृहीशिताम् ॥१४४॥
ततो वर्णोत्तमत्वेन स्थापयेत् स्वां गृहीशिताम् । शुभवृत्तिक्रियामन्त्रविवाहैः सोत्तरक्रियैः ॥१४५॥
अनन्यसदृशैरेभिः श्रुतवृत्तिक्रियादिभिः । स्वमुन्नतिं नयन्नेष तदाऽर्हति गृहीशिनाम् ॥१४६॥
वर्णोत्तमो महीदेव. सुश्रुतो द्विजसत्तमः । निस्तारको [4]ग्रामपतिः मानार्हश्चेति मानितः ॥१४७॥
इति गृहीशिता ।

सोऽनुरूप ततो लब्ध्वा सूनुमात्मभरक्षमम् । तत्रारोपितगार्हस्थ्यः सन् प्रशान्तिमतः श्रयेत् ॥१४८॥

कर पिता अन्य मुख्य श्रावकोको साक्षी कर उनके सामने पुत्रको धन अर्पण करे तथा यह कहे कि यह धन लेकर तुम इस अपने घरमें पृथक्रूपसे रहो। तुम्हें दान पूजा आदि समस्त गृहस्थधर्म पालन करते रहना चाहिए। जिस प्रकार हमारे पिताके द्वारा दिये हुए धनसे मैंने यश और धर्मका अर्जन किया है उसी प्रकार तुम भी यश और धर्मका अर्जन करो। इस प्रकार पुत्रको समझाकर पिता उसे वर्णलाभमे नियुक्त करे और सदाचारका पालन करता हुआ वह पुत्र भी पिताके धर्मका पालन करनेके लिए समर्थ होता है ॥१३८–१४१॥ यह अठारहवी वर्णलाभ क्रिया है।

जिसे वर्णलाभ प्राप्त हो चुका है ऐसे पुत्रके लिए कुलचर्या क्रिया कही जाती है और पूजा, दत्ति तथा आजीविका करना आदि सब जिसके लक्षण है ऐसी कुलचर्या क्रियाका पहले विस्तारके साथ वर्णन कर चुके है ॥१४२॥ निर्दोषरूपसे आजीविका करना तथा आर्य पुरुषोके करने योग्य देवपूजा आदि छह कार्य करना यही गृहस्थोकी कुलचर्या कहलाती है और यही उनका कुलधर्म माना जाता है ॥१४३॥ यह उन्नीसवी कुलचर्या क्रिया है।

तदनन्तर कुलचर्याको प्राप्त हुआ वह पुरुष धर्ममें दृढताको धारण करता हुआ गृहस्थाचार्यरूपसे गृहीशिताको स्वीकार करे अर्थात् गृहस्थोंका स्वामी बने। १४४॥ फिर उसे आपको उत्तम वर्ण मानकर आपमे गृहीशिता स्थापित करनी चाहिए। जो दूसरे गृहस्थोमे न पायी जावे ऐसी शुभ वृत्ति, क्रिया, मन्त्र, विवाह तथा आगे कही जानेवाली क्रियाएँ, शास्त्र-ज्ञान और चारित्र आदिकी क्रियाओसे अपने-आपको उन्नत करता हुआ वह गृहीश अर्थात् गृहस्थोके स्वामी होनेके योग्य होता है ॥१४५–१४६॥ उस समय वर्णोत्तम, महीदेव, सुश्रुत, द्विजसत्तम, निस्तारक, ग्रामपति और मानार्ह इत्यादि कहकर लोगोको उसका सत्कार करना चाहिए ॥१४७॥ यह वीसवी गृहीशिता क्रिया है।

तदनन्तर वह गृहस्थाचार्य अपना भार सँभालनेमे समर्थ योग्य पुत्रको पाकर उसे अपनी

१ उपशिष्य। २ सदाचार स तद्धर्म ल०, द०। ३ गृहस्थाचार्यरूपेण। ४ ग्रामपति प०, ल०।

विषयेष्वनभिष्वङ्गो[1] नित्यस्वाध्यायशीलता । नानाविधोपवासैश्च वृत्तिरिष्टा प्रशान्तता ॥१४९॥

इति प्रशान्तिः ।

ततः कृतार्थमात्मानं मन्यमानो गृहाश्रमे । यदोद्यतो गृहत्यागे तदाऽस्यैष क्रियाविधिः ॥१५०॥
सिद्धार्चनां पुरस्कृत्य सर्वानाहूय संमतान् । तत्साक्षि सूनवे सर्वं निवेद्यातो गृहं त्यजेत् ॥१५१॥
कुलक्रमस्त्वया तात संपाल्योऽस्मत्परोक्षतः । त्रिधा कृतं च नो[2] द्रव्यं त्वयेत्थं विनियोज्यताम् ॥१५२॥
एकोऽंशो धर्मकार्येऽतो द्वितीयः स्वगृहव्यये । तृतीयः संविभागाय भवेत्त्वत्सहजन्मनाम् ॥१५३॥
पुत्र्यश्च संविभागार्हाः समं पुत्रैः समांशकैः । त्वं तु भूत्वा कुलज्येष्ठः सन्ततिं नोऽनुपालय ॥१५४॥
श्रुतवृत्तक्रियामन्त्रविधिज्ञस्त्वमतन्द्रितः । प्रपालय [3]कुलाम्नायं गुरुं देवांश्च पूजयन् ॥१५५॥
इत्येवमनुशिष्य त्वं ज्येष्ठं सूनुमनाकुलः । ततो दीक्षामुपादातुं द्विजः स्वं गृहमुत्सृजेत् ॥१५६॥

इति गृहत्यागः ।

त्यक्तागारस्य सद्दृष्टेः प्रशान्तस्य गृहीशिनः । प्राग्दीक्षोपयिकात्[4] कालादेकशाटकधारिणः ॥१५७॥
यत्पुरश्चरणं दीक्षाग्रहणं प्रति धार्यते । दीक्षाद्यं नाम तज्ज्ञेयं क्रियाजातं[5] द्विजन्मनः ॥१५८॥

इति दीक्षाद्यम् ।

त्यक्तचेलादिसंगस्य जैनीं दीक्षामुपेयुषः[6] । धारणं जातरूपस्य यत्तत् स्याज्जिनरूपता ॥१५९॥

गृहस्थीका भार सौंप दे और आप स्वयं उत्तम शान्तिका आश्रय ले ॥१४८॥ विषयोंमें आसक्त नहीं होना, नित्य स्वाध्याय करनेमें तत्पर रहना तथा नाना प्रकारके उपवास आदि करते रहना प्रशान्त वृत्ति कहलाती है ॥१४९॥ यह इक्कीसवीं प्रशान्ति क्रिया है।

तदनन्तर गृहस्थाश्रममें अपने-आपको कृतार्थ मानता हुआ जब वह गृहत्याग करनेके लिए उद्यत होता है तब उसके यह गृहत्याग नामकी क्रियाकी विधि की जाती है ॥१५०॥ इस क्रियामें सबसे पहले सिद्ध भगवान्‌का पूजन कर समस्त इष्टजनोंको बुलाना चाहिए और फिर उनकी साक्षीपूर्वक पुत्रके लिए सब कुछ सौंपकर गृहत्याग कर देना चाहिए ॥१५१॥ गृहत्याग करते समय ज्येष्ठ पुत्रको बुलाकर उससे इस प्रकार कहना चाहिए कि पुत्र, हमारे पीछे यह कुलक्रम तुम्हारे द्वारा पालन करने योग्य है। मैंने जो अपने धनके तीन भाग किये हैं उनका तुम्हें इस प्रकार विनियोग करना चाहिए कि उनमें-से एक भाग तो धर्मकार्यमें खर्च करना चाहिए, दूसरा भाग अपने घर खर्चके लिए रखना चाहिए और तीसरा भाग अपने भाइयोंमें बाँट देनेके लिए है। पुत्रोंके समान पुत्रियोंके लिए भी बराबर भाग देना चाहिए। हे पुत्र, तू कुलका बड़ा होकर मेरी सब सन्तानका पालन कर। तू शास्त्र, सदाचार, क्रिया, मन्त्र और विधिको जाननेवाला है इसलिए आलस्यरहित होकर देव और गुरुओंकी पूजा करता हुआ अपने कुलधर्मका पालन कर। इस प्रकार ज्येष्ठ पुत्रको उपदेश देकर वह द्विज निराकुल होवे और फिर दीक्षा ग्रहण करनेके लिए अपना घर छोड़ दे ॥१५२–१५६॥ यह बाईसवीं गृहत्याग नामकी क्रिया है।

जिसने घर छोड़ दिया है, जो सम्यग्दृष्टि है, प्रशान्त है, गृहस्थोंका स्वामी है और दीक्षाधारण करनेके समयके कुछ पहले जिसने एक वस्त्र धारण किया है उसके दीक्षाग्रहण करनेके पहले जो कुछ आचरण किये जाते हैं उन आचरणों अथवा क्रियाओंके समूहको द्विजकी दीक्षाद्य क्रिया कहते हैं ॥१५७–१५८॥ यह तेईसवीं दीक्षाद्य क्रिया है।

जिसने वस्त्र आदि सब परिग्रह छोड़ दिये हैं और जो जिनदीक्षाको प्राप्त करना चाहता है ऐसे पुरुषका दिगम्बररूप धारण करना जिनरूपता नामकी क्रिया कहलाती है ॥१५९॥

---

१ निष्प्रभ. । २ अस्माकम् । ३ कुलपरम्पराम् । ४ दीक्षास्वीकारात् प्राक् । ५ क्रियासमूहः । ६ गतस्य ।

अशक्यधारणं चेदं जन्तूनां कातरात्मनाम् । जैनं निस्संगतामुख्यं रूपं धीरैर्निषेव्यते ॥१६०॥

इति जिनरूपता ।

कृतदीक्षोपवासस्य प्रवृत्तेः पारणाविधौ । मौनाध्ययनवृत्तत्वमिष्टमाश्रुतनिष्ठितेः[1] ॥१६१॥

[2]वाचंयमो विनीतात्मा विशुद्धकरणत्रयः । सोऽधीयीत[3] श्रुतं कृत्स्नमामूलाद् गुरुसन्निधौ ॥१६२॥

श्रुतं हि विधिनानेन भव्यात्मभिरुपासितम् । योग्यतामिह पुष्णाति परत्रापि प्रसीदति ॥१६३॥

इति मौनाध्ययनवृत्तत्वम् ।

ततोऽधीताखिलाचारः शास्त्रादिश्रुतविस्तरः । विशुद्धाचरणोऽभ्यस्येत् तीर्थकृत्त्वस्य भावनाम् ॥१६४॥

सा तु षोडशधाऽऽम्नाता महाभ्युदयसाधिनी । सम्यग्दर्शनशुद्ध्यादिलक्षणा प्राक्प्रपञ्चिता ॥१६५॥

इति तीर्थकृद्भावना ।

ततोऽस्य विदिताशेषवेद्यस्य[4] विजितात्मनः । गुरुस्थानाभ्युपगमः संमतो गुर्वनुग्रहात् ॥१६६॥

[5]ज्ञानविज्ञानसंपन्नः स्वगुरोरभिसंमतः । विनीतो धर्मशीलश्च यः सोऽर्हति गुरोः पदम् ॥१६७॥

गुरुस्थानाभ्युपगमः ।

ततः सुविहितस्यास्य[6] युक्तस्य गणपोषणः । गणोपग्रहणं नाम क्रियाम्नाता महर्षिभिः ॥१६८॥

जिनका आत्मा कातर है ऐसे पुरुषोंको जिनरूप (दिगम्बररूप) का धारण करना कठिन है इसलिए जिसमें परिग्रह त्यागकी मुख्यता है ऐसा यह जिनेन्द्रदेवका रूप धीरवीर मनुष्योंके द्वारा ही धारण किया जाता है ॥१६०॥ यह चौवीसवी जिनरूपता क्रिया है।

जिसने दीक्षा लेकर उपवास किया है और जो पारणकी विधिमे अर्थात् विधिपूर्वक आहार लेनेमे प्रवृत्त होता है ऐसे साधुका शास्त्रकी समाप्ति पर्यन्त जो मौन रहकर अध्ययन करनेमे प्रवृत्ति होती है उसे मौनाध्ययनवृत्तत्व कहते हैं ॥१६१॥ जिसने मौन धारण किया है, जिसका आत्मा विनय युक्त है, और मन, वचन, काय शुद्ध है ऐसे साधुको गुरुके समीपमें प्रारम्भसे लेकर समस्त शास्त्रोंका अध्ययन करना चाहिए ॥१६२॥ क्योकि इस विधिसे भव्यजीवोके द्वारा उपासना किया हुआ शास्त्र इस लोकमें उनकी योग्यता बढाता है और परलोकमें प्रसन्न रखता है ॥१६३॥ यह पच्चीसवी मौनाध्ययनवृत्तित्व क्रिया है।

तदनन्तर जिसने समस्त आचार शास्त्रका अध्ययन किया है तथा अन्य शास्त्रोंके अध्ययनसे जिसने समस्त श्रुतज्ञानका विस्तार प्राप्त किया है और जिसका आचरण विशुद्ध है ऐसा साधु तीर्थकर पदकी भावनाओका अभ्यास करे ॥१६४॥ सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि रखना आदि जिसके लक्षण है, जो महान् ऐश्वर्यको देनेवाली है तथा पहले जिनका विस्तारके साथ वर्णन किया जा चुका है ऐसी भावनाएँ सोलह मानी गयी है ॥१६५॥ यह छब्बीसवी तीर्थकृद्भावना नामकी क्रिया है।

तदनन्तर जिसने समस्त विद्याएँ जान ली है और जिसने अपने अन्त करणको वश कर लिया है ऐसे साधुका गुरुके अनुग्रहसे गुरुका स्थान स्वीकार करना शास्त्रसम्मत है ॥१६६॥ जो ज्ञान विज्ञान करके सम्पन्न है, अपने गुरुको इष्ट है अर्थात् जिसे गुरु अपना पद प्रदान करना योग्य समझते है, जो विनयवान् और धर्मात्मा है वह साधु गुरुका पद प्राप्त करनेके योग्य है ॥१६७॥ यह सत्ताईसवी गुरुस्थानाभ्युपगम क्रिया है ॥

तदनन्तर जो सदाचारका पालन करता है गण अर्थात् समस्त मुनिसघके पोषण

---

१ श्रुतसमाप्तिपर्यन्तम् । २ मौनी । ३ अध्ययनं कुर्यात् । लिङ् । ४ –विद्यस्य ल०, द०, प० । ५ ज्ञान मोक्षशास्त्र । विज्ञान शिल्पशास्त्र । ६ सदाचारस्य ।

श्रावकानार्यिकासंघं श्राविकाः संयतानपि । सन्मार्गे वर्तयन्नेष गणपोषणमाचरेत ॥१६९॥
श्रुतार्थिभ्यः श्रुतं दद्याद् दीक्षार्थिभ्यश्च दीक्षणम् । धर्मार्थिभ्योऽपि सद्धर्मं स शश्वत प्रतिपादयेत ॥१७०॥
सद्वृत्तान् धारयन्[1] सूरिरसद्वृत्तान्निवारयन् । शोधयंश्च कृतागोमलान स बिभृयाद् गणम् ॥१७१॥
इति गणोपग्रहणम् ।
गणपोषणमित्याविष्कुर्वन्नाचार्यसत्तमः । ततोऽयं स्वगुरुस्थानसंक्रान्तौ यत्नवान् भवेत ॥१७२॥
अधीतविद्यं तद्विद्यैराद्दतं मुनिसत्तमैः । योग्यं शिष्यमथाहूय तस्मै स्वं भारमर्पयेत् ॥१७३॥
गुरोरनुमतात् सोऽपि गुरुस्थानमधिष्ठितः । गुरुवृत्तौ स्वयं[3] तिष्ठन् वर्तयेदखिलं गणम् ॥१७४॥
इति स्वगुरुस्थानावाप्तिः ।
तत्रारोप्य भरं कृत्स्नं काले कस्मिंश्चिदव्यथः । कुर्यादेकविहारी स निःसंगत्वात्मभावनाम् ॥१७५॥
निःसङ्गवृत्तिरेकाकी विहरन् स महातपाः । चिकीर्षुरात्मसंस्कारं नान्यं संस्कर्तुमर्हति ॥१७६॥
अपि रागं समुत्सृज्य शिष्यप्रवचनादिषु । निर्ममत्वैकतानः संश्चर्याशुद्धिं तदाऽश्रयेत ॥१७७॥
इति निःसंगत्वात्मभावना ।
कृत्वैवमात्मसंस्कारं ततः सल्लेखनोद्यतः । कृतात्मशुद्धिरध्यात्मं योगनिर्वाणमाप्नुयात् ॥१७८॥

करनेमे जो तत्पर रहता है उसको महर्षियोने गणोपग्रहण नामकी क्रिया मानी है ॥१६८॥ इस आचार्यको चाहिए कि वह मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविकाओको समीचीन मार्गमें लगाता हुआ अच्छी तरह संघका पोषण करे ॥१६९॥ उसे यह भी चाहिए कि वह शास्त्र अध्ययनकी इच्छा करनेवालोंको दीक्षा देवे और धर्मात्मा जीवोके लिए धर्मका प्रतिपादन करे ॥१७०॥ वह आचार्य सदाचार धारण करनेवालोको प्रेरित करे, दुराचारियोको दूर हटावे और किये हुए स्वकीय अपराधरूपी मलको शोधता हुआ अपने आश्रित गणकी रक्षा करे ॥१७१॥ यह अट्ठाईसवी गणोपग्रहण क्रिया है ।

तदनन्तर इस प्रकार संघका पालन करता हुआ वह उत्तम आचार्य अपने गुरुका स्थान प्राप्त करनेके लिए प्रयत्न सहित हो ॥१७२॥ जिसने समस्त विद्याएँ पढ ली है और उन विद्याओके जानकार उत्तम-उत्तम मुनि जिसका आदर करते है ऐसे योग्य शिष्यको बुलाकर उसके लिए अपना भार सौप दे ॥१७३॥ गुरुकी अनुमतिसे वह शिष्य भी गुरुके स्थानपर अधिष्ठित होता हुआ उनके समस्त आचरणोंका स्वयं पालन करे और समस्त संघको पालन करावे ॥१७४॥ यह उन्तीसवी स्वगुरु-स्थानावाप्ति क्रिया है ।

इस प्रकार सुयोग्य शिष्यपर समस्त भार सौंपकर जो किसी कालमें दुःखी नही होता है ऐसा साधु अकेला विहार करता हुआ 'मेरा आत्मा सब प्रकारके परिग्रहसे रहित है' इस प्रकारकी भावना करे ॥१७५॥ जिसकी वृत्ति समस्त परिग्रहसे रहित है, जो अकेला ही विहार करता है, महातपस्वी है और जो केवल अपने आत्माका ही संस्कार करना चाहता है उसे किसी अन्य पदार्थका संस्कार नही करना चाहिए अर्थात् अपने आत्माको छोड़कर किसी अन्य साधु या गृहस्थके सुधारकी चिन्तामें नही पड़ना चाहिए ॥१७६॥ शिष्य पुस्तक आदि सब पदार्थोमे राग छोडकर और निर्ममत्वभावनामे एकाग्र बुद्धि लगाकर उस समय उसे चारित्रकी शुद्धि धारण करनी चाहिए ॥१७७॥ यह तीसवीं निःसङ्गत्वात्मभावना क्रिया है ।

तदनन्तर इस प्रकार अपने आत्माका संस्कार कर जो सल्लेखना धारण करनेके लिए उद्यत हुआ है और जिसने सब प्रकारसे आत्माकी शुद्धि कर ली है ऐसा

१ सारयन् अ०, प०, इ०, स०, ल०, द० । २ पोषयेद् । ३ तिष्ठेद् वर्तयेत् सकलं गणम् ल० ।

योगो ध्यानं तदर्थो[1] यो यत्नः संवेगपूर्वकः । तमाहुर्योगनिर्वाणसंप्राप्तं परमं तपः ॥१७९॥
कृत्वा परिकरं योग्यं तनुशोधनपूर्वकम् । शरीरं कर्शयेद्दोषैः समं रागादिभिस्तदा ॥१८०॥
तदेतद्योगनिर्वाणं सन्यासे पूर्वभावना[2] । जीविताशां मृतीच्छां च हित्वा[3] भव्यात्मलब्धये ॥१८१॥
रागद्वेषौ समुत्सृज्य श्रेयोऽवाप्तौ च संशयम् । अनात्मीयेषु चात्मीयसंकल्पाद् विरमेत्तदा ॥१८२॥
नाहं देहो मनो नास्मि न वाणी न च कारणम् । तत्त्रयस्येत्यनुद्विग्नो[4] भजेदन्यत्वभावनाम् ॥१८३॥
अहमेको न मे कश्चिन्नैवाहमपि कस्यचित् । इत्यदीनमनाः सम्यगेकत्वमपि भावयेत ॥१८४॥
यतिमाधाय लोकाग्रे नित्यानन्तसुखास्पदे । भावयेद् योगनिर्वाणं स योगी योगसिद्धये ॥१८५॥

इति निर्वाणसंप्राप्तिः ।

ततो निःशेषमाहारं शरीरं च समुत्सृजन् । योगीन्द्रो योगनिर्वाणसाधनायोद्यतो भवेत ॥१८६॥
उत्तमार्थे[5] कृतास्थानः[6] संन्यस्ततनुरुद्धधीः । ध्यायन् मनोवचः कायान्[7] बहिर्भूतान् स्वकान् स्वतः॥१८७॥
प्रणिधाय[8] मनोवृत्तिं पदेषु[9] परमेष्ठिनाम् । जीवितान्ते स्वसात्कुर्याद् योगनिर्वाणसाधनम् ॥१८८॥
योगः समाधिर्निर्वाणं तत्कृता चित्तनिर्वृतिः[10] । तेनेष्टं साधनं यत्तद् योगनिर्वाणसाधनम् ॥१८९॥

इति योगनिर्वाणसाधनम् ।

पुरुष योगनिर्वाण क्रियाको प्राप्त हो ॥१७८॥ योग नाम ध्यानका है उसके लिए जो सवेग-पूर्वक प्रयत्न किया जाता है उस परम तपको योगनिर्वाण संप्राप्ति कहते हैं ॥१७९॥ प्रथम ही शरीरको शुद्ध कर सल्लेखनाके योग्य आचरण करना चाहिए और फिर रागादि दोषोके साथ शरीरको कृश करना चाहिए ॥१८०॥ जीवित रहनेकी आशा और मरनेकी इच्छा छोडकर 'यह भव्य है' इस प्रकारका सुयश प्राप्त करनेके लिए सन्यास धारण करनेके पहले भावना की जाती है वह योगनिर्वाण कहलाता है ॥१८१॥ उस समय रागद्वेष छोड़कर कल्याणकी प्राप्तिमें प्रयत्न करना चाहिए और जो पदार्थ आत्माके नही है, उनमे 'यह मेरे हैं' इस संकल्पका त्याग कर देना चाहिए ॥१८२॥ न मैं शरीर हूँ, न मन हूँ, न वाणी हूँ और न इन तीनोका कारण ही हूँ। इस प्रकार तीनोके विषयमे उद्विग्न न होकर अन्यत्व भावनाका चिन्तवन करना चाहिए ॥१८३॥ इस संसारमे मै अकेला हूँ न मेरा कोई है और न मैं भी किसीका हूँ, इस प्रकार उदार चित्त होकर एकत्वभावनाका अच्छी तरह चिन्तवन करना चाहिए ॥१८४॥ जो नित्य और अनन्त सुखका स्थान है ऐसे लोकके अग्रभाग अर्थात् मोक्षस्थानमे बुद्धि लगाकर उस योगीको योग (ध्यान) की सिद्धिके लिए योग निर्वाण क्रियाकी भावना करनी चाहिए। भावार्थ-सल्लेखनामे बैठे हुए साधुको ससारके अन्य पदार्थोका चिन्तवन न कर एक मोक्षका ही चिन्तवन करना चाहिए ॥१८५॥ यह इकतीसवी योगनिर्वाणसंप्राप्ति क्रिया है ।

तदनन्तर – समस्त आहार और शरीरको छोड़ता हुआ वह योगिराज योगनिर्वाण साधनके लिए उद्यत हो ॥१८६॥ जिसने उत्तम अर्थात् मोक्षपदार्थमे आदर बुद्धि की है, शरीरसे ममत्व छोड़ दिया है और जिसकी बुद्धि उत्तम है ऐसा वह साधु अपने मन, वचन, कायको अपने आत्मासे भिन्न अनुभव करता हुआ अपने मनकी प्रवृत्ति पंचपरमेष्ठियोके चरणोमे लगावे और इस प्रकार जीवनके अन्तमे योगनिर्वाण साधनको अपने अधीन करे – स्वीकार करे ॥१८७–१८८॥ योग नाम समाधिका है उस समाधिके द्वारा चित्तको जो आनन्द होता है उसे निर्वाण कहते हैं, चूँकि यह योगनिर्वाण इष्ट पदार्थोका साधन है – इसलिए इसे योगनिर्वाण साधन कहते है ॥१८९॥ यह बत्तीसवी योगनिर्वाण साधन क्रिया है ।

---

१ तद् ध्यानम् अर्थ प्रयोजन यस्य । २ प्रथमभावना । ३ भव्याङ्कल–ल०, द० । ४ संश्रयेद् अ०, प०, स० । देहमनोवाक्त्रयस्य । ५ सन्यासे । ६ कृतादर । ७ हिरुग्भूतात्मकान् स्वत ट० । पृथग्भूतस्वरूपकान् । ८ एकाग्रं कृत्वा । ९ पञ्चपदेषु । १० चित्ताह्लादः ।

तथा योगं समाधाय कृतप्राणविसर्जनः । इन्द्रोपपादमाप्नोति गते[1] पुण्ये पुरोगताम्[2] ॥१९०॥
इन्द्राः स्युस्त्रिदशाधीशास्तेषूत्पादस्तपोबलात् । यः स इन्द्रोपपादः स्यात् क्रियाऽर्हन्मार्गसेविनाम् ॥१९१॥
ततोऽसौ दिव्यशय्यायां क्षणात्संपूर्णयौवनः । परमानन्दसाद्भूतो दीप्तो दिव्येन तेजसा ॥१९२॥
अणिमादिभिरष्टाभिर्युतोऽसाधारणैर्गुणैः । सहजाम्बरदिव्यस्रङ्मणिभूषणभूषितः ॥१९३॥
दिव्यानुभावसं[3]भूतप्रभावं परमुद्वहन् । बोबुध्यते तदाऽत्मीयमैन्द्रं दिव्यावधित्विषा ॥१९४॥

इति इन्द्रोपपादक्रिया ।

पर्याप्तमात्र एवायं[4] प्राप्तजन्मावबोधनः । पुनरिन्द्राभिषेकेण योज्यतेऽमरसत्तमैः ॥१९५॥
दिव्यसंगीतवादित्रमङ्गलोद्गीतिनिःस्वनैः । विचित्रैश्चाप्सरोनृत्तैर्निर्वृत्तेन्द्राभिषेचनः ॥१९६॥
ति (कि)रीटमुद्वहन् दीप्रं स्वसाम्राज्यैकलाञ्छनम् । सुरकोटिभिरारूढप्रमदैर्जयकारितः ॥१९७॥
स्रग्वी सदंशुको दीप्रो भूषितो दिव्यभूषणैः । ऐन्द्रविष्टरमारूढो महानेष महीयते ॥१९८॥

इति इन्द्राभिषेकः ।

ततोऽयमानतानेतान् सत्कृत्य सुरसत्तमान् । पदेषु स्थापयन् स्वेषु विधिदाने प्रवर्तते ॥१९९॥
[5]स्वविमानर्द्धिदानेन प्रीणितैर्विबुधैर्वृतः । सोऽनुभुङ्क्ते चिरं कालं सुकृती सुखमामरम्[6] ॥२००॥
तदेतद्विधिदानेन्द्रसुखोदयविकल्पितम् । क्रियाद्वयं समाम्नातं स्वर्लोकप्रभवोचितम् ॥२०१॥

इति विधिदानसुखोदयौ ।

ऊपर लिखे अनुसार योगोंका समाधान कर अर्थात् मन, वचन, कायको स्थिर कर जिसने प्राणोंका परित्याग किया है ऐसा साधु पुण्यके आगे-आगे चलनेपर इन्द्रोपपाद क्रियाको प्राप्त होता है ॥१९०॥ देवोंके स्वामी इन्द्र कहलाते है, तपश्चरणके बलसे उन इन्द्रोंमे जन्म लेना इन्द्रोपपाद कहलाता है। वह इन्द्रोपपादक्रिया अर्हत्प्रणीत मोक्षमार्गका सेवन करनेवाले जीवोके ही होती है ॥१९१॥ तदनन्तर वह इन्द्र उसी उपपाद शय्यापर क्षण-भरमें पूर्णयौवन हो जाता है और दिव्य तेजसे देदीप्यमान होता हुआ परमानन्दमे निमग्न हो जाता है ॥१९२॥ वह अणिमा महिमा आदि आठ असाधारण गुणोसे सहित होता है और साथ-साथ उत्पन्न हुए वस्त्र, दिव्यमाला, तथा मणिमय आभूषणोसे सुशोभित होता है। दिव्य माहात्म्यसे उत्पन्न हुए उत्कृष्ट प्रभावको धारण करता हुआ वह इन्द्र दिव्य अवधिज्ञानरूपी ज्योतिके द्वारा जान लेता है कि मै इन्द्रपदमे-उत्पन्न हुआ हूँ ॥१९३–१९४॥ यह इन्द्रोपपाद नामकी तैतीसवी क्रिया है।

पर्याप्तक होते ही जिसे अपने जन्मका ज्ञान हो गया है ऐसे इन्द्रका फिर उत्तमदेव लोग इन्द्राभिषेक करते है ॥१९५॥ दिव्य सगीत, दिव्य बाजे, दिव्य मंगलगीतोके शब्द और अप्सराओके विचित्र नृत्योसे जिसका इन्द्राभिषेक सम्पन्न हुआ है, जो अपने साम्राज्यके मुख्य चिह्नस्वरूप देदीप्यमान मुकुटको धारण कर रहा है, हर्षको प्राप्त हुए करोड़ों देव जिसका जयजयकार कर रहे है, जो उत्तम मालाएँ और वस्त्र धारण किये हुए है तथा देदीप्यमान वस्त्राभूषणोसे सुशोभित है ऐसा वह इन्द्र इन्द्रके पदपर आरूढ होकर अत्यन्त पूजाको प्राप्त होता है ॥१९६–१९८॥ यह चौतीसवी इन्द्राभिषेक क्रिया है।

तदनन्तर नम्रीभूत हुए इन उत्तम-उत्तम देवोंको अपने-अपने पदपर नियुक्त करता हुआ वह इन्द्र विधिदान क्रियामे प्रवृत्त होता है ॥१९९॥ अपने-अपने विमानोंकी ऋद्धि देनेसे सन्तुष्ट हुए देवोसे घिरा हुआ वह पुण्यात्मा इन्द्र चिरकाल तक देवोके सुखोका अनुभव करता है ॥२००॥

---

१ गते सति। २ अग्रेसरत्वम्। ३ संभूत ल०, द०। ४ इन्द्रः। ५ निजविमानैश्वर्यवितरणेन। ६ अमरसवन्धि।

प्रोक्तास्त्विन्द्रोपपादाभिषेकदान[1]सुखोदयाः । इन्द्रत्यागाख्यमधुना संप्रवक्ष्ये क्रियान्तरम् ॥२०२॥
किंचिन्मात्रावशिष्टायां स्वस्यामायुःस्थितौ सुरेट्[2] । बुद्‌ध्वा स्वर्गावतारं स्वं सोऽनुशास्त्यमरानिति २०३
भो भोः सुधाशना यूयमस्माभिः पालिताश्चिरम् । केचित् पित्रीयिताः[3] केचित् पुत्रप्रीत्योपलालिताः ॥२०४॥
पुरोधोमन्त्र्यमात्यानां पदे केचिन्नियोजिताः । वयस्यपीठ[4]मर्दीयस्थाने दृष्टाश्च केचन ॥२०५॥
स्वप्राणनिर्विशेषं च[5] केचित् त्राणाय संमताः । केचिन्मान्यपदे दृष्टाः पालकाः[6] स्वर्निवासिनाम् ॥२०६॥
केचिच्चमूचरस्थाने[7] केचिच्च स्वजनास्थया । प्रजासामान्यमन्ये च केचिच्चानुचराः पृथक् ॥२०७॥
केचित् परिजनस्थाने केचिच्चान्तःपुरे चराः । काश्चिद् वल्लभिका देव्यो महादेव्यश्च काश्चन ॥२०८॥
इत्यसाधारणा प्रीतिर्मया युष्मासु दर्शिता । स्वामिभक्तिश्च युष्माभिर्मय्यसाधारणी धृता ॥२०९॥
साम्प्रतं स्वर्गभोगेषु गतो मन्देच्छतामहम् । प्रत्यासन्ना हि मे लक्ष्मीरद्य भूलोकगोचरा ॥२१०॥
युष्मत्साक्षि ततः[8] कृत्स्नं स्वःसाम्राज्यं मयोज्झितम् । यश्चान्यो मत्समो भावी तस्मै सर्वं समर्पितम् ॥२११॥
इत्यनुत्सुकतां तेषु भावयन्ननुशिष्य[9] तान् । कुर्वन्निन्द्रपदत्यागं स व्यथां नैति[10] धीरधीः ॥२१२॥
इन्द्रत्यागक्रिया सैषा तत्स्वर्भोगातिसर्जनम् । धीरास्त्यजन्त्यनायासादैश्यं तादृशमप्यहो ॥२१३॥

इति इन्द्रत्यागः ।

इस प्रकार स्वर्गलोकमे उत्पन्न होनेके योग्य ये विधिदान और इन्द्र सुखोदय नामकी दो क्रियाएँ मानी गयी हैं ॥२०१॥ ये पैतीसवी और छत्तीसवी विधिदान तथा सुखोदय क्रियाएँ है ।

इस प्रकार इन्द्रोपपाद, इन्द्राभिषेक, विधिदान और सुखोदय ये इन्द्र सम्वन्धी चार क्रियाएँ कही । अव इन्द्रत्याग नामकी पृथक् क्रियाका निरूपण करता हूँ ॥२०२॥ इन्द्र जब अपनी आयुकी स्थिति थोडी रहनेपर अपना स्वर्गसे च्युत होना जान लेता है तब वह देवोंको इस प्रकार उपदेश देता है ॥२०३॥ कि भो देवो, मैने चिरकालसे आपका पालन किया है, कितने ही देवोंको मैने पिताके समान माना है, कितने ही देवोको पुत्रके समान वड़े प्रेमसे खिलाया है, कितने ही को पुरोहित, मन्त्री और अमात्यके स्थानपर नियुक्त किया है, कितने ही को मैने मित्र और पीठमर्दके समान देखा है। कितने ही देवोंको अपने प्राणोके समान मानकर उन्हे अपनी रक्षाके लिए नियुक्त किया है, कितने ही को देवोकी रक्षाके लिए सम्मानयोग्य पद पर देखा है, कितने ही को सेनापतिके स्थानपर नियुक्त किया है, कितने ही को अपने परिवारके लोग समझा है, कितने ही को सामान्य प्रजाजन माना है, कितने हीको सेवक माना है, कितने हीको परिजनके स्थानपर और कितने ही को अन्त पुरमें रहनेवाले प्रतीहारी आदिके स्थानपर नियुक्त किया है। कितनी ही देवियोको वल्लभिका बनाया है और कितनी ही देवियोंको महादेवी पदपर नियुक्त किया है, इस प्रकार मैने आप लोगोपर असाधारण प्रेम दिखलाया है और आप लोगोने भी हमपर असाधारण प्रेम धारण किया है ॥२०४–२०९॥ इस समय स्वर्गके भोगोंमे मेरी इच्छा मन्द हो गयी है और निश्चय ही पृथिवी लोककी लक्ष्मी आज मेरे निकट आ रही है ॥२१०॥ इसलिए आज तुम सवकी साक्षीपूर्वक मै स्वर्गका यह समस्त साम्राज्य छोड़ रहा हूँ और मेरे पीछे मेरे समान जो दूसरा इन्द्र होनेवाला है उसके लिए यह समस्त सामग्री समर्पित करता हूँ ॥२११॥ इस प्रकार उन सब देवोमें अपनी अनुत्कण्ठा अर्थात् उदासीनताका अनुभव करता हुआ इन्द्र उन सवके लिए शिक्षा दे और धीरवीर बुद्धिका धारक हो, इन्द्र पदका त्याग कर दुःखी न हो ॥२१२॥ इस तरह जो स्वर्गके भोगोंका त्याग करता है वह इन्द्रत्याग क्रिया है। यह भी एक

---

१ विधिदान । २ स्वराट् प०, ल० । ३ पिता इवाचरिता । ४ कामाचार्य । ५ समानं यथा भवति तथा । ६ लोकपाला इत्यर्थ. । ७ सेनापति । ८ तत कारणात् । ९ उपशिष्य । १० न गच्छति ।

अवतारक्रियाऽस्यान्या ततः संपरिवर्तते । कृतार्हत्पूजनस्यान्ते स्वर्गादवतरिष्यतः ॥२१४॥
[1]सोऽयं नृजन्मसंप्राप्त्या सिद्धिं [2]द्रागभिलापुकः । चेतः सिद्धनमस्यायां[3] समाधत्ते[4] सुराधिराट् ॥२१५॥
शुभैः षोडशभिः स्वप्नैः संसूचितमहोदयः । तदा स्वर्गावताराख्यां कल्याणीमश्नुते[5] क्रियाम् ॥२१६॥
इति इन्द्रावतारः ।

ततोऽवतीर्णो गर्भेऽसौ रत्नगर्भगृहोपमे । जनयित्र्या[6] महादेव्या [7]श्रीदेवीभिर्विशोधिते ॥२१७॥
हिरण्यवृष्टिं धनदे प्राक् षण्मासान् प्रवर्षति । [8]अन्वायान्त्यामिवानन्दात् स्वर्गसंपदि भूतलम् ॥२१८॥
अमृतश्वसने[9] मन्दमावाति व्याप्तसौरभे[10] । भूदेव्या इव निःश्वासे प्रक्लृप्ते पवनामरैः[11] ॥२१९॥
दुन्दुभिध्वनिते मन्द्रमुत्थिते पथि वार्मुचाम् । अकालस्तनिताशङ्कामातन्वति शिखण्डिनाम् ॥२२०॥
मन्दारस्रजमम्लानिमामोदाहृतषट्पदाम् । मुञ्चत्सु गुह्यकाख्येषु[12] निकायेष्वमृताशिनाम् ॥२२१॥
देवीषूपचरन्तीषु देवीं भुवनमातरम् । लक्ष्म्या समं[13] समागत्य श्रीह्रीधीधृतिकीर्तिषु ॥२२२॥
कस्मिंश्चित् सुकृतावासे[14] पुण्ये राजर्षिमन्दिरे । हिरण्यगर्भो धत्तेऽसौ हिरण्योत्कृष्टजन्मताम् ॥२२३॥
हिरण्यसूचितोत्कृष्टजन्यत्वात् स तथाश्रुतिम्[15] । बिभ्राणां तां क्रियां धत्ते गर्भस्थोऽपि त्रिबोधभृत् ॥२२४॥
इति हिरण्यजन्मता ।

आश्चर्यकी बात है कि धीरवीर पुरुष स्वर्गके वैसे ऐश्वर्यको भी विना किसी कष्टके छोड़ देते है ॥२१३॥ इस प्रकार यह सैंतीसवी इन्द्रत्याग क्रिया है ।

तदनन्तर–जो इन्द्र आयुके अन्तमे अरहन्तदेवका पूजन कर स्वर्गसे अवतार लेना चाहता है उसके आगेकी अवतार नामकी क्रिया होती है ॥२१४॥ मै मनुष्य-जन्म पाकर बहुत शीघ्र मोक्ष प्राप्त किया चाहता हूँ यही विचार कर वह इन्द्र अपना चित्त सिद्ध भगवान्‌को नमस्कार करनेमें लगाता है ॥२१५॥ शुभ सोलह स्वप्नोके द्वारा जिसने अपना बड़ा भारी अभ्युदय – माहात्म्य सूचित किया है ऐसा वह इन्द्र उस समय कल्याण करनेवाली स्वर्गावतार नामकी क्रियाको प्राप्त होता है ॥२१६॥ यह अडतीसवी इन्द्रावतार क्रिया है ।

तदनन्तर – वे माता महादेवीके श्री आदि देवियोके द्वारा शुद्ध किये हुए रत्नमय गर्भागारके समान गर्भमें अवतार लेते है ॥२१७॥ गर्भमे आनेके छह महीने पहलेसे जब कुबेर घरपर रत्नोकी वर्षा करने लगता है और वह रत्नोकी वर्षा ऐसी जान पडती है मानो आनन्दसे स्वर्गकी सम्पदा ही भगवान्‌के साथ-साथ पृथिवीतलपर आ रही हो, जब अमृतके समान सुख देनेवाली वायु मन्द-मन्द बहकर सब दिशाओमे फैल रही हो तथा ऐसी जान पड़ती हो मानो पवनकुमार देवोके द्वारा निर्माण किया हुआ पृथिवीरूपी देवीका नि श्वास ही हो, जब आकाशमे उठी हुई – फैली हुई दुन्दुभि बाजोंकी गम्भीर आवाज मयूरोको असमय मे होनेवाली मेघगर्जनाकी शका उत्पन्न कर रही हो, जब गुह्यक नामके देवोके समूह कभी म्लान न होनेवाली और सुगन्धिके कारण भ्रमरोको अपनी ओर खीचनेवाली कल्पवृक्षके फूलो-की मालाओको बरसा रहे हो। और जब श्री, ह्री, बुद्धि, धृति और कीर्ति नामकी देवियाँ लक्ष्मी-के साथ आकर स्वय जगन्माता महादेवीकी सेवा कर रही हो उस समय पुण्यके निवासभूत किसी पवित्र राजमन्दिरमें वे हिरण्यगर्भ भगवान् हिरण्योत्कृष्ट जन्म धारण करते है ॥२१८–२२३॥ जो गर्भमें स्थित रहते हुए भी तीन ज्ञानको धारण करनेवाले है ऐसे भगवान्, हिरण्य

---

१ सोऽहं ल० । २ झटिति । '३ नमस्कारे । ४ समाहित कुरुते । ५ गच्छति । ६ जनन्या । 'जनयित्री प्रसूर्माता जननी' इत्यभिधानात् । ७ श्रीह्रीधृत्यादिभि । ८ सहागच्छन्त्याम् । ९ अमृतवदाह्लादकरमारुते । १० व्याप्तमारुते ल० । ११ वायुकुमारै । १२ देवभेदेषु । १३ स्वयं ल० । १४ पुण्यस्थाने । १५ हिरण्यो-त्कृष्टजन्मताभिधानम् ।

[1]विश्वेश्वरा जगन्माता महादेवी महासती । पूज्या सुमङ्गला चेति धत्ते रूढिं जिनाम्बिका ॥२२५॥
कुलाद्रिनिलया देव्यः श्रीह्रीधीधृतिकीर्तयः । समं लक्ष्म्या षडेताश्च संमता जिनमातृकाः ॥२२६॥
जन्मानन्तरमायातैः सुरेन्द्रैर्मेरुमूर्द्धनि । योऽभिषेकविधिः क्षीरपयोधेः शुचिभिर्जलैः ॥२२७॥
मन्दरेन्द्राभिषेकोऽसौ क्रियाऽस्य परमेष्ठिनः । सा पुनः सुप्रतीतत्वाद् भूयो नेह प्रतन्यते ॥२२८॥

इति मन्दरेन्द्राभिषेकः ।

ततो विद्योपदेशोऽस्य स्वतन्त्रस्य स्वयंभुवः । शिष्यभावव्यतिक्रान्तिं[2] गुरुपूजोपलम्भनम्[3] ॥२२९॥
तदेन्द्राः पूजयन्त्येनं[4] त्रातारं त्रिजगद्गुरुम् । अशिक्षितोऽपि देवत्वं संमतोऽसीति विस्मिताः ॥२३०॥

इति गुरुपूजनम् ।

ततः कुमारकालेऽस्य यौवराज्योपलम्भनम् । पट्टबन्धोऽभिषेकश्च तदाऽस्य स्यान्महौजसः ॥२३१॥

इति यौवराज्यम् ।

स्वराज्यमधि राज्येऽभिषिक्तस्यास्य क्षितीश्वरैः । शासतः[5] सार्णवामेनां क्षितिमप्रतिशासनाम् ॥२३२॥

इति स्वराज्यम् ।

चक्रलाभो भवेदस्य निधिरत्नसमुद्भवे । निजप्रकृतिभिः[6] पूजा साभिषेकाऽधिराडिति ॥२३३॥

इति चक्रलाभः ।

अर्थात् सुवर्णकी वर्षासे जन्मकी उत्कृष्टता सूचित होनेके कारण हिरण्योत्कृष्ट जन्म इस सार्थक नामको धारण करनेवाली क्रियाको धारण करते हैं ॥२२४॥ यह उनतालीसवी हिरण्योत्कृष्ट-जन्मता क्रिया है ।

उस समय वह भगवान्‌की माता विश्वेश्वरी, जगन्माता, महादेवी, महासती, पूज्या और सुमगला इत्यादि नामोको धारण करती है ॥२२५॥ कुलाचलोंपर रहनेवाली श्री, ह्री, बुद्धि, धृति, कीर्ति और लक्ष्मी ये छह देवियाँ जिनमातृका अर्थात् जिनमाताकी सेवा करनेवाली कहलाती हैं ॥२२६॥ जन्मके अनन्तर आये हुए इन्द्रोंके द्वारा मेरु पर्वतके मस्तक पर क्षीरसागरके पवित्र जलसे भगवान्‌का जो अभिषेक किया जाता है वह उन परमेष्ठीकी मन्दराभिषेक किया है । वह क्रिया अत्यन्त प्रसिद्ध है इसलिए यहाँ उसका फिरसे विस्तार नही किया जाता है ॥२२७–२२८॥ यह चालीसवी मन्दराभिषेक क्रिया है ।

तदनन्तर स्वतन्त्र और स्वयम्भू रहनेवाले भगवान्‌के विद्याओको उपदेश होता है । वे शिष्यभावके विना ही गुरुकी पूजाको प्राप्त होते हैं अर्थात् किसीके शिष्य हुए विना ही सबके गुरु कहलाने लगते हैं ॥२२९॥ उस समय इन्द्र लोग आकर हे देव, आप अशिक्षित होनेपर भी सबको मान्य है इस प्रकार आश्चर्यको प्राप्त होते हुए सबकी रक्षा करनेवाले और तीनो जगत्‌के गुरु भगवान्‌की पूजा करते है ॥२३०॥ यह इकतालीसवी गुरुपूजन क्रिया है ।

तदनन्तर कुमारकाल आनेपर उन्हे युवराजपदकी प्राप्ति होती है, उस समय महा-प्रतापवान् उन भगवान्‌के राज्यपट्ट बाँधा जाता है और अभिषेक किया जाता है ॥२३१॥ यह बयालीसवी यौवराज्य क्रिया है ।

तत्पश्चात् समस्त राजाओने राजाधिराज (सम्राट्)के पदपर जिनका अभिषेक किया है और जो दूसरेके शासनसे रहित इस समुद्र पर्यन्तकी पृथिवीका शासन करते हैं ऐसे उन भगवान्‌के स्वराज्यकी प्राप्ति होती है ॥२३२॥ यह तैतालीसवी स्वराज्य क्रिया है ।

इसके बाद निधियों और रत्नोंकी प्राप्ति होनेपर उन्हे चक्रकी प्राप्ति होती है उस समय

---

१ विश्वेश्वरी ल० । २ शिष्यत्वाभाव । ३ गुरुपूजाप्राप्ति. । स्वस्य स्वयमेव गुरुरिति भाव । ४ पूजयन्त्येतं ल०, द० । ५ रक्षत । ६ आत्मीयप्रजापरिवारै ।

दिशांजयः स विज्ञेयो योऽस्य दिग्विजयोद्यमः । चक्ररत्नं पुरस्कृत्य जयतः सार्णवां महीम् ॥२३४॥
इति दिशांजयः ।

सिद्धदिग्विजयस्यास्य स्वपुरानुप्रवेशने । क्रिया चक्राभिषेकाह्वा साऽधुना संप्रकीर्त्यते ॥२३५॥
चक्ररत्नं पुरोधाय प्रविष्टः स्वं निकेतनम् । परार्ध्यविभवोपेतं स्वर्विमानापहासि यत् ॥२३६॥
तत्र क्षणमिवासीने[1] रम्ये प्रमदमण्डपे । चामरैर्वीज्यमानोऽयं सनिर्झर इवाद्रिराट् ॥२३७॥
संपूज्य निधिरत्नानि [2]कृतचक्रमहोत्सवः । दत्त्वा किमिच्छकं दानं मान्यान् [3]संमान्य पार्थिवान् ॥२३८॥
ततोऽभिषेकमाप्नोति पार्थिवैर्महितान्वयैः । नान्दीतूर्येषु गम्भीरं प्रध्वनत्सु सहस्रशः ॥२३९॥
यथावदभिषिक्तस्य तिरीटारोपणं ततः । क्रियते पार्थिवैर्मुख्यैश्चतुर्भिः प्रथितान्वयैः ॥२४०॥
महाभिषेकसामग्र्या कृतचक्राभिषेचनः । कृतमङ्गलनेपथ्यः[4] पार्थिवैः प्रणतोऽभितः ॥२४१॥
तिरीटं स्फुटरत्नांशु जटिलीकृतदिङ्मुखम् । दधानश्चक्रसाम्राज्यककुदं[5] नृपपुङ्गवः ॥२४२॥
रत्नांशुच्छुरितं[6] बिभ्रत् कर्णाभ्यां कुण्डलद्वयम् । यद्वाग्देव्याः समाक्रीडारथ[7]चक्रद्वयायितम् ॥२४३॥
तारालितरलस्थूलमुक्ताफलमुरोगृहे । धारयन् हारमाबद्धमिव मङ्गलतोरणम् ॥२४४॥

समस्त प्रजा उन्हें राजाधिराज मानकर उनकी अभिषेकसहित पूजा करती है ॥२३३॥ यह चक्रलाभ नामकी चौवालीसवी क्रिया है ।

तदनन्तर चक्ररत्नको आगे कर समुद्रसहित समस्त पृथिवीको जीतनेवाले उन भगवान्‌का जो दिशाओंको जीतनेके लिए उद्योग करना है वह दिशांजय कहलाता है ॥२३४॥ यह दिशाजय नामकी पैंतालीसवी क्रिया है ।

जब भगवान् दिग्विजय पूर्ण कर अपने नगरमे प्रवेश करने लगते हैं तब उनके चक्राभिषेक नामकी क्रिया होती है । अब इस समय उसी क्रियाका वर्णन किया जाता है ॥२३५॥ वे भगवान् चक्ररत्नको आगे कर अपने उस राजभवनमे प्रवेश करते हैं जो कि बहुमूल्य वैभवसे सहित होता है और स्वर्गके विमानोंकी हँसी करता है ॥२३६॥ वहाँपर वे मनोहर आनन्द-मण्डपमे क्षण-भर विराजमान होते हैं । उस समय उनपर चमर ढुलाये जाते हैं जिससे वे ऐसे जान पड़ते हैं मानो निर्झरनोसहित सुमेरु पर्वत ही हो ॥२३७॥ उस समय वे निधियों और रत्नोकी पूजा कर चक्र प्राप्त होनेका बड़ा भारी उत्सव करते हैं, किमिच्छक दान देते हैं और माननीय राजाओंका सन्मान करते हैं ॥ २३८॥ तदनन्तर तुरही आदि हजारो मागलिक बाजोके गम्भीर शब्द करते रहनेपर वे उत्तम-उत्तम कुलमे उत्पन्न हुए राजाओके द्वारा अभिषेकको प्राप्त होते हैं ॥२३९॥ तदनन्तर – विधिपूर्वक जिनका अभिषेक किया गया है ऐसे उन भगवान्‌के मस्तकपर प्रसिद्ध प्रसिद्ध कुलमें उत्पन्न हुए मुख्य चार राजाओके द्वारा मुकुट रखा जाता है ॥२४०॥ इस प्रकार महाभिषेककी सामग्रीसे जिनका चक्राभिषेक किया गया है, जिन्होने मागलिक वेष धारण किया है, जिन्हें चारों ओरसे राजा लोग नमस्कार कर रहे हैं, जो देदीप्यमान रत्नोकी किरणोसे समस्त दिशाओको व्याप्त करनेवाले तथा चक्रवर्तीके साम्राज्यके चिह्नस्वरूप मुकुटको धारण कर रहे हैं, राजाओमे श्रेष्ठ हैं, जो अपने दोनो कानोमे रत्नोकी किरणोसे व्याप्त तथा सरस्वतीके क्रीड़ारथके पहियोकी शोभा देनेवाले दो कुण्डलोको धारण कर रहे हैं, जो वक्षःस्थल-रूपी घरके सामने खडे किये हुए मागलिकतोरणके समान सुशोभित होनेवाले और ताराओकी

---

१ क्षणपर्यन्तमेव । २ विहितचक्रपूजन । ३ संपूज्य । ४ अलकार । ५ चिह्नं प्रधान वा । 'प्राधाने राजलिङ्गे च वृषाङ्गे ककुदोऽस्त्रियामि'त्यभिधानात् । ६ मिश्रितम् । ७ क्रीडानिमित्तस्पन्दन ।

विलसद्ब्रह्मसूत्रेण प्रविभक्ततनून्नतिः । तटनिर्झरसंपातरम्यमूर्तिरिवाद्रिपः ॥२४५॥
सद्रत्नकटकं प्रोच्चैः शिखरं भुजयोर्युगम् । द्राघिमश्लाघि बिभ्राणः[1] कुलक्ष्माध्रद्वयायितम् ॥२४६॥
कटिमण्डलसंसक्तलसत्काञ्चीपरिच्छदः । महाद्वीप इवोपान्तरत्नवेदीपरिष्कृतः[2] ॥२४७॥
मन्दारकुसुमामोदलग्नालिकुलझंकृतैः । [3]किमप्यारब्धसंगीतमिव शेखरमुद्वहन् ॥२४८॥
तत्कालोचितमन्यच्च दधन्मङ्गलभूषणम् । स तदा लक्ष्यते साक्षाल्लक्ष्म्याः पुञ्ज इवोच्छिखः ॥ ४९॥
प्रीताश्चाभिष्टुवन्त्येनं तदामी नृपसत्तमाः । विश्वंजयो दिशां जेता दिव्यमूर्तिर्भवानिति ॥२५०॥
पौराः प्रकृतिमुख्याश्च कृतपादाभिषेचनाः । तत्क्रमार्चनमादाय कुर्वन्ति स्वशिरोधृतम् ॥२५१॥
श्रीदेव्यश्च सरिद्देव्यो[4] देव्यो विश्वेश्वरा अपि । समुपेत्य नियोगैः स्वैस्तदैनं पर्युपासते ॥२५२॥

इति चक्राभिषेकः ।

चक्राभिषेक इत्येकः समाख्यातः क्रियाविधिः । तदनन्तरमस्य स्यात् साम्राज्याख्यं क्रियान्तरम् ॥२५३॥
अपरेद्युर्दिनारम्भे धृतपुण्यप्रसाधनः[5] । मध्ये महानृपसभं[6] नृपासनमधिष्ठितः ॥२५४॥
दीप्रैः प्रकीर्णकव्रातैः स्वर्धुनीसीकरोज्ज्वलैः । वारनारीकराधूतैर्वीज्यमानः समन्ततः ॥२५५॥
सेवागतैः पृथिव्यादिदेवतांशैः[7] परिष्कृतः[8] । धृतिप्रशान्तदीप्त्योजो[9]निर्मलत्वोपमा[10]ङिभिः ॥२५६॥

पवित्तके समान चचल तथा वडे-वडे मोतियोसे युवत हार धारण किये हुए है, शोभायमान यज्ञोपवीतसे जिनके शरीरकी उच्चता प्रकट हो रही है और इसी कारण जो तटपर पड़ते हुए निर्झरनोसे सुन्दर आकारवाले सुमेरु पर्वतके समान जान पड़ते है, जो रत्नोके कटक अर्थात् कड़ों (पक्षमे रत्नमय मध्यभागो) से सहित, ऊँचे-ऊँचे शिखरो अर्थात् कन्धो (पक्षमें चोटियो) से युक्त, लम्बाईसे सुशोभित और इसलिए ही दो कुलाचलोके समान आचरण करनेवाली दो भुजाओको धारण कर रहे है, जिनकी कमरपर देदीप्यमान करधनी सटी हुई है और उससे जो ऐसे जान पड़ते है मानो चारों ओरसे रत्नमयी वेदीके द्वारा घिरा हुआ कोई महाद्वीप ही हो, जो मन्दार वृक्षके फूलोकी सुगन्धिके कारण आकर लगे हुए भ्रमरोके समूहकी झकारोसे कुछ गाते हुएके समान सुशोभित होनेवाले शेखरको धारण कर रहे है तथा उस कालके योग्य अन्य-अन्य मागलिक आभूषण धारण किये हुए है ऐसे वे भगवान् उस समय ऐसे जान पडते है मानो जिसकी शिखा ऊँची उठ रही है ऐसा साक्षात् लक्ष्मीका पुंज ही हो ॥२४१-२४९॥ उस समय अन्य उत्तम-उत्तम राजा लोग सन्तुष्ट होकर उनकी इस प्रकार स्तुति करते है कि आपने समस्त संसारको जीत लिया है, आप दिशाओको जीतनेवाले है और दिव्यमूर्ति है ॥२५०॥ नगरनिवासी लोग तथा मन्त्री आदि मुख्य-मुख्य पुरुष उनके चरणोके अभिषेक करते है और उनका चरणोदक लेकर अपने-अपने मस्तकपर धारण करते है ॥२५१॥ श्री ह्री आदि देवियाँ, गगा सिन्धु आदि देवियाँ तथा विश्वेश्वरा आदि देवियाँ अपने-अपने नियोगोके अनुसार आकर उस समय उनकी उपासना करती है ॥२५२॥ यह चक्राभिषेक नामकी छियालीसवी क्रिया है ।

इस प्रकार उनकी यह एक चक्राभिषेक नामकी क्रिया कही । अब इसके वाद साम्राज्य नामकी दूसरी क्रिया कहते है ॥२५३॥ दूसरे दिन प्रात.कालके समय जिन्होने पवित्र आभूषण धारण किये है, जो बडे-वडे राजाओकी सभाके वीचमे राजसिंहासनपर विराजमान है, जिनपर देदीप्यमान गगा नदीके जलके छीटोके समान उज्ज्वल और गणिकाओके हाथसे हिलाये हुए चमर चारों ओरसे ढुलाये जा रहे है, जो धृति, शान्ति, दीप्ति, ओज और निर्मलताको उत्पन्न करनेवाले

१ दैर्घ्येन श्लाघि । २ परिवेष्टित । ३ ईषद् । ४ गङ्गादेव्यादय । ५ पवित्रालंकार । ६ महानृपसभाया. मध्ये । ७ पृथिव्यप्तेजोवायुगगनाधिदेवताविक्रियाशरीरै इत्यर्थ. । ८ भूषित । ९ वलम् । 'ओजो दीप्तौ वले' इत्यभिधानात् । १० उत्पादकै ।

तान्[1] प्रजानुग्रहे नित्यं समाधानेन योजयन्। सन्मानदानविश्रम्भैः[2] प्रकृतीरनुरञ्जयन् ॥२५७॥
पार्थिवान् प्रणतान् यूयं न्यायैः पालयत प्रजाः। अन्यायेषु [3]प्रवृत्ताश्चेद् वृत्तिलोपो[4] ध्रुवं हि वः ॥२५८॥
न्यायश्च द्वितयो दुष्टनिग्रहः शिष्टपालनम्। सोऽयं सनातनः क्षात्रो धर्मो रक्ष्यः प्रजेश्वरैः ॥२५९॥
दिव्यास्त्रदेवताश्चामूराराध्याः स्युर्विधानतः। ताभिस्तु सुप्रसन्नाभिरवश्यं[5] भावुको जयः ॥२६०॥
राजवृत्तिमिमां सम्यक् पालयद्भिरतन्द्रितैः। प्रजासु वर्तितव्यं भो भवद्भिर्न्यायवर्त्मना ॥२६१॥
पालयेद्य इमं धर्मं स धर्मविजयी भवेत्। क्ष्मां जयेद् विजितात्मा हि क्षत्रियो न्यायजीविकः ॥२६२॥
इहैव[6] स्याद् यशोलाभो भूलाभश्च महोदयः। अमुत्राभ्युदयावाप्तिः क्रमात् त्रैलोक्यनिर्जयः ॥२६३॥
इति भूयोऽनु[7]शिष्यैतान् प्रजापालनसंविधौ। स्वयं च [8]पालयत्येनान् योगक्षेमानुचिन्तनैः ॥२६४॥
तदिदं तस्य साम्राज्यं नाम धर्म्यं क्रियान्तरम्। [9]येनानुपालितेनायमिहामुत्र च नन्दति ॥२६५॥

इति साम्राज्यम्।

एवं प्रजाः प्रजापालानपि पालयतश्चिरम्। काले कस्मिंश्चिदुत्पन्नबोधे दीक्षोद्यमो भवेत् ॥२६६॥

पृथिवी आदि देवताओके अंगोसे अर्थात् उनके वैक्रियिक शरीरोंमे हैं, जो उन देवताओको समाधानपूर्वक निरन्तर प्रजाके उपकार करनेमे लगा रहे हैं और आदर सत्कार, दान तथा विश्वास आदिसे जो मन्त्री आदि प्रमुख कार्यकर्ताओंको आनन्दित कर रहे हैं ऐसे वे महाराज नमस्कार करते हुए राजाओको इस प्रकार शिक्षा देते है कि तुम लोग न्यायपूर्वक प्रजाका पालन करो, यदि अन्यायमे प्रवृत्ति रखोगे तो अवश्य ही तुम्हारी वृत्तिका लोप हो जावेगा ॥२५४–२५८॥ न्याय दो प्रकारका है – एक दुष्टोंका निग्रह करना और दूसरा शिष्ट पुरुषोका पालन करना। यह क्षत्रियोका सनातन धर्म है। राजाओंको इसकी रक्षा अच्छी तरह करनी चाहिए ॥२५९॥ ये दिव्य अस्त्रोके अधिष्ठाता देव भी विधिपूर्वक आराधना करने योग्य है क्योकि इनके प्रसन्न होनेपर युद्धमें विजय अवश्य ही होती है ॥२६०॥ इस राजवृत्तिका अच्छी तरह पालन करते हुए आप लोग आलस्य छोडकर प्रजाके साथ न्याय-मार्गसे वर्ताव करो ॥२६१॥ जो राजा इस धर्मका पालन करता है वह धर्मविजयी होता है क्योकि जिसने अपना आत्मा जीत लिया है तथा न्यायपूर्वक जिसकी आजीविका है ऐसा क्षत्रिय ही पृथिवीको जीत सकता है ॥२६२॥ इस प्रकार न्यायपूर्वक वर्ताव करनेसे इस संसारमे यशका लाभ होता है, महान् वैभवके साथ साथ पृथिवीकी प्राप्ति होती है, और परलोकमे अभ्युदय अर्थात् स्वर्गकी प्राप्ति होती है और अनुक्रमसे वह तीनो लोकोको जीत लेता है अर्थात् मोक्ष अवस्था प्राप्त कर लेता है ॥२६३॥ इस प्रकार वे महाराज प्रजापालनकी रीतियोंके विषयमे उन राजाओको वार-वार शिक्षा देते है तथा योग और क्षेमका वार-वार चिन्तवन करते हुए उनका स्वयं पालन करते हैं ॥२६४॥ इस प्रकार यह उनकी धर्मसहित साम्राज्य नामकी वह क्रिया है जिसके कि पालन करनेमे यह जीव इस लोक तथा परलोक दोनों ही लोकोमें समृद्धिको प्राप्त होता है ॥२६५॥ यह सैंतालीसवी साम्राज्य क्रिया है।

इस प्रकार बहुत दिन तक प्रजा और राजाओका पालन करते हुए उन महाराजके किसी समय भेदविज्ञान उत्पन्न होनेपर दीक्षा ग्रहण करनेके लिए उद्यम होने लगता है ॥२६६॥

---

१ पृथिव्यादिदेवतानाम्। २ स्नेहैः विश्वासैर्वा। ३ प्रवृत्तिश्चेत् प०, ल०, द० ४ निजनिजराज्यलोपो भवति। ५ नियमेन भवति। ६ एवं सति। ७ शिक्षा कृत्वा। ८ पालयत्येनान् ल०, प०, इ०। ९ साम्राज्य-नामक्रियान्तरेण।

सैपा निष्क्रान्तिरस्येष्टा क्रिया राज्याद् विरज्यतः । लौकान्तिकामरैर्भूयो बोधितस्य समागतैः ॥२६७॥
कृतराज्यार्पणो ज्येष्ठे सूनौ[1] पार्थिवसाक्षिकम् । संतानपालने चास्य करोतीत्यनुशासनम् ॥२६८॥
त्वया न्यायधनेनाङ्ग भवितव्यं प्रजाधृतौ । प्रजा कामदुघा धेनुर्मता न्यायेन योजिता ॥२६९॥
राजवृत्तमिदं विद्धि यन्न्यायेन धनार्जनम् । वर्धनं रक्षणं चास्य[2] [3]तीर्थे च प्रतिपादनम् ॥२७०॥
प्रजानां पालनार्थं च मतं मत्यनुपालनम्[4] । मतिर्हिताहितज्ञानमात्रिकामुत्रिकार्थयोः ॥२७१॥
ततः[5] कृतेन्द्रियजयो वृद्धसंयोगसंपदा । धर्मार्थ[6]शास्त्रविज्ञानात् प्रज्ञां संस्कर्तुमर्हसि ॥२७२॥
अन्यथा विमतिर्भूपो[7] युक्तायुक्तानभिज्ञकः । अन्यथाऽन्यैः प्रणेयः[8] स्यान्मिथ्याज्ञानलवोद्धतैः ॥२७३॥
कुलानुपालने चायं महान्तं यत्नमाचरेत् । अज्ञातकुलधर्मो हि दुर्वृत्तैर्दूषयेत् कुलम् ॥२७४॥
तथायमात्मरक्षायां सदा यत्नपरो भवेत् । रक्षितं हि भवेत् सर्वं नृपेणात्मनि रक्षिते ॥२७५॥
अपायो हि सपत्नेभ्यो[9] नृपस्यारक्षितात्मनः । आत्मानुजीविवर्गाच्च क्रुद्धलुब्धविमानितात्[10] ॥२७६॥
[11]तस्माद् रसदतीक्ष्णादीनपायानरियोजितान्[12] । परिहृत्य निजैरिष्टैः स्वं प्रयत्नेन पालयेत ॥२७७॥
स्यात् समञ्जसवृत्तित्वमस्यात्माभिरक्षणे[13] । असमञ्जसवृत्तौ हि निजैरप्यभिभूयते ॥२७८॥

जो राज्यसे विरक्त हो रहे हैं और आये हुए लौकान्तिक देव जिन्हे वार-वार प्रवोधित कर रहे है ऐसे उन भगवान्‌की यह निष्क्रान्त नामकी क्रिया कही जाती है ॥२६७॥ वे समस्त राजाओकी साक्षीपूर्वक अपने बडे पुत्रके लिए राज्य सौप देते है और सन्तान-पालन करनेके लिए उसे इस प्रकार शिक्षा देते है ॥२६८॥ हे पुत्र, तुझे प्रजाके पालन करनेमे न्यायरूप धनसे मुक्त होना चाहिए अर्थात् तू न्यायको ही धन समझ; क्योंकि न्यायपूर्वक पालन की हुई प्रजा मनोरथोंको पूर्ण करनेवाली कामधेनु गायके समान मानी गयी है ॥२६९॥ हे पुत्र, तू इसे ही राजवृत्त अर्थात् राजाओका कर्तव्य समझ कि न्यायपूर्वक धन कमाना, उसकी वृद्धि करना, रक्षा करना तथा तीर्थस्थान अथवा योग्य पात्रोंका देना ॥२७०॥ प्रजाका पालन करनेके लिए सबसे अपनी वुद्धिकी रक्षा करनी चाहिए, इस लोक और परलोक दोनो लोकसम्वन्धी पदार्थोके विपयमे हित तथा अहितका ज्ञान होना ही मति कहलाती है ॥२७१॥ इसलिए वृद्ध मनुष्योकी संगतिरूपी सम्पदासे इन्द्रियोपर विजय प्राप्त कर तुम धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्रके ज्ञानसे अपनी वुद्धिको सुसंस्कृत बनानेके योग्य हो अर्थात् बुद्धिके अच्छे सस्कार बनाओ ॥२७२॥ यदि राजा इससे विपरीत प्रवृत्ति करेगा तो वह हित तथा अहितका जानकार न होनेसे वुद्धिभ्रष्ट हो जावेगा और ऐसी दशामे वह मिथ्याज्ञानके अंश मात्रसे उद्धत हुए अन्य कुमार्गगामियोके वश हो जावेगा ॥२७३॥ राजाओंको अपने कुलकी मर्यादा पालन करने के लिए बहुत भारी प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि जिसे अपनी कुलमर्यादाका ज्ञान नही है वह अपने दुराचारोसे कुलको दूपित कर सकता है ॥२७४॥ इसके सिवाय राजाको अपनी रक्षा करनेमें भी सदा यत्न करते रहना चाहिए क्योकि अपने आपके सुरक्षित रहनेपर ही अन्य सब कुछ सुरक्षित रह सकता है ॥२७५॥ जिसने अपने आपकी रक्षा नही की है ऐसे राजाका शत्रुओसे तथा क्रोधी, लोभी और अपमानित हुए अपने ही सेवकोसे विनाश हो जाता है ॥२७६॥ इसलिए शत्रुओके द्वारा किये हुए प्रारम्भमे सरल किन्तु फलकालमें कठिन अपायोंका परिहार कर अपने इष्ट वर्गोके द्वारा प्रयत्नपूर्वक अपनी रक्षा करनी चाहिए ॥२७७॥ इसके सिवाय

१ प्रजापतौ निमित्तम् । २ धनस्य । ३ पात्रे । ४ निजबुद्धिरक्षणम् । ५ तत. कारणात् । ६ नीतिशास्त्र । ७ भूयो इ०, प०, स० । ८ वश्य । ९ दायादेभ्यः शत्रुभ्यो वा । १० तिरस्कृतात् । ११ तस्मात् कारणात् । १२ रसतामास्वाद कुर्वतामकटुकादीन् रसनकाले अनुभवनकाले स्वादुरसप्रदान् विपाककाले कटुकानित्यर्थ. । १३ आत्मरक्षानिमित्तम् । – त्मादिरक्षणे अ०, प०, द० ।

समञ्जसत्वमस्येष्टं प्रजास्वविषमेक्षिता[1] । आनृशंस्यमवाग्दण्डपारुष्यादिविशेषितम्[2] ॥२७९॥
ततो जितारिषड्वर्गः स्वां वृत्तिं पालयन्निमाम् । स्वराज्ये सुस्थितो राजा प्रेत्य[3] चेह च नन्दति ॥२८०॥
समं समञ्जसत्वेन कुलमत्यात्मपालनम् । प्रजानुपालनं चेति प्रोक्ता वृत्तिर्महीक्षिताम् ॥२८१॥
[4]ततः क्षात्रमिमं धर्मं यथोक्तमनुपालयन् । स्थितो राज्ये यशो धर्मं विजयं च [5]त्वमाप्नुहि ॥२८२॥
प्रशान्तधीः समुत्पन्नबोधिरित्यनुशिष्य तम्[6] । परिनिष्क्रान्तिकल्याणे सुरेन्द्रैरभिपूजितः ॥२८३॥
महादानमथो दत्वा साम्राज्यपदमुत्सृजन् । स राजराजो राजर्षिर्निष्क्रामति गृहाद् वनम्[7] ॥२८४॥
धौरेयैः पार्थिवैः किंचित् समुत्क्षिप्तां महीतलात् । स्कन्धाधिरोपितां भूयः सुरेन्द्रैर्भक्तिनिर्भरैः ॥२८५॥
आरूढः शिविकां दिव्यां दीप्ररत्नविनिर्मिताम् । विमानवसतिं भानोरिवाऽऽयातां महीतलम् ॥२८६॥
पुरस्सरेषु निःशेषनिरुद्धव्योमवीथिषु । सुरासुरेषु तन्वत्सु संदिग्धार्कप्रभं नभः ॥२८७॥
[8]अनूत्थितेषु संप्रीत्या पार्थिवेषु ससंभ्रमम् । कुमारमग्रतः कृत्वा प्राप्तराज्यं नवोदयम् ॥२८८॥
अनुयायिनि तत्त्यागादिव मन्दीभवद्द्युतौ । निधीनां सह रत्नानां संदोहेऽभ्यर्णसंक्षये ॥२८९॥

राजाको अपनी तथा प्रजाकी रक्षा करनेमें समंजसवृत्ति अर्थात् पक्षपातरहित होना चाहिए क्योकि जो राजा असमजसवृत्ति होता है, वह अपने ही लोगोंके द्वारा अपमानित होने लगता है ॥२७८॥ समस्त प्रजाको समान रूपसे देखना अर्थात् किसीके साथ पक्षपात नही करना ही राजाका समंजसत्व गुण कहलाता है। उस समजसत्व गुणमें क्रूरता या घातकपना नहीं होना चाहिए और न कठोर वचन तथा दण्डकी कठिनता ही होनी चाहिए ॥२७९॥ इस प्रकार जो राजा काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य इन छह अन्तरंग शत्रुओंको जीतकर अपनी इस वृत्तिका पालन करता हुआ स्वकीय राज्यमें स्थिर रहता है वह इस लोक तथा परलोक दोनों ही लोकोमे समृद्धिवान् होता है ॥२८०॥ पक्षपातरहित होकर सबको एक समान देखना, कुलकी समर्यादाकी रक्षा करना, बुद्धिकी रक्षा करना, अपनी रक्षा करना और प्रजाका पालन करना यह सब राजाओंकी वृत्ति कहलाती है ॥२८१॥ इसलिए हे पुत्र, ऊपर कहे हुए इस क्षात्रधर्मकी रक्षा करता हुआ तू राज्यमें स्थिर रहकर अपना यश, धर्म और विजय प्राप्त कर ॥२८२॥ जिनकी बुद्धि अत्यन्त शान्त है और जिन्हे भेदविज्ञान उत्पन्न हुआ है ऐसे वे भगवान् ऊपर लिखे अनुसार पुत्रको शिक्षा देकर दीक्षाकल्याणके लिए इन्द्रोंके द्वारा पूजित होते है ॥२८३॥ अथानन्तर महादान देकर साम्राज्यपदको छोड़ते हुए वे राजाधिराज राजर्षि घरसे वनके लिए निकलते है ॥२८४॥ प्रथम ही मुख्य-मुख्य राजा लोग जिसे पृथिवीतलसे उठाकर कन्धेपर रखकर कुछ दूर ले जाते है और फिर भक्तिसे भरे हुए देव लोग जिसे अपने कन्धोंपर रखते हैं, जो देदीप्यमान रत्नोसे बनी हुई है और जो पृथिवीतलपर आये हुए सूर्यके विमानके समान जान पडती है ऐसी दिव्य पालकीपर वे भगवान् सवार होते है ॥२८५-२८६॥ जिस समय समस्त आकाश-मार्गको रोकते हुए और अपनी कान्तिसे आकाशमें सूर्यकी प्रभाका सन्देह फैलाते हुए सुर और असुर आगे चलते है, जिसे राज्य प्राप्त हुआ है और जिसका नवीन उदय प्रकट हुआ है ऐसे कुमारको आगे कर बडे प्रेम और सम्भ्रमके साथ जब समस्त राजा लोग भगवान्के समीप खडे होते है, जिनका भगवान्के समीप रहना छूट चुका है और भगवान्के छोड देनेसे ही मानो जिनकी कान्ति मन्द पड़ गयी है ऐसे निधि और रत्नोका समूह जब उनके पीछे-पीछे आता है, जिसने वायुके वेगसे उड़ती हुई ध्वजाओके समूहसे आकाशको व्याप्त

---

१ समदर्शित्वम् । २ अनृशसस्य भाव. । अघातुकत्वमित्यर्थ. । ३ भवान्तरे । ४ तत' कारणात् । ५ स्वमाप्नुहि प०, इ० । ६ पुत्रम् । ७ दीक्षावनम् । ८ अन्त.स्थितेषु ल० ।

सैन्ये च कृतसन्नाहे शनैः समनुगच्छति । मरुद्धूतध्वजव्रातनिरुद्धपवनाध्वनि ॥२९०॥
ध्वनत्सु सुरतूर्येषु नृत्यत्यप्सरसां गणे । गायन्तीषु कलक्वाणं किंनरीषु च मङ्गलम् ॥२९१॥
भगवानभिनिष्क्रान्तः पुण्ये[1] कस्मिंश्चिदाश्रमे[2] । स्थितः शिलातले स्वस्मिंश्चेतसीवातिविस्तृते ॥२९२॥
निर्वाणदीक्षयात्मानं योजयन्नद्भुतोदयः । सुराधिपैः कृतानन्दमर्चितः परयेज्यया ॥२९३॥
योऽत्र शेषो [3]विधिर्युक्तः केशपूजादिलक्षणः । प्रागेव स तु निर्णीतो निष्क्रान्तौ वृषभेशिनः ॥२९४॥
इति निष्क्रान्तिः ।

परिनिष्क्रान्तिरेषा स्यात् क्रिया निर्वाणदायिनी । अतः परं भवेदस्य मुमुक्षोर्योगसंमहः ॥२९५॥
यदायं त्यक्तबाह्यान्तस्संगो [4]निःसंगमाचरेत् । [5]सुदुश्चरं तपोयोगं जिनकल्पमनुत्तरम् ॥२९६॥
तदाऽस्य क्षपकश्रेणीमारूढस्योचिते पदे[6] । शुक्लध्यानाग्निनिर्दग्धघातिकर्मघनाटवेः ॥२९७॥
प्रादुर्भवति निःशेषबहिरन्तर्मलक्षयात । केवलाख्यं परं ज्योतिर्लोकालोकप्रकाशकम् ॥२९८॥
तदेतत्सिद्धसाध्यस्य प्रापुषः[7] परमं महः । योगसंमह इत्याख्यामनुधत्ते क्रियान्तरम् ॥२९९॥
ज्ञानध्यानसमायोगो योगो यस्तत्कृतो महः । महिमातिशयः सोऽयमाम्नातो योगसंमहः ॥३००॥
इति योगसंमहः ।

ततोऽस्य केवलोत्पत्तौ पूजितस्यामरेश्वरैः । बहिर्विभूतिरुद्भूता प्रातिहार्यादिलक्षणा ॥३०१॥

कर लिया है ऐसी सेना अपनी विशेष रचना बनाकर जिस समय धीरे-धीरे उनके पीछे चलने लगती है तथा जिस समय देवोके तुरही आदि बाजे बजते है, अप्सराओंका समूह नृत्य करता है और किन्नरी देवियाँ मनोहर शब्दोंसे मंगलगीत गाती है, उस समय वे भगवान् किसी पवित्र आश्रममे अपने चित्तके समान विस्तृत शिलातलपर विराजमान होकर दीक्षा लेते है। इस प्रकार जिनका उदय आश्चर्य करनेवाला है और जो निर्वाणदीक्षाके द्वारा अपने आपको युक्त कर रहे है ऐसे भगवान्‌की इन्द्र लोग उत्कृष्ट सामग्रीके द्वारा आनन्दके साथ पूजा करते है ॥२८७–२९३॥ इस क्रियामे केश लोंच करना, भगवान्‌की पूजा करना आदि जो भी कार्य अवशिष्ट रह गया है उस सबका भगवान् वृषभदेवकी दीक्षाके समय वर्णन किया जा चुका है ॥२९४॥ इस प्रकार यह अड़तालीसवी निष्क्रान्ति क्रिया है ।

यह निर्वाणको देनेवाली परिनिष्क्रान्ति नामकी क्रिया है। अब इसके आगे मोक्षकी इच्छा करनेवाले उन भगवान्‌के योगसंमह नामकी क्रिया होती है ॥२९५॥ जब वे भगवान् बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहको छोडकर निष्परिग्रह अवस्थाको प्राप्त होते है और अत्यन्त कठिन तथा सर्वश्रेष्ठ जिनकल्प नामके तपोयोगको धारण करते है तब क्षपक श्रेणीपर आरूढ हुए और योग्य पद अर्थात् गुणस्थानमें जाकर शुक्लध्यानरूपी अग्निसे घातियाकर्मरूपी सघन वनको जला देनेवाले उन भगवान्‌के समस्त बाह्य और अन्तरग मलके नष्ट हो जानेसे लोक तथा अलोकको प्रकाशित करनेवाली केवलज्ञान नामकी उत्कृष्ट ज्योति प्रकट होती है ॥२९६–२९८॥ इस प्रकार जिनके समस्त कार्य सिद्ध हो चुके है और जिन्हे उत्कृष्ट तेज प्राप्त हुआ है ऐसे भगवान्‌के यह एक भिन्न क्रिया होती है जो कि 'योगसम्मह' इस नामको धारण करती है ॥२९९॥ ज्ञान और ध्यानके संयोगको योग कहते है और उस योगसे जो अतिशय तेज उत्पन्न होता है वह योगसम्मह कहलाता है ॥३००॥ यह योगसम्मह नामकी उनचासवी क्रिया है ।

तदनन्तर केवलज्ञान उत्पन्न होनेपर इन्द्रोने जिनकी पूजा की है ऐसे उन भगवान्‌के

---

१ पवित्रे । २ प्रदेशे । ३ विधिर्मुक्त–द०, ल० । ४ नैसंग्य–द०, ल०, प० । ५ सुदुर्धर प०, ल०, द० । ६ गुणस्थाने । ७ गतवतः । प्राप्तुप द० । प्रायुष ल० ।

प्रातिहार्याष्टकं दिव्यं गणो द्वादशधोदितः । स्तूपहर्म्यावली सालवलयः केतुमालिका ॥३०२॥
इत्यादिकामिमां भूतिमद्भुतामुपबिभ्रतः । स्यादार्हन्त्यमिति ख्यातं क्रियान्तरमनन्तरम् ॥३०३॥
इति आर्हन्त्यक्रिया ।

विहारस्तु प्रतीतार्थो धर्मचक्रपुरस्सरः । प्रपञ्चितश्च प्रागेव ततो न पुनरुच्यते ॥३०४॥
इति विहारक्रिया ।

ततः परार्थसम्पत्त्यै [1]धर्ममार्गोपदेशने । कृततीर्थविहारस्य योगत्यागः परा क्रिया ॥३०५॥
विहारस्योपसंहारः संहृतिश्च सभावनेः । वृत्तिश्च योगरोधार्था योगत्यागः स उच्यते ॥३०६॥
[2]यच्च दण्डकपाटादिप्रतीतार्थं क्रियान्तरम् । [3]तदन्तर्भूतमेवादस्ततो न पृथगुच्यते ॥३०७॥
इति योगत्यागक्रिया ।

ततो निरुद्धनिःशेषयोगस्यास्य जिनेशिनः । प्राप्तशैलेश्यवस्थस्य[4] प्रक्षीणा घातिकर्मणः ॥३०८॥
क्रियाग्रनिर्वृतिर्नाम परनिर्वाणमापुषः[5] । स्वभावजनितामूर्ध्व[6]व्रज्यामास्कन्दतो[7] मता ॥३०९॥
इति अग्रनिर्वृतिः ।

इति निर्वाणपर्यन्ताः क्रिया गर्भादिका. सदा । भव्यात्मभिरनुष्ठेयास्त्रिपञ्चाशत्समुच्चयात्[8] ॥३१०॥
यथोक्तविधिनैताः स्युरनुष्ठेया द्विजन्मभिः । योऽप्यत्रान्तर्गतो[9] भेदस्तं वच्म्युत्तरपर्वणि ॥३११॥

प्रातिहार्य आदि बाह्य विभूति प्रकट होती है ॥३०१॥ इस प्रकार आठ प्रातिहार्य, बारह दिव्य सभा, स्तूप, मकानोकी पक्तियाँ, कोटका घेरा और पताकाओकी पंक्ति इत्यादि अद्भुत विभूति-को धारण करनेवाले उन भगवान्के आर्हन्त्य नामकी एक भिन्न क्रिया कही गयी है ॥३०२–३०३॥ यह आर्हन्त्य नामकी पचासवी क्रिया है ।

धर्मचक्रको आगे कर जो भगवान्का विहार होता है वह विहार नामकी क्रिया है । यह क्रिया अत्यन्त प्रसिद्ध है और पहले ही इसका विस्तारके साथ निरूपण किया जा चुका है इसलिए फिरसे यहाँ नही कहते है ॥३०४॥ यह इक्यावनवी विहारक्रिया है ।

तदनन्तर धर्ममार्गके उपदेशके द्वारा परोपकार करनेके लिए जिन्होने तीर्थ विहार किया है ऐसे भगवान्के योगत्याग नामकी उत्कृष्ट क्रिया होती है ॥३०५॥ जिसमें विहार करना समाप्त हो जावे, सभाभूमि (समवसरण) विघट जावे, और योगनिरोध करनेके लिए अपनी वृत्ति करनी पडे उसे योगत्याग कहते है ॥३०६॥ दण्ड, कपाट आदि रूपसे प्रसिद्ध जो केवलिसमुद्घात नामकी क्रिया है वह इसी योगत्याग क्रियामे अन्तर्भूत हो जाती है इसलिए अलगसे उसका वर्णन नही किया है ॥३०७॥ यह बावनवी योगत्याग नामकी क्रिया है ।

तदनन्तर जिनके समस्त योगोका निरोध हो चुका है, जो जिनोके स्वामी है, जिन्हे शीलके ईश्वरपनेकी अवस्था प्राप्त हुई है, जिनके अघातिया कर्म नष्ट हो चुके है जो स्वभावसे उत्पन्न हुई ऊर्ध्वगतिको प्राप्त हुए हैं और जो उत्कृष्ट मोक्षस्थानपर पहुँच गये है ऐसे भगवान्के अग्रनिर्वृति नामकी क्रिया मानी गयी है ॥३०८–३०९॥ यह तिरेपनवी अग्रनिर्वृति नामकी क्रिया है ।

इस प्रकार गर्भसे लेकर निर्वाण पर्यन्त जो सब मिलाकर तिरेपन क्रियाएँ है भव्य पुरुषोको सदा उनका पालन करना चाहिए ॥३१०॥ द्विज लोगोको ऊपर कही हुई विधिके अनुसार इन क्रियाओका पालन करना चाहिए । इन क्रियाओके जो भी अन्तर्गत भेद

---

१ धृतमार्गोप–प० । २ यत्र दण्ड–प०, ल० । ३ योगत्यागानन्तर्भूतम् । ४ शैलेशितावस्थस्य । ५ –मायुष अ०, इ०, प०, स०, द० । ६ ऊर्ध्वगमनम् । ७ गच्छत ८ समुच्चया. ल० । ९ त्रिपञ्चाशत्क्रियासु ।

शार्दूलविक्रीडितम्

इत्युच्चैर्भरताधिपः स्वसमये संस्थापयन् तान् द्विजान्
संप्रोवाच कृती सतां बहुमता गर्भान्वयोत्थाः क्रियाः ।
गर्भाद्याः परिनिर्वृतिप्रगमनप्रान्तास्त्रिपञ्चाशतं
प्रारेभेऽथ पुनः प्रवक्तुमुचिता दीक्षान्वयाख्याः क्रियाः ॥३१२॥
यस्त्वेताः द्विजसत्तमैरभिमता गर्भादिकाः सत्क्रियाः
श्रुत्वा सम्यगधीत्यभावितमतिर्जैनेश्वरे दर्शने ।
सामग्रीमुचितां स्वतश्च परतः सम्पादयन्नाचरेद्
भव्यात्मा स समग्रधीस्त्रिजगति चूडामणित्वं भजेत् ॥३१३॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे
द्विजोत्पत्ति-गर्भान्वयवर्णनं नाम अष्टत्रिंशत्तमं पर्व ॥३८॥

■

हैं उनका आगेके पर्वमें निरूपण करेंगे ॥३११॥ इस प्रकार पुण्यवान् भरत महाराजने उन द्विजोको अपने धर्ममें स्थापित करते हुए गर्भसे लेकर निर्वाणगमन पर्यन्तकी तिरेपन गर्भान्वय क्रियाएँ कहीं और उनके वाद कहने योग्य जो दीक्षान्वय क्रियाएँ थीं उनका कहना प्रारम्भ किया ॥३१२॥ उत्तम-उत्तम द्विजोको माननीय इन गर्भाधानादि समीचीन क्रियाओंको सुनकर तथा अच्छी तरह पढ़कर जो जिनेन्द्र भगवानुके दर्शनमें अपनी वुद्धि लगाता है और योग्य सामग्री प्राप्त कर दूसरोसे आचरण कराता हुआ स्वयं भी इनका आचरण करता है वह भव्य पुरुप पूर्ण ज्ञानी होकर तीनों लोकोके चूड़ामणिपनेको प्राप्त होता है अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर तीनों लोकोंके अग्रभागपर विराजमान होता है ॥३१३॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहके
भाषानुवादमें द्विजोकी उत्पत्ति तथा गर्भान्वय क्रियाओंका वर्णन
करनेवाला अड़तीसवाँ पर्व समाप्त हुआ

■

एकोनचत्वारिंशत्तमं पर्व

अथाब्रवीद् द्विजन्मभ्यो[1] मनुर्दीक्षान्वयक्रियाः । यास्ता[2] निःश्रेयसोदर्काश्चत्वारिंशदथाष्ट च ॥१॥
श्रूयतां भो द्विजन्मानो वक्ष्ये नैःश्रेयसीः[3] क्रियाः । अवतारादिनिर्वाणपर्यन्ता दीक्षितोचिताः ॥२॥
[4]व्रताविष्करणं दीक्षा द्विधाम्नातं च तद्व्रतम् । महच्चाणु च दोषाणां[5] कृत्स्नदेशनिवृत्तितः ॥३॥
महाव्रतं भवेत् कृत्स्नहिंसाद्यागोविवर्जितम् । विरतिः स्थूलहिंसादिदोषेभ्योऽणुव्रतं मतम् ॥४॥
तदुन्मुखस्य[6] या वृत्तिः पुंसो दीक्षेत्यसौ मता ।[7]तामन्विता[8] क्रिया या तु सा स्याद् दीक्षान्वया क्रिया ॥५॥
तस्यास्तु भेदसङ्ख्यानं प्राग्निर्णीतं षडष्टकम्[9] । क्रियते तद्विकल्पानामधुना लक्ष्मवर्णनम् ॥६॥
तत्रावतारसंज्ञा स्यादाद्या दीक्षान्वयक्रिया । मिथ्यात्वदूषिते भव्ये सन्मार्गग्रहणोन्मुखे ॥७॥
स तु संसृत्य योगीन्द्रं युक्ताचारं महाधियम् । गृहस्थाचार्यमथवा पृच्छतीति विचक्षणः ॥८॥
ब्रूत यूयं महाप्रज्ञा[10] मह्यं धर्ममनाविलम्[11] । प्रायो मतानि तीर्थ्यानां[12] हेयानि प्रतिभान्ति मे ॥९॥
[13]श्रौतान्यपि हि वाक्यानि संमतानि क्रियाविधौ । न विचारसहिष्णूनि[14] दुःप्रणीतानि तान्यपि[15] ॥१०॥

अथानन्तर–सोलहवे मनु महाराज भरत उन द्विजोके लिए मोक्ष-फल देनेवाली अड़तालीस दीक्षान्वय क्रियाएँ कहने लगे ॥१॥ वे वोले कि हे द्विजो, मैं अवतारसे लेकर निर्वाण पर्यन्तकी मोक्ष देनेवाली दीक्षान्वय क्रियाओको कहता हूँ सो तुम लोग सुनो ॥२॥ व्रतोंका धारण करना दीक्षा है और वे व्रत हिंसादि दोपोंके पूर्ण तथा एकदेश त्याग करनेकी अपेक्षा महाव्रत और अणुव्रतके भेदसे दो प्रकारके माने गये है ॥३॥ सूक्ष्म अथवा स्थूल – सभी प्रकारके हिसादि पापोंका त्याग करना महाव्रत कहलाता है और स्थूल हिसादि दोपोसे निवृत्त होनेको अणुव्रत कहते है ॥४॥ उन व्रतोके ग्रहण करनेके लिए सन्मुख पुरुपकी जो प्रवृत्ति है उसे दीक्षा कहते हैं और उस दीक्षासे सम्वन्ध रखनेवाली जो क्रियाएँ है वे दीक्षान्वय क्रियाएँ कहलाती है ॥५॥ उस दीक्षान्वय क्रियाके भेद अड़तालीस है जिनका कि निर्णय पहले किया जा चुका है । अव इस समय उन भेदोके लक्षणोका वर्णन किया जाता है ॥६॥ उन दीक्षान्वय क्रियाओमें पहली अवतार नामकी क्रिया है जव मिथ्यात्वसे दूपित हुआ कोई भव्य पुरुप समीचीन मार्गको ग्रहण करनेके सन्मुख होता है तव यह क्रिया की जाती है ॥७॥ प्रथम ही वह चतुर भव्य पुरुप योग्य आचरणवाले महावुद्धिमान् मुनिराजके समीप जाकर अथवा किसी गृहस्थाचार्यके समीप पहुँचकर उनसे इस प्रकार पूछता है कि ॥८॥ महावुद्धिमन्, आप मेरे लिए निर्दोप धर्म कहिए क्योकि मुझे अन्य लोगोके मत प्रायः दुष्ट मालूम होते है ॥९॥ धार्मिक क्रियाओके करनेमे जो वेदोंके वाक्य माने गये है वे भी विचारको सहन नही कर सकते अर्थात् विचार करनेपर वे नि.सार जान पड़ते है, वास्तवमे वे वाक्य दुष्ट पुरुषोके वनाये हुए

---

१ भरतः । २ नि श्रेयसं मोक्ष उदर्कम् उत्तरफलं यासु ताः । ३ मोक्षहेतून् । नि.श्रेयसी' ल० । ४ व्रताधिकरण प०, द०, ल० । ५ सकलनिवृत्त्येकदेशनिवृत्तित' । ६ तन्महाणुव्रताभिमुखस्य । ७ दीक्षाम् । ८ अनुगता । ९ षण्णामष्टक षडष्टकम् अष्टोत्तरचत्वारिंशत् इत्यर्थ । १० महाप्राज्ञा ल०, द० । ११ निर्दोषम् । १२ हेयानि प्रतिभाति माम् इ०, स०, अ० । हतानि प्रतिभाति' माम् ल०, द० । १३ वेदसम्बन्धीनि । 'श्रुति स्त्री वेद आम्नात.' इत्यभिधानात् । १४ दुष्टैः कथितानि । १५ प्रसिद्धान्यपि । तानि वै ल० ।

इति पृष्टवते तस्मै व्याचष्टे स[1] विदांवरः । तथ्यं मुक्तिपथं धर्मं विचारपरिनिष्ठितम् ॥११॥
विद्धि [2]सत्योद्यमाप्तीयं वचः श्रेयोऽनुशासनम् । अनाप्तोपज्ञमन्यत्तु वचो वाङ्मलमेव तत् ॥१२॥
विरागः सर्ववित् सार्वः सूक्तसूनृतपूतवाक् । आप्तः सन्मार्गदेशी यस्तदाभासास्ततोऽपरे[3] ॥१३॥
रूपतेजोगुणस्थानध्यानलक्ष्म्यनुवर्तिभिः[4] । [5]काङ्क्ष्यता विजयज्ञानदृष्टिवीर्यसुखामृतैः ॥१४॥
प्रकृष्टो यो गुणैरेभिश्चक्रिकल्पा[6]धिपादिषु । स आप्तः स च सर्वज्ञः स लोकपरमेश्वरः ॥१५॥
तत[7] श्रेयोऽर्थिना श्रेयं मतमाप्तप्रणेतृकम् । अव्याहतमनालीढपूर्वं[8] सर्वज्ञमानिभिः ॥१६॥
[9]हेत्वाज्ञायुक्तमद्वैत[10] दीप्तं गम्भीरशासनम् । अल्पाक्षरमसन्दिग्धं वाक्यं स्वायम्भुवं विदुः ॥१७॥
[11]इतश्च [12]तत्प्रमाणं स्यात् श्रुतमन्त्रक्रियादयः । पदार्थाः सुस्थितास्तत्र[13] यतो नान्यमतोचिताः ॥१८॥
यथाक्रममतो ब्रूमस्तान्पदार्थान् [14]प्रपञ्चतः । यैः[15] सनिकृष्यमाणाः[16] स्युर्दुःस्थिताः परसूक्तयः[17] ॥१९॥
वेदः पुराणं स्मृतयः चारित्रं च क्रियाविधिः । मन्त्राश्च देवतालिङ्गमाहाराद्याश्च शुद्धयः ॥२०॥
एतेऽर्था[18] यत्र तत्त्वेन प्रणीताः परमर्षिणा । स धर्मः स च सन्मार्गः तदाभासाः स्युरन्यथा ॥२१॥

है ॥१०॥ इस प्रकार पूछनेवाले उस भव्य पुरुषके लिए महाज्ञानी मुनिराज अथवा गृहस्थाचार्य सत्य, विचारसे परिपूर्ण तथा मोक्षके मार्गस्वरूप धर्मका व्याख्यान करते हैं ॥११॥ वे कहते हैं – हे भव्य, मोक्षका उपदेश देनेवाले आप्तके वचनको ही तू सत्य वचन मान और इसके विपरीत जो वचन आप्तका कहा हुआ नहीं है उसे केवल वाणीका मल ही समझ ॥१२॥ जो वीतराग है, सर्वज्ञ है, सबका कल्याण करनेवाला है, जिसके वचन समीचीन, सत्य और पवित्र हैं, तथा जो उत्कृष्ट – मोक्षमार्गका उपदेश देनेवाला है वह आप्त कहलाता है, इनसे भिन्न सभी आप्ताभास हैं अर्थात् आप्त न होनेपर भी आप्तके समान मालूम होते हैं ॥१३॥ जो रूप, तेज, गुणस्थान, ध्यान, लक्षण, ऋद्धि, दान, सुन्दरता, विजय, ज्ञान, दृष्टि, वीर्य और सुखामृत इन गुणोंसे चक्रवर्ती तथा इन्द्रादिकोंसे भी उत्कृष्ट है वही आप्त है, सर्वज्ञ है और समस्त लोकोंका परमेश्वर है ॥१४–१५॥ इसलिए जो आप्तका कहा हुआ है, जिसका कोई खण्डन नहीं कर सकता और अपने-आपको सर्वज्ञ माननेवाले पुरुष जिसका स्पर्श भी नहीं कर सके हैं ऐसा जैन मत है। कल्याणकी इच्छा करनेवाले पुरुषोंके लिए कल्याणकारण है ॥१६॥ जो युक्ति तथा आगमसे युक्त है, अनुपम है, देदीप्यमान है, जिसका शासन गम्भीर है, जो अल्पाक्षरवाला है और जिसके पढ़नेसे किसी प्रकारका सन्देह नहीं होता ऐसा वाक्य ही अरहन्त भगवान्‌का कहा हुआ कहलाता है ॥१७॥ चूँकि अरहन्तदेवके मतमें अन्य मतोंमें नहीं पाये जानेवाले शास्त्र, मन्त्र तथा क्रिया आदि पदार्थोंका अच्छी तरह निरूपण किया गया है इसलिए वह प्रमाणभूत है ॥१८॥ हे वत्स, मैं यथाक्रमसे विस्तारके साथ अपदार्थोंका निरूपण करता हूँ क्योंकि उन पदार्थोंके समीप आनेपर अन्य मतोंके वचन दुष्ट जान पड़ते हैं ॥१९॥ जिसमें वेद, पुराण, स्मृति, चारित्र, क्रियाओंकी विधि, मन्त्र, देवता, लिंग और आहार आदिकी शुद्धि इन पदार्थोंका यथार्थ रीतिसे परमर्षियोंने निरूपण किया है वही धर्म है और वही समीचीन मार्ग है। इसके

---

१ योगीन्द्र । २ सत्यवचनम् । ३ एवंविधलक्षणादन्ये । ४ लक्ष्मर्द्धिदत्तिभिः अ०, प०, द०, स०, इ०, ल० । ५ कान्तता अ०, प०, इ०, स०, द०, ल० । आदरणीयता । ६ इन्द्र । ७ ततः कारणात् । ८ पूर्वस्मिन्ननालीढमस्पृष्टम् । ९ युक्त्यागमपरमागमाभ्यां कलितं । १० अद्वितीयम् । ११ आप्तवचनत । १२ मतम् । १३ मते । १४ विस्तरतः । १५ पदार्थैः । १६ निघर्षणं क्रियमाणा । समीपं गम्यमाना वा । १७ कुतीर्थ्यसूचका । १८ पदार्था ।

श्रुतं सुविहितं वेदो द्वादशाङ्गमकल्मषम् । हिंसोपदेशि यद्वाक्यं न वेदोऽसौ कृतान्तवाक्[1] ॥२२॥
पुराणं धर्मशास्त्रं च[2] तत्स्याद् वधनिषेधि यत् । वधोपदेशि यत्तत्तु ज्ञेयं धूर्तप्रणेतृकम् ॥२३॥
सावद्यविरतिर्वृत्तमार्यषट्कर्मलक्षणम्[3] । [4]चातुराश्रम्यवृत्तं तु परोक्तमसदञ्जसा[5] ॥२४॥
क्रियागर्भादिका यास्ता निर्वाणान्ताः परोदिताः[6] । आधानादिश्मशानान्ता न ताः सम्यक्क्रिया मताः ॥२५॥
मन्त्रास्त एव धर्म्याः स्युर्ये क्रियासु नियोजिताः । दुर्मन्त्रास्तेऽत्र विज्ञेया ये युक्ताः प्राणिमारणे ॥२६॥
विश्वेश्वरादयो ज्ञेया देवताः शान्तिहेतवः । क्रूरास्तु देवता हेया यासां स्याद् वृत्तिरामिषैः ॥२७॥
निर्वाणसाधनं यत् स्यात्तल्लिङ्गं जिनदेशितम् । [7]एणाजिनादिचिह्नं तु कुलिङ्गं तद्धि वैकृतम्[8] ॥२८॥
स्यान्निरामिषभोजित्वं शुद्धिराहारगोचरा । सर्वङ्कषास्तु[9] ते ज्ञेया ये स्युरामिषभोजिनः ॥२९॥
अहिंसाशुद्धिरेषां स्याद् ये निःसङ्गा दयालवः । रताः पशुवधे ये तु न ते शुद्धा दुराशयाः ॥३०॥
कामशुद्धिर्मता तेषां विकामा ये जितेन्द्रियाः । सन्तुष्टाश्च स्वदारेषु शेषाः सर्वे विडम्बकाः ॥३१॥
इति शुद्धं मतं यस्य विचारपरिनिष्ठितम् । स एवाप्तस्तदुन्नीतो[10] धर्मः श्रेयो हितार्थिनाम् ॥३२॥

सिवाय सब धर्माभास तथा मार्गाभास है ॥२०–२१॥ जिसके बारह अंग है, जो निर्दोष है और जिसमे श्रेष्ठ आचरणोका विधान है ऐसा शास्त्र ही वेद कहलाता है, जो हिंसाका उपदेश देनेवाला वाक्य है वह वेद नही है उसे तो यमराजका वाक्य ही समझना चाहिए ॥२२॥ पुराण और धर्मशास्त्र भी वही हो सकता है जो हिंसाका निषेध करनेवाला है । इसके विपरीत जो पुराण अथवा धर्मशास्त्र हिंसाका उपदेश देते हैं उन्हे धूर्तोका बनाया हुआ समझना चाहिए ॥२३॥ पापारम्भके कार्योसे विरक्त होना चारित्र कहलाता है । वह चारित्र आर्य पुरुषोंके करने योग्य देवपूजा आदि छह कर्मरूप है । इसके सिवाय अन्य लोगोने जो ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रमो-का चारित्र निरूपण किया है वह वास्तवमे बुरा है ॥२४॥ क्रियाएँ जो गर्भाधानसे लेकर निर्वाणपर्यन्त पहले कही जा चुकी है वे ही समझनी चाहिए, इनके सिवाय गर्भसे मरणपर्यन्त जो क्रियाएँ अन्य लोगोने कही है वे ठीक नही मानी जा सकती ॥२५॥ जो गर्भाधानादि क्रियाओमें उपयुक्त होते हैं वे ही मन्त्र धार्मिक मन्त्र कहलाते है किन्तु जो प्राणियोकी हिंसा करनेमें प्रयुक्त होते है उन्हे यहाँ दुर्मन्त्र अर्थात् खोटे मन्त्र समझना चाहिए ॥२६॥ शान्तिको करनेवाले तीर्थं-कर आदि ही देवता हैं । इनके सिवाय जिनकी माससे वृत्ति है वे दुष्ट देवता छोड़ने योग्य है ॥२७॥ जो साक्षात् मोक्षका कारण है ऐसा जिनेन्द्रदेवका कहा हुआ निर्ग्रन्थपना ही सच्चा लिङ्ग है । इसके सिवाय मृगचर्म आदिको चिह्न बनाना यह कुलिङ्गियोका बनाया हुआ कुलिङ्ग हैं ॥२८॥ मासरहित भोजन करना आहार-विषयक शुद्धि कहलाती है । जो मासभोजी है उन्हे सर्व-घाती समझना चाहिए ॥२९॥ अहिंसा शुद्धि उनके होती है जो परिग्रहरहित है और दयालु है, परन्तु जो पशुओकी हिंसा करनेमे तत्पर रहते है वे दुष्ट अभिप्रायवाले शुद्ध नही है ॥३०॥ जो कामरहित जितेन्द्रिय मुनि हैं उन्हीके कामशुद्धि मानी जाती है अथवा जो गृहस्थ अपनी स्त्रियोमे सन्तोष रखते है उनके भी कामशुद्धि मानी जाती है परन्तु इनके सिवाय जो अन्य लोग है वे केवल विडम्बना करनेवाले है ॥३१॥ इस प्रकार विचार करनेपर जिसका मत शुद्ध हो वही आप्त कहला सकता है और उसीके द्वारा कहा हुआ धर्म हित चाहनेवाले लोगोको कल्याणकारी हो सकता है ॥३२॥ वह भव्य उन उत्तम उपदेशकसे इस प्रकारका उपदेश

---

१ यमस्य वचनम् । २ धर्मशास्त्रम् । ३ इज्यावार्तादत्तिस्वाध्यायसयमतपोरूप । ४ ब्रह्मचर्यादिचतुराश्रमे भव । ५ निश्चयेन । ६ पुरोदिता द०, ल०, अ०, प०, इ० । ७ कृष्णाजिन । ८ तद्विधे कृतम् प०, ल०, द० । ९ सकलविनाशका इत्यर्थ । १० तत्प्रोक्त. ।

श्रुत्वेति देशनां तस्माद् भव्योऽसौ देशिकोत्तमात् । सन्मार्गे मतिमाधत्ते दुर्मार्गरतिमुत्सृजन् ॥३३॥
गुरुर्जनयिता[1] तत्त्वज्ञानं गर्भः सुसंस्कृतः । तदा तत्रावतीर्णोऽसौ भव्यात्मा धर्मजन्मना[2] ॥३४॥
अवतारक्रियाऽस्यैषा गर्भाधानवदिष्यते । यतो[3] जन्मपरिप्राप्तिः उभयत्र[4] न विद्यते ॥३५॥

इत्यवतारक्रिया ।

ततोऽस्य वृत्तलाभ. स्यात् तदैव गुरुपादयोः । प्रणतस्य व्रतव्रातं[5] विधानेनोपमेयुषः[6] ॥३६॥

इति वृत्तलाभः ।

ततः कृतोपवासस्य पूजाविधिपुरःसरः । स्थानलाभो भवेदस्य[7] तत्रायमुचितो विधिः ॥३७॥
जिनालये शुचौ रङ्गे पद्ममष्टदलं लिखेत् । विलिखेद् वा जिनास्थानमण्डलं समवृत्तकम् ॥३८॥
श्लक्ष्णेन पिष्टचूर्णेन[8] सलिलालोडितेन वा । वर्तनं[9] मण्डलस्येष्टं चन्दनादिद्रवेण वा ॥३९॥
तस्मिन्नष्टदले पद्मे जैने वाऽऽस्थानमण्डले । विधिना लिखिते तज्ज्ञैर्विष्वग्विरचितार्चने ॥४०॥
जिनार्चाभिमुखं सूरिर्विधिनैनं निवेशयेत् । तवोपासकदीक्षेयमिति मूर्ध्नि मुहुः स्पृशन् ॥४१॥
[10]पञ्चमुष्टिविधानेन स्पृष्ट्वैनमधिमस्तकम्[11] । पूतोऽसि दीक्षयेत्युक्त्वा सिद्धशेषा च लम्भयेत्[12] ॥४२॥
ततः पञ्चनमस्कारपदान्यस्मा उपादिशेत्[13] । मन्त्रोऽयमखिलात्[14] पापात्त्वां[15] पुनीतादितीरयन्[16] ॥४३॥
कृत्वा विधिमिमं पश्चात् पारणाय विसर्जयेत् । गुरोरनुग्रहात् सोऽपि संप्रीतः स्वगृहं व्रजेत् ॥४४॥

इति स्थानलाभः ।

सुनकर मिथ्यामार्गमें प्रेम छोड़ता हुआ समीचीन मार्गमें अपनी वुद्धि लगाता है ॥३३॥ उस समय गुरु ही उसका पिता है और तत्त्वज्ञान ही संस्कार किया हुआ गर्भ है। वह भव्य पुरुष धर्म रूप जन्मके द्वारा उस तत्त्वज्ञानरूपी गर्भमें अवतीर्ण होता है ॥३४॥ इसकी यह क्रिया गर्भाधानक्रियाके समान मानी जाती है क्योकि जन्मकी प्राप्ति दोनों ही क्रियाओमें नही है ॥३५॥ इस प्रकार यह पहली अवतारक्रिया है ।

तदनन्तर–उसी समय गुरुके चरणकमलोंको नमस्कार करते हुए और विधिपूर्वक व्रतोके समूहको प्राप्त होते हुए उस भव्यके वृत्तलाभ नामकी दूसरी क्रिया होती है ॥३६॥ यह वृत्तलाभ नामकी दूसरी क्रिया है ।

तत्पश्चात् जिसने उपवास किया है ऐसे उस भव्यके पूजाकी विधिपूर्वक स्थानलाभ नामकी तीसरी क्रिया होती है। इस क्रियामे यह विधि करना उचित है ॥३७॥ जिनालयमें किसी पवित्र स्थानपर आठ पांखुरीका कमल वनावे अथवा गोलाकार समवसरणके मण्डलकी रचना करे ॥३८॥ इस कमल अथवा समवसरणके मण्डलकी रचना पानी मिले हुए महीन चूर्णसे अथवा घिसे हुए चन्दन आदिसे करनी चाहिए ॥३९॥ उस विषयके जानकार विद्वानोके द्वारा लिखे हुए उस अष्टदलकमल अथवा जिनेन्द्र भगवान्के समवसरणमण्डलकी जव सम्पूर्ण पूजा हो चुके तव आचार्य उस भव्य पुरुषको जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाके सन्मुख वैठावे और वार-वार उसके मस्तकको स्पर्श करता हुआ कहे कि यह तेरी श्रावककी दीक्षा है ॥४०–४१॥ पञ्चमुष्टिकी रीतिसे उसके मस्तकका स्पर्श करे तथा 'तू इस दीक्षासे पवित्र हुआ' इस प्रकार कहकर उससे पूजाके वचे हुए शेषाक्षत ग्रहण करावे ॥४२॥ तत्पश्चात् 'यह मन्त्र तुझे समस्त पापोसे पवित्र करे' इस प्रकार कहता हुआ उसे पञ्च नमस्कार मन्त्रका उपदेश करे ॥४३॥ यह विधि करके आचार्य उसे

---

१ पिता । २ धर्म एव जन्म तेन । ३ यस्मात् कारणात् । ४ गर्भाधानावतारयोः । ५ व्रतविचरणशास्त्रोक्त-विधिना । ६ उपगतस्य । ७ स्थानलाभे । ८ जलमिश्रितेन वा । ९ उद्धरणम् । १० पञ्चगुरुमुद्राविधानेन । ११ मूर्ध्नि । १२ प्रापयेत् । १३ अस्मै उपदेशं कुर्यात् । १४ दुष्कृतात् अपसार्य । १५ पवित्र कुर्यात् । १६ ब्रुवन् ।

[1]निर्दिष्टस्थानलाभस्य पुनरस्य गणग्रहः । स्यान्मिथ्यादेवताः स्वस्माद् विनिःसारयतो गृहात् ॥४५॥
इयन्तं कालमज्ञानात् पूजिताः स्थ[2] कृतादरम् । पूज्यास्त्विदानीमस्माभिरस्मत्समयदेवताः ॥४६॥
[3]ततोऽपमृ[4]षितेनालमन्यत्र स्वैरमास्यताम् । इति [5]प्रकाशमेवैतान् नीत्वाऽन्यत्र क्वचित्त्यजेत् ॥४७॥
गणग्रहः स एष स्यात् प्राक्तनं देवताङ्गणम् । विसृज्यार्चयतः शान्ता देवताः [6]समयोचिताः ॥४८॥
इति ग्रहणक्रिया ।
पूजाराध्याख्यया ख्याता क्रियाऽस्य स्यादतः परा । पूजोपवाससंपत्त्या शृण्वतोऽङ्गार्थसंग्रहम्[7] ॥४९॥
इति पूजाराध्यक्रिया ।
ततोऽन्या पुण्ययज्ञाख्या क्रिया पुण्यानुबन्धिनी । शृण्वतः पूर्व[8]विद्यानामर्थं स[9]ब्रह्मचारिणः ॥५०॥
इति पुण्ययज्ञक्रिया ।
तथाऽस्य दृढचर्या स्यात् क्रिया स्वसमयश्रुतम् । निष्ठाप्य[10] शृण्वतो ग्रन्थान् बाह्यानन्यांश्च कांश्चन ॥५१॥
इति दृढचर्याक्रिया ।
दृढव्रतस्य तस्यान्या क्रिया स्यादुपयोगिता । [11]पर्वोपवासपर्यन्ते प्रतिमायोगधारणम् ॥५२॥
इति उपयोगिताक्रिया ।

पारणाके लिए विदा करे और वह भव्य भी गुरुके अनुग्रहसे सन्तुष्ट होता हुआ अपने घर जावे ॥४४॥ यह तीसरी स्थानलाभ क्रिया है ।

जिसके लिए स्थानलाभकी क्रियाका वर्णन ऊपर किया जा चुका है ऐसा भव्य पुरुष जब मिथ्यादेवताओंको अपने घरसे बाहर निकालता है तब उसके गणग्रह नामकी क्रिया होती है ॥४५॥ उस समय वह उन देवताओंसे कहता है कि 'मैंने अपने अज्ञानसे इतने दिन तक आदरके साथ आपकी पूजा की परन्तु अब अपने ही मतके देवताओंकी पूजा करूँगा इसलिए क्रोध करना व्यर्थ है। आप अपनी इच्छानुसार किसी दूसरी जगह रहिए।' इस प्रकार प्रकट रूपसे उन देवताओंको ले जाकर किसी अन्य स्थानपर छोड़ दे ॥४६-४७॥ इस प्रकार पहले देवताओंका विसर्जन कर अपने मतके शान्त देवताओं-की पूजा करते हुए उस भव्यके यह गणग्रह नामकी चौथी क्रिया होती है ॥४८॥ यह चौथी गणग्रह क्रिया है ।

तदनन्तर पूजा और उपवासरूप सम्पत्तिके साथ-साथ अंगोंके अर्थसमूहको सुननेवाले उस भव्यके पूजाराध्या नामकी प्रसिद्ध क्रिया होती है। भावार्थ—जिनेन्द्रदेवकी पूजा तथा उपवास आदि करते हुए द्वादशांगका अर्थ सुनना पूजाराध्य क्रिया कहलाती है ॥४९॥ यह पाँचवी पूजाराध्य क्रिया है ।

तदनन्तर साधर्मी पुरुषोंके साथ-साथ चौदह पूर्वविद्याओंका अर्थ सुननेवाले उस भव्यके पुण्यको बढ़ानेवाली पुण्ययज्ञा नामकी भिन्न क्रिया होती है ॥५०॥ यह छठी पुण्ययज्ञा क्रिया है ।

इस प्रकार अपने मतके शास्त्र समाप्त कर अन्य मतके ग्रन्थों अथवा अन्य किन्हीं दूसरे विषयोंको सुननेवाले उस भव्यके दृढचर्या नामकी क्रिया होती है ॥५१॥ यह दृढचर्या नामकी सातवीं क्रिया है ।

तदनन्तर जिसके व्रत दृढ़ हो चुके हैं ऐसे पुरुषके उपयोगिता नामकी क्रिया होती है ।

---

१ उपदेशित । २ भवथ । ३ तत. कारणात् । ४ ईर्ष्यया क्रोधेन वा । ५ प्रकटं यथा भवति तथा । ६ निजमत । ७ द्वादशाङ्गसंबन्धिद्रव्यसंग्रहादिकम् । ८ चतुर्दशविद्याना संबन्धिनम् । ९ सहाध्यायिसहितस्य । 'एकब्रह्म-व्रताचारा मिथः सब्रह्मचारिणः ।' इत्यभिधानात् । १० संपूर्णमधीत्य । ११ पर्वोपवासरात्राविरयर्थ ।

[1]क्रियाकलापेनोक्तेन शुद्धिमस्योपबिभ्रतः । उपनीतिरनू[2]चानयोग्यलिङ्गग्रहो भवेत् ॥५३॥
उपनीतिर्हि वेषस्य वृत्तस्य समयस्य च । देवतागुरुसाक्षि स्याद् विधिवत्प्रतिपालनम् ॥५४॥
शुक्लवस्त्रोप[3]वीतादिधारणं वेष उच्यते । आर्यषट्कर्मजीवित्वं वृत्तमस्य प्रचक्ष्यते ॥५५॥
जैनोपासकदीक्षा स्यात् समयः समयोचितम् । दधतो गोत्रजात्यादि नामान्तरमतः परम् ॥५६॥
इत्युपनीतिक्रिया ।
ततोऽयमुपनीतः सन् व्रतचर्यां समाश्रयेत । सूत्रमौपासकं सम्यगभ्यस्य ग्रन्थतोऽर्थतः ॥५७॥
इति व्रतचर्याक्रिया ।
[4]व्रतावतारणं तस्य भूयो भूषादिसंग्रहः । भवेदधीतविद्यस्य यथावद्गुरुसंनिधौ ॥५८॥
इति व्रतावतरणक्रिया ।
विवाहस्तु भवेदस्य नियुञ्जानस्य दीक्षया । सुव्रतोचितया सम्यक् स्वां [5]धर्मसहचारिणीम् ॥५९॥
पुनर्विवाहसंस्कारः पूर्वः[6] सर्वोऽस्य संमतः । सिद्धार्चनां पुरस्कृत्य पत्न्याः[7] संस्कारमिच्छतः ॥६०॥
इति विवाहक्रिया ।

पर्वके दिन उपवासके अन्तमें अर्थात् रात्रिके समय प्रतिमायोग धारण करना उपयोगिता क्रिया कहलाती है ॥५२॥ यह उपयोगिता नामकी आठवी क्रिया है ।

ऊपर कहे हुए क्रियाओंके समूहसे शुद्धिको धारण करनेवाले उस भव्यके उत्कृष्ट पुरुषोंके योग्य चिह्नको धारण करनेरूप उपनीति क्रिया होती है ॥५३॥ देवता और गुरुकी साक्षीपूर्वक विधिके अनुसार अपने वेष, सदाचार और समयकी रक्षा करना उपनीति क्रिया कहलातो है ॥५४॥ सफेद वस्त्र और यज्ञोपवीत आदि धारण करना वेष कहलाता है, आर्योंके करने योग्य देवपूजा आदि छह कर्मोंके करनेको वृत्त कहते है और इसके वाद अपने शास्त्रके अनुसार गोत्र जाति आदिके दूसरे नाम धारण करनेवाले पुरुपके जो जैन श्रावकको दीक्षा है उसे समय कहते है ॥५५–५६॥ यह उपनीति नामकी नौवी क्रिया है ।

तदनन्तर यज्ञोपवीतसे युक्त हुआ भव्य पुरुप शब्द और अर्थ दोनोंसे अच्छी तरह उपासकाध्ययनके सूत्रोका अभ्यास कर व्रतचर्या नामकी क्रियाको धारण करे । भावार्थ—यज्ञोपवीत धारण कर उपासकाध्ययनाग (श्रावकाचार) का अच्छी तरहसे अभ्यास करते हुए व्रतादि धारण करना व्रतचर्या नामकी क्रिया है ॥५७॥ यह दसवीं व्रतचर्या क्रिया है ।

जिसने समस्त विद्याएँ पढ़ ली है ऐसा श्रावक जव गुरुके समीप विधिके अनुसार फिरसे आभूषण आदि ग्रहण करता है तब उसके व्रतावतरण नामकी क्रिया होती है ॥५८॥ यह व्रतावतरण नामकी ग्यारहवी क्रिया है ।

जब वह भव्य अपनी पत्नीको उत्तम व्रतोके योग्य श्रावकको दीक्षासे युक्त करता है तव उसके विवाह नामकी क्रिया होती है ॥५९॥ अपनी पत्नीके संस्कार चाहनेवाले उस भव्यके उसी स्त्रीके साथ फिरसे विवाह संस्कार होता है और उस संस्कारमें सिद्ध भगवान्‌की पूजाको आदि लेकर पहले कही हुई समस्त विधि करनी चाहिए ॥६०॥ यह वारहवी विवाहक्रिया है ।

---

१ क्रियासमूहेन । २ प्रवचने साङ्गेऽधीती । ३ यज्ञोपवीत । 'उपवीतं यज्ञसूत्रं प्रोदधृतं दक्षिणे करे' । ४ व्रतावतरणम् ल० । ५ धर्मपत्नीम् । ६ गर्भान्वयक्रियासु प्रोक्त । ७ जिनदर्शनस्वीकारात् प्रागविवाहितभार्यायाः ।

वर्णलाभस्ततोऽस्य स्यात् संबन्धं[1] संविधित्सतः[2] । [3]समानाजीविभिर्लब्ध[4]वर्णैरन्यैरुपासकैः ॥६१॥
चतुरः[5] श्रावकज्येष्ठानाहूय कृतसत्क्रियान् । तान् ब्रूयादस्म्यनुग्राह्यो भवद्भिः स्वसमीकृतः[6] ॥६२॥
यूयं निस्तारका देवब्राह्मणा लोकपूजिताः । अहं च कृतदीक्षोऽस्मि गृहीतोपासकव्रतः ॥६३॥
मया तु चरितो धर्मः पुष्कलो गृहमेधिनाम् । दत्तान्यपि च दानानि कृतं च गुरुपूजनम् ॥६४॥
अयोनिसंभवं जन्म लब्ध्वाहं गुर्वनुग्रहात् । [7]चिरभावितमुत्सृज्य प्राप्तो वृत्तमभावितम्[8] ॥६५॥
व्रतसिद्ध्यर्थमेवाहमुपनीतोऽस्मि साम्प्रतम् । [9]कृतविद्यश्च जातोऽस्मि [10]स्वधीतोपासकश्रुत.[11] ॥६६॥
व्रतावतरणस्यान्ते[12] स्वीकृताभरणोऽस्म्यहम् । पत्नी च संस्कृताऽऽत्मीया कृतपाणिग्रहा पुनः ॥६७॥
एवं कृतव्रतस्याद्य वर्णलाभो ममोचितः । सुलभः सोऽपि युष्माकमनुज्ञानात् सधर्मणाम् ॥६८॥
इत्युक्तास्ते च तं सत्यमेवमस्तु समञ्जसम्[13] । त्वयोक्तं श्लाघ्यमेवैतत् कोऽन्यस्त्वत्सदृशो द्विजः ॥६९॥
युष्मादृशामलाभे तु मिथ्यादृष्टिभिरप्यमा । समानाजीविभिः कर्तुं संबन्धोऽभिमतो हि नः ॥७०॥
इत्युक्त्वैनं समाश्वास्य वर्णलाभेन युञ्जते । विधिवत् सोऽपि तं लब्ध्वा याति तत्सम कक्षताम् ॥७१॥

इति वर्णलाभक्रिया ।

वर्णलाभोऽयमुद्दिष्टः कुलचर्याऽधुनोच्यते । आर्यषट्कर्मवृत्तिः स्यात् कुलचर्याऽस्य पुष्कला ॥७२॥

इति कुलचर्या ।

तदनन्तर – जिन्हे वर्णलाभ हो चुका है और जो अपने समान ही आजीविका करते है ऐसे अन्य श्रावकोके साथ सम्वन्ध स्थापित करनेकी इच्छा करनेवाले उस भव्य पुरुषके वर्ण-लाभ नामकी क्रिया होती है ॥६१॥ इस क्रियाके करते समय वह भव्य चार वड़े-वड़े श्रावकोको आदर-सत्कार कर वुलावे और उनसे कहे कि आप लोग मुझे अपने समान वनाकर मेरा अनुग्रह कीजिए ॥ २॥ आप लोग संसारसे पार करनेवाले देव ब्राह्मण है, ससारमे पूज्य है और मैंने भी दीक्षा लेकर श्रावकके व्रत ग्रहण किये है ॥६३॥ मैंने गृहस्थोके सम्पूर्ण धर्मका आचरण किया है, दान भी दिये है और गुरुओंका पूजन भी किया है ॥६४॥ मैंने गुरुके अनुग्रहसे योनिके विना ही उत्पन्न होनेवाला जन्म धारण किया है, और चिरकालसे पालन किये हुए मिथ्याधर्मको छोड़कर जिसका पहले कभी चिन्तवन भी नही किया था ऐसा सम्यक् चारित्र धारण किया है ॥६५॥ व्रतोकी सिद्धिके लिए ही मैंने इस समय यज्ञोपवीत धारण किया है और श्रावकाचारके प्ररूपक श्रुतका अच्छी तरह अध्ययन कर विद्वान् भी हो गया हूँ ॥६६॥ व्रतावतरण क्रियाके वाद ही मैने आभूषण स्वीकार किये हुए हैं, मैंने अपनी पत्नीके भी संस्कार किये है और उसके साथ दुवारा विवाहसंस्कार भी किया है ॥६७॥ इस प्रकार व्रत धारण करनेवाले मुझको वर्णलाभकी प्राप्ति होना उचित है और वह भी आप साधर्मी पुरुषोकी आज्ञासे सहज ही प्राप्त हो सकती है ॥६८॥ इस प्रकार कह चुकनेपर वे श्रावक कहे कि ठीक है, ऐसा ही होगा, तुमने जो कुछ कहा है वह सब प्रशसनीय है, तुम्हारे समान और दूसरा द्विज कौन है ? ॥६९॥ आप-जैसे पुरुषोके न मिलनेपर हम लोगोको समान जीविका करनेवाले मिथ्यादृष्टियो-के साथ भी सम्वन्ध करना पड़ता है ॥७०॥ इस प्रकार कहकर वे श्रावक उसे आश्वासन दे और वर्णलाभसे युक्त करावे तथा वह भव्य भी विधिपूर्वक वर्णलाभको पाकर उन सब श्रावको-की समानताको प्राप्त होता है ॥७१॥ यह तेरहवी वर्णलाभ नामकी क्रिया है ।

यह वर्णलाभ क्रिया कह चुके । अव कुलचर्या क्रिया कही जाती है। आर्य पुरुषोके करने

---

१ कन्याप्रदानादानादिसबन्धम् । २ सविधातुमिच्छत । ३ सदृशार्यषट्कर्मादिवृत्तिभि । ४ विचक्षणै. । ५ चतु सख्यान् । ६ युष्मत्सदृशीकृत । ७ चिरकालसंस्कारितम् । मिथ्यात्ववृत्तमित्यर्थ. । ८ पूर्वस्मिन्न-भावितम् । सद्वृत्तमित्यर्थ । ९ संपूर्णविद्य । १० सुष्ठ्वधीत । ११-सकव्रत ल०, द० । १२ सावधी-कृतकतिचिद्व्रतावतारणावसाने । १३ इष्टम् ।

विशुद्धस्तेन वृत्तेन ततोऽभ्येति गृहीशिताम् । वृत्ताध्ययनसंपत्त्या परानुग्रहणक्षमः ॥७३॥
प्रायश्चित्तविधानज्ञः श्रुति[1]स्मृति[2]पुराणवित् । गृहस्थाचार्यतां प्राप्तः तदा धत्ते गृहीशिताम् ॥७४॥
इति गृहीशिताक्रिया ।

ततः पूर्ववदेवास्य भवेदिष्टा प्रशान्तता । नानाविधोपवासादिभावनाः समुपेयुषः ॥७५॥
इति प्रशान्तताक्रिया ।

गृहत्यागस्ततोऽस्य स्याद् गृहवासाद् विरज्यतः । योग्यं सूनुं यथान्यायमनुशिष्य गृहोज्झनम् ॥७६॥
इति गृहत्यागक्रिया ।

त्यक्तागारस्य तस्यातस्तपोवनमुपेयुषः । एकशाटकधारित्वं प्राग्वद्दीक्षाद्यमिष्यते ॥७७॥
इति दीक्षाद्यक्रिया ।

ततोऽस्य जिनरूपत्वमिष्यते त्यक्तवाससः । धारणं जातरूपस्य युक्ताचाराद् गणेशिनः ॥७८॥
इति जिनरूपता ।

क्रियाशेषास्तु निःशेषा प्रोक्ता गर्भान्वये यथा । तथैव प्रतिपाद्याः स्युर्न भेदोऽस्त्यत्र कश्चन ॥७९॥
यस्त्वेतास्तत्त्वतो ज्ञात्वा भव्यः समनुतिष्ठति । सोऽधिगच्छति निर्वाणमचिरात्सुखसाद्भवन् ॥८०॥
इति दीक्षान्वयक्रिया ।

योग्य देवपूजा आदि छह कार्योंमे पूर्ण प्रवृत्ति रखना कुलचर्या कहलाती है ॥७२॥ यह कुलचर्या नामकी चौदहवी क्रिया है ।

ऊपर कहे हुए चारित्रसे विशुद्ध हुआ श्रावक गृहीशिता क्रियाको प्राप्त होता है । जो सम्यक्चारित्र और अध्ययनरूपी सम्पत्तिसे परपुरुषोंका उपकार करनेमे समर्थ है, जो प्रायश्चित्त-की विधिका जानकार हे, श्रुति, स्मृति और पुराणका जाननेवाला है ऐसा भव्य गृहस्थाचार्य पदको प्राप्त होकर गृहीशिता नामकी क्रियाको धारण करता है ॥७३–७४॥ यह गृहीशिता नामकी पन्द्रहवी क्रिया है ।

तदनन्तर नाना प्रकारके उपवास आदिकी भावनाओंको प्राप्त होनेवाले उस भव्यके पहलेके समान ही प्रशान्तता नामकी क्रिया मानी जाती है ॥७५॥ यह सोलहवी प्रशान्तता क्रिया है ।

तत्पश्चात् जब वह घरके निवाससे विरक्त होकर योग्य पुत्रको नीतिके अनुसार शिक्षा देकर घर छोड़ देता है तब उसके गृहत्याग नामकी क्रिया होती है ॥७६॥ यह सत्रहवी गृहत्याग क्रिया है ।

तदनन्तर जो घर छोड़कर तपोवनमें चला गया है ऐसे भव्य पुरुषका पहलेके समान एक वस्त्र धारण करना यह दीक्षाद्य नामकी क्रिया मानी जाती है ॥७७॥ यह दीक्षाद्य नामकी अठारहवी क्रिया है ।

इसके बाद जब वह गृहस्थ वस्त्र छोड़कर किन्ही योग्य आचरणवाले मुनिराजसे दिगम्बर रूप धारण करता है तब उसके जिनरूपता नामकी क्रिया कही जाती है ॥७८॥ यह उन्नीसवी जिनरूपता क्रिया है ।

इनके सिवाय जो कुछ क्रियाएँ बाकी रह गयी है वे सब जिस प्रकार गर्भान्वय क्रियाओंमें कही गयी है उसी प्रकार प्रतिपादन करने योग्य है । इनमे और उनमें कोई भेद नही है॥७९॥ जो भव्य इन क्रियाओको यथार्थरूपसे जानकर उनका पालन करता है वह सुखके अधीन होता हुआ बहुत शीघ्र निर्वाणको प्राप्त होता है ॥८०॥ इस प्रकार यह दीक्षान्वय क्रियाओंका वर्णन पूर्ण हुआ ।

---

१ द्वादशाङ्गश्रुतिरूपवेद. । २ धर्मशास्त्रम् ।

अथातः संप्रवक्ष्यामि द्विजाः[1] कर्त्रन्वयक्रियाः। याः [2]प्रत्यासन्ननिष्ठस्य भवेयुर्भव्यदेहिनः ॥८१॥
तत्र सज्जातिरित्याद्या क्रिया श्रेयोऽनुबन्धिनी। या सा [3]वासन्नभव्यस्य नृजन्मोपगमे भवेत् ॥८२॥
स नृजन्मपरिप्राप्तौ दीक्षायोग्ये सदन्वये। विशुद्धं लभते जन्म सैषा सज्जातिरिष्यते ॥८३॥
विशुद्धकुलजात्यादिसंपत्सज्जातिरुच्यते। [4]उदितोदितवंशत्वं यतोऽभ्येति पुमान् कृती ॥८४॥
पितुरन्वयशुद्धिर्या तत्कुलं परिभाष्यते। मातुरन्वयशुद्धिस्तु जातिरित्यभिलप्यते ॥८५॥
विशुद्धिरुभयस्यास्य सज्जातिरनुवर्णिता। यत्प्राप्तौ[5] सुलभा [6]बोधिरयत्नोप[7]नतैर्गुणैः ॥८६॥
[8]सज्जन्मप्रतिलम्भोऽयमार्यावर्ते[9] विशेषतः। सत्यां देहादिसामग्र्यां श्रेयः सूते हि देहिनाम् ॥८७॥
शरीरजन्मना सैषा सज्जातिरुपवर्णिता। [10]एतन्मूला यतः[11] सर्वाः पुंसामिष्टार्थसिद्धयः ॥८८॥
संस्कारजन्मना चान्या सज्जातिरनुकीर्त्यते। [12]यामासाद्य द्विजन्मत्वं भव्यात्मा समुपाश्नुते ॥८९॥
विशुद्धाकरसंभूतो मणिः संस्कारयोगतः। यात्युत्कर्षं यथाऽऽत्मैवं[13] क्रियामन्त्रैः सुसंस्कृतः ॥९०॥
[14]सुवर्णधातुरथवा शुद्ध्येदासाद्य सत्क्रियाम्। यथा तथैव भव्यात्मा शुद्ध्यत्यासादितक्रियः ॥९१॥
ज्ञानजः स तु संस्कारः सम्यग्ज्ञानमनुत्तरम्। यदाथ लभते साक्षात् सर्वविन्मुखतः कृती ॥९२॥

अथानन्तर–हे द्विजो, मै आगे उन कर्त्रन्वय क्रियाओंको कहता हूँ जो कि अल्पससारी भव्य प्राणी ही के हो सकती हैं ॥८१॥ उन कर्त्रन्वय क्रियाओमें कल्याण करनेवाली सबसे पहली क्रिया सज्जाति है जो कि किसी निकट भव्यको मनुष्यजन्मकी प्राप्ति होनेपर होती है ॥८२॥ मनुष्यजन्मकी प्राप्ति होनेपर जब वह दीक्षा धारण करने योग्य उत्तम वशमे विशुद्ध जन्म धारण करता है तब उसके यह सज्जाति नामकी क्रिया होती है ॥८३॥ विशुद्ध कुल और विशुद्ध जातिरूपी सम्पदा सज्जाति कहलाती है। इस सज्जातिसे ही पुण्यवान् मनुष्य उत्त-रोत्तर उत्तम उत्तम वंशोको प्राप्त होता है ॥८४॥ पिताके वंशकी जो शुद्धि है उसे कुल कहते है और माताके वंशकी शुद्धि जाति कहलाती है ॥८५॥ कुल और जाति इन दोनोंकी विशुद्धि-को सज्जाति कहते है, इस सज्जातिके प्राप्त होनेपर बिना प्रयत्नके सहज ही प्राप्त हुए गुणोसे रत्नत्रयकी प्राप्ति सुलभ हो जाती है ॥८६॥ आर्यखण्डकी विशेषतासे सज्जातित्वकी प्राप्ति शरीर आदि योग्य सामग्री मिलनेपर प्राणियोके अनेक प्रकारके कल्याण उत्पन्न करती है। भावार्थ–यदि आर्यखण्डके विशुद्ध वशोमें जन्म हो और शरीर आदि योग्य सामग्रीका सुयोग प्राप्त हो तो अनेक कल्याणोंकी प्राप्ति सहज ही हो जाती है ॥८७॥ यह सज्जाति उत्तम शरीर-के जन्मसे ही वर्णन की गयी है क्योकि पुरुषोके समस्त इष्ट पदार्थोकी सिद्धिका मूलकारण यही एक सज्जाति है ॥८८॥ सस्काररूप जन्मसे जो सज्जातिका वर्णन किया जाता है वह दूसरी ही सज्जाति है उसे पाकर भव्य जीव द्विजन्मपनेको प्राप्त होता है ॥८९॥ जिस प्रकार विशुद्ध खानमें उत्पन्न हुआ रत्न सस्कारके योगसे उत्कर्षको प्राप्त होता है उसी प्रकार क्रियाओ और मन्त्रोसे सुसस्कारको प्राप्त हुआ आत्मा भी अत्यन्त उत्कर्षको प्राप्त हो जाता है ॥९०॥ अथवा जिस प्रकार सुवर्ण पाषाण उत्तम सस्कारको पाकर शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार भव्य जीव उत्तम क्रियाओंको पाकर शुद्ध हो जाता है ॥९१॥ वह संस्कार ज्ञानसे उत्पन्न होता है, सबसे उत्कृष्ट ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, जिस समय वह पुण्यवान् भव्य साक्षात् सर्वज्ञ देवके मुखसे उस उत्तम ज्ञान-

---

१ भो विप्रा.। २ प्रत्यासन्नमोक्षस्य। ३ सा चासन्न – ल०। ४ उत्तरोत्तराभ्युदयवदन्वयत्वम्। ५ यत् सज्जातौ प्राप्तौ सत्याम्। ६ रत्नत्रयप्राप्तिः। ७ उपागतैः। ८ सज्जातिपरिप्राप्तिः। ९ आर्यखण्डे। 'आर्यावर्तं पुण्यभूमि' इत्यभिधानात्। १० एषा सज्जातिर्मूलं कारणं यासां ताः। ११ यतः कारणात्। १२ संस्कारजन्मसज्जातिम्। १३ उत्कर्षं याति। १४ सुवर्णपाषाणः।

तदैव परमज्ञानगर्भात् संस्कारजन्मना । जातो भवेद् द्विजन्मेति व्रतैः शीलैश्च भूषितः ॥९३॥
व्रतचिह्नं भवेदस्य सूत्रं[1] मन्त्रपुरःसरम् । सर्वज्ञाज्ञाप्रधानस्य द्रव्यभावविकल्पितम् ॥९४॥
यज्ञोपवीतमस्य स्याद् द्रव्यतस्त्रिगुणात्मकम् । सूत्रमौपासिकं[2] तु स्याद् [3]भावारूढैस्त्रिभिर्गुणैः[4] ॥९५॥
यदैव लब्धसंस्कारः परं[5] ब्रह्माधिगच्छति । तदैनमभिनन्द्याशीर्वचोभिर्गणनायकाः[6] ॥९६॥
[7]लम्भयन्त्युचितां शेषां जैनीं पुष्पैरथाक्षतैः । स्थिरीकरणमेतद्धि धर्मप्रोत्साहनं[8] परम् ॥९७॥
अयोनिसंभवं दिव्यज्ञानगर्भसमुद्भवम् । सोऽधिगम्य परं जन्म तदा सज्जातिभाग्भवेत् ॥९८॥
ततोऽधिगतसज्जातिः सद्गृहित्वमसौ भजेत् । गृहमेधीभवन्नार्यषट्कर्माण्यनुपालयन् ॥९९॥
यदुक्तं गृहचर्यायामनुष्ठानं विशुद्धिमत् । तदाप्तविहित कृत्स्नमतन्द्रालुः समाचरेत्[9] ॥१००॥
जिनेन्द्राल्लब्धसज्जन्मा गणेन्द्रैरनुशिक्षितः । स धत्ते परमं ब्रह्मवर्चसं[10] द्विजसत्तमः ॥१०१॥
तमेनं धर्मसाद्भूतं श्लाघन्ते धार्मिका जनाः । परं तेज[11] इव ब्राह्ममवतीर्णं महीतलम् ॥१०२॥
स यजन्[12] याजयन्[13] धीमान् [14]यजमानैरुपासितः[15] । अध्यापयन्नधीयानो[16] [17]वेदवेदाङ्गविस्तरम् ॥

को प्राप्त करता है उस समय वह उत्कृष्ट ज्ञानरूपी गर्भसे संस्काररूपी जन्म लेकर उत्पन्न होता है और व्रत तथा शीलसे विभूषित होकर द्विज कहलाता है ॥९२–९३॥ सर्वज्ञ देवकी आज्ञा-को प्रधान माननेवाला वह द्विज जो मन्त्रपूर्वक सूत्र धारण करता है वही उसके व्रतोका चिह्न है, वह सूत्र द्रव्य और भावके भेदसे दो प्रकारका है ॥९४॥ तीन लरका जो यज्ञोपवीत है वह उसका द्रव्यसूत्र है और हृदयमें उत्पन्न हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी गुणोसे बना हुआ जो श्रावकका सूत्र है वह उसका भावसूत्र है ॥९५॥ जिस समय वह भव्य जीव सस्कारोको पाकर परम ब्रह्मको प्राप्त होता है उस समय आचार्य लोग आशीर्वादरूप वचनोसे उसकी प्रशंसा कर उसे पुष्प अथवा अक्षतोसे जिनेन्द्र भगवान्की आशिपिका ग्रहण कराते है अर्थात् जिनेन्द्रदेवकी पूजासे बचे हुए पुष्प अथवा अक्षत उसके शिर आदि अंगोपर रखवाते है क्योकि यह एक प्रकारका स्थिरीकरण है और धर्ममे अत्यन्त उत्साह बढानेवाला है ॥९६–९७॥ इस प्रकार जब यह भव्य जीव बिना योनिके प्राप्त हुए दिव्यज्ञानरूपी गर्भसे उत्पन्न होनेवाले उत्कृष्ट जन्मको प्राप्त होता है तब वह सज्जातिको धारण करनेवाला समझा जाता है ॥९८॥ यह सज्जाति नामकी पहली क्रिया है।

तदनन्तर जिसे सज्जाति क्रिया प्राप्त हुई है ऐसा वह भव्य सद्गृहित्व क्रियाको प्राप्त होता है इस प्रकार जो सद्गृहस्थ होता हुआ आर्य पुरुषोंके करने योग्य छह कर्मोका पालन करता है, गृहस्थ अवस्थामे करने योग्य जो-जो विशुद्ध आचरण कहे गये है अरहन्त भगवान्के द्वारा कहे हुए उन उन समस्त आचरणोंका जो आलस्य-रहित होकर पालन करता है, जिसने श्री जिनेन्द्रदेवसे उत्तम जन्म प्राप्त किया है और गणधरदेवने जिसे शिक्षा दी है ऐसा वह उत्तम द्विज उत्कृष्ट ब्रह्मतेज – आत्मतेजको धारण करता है ॥९९–१०१॥ उस समय धर्मस्वरूप हुए उस भव्यकी अन्य धर्मात्मा लोग यह कहते हुए प्रशंसा करते है कि तू पृथिवीतलपर अवतीर्ण हुआ उत्कृष्ट ब्रह्मतेजके समान है ॥१०२॥ पूजा करनेवाले यजमान जिसकी पूजा करते है, जो स्वय पूजन करता है, और दूसरोसे भी कराता

१ यज्ञसूत्रम् । २ उपासकाचारसंबन्धि । ३ मनसा विकल्पितैः । ४ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैः । उपलब्धि-उपयोगसस्कारैर्वा । ५ परमज्ञानम्, परमतपो वा । ६ आचार्याः । ७ प्रापयन्ति । ८ प्रवर्तनम् । ९ समाचरन् द०, अ०, ल०, प०, इ०, स० । १० वृत्ताध्ययनसपत्तिम् । 'स्याद् ब्रह्मवर्चस वृत्ताध्ययनर्द्धिः' इत्यभि-धानात् । ११ ज्ञानसबन्ध्युत्कृष्टतेज इव । १२ यजन कुर्वन् । १३ यजनं कारयन् । १४ पूजाकारकैः । १५ आराधितः । १६ अध्ययन कारयन् । १७ आगम – आगमाङ्ग ।

स्पृशन्नपि महीं नैव स्पृष्टो दोषैर्महीगतैः । देवत्वमात्मसात्कुर्यादिहैवाभ्यर्चितैर्गुणैः ॥१०४॥
नाणिमा महिमैवास्य गरिमैव न लाघवम् । प्राप्तिः[1] प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चेति तद्गुणाः ॥१०५॥
गुणैरेभिरुपारूढमहिमा देवसाद्भवम्[3] । बिभ्रल्लोकातिगं धाम मह्यामेष महीयते ॥१०६॥
धर्म्यैराचरितैः सत्यशौचक्षान्तिदमादिभिः । देवब्राह्मणतां श्लाघ्यां स्वस्मिन् संभावयत्यसौ ॥१०७॥
अथ जातिमदावेशात् कश्चिदेनं द्विजब्रुवः । ब्रूयादेवं किमद्यैव देवभूयं[4] गतो भवान् ॥१०८॥
त्वमामुष्यायणः[5] किन्न किन्ते[6]ऽम्बाऽमुष्य पुत्रिका[7] । [8]येनैवमुन्नसो[9] भूत्वा यास्यसत्कृत्य मद्विधान् ॥१०९॥
जातिः सैव कुलं तच्च सोऽसि योऽसि प्रगेतनः[10] । तथापि देवतात्मानमात्मानं मन्यते भवान् ॥११०॥
देवतातिथिपित्रग्निकार्येष्वप्रयतो[11] भवान् । गुरुद्विजातिदेवानां प्रणामाच्च पराङ्मुखः ॥१११॥
दीक्षां जैनीं प्रपन्नस्य जातः कोऽतिशयस्तव । यतोऽद्यापि मनुष्यस्त्वं पादचारी महीं स्पृशन् ॥११२॥
इत्युपारूढसंरम्भमु[12]पालब्धः[13] स केनचित् । ददात्युत्तरमित्यस्मै वचोभिर्युक्तिपेशलैः[14] ॥११३॥
श्रूयतां भो द्विजंमन्य त्वयाऽस्मद्दिव्यसंभवः[15] । जिनो[16] जनयिताऽस्माकं ज्ञानं गर्भोऽतिनिर्मलः ॥११४॥

है, जो वेद और वेदांगके विस्तारको स्वयं पढता है तथा दूसरोको भी पढ़ाता है, जो यद्यपि पृथिवीका स्पर्श करता है तथापि पृथिवीसम्बन्धी दोष जिसका स्पर्श नही कर सकते है, जो अपने प्रशंसनीय गुणोसे इसी पर्यायमे देवपर्यायको प्राप्त होता है, जिसके अणिमा ऋद्धि अर्थात् छोटापन नही है किन्तु महिमा अर्थात् वड़प्पन है, जिसके गरिमा ऋद्धि है परन्तु लघिमा नही है, जिसमें प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व आदि देवताओंके गुण विद्यमान है, उपर्युक्त गुणोसे जिसकी महिमा वढ़ रही है, जो देवरूप हो रहा है और लोकको उल्लंघन करनेवाला उत्कृष्ट तेज धारण करता है ऐसा यह भव्य पृथिवीपर पूजित होता है ॥१०३-१०६॥ सत्य, शौच, क्षमा और दम आदि धर्मसम्बन्धी आचरणोसे वह अपनेमे प्रशंसनीय देवब्राह्मणपनेकी सम्भावना करता है अर्थात् उत्तम आचरणोसे अपने आपको देवब्राह्मणके समान उत्तम बना देता है ॥१०७॥

यदि अपनेको झूठमूठ ही द्विज माननेवाला कोई पुरुष अपनी जातिके अहंकारके आवेशसे इस देवब्राह्मणसे कहे कि आप क्या आज ही देवपनेको प्राप्त हो गये है ? ॥१०८॥ क्या तू अमुक पुरुषका पुत्र नही है ? और क्या तेरी माता अमुक पुरुषकी पुत्री नही है ? जिससे कि तू इस तरह नाक ऊँची कर मेरे ऐसे पुरुषोका सत्कार किये विना ही जाता है ? ॥१०९॥ यद्यपि तेरी जाति वही है, कुल वही है और तू भी वही है जो कि सवेरेके समय था तथापि तू अपने आपको देवतारूप मानता है ॥११०॥ यद्यपि तू देवता, अतिथि, पितृगण और अग्निके कार्योमें निपुण है तथापि गुरु, द्विज और देवोको प्रणाम करनेसे विमुख है ॥१११॥ जैनी दीक्षा धारण करनेसे तुझे कौन-सा अतिशय प्राप्त हो गया है ? क्योकि तू अव भी मनुष्य ही है और पृथिवीको स्पर्श करता हुआ पैरोसे ही चलता है ॥११२॥ इस प्रकार क्रोध धारण कर यदि कोई उलाहना दे तो उसके लिए युक्तिसे भरे हुए वचनोसे इस प्रकार उत्तर दे ॥११३॥ हे अपने आपको द्विज माननेवाले, तू मेरा दिव्य जन्म सुन, श्री जिनेन्द्रदेव ही मेरा पिता है और

१ रत्नत्रयादिगुणलाभः । २ प्रकर्षेणामन्तात् सकलाभिलषणीयत्वम् । ३ देवाधीनम् । देव सादभवन् ल०, द०, इ० । देवसाद्भवेत् अ०, प०, स० । ४ देवत्वम् । ५ कुलीन' । 'प्रसिद्धपितुरुत्पन्न आमुष्यायण उच्यते ।' ६ तव । ७ कुलीना पुत्री । ८ येन कारणेन । ९ उद्गतनासिक. । १० प्रागभव. । ११ -ष्वप्राज्ञो ल०, द० । १२ स्वीकृतक्रोधं यथा भवति तथा । १३ दूषित' । १४ पटुभि' । १५ अस्माक देवोत्पत्तिः । १६ पिता ।

[1]तत्रार्हतीं त्रिधा[2] भिन्नां शक्तिं त्रैगुण्यसंश्रिताम्[3] । स्वसात्कृत्य समुद्भूता वयं संस्कारजन्मना ॥११५॥
अयोनिसंभवास्तेन देवा एव न मानुषाः । वयं वयमिवान्येऽपि सन्ति चेद् ब्रूहि तद्विधान्[4] ॥११६॥
स्वायम्भुवान्मुखाज्जातास्ततो देवद्विजा वयम् । व्रतचिह्नं च नः सूत्रं पवित्रं सूत्रदर्शितम्[5] ॥११७॥
पापसूत्रानुगा यूयं न द्विजा सूत्रकण्ठकाः[6] । सन्मार्गकण्टकास्तीक्ष्णाः केवलं मलदूषिताः ॥११८॥
शरीरजन्म संस्कारजन्म चेति द्विधा मतम् । जन्माङ्गिनां मृतिश्चैवं द्विधाम्नाता जिनागमे ॥११९॥
देहान्तरपरिप्राप्तिः पूर्वदेहपरिक्षयात् । शरीरजन्म विज्ञेयं देहभाजां भवान्तरे ॥१२०॥
तथालब्धात्मलाभस्य पुनः संस्कारयोगतः । द्विजन्मतापरिप्राप्तिर्जन्म संस्कारजं स्मृतम् ॥१२१॥
शरीरमरणं स्वायुरन्ते देहविसर्जनम् । संस्कारमरणं प्राप्तव्रतस्यागःसमुज्झनम् ॥१२२॥
[7]यतोऽयं लब्धसंस्कारो विजहाति प्रगेतनम्[8] । मिथ्यादर्शनपर्यायं ततस्तेन[9] मृतो भवेत् ॥१२३॥
तत्र[10] संस्कारजन्मेदमपापोपहतं परम् । जातं नो[11] गुर्वनुज्ञानादतो[12] देवद्विजा वयम् ॥१२४॥
इत्यात्मनो गुणोत्कर्षं ख्यापयन्न्यायवर्त्मना । गृहमेधी भवेत् प्राप्य सद्गृहित्वमनुत्तरम् ॥१२५॥
भूयोऽपि संप्रवक्ष्यामि ब्राह्मणान् सत्क्रियोचितान् । जातिवादावलेपस्य[13] [14]निरासार्थमतः परम् ॥१२६॥

ज्ञान ही अत्यन्त निर्मल गर्भ है ॥११४॥ उस गर्भमें उपलब्धि, उपयोग और संस्कार इन तीन गुणोंके आश्रित रहनेवाली जो अरहन्तदेवसम्बन्धिनी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीन भिन्न-भिन्न शक्तियाँ हैं उन्हे अपने अधीन कर हम संस्काररूपी जन्मसे उत्पन्न हुए है ॥११५॥ हम लोग बिना योनिसे उत्पन्न हुए है इसलिए देव ही है मनुष्य नहीं है, हमारे समान जो और भी है उन्हें भी तू देवब्राह्मण कह ॥११६॥ हम लोग स्वयम्भूके मुखसे उत्पन्न हुए है इसलिए देवब्राह्मण है और हमारे व्रतोका चिह्न शास्त्रोमे कहा यह पवित्र सूत्र अर्थात् यज्ञोपवीत है ॥११७॥ आप लोग तो गलेमें सूत्र धारण कर समीचीन मार्गमें तीक्ष्ण कण्टक बनते हुए पापरूप सूत्रके अनुसार चलनेवाले है, केवल मलसे दूषित है, द्विज नही है ॥११८॥ जीवोंका जन्म दो प्रकारका है एक तो शरीरजन्म और दूसरा संस्कार-जन्म । इसी प्रकार जैनशास्त्रोमे जीवोंका मरण भी दो प्रकारका माना गया है ॥११९॥ पहले शरीरका क्षय हो जानेसे दूसरी पर्यायमें जो दूसरे शरीरकी प्राप्ति होती हैं उसे जीवोंका शरीरजन्म जानना चाहिए । ॥१२०॥ इसी प्रकार संस्कारयोगसे जिसे पुनः आत्मलाभ प्राप्त हुआ है ऐसे पुरुष-को जो द्विजपनेकी प्राप्ति होना है वह सस्कारज अर्थात् संस्कारसे उत्पन्न हुआ जन्म कहलाता है ॥१२१॥ अपनी आयुके अन्तमें शरीरका परित्याग करना शरीरमरण है तथा व्रती पुरुष-का पापोंका परित्याग करना संस्कारमरण है ॥१२२॥ इस प्रकार जिसे सब संस्कार प्राप्त हुए है ऐसा जीव मिथ्यादर्शनरूप पहलेके पर्यायको छोड़ देता है इसलिए वह एक तरहसे मरा हुआ ही कहलाता है ॥१२३॥ उन दोनों जन्मोंमें-से जो पापसे दूषित नही है ऐसा संस्कारसे उत्पन्न हुआ यह उत्कृष्ट जन्म गुरुकी आज्ञानुसार मुझे प्राप्त हुआ है इसलिए मै देवद्विज या देवब्राह्मण कहलाता हूँ ॥१२४॥ इस प्रकार न्यायमार्गसे अपने आत्माके गुणोका उत्कर्ष प्रकट करता हुआ वह पुरुष सर्वश्रेष्ठ सद्गृहित्व अवस्थाको पाकर सद्गृहस्थ होता है ॥१२५॥ उत्तम क्रियाओके करने योग्य ब्राह्मणोंसे उनके जातिवादका अहंकार दूर करनेके लिए इसके

१ ज्ञानगर्भे । २ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणीति त्रिप्रकारै । ३ उपलब्ध्युपयोगसस्कारात्मतां गताम् । ४ अयोनि-संभवप्रकारान् । अयोनिसभवसदृशानित्यर्थः । ५ आगमप्रोक्तम् । ६ सूत्रमात्रमेव कण्ठे येपा ते । ७ यस्मात् कारणात् । ८ प्राक्तनम् । ९ मिथ्यादर्शनत्यजनरूपेणेत्यर्थः । १० शरीरजन्मसस्कारजन्मनोः । ११ अस्माकम् । १२ गुरोरनुज्ञायाः । १३ गर्वस्य । १४ निराकरणाय ।

ब्रह्मणोऽपत्यमित्येवं ब्राह्मणाः समुदाहृताः । ब्रह्मा स्वयंभूर्भगवान् परमेष्ठी[1] जिनोत्तमः ॥१२७॥
स ह्यादिपरमब्रह्मा जिनेन्द्रो गुणबृंहणात् । परं ब्रह्म यदायत्तमामनन्ति मुनीश्वराः ॥१२८॥
नैणाजिनधरो ब्रह्मा जटाकूर्चादिलक्षणः । यः कामगर्दभो[2] भूत्वा प्रच्युतो ब्रह्मवर्चसात्[3] ॥१२९॥
दिव्यमूर्तेर्जिनेन्द्रस्य ज्ञानगर्भादनाविलात्[4] । समासादितजन्मानो द्विजन्मानस्ततो मताः ॥१३०॥
[5]वर्णान्तःपातिनो नैते मन्तव्या द्विजसत्तमाः । व्रतमन्त्रादिसंस्कारसमारोपितगौरवाः ॥१३१॥
वर्णोत्तमानिमान् विद्मः क्षान्तिशौचपरायणान् । संतुष्टान् प्राप्तवैशिष्ट्यानक्लिष्टाचारभूषणान् ॥१३२॥
[6]क्लिष्टाचाराः परे नैव ब्राह्मणा द्विजमानिनः । पापारम्भरता शश्वदाहत्य[7] पशुघातिनः ॥१३३॥
सर्वमेधमयं[8] धर्ममभ्युपेत्य पशुघ्नताम्[9] । का नाम गतिरेषां स्यात् पापशास्त्रोपजीविनाम् ॥१३४॥
चोदनालक्षणं[10] धर्ममधर्मं प्रतिजानते[11] । ये तेभ्यः कर्मचाण्डालान् पश्यामो नापरान् भुवि ॥१३५॥
पार्थिवैर्दण्डनीयाश्च लुण्टाकाः[12] पापपण्डिताः । तेऽमी धर्मजुषां बाह्या ये निघ्नन्त्यघृणाः[13] पशून् ॥१३६॥
[14]पशुहत्यासमारम्भात् क्रव्यादेभ्योऽपि[15] निष्कृपाः । यद्युच्छ्रितिं[16] मुशन्त्येते हन्तैवं धार्मिका हताः ॥१३७

आगे फिर भी कुछ कहता हूँ ॥१२६॥ जो ब्रह्माकी सन्तान है, उन्हे ब्राह्मण कहते है और स्वयम्भू , भगवान्, परमेष्ठी तथा जिनेन्द्रदेव ब्रह्मा कहलाते है । भावार्थ – जो जिनेन्द्र भगवान्‌का उपदेश सुनकर उनकी शिष्य-परम्परामे प्रविष्ट हुए है वे ब्राह्मण कहलाते है ॥१२७॥ श्रीजिनेन्द्रदेव ही आदि परम ब्रह्मा है क्योकि वे ही गुणोको बढानेवाले है और उत्कृष्ट ब्रह्म अर्थात् ज्ञान भी उन्हीके अधीन है ऐसा मुनियोके ईश्वर मानते है ॥१२८॥ जो मृगचर्म धारण करता है, जटा, दाढी आदि चिह्नोसे युक्त है तथा कामके वश गधा होकर जो ब्रह्मतेज अर्थात् ब्रह्मचर्यसे भ्रष्ट हुआ वह कभी ब्रह्मा नही हो सकता ॥१२९॥ इसलिए जिन्होने दिव्य मूर्तिके धारक श्री जिनेन्द्रदेवके निर्मल ज्ञानरूपी गर्भसे जन्म प्राप्त किया है वे ही द्विज कहलाते है ॥१३०॥ व्रत, मन्त्र तथा सस्कारोसे जिन्हे गौरव प्राप्त हुआ है ऐसे इन उत्तम द्विजोको वर्णोके अन्तर्गत नही मानना चाहिए अर्थात् ये वर्णोत्तम है ॥१३१॥ जो क्षमा और शौच गुणके धारण करनेमें सदा तत्पर है, सन्तुष्ट रहते है, जिन्हे विशेषता प्राप्त हुई है और निर्दोष आचरण ही जिनका आभूषण है ऐसे इन द्विजोको सब वर्णोमें उत्तम मानते है ॥१३२॥ इनके सिवाय जो मलिन आचारके धारक है, अपनेको झूठमूठ द्विज मानते है, पापका आरम्भ करनेमे सदा तत्पर रहते है और हठपूर्वक पशुओंका घात करते हैं वे ब्राह्मण नही हो सकते ॥१३३॥ जो समस्त हिसामय धर्म स्वीकार कर पशुओका घात करते है ऐसे पापशास्त्रोसे आजीविका करनेवाले इन ब्राह्मणोकी न जाने कौन-सी गति होगी ? ॥१३४॥ जो अधर्म स्वरूप वेदमें कहे हुए प्रेरणात्मक धर्मको धर्म मानते है मै उनके सिवाय इस पृथिवीपर और किसीको कर्म चाण्डाल नही देखता हूँ अर्थात् वेदमें कहे हुए धर्मको माननेवाले सबसे बढकर कर्म चाण्डाल है ॥१३५॥ जो निर्दय होकर पशुओंका घात करते है वे पापरूप कार्योमे पण्डित है, लुटेरे है, और धर्मात्मा लोगोसे बाह्य है, ऐसे पुरुष राजाओके द्वारा दण्डनीय होते है ॥१३६॥ पशुओकी हिसा करनेके उद्योगसे जो राक्षसोसे भी अधिक निर्दय है यदि ऐसे पुरुष ही उत्कृष्टताको प्राप्त होते हो तब

---

१ परमपदे स्थित । २ कामाद् गर्दभाकारमुख इत्यर्थ । ३ अध्ययनसंपत्ते । ४ अकलुषात् । ५ वर्णमात्रवर्तिन इत्यर्थ । ६ दुष्ट । ७ हठात्, साक्षात् वा । ८ हिंसामयम् । ९ हिसा कुर्वताम् । १० वेदोक्तलक्षणम् । ११ प्रतिज्ञा कुर्वते । १२ चौरा । १३ नि कृपा । १४ पशुहननप्रारम्भात् । १५ राक्षसेभ्य । 'राक्षस' कोणप क्रव्यात् क्रव्यादोऽस्रप आशर ' इत्यभिधानात् । १६ उन्नतिम् ।

मलिनाचरिता ह्येते[1] कृष्णवर्गे द्विजब्रुवाः । जैनास्तु निर्मलाचाराः[2] शुक्लवर्गे मता बुधैः ॥१३८॥
[3]श्रुतिस्मृति[4]पुरावृत्त[5]वृत्तमन्त्रक्रियाश्रिता । देवतालिङ्गकामान्तकृता शुद्धिर्द्विजन्मनाम् ॥१३९॥
ये विशुद्धतरां वृत्तिं तत्कृतां[6] समुपाश्रिताः । ते शुक्लवर्गे बोद्धव्याः शेषाः शुद्धेः बहिः कृताः ॥१४०॥
तच्छुद्ध्यशुद्धी[7] बोद्धव्ये न्यायान्यायप्रवृत्तितः । न्यायो दयार्द्रवृत्तित्वमन्यायः प्राणिमारणम् ॥१४१॥
विशुद्धवृत्तयस्तस्माज्जैना वर्णोत्तमा द्विजाः । [8]वर्णान्तःपातिनो नैते जगन्मान्या इति स्थितम् ॥१४२॥
स्यादारेका[9] च षट्कर्मजीविनां गृहमेधिनाम् । हिंसादोषोऽनुषंगी स्याज्जैनानां च द्विजन्मनाम् ॥१४३॥
इत्यत्र[10] ब्रूमहे सत्यम[11]ल्पसावद्यसंगतिः । [12]तत्रास्त्येव तथाप्येषां स्याच्छुद्धिः शास्त्रदर्शिता ॥१४४॥
अपि चैषां विशुद्ध्यङ्गं पक्षश्चर्या च साधनम् । इति त्रितयमस्त्येव तदिदानीं विवृण्महे ॥१४५॥
तत्र पक्षो हि जैनानां कृत्स्नहिंसाविवर्जनम् । मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यैरुपबृंहितम् ॥१४६॥
चर्या तु देवतार्थं वा मन्त्रसिद्ध्यर्थमेव वा । औषधाहारक्लृप्त्यै वा न हिंस्यामीति चेष्टितम् ॥१४७॥
तत्राकामकृते[13] शुद्धिः प्रायश्चित्तैर्विधीयते । पश्चाच्चात्मालयं[14] सूनौ व्यवस्थाप्य गृहोज्झनम् ॥१४८॥

तो दुःखके साथ कहना पडेगा कि वेचारे धर्मात्मा लोग व्यर्थ ही नष्ट हुए ॥१३७॥ ये द्विज लोग मलिन आचारका पालन करते है और झूठमूठ ही अपनेको द्विज कहते हैं इसलिए विद्वान् लोग इन्हे कृष्णवर्ग अर्थात् पापियोके समूहमें गर्भित करते हैं और जैन लोग निर्मल आचारका पालन करते है इसलिए इन्हे शुक्लवर्ग अर्थात् पुण्यवानोंके समूहमे शामिल करते है ॥१३८॥ द्विज लोगोकी शुद्धि श्रुति, स्मृति, पुराण, सदाचार, मन्त्र और क्रियाओंके आश्रित है तथा देवताओंके चिह्न धारण करने और कामका नाश करनेसे भी होती है ॥१३९॥ जो श्रुति स्मृति आदिके द्वारा की हुई अत्यन्त विशुद्ध वृत्तिको धारण करते हैं उन्हे शुक्लवर्ग अर्थात् पुण्यवानोंके समूहमें समझना चाहिए और जो इनसे शेष बचते है उन्हे शुद्धिसे बाहर समझना चाहिए अर्थात् वे महा अशुद्ध है ॥१४०॥ उनकी शुद्धि और अशुद्धि, न्याय और अन्यायरूप प्रवृत्तिसे जाननी चाहिए। दयासे कोमल परिणाम होना न्याय है और प्राणियोंका मारना अन्याय है ॥१४१॥ इससे यह बात निश्चित हो चुकी कि विशुद्ध वृत्तिको धारण करनेवाले जैन लोग ही सब वर्णोंमें उत्तम हैं। वे ही द्विज हैं। ये ब्राह्मण आदि वर्णोंके अन्तर्गत न होकर वर्णोत्तम है और जगत्पूज्य है ॥१४२॥

अब यहाँ यह शंका हो सकती है कि जो असि मषी आदि छह कर्मोसे आजीविका करनेवाले जैन द्विज अथवा गृहस्थ है उनके भी हिंसाका दोष लग सकता है परन्तु इस विषयमें हम यह कहते है कि आपने जो कहा है वह ठीक है, आजीविकाके लिए छह कर्म करनेवाले जैन गृहस्थोके थोड़ी-सी हिसाकी संगति अवश्य होती है परन्तु शास्त्रोमें उन दोषोंकी शुद्धि भी तो दिखलायी गयी है ॥१४३-१४४॥ उनकी विशुद्धिके अंग तीन है पक्ष, चर्या और साधन। अब मैं यहाँ इन्ही तीनका वर्णन करता हूँ ॥१४५॥ उन तीनोमें-से मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य-भावसे वृद्धिको प्राप्त हुआ समस्त हिंसाका त्याग करना जैनियोका पक्ष कहलाता है ॥१४६॥ किसी देवताके लिए, किसी मन्त्रकी सिद्धिके लिए अथवा किसी औषध या भोजन बनवानेके लिए मैं किसी जीवकी हिसा नही करूँगा ऐसी प्रतिज्ञा करना चर्या कहलाती है ॥१४७॥ इस प्रतिज्ञामें यदि कभी इच्छा न रहते हुए प्रमादसे दोष लग जावे तो प्रायश्चित्तसे उसकी शुद्धि

---

१ पाप। २ पुण्य। ३ आगम। ४ धर्मसंहिता। ५ पुराण। ६ श्रुतिस्मृत्यादिकृताम्। ७ जैनद्विजोत्तरयो शुद्ध्यशुद्धि। ८ वर्णमात्रवर्तिन। ९ शङ्का। १० 'हिंसादोषोऽनुषंगी स्यात्' इत्यत्र। ११ सत्यमित्यङ्गीकारे। १२ चेष्टिते। व्यापारे इत्यर्थ। १३ प्रमादजनिते दोषे। १४ -चात्मान्वयं द०, ल०, इ०, अ०, प०, स०।

चर्यैषा गृहिणां प्रोक्ता जीवितान्ते तु साधनम् । देहाहारेहितत्यागाद्[1] ध्यानशुद्धयात्मशोधनम् ॥१४९॥
त्रिष्वेतेषु न संस्पर्शो वधेनार्हद्द्विजन्मनाम् । इत्यात्मपक्षनिक्षिप्तदोषाणां स्यान्निराकृतिः ॥१५०॥
चतुर्णामाश्रमाणां च शुद्धिः स्यादार्हते मते । [2]चातुराश्रम्यमन्येषामविचारितसुन्दरम् ॥१५१॥
ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः । इत्याश्रमास्तु जैनानामुत्तरोत्तरशुद्धितः ॥१५२॥
ज्ञातव्याः स्युः प्रपञ्चेन सान्तर्भेदाः पृथग्विधाः[3] । ग्रन्थगौरवभीत्या तु नात्रैतेषां प्रपञ्चना ॥१५३॥
सद्गृहित्वमिदं ज्ञेयं गुणैरात्मोपबृंहणम् । पारिव्राज्यमितो वक्ष्ये सुविशुद्धं क्रियान्तरम् ॥१५४॥

इति सद्गृहित्वम् ।

गार्हस्थ्यमनुपाल्यैवं गृहवासाद् विरज्यतः[4] । यद्दीक्षाग्रहणं तद्धि पारिव्राज्यं प्रचक्ष्यते ॥१५५॥
पारिव्राज्यं परिव्राजो भावो निर्वाणदीक्षणम् । तत्र निर्ममता वृत्त्या जातरूपस्य धारणम् ॥१५६॥
प्रशस्ततिथिनक्षत्रयोगलग्न[5]ग्रहांशके[6] । निर्ग्रन्थाचार्यमाश्रित्य दीक्षा ग्राह्या मुमुक्षुणा ॥१५७॥
विशुद्धकुलगोत्रस्य सद्वृत्तस्य वपुष्मतः । दीक्षायोग्यत्वमाम्नातं सुमुखस्य सुमेधसः ॥१५८॥
[7]ग्रहोपरागग्रहणे परिवेषेन्द्रचापयोः । वक्रग्रहोदये मेघपटलस्थगितेऽम्बरे ॥१५९॥

की जाती है तथा अन्तमे अपना सब कुटुम्ब पुत्रके लिए सौपकर घरका परित्याग किया जाता है ॥१४८॥ यह गृहस्थ लोगोकी चर्या कही, अब आगे साधन कहते है । आयुके अन्त समयमे शरीर आहार और समस्त प्रकारकी चेष्टाओका परित्याग कर ध्यानकी शुद्धिसे जो आत्माको शुद्ध करना है उसे साधन कहते है ॥१४९॥ अरहन्तदेवको माननेवाले द्विजोका पक्ष, चर्या और साधन इन तीनोमे हिंसाके साथ स्पर्श भी नही होता, इस प्रकार अपने ऊपर ठहराये हुए दोषोका निराकरण हो सकता है ॥१५०॥ चारों आश्रमोकी शुद्धता भी श्री अर्हन्तदेवके मतमे ही है । अन्य लोगोने जो चार आश्रम माने है वे विचार किये विना ही सुन्दर है अर्थात् जबतक उनका विचार नही किया गया है तभीतक सुन्दर है ॥१५१॥ ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षुक ये जैनियोके चार आश्रम है जो कि उत्तरोत्तर अधिक विशुद्धि होनेसे प्राप्त होते है ॥१५२॥ ये चारो ही आश्रम अपने-अपने अन्तर्भेदोसे सहित होकर अनेक प्रकारके हो जाते है, उनका विस्तारके साथ ज्ञान प्राप्त करना चाहिए परन्तु ग्रन्थ बढ जानेके भयसे यहाँ उनका विस्तार नही लिखा है ॥१५३॥ इस प्रकार गुणोके द्वारा अपने आतमाकी वृद्धि करना यह सद्गृहित्व क्रिया है । अब इसके आगे अत्यन्त विशुद्ध पारिव्रज्य नामकी तीसरी क्रियाका निरूपण करंगे ॥१५४॥ यह दूसरी सद्गृहित्व क्रिया है ।

इस प्रकार गृहस्थधर्मका पालन कर घरके निवाससे विरक्त होते हुए पुरुषका जो दीक्षा ग्रहण करना है उसे पारिव्रज्य कहते है ॥१५५॥ परिव्राट्का जो निर्वाणदीक्षारूप भाव है उसे पारिव्रज्य कहते है, इस पारिव्रज्य क्रियामे ममत्व भाव छोड़कर दिगम्बररूप धारण करना पडता है ॥१५६॥ मोक्षकी इच्छा करनेवाले पुरुषको शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र, शुभ योग, शुभ लग्न और शुभ ग्रहोके अशमे निर्ग्रन्थ आचार्यके पास जाकर दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए ॥१५७॥ जिसका कुल और गोत्र विशुद्ध है, चरित्र उत्तम है, मुख सुन्दर है और प्रतिभा अच्छी है ऐसा पुरुष ही दीक्षा ग्रहण करनेके योग्य माना गया है ॥१५८॥ जिस दिन ग्रहोका उपराग हो, ग्रहण लगा हो, सूर्य-चन्द्रमापर परिवेष (मण्डल) हो, इन्द्रधनुप उठा हो, दुष्ट ग्रहोका उदय हो, आकाश मेघपटलसे ढका हुआ हो, नष्ट मास अथवा अधिक

१ चेष्टा । २ चतुराश्रमत्वम् । ३ नानाप्रकारा । ४ विरक्तिं गच्छतः । ५ मुहूर्तः । ६ ग्रहांशकैः ल०, द०, अ०, प०, इ०, स० । ७ चन्द्रादिग्रहणे ।

[1]नष्टाधिमासदिनयोः संक्रान्तौ [2]हानिमत्तिथौ । दीक्षाविधिं मुमुक्षूणां नेच्छन्ति कृतबुद्धयः[3] ॥१६०॥
[4]संप्रदायमनादृत्य यस्त्विमं [5]दीक्षयेदधीः । स साधुभिर्बहिः कार्यो वृद्धात्यासादनारतः[6] ॥१६१॥
[7]तत्र सूत्रपदान्याहुर्योगीन्द्राः सप्तविंशतिम् । यैर्निर्णीतै[8]र्भवेत्साक्षात्[9] पारिव्राज्यस्य लक्षणम् ॥१६२॥
जातिर्मूर्तिश्च तत्रस्थ[10] लक्षणं सुन्दराङ्गता । प्रभामण्डलचक्राणि तथाभिषवनाथते[11] ॥१६३॥
सिंहासनोपधाने च छत्रचामरघोषणः । अशोकवृक्षनिधयो गृहशोभावगाहने ॥१६४॥
क्षेत्रज्ञाऽऽज्ञा सभाः कीर्तिर्वन्द्यता वाहनानि च । भाषाहारसुखानीति जात्यादिः सप्तविंशतिः ॥१६५॥
जात्यादिकानिमान् सप्तविंशतिं परमेष्ठिनाम् । गुणानाहुर्भजेद्दीक्षां स्वेषु[12] [13]तेष्वकृतादरः ॥१६६॥
जातिमानप्यनुत्सिक्तः[14] संभजेदर्हतां क्रमौ[15] । यतो जन्मान्तरे[16] जात्यां[17] याति जातिं[18] चतुर्विधाम् ॥
जातिरैन्द्री[19] भवेद्दिव्या चक्रिणां विजयाश्रिता । परमा जातिरार्हन्त्ये स्वात्मोत्था सिद्धिमीयुषाम् ॥१६८॥

मासका दिन हो, संक्रान्ति हो अथवा क्षयतिथिका दिन हो उस दिन बुद्धिमान् आचार्य मोक्षकी इच्छा करनेवाले भव्योके लिए दीक्षाकी विधि नही करना चाहते है अर्थात् उस दिन किसी शिष्यको नवीन दीक्षा नही देते है ॥१५९–१६०॥ जो मन्दबुद्धि आचार्य इस सम्प्रदायका अनादर कर नवीन शिष्यको दीक्षा दे देता है वह वृद्ध पुरुषोके उल्लघन करनेमे तत्पर होने-से अन्य साधुओके द्वारा बहिष्कार कर देने योग्य है। भावार्थ – जो आचार्य असमयमे ही शिष्योको दीक्षा दे देता है वह वृद्ध आचार्योकी मान्यताको उल्लघन करता है इसलिए साधुओको चाहिए कि वे ऐसे आचार्यको अपने संघसे बाहर कर दे ॥ १६१ ॥ मुनिराज इस पारिव्रज्य क्रियामे उन सताईस सूत्र पदोका निरूपण करते है जिनका कि निर्णय होनेपर पारि-व्रज्यका साक्षात् लक्षण प्रकट होता है ॥१६२॥ जाति, मूर्ति, उसमे रहनेवाले लक्षण, शरीर-की सुन्दरता, प्रभा, मण्डल, चक्र, अभिषेक, नाथता, सिंहासन, उपधान, छत्र, चामर, घोषणा, अशोक वृक्ष, निधि, गृहशोभा, अवगाहन, क्षेत्रज्ञ, आज्ञा, सभा, कीर्ति, वन्दनीयता, वाहन, भाषा, आहार और सुख ये जाति आदि सत्ताईस सूत्रपद कहलाते है ॥१६३–१६५॥ ये जाति आदि सत्ताईस सूत्रपद परमेष्ठियोके गुण कहलाते है। उस भव्य पुरुषको अपने जाति आदि गुणोसे आदर न करते हुए दीक्षा धारण करना चाहिए। भावार्थ – ये जाति आदि गुण जिस प्रकार परमेष्ठियोमे होते है उसी प्रकार दीक्षा लेनेवाले शिष्यमें भी यथासम्भव रूपसे होते है परन्तु शिष्यको अपने जाति आदि गुणोका सन्मान नही कर परमेष्ठियोके ही जाति आदि गुणोका सन्मान करना चाहिए। क्योकि ऐसा करनेसे वह शिष्य अहकार आदि दुर्गुणोंसे बचकर अपने-आपका उत्थान शीघ्र ही कर सकता है ॥१६६॥ स्वयं उत्तम जातिवाला होने-पर भी अहंकाररहित होकर अरहन्तदेवके चरणोकी सेवा करनी चाहिए क्योकि ऐसा करनेसे वह भव्य दूसरे जन्ममे उत्पन्न होनेपर दिव्या, विजयाश्रिता, परमा और स्वा इन चार जातियोको प्राप्त होता है ॥१६७॥ इन्द्रके दिव्या जाति होती है, चक्रवर्तियोके विजयाश्रिता, अरहन्तदेवके परमा और मोक्षको प्राप्त हुए जीवोके अपने आत्मासे उत्पन्न होनेवाली स्वा-

१ नष्टमासस्याधिकमासस्य दिनयो· । २ असपूर्णतिथौ । ३ सपूर्णमतयः । ४ आम्नायम् (परम्परा)। ५ दीक्षा स्वीकुर्यात् । ६ वृद्धातिक्रमणे तत्परः । ७ पारिव्राज्ये । ८ निश्चितै । ९ प्रत्यक्षम् । १० मूर्त्तिस्थितम् । तत्रत्यं ल० । ११ अभिषवश्च अभिषेको नाथता च स्वामित्व च । १२ आत्मीयेषु । १३ जात्यादिषु । १४ अगर्वित । १५ चरणौ । १६ जन्मान्तरे । १७ उत्पत्तौ सत्याम् । १८ दिव्यजातिर्विजयजाति. परमजाति. स्वात्मोत्थजातिरिति । १९ इन्द्रस्य इयम् ।

मूर्त्यादिष्वपि[1] नेतव्या कल्पनेयं चतुष्टयी। पुराणज्ञैरसंमोहात् क्वचिच्च[2] त्रितयी मता ॥१६९॥
कर्शयेन्मूर्तिमात्मीयां रक्षन्मूर्तीः शरीरिणाम्। तपोऽधितिष्ठेद् दिव्यादिमूर्तीराप्तुमना मुनिः ॥१७०॥
स्वलक्षणमनिर्देश्यं[3] मन्यमानो जिनेशिनाम्। लक्षणान्यभिसंध्याय[4] तपस्येत् कृतलक्षणः[5] ॥१७१॥
म्लापयन्[6] स्वाङ्गसौन्दर्यं मुनिरुग्रं तपश्चरेत्। वाञ्छन्दिव्यादिसौन्दर्यमनिवार्यपरम्परम् ॥१७२॥
मलीमसाङ्गो व्युत्सृष्टस्वकायप्रभवप्रभः। प्रभोः[7] प्रभां मनिध्यायन् भवेत् क्षिप्रं प्रभास्वरः ॥१७३॥
स्वं मणिस्नेह[8]दीपादितेजोऽपास्य जिनं भजन्। तेजोमयमयं योगी स्यात्तेजोवलयोज्ज्वलः ॥१७४॥
त्यक्त्वाऽस्त्र[9]वस्त्र[10]शस्त्राणि[11] प्राक्तनानि प्रशान्तिभाक्। जिनमाराध्य योगीन्द्रो धर्मचक्राधिपो भवेत् ॥१७५॥
त्यक्त्वा स्नानादिसंस्कारः संश्रित्य स्नातकं[12] जिनम्। मूर्ध्नि मेरोरवाप्नोति परं जन्माभिषेचनम् ॥१७६॥
स्वं[13] स्वाम्यमैहिकं त्यक्त्वा परमस्वामिनं जिनम्। सेवित्वा सेवनीयत्वमेष्यत्येष जगज्जनैः ॥१७७॥
स्वोचितासनभेदानां त्यागात्त्यक्ताम्बरो मुनिः। सैंहं विष्टरमध्यास्य तीर्थप्रख्यापको भवेत् ॥१७८॥
[14]स्वोपधानाद्यनादृत्य योऽभून्निरुप[15]धिर्मुनिः। शयानः स्थण्डिले बाहुमात्रार्पितशिरस्तटः ॥१७९॥

जाति होती है ॥१६८॥ इन चारोंकी कल्पना मूर्ति आदिमें कर लेनी चाहिए, अर्थात् जिस प्रकार जातिके दिव्या आदि चार भेद हैं उसी प्रकार मूर्ति आदिके भी समझ लेना चाहिए। परन्तु पुराणोंको जाननेवाले आचार्य मोहरहित होनेसे किसी-किसी जगह तीन ही भेदोंको कल्पना करते हैं। भावार्थ – सिद्धोंमें स्वा मूर्ति नहीं मानते हैं ॥१६९॥ जो मुनि दिव्य आदि मूर्तियोंको प्राप्त करना चाहता है उसे अपना शरीर कृश करना चाहिए तथा अन्य जीवोंके शरीरोंकी रक्षा करते हुए तपश्चरण करना चाहिए ॥१७०॥ इसी प्रकार अनेक लक्षण धारण करनेवाला वह पुरुष अपने लक्षणोंको निर्देश करनेके अयोग्य मानता हुआ जिनेन्द्रदेवके लक्षणोंका चिन्तवन कर तपश्चरण करे ॥१७१॥ जिनकी परम्परा अनिवार्य है ऐसे दिव्य आदि सौन्दर्यों-की इच्छा करता हुआ वह मुनि अपने शरीरके सौन्दर्यको मलिन करता हुआ कठिन तपश्चरण करे ॥१७२॥ जिसका शरीर मलिन हो गया है, जिसने अपने शरीरसे उत्पन्न होनेवाली प्रभा-का त्याग कर दिया है और जो अर्हन्तदेवकी प्रभाका ध्यान करता है ऐसा साधु शीघ्र ही देदीप्य-मान हो जाता है अर्थात् दिव्यप्रभा आदि प्रभाओंको प्राप्त करता है ॥१७३॥ जो मुनि अपने मणि और तेलके दीपक आदिका तेज छोड़कर तेजोमय जिनेन्द्र भगवान्‌की आराधना करता है वह प्रभामण्डलसे उज्ज्वल हो उठता है ॥१७४॥ जो पहलेके अस्त्र, वस्त्र और शस्त्र आदि-को छोड़कर अत्यन्त शान्त होता हुआ जिनेन्द्रभगवान्‌की आराधना करता है वह योगिराज धर्मचक्रका अधिपति होता है ॥१७५॥ जो मुनि स्नान आदिका सस्कार छोड़कर केवली जिनेन्द्रका आश्रय लेता है अर्थात् उनका चिन्तवन करता है वह मेरुपर्वतके मस्तकपर उत्कृष्ट जन्माभिषेकको प्राप्त होता है ॥१७६॥ जो मुनि अपने इस लोक-सम्बन्धी स्वामीपनेको छोडकर परमस्वामी श्रीजिनेन्द्रदेवकी सेवा करता है वह जगत्‌के जीवोंके द्वारा सेवनीय होता है अर्थात् जगत्‌के सब जीव उसकी सेवा करते हैं ॥१७७॥ जो मुनि अपने योग्य अनेक आसनोंके भेदोंका त्याग कर दिगम्बर हो जाता है वह सिंहासनपर आरूढ़ होकर तीर्थको प्रसिद्ध करनेवाला अर्थात् तीर्थंकर होता है ॥१७८॥ जो मुनि अपने तकिया आदिका अनादर कर परिग्रह-

१ दिव्यमूर्तिर्विजयमूर्ति. परममूर्ति स्वात्मोत्थमूर्तिरिति एवमुत्तरत्रापि योजनीयम्। २ सिद्धादौ। ३ नामसंकीर्तनं कर्तुमयोग्यमिति। ४ ध्यात्वा। ५ गुणै. प्रतीत। 'गुणैः प्रतीते तु कृतलक्षणाहितलक्षणौ' इत्यभिधानात्। ६ म्लानि कुर्वन्। ७ जिनस्य। ८ तैलाभ्यञ्जन। ९ दिव्यास्त्र। १० –व्यस्त्रं–ट०। करमुक्त। ११ सामान्यास्त्र। १२ प्रकृष्टज्ञानातिशयम्। १३ स्वामित्वम्। १४ निजोपबर्हासनादि। 'उपधानं तूपबर्हम्' इत्यभिधानात्। १५ नि परिग्रहः।

स महाभ्युदयं प्राप्य जिनो भूत्वाऽऽप्तसत्क्रियः । देवैर्विरचितं दीप्रमास्कन्दत्युपधानकम्[1] ॥१८०॥
त्यक्तशीतातपत्राण[2]सकलात्मपरिच्छदः । त्रिभिश्छत्रैः समुद्भासिरत्नैरध्यासते स्वयम् ॥१८१॥
विविधव्यजन[3]त्यागादनुष्ठिततपोविधिः । चामराणां चतुःषष्ट्या वीज्यते जिनपर्यये[4] ॥१८२॥
उज्झितानकसंगीतघोषः कृत्वा तपोविधिम् । स्याद् [5]द्युदुन्दुभिनिर्घोषैर्घुष्यमाणजयोदयः ॥१८३॥
उद्यानादिकृतां छायामपास्य स्वां तपो व्यधात् । यतोऽयमत एवास्य स्यादशोकमहाद्रुमः ॥१८४॥
स्वं [6]स्वापतेयमुचितं त्यक्त्वा निर्ममतामितः[7] । स्वयं निधिभिरभ्येत्य सेव्यते द्वारि दूरतः ॥१८५॥
गृहशोभां कृतारक्षां दूरीकृत्य तपस्यतः । श्रीमण्डपादिशोभास्य स्वतोऽभ्येति पुरोगताम्[8] ॥१८६॥
तपोऽ[9]वगाहनादस्य गहनान्यधितिष्ठतः । त्रिजगज्जनतास्थानसहं स्यादवगाहनम् ॥१८७॥
क्षेत्रवास्तुसमुत्सर्गात् [10]क्षेत्रज्ञत्वमुपेयुषः । स्वाधीनत्रिजगत्क्षेत्रमैश्वर्यमस्योपजायते ॥१८८॥
आज्ञाभिमानमुत्सृज्य मौनमास्थितवानयम् । प्राप्नोति परमामाज्ञां सुरासुरशिरोधृताम् ॥१८९॥
स्वामिष्टभृत्यबन्ध्वादिसभां त्यक्तवानयम् । परमाप्तपदप्राप्तावध्यास्ते त्रिजगत्सभाम् ॥१९०॥

रहित हो जाता है और केवल अपनी भुजापर शिरका किनारा रखकर पृथिवीके ऊँचे-नीचे प्रदेशपर शयन करता है वह महाअभ्युदय (स्वर्गादिकी विभूति) को पाकर जिन हो जाता है, उस समय सब लोग उसका आदर-सत्कार करते है और वह देवोके द्वारा बने हुए देदीप्यमान तकियाको प्राप्त होता है ॥१७९–१८०॥ जो मुनि शीतल छत्र आदि अपने समस्त परिग्रहका त्याग कर देता है वह स्वय देदीप्यमान रत्नोसे युक्त तीन छत्रोसे सुशोभित होता है ॥१८१॥ अनेक प्रकारके पंखाओके त्यागसे जिसने तपश्चरणकी विधिका पालन किया है ऐसा मुनि जिनेन्द्रपर्यायमे चौसठ चमरोसे वीजित होता है अर्थात् उसपर चौसठ चमर ढुलाये जाते है ॥१८२॥ जो मुनि नगाड़े तथा सगीत आदिकी घोषणाका त्याग कर तपश्चरण करता है उसके विजयका उदय स्वर्गके दुन्दुभियोके गम्भीर शब्दोसे घोषित किया जाता है ॥१८३॥ चूँकि पहले उसने अपने उद्यान आदिके द्वारा की हुई छायाका परित्याग कर तपश्चरण किया था इसलिए ही अब उसे (अरहन्त अवस्थामे) महाअशोक वृक्षकी प्राप्ति होती है ॥१८४॥ जो अपना योग्य धन छोड़कर निर्ममत्वभावको प्राप्त होता है वह स्वयं आकर दूर दरवाजेपर खडी हुई निधियोसे सेवित होता है अर्थात् समवसरण भूमिमें निधियाँ दरवाजेपर खडे रहकर उसकी सेवा करती है ॥१८५॥ जिसकी रक्षा सब ओरसे की गयी थी ऐसी घरकी शोभाको छोड़कर इसने तपश्चरण किया था इसीलिए श्रीमण्डपकी शोभा अपने-आप इसके सामने आती है ॥१८६॥ जो तप करनेके लिए सघन वनमे निवास करता है उसे तीनो जगत्के जीवोके लिए स्थान दे सकनेवाली अवगाहन शक्ति प्राप्त हो जाती है अर्थात् उसका ऐसा समवसरण रचा जाता है जिसमे तीनो लोकोके समस्त जीव सुखसे स्थान पा सकते है ॥१८७॥ जो क्षेत्र मकान आदिका परित्याग कर शुद्ध आत्माको प्राप्त होता है उसे तीनो जगत्के क्षेत्रको अपने अधीन रखनेवाला ऐश्वर्य प्राप्त होता है ॥१८८॥ जो मुनि आज्ञा देनेका अभिमान छोड़कर मौन धारण करता है उसे सुर और असुरोके द्वारा शिरपर धारण की हुई उत्कृष्ट आज्ञा प्राप्त होती है अर्थात् उसकी आज्ञा सब जीव मानते है ॥१८९॥ जो यह मुनि अपने इष्ट सेवक तथा भाई आदिकी सभाका परित्याग करता है इसलिए उत्कृष्ट अरहन्त पदकी प्राप्ति होनेपर

---

१ उपबर्हम् । २ छत्र । ३ चामर । ४ अर्हत्पर्याये सति । ५ स्वदुन्दुभि । ६ धनम् । 'द्रव्यं वृत्तं स्वापतेय रिक्थं दृक्थ धन वसु' इत्यभिधानात् । ७ निर्गमत्वं गत । ८ अग्रेसरताम् । ९ प्रवेशनात् । १० आत्मस्वरूपत्वम् । 'क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुष.' इत्यभिधानात् ।

स्वगुणोत्कीर्तनं त्यक्त्वा त्यक्तकामो महातपाः । स्तुतिनिन्दासमो भूयः कीर्त्यते भुवनेश्वरैः ॥१९१॥
वन्दित्वा वन्द्यमर्हन्तं [1]यतोऽनुष्ठितवांस्तपः । ततोऽयं वन्द्यते वन्द्यैर्[2] निन्द्यगुणगंनिधिः ॥१९२॥
तपोऽयमनुपानत्कः[3] पादचारी विवाहनः । कृतवान् पद्मगर्भेषु चरणन्यासमर्हति[4] ॥१९३॥
वाग्गुप्तो हितवाग्वृत्त्या यतोऽयं तपसि स्थितः । ततोऽस्य दिव्यभाषा स्यात् प्रीणयन्त्यखिलां सभाम् ॥
[5]अनाश्वान्नियताहारपारणोऽतप्[6]स्[7] यत्तपः । तदस्य दिव्यविजय[8]परमामृततृप्तयः ॥१९५॥
त्यक्तकामसुखो भूत्वा तपस्यस्थाच्चिरं यतः । ततोऽयं सुखसाद्भूत्वा परमानन्दथुं[9] भजेत् ॥१९६॥
किमत्र बहुनोक्तेन यद्यदिष्टं यथाविधम् । त्यजेन्मुनिरसंकल्पः तत्तत्सूतेऽस्य तत्तपः[10] ॥१९७॥
प्राप्तोत्कर्षं तदस्य स्यात्तपश्चिन्तामणेः फलम् । यतोऽर्हज्जातिमूर्त्यादिप्राप्तिः सैषाऽनुवर्णिता ॥१९८॥
जैनेश्वरी परामाज्ञां सूत्रोद्दिष्टां प्रमाणयन् । तपस्यां यदुपाधत्ते पारिव्राज्यं तदाञ्जसम्[11] ॥१९९॥
अन्यच्च बहुवाग्जाले निबद्धं युक्तिबाधितम् । पारिव्राज्यं परित्यज्य ग्राह्यं[12] चेदमनुत्तरम्[13] ॥२००॥

इति पारिव्राज्यम् ।

वह तीनों लोकोंकी सभा अर्थात् समवसरण भूमिमें विराजमान होता है ॥१९०॥ जो सब प्रकारकी इच्छाओंका परित्याग कर अपने गुणोकी प्रशसा करना छोड देता है और महातपश्चरण करता हुआ स्तुति तथा निन्दामें समान भाव रखता है वह तीनो लोकोके इन्द्रोके द्वारा प्रशसित होता है अर्थात् सब लोग उसकी स्तुति करते है ॥१९१॥ इस मुनिने वन्दना करने योग्य अर्हन्त-देवकी वन्दना कर तपश्चरण किया था इसीलिए यह वन्दना करने योग्य पूज्य पुरुषोके द्वारा वन्दना किया जाता है तथा प्रशसनीय उत्तम गुणोका भाण्डार हुआ है ॥१९२॥ जो जूता और सवारीका परित्याग कर पैदल चलता हुआ तपश्चरण करता है वह कमलोके मध्यमे चरण रखनेके योग्य होता है अर्थात् अर्हन्त अवस्थामें देव लोग उसके चरणोके नीचे कमलोकी रचना करते है ॥१९३॥ चूँकि यह मुनि वचनगुप्तिको धारण कर अथवा हित मित वचनरूप भाषासमितिका पालन कर तपश्चरणमें स्थित हुआ था इसलिए ही इसे समस्त सभाको सन्तुष्ट करनेवाली दिव्य ध्वनि प्राप्त हुई है ॥१९४॥ इस मुनिने पहले उपवास धारण कर अथवा नियमित आहार और पारणाएँ कर तप तपा था इसलिए ही इसे दिव्यतृप्ति, विजय-तृप्ति, परमतृप्ति और अमृततृप्ति ये चारो ही तृप्तियाँ प्राप्त हुई हैं ॥१९५॥ यह मुनि काम जनित सुखको छोडकर चिरकाल तक तपश्चरणमें स्थिर रहा था इसलिए ही यह सुखस्वरूप होकर परमानन्दको प्राप्त हुआ है ॥१९६॥ इस विषयमे बहुत कहनेसे क्या लाभ है ? सक्षेपमे इतना ही कह देना ठीक है कि मुनि संकल्परहित होकर जिस प्रकारकी जिस-जिस वस्तुका परित्याग करता है उसका तपश्चरण उसके लिए वही-वही वस्तु उत्पन्न कर देता है ॥१९७॥ जिस तपश्चरणरूपी चिन्तामणिका फल उत्कृष्ट पदकी प्राप्ति आदि मिलता है और जिससे अर्हन्तदेवकी जाति तथा मूर्ति आदिकी प्राप्ति होती है ऐसी इस पारिव्रज्य नामकी क्रियाका वर्णन किया ॥१९८॥ जो आगममे कही हुई जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाको प्रमाण मानता हुआ तपस्या धारण करता है अर्थात् दीक्षा ग्रहण करता है उसीके वास्तविक पारिव्रज्य होता है ॥१९९॥ अनेक प्रकारके वचनोके जालमे निबद्ध तथा युक्तिसे बाधित अन्य लोगोके पारिव्रज्य

---

१ यस्मात् कारणात् । २ गणधरादिभि । ३ पादत्राणरहित । ४ पादन्यासस्य योग्यो भवति । ५ अनशनव्रती । ६ अकरोत् । ७ यत् कारणात् । ८ दिव्यतृप्तिविजयतृप्तिपरमतृप्त्यमृततृप्तय । ९ आनन्दम् । १० प्रसिद्धं तपः । ११ पारमार्थिकम् । १२ अर्हत्सर्वविधि पारिव्राज्यम् । १३ –मनुत्तमम् ल० ।

या सुरेन्द्रपदप्राप्तिः पारिव्राज्यफलोदयात्[1] । सैषा सुरेन्द्रता नाम क्रिया प्रागनुवर्णिता ॥२०१॥

इति सुरेन्द्रता ।

साम्राज्यमाधिराज्यं स्याच्चक्ररत्नपुरःसरम् । निधिरत्नसमुद्भूतं भोगसंपत्परम्परम् ॥२०२॥

इति साम्राज्यम् ।

आर्हन्त्यमर्हतो भावो कर्म वेति परा क्रिया । यत्र स्वर्गावतारादिमहाकल्याणसंपदः ॥२०३॥
याऽर्न्तः दिवोऽवतीर्णस्य प्राप्तिः कल्याणसंपदाम् । तदार्हन्त्यमिति ज्ञेयं त्रैलोक्यक्षोभकारणम् ॥२०४॥

इत्यार्हन्त्यम् ।

भवबन्धनमुक्तस्य यावस्था परमात्मनः । परिनिर्वृत्तिरिष्टा सा परं निर्वाणमित्यपि ॥२०५॥
कृत्स्नकर्ममलापायात् संशुद्धिर्याऽन्तरात्मनः । सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः सा नाभावो[2] न गुणोच्छिदा[3] ॥

इति निर्वृतिः ।

इत्यागमानुसारेण प्रोक्ताः कर्त्रन्वयक्रियाः । सप्तैताः परमस्थानसंगतिर्यत्र योगिनाम् ॥२०७॥
योऽनुतिष्ठत्यतन्द्रालुः क्रिया ह्येतास्त्रिधोदिताः । सोऽधिगच्छेत् परं धाम यत्संप्राप्तौ परं शिवम्[4] ॥२०८॥

पुष्पिताग्रावृत्तम्

जिनमतविहितं पुराणधर्मं य इममनुस्मरति क्रियानिबद्धम् ।
अनुचरति च पुण्यधीः स भव्यो भवभयबन्धनमाशु निर्धुनाति ॥२०९॥

को छोड़कर इसी सर्वोत्कृष्ट पारिव्रज्यको ग्रहण करना चाहिए ॥२००॥ यह तीसरी पारिव्रज्य क्रिया है ।

पारिव्रज्यके फलका उदय होनेसे जो सुरेन्द्र पदकी प्राप्ति होती है वही यह सुरेन्द्रता नामकी क्रिया है इसका वर्णन पहले किया जा चुका है ॥२०१॥ यह चौथी सुरेन्द्रता क्रिया है ।

जिसमे चक्ररत्नके साथ-साथ निधियो और रत्नोसे उत्पन्न हुए भोगोपभोगरूपी सम्पदाओं-की परम्परा प्राप्त होती है ऐसा चक्रवर्तीका बड़ा भारी राज्य साम्राज्य कहलाता है ॥२०२॥ यह पाँचवी साम्राज्यक्रिया है ।

अर्हत् परमेष्ठीका भाव अथवा कर्मरूप जो उत्कृष्ट क्रिया है उसे आर्हन्त्य क्रिया कहते है । इस क्रियामें स्वर्गावतार आदि महाकल्याणकरूप सम्पदाओकी प्राप्ति होती है ॥२०३॥ स्वर्गसे अवतीर्ण हुए अर्हन्त परमेष्ठीको जो पचकल्याणकरूप सम्पदाओंकी प्राप्ति होती है उसे आर्हन्त्य क्रिया जानना चाहिए, यह आर्हन्त्यक्रिया तीनो लोकोमे क्षोभ उत्पन्न करनेवाली है ॥२०४॥ यह छठी आर्हन्त्यक्रिया है ।

संसारके बन्धनसे मुक्त हुए परमात्माकी जो अवस्था होती है उसे परिनिर्वृति कहते है । इसका दूसरा नाम परनिर्वाण भी है ॥२०५॥ समस्त कर्मरूपी मलके नष्ट हो जानेसे जो अन्त-रात्माकी शुद्धि होती है उसे सिद्धि कहते है, यह सिद्धि अपने आत्मतत्त्वकी प्राप्तिरूप है अभाव-रूप नही है और न ज्ञान आदि गुणोंके नाशरूप ही है ॥२०६॥ यह सातवी परिनिर्वृति क्रिया है ।

इस प्रकार आगमके अनुसार ये सात कर्त्रन्वय क्रियाएँ कही गयी है, इन क्रियाओका पालन करनेसे योगियोको परम स्थानकी प्राप्ति होती है ॥२०७॥ जो भव्य आलस्य छोडकर निरूपण की हुई इन तीन प्रकारकी क्रियाओका अनुष्ठान करता है वह उस परमधाम (मोक्ष) को प्राप्त होता है जिसके प्राप्त होनेपर उसे उत्कृष्ट सुख मिल जाता है ॥२०८॥ पवित्र बुद्धिको धारण करने

---

१ फलोदये प० । २ तुच्छाभावरूपो न । ३ 'बुद्धिसुखदुःखादिनवानामात्मगुणानामत्यन्तोच्छित्तिर्मोक्ष' इति मतप्रोक्तो मोक्षो न । ४ सुखम् ।

परमजिनपदानुरक्तधी-
भजति पुमान् य इमं क्रियाविधिम् ।
स धुतनिखिलकर्मबन्धनो
जननजरामरणान्तकृद्[1] भवेत् ॥२१०॥

शार्दूलविक्रीडितम्

भव्यात्मा समवाप्य जातिमुचितां जातस्ततः सद्गृही
पारिव्राज्यमनुत्तरं गुरुमतादासाद्य यातो दिवम् ।
तत्रैन्द्रीं श्रियमाप्तवान् पुनरतश्च्युत्वा[2] गतश्चक्रितां
प्राप्तार्हन्त्यपदः समग्रमहिमा प्राप्नोत्यतो निर्वृतिम् ॥२११॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे दीक्षाकर्त्रन्वयक्रियावर्णनं नाम एकोनचत्वारिंशत्तमं पर्व ॥३९॥

वाला जो भव्य पुरुष उक्त क्रियाओसहित जिनमतमे कहे हुए इस पुराणके धर्मका अथवा प्राचीन धर्मका स्मरण करता है और उसीके अनुसार आचरण करता है वह ससारसम्बन्धी भयके बन्धनोको शीघ्र ही तोड देता है–नष्ट कर देता है ॥२०९॥ जिसकी बुद्धि अत्यन्त उत्कृष्ट जिनेन्द्रभगवान्‌के चरणकमलोमे अनुरागको प्राप्त हो रही है ऐसा जो पुरुष इन क्रियाओकी विधिका सेवन करता है वह समस्त कर्मबन्धनको नष्ट करता हुआ जन्म, बुढापा और मरणका अन्त करनेवाला होता है ॥२१०॥ यह भव्य पुरुष प्रथम ही योग्य जातिको पाकर सद्गृहस्थ होता है फिर गुरुकी आज्ञासे उत्कृष्ट पारिव्रज्यको प्राप्त कर स्वर्ग जाता है, वहाँ उसे इन्द्रकी लक्ष्मी प्राप्त होती है, तदनन्तर वहाँसे च्युत होकर चक्रवर्ती पदको प्राप्त होता है, फिर अरहन्त पदको प्राप्त होकर उत्कृष्ट महिमाका धारक होता है और इसके बाद निर्वाणको प्राप्त होता है ॥२११॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहके भाषानुवादमे दीक्षान्वय और कर्त्रन्वय क्रियाओका वर्णन करनेवाला उनतालीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ।

---

१ विनाशकारी । २ स्वर्गात् ।

चत्वारिंशत्तमं पर्व

अथातः संप्रवक्ष्यामि क्रियासूत्तरचूलिकाम्[1] । विशेषनिर्णयो यत्र क्रियाणां[2] तिसृणामपि ॥१॥
तत्रादौ तावदुन्नेष्ये[3] क्रियाकल्पप्रक्लृप्तये[4] । मन्त्रोद्धारं क्रियासिद्धिर्मन्त्राधीना हि योगिनाम् ॥२॥
आधानादि क्रियारम्भे पूर्वमेव निवेशयेत् । त्रीणिच्छत्राणि चक्राणां त्रयं त्रींश्च हविर्भुजः[5] ॥३॥
[6]मध्येवेदि जिनेन्द्रार्चां स्थापयेच्च यथाविधि । मन्त्रकल्पोऽयमाम्नातस्तत्र[7] तत्पूजनाविधौ[8] ॥४॥
नमोऽन्तो नीरजश्शब्दश्चतुर्थ्यन्तोऽत्र पठ्यताम् । जलेन भूमिबन्धार्थं[9] परा शुद्धिस्तु तत्फलम्[10] ॥५॥
(नीरजसे नमः)

दर्भास्तरणसंबन्धस्ततः पश्चादुदीर्यताम् । विघ्नोपशान्तये दर्पमथनाय नमः पदम् ॥६॥
(दर्पमथनाय नमः)

गन्धप्रदानमन्त्रश्च शीलगन्धाय वै नमः । (शीलगन्धाय नमः)
पुष्पप्रदानमन्त्रोऽपि विमलाय नमः पदम् ॥७॥ (विमलाय नमः)

अथानन्तर–आगे इन क्रियाओंकी उत्तरचूलिकाका कथन करेंगे जिससे कि इन तीनो क्रियाओंका विशेष निर्णय किया गया है ॥१॥ इस उत्तरचूलिकामे भी सबसे पहले क्रियाकल्प अर्थात् क्रियाओंके समूहकी सिद्धिके लिए मन्त्रोका उद्धार करूँगा अर्थात् मन्त्रोंकी रचना आदि-का निरूपण करूँगा सो ठीक ही है क्योकि मुनियोंके कार्यकी सिद्धि भी मन्त्रोके ही अधीन होती है ॥२॥ आधानादि क्रियाओंके प्रारम्भमे सबसे पहले तीन छत्र, तीन चक्र और तीन अग्नियाँ स्थापित करना चाहिए ॥३॥ और वेदीके मध्य भागमें विधिपूर्वक जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमा विराज-मान करनी चाहिए। उक्त क्रियाओके प्रारम्भमें उन छत्र, चक्र, अग्नि तथा जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाकी जो पूजा की जाती है वह मन्त्रकल्प कहलाता है ॥४॥ इन क्रियाओके करते समय जलसे भूमि शुद्ध करनेके लिए जिसके अन्तमे नम. शब्द लगा हुआ है ऐसे नीरजस् शब्दको चतुर्थीके एकवचनका रूप पढना चाहिए अर्थात् 'नीरजसे नम.' (कर्मरूप धूलिसे रहित जिनेन्द्र भगवान्को नमस्कार हो) यह मन्त्र बोलना चाहिए। इस मन्त्रका फल उत्कृष्ट विशुद्धि होना है ॥५॥ तदनन्तर डाभका आसन ग्रहण करना चाहिए और उसके बाद विघ्नोको शान्त करने के लिए 'दर्पमथनाय नम.' (अहकारको नष्ट करनेवाले भगवान्को नमस्कार हो) इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए ॥६॥ गन्ध समर्पण करनेका मन्त्र है 'शीलगन्धाय नमः' (शील रूप सुगन्ध धारण करनेवाले जिनेन्द्रदेवको नमस्कार हो)। तथा पुष्प देनेका मन्त्र है 'विमलाय

---

१ उपरितनाग यत् चूलिकायाम् । २ गर्भान्वयादीनाम् । ३ वक्ष्ये । ४ क्रियाकलापकरणार्थम् । ५ अग्नीन् । ६ वेदिमध्ये । ७ गर्भाधानादिक्रियारम्भे । ८ छत्रत्रयादिपूजन । ९ भूमिसयोगार्थं भूमिसेचनार्थमित्यर्थः । १० जलसेचनफलम् ।

कुर्यादक्षतपूजार्थमक्षताय नमः पदम् । (अक्षताय नमः)
धूपार्चे[1] श्रुतधूपाय नमः पदमुदाहरेत् ॥८॥ (श्रुतधूपाय नमः)
ज्ञानोद्योताय पूर्वं च दीपदाने नमः पदम् । (ज्ञानोद्योताय नमः)
मन्त्रः परमसिद्धाय नमः इत्यमृतोद्धृतौ[2] ॥९॥ (परमसिद्धाय नमः)
मन्त्रैरेभिस्तु संस्कृत्य यथावज्जगतीतलम् । ततोऽन्वक्[3] पीठिकामन्त्रः पठनीयो द्विजोत्तमैः ॥१०॥
पीठिकामन्त्रः —
सत्यजातपदं पूर्वं चतुर्थ्यन्तं नमः परम् । ततोऽर्हज्जातशब्दश्च[4] तदन्तस्तत्परो[5] मतः ॥११॥
ततः परमजाताय नम इत्यपरं पदम् । ततोऽनुपमजाताय नम इत्युत्तरं पदम् ॥१२॥
ततश्च स्वप्रधानाय नम इत्युत्तरो ध्वनिः[6] । अचलाय नमः शब्दादक्षयाय नमः परम् ॥१३॥
अव्याबाधपदं चान्यदनन्तज्ञानशब्दनम् । अनन्तदर्शनानन्तवीर्यशब्दौ ततः पृथक् ॥१४॥
अनन्तसुखशब्दश्च नीरजःशब्द एव च । निर्मलाच्छेद्यशब्दौ च तथाऽभेद्याजरश्रुती ॥१५॥

नम.' (कर्ममलसे रहित जिनेन्द्रभगवान्के लिए नमस्कार हो) ॥७॥ अक्षतसे पूजा करनेके लिए 'अक्षताय नम.' (क्षयरहित जिनेन्द्रभगवान्को नमस्कार हो) यह मन्त्र वोले और धूपसे पूजा करते समय 'श्रुतधूपाय नम ' (प्रसिद्ध वासनावाले भगवान्को नमस्कार हो) इस मन्त्र-का उच्चारण करे ॥८॥ दीप चढाते समय 'ज्ञानोद्योताय नम.' (ज्ञानरूप उद्योत—प्रकाश) को धारण करनेवाले जिनेन्द्रभगवान्को नमस्कार हो) यह मन्त्र पढे और अमृत अर्थात् नैवेद्य चढाते समय 'परमसिद्धाय नमः' (उत्कृष्ट सिद्धभगवान्को नमस्कार हो) ऐसा मन्त्र वोले ॥९॥ इस प्रकार इन मन्त्रोसे विधिपूर्वक भूमिका सस्कार कर उसके वाद उन उत्तम द्विजोको पीठिका मन्त्र पढना चाहिए ॥१०॥ पीठिका मन्त्र इस प्रकार है — सवसे पहले, जिसके आगे 'नम.' शव्द लगा हुआ है और चतुर्थी विभक्ति अन्तमे है ऐसे सत्यजात शव्दका उच्चारण करना चाहिए अर्थात् 'सत्यजाताय नम.' (सत्यरूप जन्मको धारण करनेवाले जिनेन्द्रभगवान्को नमस्कार हो) वोलना चाहिए, उसके वाद चतुर्थ्यन्त अर्हज्जात शव्दके आगे 'नम·' पद लगा-कर 'अर्हज्जाताय नम.' (प्रगसनीय जन्मको धारण करनेवाले जिनेन्द्रभगवान्को नमस्कार हो) यह मन्त्र वोले ॥११॥ तदनन्तर 'परमजाताय नम ' (उत्कृष्ट जन्मग्रहण करनेवाले अर्हन्तदेवको नमस्कार हो) वोलना चाहिए और उसके वाद 'अनुपमजाताय नमः' (उपमा-रहित जन्म धारण करनेवाले जिनेन्द्रको नमस्कार हो) यह मन्त्र पढना चाहिए ॥१२॥ इसके वाद 'स्वप्रधानाय नम.' (अपने-आप ही प्रधान अवस्थाको प्राप्त होनेवाले जिनराजको नमस्कार हो) यह मन्त्र वोले और उसके पश्चात् 'अचलाय नम ' (स्वरूपमे निश्चल रहनेवाले वीतराग-को नमस्कार हो) तथा 'अक्षयाय नमः' (कभी नष्ट न होनेवाले भगवान्को नमस्कार हो) यह मन्त्र पढना चाहिए ॥१३॥ इसी प्रकार 'अव्यावाधाय नम ' (वाधाओसे रहित परमेश्वर-को नमस्कार हो), 'अनन्तज्ञानाय नमः' (अनन्तज्ञानको धारण करनेवाले जिनराजको नमस्कार हो), 'अनन्तदर्शनाय नम.' (अनन्तदर्शन—केवल दर्शनको धारण करनेवाले जिनेन्द्र-देवको नमस्कार हो), 'अनन्तवीर्याय नम ' (अनन्त वलके धारक अर्हन्तदेवको नमस्कार हो) 'अनन्तसुखाय नमः ' (अनन्तसुखके भाण्डार जिनेन्द्रभगवान्को नमस्कार हो), 'नीरजसे

१ धूपार्चने । २ चरुसमर्पणे । ३ तस्मात् परम् । ४ चतुर्थ्यन्त. । ५ नम पर । ६ शब्द ।

ततोऽमराप्रमेयोक्ती[1] सागर्भावासशब्दने[2] । ततोऽक्षोभ्याविलीनोक्ती परमादिर्घनध्वनिः[3] ॥१६॥
पृथक्पृथगिमे[4] शब्दास्तदन्तास्तत्परा[5] मताः[6] । उत्तराण्यनुसंधाय पदान्येभिः पदैर्वदेत् ॥१७॥
आदौ परमकाष्ठेति योगरूपाय वाक्परम् । नमःशब्दमुदीर्यान्ते मन्त्रविन्मन्त्रमुद्धरेत् ॥१८॥
लोकाग्रवासिनेशब्दात्परः कार्यो नमो नमः । एवं परमसिद्धेभ्योऽर्हत्सिद्धेभ्य इत्यपि ॥१९॥
एवं केवलिसिद्धेभ्यः पश्चाद् भूयोऽन्तकृत्पदात् । सिद्धेभ्य इत्यमुष्माच्च परम्परपदादपि[7] ॥२०॥
अनादिपदपूर्वाच्च तस्मादेव[8] पदात्परम् । अनाद्यनुपमादिभ्यः सिद्धेभ्यश्च नमो नमः ॥२१॥

नम ' (कर्मरूपी धूलिसे रहित जिनराजको नमस्कार हो), 'निर्मलाय नम.' (कर्मरूप मलसे रहित जिनेन्द्रभगवान्को नमस्कार हो) 'अच्छेद्याय नम ' (जिनका कोई छेदन नही कर सके ऐसे जिनेन्द्रदेवको नमस्कार हो), 'अभेद्याय नम ' (जो किसी तरह भिद नहीं सके ऐसे अरहन्तको नमस्कार हो), 'अजराय नम.' (जो बुढापासे रहित है उसे नमस्कार हो), 'अमराय नम.' (जो मरणसे रहित है उसे नमस्कार हो), 'अप्रमेयाय नम ' (जो प्रमाणसे रहित है–छद्मस्थ पुरुषके ज्ञानसे अगम्य है, उसे नमस्कार हो), 'अगर्भवासाय नम ' (जो जन्म-मरणसे रहित होनेके कारण किसीके गर्भमे निवास नही करते ऐसे जिनराजको नमस्कार हो), अक्षोभ्याय नम.' (जिन्हे कोई क्षोभ उत्पन्न नही कर सकता ऐसे भगवान्को नमस्कार हो), 'अविलीनाय नम ' (जो कभी विलीन–नष्ट नही होते उन परमात्माको नमस्कार हो) और 'परमघनाय नम ' (जो उत्कृष्ट घनरूप है–उन्हे नमस्कार हो) इन अव्याबाध आदि शब्दोके आगे चतुर्थी-विभक्ति तथा नम शब्द लगाकर ऊपर लिखे अनुसार अव्याबाधाय नमः आदि मन्त्र पदोंका उच्चारण करना चाहिए ॥१४–१७॥ तदनन्तर मन्त्रको जाननेवाला द्विज जिसके आदिमे 'परमकाष्ठ' है और अन्तमे योगरूपाय है ऐसे शब्दका उच्चारण कर उसके आगे 'नमः' पद लगाता हुआ 'परमकाष्ठयोगाय नम ' (जिनका योग उत्कृष्ट सीमाको प्राप्त हो रहा है ऐसे जिनेन्द्रको नमस्कार हो) इस मन्त्रका उद्धार करे ॥१८॥ फिर लोकाग्रवासिने शब्दके आगे 'नमो नम.' लगाना चाहिए इसी प्रकार परम सिद्धेभ्य और अर्हत्सिद्धेभ्यः शब्दोंके आगे भी नमो नम. शब्दका प्रयोग करना चाहिए अर्थात् क्रमसे 'लोकाग्रवासिने नमो नम ' (लोकके अग्रभाग-पर निवास करनेवाले सिद्ध परमेष्ठीको वार-बार नमस्कार हो) 'परमसिद्धेभ्यो नमो नमः' (परम सिद्धभगवान्को बार-बार नमस्कार हो) और 'अर्हत्सिद्धेभ्यो नमो नमः' (जिन्होने अरहन्त अवस्थाके बाद सिद्ध अवस्था प्राप्त की है ऐसे सिद्ध महाराजको बार-बार नमस्कार हो) इन मन्त्रोका उच्चारण करना चाहिए ॥१९॥ इसी प्रकार 'केवलिसिद्धेभ्यो नमो नमः' (केवली सिद्धोको नमस्कार हो) 'अन्त कृत्सिद्धेभ्यो नमो नम.' (अन्तकृत् केवली होकर सिद्ध होनेवालोको नमस्कार हो), 'परम्परसिद्धेभ्यो नम ' (परम्परासे हुए सिद्धोको नमस्कार हो) 'अनादिपरम्परसिद्धेभ्यो नम ' (अनादि कालसे हुए परम सिद्धोको नमस्कार हो,) और 'अनाद्यनुपमसिद्धेभ्यो नमो नम.' (अनादिकालसे हुए उपमारहित सिद्धोको नमस्कार हो) इन मन्त्र पदोका उच्चारण कर नीचे लिखे पद पढना चाहिए । इन नीचे लिखे शब्दोको सम्बोधनरूपसे दो-दो वार बोलना चाहिए । प्रथम ही हे सम्यग्दृष्टे हे सम्यग्दृष्टे, हे आसन्नभव्य

---

१ अमराप्रमेयशब्दौ । २ सागर्भावासशब्दसहिते । ३ परमघनशब्द. । ४ अव्याबाधपदमित्यादय. । ५ चतुर्थ्यन्ताः । ६ नम शब्दपरा. । ७ परम्परशब्दात् । ८ सिद्धेभ्य इति पदात् ।

इति मन्त्रपदान्युक्त्वा पदानीमान्यतः पठेत् । द्विरुक्त्वाऽऽमन्त्र्य[1] वक्तव्यं सम्यग्दृष्टिपदं ततः ॥२२॥
आसन्नभव्यशब्दश्च द्विर्वाच्यस्तद्वदेव[2] हि । निर्वाणादिश्च पूजार्हः स्वाहान्तोऽग्नीन्द्र इत्यपि ॥२३॥

काम्यमन्त्रः

ततः स्वकाम्यसिद्ध्यर्थमिदं[3] पदमुदाहरेत् । सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु तत्परम्[4] ॥२४॥
अपमृत्युविनाशनं भवत्वन्तं[5] पदं भवेत्[6] । भवत्वन्तमतो वाच्यं समाधिमरणाक्षरम्[7] ॥२५॥

चूर्णिः 'सत्यजाताय नमः, अर्हज्जाताय नमः, परमजाताय नमः, अनुपमजाताय नमः, स्वप्रधानाय नमः, अचलाय नमः, अक्षयाय नमः, अव्याबाधाय नमः, अनन्तज्ञानाय नमः, अनन्तदर्शनाय नमः, अनन्तवीर्याय नमः, अनन्तसुखाय नमः, नीरजसे नमः, निर्मलाय नमः, अच्छेद्याय नमः, अभेद्याय नमः, अजराय नमः, अमराय नमः, अप्रमेयाय नमः, अगर्भवासाय नमः, अक्षोभ्याय नमः, अविलीनाय नमः परमघनाय नमः, परमकाष्ठयोगरूपाय नमः, लोकाग्रवासिने नमो नमः, परमसिद्धेभ्यो नमो नमः, अर्हत्सिद्धेभ्यो नमो नमः, केवलिसिद्धेभ्यो नमो नमः, अन्तकृत्सिद्धेभ्यो नमो नमः, परम्परसिद्धेभ्यो नमः, अनादिपरम्परसिद्धेभ्यो नमो नमः, अनाद्यनुपमसिद्धेभ्यो नमो नमः, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे आसन्नभव्य आसन्नभव्य निर्वाणपूजार्ह निर्वाणपूजार्ह अग्नीन्द्र स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु ।

पीठिकामन्त्र एष स्यात् पदैरेभिः समुच्चितैः । जातिमन्त्रमितो वक्ष्ये यथाश्रुतमनुक्रमात्[8] ॥२६॥
सत्यजन्मपदं तान्तमादौ[9] शरणमग्यतः । प्रपद्यामीति वाच्यं स्यादर्हज्जन्मपदं तथा ॥२७॥

हे आसन्नभव्य, हे निर्वाणपूजार्ह, हे निर्वाणपूजार्ह, और फिर अग्नीन्द्र स्वाहा इस प्रकार उच्चारण करना चाहिए (इन सबका अर्थ यह है कि हे सम्यग्दृष्टि, हे निकटभव्य, हे निर्वाण कल्याणकी पूजा करने योग्य, अग्निकुमार देवोके इन्द्र, तेरे लिए यह हवि समर्पित करता हूँ) ॥२०–२३॥ (अब इसके आगे काम्य मन्त्र लिखते है) । तदनन्तर अपनी इष्ट-सिद्धिके लिए नीचे लिखे पदका उच्चारण करना चाहिए 'सेवाफल षट्परमस्थान भवतु, अपमृत्युविनाशन भवतु, समाधिमरणं भवतु' अर्थात् मुझे सेवाके फलस्वरूप छह परम स्थानोकी प्राप्ति हो, अपमृत्युका नाश हो और समाधिमरण प्राप्त हो ॥२४–२५॥ ऊपर कहे हुए सब मन्त्रोका सग्रह इस प्रकार है :

सत्यजाताय नम, अर्हज्जाताय नम, परमजाताय नम., अनुपमजाताय नम, स्वप्रधानाय नम', अचलाय नम, अक्षयाय नम., अव्याबाधाय नम, अनन्तज्ञानाय नम, अनन्तदर्शनाय नम', अनन्तवीर्याय नम., अनन्तसुखाय नम., नीरजसे नम, निर्मलाय नम, अच्छेद्याय नम', अभेद्याय नम, अजराय नमः, अमराय नम', अप्रमेयाय नमः, अगर्भवासाय नम, अक्षोभ्याय नम', अविलीनाय नम, परमघनाय नम, परमकाष्ठायोगरूपाय नम, लोकाग्रवासिने नमो नमः, परमसिद्धेभ्यो नमो नम, अर्हत्सिद्धेभ्यो नमो नम, केवलिसिद्धेभ्यो नमो नम, अन्तकृत्सिद्धेभ्यो नमो नम, परम्परसिद्धेभ्यो नमो नम, अनादिपरम्परसिद्धेभ्यो नमो नम, अनाद्यनुपमसिद्धेभ्यो नमो नम', सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे आसन्नभव्य आसन्नभव्य निर्वाणपूजार्ह निर्वाणपूजार्ह अग्नीन्द्र स्वाहा, सेवाफल षट्परमस्थान भवतु, अपमृत्यु विनाशन भवतु, समाधिमरण भवतु ।

इस प्रकार इन समस्त पदोके द्वारा यह पीठिका मन्त्र कहा, अब इसके आगे शास्त्रोके अनुसार अनुक्रमसे जातिमन्त्र कहते है ॥२६॥ तान्त अर्थात् षष्ठीविभक्त्यन्त सत्यजन्म पदके आगे शरण और उसके आगे प्रपद्यामि शब्द कहना अर्थात् 'सत्यजन्मन' शरणं प्रपद्यामि' (मै

१ सबोधन कृत्वा । २ आमन्त्रण कृत्वेत्यर्थ । ३ अभीष्टम् । ४ तस्मादुपरि । ५ भवत्विशब्दोऽन्ते यस्य तत् । ६ पठेत् द०, ल०, अ०, प०, स०, इ० । ७ समाधिमरणपदम् । ८ आगमानतिक्रमेण । ९ नान्तमिति पाठ, नकार अन्ते यस्य तत् ।

अर्हन्मातृपदं [1]तद्वत्स्वन्तमर्हत्सुताक्षरम् । अनादिगमनस्येति तथाऽनुपमजन्मनः ॥२८॥
रत्नत्रयस्य शरणं प्रपद्यामीत्यतः परम् । बोद्ध्यन्तं[2] च ततः सम्यग्दृष्टिं[3] द्वित्वेन[4] योजयेत् ॥२९॥
ज्ञानमूर्तिपदं तद्वत्सरस्वतिपदं तथा । स्वाहान्तमन्ते वक्तव्यं काम्यमन्त्रश्च[5] पूर्ववत् ॥३०॥

चूर्णिः – सत्यजन्मनः शरणं प्रपद्यामि, अर्हज्जन्मनः शरणं प्रपद्यामि, अर्हन्मातुः शरणं प्रपद्यामि, अर्हत्सुतस्य शरणं प्रपद्यामि, अनादिगमनस्य शरणं प्रपद्यामि, अनुपमजन्मनः शरणं प्रपद्यामि, रत्नत्रयस्य शरणं प्रपद्यामि, हे सम्यग्दृष्टे हे सम्यग्दृष्टे, हे ज्ञानमूर्ते, ज्ञानमूर्ते, हे सरस्वति, हे सरस्वति स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु ।

जातिमन्त्रोऽयमाम्नातो[6] जातिसंस्कारकारणम् । मन्त्रं निस्तारकादिं च यथाम्नायमितो ब्रुवे ॥३१॥
निस्तारकमन्त्रः
स्वाहान्तं सत्यजाताय पदमादावनुस्मृतम् । [7]तदन्तमर्हज्जातायपदं स्यात्तदनन्तरम् ॥३२॥
ततः षट्कर्मणे स्वाहा पदमुच्चारयेद् द्विजः । स्याद्ग्रामयतये स्वाहा पदं तस्मादनन्तरम् ॥३३॥
अनादिश्रोत्रियायेति ब्रूयात् स्वाहापदं ततः । तद्वच्च स्नातकायेति श्रावकायेति च द्वयम् ॥३४॥

सत्यरूप जन्मको धारण करनेवाले जिनेन्द्रदेवका शरण लेता हूँ), इस प्रकार कहना चाहिए । इसके वाद 'अर्हज्जन्मनः शरणं प्रपद्यामि' (मैं अरहन्त पदके योग्य जन्म धारण करनेवाले-का शरण लेता हूँ) 'अर्हन्मातुः शरणं प्रपद्यामि' (अर्हन्तदेवकी माताका शरण लेता हूँ,) 'अर्हत्सुतस्य शरणं प्रपद्यामि' (अरहन्तदेवके पुत्रका शरण लेता हूँ), 'अनादिगमनस्य शरणं प्रपद्यामि' (अनादि ज्ञानको धारण करनेवालेका शरण लेता हूँ), अनुपमजन्मनः शरणं प्रपद्यामि' (उपमारहित जन्मको धारण करनेवालेका शरण लेता हूँ) और 'रत्नत्रयस्य शरणं प्रपद्यामि' (रत्नत्रयका शरण ग्रहण करता हूँ) ये मन्त्र वोलना चाहिए । तदनन्तर सम्बोधन विभक्त्यन्त सम्यग्दृष्टि, ज्ञानमूर्ति और सरस्वती पदका दो-दो वार उच्चारण कर अन्तमे स्वाहा शब्द वोलना चाहिए अर्थात् सम्यग्दृष्टे, सम्यग्दृष्टे, ज्ञानमूर्ते, ज्ञानमूर्ते, सरस्वति, सरस्वति, स्वाहा (हे सम्यग्दृष्टे हे सम्यग्दृष्टे, हे ज्ञानमूर्ते हे ज्ञानमूर्ते, हे सरस्वति, हे सरस्वति, मै तेरे लिए हवि समर्पण करता हूँ) यह मन्त्र कहना चाहिए और फिर काम्य मन्त्र पहलेके समान ही पढना चाहिए ॥२७–३०॥ ऊपर कहे हुए पीठिका मन्त्रोका सग्रह इस प्रकार है :

'सत्यजन्मनः शरणं प्रपद्यामि, अर्हज्जन्मनः शरणं प्रपद्यामि, अर्हन्मातुः शरणं प्रपद्यामि, अर्हत्सुतस्य शरणं प्रपद्यामि, अनादिगमनस्य शरणं प्रपद्यामि, अनुपमजन्मनः शरणं प्रपद्यामि, रत्नत्रयस्य शरणं प्रपद्यामि, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे, ज्ञानमूर्ते ज्ञानमूर्ते, सरस्वति सरस्वति स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु ।'

ये मन्त्र जातिसंस्कारका कारण होनेसे जाति मन्त्र कहलाते है अव इसके आगे निस्तारक मन्त्र कहते है ॥३१॥ सवसे पहले 'सत्यजाताय स्वाहा' (सत्यरूप जन्मको धारण करनेवालेके लिए मै हवि समर्पण करता हूँ) इस मन्त्रका स्मरण किया गया है फिर 'अर्हज्जाताय स्वाहा' (अरहन्तरूप जन्मको धारण करनेवालेके लिए मै हवि समर्पित करता हूँ) यह मन्त्र वोलना चाहिए और इसके वाद षट्कर्मणे स्वाहा (देवपूजा आदि छह कर्म करनेवालेके लिए हवि समर्पित करता हूँ), इस मन्त्रका द्विजको उच्चारण करना चाहिए । फिर 'ग्रामयतये स्वाहा' (ग्रामयतिके लिए समर्पण करता हूँ), यह मन्त्र वोलना चाहिए ॥३२–३३॥ फिर

---

१ तु शब्द अन्ते यस्य तत् । २ संवुद्धयन्तम् । ३ सम्यग्दृष्टिपदम् । ४ द्विः कृत्वा योजयेदित्यर्थः । ५ षट्परमस्थानेत्यादि । ६ प्रोक्तः ।७ स्वाहान्तम् ।

स्याद्देवब्राह्मणायेति स्वाहेत्यन्तमतः पदम् । सुब्राह्मणाय स्वाहान्तः स्वाहान्ताऽनुपमाय गीः ॥३५॥
सम्यग्दृष्टिपदं चैव तथा निधिपतिश्रुतिम् । ब्रूयाद् वैश्रवणोक्तिं च द्विः स्वाहेति ततः परम्[1] ॥३६॥
काम्यमन्त्रमतो ब्रूयात् पूर्ववन्मन्त्रविद् द्विजः । ऋषिमन्त्रमितो वक्ष्ये यथाऽऽहोपासकश्रुतिः ॥३७॥

चूर्णि. – सत्यजाताय स्वाहा, अर्हज्जाताय स्वाहा, षट्कर्मणे स्वाहा, ग्रामयतये स्वाहा, अनादिश्रोत्रियाय स्वाहा, स्नातकाय स्वाहा, श्रावकाय स्वाहा, देवब्राह्मणाय स्वाहा, सुब्राह्मणाय स्वाहा, अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे निधिपते निधिपते वैश्रवण वैश्रवण स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु ।

ऋषिमन्त्रः

प्रथमं सत्यजाताय नमः पदमुदीरयेत् । गृह्णीयादर्हज्जाताय नमः शब्दं ततः परम् ॥३८॥
निर्ग्रन्थाय नमो वीतरागाय नम इत्यपि । महाव्रताय पूर्वं च नमः पदमनन्तरम् ॥३९॥
त्रिगुप्ताय नमो महायोगाय नम इत्यतः । ततो विविधयोगाय नम इत्यनुपठ्यताम् ॥४०॥
विविधर्द्धिपदं चास्मान्नमः शब्देन योजितम् । ततोऽङ्गधरपूर्वं च पठेत् पूर्वधरध्वनिम् ॥४१॥

'अनादिश्रोत्रियाय स्वाहा' (अनादिकालीन श्रुतके अध्येताको समर्पण करता हूँ), यह मन्त्र-पद बोलना चाहिए । तदनन्तर इसी प्रकार 'स्नातकाय स्वाहा' और 'श्रावकाय स्वाहा' ये दो मन्त्र पढना चाहिए (केवली अरहन्त और श्रावकके लिए समर्पण करता हूँ) ॥३४॥ इसके बाद 'देवब्राह्मणाय स्वाहा' (देवब्राह्मणके लिए समर्पण करता हूँ), 'सुब्राह्मणाय स्वाहा' (सुब्राह्मणके लिए समर्पण करता हूँ), और 'अनुपमाय स्वाहा' (उपमारहित भगवान्के लिए हवि समर्पित करता हूँ), ये शब्द बोलना चाहिए ॥३५॥ तदनन्तर सम्यग्दृष्टि, निधिपति और वैश्रवण शब्दको दो-दो बार कहकर अन्तमे स्वाहा शब्दका प्रयोग करना चाहिए अर्थात् सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे 'निधिपते निधिपते वैश्रवण वैश्रवण स्वाहा' (हे सम्यग्दृष्टि हे निधियोंके अधिपति, हे कुबेर, मै तुम्हे हवि समर्पित करता हूँ) यह मन्त्र बोलना चाहिए ॥३६॥ इसके बाद मन्त्रोंको जाननेवाला द्विज पहलेके समान काम्यमन्त्र बोले । अब इसके आगे उपासकाध्ययन-शास्त्रके अनुसार ऋषिमन्त्र कहता हूँ ॥३७॥ जातिमन्त्रोका सग्रह इस प्रकार है :

'सत्यजाताय स्वाहा, अर्हज्जाताय स्वाहा, षट्कर्मणे स्वाहा, ग्रामयतये स्वाहा, अनादिश्रोत्रियाय स्वाहा, स्नातकाय स्वाहा, श्रावकाय स्वाहा, देवब्राह्मणाय स्वाहा, सुब्राह्मणाय स्वाहा, अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे निधिपते निधिपते वैश्रवण वैश्रवण स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थान भवतु, अपमृत्युविनाशन भवतु, समाधिमरण भवतु ।

ऋषिमन्त्र–प्रथम ही 'सत्यजाताय नमः' (सत्यजन्मको धारण करनेवालेको नमस्कार हो) यह पद बोलना चाहिए और उसके बाद 'अर्हज्जाताय नम.' (अरहन्त रूप जन्मको धारण करनेवालेके लिए नमस्कार हो) इस पदका उच्चारण करना चाहिए ॥३८॥ तदनन्तर 'निर्ग्रन्थाय नमः' (परिग्रहरहितके लिए नमस्कार हो), 'वीतरागाय नम ' (रागद्वेषरहित जिनेन्द्र देवको नमस्कार हो), 'महाव्रताय नमः' (महाव्रत धारण करनेवालोके लिए नमस्कार हो), 'त्रिगुप्ताय नम' (तीनों गुप्तियोंको धारण करनेवालेके लिए नमस्कार हो,) 'महायोगाय नमः' (महायोगको धारण करनेवाले ध्वनियोको नमस्कार हो) और 'विविधयोगाय नम.' (अनेक प्रकारके योगोको धारण करनेवालोंके लिए नमस्कार हो) ये मन्त्र पढना चाहिए ॥३९–४०॥ फिर नम शब्दके साथ चतुर्थी विभक्त्यन्त विविधर्द्धि शब्दका पाठ करना चाहिए अर्थात् 'विवि-

---

1 पदम् ल० ।

नमः शब्दपरौ चैतौ चतुर्थ्यन्त्यावनुस्मृतौ । ततो गणधरायेति पदं युक्तनमः पदम् ॥४२॥
परमर्षिभ्य इत्यस्मात् परं वाच्यं नमो नमः । ततोऽनुपमजाताय नमो नम इतीरयेत् ॥४३॥
सम्यग्दृष्टिपदं चान्ते बोध्यन्तं द्विरुदाहरेत् । ततो भूपतिशब्दश्च नगरोपपदः पतिः ॥४४॥
द्विर्वाच्यौ तानिमौ शब्दौ बोध्यन्तौ मन्त्रवेदिभिः । मन्त्रशेषोऽप्ययं तस्मादनन्तरमुदीर्यताम् ॥४५॥
कालश्रमणशब्दं च द्विरुक्त्वाऽऽमन्त्रणे ततः । स्वाहेति पदमुच्चार्य प्राग्वत् काम्यानि चोद्धरेत् ॥४६॥

चूर्णिः—सत्यजाताय नमः, अर्हज्जाताय नमः, निर्ग्रन्थाय नमः, वीतरागाय नमः, महाव्रताय नमः, त्रिगुप्ताय नमः, महायोगाय नमः, विविधयोगाय नमः, विविधर्द्धये नमः, अङ्गधराय नमः, पूर्वधराय नमः, गणधराय नमः, परमर्षिभ्यो नमो नमः, अनुपमजाताय नमो नमः, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे भूपते भूपते नगरपते नगरपते कालश्रमण कालश्रमण स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु ।

मुनिमन्त्रोऽयमाम्नातो मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः । वक्ष्ये सुरेन्द्रमन्त्रं च यथा [1]स्माहार्षभी[2] श्रुतिः ॥४७॥
प्रथमं सत्यजाताय स्वाहेत्येतत्पदं पठेत् । ततः स्यादर्हज्जाताय स्वाहेत्येतत्परं पदम् ॥४८॥

धर्द्धये नम ' (अनेक ऋद्धियोको धारण करनेवालेके लिए नमस्कार हो) ऐसा उच्चारण करना चाहिए । इसी प्रकार जिनके आगे नमः शब्द लगा हुआ है ऐसे चतुर्थ्यन्त अंगधर और पूर्वधर शब्दोका पाठ करना चाहिए अर्थात् 'अङ्गधराय नम.' (अंगोके जाननेवालेको नमस्कार हो) और 'पूर्वधराय नम ' (पूर्वोके जाननेवालोको नमस्कार हो) ये मन्त्र बोलना चाहिए । तदनन्तर 'गणधराय नम ' (गणधरको नमस्कार हो) इस पदका उच्चारण करना चाहिए ॥४१–४२॥ फिर परमर्पिभ्य. शब्दके आगे नमो नम का उच्चारण करना चाहिए अर्थात् 'परमर्षिभ्यो नमो नम ' (परम ऋषियोको वार-वार नमस्कार हो) यह मन्त्र बोलना चाहिए और इसके वाद 'अनुपमजाताय नमो नम.' (उपमारहित जन्मधारण करनेवालेको वार-वार नमस्कार हो) इस मन्त्रका उच्चारण करना चाहिए ॥४३॥ फिर अन्तमे सम्बोधन विभक्त्यन्त सम्यग्दृष्टि पदका दो वार उच्चारण करना चाहिए । और इसी प्रकार मन्त्रोंको जाननेवाले द्विजो-को सम्वोधनान्त भूपति और नगरपति शब्दका भी दो-दो वार उच्चारण करना चाहिए । तदनन्तर आगे कहा जानेवाला मन्त्रका अवशिष्ट अश भी बोलना चाहिए । कालश्रमण शब्दको सम्वोधन विभक्तिमे दो वार कहकर उसके आगे स्वाहा शब्दका उच्चारण करना चाहिए और फिर यह सव कह चुकनेके वाद पहलेके समान काम्यमन्त्र पढना चाहिए ॥४४–४६॥ इन सव ऋपिमन्त्रोका सग्रह इस प्रकार है :

'सत्यजाताय नम , अर्हज्जाताय नम , निर्ग्रन्थाय नम , वीतरागाय नम., महाव्रताय नम , त्रिगुप्ताय नमः, महायोगाय नमः, विविधयोगाय नम , विविधर्द्धये नमः, अङ्गधराय नम , पूर्वधराय नम , गणधराय नमः, परमर्पिभ्यो नमो नमः, अनुपमजाताय नमो नम , सम्य-ग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे भूपते भूपते नगरपते नगरपते कालश्रमण कालश्रमण स्वाहा, सेवाफल षट्परम-स्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशन भवतु, समाधिमरण भवतु ।

तत्त्वोके जाननेवाले मुनियोके द्वारा ये ऊपर लिखे हुए मन्त्र मुनिमन्त्र अथवा ऋषिमन्त्र माने गये है । अब इनके आगे भगवान् ऋपभदेवको श्रुतिने जिस प्रकार कहा है उसी प्रकार मै सुरेन्द्र मन्त्रोको कहता हूँ ॥४७॥

प्रथम ही मै 'सत्यजाताय स्वाहा' (सत्यजन्म लेनेवालेको हवि समर्पण करता हूँ) यह पद पढना चाहिए, फिर 'अर्हज्जाताय स्वाहा' (अरहन्तके योग्य जन्म लेनेवालेको हवि

---

१ वदन्ति स्म । २ ऋपभप्रोक्ता ।

ततश्च दिव्यजाताय स्वाहेत्येवमुदाहरेत् । ततो दिव्यार्च्यजाताय स्वाहेत्येतत्पदं पठेत् ॥४९॥
ब्रूयाच्च नेमिनाथाय स्वाहेत्येतदनन्तरम् । सौधर्माय पदं चास्मात्स्वाहोक्त्यन्तमनुस्मरेत् ॥५०॥
कल्पाधिपतये स्वाहापदं वाच्यमतः परम् । भूयोऽप्यनुचरायादिं स्वाहाशब्दमुदीरयेत् ॥५१॥
ततः परंपरेन्द्राय स्वाहेत्युच्चारयेत्पदम् । संपठेदहमिन्द्राय स्वाहेत्येतदनन्तरम् ॥५२॥
ततः परमार्हताय स्वाहेत्येतत् पदं पठेत् । ततोऽप्यनुपमायेति पदं स्वाहापदान्वितम् ॥५३॥
सम्यग्दृष्टिपदं चास्माद् बोध्यन्तं द्विरुदीरयेत्[1] । तथा कल्पपतिं चापि दिव्यमूर्तिं च सपठेत् ॥५४॥
द्विर्वाच्यं वज्रनामेति ततः स्वाहेति संहरेत् । पूर्ववत् काम्यमन्त्रोऽपि पाठ्योऽस्यान्ते त्रिभिः पदैः[2] ॥५५॥

चूर्णिः—सत्यजाताय स्वाहा, अर्हज्जाताय स्वाहा, दिव्यजाताय स्वाहा, दिव्यार्च्यजाताय स्वाहा, नेमिनाथाय स्वाहा, सौधर्माय स्वाहा, कल्पाधिपतये स्वाहा, अनुचराय स्वाहा, परम्परेन्द्राय स्वाहा, अहमिन्द्राय स्वाहा, परमार्हताय स्वाहा, अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे कल्पपते कल्पपते दिव्यमूर्ते दिव्यमूर्ते वज्रनामन् वज्रनामन् स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु ।

समर्पण करता हूँ) यह उत्कृष्ट पद पढना चाहिए ।।४८।। फिर 'दिव्यजाताय स्वाहा' (जिसका जन्म दिव्यरूप है उसे हवि समर्पण करता हूँ) ऐसा उच्चारण करना चाहिए और फिर 'दिव्यार्च्यजाताय स्वाहा' (दिव्य तेज स्वरूप जन्म धारण करनेवालेके लिए हवि समर्पण करता हूँ) यह पद पढना चाहिए ।।४९।। तदनन्तर 'नेमिनाथाय स्वाहा' (धर्मचक्रकी धुरीके स्वामी जिनेन्द्रदेवको समर्पण करता हूँ) यह पद बोलना चाहिए और इसके बाद 'सौधर्माय स्वाहा' (सौधर्मेन्द्रके लिए समर्पण करता हूँ) इस मन्त्रका स्मरण करना चाहिए ।।५०।। फिर 'कल्पाधिपतये स्वाहा (स्वर्गके अधिपतिके लिए समर्पण करता हूँ) यह मन्त्र कहना चाहिए और उसके बाद 'अनुचराय स्वाहा' (इन्द्रके अनुचरोके लिए समर्पण करता हूँ) यह शब्द बोलना चाहिए ।।५१।। फिर 'परम्परेन्द्राय स्वाहा' (परम्परासे होनेवाले इन्द्रोके लिए समर्पण करता हूँ) इस पदका उच्चारण करे और उसके अनन्तर 'अहमिन्द्राय स्वाहा' (अहमिन्द्रके लिए समर्पण करता हूँ) यह मन्त्र अच्छी तरह पढे ।।५२।। फिर 'परार्हताय स्वाहा' (अरहन्तदेवके परम-उत्कृष्ट उपासकको समर्पण करता हूँ) यह मन्त्र पढना चाहिए और उसके पश्चात् 'अनुपमाय स्वाहा' (उपमारहितके लिए समर्पण करता हूँ) यह पद बोलना चाहिए ।।५३।। तदनन्तर सम्बोधनान्त सम्यग्दृष्टि पदका दो बार उच्चारण करना चाहिए तथा सम्बोधनान्त कल्पपति और दिव्यमूर्ति शब्दको भी दो-दो वार पढना चाहिए इसी प्रकार सम्बोधनान्त वज्रनामन् शब्दको भी दो बार बोलकर स्वाहा शब्दका उच्चारण करना चाहिए और अन्तमे तीन-तीन पदोके द्वारा पहलेके समान काम्य मन्त्र पढना चाहिए अर्थात् सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे कल्पपते कल्पपते दिव्यमूर्ते दिव्यमूर्ते वज्रनामन् वज्रनामन् स्वाहा (हे सम्यग्दृष्टि, हे स्वर्गके अधिपति, हे दिव्यमूर्तिको धारण करनेवाले, हे वज्रनाम, मै तेरे लिए हवि समर्पण करता हूँ) यह बोलकर काम्य मन्त्र पढना चाहिए ।।५४–५५।।

ऊपर कहे हुए सुरेन्द्र मन्त्रोका सग्रह इस प्रकार है,

'सत्यजाताय स्वाहा, अर्हज्जाताय स्वाहा, दिव्यजाताय स्वाहा, दिव्यार्च्यजाताय स्वाहा, नेमिनाथाय स्वाहा, सौधर्माय स्वाहा, कल्पाधिपतये स्वाहा, अनुचराय स्वाहा, परम्परेन्द्राय स्वाहा, अहमिन्द्राय स्वाहा, परमार्हताय स्वाहा, अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे कल्पपते कल्पपते दिव्यमूर्ते दिव्यमूर्ते वज्रनामन् वज्रनामन् स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थान भवतु

१ सम्यग् ब्रूयात् । २ षट्परमस्थानेत्यादिभि ।

सुरेन्द्रमन्त्र एषः स्यात् सुरेन्द्रस्यानुतर्पणम् । मन्त्रं परमराजादि वक्ष्यामीतो यथाश्रुतम् ॥५६॥
प्रागत्र[1] सत्यजाताय स्वाहेत्येतत् पदं पठेत् । ततः स्यादर्हज्जाताय स्वाहेत्येतत्परं पदम् ॥५७॥
ततश्चानुपमेन्द्राय स्वाहेत्येतत्पदं मतम् । विजयार्च्यादिजाताय पदं स्वाहान्तमन्वतः ॥५८॥
ततोऽपि नेमिनाथाय स्वाहेत्येतत्पदं पठेत् । ततः[2] परमराजाय स्वाहेत्येतदुदाहरेत् ॥५९॥
परमार्हताय स्वाहा पदमस्मात्परं पठेत् । स्वाहान्तमनुपायोक्तिरतो वाच्या द्विजन्मभिः ॥६०॥
सम्यग्दृष्टिपदं चास्माद् बोध्यन्तं द्विरुदीरयेत् । उग्रतेजः पदं चैव दिशाञ्जयपदं तथा ॥६१॥
नेम्यादिविजयं चैव कुर्यात् स्वाहापदोत्तरम् । काम्यमन्त्रं च तं ब्रूयात् प्राग्वदन्ते पदैस्त्रिभिः ॥६२॥

चूर्णिः-सत्यजाताय स्वाहा, अर्हज्जाताय स्वाहा, अनुपमेन्द्राय स्वाहा, विजयार्च्यजाताय स्वाहा, नेमिनाथाय स्वाहा, परमराजाय स्वाहा, परमार्हताय स्वाहा, अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे उग्रतेजः उग्रतेजः दिशांजय दिशांजय नेमिविजय नेमिविजय स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु ।

मन्त्रः परमराजादिर्मतोऽयं परमेष्ठिनाम् । परं मन्त्रमितो वक्ष्ये यथाऽऽह परमा श्रुतिः ॥६३॥

अपमृत्युविनाशन भवतु, समाधिमरण भवतु ।

यह सुरेन्द्रको सन्तुष्ट करनेवाला सुरेन्द्र मन्त्र कहा । अब आगे शास्त्रोंके अनुसार परमराजादि मन्त्र कहते है ॥५६॥ इन मन्त्रोमे सर्वप्रथम 'सत्यजाताय स्वाहा' (सत्य जन्म धारण करनेवालेको हवि समर्पण करता हूँ) यह पद पढ़ना चाहिए, फिर 'अर्हज्जाताय स्वाहा' (अर्हन्त पदके योग्य जन्म लेनेवालेको समर्पण करता हूँ) यह उत्कृष्ट पद पढना चाहिए ॥५७॥ इसके बाद 'अनुपमेन्द्राय स्वाहा' (उपमारहित इन्द्र अर्थात् चक्रवर्तीके लिए समर्पण करता हूँ) यह पद कहना चाहिए । तदनन्तर 'विजयार्च्यजाताय स्वाहा' (विजयरूप तथा तेज:पूर्ण जन्मको धारण करनेवालेके लिए समर्पण करता हूँ) इस पदका उच्चारण करना चाहिए ॥५८॥ इसके पश्चात् 'नेमिनाथाय स्वाहा' (धर्मरूप रथके प्रवर्तकको समर्पण करता हूँ) यह पद पढना चाहिए और उसके बाद 'परमजाताय स्वाहा' (उत्कृष्ट जन्म लेनेवालेको समर्पण करता हूँ) यह पद बोलना चाहिए ॥५९॥ फिर ''परमार्हताय स्वाहा' (उत्कृष्ट उपासकको समर्पण करता हूँ) यह पद पढना चाहिए और इसके बाद द्विजोको 'अनुपमाय स्वाहा' (उपमारहितके लिए समर्पण करता हूँ) यह मन्त्र बोलना चाहिए ॥६०॥ तदनन्तर सम्बोधनान्त सम्यग्दृष्टि पदका दो बार उच्चारण करना चाहिए तथा इसी प्रकार सम्बोधनान्त उग्रतेज: पद, दिशांजय पद और नेमिविजय पदको दो बार बोलकर अन्तमे स्वाहा शब्दका उच्चारण करना चाहिए और अन्तमे पहलेके समान तीन-तीन पदोसे काम्य मन्त्र बोलना चाहिए अर्थात् सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे उग्रतेज उग्रतेज दिशाजय दिशाजय नेमिविजय नेमिविजय स्वाहा (हे सम्यग्दृष्टि, हे प्रचण्ड प्रतापके धारक, हे दिशाओंको जीतनेवाले, हे नेमिविजय, मै तुम्हे हवि समर्पण करता हूँ) यह मन्त्र बोलकर काम्यमन्त्र पढना चाहिए ॥६१-६२॥

परमराजादि मन्त्रोका संग्रह इस प्रकार है :

'सत्यजाताय स्वाहा, अर्हज्जाताय स्वाहा, अनुपमेन्द्राय स्वाहा, विजयार्च्यजाताय स्वाहा, नेमिनाथाय स्वाहा, परमजाताय स्वाहा, परमार्हताय स्वाहा, अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे, उग्रतेज. उग्रतेज , दिशाजय दिशाजय, नेमिविजय नेमिविजय स्वाहा, सेवाफलं षट्-परमस्थान भवतु, अपमृत्युविनाशन भवतु, समाधिमरणं भवतु ।

ये मन्त्र परमराजादि मन्त्र माने गये है । अब यहाँसे आगे जिस प्रकार परम शास्त्रमे

---

१ परमराजादिमन्त्रे । २ परमजाताय प०, ल०, अ०, प०, स० ।

तत्रादौ सत्यजाताय नमः पदमुदीरयेत् । वाच्यं ततोऽर्हज्जाताय नम इत्युत्तरं पदम् ॥६४॥
ततः परमजाताय नमः पदमुदाहरेत् । परमार्हतशब्दं च चतुर्थ्यन्तं नमः परम् ॥६५॥
ततः परमरूपाय नमः परमतेजसे । नम इत्युभयं वाच्यं पदमध्यात्मदर्शिभिः ॥६६॥
परमादिगुणायेति पदं चान्यन्नमोयुतम् । परमस्थानशब्दश्च चतुर्थ्यन्तो नमोऽन्वितः ॥६७॥
उदाहार्यं क्रमं ज्ञात्वा ततः परमयोगिने । नमः परमभाग्याय नम इत्युभयं पदम् ॥६८॥
परमर्द्धिपदं चान्यच्चतुर्थ्यन्तं नमः परम् । स्यात्परमप्रसादाय नम इत्युत्तरं पदम् ॥६९॥
स्यात्परमकाङ्क्षिताय नम इत्यत उत्तरम् । स्यात्परमविजयाय नमः इत्युत्तरं वचः ॥७०॥
स्यात्परमविज्ञानाय नमो वाक्तदनन्तरम् । स्यात्परमदर्शनाय नमः पदमतः परम् ॥७१॥
ततः परमवीर्याय पदं चास्मान्नमः परम् । परमादिसुखायेति पदमस्मादनन्तरम् ॥७२॥
सर्वज्ञाय नमोवाक्यमर्हते नम इत्यपि । नमो नमः पदं चास्मात्स्यात्परं परमेष्ठिने ॥७३॥
परमादिपदान्नेत्र इत्यस्माच्च नमो नमः । सम्यग्दृष्टिपदं चान्ते बोध्यन्तं द्विः प्रयुज्यताम् ॥७४॥

कहा है उसी प्रकार परमेष्ठियोके उत्कृष्ट मन्त्र कहता हूँ ॥६३॥ उन परमेष्ठी मन्त्रोमे सबसे पहले 'सत्यजाताय नम' (सत्यरूप जन्म लेनेवालेके लिए नमस्कार हो) यह पद बोलना चाहिए और उसके बाद 'अर्हज्जाताय नम.' (अरहन्तके योग्य जन्म लेनेवालेके लिए नमस्कार हो) यह पद पढना चाहिए ॥६४॥ तदनन्तर 'परमजाताय नम.' (उत्कृष्ट जन्म लेनेवाले-के लिए नमस्कार हो) यह पद कहना चाहिए और इसके बाद चतुर्थी विभक्त्यन्त परमार्हत शब्दके आगे नम. पद लगाकर 'परमार्हताय नम.' (उत्कृष्ट जिनधर्मके धारकके लिए नमस्कार हो) यह मन्त्र पढना चाहिए ॥६५॥ तत्पश्चात् अध्यात्म शास्त्रको जाननेवाले द्विजोको 'परमरूपाय नम ' (उत्कृष्ट निर्ग्रन्थरूपको धारण करनेवालेके लिए नमस्कार हो) और 'परम-तेजसे नम.' (उत्तम तेजको धारण करनेवालेके लिए नमस्कार हो) ये दो मन्त्र बोलना चाहिए ॥६६॥ फिर नम· शब्दके साथ परमगुणाय यह पद अर्थात् 'परमगुणाय नम ' (उत्कृष्ट गुण-वालेके लिए नमस्कार हो) यह मन्त्र बोलना चाहिए और उसके अनन्तर नम शब्दसे सहित चतुर्थी विभक्त्यन्त परमस्थान शब्द अर्थात् 'परमस्थानाय नम ' (मोक्षरूप उत्तमस्थानवाले-के लिए नमस्कार हो) यह पद पढना चाहिए ॥६७॥ इसके पश्चात् क्रमको जानकर 'परम-योगिने नम.' (परम योगीके लिए नमस्कार हो) और 'परमभाग्याय नम.' (उत्कृष्ट भाग्य-शालीको नमस्कार हो) ये दोनो पद बोलना चाहिए ॥६८॥ तदनन्तर जिसके आगे नम शब्द लगा हुआ है और चतुर्थी विभक्ति जिसके अन्तमे है ऐसा परमर्द्धि पद अर्थात् 'परमर्द्धये नम ,' (उत्तम ऋद्धियोके धारकके लिए नमस्कार हो) और 'परमप्रसादाय नम ' (उत्कृष्ट प्रसन्नताको धारण करनेवालेके लिए नमस्कार हो) ये दो मन्त्र पढना चाहिए ॥६९॥ फिर 'परमकाक्षिताय नम.' [उत्कृष्ट आत्मानन्दकी इच्छा करनेवालेके लिए नमस्कार हो] और 'परमविजयाय नम ' [कर्मरूप शत्रुओपर उत्कृष्ट विजय पानेवालेके लिए नमस्कार हो] ये दो मन्त्र बोलना चाहिए ॥७०॥ तदनन्तर 'परमविज्ञानाय नम.' [उत्कृष्ट ज्ञानवाले के लिए नमस्कार हो] और उसके बाद 'परमदर्शनाय नम ' [परम दर्शनके धारकके लिए नमस्कार हो] यह पद पढना चाहिए ॥७१॥ इसके पश्चात् 'परमवीर्याय नम.' (अनन्त बल-शालीके लिए नमस्कार हो] और फिर 'परमसुखाय नम.' [परम सुखके धारकको नमस्कार हो] ये मन्त्र कहना चाहिए ॥७२॥ इसके अनन्तर 'सर्वज्ञाय नम ' [ससारके समस्त पदार्थोको जाननेवालेके लिए नमस्कार हो] 'अर्हते नम ' [अरहन्तदेवके लिए नमस्कार हो], और फिर 'परमेष्ठिने नमो नम.' (परमेष्ठीके लिए बार-बार नमस्कार हो) ये मन्त्र बोलना चाहिए ॥७३॥ तदनन्तर 'परमनेत्रे नमो नम.' (उत्कृष्ट नेताके लिए नमस्कार हो) यह मन्त्र

द्वि.[1] स्तां[2] त्रिलोकविजयधर्ममूर्त्तिपदे ततः। धर्मनेमिपदं वाच्यं द्वि स्वाहेति ततः परम् ॥७५॥
काम्यमन्त्रमतो ब्रूयात्पूर्ववद्विधिवद्द्विजः। काम्यसिद्धिप्रधाना हि सर्वे मन्त्राः स्मृता बुधैः ॥७६॥

चूर्णिः–सत्यजाताय नमः, अर्हज्जाताय नमः, परमजाताय नमः, परमार्हताय नमः, परमरूपाय नमः, परमतेजसे नमः, परमगुणाय नमः, परमस्थानाय नमः, परमयोगिने नमः, परमभाग्याय नमः, परमर्द्धये नमः, परमप्रसादाय नमः, परमकाङ्क्षिताय नमः, परमविजयाय नमः, परमविज्ञानाय नमः, परमदर्शनाय नमः, परमवीर्याय नमः, परमसुखाय नमः, सर्वज्ञाय नमः, अर्हते नमः, परमेष्ठिने नमो नमः, परमनेत्रे नमो नमः, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे त्रिलोकविजय त्रिलोकविजय धर्ममूर्ते धर्ममूर्ते धर्मनेमे धर्मनेमे स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु।

[3]एते तु पीठिकामन्त्राः सप्त ज्ञेया द्विजोत्तमैः। एतैः सिद्धार्चनं कुर्यादाधा[4]नादिक्रियाविधौ ॥७७॥
क्रियामन्त्रास्त एते स्युराधानादिक्रियाविधौ। सूत्रे गणधरोद्धार्ये यान्ति साधनमन्त्रताम् ॥७८॥
संध्यास्वग्नित्रये देवपूजने नित्यकर्मणि। भवन्त्याहुतिमन्त्राश्च त एते विधिसाधिताः ॥७९॥
सिद्धार्चासंनिधौ मन्त्रान् जपेदष्टोत्तरं शतम्। गन्धपुष्पाक्षतार्घादि[5]निवेदनपुरःसरम् ॥८०॥
सिद्धविद्यस्ततो मन्त्रैरेभिः कर्म समाचरेत्। शुक्लवासाः शुचिर्यज्ञोपवीत्यव्यग्रमानसः ॥८१॥

कहना चाहिए और उसके बाद सम्बोधनान्त सम्यग्दृष्टि पदका दो बार प्रयोग करना चाहिए ॥७४॥ तथा इसी प्रकार त्रिलोकविजय, धर्ममूर्ति और धर्मनेमि शब्दको भी दो-दो बार उच्चारण कर अन्तमे स्वाहा पद बोलना चाहिए अर्थात् सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे, त्रिलोकविजय त्रिलोकविजय, धर्ममूर्ते धर्ममूर्ते, धर्मनेमे धर्मनेमे स्वाहा (हे सम्यग्दृष्टि, हे तीनो लोकोंको विजय करनेवाले, हे धर्ममूर्ति और हे धर्मके प्रवर्तक, मै तेरे लिए हवि समर्पण करता हूँ) यह मन्त्र बोलना चाहिए ॥७५॥ तत्पश्चात् द्विजोको पहलेके समान विधिपूर्वक काम्यमन्त्र पढना चाहिए क्योकि विद्वान् लोग सब मन्त्रोसे अभीष्ट फलकी प्राप्ति होना ही मुख्य फल मानते है ॥७६॥

परमेष्ठी मन्त्रोका सग्रह इस प्रकार है :

सत्यजाताय नमः, अर्हज्जाताय नमः, परमजाताय नमः, परमार्हताय नमः, परमरूपाय नमः, परमतेजसे नमः, परमगुणाय नमः, परमस्थानाय नमः, परमयोगिने नमः, परमभाग्याय नमः, परमर्द्धये नमः, परमप्रसादाय नमः, परमकाक्षिताय नमः, परमविजयाय नमः, परमविज्ञानाय नमः, परमदर्शनाय नमः, परमवीर्याय नमः, परमसुखाय नमः, सर्वज्ञाय नमः, अर्हते नमः, परमेष्ठिने नमो नमः, परमनेत्रे नमो नमः, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे, त्रिलोकविजय त्रिलोकविजय, धर्ममूर्ते धर्ममूर्ते, धर्मनेमे धर्मनेमे स्वाहा, सेवाफल षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु।

ब्राह्मणोको ये ऊपर लिखे हुए सात पीठिका मन्त्र जानना चाहिए और गर्भाधानादि क्रियाओकी विधि करनेमे इनसे सिद्धपूजन करना चाहिए ॥७७॥ गर्भाधानादि क्रियाओंकी विधि करनेमे ये मन्त्र क्रियामन्त्र कहलाते है और गणधरोके द्वारा कहे हुए सूत्रमे ये ही साधन मन्त्रपनेको प्राप्त हो जाते है ॥७८॥ विधिपूर्वक सिद्ध किये हुए ये ही मन्त्र सन्ध्याओके समय तीनों अग्नियोमें देवपूजनरूप नित्य कर्म करते समय आहुति मन्त्र कहलाते है ॥७९॥ सिद्ध भगवान्को प्रतिमाके सामने पहले गन्ध, पुष्प, अक्षत और अर्घ आदि समर्पण कर एक सौ आठ वार उक्त मन्त्रोका जप करना चाहिए ॥८०॥ तदनन्तर जिसे विद्याएँ सिद्ध हो गयी है, जो

---

१ द्वौ वारौ। २ भवेताम। ३ सत्यजातायेत्यादय। ४ गर्भाधानादि। ५ समर्पण।

त्रयोऽग्नयः प्रणेयाः[1] स्युः कर्मारम्भे द्विजोत्तमैः । रत्नत्रितयसंकल्पादग्नीन्द्रमुकुटोद्भवाः ॥८२॥
तीर्थकृद्गणभृच्छेषकेवल्यन्तमहोत्सवे[2][3] । पूजाङ्गत्वं[4] समासाद्य पवित्रत्वमुपागताः ॥८३॥
कुण्डत्रये प्रणेतव्यास्त्रय एते महाग्नयः । गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्निप्रसिद्धयः ॥८४॥
अस्मिन्नग्नित्रये पूजां मन्त्रैः कुर्वन् द्विजोत्तमः । आहिताग्निरिति ज्ञेयो नित्येज्या यस्य सद्मनि ॥८५॥
[5]हविष्पाके च धूपे च दीपोद्बोधनसंविधौ । वह्नीनां[6] विनियोगः स्यादमीषां नित्यपूजने ॥८६॥
प्रयत्नेनाभिरक्ष्यं स्यादिदमग्नित्रयं गृहे । नैव दातव्यमन्येभ्यस्तेऽन्ये ये स्युरसंस्कृताः[7] ॥८७॥
न स्वतोऽग्नेः पवित्रत्वं देवतारूपमेव वा । किन्त्वर्हद्दिव्यमूर्तीज्यासंबन्धात् पावनोऽनलः ॥८८॥
ततः पूजाङ्गतामस्य मत्वार्चन्ति द्विजोत्तमाः । निर्वाणक्षेत्रपूजावत्तत्पूजाऽतो[9] न दुष्यति ॥८९॥
व्यवहारनयापेक्षा तस्येष्टा पूज्यता द्विजैः । जैनैरध्यवहार्योऽयं[10] नयोऽद्यत्वेऽग्रजन्मनः[11] ॥९०॥
साधारणास्त्विमे मन्त्राः सर्वत्रैव क्रियाविधौ । यथासम्भवमुन्नेष्ये[12] विशेषविषयांश्च तान् ॥९१॥

सफेद वस्त्र पहने हुए है, पवित्र है, यज्ञोपवीत धारण किये हुए है और जिसका चित्त आकुलतासे रहित है ऐसा द्विज इन मन्त्रोंके द्वारा समस्त क्रियाएँ करे ॥८१॥ क्रियाओके प्रारम्भमे उत्तम द्विजोको रत्नत्रयका सकल्प कर अग्निकुमार देवोके इन्द्रके मुकुटसे उत्पन्न हुई तीन प्रकारकी अग्नियाँ प्राप्त करनी चाहिए ॥८२॥ ये तीनो ही अग्नियाँ तीर्थंकर, गणधर और सामान्य केवलीके अन्तिम अर्थात् निर्वाणमहोत्सवमे पूजाका अंग होकर अत्यन्त पवित्रताको प्राप्त हुई मानी जाती है ॥८३॥ गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि नामसे प्रसिद्ध इन तीनों महाअग्नियोको तीन कुण्डोमे स्थापित करना चाहिए ॥८४॥ इन तीनो प्रकारकी अग्नियोमे मन्त्रोके द्वारा पूजा करनेवाला पुरुष द्विजोत्तम कहलाता है और जिसके घर इस प्रकारकी पूजा नित्य होती रहती है वह आहिताग्नि अथवा अग्निहोत्री कहलाता है ॥८५॥ नित्य पूजन करते समय इन तीनो प्रकारकी अग्नियोंका विनियोग नैवेद्यके पकानेमे, धूप खेनेमे और दीपक जलानेमे होता है अर्थात् गार्हपत्य अग्निसे नैवेद्य पकाया जाता है, आहवनीय अग्निमे धूप खेई जाती है और दक्षिणाग्निसे दीपक जलाया जाता है ॥८६॥ घरमे बड़े प्रयत्नके साथ इन तीनो अग्नियोकी रक्षा करनी चाहिए और जिनका कोई सस्कार नही हुआ है ऐसे अन्य लोगोको कभी नही देनी चाहिए ॥८७॥ अग्निमे स्वय पवित्रता नही है और न वह देवतारूप ही है – किन्तु अरहन्तदेवकी दिव्य मूर्तिकी पूजाके सम्बन्धसे वह अग्नि पवित्र हो जाती है ॥८८॥ इसलिए ही द्विजोत्तम लोग इसे पूजाका अग मानकर इसकी पूजा करते है अतएव निर्वाणक्षेत्रकी पूजाके समान अग्निकी पूजा करनेमे कोई दोष नही है । भावार्थ – जिस प्रकार जिनेन्द्रदेवके सम्बन्धसे क्षेत्र भी पूज्य हो जाते है उसी प्रकार उनके सम्बन्धसे अग्नि भी पूज्य हो जाती है अतएव जिस प्रकार निर्वाण आदि क्षेत्रोकी पूजा करनेमे दोष नही है उसी प्रकार अग्निकी पूजा करनेमे भी कोई दोष नही है ॥८९॥ ब्राह्मणोंको व्यवहार नयकी अपेक्षा ही अग्निकी पूज्यता इष्ट है इसलिए जैन ब्राह्मणोंको भी आज यह व्यवहारनय उपयोगमे लाना चाहिए ॥९०॥ ये ऊपर कहे हुए मन्त्र साधारण मन्त्र है, सभी क्रियाओमे काम आते है । अब विशेष क्रियाओसे सम्बन्ध रखनेवाले विशेष मन्त्रोको यथासम्भव कहता हूँ ॥९१॥

---

१ संस्कार्याः । २ केवली । ३ परिनिर्वाणमहोत्सवे । ४ कारणत्वम् । ५ चरुपचने । ६ गार्हपत्यादीनाम् अग्नित्रयाणाम् । यथासख्येन हवि पाकादिषु त्रिषु विनियोग स्यात् । ७ गर्भाधानादिसंस्काररहिता । ८ अग्नित्रय-पूजा । ९ कारणात् । १० व्यवहर्तुं योग्य. । ११ विप्रस्य । – जन्मभि द०, ल०, अ०, प०, स०, इ० । १२ लूट् । वक्ष्ये ।

गर्भाधानमन्त्रः–

सज्जातिभागी भव सद्गृहिभागी भवेति च । पदद्वयमुदीर्यादौ पदानीमान्यतः पठेत् ॥९२॥

आदौ मुनीन्द्रभागीति भवेद्यन्ते पदं वदेत् । सुरेन्द्रभागी परमराज्यभागीति च द्वयम् ॥९३॥

आर्हन्त्यभागी भवेति पदमस्मादनन्तरम् । ततः परमनिर्वाणभागी भव पदं भवेत् ॥९४॥

आधाने[1] मन्त्र एष स्यात् पूर्वमन्त्रपुरःसरः[2] । विनियोगश्च मन्त्राणां यथाम्नायं प्रदर्शित. ॥९५॥

चूर्णिः–सज्जातिभागी भव, सद्गृहिभागी भव, मुनीन्द्रभागी भव, सुरेन्द्रभागी भव, परमराज्य-भागी भव, आर्हन्त्यभागी भव, परमनिर्वाणभागी भव, (आधानमन्त्रः)

स्यात्प्रीतिमन्त्रस्त्रैलोक्यनाथो भवपदादिकः । त्रैकाल्यज्ञानी भव त्रिरत्नस्वामी भवेत्ययम् ॥९६॥

चूर्णिः–त्रैलोक्यनाथो भव, त्रैलोक्यज्ञानी भव; त्रिरत्नस्वामी भव, (प्रीतिमन्त्रः) ?

[3]मन्त्रोऽवतारकल्याणभागी भवपदादिकः । सुप्रीतौ मन्दरेन्द्राभिषेककल्याणवाक्परः ॥९७॥

भागीभव पदोपेतस्ततो निष्क्रान्तिवाक्परः । कल्याणमध्यमो भागी भवेत्येतेन योजितः ॥९८॥

ततश्चार्हन्त्यकल्याणभागी भव पदान्वितः । ततः परमनिर्वाणकल्याणपदसंगतः ॥९९॥

गर्भाधानके मन्त्र – प्रथम ही 'सज्जातिभागी भव' (उत्तम जातिको धारण करनेवाला हो) और सद्गृहिभागी भव' (उत्तम गृहस्थ अवस्थाको प्राप्त होओ) इन दो पदोका उच्चारण कर पश्चात् नीचे लिखे पद पढना चाहिए ॥९२॥ पहले 'मुनीन्द्रभागी भव' (महामुनिका पद प्राप्त करनेवाला हो) यह पद बोलना चाहिए और फिर 'सुरेन्द्रभागी भव' (इन्द्र पदका भोक्ता हो) तथा 'परमराज्यभागी भव' (उत्कृष्ट राज्यका उपभोग करनेवाला हो) इन दो पदोका उच्चारण करना चाहिए ॥९३॥ तदनन्तर 'आर्हन्त्यभागी भव' (अरहन्त पदका प्राप्त करनेवाला हो) यह मन्त्र पढना चाहिए और फिर 'परमनिर्वाणभागी भव' (परम निर्वाण पदको प्राप्त करनेवाला हो), यह पद कहना चाहिए ॥९४॥ गर्भाधानकी क्रियामे पहलेके मन्त्रोके साथ-साथ यह मन्त्र काममे लाना चाहिए इस प्रकार यह आम्नायके अनुसार मन्त्रोका विनियोगका क्रम दिखलाया है ॥९५॥

गर्भाधानके समय काम आनेवाले विशेप मन्त्रोका संग्रह इस प्रकार है :

सज्जातिभागी भव, सद्गृहिभागी भव, मुनीद्रभागी भव, सुरेन्द्रभागी भव, परमराज्य-भागी भव, आर्हन्त्यभागी भव, परमनिर्वाणभागी भव ।

अव प्रीतिमन्त्र कहते है – 'त्रैलोक्यनाथो भव' (तीनो लोकोके अधिपति होओ) 'त्रैकाल्यज्ञानी भव' (तीनो कालका जाननेवाला हो) और 'त्रिरत्नस्वामी भव' (रत्नत्रय-का स्वामी हो) ये तीन प्रीतिक्रियाके मन्त्र है ॥९६॥

सग्रह – 'त्रैलोक्यनाथो भव, त्रैकाल्यज्ञानी भव, त्रिरत्नस्वामी भव' ।

अव सुप्रीति क्रियाके मंत्र कहते है–सुप्रीति क्रियामे 'अवतारकल्याणभागी भव' (गर्भ-कल्याणकको प्राप्त करनेवाला हो), 'मन्दरेन्द्राभिपेककल्याणभागी भव,' (सुमेरु पर्वतपर इन्द्रके द्वारा जन्माभिपेकके कल्याणको प्राप्त हो), 'निष्क्रान्तिकल्याणभागी भव' (निष्क्रमण कल्याणको प्राप्त करनेवाला हो), 'आर्हन्त्यकल्याणभागी भव' (अरहन्त अवस्था – केवलज्ञानकल्याणकको प्राप्त करनेवाला हो), और 'परमनिर्वाणकल्याणभागी भव' [उत्कृष्ट निर्वाण कल्याणकको

---

१ गर्भाधाने । २ पीठिकामन्त्रादिपुरःसर । ३ अवतारादिकल्याणादिपरमनिर्वाणपदान्ताना सर्वपदानाम् । मन्त्र इति पद विशेष्यपद भवति ।

भागी भवपदान्तश्च क्रमाद्वाच्यो मनीषिभिः । धृतिमन्त्रमितो[1] वक्ष्ये प्रीत्या शृणुत मां द्विजाः ॥१००॥

चूर्णिः—अवतारकल्याणभागी भव, मन्दरेन्द्राभिषेककल्याणभागी भव, निष्क्रान्तिकल्याणभागी भव, आर्हन्त्यकल्याणभागी भव, परमनिर्वाणकल्याणभागी भव, (सुप्रीतिमन्त्रः) ।

धृतिक्रियामन्त्रः—

आधानमन्त्र एवात्र[2] सर्वत्राहितदातृवाक् । मध्ये यथाक्रमं वाच्यो नान्यो भेदोऽत्र कश्चन ॥१०१॥

चूर्णिः—सज्जातिदातृभागी भव, सद्गृहिदातृभागी भव, मुनीन्द्रदातृभागी भव, सुरेन्द्रदातृभागी भव, परमराज्यदातृभागी भव, आर्हन्त्यपददातृभागी भव, परमनिर्वाणदातृभागी भव, (धृतिक्रियामन्त्रः) ।

मोदक्रियामन्त्रः—

मन्त्रो मोदक्रियायां च मतोऽयं मुनिसत्तमैः । पूर्वं सज्जातिकल्याणभागी भव पदं वदेत् ॥१०२॥

ततः सद्गृहिकल्याणभागी भव पदं पठेत् । ततो वैवाहकल्याणभागी भव पदं मतम् ॥१०३॥

ततो मुनीन्द्रकल्याणभागी भव पदं स्मृतम् । पुनः सुरेन्द्रकल्याणभागी भव पदात्परम् ॥१०४॥

मन्दराभिषेककल्याणभागीति च भवेति च । तस्माच्च यौवराज्यादिकल्याणपदसंयुतम् ॥१०५॥

प्राप्त करनेवाला हो) ये मन्त्र विद्वानोंको अनुक्रमसे बोलना चाहिए । अब आगे धृतिमन्त्र कहते है सो हे द्विजो, उन्हे तुम प्रीतिपूर्वक सुनो ॥९७–१००॥

संग्रह—'अवतारकल्याणभागी भव, मन्दरेन्द्राभिषेककल्याणभागी भव, निष्क्रान्ति-कल्याणभागी भव, आर्हन्त्यकल्याणभागी भव, परमनिर्वाणकल्याणभागी भव' ।

धृतिक्रियाके मन्त्र—गर्भाधान क्रियाके मन्त्रोमे सब जगह दातृ शब्द लगा देनेसे धृति क्रियाके मन्त्र हो जाते है, विद्वानोको अनुक्रमसे उन्हीका प्रयोग करना चाहिए, आधान क्रियाके मन्त्रोसे इन मन्त्रोमे और कुछ भेद नही है । भावार्थ—'सज्जातिदातृभागी भव' (सज्जाति-उत्तम जातिको देनेवाला हो), 'सद्गृहिदातृभागी भव' (सद्गृहस्थपदका देनेवाला हो), 'मुनीन्द्र-दातृभागी भव' (महामुनिपदका देनेवाला हो), 'सुरेन्द्रदातृभागी भव' (सुरेन्द्रपदको देनेवाला हो), 'परमराज्यदातृभागी भव' (उत्तमराज्य—चक्रवर्तीके पदका देनेवाला हो), आर्हन्त्यदातृ-भागी भव' (अरहन्त पदका देनेवाला हो) तथा 'परमनिर्वाणदातृभागी भव (उत्कृष्ट निर्वाण पदका देनेवाला हो) धृति क्रियामें इन मन्त्रोका पाठ करना चाहिए ॥१०१॥

संग्रह—'सज्जातिदातृभागी भव, सद्गृहिदातृभागी भव, मुनीन्द्रदातृभागी भव, सुरेन्द्र-दातृभागी भव, परमराज्यदातृभागी भव, आर्हन्त्यदातृभागी भव, परमनिर्वाणदातृभागी भव' ।

अब मोदक्रियाके मन्त्र कहते है – उत्तम मुनियोने मोदक्रियाके मन्त्र इस प्रकार माने है सबसे पहले 'सज्जातिकल्याणभागी भव' (सज्जातिके कल्याणको धारण करनेवाला हो) यह पद बोलना चाहिए, फिर सद्गृहिकल्याणभागी भव (उत्तम गृहस्थके कल्याणका धारण करनेवाला हो) यह पद पढना चाहिए, तदनन्तर 'वैवाहकल्याणभागी भव' (विवाहके कल्याण-को प्राप्त करनेवाला हो) इस पदका उच्चारण करना चाहिए, फिर 'मुनीन्द्रकल्याणभागी भव' (महामुनि पदके कल्याणको प्राप्त करनेवाला हो) यह मन्त्र बोलना चाहिए, इसके बाद 'सुरेन्द्रकल्याणभागी भव' ॥१०२॥ [इन्द्र पदके कल्याणका उपभोग करनेवाला हो], यह पद कहना चाहिए, फिर 'मन्दराभिषेककल्याणभागी भव' [सुमेरु पर्वतपर अभिषेकके कल्याणको प्राप्त हो] यह मन्त्र पढना चाहिए, अनन्तर 'यौवराज्यकल्याणभागी भव' [युवराज पदके कल्याण-का उपभोग करनेवाला हो] यह पद कहना चाहिए, तत्पश्चात् मन्त्रोके प्रयोग करनेमे विद्वान् लोगोको 'महाराज्यकल्याणभागी भव' [महाराज पदके कल्याणका उपभोक्ता हो] यह

---

१ मतो ल० । मयो द० । २ धृतिक्रियायाम् ।

भागीभवपदं वाच्यं मन्त्रयोगविशारदैः । स्यान्महाराज्यकल्याणभागी भव पदं परम् ॥१०६॥
भूयः परमराज्यादिकल्याणोपहितं[1] मतम् । भागी भवेत्यथार्हन्त्यकल्याणेन च योजितम् ॥१०७॥

चूर्णिः–सज्जातिकल्याणभागी भव, सद्गृहिकल्याणभागी भव, वैवाहकल्याणभागी भव, मुनीन्द्र-कल्याणभागी भव, सुरेन्द्रकल्याणभागी भव, मन्दराभिषेककल्याणभागी भव, यौवराज्यकल्याणभागी भव, महाराज्यकल्याणभागी भव, परमराज्यकल्याणभागी भव, आर्हन्त्यकल्याणभागी भव, (सोद्क्रिया मन्त्रः)।

प्रियोद्भवमन्त्रः–

प्रियोद्भवे च मन्त्रोऽयं सिद्धार्चनपुरःसरम् । दिव्यनेमिविजयाय पदात्परमनेमिवाक् ॥१०८॥
विजयायेत्यथार्हन्त्यनेम्यादिविजयाय च । युक्तो मन्त्राक्षरैरेभिः स्वाहान्तः संमतो द्विजैः ॥१०९॥

चूर्णिः–दिव्यनेमिविजयाय स्वाहा, परमनेमिविजयाय स्वाहा, आर्हन्त्यनेमिविजयाय स्वाहा। (प्रियोद्भवमन्त्रः)।

जन्मसंस्कारमन्त्रोऽयमेतेनार्भकमादितः । सिद्धाभिषेकगन्धाम्बुसंसिक्तं शिरसि स्थितम् ॥११०॥
कुलजातिवयोरूपगुणैः शीलप्रजान्वयैः । भाग्याविधवतासौम्यमूर्तित्वैः समधिष्ठिता ॥१११॥
सम्यग्दृष्टिस्तवाम्बेयमतस्त्वमपि[2] पुत्रकः । संप्रीतिमाप्नुहि त्रीणि[3] प्राप्य चक्राण्यनुक्रमात् ॥११२॥
इत्यङ्गानि स्पृशेदस्य प्रायः सारूप्ययोगतः[4] । तत्राधा[5]यात्मसंकल्पं[7] ततः सूक्तमिदं पठेत् ॥११३॥

मन्त्र बोलना चाहिए, फिर 'परमराज्यकल्याणभागी भव' (परमराज्यके कल्याणको प्राप्त हो) यह पद पढना चाहिए और उसके बाद 'आर्हन्त्यकल्याणभागी भव' (अरहन्त पदके कल्याणका उपभोग करनेवाला हो) यह मन्त्र बोलना चाहिए ॥१०३–१०७॥

सग्रह–'सज्जातिकल्याणभागी भव, सद्गृहिकल्याणभागी भव, वैवाहकल्याणभागी भव, मुनीन्द्रकल्याणभागी भव, सुरेन्द्रकल्याणभागी भव, मन्दराभिषेककल्याणभागी भव, यौवराज्य-कल्याणभागी भव, महाराज्यकल्याणभागी भव, परमराज्यकल्याणभागी भव, आर्हन्त्यकल्याण-भागी भव'।

अब प्रियोद्भव मन्त्र कहते है – प्रियोद्भव क्रियामें सिद्ध भगवान्‌की पूजा करनेके बाद नीचे लिखे मन्त्रोका पाठ करना चाहिए –

'दिव्यनेमिविजयाय', 'परमनेमिविजयाय', और 'आर्हन्त्यनेमिविजयाय' इन मन्त्रा-क्षरोके साथ द्विजोको अन्तमे स्वाहा शब्दका प्रयोग करना अभीष्ट है अर्थात् 'दिव्यनेमिविजयाय स्वाहा' (दिव्यनेमिके द्वारा कर्मरूप शत्रुओंपर विजय प्राप्त करनेवालेके लिए हवि समर्पण करता हूँ), परमनेमिविजयाय स्वाहा' (परमनेमिके द्वारा विजय प्राप्त करनेवालेके लिए समर्पण करता हूँ) और 'आर्हन्त्यनेमिविजयाय स्वाहा' (अरहन्त अवस्थारूप नेमिके द्वारा कर्म शत्रुओको जीतनेवाले जिनेन्द्रदेवके लिए समर्पण करता हूँ) ये तीन मन्त्र बोलना चाहिए ॥१०८–१०९॥

सग्रह–'दिव्यनेमिविजयाय स्वाहा, परमनेमिविजयाय स्वाहा, आर्हन्त्यनेमिविजयाय स्वाहा'।

अब जन्म सस्कारके मन्त्र कहते है – प्रथम ही सिद्ध भगवान्‌के अभिषेकके गन्धोदकसे सिचन किये हुए बालकको यह मन्त्र पढकर शिरपर स्पर्श करना चाहिए और कहना चाहिए कि यह तेरी माता कुल, जाति, अवस्था, रूप आदि गुणोसे सहित है, शीलवती है, सन्तानवती है, भाग्यवती है, अवैधव्यसे युक्त है, सौम्यशान्तमूर्तिसे सहित है और सम्यग्दृष्टि है इसलिए हे पुत्र, इस माताके सम्बन्धसे तू भी अनुक्रमसे दिव्य चक्र, विजयचक्र और परमचक्र तीनो चक्रोको पाकर सत्प्रीतिको प्राप्त हो ॥११०–११२॥ इस प्रकार आशीर्वाद देकर पिता

---

१ सहितम् । २ कुलजात्यादियथायोग्यगुणैरधिष्ठित । ३ दिव्यचक्रविजयचक्रपरमचक्राणि । ४ समानरूपत्व-सबन्धात् । ५ बालके । ६ विधाय । ७ निजसकल्पम् ।

अङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादपि जायसे । आत्मा वै पुत्र नामासि स जीव शरदः[1] शतम् ॥११४॥
क्षीराज्यममृतं[2] पूतं नाभावावर्ज्य[3] युक्तिभिः[4] । घातिंजयो भवेत्यस्य[5] ह्रासयेन्नाभिनालकम्[6] ॥११५॥
श्रीदेव्यो जात[7] ते जात[8]क्रियां कुर्वन्त्विति ब्रुवन् । तत्तनुं चूर्णवासेन[9] शनैरुद्वर्त्य यत्नतः ॥११६॥
त्वं मन्दराभिषेकार्हो भवेति स्नपयेत्ततः । गन्धाम्बुभिश्चिरं जीव्या[10] इत्याशास्याक्षतं क्षिपेत ॥११७॥
नश्यात्कर्ममलं कृत्स्नमित्यास्येऽस्य[11] सनासिके । घृतमौषधसंसिद्धमाव[12] पेन्मात्रया[13] द्विजः ॥११८॥
ततो विश्वेश्वरास्तन्यभागी[14] भूया इतीरयन्[15] । मातुस्तनमुपामन्त्र्य वदनेऽस्य समासजेत[16] ॥११९॥
प्राग्वर्णितमथानन्दं प्रीतिदानपुरःसरम् । विधाय विधिवत्तस्य जातकर्म समापयेत्[17] ॥१२०॥
जरायुपटलं चास्य नाभिनालसमायुतम् । शुचौ भूमौ निखातायां विक्षिपेन्मन्त्रमापठन् ॥१२१॥
सम्यग्दृष्टिपदं बोध्ये सर्वमातेति चापरम् । वसुंधरापदं चैव स्वाहान्तं द्विरुदाहरेत् ॥१२२॥
चूर्णिः—सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे सर्वमातः सर्वमातः वसुन्धरे वसुन्धरे स्वाहा ।
मन्त्रेणानेन संमन्त्र्य भूमौ सोदकमक्षतम् । क्षिप्त्वा गर्भमलं[18] न्यस्तपञ्चरत्नतले क्षिपेत् ॥१२३॥

उसके समस्त अगोका स्पर्श करे और फिर प्राय. अपने समान .होनेसे उसमें अपना संकल्प कर अर्थात् यह मै ही हूँ ऐसा आरोप कर नीचे लिखे हुए सुभाषित पढे ॥११३॥ हे पुत्र, तू मेरे अंग अंगसे उत्पन्न हुआ है और मेरे हृदयसे भी उत्पन्न हुआ है इसलिए तू पुत्र नामको धारण करनेवाला मेरा आत्मा ही है । तू सैकडो वर्षो तक जीवित रह ॥११४॥ तदनन्तर दूध और घीरूपी पवित्र अमृत उसकी नाभिपर डालकर 'घातिजयो भव' (तू घातिया कर्मोको जीतनेवाला हो) यह मन्त्र पढकर युक्तिसे उसकी नाभिका नाल काटना चाहिए ॥११५॥ तत्पश्चात् 'हे जात, श्रीदेव्य ते जातक्रियां कुर्वन्तु' अर्थात् हे पुत्र, श्री, ह्री आदि देवियाँ तेरी जन्मक्रियाका उत्सव करें यह कहते हुए धीरे-धीरे यत्नपूर्वक सुगन्धित चूर्णसे उस बालकके शरीरपर उवटन करे । फिर 'त्वं मन्दराभिषेकार्हो भव' अर्थात् तू मेरु पर्वतपर अभिषेक करने योग्य हो यह मन्त्र पढकर सुगन्धित जलसे उसे स्नान करावे और फिर 'चिरं जीव्या ' अर्थात् तू चिरकाल तक जीवित रह इस प्रकार आशीर्वाद देकर उसपर अक्षत डाले ॥११६–११७॥ इसके अनन्तर द्विज, 'नश्यात् कर्ममल कृत्स्नम्'–अर्थात् तेरे समस्त कर्ममल नष्ट हो जावे यह मन्त्र पढकर उसके मुख और नाकमे, औषधि मिलाकर तैयार किया हुआ घी मात्राके अनुसार छोडे ॥११८॥ तत्पश्चात् 'विश्वेश्वरीस्तन्यभागी भूयाः' अर्थात् तू तीर्थकरकी माताके स्तनका पान करनेवाला हो ऐसा कहता हुआ माताके स्तनको मन्त्रित कर उसे बालकके मुहमे लगा दे ॥११९॥ तदनन्तर जिस प्रकार पहले वर्णन कर चुके है उसी प्रकार प्रीतिपूर्वक दान देते हुए उत्सव कर विधिपूर्वक जातकर्म अथवा जन्मकालकी क्रिया समाप्त करनी चाहिए ॥१२०॥ उसके जरायु पटलको नाभिकी नालके साथ-साथ किसी पवित्र जमीनको खोदकर मन्त्र पढते हुए गाड देनाचाहिए ॥१२१॥ उसकी प्रक्रिया इस प्रकार है कि सम्बोधनान्त सम्यग्दृष्टि पद, सर्वमातापद और वसुन्धरा पदको दो-दो वार कहकर अन्तमे स्वाहा शब्द कहना चाहिए । अर्थात् सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे सर्वमात· सर्वमातः वसुन्धरे वसुन्धरे स्वाहा (सम्यग्दृष्टि, सर्वकी माता पृथ्वीमें यह समर्पण करता हूँ) इस मन्त्रसे मन्त्रित कर उस भूमिमें जल और अक्षत डालकर पॉच प्रकारके रत्नोके नीचे गर्भका वह मल रख देना चाहिए और फिर कभी 'त्वत्पुत्रा इव

१ बहुमवत्सरमित्यर्थ । २ क्षीराज्यरूपममृतम् । ३ सिक्त्वा । ४ युक्तित ल० । भक्तितः द० । ५ बालस्य । ६ ह्रस्व कुर्यात् । छिन्द्यादित्यर्थ । ७ पुत्र ८ जातकर्म । ९ परिमलचूर्णेन । १० जीव । ११ वक्त्रे । १२ आवर्जयेद्, क्षिपेद् वा । १३ किंचित् परिमाणेन । १४ जिनजननीस्तन्यपानभागी भव । १५ ब्रुवन् । १६ सयोजयेत् । १७ संप्रापयेत् । १८ जरायुपटलम् ।

त्वत्पुत्रा[1] इव मत्पुत्रा भूयासुश्चिरजीविनः । इत्युदाहृत्य तस्यार्हं तत्क्षेप्यं महीतले ॥१२४॥
क्षीरवृक्षोपशाखाभिरुपहत्य[2] च भूतलम् । स्नापया तत्रास्य मातासौ सुखोष्णैर्मन्त्रितैर्जलैः ॥१२५॥
सम्यग्दृष्टिपदं बोध्यविषयं द्विरुदीरयेत् । पदमासन्नभव्येति तद्वद् विश्वेश्वरेत्यपि[3] ॥१२६॥
तत ऊर्जितपुण्येति जिनमातृपदं तथा । स्वाहान्तो मन्त्र एष स्यान्मातुः सुस्नानसंविधौ ॥१२७॥

चूर्णिः–सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे आसन्नभव्ये आसन्नभव्ये विश्वेश्वरि विश्वेश्वरि ऊर्जितपुण्ये ऊर्जितपुण्ये जिनमातः जिनमातः स्वाहा ।

यथा जिनाम्बिका पुत्रकल्याणान्यभिपश्यति । तथेयमपि मत्पत्नीत्याशयेयं[4] विधिं भजेत् ॥१२८॥
तृतीयेऽहनि चानन्तज्ञानदर्शी भवेत्यमुम्[5] । आलोकयेत्समुत्क्षिप्य निशि ताराङ्कितं नभः ॥१२९॥
पुण्याहघोषणापूर्वं कुर्याद् दानं च शक्तितः । यथार्हमस्य विदध्याच्च सर्वस्याभयघोषणाम् ॥१३०॥
जातकर्मविधिः सोऽयमाम्नातः पूर्वसूरिभिः । यथायोगमनुष्ठेयः सोऽद्यत्वेऽपि द्विजोत्तमैः ॥१३१॥
नामकर्मविधाने च मन्त्रोऽयमनुकीर्त्यते । सिद्धार्चनविधौ सप्त मन्त्राः प्रागनुवर्णिताः ॥१३२॥
ततो दिव्याष्टसहस्रनामभागी भवादिकम् । पदत्रितयमुच्चार्य मन्त्रोऽत्र परिवर्त्यताम् ॥१३३॥

चूर्णिः–'दिव्याष्टसहस्रनामभागी भव, विजयाष्टसहस्रनामभागी भव, परमाष्टसहस्रनामभागी भव' ।

मत्पुत्रा चिरजीविनो भूयासु' (हे पृथ्वी तेरे पुत्र-कुलपर्वतोंके समान मेरे पुत्र भी चिरजीवी हों) यह कहकर धान्य उत्पन्न होनेके योग्य खेतमे जमीनपर वह मल डाल देना चाहिए ॥१२२–१२४॥ तदनन्तर क्षीर वृक्षकी डालियोसे पृथिवीको सुशोभित कर उसपर उस पुत्रकी माताको विठाकर मन्त्रित किये हुए सुहाते गरम जलसे स्नान कराना चाहिए ॥१२५॥ माताको स्नान करानेका मन्त्र यह है – प्रथम ही सम्बोधनान्त सम्यग्दृष्टि पदको दो वार कहना चाहिए फिर आसन्नभव्या, विश्वेश्वरी, ऊर्जितपुण्या, और जिनमाता इन पदोको भी सम्बोधनान्त कर दो-दो वार बोलना चाहिए और अन्तमे स्वाहा शब्द पढना चाहिए । भावार्थ – सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे आसन्नभव्ये आसन्नभव्ये विश्वेश्वरि विश्वेश्वरि ऊर्जितपुण्ये ऊर्जितपुण्ये जिनमातः जिनमात स्वाहा (हे सम्यग्दृष्टि, हे निकटभव्य, हे सबकी स्वामिनी, हे अत्यन्त पुण्य संचय करनेवाली, जिनमाता तू कल्याण करनेवाली हो) यह मन्त्र पुत्रकी माताको स्नान कराते समय बोलना चाहिए ॥१२६–१२७॥ जिस प्रकार जिनेन्द्रदेवकी माता पुत्रके कल्याणोको देखती है उसी प्रकार यह मेरी पत्नी भी देखे ऐसी श्रद्धासे यह स्नानकी विधि करनी चाहिए ॥ १२८॥ तीसरे दिन रातके समय 'अनन्तज्ञानदर्शी भव' (तू अनन्तज्ञानको देखनेवाला हो) यह मन्त्र पढकर उस पुत्रको गोदीमे उठाकर ताराओसे सुशोभित आकाश दिखाना चाहिए ॥ १२९ ॥ उसी दिन पुण्याहवाचनके साथ-साथ शक्तिके अनुसार दान करना चाहिए और जितना वन सके उतना सब जीवोके अभयकी घोषणा करनी चाहिए ॥ १३० ॥ इस प्रकार पूर्वाचार्योंने यह जन्मोत्सवकी विधि मानी है – कही है । उत्तम द्विजको आज भी इसका यथा-योग्य रीतिसे अनुष्ठान करना चाहिए ॥ १३१ ॥

अव आगे नामकर्म करते समय जिन मन्त्रोंका प्रयोग होता है उन्हे कहते है–इस विधिमे सिद्ध भगवान्‌की पूजा करनेके लिए जिन सात पीठिका मन्त्रोका प्रयोग होता है उन्हे पहले ही कह चुके है । उनके आगे 'दिव्याष्टसहस्रनामभागी भव' आदि तीनो पदोंका उच्चारण कर मन्त्र परिवर्तित कर लेना चाहिए अर्थात् 'दिव्याष्टसहस्रनामभागी भव' (एक हजार आठ दिव्य नामोका पानेवाला हो), 'विजयाष्टसहस्रनामभागी भव' (विजयरूप एक हजार आठ

---

१ कुलपर्वता इव । २ अलङ्कृत्येत्यर्थ । ३ विश्वेश्वरीत्यपि ल० । ४ एव बुद्ध्या । ५ पुत्रम् ।

शेषो विधिस्तु निःशेषः प्रागुक्तो नोच्यते पुनः। बहिर्यानक्रियामन्त्रः ततोऽयमनु गम्यताम्[1] ॥१३४॥

बहिर्यानक्रिया –

तत्रोपनयनिष्क्रान्तिभागी भव पदात्परम्। भवेद् वैवाहनिष्क्रान्तिभागी भव पदं ततः ॥१३५॥

क्रमान्मुनीन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव पदं वदेत्। ततः सुरेन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव पदं स्मृतम् ॥१३६॥

मन्दराभिषेकनिष्क्रान्तिभागीभव पदं तत। यौवराज्यमहाराज्यपदे भागी भवान्विते ॥१३७॥

निष्क्रान्तिपदमध्ये स्तां[2] परराज्यपदं तथा। आर्हन्त्यराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव शिखापदम्[3] ॥१३८॥

पदैरेभिरयं मन्त्रस्तद्विद्भिरनुजप्यताम्। प्रागुक्तो विधिरन्यस्तु निषद्यामन्त्र उत्तरः ॥१३९॥

चूर्णि–उपनयनिष्क्रान्तिभागी भव, वैवाहनिष्क्रान्तिभागी भव, मुनीन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव, सुरेन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव, मन्दराभिषेकनिष्क्रान्तिभागी भव, यौवराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव, महाराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव, परमराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव, आर्हन्त्यनिष्क्रान्तिभागी भव, (बहिर्यानमन्त्रः)

निषद्या –

दिव्यसिंहासनपदाद् भागी भव पदं भवेत्। एवं विजयपरमसिंहासनपदद्वयात् ॥१४०॥

नामोका धारक हो और 'परमाष्टसहस्रनामभागी भव' (अत्यन्त उत्तम एक हजार आठ नामोका पानेवाला हो) ये मन्त्र पढना चहिए।

संग्रह–'दिव्याष्टसहस्रनामभागी भव, विजयाष्टसहस्रनामभागी भव, परमाष्टसहस्रनामभागी भव' ॥१३२–१३३॥ वाकीकी समस्त विधि पहले कही जा चुकी है इसलिए दुवारा नही कहते हैं। अव आगे वहिर्यान क्रियाके मन्त्र नीचे लिखे अनुसार जानना चाहिए ॥१३४॥

सवसे पहले 'उपनयनिष्क्रान्तिभागी भव', (तू यज्ञोपवीतके लिए निकलनेवाला हो) यह पद वोलना चाहिए और फिर 'वैवाहनिष्क्रान्तिभागी भव' (विवाहके लिए वाहर निकलनेवाला हो) यह मन्त्र पढना चाहिए ॥१३५॥ तदनन्तर अनुक्रमसे 'मुनीन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव' (मुनिपदके लिए निकलनेवाला हो) यह मन्त्र कहना चाहिए और उसके वाद 'सुरेन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव' (सुरेन्द्र पदकी प्राप्तिके लिए निकलनेवाला हो) यह पद वोलना चाहिए ॥१३६॥ तत्पश्चात् 'मन्दरेन्द्राभिषेकनिष्क्रान्तिभागी भव' (सुमेरुपर्वतपर अभिषेकके लिए निकलनेवाला हो) इस मन्त्रका उच्चारण करना चाहिए और फिर 'यौवराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव' (युवराज पदके लिए निकलनेवाला हो) यह मन्त्र कहना चाहिए ॥१३७॥ तदनन्तर 'महाराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव' (महाराज पदकी प्राप्तिके लिए निकलनेवाला हो) यह पद वोलना चाहिए और उसके वाद 'परमराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव' (चक्रवर्तीका उत्कृष्ट राज्य पानेके लिए निकलनेवाला हो) यह मन्त्र पढ़ना चाहिए और इसके अनन्तर 'आर्हन्त्यराज्यभागी भव' (अरहन्त पदकी प्राप्तिके लिए निकलनेवाला हो) यह मन्त्र कहना चाहिए ॥१३८॥ इस प्रकार मन्त्रोको जानेवाले द्विजोको इन उपर्युक्त पदोके द्वारा मन्त्रोका जाप करना चाहिए। वाकी समस्त विधि पहले कह चुके है अव आगे निषद्या मन्त्र कहते है ॥१३९॥

संग्रह–'उपनयनिष्क्रान्तिभागी भव, वैवाहनिष्क्रान्तिभागी भव, मुनीन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव, सुरेन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव, मन्दराभिषेकनिष्क्रान्तिभागी भव, यौवराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव, महाराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव, परमराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव, आर्हन्त्यनिष्क्रान्तिभागी भव।

निषद्यामन्त्र :–'दिव्यसिंहासनभागी भव' (दिव्य सिंहासनका भोक्ता हो – इन्द्रके

---

१ ज्ञायताम्। २ स्याताम्। ३ अन्त्यपदम्।

चूर्णिः–दिव्यसिंहासनभागी भव, विजयसिंहासनभागी भव, परमसिंहासनभागी भव (इति निषद्यामन्त्रः) ।

अन्नप्राशनक्रिया–

[1]प्राशनेऽपि तथा मन्त्रं पदैस्त्रिभिरुदाहरेत् । तानि दिव्यविजयाक्षीणामृतपदानि वै ॥१५१॥
भागी भव पदेनान्ते युक्तान्यनुगतानि तु । पदैरेभिरयं मन्त्रः प्रयोज्यः प्राशने बुधैः ॥१५२॥

चूर्णिः–दिव्यामृतभागी भव, विजयामृतभागी भव, अक्षीणामृतभागी भव ।

व्युष्टिः–

व्युष्टिक्रियाश्रितं मन्त्रमितो वक्ष्ये यथाक्रमम् । तत्रोपनयनं जन्मवर्षवर्द्धनवाग्युतम् ॥१५३॥
भागी भव पदं ज्ञेयमादौ शेषपदाष्टके । वैवाहनिष्ठवर्द्धेन मुनिजन्मपदेन च ॥१५४॥
सुरेन्द्रजन्मना मन्दराभिषेकपदेन च । यौवराज्यमहाराज्यपदाभ्यामप्यनुक्रमात् ॥१५५॥
परमार्हन्त्यराज्याभ्यां वर्षवर्धनसंयुतम् । भागी भव पदं योज्यं ततो मन्त्रोऽयमुद्धृतः ॥१५६॥

चूर्णिः–उपनयनजन्मवर्षवर्द्धनभागी भव, वैवाहनिष्ठवर्षवर्द्धनभागी भव, मुनीन्द्रजन्मवर्षवर्द्धनभागी भव, सुरेन्द्रजन्मवर्षवर्द्धनभागी भव, मन्दराभिषेकवर्षवर्द्धनभागी भव, यौवराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव, महाराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव, परमराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव, आर्हन्त्यराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव, (व्युष्टिक्रियामन्त्रः)

आसनपर बैठनेवाला हो) 'विजयसिंहासनभागी भव' (चक्रवर्तीके विजयोन्मुख सिंहासनपर बैठनेवाला हो) और 'परमसिंहासनभागी भव' (तीर्थंकरके उत्कृष्ट सिंहासनपर बैठनेवाला हो) ये तीन मन्त्र कहना चाहिए ॥१४०॥

संग्रह–'दिव्यसिंहासनभागी भव, विजयसिंहासनभागी भव, परमसिंहासनभागी भव' ।

अब अन्नप्राशन क्रियाके मन्त्र कहते हैं – अन्नप्राशन क्रियाके समय तीन पदोंके द्वारा मन्त्र कहने चाहिए और वे पद दिव्यामृत, विजयामृत और अक्षीणामृत इनके अन्तमें भागी भव ये योग्य पद लगाकर बनाने चाहिए। विद्वानोंको अन्नप्राशन क्रियामें इन पदोंके द्वारा मन्त्रका प्रयोग करना चाहिए । भावार्थ – इस क्रियामें निम्नलिखित मन्त्र पढ़ने चाहिए–'दिव्यामृतभागी भव' (दिव्य अमृतका भोग करनेवाला हो), 'विजयामृतभागी भव' (विजयरूप अमृतका उपभोक्ता हो) और 'अक्षीणामृतभागी भव' (अक्षीण अमृतका भोक्ता हो) ॥१४१–१४२॥

संग्रह – 'दिव्यामृतभागी भव, विजयामृतभागी भव, अक्षीणामृतभागी भव' ।

अब यहाँसे आगे शास्त्रानुसार व्युष्टि क्रियाके मन्त्र कहते हैं – सबसे पहले 'उपनयन' के आगे 'जन्मवर्षवर्द्धन' पद लगाकर 'भागी भव' पद लगाना चाहिए और फिर अनुक्रमसे वैवाहनिष्ठ, मुनीन्द्रजन्म, सुरेन्द्रजन्म, मन्दराभिषेक, यौवराज्य, महाराज्य, परमराज्य और आर्हन्त्य-राज्य इन शेष आठ पदोंके साथ 'वर्षवर्द्धन' पद लगाकर 'भागी भव' यह पद लगाना चाहिए । ऐसा करनेसे व्युष्टिक्रियाके सब मन्त्र बन जावेंगे । भावार्थ – व्युष्टिक्रियामें निम्नलिखित मन्त्रों-का प्रयोग करना चाहिए – 'उपनयनजन्मवर्षवर्धनभागी भव' (यज्ञोपवीतरूप जन्मके वर्षका बढ़ानेवाला हो) 'वैवाहिनिष्ठवर्षवर्धनभागी भव' (विवाह क्रियाके वर्षका वर्धक हो), 'मुनीन्द्रजन्मवर्षवर्धनभागी' (मुनि पद धारण करनेवाले वर्षकी वृद्धिसे युक्त हो), 'सुरेन्द्र-जन्मवर्षवर्धनभागी भव' (इन्द्र जन्मके वर्षका बढ़ानेवाला हो), 'मन्दराभिषेकवर्षवर्धनभागी भव' (सुमेरु पर्वतपर होनेवाले अभिषेककी वर्ष वृद्धि करनेवाला हो), यौवराज्यवर्षवर्धन-भागी भव' (युवराज पदकी वर्ष वृद्धि करनेवाला हो), 'महाराज्यवर्षवर्धनभागी भव' (महाराज पदकी वर्षवृद्धिका उपभोक्ता हो) 'परमराज्यवर्षवर्धनभागी भव' (चक्रवर्तीके उत्कृष्ट राज्य

---

१ अन्नप्राशने ।

चौलकर्म –

चौलकर्मण्यथो मन्त्रः स्याच्चोपनयनादिकम् । मुण्डभागी भवान्तं च पदमादावनुस्मृतम् ॥१४७॥
ततो निर्ग्रन्थमुण्डादिभागी भवपदं परम् । ततो निष्क्रान्तिमुण्डादिभागी भव पदं परम् ॥१४८॥
स्यात्परमनिस्तारककेशभागी भवेत्यतः । परमेन्द्रपदादिश्च केशभागी भवध्वनिः ॥१४९॥
परमार्हन्त्यराज्यादिकेशभागीति वाग्द्वयम् । भवेत्यन्तपदोपेतं मन्त्रोऽस्मिन्स्याच्छिखापदम् ॥१५०॥
शिखामेतेन मन्त्रेण स्थापयेद्विधिवद् द्विजः । ततो मन्त्रोऽयमाम्नातो लिपिसंख्यानसंग्रहे ॥१५१॥

चूर्णिः–उपनयनमुण्डभागी भव, निर्ग्रन्थमुण्डभागी भव, परमनिस्तारककेशभागी भव, परमेन्द्रकेशभागी भव, परमराज्यकेशभागी भव, आर्हन्त्यराज्यकेशभागी भव । (इति चौलक्रियामन्त्रः)

शब्दपारभागी भव अर्थपारभागी भव । पदं शब्दार्थसंबन्धपारभागी भवेत्यपि ॥१५२॥

चूर्णिः–शब्दपारगामी (भागी) भव, अर्थपारगामी (भागी) भव, शब्दार्थपारगामी (भागी) भव, (लिपिसंख्यानमन्त्रः)

उपनीतिक्रियामन्त्रं स्मरन्तीमं द्विजोत्तमाः । परमनिस्तारकादिलिङ्गभागी भवेत्यतः ॥१५३॥

की वर्षवृद्धि करनेवाला हो) और 'आर्हन्त्यराज्यवर्षवर्धनभागी भव' (अरहन्त पदवीरूपी राज्यके वर्षका बढानेवाला हो) ॥१४३–१४६॥

संग्रह – 'उपनयनजन्मवर्षवर्धनभागी भव, वैवाहनिष्ठवर्षवर्द्धनभागी भव, मुनीन्द्रजन्मवर्षवर्धनभागी भव, सुरेन्द्रजन्मवर्षवर्धनभागी भव, मन्दराभिषेकवर्षवर्धनभागी भव, यौवराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव, महाराज्यवर्षवर्धनभागी भव, परमराज्यवर्षवर्धनभागी भव, आर्हन्त्यराज्यवर्षवर्धनभागी भव' ।

अब चौलक्रियाके मन्त्र कहते है – जिसके आदिमे उपनयन शब्द है और अन्तमें 'मुण्डभागी भव' शब्द है ऐसा पहला मन्त्र जानना चाहिए अर्थात् 'उपनयनमुण्डभागी भव' (उपनयन क्रियामे मुण्डन करनेवाला हो) यह चौलक्रियाका पहला मन्त्र है ॥१४७॥ फिर - 'निर्ग्रन्थमुण्डभागी भव' (निर्ग्रन्थ दीक्षा लेते समय मुण्डन करनेवाला हो) यह दूसरा मन्त्र है और उसके बाद 'निष्क्रान्तिमुण्डभागी भव' (मुनि अवस्थामे केशलोच करनेवाला हो) यह तीसरा मन्त्र है ॥१४८॥ तदनन्तर 'परमनिस्तारककेशभागी भव' (संसारसे पार उतारनेवाले आचार्यके केशोको प्राप्त हो) यह चौथा मन्त्र है और उसके पश्चात् 'परमेन्द्रकेशभागी भव' (इन्द्र पदके केशोको धारण करनेवाला हो) यह पाँचवाँ मन्त्र बोलना चाहिए ॥१४९॥ इसके बाद 'परमराज्यकेशभागी भव' (चक्रवर्तीके केशोंको प्राप्त हो) यह छठा मन्त्र है और 'आर्हन्त्यराज्यकेशभागी भव' (अरहन्त अवस्थाके केशोको धारण करनेवाला हो) यह सातवाँ मन्त्र बोलना चाहिए । द्विजोको इन मन्त्रोसे विधिपूर्वक चोटी रखवाना चाहिए । अब आगे लिपिसंख्यानके मन्त्र कहते है ॥१५०–१५१॥

संग्रह–'उपनयनमुण्डभागी भव, निर्ग्रन्थमुण्डभागी भव, निष्क्रान्तिमुण्डभागी भव, परमनिस्तारककेशभागी भव, परमेन्द्रकेशभागी भव, परमराज्यकेशभागी भव, आर्हन्त्यराज्यकेशभागी भव' ।

लिपिसख्यानके मन्त्र–'शब्दपारभागी भव' (शब्दोंका पारगामी हो), 'अर्थपारगामी भागी भव' (सम्पूर्ण अर्थका जाननेवाला हो) और 'शब्दार्थसंवन्धपारभागी भव' (शब्द तथा अर्थ दोनोके सम्बन्धका पारगामी हो) ये पद लिपिसख्यानके समय कहने चाहिए ॥१५२॥

सग्रह–'शब्दपारगामी भव, अर्थपारगामी भव, शब्दार्थपारगामी भव' ।

उत्तम द्विज नीचे लिखे हुए मन्त्रोको उपनीति क्रियाके मन्त्ररूपसे स्मरण करते है –

युक्तं परमर्षिलिङ्गेन भागीभवपदं भवेत्। परमेन्द्रादिलिङ्गादिभागी भवपदं परम् ॥१५४॥
एवं परमराज्यादि परमार्हन्त्यादि च क्रमात्। युक्तं परमनिर्वाणपदेन च शिखापदम् ॥१५५॥
चूर्णिः—परमनिस्तारकलिङ्गभागी भव, परमर्षिलिङ्गभागी भव, परमेन्द्रलिङ्गभागी भव, परमराज्यलिङ्गभागी भव, परमार्हन्त्यलिङ्गभागी भव, परमनिर्वाणलिङ्गभागी भव (इत्युपनीतिक्रियामन्त्रः)
मन्त्रेणानेन शिष्यस्य कृत्वा संस्कारमादितः। निर्विकारेण वस्त्रेण कुर्यादेनं सवाससम् ॥१५६॥
कौपीनाच्छादनं चैनं[1] मन्तर्वासेन कारयेत्। मौञ्जीबन्धमतः कुर्यादनुबद्धत्रिमेखलकम्[2] ॥१५७॥
सूत्रं[3] गणधरैर्दृब्धं व्रतचिह्नं नियोजयेत्। मन्त्रपूतमतो यज्ञोपवीती स्यादसौ द्विजः ॥१५८॥
जात्येव ब्राह्मणः पूर्वमिदानीं व्रतसंस्कृतः। द्विर्जातो द्विज इत्येवं रूढिमास्तिघ्नुते[4] गुणैः ॥१५९॥
देयान्यणुव्रतान्यस्मै गुरुसाक्षि यथाविधिः। गुणशीलानुगैश्चैनं संस्कुर्याद् व्रतजातकैः[5] ॥१६०॥
ततोऽतिबालविद्यादीन्[6] योगादस्य निर्दिशेत्। दत्त्वोपासकाध्ययनं नामापि चरणोचितम् ॥१६१॥
ततोऽयं कृतसंस्कारः सिद्धार्चनपुरःसरम्। यथाविधानमाचार्यपूजां कुर्यादतः परम् ॥१६२॥
तस्मिन्दिने प्रविष्टस्य भिक्षार्थं जातिवेश्मसु। योऽर्थलाभः स देयः स्यादुपाध्यायाय सादरम् ॥१६३॥

सबसे पहले 'परमनिस्तारकलिङ्गभागी भव' (तू उत्कृष्ट आचार्यके चिह्नोको धारण करनेवाला हो), फिर 'परमर्षिलिङ्गभागी भव' (परमऋषियोके चिह्नको धारण करनेवाला हो) और 'परमेन्द्रलिगभागी भव' (परम इन्द्रपदके चिह्नोको धारण करनेवाला हो) ये मन्त्र बोलना चाहिए। इसी प्रकार अनुक्रमसे परम राज्य, परमार्हन्त्य और परम निर्वाण पदको 'लिङ्गभागी भव' पदसे युक्त कर 'परमराज्यलिङ्गभागी भव' (परमराज्यके चिह्नोको धारण करनेवाला हो), 'परमार्हन्त्यलिगभाग भव' (उत्कृष्ट अरहन्तदेवके चिह्नोको धारण करनेवाला हो) और 'परमनिर्वाणलिङ्गभागी भव' (परमनिर्वाणके चिह्नोंका धारक हो) ये मन्त्र बना लेना चाहिए ॥१५३-१५५॥

संग्रह—'परमनिस्तारकलिङ्गभागी भव, परमर्षिलिङ्गभागी भव, परमेन्द्रलिगभागी भव, परमराज्यलिङ्गभागी भव, परमार्हन्त्यलिङ्गभागी भव, परमनिर्वाणलिगभागी भव'।

इन मन्त्रोसे प्रथम ही शिष्यका सस्कार कर उसे विकाररहित वस्त्रके द्वारा वस्त्रसहित करना चाहिए अर्थात् साधारण वस्त्र पहनाना चाहिए ॥१५६॥ इसे वस्त्रके भीतर लँगोटी देनी चाहिए और उसपर तीन लड़की बनी हुई मूँजकी रस्सी बाँधनी चाहिए ॥१५७॥ तदनन्तर गणधरदेवके द्वारा कहा हुआ, व्रतोंका चिह्नस्वरूप और मन्त्रोंसे पवित्र किया हुआ सूत्र अर्थात् यज्ञोपवीत धारण कराना चाहिए। यज्ञोपवीत धारण करनेपर वह बालक द्विज कहलाने लगता है ॥१५८॥ पहले तो वह केवल जन्मसे ही ब्राह्मण था और अब व्रतोसे सस्कृत होकर दूसरी बार उत्पन्न हुआ है इसलिए दो बार उत्पन्न होनेरूप गुणोसे वह द्विज ऐसी रूढिको प्राप्त होता है ॥१५९॥ उस समय उस पुत्रके लिए विधिके अनुसार गुरुकी साक्षीपूर्वक अणुव्रत देना चाहिए और गुणव्रत तथा शिक्षाव्रत रूपशीलसे सहित व्रतोके समूहसे उसका सस्कार करना चाहिए। भावार्थ – उसे पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस प्रकार व्रत और शील देकर उसके सस्कार अच्छे बनाना चाहिए ॥१६०॥ तदनन्तर गुरु उसे उपासकाध्ययन पढाकर और चारित्रके योग्य उसका नाम रखकर अतिबाल विद्या आदिका नियोगरूपसे उपदेश दे ॥१६१॥ इसके बाद जिसका संस्कार किया जा चुका है ऐसा वह पुत्र सिद्ध भगवान्की पूजा कर फिर विधिके अनुसार अपने आचार्यकी पूजा करे ॥१६२॥ उस दिन उस पुत्रको

---

१ वस्त्रस्यान्तः। २ त्रिगुणात्मकम्। ३ ब्रह्मसूत्रम्। ४ प्राप्नोति। ५ समूहै। ६ वक्ष्यमाणान्।

शेषो विधिस्तु प्राक्प्रोक्तः तमनूनं समाचरेत् । यावद्‌ध्योऽधीतविद्यः सन् भजेत् सब्रह्मचारिताम् ॥१६४॥
अथातोऽस्य प्रवक्ष्यामि व्रतचर्यामनुक्रमात् । स्याद्यत्रोपासकाध्यायः समासेनानुसंहृतः[1] ॥१६५॥
शिरोलिङ्गमुरोलिङ्गं लिङ्गकट्यूरुसंश्रितम् । लिङ्गमस्योपनीतस्य प्रागनिर्णीतं चतुर्विधम् ॥१६६॥
तत्तु स्यादसिवृत्त्या वा मष्या कृष्या वणिज्यया । यथास्वं वर्तमानानां[2] सद्दृष्टीनां द्विजन्मनाम् ॥१६७॥
कुतश्चित् कारणाद् यस्य कुलं संप्राप्तदूषणम् । सोऽपि राजादिसंमत्या शोधयेत् स्वं यदा कुलम् ॥१६८॥
तदास्योपनयार्हत्वं पुत्रपौत्रादिसन्ततौ । न निषिद्धं हि दीक्षार्हे कुले चेदस्य पूर्वजाः ॥१६९॥
अदीक्षार्हे कुले जाता विद्याशिल्पोपजीविनः । एतेषामुपनीत्यादिसंस्कारो नाभिसंमतः ॥१७०॥
तेषां स्यादुचितं लिङ्गं स्वयोग्यव्रतधारिणाम् । एकशाटकधारित्वं संन्यासमरणावधि ॥१७१॥
स्यान्निरामिषभोजित्वं[3] कुलस्त्रीसेवनव्रतम् । अनारम्भवधोत्सर्गो[4] ह्यभक्ष्यापेयवर्जनम् ॥१७२॥
इति शुद्धतरां वृत्तिं व्रतपूतामुपेयिवान् । यो द्विजस्तस्य संपूर्णो व्रतचर्याविधिः स्मृतः ॥१७३॥
दशाधिकारास्तस्योक्ताः सूत्रेणौपासिकेन हि । तान्यथाक्रममुद्देशमात्रेणानुप्रचक्ष्महे ॥१७४॥

अपनी जाति या कुटुम्बके लोगोके घरमे प्रवेश कर भिक्षा मॉंगना चाहिए और उस भिक्षामे जो कुछ अर्थका लाभ हो उसे आदर सहित उपाध्यायके लिए सौंप देना चाहिए ॥१६३॥ बाकीकी सब विधि पहले कही जा चुकी है। उसे पूर्णरूपसे करना चाहिए। इसके सिवाय वह जबतक विद्या पढता रहे तबतक उसे ब्रह्मचर्यव्रत पालन करना चाहिए ॥१६४॥

अथानन्तर जिसमे उपासकाध्ययनका सक्षेपसे सग्रह किया है ऐसी इसकी व्रतचर्याको अनुक्रमसे कहता हूँ ॥१६५॥ जिसका यज्ञोपवीत हो चुका है ऐसे बालकके लिए शिरका चिह्न (मुण्डन), वक्ष स्थलका चिह्न–यज्ञोपवीत, कमरका चिह्न – मूँजकी रस्सी और जाँघका चिह्न – सफेद धोती ये चार प्रकारके चिह्न धारण करना चाहिए। इनका निर्णय पहले हो चुका है ॥१६६॥ जो लोग अपनी योग्यताके अनुसार तलवार आदि शस्त्रोके द्वारा, स्याही अर्थात् लेखनकलाके द्वारा, खेती और व्यापारके द्वारा अपनी आजीविका करते हैं ऐसे सद्दृष्टि द्विजोको वह यज्ञोपवीत धारण करना चाहिए ॥१६७॥ जिसके कुलमे किसी कारणसे दोष लग गया हो ऐसा पुरुष भी जब राजा आदिकी सम्मतिसे अपने कुलको शुद्ध कर लेता है तब यदि उसके पूर्वज दीक्षा धारण करनेके योग्य कुलमे उत्पन्न हुए हों तो उसके पुत्र पौत्र आदि सन्ततिके लिए यज्ञोपवीत धारण करनेकी योग्यताका कही निषेध नही है। भावार्थ–यदि दीक्षा धारण करने योग्य कुलमे किसी कारणसे दोष लग जावे तो राजा आदिकी सम्मतिसे उसकी शुद्धि हो सकती है और उस कुलके पुरुषको यज्ञोपवीत भी दिया जा सकता है। न केवल उसी पुरुषको किन्तु उसके पुत्र पौत्र आदि सन्तानके लिए भी यज्ञोपवीत देनेका कही निषेध नही है ॥१६८–१६९॥ जो दीक्षाके अयोग्य कुलमे उत्पन्न हुए हैं तथा नाचना गाना आदि विद्या और शिल्पसे अपनी आजीविका करते हैं ऐसे पुरुषोको यज्ञोपवीत आदि संस्कारोकी आज्ञा नही है ॥१७०॥ किन्तु ऐसे लोग यदि अपनी योग्यतानुसार व्रत धारण करें तो उनके योग्य यह चिह्न हो सकता है कि वे संन्यासमरण पर्यन्त एक धोती पहने ॥१७१॥ यज्ञोपवीत धारण करनेवाले पुरुषोको मांस-रहित भोजन करना चाहिए, अपनी विवाहिता कुलस्त्रीका सेवन करना चाहिए, अनारम्भी हिंसाका त्याग करना चाहिए और अभक्ष्य तथा अपेय पदार्थका परित्याग करना चाहिए ॥१७२॥ इस प्रकार जो द्विज व्रतोसे पवित्र हुई अत्यन्त शुद्ध वृत्तिको धारण करता है उसके व्रतचर्याकी पूर्ण विधि समझनी चाहिए ॥१७३॥ अब उन द्विजोंके लिए उपासकाध्ययन सूत्रमे जो दश

१ संगृहीत । २ जीवताम् । ३ मांसरहितभोजित्वम् । ४ आरम्भजनितवध निरारम्भवधत्याग. ।

तत्रातिबालविद्याऽद्या कुलावधिरनन्तरम् । वर्णोत्तमत्वपात्रत्वे तथा सृष्टयधिकारिता ॥१७५॥
व्यवहारेशिताऽन्या स्यादवध्यत्वमदण्ड्यता । मानार्हता प्रजासम्बन्धान्तरं चेत्यनुक्रमात् ॥१७६॥
दशाधिकारवस्तूनि स्युरुपासकसंग्रहे । तानीमानि यथोद्देशं संक्षेपेण विवृण्महे ॥१७७॥
बाल्यात्प्रभृति या[1] विद्याशिक्षोद्योगाद् द्विजन्मनः । प्रोक्तातिबालविद्येति सा क्रिया द्विजसंमता ॥१७८॥
तस्यामसत्यां मूढात्मा हेयादेयानभिज्ञकः । मिथ्याश्रुतिं प्रपद्येत द्विजन्मान्यैः[2] प्रतारितः ॥१७९॥
बाल्य एव ततोऽभ्यस्येद् द्विजन्मौपासिकीं श्रुतिम् । स तया प्राप्तसंस्कारः स्वपरोत्तारको भवेत् ॥१८०॥
कुलावधिः कुलाचाररक्षणं स्यात् द्विजन्मनः । तस्मिन्नसत्यसौ नष्टक्रियोऽन्यकुलतां भजेत्[3] ॥१८१॥
वर्णोत्तमत्वं वर्णेषु सर्वेष्वाधिक्यमस्य वै । तेनायं श्लाघ्यतामेति स्वपरोद्धारणक्षमः ॥१८२॥
वर्णोत्तमत्वं यद्यस्य न स्यान्न स्यात्प्रकृष्टता । अप्रकृष्टश्च नात्मानं शोधयेन्न परानपि ॥१८३॥
ततोऽयं शुद्धिकामः सन् सेवेतान्यं कुलिङ्गिनम् । कुब्रह्म[4] वा[5] ततस्तज्जान् दोषान् प्राप्नोत्यसंशयम् ॥१८४॥
प्रदानार्हत्वमस्येष्टं पात्रत्वं गुणगौरवात् । गुणाधिको हि लोकेऽस्मिन् पूज्यः स्याल्लोकपूजितैः ॥१८५॥
ततो गुणकृतां स्वस्मिन् पात्रतां दृढयेद्द्विजः । तदभावे विमान्यत्वाद् ह्रियतेऽस्य धनं नृपैः ॥१८६॥

अधिकार कहे है उन्हे यथाक्रमसे नामके अनुसार कहता हूँ ॥१७४॥ उन दश अधिकारोमे पहला अतिबाल विद्या, दूसरा कुलावधि, तीसरा वर्णोत्तमत्व, चौथा पात्रत्व, पाँचवाँ सृष्टयधिकारिता, छठा व्यवहारेशिता, सातवाँ अवध्यत्व, आठवाँ अदण्ड्यता, नौवाँ मानार्हता और दशवाँ प्रजासम्बन्धान्तर है। उपासकसंग्रहमें अनुक्रमसे ये दश अधिकारवस्तुएँ बतलायी गयी है। उन्ही अधिकार वस्तुओंका उनके नामके अनुसार यहाँ संक्षेपसे कुछ विवरण करता हूँ। ॥१७५-१७७॥ द्विजोको जो बाल्य अवस्थासे ही लेकर विद्या सिखलानेका उद्योग किया जाता है उसे अतिबालविद्या कहते हैं, यह विद्या द्विजोको अत्यन्त इष्ट है ॥१७८॥ इस अतिबाल विद्याके अभावमें द्विज मूर्ख रह जाता है उसे हेय उपादेयका ज्ञान नही हो पाता और वह अपनेको झूठमूठ द्विज माननेवाले पुरुषोके द्वारा ठगाया जाकर मिथ्या शास्त्रके अध्ययनमें लग जाता है ॥१७९॥ इसलिए द्विजोंको उचित है कि वे बाल्य अवस्थामें ही श्रावकाचारके शास्त्रोका अभ्यास करे क्योंकि उपासकाचारके शास्त्रोके द्वारा जिसे अच्छे संस्कार प्राप्त हो जाते है वह निज और परको तारनेवाला हो जाता है ॥१८०॥ अपने कुलके आचारकी रक्षा करना द्विजोकी कुलावधि क्रिया कहलाती है। कुलके आचारकी रक्षा न होनेपर पुरुषकी समस्त क्रियाएँ नष्ट हो जाती है और वह अन्य कुलको प्राप्त हो जाता है ॥१८१॥ समस्त वर्णोमे श्रेष्ठ होना ही इसकी वर्णोत्तम क्रिया है, इस वर्णोत्तम क्रियासे ही यह प्रशसाको प्राप्त होता है और निज तथा परका उद्धार करनेमे समर्थ होता है ॥१८२॥ यदि इसके वर्णोत्तम क्रिया नही है अर्थात् इसका वर्ण उत्तम नही है तो इसके उत्कृष्टता नही हो सकती और जो उत्कृष्ट नही है वह न तो अपने-आपको शुद्ध कर सकता है और न दूसरेको ही शुद्ध कर सकता है ॥१८३॥ जो स्वय उत्कृष्ट नही है ऐसे द्विजको अपनी शुद्धिकी इच्छासे अन्य कुलिगियो अथवा कुब्रह्मकी सेवा करनी पडती है और ऐसी दशामे वह नि.सन्देह उन लोगोमे उत्पन्न हुए दोषोंको प्राप्त होता है। भावार्थ—सदा ऐसे ही कार्य करना चाहिए जिससे वर्णकी उत्तमतामे बाधा न आवे ॥१८४॥ गुणोका गौरव होनेसे दान देनेके योग्य पात्रता भी इन्ही द्विजोमें होती है क्योकि जो गुणोसे अधिक होता है वह ससारमें सब लोगोके द्वारा पूजित होनेवाले लोगोके द्वारा भी पूजा जाता है ॥१८५॥ इसलिए द्विजोको चाहिए कि वे अपने-आपमे गुणो-

---

१ यो विद्याशिक्षोद्योगो द्विजन्मन द०, ल०, अ०, स०, इ०। २ द्विजम्मन्यै द०। ३ व्रजेत् द०, ल०। ४ कुत्सितब्रह्माणम्। ५ कुलिंगकुब्रह्मसेवनात्।

रक्ष्यः सृष्ट्यधिकारोऽपि द्विजैरुत्तमसृष्टिभिः । असद्दृष्टिकृतां सृष्टिं परिहृत्य विदूरतः ॥१८७॥
अन्यथा सृष्टिवादेन दुर्दृष्टेन[1] कुदृष्टयः । लोकं नृपांश्च संमोह्य नयन्त्युत्पथगामिताम् ॥१८८॥
सृष्ट्यन्तरमतो दूरमपास्य नयतत्त्ववित् । अनादिक्षत्रियैः सृष्टां धर्मसृष्टिं प्रभावयेत् ॥१८९॥
तीर्थकृद्भिरियं सृष्टा धर्मसृष्टिः सनातनी । तां[2] संश्रितान्नृपानेव[3] सृष्टिहेतून् प्रकाशयेत् ॥१९०॥
अन्यथाऽन्यकृतां सृष्टिं प्रपन्नाः स्युर्नृपोत्तमाः । ततो नैश्वर्यमेषां स्यात्तत्रस्थाश्च स्युरार्हताः ॥१९१॥
व्यवहारेशितां प्राहुः प्रायश्चित्तादिकर्मणि । स्वतन्त्रतां द्विजस्यास्य श्रितस्य परमां श्रुतिम् ॥१९२॥
तदभावे स्वमन्यांश्च न शोधयितुमर्हति । अशुद्धः परतः शुद्धिमभीप्सन्न्यक्कृतो[4] भवेत् ॥१९३॥
स्यादवध्याधिकारेऽपि स्थिरात्मा द्विजसत्तमः । ब्राह्मणो हि गुणोत्कर्षान्नान्यतो[5] वधमर्हति ॥१९४॥
सर्वः प्राणी न हन्तव्यो ब्राह्मणस्तु विशेषतः । गुणोत्कर्षापकर्षाभ्यां वधेऽपि द्व्यात्मता[6] मता ॥१९५॥
तस्मादवध्यतामेष पोषयेद् धार्मिके जने । धर्मस्य तद्धि माहात्म्यं तत्स्थो यन्नाभिभूयते ॥१९६॥
तदभावे च वध्यत्वमयमृच्छति सर्वतः । एवं च सति धर्मस्य नश्येत् प्रामाण्यमर्हताम् ॥१९७॥

के द्वारा की हुई पात्रताको दृढ करें अर्थात् गुणी पात्र बनें क्योंकि पात्रताके अभावमे मान्यता नही रहती और मान्यताके न होनेसे राजा लोग भी धन हरण कर लेते है ॥१८६॥ जिनकी सृष्टि उत्तम है ऐसे द्विजोको मिथ्यादृष्टियोके द्वारा की हुई सृष्टिको दूरसे ही छोड़कर अपनी सृष्टिके अधिकारोंकी रक्षा करनी चाहिए ॥१८७॥ अन्यथा मिथ्यादृष्टि लोग अपने दूषित सृष्टिवादसे लोगोको और राजाओको मोहित कर कुमार्गगामी बना देगे ॥१८८॥ इसलिए नय और तत्त्वोको जाननेवाले द्विजको चाहिए कि मिथ्यादृष्टियोंकी अन्यसृष्टिको दूरसे ही छोड़कर अनादिक्षत्रियोके द्वारा रची हुई धर्मसृष्टिकी ही प्रभावना करे ॥१८९॥ तथा इस धर्मसृष्टिका आश्रय लेनेवाले राजाओसे ऐसा कहे कि तीर्थंकरोके द्वारा रची हुई यह सृष्टि अनादिकालसे चली आयी है। भावार्थ – यह धर्मसृष्टि तीर्थंकरोके द्वारा रची हुई है और अनादि कालसे चली आ रही है इसलिए आप भी इसकी रक्षा कीजिए ॥१९०॥ यदि द्विज राजाओसे ऐसा नही कहेगे तो वे अन्य लोगोके द्वारा की हुई सृष्टिको मानने लगेगे जिसमे उनका ऐश्वर्य नही रह सकेगा तथा अरहन्तके मतको माननेवाले लोग भी उसी धर्मको मानने लगेगे ॥१९१॥ परमागमका आश्रय लेनेवाले द्विजोको जो प्रायश्चित्त आदि कार्योमे स्वतन्त्रता है उसे ही व्यवहारेशिता कहते है ॥१९२॥ व्यवहारेशिताके अभावमे द्विज न अपने आपको शुद्ध कर सकेगा और न दूसरेको ही शुद्ध कर सकेगा तथा स्वयं अशुद्ध होनेपर यदि दूसरेसे अपनी शुद्धि करना चाहे तो वह कभी कृती नही हो सकेगा ॥१९३॥ जिसका अन्त करण स्थिर है ऐसा उत्तम द्विज अवध्याधिकारमें भी स्थित रहता है अर्थात् अवध्य है क्योंकि ब्राह्मण गुणोकी अधिकताके कारण किसी दूसरेके द्वारा वध करने योग्य नही होता ॥१९४॥ सब प्राणियोको नही मारना चाहिए और विशेषकर ब्राह्मणोको नही मारना चाहिए। इस प्रकार गुणोकी अधिकता और हीनतासे हिसामे भी दो भेद माने गये है ॥१९५॥ इसलिए वह धार्मिक जनोमे अपनी अवध्यता-को पुष्ट करे। यथार्थमे वह धर्मका ही माहात्म्य है कि जो इस धर्ममे स्थित रहकर किसीसे तिरस्कृत नही हो पाता ॥१९६॥ यदि वह अपनी अवध्यताको पुष्ट न करेगा तो सब लोगो-से वध्य हो जावेगा अर्थात् सब लोग उसे मारने लगेगे और ऐसा होनेपर अर्हन्तदेवके धर्मकी

---

१ असमीक्षितेन कुदृष्टान्तेन वा । २ तां धर्मसृष्टिं प्रकाशयेदित्यर्थः । ३ आत्मानमाश्रिता । अथवा पूर्वं ना संश्रिता बोधयेत् तद्‌वक्तव्यार्थम् । ४ –न्यक्कृतो ल० । –न्यक्कृती द० । ५ नृपादेः सकाशात् । ६ द्विरूपता (दुष्टनिग्रहशिष्टप्रतिपालनता) ।

ततः सर्वप्रयत्नेन रक्ष्यो धर्मः सनातनः । स हि संरक्षितो रक्षां करोति सचराचरे ॥१९८॥
स्यादण्ड्यत्वमप्येवमस्य धर्मे स्थिरात्मनः । धर्मस्थो हि जनोऽन्यस्य दण्डप्रस्थापने प्रभुः ॥१९९॥
[1]तद्धर्मस्थीयमाम्नायं[3] भावयन् धर्मदर्शिभिः[4] । अधर्मस्थेषु दण्डस्य प्रणेता धार्मिको नृपः ॥२००॥
परिहार्यं यथा देवगुरुद्रव्यं हितार्थिभिः । ब्रह्मस्वं च तथाभूतं न दण्डार्हस्ततो द्विजः ॥२०१॥
युक्त्यानया गुणाधिक्यमात्मन्यारोपयन् वशी । अदण्ड्यपक्षे स्वात्मानं स्थापयेद्दण्डधारिणाम्[5] ॥२०२॥
अधिकारे ह्यसत्यस्मिन् स्याद्दण्ड्योऽयं यथेतरः । ततश्च निःस्वतां प्राप्तो नेहामुत्र च नन्दति ॥२०३॥
मान्यत्वमस्य संधत्ते मानार्हत्वं सुभावितम् । गुणाधिको हि मान्यः स्याद् वन्द्यः पूज्यश्च सत्तमैः ॥२०४॥
असत्यस्मिन्नमान्यत्वमस्य स्यात् संमतैर्जनैः । [6]ततश्च स्थानमानादिलाभाभावात्[7] पदच्युतिः ॥२०५॥
तस्मादयं [8]गुणैर्यत्नादात्मन्यारोपयतां द्विजैः[9] । यतश्च ज्ञानवृत्तादिसंपत्तिः सोऽर्च्यतां नृपैः[10] ॥२०६॥
स्यात् प्रजान्तरसंबन्धे[11] स्वोन्नतेरपरिच्युतिः । याऽस्य सोक्ता प्रजासंबन्धान्तरं नामतो गुणः ॥२०७॥
यथा कालायसाविद्धं[12] स्वर्णं याति विवर्णताम् । न तथाऽस्यान्यसंबन्धे स्वगुणोत्कर्षविप्लवः ॥२०८॥

प्रामाणिकता नष्ट हो जावेगी ॥१९७॥ इसलिए सब प्रकारके प्रयत्नोंसे सनातनधर्मकी रक्षा करनी चाहिए। क्योंकि अच्छी तरह रक्षा किया हुआ धर्म ही चराचर पदार्थोंसे भरे हुए संसारमें उसकी रक्षा कर सकता है ॥१९८॥ इसी प्रकार धर्ममें जिसका अन्तःकरण स्थिर है ऐसे इस द्विजको अपने अदण्डयत्वका भी अधिकार है क्योंकि धर्ममे स्थिर रहनेवाला मनुष्य ही दूसरेके लिए दण्ड देनेमे समर्थ हो सकता है ॥१९९॥ इसलिए धर्मदर्शी लोगोंके द्वारा दिखलायी हुई धर्मात्मा जनोंकी आम्नायका विचार करता हुआ ही धार्मिक राजा अधर्मी जनोंको दण्ड देता है ॥२००॥ जिस प्रकार अपना हित चाहनेवाले पुरुषोंके द्वारा देवद्रव्य और गुरुद्रव्य त्याग करने योग्य है उसी प्रकार ब्राह्मणका धन भी त्याग करने योग्य है। इसलिए ही द्विज दण्ड देनेके योग्य नही है ॥२०१॥ इस युक्तिसे अपनेमे अधिक गुणोंका आरोप करता हुआ वह जितेन्द्रिय दण्ड देनेवाले राजा आदिके समक्ष अपने आपको अदण्डय अर्थात् दण्ड न देने योग्य पक्षमे ही स्थापित करता है। भावार्थ—वह अपने आपमे इतने अधिक गुण प्राप्त कर लेता है कि जिससे उसे कोई दण्ड नही दे सकते ॥२०२॥ इस अधिकारके अभावमें अन्य पुरुषोंके समान ब्राह्मण भी दण्डित किया जाने लगेगा जिससे वह दरिद्र हो जावेगा और दरिद्र होनेसे न तो इस लोकमे सुखी हो सकेगा और न परलोकमे ही ॥२०३॥ यह ब्राह्मण जो अच्छी तरह सन्मानके योग्य होता है वही इसका मान्यत्व अधिकार है सो ठीक ही है क्योंकि जो गुणोंसे अधिक होता है अर्थात् जिसमे अधिक गुण पाये जाते हैं वही पुरुषोंके द्वारा सन्मान करने योग्य, वन्दना करने योग्य और पूजा करने योग्य होता है ॥२०४॥ इस अधिकारके न होनेसे उत्तम पुरुष इसका सन्मान नही करेंगे और उसके स्थान मान लाभ आदिका अभाव होनेके कारण वह अपने पदसे च्युत हो जावेगा। इसलिए द्विजको चाहिए कि वह यह गुण (मान्यत्व गुण) बडे यत्नसे अपने आपमें आरोपित करे क्योंकि ज्ञान चारित्र आदि सम्पदाएँ ही उसका यत्न है इसलिए राजाओंको उसकी पूजा करनी चाहिए ॥२०५–२०६॥ प्रजान्तर अर्थात् अन्य धर्मावलम्बियोंके साथ सम्बन्ध होनेपर भी जो अपनी उन्नतिसे च्युत नही होना है वह इसका प्रजासम्बन्धान्तर नामका गुण है ॥२०७॥ जिस प्रकार काले लोहके साथ मिला हुआ सुवर्ण

१ तत्कारणात्। २ धर्मसम्बन्धिनम्। ३ आगमम्। ४ धर्माचार्यमतात् दण्ड करोतीति तात्पर्यम्। ५ धारिणम् अ०, प०, इ०, स०। ६ अमान्यत्वात्। ७ पूर्वस्थितस्य स्थानमानादिलाभस्याभावात्। ८ गुणो द०। ९ द्विज ल०। १० सोज्झता न तै. द०। ११ संबन्धे सति। १२ अयोयुक्तम्।

किन्तु प्रजान्तरं स्वेन संबद्धं स्वगुणानयम्[1]। प्रापयत्यचिरादेव लोहधातुं यथा रसः ॥२०९॥
ततो महानयं धर्मप्रभावोद्योतको गुणः। येनायं[2] स्वगुणैरन्यानात्मसात्कर्तुमर्हति ॥२१०॥
असत्यस्मिन् गुणेऽन्यस्मात् प्राप्नुयात् स्वगुणच्युतिम्। सत्येवंगुणवत्तास्य निष्क्रप्येत[3] द्विजन्मनः ॥२११॥
अतोऽतिबालविद्यादीन्नियोगान्[4] दशधोदितान्। यथार्हमात्मसात्कुर्वन् द्विजः स्याल्लोकसंमतः ॥२१२॥
गुणेष्वेव विशेषोऽन्यो यो वाच्यो बहुविस्तरः। स उपासकसिद्धान्तादधिगम्यः प्रपञ्चत् ॥२१३॥
[5]क्रियामन्त्रानुषङ्गेण व्रतचर्याक्रियाविधौ[6]। दशाधिकारा व्याख्याताः सद्वृत्तैराहृता द्विजैः ॥२१४॥
क्रियामन्त्रास्त्विह ज्ञेया ये पूर्वमनुवर्णिताः। सामान्यविषयाः सप्त पीठिकामन्त्ररूढयः ॥२१५॥
ते हि साधारणाः सर्वक्रियासु विनियोगिनः। ततः[7] औत्सर्गिकानेतान् मन्त्रान् मन्त्रविदो विदुः ॥२१६॥
विशेषविषया मन्त्राः क्रियासूक्तासु दर्शिताः। इतः प्रभृति चाभ्यूह्यास्ते यथाम्नायमग्रजैः ॥२१७॥
मन्त्रानिमान् यथा[8]योगं यः क्रियासु नियोजयेत्। स लोके संमतिं याति युक्ताचारो द्विजोत्तमः ॥२१८॥
क्रियामन्त्रविहीनास्तु प्रयोक्तॄणां न सिद्धये। यथा सुकृतसंनाहाः[9] सेनाध्यक्षा विनायकाः[10] ॥२१९॥

विवर्णताको प्राप्त हो जाता है उस प्रकार अन्य पुरुषोके साथ सम्बन्ध होनेपर इस ब्राह्मणके अपने गुणोके उत्कर्षमे कुछ बाधा नही आती है। भावार्थ–लोहेके सम्बन्धसे सुवर्णमे तो खराबी आ जाती है परन्तु उत्तम द्विजमे अन्य लोगोके सम्बन्धसे खराबी नही आती ॥२०८॥ किन्तु जिस प्रकार रसायन अपने साथ सम्बन्ध रखनेवाले लोहेको शीघ्र ही अपने गुण प्राप्त करा देता है उसी प्रकार यह ब्राह्मण भी अपने साथ सम्बन्ध रखनेवाले पुरुषोको शीघ्र ही अपने गुण प्राप्त करा देता है ॥२०९॥ इसलिए कहना चाहिए कि यह प्रजासम्बन्धान्तर गुण, धर्मकी प्रभावनाको बढ़ानेवाला सबसे बड़ा गुण है क्योकि इसीके द्वारा यह द्विज अपने गुणोसे अन्य लोगोको अपने आधीन कर सकता है ॥२१०॥ इस गुणके न रहनेपर ब्राह्मण अन्य लोगोके सम्बन्धसे अपने गुणोकी हानि कर सकता है और ऐसा होनेपर इसकी गुणवत्ता ही नष्ट हो जावेगी ॥२११॥ इसलिए जो अतिबालविद्या आदि दश प्रकारके नियोग निरूपण किये है उन्हें यथायोग्य रीतिसे स्वीकार करनेवाला द्विज ही सब लोगोको मान्य हो सकता है ॥२१२॥ इन गुणोमे अन्य विशेष गुण बहुत विस्तारके साथ विवेचन करनेके योग्य है उन्हे उपासकाध्ययन-शास्त्रसे विस्तारपूर्वक समझ लेना चाहिए ॥२१३॥ इस प्रकार व्रतचर्या क्रियाकी विधिका वर्णन करते समय उस क्रियाके योग्य मन्त्रोंके प्रसंगसे उत्तम आचरणवाले द्विजोके द्वारा माननीय दश अधिकारोंका निरूपण किया ॥२१४॥ इस प्रकरणमे जिनका वर्णन पहले कर चुके है उन्हे क्रियामन्त्र जानना चाहिए और जो सात पीठिकामन्त्र इस नामसे प्रसिद्ध है उन्हे सामान्यविषयक समझना चाहिए अर्थात् वे मन्त्र सभी क्रियाओमे काम आते हैं ॥२१५॥ वे साधारण मन्त्र सभी क्रियाओमे काम आते है इसलिए मन्त्रोके जाननेवाले विद्वान् उन्हे औत्सर्गिक अर्थात् सामान्य मन्त्र कहते है ॥२१६॥ इनके सिवाय जो विशेष मन्त्र है वे ऊपर कही हुई क्रियाओंमे दिखला दिये गये है। अब व्रतचर्यासे आगेके जो मन्त्र है वे द्विजोको अपनी आम्नाय (शास्त्र परम्परा) के अनुसार समझ लेना चाहिए ॥२१७॥ जो इन मन्त्रोको क्रियाओमे यथायोग्य रूपसे काममे लाता है वह योग्य आचरण करनेवाला उत्तम द्विज लोकमे सन्मानको प्राप्त होता है ॥२१८॥ जिस प्रकार अस्त्र-शस्त्र धारण कर तैयार हुए मुख्य-मुख्य योद्धा

१ प्रजान्तरसबन्धेन। २ द्विज.। ३ संबन्ध्येत। नश्येदित्यर्थ। ४ अधिकारान्। ५ क्रियाणां मन्त्रा क्रियामन्त्रास्तेषामनुषङ्गो योगस्तेन। ६ पूर्वोक्तव्रतचर्याक्रियाविधाने। ७ साधारणान्। ८ यथायुक्ति। 'योगस्सन्नहनोपायध्यानसगतियुक्तिषु' इत्यभिधानात्। ९ सुविहितकवचाः। १० स्वामिरहिता.।

ततो विधिममुं सम्यगवगम्य कृतागमः[१]। विधानेन प्रयोक्तव्याः क्रियामन्त्रपुरस्कृताः ॥२२०॥

वसन्ततिलकावृत्तम्

इत्थं स धर्मविजयी भरताधिराजो
धर्मक्रियासु [२]कृतधीर्नृपलोकसाक्षि।
तान् सुव्रतान् द्विजवरान् विनियम्य सम्यक्
धर्मप्रियः समसृजत् द्विजलोकसर्गम् ॥२२१॥

मालिनी

इति भरतनरेन्द्रात् प्राप्तसत्कारयोगा
[३]व्रतपरिचयचारूदारवृत्ताः श्रुताढ्याः[४]।
जिनवृषभमतानु[५]व्रज्यया पूज्यमानाः
जगति बहुमतास्ते ब्राह्मणाः ख्यातिमीयुः ॥२२२॥

शार्दूलविक्रीडितम्

वृत्तस्था[६]नथ तान् विधाय समयानिक्ष्वाकुचूडामणिः[७]
जैने वर्त्मनि सुस्थितान् द्विजवरान् संमानयन् प्रत्यहम्।
स्वं मेने कृतिनं मुदा[८] परिगतां[९] स्वां सृष्टिमुच्चैः कृतां
पश्यन् कः सुकृती कृतार्थपदवीं नात्मानमारोपयेत् ॥२२३॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे द्विजोत्पत्ती-क्रियामन्त्रानुवर्णनं नाम चत्वारिंशत्तमं पर्व ॥४०॥

सेनापतिके विना कुछ भी नहीं कर सकते उसी प्रकार मन्त्रोंसे रहित क्रियाएँ भी प्रयोग करनेवाले पुरुषोंकी कुछ भी सिद्धि नहीं कर सकती ॥२१९॥ इसलिए शास्त्रोंका अभ्यास करनेवाले द्विजोंको यह सब विधि अच्छी तरह जानकर मन्त्रोच्चारणके साथ-साथ सब क्रियाएँ विधिपूर्वक करनी चाहिए ॥२२०॥ इस प्रकार जिसने धर्मके द्वारा विजय प्राप्त की है, जो धार्मिक क्रियाओंमे निपुण है और जिसे धर्म प्रिय है ऐसे भरतक्षेत्रके अधिपति महाराज भरतने राजा लोगोंकी साक्षीपूर्वक अच्छे-अच्छे व्रत धारण करनेवाले उन उत्तम द्विजोंको अच्छी शिक्षा देकर ब्राह्मणवर्णकी सृष्टि की अर्थात् ब्राह्मणवर्णकी स्थापना की ॥२२१॥ इस प्रकार महाराज भरतसे जिन्हे सत्कारका योग प्राप्त हुआ है, व्रतोंके परिचयसे जिनका चारित्र सुन्दर और उदार हो गया है, जो शास्त्रोंके अर्थोंको जाननेवाले है और श्री वृषभ जिनेन्द्रके मतानुसार धारण की हुई दीक्षासे जो पूजित हो रहे है ऐसे वे ब्राह्मण ससारमें बहुत ही प्रसिद्धिको प्राप्त हुए और खूब ही उनका आदर-सन्मान किया गया ॥२२२॥ तदनन्तर इक्ष्वाकुकुलचूडामणि महाराज भरत जैनमार्गमें अच्छी तरह स्थित रहनेवाले उन ब्राह्मणोंको सदाचारमे स्थिर कर प्रतिदिन उनका सन्मान करते हुए अपने आपको धन्य मानने लगे सो ठीक ही है क्योकि आनन्दसे युक्त तथा उत्कृष्टताको प्राप्त हुई अपनी सृष्टिको देखता हुआ ऐसा कौन पुण्यवान् पुरुष है जो अपने आपको कृतकृत्य न माने ॥२२३॥

इस प्रकार आर्षनामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहके भाषानुवादमे द्विजोंकी उत्पत्तिमे क्रियामन्त्रोंका वर्णन करनेवाला यह चालीसवाँ पर्व समाप्त हुआ।

---

१ सपूर्णशास्त्रै। २ संपूर्णवुद्धि। ३ व्रताभ्यास। ४ श्रुतार्था द०, ल०। ५ मतानुगमनेन। ६ चारित्रपदं गतान्। ७ पूज्य। ८ संतोषेण सह। ९ समन्वितामित्यर्थः।

एकचत्वारिंशत्तमं पर्व

अथ चक्रधरः काले व्यतिक्रान्ते कियत्यपि । स्वप्नान्न्यशामयत्[1] कांश्चिदेकदाऽद्भुतदर्शनान् ॥१॥
तत्स्वप्नदर्शनात् किंचिदुत्त्रस्त इव चेतसा । प्रबुद्धः सहसा तेषां फलानीति व्यतर्कयत् ॥२॥
असत्फला इमे स्वप्नाः प्रायेण प्रतिभान्ति[2] माम् । मन्ये दूरफलांश्चैतान् पुराकल्पे[3] फलप्रदान् ॥३॥
कुतश्चिद् भगवत्यद्य [4]प्रतपत्यादिसर्त्तरि । प्रजानां कथमेवैवंविधोपप्लवसंभवः ॥४॥
ततः[5] कृतयुगस्यास्य[6] व्यतिक्रान्तौ कदाचन । फलमेते प्रदास्यन्ति नूनमेनःप्रकर्षतः[7] ॥५॥
[8]युगान्तविप्लवोदर्कास्त एतेऽनिष्टशंसिनः । स्वप्नाः प्रजाप्रजापालसाधारणफलोदयाः ॥६॥
यद्वच्चन्द्रार्कविम्बोत्थविक्रियाजनितं फलम् । जगत्साधारणं तद्वत् सदसच्चास्मदीक्षितम्[9] ॥७॥
इतीदमनुमानं नः स्थूलार्थानुप्रचिन्तनम् । सूक्ष्मतत्त्वप्रतीतिस्तु प्रत्यक्षज्ञानगोचरा[10] ॥८॥
केवलार्कादृते नान्य. संशयध्वान्तभेदकृत् । को हि नाम तमो[11] नैशं हन्यादन्यत्र भास्करात् ॥९॥
तत्त्वादर्शे स्थिते देवे को नामास्मन्मतिभ्रमः । सत्यादर्शे[12] करामर्शात् कः पश्येन्मुखसौष्ठवम् ॥१०॥
[13]तदत्र भगवद्वक्त्रमङ्गलादर्शदर्शनात् । युक्ता नस्तत्त्वनिर्णीतिः[14] स्वप्नानां शान्तिकर्म च ॥११॥
अपि चास्मदुपज्ञं[15] यद् द्विजलोकस्य सर्जनम् । गत्वा तदपि विज्ञाप्यं भगवत्पादसंनिधौ ॥१२॥

अथानन्तर–कितना ही काल वीत जानेपर एक दिन चक्रवर्ती भरतने अद्भुत फल दिखानेवाले कुछ स्वप्न देखे ॥ १ ॥ उन स्वप्नोके देखनेसे जिन्हे चित्तमें कुछ खेद-सा उत्पन्न हुआ है ऐसे वे भरत अचानक जाग पडे और उन स्वप्नोके फलका इस प्रकार विचार करने लगे ॥ २ ॥ कि ये स्वप्न मुझे प्राय· वुरे फल देनेवाले जान पड़ते है तथा साथमे यह भी जान पड़ता है कि ये स्वप्न कुछ दूर आगेके पंचम कालमें फल देनेवाले होगे ॥३॥ क्योकि इस समय भगवान् वृपभदेवके प्रकाशमान रहते हुए प्रजाको इस प्रकारका उपद्रव होना कैसे सम्भव हो सकता है ? ॥४॥ इसलिए कदाचित् इस कृतयुग (चतुर्थकाल) के व्यतीत हो जानेपर जव पापकी अधिकता होने लगेगी तव ये स्वप्न अपना फल देगे ॥५॥ युगके अन्तमे विप्लव फैलाना ही जिनका फल है ऐसे ये स्वप्न अनिष्टको सूचित करनेवाले है और राजा तथा प्रजा दोनोको समान फल देनेवाले है ॥६॥ जिस प्रकार चन्द्रमा और सूर्यके विम्वसे उत्पन्न होनेवाली विक्रियासे प्रकट हुआ फल जगत्के जीवोको समानरूपसे उठाने पड़ते है उसी प्रकार मेरे द्वारा देखे हुए स्वप्नोके फल भी समस्त जीवोंको सामान्यरूपसे उठाने पड़ेगे ॥७॥ इस प्रकार हमारा यह अनुमान केवल स्थूल पदार्थका चिन्तवन करनेवाला है, सूक्ष्म तत्त्वकी प्रतीति प्रत्यक्ष ज्ञानसे ही हो सकती है ॥८॥ केवलज्ञानरूपी सूर्यको छोड़कर और कोई पदार्थ संशयरूपी अन्धकार को भेदन करनेवाला नही है सो ठीक ही है क्योकि सूर्यको छोड़कर ऐसा कौन है जो रात्रिका अन्धकार नष्ट कर सके ॥९॥ तत्त्वोंका वास्तविक स्वरूप दिखलानेवाले भगवान् वृपभदेवके रहते हुए मुझे वुद्धिका भ्रम क्यो होना चाहिए, भला दर्पणके रहते हुए ऐसा कौन पुरुप है जो हाथके स्पर्शसे मुखकी सुन्दरता देखे ?॥१०-११॥ इसलिए इस विपयमें भगवान्के मुखरूपी मगल

---

१ ददर्श । २ मम प्रकाशन्ते । ३ पश्चाद्भाविकाले । पञ्चमकाले इत्यर्थ । ४ प्रकाशमाने सति । ५ तस्मात् कारणात् । ६ चतुर्थकालस्य । ७ पाप । ८ युगस्य चतुर्थकालस्यान्ते विप्लव एव उदर्क उत्तरफलं येपा ते । ९ मयेक्षितम् । १० केवलज्ञानविपया । ११ निशासंवन्धि । १२ दर्पणे विद्यमाने सति । १३ तत् कारणात् । १४ स्वरूपनिर्णय । १५ मया प्रथमोपक्रान्तम् ।

द्रष्टव्या गुरवो नित्यं प्रष्टव्याश्च हिताहितम् । महेज्यया च यष्टव्याः[1] शिष्टानामिष्टमीदृशम् ॥१३॥
इत्यात्मगतमालोच्य शय्योत्संगात् परार्द्ध्यतः । प्रातस्तरां समुत्थाय कृतप्राभातिकक्रियः ॥१४॥
ततः[2] क्षणमिव स्थित्वा महास्थाने नृपैर्वृतः । वन्दनाभक्तये गन्तुमुद्यतोऽभूद् विशांपतिः ॥१५॥
वृतः परिमितैरेव मौलिवद्धैरनूत्थितैः[3] । प्रतस्थे वन्दनाहेतोर्विभूत्या परयान्वितः ॥१६॥
ततः क्षेपीय[4] एवासौ गत्वा सैन्यैः परिष्कृतः । सम्राट् प्राप तमुद्देशं[5] यत्रास्ते स्म जगद्गुरुः ॥१७॥
दूरादेव जिनास्थानभूमिं पश्यन्निधीश्वरः । प्रणनाम चलन्मौलिघटिताञ्जलिकुड्मलः ॥१८॥
स तां प्रदक्षिणीकृत्य बहिर्भागे सदो[6]ऽवनिम् । प्रविवेश विशामीशः क्रान्त्वा कक्षाः पृथग्विधाः[7] ॥१९॥
मानस्तम्भमहाचैत्यद्रुमसिद्धार्थपादपान्[8] । प्रेक्षमाणो व्यतीयाय स्तूपांश्चार्चितपूजितान् ॥२०॥
चतुष्टयीं वनश्रेणीं ध्वजान् हर्म्यावलीमपि । तत्र तत्रेक्षमाणोऽसौ तां तां कक्षामलङ्घयत् ॥२१॥
प्रतिकक्षं सुरस्त्रीणां गीतैर्नृत्तैश्च हारिभिः । रज्यमानमनोवृत्तिस्तत्रास्यासीत् परा धृतिः ॥२२॥
ततः प्राविशदुत्तुङ्गगोपुरद्वारवर्त्मना । गणैरध्युषितां भूमिं श्रीमण्डपपरिष्कृताम् ॥२३॥
त्रिमेखलस्य पीठस्य प्रथमां मेखलामतः । सोऽधिरुह्य परीयाय[9] धर्मचक्राणि पूजयन् ॥२४॥

दर्पणको देखकर ही मुझे स्वप्नोके यथार्थ रहस्यका निर्णय करना उचित है और वही खोटे स्वप्नोका शान्तिकर्म करना भी उचित है ॥ १२ ॥ इसके सिवाय मैने जो ब्राह्मण लोगोंकी नवीन सृष्टि की है उसे भी भगवान्के चरणोके समीप जाकर निवेदन करना चाहिए ॥ १३ ॥ फिर अच्छे पुरुपोंका यह कर्तव्य भी है कि वे प्रतिदिन गुरुओके दर्शन करें, उनसे अपना हित-अहित पूछा करे और वड़े वैभवसे उनकी पूजा किया करे ॥१४॥ इस प्रकार मनमें विचारकर महाराज भरतने बड़े सवेरे वहुमूल्य शय्यासे उठकर प्रात कालकी समस्त क्रियाएँ की और फिर थोड़ी देर तक सभामें वैठकर अनेक राजाओके साथ भगवान्की वन्दना की तथा भक्तिके अर्थ जानेके लिए उद्यम किया ॥ १५ ॥ जो साथ ही साथ उठकर खड़े हुए कुछ परिमित मुकुटवद्ध राजाओंसे घिरे हुए है और उत्कृष्ट विभूतिसे सहित हैं ऐसे महाराज भरतने वन्दनाके लिए प्रस्थान किया ॥ १६ ॥ तदनन्तर सेना सहित सम्राट् भरत शीघ्र ही वहाँ पहुँच गये जहाँ जगद्गुरु भगवान् विराजमान थे ॥ १७ ॥ दूरसे ही भगवान्के समवसरणकी भूमिको देखते हुए निधियोके स्वामी भरतने नम्रीभूत मस्तकपर कमलकी वौड़ीके समान जोडे हुए दोनो हाथ रखकर नमस्कार किया ॥ १८ ॥ उन महाराजने पहले उस समवसरण भूमिके वाहरी भागकी प्रदक्षिणा दी और फिर अनेक प्रकारकी कक्षाओका उल्लघन कर भीतर प्रवेश किया ॥ १९ ॥ मानस्तम्भ, महाचैत्यवृक्ष, सिद्धार्थवृक्ष और पूजाकी सामग्रीसे पूजित स्तूपोको देखते हुए उन सबको उल्लंघन करते गये ॥ २० ॥ अपने-अपने निश्चित स्थानोंपर चारों प्रकारकी वनकी पंक्तियो, ध्वजाओ और हर्म्यावलीको देखते हुए उन्होंने उन कक्षाओका उल्लंघन किया ॥२१॥ समवसरणकी प्रत्येक कक्षामे होनेवाले देवांगनाओके मनोहर गीत और नृत्योसे जिनके चित्तकी वृत्ति अनुरक्त हो रही है ऐसे महाराज भरतको वहुत ही सन्तोप हो रहा था ॥२२॥ तदनन्तर वहुत ऊँचे गोपुर दरवाजोके मार्गसे उन्होने जहाँ गणधरदेव विराजमान थे और जो श्रीमण्डपसे सुशोभित हो रही थी ऐसी सभाभूमिमे प्रवेश किया ॥ २३ ॥ वहाँपर तीन कटनीवाले पीठकी प्रथम कटनीपर चढ़कर धर्मचक्रकी पूजा करते हुए प्रदक्षिणा दी ॥ २४ ॥ तदनन्तर चक्रवर्ती दूसरी कटनीपर महाध्वजाओकी पूजा कर तीनो जगत्की लक्ष्मीको तिरस्कृत करनेवाली गन्ध-

१ यजनीया. । २ क्षणपर्यन्तम् । ३ सहोत्थितै. । ४ अतिशयेन क्षिप्रम् । ५ प्रदेशम् । ६ सभाभूमिम् । ७ नानाप्रकारा । ८ –पार्थिवान् ल०, म० । ९ प्रदक्षिणा चक्रे ।

मेखलायां द्वितीयस्यां वरिवस्यन्[1] महाध्वजाम्। प्रापद् गन्धकुटीं चक्री न्य[2]क्कृतत्रिजगच्छ्रियम् ॥२५॥
देवदानवगन्धर्वसिद्धविद्याधरैडितम्। भगवन्तमथालोक्य प्राणमद्[3] भक्तिनिर्भरः ॥२६॥
स्तुत्वा स्तुतिभिरीशानमभ्यर्च्य च यथाविधि। निषसाद[4] यथास्थानं धर्मामृतपिपासितः[5] ॥२७॥
भक्त्या प्रणमतस्तस्य भगवत्पादपङ्कजे। विशुद्धिपरिणामाङ्ग[6]मवधिज्ञानमुद्बभौ ॥२८॥
पीत्वाऽथो धर्मपीयूषं परां तृप्तिमवापिवान्। स्वमनोगतमित्युच्चैर्भगवन्तं व्यजिज्ञपत् ॥२९॥
मया सृष्टा द्विजन्मानः श्रावकाचारचुञ्चवः[7]। त्वद्गीतोपासकाध्यायसूत्रमार्गानुगामिनः ॥३०॥
एकाद्येकादशान्तानि[8] दत्तान्येभ्यो मया विभो। व्रतचिह्नानि सूत्राणि गुणभूमिविभागतः ॥३१॥
विश्वस्य धर्मसर्गस्य[9] त्वयि साक्षात्प्रणेतरि। स्थिते मयातिबालिश्यादि[10]दमाचरितं विभो ॥३२॥
दोषः कोऽत्र गुणः कोऽत्र किमेतत् साम्प्रतं[11] न वा। दोलायमानमिति मे मनः स्थापय निश्चितौ[12] ॥३३॥
अपि चाद्य मया स्वप्ना निशान्ते षोडशेक्षिताः। प्रायोऽनिष्टफलाश्चैते मया देवाभिलक्षिताः ॥३४॥
यथादृष्टमुपन्यस्ये[13] तानिमान् परमेश्वरः। यथास्वं तत्फलान्यस्मत्प्रतीतिविषयं[14] नय ॥३५॥
सिंहो मृगेन्द्रपोतश्च तुरगः करिभारभृत्[15]। छागा वृक्षलतागुल्मशुष्कपत्रोपभोगिनः[16] ॥३६॥
शाखामृगा द्विपस्कन्धमारूढाः कौशिकाः[17] खगैः। विहितोपद्रवा ध्वाङ्क्षैः[18] प्रमथाश्च[19] प्रमोदिनः ॥३७॥

कुटीके पास जा पहुँचे ॥२५॥ वहाँपर भक्तिसे भरे हुए भरतने देव, दानव, गन्धर्व, सिद्ध और विद्याधर आदिके द्वारा पूज्य भगवान् वृषभदेवको देखकर उन्हे नमस्कार किया ॥२६॥ महाराज भरत उन भगवान्की अनेक स्तोत्रोके द्वारा स्तुति कर और विधिपूर्वक पूजा कर धर्मरूप अमृतके पीनेकी इच्छा करते हुए योग्य स्थानपर जा वैठे ॥२७॥ भक्तिपूर्वक भगवान्के चरण-कमलोंको प्रणाम करते हुए भरतके परिणाम इतने अधिक विशुद्ध हो गये थे कि उनके उसी समय अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया ॥२८॥ तदनन्तर धर्मरूपी अमृतका पान कर वे वहुत ही सन्तुष्ट हुए और उच्च स्वरसे अपने हृदयका अभिप्राय भगवान्से इस प्रकार निवेदन करने लगे ॥२९॥ कि हे भगवन्, मैने आपके द्वारा कहे हुए उपासकाध्याय सूत्रके मार्गपर चलनेवाले तथा श्रावकाचारमे निपुण व्राह्मण निर्माण किये है अर्थात् ब्राह्मण वर्णकी स्थापना की है ॥३०॥ हे विभो, मैने इन्हे ग्यारह प्रतिमाओके विभागसे व्रतोके चिह्न स्वरूप एकसे लेकर ग्यारह तक यज्ञोपवीत दिये है ॥३१॥ हे प्रभो, समस्त धर्मरूपी सृष्टिको साक्षात् उत्पन्न करनेवाले आपके विद्यमान रहते हुए भी मैने अपनी वडी मूर्खतासे यह काम किया है ॥३२॥ हे देव, इन ब्राह्मणोंकी रचनामें दोप क्या है ? गुण क्या है ? और इनकी यह रचना योग्य हुई अथवा नही ? इस प्रकार झूलाके समान झूलते हुए मेरे चित्तको किसी निश्चयमे स्थिर कीजिए अर्थात् गुण, दोष, योग्य अथवा अयोग्यका निश्चय कर मेरा मन स्थिर कीजिए ॥३३॥ इसके सिवाय हे देव, आज मैने रात्रिके अन्तिमभागमें सोलह स्वप्न देखे है और मुझे ऐसा जान पडता है कि ये स्वप्न प्राय अनिष्ट फल देनेवाले हैं ॥३४॥ हे परमेश्वर, वे स्वप्न मैने जिस प्रकार देखे है उसी प्रकार उपस्थित करता हूँ। उनका जैसा कुछ फल हो उसे मेरी प्रतीतिका विषय करा दीजिए ॥३५॥ (१) सिह, (२) सिहका वच्चा, (३) हाथीके भारको धारण करनेवाला घोडा (४) वृक्ष, लता और झाड़ियोके सूखे पत्ते खानेवाले वकरे, (५) हाथीके स्कन्धपर वैठे हुए

---

१ पूजयन्। २ अध कृत। ३ नमस्करोति स्म। ४ निविष्टवान्। ५ पातुमिच्छामितः सन्। ६ कारणम्। ७ प्रतीता.। ८ –दशाङ्गानि ल०, म०। ९ सृष्टे। १० मूर्खत्वेन। 'अज्ञे मूढयथाजातमूर्खवैधेयवालिशा' इत्यमर.। ११ युक्तम्। १२ निश्चये। १३ विज्ञापयामि। १४ ज्ञानम्। १५ करिणो भारं विभर्ति। १६ भक्षिणः। १७ उलूका। १८ काकै। 'काके तु करटारिष्टवलिपुष्टसकृत्प्रजा। ध्वाङ्क्षात्मघोषपरभृद्वलिभुग्वायसा अपि ॥' इत्यभिधानात्। १९ भूता.।

शुष्कमध्यं तडागं च पर्यन्तप्रचुरोदकम् । पांशुधूसरितो[1] रत्नराशिः श्वार्घ्य[2] भुगर्चितः[3] ॥३८॥
तारुण्यशाली वृषभः शीतांशुः परिवेषयुक् । मिथोऽङ्गीकृतसाङ्गत्यौ पुङ्गवौ गलच्छ्रियौ ॥३९॥
रविराशावधूरत्नावतंसोऽब्दैस्तिरोहितः । संशुष्कस्तरुरच्छायो जीर्णपर्णसमुच्चयः ॥४०॥
षोडशैतेऽद्य यामिन्यां दृष्टाः स्वप्ना विदां वर । फलविप्रतिपत्तिं[4] मे तद्गतां त्वमपाकुरु ॥४१॥
इति तत्फलविज्ञाननिपुणोऽप्यवधित्विषा । सभाजनप्रबोधार्थं पप्रच्छ निधिराट् जिनम् ॥४२॥
[5]तत्प्रश्नावसितावित्थं व्याचष्टे स्म जगद्गुरुः । वचनामृतसंसेकैः प्रीणयन्निखिलं सदः ॥४३॥
भगवद्दिव्यवागर्थशुश्रूषावहितं[6] तदा । ध्यानोपगमिवाभूत्तत्सदश्चित्रगतं नु वा ॥४४॥
साधु वत्स कृतं साधु धार्मिकद्विजपूजनम् । किन्तु दोषानुषङ्गोऽत्र[7] कोऽप्यस्ति स निशम्यताम् ॥४५॥
आयुष्मन् भवता सृष्टा य एते गृहमेधिनः । ते तावदुचिताचारा यावत्कृत[8]युगस्थितिः ॥४६॥
ततः [9]कलियुगेऽभ्यर्णे[10] जातिवादावलेपतः[11] । भ्रष्टाचाराः प्रपत्स्यन्ते[12] सन्मार्गप्रत्यनीकताम्[13] ॥४७॥
तेऽमी जातिमदाविष्टा वयं लोकाधिका इति । [14]पुरा दुरागमैर्लोकं मोहयन्ति[15] धनाशया ॥४८॥
सत्कारलाभसंवृद्धगर्वा मिथ्यामदोद्धताः । जनान् प्रतारयिष्यन्ति[16] स्वयमुत्पाद्य दुःश्रुतीः[17] ॥४९॥

वानर, (६) कौआ आदि पक्षियोके द्वारा उपद्रव किये हुए उल्लूक, (७) आनन्द करते हुए भूत, (८) जिसका मध्यभाग सूखा हुआ है और किनारोपर खूब पानी भरा हुआ है ऐसा तालाव, (९) धूलिसे धूसरित रत्नोकी राशि, (१०) जिसकी पूजा की जा रही है ऐसा नैवेद्यको खानेवाला कुत्ता, (११) जवान बैल, (१२) मण्डलसे युक्त चन्द्रमा, (१३) जो परस्परमे मिल रहे है और जिनकी शोभा नष्ट हो रही है ऐसे दो बैल, (१४) जो दिशारूपी स्त्रीरत्नोके-से बने हुए आभूषणके समान है तथा जो मेघोसे आच्छादित हो रहा है ऐसा सूर्य, (१५) छायारहित सूखा वृक्ष और (१६) पुराने पत्तोंका समूह। हे ज्ञानियोमें श्रेष्ठ, आज मैंने रात्रिके समय ये सोलह स्वप्न देखे है। हे नाथ, इनके फलके विषयमें जो मुझे सन्देह है, उसे दूर कर दीजिए ॥३६-४१॥ यद्यपि निधियोके अधिपति महाराज भरत अपने अवधिज्ञानके द्वारा उन स्वप्नोंका फल जाननेमें निपुण थे तथापि सभाके लोगोंको समझानेके लिए उन्होने भगवान्से इस प्रकार पूछा था ॥४२॥ भरतका प्रश्न समाप्त होनेपर जगद्गुरु भगवान् वृषभदेव अपने वचनरूपी अमृतके सिंचनसे समस्त सभाको सन्तुष्ट करते हुए इस प्रकार व्याख्यान करने लगे ॥४३॥ उस समय भगवान्की दिव्य ध्वनिके अर्थको सुननेकी इच्छासे सावधान हुई वह सभा ऐसी जान पड़ती थी मानो ध्यानमे मग्न हो रही हो अथवा चित्रकी बनी हुई हो ॥४४॥ वे कहने लगे कि हे वत्स, तूने जो धर्मात्मा द्विजोकी पूजा की है सो बहुत अच्छा किया है परन्तु इसमें कुछ दोष है उसे तू सुन ॥४५॥ हे आयुष्मन्, तूने जो गृहस्थोकी रचना की है सो जबतक कृतयुग अर्थात् चतुर्थ-कालकी स्थिति रहेगी तबतक तो ये उचित आचारका पालन करते रहेगे परन्तु जब कलियुग निकट आ जायगा तब ये जातिवादके अभिमानसे सदाचारसे भ्रष्ट होकर समीचीन मोक्ष-मार्गके विरोधी बन जावेगे ॥४६॥ पंचम कालमे ये लोग, हम सब लोगोमे बड़े है, इस प्रकार जातिके मदसे युक्त होकर केवल धनकी आशासे खोटे-खोटे शास्त्रोके द्वारा लोगोंको मोहित करते रहेगे ॥४७॥ सत्कारके लाभसे जिनका गर्व बढ़ रहा है और जो मिथ्या मदसे उद्धत हो रहे है ऐसे ये ब्राह्मण लोग स्वयं मिथ्या शास्त्रोको बना-बनाकर लोगोको ठगा करेगे ॥४८॥ जिनकी चेतना पापसे दूषित हो रही है ऐसे ये मिथ्यादृष्टि लोग इतने समय

१ ईषत्पाण्डुरित । २ चरुभुक् । ३ पूजित । ४ संदेहम् । ५ तस्य प्रश्नावसाने । ६ अवधानपरम् । ७ योग. । ८ चतुर्थकाल । ९ पञ्चमकाले । १० समीपे सति । ११ गर्वत । १२ यास्यन्ति । १३ प्रतिकूलताम् । १४ पञ्चमकाले । १५ 'पुरायावतोर्लडिति भविष्यत्यर्थे लड्' । १६ वञ्चयिष्यन्ति । १७ दुःशास्त्राणि ।

त इमे कालपर्यन्ते विक्रियां प्राप्य दुर्दृशः । धर्मद्रुहो[1] भविष्यन्ति पापोपहतचेतनाः ॥५०॥
सत्त्वोपघातनिरता मधुमांसाशनप्रियाः । प्रवृत्तिलक्षणं[2] धर्मं घोषयिष्यन्त्यधार्मिकाः ॥५१॥
अहिंसालक्षणं धर्मं दूषयित्वा दुराशयाः । चोदनालक्षणं धर्मं पोषयिष्यन्त्यमी बत ॥५२॥
पापसूत्रधरा धूर्ताः प्राणिमारणतत्पराः । [3]वर्त्स्यद्युगे प्रवर्त्स्यन्ति सन्मार्गपरिपन्थिनः[4] ॥५३॥
द्विजातिसर्जनं[5] तस्मान्नाद्य यद्यपि दोपकृत् । स्याद्दोपबीजमायत्यां[6] कुपाखण्डप्रवर्तनात् ॥५४॥
इति कालान्तरे दोपबीजमप्येतदञ्जसा । नाधुना परिहर्तव्यं धर्मसृष्टयनतिक्रमात् ॥५५॥
यथान्नमुपयुक्तं सत् क्वचित्कस्यापि दोपकृत् । तथाऽप्यपरिहार्यं तद् बुधैर्बहुगुणास्थया ॥५६॥
तथेदमपि मन्तव्यमद्यत्वे गुणवत्तया । पुंसामाशयवैषम्यात् पश्चाद् यद्यपि दोपकृत् ॥५७॥
इदमेवं गतं हन्त यच्च ते स्वप्नदर्शनम् । तदप्यैष्यद्[7]युगे धर्मस्थितिह्रासस्य सूचनम् ॥५८॥
ते च स्वप्ना द्विधाऽऽम्नाताः स्वस्थास्वस्थात्मगोचराः । समैस्तु धातुभिः स्वस्था विषमैरितरे मताः ॥५९॥
तथ्याः स्युः स्वस्थ संदृष्टाः मिथ्यास्वप्ना विपर्ययात् । जगत्प्रतीतमेतद्धि विद्धि स्वप्नविमर्शनम्[8] ॥६०॥
स्वप्नानां द्वैतमस्त्यन्यद्दोषदैवसमुद्भवम् । दोपप्रकोपजा मिथ्यातथ्याः स्युर्दैवसम्भवाः ॥६१॥

तक विकारभावको प्राप्त होकर धर्मके द्रोही बन जायेगे ॥५०॥ जो प्राणियोकी हिसा करनेमें तत्पर है तथा मधु और मासका भोजन जिन्हे प्रिय है ऐसे ये अधर्मी ब्राह्मण हिसारूप धर्मकी घोषणा करेगे ॥५१॥ खेद है कि दुष्ट आशयवाले ये ब्राह्मण अहिसारूप धर्मको दूषित कर वेदमें कहे हुए हिसारूप धर्मको पुष्ट करेगे ॥५२॥ पापका समर्थन करनेवाले, शास्त्रको जाननेवाले अथवा पापके चिह्नस्वरूप यज्ञोपवीतको धारण करनेवाले और प्राणियोके मारनेमें सदा तत्पर रहनेवाले ये धूर्तब्राह्मण आगामी युग अर्थात् पंचम कालमें समीचीन मार्गके विरोधी हो जावेगे ॥५३॥ इसलिए यह ब्राह्मणोंकी रचना यद्यपि आज दोप उत्पन्न करनेवाली नही है तथापि आगामी कालमे खोटे पाखण्ड मतोकी प्रवृत्ति करनेसे दोपका बीजरूप है ॥५४॥ इस प्रकार यद्यपि यह ब्राह्मणोंकी सृष्टि कालान्तरमे दोषका बीजरूप है तथापि धर्म सृष्टिका उल्लंघन न हो इसलिए इस समय इसका परिहार करना भी अच्छा नही है ॥५५॥ जिस प्रकार खाया हुआ अन्न यद्यपि कही किसीको दोप उत्पन्न कर देता है तथापि अनेक गुणोकी आस्थासे विद्वान् लोग उसे छोड नही सकते उसी प्रकार यद्यपि ये पुरुषोके अभिप्रायोकी विषमतासे आगामी कालमे दोप उत्पन्न करनेवाले हो जावेगे तथापि इस समय इन्हे गुणवान् ही मानना चाहिए ॥५६–५७॥ इस प्रकार यह तेरी ब्राह्मण रचनाका उत्तर तो हो चुका, अब तूने जो स्वप्न देखे है, खेद है, कि वे भी आगामी युग (पचम काल) मे धर्मकी स्थितिके ह्रासको सूचित करनेवाले है ॥५८॥ वे स्वप्न दो प्रकारके माने गये है एक अपनी स्वस्थ अवस्थामें दिखनेवाले और दूसरे अस्वस्थ अवस्थामे दिखनेवाले। जो धातुओकी समानता रहते हुए दिखते है वे स्वस्थ अवस्थाके कहलाते है और जो धातुओकी विपमता–न्यूनाधिकता रहते हुए दिखते हैं वे अस्वस्थ अवस्थाके कहलाते है ॥५९॥ स्वस्थ अवस्थामें दिखनेवाले स्वप्न सत्य होते है और अस्वस्थ अवस्थामें दिखनेवाले स्वप्न असत्य हुआ करते है इस प्रकार स्वप्नोके फलका विचार करनेमें यह जगत्प्रसिद्ध बात है ऐसा तू समझ ॥६०॥ स्वप्नोके और भी दो भेद है एक दोपसे उत्पन्न होनेवाले और दूसरे दैवसे उत्पन्न होनेवाले। उनमे दोपोके प्रकोप-

---

१ धर्मघातिन.। २ चोदनालक्षणम्। ३ भावि। ४ प्रतिकूले। ५ सृष्टि। ६ उत्तरकाले। 'उत्तरः काल आयति.' इत्यभिधानात्। ७ भविष्यद्युगे। ८ विचारणम्।

कल्याणाङ्गस्त्वमेकान्ताद् देवताधिष्ठितश्च यत्[1] । न मिथ्या तदिमे स्वप्नाः फलमेषां[2] निबोध मे[3] ॥६२॥
दृष्टाः स्वप्ने मृगाधीशा ये त्रयोविंशतिप्रमाः । निस्सपत्नां विहृत्येमां क्ष्मां क्ष्माभृत्कूटमाश्रिताः[4] ॥६३॥
तत्फलं सन्मतिं मुक्त्वा शेषतीर्थकरोदये । दुर्नयानामनुद्भूतिख्यापनं लक्ष्यतां स्फुटम् ॥६४॥
पुनरेकाकिनः सिंहपोतस्यान्वक्[5] मृगेक्षणात् । भवेयुः सन्मतेस्तीर्थे सानुषङ्गाः[6] कुलिङ्गिनः ॥६५॥
करीन्द्रभारनिर्भुग्नपृष्ठस्याश्वस्य वीक्षणात् । कृत्स्नान् तपोगुणान्वोढुं नालं दुःषमसाधवः ॥६६॥
मूलोत्तरगुणेष्वात्तसङ्गराः केचनालसाः । भङ्क्ष्यन्ते मूलतः केचित्तेषु यास्यन्ति मन्दताम् ॥६७॥
[7]निध्यानादजयूथस्य शुष्कपत्रोपयोगिनः । यान्त्यसद्वृत्ततां त्यक्तसदाचाराः पुरा नराः ॥६८॥
करीन्द्रकन्धरारूढशाखामृगविलोकनात् । आदिक्षत्रान्वयोच्छित्तौ क्ष्मां [8]पास्यन्त्यकुलीनकाः ॥६९॥
काकैरुलूकसंबाधदर्शनाद्धर्मकाम्यया । मुक्त्वा जैनान्मुनीनन्यमतस्थानन्वियुर्जनाः ॥७०॥
प्रनृत्यतां प्रभूतानां[9] भूतानामीक्षणात् प्रजाः । भजेयुर्नामकर्माद्यैर्व्यन्तरान् देवतास्थया[10] ॥७१॥
शुष्कमध्यतडागस्य पर्यन्तेऽम्बुस्थितीक्षणात् । प्रच्युत्यार्यनिवासात् स्याद्धर्मः प्रत्यन्तवासिषु[11] ॥७२॥
पांसुधूसररत्नौघनिध्यानादृद्धिसत्तमाः । नैव प्रादुर्भविष्यन्ति मुनयः पञ्चमे युगे ॥७३॥
शुनोऽर्चितस्य सत्कारैश्चरुभाजनदर्शनात् । गुणवत्पात्रसत्कारमाप्स्यन्त्यव्रतिनो द्विजाः ॥७४॥

से उत्पन्न होनेवाले झूठ होते है और दैवसे उत्पन्न होनेवाले सच्चे होते है ॥६१॥ हे कल्याणरूप, चूँकि तू अवश्य ही देवताओसे अधिष्ठित है इसलिए तेरे ये स्वप्न मिथ्या नही है। तू इनका फल मुझसे समझ ॥६२॥ तूने जो स्वप्नमें इस पृथ्वीपर अकेले विहार कर पर्वतके शिखरपर चढे हुए तेईस सिह देखे है उसका स्पष्ट फल यही समझ कि श्रीमहावीर स्वामीको छोड़कर शेष तेईस तीर्थंकरोके समयमे दुष्ट नयोंकी उत्पत्ति नही होगी। इस स्वप्नका फल यही वतलाता है ॥६३–६४॥ तदनन्तर दूसरे स्वप्नमे अकेले सिहके वच्चेके पीछे चलते हुए हरिणोका समूह देखनेसे यह प्रकट होता है कि श्री महावीर स्वामीके तीर्थमे परिग्रहको धारण करनेवाले वहुत-से कुलिगी हो जावेगे ॥६५॥ बड़े हाथीके उठाने योग्य वोझसे जिसकी पीठ झुक गयी है ऐसे घोड़के देखनेसे यह मालूम होता है कि पंचम कालके साधु तपश्चरणके समस्त गुणोको धारण करनेमे समर्थ नहीं हो सकेंगे ॥६६॥ कोई मूलगुण और उत्तरगुणोके पालन करनेकी प्रतिज्ञा लेकर उनके पालन करनेमे आलसी हो जायेगे, कोई उन्हें मूलसे ही भंग कर देगे और कोई उनमें मन्दता या उदासीनताको प्राप्त हो जायेगे ॥६७॥ सूखे पत्ते खानेवाले वकरोंका समूह देखनेसे यह मालूम होता है कि आगामी कालमे मनुष्य सदाचारको छोड़कर दुराचारी हो जायेगे ॥६८॥ गजेन्द्रके कन्धेपर चढे हुए वानरोके देखनेसे जान पड़ता है कि आगे चलकर प्राचीन क्षत्रिय वंश नष्ट हो जायेंगे और नीच कुलवाले पृथ्वीका पालन करेगे ॥६९॥ कौवोके द्वारा उलूकको त्रास दिया जाना देखनेसे प्रकट होता है कि मनुष्य धर्मकी इच्छासे जैनमुनियोको छोड़कर अन्य मतके साधुओंके समीप जायेगे ॥७०॥ नाचते हुए वहुत-से भूतोंके देखनेसे मालूम होता है कि प्रजाके लोग नामकर्म आदि कारणोसे व्यन्तरोको देव समझकर उनकी उपासना करने लगेगे ॥७१॥ जिसका मध्यभाग सूखा हुआ है ऐसे तालावके चारों ओर पानी भरा हुआ देखनेसे प्रकट होता है कि धर्म आर्यखण्डसे हटकर प्रत्यन्तवासी-म्लेच्छ खण्डोमें ही रह जायेगा ॥७२॥ धूलिसे मलिन हुए रत्नोंकी राशिके देखनेसे यह जान पड़ता है कि पंचम-कालमे ऋद्धिधारी उत्तम मुनि नहीं होगे ॥७३॥ आदर-सत्कारसे जिसकी पूजा की

---

१ यस्मात् कारणात् । २ जानीहि । ३ मम सकाशात् । ४ –मास्थिता ट० । ५ अनुगच्छत् । ६ सपरिग्रहाः । ७ दर्शनात् । ८ पालयिष्यन्ति । ९ भूरीणाम् । १० देवबुद्ध्या । ११ म्लेच्छदेशेषु 'प्रत्यन्तो म्लेच्छदेशः स्यात्।'

तरुणस्य वृषस्योच्चैर्नदतो[1] विहृतीक्षणात्[2] । तारुण्य एव श्रामण्ये स्थास्यन्ति न दशान्तरे ॥७५॥
परिवेषोपरक्तस्य [3]श्वेतभानोर्निशामनात्[4] । नोत्पत्स्यते[5] तपोभृत्सु समनःपर्ययोऽवधिः ॥७६॥
अन्योन्यं सह संभूय वृषयोर्गमनेक्षणात् । वर्त्स्यन्ति मुनयः साहचर्यान्नैकविहारिणः ॥७७॥
घनावरणरुद्धस्य दर्शनादंशुमालिनः । केवलार्कोदयः प्रायो[6] न भवेत् पञ्चमे युगे ॥७८॥
पुंसां स्त्रीणां च चारित्रच्युतिः शुष्कद्रुमेक्षणात् । महौषधिरसोच्छेदो जीर्णपर्णावलोकनात् ॥७९॥
स्वप्नानेवंफलानेतान् विद्धि दूरविपाकिनः[7] । नाद्य दोषस्ततः कोऽपि फलमेषां युगान्तरे ॥८०॥
इति स्वप्नफलान्यस्माद् बुध्वा वत्स यथा तथा । धर्मे मतिं दृढं धत्स्व विश्वविघ्नोपशान्तये ॥८१॥
इत्याकर्ण्य गुरोर्वाक्यं स वर्णाश्रमपालकः । सन्देहकर्दमापायात् स प्रसन्नमधान्मनः ॥८२॥
भूयो भूयः प्रणम्येशं समापृच्छ्य पुनः पुनः । पुनरावृतते कृच्छ्रात् स प्रीतो गुर्वनुग्रहात् ॥८३॥
ततः प्रविश्य साकेतपुरमाबद्धतोरणम् । केतुमालाकुलं पौरैः सानन्दमभिनन्दितः ॥८४॥
शान्तिक्रियामतश्चक्रे दुःस्वप्नानिष्टशान्तये । जिनाभिषेकसत्पात्रदानाद्यैः पुण्यचेष्टितैः ॥८५॥
गोदोहैः[8] प्लाविता धात्री पूजिताश्च महर्षयः । महादानानि दत्तानि प्रीणितः प्रणयी जनः[9] ॥८६॥
निर्मापितास्ततो घण्टा जिनबिम्बैरलंकृताः । परार्ध्यरत्ननिर्माणाः संबद्धा हेमरज्जुभिः ॥८७॥

गयी है ऐसे कुत्तेको नैवेद्य खाते हुए देखनेसे मालूम होता है कि व्रतरहित ब्राह्मण गुणी पात्रोंके समान सत्कार पायेंगे ॥७४॥ ऊँचे स्वरसे शब्द करते हुए तरुण बैलका विहार देखनेसे सूचित होता है कि लोग तरुण अवस्थामें ही मुनिपदमे ठहर सकेंगे, अन्य अवस्थामे नही ॥७५॥ परि-मण्डलसे घिरे हुए चन्द्रमाके देखनेसे यह जान पडता है कि पंचमकालके मुनियोमें अवधिज्ञान और मन पर्यय ज्ञान नही होगा ॥७६॥ परस्पर मिलकर जाते हुए दो बैलोके देखनेसे यह सूचित होता है कि पचमकालमे मुनिजन साथ-साथ रहेगे, अकेले विहार करनेवाले नही होंगे ॥७७॥ मेघोंके आवरणसे रुके हुए सूर्यके देखनेसे यह मालूम होता है कि पंचमकालमे प्राय केवल-ज्ञानरूपी सूर्यका उदय नही होगा ॥७८॥ सूखा वृक्ष देखनेसे सूचित होता है कि स्त्री-पुरुषोंका चारित्र भ्रष्ट हो जायेगा और जीर्ण पत्तोके देखनेसे मालूम होता है कि महाऔषधियोका रस नष्ट हो जायेगा ॥७९॥ ऐसा फल देनेवाले इन स्वप्नोको तू दूरविपाकी अर्थात् बहुत समय बाद फल देनेवाले समझ इसलिए इनसे इस समय कोई दोष नही होगा, इनका फल पंचम-कालमे होगा ॥८०॥ हे वत्स, इस प्रकार मुझसे इन स्वप्नोका यथार्थ फल जानकर तू समस्त विघ्नोंकी शान्तिके लिए धर्ममें अपनी बुद्धि कर ॥८१॥ वर्णाश्रमकी रक्षा करनेवाले भरतने गुरुदेवके उपर्युक्त वचन सुनकर सन्देहरूपी कीचड़के नाश होनेसे अपना चित्त निर्मल किया ॥८२॥ वे भगवान्‌को बार-बार प्रणाम कर तथा बार-बार उनसे पूछकर गुरुदेवके अनुग्रहसे प्रसन्न होते हुए, बड़ी कठिनाईसे वहाँसे लौटे ॥८३॥ तदनन्तर नगरके लोग आनन्दके साथ जिनका अभिनन्दन कर रहे है ऐसे उन महाराज भरतने जिसमे जगह-जगह तोरण बाँधे गये है और जो पताकाओकी पक्तियोसे भरा हुआ है ऐसे अयोध्या नगरमें प्रवेश कर खोटे स्वप्नोसे होनेवाले अनिष्टकी शान्तिके लिए जिनेन्द्रदेवका अभिषेक करना, उत्तम पात्रको दान देना आदि पुण्य क्रियाओंसे शान्ति कर्म किया ॥८४–८५॥ उन्होने गायके दूधसे पृथिवीका सिंचन किया, महर्षियोकी पूजा की, बड़े-बड़े दान दिये और प्रेमीजनोको सन्तुष्ट किया ॥८६॥ तद-नन्तर उन्होने बहुमूल्य रत्नोसे बने हुए, सुवर्णकी रस्सियोंसे बँधे हुए और जिनेन्द्रदेवकी प्रति-

---

१ ध्वनतः । २ विहरण । ३ चन्द्रस्य । ४ दर्शनात् । ५ नोदेष्यति । ६ भृशम् । ७ दूरोदयात् । ८ गोक्षीरैः । ९ बन्धु ।

लम्बिताश्च पुरद्वारि[1] ताश्चतुर्विंशतिप्रमाः । राजवेश्ममहाद्वारगोपुरेष्वप्यनुक्रमात् ॥८८॥
यदा किल विनिर्याति प्रविशत्यप्ययं प्रभुः । तदा मौल्यग्रलग्नाभिरस्य स्यादर्हतां स्मृतिः ॥८९॥
स्मृत्वा ततोऽर्हदर्चानां भक्त्या कृत्वाभिनन्दनाम् । पूजयत्यभिनिष्क्रामन् प्रविशंश्च स पुण्यधीः ॥९०॥
रेजुः सूत्रेषु संप्रोक्ता घण्टास्ताः परमेष्ठिनाम् । [2]सदर्थघटितार्ष्टीका ग्रन्थानामिव पेशलाः ॥९१॥
लोकचूडामणेस्तस्य मौलिलग्ना विरेजिरे । पादच्छाया जिनस्येव घण्टास्ता लोकसंमताः ॥९२॥
रत्नतोरणविन्यासे स्थापितास्ता निधीशिना । दृष्ट्वार्हद्वन्दनाहेतोर्लोकोऽप्यासीत्तदादरः ॥९३॥
पौरैर्जनैरतः स्वेषु [3]वेश्मतोरणदामसु । यथाविभवमाबद्धा घण्टास्ताः सपरिच्छदाः[4] ॥९४॥
आदिराजकृतां सृष्टिं प्रजास्तां बहुमेनिरे । प्रत्यगारं यतोऽद्यापि लक्ष्या वन्दनमालिकाः ॥९५॥
वन्दनार्थं कृता माला यतस्ता भरतेशिना । ततो वन्दनमालाख्यां प्राप्य रूढिं गताः क्षितौ ॥९६॥
धर्मशीले महीपाले यान्ति तच्छीलतां[5] प्रजाः । [6]अताच्छील्यमतच्छीले[7] यथा राजा तथा प्रजाः ॥९७॥
तदा कालानुभावेन प्रायो धर्मप्रिया नराः । साधीयः साधुवृत्तेऽस्मिन् स्वामिन्यासन् हिते रताः ॥९८॥
सुकालश्च सुराजा च समं सन्निहितं द्वयम् । ततो धर्मप्रिया जाता. प्रजास्तदनुरोधतः ॥९९॥

माओंसे सजे हुए वहुत-से घण्टे वनवाये तथा ऐसे-ऐसे चौवीस घण्टे वाहरके दरवाजेपर, राजभवन-के महाद्वारपर और गोपुर दरवाजोंपर अनुक्रमसे टँगवा दिये ॥८७–८८॥ जव वे चक्रवर्ती उन दरवाजोंसे वाहर निकलते अथवा भीतर प्रवेश करते तव मुकुटके अग्रभागपर लगे हुए घण्टाओसे उन्हे चौवीस तीर्थंकरोका स्मरण हो आता था। तदनन्तर स्मरण कर उन अरहन्तदेवकी प्रतिमाओको वे नमस्कार करते थे इस प्रकार पुण्यरूप वुद्धिको धारण करनेवाले महाराज भरत निकलते और प्रवेश करते समय अरहन्तदेवकी पूजा करते थे ॥८९–९०॥ सूत्र अर्थात् रस्सियोसे सम्वन्ध रखनेवाले वे परमेष्ठियोके घण्टा ऐसे अच्छे जान पड़ते थे मानो उत्तम-उत्तम अर्थोसे भरी हुई और सूत्र अर्थात् आगम वाक्योसे सम्वन्ध रखनेवाली ग्रन्थोंकी सुन्दर टीकाएँ ही हो ॥९१॥ महाराज भरत स्वय तीनो लोकोके चूड़ामणि थे उनके मस्तक-पर लगे हुए वे लोकप्रिय घण्टा ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो जिनेन्द्रदेवके चरणोकी छाया ही हो ॥९२॥ निधियोके स्वामी भरतने अर्हन्तदेवकी वन्दनाके लिए जो घण्टा रत्नोंके तोरणों-की रचनामे स्थापित किये थे उन्हे देखकर अन्य लोग भी उनका आदर करने लगे थे अर्थात् अपने-अपने दरवाजेके तोरणोकी रचनामे घण्टा लगवाने लगे थे। उसी समयसे नगरवासी लोगोने भी अपने-अपने घरकी तोरणमालाओमे अपने-अपने वैभवके अनुसार जिनप्रतिमा आदि सामग्रीसे युक्त घण्टा वाँधे थे ॥९३–९४॥ उस समय प्रथम राजा भरतकी वनायी हुई इस सृष्टिको प्रजाके लोगोने वहुत माना था, यही कारण है कि आज भी प्रत्येक घरपर वन्दन मालाएँ दिखाई देती है ॥९५॥ चूँकि भरतेश्वरने वे मालाएँ अरहन्तदेवकी वन्दनाके लिए वनवायी थी इसलिए ही वे वन्दनमाला नाम पाकर पृथिवीमे प्रसिद्धिको प्राप्त हुई है ॥९६॥ यदि राजा धर्मात्मा होता है तो प्रजा भी धर्मात्मा होती है और राजा धर्मात्मा नही होता है तो प्रजा भी धर्मात्मा नही होती है, यह नियम है कि जैसा राजा होता है. वैसी ही प्रजा होती है ॥९७॥ उस समय कालके प्रभावसे प्राय· सभी लोग धर्मप्रिय थे सो ठीक ही है क्योकि सदाचारी भरतके राजा रहते हुए सव लोग अपना हित करनेमें लगे हुए थे ॥९८॥ उस समय अच्छा राजा और अच्छी प्रजा दोनो ही एक साथ मिल गये थे इसलिए राजाके अनुरोधसे प्रजा

---

१ वहिर्द्वारि ल०, म०, द० । २ रत्नादिसम्यगर्थः । ३ तोरणमालासु । ४ जिनविम्वादिपरिकरसहिता । ५ धर्मशीलताम् । ६ अधर्मत्वम् । ७ अधर्मशीले सति ।

एष धर्मप्रियः सम्राड् धर्मस्थानभिनन्दति । मत्वेति निखिलो लोकस्तदा धर्मे रतिं व्यधात् ॥१००॥
स धर्मविजयी सम्राड् सद्वृत्तः शुचिरूर्जितः । [1]प्रकृतिष्वनुरक्तासु व्यधाद् धर्मक्रियादरम् ॥१०१॥
भरतोऽभिरतो[2] धर्मे वयं तदनुजीविनः । इति तद्वृत्तमन्वीयुः[3] मौलिबद्धा महीक्षितः[4] ॥१०२॥
सोऽयं [5]साधितकामार्थश्चक्री चक्रानुभावतः । चरितार्थद्वये तस्मिन् भेजे धर्मैकतानताम्[6] ॥१०३॥
दानं पूजां च शीलं च दिने पर्वण्युपोषितम्[7] । धर्मश्चतुर्विधः सोऽयमाम्नातो[8] गृहमेधिनाम् ॥१०४॥
ददौ दानमसौ सद्भ्यो मुनिभ्यो विहितादरम् । समेतो नवभिः पुण्यैः गुणैः सप्तभिरन्वितः ॥१०५॥
सोऽदाद् विशुद्धमाहारं यथायोगं च भेषजम् । प्राणिभ्योऽभयदानं च दानस्यैतावती गतिः ॥१०६॥
जिनेषु भक्तिमातन्वंस्तत्पूजायां धृतिं दधौ । पूज्यानां पूजनाल्लोके पूज्यत्वमिति भावयन् ॥१०७॥
चैत्यचैत्यालयादीनां निर्मापणपुरस्सरम् । स चक्रे परमामिज्यां कल्पवृक्षपृथुप्रथाम् ॥१०८॥
शीलानुपालने यत्नो मनस्यस्य विभोरभूत् । शीलं हि रक्षितं यत्नादात्मानमनुरक्षति ॥१०९॥
व्रतानुपालनं शीलव्रतान्युक्तान्यगारिणाम् । स्थूलहिंसाविरत्यादिलक्षणानि च लक्षणैः ॥११०॥
[9]सभावनानि तान्येष यथायोगं प्रपालयन् । प्रजानां पालकः सोऽभूद् धौरेयो गृहमेधिनाम् ॥१११॥
पर्वोपवासमास्थाय[10] जिनागारे समाहितः । कुर्वन् सामयिकं सोऽधान्मुनिवृत्तं च तत्क्षणम्[11] ॥११२॥

धर्मप्रिय हो गयी थी ॥९९॥ यह सम्राट् स्वय धर्मप्रिय है और धर्मात्मा लोगोका सन्मान करता है यही मानकर उस समय लोग धर्ममें प्रीति करने लगे थे ॥१००॥ वह चक्रवर्ती धर्मविजयी था, सदाचारी था, पवित्र था और वलिष्ठ था इसलिए ही वह अपनेपर प्रेम रखनेवाली प्रजामे धार्मिक क्रियाओंका आदर करता था अर्थात् प्रजाको धार्मिक क्रियाएँ करनेका उपदेश देता था ॥१०१॥ 'भरत धर्ममें तत्पर है और हम लोग उसके सेवक है' यही समझकर मुकुटवद्ध राजा उनके आचरणका अनुसरण करते थे । भावार्थ–अपने राजाको धर्मात्मा जानकर आश्रित राजा भी धर्मात्मा वन गये थे ॥१०२॥ चक्रके प्रभावसे अर्थ और काम दोनो ही जिनके स्वाधीन हो रहे है ऐसे चक्रवर्ती भरत अर्थ और कामकी सफलता होनेपर केवल धर्ममें ही एकाग्रताको प्राप्त हो रहे थे ॥१०३॥ दान देना, पूजा करना, शील पालन करना और पर्वके दिन उपवास करना यह गृहस्थोका चार प्रकारका धर्म माना गया है ॥१०४॥ नव प्रकारके पुण्य और सात गुणोसे सहित भरत उत्तम मुनियोके लिए वड़े आदरके साथ दान देते थे ॥१०५॥ वे विशुद्ध आहार, योग्यतानुसार औपधि और समस्त प्राणियोंके लिए अभय दान देते थे सो ठीक ही है क्योकि दानकी यही तीन गति है ॥१०६॥ ससारमे पूज्य पुरुपोकी पूजा करनेसे पूज्यपना स्वयं प्राप्त हो जाता है ऐसा विचार करते हुए महाराज भरत जिनेन्द्रदेवमे अपनी भक्ति वढ़ाते हुए उनकी पूजा करनेमे वहुत ही सतोप धारण करते थे ॥१०७॥ उन्होने अनेक जिनविम्व और जिनमन्दिरोंकी रचना कराकर कल्पवृक्ष नामका वहुत वड़ा यज्ञ (पूजन) किया था ॥१०८॥ उनके मनमे शीलकी रक्षा करनेका प्रयत्न सदा विद्यमान रहता था सो ठीक ही है क्योकि प्रयत्नपूर्वक रक्षा किया हुआ शील आत्माकी रक्षा करता है ॥१०९॥ व्रतोका पालन करना शील कहलाता है और स्थूलहिंसाका त्याग करना (अहिसाणु व्रत) आदि जो गृहस्थो-के व्रत है वे लक्षणोके साथ पहले कहे जा चुके है ॥११०॥ उन व्रतोको भावनाओ सहित यथायोग्य रीतिसे पालन करते हुए प्रजापालक महाराज भरत गृहस्थोमे मुख्य गिने जाते थे ॥१११॥ वे पर्वके दिन उपवासकी प्रतिज्ञा लेकर चित्तको स्थिर कर सामायिक करते

१ प्रजापरिवारेषु । २ भरतो निरतो ल०, म० । ईशनोऽभिरतो अ०, स० । ३ अनुगच्छन्ति स्म । ४ नृपाः । ५ स्वाधीन –ल०, म०, स०, अ०, प० । ६ धर्मे अनन्यवर्तिताम् । 'एकतान अनन्यवृत्तिः' इत्यभिधानात् । ७ उपवास । ८ कथित । ९ मैत्रीप्रमोदादिभावनासहितानि । १० प्रतिज्ञा कृत्वा । –माध्याय ल०, प० । ११ सामायिककालपर्यन्तम् ।

जिनानुस्मरणे तस्य समाधानमुपेयुषः । शैथिल्याद् गात्रबन्धस्य [1]स्रस्तान्याभरणान्यहो ॥११३॥
तथापि बहुचिन्तस्य धर्मचिन्ताऽभवद् दृढा । धर्मे हि चिन्तिते सर्वं चिन्त्यं स्यादनुचिन्तितम् ॥११४॥
तस्याखिलाः क्रियारम्भा धर्मचिन्तापुरस्सराः । जाता जातमहोदर्कपुण्यपाकोत्थसंपदः ॥११५॥
प्रातरुन्मीलिताक्षः सन् सन्ध्यारागारुणा दिशः । स मेनेऽर्हत्पदाम्भोजरागेणेवानुरञ्जिताः ॥११६॥
प्रातरुद्यन्तमुद्धूतनैशान्धतमसं[2] रविम् । भगवत्केवलार्कस्य प्रतिबिम्बममंस्त सः ॥११७॥
प्रभातमरुतोद्धूतप्रबुद्ध[3]कमलाकरात् । हृदि सोऽधाज्जिनालापकलापानिव शीतलान् ॥११८॥
धार्मिकस्यास्य कामार्थचिन्ताऽभूदानुषङ्गिकी[4] । तात्पर्यं त्वभवद्धर्मे कृत्स्नश्रेयोऽनुबन्धिनि ॥११९॥
प्रातरुत्थाय धर्मस्थैः[5] कृतधर्मानुचिन्तनः । ततोऽर्थकामसंपत्तिं सहामात्यैर्न्यरूपयत्[6] ॥१२०॥
तल्पादुत्थितमात्रोऽसौ संपूज्य गुरुदैवतम् । कृतमङ्गलनेपथ्यो[7] [8]धर्मासनमधिष्ठितः ॥१२१॥
प्रजानां सदसद्वृत्तचिन्तनैः क्षणमासितः । तत आयुक्तकान्[9] स्वेषु नियोगेष्वन्वशाद् विभुः ॥१२२॥
नृपासनमथाध्यास्य महादर्शनमध्यगः[10] । नृपान् संभावयामास सेवावसरकाङ्क्षिणः ॥१२३॥
कांश्चिदालोकनैः कांश्चित्स्मितैराभाषणैः परान् । कांश्चित्समानदानाद्यैस्तर्पयामास पार्थिवान् ॥१२४॥

हुए जिनमन्दिरमें ही रहते थे और उस समय ठीक मुनियोका आचरण धारण करते थे ॥११२॥ जिनेन्द्रदेवका स्मरण करनेमे वे समाधानको प्राप्त हो रहे थे – उनका चित्त स्थिर हो रहा था और आश्चर्य है कि शरीरके बन्धन शिथिल होनेसे उनके आभूषण भी निकल पड़े थे ॥११३॥ यद्यपि उन्हे बहुत पदार्थोकी चिन्ता करनी पड़ती थी तथापि उनके धर्मकी चिन्ता अत्यन्त दृढ थी सो ठीक ही है क्योकि धर्मकी चिन्ता करनेपर चिन्ता करने योग्य समस्त पदार्थोका चिन्तवन अपने आप हो जाता है ॥११४॥ बड़े भारी फल देनेवाले पुण्यकर्मके उदयसे जिन्हे अनेक सम्पदाएँ प्राप्त हुई हैं ऐसे भरतकी समस्त क्रियाओंका प्रारम्भ धर्मके चिन्तवनपूर्वक ही होता था अर्थात् महाराज भरत समस्त कार्योके प्रारम्भमे धर्मका चिन्तवन करते थे ॥११५॥ वे प्रातःकाल आँख खोलकर जब समस्त दिशाओको सवेरेकी लालिमासे लाल-लाल देखते थे तब ऐसा मानते थे मानो ये दिशाएँ जिनेन्द्रदेवके चरणकमलोंकी लालिमासे ही लाल-लाल हो गयी हैं ॥११६॥ जिसने रात्रिका गाढ़ अन्धकार नष्ट कर दिया है ऐसे सूर्यको प्रातःकालके समय उदय होता हुआ देखकर वे ऐसा समझकर उठते थे मानो यह भगवान्‌के केवलज्ञानका प्रतिबिम्ब ही हो ॥११७॥ प्रातःकालकी वायुके चलनेसे खिले हुए कमलोके समूहको वे अपने हृदयमें जिनेन्द्र भगवान्‌की दिव्यध्वनिके समूहके समान शीतल समझते थे ॥११८॥ वे बहुत ही धर्मात्मा थे, उनके काम और अर्थकी चिन्ता गौण रहती थी तथा उनका मुख्य तात्पर्य सब प्रकारका कल्याण करनेवाले धर्ममें ही रहता था ॥११९॥ वे सवेरे उठकर पहले धर्मात्मा पुरुषोके साथ धर्मका चिन्तवन करते थे और फिर मन्त्रियोके साथ अर्थ तथा कामरूप सम्पदाओंका विचार करते थे ॥१२०॥ वे शय्यासे उठते ही देव और गुरुओकी पूजा करते थे और फिर मांगलिक वेष धारण कर धर्मासनपर आरूढ़ होते थे ॥१२१॥ वहाँ प्रजाके सदाचार और असदाचारका विचार करते हुए वे क्षण-भर ठहरते थे तदनन्तर अधिकारियोंको अपने-अपने कामपर नियुक्त करते थे अर्थात् अपना-अपना कार्य करनेकी आज्ञा देते थे ॥१२२॥ इसके बाद सभाभवनके बीचमे जाकर राजसिंहासनपर विराजमान होते तथा सेवाके लिए अवसर चाहनेवाले राजाओंका सन्मान करते थे ॥ १२३ ॥ वे कितने ही राजाओंको दर्शनसे, कितनों ही को मुसकानसे,

---

१ गलितानि । २ निशासंबन्धि । ३ विकसित । ४ अमुख्या । ५ धर्मस्थैः सह । ६ विचारमकरोत् । ७ मङ्गलालकारः । ८ आसनमण्डलविशेषम् । ९ तत्परान् । १० सभादर्शन-अ०, स० । सभासदन- प०, ल०, म० । महद्दर्शनं येषां ते महादर्शनास्तेषां मध्यगः । सभ्यजनमध्यवर्ती सन्नित्यर्थः ।

तत्रोपायनसंपत्त्या समायातान् महत्तमान्[1] । वचोहरांश्च[2] संमान्य कृतकार्यान् व्यसर्जयत् ॥१२५॥
कलाविदश्च नृत्यादिदर्शनैः समुपस्थितान् । [3]पारितोपिकदानेन महता समतर्पयत् ॥१२६॥
ततो विसर्जितास्थानः प्रोत्थाय नृपविष्टरात् । स्वेच्छाविहारमकरोद् विनोदैः सुकुमारकैः[4] ॥१२७॥
ततो [5]मध्यदिनेऽभ्यर्णे कृतमज्जनसंविधिः । तनुस्थितिं स निर्वर्त्य निरविक्षत्[6] प्रसाधनम्[7] ॥१२८॥
चामरोत्क्षेपताम्बूलदानसं[8]वाहनादिभिः । [9]परिचेरुरुपेत्यैनं परिवाराङ्गनाः स्वतः ॥१२९॥
ततो [10]भुक्तोत्तरास्थाने स्थितः कतिपयैर्नृपैः । समं [11]विदग्धमण्डलया विद्यागोष्ठीरभावयत् ॥१३०॥
तत्र वारविलासिन्यो नृपवल्लभिकाश्च तम् । परिवव्रुरुपारूढतारुण्यमदकर्कशाः ॥१३१॥
[12]तासामालापसंल्लापपरिहासकथादिभिः । [13]सुखासिकामसौ भेजे भोगाङ्गैश्च मुहूर्तकम् ॥१३२॥
ततस्तुर्यावशेषेऽह्नि पर्यटन्मणिकुट्टिमे । वीक्षते स्म परां शोभामभितो राजवेश्मनः ॥१३३॥
सनर्मसचिवं[14] क्वचित् समालम्ब्यांसपीठके[15] । परिक्रामन्नितश्चेतो[16] रेजे सुरकुमारवत् ॥१३४॥
रजन्यामपि यत्कृत्यमुचितं चक्रवर्तिनः । तदाचरन् सुखेनैष [17]त्रियामामत्यवाहयत् ॥१३५॥
कदाचिदुचितां[18] वेलां नियोग इति केवलम् । मन्त्रयामास मन्त्रज्ञैः कृतकार्योऽपि चक्रभृत् ॥१३६॥
तन्त्रावायगता चिन्ता नास्यासीद् विजितक्षितेः । तन्त्र[19]चिन्तैव नन्वस्य स्वतन्त्रस्येह भारते ॥१३७॥

कितनों ही को वार्तालापसे, कितनो ही को सम्मानसे और कितनो ही को दान आदिसे सन्तुष्ट करते थे ॥१२४॥ वे वहाँपर भेट ले-लेकर आये हुए बड़े-बडे पुरुषो तथा दूतोको सम्मानित कर और उनका कार्य पूरा कर उन्हे विदा करते थे ॥१२५॥ नृत्य आदि दिखानेके लिए आये हुए कलाओके जाननेवाले पुरुषोंको बड़े-बड़े पारितोपिक देकर सन्तुष्ट करते थे ॥१२६॥ तदनन्तर सभा विसर्जन करते और राजसिंहासनसे उठकर कोमल क्रीड़ाओके साथ-साथ अपनी इच्छानुसार विहार करते थे ॥१२७॥ तत्पश्चात् दोपहरका समय निकट आनेपर स्नान आदि करके भोजन करते और फिर अलंकार धारण करते थे ॥१२८॥ उस समय परिवारकी स्त्रियाँ स्वय आकर चमर ढोलना, पान देना और पैर दावना आदिके द्वारा उनकी सेवा करती थी । ॥१२९॥ तदनन्तर भोजनके वाद वैठने योग्य भवनमे कुछ राजाओके साथ वैठकर चतुर लोगोकी मण्डलीके साथ-साथ विद्याकी चर्चा करते थे ॥१३०॥ वहाँ जवानीके मदसे जिन्हे उद्दण्डता प्राप्त हो रही है ऐसी वेश्याएँ और प्रियरानियाँ आकर उन्हे चारो ओरसे घेर लेती थी ॥१३१॥ उनके आभापण, परस्परकी वातचीत और हास्यपूर्ण कथा आदि भोगोके साधनोंसे वे वहाँ कुछ देर तक सुखसे वैठते थे ॥१३२॥ इसके वाद जव दिनका चौथाई भाग शेप रह जाता था तव मणियोसे जड़ी हुई जमीनपर टहलते हुए वे चारो ओर राजमहलकी उत्तम शोभा देखते थे ॥१३३॥ कभी वे क्रीड़ासचिव अर्थात् क्रीडामें सहायता देनेवाले लोगोके कन्धोंपर हाथ रखकर इधर-उधर घूमते हुए देवकुमारोंके समान सुशोभित होते थे ॥१३४॥ रातमें भी चक्रवर्तीके योग्य जो कार्य थे उन्हे करते हुए वे सुखसे रात्रि व्यतीत करते थे ॥१३५॥ यद्यपि वे चक्रवर्ती कृतकृत्य हो चुके थे अर्थात् विजय आदिका समस्त कार्य पूर्ण कर चुके थे तथापि केवल नियोग समझकर कभी-कभी उचित समयपर मन्त्रियोके साथ सलाह करते थे ॥१३६॥ जिन्होने

१ महत्तरान् । २ दूतान् । ३ परितोपे भव. । ४ मृदुभिः । ५ मध्याह्न । ६ अन्वभवत् । ७ अनुलेपनम् । वस्त्रमाल्याभरणादि । 'आकल्पवेशौ नेपथ्यं प्रतिकर्म प्रसाधनम्' । ८ पादमर्दन । ९ परिचर्या चक्रिरे । १० भोजनान्ते स्थातु योग्यास्थाने । ११ विद्वत्समूहेन । १२ मिथोभापण । 'संलापो भापण मिथ.' इत्यभिधानात् । १३ सुखस्थलम् । १४ क्रीडासहाय । 'कीडा लीला च नर्म च' इत्यभिधानात् । १५ असो भुजशिर एव पीठस्तस्मिन् । १६ इतस्तत । १७ रात्रिं नयति स्म । १८ उचितकालपर्यन्तम् । १९ स्वराष्ट्रचिन्ताम् । अथवा शास्त्रचिन्ताम् । 'तन्त्र. प्रधाने सिद्धान्ते सूत्रवाये परिच्छदे' इत्यभिधानात् ।

तेन[1] षाड्गुण्यमभ्यस्तमपरिज्ञानहानये । शासतोऽस्याविपक्षां क्ष्मां कृतं[2] संध्यादिचर्चया[3] ॥१३८॥
[4]राजविद्याश्चतस्रोऽमूः कदाचिच्च कृतक्षणः[5] । व्याचख्यौ[6] राजपुत्रेभ्यः ख्यातये स विचक्षणः ॥१३९॥
कदाचिन्निधिरत्नानामकरोत्स निरीक्षणम् । भाण्डागारपदे तानि तस्य तन्त्र[7]पदेऽपि च ॥१४०॥
कदाचिद्धर्मशास्त्रेषु याः स्युर्विप्रतिपत्तयः[8] । निराचकार[9] ताः कृत्स्नाः ख्यापयन्[10] विश्वविन्मतम्[11] ॥१४१॥
आप्तोपज्ञेषु तत्त्वेषु कांश्चित् संजातसंशयान् । ततोऽपाकृत्य संशीतेस्तत्तत्त्वं[12] निरणीनयत्[13] ॥१४२॥
तथाऽसावर्थशास्त्रार्थे[14] कामनीतौ च पुष्कलम् । प्रावीण्यं प्रथयामास यथाऽत्र न परः कृती[15] ॥१४३॥
[16]हस्तितन्त्रेऽश्वतन्त्रे च दृष्ट्वा स्वातन्त्र्यमीशितुः । मूलतन्त्रस्य[17] कर्ताऽयमित्यास्था[18] तद्विदामभूत् ॥
[19]आयुर्वेदे स दीर्घायुरायुर्वेदो नु मूर्तिमान् । इति लोको निराशङ्कं[20] श्लाघते स्म निधीशिनम् ॥१४५॥
सोऽधीती[21] पदविद्यायां स कृती[22] वागलंकृतौ[23] । स छन्दसांप्रतिच्छन्द[24] इत्यासीत् संमतः सताम्॥१४६॥
[25]तदुपज्ञं निमित्तानि शाकुनं[26] तदुपक्रमम्[27] । तत्सर्गो[28] ज्योतिषां[29] ज्ञानं तन्मतं तेन[30] तत्त्रयम्[31] ॥१४७॥

समस्त पृथिवी जीत ली है और जो इस भरतक्षेत्रमे स्वतन्त्र है ऐसे उन भरतको अपने तथा परराष्ट्रकी कुछ भी चिन्ता थी, यदि चिन्ता नही थी, तो केवल तन्त्र अर्थात् स्वराष्ट्रकी ही चिन्ता थी ॥१३७॥ उन्होंने अपना अज्ञान नष्ट करनेके लिए ही छह गुणोंका अभ्यास किया था क्योकि जब वे शत्रुरहित पृथिवीका पालन करते थे तब उन्हे सन्धि विग्रह आदिकी चर्चासे क्या प्रयोजन था ॥१३८॥ अतिशय विद्वान् महाराज भरत केवल प्रसिद्धिके लिए ही कभी-कभी बडे उत्साहके साथ राजपुत्रोके लिए आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति इन चार राजविद्याओंका व्याख्यान करते थे ॥१३९॥ वे कभी-कभी निधियो और रत्नोंका भी निरीक्षण करते थे। क्योकि निधियों और रत्नोंमें-से कुछ तो उनके भाण्डारमे थे और कुछ उनकी सेनामें थे ॥१४०॥ कभी-कभी वे सर्वज्ञदेवका मत प्रकट करते हुए धर्मशास्त्रमे जो कुछ विवाद थे उन सबका निराकरण करते थे ॥१४१॥ भगवान् अरहन्तदेवके कहे हुए तत्त्वोमे जिन किन्हीको सन्देह उत्पन्न होता था उन्हे वे उस सन्देहसे हटाकर तत्त्वोका यथार्थ निर्णय कराते थे ॥१४२॥ इसी प्रकार वे अर्थशास्त्रके अर्थमें और कामशास्त्रमे अपना पूर्ण चातुर्य इस तरह प्रकट करते थे कि फिर इस संसारमें उनके समान दूसरा चतुर नही रह जाता था ॥१४३॥ हस्तितन्त्र और अश्वतन्त्रमें महाराज भरतकी स्वतन्त्रता देखकर उन शास्त्रोके जाननेवाले लोगोको यही विश्वास हो जाता था कि इन सबके मूल शास्त्रोके कर्ता यही है ॥१४४॥ आयुर्वेद के विषयमे तो सब लोग निधियोके स्वामी भरतकी बिना किसी शकाके यही प्रशंसा करते थे कि यह दीर्घायु क्या मूर्तिमान् आयुर्वेद ही है अर्थात् आयुर्वेदने ही क्या भरतका शरीर धारण किया है ॥१४५॥ इसी प्रकार सज्जन लोग यह भी मानते थे कि वे व्याकरण-विद्यामे कुशल है, शब्दालंकारमें निपुण है, और छन्दशास्त्रके प्रतिबिम्ब है ॥१४६॥ निमित्तशास्त्र सबसे पहले उन्हीके बनाये हुए है, शकुनशास्त्र उन्हीके कहे हुए है और ज्योतिष शास्त्रका ज्ञान उन्ही-

---

१ चक्रिणा । २ पर्याप्तम् । अलमित्यर्थः । ३ सन्धिविग्रहभावादिविचारेण । ४ आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चतस्रो राजविद्या. । ५ कृतोत्साह । ६ वदति स्म । ७ सैन्यस्थाने परिग्रहे बभूवुरित्यर्थ. । ८ विसंवादाः । ९ निराकृतवान् । १० प्रकटीकुर्वन् । ११ सर्वज्ञमतम् । १२ सशयात् । १३ निर्णयमकारयत् । १४ नीतिशास्त्रार्थे । १५ कुशल । १६ गजशास्त्रे । १७ मूलशास्त्रस्य । १८ इति बुद्धि । १९ वैद्यशास्त्रे । २० निशङ्कम् । २१ व्याकरणशास्त्रमधीतवान् । २२ कुशल । २३ शब्दालंकारे । २४ प्रतिनिधि । २५ तदुपज्ञनिमित्तानि ल०, म० । तेन प्रथमोक्तम् । २६ शकुनशास्त्रम् । २७ तेन प्रथममुपक्रान्तम् । २८ तस्य भरतस्य सृष्टि । २९ ज्योतिषशास्त्रम् । ३० तेन कारणेन । ३१ निमित्तादित्रयम् ।

स निमित्तं[1] निमित्तानां[2] तन्त्रे मन्त्रे सशाकुने । दैवज्ञाने[3] परं दैवमित्यभूत्संमतोऽधिकम्[4] ॥१४८॥
तत्संभूतौ समुद्भूतमभूत् पुरुषलक्षणम् । उदाहरणमन्यत्र लक्षितं येन तत्तनोः ॥१४९॥
अन्येष्वपि कलाशास्त्रसंग्रहेषु कृतागमाः[5] । तमेवादर्श[6]मालोक्य संशयांशाद् व्यरंसिषुः[7] ॥१५०॥
येनास्य सहजा प्रज्ञा पूर्वजन्मानुषङ्गिणी[8] । तेनैषा विश्वविद्यासु जाता परिणतिः परा ॥१५१॥
इत्थं सर्वेषु शास्त्रेषु कलासु सकलासु च । लोके स संमतिं प्राप्य तद्विद्यानां मतोऽभवत् ॥१५२॥
किमत्र बहुनोक्तेन प्रज्ञापारमितो मनुः । कृत्स्नस्य लोकवृत्तस्य स भेजे सूत्रधारताम् ॥१५३॥
राजसिद्धान्ततत्त्वज्ञो[10] धर्मशास्त्रार्थतत्त्ववित् । परिख्यातः कलाज्ञाने सोऽभून्मूर्ध्नि सुमेधसाम् ॥१५४॥
इत्यादिराजं[11] तत्सम्राडहो राजर्षिनायकम्[12] । [13]तत्सार्वभौममित्यस्य दिशासूच्छलितं यशः ॥१५५॥

मालिनी

इति[14] सकलकलानामेकमोकः[15] स चक्री
कृतमतिभिरजर्यं[16] संगतं संविधित्सन् ।
बुधसदसि[17] सदस्यान् बोधयन् विश्वविद्या
व्यवृणुत[18] बुधचक्रीत्युच्छलत्कीर्तिकेतुः[19] ॥१५६॥

की सृष्टि है इसलिए उक्त तीनो शास्त्र उन्हीके मत है ऐसा समझना चाहिए ॥१४७॥ वे निमित्त शास्त्रोके निमित्त है, और तन्त्र, मन्त्र, शकुन तथा ज्योतिष शास्त्रमें उत्तम अधिष्ठाता देव है इस प्रकार सब लोगोमें अधिक मान्यताको प्राप्त हुए थे ॥१४८॥ महाराज भरतके उत्पन्न होनेपर पुरुषके सब लक्षण उत्पन्न हुए थे इसलिए दूसरी जगह उनके शरीरके उदाहरण ही देखे जाते थे ॥१४९॥ शास्त्रोके जाननेवाले पुरुष ऊपर कहे हुए शास्त्रोके सिवाय अन्य कला-शास्त्रोंके सग्रहमे भी भरतको ही दर्पणके समान देखकर सशयके अशोसे विरत होते थे अर्थात् अपने-अपने सशय दूर करते थे ॥१५०॥ चूँकि उनकी स्वाभाविक बुद्धि पूर्वजन्मसे सम्पर्क रखने-वाली थी इसलिए ही उनकी समस्त विद्याओमे उत्तम प्रगति हुई थी ॥१५१॥ इस प्रकार समस्त शास्त्र और समस्त कलाओमे प्रतिष्ठा पाकर वे भरत उन विद्याओके जाननेवालोमे मान्य हुए थे ॥१५२॥ इस विषयमे बहुत कहनेसे क्या लाभ है ? इतना कहना ही पर्याप्त है कि बुद्धिके पारगामी कुलकर भरत समस्त लोकाचारके सूत्रधार हो रहे थे ॥१५३॥ वे राज-शास्त्रके तत्त्वोको जानते थे, धर्मशास्त्रके जानकार थे, और कलाओके ज्ञानमे प्रसिद्ध थे । इस प्रकार उत्तम विद्वानोके मस्तकपर सुशोभित हो रहे थे अर्थात् सबमे श्रेष्ठ थे ॥१५४॥ अहो, इनका प्रथम राज्य कैसा आश्चर्य करनेवाला है, यह सम्राट् है, राजर्षियोमे मुख्य हैं, इनका सार्वभौम पद भी आश्चर्यजनक है इस प्रकार उनका यश समस्त दिशाओमे उछल रहा था ॥१५५॥ इस प्रकार जो समस्त कलाओका एकमात्र स्थान है, जो बुद्धिमान् पुरुषोके साथ अविनाशी मित्रता करना चाहता है और 'यह विद्वानोमे चक्रवर्ती है अथवा विद्वान् चक्रवर्ती है' इस प्रकार जिसकी कीर्तिरूपी पताका फहरा रही है ऐसा वह चक्रवर्ती भरत विद्वानोकी सभामें समस्त विद्याओंका उपदेश देता हुआ समस्त विद्याओका व्याख्यान करता था ॥१५६

---

१ कारणम् । २ निमित्तशास्त्राणाम् । ३ ज्योतिःशास्त्रे । ४ स मतोऽधिकम् इ० । स गतोऽधिकम् ल०, म० । ५ सपूर्णशास्त्रम । ६ मुकुरम् । ७ विरमन्ति स्म । ८ कारणेन । ९ अनुसबन्धिनी । १० नृपविद्यास्वरूपज्ञ. । ११ आदिराजस्य प्रथा । १२ राजर्षिनायकस्य प्रथा । १३ सर्वभूमीशस्य प्रकाश । १४ मुख्य । १५ गृहः । १६ अविनाशी । १७ सदसि योग्यान् । १८ विवरणमकरोत् । १९ विद्वज्जन ।

जिनविहितमनूनं संस्मरन् धर्ममार्गं
स्वयमधिगततत्त्वो बोधयन् मार्गमन्यान् ।
कृतमतिरखिलां क्ष्मां पालयन्निःसपत्नां
चिरमरमत भोगैर्भूरिसारैः स सम्राट् ॥१५७॥

शार्दूलविक्रीडितम्

लक्ष्मीवाग्वनितासमागमसुखस्यैकाधिपत्यं दधत्
दूरोत्सारितदुर्णयः प्रशमिनां तेजस्विनामुद्वहन् ।
न्यायोपार्जितवित्तकामघटनः शस्त्रे च शास्त्रे कृती
राजर्षिः परमोदयो जिनजुषा[1]मग्रेसरः सोऽभवत् ॥१५८॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भरतराजस्वप्नदर्शनतत्फलोपवर्णनं नाम एकचत्वारिंशत्तमं पर्व ॥४१॥

■

जिसने समस्त तत्त्वोंको जान लिया है और जिसकी बुद्धि परिपक्व है ऐसा सम्राट् भरत, जिनेन्द्रदेवके कहे हुए न्यूनतारहित धर्ममार्गका स्मरण करता हुआ तथा वही मार्ग अन्य लोगोंको समझाता हुआ और शत्रुरहित सम्पूर्ण पृथिवीका पालन करता हुआ सारपूर्ण भोगोके द्वारा चिरकाल तक क्रीडा करता रहा था ॥१५७॥ जो लक्ष्मी और सरस्वतीके समागमसे उत्पन्न हुए सुखके एक स्वामित्वको धारण कर रहा है, जिसने समस्त दुष्ट नय दूर हटा दिये है, जो शान्तियुक्त तेजस्वीपनेको धारण कर रहा है, जिसने न्यायपूर्वक कमाये हुए धनसे कामका संयोग प्राप्त किया है, जो शस्त्र और शास्त्र दोनोमें ही निपुण है, राजर्षि है और जिसका अभ्युदय अतिशय उत्कृष्ट है ऐसा वह भरत जिनेन्द्रदेवकी सेवा करनेवालोमें अग्रेसर अर्थात् सबसे श्रेष्ठ था ॥१५८॥

इस प्रकार आर्षनामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहके
भाषानुवादमे भरतराजके स्वप्न तथा उनके फलका वर्णन
करनेवाला इकतालीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ।

■

---

१ जिनसेवकानाम् ।

द्विचत्वारिंशत्तमं पर्व

[1]मध्येसभमथान्येद्युर्निविष्टो[2] हरिविष्टरे । क्षात्रं[3] वृत्तमुपादिक्षत्संहितान्[4] पार्थिवान् प्रति ॥१॥
श्रूयतां भो महात्मानः सर्वे[5] क्षत्रियपुङ्गवाः । क्षतत्राणे नियुक्ताः स्थ[6] यूयमाद्येन वेधसा ॥२॥
तत्त्राणे च नियुक्तानां वृत्तं वः पञ्चधोदितम् । तन्निशम्य[7] यथाम्नायं प्रवर्तध्वं प्रजाहिते ॥३॥
तच्चेदं कुलमत्यात्मप्रजानामनुपालनम् । समञ्जसत्वं चेत्येवमुद्दिष्टं पञ्चभेदभाक् ॥४॥
कुलानुपालनं तत्र कुलाम्नायानुरक्षणम् । कुलोचितसमाचारपरिरक्षणलक्षणम् ॥५॥
क्षत्रियाणां कुलाम्नायः कीदृगश्चेन्निशम्यताम्[8] । आद्येन वेधसा सृष्टः सर्गोऽयं क्षत्रपूर्वकः[9] ॥६॥
स चैष भारतं[10] वर्षमवतीर्णो दिवोऽग्रतः । पुरा[11] भवे समाराध्य रत्नत्रितयमूर्जितम् ॥७॥
द्विरष्टौ भावनास्तत्र तीर्थकृत्त्वोपपादिनीः । भावयित्वा शुभोदर्का द्युलोकाग्रमधिष्ठितः[12] ॥८॥
तेनास्मिन् भारते वर्षे धर्मतीर्थप्रवर्तने । ततः[13] कृतावतारेण क्षात्रसर्गः प्रवर्तितः ॥९॥
तत्कथं कर्मभूमित्वाद्द्वयत्वे द्वितयी प्रजा । कर्तव्या[14] रक्षणीयैका प्रजान्या रक्षणोद्यता ॥१०॥
रक्षणाभ्युद्यता येऽत्र क्षत्रियाः स्युस्तदन्वयाः । सोऽन्वयोऽनादिसंतत्या बीजवृक्षवदिष्यते ॥११॥

अथानन्तर–किसी एक दिन सभाके बीचमे सिंहासनपर बैठे हुए भरत इकट्ठे हुए राजाओके प्रति क्षात्रधर्मका उपदेश देने लगे ।।१।। वे कहने लगे कि हे समस्त क्षत्रियोंमे श्रेष्ठ महात्माओ, आप लोगोंको आदिब्रह्मा भगवान् वृषभदेवने दुःखी प्रजाकी रक्षा करनेमे नियुक्त किया है ।।२।। दुःखी प्रजाकी रक्षा करनेमें नियुक्त हुए आप लोगोका धर्म पाँच प्रकारका कहा है उसे सुनकर तुम लोग शास्त्रके अनुसार प्रजाका हित करनेमें प्रवृत्त होओ ।।३।। वह तुम्हारा धर्म कुलका पालन करना, बुद्धिका पालन करना, अपनी रक्षा करना, प्रजाकी रक्षा करना और समंजसपना इस प्रकार पाँच भेदवाला कहा गया है ।।४।। उनमे-से अपने कुलाम्नायकी रक्षा करना और कुलके योग्य आचरणकी रक्षा करना कुल-पालन कहलाता है ।।५।। अब क्षत्रियोका कुलाम्नाय कैसा है ? सो सुनिए । आदिब्रह्मा भगवान् वृषभदेवने क्षत्रपूर्वक ही इस सृष्टिकी रचना की है अर्थात् सबसे पहले क्षत्रियवर्णकी रचना की है ।।६।। जिन्होने पहले भवमें अतिशय श्रेष्ठ रत्नत्रयकी आराधना कर तथा तीर्थंकर पद प्राप्त करानेवाली और शुभ फल देनेवाली सोलह भावनाओका चिन्तवन कर स्वर्गलोकके सबसे ऊपर अर्थात् सर्वार्थसिद्धिमे निवास किया था वे ही भगवान् सर्वार्थसिद्धिसे आकर इस भारतवर्षमे अवतीर्ण हुए हैं ।।७–८।। जिसमें धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति करनी है ऐसे इस भारतवर्षमे सर्वार्थसिद्धिसे अवतार लेकर उन्होंने क्षत्रियोकी सृष्टि प्रवृत्त की है ।।९।। वह क्षत्रियोकी सृष्टि किस प्रकार प्रवृत्त हुई थी ? इसका समाधान यह है कि आज कर्मभूमि होनेसे प्रजा दो प्रकारकी पायी जाती है । उनमें एक प्रजा तो वह है जिसकी रक्षा करनी चाहिए और दूसरी वह है जो रक्षा करनेमे तत्पर है ।।१०।। जो प्रजाकी रक्षा करनेमे तत्पर है उसीकी वंशपरम्पराको क्षत्रिय कहते है यद्यपि यह वंश अनादिकालकी सन्ततिसे बीज वृक्षके समान अनादि कालका है तथापि

---

१ सभामध्ये । २ निविष्टो ल०, म० । ३ क्षत्रियमवन्धि । ४ मिलितान् । ५ सर्व–प०, ल०, म० । ६ भव प० । ७ श्रुत्वा । ८ श्रूयताम् । ९ क्षत्रशब्द । १० क्षेत्रम् । ११ पूर्वस्मिन् । १२ आश्रित. । १३ कृतावतारेण इ०, स०, अ० । १४ रक्षितु योग्या ।

विशेषतस्तु तत्सर्गः क्षेत्रकालव्यपेक्षया[1]। तेषां समुचिताचारः प्रजार्थे न्यायवृत्तिता ॥१२॥
स तु न्यायोऽनतिक्रान्त्या धर्मस्यार्थसमर्जनम्। रक्षणं वर्धनं चास्य पात्रे च विनियोजनम् ॥१३॥
सैषा चतुष्टयी वृत्तिर्न्यायः सद्भिरुदीरितः[2]। जैनधर्मानुवृत्तिश्च न्यायो लोकोत्तरो मतः ॥१४॥
दिव्यमूर्तेरुदुत्पद्य जिनादुत्पादयञ्जिनान्। रत्नत्रयं तु[3] तद्योनिर्नृपास्त[4]स्मादयोनिजाः ॥१५॥
ततो महान्वयोत्पन्ना नृपा लोकोत्तमा मताः। पथिस्थिताः स्वयं धर्म्ये स्थापयन्तः परानपि ॥१६॥
तैस्तु सर्वप्रयत्नेन कार्यं स्वान्वयरक्षणम्। तत्पालनं कथं कार्यमिति चेत्तदनूद्यते[5] ॥१७॥
स्वयं महान्वयत्वेन महिम्नि क्षत्रियाः स्थिताः। धर्मास्थया न शेषादि[6] ग्राह्यं तैः परलिङ्गिनाम्[8] ॥१८॥
तच्छेषादिग्रहे दोषः कश्चेन्माहात्म्यविच्युतिः। अपाया बहवश्चास्मिन्नतस्तत्परिवर्जनम् ॥१९॥
माहात्म्यप्रच्युतिस्तावत् कृत्वाऽन्यस्य शिरोनतिम्। ततः[9] शेषाद्युपादाने स्यान्निकृष्टत्वमात्मनः ॥२०॥
प्रद्विषन् परपाषण्डी विषपुष्पाणि निक्षिपेत्। यद्यस्य मूर्ध्नि नन्वेवं स्यादपायो महीपतेः ॥२१॥
वशीकरणपुष्पाणि निक्षिपेद्यदि मोहने[10]। ततोऽयं मूढवद्वृत्तिरुपेयादन्यवश्यताम् ॥२२॥
तच्छेषाशीर्वचः[11] शान्तिवचनाद्यन्यलिङ्गिनाम्[12]। पार्थिवैः परिहर्तव्यं भवेन्न्यक्[13]कुलताऽन्यथा[14] ॥२३॥

विशेषता इतनी है कि क्षेत्र और कालकी अपेक्षासे उसकी सृष्टि होती है। तथा प्रजाके लिए न्यायपूर्वक वृत्ति रखना ही उनका योग्य आचरण है ॥११-१२॥ धर्मका उल्लंघन न कर धनका कमाना, रक्षा करना, बढाना और योग्य पात्रमे दान देना ही उन क्षत्रियोका न्याय कहलाता है ॥१३॥ इस चार प्रकारकी प्रवृत्तिको सज्जन पुरुषोने क्षत्रियोका न्याय कहा है तथा जैनधर्मके अनुसार प्रवृत्ति करना संसारमे सबसे उत्तम न्याय माना गया है ॥१४॥ दिव्य-मूर्तिको धारण करनेवाले श्री जिनेन्द्रदेवसे उत्पन्न होकर तीर्थ करोको उत्पन्न करनेवाला जो रत्नत्रय है वही क्षत्रियोकी योनि है अर्थात् क्षत्रिय पदकी प्राप्ति रत्नत्रयके प्रतापसे ही होती है। यही कारण है कि क्षत्रिय लोग अयोनिज अर्थात् विना योनिके उत्पन्न हुए कहलाते है ॥१५॥ इसलिए बडे-बड़े वशोमे उत्पन्न हुए राजा लोग लोकोत्तम पुरुष माने गये है। ये लोग स्वयं धर्ममार्गमें स्थित रहते है तथा अन्य लोगोको भी स्थित रखते है ॥१६॥ उन क्षत्रियोंको सर्वप्रकारके प्रयत्नोसे अपने वंशकी रक्षा करनी चाहिए। वह वंशकी रक्षा किस प्रकार करनी चाहिए यदि तुम लोग यह जानना चाहते हो तो मै आगे कहता हूँ ॥१७॥ बड़े-बड़े वंशोंमे उत्पन्न होनेसे क्षत्रिय लोग स्वय बड़प्पनमे स्थिर है इसलिए उन्हे अन्यमतियोके धर्ममे श्रद्धा रखकर उनके शेषाक्षत आदि ग्रहण नही करना चाहिए ॥१८॥ उनके शेषाक्षत आदिके ग्रहण करनेमें क्या दोष है? कदाचित् कोई यह कहे तो उसका उत्तर यह है कि उससे अपने महत्त्वका नाश होता है और अनेक विघ्न या अनिष्ट आते है इसलिए उनका परित्याग ही कर देना चाहिए ॥१९॥ अन्य मतावलम्बियोको शिरोनति करनेसे अपने महत्त्वका नाश हो जाता है इसलिए उनके शेषाक्षत आदि लेनेसे अपनी निकृष्टता हो सकती है ॥२०॥ सम्भव है द्वेष करनेवाला कोई पाखण्डी राजाके शिरपर विषपुष्प रख दे तो इस प्रकार भी उसका नाश हो सकता है ॥२१॥ यह भी हो सकता है कि कोई वशीकरण करनेके लिए इसके शिरपर वशीकरण पुष्प रख दे तो फिर यह राजा पागलके समान आचरण करता हुआ दूसरोकी वश्यताको प्राप्त हो जावेगा ॥२२॥ इसलिए राजाओको अन्यमतियोके शेषाक्षत, आशीर्वाद और शान्तिवचन

१ भरतक्षेत्रावसर्पिण्युत्सर्पिणीकाल। २-रुदाहृतः ब०, ल०, म०। ३ क्षत्रियाणामुत्पत्तिस्थानम्। ४ तस्मात् कारणात्। ५ अनुकथ्यते।-दनूच्यते प०, ल०, म०। ६ शेषाक्षतस्नानोदकादिकम्। ८ अन्यलिङ्गिन.। ९ शेषादिदातुः सकाशात्। १० मोहने निमित्ते। ११ तत् कारणात्। १२ शान्तिमन्त्रपुण्याहवाचनादि। १३ नीचकुलता। १४ तच्छेषादिस्वीकारप्रकारेण।

[1]जैनास्तु पार्थिवास्तेषामर्हत्पादोपसेविनाम् । तच्छेषानुमतिर्न्याय्या यतः पापक्षयो भवेत् ॥२४॥
रत्नत्रितयमूर्तित्वादादिक्षत्रियवंशजाः । जिनाः सनाभयोऽमीषाम्[2] तस्तच्छेषधारणम् ॥२५॥
यथा हि कुलपुत्राणां माल्यं गुरुशिरोद्धृतम् । मान्यमेवं जिनेन्द्राङ्घ्रिस्पर्शान्माल्यादिभूषितम्[3] ॥२६॥
कथं मुनिजनादेषां[4] शेषोपादानमित्यपि । नाशङ्क्यं तत्सजातीयास्ते[5] राजपरमर्षयः ॥२७॥
अक्षत्रियाश्च वृत्तस्था क्षत्रिया एव दीक्षिताः । यतो रत्नत्रयायत्तजन्मना तेऽपि[6] तद्गुणाः[7] ॥२८॥
ततः स्थितमिदं[8] जैनान्मतादन्यमतस्थिताः । क्षत्रियाणां न शेषादिप्रदानेऽधिकृता इति ॥२९॥
कुलानुपालने यत्नमतः कुर्वन्तु पार्थिवाः । अन्यथाऽन्यैः प्रतार्येरन्[9] पुराणाभासदेशनात् ॥३०॥
कुलानुपालनं प्रोक्तं वक्ष्ये मत्यनुपालनम् । मतिर्हिताहितज्ञानमात्रिकामुत्रिकार्थयोः ॥३१॥
तत्पालनं कथं स्याच्चेदविद्यापरिवर्जनात् । मिथ्याज्ञानमविद्या स्यादतत्त्वे तत्त्वभावना ॥३२॥
आप्तोपज्ञं भवेत्तत्त्वमाप्तो दोषावृति[10]क्षयात् । तस्मात्तन्मतमभ्यस्येन्मनोमलमपासितुम् ॥३३॥

आदिका परित्याग कर देना चाहिए अन्यथा उनके कुलमे हीनता हो सकती है ॥२३॥ राजा लोग जैन है इसलिए अरहन्तदेवके चरणोंकी सेवा करनेवाले उन राजाओंको अरहन्तदेवके शेषाक्षत आदि ग्रहण करनेकी अनुमति देना न्याययुक्त ही है क्योकि उससे उनके पापका क्षय होता है ॥२४॥ रत्नत्रयकी मूर्तिरूप होनेसे आदि क्षत्रिय श्री वृषभदेवके वशमे उत्पन्न हुए जिनेन्द्रदेव इन राजाओके एक ही गोत्रके भाई-बन्धु है इसलिए भी इन्हे उनके शेपाक्षत आदि धारण करना चाहिए । भावार्थ—रत्नत्रयकी मूर्ति होनेसे जिस प्रकार अन्य तीर्थंकर भगवान् वृषभदेवके वंशज कहलाते है उसी प्रकार ये राजा लोग भी रत्नत्रयकी मूर्ति होनेसे भगवान् वृषभदेवके वशज कहलाते है । एक वशमे उत्पन्न होनेसे ये सब परस्परमें एक गोत्रवाले भाई-बन्धु ठहरते है इसलिए राजाओंको अपने एकगोत्री जिनेन्द्रदेवके शेपाक्षत आदिका ग्रहण करना उचित ही है ॥२५॥ जिस प्रकार कुलपुत्रोको गुरुदेवके शिरपर धारण की हुई माला मान्य होती है उसी प्रकार जिनेन्द्रदेवके चरणोके स्पर्शसे सुशोभित हुई माला आदि भी राजाओको मान्य होनी चाहिए ॥२६॥ कदाचित् कोई यह कहे कि राजाओको मुनियोसे शेषाक्षत आदि किस प्रकार ग्रहण करना चाहिए तो उनकी यह शंका ठीक नही है क्योकि राजर्षि और परमर्पि दोनों ही सजातीय है ॥२७॥ जो क्षत्रिय नही है वे भी दीक्षा लेकर यदि सम्यक्चारित्र धारण कर लेते है तो क्षत्रिय ही हो जाते है इसलिए रत्नत्रयके अधीन जन्म होनेसे मुनिराज भी राजाओके समान क्षत्रिय माने जाते है ॥२८॥ उपर्युक्त उल्लेखसे यह बात निश्चित हो चुकी कि जैन मतसे भिन्न मतवाले लोग क्षत्रियोको शेपाक्षत आदि देनेके अधिकारी नही है ॥२९॥ इसलिए राजा लोगोको अपने कुलकी रक्षा करनेमे सदा यत्न करते रहना चाहिए अन्यथा अन्य मतावलम्बी लोग झूठे पुराणोंका उपदेश देकर उन्हे ठग लेगे ॥३०॥ इस प्रकार क्षत्रियोंका कुलानुपालन (कुलके आम्नायकी रक्षा करना) नामका पहला धर्म कह चुके अब दूसरा मत्यनुपालन (वुद्धिकी रक्षा करना) नामका धर्म कहते है । इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी पदार्थोके हित-अहितका ज्ञान होना वुद्धि कहलाती है ॥३१॥ उस वुद्धिका पालन किस प्रकार हो सकता है ? यदि यह जानना चाहो तो उसका उत्तर यह है कि अविद्या-का नाश करनेसे ही उसका पालन होता है । मिथ्या ज्ञानको अविद्या कहते है और अतत्त्वोमे तत्त्ववुद्धि होना मिथ्या ज्ञान कहलाता है ॥३२॥ जो अरहंतदेवका कहा हुआ हो वही तत्त्व

---

१ ततः ल०, म० । २ क्षत्रियाणाम् । ३ भूपणम् । ४ क्षत्रियाणाम् । ५ तत्समानजातिभवा । ६ मुनय । ७ जिनगुणा. । ८ प्रतिष्ठितम् । ९ वञ्चेरन् । १० आवरण ।

राजविद्यापरिज्ञानादैहिकेऽर्थे दृढा मतिः । धर्मशास्त्रपरिज्ञानान्मतिर्लोकद्वयाश्रिता ॥३४॥
क्षत्रियास्तीर्थ[1]मुत्पाद्य येऽभूवन् परमर्षयः । ते महादेवशब्दाभिधेया माहात्म्ययोगतः ॥३५॥
आदिक्षत्रियवृत्तस्थाः पार्थिवा ये महान्वयाः । महत्त्वानुगतास्तेऽपि[2] महादेवप्रथां गताः ॥३६॥
तद्देव्यश्च महादेव्यो महाभिजन[3]योगतः । महद्भिः परिणीतत्वात्[4] प्रसूतेश्च महात्मनाम् ॥३७॥
इत्येवमास्थिते[5] पक्षे जैनैरन्यमताश्रयी । यदि कश्चित् प्रतिब्रूयान्मिथ्यात्वोपहताशयः॥३८॥
वयमेव महादेवा जगद्भिस्तारका वयम् । नास्मदाप्तात्[6] परोऽस्त्याप्तो मतं नास्मन्मतात्परम् ॥३९॥
इत्यत्र ब्रूमहे नैतत्सारं[7] संसारवारिधेः । यः समुत्तरणोपायः स मार्गो जिनदेशितः ॥४०॥
आप्तोऽर्हन्वीतदोषत्वादाप्तम्मन्यास्ततोऽपरे । तेषु वागात्मभाग्यातिशयानामविभावनात्[8] ॥४१॥
वागाद्यतिशयोपेतः सार्वः सर्वार्थदृग्जिनः । स्यादाप्तः परमेष्ठी[9] च परमात्मा सनातनः ॥४२॥
स वागतिशयो ज्ञेयो येनायं विभुरक्रमात् । वचसैकेन दिव्येन प्रीणयत्यखिलां सभाम् ॥४३॥
तथाऽऽत्मातिशयोऽप्यस्य दोषावरणसंक्षयात् । अनन्तज्ञानदृग्वीर्यसुखातिशयसंनिधिः ॥४४॥
प्रातिहार्यमयी भूतिरुद्भूतिश्च सभावनेः । गणाश्च द्वादशेत्येष स्याद्भाग्यातिशयोऽर्हतः ॥४५॥

हो सकता है और अरहन्त भी वही हो सकता है जो ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय और अन्तराय कर्मका क्षय कर चुका हो। इसलिए अपने मनका मल दूर करनेके लिए अरहन्तदेवके मतका अभ्यास करना चाहिए ॥३३॥ राजविद्याका परिज्ञान होनेसे इस लोक सम्बन्धी पदार्थोमे बुद्धि दृढ हो जाती है और धर्मशास्त्रका परिज्ञान होनेसे इस लोक तथा परलोक दोनों लोक सम्बन्धी पदार्थोमे दृढ हो जाती है ॥३४॥ जो क्षत्रिय तीर्थ उत्पन्न कर परमर्षि हो गये है वे अपने माहात्म्यके योगसे महादेव कहलाते है ॥३५॥ बडे-बड़े वंशोंमें उत्पन्न हुए जो राजा लोग आदिक्षत्रिय—भगवान् वृषभदेवके चारित्रमें स्थिर रहते है वे भी माहात्म्यके योगसे महादेव इस प्रसिद्धिको प्राप्त हुए है ॥३६॥ ऐसे पुरुषोकी स्त्रियाँ भी बड़े पुरुषोके साथ सम्बन्ध होनेसे, बडे पुरुषोके द्वारा विवाहित होनेसे और महापुरुषोंको उत्पन्न करनेसे महादेवियाँ कहलाती है ॥३७॥ इस प्रकार जैनियोके द्वारा अपना पक्ष स्थिर कर लेनेपर मिथ्यादर्शनसे जिसका हृदय नष्ट हो रहा है ऐसा कोई अन्यमतावलम्बी पुरुष यदि कहे कि हम ही महादेव हैं, ससारसे तारनेवाले भी हम ही है, हमारे देवके सिवाय अन्य कोई देव नही है और हमारे धर्मके सिवाय अन्य कोई धर्म नही है ॥३८–३९॥ परन्तु इस विषयमे हम यही कहते है कि उसका यह कहना सारपूर्ण नही है क्योकि संसारसमुद्रसे तिरनेका जो उपाय है वह जिनेन्द्रदेवका कहा हुआ मार्ग ही है ॥४०॥ रागद्वेष आदि दोपोंसे रहित होनेके कारण एक अर्हन्तदेव ही आप्त है उनके सिवाय जो अन्य देव है वे सब आप्तम्मन्य है अर्थात् झूठमूठ ही अपनेको आप्त मानते है क्योकि उनमें वाणी, आत्मा और भाग्यके अतिशयका कुछ भी निश्चय नही है ॥४१॥ जिनेन्द्र भगवान् वाणी आदिके अतिशयसे सहित है, सबका हित करनेवाले हैं, समस्त पदार्थोको साक्षात् देखनेवाले है, परमेष्ठी, है, परमात्मा है और सनातन है इसलिए वे ही आप्त हो सकते है ॥४२॥ भगवान् अरहन्तदेव अपनी जिस एक दिव्य वाणीके द्वारा समस्त सभाको सन्तुष्ट करते है वही उनकी वाणीका अतिशय जानना चाहिए ॥४३॥ इसी प्रकार ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्मके अत्यन्त क्षय हो जानेसे जो उनके अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वलकी समीपता प्रकट होती है वही उनके आत्माका अतिशय है ॥४४॥ तथा आठ प्रातिहार्यरूप विभूति प्राप्त होना, समवसरणभूमिकी रचना होना

१ प्रवचनम्। २ नुगमास्तेऽपि प०, अ०, स०, इ०, ल०, म०। ३ महाकुल। ४ विवाहितत्वात्। ५ प्रतिज्ञाते। ६ अस्माकमाप्तात्। ७ न्याय्यम्। ८ अनिश्चयात्। ९ परमपदस्थः।

वागाद्यतिशयैरेभिरन्वितोऽनन्यगोचरैः । भगवान्निष्ठितार्थोऽर्हन् परमेष्ठी जगद्गुरुः ॥४६॥
न च तादृग्विधः कश्चित् पुमानस्ति मतान्तरे । ततोऽन्ययोग[1]व्यावृत्त्या सिद्धमाप्तत्वमर्हति[2] ॥४७॥
इत्याप्तानुमतं क्षात्रमिमं धर्ममनुस्मरन् । मतान्तरादनार्षीयात्[3] स्वान्वयं विनिवर्तयेत् ॥४८॥
वृत्तादनात्मनीनाद्धीः[4] स्यादेवमनुरक्षिता । तद्रक्षणाच्च संरक्षेत् क्षत्रियः क्षितिमक्षताम् ॥४९॥
उक्तस्यैवार्थतत्त्वस्य भूयोऽप्याविश्चिकीर्षया । निदर्शनानि त्रीण्यत्र वक्ष्यामस्तान्यनुक्रमात् ॥५०॥
व्यक्त्यै पुरुषार्थस्य स्यात् पूरुषनिदर्शनम् । तथा निगलदृष्टान्तः स संसारिनिदर्शनः ॥५१॥
ज्ञेयः पुरुषदृष्टान्तो नाम मुक्तेतरात्मनोः । यन्निदर्शनभावेन मुक्त्यमुक्त्योः समर्थनम् ॥५२॥
संसारीन्द्रियविज्ञानदृग्वीर्यसुखचारुताः । [5]तन्वावासौ च निर्वेष्टुं[6] यतते सुखलिप्सया ॥५३॥
मुक्तस्तु न तथा किन्तु गुणैरुक्तैरतीन्द्रियैः । परं सौख्यं स्वसाद्भूतमनुभुङ्क्ते निरन्तरम् ॥५४॥
[7]तत्रैन्द्रियकविज्ञानः स्वल्पज्ञानतया स्वयम् । परं शास्त्रोपयोगाय श्रयति ज्ञानवित्तकम्[8] ॥५५॥
तथैन्द्रियकदृक्शक्तिः[9] आत्मार्वाग्भागदर्शनः[10] । अर्थानां विप्रकृष्टानां[11] भवेत् संदर्शनोत्सुकः ॥५६॥
तथैन्द्रियिकवीर्यश्च सहायापेक्षयेप्सितम् । कार्यं घटयितुं वाञ्छेत् स्वयं तत्साधनाक्षमः ॥५७॥
तत्रैन्द्रियसुखी कामभोगैरत्यन्तमुन्मनाः[12] । वाञ्छेत् सुखं पराधीनमिन्द्रियार्थानुतर्पतः[13] ॥५८॥

और बारह सभाएँ होना यह सब अरहन्तदेवके भाग्यका अतिशय है ॥४५॥ जो किन्ही दूसरोमे न पाये जानेवाले इन वाणी आदिके अतिशयोसे सहित है तथा कृतकृत्य है ऐसे भगवान् अरहन्त परमेष्ठी ही जगत्के गुरु है ॥४६॥ अन्य किसी भी मतमें ऐसा-अरहन्तदेवके समान कोई पुरुष नहीं है इसलिए अन्य योगकी व्यावृत्ति होनेसे अरहन्तदेवमे ही आप्तपना सिद्ध होता है ॥४७॥ इस प्रकार आप्तके द्वारा कहे हुए इस क्षात्रधर्मका स्मरण करते हुए क्षत्रियोको अनाप्त पुरुषोंके द्वारा कहे हुए अन्य मतोसे अपने वंशको पृथक् करना चाहिए ॥४८॥ इस प्रकार जिनमे आत्माका हित नही है ऐसे आचरणसे अपनी बुद्धिकी रक्षा की जा सकती है और बुद्धिकी रक्षा-से ही क्षत्रिय अखण्ड पृथिवीकी रक्षा कर सकता है ॥४९॥ ऊपर जो पदार्थका स्वरूप कहा है उसीको फिर भी प्रकट करनेकी इच्छासे यहाँपर क्रमानुसार तीन उदाहरण कहते है ॥५०॥ अपना पुरुषार्थ प्रकट करनेके लिए पहला पुरुषका दृष्टान्त है, दूसरा निगल अर्थात् बेड़ीका दृष्टान्त है और तीसरा संसारी जीवोंका दृष्टान्त है ॥५१॥ जिस उदाहरणसे मुक्त और कर्मबन्ध सहित जीवोके मोक्ष और बन्ध दोनों अवस्थाओका समर्थन किया जावे उसे पुरुषका दृष्टान्त अथवा उदाहरण जानना चाहिए ॥५२॥ यह संसारी जीव सुख प्राप्त करनेकी इच्छासे इन्द्रियोसे उत्पन्न हुए ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सुख और सुन्दरताको शरीररूपी घरमे ही अनुभव करनेका प्रयत्न करता है ॥५३॥ परन्तु मुक्त जीव ऐसा नही करता वह तो ऊपर कहे हुए अतीन्द्रिय गुणोसे अपने स्वाधीन हुए परम सुखका निरन्तर अनुभव करता रहता है ॥५४॥ इनमे-से ऐन्द्रियिक ज्ञानवाला ससारी जीव स्वयं अल्पज्ञानी होनेसे शास्त्रोका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए ज्ञानका चिन्तवन करनेवाले अन्य पुरुषोका आश्रय लेता है ॥५५॥ इसी प्रकार जिसके इन्द्रियोसे देखने-की शक्ति है ऐसा पुरुष अपने समीपवर्ती कुछ पदार्थोको ही देख सकता है इसलिए वह दूरवर्ती पदार्थोको देखनेके लिए सदा उत्कण्ठित होता रहता है ॥५६॥ जिसके इन्द्रियोसे उत्पन्न हुआ वीर्य है वह किसी इष्ट कार्यको स्वयं करनेमे असमर्थ होकर उसे दूसरेकी सहायताकी अपेक्षासे करना चाहता है ॥५७॥ तथा जिसके इन्द्रियजनित सुख है ऐसा पुरुष काम भोगादिकोसे

१ अन्येषु वागाद्यतिशययोगाभावात् । २ जिने । ३ आप्ताभावप्रोक्तात् । ४ अनात्महितादपमार्य । ५ देहालयौ । ६ अनुभवितुम् । ७ इन्द्रियानिन्द्रियज्ञानिनोर्मध्ये । ८–चित्तकम् प० । चिन्तनम् ल०, म० । ९ इन्द्रियजनितदर्शनशक्तिमान् । १० वस्तुनि द्विधाप्रविभवते आसन्नभागदर्शन. । ११ दूरवर्तिनाम् । १२ समुत्कण्ठः । १३ विषयवाञ्छया ।

तथैन्द्रियिकसौन्दर्यैः स्नानमाल्यानुलेपनैः । विभूषणैश्च सौन्दर्यं संस्कर्तुमभिलष्यति ॥५९॥
दोषधातुमलस्थानं देहमैन्द्रियिकं वहन् । पुमान्विष्वाण[1]भैषज्यतद्रक्षासदाकुलो[2] भवेत् ॥६०॥
दोषानपश्यंश्च[3] जात्यादीन् देहार्तस्त[4]ज्जिहासया[5] । प्रेक्षाकारी[6] तपः कर्तुं[7] प्रयस्यति यदा कदा ॥६१॥
स्वीकुर्वन्निन्द्रियावासं[8] सुखमायुश्च तद्गतम् । आवासान्तरमन्विच्छेत् प्रेक्षमाणः[9] प्रणश्वरम् ॥६२॥
यस्त्वतीन्द्रियविज्ञानदृग्वीर्यसुखसंततिः । शरीरावाससौन्दर्यैः स्वात्मभूतैरधिष्ठितः ॥६३॥
तस्योक्तदोषसंस्पर्शो[10] भवेन्नैव कदाचन । [11]तद्वानाप्तस्ततो[12] ज्ञेयः स्यादनाप्तस्त्वतद्गुणः ॥६४॥
स्फुटीकरणमस्यैव[13] वाक्यार्थस्याधुनोच्यते । यतोऽनाविष्कृतं तत्त्वं तत्त्वतो[14] नावबुध्यते ॥६५॥
तद्यथाऽतीन्द्रियज्ञानः शास्त्रार्थं[15] न परं श्रयेत् । शास्ता स्वयं त्रिकालज्ञः केवलामललोचनः ॥६६॥
तथाऽतीन्द्रियदृग्नार्थी स्यादपूर्वार्थदर्शने । तेनादृष्टं न वै किंचिद्युगपद्विश्वदृश्वना ॥६७॥
क्षायिकानन्तवीर्यश्च नान्यसाचि[16]व्यमीक्षते । कृतकृत्यः स्वयं प्राप्तलोकाग्रशिखरालयः ॥६८॥

अत्यन्त उत्कण्ठित होता हुआ इन्द्रियोके विषयोंकी तृष्णासे पराधीन सुखकी इच्छा करता है ॥५८॥ इसी प्रकार इन्द्रियोसे उत्पन्न होनेवाली सुन्दरतासे युक्त पुरुष स्नान, माला, विलेपन और आभूषण आदिसे अपनी सुन्दरताका संस्कार करना चाहता है। भावार्थ–आभूषण आदि धारण कर अपने शरीरकी सुन्दरता बढ़ाना चाहता है ॥५९॥ दोष, धातु और मलके स्थान स्वरूप इस इन्द्रिजनित शरीरको धारण करता हुआ पुरुष भोजन और औषधि आदिके द्वारा उसकी रक्षा करनेमें सदा व्याकुल रहता है ॥६०॥ जन्म मरण आदि अनेक दोषोंको देखता हुआ और शरीरसे दु.खी हुआ कोई विचारवान् पुरुष जब उसे छोड़नेकी इच्छासे तप करनेका प्रयास करता है तब वह इन्द्रियोंके निवास स्वरूप शरीरको, उससे सम्बन्ध रखनेवाले सुख और आयुको भी स्वीकार करता है और अन्तमें उसे भी नष्ट होता हुआ देखकर दूसरे ऐन्द्रियिक निवासकी इच्छा करता है। भावार्थ–तपश्चरण करनेका इच्छुक पुरुष यद्यपि शरीरको हेय समझकर छोड़ना चाहता है परन्तु साधन समझकर उसे स्वीकार करता है और जबतक इष्ट–मोक्षकी प्राप्ति नही हो जाती तबतक प्रथम शरीरके जर्जर हो जानेपर द्वितीय शरीरकी इच्छा करता रहता है ॥६१–६२॥ परन्तु जिसके अतीन्द्रिय ज्ञान, अतीन्द्रिय दर्शन, अतीन्द्रिय बल और अतीन्द्रिय सुखकी सन्तान है और जो अपने आत्मस्वरूप शरीर, आवास तथा सुन्दरता आदिसे सहित है उसके ऊपर कहे हुए दोषोंका स्पर्श कभी नही होता है, इसलिए जिसके अतीन्द्रिय ज्ञान, वीर्य और सुखकी सन्तान है उसे ही आप्त जानना चाहिए और जिसके उक्त गुण नही है उसे अनाप्त समझना चाहिए ॥६३–६४॥ अब आगे इसी वाक्यार्थका स्पष्टीकरण करते है क्योंकि जबतक किसी पदार्थका स्पष्टीकरण नही हो जाता है तबतक उसका ठीक-ठीक ज्ञान नही होता है ॥६५॥ जिसके अतीन्द्रिय ज्ञान है ऐसा पुरुष किसी दूसरे शास्त्रके अर्थका आश्रय नही लेता, किन्तु केवलज्ञानरूपी निर्मल नेत्रोंको धारण करनेवाला और तीनो कालोके सब पदार्थोको जाननेवाला वह स्वय सबको उपदेश देता है ॥६६॥ इसी प्रकार जिसके अतीन्द्रिय दर्शन है ऐसा जीव कभी अपूर्व पदार्थके देखनेकी इच्छा नही करता क्योंकि जो एक साथ समस्त पदार्थोंको देखता है उसका न देखा हुआ कोई पदार्थ भी तो नही है ॥६७॥ जिसके क्षायिक अनन्तवीर्य है वह पुरुष भी किसी अन्य जीवकी सहायता नही चाहता किन्तु

---

१ आहार। २ देहरक्षणम्। ३ उत्पत्त्यादीन्। ४ शरीरपीडित। ५ तत्त्यागेच्छया। ६ समीक्ष्यकारी। ७ प्रयत्न करोति। ८ इन्द्रियसुखहेतुप्रासादिकम्। ९ विचारयन्। १० स्पर्शनम्। ११ अतीन्द्रियविज्ञानादिमान्। १२ तत कारणात्। १३ अतीन्द्रियेत्यादिश्लोकद्वयार्थस्य। १४ निश्चयेन। १५ शास्त्रनिमित्तम्। १६ अन्यसहायत्वम्।

अतीन्द्रियसुखोऽप्यात्मा स्याद्भोगेरुत्सुको न वै। भोग्यवस्तुगता चिन्ता जायते नास्य जात्वतः ॥६९॥
प्राप्तातीन्द्रियसौन्दर्यो नेच्छेत्स्नानादिसत्क्रियाम्। स्नातको नित्यशुद्धात्मा वहिरन्तर्मलक्षयात् ॥७०॥
अतीन्द्रियात्मदेहश्च नाहारादीनपेक्षते। क्षुद्व्याधिविषशस्त्रादिबाधातीततनुः स वै ॥७१॥
भवेच्च न तपःकामो वीतजातिजरामृतिः। नावासान्तरमन्विच्छेदात्मवासे च सुस्थितः ॥७२॥
स एवमखिलैर्दोषैर्मुक्तो युक्तोऽखिलैर्गुणैः। परमात्मा परं ज्योतिः परमेष्ठीति गीयते ॥७३॥
कामरूपित्वमाप्तस्य लक्षणं चेन्न साम्प्रतम्[1]। सराग कामरूपी स्यादकृतार्थश्च सोऽञ्जसा ॥७४॥
प्रकृतिस्थेन[2] रूपेण प्राप्तुं यो[3] नालमीप्सितम्। स वैकृतेन[4] रूपेण कामरूपी कथं सुखी ॥७५॥

इति पुरुषनिदर्शनम्।

निगलस्थो[5] यथानेष्टं गन्तुं देशमलंतराम्। कर्मबन्धनबद्धोऽपि नेष्टं धाम[6] तथेयृयात्[7] ॥७६॥
यथेह बन्धनान्मुक्तः परं स्वातन्त्र्यमृच्छति। कर्मबन्धनमुक्तोऽपि तथोपाच्छे[8]त् स्वतन्त्रताम् ॥७७॥
निगलस्थो विपाशश्च स एवैकः पुमान्यथा। कर्मबद्धो विमुक्तश्च स एवात्मा मतस्तथा ॥७८॥

इति निगलनिदर्शनम्।

मुक्तेतरात्मनोर्व्यक्त्यै द्वयमेतन्निदर्शितम्[9]। तद्दृढीकरणायेष्टं[10] सत्संसारिनिदर्शनम् ॥७९॥

वह स्वय कृतकृत्य होकर लोकके अग्र शिखरपर सिद्धालयमें जा पहुँचता है ॥६८॥ इसी प्रकार अतीन्द्रिय सुखको धारण करनेवाला पुरुष भी भोगोसे उत्कण्ठित नही होता, क्योंकि उसे भोग करने योग्य वस्तुओंकी चिन्ता ही कभी नही होती है ॥६९॥ जिसे अतीन्द्रिय सौन्दर्य प्राप्त हुआ है वह भी कभी स्नान आदि क्रियाओकी इच्छा नही करता, क्योंकि वहिरंग और अन्तरंग मलका क्षय हो जानेसे वह स्वय स्नातक कहलाता है और उसका आत्मा निरन्तर शुद्ध रहता है ॥७०॥ इसी प्रकार जिसके अतीन्द्रिय आत्मा ही शरीर है वह आहार आदिकी अपेक्षा नही करता क्योकि उसका आत्मारूप शरीर क्षुधा, व्याधि, विप और शस्त्र आदिकी बाधासे रहित होता है ॥७१॥ जिसके जन्म, जरा और मरण नष्ट हो चुके है वह कभी तपकी इच्छा नही करता तथा जो आत्मारूपी घरमें सुखसे स्थित रहता है वह कभी दूसरे आवासकी इच्छा नही करता ॥७२॥ इस प्रकार जो समस्त दोषोसे रहित है, समस्त गुणोसे सहित है, परमात्मा है और उत्कृष्ट ज्योति स्वरूप है वही परमेष्ठी कहलाता है ॥७३॥ कदाचित् आप यह कहे कि कामरूपित्व अर्थात् इच्छानुसार अनेक अवतार धारण करना आप्तका लक्षण है तो आपका यह कहना ठीक नही है क्योंकि जो कामरूपी होता है वह अवश्य ही रागसहित तथा अकृतकृत्य होता है ॥७४॥ जो स्वाभाविक रूपसे अपना इष्ट प्राप्त करनेके लिए समर्थ नही है वह कामरूपी विकृत रूपसे कैसे सुखी हो सकता है ? ॥७५॥ यह पुरुपका उदाहरण कहा, अव निगलका उदाहरण कहते है।

जिस प्रकार निगल अर्थात् वेडीमें वँधा हुआ जीव अपने इष्ट स्थानपर जानेके लिए समर्थ नही होता है उसी प्रकार कर्मरूप बन्धनसे वँधा हुआ जीव भी अपने इष्ट स्थानपर नही पहुँच सकता ॥७६॥ जिस प्रकार इस लोकमें बन्धनसे छूटा हुआ पुरुप परम स्वतन्त्रताको प्राप्त होता है उसी प्रकार कर्मबन्धनसे छूटा हुआ पुरुष भी स्वतन्त्रताको प्राप्त होता है ॥७७॥ और जिस प्रकार वेड़ीसे वँधा हुआ तथा बेड़ीसे छूटा हुआ पुरुप एक ही माना जाता है उसी प्रकार कर्मोंसे वँधा हुआ तथा कर्मोंसे छूटा हुआ पुरुष भी एक ही माना जाता है ॥७८॥ यह निगलका उदाहरण है, इस प्रकार मुक्त और ससारी आत्माओको प्रकट करनेके लिए ये दो

---

१ युक्तम्। २ स्वभावस्थेन। ३ अशक्त.। ४ विकारजेन। ५ शृङ्खलाबन्धनस्थः। ६ स्थानम्। ७ गच्छेत्। ८ गच्छेत्। ९ –दर्शनम् प०, ल०, म०। १० पुरुषार्थवृद्धिकरणाय।

यत्संसारिणमात्मानमूरीकृत्यान्यतन्त्रताम्[1] । [2]तस्योपदेशे मुक्तस्य स्वातन्त्र्योपनिदर्शनम् ॥८०॥
मतः संसारिदृष्टान्तः सोऽयमार्षीयदर्शने[3] । मुक्तात्मनां यदेवं[4] स्वातन्त्र्यं प्रकटीकृतम् ॥८१॥
तद्यथा संसृतौ देही न स्वतन्त्रः कथंचन । कर्मबन्धवशीभावाज्जीवत्यन्याश्रितश्च यत्[5] ॥८२॥
ततः परप्रधानत्वमस्यैनत[6] प्रतिपादितम् । स्याच्चलत्वं च पुंसोऽस्य वेदनासहनादिभिः[7] ॥८३॥
वेदनाव्याकुलीभावश्चलत्वमिति लक्ष्यताम्[8] । क्षयवत्त्वं[9] च देवादिभवे[10] लब्धर्द्धिसंक्षयात् ॥८४॥
बाध्यत्वं ताडनानिष्टवचनप्राप्तिरस्य वै । अन्तवच्चास्य[11] विज्ञानमक्षबोधः[12] परिक्षयी[13] ॥८५॥
अन्तवद्दर्शनं चास्य स्यादैन्द्रियिकदर्शनम् । वीर्यं च तद्विध तस्य शरीरबलमल्पकम् ॥८६॥
स्यादस्य [14]सुखमप्येवम्प्रायमिन्द्रियगोचरम् । [15]रजस्वलत्वमप्यस्य स्यात्कर्मांशैः कलङ्कनम् ॥८७॥
भवेत् कर्ममलावेशादत एव मलीमसः । छेद्यत्वं चास्य गात्राणां द्विधाभावेन खण्डनम् ॥८८॥
मुद्गराद्यभिघातेन भेद्यत्वं स्याद् विदारणम् । जरावत्त्वं वयोहानि. प्राणत्यागो मृतिर्मता ॥८९॥
प्रमेयत्वं[16] [17]परिच्छिन्नदेहमात्रावरुद्धता । गर्भवासोऽर्भकत्वेन जनन्युदरदुःस्थितिः ॥९०॥

उदाहरण कहे, अब उक्त कथनको दृढ करनेके लिए संसारी जीवोका उदाहरण कहना चाहिए ॥७९॥ संसारी जीवोको लेकर जो उनकी परतन्त्रताका कथन करना है उनकी उसी परतन्त्रता-के उपदेशमे मुक्त जीवोंकी स्वतन्त्रताका उदाहरण हो जाता है । भावार्थ—संसारी जीवोंकी परतन्त्रताका वर्णन करनेसे मुक्त जीवोंकी स्वतन्त्रताका वर्णन अपने आप हो जाता है क्योकि संसारी जीवोकी परतन्त्रताका अभाव होना ही मुक्त जीवोकी स्वतन्त्रता है ॥८०॥ अरहन्त देवके मतमे ससारीका उदाहरण वही माना गया है कि जिसमें मुक्त जीवोकी स्वतन्त्रता प्रकट हो सके ॥८१॥ आगे इसी उदाहरणको स्पष्ट करते हैं—संसारमे यह जीव किसी प्रकार स्वतन्त्र नही है क्योकि कर्मबन्धनके वश होनेसे यह जीव अन्यके आश्रित होकर जीवित रहता है ॥८२॥ यह ससारी जीवकी परतन्त्रता बतलायी, इसी प्रकार सुख-दु ख आदिकी वेदनाओके सहनेसे इस पुरुषमे चचलता भी होती है ॥८३॥ सुख-दु ख आदिकी वेदनाओसे जो व्याकुलता उत्पन्न होती है उसे चचलता समझना चाहिए और देव आदिकी पर्यायमे प्राप्त हुई ऋद्धियोका जो क्षय होता है उससे इस जीवके क्षयपना (नश्वरता) जानना चाहिए ॥८४॥ इस जीवको जो ताड़ना तथा अनिष्ट वचनोंकी प्राप्ति होती है वही इसकी बाध्यता है और इन्द्रियोसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान क्षय होनेवाला है इसलिए वह अन्तसहित है ॥८५॥ इसका दर्शन भी इन्द्रियोसे उत्पन्न होता है इसलिए वह भी अन्तसहित है और इसका वीर्य भी वैसा ही है अर्थात् अन्तसहित है क्योकि इसके शरीरका बल अत्यन्त अल्प है ॥८६॥ इन्द्रियोसे उत्पन्न होनेवाला इसका सुख भी प्रायः ऐसा ही है तथा कर्मोके अंशोसे जो कलंकित हो रहा है वही इसका मैलापन है ॥८७॥ कर्मरूपी मलके सम्बन्धसे मलिन भी है और शरीरके दो-दो टुकडे होनेसे इसमे छेद्यत्व अर्थात् छिन्न-भिन्न होनेकी शक्ति भी है ॥८८॥ मुद्गर आदिके प्रहारसे इसका शरीर विदीर्ण हो जाता है इसलिए इसमे भेद्यत्व भी है, जो इसकी अवस्था कम होती जाती है वही इसका बुढापा है, और जो प्राणोका परित्याग होता है वह इसकी मृत्यु है ॥८९॥ यह जो परिमित

---

१ पराधीनत्वमिति यत् । २ परतन्त्रस्य । ३ सर्वज्ञमते । ४ एव च सति । ५ यत् कारणात् । ६ संसारिणः । ७ वेदनाभवनादिभि । ८ लक्षणम् इ० । ९ क्षयोऽस्यास्तीति क्षयवान् तस्य भाव क्षयवत्त्वम् । १० देवाधिभवे ट० । देवाधित्वे । ११ अन्तोऽस्यास्तीति अन्तवत् । १२ इन्द्रियज्ञानम् । १३ स्वयं परिक्षयित्वादिति हेतुगर्भित-विशेषणमेतत् । एवमुत्तरोत्तराऽपि योज्यम् । १४ एवविधम् । अन्तवदित्यर्थ. । १५ धूलिधूमरत्वम् । १६ प्रमातुं योग्यत्वम् । १७ परिमित ।

अथवा कर्मनोकर्मगर्भेऽस्य परिवर्तनम् । गर्भवासो विलीनत्वं स्याद् देहान्तरसंक्रमः ॥९१॥
क्षुभितत्वं च संक्षोभः क्रोधाद्याविष्टचेतसः । भवेद् विविधयोगोऽस्य नानायोनिषु संक्रमः ॥९२॥
संसारावास एषोऽस्य चतुर्गतिविवर्तनम् । प्रतिजन्मान्यथाभावो ज्ञानादीनामसिद्धता ॥९३॥
सुखासुखं बलाहारौ देहावासौ च देहिनाम् । विवर्तन्ते तथा ज्ञानं दृक्शक्ती[1] च रजोजुषाम्[2] ॥९४॥
[3]एवंप्रायास्तु ये भावाः संसारिषु विनश्वराः । मुक्तात्मनां न सन्त्येते भावास्तेषां ह्यनश्वराः ॥९५॥
मुक्तात्मनां भवेद् भावः[4] स्वप्रधानत्वमग्रिमम् । प्रतिलब्धात्मलाभत्वात् परद्रव्यानपेक्षणम् ॥९६॥
वेदनाभिभवाभावादचलत्वं गभीरता । स्यादक्षयत्वमक्षय्यं क्षायिकातिशयोदयः ॥९७॥
अव्याबाधत्वमस्येष्टं जीवाजीवै[5]रबाध्यता । भवेदनन्तज्ञानत्वं विश्वार्थाक्रमबोधनम् ॥९८॥
अनन्तदर्शनत्वं च विश्वतत्त्वा[6]क्रमेक्षणम् । योऽन्यैरप्रतिघातोऽस्य सा मतानन्तवीर्यता ॥९९॥
भोग्येष्वर्थेष्वनौत्सुक्यमनन्तसुखता मता । नीरजस्त्वं भवेदस्य व्यपायः पुण्यपापयोः ॥१००॥
निर्मलत्वं तु तस्येष्टं बहिरन्तर्मलच्युतिः । स्वभावविमलोऽनादिसिद्धो नास्तीह कश्चन ॥१०१॥
योऽस्य जीवघनाकारपरिणामो[7] मलक्षयात् । तदच्छेद्यत्वमाम्नातमभेद्यत्वं च तत्कृतम् ॥१०२॥
अक्षरत्वं च मुक्तस्य क्षरणाभावतो मतम् । अप्रमेयत्वमात्मोत्थैर्गुणैरुद्धैरमेयता ॥१०३॥

शरीरमें रुका रहता है वह इसका प्रमेयपना है और जो बालक होकर माताके पेटमे दु:खसे रहता है वह इसका गर्भवास है ॥९०॥ अथवा कर्म नोकर्मरूपी गर्भमे जो इसका परिवर्तन होता रहता है इसका गर्भवास है और एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जो संक्रमण करना है वह विलीनता है ॥९१॥ क्रोध आदिसे आक्रान्त चित्तमे जो क्षोभ उत्पन्न होता है वह इसका क्षुभितपना है, और नाना योनियोमे परिभ्रमण करना इसका विविध योग कहलाता है ॥९२॥ चारो गतियोंमे परिवर्तन करते रहना इस जीवका संसारावास कहलाता है और प्रत्येक जन्ममे ज्ञानादि गुणोका अन्य-अन्य रूप होते रहना असिद्धता कहलाती है ॥९३॥ कर्मरूपी रजसे युक्त रहनेवाले इन संसारी जीवोके जिस प्रकार सुख-दु:ख, बल, आहार, शरीर और घर बदलते रहते है उसी प्रकार उनके ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य भी बदलते रहते हैं ॥९४॥ इस प्रकार ससारी जीवोके जो विनश्वरभाव हैं वे मुक्त जीवोके नही हैं, उनके सब भाव अविनश्वर है ॥९५॥ मुक्त जीवोके उन भावोमे आत्मस्वरूपकी प्राप्ति होनेसे परद्रव्यकी अपेक्षासे रहित जो सर्वश्रेष्ठ स्वतन्त्रपना है वही पहला भाव है ॥९६॥ सुख दु:ख आदिकी वेदनासे होनेवाले परभावका अभाव होनेसे जो अचंचलता होती है वही उनकी गम्भीरता है और कर्मों के क्षयसे जो अतिशयोकी प्राप्ति होती है वही उनका अविनाशी अक्षयपना है ॥९७॥ किसी भी जीव अथवा अजीवसे इन्हे बाधा नही पहुँचती यही इनका अव्याबाधपना है और ससारके समस्त पदार्थोको एक साथ जानते है यही इनका अनन्तज्ञानीपन है ॥९८॥ समस्त तत्त्वोको एक साथ देखना ही इनका अनन्तदर्शनपन है और अन्य पदार्थोके द्वारा प्रतिघातका न होना अनन्तवीर्यपना है ॥९९॥ भोग करने योग्य पदार्थोंमे उत्कण्ठा न होना अनन्तसुखपना माना जाता है और पुण्य तथा पापका अभाव हो जाना नीरजसपन कहलाता है ॥१००॥ बहिरग और अन्तरग मलका नाश होना ही इसका निर्मलपना कहलाता है क्योकि इस ससारमे ऐसा कोई भी पुरुष नही है जो स्वभावसे ही निर्मल हो और अनादि कालसे सिद्ध हो ॥१०१॥ कर्मरूपी मलके नाश होनेसे जो जीवके प्रदेशोंका घनाकार परिणमन होता है वही इसका अच्छेद्यपना है और उसी कर्मरूपी मलके नाश होनेसे इसके अभेद्यपना माना जाता है ॥१०२॥ मुक्त जीवका

१ दृक् च शक्तिश्च दृक्शक्ती । २ कर्मफलभाजाम् । ३ एवमादय । ४ स्वभाव. । ५ चेतनाचेतनै. । ६ युगपत् । ७ परिणमनम् ।

वहिरन्तर्मलापायाद्गर्भवसतिर्मता । कर्मनोकर्मविश्लेषात् स्यादगौरवलाघवम्[1] ॥१०४॥
तादवस्थ्यं[2] गुणैरुद्धैः[3] रक्षोभ्यत्वमतो भवेत् । अविलीनत्वमात्मीयैर्गुणैरप्यवपृक्तता[4] ॥१०५॥
प्राग्देहाकारमूर्तित्वं यदस्याहेयमक्षरम् । साऽभीष्टा परमा काष्ठा योगरूपत्वमात्मनः ॥१०६॥
लोकाग्रवासस्त्रैलोक्यशिखरे शाश्वती स्थितिः । अशेषपुरुषार्थानां निष्ठा[5] परमसिद्धता ॥१०७॥
यः समग्रैर्गुणैरेभिर्ज्ञानादिभिरलंकृतः । किं तस्य कृतकृत्यस्य परद्रव्योपसर्पणैः ॥१०८॥
एष संसारिदृष्टान्तो व्यतिरेकेण[6] साधयेत् । परमात्मानमात्मानं प्रभुमप्रतिशासनम् ॥१०९॥
त्रिभिर्निदर्शनैरेभिराविष्कृतमहोदयः । स आप्तस्तन्मते धीरैराधेया मतिरात्मनः ॥११०॥
[7]एवं हि क्षत्रियश्रेष्ठो भवेद् दृष्टपरम्परः । मतान्तरेषु दौःस्थित्यं भावयन्नुपपत्तिभिः ॥१११॥
दिगन्तरेभ्यो व्यावर्त्य प्रबुद्धां मतिमात्मनः । सन्मार्गे स्थापयन्नेवं[8] कुर्यान्मन्यनुपालनम् ॥११२॥
आत्रिकामुत्रिकापायात् परिरक्षणमात्मनः । आत्मानुपालनं नाम तदिदानीं विवृण्महे ॥११३॥
आत्रिकापायसंरक्षा सुप्रतीतैव धीमताम् । विषशस्त्राद्यपायानां परिरक्षणलक्षणा ॥११४॥

कभी क्षरण अर्थात् विनाश नही होता इसलिए इसमें अक्षरता अर्थात् अविनाशीपन है और आत्मासे उत्पन्न हुए श्रेष्ठ युगोसे इसका प्रमाण नहीं किया जा सकता इसलिए इसमे अप्रमेयपना है ॥१०३॥ वहिरंग और अन्तरग मलका नाश हो जानेसे इसका गर्भावास नही माना जाता है और कर्म तथा नोकर्मका नाश हो जानेसे इसमे गुरुता और लघुता भी नही होती है ॥१०४॥ यह आत्मासे उत्पन्न हुए प्रशंसनीय गुणोसे अपने स्वरूपमें अवस्थित रहता है इसलिए इसमे अक्षोभ्यपना है और आत्माके गुणोसे कभी रहित नही होता इसलिए अविलीनपना है ॥१०५॥ जो कभी न छूटने योग्य और कभी न नष्ट होने योग्य पहलेके शरीरके आकार इसकी मूर्ति रहती है वही इसकी परम हद है और वही इसकी योगरूपता है ॥१०६॥ तीनों लोकोके शिखरपर जो इसकी सदा रहनेवाली स्थिति है वही इसका लोकाग्रवास गुण है और जो समस्त पुरुषार्थोकी पूर्णता है वही इसकी परमसिद्धता है ॥१०७॥ इस प्रकार जो इन ज्ञान आदि समस्त गुणोसे अलकृत है उस कृतकृत्य हुए मुक्त जीवको अन्य द्रव्योकी प्राप्तिसे क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कुछ नही ॥१०८॥ यह ससारी जीवका दृष्टान्त व्यतिरेक रूपसे आत्माको, जिसपर किसीका शासन नही है और जो प्रभुरूप है ऐसा परमात्मा सिद्ध करता है। भावार्थ—इस ससारी जीवके उदाहरणसे यह सिद्ध होता है कि यह आत्मा ही परमात्मा हो जाता है ॥१०९॥ इस प्रकार इन तीन उदाहरणोसे जिसका महोदय प्रकट हो रहा है वही आप्त है, उसी आप्तके मतमें धीर-वीर पुरुषोको अपनी वुद्धि लगानी चाहिए ॥११०॥ इस तरह जिसने सव परम्परा देख ली है, और जो अन्य मतोमे युक्तियोसे दुष्टताका चिन्तवन करता है वही सव क्षत्रियोमे श्रेष्ठ कहलाता है ॥१११॥ क्षत्रियको चाहिए कि वह अपनी जागृत वुद्धिको अन्य दिशाओ अर्थात् मतोसे हटाकर समीचीन मार्गमें लगाता हुआ उसकी रक्षा करे ॥११२॥ इस लोक तथा परलोक सम्वन्धी अपायोसे आत्माकी रक्षा करना आत्माका पालन करना कहलाता है। अव आगे इसी आत्माके पालनका वर्णन करते है ॥११३॥ विष शस्त्र आदि अपायोसे अपनी रक्षा करना ही जिसका लक्षण है ऐसी इस लोकसम्वन्धी अपायोसे

---

१ अगुरुलघुत्वम् । २ स्वरूपावस्थानम् । ३ न केवल देहादिभि. । ज्ञानादिगुणैरपि । ४ अत्यक्तता । –रप्यपवृत्तता । 'अपवृत्तता' इति पाठे अपवर्तनत्वं गुणगुणीभावराहित्यम् । ५ निष्पत्तिः । परिसमाप्तिरित्यर्थ. । ६ व्यतिरेकिदृष्टान्तेन । ७ एव कृते सति । ८–न्नेव इ०, ल०, म० ।

ततः आमुत्रिकापायरक्षाविधिरनूद्यते । तद्रक्षणं च धर्मेण धर्मो ह्यापत्प्रतिक्रिया ॥११५॥
धर्मो रक्षत्यपायेभ्यो धर्मोऽभीष्टफलप्रदः । धर्मः श्रेयस्करोऽमुत्र धर्मेणेहाभिनन्दथुः ॥११६॥
तस्माद्धर्मैकतानः सन् कुर्यादेष्यत्प्रतिक्रियाम् । एवं हि रक्षितोऽपायाद् भवेदात्मा भवान्तरे ॥११७॥
बह्वपायमिदं राज्यं त्याज्यमेव मनस्विनाम् । यत्र पुत्राः ससोदर्या[2] वैरायन्ते[3] निरन्तरम् ॥११८॥
अपि चात्र मनःखेदबहुले का सुखासिका[4] । मनसो निर्वृतिं सौख्यमुशन्तीह विचक्षणाः ॥११९॥
राज्ये न सुखलेशोऽपि दुरन्ते दुरितावहे । सर्वतः शङ्कमानस्य प्रत्युतात्रासुखं[5] महत् ॥१२०॥
ततो राज्यमिदं हेयमपथ्यमिव भेपजम् । उपादेयं तु विद्वद्भिस्तपः पथ्यमिवाशनम् ॥१२१॥
इति प्रागेव निर्विद्य[6] राज्ये भोगं त्यजेत् सुधीः । तथा त्यक्तुमशक्तोऽन्ते त्यजेद् राज्यपरिच्छदम् ॥१२२॥
कालज्ञानिभिरादिष्टे निर्णीते स्वयमेव वा । जीवितान्ते तनुत्यागमतिं दध्यादतः सुधीः ॥१२३॥
त्यागो हि परमो धर्मस्त्याग एव परं तपः । त्यागादिह यशोलाभः परत्राभ्युदयो महान् ॥१२४॥
मत्वेति तनुमाहारं राज्यं च सपरिच्छदम् । त्यजेदायतने[7] पुण्ये[8] पूजाविधिपुरस्सरम् ॥१२५॥

होनेवाली रक्षा तो विद्वान् पुरुषोको विदित ही है । ॥११४॥ इसलिए अब परलोक सम्बन्धी अपायोसे होनेवाली रक्षाकी विधि कहते हैं । परलोक सम्बन्धी अपायोसे रक्षा धर्मके द्वारा ही हो सकती है क्योंकि धर्म ही समस्त आपत्तियोका प्रतिकार है—उनसे बचनेका उपाय है ॥११५॥ धर्म ही अपायोंसे रक्षा करता है, धर्म ही मनचाहा फल देनेवाला है, धर्म ही परलोक-में कल्याण करनेवाला है और धर्मसे ही इस लोकमें आनन्द प्राप्त होता है ॥११६॥ इसलिए धर्ममें एकचित्त होकर भविष्यत् कालमें आनेवाली विपत्तियोका प्रतिकार करना चाहिए क्योकि ऐसा करनेसे ही आत्माकी दूसरे भवमे विपत्तिसे रक्षा हो सकती है ॥११७॥ जिस राज्यके लिए पुत्र तथा सगे भाई आदि भी निरन्तर शत्रुता किया करते हैं और जिसमे बहुत अपाय हैं ऐसा यह राज्य बुद्धिमान् पुरुषोको अवश्य ही छोड़ देना चाहिए ॥११८॥ एक बात यह भी है कि जिसमे मानसिक खेदकी बहुलता है ऐसे इस राज्यमे सुखपूर्वक कैसे रहा जा सकता है क्योकि इस संसारमे पण्डितजन मनकी निराकुलताको ही सुख कहते हैं ॥११९॥ जिसका अन्त अच्छा नही है और जिसमें निरन्तर पाप उत्पन्न होते रहते हैं ऐसे इस राज्यमे सुखका लेश भी नही है बल्कि सब ओरसे शंकित रहनेवाले पुरुषको इस राज्यमे बड़ा भारी दु.ख बना रहता है ॥१२०॥ इसलिए विद्वान् पुरुषोको अपथ्य औषधिके समान इस राज्यका त्याग कर देना चाहिए और पथ्य भोजनके समान तप ग्रहण करना चाहिए ॥१२१॥ इस तरह बुद्धिमान् पुरुषको चाहिए कि वह राज्यके विषयमें पहलेसे ही विरक्त होकर भोगोपभोगका त्याग कर दे, यदि वह इस प्रकार त्याग करनेके लिए समर्थ न हो तो कमसे कम अन्त समय उसे राज्यके आडम्बरका अवश्य ही त्याग कर देना चाहिए ॥१२२॥ इसलिए यदि कालको जाननेवाला निमित्तज्ञानी अपने जीवनका अन्त समय बतला दे अथवा अपने आप ही उसका निर्णय हो जावे तो बुद्धिमान् क्षत्रियको चाहिए कि वह उस समयसे शरीर परित्यागकी बुद्धि धारण करे अर्थात् सल्लेखना धारण करनेमे बुद्धि लगावे ॥१२३॥ क्योकि त्याग ही परम धर्म है, त्याग ही परम तप है, त्यागसे ही इस लोकमे कीर्तिकी प्राप्ति होती है और त्यागसे ही परलोकमें महान् ऐश्वर्य प्राप्त होता है ॥१२४॥ ऐसा मानकर क्षत्रियको किसी पवित्र स्थानमे रहकर पूजा आदिकी विधि करके शरीर आहार और चमर छत्र आदि उपकरणोसे सहित राज्यका परित्याग कर देना

१ अत अ०, स०, म०, ल० । २ एकोदरे जाता । ३ वैरं कुर्वन्ति । ४ सुखास्यता । ५ पुनः किमिति चेत् । ६ वैराग्यपरो भूत्वा । ७ आवासे । ८ पवित्रे ।

गुरुसाक्षि तथा त्यक्तदेहाहारस्य तस्य वै। परीषहजयायत्ता सिद्धिरिष्टा महात्मनः ॥१२६॥
ततो ध्यायेदनुप्रेक्षाः कृती जेतुं परीषहान्। विनाऽनुप्रेक्षणैश्चित्तसमाधानं हि दुर्लभम् ॥१२७॥
[1]प्रागभावितमेवाहं भावयामि न भावितम्[2]। भावयामीति भावेन भावयेत्तत्त्वभावनाम् ॥१२८॥
समुन्सृजेदनात्मीयं शरीरादिपरिग्रहम्। आत्मीयं तु स्वसात्कुर्याद् रत्नत्रयमनुत्तरम् ॥१२९॥
मनोव्याक्षेपरक्षार्थं[3] ध्यायन्निति स धीरधीः। प्राणान् विसर्जयेदन्ते संस्मरन् परमेष्ठिनाम् ॥१३०॥
तथा विसर्जितप्राणः प्रणिधानपरायणः[4]। शिथिलीकृत्य कर्माणि शुभां गतिमथाश्नुते[5] ॥१३१॥
तस्मिन्नेव भवे शक्तः कृत्वा कर्मपरिक्षयम्। सिद्धिमाप्नोत्यशक्तस्तु त्रिदिवाग्रमवाप्नुयात् ॥१३२॥
ततश्च्युतः परिप्राप्तमानुष्यः परमं तपः। कृत्वान्ते निर्वृतिं याति निर्धूताखिलबन्धनः ॥१३३॥
क्षत्रियो यस्त्वनात्मज्ञः कुर्यान्नात्मानुपालनम्। विषशस्त्रादिभिस्तस्य दुर्मृतिर्ध्रुवभाविनी ॥१३४॥
दुर्मृतश्च दुरन्तेऽस्मिन् भवावर्ते दुरुत्तरे। पतित्वाऽमुत्र दुःखानां दुर्गतौ भाजनं भवेत् ॥१३५॥
ततो मतिमताऽऽत्मीयविनिपातानुरक्षणे। विधेयोऽस्मिन् महायत्नो लोकद्वयहितावहे ॥१३६॥
कृतात्मरक्षणश्चैव प्रजानामनुपालने। राजा यत्नं प्रकुर्वीत राज्ञां मौलो ह्ययं[6] गुणः ॥१३७॥

चाहिए ॥१२५॥ इस प्रकार जिसने गुरुकी साक्षीपूर्वक शरीर और आहारका त्याग कर दिया है ऐसे महात्मा पुरुपको इष्टसिद्धि परीपहोके विजय करनेके अधीन होती है अर्थात् जो परीपह सहन करता है उसीके इष्टकी सिद्धि होती है ॥१२६॥ इसलिए निपुण पुरुपको परीषह जीतनेके लिए अनुप्रेक्षाओका चिन्तवन करना चाहिए क्योकि अनुप्रेक्षाओके चिन्तवन किये विना चित्तका समाधान कठिन है ॥१२७॥ जिसका पहले कभी चिन्तवन नही किया था ऐसे सम्यक्त्व आदिका चिन्तवन करता हूँ और जिसका पहले चिन्तवन किया था ऐसे मिथ्यात्व आदि-का चिन्तवन नही करता इस प्रकारके भावोसे तत्त्वोकी भावनाओका चिन्तवन करना चाहिए ॥१२८॥ जो आत्माके नही है ऐसे शरीर आदि परिग्रहका त्याग कर देना चाहिए और जो आत्मा-के है ऐसे सर्वोत्कृष्ट रत्नत्रयका ग्रहण करना चाहिए ॥१२९॥ धीर वीर बुद्धिको धारण करनेवाले पुरुपको मनकी चंचलता नष्ट करनेके लिए इस प्रकार ध्यान करते हुए और पंचपरमेष्ठियोंका स्मरण करते हुए आयुके अन्तमे प्राणत्याग करना चाहिए ॥१३०॥ जो पुरुप ध्यानमे तत्पर रहकर ऊपर लिखे अनुसार प्राणत्याग करता है वह कर्मोको शिथिल कर शुभ गतिको प्राप्त होता है ॥१३१॥ जो समर्थ है वह उसी भवमें कर्मोका क्षय कर मोक्षको प्राप्त होता है और जो असमर्थ है वह स्वर्गके अग्रभाग अर्थात् सर्वार्थसिद्धिको प्राप्त होता है ॥१३२॥ वह वहाँसे च्युत हो मनुष्यपर्याय प्राप्त कर और परम तपश्चरण कर आयुके अन्तमे समस्त कर्मबन्धनको नष्ट करता हुआ निर्वाणको प्राप्त होता है ॥१३३॥ आत्माका स्वरूप न जाननेवाला जो क्षत्रिय अपने आत्माकी रक्षा नही करता है उसकी विप, शस्त्र आदिसे अवश्य ही अपमृत्यु होती है ॥१३४॥ और अपमृत्युसे मरा हुआ प्राणी दुःखदायी तथा कठिनाईसे पार होने योग्य इस संसाररूप आवर्तमे पडकर परलोकमें दुर्गतियोके दुःखका पात्र होता है ॥१३५॥ इसलिए बुद्धि-मान् क्षत्रियको दोनो लोकोमे हित करनेवाले, आत्माके इस विघ्नबाधाओसे रक्षा करनेमें महा-प्रयत्न करना चाहिए ॥१३६॥ इस प्रकार जिसने आत्माकी रक्षाकी है ऐसे राजाको प्रजाका पालन करनेमे प्रयत्न करना चाहिए क्योकि यह राजाओका मौलिक गुण है ॥१३७॥

---

१ सम्यक्त्वादिकम्। २ मिथ्यात्वादिकम्। ३ मानसबाधाया नाशार्थम्। ४ एकाग्रता गतः। ५-मुपाश्नुते अ०, प०, स०, इ०, ल०, म०। ६ प्रजापालनयत्नः।

कथं च पालनीयास्ताः प्रजाश्चेत्तत्प्रपञ्चतः[1] । पुष्टं[2] गोपालदृष्टान्त मुरीकृत्य[3] विवृण्महे ॥१३८॥
गोपालको यथा यत्नाद् गाः संरक्षत्यतन्द्रितः[4] । क्ष्मापालश्च प्रयत्नेन तथा रक्षेन्निजाः प्रजाः ॥१३९॥
तद्यथा यदि गौः कश्चिदपराधी[5] स्वगोकुले । तमङ्गच्छेदनाद्युग्रदण्डैस्तीव्रमयोजयन्[6] ॥१४०॥
पालयेदनुरूपेण दण्डेनैव नियन्त्रयन्[7] । यथा गोपस्तथा भूपः प्रजाः स्वाः प्रतिपालयेत्[8] ॥१४१॥
तीक्ष्णदण्डो हि नृपतिस्तीव्रमुद्वेजयेत्प्रजाः । ततो विरक्तप्रकृतिं[9] जह्युरेनममूः प्रजाः ॥१४२॥
यथा गोपालको मौलं पशुवर्गं स्वगोकुले । पोषयन्नेव पुष्टः स्याद् गोपोपं[10] प्राज्यगोधनः[11] ॥१४३॥
तथैव नृपतिर्मौलं[12] तन्त्रमात्मीयमेकतः[13] । पोषयन्पुष्टिमाप्नोति स्वे परस्मिश्च मण्डले ॥१४४॥
पुष्टो मौलेन तन्त्रेण यो हि पार्थिवकुञ्जरः । स जयेत् पृथिवीमेनां सागरान्तामयत्नतः ॥१४५॥
प्रभग्नचरणं किंचिद् गोद्रव्यं[14] चेत् प्रमादतः । गोपालस्तस्य संधानं कुर्याद् बन्धाद्युपक्रमैः ॥१४६॥
बद्धाय च तृणाद्यस्मै दत्त्वा दार्ढ्यं नियोजयेत् । उपद्रवान्तरेऽप्येवमाशु कुर्यात् प्रतिक्रियाम् ॥१४७॥
यथा तथा नरेन्द्रोऽपि स्वबले व्रणितं भटम् । प्रतिकुर्याद्[15] [16]भिषग्वर्यान्नियोज्यौषधसंपदा ॥१४८॥
दृढीकृतस्य चास्योर्द्ध्वं[17] जीवनादि[18] प्रचिन्तयेत् । सत्येवं भृत्यवर्गोऽस्य शश्वदाप्नोति नन्दथुम्[19] ॥१४९॥

उस प्रजाका किस प्रकार पालन करना चाहिए यदि आप यह जानना चाहते है तो हम ग्वालियेका सुदृढ़ उदाहरण लेकर विस्तारके साथ उसका वर्णन करते है ॥१३८॥ जिस प्रकार ग्वालिया आलस्यरहित होकर बडे प्रयत्नसे अपनी गायोकी रक्षा करता है उसी प्रकार राजाको बड़े प्रयत्नसे अपनी प्रजाकी रक्षा करनी चाहिए ॥१३९॥ आगे इसीका खुलासा करते हैं–यदि अपनी गायोके समूहमे कोई गाय अपराध करती है तो वह ग्वालिया उसे अंगछेदन आदि कठोर दण्ड नही देता हुआ अनुरूप दण्डसे नियन्त्रण कर जिस प्रकार उसकी रक्षा करता है उसी प्रकार राजाको भी अपनी प्रजाकी रक्षा करनी चाहिए ॥१४०–१४१॥ यह निश्चय है कि कठोर दण्ड देनेवाला राजा अपनी प्रजाको अधिक उद्विग्न कर देता है इसलिए प्रजा ऐसे राजाको छोड़ देती है तथा मन्त्री आदि प्रकृतिजन भी ऐसे राजासे विरक्त हो जाते है ॥१४२॥ जिस प्रकार ग्वालिया अपनी गायोके समूहमे मुख्य पशुओंके समूहकी रक्षा करता हुआ पुष्ट अर्थात् सम्पत्तिशाली होता है क्योकि गायोकी रक्षा करके ही यह मनुष्य विशाल गोधनका स्वामी हो सकता है, उसी प्रकार राजा भी अपने मुख्य वर्गकी मुख्य रूपसे रक्षा करता हुआ अपने और दूसरेके राज्यमे पुष्टिको प्राप्त होता है ॥१४३–१४४॥ जो श्रेष्ठ राजा अपने-अपने मुख्य बलसे पुष्ट होता है वह इस समुद्रान्त पृथिवीको विना किसी यत्नके जीत लेता है ॥१४५॥ यदि कदाचित् प्रमादसे किसी गायका पैर टूट जाय तो ग्वालिया उसे बाँधना आदि उपायोसे उस पैरको जोड़ता है, गायको बाँधकर रखता है–बँधी हुई गायके लिए घास देता है और उसके पैरको मजबूत करनेमे प्रयत्न करता है तथा इसी प्रकार उन पशुओंपर अन्य उपद्रवोके आनेपर भी वह शीघ्र ही उनका प्रतिकार करता है ॥१४६–१४७॥ जिस प्रकार अपने आश्रित गायोंकी रक्षा करनेके लिए ग्वालिया प्रयत्न करता है उसी प्रकार राजाको भी चाहिए कि वह अपनी सेनामे घायल हुए योद्धाको उत्तम वैद्यसे औषधिरूप सम्पदा दिलाकर उसकी विपत्तिका प्रतिकार करे अर्थात् उसकी रक्षा करे ॥१४८॥ और वह वीर जब अच्छा हो जावे तो राजाको उसकी उत्तम आजीविका कर देनेका विचार करना चाहिए क्योकि ऐसा करनेसे भृत्यवर्ग सदा

१ प्रपञ्चनम् ल०, म० । प्रपञ्चते अ०, स० । २ समृद्धम् । ३ स्वीकृत्य । ४ अनालस्य । ५ दोषी । ६ संयोजनमकुर्वन् । ७ नियमयन् । ८ उद्वेग कुर्यात् । ९ त्यक्तानुरागप्रजापरिवारवन्तम् । १० गा पोषयन्तीति गोपोपस्तम् । ११ बहुगोत्रजः । १२ बलम् । १३ एकस्मिन् स्थाने । १४ गोधनम् । १५ प्रतिकार कुर्यात् । १६ वैद्यश्रेष्ठात् । १७ अधिकम् । १८ जीवितादिकम् । १९ आनन्दम् ।

यथैव खलु गोपालो संध्यस्थिचलने गवाम् । तदस्थि स्थापयन् प्राग्वत कुर्याद्योग्यां प्रतिक्रियाम् ॥१५०॥
तथा नृपोऽपि संग्रामे भृत्यमुख्ये व्यसौ[1] सति । तत्पदे पुत्रमेवास्य भ्रातरं वा नियोजयेत ॥१५१॥
सति चैव कृतज्ञोऽयं नृप इत्यनुरक्तताम् । उपैति भृत्यवर्गोऽस्मिन्[2] भवेच्च ध्रुवयोधनः[3] ॥१५२॥
यथा खल्वपि गोपालः कृमिदष्टे गवाङ्गणे । तद्योग्यमौषधं दत्त्वा करोत्यस्य प्रतिक्रियाम् ॥१५३॥
तथैव पृथिवीपालो दुर्विधं[4] स्वानुजीविनम्[5] । विमनस्कं विदित्वैनं सौचित्त्ये[6] संनियोजयेत् ॥१५४॥
विरक्तो ह्यनुजीवी[7] स्यादलब्धोचितजीवनः[8] । प्रभोर्विमानना[9]च्चैवं तस्मान्नैनं विरुक्षयेत्[10] ॥१५५॥
[11]तद्दौर्गत्यं व्रणस्थानकृमिसंभवसन्निभम् । विदित्वा तत्प्रतीकारमाशु कुर्याद्विशां पतिः ॥१५६॥
बहुनापि न दत्तेन सौचित्यमनुजीविनाम् । उचितात् स्वामिसन्मानाद् यथैषां जायते धृतिः ॥१५७॥
गोपालको यथा यूथे स्वे महोक्षं[12] भरक्षमम् । ज्ञात्वास्य नस्यकर्मादि विदध्याद् गात्रपुष्टये ॥१५८॥
तथा नृपोऽपि सैन्ये स्वे योद्धारं भटसत्तमम् । ज्ञात्वैनं जीवनं प्राज्यं दत्त्वा संमानयेत् कृती ॥१५९॥
कृतापदानं[13] तद्योग्यैः सत्कारैः प्रीणयन् प्रभुः । न मुच्यतेऽनुरक्तैः स्वैरनुजीविभिरन्वहम् ॥१६०॥
यथा च गोपो गोयूथं कण्टकोपलवर्जिते । शीतातपादिबाधाभिरुज्झिते चारयन्[14] वने ॥१६१॥

आनन्दको प्राप्त होते रहते हैं–सन्तुष्ट बने रहते हैं ॥१४९॥ जिस प्रकार ग्वालिया सन्धिस्थानसे गायोंकी हड्डीके विचलित हो जानेपर उस हड्डीको वही पैठालता हुआ उसका योग्य प्रतिकार करता है उसी प्रकार राजाको भी युद्धमें किसी मुख्य भृत्युके मर जानेपर उसके पदपर उसके पुत्र अथवा भाईको नियुक्त करना चाहिए ॥१५०–१५१॥ ऐसा करनेसे भृत्य लोग 'यह राजा बड़ा कृतज्ञ है' ऐसा मानकर उसपर अनुराग करने लगेगे और अवसर पडनेपर निरन्तर युद्ध करनेवाले वन जायेगे ॥१५२॥ कदाचित् गायोके समूहको कोई कीड़ा काट लेता है तो जिस प्रकार ग्वालिया योग्य औपधि देकर उसका प्रतिकार करता है उसी प्रकार राजाको भी चाहिए कि वह अपने सेवकको दरिद्र अथवा खेदखिन्न जानकर उसके चित्तको सन्तुष्ट करे ॥१५३–१५४॥ क्योकि जिस सेवकको उचित आजीविका प्राप्त नही है वह अपने स्वामीके इस प्रकारके अपमानसे विरक्त हो जायेगा इसलिये राजाको चाहिए कि वह कभी अपने सेवकको विरक्त न करे। ॥१५५॥ सेवककी दरिद्रताको घावके स्थानमे कीड़े उत्पन्न होनेके समान जानकर राजाको शीघ्र ही उसका प्रतिकार करना चाहिए ॥१५६॥ सेवकोको अपने स्वामीसे उचित सन्मान पाकर जैसा सन्तोप होता है वैसा सन्तोप बहुत धन देनेपर भी नहीं होता है ॥१५७॥ जिस प्रकार ग्वाला अपने पशुओके झुण्डमे किसी वड़े वैलको अधिक भार धारण करनेमे समर्थ जानकर उसके शरीरकी पुष्टिके लिए नस्य कर्म आदि करता है अर्थात् उसकी नाकमे तेल डालता है और उसे खली आदि खिलाता है उसी प्रकार चतुर राजाको भी चाहिए कि वह अपनी सेनामे किसी योद्धाको अत्यन्त उत्तम जानकर उसे अच्छी आजीविका देकर सन्मानित करे ॥१५८–१५९॥ जो राजा अपना पराक्रम प्रकट करनेवाले वीर पुरुषको उसके योग्य सत्कारोंसे सन्तुष्ट रखता है उसके भृत्य उसपर सदा अनुरक्त रहते है और कभी भी उसका साथ नही छोड़ते है ॥१६०॥ जिस प्रकार ग्वाला अपने पशुओके समूहको काँटे और पत्थरोंसे रहित तथा शीत और गरमी आदिकी बाधासे शून्य वनमे चराता हुआ वडे प्रयत्नसे उसका

---

१ विगतप्राणे। २ नृपे। ३ योद्धा। युद्धकारीत्यर्थ। ४ दरिद्रम्। ५ निजभृत्यम्। ६ शोभनचित्तत्वे। ७ विरक्तोऽस्यानुजीवी। ८ जीवित। ९ अवमाननात्। १० कर्कश न कुर्यात्। स्नेहरहितमित्यर्थ। ११ विमनस्कत्वम्। १२ महान्तमनड्वाहम्। १३ कृतपराक्रमम्। १४ भक्षणं कारयन्।

पोपयत्यतियत्नेन तथा भूपोऽप्यविप्लवे। देशे स्वानुगतं[1] लोकं स्थापयित्वाऽभिरक्षतु[2] ॥१६२॥
राज्यादिपरिवर्तेषु[3] जनोऽयं पीड्यतेऽन्यथा[4]। चौरैर्डामरकैरन्यैरपि[5] प्रत्यन्तनायकैः[6] ॥१६३॥
[7]प्रसह्य च तथाभूतान् वृत्तिच्छेदेन योजयेत्। कण्टकोद्धरणेनैव प्रजानां क्षेमधारणम् ॥१६४॥
यथैव गोपः संजातं वत्सं मात्रासहामुकम्(मुगम्)। दिनमेकमवस्थाप्य ततोऽन्येद्युर्दयार्द्रधीः ॥१६५॥
विधाय चरणे तस्य[8] शनैर्बन्धनसन्निधिम्। नाभिनालं पुनर्गर्भमनाले[9]नापास्य यत्नतः ॥१६६॥
जन्तुसंभवशङ्कायां प्रतीकारं विधाय च। क्षीरोपयोगदानाद्यैर्वर्द्धयेत् प्रतिवासरम् ॥१६७॥
भूपोऽप्येवमुपासन्नं वृत्तये[10] स्वमुपासितुम्[11]। यथाऽनुरूपैः संमानैः स्वीकुर्यादनुजीविनम् ॥१६८॥
स्वीकृतस्य च तस्योद्धजीवनादिप्रचिन्तया। योगक्षेमं प्रयुञ्जीत कृतक्लेशस्य सादरम् ॥१६९॥
यथैव खलु गोपालः पशून् क्रेतुं[12] समुद्यतः। क्षीरावलोकनाद्यैस्तान् परीक्ष्य गुणवत्तमान्[13] ॥१७०॥
क्रीणाति शकुनादीनामवधारणतत्परः। कुलपुत्रान्नृपोऽप्येवं क्रीणीयात् सुपरीक्षितान् ॥१७१॥
क्रीतांश्च वृत्तिमूल्येन तान् यथावसरं प्रभुः। कृत्येषु[14] विनियुञ्जीत भृत्यैः साध्यं फलं हि तत् ॥१७२॥
[15]यद्वच्च प्रतिभूः कश्चिद् यो क्रये प्रतिगृह्यते। बलवान् प्रतिभूस्तद्वद्ग्राह्यो[16] भृत्योपसंग्रहे ॥१७३॥
[17]याममात्रावशिष्टायां रात्रावुत्थाय यत्नतः। [18]चारयित्वोचिते देशे गाः प्रभूततृणोदके ॥१७४॥

पोषण करता है उसी प्रकार राजाको भी अपने सेवक लोगोको किसी उपद्रवहीन स्थानमें रखकर उनकी रक्षा करनी चाहिए ॥१६१–१६२॥ यदि वह ऐसा नही करेगा तो राज्य आदिका परिवर्तन होनेपर चोर, डाकू तथा समीपवर्ती अन्य राजा लोग उसके इन सेवकोंको पीड़ा देने लगेगे ॥१६३॥ राजाको चाहिए कि वह ऐसे चोर डाकू आदिकी आजीविका जवरन नष्ट कर दे क्योकि काँटोको दूर कर देनेसे ही प्रजाका कल्याण हो सकता है ॥१६४॥ जिस प्रकार ग्वाला हालके उत्पन्न हुए बच्चेको एक दिन तक माताके साथ रखता है, दूसरे दिन दयाबुद्धिसे मुक्त हो उसके पैरमे धीरेसे रस्सी बाँधकर खूँटीसे बाँधता है, उसकी जरायु तथा नाभिके नालको बडे यत्नसे दूर करता है, कीड़े उत्पन्न होनेकी शंका होनेपर उसका प्रतीकार करता है, और दूध पिलाना आदि उपायोसे उसे प्रतिदिन बढ़ाता है ॥१६५–१६७॥ उसी प्रकार राजाको भी चाहिए कि वह आजीविकाके अर्थ अपनी सेवा करनेके लिए आये हुए सेवकको उसके योग्य आदर सन्मानसे स्वीकृत करे और जिन्हे स्वीकृत कर लिया है तथा जो अपने लिए क्लेश सहन करते है ऐसे उन सेवकोकी प्रशस्त आजीविका आदिका विचार कर उनके साथ योग और क्षेमका प्रयोग करना चाहिए अर्थात् जो वस्तु उनके पास नही है वह उन्हे देनी चाहिए और जो वस्तु उनके पास है उसकी रक्षा करनी चाहिए ॥१६८–१६९॥ जिस प्रकार शकुन आदिके निश्चय करनेमे तत्पर रहनेवाला ग्वाला जब पशुओंको खरीदनेके लिए तैयार होता है तब वह दूध देखना आदि उपायोसे परीक्षा कर उनमे-से अत्यन्त गुणी पशुओको खरीदता है उसी प्रकार राजाको भी परीक्षा किये हुए उच्चकुलीन पुत्रोको खरीदना चाहिए ॥१७०–१७१॥ और आजीविकाके मूल्यसे खरीदे हुए उन सेवकोको समयानुसार योग्य कार्यमे लगा देना चाहिए क्योकि वह कार्यरूपी फल सेवकोके द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है ॥१७२॥ जिस प्रकार पशुओके खरीदनेमे किसीको जामिनदार बनाया जाता है उसी प्रकार सेवकोका संग्रह करनेमें भी किसी बलवान् पुरुषको जामिनदार बनाना चाहिए ॥१७३॥ जिस प्रकार ग्वाला रात्रिके

१ मूलबलम्। २ –रक्षयेत् ल०, म०। ३ परिवर्तेऽस्य ल०, म०। राज्यादिं मुक्त्वा राज्यान्तरप्राप्तिषु। ४ अरक्षणप्रकारेण। ५ घाटीकारैः युद्धकारिभिर्वा। ६ म्लेच्छनायकैः। ७ हठात्कारेण। ८ वत्सस्य। ९ जरायुना। १० जीवनाय। ११ सेवां कर्तुम्। १२ क्रयणाय। १३ अतिशयेन गुणवतः। १४ कार्येषु। १५ यथैव ल०, म०। १६ धरकः। १७ प्रहर। १८ भक्षयित्वा।

प्रातस्तरामथानीय वत्सपीतावशिष्टकम् । पयो दोग्धि यथा गोपो नवनीतादिलिप्सया ॥१७५॥
तथा भूपोऽप्यतन्द्रालुर्भक्तग्रामेषु[1] कारयेत । कृषिं[2] कर्मान्तिकैर्बीजप्रदानाद्यैरुपक्रमैः ॥१७६॥
देशेऽपि कारयेत कृत्स्ने कृषिं सम्यक्कृषीवलैः । धान्यानां संग्रहार्थं च न्याय्यमंशं ततो[3] हरेत्[4] ॥१७७॥
सत्येवं पुष्टतन्त्रः स्याद् भाण्डागारादिसंपदा । पुष्टो देशश्च तस्यैवं स्याद् धान्यैराशितम्भवैः[5] ॥१७८॥
स्वदेशे[6] वाक्षरम्लेच्छान् प्रजाबाधाविधायिनः । कुलशुद्धिप्रदानाद्यैः स्वसात्कुर्यादुपक्रमैः ॥१७९॥
विक्रियां न भजन्त्येते प्रभुणा कृतसत्क्रियाः । प्रभोरलब्धसंमाना विक्रियन्ते हि तेऽन्वहम् ॥१८०॥
ये केचिच्चाक्षरम्लेच्छाः स्वदेशे प्रचरिष्णवः । तेऽपि कर्षकसामान्यं[7] कर्तव्याः करदा नृपैः ॥१८१॥
तान्प्राहुरक्षरम्लेच्छाः येऽमी वेदोपजीविनः । अधर्माक्षरसंपाठैर्लोकव्यामोहकारिणः ॥१८२॥
यतोऽक्षरकृतं गर्वम[8]विद्याबलतस्तके[9] । वहन्त्यतोऽक्षरम्लेच्छाः पापसूत्रोपजीविनः ॥१८३॥
म्लेच्छाचारो हि हिंसायां रतिर्मांसाशनेऽपि च । बलात्परस्वहरणं निर्धूतत्वमिति स्मृतम् ॥१८४॥
सोऽस्त्यमीषां च[10] यद्वेदशास्त्रार्थमधमद्विजाः । तादृशं[11] बहु मन्यन्ते जातिवादावलेपतः[12] ॥१८५॥
[13]प्रजासामान्यतैवैषां मता वा स्यान्निकृष्टता । ततो[14] न मान्यतास्त्येषां द्विजा मान्याः स्युरार्हताः ॥१८६॥

प्रहरमात्र शेष रहनेपर उठकर जहाँ बहुत-सा घास और पानी होता है ऐसे किसी योग्य स्थानमें गायोको बड़े प्रयत्नसे चराता है तथा बड़े सवेरे ही वापिस लाकर बछड़ेके पीनेसे बाकी बचे हुए दूधको मक्खन आदि प्राप्त करनेकी इच्छासे दुह लेता है उसी प्रकार राजाको भी आलस्य-रहित होकर अपने आधीन ग्रामोंमें बीज देना आदि साधनो-द्वारा किसानोसे खेती कराना चाहिए ॥१७४–१७६॥ राजाको चाहिए कि वह अपने समस्त देशमे किसानों-द्वारा भली भाँति खेती करावे और धान्यका सग्रह करनेके लिए उनसे न्यायपूर्ण उचित अंश लेवे ॥१७७॥ ऐसा होनेसे उसके भांडार आदिमे बहुत सी सम्पत्ति इकट्ठी हो जावेगी और उससे उसका बल बढ़ जावेगा तथा सन्तुष्ट करनेवाले उन धान्योसे उसका देश भी पुष्ट अथवा समृद्धिशाली हो जावेगा ॥१७८॥ अपने आश्रित स्थानोमे प्रजाको दुःख देनेवाले जो अक्षरम्लेच्छ अर्थात् वेदसे आजीविका करनेवाले हो उन्हे कुलशुद्धि प्रदान करना आदि उपायोसे अपने आधीन करना चाहिए ॥१७९॥ अपने राजासे सत्कार पाकर वे अक्षरम्लेच्छ फिर उपद्रव नही करेगे। यदि राजाओसे उन्हे सन्मान प्राप्त नही होगा तो वे प्रतिदिन कुछ-न-कुछ उपद्रव करते ही रहेगे ॥१८०॥ और जो कितने ही अक्षरम्लेच्छ अपने ही देशमे सचार करते हो उनसे भी राजाओ-को सामान्य किसानोकी तरह कर अवश्य लेना चाहिए ॥१८१॥ जो वेद पढ़कर अपनी आजी-विका करते है और अधर्म करनेवाले अक्षरोके पाठसे लोगोको ठगा करते है उन्हे अक्षरम्लेच्छ कहते है ॥१८२॥ चूँकि वे अज्ञानके बलसे अक्षरो-द्वारा उत्पन्न हुए अहकारको धारण करते है इसलिए पापसूत्रोसे आजीविका करनेवाले वे अक्षरम्लेच्छ कहलाते हैं ॥१८३॥ हिसा और मास खानेमे प्रेम करना, बलपूर्वक दूसरेका धन हरण करना और धूर्तता करना (स्वेच्छा-चार करना) यही म्लेच्छोका आचार माना गया है ॥१८४॥ चूँकि यह सब आचरण इनमें है और जातिके अभिमानसे ये नीच द्विज हिंसा आदिको प्ररूपित करनेवाले वेद शास्त्रके अर्थको बहुत कुछ मानते है इसलिए इन्हे सामान्य प्रजाके समान ही मानना चाहिए अथवा उससे भी कुछ निकृष्ट मानना चाहिए। इन सब कारणोंसे इनकी कुछ भी मान्यता नही रह जाती

---

१ आरम्भग्रामेष्वित्यर्थः । २ कृषीवलभृत्यैः । ३ कृषीवलेभ्य । ४ स्वीकुर्यात् । ५ तृप्तिकरैः । ६ प्रदेशे अ०, स०,ल०,म० । ७ कृषीवलसामान्यं यथा भवति तथा । ८ अज्ञानबलात् । ९ कुत्सितास्ते । १० यत् कारणात् । ११ हिंसनादिप्रकारम् । १२ गर्वत । १३ प्रजासामान्यत्वमेव । १४ प्रजाभ्य ।

वयं निस्तारका देवब्राह्मणा लोकसंमताः । धान्यभागमतो राज्ञे न दद्म इति चेन्मतम् ॥१८७॥
वैशिष्ट्यं किङ्कृतं शेषवर्णेभ्यो भवतामिह । न जातिमात्राद् वैशिष्ट्यं जातिभेदाप्रतीतितः ॥१८८॥
गुणतोऽपि न वैशिष्ट्यमस्ति वो नामधारकाः । व्रतिनो ब्राह्मणा जैना ये त एव गुणाधिकाः ॥१८९॥
निर्व्रता निर्नमस्कारा निर्घृणाः पशुघातिनः । म्लेच्छाचारपरा यूयं न स्थाने[1] धार्मिका द्विजाः ॥१९०॥
तस्माद्भवन्तो कुरु म्लेच्छा इव तेऽमी महीभुजाम् । प्रजासामान्यधान्यांशदानाद्यैरविशेषिताः ॥१९१॥
किमत्र बहुनोक्तेन जैनान्मुक्त्वा द्विजोत्तमान् । नान्ये मान्या नरेन्द्राणां प्रजासामान्यजीविकाः ॥१९२॥
अन्यच्च गोधनं गोपो व्याघ्रचोराद्युपक्रमात्[2] । यथा रक्षत्यतन्द्रालुर्भूपोऽप्येवं निजाः प्रजाः ॥१९३॥
यथा च गोकुलं[3] गोमिन्यायाते संदिदृक्षया । सोपचारमुपेत्यैनं तोषयेद् धनसम्पदा[4] ॥१९४॥
भूपोऽप्येवं बली कश्चित् स्वराष्ट्रं यद्यभिद्रवेत्[5] । तदा वृद्धैः समालोच्य संदध्यात्[6] पणबन्धतः[7] ॥१९५॥
जनक्षयाय संग्रामो बह्वपायो दुरुत्तरः । तस्मादुपप्रदानाद्यैः[8] [9]सन्धेयोऽरिर्बलाधिकः ॥१९६॥
इति गोपालदृष्टान्तमूरीकृत्य नरेश्वरः । प्रजानां पालने यत्नं[10] विदध्यान्नयवर्त्मना ॥१९७॥

है, जो द्विज अरहन्त भगवान्के भक्त है वही मान्य गिने जाते है ॥१८५–१८६॥ "हम ही लोगोको संसार-सागरसे तारनेवाले है, हम ही देव ब्राह्मण हैं और हम ही लोकसम्मत हैं अर्थात् सभी लोग हम ही को मानते है इसलिए हम राजाको धान्यका उचित अश नही देते" इस प्रकार यदि वे द्विज कहे तो उनसे पूछना चाहिए कि आप लोगोमें अन्य वर्णवालोसे विशेषता क्यो है ? कदाचित् यह कहो कि हम जातिकी अपेक्षा विशिष्ट है तो आपका यह कहना ठीक नही है क्योकि जातिकी अपेक्षा विशिष्टता अनुभवमे नही आती है, कदाचित् यह कहो कि गुणकी अपेक्षा विशिष्टता है सो यह भी ठीक नही है क्योकि आपलोग केवल नामके धारण करनेवाले हो, जो व्रतोको धारण करनेवाले जैन ब्राह्मण है वे ही गुणोसे अधिक है। आप लोग व्रतरहित, नमस्कार करनेके अयोग्य, दयाहीन, पशुओका घात करनेवाले और म्लेच्छो- के आचरण करनेमे तत्पर हो इसलिए आप लोग धर्मात्मा द्विज नही हो सकते। इन सब कारणों- से राजाओको चाहिए कि वे इन द्विजोको म्लेच्छोके समान समझे और उनसे सामान्य प्रजाकी तरह ही धान्यका योग्य अश ग्रहण करे। अथवा इस विषयमे अधिक कहनेसे क्या लाभ है ? जैनधर्मको धारण करनेवाले उत्तम द्विजोको छोड़कर प्रजाके समान आजीविका करनेवाले अन्य द्विज राजाओके पूज्य नही है ॥१८७–१९२॥

जिस प्रकार ग्वाला आलस्यरहित होकर अपने गोधनकी व्याघ्र चोर आदि उपद्रवोंसे रक्षा करता है उसी प्रकार राजाको भी अपनी प्रजाकी रक्षा करनी चाहिए ॥१९३॥ जिस प्रकार ग्वाला उन पशुओंके देखनेकी इच्छासे राजाके आनेपर भेट लेकर उसके समीप जाता है और धन सम्पदाके द्वारा उसे सतुष्ट करता है उसी प्रकार यदि कोई बलवान् राजा अपने राज्यके सन्मुख आवे तो वृद्ध लोगोके साथ विचार कर उसे कुछ देकर उसके साथ सन्धि कर लेना चाहिए। चूँकि युद्ध बहुत-से लोगोके विनाशका कारण है, उसमें बहुत-सी हानियाँ होती है और उसका भविष्य भी बुरा होता है अत कुछ देकर बलवान् शत्रुके साथ सन्धि कर लेना ही ठीक है ॥१९४–१९६॥ इस प्रकार राजाको ग्वालाका दृष्टान्त स्वीकार कर नीतिमार्गसे

---

१ न भवथ। २ –द्युपद्रवात् ल०, म०, प०। ३ गोमती। गोमान् गोमीत्यभिधानात्। गोमत्या– म०, ल०, प०। ४ क्षीरघृतादिविक्रयाज्जातधनसमृद्ध्या। ५ अभिगच्छेत्। ६ सन्धानं कुर्यात्। ७ निष्कप्रदाना- दित्यर्थः। ८ उचितवस्तुवाहनप्रदानाद्यैः। ९ सन्धि कर्तु योग्य.। १० कुर्यात्।

प्रजानुपालनं प्रोक्तं पार्थिवस्य जितात्मनः । समञ्जसत्वमधुना वक्ष्यामस्तद्गुणान्तरम् ॥१९८॥
राजा चित्तं समाधाय यत्कुर्याद् दुष्टनिग्रहम् । शिष्टानुपालनं चैव तत्सामञ्जस्यमुच्यते ॥१९९॥
द्विषन्तमथवा पुत्रं निगृह्णन्निग्रहोचितम् । अपक्षपतितो[1] दुष्टमिष्टं चेच्छन्ननागसम्[2] ॥२००॥
मध्यस्थवृत्तिरेवं यः समदर्शी समञ्जसः । समञ्जसत्वं तद्भावः[3] प्रजास्वविषमेक्षिता ॥२०१॥
गुणेनैतेन शिष्टानां पालनं न्यायजीविनाम् । दुष्टानां निग्रहं चैव नृपः कुर्यात् कृतागसाम् ॥२०२॥
दुष्टा हिंसादिदोषेषु निरताः पापकारिणः । शिष्टास्तु क्षान्तिशौचादिगुणैर्धर्मपरा नराः ॥२०३॥

वसन्ततिलकावृत्तम्

इत्थं मनुः सकलचक्रभृतादिराजः
तान् क्षत्रियान् नियमयन् पथि सुप्रणीते[4] ।
उच्चावचैर्गुरुमतैरुचितैर्वचोभिः
शास्ति स्म वृत्तमखिलं पृथिवीश्वराणाम् ॥२०४॥

शार्दूलविक्रीडितम्

इत्युच्चैर्भरतेशिनानुकथितं सर्वीयमुर्वीश्वराः[5][7]
क्षात्रं धर्ममनुप्रवद्य मुदिताः स्वां वृत्तिमन्वैयरुः[6] ।
योगक्षेमपथेषु तेषु सहिताः[8] सर्वे च वर्णाश्रमाः
स्वे स्वे वर्त्मनि सुस्थिता धृतिमधुर्धर्मोत्सवैः प्रत्यहम् ॥२०५॥

प्रजाका पालन करनेमें प्रयत्न करना चाहिए ॥१९७॥ इस प्रकार इन्द्रियोंको जीतनेवाले राजाका प्रजापालन नामका गुण कहा । अब समंजसत्व नामका अन्य गुण कहते हैं ॥१९८॥

राजा अपने चित्तका समाधान कर जो दुष्ट पुरुषोंका निग्रह और शिष्ट पुरुषोंका पालन करता है वही उसका समंजसत्व गुण कहलाता है ॥१९९॥ जो राजा निग्रह करने योग्य शत्रु अथवा पुत्र दोनोंका निग्रह करता है, जिसे किसीका पक्षपात नहीं है, जो दुष्ट और मित्र, सभीको निरपराध बनानेकी इच्छा करता है और इस प्रकार मध्यस्थ रहकर जो सबपर समान दृष्टि रखता है वह समंजस कहलाता है तथा प्रजाओंको विषम दृष्टिसे नहीं देखना अर्थात् सबपर समान दृष्टि रखना ही राजाका समंजसत्व गुण है ॥२००–२०१॥ इस समंजसत्व गुणसे ही राजाको न्यायपूर्वक आजीविका करनेवाले शिष्ट पुरुषोंका पालन और अपराध करनेवाले दुष्ट पुरुषोंका निग्रह करना चाहिए ॥२०२॥ जो पुरुष हिंसा आदि दोषोंमें तत्पर रहकर पाप करते हैं वे दुष्ट कहलाते हैं और जो क्षमा, संतोष आदि गुणोंके द्वारा धर्म धारण करनेमें तत्पर रहते हैं वे शिष्ट कहलाते हैं ॥२०३॥ इस प्रकार सोलहवें मनु तथा समस्त चक्रवर्तियोंमें प्रथम राजा महाराज भरतने उन क्षत्रियोंको भगवत्प्रणीत मार्गमें नियुक्त करते हुए, अपने पिता श्री वृषभदेवको इष्ट ऊँचे नीचे योग्य वचनोंसे राजाओंके समस्त आचारका उपदेश दिया ॥२०४॥ इस प्रकार भरतेश्वरने जिसका अच्छी तरह प्रतिपादन किया है ऐसे सबका हित करनेवाले, क्षत्रियोंके उत्कृष्ट धर्मको स्वीकार कर सब राजा लोग प्रसन्न हो अपने-अपने आचरणोंका पालन करने लगे और उन राजाओंके योग (नवीन वस्तुकी प्राप्ति) तथा क्षेम (प्राप्त हुई वस्तुकी रक्षा) में प्रवृत्त रहनेपर अपना हित चाहनेवाले सब वर्णाश्रमोंके लोग अपने-अपने

---

१ पक्षपातरहितः । २ अपराधरहितम् । ३ समञ्जसत्वसद्भाव. अ०, प०, स०, ल०, म० । ४ सुष्ठु प्रोक्ते । ५ सर्वेभ्यो हितम् । ६ अनुजग्मु । 'ऋ गतौ लुङि' ह्वादित्वात् शप. श्लुपि द्विर्भावे, झेर्जुसिति उत्तरऋकारस्य अकारादेशे, पूर्वऋकारस्य इत्वे, पुनर्यादेशेऽपि च कृते, 'एयरु' इति सिद्धिः । ७ उर्वीश्वरेषु । ८ हितेन सहिता ।

जातिक्षत्रियवृत्तमूर्जिततरं रत्नत्रयाविष्कृतं
तीर्थक्षत्रियवृत्तमप्यनुजगौ यच्चक्रिणामग्रणीः ।
तत्सर्वं मगधाधिपाय भगवान् वाचस्पतिर्गौतमो
व्याचख्यावखिलार्थतत्त्वविषयां जैनीं श्रुतिं ख्यापयन् ॥२०६॥
वन्दारोर्भरताधिपस्य जगतां भर्तुः क्रमौ वेधसः
तस्यानुस्मरतो गुणान् प्रणमतस्तं देवमाद्यं जिनम् ।
तस्यैवोपचितिं सुरासुरगुरोर्भक्त्या मुहुस्तन्वतः
कालोऽनल्पतरः सुखाद् व्यतिगतो नित्योत्सवैः संभृतः ॥२०७॥

मन्दाक्रान्ता

जैनीमिज्यां वितन्वन्नियतमनुदिनं प्रीणयन्नर्थिसार्थं
शश्वद्विश्वम्भरेशैरवनिधृततलसन्मौलिभिः सेव्यमानः ।
क्ष्मां कृत्स्नामापयोधेरपि च हिमवतः पालयन्निस्सपत्नां
रम्यैः स्वेच्छाविनोदैर्निरविशदधिराड् भोगसारं दशाङ्गम् ॥२०८॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे
*भरतराजवर्णाश्रमस्थितिप्रतिपादनं नाम द्विचत्वारिंशत्तमं पर्व ॥४२॥**

■

मार्गमे स्थिर रहकर प्रतिदिन धर्मोत्सव करते हुए सन्तोष धारण करने लगे ॥२०५॥ चक्रवर्तियोंमें अग्रेसर महाराज भरतने जो अत्यन्त उत्कृष्ट जातिक्षत्रियोका चरित्र तथा रत्नत्रयसे प्रकट हुआ तीर्थक्षत्रियोका चरित्र कहा था वह सब, समस्त पदार्थोके स्वरूपको विषय करनेवाले जैन शास्त्रोको प्रकट करते हुए वाचस्पति (श्रुतकेवली) भगवान् गौतम गणधरने मगध देशके अधिपति श्रेणिकके लिए निरूपण किया ॥२०६॥ तीनों लोकोंके स्वामी भगवान् वृषभदेवके चरणोकी वन्दना करनेवाले, उन्ही परब्रह्मके गुणोंका स्मरण करनेवाले, उन्ही प्रथम जिनेन्द्रदेवको नमस्कार करनेवाले और सुर तथा असुरोंके गुरु उन्ही भगवान् वृषभदेवकी भक्तिपूर्वक वार-बार पूजा करनेवाले भरतेश्वरका निरन्तर होनेवाले उत्सवोसे भरा हुआ भारी समय सुखसे व्यतीत हो गया ॥२०७॥ जो नियमित रूपसे प्रतिदिन जिनेन्द्र भगवान्की पूजा करता है, जो प्रतिदिन याचकोके समूहको सन्तुष्ट करता है, पृथिवीपर झुके हुए मुकुटोसे सुशोभित होनेवाले राजा लोग जिसकी निरन्तर सेवा करते है और जो हिमवान् पर्वतसे लेकर समुद्रपर्यन्तकी शत्रुरहित समस्त पृथिवीका पालन करता है ऐसा वह सम्राट् भरत अपनी इच्छानुसार क्रीडाओके द्वारा दश प्रकारके उत्तम भोगोका उपभोग करता था ॥२०८॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसग्रहके
हिन्दी भाषानुवादमे भरतराजकी वर्णाश्रमकी रीतिका प्रतिपादन
करनेवाला बयालीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥४२॥

■

१ उवाच । २ प्रकटीकुर्वन् । ३ पूजाम् । ४ व्यतिक्रान्त । ५ सम्पोषित. । ६ समुद्रादारभ्य हिमवत्पर्यन्तम् । ७ अन्वभूत् । ८ दिव्यपुररत्ननिधिसेनाभाजनशयनासनवाहननाट्यादीनि दशाङ्गानि यस्य स तम् ।
* ल० म० इ० प० पुस्तकेषु निम्नाकित. पाठोऽधिको दृश्यते । त० ब० अ० स० पुस्तकेष्वेष पाठो न दृश्यते ।

अनुष्टुप्

वृषभाय नमोऽशेषस्थितिप्रभवहेतवे । त्रिकालगोचरानन्तप्रमेयाक्रान्तमूर्तये ॥१॥
नमः सकलकल्याणपथनिर्माणहेतवे । आदिदेवाय संसारसागरोत्तारसेतवे ॥२॥

पृथ्वीच्छन्दः

जयन्ति जितमृत्यवो विपुलवीर्यभाजो जिना जगत्प्रमदहेतवो विपदमन्दकन्दच्छिदः ॥
सुरासुरशिरःस्फुरितरागरत्नावलीविलम्बिकिरणोत्कराऽरुणितचारुपादद्वयाः ॥३॥
कृतिर्महाकवेर्भगवतः श्रीजिनसेनाचार्यस्येति ।

वसन्ततिलका

धर्मोऽत्र मुक्तिपदमत्र कवित्वमत्र तीर्थेशिनश्चरितमत्र महापुराणे ।
यद्वा कवीन्द्रजिनसेनमुखारविन्दनिर्यद्वचांसि न हरन्ति मनांसि केषाम् ॥४॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते महापुराणे
आद्यं खण्डं समाप्तिमगमत् ।

■

जो समस्त मर्यादाकी उत्पत्तिके कारण हैं और जिनकी केवलज्ञानरूपी मूर्ति त्रिकाल-विषयक अनन्त पदार्थोंसे व्याप्त है उन वृषभदेवके लिए नमस्कार हो ॥१॥ जो सब कल्याणोंके मार्गकी रचनामें कारण हैं और जो संसाररूपी समुद्रसे पार करनेके लिए पुलके समान हैं ऐसे प्रथम तीर्थंकर भगवान् वृषभदेवको नमस्कार हो ॥२॥ जिन्होंने मृत्युको जीत लिया है, जो अनन्त बलको धारण करनेवाले हैं, जो जगत्के आनन्दके कारण हैं, जो विपत्तियोंकी बहुत भारी जडको काटनेवाले हैं, और सुर तथा असुरोंके मस्तकपर चमकते हुए पद्मराग-मणियोंकी पंक्तिसे निकलती हुई किरणोंके समूहसे जिनके दोनों सुन्दर चरणकमल कुछ-कुछ लाल हो रहे हैं ऐसे जिनेन्द्रदेव सदा जयवन्त हों ॥३॥

(इस प्रकार महाकवि भगवान् जिनसेनाचार्यकी कृति समाप्त हुई)

इस महापुराणमें धर्मका निरूपण है, मोक्ष पद अथवा मोक्षमार्गका कथन है, उत्तम कविता है और तीर्थंकर भगवान्का चरित्र है अथवा इस प्रकार समझना चाहिए कि कवियोंमें श्रेष्ठ श्री जिनसेनके मुखकमलसे निकले हुए वचन किसके मनको हरण नहीं करते हैं ? ॥४॥

(इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत महापुराणका प्रथम खण्ड समाप्त हुआ)

■

आदिपुराणम्

[उत्तरखण्डम्]

त्रिचत्वारिंशत्तमं पर्व

श्रियं तनोतु स श्रीमान् वृषभो वृषभध्वजः । यस्यैकस्य [1]गतेर्मुक्तेमार्गश्चित्रं [2] महानभूत् ॥१॥
विक्रमं कर्मचक्रस्य[3] यश्शक्राभ्यर्चितक्रमः । [4]आक्रम्य धर्मचक्रेण चक्रे त्रैलोक्यचक्रिताम् ॥२॥
योऽस्मिंश्चतुर्थकालादौ[5] दिनादौ वा[6] दिवाकरः । जगदुद्योतयामास प्रोद्गच्छद्वाग्गभस्तिभिः ॥३॥
नष्टमष्टादशाम्भोधिकोटीकोटीषु कालयोः[7] । निर्वाणमार्गं निर्दिश्य[8] येन सिद्धाश्च वर्द्धिताः ॥४॥
तीर्थकृत्सु[9] स्वतः[10] प्राग्यो[11] नामादानपराभवः[12] । यमस्मि[13]न्नस्पृशन्नासौ स्वसूनुमिव चक्रिषु ॥५॥
येन[14] प्रकाशिते[15] मुक्तेर्मार्गेऽस्मिन्नपरेषु तत्[16] । [17]प्रकाशितप्रकाशोक्तवैयर्थ्यं तीर्थकृत्स्वभूत् ॥६॥

अथानन्तर, जिनकी ध्वजामें वृषभका चिह्न है और सबसे बड़ा आश्चर्य यह है कि जिन एकके जानेसे ही बहुत बड़ा मोक्षका मार्ग बन गया ऐसे अन्तरंग बहिरंग लक्ष्मीको धारण करनेवाले श्री वृषभदेव सबका कल्याण करें ॥१॥ जिनके चरणकमलकी इन्द्र स्वयं पूजा करता है और जिन्होंने धर्मचक्रके द्वारा कर्मसमूहके पराक्रमपर आक्रमण कर तीनों लोकोंका चक्रवर्तीपना प्राप्त किया है ॥२॥ दिनके प्रारम्भमें सूर्यकी तरह इस *चतुर्थकालके प्रारम्भमें उदय होकर जिन्होंने फैलती हुई अपनी वाणीरूपी किरणोंसे समस्त जगत्को प्रकाशित किया है अर्थात् दिव्य ध्वनिके द्वारा समस्त तत्त्वोंका उपदेश दिया है ॥३॥ उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी कालके अठारह कोड़ी सागर तक जो मोक्षका मार्ग नष्ट हो रहा था उसका निर्देश कर जिन्होंने सिद्धोंकी संख्या बढ़ायी है। ॥४॥ जिस प्रकार चक्रवर्तियोंमें अपने पुत्र भरत चक्रवर्तीको उसके पहले किसी अन्य चक्रवर्तीका नाम लेनेसे उत्पन्न हुआ पराभव नहीं छू सका था उसी प्रकार तीर्थंकरोंमें अपने पहले किसी अन्य तीर्थंकरका नाम लेनेसे उत्पन्न हुआ पराभव जिन्हें छू भी नहीं सका था। भावार्थ–जिस प्रकार भरत इस युगके समस्त चक्रवर्तियोंमें पहले चक्रवर्ती थे उसी प्रकार जो इस युगके समस्त तीर्थंकरोंमें पहले तीर्थंकर थे ॥५॥ जिनके द्वारा इस मोक्षमार्गके प्रकाशित किये जानेपर अन्य तीर्थंकरोंमें प्रकाशित हुए मोक्षमार्गको प्रकाशित करनेके कारण उपदेशकी व्यर्थता हुई थी। भावार्थ–इस समय जो मोक्षका मार्ग चल रहा है उसका उपदेश सबसे पहले भगवान् वृषभदेवने ही दिया था उनके पीछे होनेवाले अन्य तीर्थंकरोंने भी उसी मार्गका उपदेश दिया है इसलिए उनका उपदेश पुनरुक्त होनेके कारण व्यर्थ-सा जान पड़ता

---

१ गमनात् । २ मुक्तिमार्ग–प०, ल०, म० । ३ कर्मराजसैन्यस्य । ४ जित्वा । ५ चतुर्थकालस्यादौ । ६ इव । ७ उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योः । ८ उपदेश कृत्वा । ९ अजितादिषु । १० आत्मन पुरुजिनात् । ११ पूर्वस्मिन् काले । १२ सामदानपराभव इति पाठस्य ल० पुस्तके संकेत । नामदानपराभव इति पाठस्य 'द०' पुस्तके संकेत. । अदानपराभव –आहारादिदानाभाव इति पराभव । नामदानपराभव इति पाठे कीर्तिदानयोरभाव इति पराभवः । १३ चतुर्थकालस्यादौ । १४ वृषभेण । १५ चतुर्थकालादौ । १६ मोक्षमार्गप्रकाशनम् । १७ प्रकाशितस्य प्रकाशने प्रोक्तव्यर्थत्वम् ।

* भगवान् वृषभदेव तृतीय कालके अन्तमें उत्पन्न हुए और तृतीय कालमें ही मोक्ष पधारे हैं इसलिए आचार्य गुणभद्रने चतुर्थकालके आदिमें होना किस दृष्टिसे लिखा है यह विचारणीय है।

युगभारं[1] वहन्नेकश्चिरं धर्मरथं पृथुम् । व्रतशीलगुणापूर्णं चित्रं वर्तयति स्म यः ॥७॥
तमेकमक्षरं[2] ध्यात्वा व्यक्तमेकमिवाक्षरम्[3] । वक्ष्ये समीक्ष्य लक्ष्याणि[4] तत्पुराणस्य[5] चूलिकाम्[6] ॥८॥
स्वोक्ते[7] प्रयुक्ताः सर्वे नो[8] रसागुरुभिरेव ते । स्नेहादिह[9] तदुत्सृष्टान्[10] भक्त्या[11] तानुपयुंज्महे ॥९॥
रागादीन् दूरतस्त्यक्त्वा शृङ्गारादिरसोक्तिभिः । पुराणकारकाः शुद्धबोधाः शुद्धा मुमुक्षवः ॥१०॥
निर्मितोऽस्य पुराणस्य सर्वसारो महात्मभिः[13] । तच्छेषे यतमानानां प्रासादस्येव[14] नः श्रमः ॥११॥
पुराणे प्रौढशब्दार्थे सत्पत्रफलशालिनि । वचांसि पल्लवानीव कर्णे कुर्वन्तु मे बुधाः ॥१२॥
अर्धं[15] गुरुभिरेवास्य[16] पूर्वं निष्पादितं परैः[17] । परं[18] निष्पाद्यमानं[19] सच्छन्दोवन्नातिसुन्दरम् ॥१३॥
इक्षोरिवास्य पूर्वार्द्धमेवाभावि[20] रसावहम् । यथा तथास्तु[21] निष्पत्तिरिति प्रारभ्यते मया ॥१४॥
अनन्विष्यं[22] मयि प्रौढिं धर्मोऽयमिति गृह्यताम् । चाटुके[23] स्वादुमिच्छन्ति न भोक्तारस्तु भोजनम् ॥१५॥

है ॥६॥ और आश्चर्य है कि जिन्होने अकेले ही बहुत काल तक इस अवसर्पिणी युगके भारको (पक्षमे जुवारीके बोझको) धारण करते हुए व्रत, शील आदि गुणोसे भरे हुए बडे भारी धर्म-रथको चलाया था ॥७॥ ऐसे उन अद्वितीय अविनाशी भगवान् वृषभदेवको एक प्रसिद्ध ओम् अक्षरके समान ध्यान कर तथा पूर्वशास्त्रोंका विचार कर इस महापुराणकी चूलिका कहता हूँ ॥८॥ हमारे गुरु जिनसेनाचार्यने हमारे स्नेहसे अपने द्वारा कहे हुए पुराणमें सब रस कहे है इसलिए उनकी भक्तिसे छोड़े गये रसोका ही हम आगे इस ग्रन्थमें उपयोग करेगे ॥९॥ राग आदिको दूरसे ही छोड़कर शृंगार आदि रसोंका निरूपण कर पुराणोकी रचना करने-वाले शुद्ध ज्ञानी, पवित्र और मोक्षकी इच्छा करनेवाले होते है ॥१०॥ इस पुराणका समस्त सार तो महात्मा जिनसेनाचार्यने पूर्ण ही कर दिया है अब उसके बाकी बचे हुए अंगमे प्रयत्न करनेवाले हम लोगोंका परिश्रम ऐसा समझना चाहिए जैसा कि किसी मकानके किसी बचे हुए भागको पूर्ण करनेके लिए थोड़ा-सा परिश्रम करना पडा हो ॥११॥ यह पुराणरूपी वृक्ष शब्द और अर्थसे प्रौढ़ है तथा उत्तम-उत्तम पत्ते और फलोंसे सुशोभित हो रहा है इसमें मेरे वचन नवीन पत्तोके समान है इसलिए विद्वान् लोग उन्हे अवश्य ही अपने कर्णोपर धारण करे। भावार्थ–जिस प्रकार वृक्षके नये पत्तोको लोग अपने कानोपर धारण करते है उसी प्रकार विद्वान् लोग हमारे इन वचनोंको भी अपने कानोमे धारण करे अर्थात् स्नेहसे श्रवण करे ॥१२॥ इस पुराणका पूर्व भाग गुरु अर्थात् जिनसेनाचार्य अथवा दीर्घ वर्णोसे बना हुआ है और उत्तर भाग पर अर्थात् गुरुसे भिन्न शिष्य (गुणभद्र) अथवा लघु वर्णोके द्वारा बनाया जाता है इसलिए क्या वह छन्दके समान सुन्दर नही होगा ? अर्थात् अवश्य होगा। भावार्थ–जिस प्रकार गुरु और लघु वर्णोसे बना हुआ छन्द अत्यन्त सुन्दर होता है उसी प्रकार गुरु और शिष्यके द्वारा बना हुआ यह पुराण भी अत्यन्त सुन्दर होगा ॥१३॥ 'जिस प्रकार ईखका पूर्वार्ध भाग ही रसीला होता है उसी प्रकार इस पुराणका भी पूर्वार्ध भाग ही रसीला हो' यह विचार कर मै इसके उत्तरभागकी रचना प्रारम्भ करता हूँ ॥१४॥ मुझमें प्रौढता (योग्यता) की खोज न कर इसे केवल धर्म समझकर ही ग्रहण करना चाहिए क्योकि भोजन करनेवाले प्रिय वचन

---

१ चतुर्थकालधुरम् । दण्डभेदं च । २ अविनश्वरम् । ३ ओङ्कारमिव । ४ पूर्वोक्तशास्त्राणि । ५ पुरुनाथ-पुराणस्य । ६ अग्रम् । ७ आत्मना प्रणीते पुराणे । ८ अस्माकम् । ९ मयि प्रेम्ण । १० उत्तरपुराणे । ११ तज्जिनसेनाचार्येणावशेषितान् (प्रणीतानेव) । १२ रसान् । १३ महात्मक ब० । १४ निर्मितप्रासादावशेषे यतमानानामिव । १५ जिनसेनाचार्ये । छन्दः पक्षे गुर्वक्षरैः । १६ पुराणस्य । १७ अस्मदादिभिः । पक्षे लघ्वक्षरैः अल्पाक्षरैः । १८ अपरार्द्धम् । १९ उक्तात्युक्तादिछन्दोभेदवत् । २० निश्चितम् । २१ निष्ठा । २२ अविमृश्य । २३ प्रियवचने ।

अथवाऽग्रं[1] भवेदस्य विरसं नेति निश्चयः। धर्माग्रं ननु केनापि नादर्शि विरसं क्वचित् ॥१६॥
गुरूणामेव माहात्म्यं[2] यदपि स्वादु मद्वचः। तरूणां हि प्रभावेण[3] यत्फलं स्वादु जायते ॥१७॥
निर्यान्ति हृदयाद् वाचो हृदि मे गुरवः स्थिताः। ते[4] तत्र संस्करिष्यन्ते तन्न मेऽत्र परिश्रमः ॥१८॥
इदं शुश्रूषवो[5] भव्याः कथितोऽर्थो जिनेश्वरैः। तस्याभिधायकाः शब्दास्तन्न[6] निन्द्राऽत्र वर्तते ॥१९॥
दोषान् गुणान् गुणी गृह्णन् गुणान् दोषांस्तु दोषवान्। सदसज्ज्ञानयोश्चित्रमत्र माहात्म्यमीदृशम् ॥२०॥
गुणिनां गुणमादाय गुणी भवतु सज्जनः। असद्दोषसमादानाद् दोषवान् दुर्जनोऽद्भुतम् ॥२१॥
सज्जने दुर्जनः कोपं कामं कर्तुमिहार्हति। [7]तद्वैरिणामनाथानां गुणानामाश्रयो[8] यतः[9] ॥२२॥
यथा [10]स्वानुगमर्हन्ति सदा स्तोतुं कवीश्वराः। तथा निन्दितुमस्वानुवृत्तं कुकवयोऽपि माम् ॥२३॥
कविरेव कवेर्वेत्ति कामं काव्यपरिश्रमम्। वन्ध्या स्तनंधयोत्पत्तिवेदनामिव नाकविः ॥२४॥
गृहाणेहास्ति चेद्दोषं स्वं धनं न निषिध्यते। खलासि प्रार्थितो भूयस्त्वं गुणान्न ममाग्रहीः ॥२५॥

कहनेपर ही स्वादिष्ट भोजनकी इच्छा नही करते। भावार्थ – जिस प्रकार भोजन करनेवाले पुरुष प्रिय वचनोकी अपेक्षा न कर स्वादिष्ट भोजनका ही विचार करते है उसी प्रकार धर्मात्मा लोग मेरी योग्यताकी अपेक्षा न कर केवल धर्मका ही विचार करे – धर्म समझकर ही इसे ग्रहण करे ॥ १५ ॥ अथवा इस पुराणका अग्रभाग भी नीरस नही होगा यह निश्चय है क्योकि धर्मका अग्रभाग कही किसी पुरुषने नीरस नही देखा है ॥ १६ ॥ यदि मेरे वचन स्वादिष्ट हों तो इसमे गुरुओंका ही माहात्म्य समझना चाहिए क्योंकि जो फल मीठे होते है वह वृक्षोका ही प्रभाव समझना चाहिए ॥ १७ ॥ चूँकि वचन हृदयसे निकलते है और मेरे हृदयमें गुरु विद्यमान हैं इसलिए वे मेरे वचनोमे अवश्य ही संस्कार करेंगे अर्थात् उन्हे सुधार लेगे अत मुझे इस ग्रन्थके वनानेमें कुछ भी परिश्रम नही होगा ॥ १८ ॥ इस पुराणको सुननेकी इच्छा करनेवाले भव्य जीव है, इसका अर्थ जिनेन्द्रदेवने कहा है और उसके कहनेवाले शब्द है इसलिए इसमें निन्दा (दोष) नही है ॥ १९ ॥ गुणी लोग दोपोंको भी गुणरूपसे ग्रहण करते है और दोषी लोग गुणोंको भी दोपरूपसे ग्रहण करते है, इस संसारमे सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञानका यह ऐसा ही विचित्र माहात्म्य है ॥ २० ॥ सज्जन पुरुष गुणी लोगोके गुण ग्रहण कर गुणी हो यह ठीक है परन्तु दुष्ट पुरुष अविद्यमान दोपोको ग्रहण कर दोषी हो जाते है यह आश्चर्यकी वात है ॥२१॥ इस ससारमे दुर्जन पुरुष सज्जनोंपर इच्छानुसार क्रोध करनेके योग्य है क्योकि वे उन दुष्टोके शत्रु स्वरूप, अनाथ गुणोके आश्रयभूत है। भावार्थ – चूँकि सज्जनोने दुर्जनोके शत्रुभूत, अनाथ गुणोको आश्रय दिया है इसलिए वे सज्जनोंपर यदि क्रोध करते है तो उचित ही है ॥ २२ ॥ जिस प्रकार कवीश्वर लोग अपने अनुकूल चलनेवालेकी सदा स्तुति करनेके योग्य होते है उसी प्रकार कवि भी अपने अनुकूल नही चलनेवाले मेरी निन्दा करनेके योग्य है। भावार्थ – उत्तम कवियोंके मार्गपर चलनेके कारण जहाँ वे मेरी प्रशंसा करेंगे वहाँ कुकवियोंके मार्गपर न चलनेके कारण वे मेरी निन्दा भी करेंगे ॥ २३ ॥ कवि ही कविके काव्य करनेके परिश्रमको अच्छी तरह जान सकता है, जिस प्रकार वन्ध्या स्त्री पुत्र उत्पन्न करनेकी वेदनाको नही जानती उसी प्रकार अकवि कविके परिश्रमको नही जान सकता ॥ २४ ॥ रे दुष्ट, यदि मेरे इस ग्रन्थमें दोष हों तो उन्हे तू ग्रहण कर, क्योकि वह तेरा ही धन है उसके लिए तुझे रुकावट नही है, परन्तु

१ उत्तरार्द्धम्। २ यदपि प०, ल०, म०। ३ प्रभावोऽसी अ०, प०, इ०, स०, ल०, म०। ४ गुरव। ५ श्रोतुमिच्छवः। ६ तत् कारणात्। ७ दुर्जनद्वेषिणाम्। ८ सज्जनः। आधार। ९ यत. कारणात्। १० निजानुवर्तिनम्।

गुणागुणानभिज्ञेन कृता निन्दाऽथवा स्तुतिः। जात्यन्धस्येव धृष्टस्य रूपे हासाय केवलम् ॥२६॥
अथवा सोऽनभिज्ञोऽपि निन्दतु स्तौतु वा कृतिम्। विदग्धपरिहासानामन्यथा क्वास्तु विश्रमः ॥२७॥
गणयन्ति महान्तः किं क्षुद्रोपद्रवमल्पवत्। दाह्यं तृणाशिना तूलं पत्युस्तापोऽपि नाम्भसाम् ॥२८॥
काष्ठजोऽपि दहत्यग्निः काष्ठं तं तत्तु[1] वर्द्धयेत्। प्रदीपायितमेताभ्यां[2] सदसद्भावभासने ॥२९॥
स्तुतिनिन्दे कृतिं श्रुत्वा करोतु गुणदोषयोः। ते[3] तस्य कुरुतः कीर्तिमकर्तुरपि सत्कृतेः ॥३०॥
सत्कवेरर्जुनस्येव शराः शब्दास्तु योजिताः। कर्णं दुस्संस्कृतं प्राप्य तुदन्ति हृदयं भृशम् ॥३१॥
प्रवृत्तेयं कृतिः कृत्वा गुरून् पूर्वकवीश्वरान्। भाविनोऽद्यतनाश्चास्याः[4] विदध्युः शुद्ध्यनुग्रहम् ॥३२॥
मतिर्मे केवलं सूते कृतिं राज्ञीव तत्सुताम्। धियस्तां वर्तयिष्यन्ति धात्रीकल्पाः कवीशिनाम् ॥३३॥
इदं बुधा ग्रहीष्यन्ति मा गृहीषुः पृथग्जनाः। किमतोल्यानि रत्नानि क्रीणन्त्यकृतपुण्यकाः[5] ॥३४॥
हृदि धर्ममहारत्नमागमाम्भोधिसंभवम्। कौस्तुभादधिकं मत्वा दधातु पुरुषोत्तमः[6] ॥३५॥

मै तुझसे यह फिर भी प्रार्थना करता हूँ कि तू मेरे गुणोका ग्रहण मत कर। भावार्थ – दुर्जनोंके द्वारा दोष ग्रहण किये जानेपर रचना निर्दोष हो जावेगी और निर्दोष होनेसे सबको रुचिकर होगी परन्तु गुण ग्रहण किये जानेपर वह निर्गुण हो जानेसे किसीको रुचिकर नही होगी अतः यहाँ आचार्यने दुर्जन पुरुषसे कहा है कि तू मेरी इस रचनाके दोष ग्रहण कर क्योंकि वह तेरा धन है परन्तु गुणोपर हाथ नही लगाना ॥ २५ ॥ जिस प्रकार जन्मके अन्धे किसी धृष्ट पुरुषके द्वारा की हुई किसीके रूपकी स्तुति या निन्दा उसकी हँसीके लिए होती है उसी प्रकार गुण और दोषोंके विषयमें अजानकार पुरुषके द्वारा की हुई स्तुति या निन्दा केवल उसकी हँसीके लिए होती है ॥ २६ ॥ अथवा वह अजानकार मनुष्य भी मेरी रचनाकी निन्दा या स्तुति करे क्योकि ऐसा न करनेसे चतुर पुरुषोंको हास्यका स्थान कहाँ प्राप्त होगा। भावार्थ – जो मनुष्य उस विषयका जानकार न होकर भी किसीकी निन्दा या स्तुति करता है चतुर मनुष्य उसकी हँसी ही करते हैं ॥ २७ ॥ महापुरुष क्या तुच्छ मनुष्योंके समान छोटे-छोटे उपद्रवोंको गिना करते है ? अर्थात् नही। तृणकी आगसे रुई जल सकती है परन्तु उससे समुद्रके जलको सन्ताप नही हो सकता ॥२८॥ काठसे उत्पन्न हुई अग्नि काठको जला देती है परन्तु काठ उसे बढाता ही है, ये दोनो उदाहरण अच्छे और बुरे भावोंको प्रकट करनेके विषयमे दीपकके समान आचरण करते है ॥२९॥ दुष्ट पुरुष मेरी रचनाको सुनकर गुणोकी स्तुति और दोषोंकी निन्दा करे क्योकि यद्यपि वे उत्तम रचना करना नही जानते तथापि मेरी रचनाकी स्तुति अथवा निन्दा ही उनकी कीर्तिको करनेवाली होगी ॥ ३० ॥ उत्तम कविके वचन ठीक अर्जुनके बाणोके समान होते है क्योकि जिस प्रकार अर्जुनके बाण काममे लानेपर खोटे सस्कारवाले कर्ण (कर्ण नामका राजा) को पाकर उसके हृदयको दुःख पहुँचाते थे उसी प्रकार उत्तम कविके वचन काममें लानेपर खोटे सस्कारवाले कर्ण (श्रवण इन्द्रिय) को पाकर हृदयको अत्यन्त दुःख पहुँचाते है ॥३१॥ पहलेके कवीश्वरोंको गुरु मानकर ही यह रचना की गयी है इसलिए जो कवि आज विद्यमान है अथवा आगे होगे वे सब इसे शुद्ध करनेकी कृपा करे ॥ ३२ ॥ जिस प्रकार रानी किसी उत्तम कन्याको केवल उत्पन्न करती है उसका पालन-पोषण धाय करती है उसी प्रकार मेरी बुद्धि इस रचनाको केवल उत्पन्न कर रही है इसका पालन-पोषण धायके समान कवीश्वरो-की बुद्धि ही करेगी ॥ ३३ ॥ मेरे इस काव्यको पण्डितजन ही ग्रहण करेगे अन्य मूर्ख लोग भले ही ग्रहण न करे क्योकि जिन्होने पुण्य नही किया है ऐसे दरिद्र पुरुष क्या अमूल्य रत्नोको खरीद सकते है ? अर्थात् नही ॥ ३४ ॥ पुरुषोत्तम (नारायण अथवा उत्तम मनुष्य) आगमरूपी

१ काष्ठम्। २ अग्निकाष्ठाभ्याम्। ३ स्तुतिनिन्दे। ४ कृतेः। ५ आददति। ६ कृष्ण इति ध्वनि.।

श्रोत्रपात्राञ्जलिं कृत्वा पीत्वा धर्मरसायनम् । अजरामरतां प्राप्तुमुपयुन्ध्वमिदं[1] बुधाः ॥३६॥
नूनं पुण्यं पुराणाब्धेर्मध्यमध्यासितं मया । तत्सुभाषितरत्नानि संचितानीति निश्चितिः ॥३७॥
सुदूरपारगम्भीरमिति नात्र भयं मम । पुरोगा गुरवः सन्ति प्रष्ठाः सर्वत्र दुर्लभाः ॥३८॥
पुराणस्यास्य संसिद्धिर्नाम्ना स्वेनैव सूचिता । निर्वक्ष्याम्यत्र नो वेत्ति ततो नास्म्यहमाकुलः ॥३९॥
पुराणं मार्गमासाद्य जिनसेनानुगा ध्रुवम् । भवाब्धेः पारमिच्छन्ति पुराणस्य किमुच्यते ॥४०॥
अर्थो मनसि जिह्वाग्रे शब्दः सालंकृति[3] स्तयोः[4] । अतः पुराणसंसिद्धेर्नास्ति कालविलम्बनम् ॥४१॥
आकरेष्विव रत्नानामूहानां नाशये क्षयः । विचित्रालंकृतीः[5] कर्तुं दौर्गत्यं किं कवेः कृतीः[6] ॥४२॥
विचित्रपदविन्यासा रसिका सर्वसुन्दरा[7] । कृतिः सालंकृतिर्न स्यात् कस्येयं कामसिद्धये ॥४३॥
संचितस्यैनसो हन्त्री[8] नियन्त्री[9] चागमिष्यतः । आमन्त्रिणी[10] च पुण्यानां ध्यातव्येयं कृतिः शुभा ॥४४॥

समुद्रसे उत्पन्न हुए इस धर्मरूपी महारत्नको कौस्तुभ मणिसे भी अधिक मानकर अपने हृदयमें धारण करें ॥३५॥ पण्डितजन कामरूपी पात्रकी अंजलि बना इस धर्मरूपी रसायनको पीकर अजर अमरपना प्राप्त करनेके लिए उद्यम करें ॥३६॥ मुझे यह निश्चय है कि मैंने अवश्य ही इस पुराणरूपी समुद्रके पवित्र मध्यभागमे अधिष्ठान किया है और उससे सुभाषित-रूपी रत्नोंका संचय किया है ॥३७॥ यह पुराणरूपी समुद्र अत्यन्त गम्भीर है, इसका किनारा वहुत दूर है इस विपयका मुझे कुछ भी भय नही है क्योंकि सब जगह दुर्लभ और सबमे श्रेष्ठ गुरु जिनसेनाचार्य मेरे आगे है ॥३८॥ इस पुराणकी सिद्धि अपने महापुराण इस नामसे ही सूचित है इसलिए मै इसे कह सकूँगा अथवा इसमे निर्वाह पा सकूँगा या नही इसकी मुझे कुछ भी आकुलता नही है ॥३९॥ जिनसेनाचार्यके अनुगामी शिष्य प्रशस्त मार्गका आलम्बन कर अवश्य ही संसाररूपी समुद्रसे पार होनेकी इच्छा करते है फिर इस पुराणके पार होनेकी वात तो कहना ही क्या है ? भावार्थ–जिनसेनाचार्यके द्वारा वतलाये हुए मार्गका अनुसरण करनेसे जब ससाररूपी समुद्रका पार भी प्राप्त किया जा सकता है तब पुराणका पार (अन्त) प्राप्त करना क्या कठिन है ? ॥४०॥ अर्थ मनमें है, शब्द जिह्वाके अग्रभागपर है और उन दोनोके अलंकार प्रसिद्ध है ही अत इस पुराणकी सिद्धि (पूर्ति) होनेमें समयका विलम्ब नही है अर्थात् इसकी रचना शीघ्र ही पूर्ण होगी ॥४१॥ जिस प्रकार खानिमे रत्नोंकी कमी नही है उसी प्रकार जिसके मनमे तर्क अथवा पदार्थोकी कमी नही है फिर भला जिसमे अनेक प्रकारके अलकार है ऐसे काव्यके वनानेवाले कविको दरिद्रता किस वातकी है ? ॥४२॥ मेरी यह रचना अत्यन्त सुन्दरी स्त्रीके समान है क्योंकि जिस प्रकार सुन्दर स्त्री विचित्र पदन्यासा अर्थात् अनेक प्रकारसे चरण रखनेवाली होती है उसी प्रकार यह रचना भी विचित्र पदन्यासा अर्थात् अनेक प्रकारके सुवन्त तिङन्त रूप पद रखनेवाली है, जिस प्रकार सुन्दर स्त्री रसिका अर्थात् रसीली होती है उसी प्रकार यह रचना भी रसिका अर्थात् अनेक रसोसे भरी हुई है, और जिस प्रकार सुन्दर स्त्री सालकारा अर्थात् कटक कुण्डल आदि आभूपणोसे सहित होती है उसी प्रकार यह रचना भी सालंकारा अर्थात् उपमा रूपक आदि अलंकारोसे सहित है। इस प्रकार मेरी यह रचना सुन्दरी स्त्रीके समान भला किसके मनोरथकी सिद्धिके लिए न होगी ? भावार्थ–इसके पढनेसे सबके मनोरथ पूर्ण होगे ॥४३॥ यह शुभ रचना पहलेके संचित पापोको नष्ट

१ उपयुञ्जीध्वम् । २ प्रसिद्धा । ३ अलङ्कारश्च जिह्वाग्रे वर्तते । ४ शब्दार्थयो । ५ –लङ्कृते कर्तुर्दौर्गत्य अ०, प०, ल०, म० । –लङ्कृतेः कर्तुं दौर्गत्य इ०, स० । ६ कृते. अ०, प०, ल०, म०, इ०, स० । ७ –सुन्दरी ल०, म० । ८ विनाशिनी । ९ प्रतिपेद्धी । १० आमन्त्रणी स० ।

संस्कृतानां[1] हिते[2] प्रीतिः प्राकृतानां[3] प्रियं[4] प्रियम्[5]। एतद्धितं[6] प्रियं चातः सर्वान् सन्तोषयत्यलम् ॥४५॥
इदं निष्पन्नमेवात्र स्थितमेवायुगान्तरम्। इत्याविर्भावितोत्साहः प्रस्तुवे[7] प्रस्तुतां कथाम् ॥४६॥

इति पीठिका।

अथातः श्रेणिकः पीत्वा पुरोः[8] सुचरितामृतम्। आसिस्वादयिषुः[9] शेषं[10] हस्तलग्नमिवोत्सुकः ॥४७॥
समुत्थाय सभामध्ये प्राञ्जलिः प्रणतो मनाक्[11]। पुनर्विज्ञापयामास गौतमं गणनायकम् ॥४८॥
त्वत्प्रसादाच्छ्रुतं सम्यक्पुराणं परमं पुरोः। निर्वृतोऽसौ यथास्यान्ते तथाहं चातिनिर्वृतः[12] ॥४९॥
किल तस्मिन् जयो नाम तीर्थेऽभून् पार्थिवाग्रणीः। [13]यस्याद्यापि जितार्कस्य प्रतापः प्रथते क्षितौ ॥५०॥
यस्य दिग्विजये मेघकुमारविजये स्वयम्। वीरपट्टं समुद्धृत्य बबन्ध भरतेश्वरः ॥५१॥
पुरस्तीर्थकृतां पूर्वश्चक्रिणां भरतेश्वरः। दानतीर्थकृतां श्रेयान् किलासौ[14] च स्वयंवरे ॥५२॥
अर्ककीर्तिं पुरोः पौत्रं[15] संगरे कृतसंगरः[16]। जित्वा निगलयामास[17] किलैकाकी सहेलया ॥५३॥
सेनान्तो वृषभः कुम्भो रथान्तो दृढसंज्ञकः। धनुरन्तः शतो देवशर्मा भावान्तदेवभाक् ॥५४॥
नन्दनः सोमदत्ताह्वः सूरदत्तो गुणैर्गुरुः। वायुशर्मा यशोबाहुर्देवाग्निश्चाग्निदेववाक् ॥५५॥
अग्निगुप्तोऽथ मित्राग्निर्हलभृत समहीधरः। महेन्द्रो वसुदेवश्च ततः पश्चाद्वसुन्धरः ॥५६॥

करनेवाली है, आनेवाले पापोंको रोकनेवाली है और पुण्योंको बुलानेवाली है इसलिए इसका सदा ध्यान करते रहना चाहिए ॥४४॥ उत्तम मनुष्योंकी हितमें प्रीति होती है और साधारण मनुष्यको जो इष्ट है वही प्रिय होता है, यह पुराण हितरूप भी है और प्रिय भी है अतः सभी-को अच्छी तरह सन्तुष्ट करता है ॥४५॥ यह तैयार हुआ पुराण अवश्य ही इस संसारमें युगान्तर तक स्थिर रहेगा इस प्रकार जिसे उत्साह प्रकट हुआ है ऐसा मैं अब प्रकृत कथाका प्रारम्भ करता हूँ ॥४६॥ (इस प्रकार पीठिका समाप्त हुई।)

अथानन्तर–राजा श्रेणिक भगवान् वृषभदेवके उत्तम चरितरूपी अमृतको पीकर हाथमें लगे हुए की तरह उसके शेष भागको भी आस्वादन करनेकी इच्छा करता हुआ अत्यन्त उत्कण्ठित हो उठा ॥४७॥ उसने सभाके बीचमें खड़े होकर हाथ जोड़े, कुछ शिर झुकाकर नमस्कार किया और फिर गौतम गणधरसे इस प्रकार प्रार्थना की कि हे भगवान्, मैंने आपके प्रसादसे श्री वृषभदेवका यह उत्कृष्ट पुराण अच्छी तरह श्रवण किया है। जिस प्रकार भगवन् वृषभदेव इस पुराणके अन्तमें निर्वाणको प्राप्त होकर सुखी हुए हैं उसी प्रकार मैं भी इसे सुनकर अत्यन्त सुखी हुआ हूँ। ऐसा सुना जाता है कि भगवान् वृषभदेवके तीर्थमें सब राजाओंमे श्रेष्ठ जयकुमार नामका वह राजा हुआ था, जिसने अर्ककीर्तिको भी जीता था और जिसका प्रताप आज भी पृथिवीपर प्रसिद्ध है। दिग्विजयके समय मेघकुमारको जीत लेनेपर जिसके लिए स्वयं महाराज भरतने वीरपट्ट निकालकर बाँधा था, जिस प्रकार तीर्थंकरोमें वृषभदेव, चक्रवर्तियोंमें सम्राट् भरत और दान तीर्थकी प्रवृत्ति करनेवालोंमे राजा श्रेयास सर्वप्रथम हुए है उसी प्रकार जो स्वयंवरकी विधि चलानेमें सर्वप्रथम हुआ है, जिसने युद्धमें प्रतिज्ञा कर श्री वृषभदेवके पोते अर्ककीर्त्तिको अकेले ही लीलामात्रमें जीतकर बाँध लिया था तथा वृषभसेन १, कुम्भ २, दृढरथ ३, शतधनु ४, देवशर्मा ५, देवभाव ६, नन्दन ७, सोमदत्त ८, गुणोसे श्रेष्ठ सूरदत्त ९, वायुशर्मा १०, यशोबाहु ११, देवाग्नि १२, अग्निदेव १३, अग्निगुप्त १४, मित्राग्नि १५, हलभृत् १६,

---

१ उत्तमपुरुषाणाम्। २ परिणमनसुखावधे। ३ साधारणानाम्। ४ आपातरमणीयम्। अनुभवनकाले सुन्दर-मित्यर्थ.। ५ इष्टम्। ६ पुराणम्। ७ प्रारम्भे। ८ वृषभस्य। ९ आस्वादयितुमिच्छु.। १० हस्तालग्न–अ०, प०, ल०, म०। ११ ईषत्। १२ अतिसुखी। १३ जयस्य। १४ जयकुमारः। १५ नप्तारम्। १६ कृत-प्रतिज्ञः। १७ बबन्ध।

अचलो मेरुसंज्ञश्च ततो मेरुधनाह्वयः । मेरुभूतिर्यशोयज्ञप्रान्तसर्वाभिधानकौ[1] ॥५७॥
सर्वगुप्तः प्रियप्रान्तसर्वो देवान्तसर्ववाक् । सर्वादिविजयो गुप्तो विजयादिस्ततः परः ॥५८॥
विजयमित्रो विजयिलोऽपराजितसंज्ञकः । वसुमित्रः सविश्वादिसेनः सेनान्तसाधुवाक् ॥५९॥
देवान्तसत्यः सत्यान्तदेवो गुप्तान्तसत्यवाक् । सत्यमित्रः सतां ज्येष्ठः संमितो निर्मलो गुणैः ॥६०॥
विनीतः संवरो गुप्तो मुन्यादिर्मुनिदत्तवाक् । मुनियज्ञो मुनिर्देवप्रान्तो यज्ञान्तगुप्तवाक् ॥६१॥
मित्रयज्ञः स्वयम्भूश्च देवदत्तान्तगौ[2] भगौ । भगादिफल्गुः फल्गुवन्तगुप्तो मित्रादिफल्गुकः ॥६२॥
प्रजापतिः सर्वसन्धो वरुणो धनपालकः । मघवान् राश्यन्ततेजो महावीरो महारथः ॥६३॥
विशालाक्षो महाबालः शुचिसालस्ततः परः । वज्रश्च वज्रसारश्च चन्द्रचूलसमाह्वयः ॥६४॥
जयो महारसः कच्छमहाकच्छावतुच्छकौ । नमिर्विनमिरन्यौ च बलातिबलसंज्ञकौ ॥६५॥
बलान्तभद्रो नन्दी च महाभागी परस्ततः । मित्रान्तनन्दी देवान्तकामोऽनुपमलक्षण ॥६६॥
चतुर्भिरधिकाशीतिरिति स्पष्टर्गणाधिपाः । एते सप्तर्द्धिसंयुक्ताः सर्वे वेद्यनुवादिनः[3] ॥६७॥
स एवासीद् गृहत्यागादेतेष्वभ्युदितोदितः[4] । एकसप्तति संख्यानसंप्राप्तगणनो गणी[5] ॥६८॥
पुराणं तस्य[7] मे ब्रूहि महत्तत्रास्ति कौतुकम् । भव्यचातकवृन्दस्य प्रवणो[8] भगवानिति ॥६९॥
ततः स्वस्य समालक्ष्य[9] गणाधीशादनुग्रहम् । अलञ्चकार स्वस्थानमिङ्गितज्ञा हि धीधनाः ॥७०॥
यत्प्रष्टुमिष्टमस्माभिः पृष्टं शिष्ट त्वयैव तत् । चेतो जिह्वा त्वमस्माकमित्यस्तावीत्[10] सभा च तम् ॥७१॥

प्रसिद्ध महीधर १७, महेन्द्र १८, वसुदेव १९, उसके अनन्तर वसुन्धर २०, अचल २१, मेरु २२, तदनन्तर मेरुधन २३, मेरुभूति २४, सर्वयश २५, सर्वयज्ञ २६, सर्वगुप्त २७, सर्वप्रिय २८, सर्वदेव २९, सर्वविजय ३०, विजयगुप्त ३१, फिर विजयमित्र ३२, विजयिल ३३, अपराजित ३४, वसुमित्र ३५, प्रसिद्ध विश्वसेन ३६, साधुसेन ३७, सत्यदेव ३८, देवसत्य ३९, सत्यगुप्त ४०, सत्पुरुषोमे श्रेष्ठ सत्यमित्र ४१, गुणोसे युक्त निर्मल ४२, विनीत ४३, संवर ४४, मुनिगुप्त ४५, मुनिदत्त ४६, मुनियज्ञ ४७, मुनिदेव ४८, गुप्तयज्ञ ४९, मित्रयज्ञ ५०, स्वयंभू ५१, भगदेव ५२, भगदत्त ५३, भगफल्गु ५४, गुप्तफल्गु ५५, मित्रफल्गु ५६, प्रजापति ५७, सर्वसंघ ५८, वरुण ५९, धनपालक ६०, मघवान् ६१, तेजोराशि ६२, महावीर ६३, महारथ ६४, विशालाक्ष ६५, महावाल ६६, शुचिशाल ६७, फिर वज्र ६८, वज्रसार ६९, चन्द्रचूल ७०, जय ७१, महारस ७२, अतिशय श्रेष्ठ कच्छ ७३, महाकच्छ ७४, नमि ७५, विनमि ७६, वल ७७, अतिवल ७८, भद्रवल ७९, नन्दी ८०, फिर महाभागी ८१, नन्दिमित्र ८२, कामदेव ८३ और अनुपम ८४। इस प्रकार भगवान् वृषभदेवके ये ८४ गणधर थे, ये सभी सातों ऋद्धियोंसे सहित थे और सर्वज्ञ देवके अनुरूप थे। इन चौरासी गणधरोमे जो घरका त्याग कर अत्यन्त प्रभावशाली, गुणवान् और इकहत्तरवी सख्याको प्राप्त करनेवाला अर्थात् इकहत्तरवाँ गणधर हुआ था, उन्ही जयकुमारका पुराण मुझे कहिए क्योकि उसमें वहुत भारी कौतुक है। आप भव्यजीवरूपी चातक पक्षियोके समूहके लिए उत्तम मेघके समान है ॥ ४८–६९ ॥

तदनन्तर गणधरदेवसे अपना अनुग्रह जानकर राजा श्रेणिक अपने स्थानको अलकृत करने लगा अर्थात् अपने स्थानपर जा वैठा सो ठीक ही है क्योकि बुद्धिमान् पुरुष सकेतको जाननेवाले होते है ॥ ७० ॥ 'हे शिष्ट' जिसे हम लोग पूछना चाहते थे वही तूने पूछा है इसलिए

---

१ सर्वयशाः सर्वयज्ञाः । २ देवदत्तभगदत्तौ । ३ सर्वज्ञसदृशः । ४ पर्यभ्युदयवान् । प्रतिष्ठित इत्यर्थः । ५ एतेषु चतुरशीतिगणधरदेवेष्वेकसप्ततिसंख्या प्राप्तगणना । ६ गुणी ल०, म० । ७ जयस्य । ८ प्रकृष्टमेघ इति विज्ञापयामास । ९ ज्ञात्वेत्यर्थः । १० स्तुतिमकरोत् ।

गणी तेनेति संपृष्टः प्रवृत्तस्तदनुग्रहे । नार्थिनो विमुखान् सन्तः कुर्वन्ते तद्धि तद्व्रतम् ॥७२॥
शृणु श्रेणिक संप्रश्नस्त्वयात्रावसरे कृतः । नाराधयन्ति[1] कान्वाते[2] सन्तोऽवसरवेदिनः ॥७३॥
कथामुखम्
इह जम्बूमति द्वीपे दक्षिणे भरते महान् । वर्णाश्रमसमाकीर्णो देशोऽस्ति कुरुजाङ्गलः ॥७४॥
धर्मार्थकाममोक्षाणामेको लोकेऽयमाकरः । भाति स्वर्ग इव स्वर्गे विमानं [3]वाऽमरेशितुः ॥७५॥
हास्तिनाख्यं पुरं तत्र विचित्रं सर्वसंपदा । संभवं[4] मृषयद्वार्धौ[5] लक्ष्म्याः[6] कुलगृहायितम् ॥७६॥
पतिः पतिर्वा ताराणामस्य सोमप्रभोऽभवत् । कुर्वन्[7] कुवलयाह्लादं सत्करैः स्वैर्बुधाश्रयः[8] ॥७७॥
तस्य लक्ष्मीमनाक्षिप्य[9] वक्षःस्थलनिवासिनी । लक्ष्मीरियं द्वितीयेति प्रेक्ष्या[10] लक्ष्मीवती सती[11] ॥७८॥
तयोर्जयोऽभवत् सूनुः प्रज्ञाविक्रमयोरिव । तन्वन्नाजन्मनः[12] कीर्तिं लक्ष्मीमिव गुणार्जिताम् ॥७९॥
सुताश्चतुर्दशास्यान्ये जज्ञिरे विजयादयः । गुणैर्मनून् व्यतिक्रान्ताः संख्यया [13]सदृशोऽपि ते ॥८०॥
प्रवृद्धनिजचेतोभिस्तैः पञ्चदशभिर्भृशम् । कान्तैः कलाविशेषैर्वा[14] राजराजो रराज सः ॥८१॥

तू ही हमारा मन है और तू ही मेरी जीभ है' इस प्रकार समस्त सभाने उसकी प्रशंसा की थी ॥ ७१ ॥ राजा श्रेणिकके द्वारा इस प्रकार पूछे गये गौतम गणधर उसका अनुग्रह करनेके लिए तत्पर हुए सो ठीक ही है क्योकि सज्जन पुरुष याचकोंको विमुख नही करते, निश्चयसे यही उनका व्रत है ॥ ७२ ॥ गौतम स्वामी कहने लगे कि हे श्रेणिक ! सुन, तूने यह प्रश्न अच्छे अवसरपर किया है अथवा यह ठीक है कि अवसरको जाननेवाले सत्पुरुष अन्तमें किसको वश नही कर लेते ॥ ७३ ॥

इस जम्वू द्वीपके दक्षिण भरतक्षेत्रमे वर्ण और आश्रमोसे भरा हुआ कुरुजांगल नामका वडा भारी देश है ॥ ७४ ॥ संसारमे यह देश धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारो पुरुपार्थोकी एक खान है। तथा यह देश स्वर्गके समान है अथवा स्वर्गमें भी इन्द्रके विमानके समान है ॥ ७५ ॥ उस देशमे हस्तिनापुर नामका एक नगर है जो कि सव प्रकारकी सम्पदाओसे वडा ही विचित्र है तथा जो समुद्रमे लक्ष्मीकी उत्पत्तिको झूठा सिद्ध करता हुआ उसके कुलगृहके समान जान पड़ता है ॥ ७६ ॥ उस नगरका राजा सोमप्रभ था जो कि ठीक चन्द्रमाके समान जान पडता था क्योंकि जिस प्रकार चन्द्रमा अपने उत्तम कर अर्थात् किरणोसे कुवलय अर्थात् कुमुदोको आनन्दित-विकसित करता हुआ वुध अर्थात् वुध ग्रहके आश्रित रहता है उसी प्रकार वह राजा भी अपने उत्तम कर अर्थात् टैक्ससे कुवलय अर्थात् महीमण्डलको आनन्दित करता हुआ वुध-अर्थात् विद्वानोके आश्रयमे रहता था ॥७७॥ उस राजाकी लक्ष्मीवती नामकी अत्यन्त सुन्दरी पतिव्रता स्त्री थी जो कि ऐसी जान पड़ती थी मानो उसकी लक्ष्मीका तिरस्कार न कर वक्ष.स्थलपर निवास करनेवाली दूसरी ही लक्ष्मी हो ॥ ७८ ॥ जिस प्रकार वुद्धि और पराक्रम-से जय अर्थात् विजय उत्पन्न होती है उसी प्रकार उन लक्ष्मीमती और सोमप्रभके जय अर्थात् जयकुमार नामका पुत्र उत्पन्न हुआ जो कि जन्मसे ही गुणों-द्वारा उपार्जन की हुई लक्ष्मी और कीर्तिको विस्तृत कर रहा था ॥ ७९ ॥ राजा सोमप्रभके विजयको आदि लेकर और भी चौदह पुत्र उत्पन्न हुए थे जो कि सख्यामे समान होनेपर भी गुणोके द्वारा कुलकरोंको उल्लंघन कर रहे थे ॥ ८० ॥ जिस प्रकार अतिशय सुन्दर विशेष कलाओसे चन्द्रमा सुशोभित होता है उसी

१ स्वाधीनान् कुर्वन्ति । २ कान्वैते अ०, स० । कान्वान्ते ल०, म० । ३ इव । ४ उत्पत्तिम् । ५ अनृतं कुर्वत् । ६ अयं लक्ष्मीशब्द सम्भव कुलगृहायितमित्युभत्रापि योजनीयः । ७ कुवलयानन्दं कैरवानन्दं च । ८ विद्वज्जनाश्रयः । सोमसुताश्रयश्च । ९ तिरस्कारमकृत्वा । १० दर्शनीया । ११ पतिव्रता । १२ जननकालात् प्रारभ्य । – जन्मत ल०, म० । १३ मनुभि. समाना अपि । १४ वा राजा राजा इत्यपि पाठ. । चन्द्र इव ।

राजा राजप्रभो[1] लक्ष्मीमती देवी प्रियानुजः । श्रेयान् ज्यायान् जयः पुत्रस्तद्राज्यं पूज्यते न कैः ॥८२॥
स पुत्रविटपाटोप.[2] सोमकल्पाङ्घ्रिपश्चिरम् । भोग्यः संभृतपुण्यानां स्वस्य चाभूत्तदद्भुतम् ॥८३॥
अथान्यदा जगत्कामभोगबन्धून् विधुप्रभः[3] । अनित्याशुचिदुःखान्यान्मत्वा याथात्म्यवीक्षणः[4] ॥८४॥
विरज्य राज्यं संयोज्य [5]धुर्ये शौर्योर्जिते जये । [6]अजर्यादार्यवी[7]र्यादिप्राज्यराज्यसमुत्सुकः[8] ॥८५॥
अभ्येत्य वृषभाभ्याशं[9] दीक्षित्वा मोक्षमन्वभूत् । श्रेयसा[10] सह [11]नार्पत्यमनुजेन यथा पुरा[12] ॥८६॥
पितुः पदमधिष्ठाय[13] जयोऽतापि[14] महीं महान् । महतोऽनुभवन् भोगान् संविभज्यानुजैः समम्[15] ॥८७॥
एकदाऽयं विहारार्थं बाह्योद्यानमुपागतः । तत्रासीनं समालोक्य शीलगुप्तं[16] महामुनिम् ॥८८॥
त्रिःपरीत्य नमस्कृत्य नुत्वा भक्तिभरान्वितः । श्रुत्वा धर्मं तमापृच्छ्य प्रीत्या प्रत्यविशत् पुरीम् ॥८९॥
तस्मिन् वने वसन्नागमिथुनं सह भूभुजा । श्रुत्वा धर्मं सुधां मत्वा पपौ प्रीत्या दयारसम् ॥९०॥
कदाचित् प्रावृडारम्भे प्रचण्डाशनिताडितः । मृत्वाऽसौ शान्तिमादाय नागो नागामरोऽभवत् ॥९१॥

प्रकार अपने तेजको वढानेवाले, अतिशय सुन्दर और विशेप कलाओको धारण करनेवाले उन पन्द्रह पुत्रोंसे राजाधिराज सोमप्रभ सुशोभित हो रहे थे ॥८१॥ जिस राज्यका राजा सोमप्रभ था, लक्ष्मीमती रानी थी, प्रिय छोटा भाई श्रेयांस था और वड़ा राजपुत्र जयकुमार था भला वह राज्य किसके द्वारा पूज्य नही होता ? ॥८२॥ जिसपर पुत्ररूपी शाखाओका विस्तार है ऐसा वह राजा सोमप्रभरूपी कल्पवृक्ष, पुण्य संचय करनेवाले अन्य पुरुपोंको तथा स्वयं अपने-आपको भोग्य था यह आश्चर्यकी वात है। भावार्थ–पुत्रो-द्वारा वह स्वयं सुखी था तथा अन्य सव लोग भी उनसे सुख पाते थे ॥८३॥

अथानन्तर किसी समय, पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको जाननेवाले राजा सोमप्रभ संसार, शरीर, भोग और भाइयोको क्रमश' अनित्य, अपवित्र, दु खस्वरूप और अपनेसे भिन्न मानकर विरक्त हुए तथा कभी नष्ट न होनेवाले अनन्त वीर्य आदि गुणोसे श्रेष्ठ मोक्षरूपी राज्यके पानेमे उत्सुक हो, शूरवीर तथा धुरन्धर जयकुमारको राज्य सौपकर भगवान् वृपभदेवके समीप गये और वहाँ अपने छोटे भाई श्रेयासके साथ दीक्षा लेकर मोक्षमुखका अनुभव करने लगे। जिस प्रकार वे पहिले यहाँ अपने छोटे भाईके साथ राज्यसुखका उपभोग करते थे उसी प्रकार मोक्षमे भी अपने छोटे भाईके साथ वहाँका सुख उपभोग करने लगे। भावार्थ–दोनो भाई मोक्षको प्राप्त हुए ॥८४–८६॥ इधर श्रेष्ठ जयकुमार पिताके पदपर आसीन होकर पृथिवीका पालन करने लगा। और अपने बडे भारी भोगोपभोगोको वाँटकर छोटे भाइयोंके साथ-साथ उनका अनुभव करने लगा ॥८७॥ एक दिन वह जयकुमार क्रीड़ा- करनेके लिए नगरके वाहर किसी उद्यानमें गया। उसने वहाँ विराजमान शीलगुप्त नामके महामुनिके दर्शन कर उनकी तीन प्रदक्षिणाएँ दी, वड़ी भारी भक्तिके साथ-साथ नमस्कार किया, स्तुति की, 'प्रीतिपूर्वक धर्म सुना और फिर उनसे आज्ञा लेकर नगरको वापिस लौटा ॥८८–८९॥ उसी वनमे साँपोका एक जोड़ा रहता था उसने भी राजाके साथ-साथ धर्म श्रवणकर उसे अमृत मान वड़े प्रेमसे दयारूपी रसका पान किया था ॥९०॥ किसी समय वर्षाऋतुके प्रारम्भमे प्रचण्ड वज्रके पड़नेसे उस जोडेमे-का वह सर्प शान्तिधारण कर मरा जिससे नागकुमार जातिका देव हुआ ॥९१॥

---

१ सोमप्रभः। २ शाखातिशय'। ३ सोमप्रभ.। ४ यथात्मस्वरूपदर्शी। ५ धुरन्धरे। ६ अक्षय्य। ७ महत्त्व। ८ प्रकृष्टराज्योत्कण्ठित इत्यर्थ'। ९ समीपम्। १० निजानुजेन। ११ नृपतित्वम्। १२ राज्यकाले यथा। १३ आश्रित्य। १४ पालयति स्म। १५ सह ल०, म०। १६ –गुप्तमहा–ल०, म०।

अन्येद्युरिभमारुह्य पुनस्तद्वनमापतत्[1] । नागीं[2] श्रुतवतीं[3] धर्मं राजाऽत्रैव सहात्मना ॥९२॥
वीक्ष्य काकोदरेणामा[4] जातकोपो विजातिना । लीलानीलोत्पलेनाहन्[5] दम्पती तौ धिगित्यसौ ॥९३॥
पलायमानौ पाषाणैः काष्ठैर्लोष्ठैः पदातयः । अघ्नन्[6] सर्वे न को वाऽत्र दुश्चरित्राय कुप्यति[7] ॥९४॥
पापः स तद्व्रणैर्मृत्वा वेदनाकुलधीस्तदा । नाम्नाऽजायत गङ्गायां कालीति जलदेवता ॥९५॥
संजातानुशया साऽपि धृत्वा धर्मं हृदि स्थिरम् । भूत्वा प्रिया स्वनागस्य[8] राज्ञा[9] स्वमृतिमब्रवीत् ॥९६॥
नागामरोऽपि तां पश्यन् कोपादेवममन्यत । दर्पात्तेन[10] खलेनैषा वराकी[11] हा हता वृथा ॥९७॥
विधवेति विवेदाधीर्नैक्षं मामिमं धवम्[12] । [13]न तत्प्राणान् हरे यावद् भुजङ्गः केन वाऽस्म्यहम् ॥९८॥
इत्यतोऽसौ[14] दिदङ्क्षुस्तं जयं तद्गृहमासदत् । न सहन्ते ननु स्त्रीणां तिर्यञ्चोऽपि पराभवम् ॥९९॥
[15]वासगेहे जयो रात्रौ श्रीमत्याः[16] कौतुकं प्रिये । शृण्वेकं दृष्टमित्याख्यत् तद्भुजङ्गीविचेष्टितम् ॥१००॥
[17]आभिजात्यं वयो रूपं विद्यां वृत्तं यशः श्रियम् । विभुत्वं विक्रमं कान्तिमैहिकं पारलौकिकम् ॥१०१॥
प्रीतिमप्रीतिमादेयमनादेयं कृपां त्रपाम् । हानिं वृद्धिं गुणान् दोषान् गणयन्ति न योषितः ॥१०२॥
धर्मः कामश्च[18] सञ्चेयो वित्तेनायं तु सत्पथः । क्षीणन्त्यर्थं स्त्रियस्ताभ्यां[19] धिक् तासां वृद्धगृध्नुताम्[20] ॥१०३॥

किसी दूसरे दिन वही राजा जयकुमार हाथीपर सवार होकर फिर उसी वनमे गया और वहाँ अपने साथ-साथ मुनिराजसे धर्म श्रवण करनेवाली सर्पिणीको काकोदर नामके किसी विजातीय सर्पके साथ देखकर बहुत ही कुपित हुआ तथा उन दोनों सर्प सर्पिणीको धिक्कार देकर क्रीड़ाके नील कमलसे उन दोनोंका ताड़न किया ॥९२–९३॥ वे दोनों वहाँसे भागे किन्तु पैदल चलनेवाले सेनाके सभी लोग भागते हुए उन दोनोंको लकड़ी तथा ढेलोंसे मारने लगे सो उचित ही है क्योंकि इस ससारमे दुराचारी पुरुषोंपर कौन क्रोध नही करता है ? ॥९४॥ उन घावोके द्वारा दुःखसे व्याकुल हुआ वह पापी सर्प उसी समय मरकर गंगा नदीमे काली नामका जलदेवता हुआ ॥९५॥ जिसे भारी पश्चात्ताप हो रहा है ऐसी वह सर्पिणी हृदयमें निश्चल धर्मको धारण कर मरी और मरकर अपने पहलेके पति नागकुमारदेवकी स्त्री हुई । वहाँ जाकर उसने उसे राजाके द्वारा अपने मरणकी सूचना दी ॥९६॥ वह नागकुमार देव भी उसे देखकर क्रोधसे ऐसा मानने लगा कि इस दुष्ट राजाने अहंकारसे इस वेचारी सर्पिणीको व्यर्थ ही मार दिया ॥९७॥ उस मूर्खने इसे विधवा जाना, यह न जाना कि इसका मेरा जैसा पति है इसलिए मैं जबतक उसका प्राण हरण न करूँ तबतक सर्प (नागकुमार) कैसे कहला सकता हूँ ? ऐसा सोचता हुआ वह नागकुमार जयकुमारको काटनेकी इच्छासे शीघ्र ही उसके घर आया सो ठीक ही है क्योंकि तिर्यञ्च भी स्त्रियोका पराभव सहन नही कर सकते हैं ॥९८–९९॥ जयकुमार रात्रिके समय शयनागारमे अपनी रानी श्रीमतीसे कह रहा था कि हे प्रिये, आज मैंने एक कौतुक देखा है उसे सुन, ऐसा कहकर उसने उस सर्पिणीकी सब कुचेष्टाएँ कही ॥१००॥ इसी प्रकरणमे वह कहने लगा कि देखो, स्त्रियाँ कुलीनता, अवस्था, रूप, विद्या, चारित्र, यश, लक्ष्मी, प्रभुता, पराक्रम, कान्ति, इहलोक-परलोक, प्रीति, अप्रीति, ग्रहण करने योग्य, ग्रहण न करने योग्य, दया, लज्जा, हानि, वृद्धि, गुण और दोषको कुछ भी नही गिनती है ॥१०१–१०२॥ धनके द्वारा धर्म और कामका संचय करना चाहिए यह तो

---

१ आगच्छत् । २ सर्पिणीम् । ३ आकर्णितवतीम् । ४ अन्यजातिसर्पेण सह कामक्रीडा कुर्वतीम् । ५ ताडयति स्म । ६ घ्नन्ति स्म । ७ कोपं करोति । ८ निजभर्तृचरनागामरस्य । ९ नृपेण जातनिजमरणम् । १० जयेन । ११ अगतिका । १२ पतिम् । १३ तत्प्राणान्न हरे ल०, म०, अ० । १४ दंशितुमिच्छुः । १५ शय्यागृहे । 'ऊपन्ति शयनस्थान वासागारं विशारद' इति हलायुध. । १६ निजप्रियाया । १७ कुलजत्वम् । १८ संचेतुं योग्य । १९ धर्मकामाभ्याम् । २० समृद्धाभिलाषिताम् ।

वृश्चिकस्य विषं पश्चात् पन्नगस्य विषं पुरः । योषितां दूषितेच्छानां[1] विश्वतो विषमं विषम् ॥१०४॥
सत्याभासैर्नतैः स्त्रीणां वञ्चिता ये न धीधनाः । दुःश्रुतीनामिवैताभ्यो[2] मुक्तास्ते मुक्तिवल्लभाः ॥१०५॥
तासां किमुच्यते कोपः प्रसादोऽपि भयंकरः । हन्त्यधीकान् [3]प्रविश्यान्तरगाधसरितां यथा ॥१०६॥
[4]जालकैरिन्द्रजालेन[5] वञ्च्या ग्राम्या[6] हि मायया । ताभिः[7] सेन्द्रो[8] [9]गुरुर्वञ्च्यस्तन्मायामातरः[10] स्त्रियः ॥
ताः श्रयन्ते गुणा नैव नाशभीत्या यदि श्रिताः । तिष्ठन्ति न चिरं प्रान्ते नश्यन्त्यपि च ते स्थिताः॥१०८॥
दोषाः किं तन्मयास्तासु दोषाणां किं समुद्भवः । तासां दोषेभ्य इत्यत्र न कस्यापि विनिश्चयः ॥१०९॥
निर्गुणान् गुणिनो मन्तुं गुणिनः खलु निर्गुणान् । [11]नाशकत् परमात्माऽपि मन्यन्ते ता[12] हि हेलया ॥
मोक्षो गुणमयो नित्यो [13]दोषमय्यः स्त्रियश्चलाः । तासां नेच्छन्ति निर्वाणमत एवाप्तसूक्तिषु ॥१११॥
लक्ष्मीः सरस्वती कीर्तिर्मुक्तिस्त्वमिति विश्रुताः । दुर्लभास्तासु वल्लीषु कल्पवल्ल्य इव प्रिये ॥११२॥
इत्येतच्चाह तच्छ्रुत्वा तं [14]जिघांसुरहिस्तदा । पापिना चिन्तितं पापं मया पापापलापतः[15] ॥११३॥

समीचीन मार्ग है परन्तु स्त्रियाँ धर्म और कामसे धन खरीदती है अतः उनकी इस बढ़ी हुई लोलुपताको धिक्कार हो ॥१०३॥ विष बिच्छूके पीछे (पूँछपर) और साँपके आगे (मुँहमे) रहता है परन्तु जिनकी इच्छाएँ दुष्ट है ऐसी स्त्रियोके सभी ओर विषम विष भरा रहता है ॥१०४॥ खोटी श्रुतियोंके समान इन स्त्रियोके सत्याभास (ऊपरसे सत्य दिखानेवाले परन्तु वास्तवमें झूठे) नमस्कारोसे जो बुद्धिमान् नही ठगे जाते है–इनसे बचे रहते है वे ही मुक्तिरूपी स्त्रीके वल्लभ होते है । भावार्थ–जिस प्रकार कुशास्त्रोसे न ठगाये जाकर उनसे सदा बचे रहनेवाले पुरुष मुक्त होते हैं उसी प्रकार इन स्त्रियोके हावभाव आदिसे ठगाये जाकर उनसे बचे रहनेवाले–दूर रहनेवाले पुरुष ही मुक्त होते है ॥१०५॥ जिन स्त्रियोकी प्रसन्नता ही भयंकर है उनके क्रोधका क्या कहना है । जिस प्रकार गहरी नदियोंकी निर्मलता मूर्ख लोगोको भीतर प्रविष्ट कर मार देती है उसी प्रकार स्त्रियोकी प्रसन्नता भी मूर्ख पुरुषोंको अपने अधीन कर नष्ट कर देती है ॥१०६॥ इन्द्रजाल करनेवाले अपने इन्द्रजाल अथवा मायासे मूर्ख ग्रामीण पुरुषोको ही ठगा करते हैं परन्तु स्त्रियाँ इन्द्र सहित बृहस्पतिको भी ठग लेती है इसलिए स्त्रियाँ मायाचारकी माताएँ कही जाती है ॥१०७॥ प्रथम तो गुण स्त्रियोका आश्रय लेते ही नही हैं यदि कदाचित् आश्रयके अभावमें अपना नाश होनेके भयसे आश्रय लेते भी है तो अधिक समय तक नहीं ठहरते और कदाचित् कुछ समयके लिए ठहर भी जाते हैं तो अन्तमे अवश्य ही नष्ट हो जाते है ॥१०८॥ दोषोंका तो पूछना ही क्या है ? वे तो स्त्रीस्वरूप ही हैं अथवा दोषोंकी उत्पत्ति स्त्रियोंमें है अथवा दोषोसे स्त्रियोंकी उत्पत्ति होती है इस बातका निश्चय इस संसारमें किसीको भी नही हुआ है ॥१०९॥ निर्गुणोंको गुणी और गुंणियोंको निर्गुण माननेके लिए परमात्मा भी समर्थ नही है परन्तु स्त्रियाँ ऐसा अनायास ही मान लेती है ॥११०॥ मोक्ष गुण स्वरूप और नित्य है परन्तु स्त्रियाँ दोषस्वरूप और चंचल है मानो इसीलिए अरहन्तदेवके शास्त्रोंमे उनका मोक्ष होना नही माना गया है ॥१११॥ हे प्रिये, जिस प्रकार लताओंमें कल्पलता दुर्लभ है उसी प्रकार स्त्रियोमे लक्ष्मी, सरस्वती, कीर्ति, मुक्ति और तू ये प्रसिद्ध स्त्रियाँ अत्यन्त दुर्लभ है ॥११२॥ यह सब जयकुमारने अपनी स्त्रीसे कहा, उसे सुनकर जयकुमारको

---

१ दुष्टवाञ्छानाम् । २ दुष्टशास्त्राणाम् । ३ प्रवेशं कारयित्वा । ४ वञ्चकैः । ५ इन्द्रजालसंजातया माययेति संबन्धः । ६ परीक्षाशास्त्रबहिर्भूता. । ७ स्त्रीभि· । ८ इन्द्रजालादिदेवताभूतेन्द्रसहित· । ९ तदिन्द्रमन्त्री बृहस्पतिः । १० तत् कारणात् । ११ नाभवत् । १२ स्त्रिय. । १३ दोषवत्य–ल०, म० । १४ हन्तुमिच्छु. । १५ पापिष्ठाया. निह्नवात् । 'अपलापस्तु निह्नव ' इत्यभिधानात् ।

आर्याणामपि वाग्भूयो विचार्या कार्यवेदिभिः । वर्ज्यायाः किं पुनर्नार्याः कामिनां का विचारणा ॥११४॥
भवेऽस्मिन्नेव भव्योऽयं भविष्यति भवान्तकः । तन्नास्य भयमन्येभ्यो भयमेतद्धयैषिणाम् ॥११५॥
अहं कुतः कुतो धर्मः संसर्गादस्य सोऽप्यभूत् । ममेह मुक्तिपर्यन्तो नान्यत् सत्संगमाद्धितम् ॥११६॥
इत्यनुध्याय निःकोपः कृतवेदी[१] जयं स्वयम् । रत्नैरनर्घ्यैः संपूज्य स्वप्रपञ्चं निगद्य च ॥११७॥
मां स्वकार्ये स्मरेत्युक्त्वा स्वावासं प्रत्यसौ गतः । [२]हन्ताऽप्यूर्जितपुण्यानां भवत्यभ्युदयावहः ॥११८॥
स चक्रिणा सहाक्रम्य दिक्चक्रं व्यक्तविक्रमः । क्रमान्नियम्य[३] व्यायामं[४] संयमीव शमं श्रितः ॥११९॥
ज्वलत्प्रतापः सौम्योऽपि निर्गुणोऽपि[५] गुणाकरः । सुसर्वाङ्गोऽप्यनङ्गाभः सुखेन स्वपुरे स्थितः ॥१२०॥
अथ देशोऽस्ति विस्तीर्णः काशिस्तत्रैव[६] विश्रुतः । पिण्डीभूता भयात्काललुण्टाकादिव[७] भोगभूः ॥१२१॥
तदापि खलु विद्यन्ते कल्पवल्लीपरिष्कृताः । द्रुमाः कल्पद्रुमाभासाश्चित्रास्तत्र क्वचित् क्वचित् ॥१२२॥
तत्रैवाभीष्टमावर्ज्य[८] [९]यत्तत्रै[१०]वानुभूयते । सं[११] [१२]तज्जेतेति निःशङ्कं शङ्के स्वर्गापवर्गयोः ॥१२३॥

मारनेकी इच्छा करनेवाला वह नागकुमार अपने मनमे कहने लगा कि देखो उस स्त्रीके पाप छिपानेसे ही मुझ पापीने इस पापका चिन्तवन किया है ॥११३॥ कार्यके जाननेवाले पुरुषोको सज्जनोके वचनोपर भी एक वार पुनः विचार करना चाहिए फिर त्याग करने योग्य स्त्रियोके वचनोंकी तो बात ही क्या है ? उनपर तो अवश्य ही विचार करना चाहिए परन्तु कामी जनोको यह विचार कहाँ हो सकता है ? ॥११४॥ यह भव्य जीव इसी भवमे ससारका नाश करनेवाला होगा, इसलिए इसे अन्य लोगोसे कुछ भय होनेवाला नही है वल्कि जो इसे भय देना चाहते है उन्हे ही यह भय है ॥११५॥ मै कहाँ ? और यह धर्म कहाँ ? यह धर्म भी मुझे इसीके संसर्गसे प्राप्त हुआ है इसलिए इस संसारमे मुझे मोक्ष प्राप्त होने तक सज्जनोके समागमके सिवाय अन्य कुछ कल्याण करनेवाला नही है ॥११६॥ ऐसा विचारकर वह नागकुमार क्रोधरहित हुआ, उपकारको जानकर उसने अमूल्य रत्नोंसे स्वयं जयकुमारकी पूजा की, उसे मारने आदिके जो विचार हुए थे वे सब उससे कहे और अपने कार्यमे मुझे स्मरण करना इस प्रकार कहकर वह अपने स्थानको लौट गया सो ठीक ही है क्योकि जिसका पुण्य तेज है उसका मारनेवाला भी कल्याण करनेवाला हो जाता है ॥११७–११८॥ व्यक्त पराक्रमको धारण करनेवाला वह जयकुमार चक्रवर्ती भरत महाराजके साथ-साथ सब दिशाओपर आक्रमण कर और अनुक्रमसे इधर-उधरका फिरना वन्द कर संयमीके समान शान्तभावका आश्रय करने लगा ॥११९॥ जो सौम्य होनेपर भी प्रज्वलित प्रतापका धारक था, निर्गुण (गुणरहित, पक्षमे सवमें मुख्य) होकर भी गुणाकर (गुणोंकी खानि) था और सुसर्वांग (जिसके सब अंग सुन्दर है ऐसा) होकर भी अनगाभ (शरीररहित, पक्षमे कामदेवके समान कान्तिवाला) था ऐसा वह जयकुमार सुखसे अपने नगरमे निवास करता था ॥१२०॥

अथानन्तर–इसी भरतक्षेत्रमे एक प्रसिद्ध और वहुत वडा काशी नामका देश है जो कि ऐसा विदित होता है मानो कालरूपी लुटेरेके भयसे भोगभूमि ही आकर एक जगह एकत्रित हो गयी हो ॥१२१॥ वहाँपर कही-कही उस समय भी कल्पलताओसे घिरे हुए कल्पवृक्षोके समान अनेक प्रकारके वृक्ष विद्यमान थे ॥१२२॥ चूँकि अपनी अभीष्ट वस्तुओको प्राप्त कर उनका उपभोग उसी देशमे किया जाता था इसलिए मै ऐसा समझता हूँ कि वह काशी देश

१ कृतज्ञः । २ घातकः । ३ निरुद्ध्य । विविधव्यापारमिति शेषः । त्यक्त्वा विविधव्यापारमित्यर्थः । ४ विविधगमनम् । ५ अप्रधानरहितोऽपि । "गुणोऽप्रधाने रूपादौ मौर्व्यां शूके वृकोदरे । शुभे सत्त्वादिसन्ध्यादिविद्यादिहरितादिषु" इत्यभिधानात् । ६ भरतक्षेत्रे । ७ दुःकालचोरात् सञ्जातात् । ८ स्वीकृत्य । ९ यस्मात् कारणात् । १० देशे । ११ देश । १२ तस्मात् कारणात् ।

वाराणसी पुरी तत्र जित्वा तामामरीं पुरीम् । [1]अमानैस्तद्विमानानि स्वसौधैर्[2]या साऽहसीत्[3] ॥१२४॥
प्राक् समुचितदुष्कर्मा न [4]तत्रोत्पत्तुमर्हति । प्रमादादपि तज्जोऽपि स्यान्न किं पापी मनस्यपि ॥१२५॥
एवं भवत्रयश्रेयःसूचनी धर्मवर्त्मनि । विनेयान् जिनविद्येव[5] [6]साऽन्यस्थान[7]प्यवीवृतत्[8] ॥१२६॥
नाम्नैव कम्पितारातिस्तस्याः पतिरकम्पनः । विनीत[9] इव विद्यायाः स्वाभिप्रेतार्थसंपदः[10] ॥१२७॥
पुरोपार्जितपुण्यस्य वर्द्धने रक्षणे श्रियः । न नीतिः[11] किन्तु कामे च धर्मे चास्योपयोगिनी ॥१२८॥
न हर्ता केवलं दाता न हन्ता पाति केवलम् । सर्वास्त[12]त्पालयामास स[13] धर्मविजयी प्रजाः ॥१२९॥
पारमात्म्ये पदे पूज्यो भरतेन यथा पुरुः । गृहाश्रमे तथा सोऽपि सा तस्य कुलवृद्धता ॥१३०॥
तस्यासीत्सुप्रभादेवी शीतांशोर्वा प्रभा तया । मुमुदे कुमुदाबोधं विदधत् स कलाश्रयः ॥१३१॥
न लक्ष्मीरपि तत्प्रीत्यै सती सा सुप्रजा[14] यथा । सत्फला इव सद्वल्ल्यः पुत्रवत्यः स्त्रियः प्रियाः ॥१३२॥

निःसन्देह स्वर्ग और मोक्षको जीतनेवाला था ॥ १२३ ॥ उस काशीदेशमे एक वाराणसी (बनारस) नामकी नगरी थी जो कि अपने अपरिमित राजभवनोसे अमरपुरीको जीतकर उसके विमानोंकी हँसी करती हुई-सी जान पड़ती थी ॥ १२४ ॥ जिसने पूर्वजन्ममें पापकर्मोका संचय किया है ऐसा जीव उस वाराणसी नगरीमें उत्पन्न होने योग्य नही था । तथा उसमें उत्पन्न हुआ जीव प्रमादसे भी क्या कभी मनमें भी पापी हो सकता था ? अर्थात् नही ॥ १२५ ॥

इस तरह भूत, भविष्यत् और वर्तमानसम्बन्धी तीनों भवोके कल्याणको सूचित करनेवाली वह नगरी जिनवाणीके समान दूसरी जगह रहनेवाले शिष्य लोगोको भी धर्ममार्गमें प्रवृत्त कराती थी ॥१२६॥ जिस प्रकार विनयी मनुष्य विद्याका स्वामी होता है उसी प्रकार अपने नामसे ही शत्रुओको कम्पित कर देनेवाला राजा अकम्पन उस नगरीका स्वामी था । जिस प्रकार विद्या अपने अभिलषित पदार्थोको देनेवाली होती है उसी प्रकार वह नगरी भी अभिलषित पदार्थोको देनेवाली थी ॥१२७॥ पूर्व जन्ममे पुण्य उपार्जन करनेवाले उस राजाकी नीति केवल लक्ष्मीके बढ़ाने और उसकी रक्षा करनेमें ही काम नही आती थी किन्तु धर्म और कामके विषयमे भी उसका उपयोग होता था ॥१२८॥ वह राजा केवल प्रजासे कर वसूल ही नही करता था किन्तु उसे कुछ देता भी था और केवल दण्ड ही नही देता था किन्तु रक्षा भी करता था । इस प्रकार धर्म-द्वारा विजय प्राप्त करनेवाला वह राजा समस्त प्रजाका पालन करता था ॥१२९॥ राजा अकम्पनके कुलका बड़प्पन यही था कि भरतमहाराज परमात्मपदमे जिस प्रकार भगवान् वृषभदेवको पूज्य मानते थे उसी प्रकार गृहस्थाश्रममें उसे पूज्य मानते थे ॥ १३० ॥ उसके सुप्रभा नामकी देवी थी जो कि चन्द्रमाकी प्रभाके समान थी । जिस प्रकार चन्द्रमा अनेक कलाओका आश्रय हो अपनी प्रभासे कुमुदाबोध अर्थात् कुमुदिनियोका विकास करता हुआ प्रसन्न (निर्मल) रहता है उसी प्रकार वह राजा भी अनेक कलाओं-विद्याओका आश्रय हो अपनी सुप्रभा देवीसे कुमुदाबोध अर्थात् पृथिवीके समस्त जीवोंके आनन्दका विकास करता हुआ प्रसन्न रहता था ॥१३१॥ उत्तम सन्तान उत्पन्न करनेवाली वह पतिव्रता सुप्रभादेवी जिस प्रकार राजाको आनन्दित करती थी उस प्रकार लक्ष्मी भी उसे आनन्दित नही कर सकी थी सो ठीक ही है क्योंकि जिस प्रकार अच्छे फल देनेवाली उत्तम लताएँ प्रिय

---

१ प्रमाणातीतैः । २ पुरी । ३ हसति स्म । ४ नगर्याम् । ५ दिव्यभाषेव । ६ नगरी । ७ देशान्तरस्थान् । ८ वर्तयति स्म । ९ विनयपरः । १० निजाभीष्टार्थसम्पद् यस्यां सा तस्याः । ११ नयनं कारणम् । १२ तत् कारणात् । १३ अकम्पनः । १४ शोभनाः प्रजा अपत्यानि यस्याः सा सुप्रजा । तत्प्रवर्तितस्यं ।

तस्यां तन्नाथवंशाग्रगण्यस्येवांशवो रवेः । प्राच्यां [1]दीप्त्याप्तदिक्चक्राः सहस्रमभवन् सुताः ॥१३३॥
हेमाङ्गदसुकेतुश्रीसुकान्ताद्याह्वयैः स तैः । वेष्टितः संव्यदीपिष्ट शक्रः सामानिकैरिव ॥१३४॥
हिमवत्पद्मयोर्गङ्गासिन्धू इव ततस्तयोः[2] । सुते सुलोचना लक्ष्मीमती चास्तां सुलक्षणे ॥१३५॥
सुलोचनाऽसौ बालेव लक्ष्मीः सर्वमनोरमा । कलागुणैरभासिष्ट चन्द्रिकेव प्रवर्द्धिता ॥१३६॥
सुमत्याख्याऽमलाः शुक्लनिशेवावर्द्धयत् कलाः । धात्री शशाङ्करेखायास्तस्याः सातिमनोहराः ॥१३७॥
अभूद् रागी स्वयं [3]रागस्त[4]क्रमाब्जं समाश्रितः । रागाय कस्य वा न स्यात् स्वोचितस्थानसंश्रयः॥१३८॥
नखेन्दुचन्द्रिका तस्याः शश्वत्कुवलयं किल । विश्वमाह्लादय[5]च्चित्रमनुवृत्त्या[6] क्रमाब्जयोः ॥१३९॥
रेजुरंगुलयस्तस्याः क्रमयोर्नखरोचिषा । इयन्त इति मद्वेगाः[7] स्मरेणेव निवेशिताः ॥१४०॥
नताशेषो जय[8] स्नेहाद् मंसीत्से[9] [10] ततस्तयोः । या श्रीः क्रमाब्जयोस्तस्याः सा किमस्ति सरोरुहे ॥१४१॥

होती हैं उसी प्रकार उत्तम पुत्र उत्पन्न करनेवाली स्त्रियाँ भी प्रिय होती है ॥ १३२ ॥ जिस प्रकार पूर्व दिशासे अपनी कान्तिके द्वारा समस्त दिशाओको प्रकाशित करनेवाली सूर्यकी किरणे उत्पन्न होती है उसी प्रकार उस सुप्रभादेवीसे नाथवंशके अग्रगण्य राजा अकम्पनके अपनी दीप्ति अथवा तेजके द्वारा दिशाओको वश करनेवाले हजार पुत्र उत्पन्न हुए थे ॥ १३३ ॥ हेमागद, सुकेतुश्री और सुकान्त आदि उन पुत्रोसे घिरा हुआ वह राजा ऐसा सुशोभित होता था जैसा कि सामानिक देवोसे घिरा हुआ इन्द्र सुशोभित होता है ॥१३४॥ जिस प्रकार हिमवान् पर्वत और पद्म नामकी सरसीसे गगा और सिन्धु ये दो नदियाँ निकलती है उसी प्रकार राजा अकम्पन और रानी सुप्रभाके सुलोचना तथा लक्ष्मीमती ये उत्तम लक्षणोवाली कन्याएँ उत्पन्न हुई थी ॥ १३५ ॥ वह बालिका सुलोचना लक्ष्मीके समान सबके मनको आनन्दित करनेवाली थी और अपने कलारूपी गुणोके द्वारा चाँदनीके समान वृद्धिको प्राप्त होती हुई सुशोभित हो रही थी ॥१३६॥ जिस प्रकार शुक्ल पक्षकी रात्रि चन्द्रमाकी रेखाओकी अत्यन्त मनोहर कलाओको बढाती है उसी प्रकार सुमित्रा नामकी धाय उस सुलोचनाकी अतिशय मनोहर कलाओको बढ़ाती थी—उसके शरीरका लालन-पालन करती थी ॥१३७॥ राग अर्थात् लालिमा उस सुलोचनाके चरण-कमलोका आश्रय पाकर स्वय रागी अर्थात् राग करनेवाला अथवा लाल गुणसे युक्त हो गया था सो ठीक ही है क्योकि अपने योग्य स्थानका आश्रय किसके रागके लिए नही होता ? ॥१३८॥ आश्चर्य है कि उसके नखरूपी चन्द्रमाकी चाँदनी दोनो चरण-कमलोके अनुकूल रहकर भी समस्त कुवलय अर्थात् कुमुदिनियोको अथवा पृथ्वीमण्डलके आनन्दको निरन्तर विकसित करती रहती थी। भावार्थ – चाँदनी कभी कमलोके अनुकूल नही रहती, वह उन्हे निमीलित कर देती है परन्तु सुलोचनाके नखरूपी चन्द्रमाकी चाँदनी उसके चरणकमलोके अनुकूल रहकर भी कुवलय – नीलकमल (पक्षमें महीमण्डल) को विकसित करती थी यह आश्चर्यकी बात थी ॥१३९॥ उसके दोनो पैरोकी अँगुलियाँ नखोकी किरणोसे ऐसी अच्छी जान पड़ती थी मानो मेरे वेग इतने ही है यही समझकर कामदेवने ही स्थापन की हों। भावार्थ—*अभिलाषा, चिन्ता आदि कामके दश वेग है और दोनो पैरोकी अँगुलियाँ भी दश है इसलिए वे ऐसी जान पड़ती थी मानो कामदेवने अपने वेगोकी सख्या बतलानेके लिए ही उन्हे स्थापित किया हो ॥१४०॥ जिसे सब लोग नमस्कार करते है ऐसा जयकुमार भी जिन्हे

---

१ तेजसा । २ अकम्पनसुप्रभयो । ३ अरुणगुण. । ४ सुलोचनाचरण । ५ मोदति स्म । ६ अनुकूलवृत्त्या । ७ मम सदृशावस्था । ८ जयकुमार । ९ नमस्करोति स्म । १० क्रमाब्जे ।

* "अभिलाषश्चिन्तास्मृतिगुणकथनोद्वेगसप्रलापाश्च ।
उन्मादोऽथ व्याधिर्जडता मृतिरिति दशात्र कामदशाः ॥"—साहित्यदर्पणे ।

न स्थूले न कृशे नर्जू न वक्रे न च सङ्कटे[1] । विकटे[2] न च तज्जङ्घे शोभाऽन्यैवैनयोरसौ[3] ॥१४२॥
काञ्चीस्थानं[4][5] तदालोच्येवोरू स्थूले सुसङ्गते । कायगर्भगृहद्वारस्तम्भयष्ट्याकृती कृते ॥१४३॥
वेदिकेव मनोजस्य शिरो वा[6] स्मरदन्तिनः । सानुर्वाऽनङ्गशैलस्य शुशुभेऽस्याः कटीतटम् ॥१४४॥
कृत्वा कृशं भृशं मध्यं बद्धं भङ्गभयादिव । रज्जुभिस्तिसृभिर्धात्रा[7] वलिभिर्गाढमावभौ ॥१४५॥
नाभिकूपप्रवृत्तास्या[8][9] रसमार्गसमुद्गता । श्यामा शाड्वलमालेव[10] रोमराजिर्व्यराजत ॥१४६॥
भिन्नौ युक्तौ मृदू स्तब्धौ[11] उष्णौ सन्तापहारिणौ । स्तनौ विरुद्धधर्माणौ स्याद्वादस्थितिमूहतुः ॥१४७॥
सहवक्षोनिवासिन्या समाश्लिष्य जयः श्रिया । स्वीकृतो यदि चेत्ताभ्यां[12] वर्ण्येते तद्भुजौ कथम् ॥१४८॥
वीरलक्ष्मीपरिष्वक्तजयदक्षिणबाहुना । सवामेन[13] परिष्वक्त[14]स्तत्कण्ठस्तस्य कोपमा ॥१४९॥
नि:कृपौ[15] पेशलौ[16] श्लक्ष्णौ तत्कपोलौ विलेसतुः[17] । कान्तौ कलभदन्ताभौ जयवक्त्राब्जदर्पणौ[18] ॥१५०॥
वटबिम्बप्रवालादिनोपमेयमपीष्यते[19] । अधरस्यातिदूरत्वाद् वर्णाकाररसादिभिः ॥१५१॥

बड़े स्नेहसे नमस्कार करेगा ऐसे उसके दोनो चरणकमलोमे जो शोभा थी वह क्या कमलोंमें हो सकती है ? अर्थात् नही ॥१४१॥ उसकी दोनों जंघाएँ न स्थूल थी, न कृश थी, न सीधी थी, न टेढ़ी थी, न मिली हुई थी और न दूर-दूर ही थीं। उसकी दोनो जंघाओकी शोभा निराली ही थी ॥१४२॥ उसके करधनी पहननेके स्थान—नितम्बस्थलको देखकर ही मानो स्थूल, परस्परमे मिले हुए और कामदेवके गर्भगृहसम्बन्धी दरवाजेसे खम्भोकी लकड़ीके समान दोनो ऊरु बनाये गये थे ॥१४३॥ उसका नितम्ब प्रदेश ऐसा अच्छा जान पड़ता था मानो कामदेवकी वेदी ही हो अथवा कामदेवरूपी हाथीका शिर ही हो अथवा कामदेवरूपी पर्वतका शिखर ही हो ॥१४४॥ उसका मध्यभाग ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो विधाताने उसे पहले तो अत्यन्त कृश बनाया हो और फिर टूट जानेके भयसे त्रिवलीरूपी तीन रस्सियोसे मजबूत बाँध दिया हो ॥१४५॥ नाभिरूपी कुएँसे निकली हुई उसकी रोमराजि ऐसी अच्छी सुशोभित हो रही थी मानो जलमार्गसे निकली हुई हरी-हरी छोटी घासकी पङ्क्ति ही हो ॥१४६॥ उसके स्तन भिन्न-भिन्न होकर भी (स्थूल होनेके कारण) एक दूसरेसे मिले हुए थे, कोमल होकर भी (उन्नत होनेके कारण) कठोर थे, और उष्ण होकर भी (आह्लादजनक होनेके कारण) संतापको दूर करनेवाले थे, इस प्रकार विरुद्ध धर्मोको धारण करनेवाले उसके दोनो स्तन स्याद्वादकी स्थितिको धारण कर रहे थे ॥१४७॥ चूँकि उसकी दोनो भुजाओने वक्षस्थलपर निवास करनेवाली लक्ष्मीके साथ आलिङ्गन कर जयकुमारको स्वीकृत किया है इसलिए उनका वर्णन भला कैसे किया जा सकता है ? ॥१४८॥ उसका कण्ठ वीर लक्ष्मीसे सुशोभित जयकुमारके दाये और बाये दोनो हाथोसे आलिंगनको प्राप्त हुआ था अत उसकी उपमा क्या हो सकती है। भावार्थ—उसकी उपमा किसके साथ दी जा सकती है ? अर्थात् किसीके साथ नही—वह अनुपम था ॥१४९॥ हाथीके बच्चेके दाँतकी आभाको धारण करनेवाले उसके निष्कप, कोमल और चिकने दोनो कपोल ऐसे अच्छे जान पड़ते थे मानो जयकुमारका मुखकमल देखनेके लिए सुन्दर दर्पण ही हो ॥१५०॥ वटकी कोपल, बिम्बी फल और मूँगा आदि पदार्थ, वर्ण, आकार और रस आदिमें ओठोसे बहुत दूर है अर्थात् उसके ओठोके समान न तो

---

१ सङ्कीर्णे । २ विशाले । ३ विलक्षणैव । ४ कटितटम् । ५ आलोक्य । ६ इव । ७ ब्रह्मणा । ८ सुलोचनाया । ९ जलमार्ग । १० हरितपङ्क्ति । 'शाड्वल. शादहरिते' इत्यभिधानात् । आद्वल— ल०, म०, अ०, । ११ कठिनौ । १२ सुलोचनाभुजाभ्याम् । १३ वामभुजसहितेन । १४ आलिङ्गित. । १५ जनसन्तापहेतुत्वात् । १६ कोमलौ । १७ रेजतु । १८ जयकुमारमुख । १९ अपिशब्दात् केवल-मुपमानं न ।

[1]चिताः सिताः समाः स्निग्धा दन्ताः कान्ताः प्रभान्विताः । अन्तःकरोति तद्वक्त्रं तानेव कथमन्यथा[2] ॥१५२॥
कुतः[3] कृता समुत्तुङ्गा स्वादमानास्यसौरभम् । मध्येवक्त्रं किमध्यास्ते न सती यदि नासिका[4] ॥१५३॥
कर्णान्तगामिनी नेत्रे[5] वृद्धे[6] नरशरोपमे । [7]सोमवंश्यस्य कः क्षेपः[8] पद्मोत्पलजये तयोः[9] ॥१५४॥
तत्कर्णावेव कर्णेषु कृतपुण्यौ प्रियाज्ञया[10] । तत्प्रेमालापगीतानां[11] पात्रे[12] प्रागेव तौ यतः ॥१५५॥
तद्भ्रूशरासनः[13] कामस्तत्कटाक्षशरावलिः[14] । स्वरूपेणाजित[15] मत्वा जयं मन्ये व्यजेष्ट सः ॥१५६॥
तस्या लालाटिको[16] नैकः कामो वीराग्रणीः स्वयम् । जयोऽपि नोन्नतिः कस्माल्ललाटस्य श्रितश्रियः ॥१५७॥
मृदवस्तनवः स्निग्धाः कृष्णास्तस्याः सकुञ्चिताः । कामिनां केवलं कालबालव्यालाः[17] शिरोरुहाः ॥१५८॥
भाति तस्याः पुरोभागो भूषितो नयनादिभिः । सुरूप[18] इव पाश्चात्यो[19] बाभाति स्वयमेव सः ॥१५९॥
ये तस्यास्तनुनिर्माणं वेधसां साधनीकृताः[20] । [21]अणवस्तृणवच्छेपास्त एव परमाणवः[22] ॥१६०॥

इनका वर्ण है, न आकार है और न रस ही है इसलिए ही उसके ओठोको इनमें-से किसीकी भी उपमा नही दी सकती थी ॥१५१॥ अवश्य ही उसके दाँत एक दूसरेसे मिले हुए थे–छिद्ररहित थे, सफेद थे, समान थे, चिकने थे, सुन्दर थे, और चमकीले थे, यदि ऐसा न होता तो सुलोचनाका मुख उन्हे भीतर ही क्यों करता ? ॥१५२॥ मुखकी सुगन्धिका स्वाद लेती हुई उसकी नाक यदि इतनी अच्छी नही होती तो वह इतनी ऊँची क्यो बनाई जाती ? तथा मुखके बीचमें कैसे ठहर सकती ? ॥१५३॥ अर्जुनके वाणके समान कर्णके (राजा कर्ण अथवा कानके) समीप तक जानेवाले उसके दोनो नेत्र अत्यन्त विशाल थे, उन्होने लाल कमल और नीलकमल दोनोंको जीत लिया था फिर भला सोमवश अर्थात् चन्द्रमापर कौन-सा आक्षेप वाकी रह गया था अथवा सोमवश अर्थात् जयकुमारपर कौन-सा क्षेप अर्थात् कटाक्ष करना वाकी रह गया था ? ॥१५४॥ उसके कान ही सब कानोंमें अधिक पुण्यवान् थे क्योकि वे पहलेसे ही अपने प्रिय–जयकुमारकी आज्ञासे उनके प्रेमसम्भापण और गीतोके पात्र हो गये थे ॥१५५॥ मै तो ऐसा मानता हूँ कि कामदेवने जयकुमारको अपने रूपसे अजेय मानकर सुलोचनाकी भौंहरूपी धनुप और उसीके कटाक्षरूपी वाणोके समूहसे ही उसे जीता था ॥१५६॥ उस सुलोचनाका सेवक अकेला कामदेव ही नही था किन्तु वीरशिरोमणि जयकुमार भी स्वयं उसका सेवक था, फिर भला शोभाको धारण करनेवाले उसके ललाटकी उन्नति–उच्चता अथवा उत्तमता क्यों न होती ? ॥१५७॥ कोमल, वारीक, चिकने, काले और कुछ-कुछ टेढे उसके शिरके वाल कामी पुरुपोको केवल काले साँपोके वच्चोके समान जान पड़ते थे ॥१५८॥ उस सुलोचनाका आगेका भाग नेत्र आदिसे विभूपित होकर सुशोभित हो रहा था और पिछला भाग किसी सुन्दर वस्तुके समान अपने-आप ही सुशोभित हो रहा था ॥१५९॥ विधाताने उसका शरीर वनानेमे जिन अणुओंको साधन वनाया था यथार्थमे वे ही अणु परमाणु अर्थात्

---

१ निश्छिद्रा इत्यर्थ. । २ उक्तगुणा न सन्ति चेत् । ३ किन्निमित्तं निर्मिता इत्येवं पृच्छति । ४ यदि सती प्रशस्ता नासिका न स्यात् तर्हि मध्येवक्त्रं मुखमध्ये कि वस्तु अध्यास्ते । नासिका मुक्त्वा न किमपि अधिवसितु योग्यमित्यर्थ । ५ ध्वनौ कर्णराजस्य विनाशे वर्तमाने । ६ वृद्धे कि न भवत, भवत एव । ७ वशस्य ल०, म०, अ० । जयकुमारस्य । ध्वनौ अर्जुनस्य । ८ तिरस्कार । ९ नेत्रयो । १० जयकुमार-प्रसिद्ध्या । ११ –लापनीताना अ०, म०, ल० । १२ भाजनम् । १३ तस्या भ्रुवावेव शरासन यस्य । १४–टाक्षाशुगावलि. ल० । वाणसमूहः । १५ आत्मीयस्वरूपेण । १६ भावदर्शी सेवक । 'लालाटिक. प्रभोर्भावदर्शी -कार्याक्षमश्च यः ।' इत्यभिधानात् । न सेवको भवति चेत् । १७ कृष्णवालभुजङ्गा । १८ मनोज्ञपदार्थ इव ।

अतिवृद्धः क्षयासन्नः स्पष्टलक्ष्माहिगोचरः[1]। पूर्णः शेपोऽप्यसंपूर्णो[2] न तद्वक्त्रोपमो विधुः ॥१६१॥
न पश्चान्न पुरा लक्ष्मीर्बोधी[3] पद्मे क्षणे क्षणे । वक्त्यन्यां गृह्णती शोभां सा[4] स्याद्वादं तदानने ॥१६२॥
तन्द्रे तीव्रकरोत्सन्ना[5] पद्मे शीतकराहता । लक्ष्मीः साऽन्यैव तद्वक्त्रे[6] जयलक्ष्मीकरग्रहात् ॥१६३॥
रात्राविन्दुर्दिवाम्भोजं क्षयीन्दुर्ग्लानिवारिजम् । पूर्णमेव विकास्येव तद्वक्त्रं भात्यहर्दिवम्[7] ॥१६४॥
लक्ष्मीस्त[8]स्येक्षितुस्तेन[9] वीक्षितस्यापि निश्चिता । किं पद्मे तादृशं येन[10] तद्वक्त्रमुपमीयते[11] ॥१६५॥
कुमार्या त्रिजगज्जेता जितः पुष्पशरासनः[12] । स वीरः कः परो लोके यो न जय्योऽग्रतोऽनया[13] ॥१६६॥
कुमार्यैव जितः कामो वीरः पश्चाज्जयो जितः । स्त्रीसृष्टिः कियती नाम विजयेऽस्याः सहश्रिया ॥१६७॥

उत्कृष्ट अणु थे और उनसे बाकी बचे हुए अणु तृणके समान तुच्छ थे ॥१६०॥ चन्द्रमा उसके मुखकी उपमाके योग्य नही था क्योकि यदि पूर्ण चन्द्रमाकी उपमा देते है तो वह बहुत वृद्ध अर्थात् बड़ा है, उसका क्षय निकट है, कलंक उसका स्पष्ट दिखलाई देता है और राहु उसे दबा देता है। यदि अपूर्ण चन्द्रमाकी उपमा देते है तो वह स्वय अपूर्ण है–अधूरा है। भावार्थ–उसका मुख तरुण, अविनश्वर, निष्कलंक और पूर्ण था इसलिए पूर्ण अथवा अपूर्ण कोई भी चन्द्रमा उसके मुखकी उपमाके योग्य नही था ॥१६१॥ यदि कमलकी उपमा दी जावे सो भी ठीक नही है क्योकि कमलमे विकसित होनेके पहले लक्ष्मी नही थी और न पीछे रहती है वह तो क्षण-क्षणमें विकसित होती रहती है परन्तु उसके मुखपर-की लक्ष्मी एक विलक्षण शोभाको ग्रहण करती हुई स्याद्वादका स्वरूप प्रकट करती थी। भावार्थ–उसके मुखकी शोभा सदा एक-सी रहकर भी क्षण-क्षणमें विलक्षण शोभा धारण करती थी इसलिए कमलकी शोभासे कही अच्छी थी और इस प्रकार स्याद्वादका स्वरूप प्रकट करती थी क्योकि जिस प्रकार स्याद्वाद द्रव्यार्थिक नयसे एकरूप रहकर भी पर्यायार्थिक नयसे नवीन-नवीन रूपको प्रकट करता है उसी प्रकार उसके मुखकी लक्ष्मी भी सामान्यतया एकरूप रहकर भी प्रतिक्षण विलक्षण शोभा धारण करती हुई अनेकरूप प्रकट करती थी ॥१६२॥ चन्द्रमाकी शोभा सूर्यसे नष्ट हो जाती है और कमलकी शोभा चन्द्रमासे नष्ट हो जाती है परन्तु उसके मुखकी शोभा जयकुमारकी लक्ष्मीका हस्त ग्रहण करनेसे विलक्षण ही हो रही थी ॥१६३॥ चन्द्रमा रातमे सुशोभित होता है और कमल दिनमे प्रफुल्लित रहता है, चन्द्रमाका क्षय हो जाता है और कमल मुरझा जाता है परन्तु उसका मुख पूर्ण ही था, विकसित ही था और रात-दिन सुशोभित ही रहता था ॥१६४॥ सुलोचनाके मुखको जो देखता था उसकी शोभा बढ़ जाती थी और सुलोचनाका मुख जिसे देखता था उसकी शोभा भी निश्चित रूपसे बढ़ जाती थी। कमलमे क्या ऐसा गुण है जिससे कि उसे सुलोचनाके मुखकी उपमा दी जा सके ? ॥१६५॥ उसने कुमारी अवस्थामे ही तीनो जगत्को जीतनेवाला कामदेव जीत लिया था फिर भला संसारमें ऐसा दूसरा कौन वीर था जो आगे युवावस्थामे उसके द्वारा न जीता जाये ? ॥१६६॥ इसने कुमारी अवस्थामें कामदेवको जीत लिया था और तरुण अवस्थामें जयकुमारको जीता था फिर भला इसके जीतनेके लिए

---

१ राहुगोचर.। (विषय)। २ कलाशेपोऽपि। कलाहीन इत्यर्थ। बालचन्द्रोऽपि। ३ विकासशीला। ४ लक्ष्मी'। ५ हता। ६ जयस्य लक्ष्मी। ७ –त्यहर्निशम् अ०, प०, स०, इ०, ल०, म०। ८ धर्मस्य। ९ वक्त्रेण। १० येन धर्मेण सह। ११ तादृशं धर्मं पक्षे किमस्ति ? नास्तीत्यर्थ। वीक्षितस्यापि अपिशब्दात् तद्धर्मो न दृष्टोऽस्ति। यद्यपि दृष्टस्य तस्य पद्मस्थितधर्मस्य लक्ष्मी शोभा तेन सह तद्वक्त्रेण सह ईक्षितु वीक्षमाणस्य जनस्य निश्चिता स्यात्। १२ पुष्पशरासनो जितः इत्यनेन कमपि पुरुषं नेच्छति इत्यर्थ.। १३ यौवने।

मृगाङ्कस्य कलङ्कोऽयं मन्येऽहं कन्ययाऽनया । स्वकान्त्या निर्जितस्याभूद् रोगराज[1]श्च चिन्तया[2] ॥१६८॥
सार्धं कुवलयेनेन्दुः सह लक्ष्म्या सरोरुहम् । तद्वक्त्रेण जितं व्यक्तं किमन्यत्तेह जीयते ॥१६९॥
जलाब्जं जलवासेन स्थलाब्जं सूर्यरश्मिभिः । प्राप्तुं तद्वक्त्रजां शोभां मन्येऽद्यापि तपस्यति[3] ॥१७०॥
शनैर्बालेन्दुरेखेव सा [4]कलाभिरवर्द्धत । वृद्धास्तस्याः प्रवृद्धाया विधुभिः स्पर्धिनो[5] गुणाः ॥१७१॥
इति संपूर्णसर्वाङ्गशोभां शुद्धान्वयायजाम्[6] । स्मरो [7]जयभयाद्वैतां[8] न [9]तदाऽप्यकरोत करे[10] ॥१७२॥
कारयन्ती जिनेन्द्रार्चाश्चित्रा[11] मणिमयीर्बहूः । तासां[12] हिरण्मयान्येव विश्वोपकरणान्यपि ॥१७३॥
तत्प्रतिष्ठाभिषेकान्ते महापूजाः प्रकुर्वती । मुहुः स्तुतिभिरर्थ्याभिः[13] स्तुवती भक्तितोऽर्हतः[14] ॥१७४॥
ददती पात्रदानानि मानयन्ती[15] महामुनीन् । शृण्वती धर्ममाकर्ण्य भावयन्ती मुहुर्मुहुः ॥१७५॥
आप्तागमपदार्थांश्च प्राप्तसम्यक्त्वशुद्धिका । अथ फाल्गुननन्दीश्वरेऽसौ भक्त्या जिनेशिनाम् ॥१७६॥
विधायाष्टाह्निकीं पूजामभ्यर्च्यार्चा यथाविधि । कृतोपवासा तन्वङ्गी शेषां[16] दातुमुपागता ॥१७७॥
नृपं सिंहासनासीनं सोऽप्युत्थाय कृताञ्जलिः । तद्दत्तशेषामादाय[17] निधाय शिरसि स्वयम् ॥१७८॥

लक्ष्मीके साथ-साथ कितनी-सी स्त्रियोकी सृष्टि वाकी रही थी ? भावार्थ—इसने लक्ष्मी आदि उत्तम-उत्तम स्त्रियोंको जीत लिया था ॥१६७॥ चन्द्रमाके वीच जो यह कलंक दिखता है उसे मैं ऐसा मानता हूँ कि इस कन्याने अपनी कान्तिसे चन्द्रमाको जीत लिया है इसीलिए मानो उसे चिन्ताके कारण क्षयरोग हो गया हो ॥१६८॥ उस सुलोचनाके मुखने चन्द्रमाके साथ कुवलय अर्थात् कुमुदको जीत लिया था और लक्ष्मीके साथ-साथ कमलको भी जीत लिया था फिर भला इस ससारमें और रह ही क्या जाता है जो उसके मुखके द्वारा जीता न जा सके ॥१६९॥ मैं तो ऐसा मानता हूँ कि उसके मुखकी शोभा प्राप्त करनेके लिए जलकमल जलमें रहकर और स्थलकमल सूर्यकी किरणोके द्वारा आजतक तपस्या कर रहा है ॥१७०॥ वह सुलोचना द्वितीया-के चन्द्रमाकी रेखाके समान कलाओके द्वारा धीरे-धीरे वढती थी और ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती थी त्यो-त्यों चन्द्रमाकी कान्तिके साथ स्पर्धा करनेवाले उसके गुण भी वढ़ते जाते थे ॥१७१॥ इस प्रकार जो समस्त अंगोंकी शोभासे परिपूर्ण है और शुद्ध वशमे जिसकी उत्पत्ति हुई है ऐसी उस सुलोचनाको कामदेव जयकुमारके भयसे युवावस्थामे भी अपने हाथमे नही कर सका था ॥१७२॥

उस सुलोचनाने श्री जिनेन्द्रदेवकी अनेक प्रकारकी रत्नमयी वहुत-सी प्रतिमाएँ वनवायी थी और उनके सव उपकरण भी सुवर्ण हीके वनवाये थे। प्रतिष्ठा तथा तत्सम्वन्धी अभिषेक हो जानेके वाद वह उन प्रतिमाओंकी महापूजा करती थी, अर्थपूर्ण स्तुतियोके द्वारा श्री अर्हन्त-देवकी भक्तिपूर्वक स्तुति करती थी, पात्र दान देती थी, महामुनियोका सन्मान करती थी, धर्मको सुनती थी तथा धर्मको सुनकर आप्त आगम और पदार्थोका वार-वार चिन्तवन करती हुई सम्यग्दर्शनकी शुद्धताको प्राप्त करती थी। अथानन्तर—फाल्गुन महीनेकी अष्टाह्निकामे उसने भक्तिपूर्वक श्री जिनेन्द्रदेवकी अष्टाह्निकी पूजा की, विधिपूर्वक प्रतिमाओकी पूजा की, उपवास किया और वह कृशागी पूजाके शेपाक्षत देनेके लिए सिहासनपर वैठे हुए राजा अकम्पनके

---

१ क्षयव्याधिः । २ मनोदु खेन । ३ तपश्चरति । ४ अवयवै. । ५ विधुभास्पर्द्धिनो ल०, म०, अ०, प०, इ०, स० । ६ शुद्धवंशजातात् । ७ जयकुमारभयादिव । ८ सुलोचनाम् । ९ यौवनकालेऽपि । १० करग्रहणं नाकरोत् । तस्या. कामविकारो नाभूदित्यर्थ. । ११ प्रतिमा । १२ प्रतिमानाम् । १३ सदर्थयुक्ताभिः । १४ अर्हद्देवान् । १५ पूजयन्ती । १६ शेपान् ल०, म० । १७ –नादाय ल०, म० ।

उपवासपरिश्रान्ता पुत्रिके त्वं प्रयाहि[1] ते[2]। गरणं[3]-पारणाकाल इति कन्यां व्यसर्जयत् ॥१७९॥
तां विलोक्य महीपालो बालामापूर्णयौवनाम्। निर्विकारां सचिन्तः सन् तस्याः[4] परिणयोत्सवे ॥१८०॥
शुभे श्रुतार्थसिद्धार्थसर्वार्थसुमतिश्रुतीन्[5]। कोष्ठादिमतिभेदान्वा[6] दिने व्याहूय मन्त्रिणः ॥१८१॥
[7]वृणते सर्वभूपालाः कन्यां नः कुलजीवितम्। ब्रूत कस्मै प्रदास्यामो [8]विमृश्येमां सुलोचनाम् ॥१८२॥
[9]इत्यप्राक्षीत्तदा प्राह श्रुतार्थः श्रुतसागरः। अत्र सद्बन्धुसंबन्धो जामाताऽत्र महान्वयः ॥१८३॥
[10]सर्वस्वस्य व्ययोऽत्राथ[11] जन्मराज्यफलं च नः। ततः संचिन्त्यमेवैतत् कार्यं नयविशारदैः ॥१८४॥
बन्धवः स्युर्नृपाः सर्वे संबन्धश्चक्रवर्तिना। इक्ष्वाकुवंशवत्पूज्यो भवद्वंशश्च जायते ॥१८५॥
कुलरूपवयोविद्यावृत्तश्रीपौरुषादिकम्। यद्वरेषु समन्वेष्यं[12] सर्वं तत्तत्र[13] पिण्डितम् ॥१८६॥
ततो नास्त्यत्र नश्चर्च्यं[14] दिगन्तव्याप्तकीर्तये। जितार्कमूर्तये देया कन्यैं[15] पेत्यर्ककीर्तये ॥१८७॥
सिद्धार्थोऽब्राह तत्सर्वमस्ति[16] किं च पुराविदः[17]। कनीयसोऽपि[18] संबन्धं नेच्छन्ति ज्यायसा सह[19] ॥
ततः प्रतीतभूपालपुत्रा वरगुणान्विताः। प्रभञ्जनो रथवरो बलिर्वज्रायुधाह्वयः ॥१८९॥

पास गयी। राजाने भी उठकर और हाथ जोडकर उसके दिये हुए शेषाक्षत लेकर स्वयं अपने मस्तकपर रखे तथा यह कहकर कन्याको विदा किया कि हे पुत्रि, तू उपवाससे खिन्न हो रही है, अब घर जा, यह तेरे पारणाका समय है ॥१७३-१७९॥ राजा पूर्ण यौवनको प्राप्त हुई उस विकारशून्य कन्याको देखकर उसके विवाहोत्सवकी चिन्ता करने लगा ॥१८०॥ उसने किसी शुभ दिनको कोष्ठबुद्धि, बीजबुद्धि, पदानुसारी और सम्भिन्नश्रोतृ इन चारो बुद्धि ऋद्धियों-के समान श्रुतार्थ, सिद्धार्थ, सर्वार्थ और सुमति नामके मन्त्रियोको बुलाया ॥ १८१ ॥ और पूछा कि हमारे कुलके प्राणस्वरूप इस कन्याके लिए सभी राजा लोग 'प्रार्थना करते हैं इस-लिए तुम लोग विचार कर कहो कि यह कन्या किसको दी जाय ? ॥१८२॥ इस प्रकार पूछनेपर शास्त्रोका समुद्र श्रुतार्थ नामका मन्त्री बोला कि इस विवाहमें सज्जन बन्धुओंका समा-गम होना चाहिए, जमाई बड़े कुलका होना चाहिए, इस विवाहमे बहुत-सा धन खर्च होगा और हम लोगोको अपने जन्म तथा राज्यका फल मिलेगा इसलिए नीतिनिपुण पुरुषोको इस कार्यका अच्छी तरह विचार करना चाहिए ॥१८३-१८४॥ यदि यह सम्बन्ध चक्रवर्तीके साथ किया जाय तो सब राजा अपने बन्धु हो सकते है और आपका वंश भी इक्ष्वाकु वंशकी तरह पूज्य हो सकता है ॥ १८५ ॥ कुल, रूप, वय, विद्या, चारित्र, शोभा और पौरुष आदि जो जो गुण वरोमें खोजना चाहिए वे उसमें इकट्ठे हो गये है। इसलिए इसमे कुछ चर्चाकी आवश्य-कता नही है जिसकी कीर्ति सब दिशाओमे फैल रही है और जिसने अपने तेजसे सूर्यके प्रति-बिम्बको भी जीत लिया है ऐसे चक्रवर्तीके पुत्र अर्ककीर्तिके लिए यह कन्या दी जाय ॥ १८६-१८७ ॥ इसी समय सिद्धार्थ मन्त्री कहने लगा कि आपका यह सब कहना ठीक है परन्तु पूर्व व्यवहारको जाननेवाले छोटे लोगोका बड़ोके साथ सम्बन्ध होना भी अच्छा नही समझते है ॥ १८८ ॥ इसलिए वरके गुणोसे सहित प्रभंजन, रथवर, बलि, वज्रायुध, मेघेश्वर (जयकुमार) और भीमभुज आदि अनेक प्रसिद्ध राजपुत्र है जो एकसे एक बढकर वैभवशाली है तथा चतुर

---

१ गच्छ। २ तव। ३ गृहम्। 'शरणं गृहरक्षित्रो.' इत्यभिधानात्। ४ विवाह। ५ नामधेयान्। ६ कोष्ठबुद्धि-बीजबुद्धिपदानुसारिसंभिन्नश्रोतृभेदानिव। ७ वृण्वते ल०, म०, प०, स०, इ०। प्रार्थयन्ते। ८ विचार्य। ९ पृच्छति स्म। १० धनस्य। ११ अथ वा जन्मन फल राज्यस्य फलम्। १२ मृग्यम्। १३ अर्ककीर्तौ। १४ विचार्यम्। १५ इति प्राहेति सबन्ध। १६ -मस्तु ल०, म०, प०। १७ पूर्ववेदिन'। १८ अल्पस्य। १९ महता सह। ज्यायसा ल०, ब०।

मेघस्वरो भीमभुजस्तथाऽन्येऽप्युदितोदिताः[1] । कृतिनो बहवः सन्ति तेषु[2] यत्रागयोन्मवः ॥१९०॥
शिष्टान् पृष्ट्वा च[4] दैवज्ञान्निरीक्ष्य शकुनानि च । स हितः[5] समसंबन्धस्तस्मै कन्येति दीयताम् ॥१९१॥
श्रुत्वा सर्वार्थवित्सर्वं सर्वार्थः प्रत्युवाच[6] तत् । [7]भूमिगोचरसंबन्धः स नः प्रागपि विद्यते ॥१९२॥
अपूर्वलाभः श्लाघ्यश्च विद्याधरसमाश्रयः । विचार्य तत्र कस्मैचिद्देयेयमिति निश्चितम् ॥१९३॥
सुमतिस्तं निशम्यार्थं[8,9] युक्तानामाह युक्तवित् । न युक्तं वक्तुमप्येतत्[10] सर्ववैरानुबन्धकृत् ॥१९४॥
किं भूमिगोचरेष्वस्या वरो नास्तीति चेतसि । चक्रिणोऽपि भवेत्किंचिद् वैरस्यं प्रस्तुतश्रुतेः[11] ॥१९५॥
दृष्टः सम्यगुपायोऽयं मयाऽत्रैकोऽविरोधकः । श्रुत[12] पूर्वपुराणेषु स्वयंवरविधिर्वरः ॥१९६॥
संप्रत्यकम्पनोपक्रम[13] तदस्त्वायुगावधि[14] । [15]पुरुतत्पुत्रवत्सृष्टि[16] ख्यातिरस्यापि जायताम् ॥१९७॥
दीयतां कृतपुण्याय कस्मैचित् कन्यका स्वयम् । वेधसा[17] विप्रियं[18] नोऽस्मा माभूद्भूभृत्सु[19] केनचित् ॥
इत्येवमुक्तं तत्सर्वैः संमतं सहभूभुजा । नहि मत्सरिणः सन्तो न्यायमार्गानुसारिणः ॥१९९॥
तान्[20] संपूज्य विसर्ज्याभूद्[21] भूभृत्[22] तत्कार्यतत्परः । स्वयमेव गृहं गत्वा सर्वं तत्संविधानकम्[23] २००

है उनमे जिसके लिए अपना चित्त प्रसन्न हो उसके लिए शिष्ट जन तथा ज्योतिषियोसे पूछकर और उत्तम शकुन देखकर कन्या देनी चाहिए क्योकि बराबरीवालोके साथ सम्बन्ध करना ही कल्याणकारी हो सकता है ॥१८६–१९१॥ यह सब सुनकर समस्त विषयोको जाननेवाला सर्वार्थ नामका मन्त्री बोला कि भूमिगोचरियोके साथ तो हम लोगोंका सम्बन्ध पहलेसे ही विद्यमान है, हाँ, विद्याधरोके साथ सम्बन्ध करना हम लोगोके लिए अपूर्व लाभ है तथा प्रशंसनीय भी है इसलिए विचारकर विद्याधरोंमें ही किसीको यह कन्या देनी चाहिए ऐसा मेरा निश्चित मत है ॥१९२–१९३॥ तदनन्तर वहाँपर एकत्रित हुए सब लोगोका अभिप्राय जानकर योग्य बातको जाननेवाला सुमति नामका मन्त्री बोला कि यह सब कहना भी ठीक नही है क्योकि ये सभी बाते शत्रुता उत्पन्न करनेवाली है ॥ १९४ ॥ विद्याधरको कन्या दी है यह सुननेसे चक्रवर्तीके चित्तमें भी 'क्या भूमिगोचरियोंमे इसके योग्य कोई वर नही है' यह सोचकर कुछ बुरा लगेगा ॥ १९५ ॥ इस विषयमे किसीसे विरोध नही करनेवाला एक अच्छा उपाय मैंने सोचा है और वह यह है कि प्राचीन पुराणोमें स्वयंवरकी उत्तम विधि सुनी जाती है। यदि इस समय सर्वप्रथम अकम्पन महाराजके द्वारा उस विधिका प्रारम्भ किया जाय तो भगवान् वृषभदेव और उनके पुत्र सम्राट् भरतके समान संसारमें इनकी प्रसिद्धि भी युगके अन्त तक हो जाय ॥ १९६–१९७ ॥ इसलिए यह कन्या स्वयंवरमें जिसे स्वीकार करे ऐसे किसी पुण्यशाली राजकुमारको देनी चाहिए। ऐसा करनेसे हम लोगोका आदिब्रह्मा भगवान् वृषभदेव अथवा युगव्यवस्थापक सम्राट् भरतसे कुछ विरोध नही होगा, और न राजाओका भी परस्परमे किसीके साथ कुछ वैर होगा ॥ १९८ ॥ इस प्रकार सुमति नामके मन्त्रीके द्वारा कही सब बातें राजाके साथ-साथ सबने स्वीकृत की सो ठीक ही है क्योकि नीतिमार्गपर चलनेवाले पुरुष मात्सर्य नही करते ॥ १९९ ॥ तदनन्तर राजाने सन्मान कर मन्त्रियोको विदा किया और स्वय

१ उपर्युपर्यभ्युदयवन्त । २ पुसि । ३ चित्तोत्सवोऽस्ति । ४ ज्योतिष्कान् । ५ अस्माभि सह संबन्धः संबन्धवान् वा । ६ तम् अ०, प०, स०, इ०, ल०, म० । ७ भूचर । ८ अभिप्रायम् । ९ मिलितानाम् । श्रुतार्थादीनाम् । १० सर्व वैरा – प०, ल० । ११ विवाहवार्ताश्रवणात् । १२ पूर्वस्मिन् श्रुत १३ अकम्पनेन प्रक्रमोपक्रान्तम् । १४ स्वयवरनिर्माणम् । १५ पुरुजित्भरतराजवत् । १६ स्रष्टु ट० । स्वयवरस्य स्रष्टा इति प्रसिद्धिः । सृष्टिरिति पाठे स्वयंवरस्य सृष्टिप्रसिद्धि. । १७ ब्रह्मणा । 'स्रष्टा प्रजापतिर्वेधा विधाता विश्वसृड्विधि ' इत्यभिधानात् । १८ विरुद्धम् । अप्रियमित्यर्थ. । १९ नृपेषु । २० मन्त्रिण । २१ अकम्पनः । २२ स्वयंवरकार्य । २३ प्रस्तुतं कृत्य ।

निवेद्य सुप्रभायाश्च[1] हृष्टो हेमाङ्गदस्य[2] च । वृद्धैः कुलक्रमायातैरालोच्य च सनाभिभिः ॥२०१॥
अत्रैकेषां[3] निसृष्टार्थान्[4] मितार्थानपरान्[5] प्रति । परेषां [6]प्राभृतान्तःस्थपत्रान् शासनहारिणः[7] ॥२०२॥
स दानमानैः संपूज्य निवेद्यैतत्प्रयोजनम्[8] । समानेतुं महीपालाद् सर्वदिक्कं[9] समादिशत् ॥२०३॥
ज्ञात्वा तदाशु तद्बन्धुर्विचित्राङ्गदसंज्ञकः[10] । सौधर्मकल्पादागत्य देवोऽवधिविलोचनः ॥२०४॥
अकम्पनमहाराजमालोक्य वयमागताः । सुलोचनायाः पुण्यायाः[11] स्वयंवरमवेक्षितुम् ॥२०५॥
इत्युक्त्वोपपुरे[12] योग्ये रम्ये राजाभिसंमते । [13]ब्रह्मस्थानोत्तरे भागे प्रधीरे[14] वरवास्तुनि[15] ॥२०६॥
प्राङ्मुखं सर्वतोभद्रं मङ्गलद्रव्यसंभृतम् । विवाहमण्डपोपेतं प्रासादं बहुभूमिकम्[16] ॥२०७॥
[17]चित्रप्रतोलीप्राकारपरिकर्मगृहावृतम्[18] । भास्वरं मणिभिर्भर्माभ्यां[19] विधाय विधिवत् सुधीः ॥२०८॥
[20]तं परीत्य विशुद्धोरु सुविभक्तमहीतलम् । चतुरस्रं चतुर्द्वारशालगोपुरसंयुतम्[21] ॥२०९॥
रत्नतोरणसंकीर्णकेतुमालाविलासितम् । हटत्कूटाग्रनिर्भासि भर्मकुम्भाभिशोभितम्[22] ॥२१०॥
स्थूलनीलोत्पलाबद्धस्फुरद्दीप्तिधरातलम् । विचित्रनेत्रविस्तीर्णवितानाति[23] विराजितम् ॥२११॥

कार्य करनेमें जुट गया। उसने सबसे पहले घर जाकर ऊपर लिखे हुए समाचार सुप्रभादेवी और हेमागद नामके ज्येष्ठ पुत्रको कह सुनाये तथा कुलपरम्परासे आये हुए वृद्ध पुरुषो और सगोत्री बन्धुओके साथ पूर्वापर विचार किया ॥२००–२०१॥ कितने ही राजाओके पास निसृष्टार्थ अर्थात् स्वय विचार कर कार्य करनेवाले दूत भेजे, कितनो ही के पास मितार्थ अर्थात् कहे हुए परिमित समाचार सुनानेवाले दूत भेजे और कितनो ही के पास उपहारके भीतर रखे हुए पत्रको ले जानेवाले दूत भेजे। इस प्रकार दान और सन्मानके द्वारा पूजित कर तथा स्वयवरका प्रयोजन बतलाकर राजाने भूपालोको बुलानेके लिए सभी दिशाओमें अपने दूत भेजे ॥२०२–२०३॥ यह सब समाचार जानकर अवधिज्ञानरूपी नेत्रोको धारण करनेवाला विचित्रागद नामका देव जो कि पूर्वभवमें राजा अकम्पनका भाई था सौधर्म स्वर्गसे आया और अकम्पन महाराजके दर्शन कर कहने लगा कि मै पुण्यवती सुलोचनाका स्वयवर देखनेके लिए आया हूँ ॥२०४–२०५॥ ऐसा कहकर उसने राजाकी आज्ञानुसार नगरके समीप ब्रह्मस्थानसे उत्तरदिशाकी ओर अत्यन्त शान्त, उत्कृष्ट, योग्य और रमणीय स्थानमे एक सर्वतोभद्र नामका राजभवन बनाया जिसका मुख पूर्व दिशाकी ओर था, जो मगलद्रव्योसे भरा हुआ था, विवाहमण्डपसे सहित तथा कई खण्डका था ॥२०६–२०७॥ वह राजभवन अनेक प्रकारकी गलियो, कोटो तथा श्रृंगार करनेके घरोसे घिरा हुआ था, देदीप्यमान था और मणियो तथा सुवर्णसे बना हुआ था। इस प्रकार उस बुद्धिमान् देवने विधिपूर्वक राजभवनकी रचना कर उसके चारो ओर स्वयवरका महाभवन बनाया था जो कि विशुद्ध था, बडा था, जिसका पृथ्वीभाग अलग-अलग विभागोमे विभक्त था, जो चौकोर था, जिसमे चार दरवाजे थे, जो कोट तथा गोपुरद्वारोसे सुशोभित था, रत्नोके तोरणोसे मिली हुई पताकाओकी पक्तियोसे शोभायमान हो रहा था, देदीप्यमान शिखरोके अग्रभागपर चमकते हुए सुवर्णके कलशोसे अलकृत

---

१ सुप्रजायाश्च अ०, प०। २ निजज्येष्ठपुत्रस्य। ३ केषाचिन्नृपाणाम्। ४ स्वयमेव विचारितकार्यान्। ५ परिमितकार्यार्थान्। ६ उपायन। ७ वचोहरान्। –पत्रशासन–ल०। ८ स्वयंवरकार्यम्। ९ स्वयवरदिशाम्। १० अकम्पनस्य मित्रम्। ११ पवित्राया। १२ पुरसमीपे। १३ पदविन्यासान्निश्चितमध्यभागस्योत्तरे। १४ अतिगम्भीरे। १५ वरवास्तुदेशे। 'वेश्म भूर्वास्तुरस्त्रियाम्' इत्यभिधानात्। १६ –भूमिपम् ल०, म०। १७ गोपुररथ्या वा। १८ श्रृङ्गारगृह। १९ 'भर्म रुक्मं हाटक शातकुम्भम्' इत्यभिधानपाठाददन्त.। २० सर्वतोभद्र परिवेष्ट्य। २१ द्वारं शाल–ल०, म०,अ०, प०, स०, इ०। २२ कनककलश। २३ वस्त्रविशेष।

भोगोपभोगयोग्योरुसर्ववस्तुसमाचितम्[1] । यथास्थानगताशेषरत्नकाञ्चननिर्मितम् ॥२१२॥
मुदा निष्पादयामास स्वयंवरमहागृहम् । न साधयन्ति केऽभीष्टं पुंसां शुभविपाकतः[3] ॥२१३॥
तं निरीक्ष्य क्षितेर्भर्त्ता लक्ष्मीलीलागृहायितम् । नासीत् स्वाङ्गे[4] स संतोषात् सन्मित्रात् किन्न जायते ॥
अथ प्रादुरभूत् कालः [5]सुरभिर्मत्तमन्मथः । मुदं मदं च संचिन्वन् कामिषु भ्रमरेषु च ॥२१५॥
ववौ मन्दं गजोद्घृष्टचन्दनद्रवसारभृत् । एलालवङ्गसंसर्गपङ्गुलो[6] मलयानिलः ॥२१६॥
मलयानिलमाश्लेष्टुं[7] संबन्धिनमुपागतम् । लताद्रुमाः सुशाखानां [8]प्रसारणमिवादधुः[9] ॥२१७॥
यमसंबन्धिदिक्त्यागं रविर्भीत इवाकरोत् । मदेन कोकिलाः काले कूजन्ति स्म निरंकुशम् ॥२१८॥
[10]पुष्पमार्तवमाप्ता नः[11] शाखा न स्पृशतेति तान् । अलीन् वासं निषिध्यन्तश्चम्पकाश्चलपल्लवैः ॥२१९॥
वसन्तश्रीवियोगो[12] वा सशोकोऽशोकभूरुहः । सपुष्पपल्लवो नाम सार्थं तत्संगमाद् व्यधात् ॥२२०॥
मूलस्कन्धाग्रमध्येषु चूताद्यैरिव मत्सरात् । सुरभीणि प्रसूनानि सुरभिश्च[13] तदा दधे ॥२२१॥

था, जिसका धरातल बड़े-बड़े नीलमणियोसे जड़ा हुआ होनेके कारण जगमगा रहा था, जो नेत्र जातिके वस्त्रोसे बने हुए बड़े-बड़े चन्दोवोसे सुशोभित था, भोग उपभोगके योग्य समस्त वड़ी-वड़ी वस्तुओसे भरा हुआ था और योग्य स्थानपर लगाये हुए सब प्रकारके रत्नो तथा सुवर्णसे वना हुआ था। इस प्रकारका स्वयवरका यह महाभवन उस देवने बड़ी प्रसन्नतासे वनाया था सो ठीक ही है क्योकि पुण्योदयसे पुरुषोंके अभीष्ट अर्थको कौन-कौन सिद्ध नही करते हैं अर्थात् सभी करते है ॥२०८–२१३॥ लक्ष्मीके लीलागृहके समान उस स्वयंवर भवनको देखकर राजा अकम्पन सन्तोषसे अपने शरीरमें नही समा रहे थे सो ठीक ही है क्योकि उत्तम मित्रोसे क्या नही होता है ? अर्थात् सभी कुछ होता है ॥२१४॥

अथानन्तर–कामको उन्मत्त करनेवाले तथा कामी लोगो और भ्रमरोसे क्रमशः आनन्द और मदको वढानेवाले वसन्तऋतुका प्रारम्भ हुआ ॥२१५॥ हाथियोके द्वारा घिसे हुए चन्दन-वृक्षोके निष्यन्दरूपी सारको धारण करनेवाला तथा इलायची और लवंगके संसर्गसे कुछ-कुछ पीला हुआ मलयपर्वतका वायु धीरे-धीरे वहने लगा ॥२१६॥ उस समय लताओ और वृक्षोकी जो शाखाएँ फैल रही थी उनसे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो समीप आये हुए अपने सम्बन्धी मलयानिलका आलिंगन करनेके लिए ही भुजारूप शाखाएँ फैला रहे हो ॥२१७॥ उस समय सूर्यने मानो डरकर ही यम सम्बन्धी–दक्षिण दिशाका त्याग कर दिया था अर्थात् उत्तरायण हो गया था और कोयले मदसे निरंकुश होकर मधुर शब्द कर रही थी ॥२१८॥ 'ये हमारी शाखाएँ आर्तव अर्थात् वसन्त ऋतुमें उत्पन्न होनेवाले अथवा रजस्वला अवस्थामें प्रकट होने-वाले पुष्पको प्राप्त हो रही हैं–धारण कर रही हैं इसलिए इन्हे मत छुओ' यही कहते हुए मानो चम्पाके वृक्ष अपने हिलते हुए पल्लवोके द्वारा भ्रमरोको वहाँपर निवास करनेका निषेध कर रहे थे ॥२१९॥ जो वसन्त ऋतुरूपी लक्ष्मीके वियोगमें सशोक था अर्थात् शोक धारण कर रहा था ऐसा अशोकका वृक्ष उस वसन्त ऋतुके सम्बन्धसे फूल और पल्लवोसे सहित हो अपना अशोक नाम सार्थक कर रहा था ॥२२०॥ उस समय चमेलीने आम आदि वृक्षोके साथ ईर्ष्या

---

१ संभृतम् । २ प्रदेशमनतिक्रम्य । ३ शुभकर्मोदयात् । ४ हर्षेण निजशरीरे न ममावित्यर्थः । नामात् ल०, म०, अ०, स०, प०, इ० । ५ वसन्त. । 'वसन्ते पुष्पसमय सुरभिर्ग्रीष्म उष्मक ।' इत्यभिधानात् । ६ पदवैकल्यवान् । ७ आलिङ्गनाय । ८ करप्रसारणमिव । ९ चक्रिरे । १० ऋतु पुष्पोत्पत्तिनिमित्तभूतकाल-विशेषं रजोत्पत्तिनिमित्तं कालविशेष च । ११ अस्माकम् । १२ वियोगे ल० । १३ सल्लकीतरुः । "गन्धिनी गजभक्ष्या तु सुवहा सुरभी रसा । महेरणा कुन्दुरुकी सल्लकी ह्लादिनीति च" इत्यभिधानात् ।

आकृष्टदिग्गजालीनि[1] वकुलानि वने वने । हानौ[2] [3]गुणाधिकान्यासंस्तुलितानि[4] कुलोद्गतैः[5] ॥२२२॥
क्रीडनासक्तकान्ताभिर्बाध्यमानाः सगीतिभिः । आन्दोलाः स्तम्भसंभूतैः ससाक्रोशमिव[6] स्वनैः ॥२२३॥
सुन्दरेष्वपि कुन्देषु मधुपा मन्दतृप्तयः । माधवीमधुपानेन मुदा मधुरमारुवन्[7] ॥२२४॥
भवेदन्यत्र[8] कामस्य रूपवित्तादि[9] साधनम् । कालैकसाधनः[10] सोऽस्मिन्[11] वनस्पति[12] जृम्भते[13] ॥२२५॥
नरविद्याधराधीशान् गत्वा [14]तत्कालसाधनात् । दूताः स्वयंवरालापं सर्वांस्तान् समबोधयन् ॥२२६॥
ततो नानानकध्वानप्रोत्कर्णीकृतदिग्द्विपाः । निजाङ्गनाननाम्भोजपरिम्लानिविधायिनः ॥२२७॥
[15]वियद्विभूतिमाक्रम्य विमानैर्गतमानकैः[16] । सद्यो विद्याधराधीशा द्योतमानदिगाननाः ॥२२८॥
सुलोचनाभिधाकृष्टि[17]विद्याकृष्टाः समापतन्[18] । कामिनां न पराकृष्टि[19]विद्यामुक्त्वेप्सितस्त्रियः ॥२२९॥

होनेके कारण ही मानो जड़, स्कन्ध, मध्यभाग और ऊपर–सभी जगह सुगन्धित फूल धारण किये थे ॥२२१॥ जिन्होने दिग्गजोके भ्रमरोंको भी अपनी ओर खीच लिया है और जो उच्च-कुलमे उत्पन्न हुए बड़े पुरुषोके समान है ऐसे मौलश्रीके वृक्ष प्रत्येक वनमे अपनी हानि होनेपर भी गुणोकी अधिकता ही धारण कर रहे थे। भावार्थ–जिस प्रकार कुलीन मनुष्य हानि होनेपर भी अपना गुण नही छोड़ते है उसी प्रकार मौलश्रीके वृक्ष भी भ्रमरो-द्वारा रसका पान किया जाना रूप हानिके होनेपर भी अपना सुगन्धिरूप गुण नही छोड़ रहे थे ॥२२२॥ जो गीत गा रही है तथा खेलनेमे लगी हुई हैं ऐसी सुन्दर स्त्रियाँ जो झूला झूल रही थी और उनके झूलनेसे जो उनके खम्भोसे चूँ चूँ शब्द हो रहा था उनसे वे झूले ऐसे जान पड़ते थे मानो उन स्त्रियोके द्वारा पीड़ित होकर ही चिल्ला रहे हो ॥२२३॥ जिन्हे कुन्दके सुन्दर फूलोपर अच्छी तृप्ति नही हुई है ऐसे भ्रमर माधवी (मधुकामिनी) लताका रस पीकर आनन्दसे मधुर शब्द कर रहे थे ॥२२४॥ वसन्तको छोड़कर अन्य ऋतुओमे अच्छा रूप होना आदि भी कामदेवके साधन हो सकते है परन्तु इस वसन्तऋतुमे एक समय ही जिसका साधन है ऐसा यह काम वनस्पतियो तक फैल जाता है। भावार्थ–अन्य ऋतुओमें सौन्दर्य आदिसे भी कामकी उद्भूति हो सकती है परन्तु वसन्तऋतुमे कामकी उद्भूतिका कारण समय ही है। उस समय सौन्दर्य आदिका अभाव होनेपर भी केवल समयकी उत्तेजनासे कामकी उद्भूति देखी जाती है और उसका क्षेत्र केवल मनुष्यो तक ही सीमित नही रहता किन्तु वनस्पतियो तकमे फैल जाता है ॥२२५॥ उस वसन्तऋतुकी सहायतासे उन दूतोने भूमिगोचरी और विद्याधर राजाओके पास जाकर उन सबको स्वयवरके समाचार बतलाये ॥२२६॥

तदनन्तर अनेक नगाडोके शब्दोसे दिग्गजोके कान खड़े करनेवाले, अपनी स्त्रियोके मुखरूपी कमलोको म्लान करनेवाले, सब दिशाओके मुखको प्रकाशित करनेवाले और सुलोचना इस नामरूपी आकर्षिणी विद्यासे आकर्षित हुए अनेक विद्याधरोके अधिपति अपने अनेक विमानो-से आकाशके विस्तारको कम करते हुए बहुत शीघ्र आ पहुँचे सो ठीक ही है क्योकि कामी लोगो-को अपनी अभीष्ट स्त्रियोको छोड़कर और कोई उत्तम आकर्षिणी विद्या नही है ॥२२७–२२९॥

१ आकृष्टा दिग्गजगण्डवर्त्यलयो यैस्तानि । २ पुष्पामोदत्यागे सति । ३ गन्धगुणाधिकानि । उपकारादिगुणाधिकानि । ४ सदृशीकृतानि । ५ विशुद्धवंशोद्भूतै । ६ आक्रोशं चक्रिरे । ७ ध्वनन्ति स्म । ८ अन्यस्मिन् काले । ९ स्त्रीपुंसा रूपधनभूषणादि । १० काल एक एव साधनं यस्य स । ११ वसन्तकाले । १२ वनस्पतिपर्यन्तम् । १३ वर्द्धते । १४ वसन्तकाल । १५ आकाशविस्तृतिम् । १६ अपरिच्छिन्नप्रमाणकैं । अपरिमितैरित्यर्थ. । –ततमानकैं ल०, म० । १७ सुलोचनानामैव आकर्षणविद्या तया आकृष्टा आकर्षिता । १८ आगच्छन्ति स्म । १९ आकर्षणविद्या ।

अभिगम्य[1] नृपः[2] क्षिप्रं स्वयमाविष्कृतोत्सवः। चेतः सौलोचनं[3] वैतान् प्रीतान् प्रावेशयत्पुरम् ॥२३०॥
स्वगेहादिषु संप्रीत्या समुद्बद्धोत्सवध्वजः। [4]आकम्पनिभिराविष्कृतादरैः परिवारितः ॥२३१॥
सांशुकर्ममिवोद्यन्तमर्ककीर्तिं सहानुजम्। अकम्पननृपोऽभ्येत्य[5] भरतं[6] वाऽनयत्पुरम् ॥२३२॥
स्वादरेणैव[7] संसिद्धिं भाविनीं तस्य सूचयन्। नाथवंशाग्रणीमेघस्वरं चानेतुमभ्ययात् ॥२३३॥
ततो महीभृतः सर्वे त्रिसमुद्रान्तरस्थिताः। पूरा इव पयोराशिं प्रापुः [8]स्फीतीकृतश्रियः ॥२३४॥
स्वयमर्धपथं गत्वा केषांचित् सर्वसंपदा। केषांचिद् गमयित्वाऽन्यान् मान्यान् हेमाङ्गदादिकान् ॥२३५॥
ये ये यथा यथा प्राप्ताः पुरीं तां स्तांस्तथा तथा। आह्वयन्तीं पताकाभिर्वोच्छ्रिताभिर्वा विशन्[9] ॥२३६॥
तदा तं राजगेहस्थं नरविद्याधराधिपैः। वृत्तं सुलोचनाऽकार्षीत् पितरं जितचक्रिणम् ॥२३७॥
वाराणसी जितायोध्या [10]स्वनाम्नस्तां[11] निराकरोत्। कन्यारत्नात् परं[12] नान्यदित्यत्राहुः प्रभृत्यतः २३८
तान् स्वयंवरशालायामर्ककीर्तिपुरस्सरान्। निवेश्य प्रीणयामास कृताभ्यागतसत्क्रियः ॥२३९॥

अनेक उत्सवोको प्रकट करनेवाले राजा अकम्पनने स्वयं ही बहुत शीघ्र उन राजाओंकी अगवानी की और प्रसन्न हुए उन राजाओंको सुलोचनाके चित्तके समान वाराणसी नगरीमे प्रवेश कराया ॥२३०॥ जिसने बड़े प्रेमसे अपने घर आदिमे उत्सवकी ध्वजाएँ बँधायी है और आदरको प्रकट करनेवाले हेमागद आदि पुत्र जिसके साथ है ऐसे राजा अकम्पनने किरणों सहित उदय होते हुए सूर्यके समान अपने छोटे भाइयो सहित आये हुए अर्ककीर्तिकी अगवानी कर उसे महाराज भरतके समान नगरमें प्रवेश कराया ॥२३१-२३२॥ इसी प्रकार अपने आदरसे ही मानो उसकी आगे होनेवाली सिद्धिको सूचित करता हुआ नाथवंशका अग्रणी राजा अकम्पन जयकुमारको लेनेके लिए उसके सामने गया ॥२३३॥ तदनन्तर जिस प्रकार पूर समुद्रकी ओर जाता है उसी प्रकार तीनो (पूर्व, पश्चिम, दक्षिण) समुद्रोके बीचके रहनेवाले सब राजा लोग अपनी अपनी शोभा बढाते हुए वाराणसी आ पहुँचे ॥२३४॥ राजा अकम्पन कितने ही राजाओके सामने तो अपनी सब विभूतिके साथ स्वय आधी दूर तक गया था और कितनो ही के सामने उसने मान्य हेमागद आदिको भेजा था ॥२३५॥ जो राजा जिस-जिस प्रकारसे आ रहे थे उन्हे उसी-उसी प्रकारसे उसने, अपनी फहराती हुई पताकाओसे जो मानो बुला ही रही हो ऐसी बनारस नगरीमे प्रवेश कराया था ॥२३६॥ उस समय सुलोचनाने राजमहलमे विराजमान तथा भूमिगोचरी और विद्याधर राजाओसे घिरे हुए अपने पिताको चक्रवर्तीको भी जीतनेवाला बना दिया था। भावार्थ–महलमे इकट्ठे हुए अनेक राजाओसे राजा अकम्पन चक्रवर्तीके समान जान पड़ता था ॥२३७॥ उस समय अयोध्याको भी जीतनेवाली वाराणसी नगरी अपने नामसे ही उसका तिरस्कार कर रही थी। क्योकि उस स्वयंवरके समयसे ही लेकर इस संसारमे कन्या-रत्नके सिवाय और कोई उत्तम रत्न नही है, यह बात प्रसिद्ध हुई है। भावार्थ–कदाचित् कोई कहे कि चक्रवर्तीकी राजधानी होनेसे चौदह रत्न अयोध्यामे ही रहते है इसलिए वही उत्कृष्ट नगरी हो सकती है न कि वाराणसी भी, तो इसका उत्तर यह है कि ससारमे सर्वोत्कृष्ट रत्न कन्यारत्न है जो कि उस समय वाराणसीमे ही रह रहा था अतः उत्कृष्ट रत्नका निवास होनेसे वाराणसीने अयोध्याका तिरस्कार कर दिया था ॥२३८॥ अतिथियोका सत्कार

१ अभिमुखं गत्वा। २ अकम्पनः। ३ सुलोचनाचित्तमिव। ४ अकम्पनस्यापत्यैः। ५ अभिमुखं गत्वा। ६ भरतमिव। ७ अकम्पनस्यादरेण। ८ वृद्धीकृत। ९ प्रावेशयत्। १० अयोध्याभिधानात्। ११ अयोध्योवितम्। अथवा योद्धुमशक्या अयोध्या एतल्लक्षण तदा तस्या अयोध्याया नास्तीति भाव। १२ उत्कृष्टम्।

पुरोपार्जितसद्धर्मात् सर्वमेतत्ततः[1] पुरा[2] । धर्म एव समभ्यर्च्य इति संचिन्त्य विद्वरः[3] ॥२४०॥
कृत्वा जैनेश्वरीं पूजां दीनानाथवनीपकान्[4] । अनर्थिनः[5] समर्थ्याशु[6] सर्वत्यागोत्सवोद्यतः ॥२४१॥
तां लक्ष्मीमक्षयां मत्वा सफलां चाप्तसद्व्ययाम् । स तदाभूत् क्षतेरेकभोग्यः[7] क्षितिरिवात्मनः ॥२४२॥
एवं विहिततत्पूजः[8] प्रकृतार्थं[9] प्रचक्रमे । प्रारम्भाः सिद्धिमायान्ति पूज्यपूजापुरस्सराः[10] ॥२४३॥
आस्फालिता तदा भेरी विवाहोत्सवशंसिनी । व्याप्नोत्[11] प्रमोदः प्राक् चेतः पश्चात् कर्णेषु तद्ध्वनिः॥
पुष्पोपहारिभूभागानृत्यत्केतुनभस्तला । निर्जिताब्धिमहातूर्यध्वानाध्मातदिगन्तरा ॥२४५॥
विशोधितमहावीथिदेशा प्रोद्बद्धतोरणा । पुनर्नवसुधाक्षोदधवलीकृतसौधिका[12] ॥२४६॥
रञ्जिताञ्जनसन्नेत्रा मालाभारिशिरोरुहा । संस्कृतभ्रूलतोपेता सविशेषललाटिका[13] ॥२४७॥
[14]मणिकुण्डलभारेण प्रलम्बश्रवणोज्ज्वला । सचित्रकरविन्यस्तपत्रचित्रकपोलिका[15] ॥२४८॥
ताम्बूलरससंसर्गाद् द्विगुणारुणिताधरा । मुक्ताभरणभाभारभासिबन्धुरकण्ठिका[16] ॥२४९॥
सचन्दनरसस्फारहारवक्षःकुचाञ्चिता[17] । [18]महामणिमयूखातिभास्वद्भुजलतातता ॥२५०॥

करनेवाले राजा अकम्पनने उन अर्ककीर्ति आदि राजाओको स्वयंवरशालामे ठहराकर प्रसन्न किया था ॥२३९॥ यह सब पहले उपार्जन किये हुए समीचीन धर्मसे ही होता है इसलिए सबसे पहले धर्म ही पूजा करनेके योग्य है ऐसा विचार कर विद्वानोमे श्रेष्ठ राजा अकम्पन श्री जिनेन्द्र-देवकी पूजा कर तथा दीन, अनाथ और याचकोको अयाचक बनाकर सबका त्याग करनेरूप उत्सवके लिए शीघ्र ही तैयार हो गया । वह अच्छे कामोमे खर्च की हुई लक्ष्मीको क्षयरहित और सफल मानने लगा तथा जिस प्रकार उसकी पृथिवी उसके उपभोग करनेके योग्य थी उसी प्रकार उस समय वह समस्त पृथिवीके उपभोग करने योग्य हो गया था । भावार्थ—पृथिवीके सब लोग उसके राज्यका उपभोग करने लगे थे ॥२४०-२४२॥ इस प्रकार उसने जिनेन्द्रदेवकी पूजा कर अपना प्रकृत कार्य प्रारम्भ किया सो ठीक ही है क्योकि पूज्य पुरुषोकी पूजापूर्वक किये हुए कार्य अवश्य ही सफलताको प्राप्त होते है ॥२४३॥ उसी समय विवाहके उत्सवको सूचित करनेवाली भेरी बज उठी सो पहले सबके चित्तमे आनन्द छा गया और पीछे भेरीकी आवाज कानोंमे व्याप्त हुई ॥२४४॥ उस समय वहाँ पृथिवीपर जहाँ-तहाँ फूलोंके उपहार पड़े हुए थे, आकाशमे पताकाएँ नृत्य कर रही थी, समुद्रकी गर्जनाको जीतनेवाले बड़े-बड़े नगाड़ोसे दिशाएँ शब्दायमान हो रही थी, वहाँकी बड़ी-बड़ी गलियाँ शुद्ध की गयी थी, उनमें तोरण बाँधे गये थे और बडे-बड़े महल नये चूनाके चूर्णसे पुनः सफेद किये गये थे ॥२४५-२४६॥ वहाँकी स्त्रियोके उत्तम नेत्र कज्जलसे रगे हुए थे, शिरके केश मालाओको धारण कर रहे थे, भौहरूपी लताएँ सस्कार की हुई थी, उनके ललाटपर सुन्दर तिलक लगा हुआ था, उज्ज्वल कर्ण मणियोके बने हुए कुण्डलोके भारसे कुछ-कुछ नीचेकी ओर झुक रहे थे, कपोलोपर हाथसे बनायी हुई पत्ररचनाके चित्र बने हुए थे, पानके रसके सम्बन्धसे उनके ओठोकी लाली दूनी हो गयी थी, उनके कण्ठ मोतियोके आभूषणोकी कान्तिके भारसे बहुत ही सुशोभित हो रहे थे, उनका वक्ष स्थल चन्दनका लेप, बड़ा हार और स्तनोंसे शोभायमान हो रहा था, उनकी भुजा-रूपी लताएँ बडे-बड़े मणियोकी किरणोसे देदीप्यमान हो रही थी, उनका विशाल नितम्बस्थल

१ ततः कारणात् । २ पूर्वम् । ३ विदा वर । ४ याचकान् । ५ अनिच्छन् । ६ प्रकाश्य । ७ सर्वजनस्य । ८ कृत-जिनपूजः । ९ प्रकृतकार्यम् । १० पूज्याना पूजा पुरस्सरा येषु ते । ११ प्रसरति स्म । १२ नूतनसुधालेपधवली-कृतहर्म्या । १३ तिलकसहितभालस्थला । १४ रत्नकर्णवेष्टन । १५ प्रशस्तचित्रिकाजनचित्रितमकरिकापत्रादि-विविधरचनावद्गण्डमण्डला । १६ मनोज्ञग्रीवा । १७ प्रशस्तश्रीखण्डकर्दमकलितवक्षमास्फुरणहारान्वितकुचाभ्या च पूजिता । १८ मयूखाभा 'त०' पुस्तकं विहाय सर्वत्र ।

रशनारज्जुविभ्राजिसुविशालकटीतटी । मणिनूपुरनिर्घोषभर्त्सिताब्जक्रमाब्जिका ॥२५१॥
जितामरपुरीशोभा सौन्दर्यात् सा पुरी तदा । प्रसाधनमयं[1] कायम[2] धिताचिन्त्यवैभवम् ॥२५२॥
उत्सवो राजगेहस्य नगरेणैव वर्णितः । अगाधो यदि पर्यन्तो मध्यमब्धेः[3] किमुच्यते ॥२५३॥
न चित्रं तत्र[4] सच्चित्तो[5] सोत्सवोऽन्तर्बहिश्च तत् । [6]तद्भूत्स्वभूषया यस्मात्[7] कुड्याद्यपि विचेतनम् ॥२५४॥
भोक्तृशून्यं न भोगाङ्गं[8] न भोक्ता भोगवर्जितः । [9]तत्र सन्निहितोऽनङ्गो लक्ष्मीश्चाविष्कृतोदया ॥२५५॥
पश्य पुण्यस्य माहात्म्यमिहापीति[10] तदुत्सवम्[11] । विलोक्य कृतधर्माणः[12] पुरस्थान् बहु मेनिरे ॥२५६॥
[13]उदसुन्वन् फलं मत्वा धर्मस्य मुनयोऽपि तत् । धर्माधर्मफलालोकात् स्वभावः स हि तादृशाम् ॥२५७॥
कन्यागृहात्तदा कन्यामन्यां वा कमलालयाम्[14] । पुरोभूय[15] [16]पुरन्ध्र्यस्तामीषल्लज्जात्तसाध्वसाम्[17] ॥
विवाहविधिवेदिन्यः कृततत्कालसत्क्रियाम् । समानीय सदैवज्ञा[18] महातूर्यरवान्विताम् ॥२५९॥
सर्वमङ्गलसंपूर्णे मुक्तालम्बू[19]पभूषिते । चतुःकाञ्चनसुस्तम्भे भूरिरत्नस्फुरत्त्विषि ॥२६०॥
प्रमोदात् सुप्रभादेशाद्[20] विवाहोत्सवमण्डपे । कलधौतमये पट्टे[21] निवेश्य प्राङ्मुखीं सुखम् ॥२६१॥

करधनीरूपी रज्जुसे सुशोभित हो रहा था, और उनके चरणकमल मणिमयी नूपुरोकी झनकारसे कमलोका तिरस्कार कर रहे थे ॥२४७–२५१॥ इस प्रकार अपनी सुन्दरतासे स्वर्गपुरीकी शोभाको जीतनेवाली वह नगरी उस समय अचिन्त्य वैभवशाली अलंकारमय शरीरको धारण कर रही थी ॥२५२॥ राजमहलका उत्सव तो नगर ही कह रहा था क्योकि समुद्रके किनारेका भाग ही जब अगाध है तब उसके बीचका क्या पूछना है ? भावार्थ–जब नगरमे ही भारी उत्सव हो रहा था तब राजमहलके उत्सवका क्या पूछना था ? ॥२५३॥ वहाँके सचेतन प्राणी अन्तरंग और बहिरग सब जगह उत्सव मना रहे थे इसमें कुछ भी आश्चर्य नही है क्योकि वहाँकी दीवाले आदि अचेतन पदार्थ भी तो अपने अलंकारो-द्वारा सचेतन प्राणियोंके समान ही उत्सव मना रहे थे । भावार्थ–दीवाले आदि अचेतन पदार्थ भी अलंकारोसे सुशोभित किये गये थे जिससे वे ऐसे जान पडते थे मानो उल्लाससे अलंकार धारण कर स्वय ही उत्सव मना रहे हों ॥२५४॥ वहाँपर भोगोपभोगका कोई भी पदार्थ भोक्तासे रहित नहीं था और न कोई भोक्ता भी भोगोपभोगके पदार्थसे रहित था, वहाँपर कामदेव सदा समीप ही रहता था और लक्ष्मी उदयरूप रहती थी ॥२५५॥ इस जन्ममे ही पुण्यका माहात्म्य देखो ऐसा सोचते हुए कितने ही धर्मात्मा लोग वहाँका उत्सव देखकर उस नगरके रहनेवाले लोगोको बड़े आदरकी दृष्टिसे देख रहे थे ॥२५६॥ मुनि लोग भी उसे धर्मका फल मानकर प्रसन्न हुए थे सो ठीक है क्योकि धर्मका फल देखकर प्रसन्न होना धर्मात्मा लोगोका स्वभाव है और अधर्मका फल देखकर प्रसन्न होना अधर्मात्मा लोगोका स्वभाव है ॥२५७॥ उसी समय विवाहकी विधिको जाननेवाली सौभाग्यवती स्त्रियाँ, जिसने तात्कालिक सत्क्रियाएँ की है, जो लज्जासे कुछ भयभीत हो रही है, जिसके आगे बड़े-बडे नगाडोके शब्द हो रहे है, ज्योतिष शास्त्रको जाननेवाले अनेक विद्वान् जिसके साथ है और जो दूसरी लक्ष्मीके समान जान पड़ती है ऐसी उस कन्याको उसके सामने जाकर उसके घरसे सब प्रकारके मंगल द्रव्योसे भरे हुए, मोतियोके आभूषणोसे सुशोभित, सुवर्णके बने हुए चार उत्तम खम्भोसे युक्त और अनेक रत्नोंकी कान्तिसे जगमगाते हुए

१ अलंकारस्वरूपम् । २ बिभर्ति स्म । ३–मब्धौ ल० । ४ पुर्याम् । ५ चेतनवान् । ६ उत्सववत् । ७ यस्मात् कारणात् । ८ स्रक्चन्दनादि । ९ नगरे । १० अस्मिन् जन्मन्यपि । कि पुनरुत्तरजन्मनीत्यपि शब्दार्थ । ११ तत्पुरोत्सवम् । १२ कृतपुण्या. । १३ उत्सव प्राप्ता । उदास्तन्वत् ल० । १४ लक्ष्मीम् । १५ पुरस्कृत्य । १६ कुटुम्बिन्यः । 'स्यात्तु कुटुम्बिनी पुरन्ध्री' इत्यभिधानात् । पुर पोष्यबहुजनसमूहं धत्त इति पुरन्ध्री । पुत्रादिपोष्यवर्गशालिन्या स्त्रिया नाम । १७ लज्जया स्वीकृत । १८ ज्योतिष्कसहिता । १९ माला । २० सुप्रभामहादेवीनिरूपणात् । २१ फलके ।

कलशैर्मुखविन्यस्तविलसत्पल्लवाधरैः । अभिषिच्य विशुद्धाम्बुपूर्णैः स्वर्णमयैः शुभैः[1] ॥२६२॥
कृतमङ्गलनेपथ्यां नीत्वा नित्यमनोहरम्[2] । पूजयित्वाऽर्हतो भक्त्या सर्वकल्याणकारिणः ॥२६३॥
सिद्धशेषां[3] समादाय क्षिप्त्वा शिरसि साशिषम् । स्थिताः प्रतीक्ष्य[4] सल्लग्नं तत्रावृत्याहितादरम्[6] ।२६४।
इतो महाराजसन्देशान्[7] नरखेचरनायकाः । स्वास्ते प्रसाधितान्[8] कृत्वा प्रसाधनविदस्तदा ॥२६५॥
निजोचितासनारूढाः प्ररूढ[9]श्रीसमुज्ज्वलाः । चलच्चामरसंपत्त्या कान्त्या चामरसन्निभाः ॥२६६॥
कुमार्या निर्जितः कामः प्राक् स्वमेव[10] विकृत्य[11] किम् । समागंस्त[12] पुनर्जेतुमिति[13] शङ्काविधायिनः[14] ॥
कंचिदेकं[15] वृणीतेऽसाविति[16] ज्ञात्वाऽप्यहंयवः[17] । जेतुं सर्वेऽपि तां तस्थुः[18] आशा हि महती नृणाम् ॥
[19]केरलीकठिनोत्तुङ्गकुचकोटिविलङ्घन[20]- । श्रमापानीतसामर्थ्यात् परिक्षीणपरिक्रमम्[21] ॥२६९॥
माद्यन्मलयमातङ्गकटकण्डूविनोदनात्[22] । क्षतचन्दननिष्यन्दसान्द्र[23]सौगन्ध्यवन्धुरम् ॥२७०॥
कावेरीवारिजास्वादप्रहृष्टाण्डजनिर्भर- । क्रीडोच्छलज्जलस्थूलकणमुक्तातिभूषणम् ॥२७१॥
दक्षिणानिलमापल्ल[24]कोल्कटानलदीपनम् । कोकिलालिकलालापैर्वाचालमनुकूलयन् ॥२७२॥

विवाहोत्सव मण्डपमें वडे हर्षके साथ महारानी सुप्रभाकी आज्ञासे आयी और पूर्व दिशाकी ओर मुख कर सुखपूर्वक सोनेके पाटपर विठा दिया। तदनन्तर मुखपर रखे हुए शोभायमान पल्लवोको धारण करनेवाले तथा विशुद्ध जलसे भरे हुए सुवर्णमय शुभ कलशोसे उसका अभिषेक किया। फिर मागलिक वस्त्राभूषणोको धारण करनेवाली कन्याको नित्यमनोहर नामक चैत्यालयमें ले जाकर वहाँ उससे सबका कल्याण करनेवाले श्री अर्हन्तदेवकी पूजा करायी। उसके वाद सिद्ध शेषाक्षत लेकर आशीर्वादपूर्वक उसके शिरपर रखे और इतना सव कर चुकनेके वाद वे स्त्रियाँ उसका आदर-सत्कार करती हुई शुभ लग्नकी प्रतीक्षामें उसे घेरकर वही ठहर गयी ॥२५८–२६४॥ इधर महाराज अकम्पनके सन्देशसे, सजावटको जाननेवाले वे सव भूमिगोचरी और विद्याधरोके अधिपति अपने-आपको सजाकर अपने-अपने योग्य आसनो-पर जा वैठे। वे प्रकृष्ट शोभासे उज्ज्वल थे, ढुलते हुए चमरोकी सम्पत्ति और कान्तिसे देवोके समान जान पड़ते थे और ऐसी शंका उत्पन्न कर रहे थे मानो इस कुमारीने पहले ही कामदेवको जीत लिया था इसलिए वह कामदेव ही अपने वहुत-से रूप धारण कर उसे जीतनेके लिए पुनः आया हो ॥२६५–२६७॥ यह सुलोचना किसी एकको ही स्वीकार करेगी, ऐसा जानकर भी वे सव राजा लोग अहकार करते हुए उसे जीतनेके लिए वहाँ बैठे थे सो ठीक ही है क्योकि मनुष्योंकी आशा वहुत ही वड़ी होती है ॥२६८॥ जो स्त्रियोके मद्यके कुरलो तथा नूपुरोकी झनकारसे सुशोभित वाये पैरोके द्वारा वृक्षोंको भी कामी वना रहा है, जो वॉये हाथमें फूलोका धनुप धारण कर दूसरे हाथसे आमकी मंजरीको खूब फिरा रहा है, जिसका पराक्रम प्रसिद्ध है और जिसने वसन्त ऋतुरूपी सेवकके द्वारा फूलरूपी समस्त शस्त्र वुला लिये है, ऐसा कामदेव, केरल देशकी स्त्रियोके कठिन और ऊँचे करोड़ो कुचोको उल्लंघन करनेसे उत्पन्न हुई थकावटके कारण जिसकी घूमनेकी शक्ति क्षीण हो गयो है अर्थात् जो धीरे-धीरे चल रहा है, मलय पर्वतके

१ शुभैः अ०, प०, स०, म०, ल०, इ०। २ नित्यमनोहरनाम चैत्यालयम्। ३ –शेषं ल०। ४ प्रतीक्षा कृत्वा। ५ चैत्यालये। ६ कृतादरं यथा भवति तथा। ७ अकम्पनवाचिकात्। ८ अलङ्कृतान्। ९ प्रसिद्ध। १० आत्मानम्। ११ राजकुमाररूपेण वैकुर्वाणं कृत्वा। १२ सङ्गतवान्। १३ सुलोचना जेतुम्। १४ प्रेक्षकाणां शङ्का कुर्वाणाः। १५ अनिर्दिष्टं कंचिदेकं पुरुषम्। १६ स्वीकरोति। १७ अहंकारवन्त.। 'अहंकारवानहंयु' इत्यभिधानात्। १८ निजोचितासनारूढा सन्तस्तस्थुरिति सम्बन्ध.। १९ केरलस्त्री। २० श्रमापनीतसामर्थ्य। २१ लङ्घनाज्जातश्रमेणापसारितसामर्थ्येन परिक्षीणगमनम्। २२ मलयाचलोत्पन्नकरिकपोलकण्डूयापनयनात्। २३ द्रवप्रस्रवण। २४ विरहतीव्राग्निसमुत्पादनम्।

योषितां मधूगण्डूषैर्नूपुरारावरञ्जितैः । कुर्वन् वामाङ्घ्रिभिश्चालमङ्घ्रिपानपि[1] कामुकान् ॥२७३॥
कौसुमं[2] धनुरादाय [3]वामेनारूढविक्रमः । चूतसूनं[4] करेणोच्चैः परेण[5] परिवर्तयन्[6] ॥२७४॥
[7]वसन्तानुचरानीतनिःशेषकुसुमायुधः । जित्वा तदाखिलान् देशानध्यायात्[8] कुसुमायुधः ॥२७५॥
तदा पुरात् समागत्य कृती जितपुरन्दरः । समाविर्भूतसाम्राज्यो राज्यचिह्नपुरस्सरः ॥२७६॥
स्वलक्ष्मीव्याप्तसर्वाशः सुप्रभासहितः पतिः[9] । स्वस्थात्[10] स्वयंवरागारे स्वोचिते[11] स्वजनैर्वृतः ॥२७७॥
चित्रं[12] महेन्द्रदत्ताख्यो देवदत्तं[13] रथं पृथुम् । सज्जीकृतं समारोप्य कन्यामायात्तु कञ्चुकी ॥२७८॥
समस्तबलसन्दोहं सम्यक् सन्नाह्य[14] सानुजः । हेमाङ्गदो जितानङ्गः प्रीत्याऽयात् परितो रथम् ॥२७९॥
तूर्यध्वानाहतिप्रेङ्ख[15]दिक्कन्याकर्णपूरिका । संछन्नच्छत्रनिश्छिद्रच्छायाच्छादितभास्करा ॥२८०॥
लक्ष्मीः पुरीमिवायोध्यां चक्रिदिग्विजयागमे । शालां[16] प्रविश्य राजन्यलोचनार्च्या सुलोचना ॥२८१॥
सर्वतोभद्रमारुह्य कञ्चुकीप्रेरिता नृपान् । [17]न्यषिञ्चल्लोचनैर्लोलैर्नीलोत्पलदलैरिव ॥२८२॥
चातका[18] वाऽब्दवृष्ट्या[19] ते तद्दृष्ट्या तुष्टिमागमन् । आह्लादः कस्य वा न स्यादीप्सितार्थसमागमे ।२८३।

मदोन्मत्त हाथियोके गण्डस्थलोंकी खाज खुजलानेसे टूटे हुए चन्दन वृक्षोके निष्यन्दकी घनी सुगन्धिसे जो व्याप्त हो रहा है, कावेरी नदीके कमलोंके आस्वादसे हर्षित हुए पक्षियोकी अल्हड़ क्रीडासे उछलती हुई जलकी बड़ी-बडी बूँदे ही जिसके मोतियोके आभूषण है, जो विरहरूपी तीव्र अग्निको प्रज्वलित करनेवाला है और कोयल तथा भ्रमरोंके मनोहर शब्दोंसे जो वाचालित हो रहा है ऐसे दक्षिणके वायुको अनुकूल करता हुआ सब देशोंको जीतकर उस समय वहाँ आ पहुँचा था ॥२६९–२७५॥ उसी समय, जिसने अपनी शोभासे इन्द्रको भी जीत लिया है, जिसका साम्राज्य प्रकट है, ध्वजा आदि राज्यके चिह्न जिसके आगे-आगे चल रहे है, अपनी शोभासे जिसने समस्त दिशाएँ व्याप्त कर ली है, सुप्रभा रानी जिसके साथ है, और जो अपने कुटुम्वीजनोसे घिरा हुआ अर्थात् परिवारके लोग जिसके साथ-साथ चल रहे हैं ऐसा पुण्यवान् राजा अकम्पन नगरसे आकर स्वयवर मण्डपमे अपने योग्य स्थानपर आ विराजमान हुआ ॥२७६–२७७॥ उसी समय महेन्द्रदत्त नामका कञ्चुकी चित्रागददेवके द्वारा दिये हुए, आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले बहुत बडे अलंकृत रथपर कन्याको वैठाकर लाया ॥२७८॥ कामको जीतनेवाला हेमागद अपने छोटे भाइयोंसहित, समस्त सेनाके समूहको अच्छी तरह सजाकर बडे प्रेमसे कन्याके रथके चारो ओर चल रहा था ॥२७९॥ जिसके आगे-आगे बजनेवाले नगाडोंके शव्दोके आघातसे दिशारूपी कन्याओके कर्णपूर हिल रहे थे, जिसपर अच्छी तरह लगे हुए छत्रकी छिद्ररहित छायासे सूर्य भी ढँक गया था, और जो राजाओके नेत्रोसे पूजी जा रही थी अर्थात् समस्त राजा लोग जिसे अपने नेत्रोसे देख रहे थे ऐसी सुलोचनाने, चक्रवर्तीके दिग्विजयसे लौटनेपर जिस प्रकार लक्ष्मी अयोध्यामे प्रवेश करती है उसी प्रकार स्वयंवरशालामे प्रवेश किया और वहाँ वह सर्वतोभद्र नामक महलपर चढकर कचुकीके द्वारा प्रेरित हो नीलकमलके दलके समान अपने चचल नेत्रोके द्वारा राजाओंको सीचने लगी ॥२८०–२८२॥ जिस प्रकार चातक पक्षी मेघोके बरसनेसे सन्तुष्ट होती है उसी प्रकार सब राजा लोग सुलोचनाके देखनेसे ही सन्तुष्ट हो गये थे सो ठीक ही है क्योकि अपने अभीष्ट पदार्थके समागम

---

१ अत्यर्थम् । २ कुसुमनिर्मितम् । ३ वामहस्तेन । ४ माकन्दप्रसूनम् । ५ दक्षिणकरेण । ६ परिभ्रमयन् । ७ वसन्त एवानुचरो भृत्यस्तेन समानीत । ८ आजगाम । ९ अकम्पन । १० सुखेन स्थितवत. । ११ निजोचितस्थाने । १२ आश्चर्ययुक्तम् । १३ विचित्राङ्गददेवेन वितीर्यम् । १४ सन्नद्धं कृत्वा । १५ चलत् । १६ स्वयवरशालाम् । १७ सिञ्चति स्म । अयोजयदित्यर्थ । १८ इव । १९ नृपा ।

स्वसौभाग्यवशात् सर्वान् साऽप्यालोक्यातुषत्तराम् । श्लाघ्यं तद्योषितां पुंसां शौर्यं वा निर्जितद्विषाम् ॥
ततः कञ्चुकिनिर्देशाद् बाला लीलाविलोकितैः[1] । आकृष्य हृदयं तेषां तत्सौधात् समवातरत्[2] ॥२८५॥
यस्य[3] यत्र गता स्याद्दृक् सा तत्रैवेव कीलिता । [4]तत्तेऽस्यामवरूढायां खिन्ना वा तदनीक्षका[5] ॥२८६॥
किङ्किणीकृतझङ्काराराववरम्यं रथं ततः । व्यूढं[7] रूढै हयैः स्वर्णकर्णचामरशोभिभिः ॥२८७॥
उत्पतन्निपतत्केतुबाहुं नीरूपरूपिणाम्[9] । साक्षादपह्नवाह्वाने[10] कुर्वन्तमिव सन्ततम् ॥२८८॥
पुनरध्यास्य[11] हृज्जन्मविद्येव[12] हृदयप्रिया । मुक्ताभूषाप्रभामध्ये शारदीव तडिल्लता ॥२८९॥
वीज्यमाना विधुस्पर्द्धिहंसासामलचामरैः[13] । जनानां दृष्टिदोषान् वा धुन्वद्भिर्दूरतो मुहुः ॥२९०॥
अवधूतः[14] पुरानङ्गः सम्प्रति स्वीकृतोऽनया । प्रयोजनवशात् प्राज्ञैः प्रास्तोऽपि[15] परिगृह्यते ॥२९१॥
अस्याग्रह इवानङ्गः सद्यः सर्वाङ्गसङ्गतः । विकारमकरोत् स्वैरं भूयो भ्रूनेत्रवक्त्रजम् ॥२९२॥
साङ्गो[16] यद्येतयाऽद्यैवमेकीभावं व्रजामि किम् । इत्यनङ्गोऽप्यनङ्गत्वं स्वं मन्ये[17] साध्वबुध्यत ॥२९३॥
लक्ष्मीः सा सर्वभोग्याऽभूद् रतिर्व्यङ्गेन[18] भुज्यते । जितानङ्गाभिमानेषा न्यक्कृत्य[19] [20]जयमाप्स्यति।२९४।

होनेपर किसे आनन्द नही होता है ? ॥२८३॥ वह सुलोचना भी अपने सौभाग्यके वशसे आये हुए समस्त राजाओको देखकर अत्यन्त संतुष्ट हुई थी सो ठीक ही है क्योकि जिस प्रकार शत्रुओ-को जीतनेवाले पुरुषोंका शूरवीरपना प्रशसनीय होता है उसी प्रकार स्त्रियोंका सौभाग्य भी प्रशंसनीय होता है ॥ २८४ ॥ तदनन्तर वह सुलोचना लीलापूर्वक अवलोकनके द्वारा उन राजाओका हृदय अपनी ओर आकर्षित कर कचुकीके कहनेसे उस महलसे नीचे उतरी ॥२८५॥ जिसकी दृष्टि उसके शरीरपर जहाँ पड़ गयी थी वह मानो वही कीलित सी हो गयी थी तथा उसके नीचे उतर आनेपर वे राजा लोग उसे न देखकर वहुत ही खेदखिन्न हुए थे ॥२८६॥ तदनन्तर, जो कामदेवकी विद्याके समान सवके हृदयको प्रिय है, जो मोतियोके आभूषणोकी कान्तिके वीचमें शरदऋतुकी विजलीकी लताके समान जान पड़ती है और जिसपर मानो मनुष्योकी दृष्टिके दोषोको दूरसे ही दूर करते हुए, तथा चन्द्रमाके साथ स्पर्धा करनेवाले और हसोके पंखोके समान निर्मल चमर वार-वार ढुराये जा रहे हैं ऐसी वह सुलोचना, जो छोटी-छोटी घंटियोके रुणझुण शब्दोसे रमणीय है, कानोके समीप लगे हुए सोनेके चमरोसे शोभायमान वडे-ऊँचे घोडे जिसमे जुते हुए है, नीचे-ऊपरको उड़ती हुई ध्वजाएँ ही जिसकी भुजाएँ है और जो उन उड़ती हुई ध्वजाओसे ऐसा जान पड़ता है मानो कुरूप मनुष्यका साक्षात् निरन्तर निरा-करण ही कर रहा हो और सुरूप (सुन्दर) मनुष्योको साक्षात् वुला रहा ही हो' ऐसे रथपर सवार हुई ॥ २८७–२९० ॥ सुलोचनाने कामदेवका पहले तो तिरस्कार किया था परन्तु अव उसे स्वीकृत किया सो ठीक ही है क्योकि वुद्धिमान् पुरुप हटाये हुएको भी अपने प्रयोजनके वश फिर स्वीकार कर लेते है ॥२९१॥ पिशाचके समान शीघ्र ही इसके सव अगोमे प्रविष्ट हुआ कामदेव अपनी इच्छानुसार वार-वार भौंह नेत्र और मुखमे उत्पन्न होनेवाले विकारोको प्रकट कर रहा था ॥ २९२ ॥ यदि मै शरीरसहित होता तो क्या इस तरह इस सुलोचनाके साथ एकीभावको प्राप्त हो सकता ? अर्थात् इसके शरीरमे प्रवेश कर पाता ? ऐसा विचार करता हुआ कामदेव मानो अपने शरीररहितपनेको ही अच्छा समझता था ॥ २९३ ॥ वह

१ अवलोकनैः । २ अवतरति स्म । ३ यस्मिन्नवयवे । ४ ते तस्या–ल० । तत् कारणात् । ५ अवतरणं कुर्वन्त्यां सत्याम् । ६ ता कन्यकामीक्षमाणा न वभूवुरित्यर्थ । ७ धृतम् । ८ प्रसिद्धैः । ९ रूपहीनाना रूपवता च । १० क्रमेण निराकरण चाह्वानं च । ११ एवंविध रथमध्यास्येति सम्वन्ध । १२ कामविद्या । १३ मरालपक्ष । १४ निराकृत । १५ प्रतिक्षिप्त. । १६ सशरीर । १७ शिष्टमिति । १८ अनङ्गेन विकलाङ्गेनेति ध्वनिः । १९ निराकृत्य । २० विजय जयकुमार च ।

करग्रहेण लक्ष्मीवान् स्यान्न वा वारिधेर्भुवः[1]। [2]अस्याः करग्रहो यस्य तस्य लक्ष्मीः करे स्थिता ॥२९५॥
लावण्यमम्बुधौ पुंसु[3] स्त्रीष्वस्यामेव संभृतम्[4]। [5]यत्प्राप्ताः सरितः [6]सर्वास्तमेतां सर्वपार्थिवाः ॥२९६॥
समस्तनेत्रसंपीतमप्यस्या वर्धतेतराम्। लावण्यमम्बुधिस्त्यक्तः श्रिया वहतु [7]तत्कथम् ॥२९७॥
रत्नाकरत्वदुर्गर्वमम्बुधिः श्रयते वृथा। कन्यारत्नमिदं [8]यत्र [9]तयोरेतद्[10] विराजते ॥२९८॥

प्रसिद्ध लक्ष्मी सवके द्वारा उपभोग करने योग्य है और रति शरीररहित कामदेवके द्वारा भोगी जाती है परन्तु यह मुलोचना कामदेवको जीतनेवाले इन सभी राजाओंका तिरस्कार कर जय अर्थात् विजय अथवा जयकुमारको प्राप्त होगी। भावार्थ – संसारमें दो ही प्रसिद्ध स्त्रियाँ हैं एक लक्ष्मी और दूसरी रति। इनमे-से लक्ष्मी तो सर्वपुरुषोके द्वारा उपभोग योग्य होनेके कारण पुँश्चलीके समान निन्द्य है और रति शरीररहित पिशाच (पक्षमें कामदेव) के द्वारा उपभोग योग्य होनेसे दूपित है परन्तु यह सुलोचना अपनी शोभासे कामदेवको जीतनेवाले इन सभी राजाओका तिरस्कार कर जय–जीत (पक्षमे जयकुमार) को प्राप्त होगी अर्थात् यह सुलोचना लक्ष्मी और रतिसे भी श्रेष्ठ है ॥ २९४ ॥ समुद्रपर्यन्त इस पृथिवीका करग्रह अर्थात् टैक्स वसूल करनेसे कोई पुरुप लक्ष्मीवान् हो अथवा नही भी हो परन्तु जिसके इस सुलोचनाका करग्रह अर्थात् पाणिग्रहण होगा लक्ष्मी उसके हाथमे ही स्थित समझनी चाहिए ॥ २९५ ॥ पुरुपोमे लावण्य (खारापन) समुद्रमे है और स्त्रियोमे लावण्य (सौन्दर्य) इसी सुलोचनामे भरा हुआ है यही कारण है कि सव नदियाँ समुद्रके पास पहुँची है और सव राजा लोग इसके
भरा हुआ है यही कारण है कि सव नदियाँ समुद्रके पास पहुँची है और सब राजा लोग इसके
समीप आ पहुँचे है। भावार्थ–लावण्य शव्दके दो अर्थ है – एक खारापन और दूसरा सौन्दर्य। यहाँ कविने दोनोमे शाब्दिक अभेद मानकर निरूपण किया है। श्लोकका भाव यह है – लावण्य पुरुषोमे भी होता है और स्त्रियोमें भी परन्तु उसके स्थान दोनोमे नियत है। पुरुपका लावण्य समुद्रमे नियत है और स्त्रीका लावण्य सुलोचनामें। पुरुपके लावण्यके प्रति स्त्रियोका आकर्षण रहता है और स्त्रियोके लावण्यके प्रति पुरुषका आकर्षण रहता है। यही कारण है कि नदीरूपी स्त्रियाँ आकर्पित होकर समुद्रके पास पहुँची है और सब राजा लोग (पुरुप) सुलोचनाके प्रति आकर्पित होकर उसके समीप आ पहुँचे हैं ॥ २९६ ॥ इसका लावण्य सबके नेत्रोके द्वारा पिया जानेपर भी वढता ही जाता है परन्तु समुद्रको तो लक्ष्मीने छोड़ दिया है इसलिए वह उसे कैसे धारण कर सकता है ? भावार्थ – ऊपरके श्लोकमे लावण्यके दो स्थान वतलाये थे – एक समुद्र और दूसरा सुलोचना। परन्तु यहाँ लावण्य शव्दका केवल सौन्दर्य अर्थ हृदयमे रखकर कवि समुद्रमें उसका अभाव बतला रहे है। यहाँ कवि लावण्य उस पदार्थको कह रहे है जिसकी निरन्तर वृद्धि ही होती रहे और जिसे देखकर दर्शक उसे कभी छोड़ना न चाहे। कविका मनोगत लावण्य सुलोचनामे ही था क्योकि उसे देखकर नेत्र कभी उसे छोड़ना नही चाहते थे और निरन्तर उसकी वृद्धि होती रहती थी। समुद्रमे लावण्यका होना कविको इष्ट नही है क्योकि उसे लक्ष्मीने छोड़ दिया है यदि उसमे वास्तवमे लावण्य होता तो उसे लक्ष्मी क्यो छोड़ती ? (लक्ष्मी-द्वारा समुद्रका छोड़ा जाना कविसम्प्रदायमें प्रसिद्ध है।) ॥२९७॥ समुद्र अपने रत्नाकरपनेका खोटा अहकार व्यर्थ ही धारण करता है क्योकि जिनके यह कन्यारूपी रत्न है उन्ही राजा अकम्पन और रानी सुप्रभाके यह रत्नाकरपना सुशोभित होता है ॥२९८॥

---

१ लक्ष्म्या.। २ मुलोचनाया.। ३ पुरुपेपु। ४ परिपूर्णम्। ५ यत् कारणात्। ६ तं समुद्रम्। एताम् सुलोचनाम्। ७ लावण्यम्। ८ ययो। ९ अकम्पनसुप्रभयो.। १० रत्नाकरत्वम्।

इति स्तुतात्मसौभाग्यभाग्य[1]रूपादिसंभृता । जनैः स्वयंवरागारमागमद् गोमिनीव[2] सा ॥२९९॥
[3]परिभूतिर्द्विधा सात्र[4] भाविनी[5] केति वा तदा । प्रीतिशोकान्तरे कंचिद् रसं राजकमन्वभूत् ॥३००॥
स्थित्वा महेन्द्रदत्तोऽपि[6] रत्नमालाधरो धुरि[7] । रथं प्रचोदयामास प्रतिविद्याधराधिपान् ॥३०१॥
दक्षिणोत्तरयोः श्रेण्योर्नमेश्च विनमेः सुतौ । पतिः सुमतिरेषोऽयमितः सुविनमिः श्रियः ॥३०२॥
अन्येऽमी च खगाधीशा विद्याविक्रमशालिनः । पतिं वृणीष्व त्वं चैषु[8] स्वेच्छामेकत्र पूरय ॥३०३॥
इति कञ्चुकिनिर्दिष्टं नामादाय पृथक् पृथक् । कर्णेकृत्यात्ययात्[9] सर्वान् रुचिभिन्ना हि देहिनाम् ॥३०४॥
पश्चात् सर्वान्निरीक्ष्यैषा कञ्चित्तु विवरीषते[10] । तथैवेति खगास्तस्थुः किं वाशानावलम्ब्यते ॥३०५॥
पश्चाज्ज[11]ग्लुर्मुखाब्जानि तद्रथाद् व्यक्तसत्पुरः । रवेरिवोदये राज्ञां संसृतेः स्थितिरीदृशी ॥३०६॥
[12]उच्चाद्वाऽदुद्रुव[13]न्निम्नमभिभूमि[14]चरं रथः । कञ्चुकी कथयामास नामभिस्तान्नृपांस्तदा ॥३०७॥
निराकृत्यार्ककीर्त्यादीन् साऽजेया जयमागमत् । हित्वा शेषान् द्रुमांश्चूतं मधौ मधुकरी यथा ॥३०८॥
गृहीतप्रग्रहस्तत्र[15] कञ्चुकीचित्तवित्तदा । वचो व्यापारयामास जयव्यावर्णनं प्रति ॥३०९॥

इस प्रकार लोग जिसकी स्तुति कर रहे हैं ऐसे अपने सौभाग्य, भाग्य और रूप आदिसे भरी हुई वह सुलोचना लक्ष्मीके समान स्वयंवर भवनमे आ पहुँची ॥२९९॥ इस संसारमें पराभूति दो प्रकारकी है–एक पराभूति अर्थात् उत्कृष्ट सम्पद् और दूसरी पराभूति अर्थात् पराभव–तिरस्कार, सो इन दोनोमें न जाने कौन सी पराभूति अथवा परा-भूति होनेवाली है ऐसा विचार करता हुआ राजाओंका समूह उस समय प्रेम और शोकके बीच किसी अव्यक्त रसका अनुभव कर रहा था ॥३००॥

रत्नोंकी मालाको धारण करनेवाला महेन्द्रदत्त नामका कचुकी भी धुरापर बैठकर विद्याधर राजाओंकी ओर रथ चलाने लगा ॥३०१॥ और सुलोचनासे कहने लगा कि ये विजयार्धकी दक्षिण तथा उत्तर श्रेणीके राजा नमि और विनमिके पुत्र हैं। यह लक्ष्मीका स्वामी सुनमि है और यह इस ओर सुविनमि है ॥३०२॥ विद्या और पराक्रमसे शोभायमान ये और भी अनेक विद्याधरोके अधिपति विराजमान हैं इनमें-से तू किसी एकको वर अर्थात् पतिरूपसे स्वीकार कर और एक हीमें अपनी इच्छा पूर्ण कर ॥३०३॥ इस प्रकार कंचुकीने अलग-अलग नाम लेकर कुछ कहा था उसे कानमें डालकर–सुनकर वह सबको छोडती हुई आगे चली सो ठीक ही है क्योंकि प्राणियोकी रुचि अनेक प्रकारकी होती है ॥३०४॥ यह कन्या सबको देखकर बादमें किसीको वरना चाहती है यह विचारकर विद्याधर लोग ज्योंके त्यों बैठे रहे सो ठीक ही है क्योकि आशा किसका आश्रय नही लेती है ? ॥३०५॥ जिस प्रकार सूर्यके उदय होनेसे कमल विकसित हो जाते हैं और अस्त होनेसे मुरझा जाते हैं उसी प्रकार राजाओके मुखरूपी कमल सुलोचनाके रथ सामने आनेसे पहले तो प्रफुल्लित हुए किन्तु रथके चले जानेपर बादमें मुरझा गये थे सो ठीक ही है क्योकि संसारकी स्थिति ही ऐसी है ॥३०६॥ तदनन्तर वह रथ विद्याधरोंकी ऊँची भूमिसे नीचे भूमिगोचरियोंकी ओर उतरा, उस समय वह कंचुकी नाम ले लेकर राजाओंका निरूपण करता जाता था ॥३०७॥ जिस प्रकार वसन्तऋतुमें कोयल सब वृक्षोंको छोड़कर आमके पास पहुँचती है उसी प्रकार वह अजेय सुलोचना अर्ककीर्ति आदि राजाओको छोड़कर जयकुमारके पास जा पहुँची ॥३०८॥ उसी समय चित्तकी

---

१ पुण्य। २ लक्ष्मी। ३ अवज्ञा सम्पच्च। पराभूति–ल०, म०, अ०, प०, स०, इ०। ४ अवज्ञासम्पदो.। ५ भविष्यत्। ६ कञ्चुकी। ७ रथमुखे। ८ निजवाञ्छाम्। ९ अतिक्रान्तवती। १० वरितुमिच्छति। ११ म्लानान्यभवन्। १२ उन्नतप्रदेशात्तु। १३ अगमत्। १४ भूचराणामभिमुखम्। १५ धृताश्वरज्जु.।

प्रदीपः स्वकुलस्यायं प्रभुः सोमप्रभात्मजः । श्रीमानुत्साहभेदैर्वा[1] जयोऽयमनुजैर्वृतः ॥३१०॥
न रूपमस्य व्यावर्ण्यं तदेतदति[2]मन्मथम्[3] । प्र[4] दर्पणोऽर्पणीयः किं करकङ्कणदर्शने ॥३११॥
जित्वा मेघकुमाराख्यानुत्तरे भरते सुरान् । सिंहनादः कृतोऽनेन जितमेघघनस्वनः[5] ॥३१२॥
वीरपट्टं[6] प्रबध्यास्य स्वभुजाभ्यां समुद्धृतम् । न्यधायि निधिनाथेन हृष्ट्वा मेघस्वराभिधा ॥३१३॥
आत्मसम्यग्गुणैर्युक्तः समेतश्चाभिगामिकैः[7] । प्रज्ञोत्साहविशेषैश्च[8] ततोऽयमुदितोदितः ॥३१४॥
चित्रं जगत्त्रयस्यास्य गुणाः संरज्य[9] साम्प्रतम्[10] । व्यावृत्ताः[11] सर्वभावेन[12] तव भावानुरञ्जने[13] ॥३१५॥
अयमेकोऽस्ति दोषोऽस्य चतस्रः सन्ति योषितः । श्रीः कीर्तिर्वीरलक्ष्मीश्च वाग्देवी चातिवल्लभाः ॥३१६॥
जितमेघकुमारोऽयमेकः प्राक् त्वज्जयेऽधुना । च्युतधैर्य इवालक्ष्यो[14] [15]यत्सहायीकृतः स्मरः ॥३१७॥
बलिनोर्युवयोर्मध्ये वर्तमानो जिगीषतोः[16] । द्वैधीभावं[17] समापन्नः षाड्गुण्यनिपुणः स्मरः ॥३१८॥
कीर्तिः कुवलयाह्लादी पद्माह्लादी प्रभाऽस्य हि । सूर्याचन्द्रमसौ तस्मादनेन हतशक्तिकौ ॥३१९॥

बातको जाननेवाला कचुकी घोडोंकी रास पकडकर जयकुमारका वर्णन करनेके लिए अपने वचनोंको व्यापृत करने लगा अर्थात् जयकुमारके गुणोंका वर्णन करने लगा ॥३०९॥ उसने कहा कि यह श्रीमान् स्वामी जयकुमार है, यह अपने कुलका दीपक है, महाराज सोमप्रभका पुत्र है और उत्साहके भेदोंके समान अपने छोटे भाइयोंसे आवृत है–घिरा हुआ है ॥३१०॥ कामदेवको तिरस्कृत करनेवाला इसका यह रूप तो वर्णन करने योग्य ही नही है क्योंकि हाथका ककण देखनेके लिए क्या दर्पण दिया जाता है ? ॥३११॥ इसने उत्तर भरतक्षेत्रमें मेघकुमार नामके देवोको जीतकर उन देवोंके कृत्रिम बादलोंकी गर्जनाको जीतनेवाला सिहनाद किया था ॥३१२॥ उस समय निधियोंके स्वामी महाराज भरतने हर्षित होकर अपनी भुजाओं-द्वारा धारण किया जानेवाला वीरपट्ट इसे बांधा था और मेघस्वर इसका नाम रखा था ॥३१३॥ यह आत्माके समीचीन गुणोसे युक्त है तथा आदरणीय उत्तम पुरुषोंके साथ सदा सगति रखता है इसलिए बुद्धि और विशेष उत्साहोंके द्वारा यह श्रेष्ठोमें भी श्रेष्ठ गिना जाता है ॥३१४॥ यह भी आश्चर्यकी बात है कि इसके गुण तीनो लोकोंको प्रसन्न कर अब तेरे अन्तःकरणको अनुरक्त करनेके लिए पूर्ण रूपसे लौटे हैं। भावार्थ–इसने अपने गुणोसे तीनो लोकोंके जीवोको प्रसन्न किया है और अब तुझे भी प्रसन्न करना चाहता है ॥३१५॥ यदि इसमें दोष है तो यही एक, कि इसके निम्नलिखित चार स्त्रियाँ हैं, श्री, कीर्ति, वीरलक्ष्मी और सरस्वती। ये चारो ही स्त्रियाँ इसे अत्यन्त प्रिय है ॥३१६॥ जिसने पहले अकेले ही मेघकुमारको जीत लिया था ऐसा यह जयकुमार इस समय तुझे जीतनेके लिए धैर्यरहित-सा हो रहा है अर्थात् ऐसा जान पडता है मानो इसका धैर्य छूट रहा हो यही कारण है अब इसने कामदेवको अपना सहायक बनाया है ॥३१७॥ एक दूसरेको जीतनेकी इच्छा करनेवाले तुम दोनो बलवानोके बीचमे पड़ा हुआ यह सन्धि विग्रह आदि छहो गुणोंमे निपुण कामदेव द्वैधीभावको प्राप्त हो रहा है अर्थात् कभी उसका आश्रय लेता है और कभी तेरा ॥३१८॥ इसकी कीर्ति तो कुवलय अर्थात् रात्रिमे खिलनेवाले कमलोंको (पक्षमे महीमण्डलको) आनन्दित करती है और प्रभा पद्म अर्थात् दिनमे खिलनेवाले कमलोको (पक्षमे पद्मा–लक्ष्मीको) विकसित

---

१ शक्तिविशेषैः। २ दृश्यमानम्। ३ अतिक्रान्तमन्मथम्। ४ प्रसिद्ध.। ५ निर्जितमेघकुमारघनध्वनिः। ६ ऽयुध्वास्य ल०। ७ अभिगमार्ह.। आदरणीयैरित्यर्थ। ८ तत. कारणात्। ९ आत्मन्यनुरक्त विधाय। १० अधुना। ११ व्यापारमकुर्वन्। १२ सकलस्वरूपेण। १३ चित्तानुरञ्जने। 'भावः सत्ता स्वभावाभिप्रायचेष्टात्मजन्मसु' इत्यभिधानात्। १४ दर्शनीय। १५ यत् कारणात्। १६ परस्परं जेतुमिच्छतोः। १७ उभयावलम्बनत्वम्।

कीर्तिबर्हिश्चरा लक्ष्मीरतिवृद्धा सरस्वती । जीर्णतरापि शान्तेव[1] लक्ष्यते क्षतविद्विषः[2] ॥३२०॥
ततस्त्वयि वयोरूपशीलादिगुणभाज्यलम् । प्रीतिर्लतेव दृक्पुष्पा प्रवृद्धास्य फलिष्यति ॥३२१॥
युवाभ्यां निर्जितः कामः संप्रत्यभ्यन्तरीकृतः । स[3] वामपजयायाभूदरिर्विश्रम्भितो[4]ऽप्यरिः ॥३२२॥
निष्ठुरं जृम्भतेऽमुष्मिन्नु[5]भया.रिरपि स्मरः । मत्वेव त्वां स्त्रियं भूयो भटेषु भटमत्सरः ॥३२३॥
विख्यातविजयः श्रीमान् यानमात्रेण[6] निर्जितः । त्वयाऽयमत एवात्र जयो न्यायागतस्तव ॥३२४॥
प्राध्वंकृत्य[7] गले रत्नमालया दृक्शरैर्जितम् । जयलक्ष्मीस्तवैवास्तु तत्त्वमेनं[8] करे कुरु ॥३२५॥
इति तस्य वचः श्रुत्वा स्मरषाड्गुण्यवेदिनः । शनैर्विगलितव्रीडा[9] लोललीलावलोकनः ॥३२६॥
तदा जन्मान्तरस्नेहश्चाक्षुषी[10] सुन्दराकृतिः । कुन्दभासा[11] गुणास्तस्य श्रावणाः[12] पुष्पसायकः ॥३२७॥

करती है इसलिए इसने सूर्य और चन्द्रमा दोनोंको शक्तिरहित कर दिया ॥३१९॥ समस्त शत्रुओंको नष्ट करनेवाले इस जयकुमारकी कीर्ति तो सदा वाहर रहती है, लक्ष्मी अत्यन्त वृद्ध है, सरस्वती जीर्ण है और वीर लक्ष्मी शान्त-सी दिखती है इसलिए दृष्टिरूपी पुष्पोसे युक्त और खूब वढी हुई इसकी प्रीतिरूपी लता वय, रूप, शील आदि गुणोसे सहित तुझमे ही अच्छी तरह फलीभूत होगी। भावार्थ—३१६ वे श्लोकमे वतलाया था कि इसके चार प्रिय स्त्रियाँ है कीर्ति, लक्ष्मी, सरस्वती और वीरलक्ष्मी परन्तु उनसे तुझे सपत्नीजन्य दुःखका अनुभव नही करना पड़ेगा। क्योकि कीर्ति नामकी स्त्री तो सदा वाहर ही घूमती रहती है--अन्त पुरमे उसका प्रवेश नही हो पाता (पक्षमे उसकी कीर्ति समस्त ससारमे फैली हुई है), लक्ष्मी अत्यन्त वृद्ध है--वृद्धावस्था युक्त है (पक्षमें बढी हुई है), सरस्वती भी जीर्ण अर्थात् वृद्धावस्थाके कारण शिथिल शरीर हो रही है (पक्षमे परिपक्व है) इसलिए इन तीनोंपर उसका खास प्रेम नही रहता। अव रह जाती है वीरलक्ष्मी, यद्यपि वह तरुण है और सदा उसके पास रहती है परन्तु अत्यन्त शान्त है--श्रृंगार आदिकी ओर उसका आकर्षण नही है (पक्षमें क्षमायुक्त शूरवीरता है) इसलिए इन चारोसे राजाकी प्रीति हटकर तुझपर ही आरूढ होगी क्योकि तू वय, रूप, शील आदि गुणोसे सहित है ॥३२०–३२१॥ तुम दोनोंने पहले जिस कामदेवको जीतकर दूर हटाया था उसे अव अपने अन्त करणमे वैठा लिया है, अथवा खास विश्वासपात्र वना लिया है परन्तु अव वही कामदेव तुम दोनोका पराजय करनेके लिए तैयार हो रहा है सो ठीक ही है क्योंकि शत्रुका कितना ही विश्वास क्यो न किया जाय वह अन्तमे शत्रु ही रहता है ॥३२२॥ यद्यपि यह कामदेव तुम दोनोका शत्रु है तथापि तुझे स्त्री मानकर इसी एकपर वडी निष्ठुरताके साथ अपना प्रभाव वढ़ा रहा है सो ठीक ही है क्योकि योद्धाओंकी ईर्ष्या योद्धाओपर ही होती है। भावार्थ—वह तुझे स्त्री समझ कायर मानकर अधिक दुःखी नही करता है परन्तु जयकुमारपर अपना पूरा प्रभाव डाल रहा है ॥३२३॥ जिसका विजय सर्वत्र प्रसिद्ध है ऐसे श्रीमान् जयकुमारको तूने यान अर्थात् आगमन (पक्षमे युद्धके लिए किये हुए प्रस्थान) मात्रके द्वारा जीत लिया है इसलिए इस जगह न्यायसे तेरी ही विजय हुई है ॥३२४॥ तू अपने दृष्टिरूपी वाणोके द्वारा जीते हुए इस जयकुमारको रत्नोकी मालासे गलेमे बाँधकर अपने हाथमें कर, विजयलक्ष्मी तेरी ही हो ॥३२५॥ इस प्रकार कामदेवके सन्धि विग्रह आदि छह गुणोको जाननेवाले कंचुकीके वचन सुनकर धीरे-धीरे जिसकी लज्जा छूटती जा रही है, जिसकी लीलापूर्ण दृष्टि वड़ी चंचल है तथा उस समय जन्मान्तरका स्नेह नेत्रोके द्वारा देखी

---

१ वीरलक्ष्मी. । २ जयकुमारस्य । ३ वा युवयो वामवजमाया – ल० । ४ विश्वासित. । ५ जये । ६ गमनमात्रेण । ७ वन्धहेतुकमानुकूल्यं कृत्वा, वद्ध्वेत्यर्थ. । ८ तत् कारणात् । ९ लज्जा । १० चक्षुषा कृष्यमाणा । ११ कुन्दवद् भासमानाः । १२ श्रवणज्ञानविपया । श्रवणहिता वा ।

इत्येभिः स्यन्दनादेषा समुत्क्षिप्यावरोपिता[1]। रत्नमालां समादाय कन्या कञ्चुकिनः करात् ॥३२८॥
अवध्नाद् वन्धुरां तस्य कण्ठेऽतिप्रेमनिर्भरा। सा वाचकान् समध्यास्य वक्षोलक्ष्मीरिवापरा ॥३२९॥
सहसा सर्वतूर्याणामुदतिष्ठन्महाध्वनिः। श्रावयन्निव दिक्कन्याः कन्यासामान्यमुत्सवम् ॥३३०॥
वक्त्रवारिजवासिन्या[2] नरविद्याधरेशिनाम्। श्रिया जयमुखाम्भोजमाश्रितं वा तदाल्यभात् ॥३३१॥
गताशा[3]वारयो म्लानमुखाब्जाक्ष्युत्पलश्रियः। खभूचरनृपाः कष्टमासन् शुष्कसरस्समाः ॥३३२॥

मालिनीच्छन्दः

अभिमतफलसिद्ध्या वर्द्धमानप्रमोदो निजदुहि[4]तृसमेतं प्राक् पुरोधाय[5] पूज्यम्।
जयममरतरुं वा[6] कल्पवल्लीसनाथं[7] नगरमविशदुच्चैर्नाथवंशाधिनाथः ॥३३३॥

शार्दूलविक्रीडितम्

आद्योऽयं[8] महिते स्वयंवरविधौ यत्[9]सोग्यसौभाग्यभाग्
[10]यस्माद्राजखगेन्द्रवक्त्रवनजश्रीवारयोपिद्वृतः।
मालाम्लानगुणा[11] यतोऽस्य[12] [13]शरणे मन्दारमालायते
[14]तत्कल्पावधि[15]विर्भमस्य[16] विपुलं विश्वं[17] यशो व्यश्नुते[18] ॥३३४॥

वसन्ततिलका

भास्वत्प्रभाप्रसरणप्रतिबुद्धपद्मः[19] प्राप्तोदयः प्रतिविधाय[20] परप्रभावम्[21]।
[22]वन्धुप्रजाकुमुदवन्धुरचिन्त्यकान्तिर्भाति स्म भानुशशिनोर्विजयी जयोऽयम् ॥३३५॥

हुई जयकुमारकी सुन्दर आकृति, कुन्दके फूलके समान सुने हुए उसके गुण और कामदेव इन सबने उठाकर जिसे रथसे नीचे उतारा है ऐसी कन्या सुलोचनाने कंचुकीके हाथसे रत्नमाला लेकर तथा अतिशय प्रेममें निमग्न होकर, वह मनोहरमाला उस जयकुमारके गलेमे डाल दी। उस समय वह माला जयकुमारके वक्ष.स्थलपर अविरूढ़ हो दूसरी लक्ष्मीके समान सुशोभित हो रही थी ॥३२६–३२९॥ उस समय अकस्मात् सव वाजोकी वड़ी भारी आवाज ऐसी उठी थी मानो दिशारूपी कन्याओके लिए सुलोचनाका असाधारण उत्सव ही सुना रही हो ॥३३०॥ उस समय जयकुमारका मुखरूपी कमल बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहा था और ऐसा जान पड़ता था मानो भूमिगोचरी तथा विद्याधर राजाओके मुखरूपी कमलोपर निवास करनेवाली लक्ष्मी उसी एकके मुखपर आ गयी हो ॥३३१॥ जिनका आशारूपी जल नष्ट हो गया है और जिनके मुखरूपी कमल तथा नेत्ररूपी उत्पलोकी शोभा म्लान हो गयी है ऐसे भूमिगोचरी और विद्याधर राजा सूखे सरोवरके समान बडे ही दु खी हो रहे थे ॥३३२॥ अभीष्ट फलकी सिद्धि होनेसे जिसका आनन्द वढ रहा है ऐसा उत्कृष्ट नाथवंशका अधिपति राजा अकम्पन, कल्पलतासे सहित कल्पवृक्षके समान पुत्रीसे युक्त पूज्य जयकुमारको आगे कर अपने उत्कृष्ट नगरमे प्रविष्ट हुआ ॥३३३॥ चूँकि भाग्य और सौभाग्यको प्राप्त होनेवाला यह जयकुमार स्वयंवरकी सम्माननीय विधिमे सवसे पहला था, भूमिगोचरी और विद्याधर राजाओ-के मुखकमलोंकी शोभारूपी वीरागनाओसे घिरा हुआ था और अम्लानगुणोवाली माला उसकी शरणमे आकर कल्पवृक्षोकी मालाके समान आचरण करने लगी थी, अतएव उसका बहुत वड़ा निर्मल यश कल्पान्तकाल तक समस्त संसारमे व्याप्त रहेगा ॥३३४॥ जिसकी देदीप्यमान प्रभाके प्रसारसे कमल खिल उठते थे, दूसरो (शत्रुओ अथवा नक्षत्र आदिकों) के प्रभावका तिरस्कार कर जिसका उदय हुआ था और जो भाईवन्धु तथा प्रजारूपी कुमुदोको

१ समुद्धृत्य। २ मुखकमलनिवासिन्या। ३ गतास्यवारण: ट०। विगतमुखरसा। ४ पुत्री। ५ अग्रे कृत्वा। ६ इव। ७ सहितम्। ८ आद्येऽयं इ०, प०, अ०, स०। ९ यत् कारणात्। भाग्य पुण्य। १० यस्मात् कारणात्। ११ यस्मात् कारणात्। १२ जयस्य। १३ परित्राणे, गृहे। १४ तस्मात् कारणात्। १५ कल्प-पर्यन्तम्। १६ निर्मलम्। १७ जगत्। १८ व्याप्नोति। १९ प्रवुद्धलक्ष्मीः। विकसितकमल। २० निराकृत्य। २१ शत्रुसामर्थ्यम्। नक्षत्रादिसमृद्धचर्यं च। २२ वन्धवश्च प्रजाश्च वन्धुप्रजा, वन्धुप्रजा एव कुमुदानि तेषा वन्धुश्चन्द्र।

मालिनी

प्रियदुहितरमेनां[1] नाथवंशाम्बरेन्दोरमुमु[2]पनयति स्म स्पष्टसौभाग्यलक्ष्मीः ।
[3]ज्वलितमहसमन्यां वीरलक्ष्मीं च कीर्तिं कथयति नयतीति [4]प्रातिभज्ञानमुच्चैः ॥३३६॥

शार्दूलविक्रीडितम्

एतत्पुण्यमयं सुरूपमहिमा सौभाग्यलक्ष्मीरियं जातोऽस्मिन्[5] जनकः स योऽस्य जनिका[6] सैवास्य या सुप्रजा[7] ॥
पूज्योऽयं जगदेकमङ्गल[8]मणिश्चूडामणिः श्रीभृतामित्युक्तिर्जयमागजयं प्रति जनैर्जातोत्सवैर्जल्पिता ॥३३७॥

मालिनी

कुवलयपरिबोधं संदधानः समन्तात् सततविततदीप्तिः सुप्रतिष्ठः[9] प्रसन्नः ।
परिणतिनिजशौर्येणार्कमाक्रम्य दिक्षु प्रथितपृथुलकीर्त्या वर्द्धमानो जयः स्तात्[10] ॥३३८॥
इति समुपगता श्रीः सर्वकल्याणभाजं जिनपतिमतभाक्त्वात्पुण्यभाजं जयं तम् ।
तदुरुकृतमुपाध्वं हे बुधाः श्रद्दधानाः परमजिनपदाब्जद्वन्द्वमद्वन्द्ववृत्त्या ॥ ३३९ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे
स्वयंवरमालारोपणकल्याणकं नाम त्रिचत्वारिंशत्तमं पर्व ॥४३॥

प्रफुल्लित करनेके लिए वन्धुके समान था और जिसकी कान्ति अचिन्त्य थी ऐसा सूर्य और चन्द्रमाको जीतनेवाला वह जयकुमार अत्यन्त सुशोभित हो रहा था ॥३३५॥ जिसकी सौभाग्यरूपी लक्ष्मी स्पष्ट प्रकट हो रही है ऐसे उस जयकुमारने नाथवंशरूपी आकाशके चन्द्रमा स्वरूप राजा अकम्पनकी प्रिय पुत्री सुलोचनाको विवाहा था सो ठीक ही है क्योंकि प्रतिभाशाली मनुष्योंका उत्कृष्ट ज्ञान यही कहता है कि देदीप्यमान प्रतापके धारक पुरुषको ही अनोखी वीरलक्ष्मी और कीर्ति प्राप्त होती है ॥३३६॥ उस समय जिन्हे आनन्द प्राप्त हो रहा है ऐसे लोगोंके द्वारा, जयकुमारके प्रति उसकी विजयको सूचित करनेवाली निम्नप्रकार वातचीत हो रही थी कि इस संसारमे यही पुण्य है, यही उत्तम रूपकी महिमा है, यही सौभाग्यकी लक्ष्मी है, जिसके यह उत्पन्न हुआ है वही पिता है, जिसने इसे उत्पन्न किया है वही उत्तम सन्तानवती माता है, यही लक्ष्मीवान् पुरुपोमें चूड़ामणि स्वरूप है और ससारका कल्याण करनेवाले रत्नके समान यही एक पूज्य है ॥३३७॥ जो चारो ओरसे कुवलय अर्थात् पृथ्वीमण्डल (पक्षमें रात्रि विकासी कमलो) को प्रसन्न अथवा प्रफुल्लित करता रहता है, जिसकी कान्ति सदा फैली रहती है, जिसकी प्रतिष्ठा उत्तम है और जो सदा प्रसन्न रहता है ऐसा यह (चन्द्रमाका सादृश्य धारण करनेवाला) जयकुमार अपने परिपक्व प्रतापसे सूर्यपर भी आक्रमण कर दिशाओमे फैली हुई बडी भारी कीर्तिसे सदा वढता रहे ॥३३८॥

इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान्‌के मतकी उपासना करनेसे वहुत भारी पुण्यका उपार्जन करनेवाले और सव प्रकारके कल्याणोको प्राप्त होनेवाले जयकुमारको लक्ष्मी प्राप्त हुई थी इसलिए हे श्रद्धावन्त विद्वान् पुरुषो, तुम लोग भी निराकुल होकर परम दयालु सर्वोत्कृष्ट जिनेन्द्रदेवके दोनो चरणकमलोकी उपासना करो ॥३३९॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहके
हिन्दी भाषानुवादमे सुलोचनाके स्वयंवरका वर्णन करनेवाला
यह तैंतालीसवाँ पर्व पूर्ण हुआ ।

---

१ पुत्रीम् । २ अयमुप–त०, इ०, अ०, प०, स० । ३ जयकुमारम् । ४ प्रतिभैव प्रातिभ तच्च तद्ज्ञानं च । प्रतिपुरुपसमुद्भूतप्रतिभाज्ञानमित्यर्थ । ५ लोके । ६ माता । ७ सुपुत्रवती । ८ मङ्गलदर्पण. । ९ सुस्थैर्यवान् । १० भूयात् ।

चतुश्चत्वारिंशत्तमं पर्व

अथ दुर्मर्षणो नाम दुष्टस्तस्या[1]सहिष्णुकः । सर्वानुद्दीपयन्[2] पापी सोऽर्ककीर्त्यनुजीवकः ॥१॥
अकम्पनः खलः क्षुद्रो वृथैश्वर्यमदोद्धतः । मृषा युष्मान् समाहूय श्लाघमानः स्वसंपदम् ॥२॥
पूर्वमेव समालोच्य मालामासञ्जयज्जये । पराभूतिं[3] विधित्सुर्वः स्थायिनीमायुगान्तरम् ॥३॥
इति ब्रुवाणः संप्राप्य सव्रीडं चक्रिणः सुतम् । इह षट्खण्डरत्नानां स्वामिनौ त्वं पिता च ते ॥४॥
रत्नं रत्नेपु कन्यैव तत्राप्येषैव[4] कन्यका । [5]त्वां स्वगृहमानीय दौष्ट्यं[6] पश्यास्य दुर्मतेः ॥५॥
जयो नामात्र कस्तस्मै दत्तवान् मृत्युचोदितः । [7]तेनागतोऽस्मि दौर्वृत्त्यं तदेतत् सोढुमक्षमः ॥६॥
[8]प्राकृतोऽपि न सोढव्यः प्राकृतैरपि[9] किं पुनः । त्वादृशैः स्त्रीसमुद्भूतो मानभङ्गो मनस्विभिः ॥७॥
[10]तदादिश[11] [12]दिशाम्यस्मै पदं वैवस्वतास्पदम्[13] । दिशाम्यादेशमात्रेण[14] समालां तेऽपि कन्यकाम् ॥८॥
इत्यसाध्वीं[15] क्रुधं भर्तुः स्ववाचैवासृजत् खलः । सदसत्कार्यनिर्वृत्तौ[16] शक्तिः सदसतोः[17] समा ॥९॥
तद्वचःपवन[18]प्रौढक्रोधधूमध्वजारुणः[19] । भ्रमद्विलोचनाङ्गारः[20]क्रुद्धाग्निसुरसन्निभः ॥१०॥

अथानन्तर–दुर्मर्षण नामका एक दुष्ट पुरुष राजकुमार अर्ककीर्तिका सेवक था। वह जयकुमारके उस वैभवको नही सहन कर सका इसलिए उस पापीने सब राजाओंको इस प्रकार उत्तेजित किया। वह कहने लगा कि अकम्पन दुष्ट है, नीच है, झूठमूठके ऐश्वर्यके मदसे उद्धत हो रहा है, अपनी सम्पदाओकी प्रशंसा करते हुए उसने व्यर्थ ही आप लोगोको बुलाया है। वह तुम लोगोका दूसरे युग तक स्थिर रहनेवाला अपमान करना चाहता है इसलिए उसने पहले-से सोच-विचारकर जयकुमारके गलेमें माला डलवायी है, इस प्रकार कहता हुआ वह दुर्मर्पण लज्जित हुए चक्रवर्तीके पुत्र अर्ककीर्तिके पास आया और कहने लगा कि इन छहो खण्डोमें उत्पन्न हुए रत्नोके दो ही स्वामी है एक तू और दूसरा तेरा पिता ॥१–४॥ रत्नोमे कन्या ही रत्न है और कन्याओंमे भी यह सुलोचना ही उत्तम रत्न है इसलिए ही अकम्पनने तुझे अपने घर वुलाकर तेरा तिरस्कार किया है, जरा इसे दुष्टकी दुष्टताको तो देखो ॥ ५ ॥ भला, जय-कुमार है कौन ? जिसके लिए मृत्युसे प्रेरित हुए अकम्पनने अपनी पुत्री दी है। मै यह दुराचार सहन करनेके लिए असमर्थ हूँ इसलिए ही आपके पास आया हूँ ॥ ६ ॥ जब कि नीच लोग भी छोटे-छोटे मानभंगको नही सहन कर पाते है तव भला आप-जैसे तेजस्वी पुरुप स्त्रीसे उत्पन्न हुआ मानभंग कैसे सहन कर सकेंगे ? ॥ ७ ॥ इसलिए मुझे आज्ञा दीजिए मै आपकी आज्ञा-मात्रसे ही इस अकम्पनको यमराजका स्थान दे सकता हूँ और माला सहित वह कन्या आपके लिए दे सकता हूँ ॥८॥ इस प्रकार उस दुष्टने अपने वचनोसे ही अपने स्वामीको दुष्ट क्रोध उत्पन्न करा दिया सो ठीक ही है क्योकि अच्छा और बुरा कार्य करनेके लिए सज्जन तथा दुर्जनो-की एक-सी शक्ति रहती है ॥ ९ ॥ उस दुर्मर्षणके वचनरूपी वायुसे वढी हुई क्रोधरूपी अग्निसे

---

१ तमसहमाण । २ कोपाग्नि प्रज्वलयन् । ३ परिभूतिम् । ४ कन्यारत्नेष्वपि । ५ ता त्वा त०, ब० । ६ दुष्टत्वम् । ७ तेन कारणेन । ८ प्रकृते भव पराभवोऽपि । अथवा तुच्छकार्यमपि । ९ नीचैरपि । नष्टान्वयप्रभवैरित्यर्थ. । १० तत् कारणात् । ११ आदेशं देहि । १२ ददामि । १३ यमपुरम् । 'कालो दण्डधर श्राद्धदेवो वैवस्वतोऽन्तक' इत्यभिधानात् । १४ निरूपणमात्रेण । १५ अशुभाम् । १६ निष्पत्तौ । १७ सज्जनदुर्जनयो । १८ प्रवुद्ध । 'प्रवृद्धप्रौढमेधितमित्यभिधानात् । १९ अग्नि । २० कुपिताग्निकुमारसदृश । क्रुधा – ल०, म० ।

उज्जगार[1] ज्वलत्स्थूलविस्फुलिङ्गोपमा गिरः । अर्ककीर्तिर्द्विषोऽशेषान् दिधक्षुरिव[2] वाचया ॥११॥
मामधिक्षिप्य[3] कन्येयं येन दत्ता दुरात्मना । तेन प्रागेव मूढेन दत्तः स्वस्मै जलाञ्जलिः ॥१२॥
अतिक्रान्ते[4] रथे[5] तस्मिन् प्रोत्थितः क्रोधपावकः । तदैव किन्तु को दाह्य इत्यजानन्नहं स्थितः ॥१३॥
[6]नाम्नातिसन्धितो[7] मूढो मन्यते स्वमकम्पनम् । [8]क्रुद्धे मयि न वेत्तीति कम्पते सधरा धरा[9] ॥१४॥
[10]मत्खड्गवारिधारा[11]स्तां तावदगोचरः । संहरन्त्यखिलान् शत्रून् बलवेलैव[12] हेलया ॥१५॥
[13]प्ररूढशुष्कनाथेन्दुदुर्वंशविपुलाटवी । मत्क्रोधप्रस्फुरद्वह्निसस्मिताऽस्मिन्न[14] रोक्ष्यति[15] ॥१६॥
वीरपट्टस्तदा सोढो भुवो[16] भर्तुर्भयान्मया । कथमद्य[17] सहे मालां सर्वसौभाग्यलोपिनीम् ॥१७॥
[18]मद्यशः कुसुमाम्लानमालेवास्त्वायुगावधि । जयलक्ष्म्या सहाद्यैतां[19] हरेयं[20] जयवक्षसः ॥१८॥
जलदान् पेलवान्[21] जित्वा मरुन्मात्रविलायिनः[22] । अद्य पश्यामि दृप्तस्य जयस्य जयमाहवे ॥१९॥
इति[23] निर्भिन्नमर्यादः कार्याकार्यविमूढधीः । अनिवार्यो विनिर्जित्य कालान्तजलधिध्वनिम् ॥२०॥
अनलस्यानिलो वाऽस्य[24] साहाय्यमगमंस्तदा । केऽपि पापक्रियारम्भे सुलभाः सामवायिकाः[25] ॥२१॥

जो लाल-लाल हो रहा है, जिसके नेत्ररूपी अगारे घूम रहे है, और क्रोधसे जो अग्निकुमार देवोके समान जान पड़ता है ऐसा वह अर्ककीर्ति अपने वचनोसे ही समस्त शत्रुओंको जलानेकी इच्छा करता हुआ ही मानो जलते हुए बडे-बडे फुलिगोके समान वचन उगलने लगा ॥१०-११॥ वह बोला जिस दुष्टने मेरा अपमान कर यह कन्या दी है उस मूर्खने अपने लिए पहले ही जलांजलि दे रखी है ॥१२॥ उस समय कन्याका रथ आगे निकलते ही मेरी क्रोधरूपी अग्नि भड़क उठी थी परन्तु जलने योग्य कौन है ? यह नही जानता हुआ मै चुप बैठा रहा था ॥१३॥ केवल नामसे ठगाया हुआ वह मूर्ख अपने आपको अकम्पन मानता है परन्तु वह यह नही जानता कि मेरे कुपित होनेपर पर्वतो सहित पृथिवी भी कँपने लगती है ॥१४॥ मेर तलवाररूपी जलकी धाराका विषय तो दूर ही रहे मेरी सेनारूपी लहर ही समस्त शत्रुओको अनायास ही नष्ट कर देती है ॥१५॥ बहुत बढ़े और सूखे हुए नाथवश तथा चन्द्रवंशरूपी दुष्ट बाँसोकी बड़ी भारी अटवी मेरे क्रोधरूपी प्रज्वलित अग्निसे भस्म हो जायगी और फिर इस ससारमें कभी नही उग सकेगी ॥१६॥ उस समय पृथिवीके अधिपति चक्रवर्ती महाराजने जयकुमारको जो वीरपट्ट बाँधा था उसे तो मैने उनके डरसे सह लिया था परन्तु आज अपने सब सौभाग्यको नष्ट करनेवाली इस वरमालाको कैसे सह सकता हूँ ? ॥१७॥ मेरे यशरूपी फूलोंकी अम्लान माला ही इस युगके अन्त तक विद्यमान रहे। इस मालाको तो मै जयलक्ष्मीके साथ-साथ जयकुमारके वक्ष स्थलसे आज ही हरण किये लेता हूँ ॥१८॥ केवल वायुमात्रसे विलीन हो जानेवाले कोमल मेघोको जीतकर अहंकारको प्राप्त हुए जयकुमारकी जीत आज मै युद्धमें देखूँगा ॥१९॥ इस प्रकार जिसने मर्यादा तोड़ दी है, कार्य अकार्यके करनेमे जिसकी बुद्धि विचाररहित हो रही है और जो किसीसे निवारण नही किया जा सकता ऐसे अर्ककीर्तिने उस समय अपने शब्दोसे प्रलयकालके समुद्रकी गर्जनाको भी जीत लिया था और जिस प्रकार अग्निको भड़कानेके लिए वायु सहायक होता है उसी प्रकार उसका क्रोध भड़कानेके लिए कितने

१ उवाच । २ दग्धुमिच्छु । ३ तिरस्कृत्य । ४ मामुल्लङ्घ्य गते । ५ कन्यारूढस्यन्दने । ६ अकम्पन इति नाम्ना । ७ वञ्चित । ८ क्रुधे ल० । ९ पर्वतसहिता भूमि । 'महीध्रे शिखरिक्ष्माभृदहार्यधरपर्वता' इत्यभिधानात् । १० अस्मदायुधधाराजल । ११ वारिधारासि प०, ल० । १२ सेनावेला । १३ प्रवृद्धनिस्सारदुष्टनाथवशसोमवशविशालविपिन इत्यर्थ. । १४ अस्मिन् लोके । १५ न जनिष्यते । १६ चक्रिण । १७ सहामि । १८ अस्मत्कीर्ति. । १९ मालाम् । २० स्वीकुर्याम् । २१ मृदून् । २२ विनाशिन. । २३ इति उज्जगारेति सम्बन्ध । २४ सहायता । २५ समवाय सहायतां प्राप्ता ।

तदा सर्वोपधाशुद्धो[1] मन्त्री जानपदादिभिः[2] । अनवद्यमतिर्नाम लक्षितो मन्त्रिलक्षणैः ॥२२॥
धर्म्यमर्थ्यं यशस्सारं ससौष्ठवमनिष्ठुरम् । सुविचार्य वचो न्याय्यं पथ्यं प्रोक्तुं प्रचक्रमे ॥२३॥
मही व्योम शशी सूर्यः सरिदीशोऽनिलोऽनलः । त्वं त्वत्पिता घनाः कालो जगत्क्षेमविधायिनः[3] ॥२४॥
विपर्यासे विपर्येति[4] भवतामनुवर्तनात् । वर्तते सृष्टिरेषा[5] हि व्यक्तं युष्मासु[6] तिष्ठते ॥२५॥
गुणाः क्षमादयः[7] सर्वे[8] व्यस्तास्तेषु क्षमादिषु[9] । समस्तास्ते जगद्वृद्ध्यै[10] चक्रिणि त्वयि च स्थिताः २६
च्यवन्ते[11] स्वस्थितेः काले कचित्तेऽपिक्षमादयः । न स कालोऽस्ति यः कर्ता प्रच्युतेर्युवयोः[12] स्थितेः ॥२७॥
सृष्टिः पितामहेनेयं[13] सृष्टैनां[14] तत्समर्पिताम्[15] । पाति सम्राट्[16] पिता तेऽद्य[17] तस्यास्त्वमनुपालकः २८
दैवमानुषबाधाभ्यः क्षतिः कस्यापि या क्षितौ । ममैवेयमिति स्मृत्वा समाधेया[18] त्वयैव सा[19] ॥२९॥
क्षतात् त्रायत इत्यासीत् क्षत्त्रोऽयं भरतेश्वरः । सुतस्तस्यौरसो[20] ज्येष्ठः क्षत्रियस्त्वं[21] तदादिमः ॥३०॥
त्वत्तो न्यायाः प्रवर्तन्ते नूतना ये पुरातनाः । तेऽपि त्वत्पालिता एव भवन्त्यत्र पुरातनाः ॥३१॥

ही राजा लोग उसके सहायक हो गये थे सो ठीक ही है क्योकि पापक्रियाओंके प्रारम्भमे सहायता देनेवाले सुलभ होते है ॥२०-२१॥ उस समय जो सव उपधाओसे शुद्ध है तथा जनपद आदि मन्त्रियोके लक्षणोसे सहित है ऐसा निर्दोषवुद्धिका धारक अनवद्यमति नामका मन्त्री अच्छी तरह विचारकर धर्मयुक्त, अर्थपूर्ण, यशके सारभूत, उत्तम, कठोरतारहित, न्यायरूप और हितकारी वचन कहने लगा ॥२२-२३॥ उसने कहा कि पृथिवी, आकाश, चन्द्रमा, सूर्य, समुद्र, वायु, अग्नि, तू, तेरा पिता, मेघ और काल ये सव पदार्थ संसारमे कल्याण करनेवाले हैं ॥२४॥ आप लोगोमें उलट-पुलट होनेसे यह ससारकी सृष्टि उलट-पुलट हो जाती है और आपके अनुकूल रहनेसे अच्छी तरह विद्यमान रहती है इससे स्पष्ट है कि यह सृष्टि आप लोगोपर ही अवलम्बित है ॥२५॥ क्षमा आदि गुण अलग-अलग तो पृथिवी आदिमे भी रहते हैं परन्तु इकट्ठे होकर संसारका कल्याण करनेके लिए चक्रवर्तीमे और तुझमें ही रहते हैं ॥२६॥ पृथिवी आदि पदार्थ किसी समय अपनी मर्यादासे च्युत भी हो जाते है परन्तु ऐसा कोई समय नही है जो तुम दोनोको अपनी मर्यादासे च्युत कर सके ॥२७॥ तुम्हारे पितामह भगवान् वृषभदेवने इस कर्मभूमिरूपी सृष्टिकी रचना की थी, उनके द्वारा सौपी हुई इस पृथिवीका पालन इस समय तुम्हारे पिता भरत महाराज कर रहे है और उनके वाद इसका पालन करनेवाले तुम ही हो ॥२८॥ इस पृथिवीमे यदि किसीकी भी दैव या मनुष्यकृत उपद्रवोसे कुछ हानि होती हो तो 'यह मेरी' ही है ऐसा समझकर आपको ही उसका समाधान करना चाहिए ॥२९॥ जो क्षत अर्थात् सकटसे रक्षा करे उसे क्षत्र कहते है, भरतेश्वर सवकी रक्षा करते है इसलिए वे क्षत्र है और तुम उनके सबसे बड़े औरस पुत्र हो इसलिए तुम सवसे पहले क्षत्रिय हो ॥३०॥ इस ससारमें नवीन न्याय तुमसे ही प्रवृत्त होते है और जो पुरातन अर्थात् प्राचीन है वे तुम्हारे द्वारा पालित होकर ही पुरातन कहलाते है। भावार्थ–आपसे नवीन न्याय मार्गकी प्रवृत्ति

---

१ धर्मार्थकामभयेषु व्याजेन परचित्तपरीक्षणमुपधा तया शुद्धः । 'उपधा धर्माद्यैर्यत्परीक्षणम्' इत्यभिधानात् । २ जनपदभवनृपपुरजनादिभि. । ३ लोकस्य क्षेमकारिण । ४ विपर्यासमेति । ५ जगत्सृष्टिः । ६ युष्मासु महीप्रभृतिषु प्रकाशते । ७ क्षान्त्यवगाहनसंहानसंतापहरणप्रकाशनादिगुणा । ८ विकलाः । एकैकस्मिन्नेकैकश एवेत्यर्थ । ९ पृथिव्याकाशादिषु । १० जगद्वृद्धौ प०, ल०, म० । ११ प्रच्युता भवन्ति । १२ भरतार्ककीर्त्यो । १३ पितृपित्रा आदिब्रह्मणा । 'पितामह पितृपिता' इत्यभिधानात् । १४ सृष्टां ता अ०, स० । सृष्टैतां इ०, प०, ल० । १५ आदिब्रह्मणा वितीर्णाम् । १६ चक्री । १७ सृष्टे. । १८ निवर्तनीया । १९ क्षतिः । २० उरसि भवः । साक्षात्सुतः न दत्तपुत्र । २१ क्षत्राज्जात ।

विना चक्राद् विना रत्नैर्भोग्येयं श्रीस्त्वया तदा । जयात्ते[1] मानुषी[2] सिद्धिर्दैवी पुण्योदयाद्यथा ॥४४॥
तृणकल्पोऽपि[3] संत्राह्यस्तव नीतिरियं कथम् । नाथेन्दुवंशावुच्छेद्यौ लक्ष्म्याः साक्षाद्भुजायितौ ॥४५॥
बन्धुभृत्यक्षयाद्भूयस्तुभ्यं चक्र्यपि कुप्यति । अधर्मश्चायुगस्थायी त्वया स्यात् संप्रवर्तितम्[4] ॥४६॥
परदाराभिलाषस्य प्राथम्यं[5] मा वृथा कृथाः[6] । अवश्यमाहृताप्येषा न कन्या ते भविष्यति ॥४७॥
सप्रतापं यशः स्थास्नु जयस्य स्यादहर्यथा । तव रात्रिरिवाकीर्तिः स्थायिन्यत्र मलीमसा ॥४८॥
सर्वमेतन्ममैवेति मा मंस्था साधनं युधः[7] । बहवोऽप्यत्र भूपालाः सन्ति तत्पक्षपातिनः ॥४९॥
पुरुषार्थत्रयं पुम्भिर्दुष्प्रापं तत्त्वयाऽर्जितम् । न्यायमार्गं समुल्लङ्घ्य वृथा तत्किं विनाशयेः ॥५०॥
अकम्पनस्य सेनेशो जयः प्रागिव चक्रिणः । वीरलक्ष्म्यास्तुलारोहं मुधा त्वं किं विधास्यसि ॥५१॥
ननु न्यायेन बन्धोस्ते[8] बन्धुपुत्री समर्पिता । उत्सवे का पराभूतिरक्षमा[9]ऽत्र पराभवः ॥५२॥
कन्यारत्नानि सन्त्येव बहून्यन्यानि भूभुजाम् । इह तानि सरत्नानि सर्वाण्यद्यन[10] यामि ते ॥५३॥
इति नीतिलतावृद्धिविधाय्यपि वचः पयः । [11]व्यधान् तच्चेतसः क्षोभं तप्ततैलस्य वा भृशम् ॥५४॥

राजाओको जानकर उसका भी सन्मान करना चाहिए फिर भला जिसका पराक्रम देखा जा चुका है और जिसने अत्यन्त असाध्य कार्यको भी सिद्ध कर दिया है उसकी तो बात ही क्या है? ॥४३॥ आगे चलकर जिस समय विना चक्र और विना रत्नोके यह लक्ष्मी तुम्हारे उपभोग करने योग्य होगी उस समय तुम्हारी दैवी सिद्धि जिस प्रकार पुण्य कर्मके उदयसे होगी उसी प्रकार तुम्हारी मानुषी अर्थात् मनुष्योंसे होनेवाली सिद्धि जयकुमारसे ही होगी ॥ ४४ ॥ जब कि तृणके समान तुच्छ पुरुषकी भी रक्षा करनी चाहिए यह आपकी नीति है तब राज्य लक्ष्मीके साक्षात् भुजाओके समान आचरण करनेवाले नाथ वंश और सोम वंश उच्छेद करने योग्य कैसे हो सकते है? ॥४५॥ इन भाइयोके समान सेवकोका नाश करनेसे चक्रवर्ती भी तुमपर अधिक क्रोध करेगे और युगके अन्त तक टिकनेवाला यह अधर्म भी तुम्हारे-द्वारा चलाया हुआ समझा जायगा ॥४६॥ तुम्हे व्यर्थ ही परस्त्रीकी अभिलाषाका प्रारम्भ नही करना चाहिए क्योकि यह निश्चय है, यह कन्या जबरदस्ती हरी जाकर भी तुम्हारी नही होगी ॥ ४७ ॥ जयकुमारका प्रताप सहित यश दिनके समान सदा विद्यमान रहेगा और तुम्हारी मलिन अकीर्ति रात्रिके समान सदा विद्यमान रहेगी ॥ ४८ ॥ ये सब राजा लोग युद्धमे मेरी सहायता करेगे ऐसा मत समझिए क्योकि इनमे भी बहुत-से राजा लोग उनके पक्षपाती है ॥ ४९ ॥ जो धर्म अर्थ और कामरूप तीन पुरुषार्थ पुरुषोंको अत्यन्त दुर्लभ हैं वे तुझे प्राप्त हो गये है इसलिए अब न्यायमार्गका उल्लंघन कर उन्हे व्यर्थ ही क्यो नष्ट कर रहे हो ॥ ५० ॥ यह जयकुमार जिस प्रकार पहले चक्रवर्तीका सेनापति बना था उसी प्रकार अब अकम्पनका सेनापति बना है तुम व्यर्थ ही वीरलक्ष्मीको तुलापर आरूढ क्यो कर रहे हो। भावार्थ – वीरलक्ष्मीको संशयमे क्यों डाल रहे हो ॥ ५१ ॥ निश्चयसे तेरे एक भाईकी पुत्री तेरे दूसरे भाईके लिए न्यायपूर्वक समर्पण की गयी है, ऐसे उत्सवमें तुम्हारा क्या तिरस्कार हुआ? हाँ, तुम्हारी असहनशीलता ही तिरस्कार हो सकती है? भावार्थ – हितकारी होनेसे जिस प्रकार जयकुमार तुम्हारा भाई है उसी प्रकार अकम्पन भी तुम्हारा भाई है। एक भाईकी पुत्री दूसरे भाईके लिए न्यायपूर्वक दी गयी है इसमे तुम्हारा क्या अपमान हुआ? हाँ, यदि तुम इस बातको सहन नही कर सकते हो तो यह तुम्हारा अपमान हो सकता है ॥ ५२ ॥ सुलोचनाके सिवाय राजाओके और भी तो बहुत-से कन्यारत्न है, रत्नालंकार सहित उन सभी कन्याओको मै आज तुम्हारे लिए यहाँ ला देता हूँ ॥ ५३ ॥ इस प्रकार

१ तव। २ पुरुषकृता। ३ रक्षणीय। ४ सप्रवर्तित म०, ल०, अ०, प०, इ०। ५ प्रथमत्वम्। ६ मा कार्षी। ७ युद्धस्य। ८ तव। ९ असहमानता। १० प्रापयामि। ११ व्याधात् ल०।

सर्वमेतत् समाकर्ण्य बुद्धिं कर्मानुसारिणीम् । स्पष्टयन्निव दुर्बुद्धिरिति प्रत्याह भारतीम् ॥५५॥
अस्ति स्वयंवरः पन्थाः परिणीतौ[1] चिरन्तनः । पितामहकृतो मान्यो वयोज्येष्ठस्त्वकम्पनः ॥५६॥
किन्तु सोऽयं जयस्नेहात्तस्योत्कर्षं चिकीर्षुकः । स्वसुतायाश्च सौभाग्यप्रतीतिप्रविधित्सुकः ॥५७॥
सर्वभूपालसंदोहसमाविर्भावितोदयान्[2] । स्वयं चक्रीयितुं[3] चैव व्यधत्त कपटं शठः[4] ॥५८॥
प्राक्समर्थितमन्त्रेण [5]प्रदायास्मै स्वचेतसा । कृतसंकेतया माला सुतयाऽऽरोपिता मृषा ॥५९॥
युगादौ कुलवृद्धेन[6] मायेयं संप्रवर्तिता । मयाद्य यद्युपेक्ष्येत[7] कल्पान्ते नैव वार्यते ॥६०॥
न चक्रिणोऽपि कोपाय स्यादन्यायनिषेधनम् । प्रवर्तयत्यसौ दण्डं मय्यप्यन्यायवर्तिनि ॥६१॥
जयोऽप्येवं[8] समुत्सिक्त[9]स्तत्पट्टेन[10] च मालया । प्रतिस्वं लब्धरन्ध्रो[11] मां करोत्या[12]रम्भकम्पुरा ॥६२॥
[13]समूलतूलमुच्छिद्य सर्वद्विषमसुं युधि । अनुरागं जनिष्यामि राजन्यानां मयि स्थिरम् ॥६३॥
द्विधा भवतु वा मा वा बलं ते न किमाशुगाः[14] । मालां प्रत्यानयिष्यन्ति जयवक्षो विभिद्य मे ॥६४॥
नाहं सुलोचनार्थ्यस्मि मत्सरी[15] मच्छरैरयम्[16] । [17]परासुरधुनैव स्यात् किं मे विधवया त्वया ॥६५॥

अनवद्यमति मन्त्रीका वचनरूपी जल यद्यपि नीतिरूपी लताको बढानेवाला था तथापि उसने तपे हुए तेलके समान अर्ककीर्तिके चित्तको और भी अधिक क्षोभित कर दिया था ॥५४॥ यह सब सुनकर 'बुद्धि कर्मोके अनुसार ही होती है,' इस बातको स्पष्ट करता हुआ वह दुर्बुद्धि इस प्रकार वचन कहने लगा ॥५५॥ मै मानता हूँ कि विवाहकी विधियोमे स्वयंवर ही पुरातन मार्ग है और यह भी स्वीकार करता हूँ कि हमारे पितामह भगवान् वृषभदेवके द्वारा स्थापित होने तथा वयमें ज्येष्ठ होनेके कारण अकम्पन महाराज मेरे मान्य हैं परन्तु वह जयकुमारपर स्नेह होनेसे उसीका उत्कर्ष करना चाहता है और सबपर अपनी पुत्रीके सौभाग्यकी प्रतीति करना चाहता है । समस्त राजाओके समूहके द्वारा प्रकट हुए बडप्पनसे अपने आपको चक्रवर्ती बनानेके लिए ही उस मूर्खने यह कपट किया है ॥ ५६–५८॥ 'यह कन्या जयकुमारको ही देनी है' ऐसी सलाह अकम्पन पहले ही कर चुका था और उसी सलाहके अनुसार अपने हृदयसे जयकुमारके लिए कन्या दे भी चुका था परन्तु यह सब छिपानेके लिए जिसे पहले ही संकेत किया गया है ऐसी पुत्रीके द्वारा उसने यह माला झूठमूठ ही डलवायी है ॥५९॥ युगके आदिमे उच्चकुलीन अकम्पनके द्वारा की हुई इस मायाकी यदि आज मै उपेक्षा कर दूँ तो फिर कल्प-कालके अन्त तक भी इसका निवारण नही हो सकेगा ॥ ६० ॥ अन्यायका निराकरण करना चक्रवर्तीके भी क्रोधके लिए नही हो सकता क्योकि जब मै अन्यायमें प्रवृत्ति कर बैठता हूँ तब वे मुझे भी तो दण्ड देते हैं । भावार्थ–चक्रवर्ती अन्यायको पसन्द नही करते है, और मै भी अन्यायका ही निराकरण कर रहा हूँ इसलिए वे मेरे इस कार्यपर क्रोध नही करेंगे ॥६१॥ यह जयकुमार भी पहले वीरपट्ट बाँधनेसे और अब मालाके पड़ जानेसे बहुत ही अभिमानी हो रहा है । यह छिद्र पाकर पहलेसे ही मेरे लिए कुछ-न-कुछ आरम्भ करता ही रहता है ॥६२॥ यह सबका शत्रु है इसलिए युद्धमे इसे आमूलचूल नष्ट कर सब राजाओका स्थिर प्रेम अपनेमे ही उत्पन्न करूँगा ॥६३॥ सेना फूटकर दो भागोमे विभक्त हो जाय अथवा न भी हो, उससे मुझे क्या ? मेरे बाण ही जयकुमारका वक्षःस्थल भेदन कर वरमालाको ले आवेगे ॥६४॥ मैं सुलोचनाको भी नही चाहता क्योकि सबसे ईर्ष्या करनेवाला यह जयकुमार मेरे बाणोंसे अभी

---

१ विवाहे । २ अभ्युदय प्राप्यमाश्रित्य । ३ चक्रीवाचरितुम् ॥ ४ मायावी । ५ दत्त्वा । ६ अकम्पनेन । ७ –पेक्षेत ल० । ८ –प्येन ल० । ९ गर्वितः । १० वीरपट्टेन । ११ प्राप्तावसर । १२ व्यापारम् । १३ कारणसहितम् । १४ शरा । १५ मत्सरवान् । १६ मम बाणैः । १७ गतप्राण । 'परासुप्राप्तपञ्चत्वपरेतप्रेत-संस्थिताः ।' इत्यभिधानात् ।

दुराचारनिषेधेन त्रयं धर्मादि वर्धते । कारणे सति कार्यस्य किं हानिर्दृश्यते क्वचित् ॥६६॥
व्ययो मे विक्रमस्यास्तां[1] शरस्याप्यत्र न व्ययः । वधे प्रत्युत धर्मः स्याद् दुष्टस्यांहः[2] कुतो भवेत् ॥६७॥
कीर्तिर्विख्यातकीर्तेर्मे नार्ककीर्तेर्विनङ्क्ष्यति[3] । अकीर्तिरनिवार्या स्यादन्यायस्यानिषेधनात् ॥६८॥
तस्य[4] मेऽयशसः कीर्तेर्भवद्भिर्यदुदाहृतम्[5] । भवेत्तत्सत्यसंवादि[6] [7]शीतकोऽस्म्यत्र यद्यहम् ॥६९॥
यूयमाध्वं ततस्तूष्णीमु[8]ष्णकोऽहमिदं प्रति । धर्म्यमर्थ्यं यशस्यं च मा निषेधि[9] हितैषिभिः ॥७०॥
एवं मन्त्रिणमुल्लङ्घ्य कुधीर्वा दुर्ग्रहाहितः[10] । सेनापतिं समाहूय प्रत्यासन्नपराभवः ॥७१॥
कथयित्वा महीशानां सर्वेषां रणनिश्चयम् । भेरीमास्फालयामास जगत्त्रयभयप्रदाम् ॥७२॥
अनुभेरीरवं सद्यः सत्यावासं[11] महीभुजाम् । [12]नटद्भटभुजास्फोटचटुलाराव[13]निष्ठुरः ॥७३॥
करिकण्ठस्फुटोद्घोषघण्टाटङ्कारभैरवः । जितकण्ठीरवारावहयहेषाविभीषणः ॥७४॥
चलद्धरिखुरोद्वट्टकठोरध्वाननिर्भरः । पदातिपद्धति[14] प्रोद्यद्भूरिभूरवभीवहः[15] ॥७५॥
[16]स्पन्दत्स्यन्दनचक्रोत्थपृथुचीत्कारभीकरः । धनुः सज्जीक्रियासक्तगुणास्फालनकर्कशः ॥७६॥
प्रतिध्वनितदिग्भित्तिस्सर्वानकभयानक । बलकोलाहलः कालमिवाह्वातुं समुद्यतः ॥७७॥

ही मर जावेगा तब उस विधवासे मुझे क्या प्रयोजन रह जावेगा ॥६५॥ दुराचारका निषेध करनेसे धर्म आदि तीनों बढते है, क्योंकि कारणके रहते हुए क्या कही कार्यकी हानि देखी जाती है ? ॥६६॥ इस काममे मेरे पराक्रमका नाश होना तो दूर रहा मेरा एक वाण भी खर्च नही होगा वल्कि दुष्टके मारनेमे धर्म ही होगा, पाप कहाँसे होगा ? ॥६७॥ ऐसा करनेसे प्रसिद्ध कीर्तिवाले मुझ अर्ककीर्तिकी कीर्ति भी नष्ट नही होगी परन्तु हाँ, यदि इस अन्यायका निषेध नही करता हूँ तो किसीसे निवारण न करने योग्य मेरी अपकीर्ति अवश्य होगी ॥६८॥ तुमने जो मेरी अपकीर्ति और उसकी कीर्ति होनेका उदाहरण किया है सो यदि मै इस विषयमें मन्दोद्योगी हो जाऊँ तो यह आपका निरूपण सत्य हो सकता है ॥६९॥ इसलिए तुम लोग चुप वैठो, मैं इस कार्यमे उष्ण हूँ – क्रोधसे उत्तेजित हूँ । हित चाहनेवालोको धर्म, अर्थ तथा यश वढाने वाले कार्योका कभी निषेध नही करना चाहिए ॥७०॥ इस प्रकार जिसका पराभव निकट है और जो खोटे हठसे युक्त है ऐसे दुर्वुद्धि अर्ककीर्तिने मन्त्रीका उल्लंघन कर सेनापतिको वुलाया और सब राजाओसे युद्धका निश्चय कहकर तीनो लोकोंको भय उत्पन्न करनेवाली भेरी बजवायी ॥७१–७२॥ जो राजाओके प्रत्येक डेरेमे भेरीके शब्दोंके साथ ही साथ वहुत शीघ्र नाचते हुए योद्धाओकी भुजाओंकी ताडनासे उत्पन्न होनेवाले चंचल शब्दोंसे कठोर है, जो हाथियोंके गलोंमे स्पष्ट रूपसे जोर जोरका शब्द करनेवाले घण्टाओकी टंकारसे भयंकर है, जो सिहोकी गर्जनाको जीतनेवाले घोड़ोंकी हिनहिनाहटसे भीषण है, जो चलते हुए घोड़ोके खुरोंके संघटनसे उठनेवाले कठोर शब्दोसे भरा हुआ है, जो पैदल सेनाके पैरोंकी चोटसे उत्पन्न हुए पृथिवीके वहुत भारी शब्दोसे भयंकर है, जो चलते हुए रथोके पहियोसे उत्पन्न होनेवाले बहुत भारी चीत्कार शब्दोंसे भय पैदा करनेवाला है, जो धनुष तैयार करनेके लिए लगायी हुई डोरीके आस्फालनसे कठोर है, जिसने दिशारूपी दीवालोंको प्रतिध्वनिसे युक्त कर दिया है और जो सब प्रकारके नगाड़ोसे भयानक हो रहा है ऐसा बहुत भारी सेनाका कोलाहल उठा सो ऐसा जान पड़ता

---

१ आस्तां तावदित्यध्याहार । २ पाप. । ३ विनाशमेष्यति । ४ जयस्य । ५ यदुदाहरणम् । ६ सत्येन अविपरीतप्रतिपत्तिकम् । सत्येन एकवादोपेतं वा । ७ मन्द । ८ पटु । 'दक्षे तु चतुरपेशलपटव' सुत्थान ओष्णश्च' इत्यभिधानात् । ९ न निषिध्यते स्म । १० स्वीकृत । ११ शिविरं प्रति शिविर प्रति । १२ नवस्थिता । १३ ध्वनि । १४ पादहति । १५ भूमिध्वनिना भयंकर. । १६ चलत् ।

शिक्षिताः बलिनः शूराः शूरारूढाः सकेतवः। गजाः समन्तात् सन्नाह्याः[1] प्राक्चेलुरचलोपमाः ॥७८॥
तुरङ्गमास्तरङ्गाभाः सङ्ग्रामाब्धेः सवर्मकाः[2]। अनुदन्ति[3] नदन्तोऽयान्[4] विक्रामन्तः[5] समन्ततः ॥७९॥
सचक्रं[7] धेहि संयोज्य सधुरं[8] [9]प्राज वाजिनः। इति [10]संभ्रमिणोऽपप्तन्[11] रथास्तदनु सध्वजाः ॥८०॥
चण्डाः कोदण्डकुन्तासिप्रासचक्रादिभीकराः। यान्ति स्मानुरथं क्रुद्धा रुद्धदिक्काः पदातयः ॥८१॥
गजं गजस्तत्रोल्लङ्घ्य वाहो[12] वाह रथ रथः। पदातयश्च पादान्तं संभ्रमान्निर्ययुर्युधे[13] ॥८२॥
आरूढानेकपानेकभूपालपरिवारितः। भेरीनिष्ठुरनिर्घोषभीषिताशेषदिग्द्विपः ॥८३॥
चक्रध्वजं समुत्थाप्य सम्यगाविष्कृतोन्नतिः। गजं विजयघोषाख्यमारुह्याद्रिवरोत्तमम् ॥८४॥
अर्ककीर्तिर्बहिर्भास्वदस्यु[14]द्यतभटावृतः। ज्योतिःकुलाचलैर्वार्कश्चचालाभ्यचलाधिपम्[15] ॥८५॥
किंवदन्तीं[16] विदित्वैतां भूपो भूत्वा कुलाकुलः[17]। स्वालोचितं[18] च कर्तव्यं[19] विधिना क्रियतेऽन्यथा ॥८६॥
इति स्वसचिवैः सार्धमालोच्य च जयादिभिः। प्रत्यर्ककीर्त्यथा[20] दिक्षद्[21] दूतं संप्राप्य सत्वरम् ॥८७॥
कुमार तव किं युक्तमेवं सीमातिलङ्घनम्। प्रसीद प्रलयो[22] दूरं तन्मा कार्षीर्मृषागमम् ॥८८॥

था मानो कालको बुलानेके लिए ही उठा हो ॥ ७३–७७ ॥ उस समय जो शिक्षित है, बलवान् है, शूरवीर है, जिनपर योद्धा बैठे हुए है, पताकाएँ फहरा रही है, जो सब तरहसे तैयार है और पर्वतोके समान ऊँचे हैं ऐसे हाथी सब ओरसे आगे-आगे चल रहे थे ॥ ७८ ॥ जो संग्रामरूपी समुद्रकी लहरोके समान हैं, कवच पहने हुए है, हीस रहे है और कूद रहे है ऐसे घोड़े उन हाथियोके पीछे-पीछे चारों ओर जा रहे थे ॥७९॥ पहिये जल्दी लगाओ, धुराको ठीक कर जल्दी लगाओ, इस प्रकार कुछ जल्दी करनेवाले, तथा जिनमे शीघ्रगामी घोड़े जुते हुए है और ध्वजाएँ फहरा रही है ऐसे रथ उन घोडोके पीछे-पीछे जा रहे थे ॥८०॥ उन रथोके पीछे धनुष, भाला, तलवार, प्रास और चक्र आदि शस्त्रोसे भयंकर, फैलकर सब दिशाओंको रोकनेवाले, क्रोधी और बलवान् पैदल सेनाके लोग जा रहे थे ॥ ८१ ॥ उस समय हाथी हाथीको, घोडा घोड़ाको, रथ रथको और पैदल पैदलको धक्का देकर युद्धके लिए जल्दी-जल्दी जा रहे थे ॥ ८२ ॥ तदनन्तर – हाथियोंपर चढे हुए अनेक राजाओसे घिरा हुआ, नगाड़ोके कठोर शब्दोसे समस्त दिग्गजोको भयभीत करनेवाला, चक्रके चिह्नवाली ध्वजाको ऊँचा उठाकर अपनी ऊँचाईको अच्छी तरह प्रकट करनेवाला और चमकीली तलवार हाथमे लिये हुए योद्धाओसे आवृत अर्ककीर्ति, मेरु पर्वतके समान उत्तम विजयघोष नामक हाथीपर सवार हो अचलाधिप (अचला अधिप) अर्थात् पृथ्वीके अधिपति राजा अकम्पनकी ओर इस प्रकार चला मानो ज्योतिर्मण्डल और कुलाचलोके साथ-साथ सूर्य ही अचलाधिप (अचल अधिप) अर्थात् सुमेरुकी ओर चला हो ॥८३–८५॥ महाराज अकम्पन यह बात जानकर बहुत ही व्याकुल हुए और सोचने लगे कि अच्छी तरह विचारकर किया हुआ कार्य भी दैवके द्वारा उलटा कर दिया जाता है। इस प्रकार उन्होने अपने मन्त्री तथा जयकुमार आदिके साथ विचारकर अर्ककीर्तिके प्रति शीघ्र ही एक शीघ्रगामी दूत भेजा ॥८६–८७॥ दूतने जाकर कहा कि हे कुमार, क्या तुम्हें इस प्रकार सीमाका उल्लघन करना उचित है ? प्रलयकाल अभी दूर है इसलिए प्रसन्न हूजिए

१ संनद्धाः कृताः। २ तनुत्रसहिताः। ३ दन्तिना पश्चात्। ४ ध्वनन्तः। ५ अगच्छन्। ६ लङ्घनं कुर्वन्तः। ७ चक्रेण सह किंचिद् धेहि धारय। ८ धुरा सह किंचिद् धेहि। ९ प्रेरय। १० आशुप्रधावने प्रयुक्ताः त्वरावन्तः। ११ अगच्छन्। १२ अश्वः। 'वाहोऽश्वस्तुरगो वाजी हयो धुर्यस्तुरंगमः' इति धनंजयः। १३ संग्रामनिमित्तम्। १४ उद्धृतासि। १५ अकम्पनं महाराजं प्रति। मेरुं च। १६ जनवार्ताम्। १७ अधिकाकुलः। १८ सुष्ठ्वालोचितम्। १९ कार्यम्। २० अर्ककीर्तिं प्रति। २१ प्राहिणोत्। २२ प्रलयः षष्ठकालान्ते भवतीत्यागमम्। मृषा मा कुरु।

इति सामादिभिः स्वोक्तैरशान्तमवगम्य तम्। प्रत्येत्य तत्तथा सर्वमाश्वाजीगमन्नृपम् ॥८९॥
काशिराजस्तदाकर्ण्य विषादचलिताशयः। महामोहाहितो वाऽऽसीद् दुष्कार्ये को न मुह्यति ॥९०॥
अत्र चिन्त्यं न वः किंचिन्न्यायस्तेनैव लङ्घितः। तिष्ठतैवं संरक्ष्य सुनियुक्ताः सुलोचनाम् ॥९१॥
इदानीमेव दुर्वृत्तं शृङ्खलालिङ्गनोत्सुकम्। शाखामृगमिवानेष्ये बध्वा दाराततायिनम् ॥९२॥
इत्युदीर्य जयो मेघकुमारविजयार्जिताम्। मेघघोषाभिधां भेरीं प्रष्ठेनास्फोटयद् रुषा ॥९३॥
द्रोणादिप्रक्षयारम्भघनाघनघनध्वनिम्। तद्ध्वनिर्व्याप निर्जित्य निर्भिद्य हृदयं द्विषाम् ॥९४॥
तद्ध्वाकर्णनाद् घूर्णितार्णवप्रतिमे बले। अतिवेलोत्सवोऽत्रासीदुत्सवो विजये यथा ॥९५॥
तदोद्भिन्नकटप्रान्तप्रक्षरन्मदपायिनः। स्वमदेनेव मातङ्गाः प्रोत्तुङ्गाः प्रोन्मदिष्णवः ॥९६॥
सुस्वनन्तः खनन्तः खं वाजिनो वायुरंहसः। कृतोत्साहा रणोत्साहाद् रेजुस्तेजस्विता हि सा ॥९७॥

और आगमको झूठा मत कीजिए। भावार्थ–लड़कर असमयमें ही प्रलय काल न ला दीजिए। दूतने इस प्रकार बहुत-से साम, दान आदिके वचन कहे परन्तु तो भी उसे अशान्त जानकर वह लौट आया और शीघ्र ही ज्योंके त्यों सब समाचार अकम्पनसे कह दिये ॥ ८८–८९ ॥ उन समाचारोंको सुनकर काशीराज अकम्पनका चित्त विषादसे विचलित हो उठा और वे स्वयं महा-मोहसे मूर्च्छित हो गये सो ठीक ही है क्योंकि बुरे कामोंमें कौन मूर्च्छित नहीं होता ॥९०॥ जयकुमारने अकम्पनको चिन्तित देखकर कहा कि इस विषयमें हम लोगोंको कुछ भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए क्योंकि न्यायका उल्लंघन उसीने किया है, आप सावधान होकर सुलोचना-की रक्षा करते हुए यहीं रहिए। दुराचारी, स्त्रियोंपर उपद्रव करनेवाले और इसलिए ही साँकलोंसे आलिंगन करनेकी इच्छा करनेवाले उस अर्ककीर्तिको वन्दरके समान बाँधकर मैं अभी लाता हूँ ॥९१–९२॥ इस प्रकार कहकर जयकुमारने क्रोधमें आकर, युद्धमें आगे जानेवाले पुरुषके द्वारा मेघकुमारोंको जीतनेसे प्राप्त हुई मेघघोषा नामकी भेरी बजवायी ॥९३॥ प्रलयकालके प्रारम्भमें प्रकट होनेवाले द्रोण आदि मेघोंकी घोर गर्जनाको जीतकर तथा शत्रुओं-का हृदय विदारण कर वह भेरीकी आवाज सब ओर फैल गयी ॥ ९४ ॥ जिस प्रकार शत्रुके विजय करनेपर उत्सव होता है उसी प्रकार उस भेरीका शब्द सुनकर लहराते हुए समुद्रके समान चंचल जयकुमारकी सेनामें माला डालनेके उत्सवसे भी कहीं अधिक उत्सव होने लगा ॥९५॥ उस समय फटे हुए गण्डस्थलके समीपसे झरते हुए मदका पान करनेवाले और अपने उसी मदसे ही मानो उन्मत्त हुए ऊँचे-ऊँचे हाथी युद्धके उत्साहसे सुशोभित हो रहे थे। तथा इसी प्रकार अच्छी तरह हींसते हुए, पैरोंसे आकाशको खोदते हुए और वायुके समान वेगवाले उत्साही घोड़े भी युद्धके उत्साहसे सुशोभित हो रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि उनका तेजस्वीपना

---

१ सोक्तैः ट०। वचनसहितैः। २ शीघ्रं ज्ञापितवान्। ३ अकम्पन। ४ महामूर्च्छागृहीत इव। ५ अत्र कार्ये। ६ अर्ककीर्तिनैव। ७ निवसत। ८ राजभवने। ९ सावधाना भूत्वा। १० दाराततायनम् ट०। दारेषु कृतागमनम्। स्त्रीनिमित्तमागतमर्ककीर्तिमित्यर्थः। दाराततायिनमिति पाठे दारार्थं वधोद्यतम्। 'आततायी वधोद्यतः' इत्यभिधानात्। ११ अग्रगामिना पुरुषेण। १२ आस्फालनं कारयति स्म। प्रष्ठेनास्फालयद् ल०, अ०, प०, इ०, स०। १३ द्रोणादि द्रोणकालपुष्करादि। प्रक्षयारम्भ प्रलयकालप्रारम्भ। द्रोणादयश्च ते प्रक्षयारम्भघनाघनास्तेषां ध्वनिम्। १४ व्याप्नोति स्म। १५ समाने। "प्रतिमानं प्रतिबिम्बं प्रतिमा प्रतियातना प्रतिच्छाया। प्रतिकृतिरर्चा पुंसि प्रतिनिधिरुपमोपमानं स्यात्।" १६ अधिकोत्सवः। 'अतिवेलभृशात्यर्थातिमात्रं गाढनिर्भरम्' इत्यभिधानात्। अतिमालोत्सवो ल०, अ०, प०, इ०। १७ दिग्विजये। १८ पवनवेगा। १९ कृतोद्योगा।

रथाः प्रागिव[1] पर्यस्ताः[2] पूर्णसर्वायुधायुधः[3] । महावाहसमायुक्ताः प्रनृत्यत्केतुबाहवः ॥९८॥
योषितोऽप्यभटायन्त[4] पाटवात् संयुगं प्रति[5] । ततः[6] प्रतिबलात्तत्र[7] भूयांसो वा[8] पदातयः ॥९९॥
वर्द्धमानो ध्वनिस्तूर्ये रणरङ्गे भविष्यतः । वीरलक्ष्मीप्रवृत्तस्य प्रोद्ययौ गुणयन्निव[10] ॥१००॥
वनान्वयं वयश्शिक्षालक्षणैर्वीक्ष्य विग्रहम्[11] । [12]सुवर्माणं सुधर्माणं[13] कामवन्तं[14] क्षरन्मदम् ॥१०१॥
सामजं विजयार्द्धाख्यं विजयार्द्धमिवापरम् । बहुशो दृष्टसंग्रामं[15] गजध्वजविराजितम् ॥१०२॥
अधिष्ठाय[16] जयः सर्वसाधनेन सहानुजः । निर्जगाम युगप्रान्तकाललीलां विलङ्घयन् ॥१०३॥
कुर्वन्ती शान्तिपूजां त्वं तिष्ठ मात्रेति[17] सादरम् । प्रवेश्य चैत्यधामाग्र्यं[18] सुतां नित्यमनोहरम् ॥१०४॥
समग्रबलसंपत्त्या चचाल चलयन्निलाम्[19] । अकम्पः कम्पितारातिः[20] साकम्पनिरकम्पनः ॥१०५॥
सुकेतुः सूर्यमित्राख्यः श्रीधरो जयवर्मणा । देवकीर्तिर्जयं जग्मुरिति भूपाः ससाधनाः ॥१०६॥
इमे मुकुटबद्धेषु पञ्च विख्यातकीर्तयः । परे च शूरा नाथेन्दुवंशगृह्याः[21] समाययुः ॥१०७॥
मेघप्रभश्च चण्डासिप्रभाव्याप्तवियत्तलः । विद्याबलोद्धतः सार्द्धमर्द्धैर्विद्याधरैरगात् ॥१०८॥

वही था ॥९६–९७॥ जो सब प्रकारके शस्त्रोसे पूर्ण है, जिनमें बड़े-बडे घोडे जुते हुए है, और जिनकी ध्वजारूपी भुजाएँ नृत्य कर रही है ऐसे युद्धके रथ पहलेके समान ही सब ओर फैल रहे थे ॥९८॥ जयकुमारकी सेनामे युद्धमें चतुर होनेके कारण स्त्रियाँ भी योद्धाओके समान आचरण करती थी इसलिए अन्य राजाओकी अपेक्षा उसकी पैदल सेनाकी सख्या अधिक थी ॥९९॥ उस समय जो बाजोका शब्द बढ रहा था वह ऐसा जान पडता था मानो रणके मैदानमे जो वीरलक्ष्मीका उत्तम नृत्य होनेवाला है उसे कई गुना करता हुआ ही बढ रहा हो ॥१००॥

तदनन्तर–जो वनमे उत्पन्न हुआ है, वय, शिक्षा और अच्छे-अच्छे लक्षणोसे जिसका शरीर देखने योग्य है, जिसका स्वभाव अच्छा है, शरीर अच्छा है, जो कामवान् है, जिसके मद झर रहा है, जिसने अनेक बार युद्ध देखे है, जो हाथीके चिह्नवाली ध्वजाओसे सुशोभित है और दूसरे विजयार्ध पर्वतके समान जान पड़ता है ऐसे विजयार्ध नामके हाथीपर सवार होकर वह जयकुमार सब सेना और सब छोटे भाइयोके साथ-साथ युगके अन्त कालकी लीलाको उल्लंघन करता हुआ निकला ॥१०१–१०३॥ इधर शत्रुओंको कम्पित करनेवाले और स्वयं अकम्प (निश्चल) रहनेवाले महाराज अकम्पनने भी 'तू अपनी माताके साथ आदरपूर्वक शान्तिपूजा करती हुई बैठ' इस प्रकार कहकर पुत्री सुलोचनाको नित्यमनोहर नामके उत्तम चैत्यालयमे पहुँचाया और स्वय अपने पुत्रोंको साथ लेकर समस्त सेनारूपी सम्पत्तिके द्वारा पृथिवीको कँपाते हुए निकले ॥१०४–१०५॥ सुकेतु, सूर्यमित्र, श्रीधर, जयवर्मा और देवकीर्ति ये सब राजा अपनी-अपनी सेनाओके साथ जयकुमारसे जा मिले ॥ १०६ ॥ मुकुटबद्ध राजाओमें जिनकी कीर्ति अत्यन्त प्रसिद्ध है ऐसे ऊपर कहे हुए सुकेतु आदि पाँच राजा तथा नाथवश और सोमवशके आश्रित रहनेवाले अन्य शूरवीर लोग, सभी जयकुमारसे आ मिले ॥१०७॥ जिसने अपनी तीक्ष्ण तलवारकी प्रभासे आकाशतलको व्याप्त कर लिया है और जो विद्याके बलसे

---

१ दिग्विजये यथा । २ समन्तात् प्राप्ता. । पर्यस्ता ल० । ३ रणस्य । पूर्णसर्वायुधायुध इति समस्तपदपक्षे पूर्णसर्वायुधानि च भटाश्च येषु ते । ४ भटा इवाचरिता । ५ युद्धं प्रति । ६ तत कारणात् । ७ प्रतिबले विलोक्यमाने सतीत्यर्थ । ८ जयकुमारबले । ९ इव । १० अतिशय कुर्वन्निव । ११ दर्शनीयमूर्तिम् । १२ सुवर्माण सुवर्ष्माण अ०, प०, स०, इ० । सुधर्माण सुवर्ष्माणं ल० । १३ शोभनस्वभावम् । १४ आरोहकस्य वशवर्तिगमनवन्तम् । १५ गजरूपध्वज । १६ आरुह्य । १७ जनन्या सह । १८ श्रेष्ठम् । १९ भूमिम् । २० अकम्पनस्यापत्यानि आकम्पनयस्तै सहित । २१ नाथवंशसोमवंशाश्रिताः ।

बलं विभज्य भूभागे विशाले सकलं समे । प्रकृत्य[1] मकरव्यूहं[2] विरोधिबलघस्मरः[3] ॥१०९॥
उच्चैरूर्जिततूर्यौघनिर्यन्निर्घोषभीषणः[4] । जितमेघस्वरो गर्जन् रेजे मेघस्वरस्तदा ॥११०॥
चक्रव्यूहं[5] विभक्तात्मभूरिसाधनमध्यगः । अर्ककीर्तिश्च भाति स्म परिवेषाहि[6] तार्कवत् ॥१११॥
क्रुद्धाः खे खेचराधीशाः सुनमिप्रमुखाः पृथक् । गरुडव्यूहमापाद्य तस्थुश्चक्रिसुताज्ञया ॥११२॥
अष्टचन्द्राः[7] खगाः ख्याताश्चक्रिणः परितः सुतम् । शरीररक्षकत्वेन भेजुर्विद्यामदोद्धताः ॥११३॥
अकालप्रलयारम्भजृम्भिताम्भोदगर्जितम् । निर्जित्य तूर्णं तूर्याणि दध्वनुः सेनयोः समम् ॥११४॥
धानुष्कैर्मार्ग[8]णैर्मार्गः समरस्य पुरस्सरैः । प्रवर्तयितुमारेभे घोरघोषैः सवल्गनम्[9] ॥११५॥
सङ्ग्रामनाटकारम्भसूत्रधारा धनुर्धराः । रणरङ्गं विशन्ति स्म गर्जत्तूर्यपुरस्सरम् ॥११६॥
आबध्य स्थानकं[10] पूर्वं रणरङ्गे धनुर्धरैः । पुष्पाञ्जलिरिव व्यस्तो[11] मुक्तः[12] शितशरोत्करः ॥११७॥
तीक्ष्णा मर्माण्यभिघ्नन्तः पूर्वं कलहकारिणः । पश्चात्प्रवेशिनः[13] शश्वत् खलवत्सा[14] धनुर्भृतः ॥११८॥

उद्धत हो रहा है ऐसा मेघप्रभ नामका विद्याधर भी अपने आधे विद्याधरोके साथ निकला ॥१०८॥ जो शत्रुओकी सेनाको नष्ट करनेवाला है, बड़े-बडे बाजोके समूहसे निकलती हुई आवाजके समान भयंकर है और जिसने अपनी आवाजसे मेघोंकी गर्जनाको भी जीत लिया है ऐसा जयकुमार उस समय विशाल और सम (ऊँची-नीची रहित) पृथ्वीपर अपनी समस्त सेनाका विभाग कर तथा मकरव्यूहकी रचना कर गर्जता हुआ बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहा था ॥१०९--११०॥ उधर चक्रव्यूहकी रचना कर अपनी बहुत भारी सेनाके बीच खड़ा हुआ अर्ककीर्ति भी परिवेषसे युक्त सूर्यके समान सुशोभित हो रहा था ॥ १११ ॥ क्रोधित हुए सुनमि आदि विद्याधरोके अधिपति भी गरुड़व्यूहकी रचना कर चक्रवर्तीके पुत्र--अर्ककीर्तिकी आज्ञासे आकाशमे अलग ही खडे थे ॥११२॥ विद्याके मदसे उद्धत हुए आठ चन्द्र नामके प्रसिद्ध विद्याधर शरीररक्षकके रूपमे चारों ओरसे अर्ककीर्तिकी सेवा कर रहे थे ॥ ११३ ॥ उन दोनो सेनाओमे असामयिक प्रलयकालके प्रारम्भमे बढ़ती हुई मेघोकी गर्जनाको जीतकर शीघ्र-शीघ्र एक साथ बहुत-से बाजे बज रहे थे ॥११४॥ युद्धके आगे-आगे जानेवाले और भयंकर गर्जना करनेवाले धनुर्धारी योद्धाओने बाणो-द्वारा अपना मार्ग बनाना प्रारम्भ किया था । भावार्थ–धनुष चलानेवाले योद्धा बाण चलाकर भीड़को तितर-बितर कर अपना मार्ग बना रहे थे ॥११५॥ जो संग्रामरूपी नाटकके प्रारम्भमें सूत्रधारके समान जान पड़ते थे ऐसे धनुष-को धारण करनेवाले वीर पुरुष गर्जते हुए बाजोको आगे कर युद्धरूपी रंगभूमिमे प्रवेश कर रहे थे ॥११६॥ धनुष धारण करनेवाले पुरुषोने रणरूपी रंगभूमिमें सबसे पहले अपना स्थान जमाकर जो तीक्ष्ण बाणोका समूह छोडा था वह ऐसा जान पडता था मानो उन्होने पुष्पाजलि ही बिखेरी हो ॥११७॥ वे धनुषपर चढाये हुए बाण सदा दुष्टोके समान जान पड़ते थे क्योकि जिस प्रकार दुष्ट तीक्ष्ण अर्थात् क्रूर स्वभाववाले होते है उसी प्रकार वे बाण भी तीक्ष्ण अर्थात् पैने थे, जिस प्रकार दुष्ट मर्मभेदन करते है उसी प्रकार बाण भी मर्मभेदन करते थे, जिस प्रकार दुष्ट कलह करनेवाले होते है उसी प्रकार बाण भी कलह करनेवाले थे और जिस प्रकार दुष्ट पहले मधुर वचन कहकर फिर भीतर घुस जाते है उसी प्रकार वे बाण भी मनोहर शब्द

१ कृत्वा । २ मकरसमूहरचनाविशेषम् । ३ विनाशक इत्यर्थः । ४ निर्घोषभीषण यथा भवति तथा । ५ विभक्त्यात्म–प०, ल० । ६ प्राप्त । ७ अष्टचन्द्राख्या । ८ बाणैः । ९ क्रियाविशेषणम् । उत्प्लवनसहितं यथा । १० आलीढप्रत्यालीढादि । ११ क्षिप्तः । १२ निशात । १३ शरीर प्रवेशिनः । १४ बाण. ।

उभयोः [1]पार्श्वयोर्बध्वा बाणधी[2] कृतवल्गनाः । धन्विनः खेचराकारा[3] रेजुराजौ[4] जितश्रमाः ॥११९॥
ऋजुत्वाद् दूरदर्शित्वात् सद्यः कार्यप्रसाधनात् । शास्त्रमार्गानुसारित्वात्[5] शराः[6] सुसचिवैः[7] समाः॥१२०॥
क्रव्यासृक्पायिनः[8] पत्रवाहिनो[9] दूरपातिनः । लक्ष्येपूड्डीय तीक्ष्णास्याः खगाः[10] पेतुः खगोपमाः[11] ॥१२१॥
धर्मेण[12] गुणयुक्तेन[13] प्रेरिता हृदयं गता । शूरान्[14] शुद्धिरिवानैषीद्[15] गतिं पत्रिपरम्परा[16] ॥१२२॥
पुंसां सस्पर्शमात्रेण हृद्गता रक्तवाहिनी[17] । क्षिप्रं न्यमीलयन्नेत्रे वेश्येव विशिखावली[18] ॥१२३॥
त्यक्त्वेशं खेचरास्त्रातिवृष्टौ[19] गृद्ध्रूतमस्तता[20] । परोऽन्विष्य शरावल्या जारयेव वशीकृतः ॥१२४॥

करते हुए पीछेसे भीतर घुस जाते थे ॥११८॥ जो दोनो वगलोमे तरकस वॉधकर उछल-कूद कर रहे है तथा जिन्होने परिश्रमको जीत लिया है ऐसे धनुपधारी लोग उस युद्धमे पक्षियोके समान सुशोभित हो रहे थे ॥११९॥ और वाण अच्छे मन्त्रियोके समान जान पड़ते थे क्योकि जिस प्रकार अच्छे मन्त्री ऋजु अर्थात् सरल (मायाचाररहित) होते है उसी प्रकार वाण भी सरल अर्थात् सीधे थे, जिस प्रकार अच्छे मन्त्री दूरदर्शी होते है अर्थात् दूरतककी वातको सोचते है उसी प्रकार वाण भी दूरदर्शी थे अर्थात् दूर तक जाकर लक्ष्यभेदन करते थे, जिस प्रकार अच्छे मन्त्री शीघ्र ही कार्य सिद्ध करनेवाले होते है उसी प्रकार वाण भी शीघ्र करनेवाले थे अर्थात् जल्दीसे शत्रुको मारनेवाले थे और जिस प्रकार अच्छे मन्त्री शास्त्रमार्ग अर्थात् नीतिशास्त्रके अनुसार चलते है उसी प्रकार वाण भी शास्त्रमार्ग अर्थात् धनुपशास्त्रके अनुसार चलते थे। ॥१२०॥ मांस और खूनको पीनेवाले, पख धारण करनेवाले, दूर तक जाकर पडनेवाले और पैने मुखवाले वे वाण पक्षियोके समान उड़कर अपने निशानोंपर जाकर पडते थे। भावार्थ—वे वाण पक्षियोके समान मालूम होते थे, क्योकि जिस प्रकार पक्षी मास और खून पीते है उसी प्रकार वाण भी शत्रुओका मास और खून पीते थे, जिस प्रकार पक्षियोके पख लगे होते है उसी प्रकार वाणोके भी पख लगे थे, जिस प्रकार पक्षी दूर जाकर पडते है उसी प्रकार वाण भी दूर जाकर पडते थे और जिस प्रकार पक्षियोका मुख तीक्ष्ण होता है उसी प्रकार वाणोका मुख (अग्रभाग) भी तीक्ष्ण था। इस प्रकार पक्षियोकी समानता धारण करनेवाले वाण उड-उड़कर अपने निशानोंपर पड रहे थे ॥१२१॥ जिस प्रकार गुणयुक्त धर्मके द्वारा प्रेरणा की हुई और हृदयमे प्राप्त हुई विशुद्धि पुरुपोको मोक्ष प्राप्त करा देती है उसी प्रकार गुणयुक्त (डोरी सहित) धर्म (धनुष) के द्वारा प्रेरणा की हुई और हृदयमे चुभी हुई वाणोकी पक्ति शूरवीर पुरुपोको परलोक पहुँचा रही थी ॥१२२॥ जिस प्रकार हृदयमे प्राप्त हुई और *रक्तवाहिनी अर्थात् अनुराग धारण करनेवाली अथवा रागी पुरुपोको वश करनेवाली वेश्या स्पर्शमात्रसे ही पुरुपोके नेत्र वन्द कर देती है उसी प्रकार हृदयमे लगी हुई और रक्तवाहिनी अर्थात् रुधिरको वहानेवाली वाणोंकी पक्ति स्पर्शमात्रसे शीघ्र ही पुरुपोके नेत्र वन्द कर देती थी – उन्हे मार डालती थी ॥१२३॥ जिस प्रकार वहुत वर्षा होने और अन्धकारका समूह छा जानेपर

१ निजशरीरपार्श्वयो । २ इपुधी द्वौ । ३ पक्षे सदृशा । ४ युद्धे । ५ चापशास्त्रोक्तक्रमेण । प्रयोक्तृमार्गशरणत्वात् । ६ वाणा । ७ मन्त्रिभि । ८ क्रव्यासृक्पायिनः ट० । आममासरक्तभोजिन । ९ पत्रैर्वहन्ति गच्छन्तीति पत्रवाहिन । १० वाणाः । 'शरार्कविहगा खगा' । ११ पक्षिसदृशा । १२ धनुपा । १३ ज्यानहितेन । अतिशययुक्तेन च । १४ विशुद्धिपरिणाम इव । १५ आनयति स्म । १६ शरसन्तति । १७ रक्तं प्रापयन्ती । आत्मन्यनुरक्त प्रापयन्ती च । १८ इतोऽग्रे पुन. 'आरा' नगरात् समायातटिप्पणपुस्तकात् टिप्पणसमुद्धार. क्रियते । १९ उपरिस्थितखेचररुधिरवर्षे । २० दाक्षाय्यतमससमूहे । 'आतापिचिल्लौ दाक्षाय्यगृद्ध्रौ' इत्यभिधानात् । *भावे क्तः ।

प्रगुणा[1] मुष्टि[2]संवाह्या दूरं दृष्टयनुवर्तिनः[3] । श वेष्टं साधयन्ति स्म सद्भृत्या इव सायकाः ॥१२५॥
प्रयोज्याभिमुखं तीक्ष्णान् वाणान् परशरान्प्रति । तत्रैव[4] पातयन्ति स्म धानुष्काः सा[5] हि धीधियाम्[6] ॥
जाताश्चापधृताः[7] केचिदन्योन्यशरखण्डने । व्यापृताः श्लाघिताः पूर्वं रणे किंचित्करोपमाः[8] ॥१२७॥
हस्त्यश्वरथपत्त्यौघमुद्भिद्यास्पष्टलक्ष्यवत्[9] । शराः पेतुः स्व[10]रं पातमेवास्ता[11] दृढमुष्टिभिः ॥१२८॥
पूर्वं विहितसन्धानाः[12] स्थित्वा किंचिच्छरासने[13] । यानमध्यास्य[14] मध्यस्था[15] [16]द्वैधीभावमुपागता ॥
विग्रहे[17] हतशक्तित्वादगत्या शत्रुसंश्रयाः । वाणा[18] गुणितषाड्गुण्या इव सिद्धिं प्रपेदिरे ॥१३०॥

व्यभिचारिणी स्त्री अपना पति छोड किसी परपुरुषको खोजकर वश कर लेती है उसी प्रकार विद्याधरोके खूनकी बहुत वर्षा होने और गृद्ध पक्षीरूपी अन्धकारका समूह फैल जानेपर वाणों-की पंक्ति अपने स्वामीको छोड़ खोज-खोजकर शत्रुओको वश कर रही थी ॥१२४॥ अथवा वे वाण अच्छे नौकरोके समान दूर-दूरतक जाकर इष्ट कार्योको सिद्ध करते थे क्योकि जिस प्रकार अच्छे नौकर प्रगुण अर्थात् श्रेष्ठ गुणोके धारक अथवा सीधे होते हैं उसी प्रकार वाण भी प्रगुण अर्थात् सीधे अथवा श्रेष्ठ डोरीसे सहित थे, अच्छे नौकर जिस प्रकार मुट्ठियोसे दिये हुए अन्नपर निर्वाह करते हैं उसी प्रकार वे वाण भी मुट्ठियो-द्वारा चलाये जाते थे और अच्छे नौकर जिस प्रकार मालिककी दृष्टिके अनुसार चलते हैं उसी प्रकार वे वाण भी मालिककी दृष्टिके अनुसार चल रहे थे ॥१२५॥ धनुषको धारण करनेवाले योद्धा जहाँ-जहाँ शत्रुओके वाण थे वही-वही देखकर अपने पैने वाण फेंक रहे थे सो ठीक ही है क्योकि शत्रुओकी वैसी ही वुद्धि होती है ।॥१२६॥ जो वाण एक दूसरेके वाणोको तोड़नेके लिए चलाये गये थे, धारण किये गये थे अथवा उस व्यापारमे लगाये गये थे वे युद्धमे नौकरोके समान सबसे पहले प्रशंसाको प्राप्त हुए थे ॥१२७॥ मजबूत मुट्ठियोंवाले योद्धाओके द्वारा छोड़े हुए वाण अस्पष्ट लक्ष्यके समान दिखाई नही पडते थे और हाथी, घोडे, रथ तथा पियादोके समूहको भेदन कर अपने पडनेसे स्थानपर ही जाकर पडते थे ॥१२८॥ जिस प्रकार सन्धि विग्रह आदि छह गुणोको धारण करनेवाले राजा सिद्धिको प्राप्त होते हैं उसी प्रकार वे वाण भी सन्धि आदि छह गुणो-को धारण कर सिद्धिको प्राप्त हो रहे थे क्योकि जिस प्रकार राजा पहले सन्धि करते हैं उसी प्रकार वे वाण भी पहले डोरीके साथ सन्धि अर्थात् मेल करते थे, जिस प्रकार राजा लोग अपनी परिस्थिति देखकर कुछ समय तक ठहरे रहते हैं उसी प्रकार वे वाण भी धनुषपर कुछ देर तक ठहरे रहते थे, जिस प्रकार राजा लोग युद्धके लिए अपने स्थानसे चल पड़ते हैं उसी प्रकार वे वाण भी शत्रुको मारनेके लिए धनुषसे चल पडते थे, जिस प्रकार राजा लोग मध्यस्थ बनकर द्वैधीभावको प्राप्त होते है अर्थात् भेदनीति-द्वारा शत्रुके सगठनको छिन्नभिन्न कर डालते हैं उसी प्रकार वे वाण भी मध्यस्थ (शत्रुके शरीरके मध्यमे स्थित) हो द्वैधीभावको प्राप्त होते थे अर्थात् शत्रुके टुकडे-टुकडे कर डालते थे और अन्तमे राजा लोग जिस प्रकार युद्ध करनेकी

---

१ अवक्रा । २ मुष्टिना संवाह्यन्ते गम्यन्ते मुष्टिसंवाह्या । आज्ञावशवर्तिनश्च । ३ नयनैरनुवर्तमानाः आलोकन-मात्रेण प्रभोरभिप्राय ज्ञात्वा कार्यकराश्च । ४ यत्र शत्रुशरा स्थितास्तत्रैव । ५ सैव परशरखण्डनरूपा । ६ वुद्धीना मध्ये । धीर्द्विपाम् ल० । ७ वाणा । ८ किङ्करसमाना । ९ अस्पृष्टलक्ष्यवत् । १० स्वयोग्यपतन-स्थानं गत्वेवेत्यर्थ । ११ क्षिप्ता । १२ कृतसयोजना कृतसन्धयश्च । १३ चापे क्षेत्रे च । १४ गमनमध्यास्य । १५ मध्यस्था सन्त । १६ द्विधाखण्डनत्वम्, पक्षे उभयत्राश्रयत्वम् । १७ वक्रिमभावे । अथवा शरीरे । १८ अभ्यस्त ।

धारा वीररसस्येव रेजे रक्तस्य कस्यचित् । पतन्ती सततं धैर्यादाद्रवनूत्पाटिताशुगम् ॥१३१॥
[1]सायकोद्भिन्नमालोक्य कान्तस्य हृदयं प्रिया । परासुरासीच्चित्तेऽस्य वदन्तीवात्मनः स्थितिम् ॥१३२॥
छिन्नदण्डैः फलैः कश्चित् [2]सर्वाङ्गीणैर्भटाग्रणीः । कीलितासुरिवाकम्प्रस्तथैव युयुधे चिरम् ॥१३३॥
विलोक्य विलयज्वालि[3]ज्वालालोलशिखोपमैः । शिलीमुखैर्बलं [4]छिन्नं स्वं[5] विपक्षधनुर्धरैः ॥१३४॥
गृहीत्वा वज्रकाण्डाख्यं सज्जीकृत्य शरासनम् । स्वयं योद्धुं समारब्धं सक्रोधः सानुजो जयः ॥१३५॥
[6]कर्णाभ्यर्णीकृतास्तस्य गुणयुक्ताः सुयोजिताः । [7]पत्रैर्लघुसमुत्थानाः कालक्षेपाविधायिनः[8] ॥१३६॥
मार्गे प्रगुणसञ्चाराः प्रविश्य हृदयं[9] द्विषाम् । कृच्छ्रार्थं[10] साधयन्ति स्म [11]निसृष्टार्थसमाः शराः ॥१३७॥
पत्रवन्तः प्रतापोग्राः[12] समग्रा विग्रहे द्रुताः । अज्ञातपातिनश्चक्रुः कृत्युद्धं शिलीमुखाः ॥१३८॥

सामर्थ्यसे रहित शत्रुको वश कर लेते है उसी प्रकार वे बाण भी शत्रुको वश कर लेते थे॥१२९-१३०॥ निकाले हुए बाणके पीछे बहुत शीघ्र धीरतासे निरन्तर पडती हुई किसी पुरुषके रुधिरकी धारा वीररसकी धाराके समान सुशोभित हो रही थी ॥१३१॥ कोई स्त्री अपने पतिका हृदय बाणसे विदीर्ण हुआ देखकर प्राणरहित हो गयी थी मानो वह कह रही थी कि मेरा निवास इसीके हृदयमें है ॥१३२॥ जिनके दण्ड टूट गये है और जो सब शरीरमे घुस गये है ऐसे बाणोकी नोकोसे जिसके प्राण मानो कीलित कर दिये गये है ऐसा कोई योद्धा पहलेकी तरह ही निश्चल हो बहुत देर तक लड़ता रहा था ॥१३३॥ शत्रुओके धनुपधारी योद्धाओने प्रलयकालकी जलती हुई अग्निकी चचल शिखाओके समान तेजस्वी बाणोके द्वारा मेरी सेनाको छिन्नभिन्न कर दिया है यह देख जयकुमारने अपने छोटे भाइयों सहित क्रोधित हो वज्रकाण्ड नामका धनुप लिया और उसे सजाकर स्वयं युद्ध करना प्रारम्भ किया ॥१३४-१३५॥ उस समय जयकुमारके बाण † नि सृष्टार्थ (उत्तम) दूतके समान जान पड़ते थे क्योकि जिस प्रकार उत्तम दूत स्वामीके कानके पास रहते है अर्थात् कानसे लगकर बातचीत करते है उसी प्रकार बाण भी जयकुमारके कानके पास रहते थे अर्थात् कान तक खीचकर छोडे जाते थे, जिस प्रकार उत्तम दूत गुण अर्थात् रहस्य रक्षा आदिसे युक्त होते है उसी प्रकार बाण भी गुण अर्थात् डोरीसे युक्त थे, जिस प्रकार उत्तम दूतकी योजना अच्छी तरह की जाती है उसी प्रकार बाणोकी योजना भी अच्छी तरह की गयी थी, जिस प्रकार उत्तम दूत पत्र लेकर जल्दी उठ खड़े होते है उसी प्रकार बाण भी अपने पंखोसे जल्दी-जल्दी उठ रहे थे–जा रहे थे, जिस प्रकार उत्तम दूत व्यर्थ समय नही खोते है उसी प्रकार बाण भी व्यर्थ समय नही खोते थे, जिस प्रकार उत्तम दूत मार्गमें सीधे जाते है उसी प्रकार बाण भी मार्गमें सीधे जा रहे थे और जिस प्रकार उत्तम दूत शत्रुओके हृदयमें प्रवेश कर कठिनसे कठिन कार्यको सिद्ध कर लेते है उसी प्रकार बाण भी शत्रुओके हृदयमे घुसकर कठिनसे कठिन कार्य सिद्ध कर लेते थे ॥१३६-१३७॥ अथवा ऐसा

---

१ सायिकोद्भिन्न–ल० । २ सर्वाङ्गव्यापिभि । ३ प्रलयाग्नि । ४ छन्नमित्यपि पाठ । छादितं खण्डितं वा । ५ आत्मीयम् । ६ आकर्णमाकृष्टा । कर्णसमीपे कृताश्च । ७ पक्षैः सन्देशपत्रैः ।। ८ आशुविधायिन इत्यर्थः । ९ हृदयम् अभिप्राय च । १० असाध्यार्थम् । ११ असकृत् सम्पादितप्रयोजनदूतसमा । १२ प्रकृष्टसन्तापभीकराः । भयङ्करा । ॐराजाओके छह गुण ये है—"सन्धिविग्रहयानानि सस्थाप्यासनमेव च । द्वैधीभावश्च विज्ञेय षड्गुणा नीतिवेदिनाम् ।" † जो दोनोका अभिप्राय लेकर स्वय उत्तर-प्रत्युत्तर करता हुआ कार्य सिद्ध करता है । उसे नि सृष्टार्थ दूत कहते है । यह दूत उत्तम दूत कहलाता है ।

प्रस्फुरद्भिः फलोपेतैः सुप्रमाणैः सुकल्पितैः । विरोधोद्भाविना विश्वगोचरैर्विजयावहैः ॥१३९॥

वादिनेव जयेनोच्चैः कीर्तिं क्षिप्रं जिघृक्षुणा । प्रतिपक्षः प्रतिक्षिप्तः[1] शस्त्रैः शास्त्रैर्जिगीषुणा ॥१४०॥

खगाः[2] [3]खगान्प्रति प्रास्ताः[4] प्रोद्भिद्य गगनं गताः । निवर्तन्ते न यावत्ते[5] न भियेवापतन्मृताः ॥१४१॥

सुतीक्ष्णा वीक्षणाभीलाः[6] प्रज्वलन्तः समन्ततः । मूर्द्धस्वशनिवत्पेतुः खाद् विमुक्ताः खगैः शराः ॥१४२॥

शरसङ्घातसञ्छन्नान् गृध्रपक्षान्धकारितान् । अदृष्टमुद्गरापातान्[7] नभोगा नभसो[8] व्यधुः ॥१४३॥

चण्डैर[9]कालमृत्युश्च[10] काण्डैरापादितादिमे[11] । युगेऽस्मिन् किं किमस्तांशुमासिभिर्नाशुभं[12] भवेत् ॥१४४॥

दूरपाताय नो[13] किन्तु दृढपाताय खेचरैः । खगाः कर्णान्तमाकृष्य मुक्ता[14] हन्युर्द्विपादिकान् ॥१४५॥

अधोमुखाः खगैर्मुक्ता रक्तपानात् पलाशनात्[15] । पृषत्काः सांहसो[16] वेयुर्नरकं[17] वाऽवनेरधः[18] ॥१४६॥

जान पडता था मानो वे वाण कपट युद्ध कर रहे हों क्योकि जिस प्रकार कपट युद्ध करनेवाले पत्रवत अर्थात् सवारी सहित और प्रतापसे उग्र होते है उसी प्रकार वे वाण भी पत्रवंत अर्थात् पखो सहित और अधिक सन्तापसे उग्र थे, जिस प्रकार कपटयुद्ध करनेवाले युद्धमे शीघ्र जाते है और सबसे आगे रहते है उसी प्रकार वे वाण भी युद्धमे शीघ्र जा रहे थे और सबसे आगे थे तथा कपट युद्ध करनेवाले जिस प्रकार विना जाने सहसा आ पड़ते है उसी प्रकार वे वाण भी विना जाने महसा आ पडते थे ॥१३८॥ जिस प्रकार विजयके द्वारा उत्तम कीर्तिको शीघ्र प्राप्त करनेवाला और जीतनेकी इच्छा रखनेवाला वादी प्रकाशमान, अज्ञाननाशादि फलोंसे युक्त, उत्तम प्रमाणोसे सहित, अच्छी तरह रचना किये हुए, संसारमे प्रसिद्ध और विजय प्राप्त करानेवाले शास्त्रोसे विरोधी–प्रतिवादीको हराता है उसी प्रकार विजयके द्वारा शीघ्र ही उत्तम कीर्ति सम्पादन करनेवाले, जीतनेकी इच्छा रखनेवाले तथा विरोध प्रकट करनेवाले जयकुमारने देदीप्यमान, नुकीले, प्रमाणसे बने हुए, अच्छी तरह चलाये हुए, ससारमें प्रसिद्ध और विजय प्राप्त करानेवाले शस्त्रोसे शत्रुओकी सेना पीछे हटा दी थी ॥१३९-१४०॥ जयकुमारने विद्याधरोके प्रति जो वाण चलाये थे वे आकाशको भेदन कर आगे चले गये थे और वहाँसे वे जबतक लौटे भी नही थे तबतक वे विद्याधर मानो भयसे ही डरकर गिर पड़े थे ॥१४१॥ जो अत्यन्त तीक्ष्ण हैं, देखनेमें भयकर है, और चारों ओरसे जल रहे है ऐसे विद्याधरोंके द्वारा आकाशसे छोडे हुए वाण योद्धाओके मस्तकोपर वज्रके समान पड रहे थे ॥१४२॥ जो वाणोंके समूहसे ढक गये है, गीधके पंखोसे अन्धकारमय हो रहे है और जिन्हे मुद्गरोके आघात तक दिखाई नही पड़ते है ऐसे योद्धाओको विद्याधर लोग आकाशसे घायल कर रहे थे ॥१४३॥ इस युगमे उन तीक्ष्ण वाणोने सबसे पहले अकालमृत्यु उत्पन्न की थी सो ठीक ही है क्योकि जिन्होने सूर्यका प्रताप भी कम दिया है ऐसे लोगोसे क्या-क्या अशुभ काम नही होते है ? ॥१४४॥ दूर जानेके लिए नही किन्तु मजबूतीके साथ पडनेके लिए विद्याधरोने जो वाण कान तक खीचकर छोडे थे उन्होने वहुत-से हाथी आदिको मार डाला था ॥१४५॥ जिस प्रकार रक्त पीने और मास खानेसे पापी जीव नीचा मुख कर नरकमे जाते है उसी प्रकार विद्याधरों

१ निराकृत । २ वाणा । ३ विद्याधरान् । ४ मुक्ता । ५ विद्याधरा । ६ दर्शने भयावहा । ७ मुद्गराघातान् ल०, म० । ८ गगनमाश्रित्य । ९ अकाल । १० वाणै । ११ उत्पादित । १२ 'अस्त्राशुगाशिभि.' इति पाठे अस्त्राण्येवाशुगाशिन पवनाशना तैः सर्पैरित्यर्थ । 'आशुगो वायुविशिखौ' इत्यभिधानात् । १३ न । १४ घ्नन्ति स्म । १५ मासाशनात् । १६ सपापा । १७ वा इव । ईयुः गच्छन्ति स्म । १८ भूमेरध स्थितम् ।

[1]भूमिष्ठैर्निष्ठुरं[2] क्षिप्ताद्विष्टानुत्क्रुष्य[3] यष्टयः[4]। ययुर्दूरं दिवं दूतीदेशीया[5] दिव्ययोषिताम् ॥१४७॥
चक्रिणश्चक्रमेकं[6] तत्र ततः[7] कस्यचित्क्षतिः। चत्रै रकालचक्राभैर्बहवस्तत्र जघ्निरे[8] ॥१४८॥
समवेगैः[10] समं[11] मुक्तैः शरैः[12] खचरभूचरैः। व्योम्न्यन्योन्यमुखालग्नैः स्थितं कतिपयक्षणे[13] ॥१४९॥
खभूचरशरैश्छन्ने खे परस्परोधिभिः। [14]अन्योन्यावीक्षणात्तेषामभूद् रणनिषेधनम् ॥१५०॥
स्वास्त्रैः[15] शस्त्रैर्नभोगानां शरैश्चावाधितं भृशम्। स्वसैन्यं वीक्ष्य खोत्क्षिप्तवीक्षणोग्राशुशुक्षणिः[16] ॥१५१॥
सद्यः संहारसंक्रुद्धसमवर्तिसमो[17] जयः। प्रारब्ध[18] योद्धुं वज्रेण वज्रकाण्डेन वज्रिवत् ॥१५२॥
निर्जिताशनिनिर्घोषजयज्याघोषभीलुकाः[19]। चापसायकचेतांसि प्राक्षिपन्[20] सह शत्रवः ॥१५३॥
चापमाकर्णमाकृष्य ज्यानिवेशितसायकः। लघुसंधानमोक्षः सोऽवेक्ष्य[21] विध्यन्निव[22] क्षणम् ॥१५४॥
न मध्ये न शरीरेषु दृष्टास्तद्योजिताः शराः। दृष्टास्ते केवलं भूमौ सव्रणाः पतिताः परे ॥१५५॥
निमीलयन्तश्चक्षूंषि ज्वलयन्तः शिलीमुखाः। मुखानि ककुभां वव्रुः[23] [24]खादुल्कालीविभीषणाः[25] ॥१५६॥

के द्वारा छोड़े हुए वाण शत्रुओका रक्त पीने और मास खानेसे पापी हो नीचा मुख कर पृथिवी-के नीचे जा रहे थे—जमीनमे गड़ रहे थे ॥१४६॥ इसी प्रकार भूमिगोचरियों-द्वारा निर्दयताके साथ छोड़े हुए वाण शत्रुओको भेद कर आकाशमें बहुत दूर तक इस प्रकार जा रहे थे मानो देवांगनाओंकी दासियाँ ही हों ॥१४७॥ चक्रवर्तीका चक्र तो एक ही होता है उससे किसीकी हानि नहीं होती परन्तु उस युद्धमे अकाल चक्रके समान बहुत-से चक्रोसे अनेक जीव मारे गये थे ॥१४८॥ विद्याधर और भूमिगोचरियोके द्वारा एक साथ छोड़े हुए समान वेगवाले वाण आकाशमें एक दूसरेके मुखसे मुख लगाकर कुछ देर तक ठहर गये थे ॥१४९॥ परस्पर एक दूसरेको रोकनेवाले विद्याधर और भूमिगोचरियोके वाणोंसे आकाश ढक गया था और इसीलिए एक दूसरेके न दिख सकनेके कारण उनका युद्ध वन्द हो गया था ॥१५०॥ अपने और शत्रुओके शस्त्रों तथा विद्याधरोंके वाणोसे अपनी सेनाको बहुत कुछ घायल हुआ देखकर नेत्ररूपी भयंकर अग्निको आकाशकी ओर फेकनेवाला और संहार करनेके लिए कुपित हुए यमराजकी समानता धारण करनेवाला जयकुमार इन्द्रकी तरह वज्रकाण्ड नामके धनुषसे युद्ध करनेके लिए तैयार हुआ ॥१५१–१५२॥ वज्रकी गर्जनाको जीतनेवाले जयकुमारके धनुषकी डोरीके शब्द मात्रसे डरे हुए कितने ही शत्रुओने धनुष, वाण और हृदय—सव फेंक दिये। भावार्थ—भयसे उनके धनुष-वाण गिर गये थे और हृदय विक्षिप्त हो गये थे ॥१५३॥ कान तक धनुष खीचकर जिसने डोरीपर वाण रखा है और जो बडी शीघ्रतासे वाणोको रखता तथा छोड़ता है ऐसा जयकुमार क्षण-भरके लिए ऐसा जान पड़ता था मानो प्रहार ही नही कर रहा हो अर्थात् वाण चला ही नही रहा हो ॥१५४॥ जयकुमारके द्वारा चलाये हुए वाण न वीचमे दिखते थे, और न शरीरमे ही दिखाई देते थे, केवल घावसहित जमीनपर पडे हुए शत्रु ही दिखाई देते थे ॥१५५॥ जो देखनेवालोके नेत्र वन्द कर रहे है, सवको जला रहे हैं और उल्काओके समूहके समान भयंकर है ऐसे जयकुमारके वाणोने दिशाओके मुख ढक लिये थे

---

१ भूमौ स्थितैः। २ शत्रून्। ३ उद्भिद्य। ४ वाणाः। ५ दूतीसदृशा। ६ –मेकान्तं न ल०। ७ चक्रात्। ८ समन्तात् कृतान्तसमूहसमानैः। ९ हताः। १० उभयत्रापि समानजवैः। ११ युगपत्। १२ खेचर–ल०, अ०, प०, स०, इ०। १३ –क्षणात् ल०, अ०, प०, स०, इ०। १४ परस्परावलोकनाभावात्। १५ आत्मीयानात्मीयैः। स्वास्त्रैः अ०। १६ अग्निः। १७ संहारार्थं कुपितयमसदृशः। १८ उपक्रान्तवान्। १९ भीरवः। २० त्यक्तवन्तः। २१ दृष्टः। २२ शरान्मुञ्चन्निव। २३ वेष्टयन्ति स्म। २४ गगनान्निर्गच्छन्त इत्यर्थः। २५ उल्कासमूहभीकराः।

तिर्यग्गोष्फणपाषाणैर्[1] व्राज्यजिराद्[2] वहिः । पातितान्[3] खचरानूचुः सतनून् स्वर्गतान्[4] जडाः ॥१५७॥
शरसंरुग्ण[5]विद्याधृन्मुकुटेभ्योऽगलन्[6] सुरैः । मणयो गुणगृह्यैर्वा जयस्योपायनीकृताः ॥१५८॥
[7]पतन्मृतखगान्वीतप्रियाभिः स्वाश्रुवारिणा । [8]वारिदानमिवाचर्य[9] कृपामासादितो जयः ॥१५९॥
अन्तकः समवर्तीति[10] तद्वार्तैव न चेत्तथा । कथं चक्रिसुतस्यैव वले प्रेताधिपो[11] भवेत् ॥१६०॥
वधं विधाय न्यायेन जयेनान्यायवर्तिनाम् । [12]यमस्तीक्ष्णोऽप्यभूद्धर्मस्तत्र[13] दिव्यानलोपमः[14] ॥१६१॥
[15]तावद्धेपितनिर्घोषैर्भीषयन्तो द्विषो हयाः । वलमाश्वासयन्तः स्वं स्वीचक्रुश्चाक्रिसूनवः[16] ॥१६२॥
प्रासान्प्रस्फुरतस्तीक्ष्णानभीक्ष्णं वाहवाहिनः[17] । आवर्तयन्तः संप्रापन् यमस्येवाग्रगा भटाः ॥१६३॥
जयोऽपि स्वयमारुह्य जयी जयतुरङ्गमम् । क्रुद्धः प्रासान् समुद्धृत्य योद्धुमश्वीयमादिशत् ॥१६४॥
अभूत् प्रहतगम्भीरभम्भा[18] दिध्वनिभीषणः । वलार्णवश्चलत्स्थूलकल्लोल इव वाजिभिः ॥१६५॥

॥१५६॥ तिरछे जानेवाले गोष्फण रूप पत्थरोके द्वारा युद्धके आँगनसे बाहर गिराये हुए विद्याधरोको न देखकर मूर्ख लोग कहने लगे थे कि देखो विद्याधर शरीर सहित ही स्वर्ग चले गये है ॥१५७॥ वाणोकी चोटसे छिन्न-भिन्न हुए विद्याधरोके मुकुटोसे जो मणि गिर रहे थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो गुणोसे वश होनेवाले देवोने जयकुमारको भेट ही किये हों ॥१५८॥ गिर-गिरकर मरे हुए विद्याधरोके साथ आयी हुई स्त्रियाँ अपने अश्रुरूपी जलसे जो उन्हे जलांजलि-सी दे रही थी उसे देखकर जयकुमारको दया आ गयी थी ॥१५९॥ यमराज समवर्ती है अर्थात् सवको समान दृष्टिसे देखता है यह केवल कहावत ही है यदि ऐसा न होता तो वह केवल चक्रवर्तीके पुत्र अर्ककीर्तिकी सेनामे ही क्यों प्रेतोंका राजा होता ? अर्थात् उसीकी सेनाको क्यो मारता ? ॥१६०॥ जयकुमारके द्वारा अन्यायमें प्रवृत्ति करनेवाले लोगोको वध कराकर वह तीक्ष्ण यमराज भी उस युद्धमे दिव्य अग्निके समान धर्मस्वरूप हो गया था । भावार्थ–पूर्वकालमे साक्षी आदिके न मिलनेपर अपराधीकी परीक्षा करनेके लिए उसे अग्निमें प्रविष्ट कराया जाता था, अथवा जलते हुए अंगार उसके हाथपर रखाये जाते थे । अपराधी मनुष्य उस अग्निमें जल जाते थे परन्तु अपराधरहित मनुष्य सीता आदिके समान नही जलते थे । उसी आगको दिव्य अग्नि कहते है सो जिस प्रकार दिव्य अग्नि दुष्ट होनेपर भी अपराधीको ही जलाती है अपराधरहितको नही जलाती उसी प्रकार यमराजने दुष्ट होकर भी अन्यायी मनुष्योका ही वध कराया न कि न्यायी मनुष्योंका भी, इसलिए वह यमराज दुष्ट होनेपर भी मानो उस समय दिव्य अग्निके समान धर्मस्वरूप हो गया था ॥१६१॥ इतनेमें ही हिनहिनाहटके शब्दोंसे शत्रुओंको डराते हुए और अपनी सेनाको धीरज बँधाते हुए चक्रवर्तीके पुत्र–अर्ककीर्तिके घोड़े सामने आये ॥१६२॥ यमराजके अग्रगामी योद्धाओके समान, देदीप्यमान और पैने भालोको बार-बार घुमाते हुए घुड़सवार भी सामने आये ॥१६३॥ विजय करनेवाले जयकुमारने भी क्रोधित हो, जयतुरंगम नामके घोड़ेपर सवार होकर अपनी घुड़सवार सेनाको भाला लेकर युद्ध करनेकी आज्ञा दी ॥१६४॥ घोडोके द्वारा जिसमें चंचल और वड़ी-वड़ी लहरे-सी उठ रही है ऐसा वह सेनारूपी समुद्र वजते हुए गम्भीर नगाड़े आदिके शब्दों

---

१ शस्त्रविशेषः । २ रणाङ्गणात् । ३ पतितान् ल०, म०, अ०, म० । ४ स्वर्गं गतान् । ५ भुग्न । ६ गलन्ति स्म । ७ गतप्राणविद्याधरानुगत । ८ जलाञ्जलिम् । ९ विधाय । १० वालवृद्धादिषु हननक्रियाया समानेन वर्तमानः । ११ यम । १२ अन्तक. । १३ जये । १४ शपथाग्निसम. । १५ अश्वनिनाद । १६ चक्रिसूनोः सबन्धिन । १७ अश्वारोहा । १८ भम्भेत्यनुकरणम् ।

असिसंघट्टनिष्ठ्यूतविस्फुलिङ्गो रणेऽनलः । भीषणे शरसंघाते व्यदीपिष्ट[1] धराचिते[2] ॥१६६॥
वाजिनः प्राक्कशाघाताद्धावन्ताभिसायकम्[3] । म्रियन्ते न सहन्ते हि परिभूतिं सतेजसः ॥१६७॥
स्थिताः पश्चिमपादाभ्यां बद्धामर्षाः[4] परस्परम् । पति केचिदिवावन्तो[5] युध्यन्ते[6] स्म चिरं हयाः॥१६८॥
समुद्धृतास्त्र[7] संपृक्तलसल्लोलासिपत्रकैः । नभस्तरुरभाद् भूयस्तदा पल्लवितो यथा ॥१६९॥
पतितान्यसिनिर्घातात् सुदूरं स्वामिनां क्वचित् । शून्यासनाः[8] शिरांस्युच्चैरन्वेष्टुं वा भ्रमन्हयाः ॥१७०॥
पशून् विश्ङ्गान्मत्वाऽश्वान् कृपया कोऽपि नावधीत्[9] । ते[10] स्वदन्तखुरैरेव क्रुद्धाः प्राघ्नन्[11] परस्परम् ॥
[12]वंशमात्रावशिष्टाङ्गैः[13] मण्डलाग्रैश्चिरं क्रुधा । लोहदण्डैरिवाखण्डैर्धीरा युयुधिरे धुरि ॥१७२॥
[14]शिरःप्रहरणेनान्यो[15]ऽपश्यन्नान्ध्यं प्रकुर्वता । सर्वरोगसिराविद्धो[16] दृष्ट्वा[17] पश्चादयुद्ध[18] सः ॥१७३॥
हयान् प्रतिष्कशीकृत्य[19] धनुस्तत्कपिशीर्षकम्[20] । अयुध्यत पुनः सुष्ठु तदा द्विगुणयन्रणम् ॥१७४॥
जयोऽयात सानुजस्तावदाविष्कृत्य यमाकृतिः[21] । कण्ठीरवमिवारुह्य हयमस्युद्यतः[22] क्रुधा ॥१७५॥
वाहयन्तं[23] तमालोक्य कल्पान्तज्वालिभीषणम्[24] । विवेश[25] विद्विडश्वाली वेलेव स्वबलाम्बुधिम्[26] ॥

से भयंकर हो रहा था ॥१६५॥ उस युद्धमे पृथिवीपर जो भयंकर वाणोंका समूह पड़ा हुआ था उसमें तलवारोकी परस्परकी चोटसे निकले हुए फुलिंगोसे अग्नि प्रज्वलित हो उठी थी ॥१६६॥ घोड़े कोड़ोंकी चोटके पहले ही वाणोंके सामने दौड़ रहे थे सो ठीक ही है क्योकि तेजस्वी पुरुष मर जाते है परन्तु पराभव सहन नही करते ॥१६७॥ परस्पर एक दूसरेपर क्रोधित हो पिछले पैरोसे खडे हुए कितने ही घोड़े चिरकाल तक इस प्रकार युद्ध कर रहे थे मानो अपने स्वामीकी रक्षा ही कर रहे हो ॥१६८॥ उस समय ऊपर उठायी हुई और रुधिरसे रंगी हुई तलवाररूपी चंचल पत्तोसे आकाशरूपी वृक्ष ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो उसपर फिरसे नवीन पत्ते निकल आये हो ॥१६९॥ कहींपर खाली पीठ लिये घोड़े इस प्रकार दौड़ रहे थे मानो तलवारकी चोटसे बहुत दूर पडे हुए अपने स्वामियोंके शिर ही खोज रहे हो ॥१७०॥ घोड़ोको बिना सीगके पशु मानकर दयासे कोई नही मारता था परन्तु वे क्रोधित होकर दाँत और खुरोसे एक दूसरको मारते थे ॥१७१॥ उस युद्धमे कितने ही योद्धा क्रोधित होकर अखण्ड लोहेके डण्डेके समान जिनमें बाँसमात्र ही शेष रह गया है ऐसी तलवारोसे चिरकाल तक युद्ध करते रहे थे ॥१७२॥ अन्य कोई योद्धा, अन्धा करनेवाली शिरकी चोटसे यद्यपि कुछ देख नही सक रहा था तथापि गलेकी पीछेकी नसोसे शिरको जुड़ा हुआ देखकर वह फिर भी युद्ध कर रहा था ॥१७३॥ उस समय कितने ही योद्धा घोड़ोकी सहायता ले कपिशीर्षक नामक धनुषोसे युद्धको द्विगुणित करते हुए अच्छी तरह लड रहे थे ॥१७४॥ इतनेमें ही तलवार हाथमें लिये हुए जयकुमार अपने छोटे भाइयोके साथ-साथ यमराज सरीखा आकार प्रकट कर और सिंहके समान घोड़ेपर सवार होकर क्रोधसे आगे बढा ॥१७५॥ कल्पान्त कालकी अग्निके समान भयंकर जयकुमारको घोडेपर सवार हुआ देखकर शत्रुके घोड़ोकी पंक्ति लहरके समान अपने सेनारूपी समुद्रमें जा घुसी ॥१७६॥ जिनपर पताकाएँ नृत्य कर रही है और वेगशाली घोड़े

१ ज्वलति स्म । २ भूमावुपचिते । ३ आयुधस्याभिमुखम् । ४ बद्धक्रुधः । ५ रक्षन्त. । ६ युद्धन्ते – ल० । ७ तास्त्रस–ल० । ८ स्वामिरहितपृष्ठा. । ९ न हन्ति स्म । १० ते च दत्त–ल० । ११ घ्नन्ति स्म । १२ वेणुमात्रावशिष्टस्वरूपैः । १३ कौक्षेयकैः 'कौक्षेयको मण्डलाग्र. करवाल कृपाणवत्' इत्यभिधानात् । १४ मस्तकघातेन । १५ किंचिदपि नालोकयन् । १६ गलस्य पश्चिमसिरान्वित. । १७ गलपश्चिमभाग करस्पर्शेनालोक्य । १८ युयुधे । १९ सहायीकृत्य । 'प्रतिष्कशः सहाये स्याद् वार्ताहरपरागयो' इत्यभिधानात् । २० चापविशेषः । धन्विन इत्यर्थ. । २१ यमाकृतिम् ल० । २२ उद्यतासि सन् । २३ अश्वमारोहयन्तम् । २४ प्रलयाग्निवद्भयंकरम् । २५ शत्रुवाजिसमूह । २६ स्वसैन्यसागरम् ।

चिरात् पर्याय[1]मासाद्य[2] प्रत्यग्रेगतयो रथाः । जविभिर्वाजिभिर्युक्ताः प्राधावन् विद्विषः[3] प्रति ॥१७७॥
निःशेषहे[4]तिपूर्णेषु रथेषु रथनायकाः । तुल्यं[5] [6]जगर्जुरत्र पिञ्जरैः[7] क्रूरकेसरिभिः ॥१७८॥
चक्रसंघट्टसंपिष्टशवासृग्मांसकर्दमे । रथकट्याश्चरन्ति स्म [8]तत्राब्धौ मन्दनौरिव[9] ॥१७९॥
कुन्तासिप्रासचक्रादिसंकीर्णे क्षणितक्रमाः[10] । अक्रामन् कृच्छ्रकृच्छ्रेण रणे रथतुरङ्गमाः ॥१८०॥
तदा संनद्धसंयुक्तसर्वायुधभृतं[11] रथम् । संक्रम्य[12] वृषभं[13] वार्कः समारूढपराक्रमः ॥१८१॥
पुरोज्वलत्समुत्सर्पच्छरतीक्ष्णांशुसंततिः । शत्रुसन्तमसं भिन्दन् बालार्कमजयज्जयः ॥१८२॥
[14]मण्डलाग्रसमुत्सृष्टदुष्टास्रः शस्त्रकर्मवित् । जयो भिषजमन्वैतः[15] शत्रुशल्यं समुद्धरन् ॥१८३॥
ध्वजस्योपरि धूमो वा तेनाकृष्टो[16] नु[17] सायकः । पपात तापमापाद्य सूचयन्नशुभं द्विषाम् ॥१८४॥
ध्वजदण्डान् समाखण्ड्य [18]निस्त्रिंशोऽन्वीतपौरुषान् । कुर्वन् सर्वान् स[19] निर्वंशान् सोमवंशध्वजायते ॥१८५॥
विच्छिन्नकेतवः केचित् क्षणं तस्थुर्मृता इव । प्राणैर्न प्राणिनः[20] किन्तु मानप्राणा हि मानिनः ॥१८६॥
प्रज्वलन्तं[21] जयन्तं तं जयं सोढुमक्षमाः । सह सर्वेऽपि[22] संपेतुर[23]भ्यग्नि शलभा यथा[24] ॥१८७॥

जिनमे जुते है ऐसे रथ चिरकालमे अपना नम्बर (बारी) पाकर शत्रुओंके प्रति दौड़ने लगे ॥१७७॥ रथोंके स्वामी, सम्पूर्ण शस्त्रोंसे भरे हुए रथोंपर सवार हो पिंजरोंमें बन्द हुए सिंहोंकी तुलना धारण करते हुए गरज रहे थे ॥१७८॥ उस युद्धमे पहियोंके सघट्टनसे पिसे हुए मुरदोंके खून और मासकी कीचड़में रथोंके समूह ऐसे चल रहे थे मानो किसी समुद्रमे छोटी-छोटी नावें ही चल रही हों ॥१७९॥ बरछा, तलवार, भाले और चक्र आदिसे भरे हुए युद्धक्षेत्रमे घायल पैरोंवाले रथके घोड़े बडे कष्टसे चल रहे थे ॥१८०॥ उसी समय तैयार हुए तथा जुते हुए सब प्रकारके शस्त्रोंसे व्याप्त रथपर आरूढ होनेसे जिनका पराक्रम वृषभ राशिपर आरूढ हुए सूर्यके समान बढ़ रहा है, जिसके आगे चलते हुए बाणरूपी तीक्ष्ण किरणोंका समूह प्रकाशमान हो रहा है और जो शत्रुरूपी अन्धकारको भेदन कर रहा है ऐसे उस जयकुमारने उदय होता हुआ बाल-सूर्य भी जीत लिया था ॥१८१–१८२॥ अथवा वह जयकुमार किसी अच्छे वैद्य या डाक्टरका अनुकरण कर रहा था क्योंकि जिस प्रकार वैद्य शस्त्रकी नोंकसे बिगड़ा हुआ खून निकाल देता है उसी प्रकार वह जयकुमार भी तलवारकी नोंकसे दुष्ट–शत्रुओंका खून निकाल रहा था, जिस प्रकार वैद्य शस्त्र चलानेकी क्रियाको जानता है उसी प्रकार वह जयकुमार भी शस्त्र चलानेकी क्रिया जानता था और वैद्य जिस प्रकार शल्यको निकाल देता है उसी प्रकार जयकुमार भी शत्रुरूपी शल्यको निकाल रहा था ॥१८३॥ उसके द्वारा चलाये हुए बाण शत्रुओको सन्ताप उत्पन्न कर अशुभकी सूचना देते हुए धूमकेतुके समान उनकी ध्वजाओपर पड़ रहे थे ॥१८४॥ उस समय शत्रुओकी ध्वजाओके दण्डोंको खण्ड-खण्ड कर सब शत्रुओंको पौरुषहीन तथा वंशरहित करता हुआ जयकुमार सोमवंशकी ध्वजाके समान आचरण कर रहा था ॥१८५॥ जिनकी पताकाएँ छिन्न-भिन्न हो गयी हैं ऐसे कितने ही शत्रु क्षणभरके लिए मरे हुएके समान खडे थे सो ठीक ही है क्योंकि प्राणोंसे ही प्राणी नही गिने जाते किन्तु अभिमानी मनुष्य अभिमानको ही प्राण समझते हैं ॥१८६॥ अच्छी तरह जलते हुए

१ अवसरम् । 'पर्यायोऽवसरे क्रमे' इत्यभिधानात् । २ प्राप्य । ३ विद्विषं प्रति ल० । ४ आयुध । ५ साम्यम् । ६ गर्जन्ति स्म । ७ पञ्जरैः ल० । ८ रणे । ९ मन्दनौरिव । १० क्षतपादा । ११ सज्जीकृतं । १२ संप्राप्य । १३ वृषभराशिमिव । १४ करवालेन समुत्सृष्टदुष्टास्र. । १५ अनुगतवान् । ऋ गतौ लङि रूपम् । मन्वीय. ल० । १६ समुत्सृष्टः । १७ इव । १८ अनुगत । १९ जयः । २० न जीवन्ति । २१ जयतीति जयन् तम् । २२ अभिमुखमागता । २३ अग्निमभि पतङ्गा । २४ शलभा इव ल० ।

संनद्धस्यन्दनाश्चण्डास्तदा हेमाङ्गदादयः । कोदण्डास्फालनध्वाननिरुद्धहरितः[1] क्रुधा ॥१८८॥
वत्रर्पुर्वह्निवृष्टिं वा बाणवृष्टिं प्रति द्विषः । यावत्ते[2] लक्ष्यतां[3,4] नेयुस्तावदाविष्कृतोद्यमाः ॥१८९॥
निरुध्यानन्तसेनादिशरजालं रणार्णवे । स्यन्दनाश्चोदयामासुः पोतान्वा वातरंहसः[5] ॥१९०॥
बलद्वयास्त्रसंघट्टसमुत्पन्नाशुशुक्षणिम्[6] । पेतुर्वाहाः[7,8] परं[9] तेजस्तेजस्वी सहते कथम् ॥१९१॥
अन्योऽन्यं खण्डयन्ति स्म तेषां शस्त्राणि तद्रणे ।[10] नैकमप्यपरान्प्रापुश्चित्रमस्त्रेषु कौशलम् ॥१९२॥
न मृता व्रणिता नैव न जयो न पराजयः । युद्धमानेष्वहो तेषु नाहवोऽप्याहवायते ॥१९३॥
युद्ध्वाऽप्येवं चिरं शेकुर्न जेतुं ते परस्परम् । जयः सेनाद्वये तस्मिन्[11] जयादन्येन दुर्लभः ॥१९४॥
अन्तर्हासो जयः सर्वं तत्तदाऽऽलोक्य लीलया । शरैः संच्छादयामास सैन्यं पुत्रस्य चक्रिणः ॥१९५॥
निष्पन्दीभूतमालोक्य चक्रिसूनुः स्वसाधनम् । रक्तोत्पलदलच्छायामुच्छिद्य[12] नयनत्विषा ॥१९६॥
जयः परस्य[13] नो मेऽद्य जयो[14] जयमहं रणे । विध्वस्य[15] भुवने शुद्धमकल्पं स्थापये यशः ॥१९७॥
विदध्यामद्य नाथेन्दुप्रसरद्वंशवर्द्धनम् ।[16] जयलक्ष्मीर्वशीकृत्य विधेयान्मेऽधुना सुखम्[17] ॥१९८॥

और सवको जीतते हुए उस जयकुमारको सहन करनेके लिए असमर्थ होकर वे सब शत्रु उसपर इस प्रकार टूट पडे मानो अग्निपर पतंगे ही पड रहे हो ।।१८७।। इतनेमे ही जिनके रथ तैयार है, जो बड़े क्रोधी है, जिन्होने क्रोधसे धनुष खीचकर उनके शब्दोसे सब दिशाएँ भर दी है और शत्रु जबतक अपने लक्ष्य तक पहुँचने भी न पाये थे कि तबतक ही जिन्होने अपना सब उद्यम प्रकट कर दिखाया है ऐसे हेमांगद आदि राजकुमार शत्रुओपर अग्नि वर्षाके समान बाणोकी वर्षा करने लगे ।।१८८-१८९।। वे अनन्तसेन आदिके बाणोंका समूह रोककर वायुके समान वेगवाले रथोको रणरूपी समुद्रमे जहाजोके समान दौड़ाने लगे ।।१९०।। वे रथोके घोड़े दोनो सेनाओं सम्बन्धी शस्त्रोके सघट्टनसे उत्पन्न हुई अग्निपर पड़ रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि तेजस्वी मनुष्य दूसरेका तेज कैसे सह सकता है ? ।। १९१।। उस युद्धमे दोनो सेनाओके शस्त्र एक दूसरेको खण्ड-खण्ड कर देते थे, एक भी शस्त्र शत्रुओं तक नही पहुँचने पाता था सो ठीक ही है क्योंकि उनकी अस्त्रोके चलानेकी कुशलता आश्चर्य करनेवाली थी ।।१९२।। आश्चर्य है कि उन योद्धाओके युद्ध करते हुए न तो कोई मरा था, न किसीको घाव लगा था न किसीकी जीत हुई थी और न किसीकी हार ही हुई थी, और तो क्या उनका वह युद्ध भी युद्ध-सा नही मालूम होता था ।।१९३।। इस प्रकार बहुत समय तक युद्ध करके भी वे एक दूसरेको जीत नही सके थे सो ठीक ही है क्योकि उन दोनों सेनाओमे जयकुमारके सिवाय और किसीको विजय प्राप्त होना दुर्लभ था ।।१९४।। उस समय यह सब देखकर मन ही मन हँसते हुए जयकुमारने चक्रवर्तीके पुत्र—अर्ककीर्तिकी सब सेनाको लीलापूर्वक ही बाणोसे ढक दी ।।१९५।। अपनी सेनाको चेष्टारहित देखकर चक्रवर्तीका पुत्र—अर्ककीर्ति अपने नेत्रोंकी कान्तिसे लाल कमलके दलकी कान्तिको जीतता हुआ अर्थात् क्रोधसे लाल-लाल आँखे करता हुआ कहने लगा कि आज शत्रुकी जीत नही हो सकती, मेरी ही जीत होगी, मै युद्धमे जयकुमारको मारकर ससारमें कल्पान्त काल तक टिकनेवाला शुद्ध यश स्थापित करूँगा तथा आज ही वढते हुए नाथ-

१ दिश । 'दिशस्तु ककुभ काष्ठा आशाश्च हरितश्च ता.' । इत्यभिधानात् । २ रथिन. । ३ रणाङ्गणे अभिमुखं समागत्य मुख्यताम् । ४ न गच्छन्ति स्म । ५ वायुवेगिन । ६ अग्निम् । ७ जग्मु । ८ अश्वा । ९ अन्यत् । १० एक शस्त्रमपि । ११ जयकुमारात् । १२ अभिशय्येत्यर्थ. । १३ न । मे नो जय इति दुर्ध्वनि । १४ जयकुमारम् । १५ विनाश्य । अविनाश्येति दुर्ध्वनि । १६ जयस्य लक्ष्मी इति दुर्ध्वनि । १७ सुखमिति दुर्ध्वनिः । 'आ०' प्रतौ असुखमिति दुर्ध्वनि. ।

ब्रुवन् स कल्पनादुष्टमिति[1] [2]स्वानिष्टसूचनम् । द्विपं प्रचोदयामास क्रुधेवाजयमात्मनः[3] ॥१९९॥
[4]प्रतिवातसमुद्धूतपश्चाद्गतपताकिकाः । [5]मन्दं मन्दं क्वणद्घण्टाः कुण्ठितस्वबलोत्सवाः ॥२००॥
संशुष्यद्दान[6]निष्यन्दकटदीनाननश्रियः । [7]निर्वाणालातनिर्भासनिःशेषास्त्रभराक्षमाः ॥२०१॥
[8]आधोरणैः कृतोत्साहैः[9] कृच्छ्रकृच्छ्रेण चोदिताः । [10]आक्रन्दमिव कुर्वन्तः कुण्ठितैः कण्ठगर्जितैः ॥२०२॥
भीतभीता[11][12]युधोऽन्यैश्च चिह्नैरशुभसूचिभिः । गजा गताजवाश्चेलुरचला इव जङ्गमाः ॥२०३॥
मन्दमन्दं प्रकृत्यैव[13] मन्दा युद्धभयान्मृगाः[14] । जग्मुर्निर्हेतुकं [15]भद्रास्तदत्राशुभसूचनम्[16] ॥२०४॥
विजिगीषोर्विपुण्यस्य वृथा प्रणिधयो[17] यथा । तथाऽर्ककीर्तयन्नृणां[18] ते[19] गजेषु नियोजिताः ॥२०५॥
लङ्घयन्नेत्रयोर्दीप्त्या [20]पारिभद्रोद्गमच्छविम् । प्रकटभ्रुकुटीबन्धसंधानितशरासनः ॥२०६॥
रिपुं[21] कुपितभोगीन्द्रस्फुटाटोपभयंकरः । कुर्वन्विलोक[22]नातप्ततीव्रनाराचगोचरम् ॥२०७॥
गिरीन्द्रशिखराकारमारुह्य हरिविक्रमः । गजेन्द्रं विजयार्द्धाख्यं[23] गर्जन्मेघस्वरस्तदा ॥२०८॥

वश और सोमवंशका छेदन करूँगा, विजयलक्ष्मी मुझे अभी वश कर सुखी करेगी, इस प्रकार अभिप्रायसे दुष्ट तथा अपना ही अनिष्ट सूचित करनेवाला वचन कहते हुए अर्ककीर्तिने क्रोधसे अपने पराजयके समान अपना हाथी आगे बढाया ॥१९६–१९९॥ प्रतिकूल वायु चलनेसे जिनकी ध्वजाएँ पीछेकी ओर उड रही है, जिनके घण्टा धीरे-धीरे बज रहे है, जिन्होने अपनी सेनाके उत्सवको कुण्ठित कर दिया है, गण्डस्थलके मदका निष्यन्द सूख जानेसे जिनके मुखकी शोभा मलिन हो गयी है, जिनकी शोभा बुझे हुए अलातचक्रके समान है, जो सम्पूर्ण शस्त्रोका भार धारण करनेमे असमर्थ है, उत्साह दिलाते हुए महावत जिन्हे बड़ी कठिनाईसे ले जा रहे है, जो कुण्ठित हुई कण्ठकी गर्जनासे मानो रुदन ही कर रहे है, जो युद्धसे तथा अशुभको सूचित करनेवाले अन्य अनेक चिह्नोसे अत्यन्त भयभीत हो रहे है और जिनका वेग नष्ट हो गया है ऐसे हाथी चलते फिरते पर्वतोके समान चल रहे थे ॥२००–२०३॥ मन्द जातिके हाथी स्वभावसे ही मन्द-मन्द चल रहे थे, मृग जातिके हाथी युद्धके भयसे धीरे-धीरे जा रहे थे और भद्र जातिके हाथी बिना ही कारण धीरे-धीरे चल रहे थे परन्तु युद्धमें उनका धीरे-धीरे चलना अशुभको सूचित करनेवाला था ॥२०४॥ जिस प्रकार विजयकी इच्छा करनेवाले किन्तु पुण्यहीन मनुष्यके गुप्त सेवक व्यर्थ हो जाते है--अपना काम करनेमे सफल नही हो पाते है उसी प्रकार अर्ककीर्तिके लिए उन हाथियोसे कही हुई महावत लोगोंकी प्रार्थनाएँ व्यर्थ हो रही थी ॥२०५॥ उधर जो अपने दोनो नेत्रोकी कान्तिसे कल्पवृक्षके फूलकी कान्तिको जीत रहा है, जिसने अपनी भौहोकी रचनाके समान ही प्रकटरूपसे बाण चढ़े धनुपका आकार बनाया है, क्रोधित हुए महा सर्पके समान जिसका शरीर कुछ ऊपर उठा हुआ है और इसीलिए जो भयंकर है, जो अपने शत्रुको अपनी दृष्टि तथा तपे हुए बाणोका निशाना बना रहा है, एव सिहके समान जिसका पराक्रम है ऐसा मेघस्वर जयकुमार उस समय गर्जता हुआ मेरुके शिखरके समान आकारवाले विजयार्ध नामके उत्तम हाथीपर सवार होकर, अनुकूल वायु चलनेसे

---

१ अभिप्रायदुष्टम् । २ निजानिष्ट । ३ अपजयम् । ४ प्रतिकूलवायुः । ५ मन्दमन्द–अ०, प०, स०, इ०, ल० । ६ मदस्रवण । नष्टोल्मुकसदृश । ८ हस्तिपकैः । ९ कृतोद्योगैः । १० रोदनम् । ११ अधिकभीता. । १२ सङ्ग्रामात् । १३ स्वभावेनैव जडा । मन्दा इति जातिभेदाश्च । १४ मृगसदृशाः मृगजातयश्च । १५ भद्रजातयः । १६ मन्दगमनम् । १७ वाञ्छा चराश्च । 'प्रणिधि प्रार्थने चरे' इत्यभिधानात् । १८ गजारोहकाणाम् ।–कीर्तये नृणा ल० । १९ मनोरथा. । २० मन्दारकुसुमच्छविम् । 'पारिभद्रो निम्बतरुर्मन्दार. पारिजातक ।' इत्यभिधानात् । २१ -टोपो भयकरः ल०, म० । २२ निजालोकनान्येव अतप्ततीक्ष्णबाणास्तेषा विषयम् । २३ जयकुमारः ।

अनुकूलानिलोत्क्षिप्तपुरःसर्पद्ध्वजांशुकैः। क्रान्तद्विपारिविक्रान्तविख्याताश्रुढयोधनैः[1] ॥२०९॥
प्रस्फुरच्छस्त्रसंघातदीप्तिदीपितदिङ्मुखैः। [2]धूतदुन्दुभिसद्ध्वानबृहद्‌बृंहितभीषणैः ॥२१०॥
घण्टामधुरनिर्घोषनिर्भिन्न[3]भुवनत्रयैः। सद्यः समुल्लसद्दर्पैरपि सिंहान् जिगीषुभिः ॥२११॥
प्रापद्युद्धोत्सुकः सार्द्धं गजैर्विजयसूचिभिः। [4]क्षयवेलानिलोद्धूतसिन्धुवेलां विडम्बयन्[5] ॥२१२॥
महाहास्तिक[6]विस्तारस्थूलनीलवलाहकः[7]। समन्तात् संपतच्छङ्कु[8]समूहसहसानकः ॥२१३॥
प्रोत्खातासिलताविद्युत्समुल्लसितभासुरः[9]। नानानकमहाध्वानगम्भीरघनगर्जितः ॥२१४॥
[10]नवलोहितपूराम्बुनिरुद्धधरणीतलः। नितान्तनिष्ठुरापातमुद्गराशनिसंततिः[11] ॥२१५॥
चलत्सितपताकालिवलाका[12]च्छादिताम्बरः। सङ्ग्रामः प्रावृषो लक्ष्मीमशेषामपुषत्तदा[13] ॥२१६॥
सुचिरं सर्वसंदोहसंवृत्तसमराङ्गणे। सेनयोः सर्वशस्त्राणां व्यत्ययो[14] बहुशोऽभवत् ॥२१७॥
निरुद्धमूर्ध्वं गृध्रौघैर्मध्यमुद्यद्ध्वजांशुकैः। सेनाद्वयविनिर्मुक्तैः शस्त्रैर्धात्री च सा तता[15] ॥२१८॥
जयलक्ष्मी नवोढायाः[16] सपत्नीमिच्छता नवाम्। तदार्ककीर्तिमुद्दिश्य जयेनाचोद्यत[17] द्विपः ॥२१९॥
अष्टचन्द्राः पुरोभूय[18] भूयः[19] प्राग्दृष्टशक्तयः[20]। क्षपकं[21][22] वांऽहसां[23] भेदा न्यरुधँस्तं[24] निनङ्क्षवः[25] ॥

जिनकी ध्वजाओके वस्त्र उडकर आगेकी ओर जा रहे हैं, आक्रमण करते हुए सिंहके समान प्रसिद्ध पराक्रमवाले योद्धा जिनपर बैठे हैं, देदीप्यमान शस्त्रोके समूहकी दीप्तिसे जिन्होने समस्त दिशाओके मुख प्रकाशित कर दिये हैं, बजते हुए नगाड़ोके बड़े-बड़े शब्दोसे बढती हुई गर्जनाओं-से जो भयकर हैं, घण्टाओके मधुर शब्दोसे जिन्होने तीनों लोक भर दिये हैं, तत्काल उठते हुए अहंकारसे जो सिंहोको भी जीतना चाहते हैं और जो विजयकी सूचना करनेवाले हैं ऐसे हाथियों-के साथ, प्रलय कालकी वायुसे उठी हुई समुद्रकी लहरोंको विडम्बित करता हुआ युद्धकी उत्कण्ठा से आ पहुँचा ॥२०६–२१२॥ जिसमें बडे-बड़े हाथियोके समूहका विस्तार ही बड़े-बड़े काले बादल हैं, चारों ओरसे पडते हुए बाणोके समूह ही मयूर हैं, ऊपर उठायी हुई तलवाररूपी बिजलियोंकी चमकसे जो प्रकाशमान हो रहा है, अनेक नगाड़ोके बड़े-बड़े शब्द ही जिसमे मेघो-की गम्भीर गर्जनाएँ हैं, नवीन रुधिरके प्रवाहरूपी जलसे जिसमें पृथ्वीतल भर गया है, बडी निर्दयताके साथ पड़ते हुए मुद्गर ही जिसमें वज्रोंका समूह है और फहराती हुई सफेद पता-काओके समूहरूप बगलाओसे जिसमें समस्त आकाश आच्छादित हो रहा है ऐसा वह युद्ध उस समय वर्षाऋतुकी सम्पूर्ण शोभाको पुष्ट कर रहा था ॥२१३–२१६॥ बहुत देर तक सब योद्धाओके समूहसे घिरे हुए युद्धके मैदानमे दोनों सेनाओंके सब शस्त्रोका अनेक बार व्यत्यय (अदला-बदली) हुआ था ॥२१७॥ उस समय ऊपरका आकाश गीधोके समूहसे भर गया था, मध्य भाग फहराती हुई ध्वजाओके वस्त्रोसे भर गया था और पृथिवी दोनों सेनाओके द्वारा छोड़े हुए शस्त्रोसे भर गयी थी ॥२१८॥ उसी समय जयलक्ष्मीकी नवीन विवाहिता सुलोचनाकी नयी सौत बनानेकी इच्छा करते हुए जयकुमारने अर्ककीर्तिको उद्देश्य कर अपना हाथी आगे बढ़ाया ॥२१९॥ जिस प्रकार कर्मोके भेद क्षपकश्रेणीवाले मुनिको रोकते हैं उसी प्रकार अष्टचन्द्र नामके विद्याधर जिनकी कि शक्ति पहले देखनेमे आयी थी फिरसे सामने आकर

१ आक्रान्तसिंहपराक्रमप्रसिद्धाकारणावीरणै । २ ताडित । ३ व्याप्त । ४ प्रलयकाल । ५ विलङ्घयन् ल०, म०, अ०, प०, इ०, स० । ६ गजसमूह । ७ कालमेघ । ८ शय्यायुधसमूहमयूरक । ९ स्फुरण । १० नूतन-रक्त । ११ द्रुघण । १२ विषकण्ठिका । १३ पुष्णाति स्म । १४ व्यत्यय इति संबन्धिन इतरेण हरणम् । ('ता०' प्रतौ व्यत्यय इतरसम्बन्धिनः इतरेण हरणम्)। १५ व्याप्ता । तदा ल० । १६ नूतनविवाहिताया. सुलोचनायाः । १७ प्रेरितः । १८ अग्रे भूत्वा । १९ पुन. पुन । २० पूर्व दृष्टपराक्रमाः । २१ क्षपकश्रेण्या-रूढम् । २२ इव । २३ कर्मणाम् । २४ जयम् । २५ नाशितुमिच्छव. ।

जयोऽपि सुचिरात्प्राप्तप्रतिपक्षो व्यदीप्यलम् । लब्ध्वेव[1] रन्धनं वह्निः उत्साहाग्निसमीरोच्छ्रितः[2] ॥२२१॥
तदोभयबलख्यातगजाद्रिशिखरस्थिताः । योद्धुमारेभिरे राजराजसिंहाः[3] परस्परम् ॥२२२॥
अन्योन्यरदनोद्भिन्नौ तत्र कौचिद् व्यसू[4] गजौ । चिरं[5] परस्पराधारावास्तां यमलाद्रिवत्[6] ॥२२३॥
समन्ततः शरैश्छन्ना रेजुराजौ गजाधिपाः । क्षुद्रवेणुगणाकीर्णसंचरद्[7] गिरिसन्निभाः ॥२२४॥
दानिनो मानिनस्तुंगाः[8] कामवन्तोऽन्तकोपमाः । महान्तः सर्वसत्त्वेभ्यो न युद्ध्यन्तां[9] कथं गजाः॥२२५॥
[10]मृगैर्मृ[11]गैरिवापात[12]मात्रभग्नैर्भयाद् द्विपैः । स्वमन्यमेव संक्षुण्णं[13] धिक् स्थौल्यं भीतचेतसाम्॥२२६॥
निःशक्तीन्[14] शक्तिभिः[15] शक्ताः[16] [17]शक्तांश्चक्रुरशक्तकान् ।
[18]शक्तियुक्तानशक्तांश्च निःशक्तीन्[19] धिग्धिगूनताम्[20] ॥२२७॥
शस्त्रनिर्भिन्नसर्वाङ्गा निर्मीलितविलोचनाः । सम्यक्[21] संहृतसंरम्भाः संभावितपराक्रमाः ॥२२८॥
बुद्ध्यैव[22] बद्धपल्यङ्कास्त्यक्तसर्वपरिच्छदाः । [23]समत्याक्षुरसून्[24] केचित् निधाय हृदयेऽर्हतः ॥२२९॥

जयकुमारको रोकने लगे ॥२२०॥ जिस प्रकार बहुत-से इन्धनको पाकर वायुसे उद्दीपित हुई अग्नि देदीप्यमान हो उठती है उसी प्रकार उत्साहरूपी वायुसे बढ़ा हुआ वह जयकुमार भी बहुत देरमे शत्रुको पाकर अत्यन्त देदीप्यमान हो रहा था ॥२२१॥ उस समय दोनो सेनाओ-मे प्रसिद्ध हाथीरूपी पर्वतोके शिखरपर बैठे हुए अनेक राजारूपी सिंहोंने भी परस्पर युद्ध करना आरम्भ कर दिया था ॥२२२॥ उस युद्धमें एक दूसरेके दाँतोंके प्रहारसे विदीर्ण होकर मरे हुए कोई दो हाथी मिले हुए दो पर्वतोके समान एक दूसरेके आधारपर ही चिरकाल तक खड़े रहे थे ॥२२३॥ चारों ओरसे बाणोसे ढके हुए बड़े-बड़े हाथी उस युद्धमें छोटे-छोटे बाँसो-से व्याप्त और चलते हुए पर्वतोके समान सुशोभित हो रहे थे ॥२२४॥ जो दानी हैं—जिनसे मद झर रहा है, मानी हैं, ऊँचे हैं, यमराजके समान हैं और सब जीवोसे बड़े हैं ऐसे भद्र जातिके हाथी भला क्यो न युद्ध करते ? ॥२२५॥ जिस प्रकार हरिण भयभीत होकर भागते हैं उसी प्रकार मृगजातिके हाथी भी प्रारम्भमे ही पराजित होकर भयसे भागने लगे थे और उससे उन्होने अपनी ही सेनाका चूर्ण कर दिया था इससे कहना पड़ता है कि भीरु हृदयवाले मनुष्यों-के स्थूलपनको धिक्कार हो ॥२२६॥ शक्तिशाली (सामर्थ्यवान्) योद्धा अपने शक्ति नामक शस्त्रसे, जिनके पास शक्ति नामक शस्त्र नही है ऐसे शक्तिशाली (सामर्थ्यवान्) योद्धाओको शक्तिरहित—सामर्थ्यहीन कर रहे थे और जिनके पास शक्ति नामक शस्त्र था किन्तु स्वयं अशक्त-सामर्थ्यरहित थे उन्हे भी शक्तिरहित—शक्ति नामक शस्त्रसे रहित कर रहे थे—उनका शस्त्र छुडा रहे थे इसलिए आचार्य कहते है कि ऊनता अर्थात् आवश्यक सामग्रीकी कमीको धिक्कार हो ॥२२७॥ जिनके समस्त अंग शस्त्रोसे छिन्न-भिन्न हो गये हैं, नेत्र बन्द हो गये है, जिन्होने युद्धकी इच्छाका अच्छी तरह सकोच कर लिया है, जो अपना पराक्रम दिखा चुके है, जिन्होने बुद्धिसे ही पल्यकासन बाँध लिया है और सब परिग्रह छोड़ दिये हैं ऐसे कितने ही

---

१ रन्धनम् इन्धनम् । लब्ध्वेर्वद्धेन्धनं ल०, म०, अ०, प०, सं०, इ०, द०, । २ उत्साहवायुना समृद्धः । ३ राजराजमुख्या । सिंहा इति ध्वनि । ४ विगतप्राणौ । ५ अन्योन्यावलम्बनौ । ६ यमकगिरिवत् । ७ संचलद्गिरि— ल०, अ०, प०, स०, इ०, म० । ८ आरोहकानुकूला इत्यर्थ । ९ युद्ध्यन्ते ल० । १० मृगजातिभि. । भक्त्यान्वेषणीयैर्वा । ११ हरिणैरिव । १२ प्रथमदिशायामेव । १३ संचूर्णमभवत् । १४ शक्त्यायुधरहितम् । १५ शक्त्यायुधै । १६ समर्था । १७ समर्थान् । १८ शक्त्यायुधयुक्तान् । १९ शक्त्यायुधरहितान् । २० सामग्रीविकलताम् । २१ सम्यगुत्सृष्टसमारम्भा. । २२ मनसैव कृतपर्यङ्कासना । २३ सम्यक् त्यक्तवन्त । २४ प्राणान् ।

कस्यचिद् क्रोधसंहारः स्मृतिश्च परमेष्ठिनि । [1]निष्ठायामायुषोऽ[2]त्रासीदभ्यासान्न किं न जायते[3] ॥२३०॥
हृदि नाराचनिर्भिन्ना वक्त्रात् स्रवदसृक्प्लवाः । [4]शिवाकृष्टान्त्रतन्त्रान्ताः[5] पर्यन्तव्यस्तपत्कराः[6] ॥२३१॥
गृध्रपक्षानिलोच्छिन्नमूर्च्छाः संप्राप्तसंज्ञकाः । समाधाय हि ते शुद्धां श्रद्धां[7] शूरगतिं[8] गताः ॥२३२॥
छिन्नैश्चक्रेण शूराणां शिरोऽम्भोजैर्विकासिभिः । [9]रणाङ्गणोऽर्चितो वामात् नृत्यै[10] जयजयश्रियः[11] ॥२३३॥
स्वामिसंमानदानादिमहोप[12]कृतिनिर्भराः । प्राप्याधमर्णतां[13] प्राणैः सेवां संपाद्य सेवकाः ॥२३४॥
स्वप्राणव्ययसंतुष्टैस्तद्भूभृद्भिः[14] स्वभूभृतः[15] । लब्धपूजान् विधायान्ये धन्या[16] नैर्ऋण्यमागमन् ॥
जयमुक्ता[17] द्रुतं पेतुरविमुक्तजयाः[18] शराः । अष्टचन्द्रान् प्रति प्रोच्चैः[19] प्रदीप्योल्कोपमाः[20] समम् ॥२३६॥
[21]जयप्रहितशस्त्राली[22] तैर्निषिद्धा च विद्यया । ज्वलन्ती परितश्चन्द्रान्[23] परिवेषाकृतिर्बभौ ॥२३७॥
विश्वविद्याधराधीशमा[24]दिराजात्मजस्तदा । [25]द्विषो[26] निःशेषयाशेषानित्याह सुनमिं रुषा ॥२३८॥
सोऽपि[27] सर्वैः खगैः सार्द्धं निर्द्धूतारातिविक्रमः । वह्निवृष्टिमिवाकाशे ववर्ष शरसंततिम् ॥२३९॥

शूरवीरोने हृदयमे अर्हन्त भगवान्‌को स्थापन कर प्राण छोड़े थे ॥२२८–२२९॥ किसी योद्धाके आयुकी समाप्तिके समय क्रोध शान्त हो गया था और परमेष्ठियोंका स्मरण होने लगा था सो ठीक है क्योंकि अभ्याससे क्या-क्या सिद्ध नही होता ? ॥२३०॥ जिनके हृदय वाणोसे छिन्न-भिन्न हो गये है, मुँहसे रुधिरका प्रवाह वह रहा है, सियारोने जिनकी अँतडियोकी ताँतोके अन्तभाग तकको खीच लिया है और जिनके हाथ-पैर फट गये हैं ऐसे कितने ही योद्धा गीधोके पंखोकी हवासे मूर्च्छारहित होकर कुछ-कुछ सचेत हो गये थे और शुद्ध श्रद्धा धारण कर शूरगति--स्वर्ग गतिको प्राप्त हुए थे ॥२३१--२३२॥ चक्र नामक शस्त्रसे कटे हुए शूरवीरोके प्रफुल्लित मुखरूपी कमलोसे भरी हुई वह युद्धकी भूमि ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो जयकुमारकी विजयलक्ष्मीके नृत्योसे ही सुशोभित हो रही हो ॥२३३॥ स्वामीके द्वारा पाये हुए आदर सत्कार आदि बडे-बड़े उपकारोसे दवे हुए कितने ही सेवक लोग अपने प्राणों-द्वारा स्वामीकी सेवा कर ऊऋण अवस्थाको प्राप्त हुए थे और कितने ही धन्य सेवक, अपने-अपने प्राण देकर सन्तुष्ट हुए शत्रु राजाओंसे अपने स्वामियोंकी पूजा-प्रतिष्ठा कराकर कर्जरहित हुए थे। भावार्थ--कितने ही सेवक लड़ते-लड़ते मर गये थे और कितने ही शत्रुओंको मारकर कृतार्थ हुए थे ॥२३४–२३५॥ जिन्होने विजय प्राप्त करना छोड़ा नही है और जो अपनी वड़ी भारी कान्तिसे उल्काके समान जान पड़ते है ऐसे जयकुमारके छोडे हुए वाण अष्टचन्द्र विद्याधरोके पास वहुत शीघ्र एक साथ पड रहे थे ॥२३६॥ जयकुमारके द्वारा छोड़ी हुई शस्त्रोंकी पंक्तियोंको उन विद्याधरोने अपने विद्या वलसे रोक दिया था। इसलिए वे उनके चारों ओर जलती हुई खड़ी थी और ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो चन्द्रमाओके चारों ओर गोल परिधि ही लग रही हो ॥२३७॥ उसी समय आदि सम्राट्–भरतके पुत्र अर्ककीर्तिने वडे क्रोधसे सब विद्याधरोके अधिपति सुनमिसे कहा कि तुम समस्त शत्रुओको नष्ट करो ॥२३८॥ और शत्रुओके पराक्रमको नष्ट करनेवाला सुनमिकुमार भी अग्नि वर्षाके समान आकाशमें वाणोके समूहकी वर्षा करने लगा ॥२३९॥ जो अत्यन्त

---

१ परिसमाप्तौ सत्याम् । २ रणे । ३ साध्यते ल० । ४ जम्बुकाकृष्टपुरीतत्समूहाग्रा । अन्त्रगतशस्याग्रा वा । ५ तन्त्राग्रा–ट० । ६ विक्षिप्तपादपाणय । ७ स्पृहाम् । ८ स्वर्गम् । इन्द्रियजयवता गतिमित्यर्थ । ९ रण-रङ्गोऽन्वितो–ल० । १० नर्तनाय । ११ जयकुमारस्य जयलक्ष्म्या । १२ महोपकारातिशयाः । १३ ऋणप्राप्तिताम् । १४ शत्रुभूपालैः । १५ निजनृपतीन् । १६ ऋणवृद्धधनम् । ऋणान्निष्क्रान्तत्वम् । १७ जयकुमारेणोत्सृष्टा । १८ अत्यक्तजया । १९ प्रदीप्योल्कोपमाः ल० । २० युगपत् । २१ जयकुमारेणाविद्ध । २२ शत्रुभिः । २३ अष्टचन्द्रान् परित., मृगाङ्कान् परित. । २४ अर्ककीर्ति । २५ शत्रून् । २६ विनाशय । २७ सुनमिः ।

भीकराः किङ्कराकारा[1] [2]स्वन्तो रुद्धदिङ्मुखाः । कांस्कान्[3] श्रृणाम नेतीव सुतीक्ष्णाः [4]शरवोऽपतन् ॥२४०॥
[5]मेघप्रभो जयादेशादिभेन्द्र[6] वा मृगाधिपः । आक्रम्य विक्रमी शस्त्र[7]रौत्सीत्तं[8] विहायसि ॥२४१॥
तमोऽग्निगजमेघादिविद्याः सुनमियोजिताः । तुच्छीकृत्य[9] स [10]विच्छिद्य (?) सहसा भास्करादिभिः[11] ॥२४२॥
जयपुण्योदयात्सद्यो विजिग्ये[12] खचराधिपम् । संग्रामेऽनुगुणे दैवे[13][14] क्षोदिमा वंहिमेत्ति[15] न ॥२४३॥
प्रवृद्धप्रावृडारम्भसम्भृताम्भोधरावलिम् । [16]विलङ्घ्यानेकपानीकं[17] कौमारं[18] जयमारुणत्[19] ॥२४४॥
जयोऽप्यभिमुखीकृत्य विजयार्द्धं गजाधिपम् । धीरोद्धतं[20] रुषा प्राप्तं[21] धीरोदात्तोऽब्रवीदिदम् ॥२४५॥
न्यायमार्गाः प्रवर्त्यन्ते सम्यक् सर्वेऽपि चक्रिणा । [22]तेषामेभिर्दुराचारैः[23] कृतस्त्वं पारिपन्थिकः[24] ॥२४६॥
बुद्धिमांस्त्वं तवाहार्यबुद्धित्वमपि[25] दूषणम् । कुमार नीयसे[26] पापैस्तृतीय[27] तद्विगर्हितम्[28] ॥२४७॥
अन्तःकोपोऽप्ययं[29] पापैर्महानुत्थापितो वृथा । सर्वतन्त्रक्षयो भर्तुः सहसा येन[30] तादृशः ॥२४८॥

भयकर है, किकरोके समान काम करनेवाले हैं, वेगके कारण शब्द कर रहे हैं और जिन्होने सब दिशाएँ रोक ली है ऐसे वे तीक्ष्ण बाण हम किस किसको नष्ट नही करें ? अर्थात् सभीको नष्ट करे यही सोचकर मानो सब सेनापर पड़ रहे थे ॥२४०॥ जिस प्रकार सिंह हाथीपर आक्रमण करता है उसी प्रकार खूब पराक्रमी मेघप्रभ नामके विद्याधरने जयकुमारकी आज्ञासे उस सुनमिपर आक्रमण कर उसे शस्त्रोके द्वारा आकाशमे ही रोक लिया ॥२४१॥ मेघप्रभने सुनमिके द्वारा चलाये हुए तमोवाण, अग्निवाण, गजवाण और मेघवाण आदि विद्यामयी वाणोंको सूर्यवाण, जलवाण, सिहवाण और पवनवाण आदि अनेक विद्यामयी वाणोसे तुच्छ समझकर वहुत शीघ्र नष्ट कर दिया ॥२४२॥ इस प्रकार मेघप्रभने उस युद्धमे जयकुमारके पुण्योदयसे विद्याधरोके अधिपति सुनमिको शीघ्र ही जीत लिया सो ठीक ही है क्योकि दैवके अनुकूल रहनेपर छोटापन और बड़प्पनका व्यवहार नही होता है। भावार्थ—भाग्यके अनुकूल होनेपर छोटा भी जीत जाता है और बड़ा भी हार जाता है ॥२४३॥ बढ़ी हुई वर्षाऋतुके प्रारम्भमे इकट्ठी हुई मेघमालाके समान हाथियोकी सेनाको उल्लंघन कर अर्ककीर्तिके पक्षके लोगोने जयकुमारको रोक लिया ॥२४४॥ इधर धीर और उदात्त जयकुमारने भी अपना विजयार्ध नामका श्रेष्ठ हाथी क्रोधसे प्राप्त हुए धीर तथा उद्धत अर्ककीर्तिके सामने चलाकर उससे इस प्रकार कहना शुरू किया ॥२४५॥ वह कहने लगा कि चक्रवर्तीके द्वारा सभी न्याय-मार्ग अच्छी तरह चलाये जाते हैं परन्तु इन दुराचारी लोगोंने तुझे उन न्यायमार्गोका शत्रु वना दिया है ॥२४६॥ हे कुमार, यद्यपि तू वुद्धिमान् है परन्तु आहार्य वुद्धिवाला होना अर्थात् दूसरेके कहे अनुसार कार्य करना यह तेरा दोप भी है। इसके सिवाय तू पाप या पापी पुरुषोके अनुकूल हो रहा है सो यह भी तेरा तीसरा दूपण है ॥२४७॥ इन पापी लोगोने तेरे अन्तःकरणमें यह वड़ा भारी क्रोध व्यर्थ ही उत्पन्न कर दिया है जिससे भरत महाराजकी सब सेनाका ऐसा एक साथ क्षय हो रहा है ॥२४८॥

---

१ किङ्करस्वभावाः । २ ध्वनन्तः । ३ कान् शत्रून् श्रृणाम काम् शत्रून् न श्रृणाम न हन्म इति इव । श्रृ कॄ मृ हिंसायाम् । लोट् । ४ बाणाः । ५ विद्याधरः । ६ गजाधिपम् । अनेन समबलत्वं सूचितम् । ७ रुरोध । ८ सुनमिम् । ९ असाराः कृत्वा । १० चिच्छेद त०, ब०, पुस्तके विहाय सर्वत्र । ११ सूर्यजलसिंहवाय्वादिभि । १२ अजयत् । १३ दैवे सहाये सति । १४ क्षुद्रत्वम् । १५ महत्त्वम् । १६ अतिशय्य । १७ गजवलम् । १८ अर्ककीर्तिसम्बन्धि । १९ जयकुमारं रुरोध । २० अर्ककीर्तिम् । २१ जयकुमार । २२ मार्गाणाम् । २३ प्रतीयमानैः । २४ विरोधी भूत्वा । २५ प्रेरकोपनीतबुद्धित्वम् । २६ पापोपेतैः । २७ मोहनीयं कामं वा । २८ सद्भिः निन्दितम् । २९ पापिष्ठैः । ३० कोपेन ।

आहवोऽपरिहार्योऽयं[1] ममाद्य भवता सह । अकीर्तिश्चावयोरस्मिन्नाकल्पस्थायिनी ध्रुवम् ॥२४९॥
चक्री सुतेषु राज्यस्य योग्यं त्वामेव मन्यते । स्यात्तस्यापि मनःपीडा न वेत्स्यन्यायवर्तनात् ॥२५०॥
[3]द्रोग्धृन्न्यायस्य भूभर्तुस्तव चैतांस्ततः क्षणात् । दुष्टान् सखेचरान् सर्वान् बध्वाद्य भवतोऽर्पये ॥२५१॥
नागमारुह्य [4]तिष्ठ त्वं काष्ठान्तं[5] प्रार्थितो मया । अन्यायो हि पराभूतिर्न तत्त्यागो[6] महीयसः[7] ॥२५२॥
कुमार, समरे हानिस्तवैव महती मया । हन्त्यात्मानमनुन्मत्तः[8] कः स तीक्ष्णासिना स्वयम् ॥२५३॥
अभव्य इव सद्धर्ममपकर्ण्येत्युदीरितम्[9] । [10]आघातयितुमारेभे गजेन स[11] गजाधिपम् ॥२५४॥
तदा जयोऽप्यतिक्रुद्धो गजयुद्धविशारदः । नवभिर्विजयार्द्धेन दन्तघातैरपातयत्[12] ॥२५५॥
नवापि कुपितेभेन्द्रनवदन्ताहतिक्षताः । अष्टचन्द्रार्ककीर्तीनां प्रपेतुर्हतदन्तिनः ॥२५६॥
चक्रिसूनोः पुनः सेनापरितोऽयाद्[13] युयुत्सया[14] । [15]तदा तदायुर्वा[16] [17]रक्षदह्[18] क्षयमपद्यत ॥२५७॥
सोढुमर्कः खलस्तेजो [19]जयस्याशक्नुवन्निव । जयन् जयोद्गमच्छायां[20] संहृताशेषदीधितिः ॥२५८॥
[21]शरैरिवोस्रैरारक्तैर्विमुक्तैः खचरान् प्रति । जयीयैः[22] स्वाङ्गसंलग्नैः [23]क्षरत्क्षतजरञ्जितैः ॥२५९॥
गतप्रतापः [24]कृच्छ्रात्मा सर्वनेत्राप्रियस्तदा । पपात क्रातरीभूय करालस्वितभूधरः ॥२६०॥

मेरा आपके साथ जो युद्ध चल रहा है वह आज ही वन्द कर देने योग्य है क्योंकि इससे हम दोनोंकी कल्पान्तकाल तक टिकनेवाली अपकीर्ति अवश्य होगी ॥२४९॥ चक्रवर्ती सब पुत्रोमें राज्यके योग्य आपको ही मानता है, क्या आपके इस अन्यायमे प्रवृत्ति करनेसे उसके मनको पीडा नही होगी ? ॥२५०॥ भरत महाराजके न्यायमार्गका द्रोह करनेवाले तुम्हारे इन सभी दुष्ट पुरुपोको विद्याधरोके साथ-साथ बाँधकर आज क्षणभरमे ही तुम्हे सौंप देता हूँ ॥२५१॥ मै प्रार्थना करता हूँ कि आप हाथीपर चढ़े हुए यहाँ क्षण भर ठहरिए क्योंकि महा-पुरुपोका अन्याय करना ही तिरस्कार करना है, अन्यायका त्याग करना तिरस्कार नही है ॥२५२॥ हे कुमार, मेरे साथ युद्ध करनेमे तुम्हारी ही सबसे वड़ी हानि है क्योंकि ऐसा कौन सावधान है जो पैनी तलवारसे अपनी आतमाका स्वयं घात करे ॥२५३॥ जिस प्रकार अभव्य जीव समीचीन धर्मको नहीं सुनता उसी प्रकार जयकुमारके कहे हुए वचन अर्ककीर्तिने नही सुने और अपने हाथीसे जयकुमारके उत्तम हाथीपर प्रहार करवाना शुरू कर दिया ॥२५४॥ उस समय हाथियोके साथ युद्ध करनेमें अत्यन्त निपुण जयकुमार भी अधिक क्रोधित हो उठा, उसने अपने विजयार्ध हाथीके द्वारा दाँतोंके नौ प्रहारोसे अर्ककीर्ति तथा अष्टचन्द्र विद्याधरोके नौ हाथियोको घायल करवा दिया ॥२५५॥ अर्ककीर्ति तथा अष्टचन्द्र विद्याधरोके नौके नौ ही हाथी क्रोधित हुए विजयार्ध हाथीके दाँतोके नौ प्रहारोसे घायल होकर जमीनपर गिर पड़े ॥२५६॥ जिस समय जयकुमारने युद्धकी इच्छासे अर्ककीर्तिकी सेनाको चारो ओरसे घेरा उसी समय मानो उसकी आयुकी रक्षा करता हुआ ही दिन अस्त हो गया ॥२५७॥ जो अपनी कान्तिसे जासौनके फूलकी कान्तिको जीत रहा है, जिसने अपनी सब किरणे सकोच ली है, जो लाल-लाल किरणोसे ऐसा जान पड़ता है मानो जयकुमारने विद्याधरोके प्रति जो वाण छोड़े थे वे सव ही विद्याधरोके निकलते हुए रुधिरसे अनुरंजित होकर उसके शरीरमे जा लगे हो, जिसका सब प्रताप नष्ट हो गया है, जो क्रूर है और सबके नेत्रोंको अप्रिय है ऐसा वह दुष्ट

---

१ आहव. परि–ल० । २ युद्धे सति । ३ हन्तुमिच्छून् । ४ तिष्ठात्र ल०, इ०, प०, अ०, स० । ५ क्षणपर्यन्तम् । ६ अन्यायत्याग । ७ महात्मनः । ८ वुद्धिमान् । ९ एवमुक्तवचन श्रुत्वा । १० मारयितुम् । ११ अर्ककीर्तिः । १२–रघातयत् ल०, अ०, प०, स०, इ० । १३ अगमत् । १४ योद्धुमिच्छया । १५ यदा इ०, अ०, प० । १६ इव । १७ रक्षतीति रक्षत् । १८ दिवस । १९ जयकुमारस्य । २० कुसुम । २१ किरणै. । २२ जयकुमारसम्वन्धिभि । २३ स्रवत् । २४ दु खकारिस्वभाव. ।

अर्ककीर्तिं स्वकीर्तिं[1] वा मत्वा रोषेण[2] भास्करः। अस्तं[3] जयजयस्यायात् कुर्वन् कालविलम्बनम् ॥२६१॥
[4]स्फुटालोकोऽपि[5]सद्वृत्तोऽप्यगादस्तमहर्पतिः[6]। आश्रित्य वारुणीं[7] रक्तः[8] को न गच्छत्यधोगतिम् ॥२६२॥
उदये[9] वर्धितच्छायो[10] व्याप्य विश्वं प्रतापवान्। [11]दिनेनैनोऽप्यनश्यत्[12] करितष्टत्तीव्रकरः परः ॥२६३॥
इनं[13] स्वच्छानि विच्छायं[14] तापहारीणि वा भृशम्। द्रष्टुं सरांस्यनिच्छन्ति[15] कञ्जाक्षीणि शुचा[16] व्यधुः॥२६४॥
[17]जयनिस्त्रिंशनिस्त्रिंशनिपातपतितान् खगान्। [18]प्राविशन्निजनीडानि[19] वीक्षितुं विक्षमाः खगाः[20] ॥२६५॥
स प्रतापः प्रभा साऽस्य सा हि सर्वैकपूज्यता। पातः[21] प्रत्यहमर्कस्याप्यतर्क्यः[22] कर्कशो विधिः[23] ॥२६६॥
कीर्त्योपमानतां यातो यातोऽर्कश्चेददृश्यताम्। उपमेयस्य का वार्तेत्यवादीद्विदुषां गणः ॥२६७॥

सूर्य मानो जयकुमारके तेजको न सह सकनेके कारण ही कातर हो अपने करों–किरणोसे (हाथों-से) अस्ताचलको पकडकर नीचे गिर पड़ा ॥२५८–२६०॥ वह सूर्य अर्ककीर्तिको अपनी कीर्ति मानकर क्रोधसे जयकुमारके जीतमें विलम्ब करता हुआ अस्त हो गया ॥२६१॥ जिसका आलोक प्रकाश (ज्ञान) स्पष्ट है और जो सद्वृत्त–गोल (सदाचारी) है ऐसे सूर्यको भी अस्त होना पड़ा सो ठीक ही है क्योकि वारुणी अर्थात् पश्चिम दिशा अथवा मद्यका सेवन करनेवाला ऐसा कौन है जो नीचेको न जाता हो–अस्त न होता हो–नरक न जाता हो। भावार्थ–जिस प्रकार मद्य पीनेवाला ज्ञानी और सदाचारी होकर भी नीच गतिको जाता है उसी प्रकार सूर्य भी प्रकाशमान और गोल होकर भी पश्चिम दिशामें जाकर अस्त हो जाता है ॥२६२॥ उदय कालसे लेकर निरन्तर जिसकी कान्ति बढती रहती है और जो ससारमें व्याप्त होकर तपता रहता है ऐसा तीव्रकर अर्थात् तीव्र किरणोवाला सूर्य भी जब एक ही दिनमें नष्ट हो गया तब फिर भला तीव्रकर अर्थात् अधिक टैक्स लगानेवाला और सन्ताप देनेवाला अन्य कौन है जो ससारमे ठहर सके ॥२६३॥ सन्तापको दूर करनेवाले स्वच्छ सरोवर अतिशय कान्तिरहित सूर्यको देखना नही चाहते थे इसलिए ही मानो उन्होने शोकसे अपने कमलरूपी नेत्र बन्द कर लिये थे ॥२६४॥ सब पक्षी अपने-अपने घोंसलोमे इस प्रकार चले गये थे मानो वे जयकुमारकी तीक्ष्ण तलवारकी चोटसे गिरे हुए विद्याधरोको देखनेके लिए समर्थ नही हो सके हो ॥२६५॥ सूर्यका असाधारण प्रताप है, असाधारण कान्ति है और असाधारण रूपसे ही सब उसकी पूजा करते है फिर भी प्रतिदिन उसका पतन हो जाता है इससे जान पड़ता है कि निष्ठुर दैव तर्कका विषय नही है। भावार्थ–ऐसा क्यों करता है इस प्रकारका प्रश्न दैवके विषयमें नही हो सकता है ॥२६६॥ उस समय विद्वानोका समूह यह कह रहा था कि जब अर्ककीर्तिके साथ उपमानता-को प्राप्त हुआ सूर्य भी अदृश्य हो गया तब उपमेयकी क्या बात है ? भावार्थ–अर्ककीर्तिके लिए सूर्यकी उपमा दी जाती है परन्तु जब सूर्य ही अस्त हो गया तब अर्ककीर्तिकी तो बात ही

१ निजनामधेयमिव। २ पीडया। ३ जयकुमारस्य। ४ व्यक्तोद्योतोऽपि। व्यक्तदर्शनोऽपीति ध्वनिः। 'आलोको दर्शनोद्योतौ' इत्यभिधानात्। ५ सद्वर्तुलमण्डलेऽपीति। सच्चारित्रोऽपीति ध्वनि। ६ रवि.। ७ पश्चिमाशाम्। मद्यमिति ध्वनि.। ८ अरुण' अनुरक्तश्च। ९ उद्गमे अभ्युदये च। १० कान्तिः पक्षे उत्कोच.। "छाया स्यादातपाभावे प्रतिबिम्बार्कयोषितो.। पालनोत्कोचयोः कान्तिसच्छोभापंक्तिषु स्मृता" इत्यभिधानात्। ११ दिवसेन च। इन. सूर्य प्रभुश्च। 'इन सूर्ये प्रभौ' इत्यभिधानात्। १२ अदृश्योऽभूत्। १३ सूर्यम्। १४ विगतकान्तिम्। १५ अनिच्छूनि। १६ दधति स्म। १७ जयकुमारस्य निशितास्त्रघातेन पतितान्। १८ प्रविष्टा। १९ आत्मीयकुलायान्। 'कुलायो नीडमस्त्रियाम्।' इत्यभिधानात्। २० पक्षिण.। २१ पतनम्। २२ क्रूर। २३ नियति. कर्म च।

दुर्निरीक्ष्यः [1]करैस्तीक्ष्णैः संतप्तनिजमण्डलः । अलं कुवलयध्वंसी दुस्सुतो[2] दुर्मतिस्तुत. ॥२६८॥
निस्सहायो निरालम्बोऽत्यसोढा[3] परतेजसाम्[4] । [5]सिंहराशिश्चलः क्रूरः सहसोच्छ्रित्य[6] मूर्द्धगः[7] ॥२६९॥
पापरोगी[8] परप्रेर्यो रविर्विषममार्गगः । रक्तरुक्[9] सकलद्वेषी[10] [11]वर्धिताशोऽक्रमाग्रगः[12] ॥२७०॥
[13]सता बुधेन मित्रेण[14] गुरुणा[15]ऽप्यस्तमाश्रयत् । बहुदोषो[16] भिषग्वर्यैर्दुश्चिकित्स्य इवातुरः[17] ॥२७१॥
तदा बलद्वयामात्याः श्रित्वा बद्धरुषौ नृपौ । इत्यधर्म्यं निशायुद्धमनुबद्ध्य[18] न्यषेधयन् ॥२७२॥
ताभ्यां[19] तत्रैव सा रात्रिर्नेतुमिष्टा रणाङ्गणे । भटतीव्रव्रणासह्यवेदनारावभीषणे ॥२७३॥

क्या है ? ॥ २६७ ॥ जो वडी कठिनतासे देखा जाता है, अपनी किरणोसे तीक्ष्ण–ऊष्ण है, जिसने अपना मण्डल भी सन्तप्त कर लिया है, जो कुवलय अर्थात् कुमुदोंका ध्वंस करनेवाला है, वडे कष्टसे जिसका उदय होता है अथवा जिसका पुत्र – शनि दुष्ट है, दुर्वुद्धि लोग ही जिसकी स्तुति करते हैं, जो सहायरहित है, आधाररहित है, जो चन्द्र आदि ज्योतिपियोका तेज सह नही सकता, सिंह राशिपर है, चंचल है, क्रूर है, सहसा उछलकर मस्तकपर चलता है, पाप रोगी है, दूसरेके सहारेसे चलता है, विषममार्ग – आकाशमे चलता है, रक्तरुक्-लाल किरणोवाला है, सकल – कलासहित–चन्द्रमाके साथ द्वेष करनेवाला है, दिशाओको वढ़ानेवाला है और पैररहित–अरुण नामका सारथि जिसके आगे चलता है, ऐसा सूर्य, वुधग्रह और गुरु (वृहस्पति ग्रह) नामके सज्जन मित्रोके साथ होनेपर भी अच्छे-अच्छे वैद्य भी जिसका इलाज नही कर सकते ऐसे वहुदोपी–अनेक दोपवाले (पक्षमे रात्रिवाले) रोगीके समान अस्त हो गया सो ठीक ही है क्योकि दुष्ट होनेके कारण जिसकी ओर कोई देख भी नही सकता है, जो अधिक टैक्स वसूल करनेके कारण तीक्ष्ण है, जो अपने परिवारके लोगोंको भी सन्ताप देनेवाला है । कुवलय अर्थात् पृथिवीमण्डलका खूव नाश करनेवाला है, जिसका पुत्र खराव है, मूर्ख ही जिसकी स्तुति करते है, जो सहायक मित्रोसे रहित है, दुर्ग आदि आधारोसे रहित है, अन्य प्रतापी राजाओके प्रतापको सहन नही करता है, सिंह राशिमें जिसका जन्म हुआ है, चञ्चल है, निर्दय है, जरा-जरा सी वातोंमे उछलकर शिरपर-सवार होता है – असहनशील है, वुरे रोगोसे घिरा हुआ है, दूसरेके कहे अनुसार चलता है, विपम मार्ग–अन्याय मार्गमें चलता है, रक्तरुक्–जिसे खूनकी वीमारी है, जो सवके साथ द्वेप करता है, जिसकी तृष्णा वढ़ी हुई है और विना क्रमके प्रत्येक कार्यमे आगे आगे आता है, ऐसे अनेक दोपवाले राजाका लाइलाज रोगीकी तरह वुद्धिमान् मित्र और सज्जन गुरुके साथ होनेपर भी नाश होना ही है ॥२६८–२७१॥ उस समय दोनों सेनाओं-के मन्त्रियोने क्रोधित हुए उन दोनो राजाओके पास जाकर रात्रिमे युद्ध करना अधर्म है ऐसा नियम कर उन्हे युद्ध करनेसे रोका ॥ २७२ ॥ उन दोनोने योद्धाओंके तीव्र घावोकी असह्य वेदनाजनित चिल्लाहटसे भयकर उसी रणके मैदानमें रात्रि व्यतीत करना अच्छा समझा

---

१ –स्तीक्ष्णाः अ०, प०, स०, इ०, ल० । २ कष्टोत्पत्ति अशोभनपुत्रश्च । ३ व्यसोढा ट० । ४ प्रदीपाना शत्रूणा च तेजसाम् । ५ सिंहराशिस्थितः । ६ ऊर्ध्वगो भूत्वा । ७ शिरसा गच्छन् । ८ कुष्ठरोगी । ९ रक्तकिरणः । रक्तरोगी च रक्ताना घातको वा । १० चन्द्रद्वेपी सकलजनद्वेपी च । ११ वर्द्धितदिक् वर्द्धिताभिलापश्च । १२ अनूर्वग्रगामी । 'सूरसूतोऽरुणोऽनूरु' इत्यभिधानात् । अक्रमाग्रगामी च । १३ उत्कृष्टेन विद्यमानेनेति च । १४ सोमसुतेन । विदुपा च । १५ वृहस्पतिना, उपदेशकेन सहितोऽपीत्यर्थ । १६ प्रचुरराशि । वातदोपवाश्च । १७ व्याधिपीडित,। १८ निर्वन्धं कृत्वा । १९ अर्ककीर्तिजयकुमाराभ्याम् ।

प्रतीची[1] येन[2] जायेऽहमगिल[3] हस्करम् । इति सन्ध्याच्छलेनाहस्तत्र[4] कोपमिवागतम्[5] ॥२७४॥
लज्जे[6] संपर्कमर्केण कर्तुं लोचनगोचरे[7] । इयं वेलेति वा सन्ध्याऽप्यन्वगादात्तविग्रहा[8] ॥२७५॥
[9]अगादहः[10] पुरस्कृत्य मामर्को रात्रिगामिना । तेन[11] पश्चात्कृतेऽतीव शोकात् सन्ध्या व्यलीयत[12] ॥२७६॥
तमः सर्वं[13] तदा व्यापत् क्वचिल्लीनं गुहादिषु । शत्रुशेषं न कुर्वन्ति तत एव विचक्षणाः ॥२७७॥
अवकाशं प्रकाशस्य यथात्मानमधात् पुरा । तथैव तमसः पश्चाद् धिङ्महत्त्वं विहायसः[14] ॥२७८॥
[15]तमोबलान् प्रदीपादिप्रकाशाः प्रदिदीपिरे[16] । जिनेनेव विनेनेन[17] कलौ कष्टं कुलिङ्गिनः ॥२७९॥
तमोविमोहितं[18] विश्वं[19] प्रबोधयितुमुद्धृतः । विधिनेव सुधाकुम्भो[20] दौर्वर्णो विधुरुद्ययौ ॥२८०॥
चन्द्रमाः[21] करनालीभिरपिबद् बहलं तमः । वृद्धकासं[22] क्षयं[23] हातुं धूमपानमिवाचरन् ॥२८१॥
निःशेषं नाशकद्धन्तुं ध्वान्तं हरिणलाञ्छनः । [24]अशुद्धमण्डलो हन्यान्निष्प्रतापः कथं रिपून् ॥२८२॥
विधुं तत्करसंस्पर्शाद् भृशमासन् विकासिभिः । सरस्यो ह्लादयन्त्यो[25] वा मुदा कुमुदलोचनैः ॥२८३॥

॥२७३॥ सन्ध्याके वहानेसे दिन लाल लाल हो गया, मानो जिससे मै पैदा हुआ हूँ उस सूर्यको यह पश्चिम दिशा निगल रही है यही समझकर उसे क्रोध आ गया हो ॥ २७४ ॥ मैं सबके देखते हुए सूर्यके साथ सम्बन्ध करनेके लिए लज्जित होती हूँ यही समझकर मानो सन्ध्याकी वेला भी शरीर धारण कर सूर्यके पीछे पीछे चली गयी ॥२७५॥ सूर्य जब दिनके पास गया था तब मुझे आगे कर गया था परन्तु अब रात्रिके पास जाते समय उसने मुझे पीछे छोड़ दिया है इस शोकसे ही मानो सन्ध्या वहीं विलीन हो गयी थी ॥ २७६ ॥ दिनके समय जो अन्धकार किन्ही गुफा आदि स्थानोमे छिप गया था उस समय वह सबका सब आकर फैल गया था सो ठीक ही है क्योकि चतुर लोग इसलिए ही शत्रुको बाकी नही छोड़ते है – उसे समूल नष्ट कर देते है ॥ २७७ ॥ आकाशने जिस प्रकार पहले प्रकाशके लिए अपनेमें स्थान दिया था उसी प्रकार पीछेसे अन्धकारके लिए भी स्थान दे दिया इसलिए आचार्य कहते है कि आकाशके इस बड़प्पनको धिक्कार हो। भावार्थ – बड़ा होनेपर भी यदि योग्य-अयोग्यका ज्ञान न हुआ तो उसका बड़प्पन किस कामका है ? ॥ २७८ ॥ जिस प्रकार कलिकालमे जिनेन्द्रदेवके न होनेसे अज्ञानके कारण अनेक कुलिङ्गियोका प्रभाव फैलने लगता है उसी प्रकार उस समय सूर्यके न होनेसे अन्धकारके कारण अनेक दीपक आदिका प्रकाश फैलने लगा था ॥ २७९॥

इतनेमें चन्द्रमाका उदय हुआ जो ऐसा जान पड़ता था मानो अन्धकारसे मोहित हुए समस्त संसारको जगानेके लिए विधाताने अमृतसे भरा हुआ चाँदीका कलश ही उठाया हो ॥२८०॥ उस समय चन्द्रमा अपनी किरणरूपी नालियोके द्वारा गाढ अन्धकारको पी रहा था और उससे ऐसा जान पड़ता था मानो जिसमें खाँसी बढ़ी हुई है ऐसे क्षय रोगका नाश करनेके लिए धूम्रपान ही कर रहा हो ॥ २८१ ॥ चन्द्रमा सम्पूर्ण अन्धकारको नष्ट करनेके लिए समर्थ नही हो सका था सो ठीक ही है क्योकि जिसका मण्डल अशुद्ध है और जो प्रतापरहित है वह शत्रुओको कैसे नष्ट कर सकता है ? ॥ २८२ ॥ तालाबोंमे चन्द्रमाके किरणोंके स्पर्शसे कुमुद खूब फूल रहे थे और उनसे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो खिले हुए कुमुदरूपी नेत्रोंके द्वारा चन्द्रमा

---

१ अहस्करेण । २ प्रादुर्भवामि । ३ गिलति स्म । ४ दिवसः । ५ प्रतीच्याम् । ६ ह्रीवती भवानि । ७ दृष्टिविषये प्रदेशे । बहुजनप्रदेशे इत्यर्थः । ८ स्वीकृतशरीराः । ९ आगच्छति स्म । १० दिवसम् । ११ पृष्ठे कृताहमिति । १२ विलयं गता । १३ सर्वत्र विश्वं जगत् । १४ आकाशस्य । १५ तिमिरप्राबल्यात् । पक्षे आकाशसामर्थ्यात् । १६ प्रकाशन्ते स्म । १७ रविणा । १८ मूढीकृतम् । १९ जगद् । २० राजत. । २१ किरणनालीभि । २२ कुत्सितगतिम् वृद्धप्रकाशं वा । २३ क्षयव्याधिम् । २४ कलंकयुतमण्डलः । शत्रुसहितमण्डलश्च । २५ मुदं नयन्ति वा ।

उत्थितः [1]पिलकोऽस्माकं विधुर्गण्डस्य[2] वोपरि । का [3]जीविकेति [4]निर्विण्णाः प्रायः [5]प्रोषितयोषितः॥२८४॥
लब्धचन्द्रबलस्योच्चैः स्मरस्य परितोषिणः । अट्टहास इवाशेषं साकञ्चन्द्रातपोऽतत[6] ॥ २८५ ॥
रूढो रागाङ्कुरश्चित्ते प्रम्लानो भानुभानुभिः । तदा चन्द्रिकया [7]प्राच्यवृष्टयेवावर्द्धताङ्गिनाम् ॥२८६॥
[8]खण्डितानां तथा तापो नाभूद् भास्कररश्मिभिः । यथांशुभिस्तु[9]पारांशोर्विचित्रा द्रव्यशक्तयः ॥ २८७ ॥
खण्डनादेव[10] कान्तानां[11] ज्वलितो मदनानलः । [12]जाज्वलीत्ययमे[13]तेने[14]त्यत्यजन्मधु[15] काश्चन॥२८८॥
वृथाभिमानविध्वंसी नापरं मधुना विना । कलहान्तरिताः काश्चित्सखीभिरतिपायिताः[16] ॥२८९॥
प्रेम नः[17] कृत्रिमं नैतत् किमनेनेति[18] काश्चन । दूरादेवान्यजन् स्निग्धाः श्राविका वाऽऽसवादिकम्[19] ॥२९०॥
मधु द्विगुणितस्वादु[20] पीतं कान्तकरार्पितम्[21] । कान्ताभिः [22]कामदुर्वारमातङ्गमदवर्द्धनम् ॥२९१॥
इत्याविर्भावितानङ्गरसास्ताः प्रियसङ्गमात् । प्रीतिं वाग्गोचरातीतां स्त्रीचक्रुर्वक्रवीक्षणाः[23] ॥ २९२ ॥

को हर्षसे प्रसन्न ही कर रहे हों। विशेष—इस श्लोकमे सरसी शब्दके स्त्रीलिंग होने तथा कर शब्दके श्लिष्ट हो जानेसे यह अर्थ ध्वनित होता है कि जिस प्रकार स्त्रियाँ अपने पतियोंके हाथका स्पर्श पाकर प्रसन्न हुए नेत्रोंसे उन्हे हर्षपूर्वक आनन्दित करती है उसी प्रकार सरसियाँ भी चन्द्रमाके कर अर्थात् किरणोका स्पर्श पाकर प्रफुल्लित हुए कुमुदरूपी नेत्रोसे उसे हर्षपूर्वक आनन्दित कर रही थी ॥ २८३ ॥ प्रायः विरहिणी स्त्रियाँ यह सोच-सोचकर विरक्त हो रही थी कि यह चन्द्रमा हमारे गालपर फोडेके समान उठा है अथात् फोड़ेके समान दुःख देनेवाला है इसीलिए अब जीवित रहनेसे क्या लाभ है ? ॥ २८४ ॥ जिसे चन्द्रमाका बल प्राप्त हुआ है और इसीलिए जो जोरसे संतोष मना रहा है ऐसे कामदेवके अट्टहासके समान चन्द्रमाका गाढ़ प्रकाश सब ओर फैल गया था ॥ २८५ ॥ मनुष्योके हृदयमे उत्पन्न हुआ जो रागका अंकूरा सूर्यकी किरणोसे मुरझा गया था वह भारी अथवा पूर्व दिशासे आनेवाली वर्षाके समान फैली हुई चाँदनीसे उस समय खूब बढ़ने लगा था ॥ २८६ ॥ खण्डिता स्त्रियोको सूर्यकी किरणोसे वैसा संताप नही हुआ था जैसा कि चन्द्रमाकी किरणोके स्पर्शसे हो रहा था सो ठीक ही है क्योंकि पदार्थोकी शक्तियाँ विचित्र प्रकारकी होती है ॥ २८७ ॥ प्रिय पतिके विरहसे ही जो कामरूपी अग्नि जल रही थी वह इस मद्यसे ही जल रही है ऐसा समझकर कितनी ही विरहिणी स्त्रियोंने मद्य पीना छोड़ दिया था ॥ २८८ ॥ मद्यके सिवाय व्यर्थके अभिमानको नष्ट करने-वाला और कोई पदार्थ नही है यही सोचकर कितनी ही कलहान्तरिता स्त्रियोको उनकी सखियोने खूब मद्य पिलाया था ॥ २८९ ॥ हमारा यह प्रेम बनावटी नही है इसलिए इस मद्यके पीनेसे क्या होगा ? यही समझकर कितनी ही प्रेमिकाओंने श्राविकाओके समान मद्य आदिको दूर से ही छोड़ दिया था ॥ २९० ॥ कितनी ही स्त्रियाँ कामदेवरूपी दुर्निवार हाथीके मदको बढाने-वाले स्वादिष्ट मद्यको पतिके हाथसे दिया जानेके कारण दूना पी गयी थी ॥ २९१ ॥ इस प्रकार जिनके कामका रस प्रकट हुआ है और जिनकी दृष्टि कुछ-कुछ तिरछी हो रही है ऐसी स्त्रियाँ

---

१ पिटको ल०, अ०, इ०, स०, प० । पिटकः स्फोटकः । 'विस्फोटः पिटकस्त्रिषु' इत्यभिधानात् । २ गलगण्डस्य । 'गलगण्डो गण्डमाला' इत्यभिधानात् । ३ जीवितम् । ४ उद्वेगपरा । दुःखे तत्परा इत्यर्थः । ५ विमुक्तभर्तृका' स्त्रियः । ६ व्याप्नोति स्म । ७ प्रथमवृष्टया । ८ विरहिणीना योषिताम् । ९ चन्द्रस्य । १० वियोगात् । ११ प्रियतमाना पुसाम् । १२ भृशं ज्वलति । १३ दावाग्नि. । १४ मद्येन । १५ मद्यम् । १६ मद्यपानं कारिता । १७ अस्माकम् । १८ मद्येन । १९ मद्यादिकम् । २० त्रिगुणित स्वादु इत्यपि पाठः । २१ प्रियतमकरेण दत्तम् । २२ कामदु.पूर. – ट० । पूरयितुमशक्यः । २३ वामलोकना ।

तत्र काचिद् प्रियं वीक्ष्य[1] कथाशेषं द्विषच्छरैः[2]। स्वयं कामशरैरक्षताङ्गी चित्रमभूद् व्यसुः[3] ॥२९३॥
[4]क्षतैरनुपलक्ष्याङ्गं वीक्ष्य कान्तमजानती। परा परासुतां[5] [6]प्रापज्ज्ञात्वाऽऽत्मविहितव्रणैः[7] ॥२९४॥
मया निवारितोऽप्यार्या[8] वीरलक्ष्मीप्रियः प्रिय। तत्कठोरव्रणैरेवं[9] जातोऽसीति मृता[10] परा ॥ २९५ ॥
मां निवार्य सहायान्ती कीर्तिं स्वीकर्तुमागमः[11]। निर्मलेति विपर्यस्तो[12] जानन्नपि वहिश्चरीम् ॥२९६॥
स्थिता तत्रैव सा कीर्तिः किं[13] वदन्ति[14] नरोऽन्तरम्। इतिसासूयमुक्त्वाऽन्या[15] [16]प्रायासीत्[17]प्रियपद्धतिम्।
न किं निवारिताऽप्यायां[18] त्वया सार्द्धं विचेतना[19]। सन्निधौ मे किमेवं त्वां नयन्ति गणिकाधमाः[20]।२९८।
[21]अस्तु किं[22] यातमद्यापि तत्र[23] त्वां न हराणि[24] किम्। विलप्यैवं कलालापा काचित्[25] कान्तानुगाऽभवत्२९९
शरनिर्भिन्नसर्वाङ्गः कीलितासुरिवापरः। कान्तागमं प्रतीक्ष्यास्त लोचनस्थितजीवितः ॥३००॥
कोपदष्टविमुक्तौष्ठं कान्तमालोक्य कामिनी। वीरलक्ष्म्या कृतासूया क्षणकोपाऽसुमत्यजत् ॥३०१॥
हृदि निर्भिन्ननाराचो मत्वा कान्तां हृदि स्थिताम्। हा मृतेयं वराकीति[26] प्राणान् कश्चिद् व्यसर्जयत्।३०२।

पतिके समागम होनेसे वचनातीत आनन्दका अनुभव कर रही थी ॥ २९२ ॥ उन स्त्रियोमे-से कोई स्त्री अपने पतिको शत्रुओके बाणोसे मरा हुआ देखकर आश्चर्य है कि कामके बाणोसे शरीर क्षत न होनेपर भी स्वयं मर गयी थीं ॥ २९३ ॥ अन्य कोई अजान स्त्री घावोसे जिसके अंग उपाग ठीक-ठीक नही दिखाई देते ऐसे अपने प्रिय पतिको देखकर और उन्हे अपने-द्वारा ही किये हुए घाव समझकर प्राणरहित हो गयी थी ॥ २९४ ॥ हे प्रिय, तुम्हे वीर लक्ष्मी बहुत ही प्यारी थी इसीलिए मेरे रोकनेपर भी तुम उसके पास आये थे अब उसी वीरलक्ष्मीके कठोर घावोसे तुम्हारी यह दशा हो रही है यह कहती हुई कोई अन्य स्त्री मर गयी थी ॥ २९५ ॥ हे प्रिय, मै उसी समय आपके साथ आ रही थी परन्तु आप मुझे रोककर कीर्तिको स्वीकार करनेके लिए यहाँ आये थे, यद्यपि आप यह जानते थे कि कीर्ति सदा बाहर घूमनेवाली (स्वैरिणी-व्यभिचारिणी) है तथापि यह शुद्ध है ऐसा आपको भ्रम हो गया, अब देखिए, वह कीर्ति वहीं रह गयी, हाय, क्या मनुष्य हृदय अथवा विरहको जानते है ? इस प्रकार ईर्ष्याके साथ कहकर अन्य कोई स्त्री अपने पतिके मार्गपर जा पहुँची थी अर्थात् पतिको मरा हुआ देखकर स्वयं भी मर गयी थी ॥ २९६–२९७ ॥ हे प्रिय, रोकी जाकर भी मै मूर्खा आपके साथ क्यो नही आयी ? क्या मेरे समीप रहते ये नीच वेश्याएँ (स्वर्गकी अप्सराएँ) इस प्रकार तुम्हे ले जाती ? खैर, अब भी क्या गया ? क्या मै वहाँ उनसे तुम्हे न छीन लूँगी ! इस प्रकार विलाप कर मधुर स्वरवाली कोई स्त्री अपने पतिकी अनुगामिनी हुई थी अर्थात् वह भी मर गयी थी ॥ २९८-२९९ ॥ जिसका सब शरीर बाणोसे छिन्न-भिन्न हो गया है, और इसलिए ही जिसके प्राण कीलित-से हो गये है तथा नेत्रोंमें ही जिसका जीवन अटका हुआ है ऐसा कोई योद्धा अपनी स्त्रीके आनेकी प्रतीक्षा कर रहा था ॥ ३०० ॥ जिसने क्रोधसे अपने ओठ डसकर छोड दिये है ऐसे अपने पतिको देखकर क्षण-भर क्रोध करती और वीरलक्ष्मीके साथ ईर्ष्या करती हुई किसी अन्य स्त्रीने अपने प्राण छोड दिये थे ॥ ३०१ ॥ जिसके हृदयमे बाण घुस गया है ऐसे किसी योद्धाने

---

१ वार्तयेवावशिष्टं प्रियं श्रुत्वेत्यर्थः। २ वैरिणां बाणैरुपलक्षितम्। ३ विगतप्राणः। ४ व्रणैः। ५ पञ्चत्वम्। ६ प्राप ल०, अ०, स०, इ०, प०। ७ आत्मना नखदन्तकृतव्रणैः। ८ आगमः। ९ वीरलक्ष्म्या निष्ठुरम्। १० ममार। ११ आगच्छ.। १२ वैपरीत्यं नीत.। वञ्चित इत्यर्थ.। १३ विदन्ति ल०। १४ नरः मनुष्या. अन्तरं विरहम्। नरोत्तरमिति पाठे उत्तमपुरुषम्। १५ असूयासहितं यथा भवति तथा। १६ आगात्। १७ प्रियतमस्य मार्गम्। मृतिमित्यर्थः। १८ आगच्छम्। १९ वराक्यहम्। २० अमुख्यदेवस्त्रियः। २१ भवतु वा। २२ गमनम्। २३ स्वर्गे। २४ अपि तु हराण्येव। २५ प्रियतमस्यानुगामिन्यभूत्। कान्तास्मरणेन स्मरवशोऽभूदित्यर्थः। २६ सद्य प्राणान व्यसर्जयत् ल०।

शस्त्रसंभिन्नसर्वाङ्गमन्तको नेतुमागतः । कान्ता चिन्तापरं कन्तुस्तद्धस्ताद्धृतापरम् ॥३०३॥
कण्ठे[1] चालिङ्गितः प्रेमशोकाभ्यां प्रियया परः । ध्यात्वा तां त्यक्तदेहोऽगात् निर्वाणं[2] सव्रणस्तया ॥३०४॥
श्वः[3] स्वर्गे किं किमत्रैव[4] संगमो नौ[5] न संशयः । तत्र[6] त्वं वहुकान्तोऽद्य[7] रमेऽन्येत्याह सव्रतम् ॥३०५॥
अत्र वाऽमुत्र[8] वासोऽस्तु किं तया चिन्तयावयोः । वियोगः क्वापि नास्तीति कान्ता कान्तमतर्पयत् ॥३०६॥
[9]सव्रतो वीरलक्ष्मीं च कीर्तिं चैहि[10] चिरायुषा । हन्तुं मामेव कामोऽयमिति कान्ताऽवदद्रुषा ॥३०७॥
जयस्य विजयः प्राणैस्तवैवैतद् विनिश्चितम् । [11]सव्रतावद्य यास्यावो दिवमित्यब्रवीत् परा ॥३०८॥
शराः पौष्पास्तव त्वं च[12] संयुक्तेष्वतिशीतगः[13] । तत्र[14] विज्ञातसारोऽसि पुरुषेभ्यो भयं तव ॥३०९॥
आयसाः[15] सायकाः काम त्वमप्यस्माकमन्तकः । इति कामं समुद्दिश्य खण्डिताः[16] स्वगतं[17] जगुः[18] ।३१०।
सा रात्रिरिति संलापै[19][20]प्रेमप्राणैरनीयत । तावत् संध्याऽगता रागाद् राक्षसीवेक्षितुं रणम् ॥३११॥

अपनी स्त्रीको अपने हृदयमे स्थित मानकर तथा हाय, यह वेचारी इस वाणसे व्यर्थ ही मरी जा रही है ऐसा समझकर शीघ्र ही अपने प्राण छोड़ दिये थे ॥३०२॥ जिसका सव शरीर शस्त्रोंसे छिन्न-भिन्न हो गया है ऐसे किसी अन्य योद्धाको यमराज लेनेके लिए आ गया था परन्तु स्त्रीकी चिन्तामें लगे हुए उसे कामदेवने यमराजके हाथसे छुड़ा लिया था ॥३०३॥ प्रेम और शोकके कारण अपनी स्त्रीके द्वारा गलेसे आलिंगन किया हुआ कोई घावसहित योद्धा उसी प्रियाका ध्यान कर तथा शरीर छोड़कर उसीके साथ मर गया ॥३०४॥ किसी योद्धाने व्रत धारण कर लिये थे इसलिए उसकी स्त्री उससे कह रही थी कि कल स्वर्गमें न जाने क्या-क्या होगा ? इसमें कुछ भी संशय नही है कि हम दोनोंका समागम यहाँ हो सकता है, चूँकि तुम्हें स्वर्गमें बहुत-सी स्त्रियाँ मिल जायेगी इसलिए मैं आज यहाँ ही क्रीड़ा करूँगी ॥३०५॥ हम दोनोंका निवास चाहे यहाँ हो, चाहे परलोकमें हो, उसकी चिन्ता ही नही करनी चाहिए । क्योंकि हम लोगोका वियोग तो कही भी नही हो सकता है इस प्रकार कहती हुई कोई स्त्री अपने पतिको सन्तुष्ट कर रही थी ॥३०६॥ कोई स्त्री क्रोधपूर्वक अपने पतिसे कह रही थी कि तुम तो व्रत धारण कर वीर लक्ष्मी और कीर्तिको प्राप्त होओ – उनके पास जाओ, दीर्घ आयु होनेके कारण यह कामदेव मुझे ही मारे ॥३०७॥ कोई स्त्री अपने पतिसे कह रही थी कि यह निश्चित है कि जयकुमारकी जीत तेरे ही प्राणोसे होगी और व्रतोंके धारण करनेवाले हम दोनों ही आज स्वर्ग जावेगे ॥३०८॥ खण्डिता स्त्रियाँ कामदेवको उद्देश्य कर अपने मनमे कह रही थी कि अरे काम, संयोगी पुरुषोंपर पड़ते समय तेरे वाण फूलोके हो जाते है और तू भी वहुत ठण्डा हो जाता है, उन पुरुषोंके पास तेरे वलकी सव परख हो जाती है, वास्तवमे तू पुरुषोसे डरता है परन्तु हम स्त्रियोंपर पडते समय तेरे वाण लोहेके ही रहते है, और तू भी यमराज वन जाता है। भावार्थ – तू पुरुषोको उतना दुःखी नही करता जितना कि हम स्त्रियोको करता है ॥३०९–३१०॥ प्रेमरूपी प्राणोंको धारण करनेवाले स्त्री-पुरुषोने इस प्रकारकी वातचीतके द्वारा ज्यों ही वह रात्रि पूर्ण की त्यो ही रागसे संग्राम देखनेके लिए आयी हुई राक्षसीके समान सन्ध्या (सवेरेकी लाली) आ गयी ॥३११॥

---

१ कण्ठेनालिङ्गित. इ०, अ०, स०, प० । २ मरणम् । ३ अनन्तरागामिदिने । ४ स्यादिति न जाने इति संबन्धः । ५ आवयो. । ६ स्वर्गे । ७ क्रीडामि । ८ स्वर्गे । ९ सनियम । १० गच्छ । ११ सनियमावावाम् । १२ संगतेषु स्त्रीपुरुषेषु । १३ अतिशयेन सुखहेतु । १४ संयुक्तस्त्रीपुरुषेषु । १५ अयस्संवन्धिनः । १६ पुरुषवियुक्ता । १७ स्वाभिप्रायम् । १८ भणन्ति स्म । १९ मिथो भाषणैः । २० प्रेम इव प्राणा येषां तैः ।

प्राभातानककोटीनां निःस्वनः सेनयोः समम्[1] । आक्रामति स्म दिक्चक्रमक्रमेणोच्चरँस्तदा ॥३१२॥
प्रतीच्याऽपि युतश्चन्द्रो मयैवोदेति भास्करः । इति स्नेहादिव प्राची प्रागभादुदयाद्रवेः ॥३१३॥
सरसां[2] कमलाक्षिभ्यः प्रबुद्धानां तदा मुदा । निर्ययौ स्वार्थमादाय निद्रेव भ्रमरावली ॥३१४॥
गतायां स्वेन सङ्कोचं पद्मिन्यां स्वोदये रवि. । लक्ष्मीं निजकरेणोच्चैर्विदधे सा हि मित्रता[3] ॥३१५॥
रक्तः[4] करैः समाश्लिष्य संध्यां सद्यो व्यरज्यत[5] । वदन्निव रविर्भोगान् पर्यन्ते[6] विरसान् स्फुटम् ॥३१६॥
[7]पर्यष्वजीत् पुरेवैतां स्वां संध्यामिति वेर्ष्यया । रविं[8] रक्तमपि स्थित्यै[9][10] प्राच्यक्षमत[11] न क्षणम् ॥३१७॥
[12]शयित्वा वीरशय्यायां निशां नीत्वा नियामिनः[13] । स्नात्वा संतर्पिताशेषदीनानाथवनीपकाः ॥३१८॥
अञ्चित्वा विधिना स्तुत्वा जिनेन्द्रांस्त्रिजगन्नतान् । [14]अतिष्ठन्नायकाः सर्वे परिच्छिद्य रणोन्मुखाः ॥३१९॥
अरिञ्जयाख्यमारुह्य रथं श्वेताश्वयोजितम् । गृहीत्वा वज्रकाण्डं च दत्तं यच्चक्रिणा द्वयम्[15] ॥३२०॥
बन्दिमागधवृन्देन [16]वन्द्यमानाङ्कमालिकः । गजध्वजं[17] समुत्थाप्य जयलक्ष्मीसमुत्सुकः ॥३२१॥
जयो ज्यास्फालनं कुर्वन् कृतान्तविकृताकृतिः । द्विपानां [18]भीषणस्तस्थौ दिग्गमप्याहरन् मदम् ॥३२२॥
[19]उपोदयायशस्कीर्तिः अर्ककीर्तिश्च्युतच्छविः । [20]कारागारमिवाध्यास्य स्यन्दनं मन्दवाजिनम् ॥३२३॥

उसी समय दोनों सेनाओमे साथ-साथ उठनेवाले प्रात कालीन करोड़ों वाजोके शब्दोने एक साथ सब दिशाएँ भर दी ॥३१२॥ यद्यपि चन्द्रमा पश्चिम दिशाके साथ है तथापि सूर्य तो मेरे ही साथ उदय होगा इसी प्रेमसे मानो पूर्व दिशा सूर्योदयसे पहले ही सुशोभित होने लगी थी ॥३१३॥ उस समय भ्रमरोंकी पंक्ति तालाबोके फूले हुए (पक्षमें जागे हुए) कमलरूपी नेत्रोसे अपना इष्ट पदार्थ लेकर निद्राके समान वड़ी प्रसन्नताके साथ निकल रही थी ॥३१४॥ कमलिनी मेरे अस्त होते ही संकुचित हो गयी थी, इसलिए सूर्यने अपना उदय होते ही अपने ही किरणरूपी हाथोसे उसपर वहुत अच्छी शोभा की थी सो ठीक ही है क्योंकि मित्रता यही कहलाती है ॥ ३१५ ॥ रक्त अर्थात् लाल (पक्षमे प्रेम करनेवाला) सूर्य, कर अर्थात् किरणों (पक्षमे हाथो) से सन्ध्याका आलिगन कर शीघ्र ही विरक्त अर्थात् लालिमारहित (पक्षमें राग-हीन) हो गया था सो मानो वह यही कह रहा था कि ये भोग अन्त समयमे नीरस होते है॥३१६॥ इस सूर्यने पहलेके समान ही अपनी सन्ध्यारूपी स्त्रीका आलिंगन किया है इस ईर्ष्यासे ही मानो पूर्व दिशाने सूर्यको प्रेमपूर्ण अथवा लाल वर्ण होनेपर भी अपने पास क्षण-भर भी नही ठहरने दिया था ॥३१७॥ व्रत-नियम पालन करनेवाले सेनापतियोने वीरशय्यापर शयन कर रात्रि व्यतीत की । सवेरे स्नान कर सब दीन, अनाथ तथा याचकोंको सन्तुष्ट किया, त्रिजगद्वन्द्य जिनेन्द्र देवकी विधिपूर्वक पूजा कर स्तुति की और फिर वे अपनी-अपनी सेनाका विभाग कर युद्धके लिए उत्सुक हो खड़े हो गये ॥३१८–३१९॥ वन्दीजन और मागध लोगोका समूह जिसके नामके अक्षरोंकी स्तुति करते है जो बिजयलक्ष्मीके लिए उत्सुक हो रहा है, जिसका आकार यमराजके समान विकृत है, जो दिग्गजोके भी मदको हरण करनेवाला है और भयकर है ऐसा जयकुमार सफेद घोडोसे जुते हुए अरिंजय नामके रथपर सवार होकर और वज्रकाण्ड नामका वह धनुष जो कि पहले चक्रवर्तीने दिया था, लेकर हाथीकी ध्वजाको उड़ाता तथा धनुषकी डोरीका आस्फालन करता हुआ खडा हो गया ॥३२०–३२२॥ जिसकी अपकीर्तिका उदय

१ युगपत् । २ सरोवराणाम् । ३ वृद्धौ वृद्धि. क्षये क्षयश्च । ४ अरुण. अनुरक्तश्च । ५ विरक्तोऽभूत् । ६ अवसाने निस्साराणि इति वदन्ति वेति संबन्ध । ७ आलिलिङ्ग । ८ अनुरक्तम् । ९ निवसनाय । १० पूर्वादिक् । ११ न सहते स्म । १२ शयन कृत्वा । १३ नियमवन्त. । १४ तिष्ठन्ति स्म । १५ रथवज्रकाण्डचापद्वयम् । पुरा ल० । १६ स्तूयमान । १७ गजाङ्कितध्वजम् । १८ भयंकरः । १९ उदयप्राप्तापकीर्तिः । २० बन्धनालयम् ।

अष्टचन्द्रान् सखीन् कुर्वन् नष्टचन्द्रोपमान् युधः[1] । स्वोत्पातकेतु[2]संकाशचक्रकेतूपलक्षितः ॥३२४॥
[3]प्रत्यायातमहावातविहतस्वजवैः शरैः । विध्यन्म[4]ध्यन्दिनार्कं वा सुमनःक्षतहेतुभिः ॥३२५॥
जयं शत्रुदुरालोकं ज्वलत्तेजोमयं स्मयात्[5] । कलभो वाऽगमद् वारिं[6] प्रेरितः खलकर्मणा ॥३२६॥
जयोऽपि शरसन्तानघनी[7]कृत्यघनाघनः । सहार्ककीर्तिमर्केण कुर्वन् विनिहतप्रभम् ॥३२७॥
[8]प्रतीयायान्तरे छिन्दन्[9] रिपुप्रहितसायकान् । शराश्चास्य पुरो धावन्[10] ब्रध्नस्येवोदयेंऽशवः ॥३२८॥
अच्छैत्सी[11]च्छत्रमस्त्राणि वैजयन्तीं[12] च दुर्जयः । जयोऽर्ककीर्तेरौद्धत्यं विहत्य विनिनीषया[13] ॥३२९॥
अष्टचन्द्रास्तदाभ्येत्य[14] विद्यावलविजृम्भणात् । न्यपेधयन् जयस्येपूनम्भोदा वा रवेः करान् ॥३३०॥
भुजबल्यादयोऽ[15]भ्येयुर्योद्धुं हेमाङ्गदं क्रुधा । सानुजं सिंहसङ्घातं सिंहसङ्घ इवापरः ॥३३१॥
[16]सानुजोऽनन्तसेनोऽपि प्राप मेघस्वरानुजान् । [17]आङ्गरेयो यथा यूथः कलिङ्गज[18]मतङ्गजान् ॥३३२॥
अन्येऽप्यन्यांश्च भूपाला भूपालान् कोपिनस्तदा । आनिपेतुः[19] कुलाद्रीन्वा संचरन्तः[20] कुलाचलाः॥३३३॥
नास्त्येषामीदृशी शक्तिर्विद्येयमिति विद्यया । जयो युद्धाय सन्नद्धस्तदा[21] मित्रभुजङ्गमः ॥३३४॥

हो रहा है, कान्ति नष्ट हो गयी है, युद्धके नष्ट चन्द्रोके समान अष्टचन्द्र विद्याधरोको जिसने अपना मित्र बनाया है, जो अपना अनिष्ट सूचित करनेवाले धूमकेतुके समान चक्रके चिह्नवाली ध्वजासे सहित है, और उलटी चलनेवाली तेज वायुसे जिनका वेग नष्ट हो गया है ऐसे देवताओका घात करनेवाले बाणोसे जो दोपहरके सूर्यपर प्रहार करता हुआ-सा जान पडता है, ऐसा अर्ककीर्ति धीरे चलनेवाले घोड़ोसे जुते हुए जेलखानेके समान अपने रथपर बैठकर, शत्रु जिसे देख भी नही सकते और जो जलते हुए तेजके समान है ऐसे जयकुमारपर बडे अभिमानसे इस प्रकार आया जिस प्रकार कि हाथी पकड़नेवालोके क्रूर व्यापारसे प्रेरित होता हुआ हाथीका बच्चा अपने बँधनेके स्थानपर आता है ।।३२३–३२६।। बाणोके समूहसे मेघोको सघन करनेवाला जयकुमार भी सूर्यके साथ-साथ अर्ककीर्तिको प्रभारहित करता तथा शत्रुके द्वारा छोड़े हुए बाणोको छेदन करता हुआ सामने आया और जिस प्रकार उदयकालमे सूर्यकी किरणें उसके सामने जाती है उसी प्रकार उसके द्वारा छोडे हुए बाण ठीक उसके सामने जाने लगे ।।३२७–३२८।। बड़ी कठिनाईसे जीते जाने योग्य जयकुमारने अर्ककीर्तिको हटानेकी इच्छासे उसका उद्धतपना नष्ट कर, उसका छत्र शस्त्र तथा ध्वजा सब छेद डाली ।।३२९।। जिस प्रकार मेघ सूर्यकी किरणोको, रोक लेते है उसी प्रकार उस समय अष्टचन्द्रोने आकर अपनी विद्या और बलके विस्तारसे जयकुमारके बाण रोक लिये थे ।।३३०।। जिस प्रकार एक सिहोका समूह दूसरे सिहोंके समूहपर आ पडता है उसी प्रकार भुजबली आदि भी बडे क्रोधसे छोटे भाइयोके साथ खड़े हुए हेमागदसे लडनेके लिए उसके सन्मुख आये ।।३३१।। जिस प्रकार अंगरदेशमें उत्पन्न हुए हाथियोका समूह कलिग देशमें उत्पन्न हुए हाथियोपर पडता है उसी प्रकार अनन्तसेन भी अपने छोटे भाइयोंसहित जयकुमारके छोटे भाइयोके सामने जा पहुँचा ।।३३२।। उस समय और भी राजा लोग क्रोधित होते हुए अन्य राजाओपर इस प्रकार जा टूटे मानो कुलाचल कुलाचलोपर टूट पड़ रहे हो ।।३३३।। इन मेरे पक्षवालोकी न तो ऐसी शक्ति है

---

१ युद्धस्य । २ निजविनाशहेतुकजयसमान । ३ प्रतिकूलमायात । ४ मध्याह्नमिव । मध्याह्नरविमण्डलाभिमुखं मुक्ता शरा यथा स्वशरीरे पतन्ति तद्वदित्यर्थ· । ५ गर्वात् । ६ गजपतनहेतुगर्तम् । ७ निविडीकृत । ८ अभिमुखं जगाम । ९ शत्रुविसर्जित । १० रवे. । ११ चिच्छेद । १२ ध्वजाम् । १३ निराकरणेच्छया नेतुमिच्छया वा । १४ सम्मुखमागत्य । १५ अभिमुखमाजग्मु । १६ निजानुजसहित. । १७ अङ्गरदेशे भव. । आङ्गर्कैयो ल० । १८ कलिङ्गदेशे भव· । १९ प्राप्नुवन्ति स्म । अभिपेतु ल०, इ०, स०, प० । २० सञ्चलन्तः कुलाद्रय. । ल० । २१ पूर्व मुनेर्धर्मश्रवणज्जातनागराज. ।

विदित्वा विष्टराकम्पाज्जयं संप्राप्य सादरः । नागपाशं शरं चार्द्धचन्द्रं दत्त्वा ययावसौ ॥३३५॥
तं[1] [2]सहस्रसहस्रांशुस्फुरदंशुप्रभास्वरम् । कौरवः[3] शरमादाय वज्रकाण्डे[4] प्रयोजयन्[5] ॥३३६॥
हत एव सुतो [6]भर्त्तुर्भुवोऽने[7]नेति सम्भ्रमम्[8] । नरविद्याधराधीशा महान्तमुदपादयन्[9] ॥३३७॥
रथान्नव तथा दुष्टानष्टचन्द्रान् ससारथीन् । स[10] शरो भस्मयामास शस्त्राणि च यथाऽशनिः ॥३३८॥
छिन्नदन्तकरो दन्तीवान्तको वा हतायुधः । भग्नमानः कुमारोऽस्थात् धिक्कष्टं चेष्टितं विधेः ॥३३९॥
इति दत्तग्रहं[11] वीरं गजं वा पादपाशकैः[12] । [13]अपायुधैरुपायज्ञैर्विधिज्ञस्तम[14]जीग्रहत्[15] ॥३४०॥
तच्छौर्यं यत्पराभूतेः प्राक् प्राप्तपरिभूतिभिः । यत्पश्चात्साहसं धार्ष्ट्यात्[16] स द्वितीयः पराभवः ॥३४१॥
सोऽन्वयः स पिता तादृक् पदं सा सैन्यसंहतिः । तस्याप्यासीदवस्थेयमुन्मार्गः कं न पीडयेत् ॥३४२॥
वीरपट्टेन बद्धोऽयं चक्रिणानेन तत्सुतः । व्रणपट्टपदं नीतः पश्य कार्यविपर्ययम् ॥३४३॥
[17]पतत्पतङ्गसङ्काशमर्ककीर्तिमनायुधम् । स्वरथे स्थापयित्वोच्चैरारुह्यानेकपं स्वयम् ॥३४४॥
विपक्षखगभूपालान् नागपाशेन पाशिवत्[18] । निष्पन्दं निर्जितारातिर्न्यमंसीत्[19] सिंहविक्रमान् ॥३४५॥

और न यह विद्या ही है ऐसा समझकर जयकुमार स्वय युद्धके लिए तैयार हुआ, उसी समय उसका मित्र सर्पका जीव जो कि देव हुआ था आसन कम्पित होनेसे सब समाचार जानकर बडे आदरके साथ जयकुमारके पाम आया और नागपाश तथा अर्द्धचन्द्र नामका बाण देकर चला गया ॥३३४–३३५॥ जो हजार सूर्यकी चमकती हुई किरणोंके समान देदीप्यमान हो रहा था ऐसा वह बाण लेकर जयकुमारने अपने वज्रकाण्ड नामके धनुषपर चढ़ाया ॥३३६॥ इस बाणसे चक्रवर्तीका पुत्र अवश्य ही मारा जायेगा यह जानकर भूमिगोचरी और विद्याधरोंके अधिपति राजाओंने बड़ा भारी क्षोभ उत्पन्न किया ॥३३७॥ उस बाणने नौ रथ, सारथिसहित आठों अर्धचन्द्र और सब बाण वज्रकी तरह भस्म कर दिये ॥३३८॥ जिसका मान भंग हो गया है ऐसा अर्ककीर्ति, जिसके दाँत और सूँड़ कट गयी है ऐसे हाथीके समान अथवा जिसका शस्त्र नष्ट हो गया है ऐसे यमराजकी तरह चेष्टारहित खड़ा था इसलिए कहना पड़ता है कि दैवकी इस दु.ख देनेवाली चेष्टाको धिक्कार हो ॥३३९॥ जिस प्रकार शस्त्ररहित किन्तु उपायको जाननेवाले पुरुष पैरोंकी पाशसे दाँतोंको दबोचकर वीर हाथको पकड़ लेते हैं उसी प्रकार जयकुमारने अर्ककीर्तिको पकड़ लिया ॥३४०॥ तिरस्कार होनेके पहले-पहले जो लड़ना है वह शूरवीरता है और तिरस्कार प्राप्त कर धृष्टतावश जो पीछेसे लड़ता है वह दूसरा तिरस्कार है ॥३४१॥ यद्यपि उस अर्ककीर्तिका लोकोत्तर वंश था, चक्रवर्ती पिता थे, युवराज पद था और भारी सेनाका समूह उसके पास था तो भी उसकी यह दशा हुई इससे कहना पड़ता है कि दुराचार किसे पीड़ित नही करता है ? ॥३४२॥ चक्रवर्तीने जयकुमारको वीरपट्ट बाँधा था परन्तु इसने उनके पुत्रको घावोंकी पट्टियोका स्थान बना दिया, जरा कार्यकी इस उलट-पुलटको तो देखो ॥३४३॥ सब शत्रुओंको जीतनेवाले जयकुमारने अग्निपर पड़ते हुए पतगके समान तथा हथियाररहित अर्ककीर्तिको अपने रथमें डालकर और स्वयं एक ऊँचे हाथीपर आरूढ होकर सिहके समान पराक्रमी शत्रुभूत विद्याधर राजाओंको वरुणके

---

१ अर्द्धचन्द्रशरम् । २ सहस्ररवि । ३ जयकुमार । ४ वज्रकाण्डकोदण्डे । ५ प्रवर्तयन् । ६ चक्रिण. । ७ जयेन । ८ सम्भ्रान्तिम् । ९ उत्पादितवान् । १० अर्द्धचन्द्रबाण । ११ कृतग्रहणम् । दन्तग्रह ल० । १२ गजबन्धनकुशलै । १३ अपगतशस्त्रैः । १४ अर्ककीर्तिम् । १५ ग्राहयति स्म । १६ धृष्टत्वात् । १७ पतत्सूर्यसदृशम् । १८ पाशपाणिवत् भवन्तीत्यर्थ । 'प्रचेता. वरुण पाशी यादसा पतिरप्पति.' इत्यभिधानात् । १९ नियमितवान् ।

इति सौलोचने[1] युद्धे समिद्धे शमिते[2] तदा । पपात[3] पञ्चभूजेभ्यो वृष्टिः सुमनसां दिवः[4] ॥३४६॥
जयश्रीर्दुर्जयस्वामितनूजविजयार्जिता । नोत्सेकायेति[5] नास्यैनं[6] त्रपैव[7] प्रत्युताश्रयत् ॥३४७॥
[8]जयेनास्थान[9]सङ्ग्रामजयायातेति लज्जया । दूरीकृतेव तत्कीर्तिर्दिगन्तमगमत्तदा ॥३४८॥
अकम्पनमहीशस्य यूथेशं[10] वा वनद्विपैः । भूपैः संयमितैः[11] सार्धमर्ककीर्तिं समर्प्य सः ॥३४९॥
विजयार्द्धमहागन्धसिन्धुरस्कन्धसंश्रुतः । निर्भर्त्सितोदय[12]क्ष्माभृन्मूर्धस्थब्रध्न[13]मण्डलः ॥३५०॥
रणभूमिं समालोक्य समन्ताद्बहुविस्मयः । मृतानां[14] प्रेतसंस्कारं[15] जीवतां जीविकाक्रियाम्[16] ॥३५१॥
कारयित्वा पुरीं सर्वसम्मदाविष्कृतोदयाम् । प्राविशन् प्रकटैश्वर्यः सह मेघप्रभादिभिः ॥३५२॥
अकम्पनोऽप्यनुप्राप्य[17] वृतैरन्तःससाकुल । राजकण्ठीरवै[18]र्वामा[19] राजपुत्रशतैः[20] पुरम् ॥३५३॥
सरक्षान् धृतभूपालान् कुमारं च नियोगिभिः । आश्वास्याश्वासकुशलैर्यथा स्थानमवापयन् ॥३५४॥
विचिन्त्य विश्वविघ्नानां विनाशोऽर्हत्प्रसादतः । इति वन्दितुमाजग्मुः सर्वे नित्यमनोहरम्[21] ॥३५५॥
दूरादेवावरुह्यात्मवाहेभ्यः[22] शान्तचेतसः । परीत्यार्थाभिरागत्य[23] तुष्टुवुः स्तुतिभिर्जिनान् ॥३५६॥

समान नागपाशसे इस प्रकार बाँधा जिससे वे हिल-डुल न सके ॥३४४–३४५॥ इस प्रकार जब सुलोचना-सम्बन्धी प्रचण्ड युद्ध शान्त हो गया तब स्वर्गके पाँच प्रकारके कल्पवृक्षोंसे फूलोकी वर्षा हुई ॥३४६॥ अपने दुर्जेय स्वामी (भरत) के पुत्र अर्ककीर्तिके जीतनेसे उत्पन्न हुई विजयलक्ष्मी जयकुमारके अहंकारके लिए नही हुई थी बल्कि इसके विपरीत लज्जाने ही उसे आ घेरा था ॥३४७॥ 'यह अयोग्य समयमे किये हुए संग्रामके जीतनेसे आयी है' इस लज्जाके कारण जयकुमारके द्वारा दूर की हुई के समान उसकी वह कीर्ति उसी समय दिशाओके अन्त तक चली गयी थी ॥३४८॥ जिस प्रकार समर्थ पुरुष जंगली हाथियोके समान झुण्डके मालिक बड़े हाथीको पकड़कर राजाके लिए सौंपते है उसी प्रकार जयकुमारने बँधे हुए अनेक राजाओंके साथ अर्ककीर्तिको महाराज अकम्पनके लिए सौंप दिया, तदनन्तर उदयाचलके शिखरपर स्थित सूर्यमण्डलको तिरस्कृत करता हुआ विजयार्ध नामके बड़े भारी मदोन्मत्त हाथीके स्कन्धपर सवार होकर युद्धका मैदान देखनेके लिए निकला, चारो ओरसे युद्धका मैदान देखकर उसे बहुत आश्चर्य हुआ, उसने मरे हुए लोगोंका दाहसंस्कार कराया और जीवित पुरुषोके अच्छे होनेका उपाय कराया, इस प्रकार जिसका ऐश्वर्य प्रकट हो रहा है ऐसे जयकुमारने मेघप्रभ आदिके साथ-साथ सबको आनन्द मिलनेसे जिसकी शोभा खूब प्रकट की गयी है ऐसी काशीनगरीमे प्रवेश किया ॥३४९–३५२॥ महाराज अकम्पनने भी सैकड़ो राजपुत्रों तथा सिंहके समान तेजस्वी राजाओके साथ-साथ नगरमे पहुँचकर रक्षा करनेवाले जिनके साथ है ऐसे बँधे हुए अनेक राजाओ तथा अर्ककीर्तिको समझानेमे कुशल नियुक्त किये हुए पुरुषों-द्वारा समझा-बुझाकर उन्हे उनके योग्य स्थानपर पहुँचाया ॥३५३–३५४॥ अरहन्तदेवके प्रसादसे ही सब विघ्नोंका नाश होता है ऐसा विचारकर सब लोग वन्दना करनेके लिए नित्यमनोहर नामके चैत्यालयमे आये ॥३५५॥ उन सभीने दूरसे ही अपनी-अपनी सवारियोसे उतरकर शान्तचित्त हो मन्दिरमें प्रवेश किया और प्रदक्षिणाएँ देकर अर्थसे भरी हुई स्तुतियोसे जिनेन्द्रदेवकी स्तुति की ॥३५६॥

---

१ सुलोचनासम्बन्धिनि । २ उपशान्ते । ३ 'मन्दार. पारिजातक. । सन्तान कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनम्' इति पञ्चसुरभूजेभ्य । ४ स्वर्गात् । ५ गर्वाय । ६ तस्यैनम् ल० । एनम् जयकुमारम् । ७ पुन. किमिति चेत् । ८ जयकुमारेण । ९ अनुचितस्थानकृतयुद्धविजयात् समुपागता । १० गजयूथाधिपम् । ११ बद्धै. । १२ उदयाचल । १३ रवि । १४ शव । १५ जीवन्तीति जीवन्तस्तेषाम् । १६ जीवनोपायमित्यर्थ । १७ अभिलक्षितैः । १८ इव । १९ सह । २० सहस्रै. । २१ नित्यमनोहराख्यं चैत्यालयम् । २२ निजवाहनेभ्य. । २३ स्तुतिं चक्रु ।

विदित्वा विष्टराकम्पाज्जयं संप्राप्य सादरः । नागपाशं शरं चार्द्धचन्द्रं दत्त्वा ययावसौ ॥३३५॥
तं[1] [2]सहस्रसहस्रांशुस्फुरदंशुप्रभास्वरम् । कौरवः[3] शरमादाय वज्रकाण्डे[4] प्रयोजयन्[5] ॥३३६॥
हत एव सुतो[6] भर्त्तुर्भुवोऽनेन[7] नेति सम्भ्रमम्[8] । नरविद्याधराधीशां महान्तमुदपादयन्[9] ॥३३७॥
रथान्नव तथा दुष्टानष्टचन्द्रान् ससारथीन् । स[10] शरो भस्मयामास शस्त्राणि च यथाऽशनिः ॥३३८॥
छिन्नदन्तकरो दन्तीवान्तको वा हतायुधः । भग्नमानः कुमारोऽस्थाद् धिक्कष्टं चेष्टितं विधेः ॥३३९॥
इति दत्तग्रहं[11] वीरं गजं वा पादपाशकैः[12] । [13]अपायुधैरुपायज्ञैर्विधिज्ञस्तम[14]जीग्रहत्[15] ॥३४०॥
तच्छौर्यं यत्पराभूतेः प्राक् प्राप्तपरिभूतिभिः । यत्पश्चात्साहसं धाष्टर्यात्[16] स द्वितीयः पराभवः ॥३४१॥
सोऽन्वयः स पिता तादृक् पदं सा सैन्यसंहतिः । तस्याप्यासीदवस्थेयमुन्मार्गः कं न पीडयेत् ॥३४२॥
वीरपट्टेन बद्धोऽयं चक्रिणानेन तत्सुत । व्रणपट्टपदं नीतः पश्य कार्यविपर्ययम् ॥३४३॥
[17]पतत्पतङ्गसङ्काशमर्ककीर्तिमनायुधम् । स्वरथे स्थापयित्वोच्चैरारुह्यानेकपं स्वयम् ॥३४४॥
विपक्षखगभूपालान् नागपाशेन पाशिवत्[18] । निष्पन्दं निर्जितारातिर्न्यमंसीत्[19] सिंहविक्रमान् ॥३४५॥

और न यह विद्या ही है ऐसा समझकर जयकुमार स्वय युद्धके लिए तैयार हुआ, उसी समय उसका मित्र सर्पका जीव जो कि देव हुआ था आसन कम्पित होनेसे सब समाचार जानकर बड़े आदरके साथ जयकुमारके पास आया और नागपाश तथा अर्द्धचन्द्र नामका बाण देकर चला गया ॥३३४-३३५॥ जो हजार सूर्यकी चमकती हुई किरणोके समान देदीप्यमान हो रहा था ऐसा वह बाण लेकर जयकुमारने अपने वज्रकाण्ड नामके धनुषपर चढ़ाया ॥३३६॥ इस बाणसे चक्रवर्तीका पुत्र अवश्य ही मारा जायेगा यह जानकर भूमिगोचरी और विद्याधरोके अधिपति राजाओने बड़ा भारी क्षोभ उत्पन्न किया ॥३३७॥ उस बाणने नौ रथ, सारथिसहित आठो अर्धचन्द्र और सब बाण वज्रकी तरह भस्म कर दिये ॥३३८॥ जिसका मान भंग हो गया है ऐसा अर्ककीर्ति, जिसके दॉत और सूँड़ कट गये है ऐसे हाथीके समान अथवा जिसका शस्त्र नष्ट हो गया है ऐसे यमराजकी तरह चेष्टारहित खड़ा था इसलिए कहना पड़ता है कि दैवकी इस दु.ख देनेवाली चेष्टाको धिक्कार हो ॥३३९॥ जिस प्रकार शस्त्ररहित किन्तु उपायको जाननेवाले पुरुष पैरोकी पाशसे दॉतोको दबोचकर वीर हाथको पकड़ लेते है उसी प्रकार जयकुमारने अर्ककीर्तिको पकड़ लिया ॥३४०॥ तिरस्कार होनेके पहले-पहले जो लड़ना है वह शूरवीरता है और तिरस्कार प्राप्त कर धृष्टतावश जो पीछेसे लड़ता है वह दूसरा तिरस्कार है ॥३४१॥ यद्यपि उस अर्ककीर्तिका लोकोत्तर वंश था, चक्रवर्ती पिता थे, युवराज पद था और भारी सेनाका समूह उसके पास था तो भी उसकी यह दशा हुई इससे कहना पड़ता है कि दुराचार किसे पीड़ित नही करता है ? ॥३४२॥ चक्रवर्तीने जयकुमारको वीरपट्ट बाँधा था परन्तु इसने उनके पुत्रको घावोंकी पट्टियोका स्थान बना दिया, जरा कार्यकी इस उलट-पुलटको तो देखो ॥३४३॥ सब शत्रुओको जीतनेवाले जयकुमारने अग्निपर पड़ते हुए पतगके समान तथा हथियाररहित अर्ककीर्तिको अपने रथमे डालकर और स्वय एक ऊँचे हाथीपर आरूढ होकर सिहके समान पराक्रमी शत्रुभूत विद्याधर राजाओको वरुणके

१ अर्द्धचन्द्रशरम् । २ सहस्त्ररवि । ३ जयकुमार । ४ वज्रकाण्डकोदण्डे । ५ प्रवर्तयन् । ६ चक्रिण । ७ जयेन । ८ सम्भ्रान्तिम् । ९ उत्पादितवान् । १० अर्द्धचन्द्रबाण. । ११ कृतग्रहणम् । दन्तग्रह ल० । १२ गजबन्धनकुशलै. । १३ अपगतशस्त्रैः । १४ अर्ककीर्तिम् । १५ ग्राहयति स्म । १६ धृष्टत्वात् । १७ पतत्सूर्यसदृशम् । १८ पाशपाणिवत् भवन्तीत्यर्थ । 'प्रचेता. वरुण पाशी यादसा पतिरप्पति.' इत्यभिधानात् । १९ नियमितवान् ।

इति [1]सुलोचने युद्धे समिद्धे शमिते[2] तदा। पपात [3]पञ्चभूजेभ्यो वृष्टिः सुमनसां दिवः[4] ॥३४६॥
जयश्रीर्दुर्जयस्वामितनूजविजयार्जिता। नोत्सेकायेति[5] नास्यैनं[6] त्रपैव [7]प्रत्युताश्रयत् ॥३४७॥
[8]जयेनास्थान[9]संग्रामजयायातेति लज्जया। दूरीकृतेव तत्कीर्तिर्दिगन्तमगमत्तदा ॥३४८॥
अकम्पनमहीशस्य यूथेशं[10] वा वनद्विपैः। भूपैः संयमितैः[11] सार्धमर्ककीर्तिं समर्प्य सः ॥३४९॥
विजयार्द्धमहागन्धसिन्धुरस्कन्दसंश्रुतः। निर्भर्त्सितोदय[12]क्ष्माभृन्मूर्धस्थब्रध्न[13]मण्डलः ॥३५०॥
रणभूमिं समालोक्य समन्ताद्बहुविस्मयः। मृतानां[14] प्रेतसंस्कारं[15] जीवतां जीविकाक्रियाम्[16] ॥३५१॥
कारयित्वा पुरीं सर्वसम्मदाविष्कृतोदयाम्। प्राविशत् प्रकटैश्वर्यः सह मेघप्रभादिभिः ॥३५२॥
अकम्पनोऽप्यनुप्राप्य[17] वृतैरन्तःससाकुल। राजकण्ठीरवै[18]र्वामा[19] राजपुत्रशतैः[20] पुरम् ॥३५३॥
सरक्षान् धृतभूपालान् कुमारं च नियोगिभिः। आश्वास्याश्वासकुशलैर्यथा स्थानमवापयत् ॥३५४॥
विचिन्त्य विश्वविघ्नानां विनाशोऽर्हत्प्रसादतः। इति वन्दितुमाजग्मुः सर्वे नित्यमनोहरम्[21] ॥३५५॥
दूरादेवावरुह्यात्मवाहेभ्यः[22] शान्तचेतसः। परीत्यार्थाभिरागत्य[23] तुष्टुवुः स्तुतिभिर्जिनान् ॥३५६॥

समान नागपाशसे इस प्रकार बाँधा जिससे वे हिल-डुल न सके ॥३४४–३४५॥ इस प्रकार जब सुलोचना-सम्बन्धी प्रचण्ड युद्ध शान्त हो गया तब स्वर्गके पाँच प्रकारके कल्पवृक्षोंसे फूलोकी वर्षा हुई ॥३४६॥ अपने दुर्जेय स्वामी (भरत) के पुत्र अर्ककीर्तिके जीतनेसे उत्पन्न हुई विजयलक्ष्मी जयकुमारके अहंकारके लिए नही हुई थी वल्कि इसके विपरीत लज्जाने ही उसे आ घेरा था ॥३४७॥ 'यह अयोग्य समयमे किये हुए संग्रामके जीतनेसे आयी है' इस लज्जाके कारण जयकुमारके द्वारा दूर की हुई के समान उसकी वह कीर्ति उसी समय दिशाओके अन्त तक चली गयी थी ॥३४८॥ जिस प्रकार समर्थ पुरुष जंगली हाथियोके समान झुण्डके मालिक वड़े हाथीको पकड़कर राजाके लिए सौंपते हैं उसी प्रकार जयकुमारने वँधे हुए अनेक राजाओंके साथ अर्ककीर्तिको महाराज अकम्पनके लिए सौंप दिया, तदनन्तर उदयाचलके शिखरपर स्थित सूर्यमण्डलको तिरस्कृत करता हुआ विजयार्ध नामके वड़े भारी मदोन्मत्त हाथीके स्कन्धपर सवार होकर युद्धका मैदान देखनेके लिए निकला, चारो ओरसे युद्धका मैदान देखकर उसे वहुत आश्चर्य हुआ, उसने मरे हुए लोगोंका दाहसस्कार कराया और जीवित पुरुषोके अच्छे होनेका उपाय कराया, इस प्रकार जिसका ऐश्वर्य प्रकट हो रहा है ऐसे जयकुमारने मेघप्रभ आदिके साथ-साथ सवको आनन्द मिलनेसे जिसकी शोभा खूब प्रकट की गयी है ऐसी काशीनगरीमे प्रवेश किया ॥३४९–३५२॥ महाराज अकम्पनने भी सैकड़ो राजपुत्रो तथा सिंहके समान तेजस्वी राजाओके साथ-साथ नगरमें पहुँचकर रक्षा करनेवाले जिनके साथ हैं ऐसे वँधे हुए अनेक राजाओं तथा अर्ककीर्तिको समझानेमें कुशल नियुक्त किये हुए पुरुषो-द्वारा समझा-बुझाकर उन्हे उनके योग्य स्थानपर पहुँचाया ॥३५३–३५४॥ अरहन्तदेवके प्रसादसे ही सव विघ्नोंका नाश होता है ऐसा विचारकर सव लोग वन्दना करनेके लिए नित्यमनोहर नामके चैत्यालयमे आये ॥३५५॥ उन सभीने दूरसे ही अपनी-अपनी सवारियोंसे उतरकर शान्तचित्त हो मन्दिरमे प्रवेश किया और प्रदक्षिणाएँ देकर अर्थसे भरी हुई स्तुतियोसे जिनेन्द्रदेवकी स्तुति की ॥३५६॥

---

१ सुलोचनासम्वन्धिनि। २ उपशान्ते। ३ 'मन्दारः पारिजातक.। सन्तान' कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनम्' इति पञ्चसुरभूजेभ्य.। ४ स्वर्गात्। ५ गर्वाय। ६ तस्यैनम् ल०। एनम् जयकुमारम्। ७ पुन किमिति चेत्। ८ जयकुमारेण। ९ अनुचितस्थानकृतयुद्धविजयात् समुपागता। १० गजयूथाधिपम्। ११ वद्धैः। १२ उदयाचल। १३ रवि। १४ शव। १५ जीवन्तीति जीवन्तस्तेषाम्। १६ जीवनोपायमित्यर्थ.। १७ अभिलक्षितै.। १८ सिंह। १९ सह। २० सहस्रैः। २१ नित्यमनोहराख्यं चैत्यालयम्। २२ निजवाहनेभ्य.। २३ स्तुतिं चक्रु।

जयोऽपि जगदीशानमित्यात्त[1]विजयोदयः । [2]अस्तावीदस्तकर्माणं भक्तिनिर्भरचेतसा ॥३५७॥

वियोगिनी

शमिताखिलविघ्नसंस्तवस्त्वयि तुच्छोऽप्युपयात्यतुच्छताम् ।
शुचिशुक्तिपुटेऽम्बु संधृतं ननु मुक्ताफलतां प्रपद्यते ॥३५८॥

घटयन्ति न विघ्नकोटयो
निकटे त्वत्क्रमयोर्निवासिनाम् ।
पटवोऽपि फलं दवाग्निभि-
र्भयमस्त्य[3]म्बुधिमध्यवर्तिनाम् ॥३५९॥

हृदये त्वयि सन्निधापिते[4]
रिपवः केऽपि भयं[5] विधित्सवः[6] ।
अमृताशिषु[7] सत्सु सन्ततं
विषमोदार्पितविप्लवः कुतः ॥३६०॥

उपयान्ति समस्तसंपदो
विपदो विच्युतिमाप्नुवन्त्यलम् ।
वृषभं [8]वृषमार्गदेशिनं
झषकेतुद्विषमाप्नुषां[9] सताम् ॥३६१॥

वसन्ततिलकम्

इत्थं भवन्तमतिभक्तिपथं निनीषोः[10]
प्रागेव बन्धकलयः[11] प्रलयं व्रजन्ति ।
पश्चादनश्वरमयाचितमप्यवश्यं
[12]सम्पत्स्यतेऽस्य विलसद्गुणभद्रभद्रम्[13] ॥३६२॥

जिसे विजयका ऐश्वर्य प्राप्त हुआ है ऐसा जयकुमार भी भक्तिसे भरे हुए हृदयसे समस्त कर्मोंको नष्ट करनेवाले जगत्पति–जिनेन्द्रदेवकी इस प्रकार स्तुति करने लगा ॥३५७॥ हे समस्त विघ्नोंको नष्ट करनेवाले जिनेन्द्रदेव, आपके विषयमें किया हुआ स्तवन थोड़ा होकर भी बड़े महत्त्वको प्राप्त हो जाता है सो ठीक ही है क्योंकि पवित्र सीपके सम्पुटमें पड़ी हुई पानीकी एक बूँद भी मोतीपनेको प्राप्त हो जाती है–मोतीका रूप धारण कर लेती है ॥३५८॥ हे देव, फल देनेमे चतुर करोड़ो विघ्न भी आपके चरणोके समीप निवास करनेवाले पुरुषोको कुछ फल नही दे सकते सो ठीक ही है क्योंकि क्या समुद्रके बीचमे रहनेवाले लोगोको दावानलसे कभी भय होता है ? ॥३५९॥ हे प्रभो, आपको हृदयमे धारण करनेपर फिर ऐसे कौन शत्रु रह जाते है जो भय देनेकी इच्छा कर सके, निरन्तर अमृतभक्षण करनेवाले पुरुषोंमें किसी विषसे उत्पन्न हुआ उपद्रव कैसे हो सकता है ? ॥३६०॥ धर्मके मार्गका उपदेश देनेवाले और कामदेवके शत्रु श्रीवृषभदेवकी शरण लेनेवाले सज्जन पुरुषोको सब सम्पदाएँ अपने-आप मिल जाती है और उनकी सब आपत्तियाँ अच्छी तरह नष्ट हो जाती है ॥३६१॥ हे शोभायमान गुणोंसे कल्याण करनेवाले जिनेन्द्र, इस प्रकार जो आपको अतिशय भक्तिके मार्गमें ले जाना चाहता है उसके कर्मबन्धके सब दोष पहले-ही से प्रलयको प्राप्त हो जाते है और फिर पीछेसे कभी नष्ट नही होनेवाला मोक्षरूपी कल्याण विना माँगे ही अवश्य प्राप्त हो

---

१ प्राप्त । २ स्तौति स्म । ३ अस्ति किम् । ४ सन्निधानीकृते । ५ परिभवम् । ६ विधातुमिच्छवः । ७ अमृतमश्नन्तीति अमृताशिनस्तेषु । ८ धर्ममार्गोपदेशकम् । ९ प्राप्नुवताम् । १० नेतुमिच्छोः । ११ बन्धदोषाः । १२ सम्पन्नं भविष्यति । १३ कल्याणम् ।

मालिनी

परिणतपरितापास्वेदधारो विलक्षो[1]
[2]विगलितविभुभावो विह्वलीभूतचेताः ।
[3]अधित विधिविधानं[4] चिन्तयँश्चक्रिसूनु-
र्विरहविधुरवृत्तिं[5] वीरलक्ष्मीवियोगे ॥३६३॥

वसन्ततिलकम्

येषामयं[6] जितसुरः समरे सहाय-
स्तानप्यहं कृतरतिः समुपास्नयामि ।
[7]धुर्योऽयमेव यदि कोऽत्र विलम्बनेति
मत्वेव मङ्क्षु[9] समियाय जयं[10] जयश्रीः ॥३६४॥

मालिनी

स[11] [12]बहुतरमरा[13]जन्नोच्छ्रितान्[14] शत्रुपांसून्[15]
[16]द्रुतमिति समयित्वा वृष्टिभिः सायकानाम् ।
उपगतहरिभूमिः[17] प्राप्य भूरिप्रतापं[18]
दिनकर इव [19]कन्यासंप्रयोगाभिलाषी ॥३६५॥

शार्दूलविक्रीडितम्

सौभाग्येन यदा स्ववक्षसि धृता माला तदैवापरं
वीरो [20]वीध्रमवार्यवीर्यविभवो विभ्रश्य[21] विश्वद्विषः ।
वीरश्रीविहितं[22] दधौ स शिरसाऽम्लानं यशः शेखरं
लक्ष्मीमान् विदधाति साहससखः[23] किंवा न पुण्योदये[24] ॥३६६॥

जाता है ॥ ३६२ ॥ प्राप्त हुए सन्तापसे जिसे पसीना आ रहा है, जो लज्जित हो रहा है, 'मै सबका स्वामी हूँ' ऐसा अभिप्राय जिसका नष्ट हो गया है, जिसका चित्त विह्वल हो रहा है, और जो भाग्यकी गतिका विचार कर रहा है ऐसे अर्ककीर्तिने वीरलक्ष्मीका वियोग होनेपर उसके विरहसे विधुर वृत्ति धारण की थी ॥ ३६३ ॥ देवोको जीतनेवाला यह जयकुमार युद्धमें जिनकी सहायता करता है मैं उनकी भी बड़े प्रेमसे उपासना करती हूँ, फिर यदि यह ही सबमें मुख्य हो तो इसमे विलम्ब क्यों करना चाहिए ऐसा मानकर ही मानो विजयलक्ष्मी जयकुमारके पास बहुत शीघ्र आ गयी थी ॥ ३६४ ॥ इस प्रकार वाणोकी वर्षासे ऊपर उठी हुई शत्रुरूपी धूलिको शीघ्र ही नष्ट कर पराक्रमके द्वारा सिंहका स्थान प्राप्त करनेवाला और अब कन्याके संयोगका अभिलापी जयकुमार उस सूर्यकी तरह बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहा था जो कि सिंह राशिपर रहकर कन्या राशिपर आना चाहता है ॥३६५॥ जिसकी पराक्रमरूपी सम्पत्तिका कभी कोई निवारण नही कर सकता ऐसे शूरवीर जयकुमारने जिस समय सौभाग्यके वशसे अपने वक्षःस्थलपर माला धारण की थी उसी समय सब शत्रुओंको नष्ट कर वीरलक्ष्मीका बना हुआ तथा कभी नही मुरझानेवाला यशरूपी दूसरा सेहरा भी उसने अपने मस्तकपर धारण किया था, सो ठीक ही है क्योंकि जो लक्ष्मीमान् है, साहसका मित्र है और जिसके पुण्यका

१ विस्मयान्वित.। २ विभुत्वरहितः। ३ वरति स्म। ४ कर्मभेदम्। ५ विरहविक्लवस्य वर्तनम्। ६ जयकुमारः। ७ धुरंधरः। ८ कालक्षेप.। ९ शीघ्रम्। १० जयकुमारम्। ११ जयः। १२ अत्यधिकम्। १३ विराजति स्म। १४ उन्नतान्। १५ रेणून्। १६ शीघ्रम्। १७ प्राप्तशक्रपद.। प्राप्तसिंहराशिस्थानञ्च। १८ संतापम्, प्रभावम्। १९ सुलोचनासङ्गाभिलापी। कन्याराशिगतसंप्रयोगाभिलापी च। २० शुभ्रम्। २१ पातयित्वा। २२ कृतम्। २३ साहस एव सखा। २४ पुण्योदये ल०, अ०, प०, स०, इ०।

शिखरिणी

[1]जयोऽ[2]यात्सोऽयञ्च[3] प्रभवति गुणेभ्यो गुणगणः
सदाचारात्सोऽपि तव विहितवृत्तिः श्रुतमपि ।
प्रणीतं सर्वज्ञैर्विदितसकलास्ते खलु जिना-
स्ततस्तान् विद्वान् संश्रयतु जयमिच्छन् जय इव ॥३६७॥

इत्यार्षे त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते जयविजयवर्णनं नाम चतुश्चत्वारिंशत्तमं पर्व ॥४४॥

■

उदय है वह क्या नहीं कर सकता है ? ॥ ३६६ ॥ इस संसारमें विजय पुण्यसे होती है, वह पुण्य गुणोंसे होता है, गुणोंका समूह सदाचारसे होता है, उस सदाचारका निरूपण शास्त्रोंमें है, शास्त्र सर्वज्ञ देवके कहे हुए हैं और सर्वज्ञ सब पदार्थोंको जाननेवाले जिनेन्द्रदेव हैं इसलिए विजयकी इच्छा करनेवाले विद्वान् पुरुष जयकुमारके समान उन्हीं जिनेन्द्रदेवोंका आश्रय करें — उन्हींकी सेवा करें ॥ ३६७ ॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध गुणभद्राचार्य विरचित त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहके
हिन्दी भाषानुवादमें जयकुमारकी विजयका वर्णन करनेवाला
चौवालीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ।

■

१ विजयः । २ पुण्यात् । ३ पुण्यं च ।

तूर्यमङ्गलनिर्घोषैः पुरन्दर इवापरः । सुलोचनामिवान्यां स्वां प्रविश्य नगरीं जयः ॥१७७॥
राजगेहं महानन्दविधायि विविधर्द्धिभिः । [1]आवसत् कान्तया सार्द्धं नगर्या [2]हृदयं मुदा ॥१७८॥
तिथ्यादिपञ्चभिः[3] शुद्धैः शुद्धे लग्ने महोत्सवम् । सर्वसंतोषणं कृत्वा जिनपूजापुरःसरम् ॥१७९॥
विश्वमङ्गलसंपत्त्या स्वोचितासनसुस्थिताम् । हेमाङ्गदादिसांनिध्ये राजा जातमहोदयः[4] ॥१८०॥
सुलोचनां महादेवीं पट्टबन्धं [5]व्यधान्मुदा । स्त्रीषु सचितपुण्यासु पत्युरेतावती रतिः ॥१८१॥
हेमाङ्गदं [6]ससोदर्यमुपचर्य ससंभ्रमम् । पुरोभूय[7] स्वयं सर्वैर्भोग्यैः प्राघूर्णकोचितैः ॥१८२॥
नृत्यगीतसुखालापैर्वारणारोहणादिभिः । वनवापीसरःक्रीडाकन्दुकादिविनोदनैः ॥१८३॥
[8]अहानि स्थापयित्वैवं सुखेन कतिचित्कृती । तदीप्सितगजाश्वास्त्रगणिकाभूषणादिकम् ॥१८४॥
प्रदाय परिवारं च तोषयित्वा यथोचितम् । चतुर्विधेन[10] कोशेन[11] तत्पुरीं[12] तमजीगमत्[13] ॥१८५॥
सुखप्रमाणैः संप्राप्य दृष्ट्वा भूपं[14] ससुप्रभम्[15] । प्रणम्याह्लादयन्नस्थात् स वधूवरवार्तया ॥१८६॥
सुखं काले गलत्येवमकम्पनमहीपतिः । तदा संचिन्तयामास विरक्तः कामभोगयोः ॥१८७॥
अहो मया प्रमत्तेन विषयान्धेन नेक्षिता । कष्टं शरीरसंसारभोगनिस्सारता चिरम् ॥१८८॥

वाले पुरोहित, सौभाग्यवती स्त्रियाँ, मन्त्री और प्रसिद्ध-प्रसिद्ध सेठ लोग सामने खड़े होकर जिसे शेषाक्षत दे रहे हैं ऐसे उस जयकुमारने तुरही आदि मांगलिक बाजोंके शब्दोंके साथ-साथ दूसरे इन्द्रके समान अपनी उस हस्तिनागपुरीमें प्रवेश कर अनेक प्रकारकी विभूतियोंसे बहुत भारी आनन्द देनेवाले तथा उस नगरीके हृदयके समान अपने राजभवनमें प्रिया सुलोचनाके साथ-साथ बड़े आनन्दसे निवास किया ॥१६९–१७८॥

तदनन्तर बड़े भारी अभ्युदयको धारण करनेवाले महाराज जयकुमारने शुद्ध तिथि, शुद्ध नक्षत्र आदि पाँचों बातोंसे निर्दोष लग्नमें बड़ा भारी उत्सव कराकर सबको सन्तुष्ट किया और फिर जिनपूजापूर्वक सब मंगल-सम्पदाओंके साथ-साथ हेमांगद आदि भाइयोंके सामने ही अपने योग्य आसनपर बैठी हुई सुलोचनाको बड़े हर्षसे पट्टबन्ध बाँधा अर्थात् पट्टरानी बनाया सो ठीक ही है क्योंकि पुण्यसंचय करनेवाली स्त्रियोंमें पतिका ऐसा ही प्रेम होता है ॥१७९–१८१॥ उसके बाद कुशल जयकुमारने स्वयं आगे होकर पाहुनोंके योग्य सब प्रकारके भोगोपभोगोंसे, नृत्य, गीत और सुख देनेवाले वचनोंसे, हाथी आदिकी सवारीसे, वन, वापिका, तालाब आदिकी क्रीडाओंसे और गेंद आदिके खेलोंसे प्रसन्नतापूर्वक हेमांगद और उनके भाइयोंकी सेवा की, कुछ दिन तक उन्हें बड़े सुखसे रखा और फिर उनको अच्छे लगनेवाले हाथी, घोड़े, अस्त्र, गणिका तथा आभूषण आदि देकर उनके परिवारके लोगोंको यथायोग्य सन्तुष्ट किया और फिर रत्न, सोना, चाँदी तथा रुपये-पैसे आदि चारों प्रकारका खजाना साथ देकर उन्हें उनके नगर बनारसको विदा किया। ॥१८२–१८५॥ सुखपूर्वक कितने ही पड़ाव चलकर वे हेमांगद आदि बनारस पहुँचे और माता सुप्रभाके साथ राजा अकम्पनके दर्शन कर उन्हें प्रणाम किया और जयकुमार तथा सुलोचनाकी बातचीतसे माता-पिताको आनन्दित करते हुए रहने लगे ॥१८६॥

इस प्रकार सुखपूर्वक बहुत-सा समय व्यतीत होनेपर एक दिन महाराज अकम्पन काम-भोगोंसे विरक्त होकर इस प्रकार सोचने लगे ॥१८७॥ कि मुझ प्रमादीने विषयोंसे अन्धा

१ निवसति स्म । २ नगरीजनचित्ते इत्यर्थः । ३ तिथिग्रहनक्षत्रयोगकरणैः । तिथिनक्षत्रहोरावारमुहूर्तैर्वा । ४ महोत्सवे ल० । ५ चकार । ६ ससानुजम् । ७ अग्रे भूत्वा । पुरस्कृत्य वा । ८ अतिथिं । ९ दिनानि । १० रत्नसुवर्णरजतव्यवहारयोग्यनाणकम् इति चतुर्विधेन । ११ वाराणसीम् । १२ हेमाङ्गदम् । १३ गमयति स्म । १४ अकम्पनम् । १५ सुप्रभादेवीसहितम् ।

[1]आदावशुच्युपादानमशुच्यवयवात्मकम् । विश्वाशुचिकरं पापं दुःखदुश्चेष्टितालयम् ॥१८९॥
निरन्तरश्रवोत्कोथनवद्वारशरीरकम्[2] । [3]कृमिपुञ्जचितामस्मविष्ठानिष्ठं विनश्वरम् ॥१९०॥
[4]तदध्युष्य[5] जडो जन्तुस्तप्तः पञ्चेन्द्रियाग्निभिः । विश्वेन्धनैः[6] कुलिङ्गीव भूयोऽयान्[7] कुत्सितां गतिम् ॥
साऽऽशाखनिः[8] किलात्रैव[9] यत्र[10] [11]विश्वमणूपमम् । तां[12] पुपूर्षुः[13] किलाद्याहं धनैः संख्यातिवन्धनैः[14] ॥
[15]यदादाय भवेज्जन्मी यन्मुक्त्वा मुक्तिभागयम् । तद्याथात्म्यमिति[16] ज्ञात्वा कथं पुष्णाति[17] धीधनः ॥
हा हतोऽसि चिरं जन्तो मोहेनाद्यापि[18] ते यतः । नास्ति कायाशुचिज्ञानं तत्त्यागः[19] [20]क्वातिदुर्लभः ॥
दु·खी सुखी सुखी दुःखी दुःखी दु·ख्येव केवलम् । [21]धन्यधन्योऽधनो[22] धन्यो निर्धनो निर्धनः सदा ॥
एवंविधैस्त्रिभिर्जन्तुरीप्सितानीप्सितैश्चिरम् । [23]चतुर्थं भङ्गमप्राप्य बम्भ्रमीति भवार्णवे ॥१९६॥
[24]यां [25]वष्टययमसौ वष्टि [26]परं वष्टि स चापराम् । साऽपि वष्टयपरं कष्टमनिष्टेष्टपरम्परा[27] ॥१९७॥

होकर इतने दिन तक शरीर, संसार और भोगोकी असारता नही देखी यह वड़े खेदकी वात है ॥१८८॥ प्रथम तो यह शरीर अपवित्र उपादानों (माता-पिताके रज वीर्य) से बना है, फिर इसके सव अवयव अपवित्र है, यह सबको अपवित्र करनेवाला है, पापरूप है और दु ख देनेवाली खोटी-खोटी चेष्टाओंका घर है ॥१८९॥ इसके नौ द्वारोंसे सदा मल-मूत्र वहा करता है और अन्तमे यह विनश्वर शरीर कीड़ोंका समूह, चिताकी राख तथा विष्ठा वनकर नष्ट हो जानेवाला है ॥१९०॥ ऐसे शरीरमें रहकर यह मूर्ख प्राणी, जिनमें संसारके सव पदार्थ ईंधन रूप हैं ऐसी पाँचो इन्द्रियोकी अग्नियोसे तपाया जाकर कुलिंगी जीवके समान फिरसे नीच गतियोमे पहुँचता है ॥१९१॥ जिसमे यह सारा संसार एक परमाणुके समान है ऐसा वह प्रसिद्ध आशारूपी गढा इसी शरीरमे है, इसी आशारूपी गढेको मै आज थोड़े-से धनसे पूरा करना चाहता हूँ ॥१९२॥ जिस शरीरको लेकर यह जीव जन्म धारण करता है – संसारी वन जाता है और जिसे छोडकर यह जीव मुक्त हो जाता है इस प्रकार शरीरकी वास्तविकता जानकर भी वुद्धिमान् लोग न जाने क्यों उसका भरण-पोषण करते है ॥१९३॥ हे जीव, खेद है कि तू मोहकर्मके द्वारा चिरकालसे ठगा गया है, क्योकि तुझे आजतक भी अपने शरीरकी अपवित्रताका ज्ञान नही हो रहा है, जव यह बात है तव अत्यन्त दुर्लभ उसका त्याग भला कहाँ मिल सकता है ॥१९४॥ इस ससारमें जो दु·खी है वे सुखी हो जाते है, जो सुखी है वे दु·खी हो जाते है और कितने ही दु खी दु खी ही बने रहते है इसी प्रकार धनी निर्धन हो जाते है, निर्धन धनी हो जाते है और कितने ही निर्धन सदा निर्धन ही वने रहते है। इस तरह यह जीव जो सुखी है वह सुखी ही रहे और जो धनी है वह धनी ही बना रहे यह चौथा भंग नही पाकर केवल ऊपर कहे हुए तीन तरहके भंगोसे ही ससाररूपी समुद्रमे चिरकाल तक भ्रमण करता रहता है। ॥१९५–१९६॥ यह पुरुष जिस स्त्रीको चाहता है वह स्त्री किसी दूसरे पुरुषको चाहती है, जिसको वह चाहती है वह भी किसी अन्य स्त्रीको चाहता है इस प्रकार यह इष्ट अनिष्टकी

१ अशुचिशुक्रशोणितमुख्यकारणम् । २ पूतिगन्धित्वम् । ३ कृमीना पुञ्ज चितायां भस्म विष्ठा पुरीषो निष्ठायामन्ते यस्मिन् तत् । ४ तस्मिन् शरीरे । ५ स्थित्वा । ६ सकलविषयेन्धनै । ७ गच्छेत् । ८ अभिनिवेशाकर । ९ जन्तावेव । १० आशाखनौ । ११ सकलवस्तु । १२ आशाखनिम् । १३ पूरयितुमिच्छु । १४ गणनाविशेषै । १५ शरीरम् । १६ तच्छरीरस्य यथास्वरूपम् । १७ पुष्टिं नयति । १८ वैराग्योत्पन्नकालेऽपि । १९ शरीरत्यागः । २० कुत्रास्ति । २१ धनवान् । २२ धनरहित । २३ सुखी सुखीति धनी धनोति चतुर्थभेदम् । २४ स्त्रियम् । २५ वष्टि इच्छति । अयम् पुमान् । २६ अन्यपुरुषम् । २७ अनिष्टवाञ्छासंतति· । 'वष्टि योगेच्छयो·' इत्यभिधानात् ।

यदिष्टं तदनिष्टं स्याद् यदनिष्टं तदिष्यते[1]। इहेष्टानिष्टयोरिष्टा नियमेन न हि स्थितिः ॥१९८॥
[2]स सा[3]सा तत्तदेवैषा[5]सा स स्यात् सोऽपि[6]तत्पुनः। तत्स स्यात्तत्तदेवात्र[7] चक्रके[8] वक्रसंक्रमः ॥१९९॥
अन्तमस्य[9] विधास्यामि चिन्तयित्वा जिनोदितम्। संततं जन्मकान्तारभ्रान्तौ भीतोऽहमन्तकात् ॥२००॥
भोगोऽयं भोगिनो भोगो[10]भोगिनो[11] भोगिनामकृत्।[12]तावन्मात्रोऽपि नास्माकं भोगो भोगेष्विति ध्रुवम् ॥
भुज्यते[13]यः स भोगः स्याद् भुक्तिर्वा भोग[14] इष्यते। तद्द्वयं नरकेऽप्यस्ति तस्माद् भोगेषु का रतिः ॥२०२॥
भोगास्तृष्णाग्निसंवृद्ध्यै[15]दीपनीयौषधोपमाः।[16] एभिः प्रवृद्धतृष्णाग्नेः[17]शान्त्यै चिन्त्यमिहापरम् ॥२०३॥
इत्यतो न सुधीः सद्यो वान्ततृष्णाविषो भृशम्। हेमांगदं समाहूय[18]पूज्यपूजापुरस्सरम् ॥२०४॥
अभिषिच्य चलां मत्वा बध्वा पट्टेन वाऽचलम्[19]। लक्ष्मीं समर्प्य गत्वोच्चैरभ्यासं वृषभेशितुः ॥२०५॥
प्रव्रज्य बहुभिः सार्द्धं[20]मूर्धन्यैः स ससुप्रभः[21]। क्रमाच्छ्रेणी समारुह्य कैवल्यमुदपादयत् ॥२०६॥
अथ जन्मान्तरापातमहास्नेहातिनिर्भरः। सुलोचनाननानन्द[22] नेन्दुबिम्बात् स्रुतां[23] सुधाम्[24] ॥२०७॥
[25]उन्मीलन्नीलनीरेजराजिभिर्लोकनैः[26] पिबन्। पूरयन् श्रोत्रपात्राभ्यां[27]तद्गीर्गीतरसायनम् ॥२०८॥

परम्परा बहुत ही दु ख देनेवाली है ॥१९७॥ जो इष्ट है वह अनिष्ट हो जाता है और जो अनिष्ट है वह इष्ट हो जाता है, इस प्रकार ससारमे इष्ट-अनिष्टकी स्थिति किसी एक स्थानपर नियमित नही रहती ? ॥१९८॥ आजका पुरुष अगले जन्ममे स्त्री हो जाता है, स्त्री नपुंसक हो जाती है, नपुसक स्त्री हो जाता है, वही स्त्री फिर पुरुष हो जाता है, वह पुरुष भी नपुसक हो जाता है, वह नपुंसक फिर पुरुष हो जाता है अथवा नपुंसक नपुसक ही वना रहता है, इस प्रकार इस चक्रमे वड़ा टेढा संक्रमण करना पड़ता है ॥१९९॥ इसलिए श्रीजिनेन्द्रदेवके कहे हुए वचनोका चिन्तवन कर मै अवश्य ही इस संसारका अन्त करूँगा क्योकि निरन्तर ससाररूपी वनके भीतर परिभ्रमण करनेमे मै अव यमराजसे डर गया हूँ ॥२००॥ भोग करनेवाले मनुष्योके ये भोग ठीक सर्पके फणाके समान है और भोगनेवाले जीवको भोगी नाम देनेवाले है। तथा इतना सब होनेपर भी उन भोगोमे-से एक भोग भी हमारा नही है यह निश्चय है ॥२०१॥ जिसका भोग किया जाता है उसे भोग कहते है अथवा उपभोग किया जाना भोग कहलाता है वे दोनो प्रकारके भोग नरकमे भी है इसलिए उन भोगोमें क्या प्रेम करना है ? ॥२०२॥ जिस प्रकार औपधसे पेटकी अग्नि प्रदीप्त हो जाती है उसी प्रकार इन भोगोसे भी तृष्णारूपी अग्नि प्रदीप्त हो उठती है अत. इन भोगोसे बढ़ी हुई तृष्णारूपी अग्निकी शान्तिके लिए कोई दूसरा ही उपाय सोचना चाहिए ॥२०३॥ इस प्रकार तृष्णारूपी विपको उगल देनेवाले बुद्धिमान् राजा अकम्पनने बहुत शीघ्र हेमागदको बुलाकर पूज्य-परमेष्ठियोकी पूजापूर्वक उसका राज्याभिषेक किया, लक्ष्मीको चचल समझ पट्टबन्धसे बाँधकर उसे अचल बनाया और हेमागदको सौपकर श्रीभगवान् वृपभदेवके समीप जाकर अनेक राजाओ और रानी सुप्रभाके साथ दीक्षा धारण की तथा अनुक्रमसे श्रेणियाँ चढ़कर केवलज्ञान उत्पन्न किया ॥२०४–२०६॥

अथानन्तर अन्य जन्मसे आये हुए बहुत भारी स्नेहसे भरा हुआ जयकुमार खुले हुए नीलकमलोके समान सुशोभित होनेवाले अपने नेत्रोसे सुलोचनाके मुखरूपी आनन्ददायी

---

१ इष्ट भवति। २ स पुमान्। ३ सा स्त्री स्यात्। ४ तत् नपुंसकम्। ५ एपा स्त्री स्यात्। ६ तत् नपुंसकम्। ७ तदेव पुनर्पुंसकमेव स्यात्। ८ चक्रवदावर्तमानससारे। ९ ससारस्य। १० सर्पस्य। ११ भोगीति नामकृत्। भोगीति नामकर। सर्पनामकृदित्यर्थः। १२ भोगीनि नामकृन्मात्रोऽपि। १३ पदार्थ.। १४ पदार्थानुभवनक्रिया। १५ दीपनहेतु.। १६ भोगैः। १७ उपशान्तिकारणम्। १८ परमेष्ठीपूजापूर्वकम्। १९ निश्चल यथा भवति तथा। पट्टेन बद्ध्वा वा निबन्धन कृत्वेव समर्प्येति सवन्ध। २० क्षत्रियै। २१ सुप्रभादेवीसहित। २२ आनन्दहेतुचन्द्र। २३ निसृताम्। २४ कान्तिम्। २५ विकसन्नीलोत्पलवद्विराजमानै। २६ नेत्रै.। – लोचनै तं० विहा[illegible]। २७ सुलोचनावचनरूपगीतम्।

[1]हरन् करिकराकारकरालिङ्गनसंगतः[2] । [3]तद्गात्रकूपिकान्तःस्थं रसं [4]स्पर्शनवेदिनम् ॥२०९॥
तद्बिम्बाधरसम्भावितामृतास्वादनोत्सुकः । तद्वक्त्रवारिजामोदान्मोदमानोऽनिशं भृशम् ॥२१०॥
[5]अत्रैव न पुनर्नेति[6] मम वामासमागमः[7] । [8]स सुलोचनया स्वानि चक्षुरादीन्यतर्पयत् ॥२११॥
[9]प्रमाणकालभावेभ्यो यद्रतेः समता तयोः । ततः संभोगशृङ्गारवारांपारान्तगौ हि तौ ॥२१२॥

मालिनी

[10]अतिपरिणतरागा लोपितालेपनादिः[11]
स सकलकरणानां[12] गोचरीभूय[13] तस्याः ।
हितपरविषयाणां[14] सापि[15] [16]तस्यैवमेतौ
समरतिकृतसाराण्यन्वभूतां सुखानि ॥२१३॥
मनसि मनसिजस्यावापि[17] सौख्यं न ताभ्यां
पृथगनुगतभावैः[18] संगताभ्यां नितान्तम् ।
[19]करणसुखसुखैस्तैस्तन्मनः प्रीतिमापत्
भवति [20]परसुखं च क्वापि सौख्यं सुतृप्त्यै ॥२१४॥
शिशिरसुरभिमन्दोच्छ्वासजैः स्वैः समीरै-
[21]र्मृदुमधुरवचोभिः स्वादनीयप्रदेशैः ।
ललिततनुलताभ्यां मार्दवैकाकराभ्या-
मखिलमनयतां तौ सौख्यमात्मेन्द्रियाणि ॥२१५॥

चन्द्रमासे झरते हुए अमृतको पीता था, सुलोचनाके वचन और गीतरूपी रसायनको अपने कानरूपी पात्रोसे भरता था, हाथीकी सूँड़के समान आकारवाले हाथोंके आलिंगनसे युक्त हो स्पर्शन इन्द्रियसे जानने योग्य उसके शरीररूपी कुइँयाके भीतर रहनेवाले रसको ग्रहण करता था, बिम्बी फलके समान सुशोभित उसके ओठोमे रहनेवाले अमृतका आस्वाद लेनेमें सदा उत्सुक रहता था, उसके मुखरूपी कमलकी सुगन्धिसे रात-दिन अत्यन्त हर्षित होता रहता था और 'स्त्री समागम मुझे इसी भवमे है अन्यभवमें नही है, ऐसा मानकर ही मानो सुलोचनाके द्वारा अपनी चक्षु आदि इन्द्रियोको सन्तुष्ट करता रहता था ।।२०७–२११।। चूँकि प्रमाण, काल और भावसे इन दोनोके प्रेममे समानता थी इसलिए ही वे दोनो सम्भोग शृंगाररूपी समुद्रके अन्त तक पहुँच गये ।।२१२।। खूब बढे हुए प्रेमसे जिसने विलेपन आदि छोड़ दिया है ऐसा वह जयकुमार सुलोचनाकी सब इन्द्रियोका विषय रहता था और सुलोचना भी जयकुमारके हित करनेवाले विषयोमे तत्पर रहती थी इस प्रकार ये दोनो ही समान प्रीति करना ही जिनका सारभाग है ऐसे सुखोका उपभोग करते थे ।।२१३।। पृथक्-पृथक् उत्पन्न हुए परिणामोसे खूब मिले हुए उन दोनोने अपने मनमे कामदेवका सुख नही पाया था किन्तु इन्द्रियोसे उत्पन्न हुए उन-उन सुखोसे उनके मन प्रीतिको अवश्य प्राप्त हुए थे सो ठीक ही है क्योकि दूसरेके द्वारा उत्पन्न हुआ सुख क्या कही उत्तम तृप्तिके लिए हो सकता है ? ।।२१४।। अपने श्वासोच्छ्वासके उत्पन्न हुए शीतल सुगन्धित और मन्द पवनसे, कोमल और मधुर वचनोंसे, स्वाद

---

१ स्वीकुर्वन् । २ आलिङ्गने हृदयङ्गम 'सगत हृदयङ्गमम्' इत्यभिधानात् । ३ सुलोचनाशरीररसकूपमध्यस्थित । ४ स्पर्शजनकम् । ५ इह जन्मन्येव । ६ उत्तरभवे नास्तीति वा । ७ स्त्रीसंग । 'प्रतीपदर्शिनी वामा वनिता महिला तथा' इत्यभिधानात् । ८ विजय । ९ योनिपुष्पादिप्रमाणात् समरतिप्रभृतिकालात् अन्योन्यानुरागादिभावाच्च । १० अतीव प्रवृद्ध । ११ लुप्तश्रीखण्डकुंकुमचर्चामाल्याभरणादि । १२ समस्तेन्द्रियाणाम् । १३ विषयीभूत्वा । १४ हितस्रक्चन्दनादिविषयाणाम् । १५ सुलोचनापि । १६ जयस्य । १७ न प्राप्यते स्म । १८ पदार्थैं । १९ इन्द्रियोपायजनितसुखै । २० परम् अन्यवस्तु सुख द्वारमुपायो यस्य तत् । परसुख क्वापि भवति न कुत्रापीत्यर्थः । २१ आस्वादितु योग्याधरादिप्रदेशै ।

हृतसरसिजसारैरिष्टचेटीयमानैः[1]
संततरतनिमित्तैर्जाल[2]मार्गप्रवृत्तैः ।
मृदुशिशिरतरैः संप्रापतुस्तौ समीरैः
सुरत[3]विरतिजातस्वेदविच्छेदसौख्यम् ॥२१६॥

वसन्ततिलका

तां तस्य वृत्तिरनुवर्तयति स्म तस्या-
श्चैनं[4] तदेव रतितृप्तिनिमित्तमासीत् ।
[5]प्रेमापदत्र[6] निज[7]भावमचिन्त्यमन्त्य[8]-
सातोदयश्च भवभूतिफलं[9] तदेव ॥२१७॥
कामोऽगमत् सुरतवृत्तिषु तस्य शिष्य-
भावं सुधीरिति रतिश्च सुलोचनायाः ।
को गर्वमुद्वहति चेन्न वृथाभिमानी
स्वेष्टार्थसिद्धिविषयेषु गुणाधिकेषु ॥२१८॥
एवं सुखानि तनुजान्यनुभूय तौ च
[10]नैवेयतुश्चिररतेऽप्यभिलाषकोटिम्[11] ।
धिक्कष्टमिष्टविषयोत्थसुखं सुखाय
[12]तद्वीतविश्वविषयाय बुधा यतध्वम्[13] ॥२१९॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे जयसुलोचना-सुखानुभवव्यावर्णनं नाम पञ्चचत्वारिंशत्तमं पर्व ॥४५॥

लेने योग्य अधर आदि प्रदेशोंसे और कोमलताकी एक खान स्वरूप सुन्दर शरीररूपी लतासे वे दोनो अपनी इन्द्रियोंको समस्त सुख पहुँचाते थे ॥२१५॥ जिसने कमलका सार भाग हरण कर लिया है, जो प्रिय दासके समान आचरण करता है, निरन्तर सम्भोगका साधन रहता है, झरोखेके मार्गसे आता है और अत्यन्त कोमल (मन्द) तथा शीतल है ऐसे पवनसे वे दोनो ही सम्भोगके बाद उत्पन्न हुए पसीना सूखनेका सुख प्राप्त करते थे ॥२१६॥ जयकुमारकी प्रवृत्ति सुलोचनाके अनुकूल रहती थी और सुलोचनाकी प्रवृत्ति जयकुमारके अनुकूल रहती थी । उन दोनोका परस्पर एक दूसरेके अनुकूल रहना ही उनके रतिजन्य सन्तोषका कारण था जो चिन्तवनमे न आ सके ऐसा प्रेम इन्ही दम्पतियोंमें पूर्णताको प्राप्त हुआ था, इन्हींके सातावेदनीय-का अन्तिम उदय था और यही सब इनके जन्म लेनेका फल था ॥२१७॥ बुद्धिमान् कामदेव, सम्भोग चेष्टाओके समय जयकुमारका शिष्य बन गया था और रति सुलोचनाकी शिष्या बन गयी थी सो ठीक ही है क्योंकि मनुष्य यदि व्यर्थका अभिमानी न हो तो ऐसा कौन हो जो अपने इष्ट पदार्थकी सिद्धिके विषयभूत अधिक गुणवाले पुरुषोंके साथ अभिमान करे ? ॥२१८॥

इस प्रकार शरीरसे उत्पन्न हुए सुखोंका अनुभव कर चिरकाल तक रमण करनेपर भी वे दोनो इच्छाओंकी अन्तिम अवधिको प्राप्त नही थे – उनकी इच्छाएँ पूर्ण नहीं हुई थी । इसलिए कहना पडता है कि इष्ट विषयोंसे उत्पन्न हुए सुखको भी धिक्कार है । हे पण्डितो, तुम उसी सुखके लिए प्रयत्न करो जो कि संसारके सब विषयोंसे अतीत है ॥२१९॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवद्गुणभद्राचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण-सग्रहके हिन्दी भाषानुवादमे जयकुमार और सुलोचनाके सुखभोगका वर्णन करनेवाला पैतालीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ।

---

१ इष्टवयस्यायमानैः । २ गवाक्षपथ । ३ सुरतावसानजात । ४ अन्योन्यानुवर्तनमेव । ५ प्रापत् । ६ जयसुलोचनयो । ७ निजयोर्दम्पत्योर्भावो यत्र तत् । ८ अपश्चिमसुखोदयश्च । ९ जन्मप्राप्तिफलम् । १० नैव प्रापतु । ११ अन्तम् । १२ कारणात् । १३ प्रयत्नं कुरुध्वम् ।

षट्चत्वारिंशत्तमं पर्व

जयः प्रासादमध्यास्य [1]दन्तावलगतो मुदा । यदृच्छयाऽन्यदालोक्य गच्छन्तौ खगदम्पती [2] ॥१॥
हा मे प्रभावतीत्येतद् आलपन्नतिविह्वलः । [3]रतिमेवाहितः[4] सद्यः सहार्यीकृत्य मूर्च्छया ॥२॥
तथा [5]पारावतद्वन्द्वं [6]तत्रैवालोक्य कामिनी । हा मे रतिवरेत्युक्त्वा साऽपि मूर्च्छामुपागता ॥३॥
[7]दक्षचेटीजनक्षिप्रकृतशीतक्रिया क्रमात् । सद्यः कुमुदिनीवाप प्रबोधं शीतदीधितेः ॥४॥
[8]हिमचन्दनसंमिश्रवारिभिर्मन्दमारुतैः । सोऽप्यमूर्च्छो दिशः पश्यन् मन्दमन्दतनुत्रपः[9] ॥५॥
यूयं सर्वेऽपि [10]सायन्तनाम्भोजानुकृताननाः । किमेतदिति तत्सर्वं जानानोऽपि स नागरः[11] ॥६॥
अनेकानुनयोपायैर्गोत्रस्खलन[12]दुःखिताम् । सुलोचनां समाश्वास्य स्मरन् जन्मान्तरप्रियाम् ॥७॥
[13]आकारसंवृत्तिं कृत्वा तामेवालपयन्[14] स्थितः । वञ्चनाचुञ्चवः[15] सर्वे प्रायः कान्तासु कामिनः ॥८॥
तयोर्जन्मान्तरात्मीयवृत्तान्तस्मृत्यनन्तरम् । स्वर्गादनुगतो बोधस्तृतीयो[16] व्यक्तिमीयिवान्[17] ॥९॥
तद्विलोक्य सपत्न्योऽस्या[18] श्रीमती सशिवंकरा । पराश्च मत्सरोद्रेकादित्यन्योन्यं तदाब्रुवन्[19] ॥१०॥

अथानन्तर किसी अन्य समय जयकुमार अपने महलकी छतपर आरूढ हो शोभाके लिए बनवाये हुए कृत्रिम हाथीपर आनन्दसे बैठा था कि इतनेमे ही अपनी इच्छानुसार जाते हुए विद्याधर दम्पती दिखे, उन्हें देखकर 'हा मेरी 'प्रभावती' इस प्रकार कहता हुआ वह बहुत ही बेचैन हुआ और मूर्च्छाकी सहायता पाकर शीघ्र ही प्रेमको प्राप्त हुआ । भावार्थ–पूर्वभवका स्मरण होनेसे मूर्च्छित हो गया ॥१–२॥ इसी प्रकार सुलोचना भी उसी स्थानपर कबूतरोका युगल देखकर 'हा मेरे रतिवर' ऐसा कहकर मूर्च्छाको प्राप्त हो गयी ॥३॥ जिस प्रकार चन्द्रमासे कुमुदिनी शीघ्र ही प्रबोधको प्राप्त हो जाती है–खिल उठती है उसी प्रकार चतुर दासी जनोके द्वारा किये हुए शीतलोपचारके क्रमसे वह सुलोचना शीघ्र ही प्रबोधको प्राप्त हुई थी–मूर्च्छा-रहित हो गयी थी ॥४॥ कपूर और चन्दन मिले हुए जलसे तथा मन्द-मन्द वायुसे कुछ लज्जित हुआ और दिशाओकी ओर देखता हुआ वह जयकुमार भी मूर्च्छारहित हुआ ॥५॥ यद्यपि वह चतुर जयकुमार सब कुछ समझता था तथापि पूछने लगा कि तुम लोगोके मुँह सन्ध्याकालके कमलोंका अनुकरण क्यो कर रहे है ? अर्थात् कान्तिरहित क्यो हो रहे है ? ॥६॥ पतिके मुँहसे दूसरी स्त्रीका नाम निकल जानेके कारण दुःखी हुई सुलोचनाको जयकुमारने अनेक प्रकारके अनुनय-विनय आदि उपायोसे समझाया तथा दूसरे जन्मकी प्रिया प्रभावती समझकर अपने मुँह-का आकार छिपा वह उसीके साथ बातचीत करने लगा सो ठीक ही है क्योकि सभी कामी पुरुष स्त्रियोके ठगनेमे अत्यन्त चतुर होते है ॥७–८॥ उन दोनोके जन्मान्तर सम्बन्धी अपना समाचार स्मरण होनेके बाद ही स्वर्ग पर्यायसे सम्बन्ध रखनेवाला अवधिज्ञान भी प्रकट हो गया ॥९॥ यह सब देखकर श्रीमती शिवकरा तथा और भी जो सुलोचनाकी सौते थी वे उस समय ईर्ष्याके

---

१ शोभार्थं विन्यस्तकृत्रिमगज । दन्तावलमनो ल० । २ विद्याधरदम्पती । ३ प्रीतिम् । ४ प्राप्त । स्वीकृतो । ५ कपोत । ६ सौधाग्रे । ७ चतुर । ८ कर्पूर । ९ ईषल्लज्जावान् । १० अस्तमयकाल । ११ निपुण । १२ प्रभावतीति नामान्तरग्रहण, सुलोचनाया अग्रे प्रभावतीति अन्यस्त्रीनामग्रहण । १३ जन्मान्तरप्रियास्मरण-जातरोमाञ्चप्रभृत्याकारप्रावरणम् । १४ सम्भापयन् । 'सभाषणमाभापणमालाप कुरुकुञ्चिका' इति वैजयन्ती । १५ प्रतीता ।–चञ्चव ल० । १६ अवधिज्ञानम् । १७ गतवान् । १८ सुलोचनायाः । १९ ऊचू ।

स्त्रीषु मायेति या वार्ता सत्यां तामद्य कुर्वती । पतिमूर्च्छां स्वमूर्च्छायाः[1] प्रत्ययीकृत्य मायया ॥११॥
पश्य कृत्रिममूर्च्छात्तभावनाव्यक्तसंवृतिः । सन्ततान्तःस्थितप्रौढप्रेमप्रेरितचेतना[2] ॥१२॥
कन्याव्रतविलोपात्तगोत्रस्खलनदूषिता । पतिं रतिवरेत्युक्त्वाऽयान्मूर्च्छां[3] कुलदूषिणी ॥१३॥
इयं शीलवतीत्येनां[4] निस्स्वनन्[5] वर्णयत्ययम्[6] । प्रायो रक्तस्य दोषोऽपि गुणवत् प्रतिमान्यते ॥१४॥
प्रभावतीति संमुह्य[7] कितवः[8] कोपिनीमिमाम्[9] । प्रसिसादयिषुः[10] शोकं तत्प्रीत्या विदधाति नः ॥१५॥
[11]एतान् सर्वांस्तदालापान् जयोऽवधिविलोचन । विदित्वा सस्मितं पश्यन् प्रियायाः स्मेरमाननम् ॥१६॥
कान्ते जन्मान्तरावाप्तं विश्वं वृत्तान्तमावयोः । व्यावर्ण्येमां सभां तुष्टिकौतुकापहृतां कुरु ॥१७॥
इति [12]प्राचोदयत् साऽपि प्रिया तद्भाववेदिनी । कथां कथयितुं कृत्स्नां प्राक्रंस्त[13] कलभाषिणी ॥१८॥
इह जम्बूमति द्वीपे विदेहे प्राचि[14] पुष्कला-वती विषयमध्यस्था नगरी पुण्डरीकिणी ॥१९॥
तत्राभवत् प्रजापालः प्रजा राजा प्रपालयन् । फलं धर्मार्थकामानां स्वीकृत्य कृतिनां वर ॥२०॥
कुबेरमित्रस्तस्यासीद् राजश्रेष्ठी [15]प्रतिष्ठितः । द्वात्रिंशद्धनवत्याद्या भार्यास्तस्य मनःप्रियाः ॥२१॥
गृहे तस्य समुत्तुङ्गे नानाभवनवेष्टिते । वसन् रतिवरो नाम्ना धीमान् पारावतोत्तमः ॥२२॥

उद्रेकसे परस्परमें इस प्रकार कहने लगी ॥१०॥ देखो, यह सुलोचना मायाचारसे पतिकी मूर्च्छाको अपनी मूर्च्छाका कारण बनाकर 'स्त्रियोंमे माया रहती है' इस कहावतको कैसा सत्य सिद्ध कर रही है । और इस प्रकार जिसने कृत्रिम मूर्च्छाके द्वारा प्रकट हुई भावनाओका साफ-साफ संवरण कर लिया है, जिसकी चेतना सदासे हृदयमे वैठे हुए प्रौढ प्रेमसे प्रेरित हो रही है जो कन्याव्रतके भंग करनेसे प्राप्त हुए गोत्रस्खलन (भूलसे दूसरे पतिका नाम लेने) से दूषित है तथा कुलको दूषण लगानेवाली है ऐसी यह सुलोचना अपने पहलेके पतिको 'हे रतिवर' इस प्रकार कहकर वनावटी मूर्च्छाको प्राप्त हुई है ॥११–१३॥ यह जयकुमार इसे 'यह वड़ी शीलवती है, इस प्रकार कहता हुआ वर्णन करता है सो ठीक ही है क्योकि रागी पुरुषको प्राय. दोप भी गुणके समान जान पड़ते हैं ॥१४॥ 'हे प्रभावति' ऐसा कहकर मूर्च्छित हो, क्रोध करनेवाली इस सुलोचनाको प्रसन्न करनेकी इच्छा करता हुआ यह धूर्त कुमार उसके प्रेमसे ही हम लोगोको शोक उत्पन्न कर रहा है ॥१५॥ अवधिज्ञानरूपी नेत्रको धारण करनेवाला जयकुमार उन लोगोंकी इन सव वातोको जानकर मन्द हँसीके साथ-साथ सुलोचनाके मुसकुराते हुए मुखको देखता हुआ कहने लगा कि 'हे प्रिये ! तू हम दोनोके पूर्वभवका सव वृत्तान्त कहकर इस सभाको सन्तुष्ट तथा कौतुकके वशीभूत कर !' यह सुनकर पतिके अभिप्रायको जाननेवाली और मधुर भाषण करनेवाली सुलोचनाने भी पूर्वभवकी सब कथा कहनी प्रारम्भ की ॥१६–१८॥

इस जम्वू द्वीपके पूर्व विदेह क्षेत्रमें एक पुण्डरीकिणी नामकी नगरी है जो कि पुष्कलावती देशके मध्यमें स्थित है । उस नगरीका राजा प्रजापाल था जो कि समस्त प्रजाका पालन करता हुआ धर्म, अर्थ तथा कामका फल स्वीकार कर सव पुण्यवानोमे श्रेष्ठ था ॥१९–२०॥ उस राजाका कुवेरमित्र नामक एक प्रसिद्ध राजसेठ था और उसकी हृदयको प्रिय लगनेवाली धनवती आदि वत्तीस स्त्रियाँ थी ॥२१॥ अनेक भवनोसे घिरे हुए उस सेठके अत्यन्त ऊँचे महलमे एक रतिवर नामका कवूतर रहता था जो कि अतिशय वुद्धिमान् और सव कवूतरोमें

१ कारणीकृत्य 'प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञानविज्ञानहेतुपु' इत्यभिधानात् । २ रतिवरेत्युक्तपुरुषे प्रवृद्धस्नेहेन प्रेरितमनसा । ३ अगच्छत् । ४ –त्येवं ल० । –त्येता अ०, स०, इ०, प० । ५ निस्तनन् ट० । ब्रुवन् । ६ अनुरक्तस्य । ७ मूर्च्छां गत्वा । ८ धूर्त. । ९ प्रभावतीनामग्रहणात् कुपिताम् । १० प्रसादयितुमिच्छुः । ११ एनान् । १२ अवादीत् । १३ उपक्रान्तवती । १४ पूर्वविदेहे । १५ श्रीमानित्यर्थ. ।

कदाचिद् राजगेहागतेन वैश्येशिना स्वयम् । स्नेहेन सस्मितालापैः स्वहस्तेन समुद्धृतः ॥२३॥
कदाचित् कामिनीकान्तकराब्जार्पितशर्करा-संमिश्रितान् सुशालीयतण्डुलानभिभक्षयन् ॥२४॥
कदाचिच्छ्रेष्ठिनोद्दिष्टं[1] हेतुदृष्टान्तपूर्वकम् । अहिंसालक्षणं धर्मं भावयन् प्राणिनेहितम् ॥२५॥
कदाचिद् भवनायातयतिपादसरोजजम् । रेणुजालं[2] निराकुर्वन्[3] पक्षाभ्यां प्रत्युपागतः[4] ॥२६॥
स[5] कदाचिद् गतिः का स्यात् [6]पापापापात्मनामिति । कुतूहलेन पृष्टः सन् जनैस्तुण्डेन निर्दिशन् ॥२७॥
अधोभागमथोर्ध्वं च मौनीवागमपारगः । क्षयोपशममाहात्म्यात्तिर्यञ्चोऽपि विवेकिनः ॥२८॥
क्रीडन्नानाप्रकारेण कान्तया रतिषेणया[7] । सार्धमेवं चिरं तत्र सुखं कालमजीगमत्[8] ॥२९॥
असौ रतिवरः कान्तस्त्वमहं सा तव प्रिया । रतिषेणा भवावर्ते जन्तुः किं किं न जायते ॥३०॥
सुतः कुबेरमित्रस्य धनवत्याश्च पुण्यवान् । जातः कुबेरकान्ताख्यः कुबेरो[9] वा परः सुधीः ॥३१॥
द्वितीय इव तस्यासीत् प्राणः सोऽनुचराग्रणीः[10] । प्रियसेनाह्वयो बाल्यादारभ्य कृतसंगतिः ॥३२॥
आजन्मनः[11] कुमारस्य कामधेनुरनुत्तमा[12] । मनोऽभिलषितं दुग्धे समस्तसुखसाधनम् ॥३३॥
क्षेत्रं निष्पादयत्येकं गन्धशालिमनारतम् । इक्षूनमृतदेशीया[13]नन्यत्[14] स्थूलांस्तनुत्वचः ॥३४॥
स्वयं मनोहरं वीणा दन्ध्वनीति[15] निरन्तरम् । तत्स्नानसमये सर्वरोगस्वेदमलापहम् ॥३५॥

श्रेष्ठ था ॥२२॥ कभी तो राजभवनसे आये हुए सेठ कुबेरमित्र बडे स्नेहसे हँस-हँसकर वार्तालाप करते हुए उसे अपने हाथपर उठा लेते थे, कभी वह स्त्रियोंके सुन्दर करकमलों-द्वारा दिये हुए और शक्कर मिले हुए उत्तम धानके चावलोंको खाता था, कभी सेठके द्वारा हेतु तथा दृष्टान्तपूर्वक कहे हुए प्राणिहितकारी अहिंसा धर्मका चिन्तवन करता था, कभी भवनमें आये हुए मुनिराजके चरणकमलोंकी धूलिको उनके समीप जाकर अपने पंखोंसे दूर करता था, जब कभी कोई कुतूहलवश उससे पूछता था कि पापी तथा पुण्यात्मा लोगोंकी क्या गति होती है ? तब वह शास्त्रोंके जाननेवाले किसी मौनी महाशयके समान इशारेसे चोंचके द्वारा नीचेका भाग दिखाता हुआ पापी लोगोंकी गति कहता था और उसी चोंचके द्वारा ऊपरका भाग दिखलाता हुआ पुण्यात्मा लोगोंकी गति कहता था सो ठीक ही है क्योंकि क्षयोपशमके माहात्म्यसे तिर्यंच भी विवेकी हो जाते हैं ॥२३–२८॥ इस प्रकार वह कबूतर अपनी रतिषेणा नामकी कबूतरीके साथ नाना प्रकारकी क्रीड़ा करता हुआ वहाँ सुखसे समय बिताता था ॥२९॥ सुलोचना कह रही है कि वह रतिवर ही आप मेरे पति हैं और वह रतिषेणा ही मैं आपकी प्रिया हूँ। देखो इस संसाररूपी आवर्तमें भ्रमण करता हुआ यह जीव क्या-क्या नहीं होता है ? ॥३०॥ उस कुबेरदत्त सेठके धनवती स्त्रीसे एक कुबेरकान्त नामका पुत्र हुआ था जो कि अतिशय पुण्यवान्, बुद्धिमान् तथा दूसरे कुबेरके समान जान पड़ता था ॥३१॥ उस कुबेरकान्तका एक प्रियसेन नामका श्रेष्ठ मित्र था जो कि बाल्य अवस्थासे ही उसके साथ रहता था और उसके दूसरे प्राणोंके समान था ॥३२॥ एक अत्यन्त उत्तम कामधेनु कुमार कुबेरकान्तके जन्मसे ही लेकर उसकी इच्छाके अनुकूल सुखके सब साधनोंको पूरा करती थी। वह कामधेनु प्रति दिन एक खेत तो सुगन्धित धान्यका उत्पन्न करती थी और एक खेत अमृतके समान मीठे, पतले छिलकेवाले बड़े-बडे ईखोंका उत्पन्न करती थी ॥३३-३४॥ इसके सिवाय वही कामधेनु कुमारके सामने निरन्तर मनोहर वीणा बजाती थी, और उसी कामधेनुके प्रतापसे उसके स्नानके

---

१ दिष्ट–ल० । २ धूलिसमूहम् । ३ अपसारयन् । ४ अभिमुखागत सन् । ५ पारावतः । ६ अधार्मिकाणा धार्मिकाणाम् । ७ रतिषेणसञ्ज्ञया निजभार्यया पारावत्या । ८ गमयति स्म । ९ धनद इव । १० मित्र । ११ जननकालादारभ्य । १२ न विद्यते उत्तमा यस्याः सकाशात् इत्यनुत्तमा, अनुपमेत्यर्थः । १३ सुधासदृशान् । १४ पर द्वितीय क्षेत्रम् । १५ भृश ध्वनति ।

सुगन्धिसलिलं गाङ्गं[1] गम्भीरमधुरं[2] ध्वनन् । अम्भोधरो नभोभागादासन्नाद्वमुञ्चति ॥३६॥
कल्पद्रुमद्वयं वस्त्रभूषणानि प्रयच्छति । अन्नमानं ददात्यन्यद् द्वयं कल्पमहीरुहः[3] ॥३७॥
एवमन्यच्च भोगाङ्गमशेषं देवनिर्मितम् । [4]शश्वन्निर्विशतस्तस्य पूर्णं प्राथमिकं वयः ॥३८॥
तद्वीक्ष्य पितरावेष[5] किमेकामभिलाषुक.[6] । किं वह्वीरिति चित्तेन [7]संदिहानौ समाकुलौ ॥३९॥
प्रियसेनं[8] समाहूय तत्प्रश्नात्तन्मनोगतम्[9] । [10]अवादीधरतां मैत्री सैव या त्वेकचित्तता ॥४०॥
ततः समुद्रदत्ताख्यो धनवत्या[11] सहाभवत् ।-स्वसा[12] कुवेरमित्रस्य [13]तन्नामैवैतयोः[14] सुता ॥४१॥
प्रियदत्ताह्वया तस्याश्चेटिका[15] रतिकारिणी । कन्यकास्तां विधायादिं द्वात्रिंशत्सुन्दराकृतीः ॥४२॥
श्रेष्ठी कदाचिदुद्याने यक्षपूजाविधौ सुधीः । सुपरीक्ष्य निमित्तेन[16] प्रियदत्तां गुणान्विताम् ॥४३॥
अवधार्यास्य पुत्रस्य [17]पञ्चतारावलान्विते । दिने महाविभूत्यैनां[18] कल्याणविधिनाऽग्रहीत् ॥४४॥
तन्निमित्तपरीक्षायामवलोकितुमागते । सुते गुणवती राज्ञो[19] यशस्वन्यभिधा परा ॥४५॥
भाजनं[20] भक्ष्यसंपूर्णमदत्तवति[21] माकुले[22] (?) । स्वाभ्यां[23] लज्जामरानम्रवदने जातनिर्विदे[24] ॥४६॥

समय समीपवर्ती आकाशसे आकर मधुर तथा गम्भीर गर्जना करते हुए मेघ सब प्रकारके रोग, पसीना और मलको हरण करनेवाला गंगा नदीका सुगन्धित जल वरसाते थे ॥ ३५–३६ ॥ उस कुमारके लिए एक कल्पवृक्ष वस्त्र देता था, एक आभूपण देता था, एक अन्न देता था और एक पेय पदार्थ देता था ॥ ३७ ॥ इस प्रकार इनके सिवाय देवोके दिये हुए और भी सब प्रकार-के भोगोका निरन्तर उपभोग करते हुए उस कुमारकी पहली अवस्था पूर्ण हुई थी ॥ ३८ ॥ पहली अवस्थाको पूर्ण हुआ देखकर माता-पिताको चिन्ता हुई कि यह एक कन्या चाहता है अथवा बहुत । उसी चिन्तासे वे कुछ सन्देह कर रहे थे और कुछ व्याकुल भी हो रहे थे । उन्होने कुवेरकान्तके मित्र प्रियसेनको वुलाकर उसके मनकी बात पूछी और उसके कहनेपर उन्होंने निश्चय कर लिया कि इसके 'एक पत्नीव्रत है' – यह एक ही कन्या चाहता है, सो ठीक ही है क्योकि दोनोंका एक चित्त हो जाना ही मित्रता कहलाती है ॥ ३९–४० ॥

तदनन्तर – उसी नगरमे समुद्रदत्त नामका एक सेठ था, जो कि कुवेरमित्रकी स्त्री धन-वतीका भाई था और उसे कुवेरमित्रकी वहन कुवेरमित्रा व्याही गयी थी । इन दोनोके प्रियदत्ता नामकी एक पुत्री हुई थी और रतिकारिणी उसकी दासी थी । समुद्रदत्त सेठके प्रियदत्ता आदि वत्तीस कन्याएँ थी । किसी एक दिन उस वुद्धिमान् सेठने एक वागमें यक्षकी पूजा करते समय सुन्दर आकारवाली उन वत्तीसो कन्याओकी निमित्तवश परीक्षा की और उन सबमे प्रियदत्ता-को ही गुणयुक्त समझा । फिर सूर्य, चन्द्र, गुरु, शुक्र और मगल इन पॉचो ताराओंके वलसे सहित किसी शुभ दिनमें वडे वैभवके साथ कल्याण करनेवाली विधिसे उस प्रियदत्ताको अपने पुत्रके लिए स्वीकार किया ॥ ४१–४४ ॥ राजा प्रजापालकी गुणवती यशस्वती नामकी

---

१ गङ्गासवन्धि । २ गम्भीरं मधुरं व०, अ०, प०, स०, इ०, ल० । ३ कल्पवृक्षस्य । ४ अनुभवत । ५ जननीजनकौ । ६ एतामित्यपि पाठ । स्त्रियम् । ७ सन्देहं कुर्वन्तौ । ८ कुवेरकान्तस्य मित्रम् । ९ कुवेर-कान्तस्याभिप्रायम् । १० एकपत्नीव्रतधारणमित्यवधारितवन्तौ । ११ कुवेरमित्रस्य भार्यया धनवत्या सहोत्पन्न इत्यर्थः । १२ भगिनी । १३ कुवेरमित्राह्वया । १४ समुद्रदत्तकुवेरमित्रयो । १५ सखी । १६ द्वात्रिंशभाजनेषु विविधभक्ष्यपायसघृत पूरयित्वा एकस्मिन् भाजने अनर्घ्यं रत्न निक्षिप्य यक्षाग्रे संस्थाप्य द्वात्रिंशत्कन्यकानामेकै-कस्यै एकैकं भाजन दत्त यस्या हस्ते अनर्घ्य रत्नं समागतं सा मम पुत्रस्य प्रियेति सुपरीक्ष्य । १७ तिथ्यादि-पञ्चनक्षत्रबलान्विते । १८ प्रियदत्ताम् । १९ प्रजापालनृपस्य । २० भक्ष – ल०, व०, इ०, प०, अ०, स० । २१ अददति मति । २२ मातुले अ०, प०, म०, इ०, ल०, ट० । निज मामे श्रेष्ठिनि । २३ आत्मभ्याम् । २४ उत्पन्नवैराग्ये ।

अमितानन्तमत्यार्यिकाभ्याशे[1] संयमं परम्। आददाते स्म यात्येवं काले तस्मिन् महीपतिः ॥४७॥
लोकपालाय दत्त्वाऽऽत्मलक्ष्मीं संयममागते। शीलगुप्तगुरोः पार्श्वे शिवङ्करवनान्तरे ॥४८॥
देव्यः कनकमालाद्याः[2] परं[3] चोपाययुस्तपः। दुर्गमं च व्रजन्त्यल्पाः प्रभुर्गति पुरस्सरः ॥४९॥
लोकपालोऽपि संप्राप्तराज्यश्रीर्निश्रुतोदयः। कुबेरमित्रबुद्ध्यैव धरित्रीं प्रत्यपालयत् ॥५०॥
मन्त्री च फल्गुमत्याख्यो बालोऽसत्यवचः प्रियः। सवयस्को[4] नृपस्यान्यः[5] प्रकृत्या चपलः[6] खलः ॥५१॥
तत्समीपे[7] नृपेणामा यद्वा तद्वा[8] मुखागतः। शङ्कमानो वचो वक्तुं श्रेष्ठ्यपायं विचिन्त्य सः ॥५२॥
स्वीकृत्य[9] शयनाध्यक्षं[10] सामदानैस्त्वया निशि। देवतावत्तिरोभूय राजन् पितृसमं गुरुम्[11] ॥५३॥
विनयाद् विच्युतं राजश्रेष्ठिनं तव संनिधौ। विधाय सर्वथा मा स्थाः[12] कार्यकाले स हूयताम्[13] ॥५४॥
इति वक्तव्यमित्याख्यत्[14] सोऽपि सर्वं तथाकरोत्। अर्थार्थिभिरकर्तव्यं न लोके नाम किंचन ॥५५॥
श्रुत्वा तद्वचनं राजा[15] सभीराहूय मातुलम्। [16]नागन्तव्यमनाहूतैरित्यनालोच्य[17] सोऽब्रवीत् ॥५६॥
पश्चाद् विषविपाकिन्यः[18] प्रागनालोचितोक्तयः। श्रेष्ठी तद्वचनात् सद्यः सोद्वेगं[19] स्वगृहं ययौ ॥५७॥

दो कन्याएँ भी वह नैमित्तिक परीक्षा देखनेके लिए आयी थी, जब मामा कुबेरमित्रने भोजनसे भरे हुए पात्र उन्हे नही दिये तब अपने आप ही लज्जाके भारसे उनके मुख नीचे हो गये और उसी समय उन्हे वैराग्य उत्पन्न हो गया ॥ ४५–४६ ॥ उन्होंने उसी समय अमितमति और अनन्तमति आर्यिकाके समीप उत्तम संयम धारण कर लिया। इस प्रकार कितना ही समय व्यतीत होनेपर राजा प्रजापालने भी अपनी सब लक्ष्मी लोकपाल नामक पुत्रके लिए देकर शिवकर नामके वनमे शीलगुप्त नामक मुनिराजके समीप संयम धारण कर लिया। इसी प्रकार कनकमाला आदि रानियोने भी कठिन तपश्चरण धारण किया था सो ठीक ही है क्योकि यदि राजा आगे चलता है तो अल्प शक्तिके धारक लोग भी उसी कठिन रास्तेसे चलने लगते है ॥ ४७–४९ ॥ इधर जिसे राज्यलक्ष्मी प्राप्त हुई है और जिसका वैभव सब जगह प्रसिद्ध हो रहा है ऐसा राजा लोकपाल भी कुबेरमित्रकी सम्मतिके अनुसार ही पृथिवीका पालन करने लगा ॥ ५० ॥ उस राजाका फल्गुमति नामका एक मन्त्री था, जो अज्ञानी था, असत्य बोलनेवाला था, राजाकी समान उमरका था, मूर्ख था और स्वभावसे चंचल तथा दुर्जन था ॥ ५१ ॥ वह मन्त्री कुबेरदत्त सेठके सामने राजाके साथ मुँहपर आये हुए यद्वा-तद्वा वचन कहनेमे कुछ डरता था इसलिए वह सेठको राजाके पाससे हटाना चाहता था। उसने राजाके शयनगृहके मुख्य पहरेदारको समझा-बुझाकर और कुछ धन देकर अपने वश कर लिया, उसे समझाया कि तू रातके समय देवताके समान तिरोहित होकर राजासे कहना कि हे राजन्, राजसेठ कुबेरमित्र पिताके समान बड़े है, सदा अपने पास रखनेमे उनकी विनय नही हो पाती इसलिए उन्हे हमेशा अपने पास नही रखिए, कार्यके समय ही उन्हे बुलाया जाय इस प्रकार फल्गुमतिने शयनगृहके अध्यक्षसे कहा और उसने भी सब काम उसीके कहे अनुसार कर दिया सो ठीक ही है क्योकि धन चाहनेवाले लोगोके द्वारा नही करने योग्य कार्य इस संसारमे कुछ भी नही है ॥ ५२–५५ ॥ शयनगृहके अधिकारीकी बात सुनकर राजाको भी कुछ भय हुआ और उसने बिना विचारे ही मामा (कुबेरमित्र) को बुलाकर कह दिया कि आप बिना बुलाये न आवे ॥ ५६ ॥ जो बात पहले बिना विचार किये ही कही जाती है उसका फल पीछे विषके

---

१ समीपे। २ पुरो ल०। ३ प्राप्तवन्त.। ४ समानवयस्कः। ५ नृपश्चान्यः इत्यपि पाठः। द्वितीयो नृप। मन्त्रीत्यर्थ। ६ असमर्थ। ७ कुबेरमित्रसंनिधौ। ८ यत्किंचित्। ९ स्ववश कृत्वा। १० प्रियवचनसुवर्णरत्नादिदानै। ११ पूज्यम्। १२ मा स्म तिष्ठ। १३ आहूयताम्। १४ शयनाध्यक्षः। १५ सभय;। १६ अनाहूयमानै भवद्भिः। १७ अविचार्य। १८ विषवद् विपाकवत्य। १९ उद्वेगसहितम्।

राजा कदाचिदव्राजीद्[1] घटया ललिताख्यया। विहारार्थं वनं तत्र वाप्यामालोक्य विस्मयात् ॥५८॥
तटशुष्कांघ्रिपासन्नशाखाग्रस्थपरिस्फुरन्। पराघ्यर्वायसानीतपद्मरागमणिप्रभाम् ॥५९॥
मणिं मत्वा प्रविश्यान्तर्नेपु[3] केनाप्य[4] लम्भ्यसौ[5]। भ्रान्त्या प्रवर्तमानानां कुतः क्लेशाद् विना फलम् ॥६०॥
चिरं निरीक्ष्य निर्विण्णाः सर्वे ते पुरमागमन्। बुद्धिर्नाग्रेसरी यस्य[6] न निर्बन्धः[7] फलत्यसौ[8] ॥६१॥
कदाचिद् भूपतिः श्रेष्ठिसुतया[9] रक्तचित्तया। वसुमत्या विभावर्यामात्मसौभाग्यसूचिना ॥६२॥
क्रमेण[10] कुङ्कुमार्द्रेण ललाटे स्फुटमङ्कितः[11]। कान्ताः किं किं न कुर्वन्ति स्वभागपतिते नरे ॥६३॥
पट्टबन्धात् परं मत्वा तत्क्रमाङ्कं महीपतिः। प्रातरास्थानमध्यास्य मन्त्र्यादीनित्यबूबुधत् ॥६४॥
ललाटे यदि केनापि राजा पादेन ताडितः। कर्तव्यं तस्य किं वाच्यं[12] ततो मन्त्र्यब्रवीदिदम् ॥६५॥
पट्टात् ललाटो नान्येन स्पृश्यः स यदि ताडितः। पादेन केनचिद् वध्यः स प्राणान्तमिति स्फुटम् ॥६६॥
तदाकर्ण्याविधूयैनं[13] स्मितेनाहूय मातुलम्। नृपोऽप्राक्षीत् स[14] चाहैतत् प्रस्तुतं प्रस्तुतार्थवित् ॥६७॥
तस्य पूजा विधातव्या सर्वालंकारसंपदा। इति तद्वचनात्तुष्टा मणिवार्ता न्यवेदयत् ॥६८॥

समान होता है। राजाके वचन सुनकर सेठ भी दुःख सहित शीघ्र ही अपने घर चला गया ॥५७॥ किसी एक दिन राजा ललितघट नामक हाथीपर बैठकर विहार करनेके लिए वनमें गया, उस वनमें एक बावड़ी थी, उसके तटपर एक सूखा वृक्ष था, उसकी एक शाखा बावड़ीके निकटसे निकली थी, उस शाखाके अग्रभागपर एक कौवेने कहींसे देदीप्यमान बहुमूल्य पद्मराग मणि लाकर रख दी। बावडीमें उस मणिकी कान्ति पड रही थी, राजा तथा उसके सब साथियोने उस कान्तिको मणि समझा और यह देखकर सबको आश्चर्य हुआ – उस मणिको लेनेके लिए सब बावड़ीके भीतर घुसे परन्तु उनमे-से वह मणि किसीको भी नही मिलो सो ठीक ही है क्योकि भ्रान्तिसे प्रवृत्ति करनेवाले पुरुषोको क्लेशके सिवाय और क्या फल मिल सकता है ॥५८–६०॥ उन सब लोगोने बावडीमें वह मणि बहुत देर तक देखी परन्तु जब नही मिली तब उदास हो अपने नगरको लौट आये सो ठीक ही है क्योकि जिस प्रयत्नमे बुद्धि अग्रेसर नही होती वह प्रयत्न कभी सफल नही होता ॥६१॥ किसी समय प्रेमसे भरी हुई वसुमती नामकी सेठकी पुत्रीने रात्रिके समय अपने सौभाग्यको सूचित करनेवाले तथा कुकुमसे गीले अपने पैरसे राजाके ललाटमें स्पष्ट चिह्न बना दिया सो ठीक ही है क्योंकि पुरुषके अपने अधीन होनेपर स्त्रियाँ क्या-क्या नही करती है ? ॥६२–६३॥ राजाने उस पैरके चिह्नको पट्टबन्धसे भी अधिक माना और सवेरा होते ही सभामे बैठकर मन्त्री आदिसे इस प्रकार पूछा कि यदि कोई पैरसे राजाके ललाटपर ताड़न करे तो उसका क्या करना चाहिए ? यह सुनकर फल्गुमति मन्त्रीने कहा कि राजाका जो ललाट पट्टके सिवाय किसी अन्य वस्तुके द्वारा छुआ भी नही जा सकता उसे यदि किसीने पैरसे ताड़न किया है तो उसे प्राण निकलने तक मारना चाहिए ॥६४–६६॥ यह सुनकर राजाने उस मन्त्रीका तिरस्कार किया तथा मन्द-मन्द हँसीके साथ मामा कुबेरमित्रको बुलाकर उनसे सब हाल पूछा। प्रकृत बातको जाननेवाला कुबेरमित्र कहने लगा कि जिसने आपके शिरपर पैरसे प्रहार किया है उसकी सब प्रकारके आभूषणरूपी सम्पदासे पूजा करनी चाहिए। इस प्रकार उसके वचनोसे सन्तुष्ट होकर राजाने वनविहारके समय बावड़ीमे दिखनेवाले मणिकी

---

१. अगमत्। प्राव्राजीत् ल०। २ पराघ्यर्मिति पद्मरागस्य विशेषणम्। ३ ललितघटादिजनेषु। ४ लब्ध.। ५ मणि। ६ पुरुषस्य। तस्य ट०। ७ अविच्छिन्नप्रवृत्ति। ८ न फलप्रदो भवति। ९ निजभार्यया। १० पादेन। ११ ताडित इत्यर्थ.। १२ भवद्भिर्वक्तव्यम्। १३ परित्यज्य। १४ कुबेरमित्र.।

मणिर्न जलमध्येऽस्ति तटस्थतरुसंश्रितः । प्रभाव्याप्यामिति प्राह तद्विचिन्त्य[1] वणिग्वरः ॥६९॥
तदा कुबेरमित्रस्य प्रज्ञामज्ञानमात्मनः । दौष्ट्यं च मन्त्रिणो ज्ञात्वा पश्चात्तापान्महीपतिः ॥७०॥
पश्य धूर्तैरहं मूढो वञ्चितोऽस्मीति सर्वदा । श्रेष्ठिनं प्राप्तसंमानं[2] प्रत्यासन्नं व्यधात् सुधीः ॥७१॥
तन्त्रावायमहाभारं[3] तत्र प्रभृति भूपतिः । तस्मिन्नारोप्य निर्व्यग्रः सधर्मं काममन्वभूत् ॥७२॥
कदाचित् कान्तया दृष्टपलितो निजमूर्द्धनि । श्रेष्ठी तां सत्यमद्य त्वं धर्मपत्नीत्यभिष्टुवन् ॥७३॥
दृष्ट्वा विमोच्य[4] राजानं वरधर्मगुरोस्तपः[5] । सार्धं समुद्रदत्ताद्यैरादाय सुरभूधरे[6] ॥७४॥
[7]तावुभौ ब्रह्मलोकान्तेऽभूतां लौकान्तिकौ सुरौ । किं न साध्यं यथाकालपरिस्थित्या[8] मनीषिभिः ॥७५॥
अन्येद्युः प्रियदत्ताऽसौ[9] दत्त्वा दानं मुनीशिने । भक्त्या विपुलमत्याख्यचारणाय यथोचितम् ॥७६॥
संप्राप्य नवधा पुण्यं तपसः संनिधिर्मम । किमस्तीत्यब्रवीद् व्यक्तविनया मुनिपुङ्गवम् ॥७७॥
पुत्रलाभार्थि तच्चित्तं विदित्वाऽवधिलोचनः । वामेतरकरे धीमान् स्पष्टमङ्गुलिपञ्चकम् ॥७८॥
कनिष्ठामङ्गुलिं वामहस्तेऽसौ समदर्शयत् । पुत्रान्कालान्तरे पञ्च साऽऽचैकामात्मजामपि[10] ॥७९॥
ते[11] कदाचिज्जगत्पालचक्रेशस्य सुते समम् । अमितानन्तमत्याख्ये[12] गुणज्ञे गुणभूषणे ॥८०॥

बात निवेदन की ॥६७–६८॥ वैश्योमे श्रेष्ठ कुबेरमित्रने विचारकर कहा कि वह मणि पानीके भीतर नही थी किनारेपर खडे हुए वृक्षपर थी, बावड़ीमें केवल उसकी कान्ति पड़ रही थी ॥६९॥ यह सुनकर उस समय राजा लोकपाल कुबेरमित्रकी बुद्धिमत्ता, अपनी मूर्खता और मन्त्रीकी दुष्टता जानकर पश्चात्ताप करता हुआ इस प्रकार कहने लगा – "देखो इन धूर्तोने मुझ मूर्खको खूब ही ठगा ।" इस प्रकार कहकर वह बुद्धिमान् राजा सेठका आदर-सत्कार कर उसे सदा अपने पास रखने लगा ॥७०–७१॥ उस दिनसे राजाने तन्त्र अर्थात् अपने राष्ट्रकी रक्षा करना और अवाय अर्थात् परराष्ट्रोसे अपने सम्बन्धका विचार करना इन दोनोका बड़ा भारी भार सेठको सौप दिया और आप निर्द्वन्द्व होकर धर्म तथा काम पुरुपार्थका अनुभव करने लगा ॥७२॥ किसी समय सेठकी स्त्रीने सेठके शिरमे पका बाल देखकर सेठसे कहा । सेठने यह कहते हुए उसकी बड़ी प्रशसा की कि तू आज सचमुच धर्मपत्नी हुई है । उस सेठने बडी प्रसन्नताके साथ राजाको छोड़कर समुद्रदत्त आदि अन्य सेठोंके साथ-साथ देवगिरि नामक पर्वतपर वरधर्मगुरुके समीप तप धारण किया और दोनो ही तपकर ब्रह्मलोकके अन्तमे लौकान्तिक देव हुए सो ठीक ही है क्योकि समयके अनुकूल होनेवाली परिस्थितिसे बुद्धिमानोको क्या-क्या सिद्ध नही होता ? ॥७३–७५॥

किसी दूसरे दिन प्रियदत्ता (समुद्रदत्तकी पुत्री और कुबेरकान्तकी स्त्री) ने विपुलमति नामके चारण ऋद्धिधारी महामुनिको नवधा भक्तिपूर्वक दान देकर पुण्य सम्पादन किया और फिर विनय प्रकट कर उन्ही मुनिराजसे पूछा कि मेरे तपका समय समीप है या नही ! ॥७६–७७॥ अवधिज्ञान ही है नेत्र जिनके ऐसे बुद्धिमान् मुनिराजने यह जानकर कि इसका चित्त सन्तानको चाह रहा है अपने दाहिने हाथकी पाँच अँगुली और बाये हाथकी छोटी अँगुली दिखायी और उससे सूचित किया कि पांच पुत्र और एक पुत्री होगी । तथा कालान्तरमे उस प्रियदत्ताने भी पाँच पुत्र और एक पुत्री दिखलायी अर्थात् उत्पन्न की ॥७८–७९॥ किसी समय गुणरूप आभूपणोको धारण करनेवाली, जगतपाल चक्रवर्तीकी पुत्री, अमितमति और अनन्तमति नाम-

---

१ विचार्य । २ –सन्मान अ०, प०, स०, इ०, ल० । ३ स्वराष्ट्रपरराष्ट्रमहाधुरम् । ४ आत्मानं राज्ञा मोचयित्वेत्यर्थ । ५ वरधर्मगुरो समीपे । ६ सुरनाम्नि कस्मिश्चिद् गिरौ । ७ कुबेरदत्त-समुद्रदत्तौ । ८ –परिच्छित्या ट० । कालानुरूपेण ज्ञानेन । ९ कुबेरकान्तप्रिया । १० एका पुत्रीम् । ११ प्रसिद्धे । १२ गणिन्यौ अ०, प०, स०, इ० । गुणिन्यौ ल० ।

प्रजापालतनूजाभ्यां यशस्वत्या तपोभृता। गुणवत्या च संप्राप्ते पुरं[1] तत्परमर्द्धिकम् ॥८१॥
राजा[2] शान्तः पुरः श्रेष्ठी[3][4] चानयोर्निकटे चिरम्। श्रुत्वा सद्धर्मसद्भावं दानाद्युद्योगमाश्रयौ ॥८२॥
कदाचिच्छ्रेष्ठिनो गेहं जङ्घाचारणयोर्युगम्। प्राविशद् भक्तितो स्थापयतां तौ दम्पती मुदा ॥८३॥
[5]तद्दृष्टिमात्रविज्ञातप्राग्भवं तत्पदाम्बुजम्। कपोतमिथुनं पक्षैः परिस्पृश्याभिनम्य[6] तत् ॥८४॥
[7]गलितान्योन्यसंप्रीति बभूवालोक्य तन्मुनी[8]। जातसंसारनिर्वेगौ निर्गत्यापगतौ गृहात् ॥८५॥
प्रियदत्तेङ्गितज्ञैतदवगत्यान्यदा[9] तु ताम्। रतिषेणामपृच्छत्ते नाम प्राग्जन्मनीति किम् ॥८६॥
सा तुण्डेनालिखन्नाम रतिवेगेति वीक्ष्य तत्[10]। ममैषा पूर्वभार्येति कपोतः प्रीतिमीयिवान् ॥८७॥
तथा रतिवरः पृष्टः स्वनाम[11] प्रियदत्तया। [12]सुकान्तोऽस्म्यहमित्येषोऽप्यक्षराण्यलिखद् भुवि ॥८८॥
तन्निरीक्ष्य ममैवायं पतिरित्यभिलाषुका। रतिषेणाऽप्यगात्तेन संगमं[13] विध्यनुग्रहात् ॥८९॥
[14]तत्सभावर्तिनामेतत् श्रुत्वा प्रीतिरभूदलम्। पुनः शुश्रूषवश्चासन् कथाशेषं[15] सकौतुकाः ॥९०॥
अन्यच्चाकर्णितं दृष्टमावाभ्यां यदि चेत्त्वया। ज्ञायते तच्च वक्तव्यमित्युक्तवति कौरवे[16] ॥९१॥
निजवागमृताम्भोभिः सिञ्चन्ती तां सभां शुभाम्। सुलोचनाऽब्रवीत् सम्यग्ज्ञायते श्रूयतामिति ॥९२॥

की गणिनी (आर्यिकाओकी स्वामिनी), तप धारण करनेवाली, प्रजापालकी पुत्री यशस्वती और गुणवतीके साथ-साथ उत्कृष्ट विभूतिसे सुशोभित उस पुण्डरीकिणी नगरीमे पधारी ॥८०–८१॥ सब अन्तःपुरके साथ-साथ राजा लोकपाल और सेठ कुबेरकान्त भी उन आर्यिकाओंके समीप गये और चिरकाल तक समीचीनधर्मका अस्तित्व सुनकर दान देना आदि उद्योगको प्राप्त हुए ॥८२॥ किसी एक दिन सेठ कुबेरकान्तके घर दो जघाचारण मुनि पधारे। दोनों ही दम्पतियोने बड़ी भक्ति और आनन्दके साथ उनका पडगाहन किया ॥८३॥ उन मुनियोके दर्शन मात्रसे ही जिसने अपने पूर्वभवके सब समाचार जान लिये है ऐसे कबूतर कबूतरी (रतिवर-रतिषेणा) के जोडेने अपने पंखोसे मुनिराजके चरणकमलोका स्पर्श कर उन्हे नमस्कार किया और परस्परकी प्रीति छोड़ दी। यह देखकर उन मुनियोको भी ससारसे वैराग्य हो गया और दोनो ही निराहार सेठके घरसे निकलकर बाहर चले गये ॥८४–८५॥ इशारोंको समझनेवाली प्रियदत्ताने यह सब जानकर किसी समय रतिषेणा कबूतरीसे पूछा कि पूर्वजन्ममें तुम्हारा क्या नाम था ? ॥८६॥ उसने भी चोचसे 'रतिवेगा' यह नाम लिख दिया। उसे देखकर यह पूर्वजन्मकी मेरी स्त्री है यह जानकर कबूतर बहुत प्रसन्न हुआ ॥८७॥ इसी प्रकार प्रियदत्ताने रतिवर कबूतरसे भी उसके पूर्वजन्मका नाम पूछा तब उसने भी मै पूर्व जन्ममे सुकान्त नामका था ऐसे अक्षर जमीनपर लिख दिये ॥८८॥ उन्हे देखकर और यह मेरा ही पति है यह जानकर उसीके साथ रहनेकी अभिलाषा करती हुई रतिषेणा भी दैवके अनुग्रहसे उसीके साथ समागमको प्राप्त हुई–दोनों साथ-साथ रहने लगे ॥८९॥ यह सब सुनकर सभामें बैठे हुए सभी लोगोको बहुत भारी प्रसन्नता हुई और कथाका शेष भाग सुननेकी इच्छा करते हुए सभी लोग बड़ी उत्कण्ठासे बैठे रहे ॥९०॥ 'इसके सिवाय हम दोनोने और भी जो कुछ देखा या सुना है उसे यदि जानती हो तो कहो' इस प्रकार जयकुमारके कहनेपर अपने वचनामृतरूपी जलसे उस शुभ सभाको सीचती हुई सुलोचना कहने लगी'–'हाँ, अच्छी तरह

---

१ पुण्डरीकिणीपुरम्। २ लोकपाल। ३ कुबेरकान्त.। ४ अमितानन्तमत्यो.। ५ जङ्घाचारणद्वयावलोकनमात्र। ६ नत्वा। ७ विगलितपरस्परात्यन्तस्नेहवदित्यर्थ.। ८ कपोतमिथुनम्। ९ गलितमोहमिति ज्ञात्वा। गम्यान्य–ल०, अ०, प०, इ०। १० लिखितनामाक्षरम्। ११ निजपूर्वजन्मनाम। १२ सुकान्ताख्योऽहं–ल०। १३ विधेरानुकूल्यात्। १४ जयकुमारसभावर्तिनाम्। सपत्न्यादीनाम्। १५ जातनिर्वेदात् भिक्षामगृहीत्वा निर्गत्य गतचारणादिशेषकथाम्। १६ जयकुमारे।

तदा मुनेर्गृहाद् भिक्षां त्यक्त्वा गमनकारणम् । अज्ञात्वा भूपतेः[1] प्रश्नादाहामितमतिः[3] श्रुतम्[4] ॥९३॥
विषयेऽस्मिन्[5] खगक्ष्माभृत्प्रत्यासन्नं[6] वनं महत् । अस्ति धान्यकमालाख्यं तदभ्यर्णे[7] पुरं परम् ॥९४॥
शोभानगरमस्येशः[8] प्रजापालमहीपतिः । देवश्रीस्तस्य देव्यासीत् सुखदा श्रीरिवापरा ॥९५॥
शक्तिषेणोऽस्य[9] सामन्तस्तस्याभूत् प्रीतिदायिनी । अटवीश्रीस्तयोः[10] सत्यदेवः सूनुरिमे[11] समम् ॥९६॥
सर्वेऽप्यासन्नभव्यत्वाद् अस्मत्पा[12]दसमाश्रयात् । श्रुत्वा धर्मं नृपेणामा समापन्मद्यमांसयोः ॥९७॥
त्यागं पर्वोपवासं च शक्तिषेणोऽपि भक्तिमान् । मुनिवेलात्यये[13] भुक्तिम्[14] अग्रहीत् स गृहिव्रतम् ॥९८॥
[15]तत्पत्नी [16]शुक्लपक्षादिदिनेऽष्टम्यामथापरे । पक्षे[17] पञ्चसमास्त्यागमाहारस्य समग्रहीत् ॥९९॥
अनुप्रबद्धकल्याणनामधेयमुपोषितम्[18] । सत्यदेवश्च साधूनां[19] स्तवनं प्रत्यपद्यत[20] ॥१००॥
इत्यभूवन्नमी श्रद्धाविहीनव्रतभूषणाः । स मृणालवतीं नेतुं कदाचिदटवीश्रियम् ॥१०१॥
पित्रोः[21] पुरीं[22] प्रवृत्तः सन् शक्तिषेणः ससैन्यकः । वने धान्यकमालाख्ये प्राप्य सर्पसरोवरम् ॥१०२॥
निविष्टवानिदं चान्यत् प्रकृतं तत्र कथ्यते । पतिर्मृणालवत्याख्यनगर्या धरणीपतिः[23] ॥१०३॥

जानती हूँ, सुनिए ॥९१-९२॥ उस समय वे मुनि आहार छोड़कर सेठके घरसे चले गये थे। जब राजाको उनके इस तरह चले जानेका कारण मालूम नहीं हुआ तब इसने अमितमति गणिनी (आर्यिका) से पूछा । अमितगतिने भी जैसा सुना था वैसा वह कहने लगी ॥९३॥

इसी पुष्कलावती देशमे विजयार्ध पर्वतके निकट एक 'धान्यकमाल' नामका बड़ा भारी वन है और उस वनके पास ही शोभानगर नामका एक बड़ा नगर है। उस नगरका स्वामी राजा प्रजापाल था और उसकी स्त्रीका नाम था देवश्री । वह देवश्री दूसरी लक्ष्मीके समान सुख देनेवाली थी ॥९४–९५॥ राजा प्रजापालके एक शक्तिषेण नामका सामन्त था, उसकी प्रीति उत्पन्न करनेवाली अटवीश्री नामकी स्त्री थी। उन दोनोके सत्यदेव नामका पुत्र था । किसी समय निकटभव्य होनेके कारण इन सभीने मेरे चरणोंके आश्रयसे धर्मका उपदेश सुना । राजा भी इनके साथ था । उपदेश सुनकर सभीने मद्य-मांसका त्याग किया और पर्वके दिन उपवास करनेका नियम लिया । भक्ति करनेवाले शक्तिषेणने भी गृहस्थके व्रत धारण किये और साथमे यह नियम लिया कि मै मुनियोंके भोजन करनेका समय टालकर भोजन करूँगा ॥९६–९८॥ शक्तिषेणकी स्त्री अटवीश्रीने पाँच वर्षतक शुक्ल पक्षका प्रथम दिन और कृष्णपक्षकी अष्टमीको आहार त्याग करनेका नियम किया, अनुप्रबद्ध कल्याण नामका उपवास व्रत ग्रहण किया तथा सत्यदेवने भी साधुओके स्तवन करनेका नियम लिया ॥९९–॥ १०० ॥ इस प्रकार ये सब सम्यग्दर्शनके विना ही व्रतरूप आभूषणको धारण करनेवाले हो गये । किसी एक दिन सेनापति शक्तिषेण अपनी सेनाके साथ अटवीश्रीको लेनेके लिए उसके माता-पिताकी नगरी मृणालवतीको गया था । वहाँसे लौटते समय वह धान्यकमाल नामके वनमे सर्पसरोवरके समीप ठहरा । उसी समय एक दूसरी घटना हुई जो इस प्रकार कही जाती है ।

१ लोकपालस्य । २ वक्ति । ३ अमितमत्यार्यिका । ४ स्वयं चारणमुनिनिकटे आकर्णितम् । ५ पुष्कलावत्याम् । ६ विजयार्द्धगिरिसमीपम् । ७ समीपे । ८ नगरस्य । ९ नायकः । १० सत्यदेवनामा स्वीकृतपुत्र सजात । ११ इमे सर्वे देवश्रीदेव्यादय. समं धर्मं श्रुत्वेति संबन्ध । १२ अमितगतिनामास्मत्पादसमाश्रयात् । १३ मुनिचर्याकाले अतिक्रान्ते सति । १४ आहारं स्वीकरोमीति व्रतम् । १५ शक्तिषेणभार्या । १६ शुक्लप्रक्षप्रतिपद्दिने । अपरे पक्षे अष्टम्यां दिने च । १७ पञ्चवर्षाणि । १८ उपवासव्रतं समग्रहीत् । १९ परमेष्ठिना स्तोत्रम् । २० गृहीतवान् । २१ जननीजनकयोः । २२ मृणालवतीनामनगरीम् । २३ भूपति ।

सुकेतुस्तत्र[1] वैश्येशस्तनूजो रतिवर्मणः। भवदेवोऽभवत्तस्य विपुण्यः कनकश्रियाम्[3] ॥१०४॥
तत्रैव[4] दुहिता[5] जाता श्रीदत्तस्यातिवल्लभा। विमलादिश्रियाख्याता रतिवेगाख्यया सती ॥१०५॥
सुकान्तोऽशोकदेवेष्टजिनदत्तासुतोऽजनि[6]। भवदेवस्य दुर्वृत्त्या[7] दुर्मुखाख्योऽप्यजायत ॥१०६॥
स एष द्रव्यमावर्ज्य[8] रतिवेगां जिघृक्षुकः[9]। वाणिज्यार्थं गत[10]स्तस्मान्नायात[11] इति सा[12] तदा ॥१०७॥
मातापितृभ्यां प्रादायि[13] सुकान्ताय सुतेजसे। देशान्तरात् समागत्य तद्वार्ताश्रवणाद् भृशम् ॥१०८॥
दुर्मुखे कुपिते भीत्वा तदानीं तद्वधूवरम्[14]। व्रजित्वा[15] शक्तिषेणस्य शरणं समुपागतम्[16] ॥१०९॥
तद्दुर्मुखोऽपि[17] निर्बन्धादनुगत्य[18] वधूवरम्। शक्तिषेणभयाद् बद्धवैरो निववृते[19] ततः[20] ॥११०॥
तत्रैकस्मै[21][22] वियच्चारणद्वन्द्वाय समापुषे[23]। शक्तिषेणो ददावन्नं पाथेयं[24] परजन्मनः ॥१११॥
तत्रैवागत्य सार्थेशो[25] निविष्टो बहुभिः सह। विभुर्मेरुकदत्ताख्यः[26] श्रेष्ठी भार्यास्य धारिणी ॥११२॥
मन्त्रिणस्तस्य[23] भूतार्थः शकुनिः स्यबृहस्पतिः। धन्वन्तरिश्च चत्वारः सर्वे शास्त्रविशारदाः ॥११३॥
एभिः परिवृतः श्रेष्ठी हीनाङ्गं[27] कंचिदागतम्। समीक्ष्यैनं कुतो हेतोर्जातोऽयमिति[28] तान् जगौ ॥११४॥

मृणालवती नगरीका राजा धरणीपति था। उसी नगरीमे सुकेतु नामका एक सेठ रहता था जो कि रतिवर्माका पुत्र था। सुकेतुकी स्त्रीका नाम कनकश्री था और उन दोनोके एक भवदत्त नामका पुण्यहीन पुत्र था ॥१०१-१०४॥ उसी नगरमें एक श्रीदत्त सेठ थे। उनकी स्त्रीका नाम था विमलश्री और उनके दोनोके अत्यन्त प्यारी रतिवेगा नामकी सती पुत्री थी ॥१०५॥ उसी नगरके अशोकदेव सेठ और जिनदत्ता नामकी उनकी स्त्रीसे पैदा हुआ सुकान्त नामका एक पुत्र था। जिसका वर्णन ऊपर कर आये है ऐसा भवदेव बडा दुराचारी था, और उस दुराचारीपनके कारण ही उसका दूसरा नाम दुर्मुख भी हो गया था ॥१०६॥ वह भवदेव धन उपार्जन कर रतिवेगाके साथ विवाह करना चाहता था इसलिए व्यापारके निमित्त वह बाहर गया था, परन्तु जब वह विवाहके अवसर तक नही आया तब माता-पिताने वह कन्या अत्यन्त तेजस्वी सुकान्तके लिए दे दी। जब दुर्मुख (भवदेव) देशान्तरसे लौटकर आया और रतिवेगाके विवाहकी बात सुनी तब वह बहुत ही कुपित हुआ। उसके डरसे वधू और वर दोनो ही भागकर शक्तिषेणकी शरणमें पहुँचे ॥१०७-१०९॥ दुर्मुखने भी हठसे वधू और वरका पीछा किया परन्तु शक्तिषेणके डरसे अपना वैर अपने ही मनमे रखकर वहाँसे लौट गया ॥११०॥ शक्तिषेणने वहाँ पधारे हुए दो चारण मुनियोके लिए अपने आगामी जन्मके कलेवाके समान आहार दान दिया था ॥१११॥ उसी सरोवरके समीप धनी और सब संघके स्वामी मेरुकदत्त नामका सेठ बहुत लोगोके साथ आकर ठहरा हुआ था। उसकी स्त्रीका नाम धारिणी था। उस सेठके चार मन्त्री थे—१ भूतार्थ, २ शकुनि, ३ बृहस्पति और ४ धन्वन्तरि। ये चारो ही मन्त्री अपने-अपने शास्त्रोंमे पण्डित थे ॥११२-११३॥ एक दिन सेठ इन सबसे घिरा हुआ

---

१ मृणालवत्याम्। २ वणिग्मुख्यस्य। ३ कनकश्रियः। ४ श्रीदत्तविमलश्रियोः। ५ पुत्री। ६ अशोकदेवस्य प्रियतमाया जिनदत्ताया सुतः। ७ दुर्मुख इति नामान्तरमपि। स दुर्मुखः स्वमातुलं श्रीदत्तं रतिवेगां याचितवान्। मातुलो भणितवान् त्वं व्यवसायहीनो न ददामीति। दुर्मुखोऽवोचत्—यावदहं द्वीपान्तरेषु द्रव्यमावर्ज्यागच्छामि तावद् रतिवेगा कस्यापि न दातव्या इति द्वादशवर्षाणि कालावधिं दत्त्वा। ८ धनमर्जयित्वा। ९ गृहीतुमिच्छुः। १० कृतद्वादशवर्षादेः सकाशात्। ११ नागतः। १२ रतिवेगा। १३ दीयते स्म। १४ सुकान्तरतिवेगाद्वयम्। १५ गत्वा। १६ समुपाश्रयत्। १७ अविच्छेदेन। १८ पृष्ठतो गत्वा। १९ व्याघुटितवान्। २० सर्पसरोवरस्थितशक्तिषेणशिविरात्। २१ सर्पसरोवरे। २२ गगनचारण। २३ आगताय। समीयुषे ल०, इ०, अ०, म०, प०, स०। २४ संबलम्। २५ वणिक्संघाधिपः। २६ मेरुकदत्तस्य। २७ विकलावयवम्। २८ इति पृष्टवान् तं श्रेष्ठिनम्।

शकुनिः शकुनाद् दुष्टाद् ग्रहात्पापाद् बृहस्पतिः । धन्वन्तरिस्त्रिदोषेभ्यो जन्मनीति समादिशत् ॥११५॥
भूतार्थस्त्वस्तु तत्सर्वं कर्म हिंसाद्युपार्जितम् । प्रधानकारणं तेन[1] हीनाङ्ग[2] इति सूक्तवान्[3] ॥११६॥
शक्तिषेण[4] महीपालप्रतिपन्नतुजः पिता[5] । सत्यदेवस्य दृष्ट्वाऽस्मिंस्त[6] मन्विष्यन्न्य[7] इच्छया ॥११७॥
तदा कृत्वा महद्दुःखं[8] सभ्यैराकर्ण्यतामिदम् । च्युतं पयोऽतिपाकेन भाजनात्तण्डुलानपि ॥११८॥
भक्ष्यमाणान् कपोताद्यैः पश्यँस्तूष्णीमयं स्थितः । क्रोधान्मातुः[9] कनीयस्या[10] भर्त्सनादागतोऽसहः[11] ॥
अधस्ताद् वक्त्रविवरं घ्राणस्येति तदप्ययम् । क्षमते नेति सर्वेषां[12] तदकर्मण्यतां[13] ब्रुवन् ॥१२०॥
गन्तुं सहात्मना[14][15] तस्यानभिलाषाद्[16] विषण्णवान् । परस्मिन्नपि भूयासं[17] भवे ते स्नेहगोचरः[18] ॥
इति कृत्वा निदानं स[19] द्रव्यसंयममाश्रितः । प्रपेदे लोकपालत्वं[20] तद्गतस्नेहमोहितः ॥१२२॥
कदाचिच्छुक्लपक्षस्य दिनादौ भार्यया सह । कृतोपवासया शक्तिषेणो भक्तिपुरस्सरम्[21] ॥१२३॥
मुनिभ्यां दत्तदानेन पञ्चाश्चर्यमवाप्तवान् । दृष्ट्वा[22] तच्छ्रेष्ठिधारिण्यौ[23] वाचयोरन्यजन्मनि ॥१२४॥
[24] एतावपत्ये[25] भूयास्तां[26] निदानं कुरुतामिति । मन्त्रिणस्तस्य[27] चत्वारोऽप्यस्तसर्वपरिग्रहाः ॥१२५॥

बैठा था कि इतनेमें वहाँ एक हीन अगवाला पुरुष आया । उसे देखकर सेठने सब मन्त्रियोंसे कहा कि यह ऐसा किस कारणसे हुआ है ? ॥११४॥ इसके उत्तरमे शकुनि मन्त्रीने कहा कि जन्मके समय बुरे शकुन होनेसे यह ऐसा हुआ है ? बृहस्पतिने कहा कि जन्मके समय दुष्ट ग्रहोके पडनेसे यह हीनाग हुआ है और धन्वन्तरिने कहा कि जन्मके समय वात पित्त कफ इन तीन दोषोके कारण यह विकलाग हो गया है । यह सुनकर भूतार्थ नामक मन्त्रीने कहा कि आप यह सब रहने दीजिए, इस जीवने पूर्वभवमे हिंसा आदिके द्वारा जो कर्म उपार्जन किये थे वे ही इसके हीनाग होनेमे प्रधान कारण है ॥११५–११६॥ इतनेमें ही शक्तिषेण सेनापतिने जिसे अपना पुत्र स्वीकार किया है ऐसे उस सत्यदेवका पिता अपनी इच्छानुसार उसे खोजता हुआ आ पहुँचा । उस हीनांग पुत्रको देखकर उसे बहुत ही दु ख हुआ और वह कहने लगा कि हे सभासदो, सुनो, एक दिन घरमें चावल पक रहे थे सो पानीके उफानके कारण कुछ चावल बरतनसे नीचे गिर गये और उन नीचे गिरे हुए चावलोको कबूतर आदि पक्षी चुगने लगे परन्तु यह सब देखता हुआ चुपचाप खड़ा रहा--इसने उन्हे भगाया नही । तब इसकी माँकी छोटी बहनने क्रोधसे इसे डाँटा, उस डाँटको न सह सकनेके कारण ही यह यहाँ चला आया है। यह इतना असहनशील है कि 'तेरी नाकके नीचे मुँहका छेद है' इस बातको भी नही सह सकता है। इस तरह सब सभासदोसे उसके पिताने उसकी अकर्मण्यताका वर्णन किया । चूँकि सत्यदेव अपने पिताके साथ वापस नही जाना चाहता था इसलिए उसने दु खी होकर निदान किया कि 'अगले भवमें भी मै तेरे स्नेहका पात्र होऊँ' इस प्रकार निदान कर वह द्रव्यलिगी मुनि हो गया और सत्यदेवके प्रेमसे मोहित होकर मरा जिससे लोकपाल हुआ ॥११७--१२२॥ किसी एक समय शुक्लपक्षकी प्रतिपदाके दिन शक्तिषेणने उपवास करनेवाली अपनी स्त्री अटवीश्रीके साथ-साथ भक्ति-पूर्वक मुनियोको आहारदान देकर पंचाश्चर्य प्राप्त किये, उसे देखकर सेठ मेरुकदत्त और उनकी स्त्री धारिणीने निदान किया कि 'ये दोनो अगले जन्ममे हमारी ही सन्तान हो' । सेठ मेरुक-

१ कर्मकरणेन । २ विकलाङ्गो जात इति । ३ सुष्ठु प्रोक्तवान् । ४ शक्तिषेणनामसामन्तेनायं मम पुत्र इति स्वीकृतसुतस्य । ५ सत्यकनामजनक । ६ सर्पसरोवरे । ७ गवेषयन्नित्यर्थः । ८ सभाजनैः । ९ सत्यदेवजनन्याः । १० भगिन्या । ११ असहमान. । १२ सभाजनानाम् । १३ तत् सत्यदेवस्य कर्मण्यक्षमताम् । १४ सत्यकेन स्वेन । १५ सत्यदेवस्य । १६ अनभिमतात् । १७ भवेयम् । १८ स्नेहगोचरम् इ०, अ०, स० । १९ सत्यकः । २० लोकपालनाय देवत्वम् । २१ पुरस्सर ल० । २२ दानसंजाताश्चर्यम् । २३ मेरुकदत्ततद्भार्याधारिण्यौ । २४ शक्तिषेणाविक्रियौ । २५ पुत्रौ । २६ अकुरुताम् । २७ मेरुकदत्तस्य ।

तपो विधाय कालान्ते समापन् लोकपालताम्[1] । वधूवरं[2] च दानानुमोदपुण्यमवाप्तवत्[3] ॥१२६॥
[4]तदाकर्ण्य महीशस्य[5] देवी[6] वसुमती तदा । स्वजन्मान्तर[7]संबोधमूर्च्छानन्तरबोधिता ॥१२७॥
अहं पूर्वोक्त[8] देवश्रीस्त्वत्प्रसादादिमां[9] श्रियम् । प्राप्ता[10] तदातनो राजा[11] वद क्वाद्य प्रवर्तते ॥१२८॥
इति तस्याः परिप्रश्ने स प्रजापालभूपतिः । [12]लोकपालोऽयमित्युक्ते प्रियदत्ता स्वपूर्वजम् ॥१२९॥
जन्मावबुद्ध्य वन्दित्वा साऽटवीश्रीरियं त्वहम् । शक्तिषेणो मम प्रेयानसौ क्वाद्य प्रवर्तते ॥१३०॥
इति [13]पृष्टाऽवदच्छक्तिषेणस्ते[14]ऽयं[15] मनोरमः[16] । [17]कुबेरदयितः सत्यदेवोऽभूत्तनुजस्तव ॥१३१॥
देवभूयं[18] गताः श्रेष्ठिसचिवास्त्वत्पतें[19] भृशम् । [20]आरभ्य जन्मनः स्नेहात् परिचर्यां प्रकुर्वते ॥१३२॥
कुबेरदयितस्यापि पिता प्राच्यः[21] स सत्यकः । पाता[22] गत्यन्तरस्थाश्च पुण्यात् स्निह्यन्ति देहिनः॥१३३
भवदेवेन[23] निर्दग्धं द्विजावेतौ[24] वधूवरम् । सार्थेशो[25] धारिणी चेह[26] पत्युस्ते[27] पितरात्रिमौ[28]॥१३४॥

दत्तके चारों मन्त्रियोंने सब परिग्रहका परित्याग कर तप धारण किया और आयुके अन्तमें लोकपालकी पर्याय प्राप्त की । इसी प्रकार सुकान्त और रतिवेगा नामके वधू-वरने भी दानकी अनुमोदना करनेसे प्राप्त हुआ बहुत भारी पुण्य प्राप्त किया ॥ १२३-१२६ ॥ यह सब सुनकर राजा लोकपालकी रानी वसुमतीको अपने पूर्वजन्मकी सब बात याद आ गयी जिससे वह मूर्च्छित हो गयी और सचेत होनेपर अमितमति आर्यिकासे कहने लगी कि मैं पूर्वजन्ममे शोभानगरके राजा प्रजापालकी रानी देवश्री थी, आपके प्रसादसे ही मै इस लक्ष्मीको प्राप्त हुई हूँ, मेरे उस जन्मके पति राजा प्रजापाल आज कहाँ है ? यह कहिए ॥ १२७-१२८ ॥ इस प्रकार वसुमती-का प्रश्न समाप्त होनेपर अमितमति आर्यिकाने कहा कि यह लोकपाल ही पूर्वजन्मका प्रजापाल राजा है । इतना कहते ही प्रियदत्ताको भी अपने पूर्वभवकी याद आ गयी । उसने आर्यिकाको वन्दना कर कहा कि शक्तिषेणकी स्त्री अटवीश्री तो मै ही हूँ, कहिए मेरा पति शक्तिषेण आज कहाँ है ? इस प्रकार पूछा जानेपर अमितमतिने कहा कि यह तेरा पति कुबेरकान्त ही उस जन्मका शक्तिषेण है और यह कुबेरदयित ही उस जन्मका सत्यदेव है जो कि तुम्हारा पुत्र हुआ है । सेठ मेरुकदत्तके जो भूतार्थ आदि चार मन्त्री थे वे देवपर्यायको प्राप्त हो स्नेहके कारण जन्मसे ही लेकर तुम्हारे पतिकी भारी सेवा कर रहे है – कामधेनु और कल्पवृक्ष बनकर सेवा कर रहे है ॥ १२९-१३२ ॥ कुबेरदयितका पूर्व जन्मका पिता सत्यक भी देव होकर उसकी रक्षा करता है सो ठीक ही है क्योकि पुण्यके प्रभावसे दूसरी गतिमे रहनेवाले जीव भी स्नेह करने लग जाते है ॥ १३३ ॥ भवदेवने पूर्वोक्त वधू-वर (रतिवेगा और सुकान्त) को जला दिया था इसलिए वे दोनो ही मरकर ये कबूतर-कबूतरी हुए है । सेठ मेरुकदत्त और उनकी

---

१ लोकपालसुरत्वम् । २ सुकान्तरतिवेगेति मिथुनम् । ३ प्राप्तम् । ४ पुण्यम् । प्राप्तमित्यादिवचनम् । ५ प्रजापालपुत्रलोकपालस्य । ६ भार्या कुबेरमित्रस्य, पौत्री वसुमती । ७ निजभवान्तरपरिज्ञानजात । ८ शोभानगरपतिप्रजापालमहीपतेर्भार्या देवश्रीः । ९ हे अमितमत्यार्यिके, भवत्प्रसादात् । १० प्राप्तवत्यहम् । ११ शोभानगरप्रतिपालप्रजापाल इत्यर्थ । १२ तव भर्ता लोकपाल । १३ आर्यिका । १४ तव प्रियदत्तायाः । १५ पुरोवर्ती । १६ कुबेरकान्त । १७ शक्तिषेणस्य स्वीकृतपुत्र. । कुबेरदयित इति तव पुत्रोऽभूदिति सम्बन्ध । १८ देवत्वम् । १९ तव भर्तु कुबेरकान्तस्य । २० जननकालादारभ्य कामधेनुरुत्तमेति श्लोकोक्तमेवा कुर्वते । २१ पूर्वभवसंबन्धिपिता सत्यक. । २२ रक्षकोऽभूत् । २३ रतिवर्मकनकश्रियो. सूनुना भवदेवेन । क्रोधात् शक्तिषेणकालान्तरेण निर्दग्धं वधूवरं सुकान्तरतिवेगेति द्वयम् । २४ कपोतपक्षिणावभूतामिति संबन्ध । २५ मेरुकदत्तः । २६ अन्या पुर्याम् । पुण्डरीकिण्याम् । २७ तव भर्तु. कुबेरकान्तस्य । २८ कुबेरमित्रधनवत्यौ ।

इत्युक्त्वा[1] सेदमप्याह[2] खगाचलसमीपगे। [3]वसन्तौ चारणावद्रौ मुनी मलयकाञ्चने ॥१३५॥
[4]पूर्वं वननिवेशे[5] तौ भिक्षार्थं समुपागतौ। तत्र पुत्रसमुत्पत्तिमुपदिश्य गतौ ततः ॥१३६॥
अन्येद्युर्वसुधारादिहेतुभूतौ कपोतकौ। दृष्ट्वा सकरुणौ भिक्षामनादाय वनं गतौ ॥१३७॥
गुर्वोर्गुरुत्वं[6] युवयोरुपयातौ[7] तयोरिदम्। उपदेशात् समाकर्ण्य सर्वमुक्तं यथाश्रुतम्[8] ॥१३८॥
इति ते[9]ऽमितमत्युक्तकथावगमतत्पराः[10]। स्वरूपं संसृतेः सम्यक् मुहुर्मुहुरभावयन् ॥१३९॥
एवं प्रयाति कालेऽसौ प्रियदत्ता प्रसंगतः। यशस्वतीगुणवत्यौ युवाभ्यां केन हेतुना ॥१४०॥
इयं दीक्षा गृहीतेति पप्रच्छोत्पन्नकौतुका। ते[11] च तत्कारणं स्पष्टं यथावृत्तमवोचताम्[12] ॥१४१॥
ततो धनवती[13] दीक्षां गणिन्याः[14] सन्निधौ ययौ। माता[15] कुबेरसेना च तयोरार्यिकयोर्द्वयोः ॥१४२॥
तावन्येद्युः कपोतौ च ग्रामान्तरमुपाश्रितौ[16]। तण्डुलाद्युपयोगाय[17] समवर्तिप्रचोदितौ[18] ॥१४३॥
[19]भवदेवचरेणानुबद्धवैरेण पापिना। दृष्टमात्रोत्थकोपेन[20] मारितौ पुरुदंशसा[21] ॥१४४॥
तद्राष्ट्रविजयार्द्धस्य दक्षिणश्रेणिमाश्रिते। गान्धारविषयोशीरवत्याख्यनगरेऽधिपः ॥१४५॥

स्त्री धारिणी यहाँ तेरे पति कुबेरकान्तके माता-पिता हुए है ॥ १३४ ॥ इतना कहकर अमितमति यह भी कहने लगी कि विजयार्ध पर्वतके समीप मलयकाचन नामके पर्वतपर दो मुनिराज रहते थे, जब पूर्वजन्ममे शक्तिषेण सर्पसरोवरके समीप डेरा डालकर वनमे ठहरा हुआ था तब वे भिक्षाके लिए तेरे यहाँ आये थे और तेरे अँगुलियोंके इशारेसे पाँच पुत्र तथा एक पुत्री होगी ऐसा कहकर चले गये थे। तदनन्तर रत्नवृष्टि आदि पंचाश्चर्योके कारणस्वरूप वे मुनिराज इस जन्ममे भी किसी समय तेरे घर आये थे परन्तु कबूतर-कबूतरीको देखकर दयायुक्त हो बिना भिक्षा लिये ही वनको लौट गये थे। वे ही तेरे पिता और तेरे पतिके गुरु हुए है। उन्हीके उपदेशसे मैने यह सब सुनकर अनुक्रमसे कहा है ॥ १३५–१३८ ॥ इस प्रकार जो पुरुष अमितमति आर्यिकाके द्वारा कही हुई कथाके सुननेमे तल्लीन हो रहे थे वे संसारके सच्चे स्वरूपका बार-बार चिन्तवन करने लगे ॥ १३९ ॥ इस प्रकार कुछ समय व्यतीत होनेपर किसी दिन प्रियदत्ताने प्रसग पाकर यशस्वती और गुणवतीसे पूछा कि आप लोगोने यह दीक्षा किस कारण ग्रहण की है ? मुझे यह जाननेका कौतुक हो रहा है। तब उन दोनोने स्पष्ट रूपसे अपनी दीक्षाका कारण बतला दिया ॥ १४०–१४१ ॥ तदनन्तर कुबेरमित्रकी स्त्री धनवतीने संघकी स्वामिनी अमितमतिके पास दीक्षा धारण कर ली और उन दोनो आर्यिकाओंकी माता कुबेरसेनाने भी अपनी पुत्रीके समीप दीक्षा धारण की ॥ १४२ ॥

किसी एक दिन यमराजके द्वारा प्रेरित हुए ही क्या मानो वे दोनो कबूतर-कबूतरी चावल चुगनेके लिए किसी दूसरे गाँव गये। वहाँ एक बिलाव था जो कि भवदेवका जीव था। उस पापीको पूर्व जन्मसे बँधे हुए वैरके कारण कबूतर-कबूतरीको देखते ही पापकी भावना जागृत हो उठी और उसने उन दोनोको मार डाला ॥ १४३–१४४ ॥ उसी पुष्कलावती देशके विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीमे एक गान्धार नामका देश है और उसमें उशीरवती

---

१ अमितमत्यार्यिका। २ विजयार्द्धपर्वत। ३ निवसन्तौ। ४ शक्तिषेणाटवीश्रीभवे। ५ सर्पसरोवरनिवेशे। ६ कुबेरमित्रसमुद्रदत्तयो। ७ कुबेरकान्तप्रियदत्तयो' गुरुत्वमुपयातौ यौ द्वौ तयोरेव चारणयो.। ८ यथाक्रमम् ल०। ९ लोकपालादाय। १० परिज्ञाने रता। ११ यशस्वतीगुणवत्यौ। १२ मम मातुलकुबेरदत्ताद् विविधभक्ष्यपूर्वभोजनालाभाज्जातलज्जया तपो गृहीतम्। १३ कुबेरमित्रस्य भार्या। १४ अमितमत्यार्यिकायाः। १५ जगत्पालचक्रवर्तिपुत्र्योरमितमत्यनन्तमत्योर्जननी। १६ जम्बूग्रामम्। १७ भक्षणाय। १८ अन्तकप्रेरितौ। १९ पूर्वस्मिन् भवदेवेन। २० पापेन ल०। २१ जम्बूग्रामस्य कदलीवनस्थमार्जारेण।

आदित्यगतिरस्यासीन्महादेवी शशिप्रभा । तयोर्हिरण्यवर्माख्यः सुतो रतिवरोऽभवत्[1] ॥१४६॥
तस्मिन्नेवोत्तरश्रेण्यां गौरीविषयविश्रुते । पुरे भोगपुरे वायुरथो विद्याधराधिप. ॥१४७॥
तस्य स्वयंप्रभ देव्यां रतिषेणा[2] प्रभावती । वभूव जैनधर्मांशोऽप्यभ्युद्धरति देहिन. ॥१४८॥
माता पिताऽपि या यश्च सुकान्तरतिवेगयोः । जन्मन्यस्मिन् किलाभूतां चित्रं तावेव[3] संसृतिः ॥१४९॥
हा मे प्रभ.वतीत्याह जयश्चेत् ससुलोचनः[4] । रूपादिवर्णनं तस्याः किं पुनः क्रियते पृथक् ॥१५०॥
यौवनेन समाक्रान्तां कन्यां दृष्ट्वा प्रभावतीम् । कस्मै देयेयमित्याह खगेशो मन्त्रिणस्तव (ततः) ॥१५१॥
शशिप्रभा[5] स्वसा देव्या[6] भ्रातादित्यगतिस्तथा[7] । परे च खचराधीशाः प्रीत्याऽयाचन्त कन्यकाम् ॥१५२॥
ततः स्वयंवरो युक्तो विरोधस्तन्न केनचित् । इत्यभापन्त निश्चित्य तद्भूपोऽप्यभ्युपागमत्[8][9] ॥१५३॥
ततः सर्वेऽपि तद्वार्ताकर्णनादागमन् वराः । कमप्येतेषु सा कन्या नाग्रहीद् रत्नमालया ॥१५४॥
मातापितृभ्यां तद् दृष्ट्वा संपृष्टा प्रियकारिणी[10] । यो जयेद् गतियुद्धे मां मालां संयोजयाम्यहम् ॥१५५॥
कण्ठे तस्येति वक्त्येषा प्रागित्याह सखी तयोः[11] । श्रुत्वा तत्र दिने सर्वानुचितोक्त्या व्यसर्जयत् ॥१५६॥

नामकी एक नगरी है। उसके राजा थे आदित्यगति और उनकी रानीका नाम था शशिप्रभा। रतिवर कबूतर मरकर उन दोनोके हिरण्यवर्मा नामका पुत्र हुआ ॥१४५–१४६॥ उसी विजयार्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणीमें एक गौरी नामका देश है उसके भोगपुर नामके प्रसिद्ध नगरमें विद्याधरोका स्वामी राजा वायुरथ राज्य करता था। उसकी स्वयंप्रभा नामकी रानी थी। रतिषेणा कबूतरी मरकर उन्ही दोनोको प्रभावती नामकी पुत्री हुई सो ठीक ही है क्योंकि जैनधर्मका एक अग भी प्राणियोका उद्धार कर देता है ॥१४७–१४८॥ सुकान्त और रतिवेगा-के जो पहले माता-पिता थे वे ही इस जन्ममे भी माता-पिता हुए है सो ठीक ही है क्योकि यह संसार वड़ा ही विचित्र है। भावार्थ – सुकान्तके पूर्वभवके माता-पिता अशोक और जिनदत्ता इस भवमे आदित्यगति और शशिप्रभा हुए है तथा रतिवेगाके पूर्वभवके माता-पिता विमलश्री और श्रीदत्ता इस भवमे वायुरथ तथा स्वयप्रभा हुए है ॥१४९॥ जव जयकुमारने सुलोचनाके साथ वैठकर 'हा' मेरी प्रभावती' ऐसा कहा तव फिर उसके रूप आदिका वर्णन अलगसे क्या किया जाय ? ॥१५०॥ प्रभावती कन्याको यौवनसे सम्पन्न देखकर विद्याधरोके अधिपति वायुरथने अपने मन्त्रियोसे कहा कि यह कन्या किसे देनी चाहिए ? ॥१५१॥

मन्त्रियोने परस्परमे निश्चय कर कहा कि 'शशिप्रभा आपकी वहन है, और आदित्यगति आपकी पट्टराज्ञीका भाई है। ये दोनो तथा इनके सिवाय और भी अनेक विद्याधर राजा वड़े प्रेमसे कन्याकी याचना कर रहे हैं इसलिए स्वयंवर करना ठीक होगा क्योकि ऐसा करनेसे किसीके साथ विरोध नही होगा।' मन्त्रियोकी यह वात राजाने भी स्वीकार की ॥१५२–१५३॥ तदनन्तर स्वयंवरकी वात सुनकर सभी राजकुमार आये परन्तु कन्या प्रभावतीने इन सवमें-से किसीको भी रत्नमालाके द्वारा स्वीकार नही किया – किसीके भी गलेमे रत्नमाला नही डाली ॥१५४॥ यह देखकर माता-पिताने उसकी सखी प्रियकारिणीसे इनका कारण पूछा, सखीने उन दोनोसे कहा कि यह पहले कहती थी कि 'जो मुझे गतियुद्धमे जीतेगा मैं उसीके गलेमे माला डालूँगी' यह सुनकर राजाने उस दिन यथायोग्य कहकर सवको विदा किया ॥१५५–१५६॥

---

१ रतिवरनामकपोत.। २ रतिषेणा नाम कपोती। ३ श्रीदत्तविमलश्रियौ। अशोकदेवजिनदत्ते द्वे च अभूतां वायुरथस्वयप्रभादेव्यौ चादित्यगतिशशिप्रभे च पितरावभूतामिति। ४ सुलोचनया सहित। ५ तव शशिप्रभेति भगिनी। ६ वायुरथस्य तव भार्याया.। ७ स्वयप्रभादेव्या भ्राता आदित्यगतिश्च सोऽपि स्वपुत्राय याचितवान् इत्यर्थ.। ८ एवं सति। ९ तथास्त्वित्यनुमतिमकरोत्। १० कन्याया सखी। ११ वायुरथस्वयंप्रभयो।

अन्येद्युः खचराधीशो घोषयित्वा[1] स्वयंवरम्। सिद्धकूटाख्यचैत्यालयस्य मालां पुरःस्थिताम् ॥१५७॥
अपातयन्महामेरुं[2] त्रिः[3] परीत्य महीतलम्। अस्पृष्टां खेचराः केचित्तां ग्रहीतुमनीश्वराः ॥१५८॥
त्रपां गताः समादाय प्रभावत्या विनिर्जिताः। समो ननु न मृत्युश्च मानभङ्गेन मानिनाम् ॥१५९॥
ततो हिरण्यवर्माऽयाद् गतियुद्धविशारदः। मालामासञ्जयामास[4] तत्कण्ठे तेन निर्जिता ॥१६०॥
तयोर्जन्मान्तरस्नेहसमुद्भूतसुखसम्पदा। काले गच्छति कस्मिंश्च (चित्) कपोतद्वयदर्शनात् ॥१६१॥
ज्ञातप्राग्भवसंबन्धा सुविरक्ता प्रभावती। स्थिताशोकाकुलैकैव[5] चिन्तयन्ती किमप्यसौ ॥१६२॥
हिरण्यवर्मणा ज्ञातजन्मना लिखितं स्फुटम्। पट्टकं प्रियकारिण्या[6] हस्ते[7] समवलोक्य तम् ॥१६३॥
क्व लब्धमिदमित्यान्वयत प्राह सापि प्रियेण ते। लिखितं चेटकस्तस्य[8] सुकान्तो मे समर्पयत् ॥१६४॥
इति तद्वचनं श्रुत्वा स्वयमप्यात्मवृत्तकम्। प्राक्तनं[9] पट्टके तस्या लिखित्वाऽसौ[10] करे ददौ ॥१६५॥
तद्विलोक्य कुमारोऽभूत् प्रभावत्यां प्रसक्तधीः। साऽपि तस्मिन् तयोः प्रीतिः प्राक्तन्या[11] द्विगुणाऽभवत्[12]
संभूय बान्धवाः सर्वे कल्याणाभिषवं तयोः। अकुर्वन्निव कल्याणं द्वितीयं ते चिकीर्षवः ॥१६७॥
दशम्या[13] सिद्धकूटाग्रे स्नानपूजाविधौ[14] सुवित्[15]। हिरण्यवर्मणा वीक्ष्य परमावधिचारणः ॥१६८॥

दूसरे दिन राजाने स्वयंवरकी घोषणा कराकर कहा कि 'एक माला सिद्धकूट नामक चैत्यालयके सामने नीचे छोड़ी जायगी' जो कोई विद्याधर माला छोड़नेके बाद महामेरु पर्वतकी तीन प्रदक्षिणाएँ देकर प्रभावतीके पहले उसे जमीनपर पडनेके पहले ही ले लेगा वही इसका पति होगा' यह सुनकर बहुत से विद्याधरोने प्रयत्न किया परन्तु पूर्वोक्त प्रकारसे माला न ले सके इसलिए प्रभावतीने हारकर लज्जित होते हुए चले गये सो ठीक ही है क्योकि मृत्यु भी अभिमानी लोगोके मानभगकी बराबरी नही कर सकती है ॥१५७–१५९॥ तदनन्तर गतियुद्ध करनेमें चतुर हिरण्यवर्मा आया और उनसे हारकर प्रभावतीने वह माला उसके गलेमें डाल दी ॥१६०॥ पूर्व जन्मके स्नेहसे बढी हुई सुखरूप सम्पत्तिसे जब उन दोनोका कितना ही समय व्यतीत हो गया तब किसी एक दिन कबूतर-कबूतरीका जोड़ा देखनेसे प्रभावतीको पूर्वभवका सम्बन्ध याद आ गया, वह विरक्त होकर शोकसे व्याकुल होती हुई अकेली बैठकर कुछ सोचने लगी ॥१६१–१६२॥ इधर हिरण्यवर्माको भी जाति स्मरण हुआ था, उसने एक पटियेपर अपने पूर्वजन्मका सब हाल साफ-साफ लिखकर प्रभावतीकी सखी प्रियकारिणीको दिया था, प्रभावतीने प्रियकारिणीके हाथमें वह पटिया देखकर कहा कि यह चित्रपट तुझे कहाँ मिला है ? सखीने कहा कि 'यह चित्रपट तेरे पतिने लिखा है और उनके नौकर सुकान्तने मुझे दिया है, इस प्रकार सखीके वचन सुनकर प्रभावतीने भी एक पटियेपर अपने पूर्वजन्मका सब वृत्तान्त लिखकर सखीके हाथमें दिया ॥१६३–१६५॥ वह चित्रपट देखकर हिरण्यवर्मा प्रभावतीपर बहुत अनुराग करने लगा और प्रभावती भी हिरण्यवर्मापर बहुत अनुराग करने लगी, उन दोनोंका प्रेम पूर्व पर्यायके प्रेमसे कहीं दूना हो गया था ॥१६६॥ कुटुम्बके सब लोगोने मिलकर उन दोनोका मंगलाभिषेक किया मानो वे उनका दूसरा कल्याण ही करना चाहते हो ॥१६७॥ किसी समय दशमीके दिन वे दोनो सिद्धकूटके चैत्यालयमे अभिषेक पूजन आदि कर रहे थे उसी समय हिरण्य-

---

१ स्वयंवरमिति घोषयित्वा [illegible]। २ भूमौ पातयति स्म। ३ मेरोस्त्रि. ल०। ४ [illegible] स्म। ५ [illegible]। ६ प्रभावत्याः सख्या। ७ हस्ते स्थितम्। ८ हिरण्यवर्मणः। ९ प्राग्भवम्, [illegible]। १० प्रभावती। ११ प्राक्तनी। १२ आ समन्तात् द्विगुणा। १३ विवाहदिनाद् दशमदिने। १४ [illegible]। १५ प्रत्यक्षज्ञानम्। प्रत्यक्षज्ञानी ता० टि०। क्वचित् अ०, प०, स०, इ०, ल०।

प्रभावत्या च पृष्टोऽसौ स्व पूर्वभवकृत्तकम्[1]। अभाषत मुनेश्चैवमनुग्रहधिया तयोः ॥१६९॥
तृतीयजन्मनीतोऽत्र संभूतौ वणिजां कुले। रतिवेगा सुकान्तश्च प्राक् मृणालवतीपुरे ॥१७०॥
भर्तृ भार्याभिसंबन्धं[2] संप्राप्यारिभयाद्[3] गतौ[4]। कृत्वाऽनुमोदनं शक्तिषेणदाने सपुण्यकौ ॥१७१॥
पारावतभवे चाप्य[5] धर्मं जातौ युवामिति।-विधाय पितरौ[6] वैश्यजन्मनोर्याविहापि तौ ॥१७२॥
तृतीयजन्मनो[7] युष्मद्गुरवोऽहं[8] च संगताः। रतिषेणगुरोः पार्श्वे गृहीतप्रोषधाश्चिरम् ॥१७३॥
जिनेन्द्रभवने भक्त्या नानोपकरणैः सदा। विधाय पूजां समजायामहीह[9] खगाधिपाः ॥१७४॥
पिताऽहं भवदेवस्य रतिवर्माभिधस्तदा। भूत्वा[10] श्रीधर्मनामाऽतः संयमं प्राप्य शुद्धधीः ॥१७५॥
चारणत्वं तृतीयं च ज्ञानं प्रापमिहेत्यदः। श्रुत्वा मुनिवचः प्रीतिमापद्येतान्तरां च तौ[11] ॥१७६॥
एवं सुखेन यात्येषां[12] काले वायुरथः पृथुम्। विशरारुं[13] समालोक्य स्तनयित्नुं[14] प्रतिक्षणम् ॥१७७॥
[15]विश्वं विनश्वरं पश्यन् शश्वच्छाश्वतिकीं मतिम्। जनः करोति सर्वत्र दुस्तरं किमिदं तमः[16] ॥१७८॥
इति याथात्म्यमाम्नाय दत्वा राज्यं विरज्य[17] सः। मनोरथाय नैस्संग्यं[18] प्रपित्सुरभवत्तदा ॥१७९॥
आदित्यगतिमभ्येत्य प्रीत्या सर्वेऽपि बान्धवाः[19]। प्रभावतीसुता देया भवतेयं रतिप्रभा ॥१८०॥

वर्माने परमावधि ज्ञानको धारण करनेवाले चारणमुनि देखे, प्रभावतीने उनसे अपने पूर्वभवका वृत्तान्त पूछा, मुनिराज भी अनुग्रह बुद्धिसे उन दोनोके पूर्वभवका वृत्तान्त इस प्रकार कहने लगे ॥१६८–१६९॥ कि तुम दोनों इस जन्मसे तीसरे जन्ममें मृणालवती नगरीके वैश्य कुलमे रतिवेगा तथा सुकान्त हुए थे ॥१७०॥ स्त्री पुरुषका सम्बन्ध पाकर तुम दोनो शत्रुके भयसे भागकर शक्तिषेणकी शरण गये थे। वहाँ शक्तिषेणने मुनिराजके लिए जो आहार दान दिया था उसकी अनुमोदना कर तुम दोनोने पुण्यबन्ध किया था, उसके बाद कबूतर-कबूतरीके भवमे धर्म लाभ कर यहाँ विद्याधर-विद्याधरी हुए हो। तुम दोनोके वैश्य जन्मके जो माता-पिता थे वे ही इस जन्मके भी तुम्हारे माता-पिता हुए हैं। तीसरे जन्मके तुम्हारे माता-पिता तथा मैने मिलकर एक साथ रतिषेण गुरुके समीप प्रोषध व्रत लिया था, और उसका चिरकाल तक पालन करते हुए श्रीजिनेन्द्रदेवके मन्दिरमे भक्तिपूर्वक अनेक उपकरणोसे सदा पूजा की थी उसीके फलस्वरूप हमलोग यहाँ विद्याधर हुए हैं। मै पूर्वभवमे रतिवर्म नामका भवदेवका पिता था, अब श्रीधर्म नामका विद्याधर हुआ हूँ, मैने शुद्ध हृदयसे संयम धारण कर चारणऋद्धि और तीसरा अवधि ज्ञान प्राप्त किया है। इस प्रकार मुनिराजके वचन सुनकर हिरण्यवर्मा और प्रभावती दोनों ही बहुत प्रसन्न हुए ॥१७१–१७६॥

इस तरह इन सबका समय सुखसे व्यतीत हो रहा था कि किसी एक समय प्रभावतीके पिता वायुरथ विद्याधरने प्रत्येक क्षण नष्ट होनेवाला मेघ देखकर ऐसा विचार किया कि यह समस्त संसार इसी प्रकार नष्ट हो जानेवाला है, फिर भी लोग इसे स्थिर रहनेवाला समझते हैं, यह अज्ञानरूपी घोर अन्धकार सब जगह क्यो छाया हुआ है? इस प्रकार यथार्थ स्वरूपका विचार कर विरक्त हो मनोरथ नामक पुत्रके लिए राज्य दे दिया और स्वयं निर्ग्रन्थ अवस्था धारण करनेकी इच्छा करने लगे ॥१७७–१७९॥ उसी समय वायुरथके सभी भाई-बन्धुओने बड़े

---

१ स्वपूर्व–अ०, प०, इ०, स०, ल०। २ दम्पतिसंबन्धम्। ३ भवदेवभयात्। ४ पलायितौ। ५ प्राप्य। ६ श्रीदत्तविमलश्रियौ। अशोकदेवजिनदत्ते च। ७ युवयो पितर.। श्रीदत्तविमलश्री-अशोकदेवजिनदत्ताः। ८ भवदेवस्य पिता रतिवर्मा। ९ जाता. स्म। १० श्रीधर्मखगाधिपति। ११ हिरण्यवर्माप्रभावत्यौ। १२ वायुरथादीनाम्। १३ विनश्वरशीलम्। १४ मेघम्। 'अभ्र मेघो वारिवाह. स्तनयित्नुर्बलाहक' इत्यभिधानात्। १५ पुत्रमित्रकलत्रस्रक्चन्दनादिकम्। १६ अज्ञानम्। १७ विरक्तो भूत्वा। १८ प्राप्तुमिच्छु.। १९ वायुरथस्य बन्धुजना।

मनोरथस्य पुत्राय कन्या चित्ररथाय सा । इत्याहुः[1] सोऽप्यनुज्ञाय[2] कृत्वा बन्धुविसर्जनम् ॥१८१॥
[3]हिरण्यवर्मणः सर्वखगराजाभिषेचनम् । विधाय बहुभिः सार्धं संप्राप्य मुनिपुङ्गवम् ॥१८२॥
संयमं प्रतिपन्नः सन् सहवायुरथः[4] स्वयम्[5] । तपो द्वादशधा प्रोक्तं यथाविधि समाचरत् ॥१८३॥
इत्युक्त्वा रतिवेगाऽहं रतिषेणा[6] प्रभावती । चाहमेवेति[7] सभ्यानां[8] निजगाद[9] सुलोचना ॥१८४॥
तदाकर्ण्य जयोऽप्याह पतिस्तासामहं[10] क्रमात् । जाये स्म[11] तत्र तत्रेति विश्वविस्मयकृद्वचः ॥१८५॥
पुन. प्रियां जयः प्राह प्रकृतं किंचिदप्यतः । अवशिष्टं तदप्युच्चैस्त्वया कान्ते निगद्यताम् ॥१८६॥
इति पत्युः परिप्रश्नाद्दशनज्योत्स्नया सभाम् । मूर्तिः कुमुद्वतीं वेन्दोर्विकासमुपनीयताम् ॥१८७॥
साऽब्रवीदिति तद्वृत्तं स्वपुण्यपरिपाकजम् । सुखं राज्यसमुद्भूतं यथेष्टमपि निर्विशन्[12] ॥१८८॥
परेद्युः कान्तया सार्द्धं[13] स्वेच्छया विहरन् वनम् । सरो धान्यकमालाख्यं वीक्ष्यादित्यगतेः[14] सुतः ॥१८९॥
[15]स्वप्राच्यभवसंबन्धं प्रत्यक्षमिव लक्षयन् । काललब्धिबलाल्लब्धनिर्वेदो विदुषां वरः ॥१९०॥
भङ्गुर[16] संगम. सर्वोऽप्यङ्गिनामभिवाञ्छितः । किं नाम सुखमत्रेदमल्पसंकल्पसंभवम् ॥१९१॥
आयुर्वायुचलं कायो हेय एवामयालयः । साम्राज्यं भुज्यते[17] लोलैर्बालि[18] शैर्बहुदोषलम्[19] ॥१९२॥
अदूरपारः[20] कायोऽयममारो दुरिताश्रयः । [21]तादात्म्यप्रात्मनोऽनेन[22] धिगेनमशुचिप्रियम्[23] ॥१९३॥

प्रेमसे आदित्यगतिके समीप जाकर प्रार्थना की 'कि यह प्रभावतीकी पुत्री रतिप्रभा कन्या आप मेरे मनोरथके पुत्र चित्ररथके लिए दे दीजिए।' आदित्यगतिने भी स्वीकार कर समागत वन्धुओको विदा किया ॥१८०–१८१॥ महाराज आदित्यगति सब विद्याधरोके राज्यपर हिरण्यवर्माका अभिषेक कर अनेक लोगोके साथ किन्ही मुनिराजके समीप पहुँचे, और वायुरथके साथ-साथ स्वय भी सयम धारण कर विधिपूर्वक शास्त्रोमें कहे हुए वारह प्रकारके तपश्चरण करने लगे ॥१८२–१८३॥ यह सब कहकर सुलोचनाने सब सभासदोसे कहा कि वह रतिवेगा भी मै ही हूँ, रतिषेणा (कबूतरी) भी मै ही हूँ और प्रभावती भी मै ही हूँ ॥१८४॥ यह सुनकर जयकुमारने भी सवको आश्चर्य करनेवाले वचन कहे कि उन तीनो भवोमें अनुक्रमसे मै ही उन रतिवेगा आदिका पति हुआ हूँ ॥१८५॥ जयकुमार फिर अपनी प्रिया सुलोचनासे कहने लगा कि हे प्रिये, कुछ वात बाकी और रह गयी है उसे भी तू अच्छी तरह कह दे ॥१८६॥ जिस प्रकार चन्द्रमाकी मूर्ति कुमुदिनीको विकसित कर देती है उसी प्रकार वह सुलोचना भी अपने पतिके पूर्वोक्त प्रश्नसे दाँतोकी कान्तिके द्वारा सभाको विकसित–हर्षित करती हुई अपने पुण्यके फलसे होनेवाले समाचारोको इस प्रकार कहने लगी कि वह हिरण्यवर्मा राज्यसे उत्पन्न हुए सुखका इच्छानुसार उपभोग करने लगा। किसी एक दिन अपनी वल्लभाके साथ विहार करता हुआ वह आदित्यगतिका पुत्र हिरण्यवर्मा धान्यकमाल नामके वनमे जा पहुँचा। वहाँ सर्पसरोवर देखकर उसे अपने पूर्वभवके सव सम्बन्ध प्रत्यक्षकी तरह दिखने लगे, काललब्धिके निमित्तसे जिसे वैराग्य उत्पन्न हुआ है और जो विद्वानोमें श्रेष्ठ है ऐसा वह हिरण्यवर्मा सोचने लगा कि प्राणियोकी इच्छाका विषयभूत यह सभी समागम क्षणभंगुर है, इस समागममे थोड़े-से संकल्पसे उत्पन्न हुआ यह सुख क्या वस्तु है ? यह आयुके समान चंचल है। अनेक रोगोका घर स्वरूप यह शरीर छोड़ने योग्य ही है। अनेक दोषोंको देनेवाले राज्यको चचल

१ वायुरथस्य वियोगादाहु । २ तथास्त्वित्यनुमतिं कृत्वा । ३ अय श्लोक ल० 'म० पुस्तकयोर्न दृश्यते । ४ वायुरथेन सहित । ५ आदित्यगति । ६ रविषेणेति कपोती । ७ सुलोचना । ८ सभाजनानाम् । ९ अभापत । १० रतिवेगादीनाम् । ११ जातोऽस्मि । १२ अनुभवन् । १३ प्रभावत्या सह । १४ हिरण्यवर्मा । १५ पूर्वभव । १६ क्षयशील । १७ आसक्तै । १८ मूर्खे । १९ वहुदोषप्रदम् । २० आसन्नावसाना. । २१ तत्स्वरूपत्वम् । २२ कायेन । २३ आत्मानम् ।

देहवासो[1] भयं नास्य [2]यानमस्मान्म[3]हद् भयम् । देहिनः किल मार्गस्य [4]विपर्यासोऽत्र[5] निर्वृतेः॥१९४॥
नीरूपोऽयं स्वरूपेण रूपी देहैररूपता । निर्वाणाप्तिरतो हेयो देह एव यथा तथा[6] ॥१९५॥
बन्धः सर्वोऽपि संबन्धो[7] भोगो रोगो रिपुर्वपुः । दीर्घमायाम्मल्यायुस्तृष्णाग्नेरिन्धनं धनम् ॥१९६॥
आदौ जन्म जरा रोगा मध्येऽन्तेऽप्यन्तकः खलः । इति चक्रक्रमंभ्रान्तिः जन्तोर्मध्येभवार्णवम्[8] ॥१९७॥
भोगिनो[9] भोगवद्[10] भोगा न[11] भोगा नाम भोग्यकाः। एवं भावयतो भोगान् भूयोऽभूवन् भयावहाः॥१९८
निषेव्यमाणा विषया विषमा विषसन्निभाः । देदीप्यन्ते[12] [13]बुभुक्षाभिर्दीपनीयैरिवौषधैः[14] ॥१९९॥
न तृप्तिरेभिरित्येष[15] एव दोषो न पोषकाः । तृषश्च[16] विषवल्लर्याः संसृतेश्चावलम्बनम् ॥२००॥
वनितातनुसंभूतकामाग्निः [17]स्नेहसेचनैः । कामिनं भस्मसाद्भावमनीत्वा न निवर्तते ॥२०१॥
जन्तोर्भोगेषु भोगान्ते सर्वत्र[18] [19]विरतिर्ध्रुवा । स्थैर्यं तस्याः[20] प्रयत्नोऽस्य क्रियाशेषो[21] मनीषिणः॥२०२
प्रापितोऽप्यसकृद्दुःखं भोगैस्तानेव याचते । धत्तेऽवताडितोऽप्यंहिं मात्रास्या एव बालकः ॥२०३॥

और मूर्ख लोग ही भोगते हैं, इस शरीरका अन्त निकट है, यह असार है; और पापका आश्रय है, इसी शरीरके साथ इस आत्माका तादात्म्य हो रहा है, इसलिए अपवित्र पदार्थोंसे प्रेम करनेवाले इस प्राणीको धिक्कार हो, इस प्राणीको शरीरमें निवास करनेसे तो भय मालूम नहीं होता परन्तु उससे निकलनेमें बड़ा भय मालूम होता है, निश्चयसे इस संसारमे मोक्षमार्गसे विपरीत प्रवृत्ति ही होती है ॥ १८७–१९४ ॥ यह जीव स्व स्वरूपकी अपेक्षा रूपरहित है परन्तु शरीरके सम्बन्धसे रूपी हो रहा है, रूपरहित होना ही मोक्षकी प्राप्ति है इसलिए जिस प्रकार बने उसी प्रकार शरीरको अवश्य ही छोडना चाहिए ॥ १९५ ॥ सब प्रकार सम्बन्ध ही बन्ध है, भोग ही रोग है, शरीर ही शत्रु है, लम्बी आयु ही तो दुःख देती है और धन ही तृष्णारूपी अग्निका ईंधन है ॥ १९६ ॥ इस जीवको पहले तो जन्म धारण करना पड़ता है, मध्यमे बुढ़ापा तथा अनेक रोग है और अन्तमे दुष्ट मरण है, इस प्रकार संसाररूप समुद्रके मध्यमें इस जीवको चक्रकी तरह भ्रमण करना पड़ता है ॥ १९७ ॥ भोग करनेवाले लोगोको ये भोग सर्पके फणोके समान है इसलिए भोग करने योग्य नही है इस प्रकार भोगोका बार-बार विचार करनेवाले पुरुषके लिए ये भोग बडे भयकर जान पडने लगते हैं ॥१९८॥ ये सेवन किये हुए विषय विषके समान है, जिस प्रकार उत्तेजक ओषधियोसे पेटकी आग भभक उठती है उसी प्रकार भोगकी इच्छाओसे ये विषय भभक उठते हैं ॥ १९९ ॥ इन विषयोसे तृप्ति नही होती केवल इतना ही दोष नही है किन्तु तृष्णाको पुष्ट करनेवाले भी हैं और ससाररूपी विषकी बेलको सहारा देनेवाले भी है ॥ २०० ॥ स्त्रियोके शरीरसे उत्पन्न हुई यह कामरूपी अग्नि स्नेहरूपी तेलसे प्रज्वलित होकर कामी पुरुषोंको भस्म किये बिना नही लौटती है ॥२०१॥ भोग करनेके बाद इन समस्त भोगोमे जीवोको वैराग्य अवश्य होता है, बुद्धिमान् लोगोंको जो तपश्चरण आदि क्रिया करनी पड़ती है वे सब इस वैराग्यको स्थिर रखनेका उपाय ही है ॥ २०२ ॥ यद्यपि यह जीव भोगोसे अनेक बार दुःखको प्राप्त है तथापि ये जीव उन्ही भोगोको चाहते है सो ठीक ही है क्योकि माता बालकको जिस पैरसे ताड़ती है बालक उसी-उसी प्रकार माताके चरणको पकड़ते है ॥२०३॥

---

१ शरीरे निवसनम् । २ निर्गमनम् । ३ देहवासात् । ४ व्यत्यय. । ५ देहिनि । ६ येन केन प्रकारेण । ७ पुत्रमित्रादिसंबन्ध । ८ भवार्णवे ल०, अ०, प० । ९ सर्पस्य । १० शरीरवत् । फणवद् वा । 'भोगः सुखे स्त्रियादिभृतावहेश्च फणकाययो' इत्यभिधानात् । ११ भोगा नाम न भोग्यका. ल० । १२ भृशं दहन्ति । १३ भोक्तुमिच्छाभिः । १४ दीपनहेतुभि । १५ भोगै । १६ तृष्णाया. । १७ स्नेह प्रीति. तैलं च । स्नेहसेवनै अ०, स० । स्नेहदीपनै प०, ल० । १८ सर्वेषु । १९ अप्रीति । २० विरते । २१ अनुष्ठानशेष ।

अध्रुवत्वं गुणं मन्ये भोगायुः[1]कायसंपदाम् । ध्रुवेष्वेषु कुतो मुक्तिर्विना मुक्तेः कुतः सुखम् ॥२०४॥
[2]विस्रम्भजननैः पूर्वं पश्चात् प्राणार्थहारिभिः । [3]पारिपन्थिकसङ्काशैर्विषयैः कस्य नापदः[4] ॥२०५॥
तद्दुःखस्यैव माहात्म्यं स्यात् सुखं विषयैश्च यत् । [5]यत्कारवल्लिका स्वादुःप्राभवं ननु तत्क्षुधः[6] ॥२०६॥
संकल्पसुखसंतोषाद् [7]विमुखस्त्वात्मजात सुखात् । गुञ्जाग्नितापसंतुष्टशाखामृगसमो जनः ॥२०७॥
सदास्ति निर्जरा नास्यै मुक्त्यै बन्धच्युतेर्विना । [8]तच्च्युतिश्च हतेर्बन्धहेतोस्तत्रादृतो यते[9] ॥२०८॥
केन मोक्षः कथं जीव्यं[10] कुतः सौख्यं क्व वा मतिः । [11]परिग्रहाग्रहग्राहगृहीतस्य भवार्णवे ॥२०९॥
किं[12] भव्यः किमभव्योऽयमितिसंशेरते[13] बुधाः । ज्ञात्वाऽप्यनित्यतां [14]लक्ष्मीकटाक्षशरशायिनि ॥२१०॥
अयं कायद्रुमः [15]कान्ताव्रततीततिवेष्टितः । जरित्वा[16] जन्मकान्तारे [17]कालाग्निग्रासमाप्स्यति ॥२११॥
यदि धर्मकणादित्थं[18] निदानविषदूषितात्[19] । सुखं धर्मामृताम्भोधिमज्जनेन किमुच्यते ॥२१२॥

भोग, आयु, काल और सम्पदाओमे जो अस्थिरपना है उसे मै एक प्रकारका गुण ही मानता हूँ क्योकि यदि ये सब स्थिर हो गये तो मुक्ति कैसे प्राप्त होगी ? और मुक्तिके विना सुख कैसे प्राप्त हो सकेगा ? ॥ २०४ ॥ पहले तो विश्वास उत्पन्न करनेवाले और पीछे प्राण तथा धनको अपहरण करनेवाले शत्रु तुल्य इन विपयोंसे किसे भला आपदाएँ प्राप्त नहीं होती है ? ॥ २०५ ॥ इन विपयोसे जो सुख होता है वह दु खका ही माहात्म्य है क्योकि जो करेला मीठा लगता है वह भूखका ही प्रभाव है ॥ २०६ ॥ यह जीव कल्पित सुखोसे सन्तुष्ट होकर आत्मासे उत्पन्न होनेवाले वास्तविक सुखसे विमुख हो रहा है इसलिए यह जीव गुमचियोंके तापनेसे सन्तुष्ट होनेवाले वानरके समान हैं। भावार्थ – जिस प्रकार गुमचियोके तापनेसे बन्दरकी ठण्ड नही दूर होती है उसी प्रकार इन कल्पित विपयजन्य सुखोसे प्राणियोकी दुःख-रूप परिणति दूर नही होती है ? ॥२०७॥ इस जीवके निर्जरा तो सदा होती रहती है परन्तु वन्धका अभाव हुए विना वह मोक्षका कारण नही हो पाती है, वन्धका अभाव वन्धके कारणोंका नाश होनेसे हो सकता है इसलिए मैं वन्धके कारणोंका नाश करनेमें ही प्रयत्नशील हूँ॥२०८॥* इस संसाररूपी समुद्रमे जिन्हें परिग्रहके ग्रहण करने रूप पिशाच लग रहा है उन्हे भला मोक्ष किस प्रकार मिल सकता है ? उनका जीवन किस प्रकार रह सकता है ? उन्हे सुख कहाँसे मिल सकता है और उन्हे वुद्धि ही कहाँ उत्पन्न हो सकती है ? ॥ २०९ ॥ लक्ष्मीके कटाक्षरूपी वाणोंसे सुलाये हुए (नष्ट हुए) पुरुपमें अनित्यताको जानकर भी विद्वान् लोग 'यह भव्य है ? अथवा अभव्य है ?' इस प्रकार व्यर्थ सशय करने लगते है ॥ २१० ॥ स्त्रीरूपी लताओके समूहसे घिरा हुआ यह शरीररूपी वृक्ष संसाररूपी अटवीमे जीर्ण होकर कालरूपी अग्निका ग्रास हो जायगा ॥२११॥ जव कि निदानरूपी विपसे दूपित कर्मके एक अंशसे मुझे ऐसा सुख मिला है तब धर्मरूपी अमृतके समुद्रमें अवगाहन करनेसे जो सुख प्राप्त होगा उसका तो

१ काल – ल० । २ विश्वासजनकैः । ३ शत्रुसदृशै । ४ न विपत्तय. । ५ कटुकास्वादः शाकविशेष. । कारवेल्लिक स्वादु प०, द०, स०, अ०, ल० । ६ वुभुक्षायाः । ७ विमुखश्चात्मजान् ल०, प०, इ०, अ० । ८ तत् कारणात् । ९ यत्न करोमि । १० जीवनम् । ११ परिग्रहस्वीकारनक्रस्वीकृतस्य । १२ विशिष्टेष्ट-परिणामेन किं भविष्यति । १३ संशयं कुर्वन्ति । १४ अपाङ्गदर्शनवाणतनूकृतशरीरे पुंसि । १५ भार्यालता । १६ जीर्णीभूत्वा । १७ यमदावाग्निः । १८ धर्मलेशात् । १९ कपोतजन्मनि कुवेरमित्रेण स्वेन कृतदानपुण्यस्यैकाश कपोतस्य दत्त' विद्याधरविमानं विलोक्य कपोत. श्रेष्ठिदत्तपुण्याशात् मम विद्याधरत्वं भवत्विति कृतनिदानविपदूपितत्वात् ।

* मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कपाय और योग ये वन्धनके कारण है ।

[1]अवोधद्वेषरागात्मा संसारस्तद्विपर्ययः। मोक्षश्चेद् वीक्षितो विज्ञैः[2] कः क्षेपो[3] मोक्षसाधने ॥२१३॥
यदि[4] देशादिसाकल्ये न तपस्तत्पुनः कुतः। मध्येऽर्णवं यतो[5] वेगात् कराग्रच्युतरत्नवत् ॥२१४॥
[6]आत्मँस्त्वं परमात्मानमात्मन्यात्मानमात्मना। हित्वा दुरात्मतामात्मनीने[7] ऽध्वनि[8] चरन्[9] कुरु ॥२१५॥
इति संचिन्तयन् गत्वा पुरं[10] परमतत्त्ववित्। सुवर्णवर्मणे राज्यं साभिषेकं वितीर्य सः ॥२१६॥
अवतीर्य[11] महीं प्राप्य श्रीपुरं श्रीनिकेतनम्[12]। दीक्षां जैनेश्वरीं प्राप श्रीपालगुरुसंनिधौ ॥२१७॥
परिग्रहग्रहान्मुक्तो दीक्षित्वा स तपोंऽशुभिः। हिरण्यवर्मा[13] घर्मांशुर्निर्मलो व्यद्युतत्तराम् ॥२१८॥
प्रभावती च तन्मात्रा[14] [15]गुणवत्यास्ततोऽगमत्। कुतश्चन्द्रमसं मुक्त्वा चन्द्रिकायाः स्थितिः पृथक् ॥
सद्वृत्तस्तपसा दीप्तो दिगम्बरविभूषणः[16]। निस्संगो[17] व्योमगाम्येकविहारी विश्ववन्दितः ॥२२०॥
नित्योदयो[18] बुधाधीशो विश्वदृश्वा[19] विरोचनः[20]। स कदाचित् समागच्छन्मोदयन् पुण्डरीकिणीम् ॥२२१॥

कहना ही क्या है? ॥२१२॥ यह संसार अज्ञान, द्वेष और राग स्वरूप है तथा मोक्ष इससे विपरीत है अर्थात् सम्यग्ज्ञान और समता स्वरूप है। यदि विद्वान् लोग ऐसा देखते रहे तो फिर मोक्ष होनेमे देर ही क्या लगे? ॥२१३॥ जिस प्रकार वेगसे जाते हुए पुरुषके हाथसे बीच समुद्रमें छूटा हुआ रत्न फिर नही मिल सकता है उसी प्रकार देश-काल आदिकी सामग्री मिलनेपर भी यदि तप नही किया तो वह तप फिर कैसे मिल सकता है? ॥२१४॥ इसलिए हे आत्मन्, तू आत्माका हित करनेवाले मोक्षमार्गमें दुरात्मता छोड़कर अपने आत्माके द्वारा अपने ही आत्मामे परमात्मा रूप अपने आत्माको ही स्वीकार कर ॥२१५॥ इस प्रकार चिन्तवन करते हुए परम तत्त्वके जाननेवाले राजा हिरण्यवर्माने अपने नगरमें जाकर अपने पुत्र सुवर्णवर्माके लिए अभिषेकपूर्वक राज्य सौंपा और फिर विजयार्द्ध पर्वतसे पृथ्वीपर उतरकर लक्ष्मीके गृहस्थरूप श्रीपुर नामके नगरमे श्रीपाल गुरुके समीप जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली ॥२१६-२१७॥ परिग्रहरूपी पिशाचसे युक्त हो दीक्षा धारण कर सूर्यके समान निर्मल हुआ वह राजा हिरण्यवर्मा तपश्चरणरूपी किरणोसे बहुत ही देदीप्यमान हो रहा था ॥२१८॥ प्रभावतीने भी हिरण्यवर्माकी माता–शशिप्रभाके साथ गुणवती आर्यिकाके समीप तप धारण किया था सो ठीक ही है क्योंकि चन्द्रमाको छोड़कर चाँदनीकी पृथक् स्थिति भला कहाँ हो सकती है? ॥२१९॥ वे हिरण्यवर्मा मुनिराज ठीक सूर्यके समान जान पडते थे क्योकि जिस प्रकार सूर्य सद्वृत्त अर्थात् गोल है उसी प्रकार वे मुनिराज भी सद्वृत्त अर्थात् निर्दोष चारित्रको धारण करनेवाले थे। जिस प्रकार सूर्य तप अर्थात् गरमीसे देदीप्यमान रहता है उसी प्रकार मुनिराज भी तप अर्थात् अनशनादि तपश्चरणसे देदीप्यमान रहते थे, जिस प्रकार सूर्य दिगम्बर अर्थात् दिशा और आकाशका आभूषण है उसी प्रकार मुनिराज भी दिगम्बर अर्थात् दिशारूप वस्त्रको धारण करनेवाले निर्ग्रन्थ मुनियोके आभूषण थे, जिस प्रकार सूर्य नि सग अर्थात् सहायतारहित अकेला होता है उसी प्रकार मुनिराज भी निःसंग अर्थात् परिग्रहरहित थे, जिस प्रकार सूर्य आकाशमे गमन करता है उसी प्रकार चारणऋद्धि होनेसे मुनिराज भी आकाशमें गमन करते थे, जिस प्रकार सूर्य अकेला ही घूमता है उसी प्रकार मुनिराज भी अकेले ही घूमते थे — एकविहारी थे, जिस प्रकार सूर्यको सब वन्दना करते है उसी प्रकार मुनिराजको भी सब वन्दना

१ अज्ञान। २ बुधैः। ३ कालयापना। ४ सुदेशकुलजात्यादिसामग्र्ये। ५ गच्छत। ६ आत्मन् स्वं ल०। ७ आत्महिते। ८ मार्गे। ९ वरं ल०, प०। रतिं कुरु अ०, स०। १० धान्यकमालवनात् निजनगरं प्राप्य। ११ विजयार्द्धाचलात् भुवं प्राप्य। १२ श्रीगृहम्। १३ आदित्य। १४ हिरण्यवर्मणो जनन्या शशिप्रभया सह। १५ गुणवत्यार्यिकायाः समीपे। १६ रविपक्षे दिशश्च अम्बरं च विभूषयतीति। १७ गगनचारिणः। १८ सर्वकालोत्कृष्टबोधः। १९ जगच्चक्षु। २० रविरिव।

सप्रभा चन्द्रलेखेव सह तत्र[1] प्रभावती। गुणवत्या समागँस्त[2] संगतिः स्याद्यदृच्छया ॥२२२॥
[3]गुणवत्यार्यिकां दृष्ट्वा नत्वोक्ता प्रियदत्तया। [4]कुतोऽसौ[5][6] गणिनीत्याख्यत्[7] स्वर्गतेति[8] प्रभावती ॥२२३॥
तच्छ्रुत्वा नेत्रभूता[9] नौ सैवेति[10] शुचमागता। कुतः प्रीतिस्तयेत्युक्ता साऽब्रवीत् प्रियदत्तया ॥२२४॥
न स्मरिष्यसि किं पारावतद्वन्द्वं भवद्गृहे। [11]तत्राहं रतिषेणेति तच्छ्रुत्वा विस्मिताऽवदत् ॥२२५॥
क्वासौ रतिवरोऽद्येति सोऽपि विद्याधराधिपः। हिरण्यवर्मा[12] कर्मारिर्यतिरत्रेति[13][14] साब्रवीत् ॥२२६॥
प्रियदत्ताऽपि तं[15] गत्वा वन्दित्वैत्य[16] महामुनिम्। प्रभावती परिप्रश्नात् पत्युरन्याह वृत्तकम् ॥२२७॥
विजयार्द्धगिरेरस्य गान्धारनगरादिह[17]। विहर्तुं रतिषेणोऽमा गान्धार्या प्रिययाऽगमत् ॥२२८॥
गान्धारी सर्पदष्टाऽहमिति तत्र मृषा स्थिता। मन्त्रौषधीः प्रयोज्यास्याः श्रेष्ठी[18] विद्याधरश्च सः ॥२२९॥

करते थे, जिस प्रकार सूर्यका नित्य उदय होता है उसी प्रकार मुनिराजके भी ज्ञान आदिका नित्य उदय होता रहता था, जिस प्रकार सूर्य बुध अर्थात् बुधग्रहका स्वामी होता है उसी प्रकार मुनिराज भी बुध–अर्थात् विद्वानोंके स्वामी थे, जिस प्रकार सूर्य विश्वदृश्वा अर्थात् सब पदार्थों-को प्रकाशित करनेवाला है उसी प्रकार मुनिराज भी विश्वदृश्वा अर्थात् सब पदार्थोंको जानने-वाले थे, जिस प्रकार सूर्य विरोचन अर्थात् अत्यन्त देदीप्यमान रहता है अथवा विरोचन नामको धारण करनेवाला है उसी प्रकार मुनिराज भी विरोचन अर्थात् अत्यन्त देदीप्यमान थे अथवा रुचिरहित उदासीन थे और जिस प्रकार सूर्य पुण्डरीकिणी अर्थात् कमलिनीको प्रफुल्लित करता है उसी प्रकार मुनिराज भी पुण्डरीकिणी अर्थात् विदेह क्षेत्रकी एक विशेष नगरीको आनन्दित करते थे इस प्रकार सूर्यकी समानता रखनेवाले मुनिराज हिरण्यवर्मा किसी समय पुण्डरीकिणी नगरीमें पधारे ॥२२०–२२१॥ प्रभासहित चन्द्रमाकी कलाके समान आर्यिका-प्रभावती भी वहाँ आयी और गुणवती-गणिनीके साथ मिलकर रहने लगी सो ठीक ही है क्योंकि समागम अपनी इच्छानुसार ही होता है ॥२२२॥ गुणवती गणिनीको देखकर प्रियदत्ताने नमस्कार कर पूछा कि संघाधिकारिणी अमितमति कहाँ है? तब उसने कहा कि 'वह तो स्वर्ग चली गयी है' यह सुनकर प्रभावती कुछ शोक करने लगी और कहने लगी कि 'हम दोनोंकी आँखें वही थी,' तब प्रियदत्ताने पूछा कि उनके साथ तुम्हारा प्रेम कैसे हुआ? उत्तरमें प्रभावती कहने लगी कि आपको क्या स्मरण नहीं है आपके घरमें जो कबूतर-कबूतरीका जोड़ा रहता था उनमें-से मैं रतिषेणा नामकी कबूतरी हूँ, यह सुनकर प्रियदत्ता आश्चर्यसे चकित होकर कहने लगी कि 'वह रतिवर कबूतर आज कहाँ है तब प्रभावतीने कहा कि वह भी विद्याधरोंका राजा हिरण्यवर्मा हुआ है और कर्मरूपी शत्रुओंको नाश करनेवाला वह आज इसी पुण्डरीकिणी नगरी-में विराजमान है। प्रियदत्ताने भी जाकर महामुनि-हिरण्यवर्माकी वन्दना की और फिर प्रभावतीके पूछनेपर अपने पतिका वृत्तान्त इस प्रकार कहने लगी ॥२२३–२२७॥

एक रतिषेण नामका विद्याधर अपनी स्त्री गान्धारीके साथ-साथ इसी विजयार्ध पर्वतके गान्धार नगरसे विहार करनेके लिए यहाँ आया था ॥२२८॥ मुझे सर्पने काट खाया है इस प्रकार झूठ-झूठ बहाना कर गान्धारी यहाँ पड़ रही, सेठ कुबेरकान्त और विद्याधरने बहुत-सी औषधियोंका प्रयोग किया परन्तु गान्धारीने मायाचारीसे कह दिया कि 'अभी मुझे

१ पुण्डरीकिण्याम्। २ समागतवती संगतवती वा। ३ गुणवत्यादिका ट०। गुणवती शशिप्रभावत्यार्यिकाः। ४ क्वास्ते। ५ यशस्वती। ६ अनन्तमतिसहिताऽमितमत्यार्यिका। ७ गुणवती जगाद। ८ नाक प्राप्तेति। ९ नेत्रसदृशी। १० प्रियदत्ता। ११ पारावतद्वन्द्वे। १२ कर्मारिघाति ल०, प०। १३ अस्मिन् पुरे तिष्ठतीति। १४ प्रभावती। १५ हिरण्यवर्ममुनिम्। १६ पुनरागत्य। १७ पुण्डरीकिण्याम्। १८ कुबेरकान्त.।

मायया नास्मि शान्तेति तद्वाक्यात् खेदमागतौ[1]। आह तु स्वपतौ याते वनं[2] शक्तिमदौषधम्[3] ॥२३०॥
गान्धारी[4] बन्धकीभावमुपेत्य[5] स्मरविक्रियाम्। [6]दर्शयन्ती निरीक्ष्याह वणिग्वर्यो दृढव्रतः ॥२३१॥
अहं[7] वर्षवरो वेत्सि न किं मामित्युपायवित्। व्यधाद् विरक्तचित्तां तां तदेव हि धियः फलम् ॥२३२॥
तदानीमागते पत्यौ स्वे स्वास्थ्यमहमागता। पूर्वौषधप्रयोगेत्युक्त्वाऽगात् सपतिः[8] पुरम् ॥२३३॥
दयितान्तकुबेराख्यो मित्रान्तश्च कुबेरवाक्। परः कुबेरदत्तश्च कुबेरश्चान्तदेववाक्[9] ॥२३४॥
कुबेरादिप्रियश्चान्यः पञ्चैते संचितश्रुताः। कलाकौशलमापन्नाः संपन्ननवयौवनाः ॥२३५॥
एतैः स्वसूनुभिः सार्धमारुह्य शिबिकां वनम्। धृत्वा कुबे[10]रश्रीगर्भं मां विहर्तुं समागताम् ॥२३६॥
दृष्ट्वा कदाचिद् गान्धारी पृथक्[11] पृष्टवती पुमान्। त्वच्छ्रेष्ठी [12]नेति तत्सत्यमुत[13] नेत्यन्ववादिषम् ॥२३७॥
तत्सत्यमेव [14]मत्तोऽन्यां प्रत्यसौ न पुमानिति। तदाकर्ण्य विरज्यासौ[15] सपतिः संयमं श्रिता ॥२३८॥
पुनस्तत्रागता[16] दृष्टा दीक्षेयं केन हेतुना। तवेति सा मया पृष्टा प्रणम्य प्रियोक्तिभिः ॥२३९॥
श्रेष्ठ्येव ते तपोहेतुरिति प्रत्यब्रवीदसौ। निगूढं तद्वचः श्रेष्ठी श्रुत्वाऽऽगत्य पुरः स्थितः ॥२४०॥
मामजैषीत्[17] सखाऽसौ मे[18] [19]क्वाद्येति परिपृष्टवान्। सोऽपि मत्कारणेनैव गृहीत्वेहागमत्तपः[20] ॥२४१॥
इति तद्वचनाच्छ्रेष्ठी नृपश्चाभ्येत्य तं मुनिम्। वन्दित्वाधर्ममापृच्छ्य काललब्ध्या महीपतिः[21] ॥२४२॥

शान्ति नही हुई है, यह सुनकर उसके पति रतिषेणको बहुत दुःख हुआ। वह अधिक शक्ति-वाली औषधि लानेके लिए वनमे चला गया, इधर उसके चले जानेपर गान्धारीने कुलटापन धारण कर कामकी चेष्टाएँ दिखायी, यह देखकर उपायको जाननेवाले और अपने व्रतमे दृढ रहने-वाले सेठ कुबेरकान्तने कहा कि अरे, मै तो नपुसक हूँ – क्या तुझे मालूम नही? ऐसा कहकर सेठने उसे अपनेसे विरक्तचित्त कर दिया सो ठीक ही है क्योकि बुद्धिका फल यही है ॥२२९–२३२॥ इतनेमें ही उसका पति वापस आ गया, तब गान्धारीने कह दिया कि मै पहले दी हुई औषधिके प्रयोगसे ही स्वस्थ हो गयी हूँ ऐसा कहकर वह पतिके साथ नगरमे चली गयी ॥२३३॥ कुबेरदयित, कुबेरमित्र, कुबेरदत्त, कुबेरदेव और कुबेरप्रिय ये पाँच मेरे पुत्र थे। ये पाँचो ही समस्त शास्त्रोको जाननेवाले, कला-कौशलमे निपुण तथा नव यौवनसे सुशोभित थे। किसी एक दिन जब कि कुबेरश्री कन्या मेरे गर्भमे थी तब मै अपने पूर्वोक्त पुत्रोके साथ पालकीमे बैठकर वनमे विहार करनेके लिए गयी थी उसी समय गान्धारीने मुझे देखकर और अलग ले जाकर मुझसे पूछा कि 'आपके सेठ पुरुष नही हैं' क्या यह बात सच है अथवा झूठ? तब मैने उत्तर दिया कि बिलकुल सच है क्योकि वे मेरे सिवाय अन्य स्त्रियोके प्रति पुरुष नही है यह सुनकर उसने विरक्त हो अपने पतिके साथ-साथ सयम धारण कर लिया ॥२३४–२३८॥ किसी एक दिन वह गान्धारी आर्यिका यहाँ फिर आयी तब मैने दर्शन और प्रणाम कर प्रिय वचनो-द्वारा पूछा कि 'आपने यह दीक्षा किस कारणसे ली है?' उसने उत्तर दिया था कि 'मेरे तपश्चरण-का कारण तेरा सेठ ही है, सेठ भी गुप्तरूपसे यह बात सुनकर सामने आकर खड़े हो गये और पूछने लगे कि जिसने मुझे जीत लिया है ऐसा मेरा मित्र आज कहाँ है? तब गान्धारी आर्यिकाने कहा कि 'वे भी मेरे ही कारण तप धारण कर यहाँ पधारे हैं, ॥२३९–२४१॥ यह सुनकर सेठ और राजा दोनो ही उन मुनिराजके समीप गये और दोनोने

---

१ –मागते ल०। तौ द्वौ खेदमानतौ अ०, स०। २ विजयार्द्धवनम्। ३ विषापहरणसामर्थ्यवन्महौषधम्। ४ गान्धारी ल०। ५ कुलटात्वम्। ६ दर्शयन्ती ल०। ७ वर्षवर ल०। पण्ड। ८ पतिसहिता। ९ कुबेर-देव। १० कुबेरश्रिय संबन्धि गर्भम्। ११ एकान्ते। १२ पुमान् न भवतीति। १३ असत्य वा। १४ मत्। १५ गान्धारी। १६ पुण्डरीकिण्याम्। १७ जितवती। १८ मम मित्र रतिषेण। १९ कुत्र तिष्ठतीति। २० गतस्तपः ल०, अ०, प०, स०। २१ लोकपाल.।

गुणपालाय तद्राज्यं दत्वा संयममादधे[1] । निकटे रतिषेणस्य विद्याधरमुनीशितुः ॥२४३॥
पञ्चमं[3] स्वपदे सूनुं नियोज्यान्यैः[4] सहात्मजैः । ययौ श्रेष्ठी[5] च तत्रैव दीक्षां मोक्षाभिलाषुकः ॥२४४॥
तथोक्त्वा कान्तवृत्तान्तं[6] सा[7] समुत्पन्नसंविदा[8] । विरज्य गृहसंवासात कुबेरादिश्रियं सतीम्[9] ॥२४५॥
[10]गुणपालाय दत्वा स्वां सुतां गुणवतीं[11] श्रिता । प्रभावत्युपदेशेन प्रियदत्ताऽप्यदीक्षत[12] ॥२४६॥
मुनिं हिरण्यवर्माणं कदाचित् प्रेतभूतले[13] । दिनानि सप्त संगीर्य[14] प्रतिमायोगधारिणम् ॥२४७॥
वन्दित्वा नागराः[15] सर्वे तत्पूर्वभवसंकथा । कुर्वाणा पुरमागच्छन् विद्युच्चोरोऽप्युदीरितात्[16] ॥२४८॥
चेटक्याः प्रियदत्तायास्तन्मुनेः प्राक्तनं भवम् । विदित्वा तद्गतक्रोधात्तदोत्पन्नविभङ्गकः[17] ॥२४९॥
मुनिपृथक्प्रदेशस्थां[18] प्रतिमायोगमास्थिताम्[19] । प्रभावतीं च संयोज्य चितिकायां[20] दुराशयः ॥२५०॥
एकस्यामेव निक्षिप्याधाक्षी[21]दघजिघृक्षया[22] । सोढ्वा तदुपसर्गं तौ विशुद्धपरिणामतः ॥२५१॥
स्वर्गं समुदपद्येतां[23] क्षमया किं न जायते । [24]सुवर्णवर्मा तज्ज्ञात्वा विद्युच्चोरस्य निग्रहम् ॥२५२॥
करिष्यामीति कोपेन पापिनः संगरं व्यधात्[25] । विदित्वाऽवधिबोधेन तत्तौ[26] स्वर्गनिवासिनौ ॥२५३॥
प्राप्य संयमरूपेण सुतां धर्मकथादिभिः । तत्त्वं श्रद्धाप्य[27] तं कोपादपास्य कृपयाऽऽहितौ[28] ॥२५४॥

ही वन्दना कर धर्मका स्वरूप पूछा। काललब्धिका निमित्त पाकर राजा लोकपालने अपने पुत्र गुणपालके लिए राज्य दिया और उन्ही विद्याधर मुनि रतिषेणके निकट संयम धारण कर लिया ॥२४२-२४३॥ मोक्षके अभिलाषी सेठने भी अपने पाँचवे पुत्र – कुबेरप्रियको अपने पदपर नियुक्त कर अन्य सव पुत्रोके साथ-साथ वही दीक्षा धारण की ॥२४४॥ इस प्रकार प्रियदत्ता अपने पतिका वृत्तान्त कहकर उत्पन्न हुए आत्मज्ञानके द्वारा गृहवाससे विरक्त हो गयी थी, उस सतीने अपनी कुबेरश्री पुत्री राजा गुणापलको दी और स्वय गुणवती आर्यिकाके समीप जाकर प्रभावतीके उपदेशसे दीक्षा धारण कर ली ॥२४५-२४६॥ किसी समय मुनिराज हिरण्यवर्माने सात दिनका नियम लेकर श्मशानभूमिमे प्रतिमा योग धारण किया, नगरके सव लोग उनकी वन्दना करनेके लिए गये थे। वन्दना कर उनके पूर्वभवकी कथाएँ कहते हुए जव सव लोग नगरको वापस लौट आये तव एक विद्युच्चोरने भी प्रियदत्ताकी चेटीसे उन मुनिराजका वृत्तान्त सुना, सुनकर उसे उनके प्रति कुछ क्रोध उत्पन्न हुआ और उसी क्रोध-के कारण उसे विभंगावधि भी प्रकट हो गया, उस विभंगावधिसे उसने मुनिराजके पूर्वभवके सव समाचार जान लिये। यद्यपि मुनिराज प्रतिमायोग धारण कर अलग ही विराजमान थे और प्रभावती भी अलग विद्यमान थी तो भी उस दुष्टने पापसंचय करनेकी इच्छासे उन दोनोंको मिलाकर और एक ही चितापर रखकर जला दिया वे दोनो विशुद्ध परिणामोसे उपसर्ग सहन कर स्वर्गमे उत्पन्न हुए सो ठीक ही है क्योकि क्षमासे क्या-क्या नही होता ? जव सुवर्णवर्मा-को इस वातका पता चला तव उसने प्रतिज्ञा की कि मैं विद्युच्चोरका निग्रह अवश्य ही करूँगा – उसे अवश्य ही मारूँगा। यह प्रतिज्ञा स्वर्गमे रहनेवाले हिरण्यवर्मा और प्रभावतीके जीव देव-देवियोने अवधिज्ञानसे जान ली, शीघ्र ही सयमीका रूप बनाकर पुत्रके पास पहुँचे, दया

१ –माददौ अ०, ल०, प०, स०, इ० । २ मुर्नीशिन. ल० । ३ चरमपुत्रं कुबेरप्रियम् । ४ कुबेरदयितादिभि । ५ कुबेरकान्तः । ६ प्रियस्य वृत्तकम् । ७ प्रियदत्ता । ८ समुत्पन्नज्ञानेन । ९ सती ल० । १० लोकपालस्य सुताय । ११ गुणवत्यार्यिकाम् । १२ दीक्षामग्रहीत् । १३ चैत्यभूतले ल० । चितायोग्यमहीतले । परेतभूमावित्यर्थ । १४ प्रतिज्ञा कृत्वा । १५ नगरजना । १६ वचनात् । उदीरिताम् ल०, अ०, प०, स०, इ० । १७ विभङ्गत. ल०, अ०, स०, इ० । १८ नित्यमण्डितचैत्यालयस्य पुर. प्रतिमायोगस्थितामित्यर्थ. । प्रदेशस्थे ल० । १९ –मास्थितम् ल० । २० शवशय्यायाम् । २१ दहति स्म । २२ पापं गृहीतुमिच्छया । २३ कनकप्रभदेवकनकप्रभदेव्यौ समुत्पन्नौ । २४ हिरण्यवर्मण सुत. । २५ प्रतिज्ञामकरोत् । २६ हिरण्यवर्मप्रभावतीचरदेवदेव्यौ । २७ विश्वास नीत्वा । २८ दयया स्वीकृतौ ।

दिव्यरूपं[1] समादाय निगद्य निजवृत्तकम् । प्रदायाभरणं तस्मै परार्द्ध्यं स्वपदं गतौ ॥२५५॥
कदाचिद् वत्सविषये सुसीमा नगरे मुनेः । शिवघोषस्य कैवल्यं[2] मुदपाद्यस्तघातिनः ॥२५६॥
शक्रप्रिये[3] शची मेनका च नत्वा जिनेश्वरम् । समाश्रित्य सुराधीशं स्थिते प्रश्नात्[4] सुरेशितुः ॥२५७॥
अत्रैव सप्तमेऽह्नि[5] प्राक्[6] [7]समात्तश्रावकव्रते । नाम्ना पुष्पवती सान्त्या[8] प्रथमा पुष्पपालिता ॥२५८॥
[9]कुसुमावचयासक्त वने सर्पाग्निहेतुना[10] । मृते देव्यावजायेतामित्याहासौ स्म तीर्थकृत् ॥२५९॥
प्रभावतीचरी देवी श्रुत्वा देवश्च तत्पतिः । स्वपूर्वभवसंबन्धं तत्रागातां समावनेः[11] ॥२६०॥
निजान्यजन्मसौख्यानुभूतदेशान्निजेच्छया । आलोकयन्तौ तत्सर्पसरोवणसमीपगौ ॥२६१॥
सह सार्थेन[12] भीमाख्यं साधुं दृष्ट्वा समागतम् । विनयेनाभिवन्द्यैनं धर्मं तौ समपृच्छताम् ॥२६२॥
मुनिस्तद्वचनं श्रुत्वा नाहं धर्मोपदेशने । सर्वागमार्थवित्कार्येऽसमर्थो नवसंयतः ॥२६३॥
प्ररूपयिष्यते किंचित्[13] स युष्मदनुरोधतः । मया तथापि श्रोतव्यं यथाशक्त्यवधानवत्[14] ॥२६४॥
इति सम्यक्त्वसत्पात्रदानादि श्रावकाश्रयम् । [15]यमादियतिसंबन्धं धर्मं गतिचतुष्टयम् ॥२६५॥
तद्धेतुफलपर्यन्तं भुक्तिमुक्तिनिबन्धनम्[16] । जीवादिद्रव्यतत्त्वं च यथावत् प्रत्यपादयत् ॥२६६॥

धारण करनेवाले उन देव-देवियोने धर्मकथाओ आदिके द्वारा तत्त्वश्रद्धान कराकर उसका क्रोध दूर किया और अन्तमे अपना दिव्यरूप प्रकट कर अपना सब हाल कहा तथा उसे बहुमूल्य आभूषण देकर दोनो ही अपने स्थानपर चले गये ॥२४७–२५५॥ किसी एक दिन वत्स देशमे सुसीमानगरीके समीप घातिया कर्म नष्ट करनेवाले शिवघोष मुनिराजको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ ॥२५६॥ उस उत्सवमे शची और मेनका नामकी देवागनाएँ भी इन्द्रके साथ आयी और श्रीजिनेन्द्रदेवको नमस्कार कर इन्द्रके पास ही बैठ गयी। इन्द्रने भगवान्‌से पूछा कि ये दोनो किस कारणसे देवियाँ हुई है? तब तीर्थंकर देव कहने लगे कि दोनो ही पूर्वभवमे मालिनकी लड़कियाँ थी, पहलीका नाम पुष्पपालिता था और दूसरीका पुष्पवती। इन दोनोने आजसे सातवे दिन पहले श्रावकव्रत लिये थे। एक दिन ये वनमे फूल तोडनेमें लगी हुई थी कि सर्परूपी अग्निके कारण मर गयी और मरकर देवियाँ हुई है ॥२५७–२५९॥ हिरण्यवर्मा और प्रभावतीके जीव जो देव-देवी हुए थे उन्होने भी उस समय समवसरणमें अपने पूर्वभवके सम्बन्ध सुने और फिर दोनों ही सभाभूमिसे निकलकर इच्छानुसार पूर्वभव सम्बन्धी सुखानुभवनके स्थानोको देखते हुए सर्पसरोवरके समीपवाले वनमें पहुँचे ॥२६०–२६१॥ उस वनमे अपने सघके साथ-साथ एक भीम नामके मुनि भी आये हुए थे, दोनोने उन्हे देखकर विनयपूर्वक नमस्कार किया और धर्मका स्वरूप पूछा ॥२६२॥ उनके वचन सुनकर मुनि कहने लगे कि अभी नवदीक्षित हूँ, धर्मका उपदेश देना तो समस्त शास्त्रोका अर्थ जाननेवाले मुनियोका कार्य है इसलिए यद्यपि मैं धर्मोपदेश देनेमे समर्थ नही हूँ तथापि तुम्हारे अनुरोधसे शक्तिके अनुसार कुछ कहता हूँ तुम लोगोंको सावधान होकर सुनना चाहिए ॥२६३–२६४॥ यह कहकर उन्होने सम्यग्दर्शन तथा सत्पात्रदान आदि श्रावक सम्बन्धी और यम आदि मुनि सम्बन्धी धर्मका निरूपण किया। चारो गतियाँ, उनके कारण और फल, स्वर्ग मोक्षके निदान एवं जीवादि द्रव्य और तत्त्व इन

१ दिव्य रूप ल०, प०, इ०। २ समुत्पन्नम्। ३ इन्द्रस्य वल्लभे। ४ इमे पूर्वजन्मनिके इति इन्द्रस्य प्रश्नवशात् तीर्थकृदाह। ५ आ सप्तदिनात् पूर्वमित्यर्थः। ६ पूर्वजन्मनि। ७ सम्यक्स्वीकृत। ८ सान्त्या ल०। ९ पुष्पकरण्डकनाम्नि वने पुष्पवाटीकुसुमावचयार्थमासक्ते इत्यर्थ। १० अहिविषाग्निकारणेन। ११ समवसरणात्। १२ वणिक्छिबिरेण। १३ धर्म.। १४ क्रियाविशेषणम्। १५ संयम। १६ मुक्तिकारणम्।

तच्छ्रुत्वा पुनरप्याभ्यां[1] भवता केन हेतुना। प्रव्रज्येत्यनुयुक्तो[2]ऽसौ वक्तुं[3] प्रक्रान्तवान् मुनिः ॥२६७॥
विदेहे पुष्कलावत्यां नगरी पुण्डरीकिणी। तत्राहं भीमनामाऽऽसं[4] स्वपापाद् दुर्गते[5] कुले ॥२६८॥
अन्येद्युर्यतिमासाद्य किंचित्कालादिलब्धितः। श्रुत्वा धर्मं ततो लेभे गृहिमूलगुणाष्टकम् ॥२६९॥
तज्ज्ञात्वा मत्पिता पुत्र किमेभिर्दुष्करैर्वृथा। दारिद्र्यकर्दमालिप्तदेहानां[6] निष्फलैरिह ॥२७०॥
व्रतान्येतानि दास्यामस्तस्मै स्वर्लोककाङ्क्षिणे। ऐहिकं फलमिच्छामो भवेद्येनेह जीविका ॥२७१॥
व्रतं दत्तवतः स्थानं तस्य मे दर्शयत्यसौ। मामवादीद् [7]गृहीत्वैनमाव्रजन्नहमन्तरे ॥२७२॥
वज्रकेतोर्महावीथ्यां देवतागृहकुक्कुटम्। भास्वत्किरणसंशोष्यमाणधान्योपयोगिनम्[8] ॥२७३॥
पुंसो हतवतो दण्डं जिनदेवार्पितं[9] धनम्। लोभादपह्नुवानस्य[10] धनदेवस्य दुर्मतेः ॥२७४॥
रसनोत्पाटनं हारमनर्घ्यमणिनिर्मितम्। श्रेष्ठिनः प्राप्य चौर्येण गणिकायै समर्पणात् ॥२७५॥
रतिपिङ्गलसंज्ञस्य शूले तलवरार्पणम्। निशि मातुः कनीयस्याः कामनिर्लुप्तसंविदः[11] ॥२७६॥
पुत्र्या गेहं गतस्याङ्गच्छेदनं पुररक्षिणः[12]। क्षेत्रलोभान्निजे ज्येष्ठे मृते दण्डहते[13] सति ॥२७७॥
लोलस्यान्वर्थसंज्ञस्य[14] विलाप[15] देशनिर्गमे। द्यूते सागरदत्तेन प्रभूते निर्जिते धने ॥२७८॥

सबका भी यथार्थ प्रतिपादन किया ॥२६५-२६६॥ यह सुनकर उन देव-देवियोने फिर पूछा कि आपने किस कारणसे दीक्षा धारण की है इस प्रकार पूछे जानेपर मुनिराज कहने लगे ॥२६७॥

विदेहक्षेत्रके पुष्कलावती देशमें एक पुण्डरीकिणी नगरी है वहाँपर मैं अपने पापोंके कारण एक अत्यन्त दरिद्र कुलमे उत्पन्न हुआ था। मेरा नाम भीम है ॥२६८॥ किसी अन्य दिन थोडी-सी काललब्धि आदिके निमित्तसे मै एक मुनिराजके पास पहुँचा और उनसे धर्मश्रवण कर मैने गृहस्थोके आठ मूल गुण धारण किये ॥ २६९ ॥ जब हमारे पिताको इस बातका पता चला तब वे कहने लगे कि "दरिद्रतारूपी कीचडसे जिनका समस्त शरीर लिप्त हो रहा है ऐसे हम लोगोको इन व्यर्थके कठिन व्रतोसे क्या प्रयोजन है। इनका फल इस लोकमें तो मिलता नही है, इसलिए आओ, ये व्रत स्वर्गलोककी इच्छा करनेवाले उसी मुनिके लिए दे आवे। हम तो इस लोकसम्बन्धी फल चाहते है जिससे कि जीविका चल सके ॥२७०-२७१॥ व्रत देनेवाले गुरुका स्थान मुझे दिखा" ऐसा मेरे पिताने मुझसे कहा तब मै उन्हे साथ लेकर चला। रास्तेमे मैने देखा कि वज्रकेतु नामके एक पुरुषको दण्ड दिया जा रहा है। पितासे मैने उसका कारण पूछा, तब कहने लगे कि यह सूर्यकी किरणोमे अपना अनाज सुखा रहा था और किसी मन्दिरका मुर्गा उसे खा रहा था। इसने उसे इतना मारा कि बेचारा मर गया। इसलिए ही लोग इसे दण्ड दे रहे हैं। आगे चलकर देखा कि जिनदेवके द्वारा रखी हुई धरोहरको लोभसे छिपानेवाले दुर्बुद्धि धनदेवकी जीभ उखाड़ी जा रही है। कुछ आगे चलकर देखा कि एक सेठके घरसे बहुमूल्य मणियोका हार चुराकर वेश्याको देनेके अपराधमे रतिपिंगलको कोतवाल शूलीपर चढ़ा रहा है, किसी जगह देखा कि कामवासनासे जिसका सब ज्ञान नष्ट हो गया है ऐसा एक कोतवाल रातमें अपनी माताकी छोटी बहनकी पुत्रीके घर गया था इसलिए राज्यकर्मचारी उसका अंग काट रहे है। दूसरी जगह देखा कि सार्थक नाम धारण करनेवाले एक लोल नामके किसानने खेतके लोभसे अपने बड़े लड़केको डण्डोसे मार-मारकर मार डाला है, इसलिए उसे देशनिकालेकी सजा

१ देवदेवीभ्याम्। २ पृष्ट। ३ प्रारभते स्म। ४ अभूवम्। ५ दरिद्रे कुले। ६ अस्माकम्। ७ पितरम्। ८ अदन्तम्। भक्षयन्तमित्यर्थ। ९ जिनदेवाख्येन दत्तम्। १० वञ्चयतः। ११ निरस्तज्ञानस्य। १२ तलवरस्य। १३ लोलेन हते। १४ लोल इति नाम्न। १५ परिदेवनम्।

दातुं समुद्रदत्तस्य निश्शक्तेरातपे क्रुधा । परिवर्द्धितदुर्गन्धधूमान्तर्वर्तिनश्चिरम् ॥२७९॥
निरोधमभयोद्घोषणायामानन्ददेशनात्[1] । अङ्गकस्य नृपोरभ्रघातिनः[2] करखण्डनम्[3] ॥२८०॥
आनन्दराजपुत्रस्य[4] तद्भुक्त्याऽवस्कराशनम्[5] । मद्यविक्रयणे[6] बालं कंचिदाभरणेच्छया ॥२८१॥
हत्वा भूमौ विनिक्षिप्तवत्यास्तत्संविधानकम् । प्रकाशितवती स्वात्मजे[7] शुण्डायाश्च[8] निग्रहम् ॥२८२॥
पापान्येतानि कर्माणि पश्यन् हिंसादिदोषतः । अत्रामुत्र च पापस्य परिपाकं दुरुत्तरम् ॥२८३॥
अवधार्यानभिप्रेतव्रतत्यागो[9] भवाद् भयात् । [10]रोषमोषमृषायोषाश्लेषहिंसादिदूषिताः ॥२८४॥
नात्रैव किन्त्वमुत्रापि ततश्चित्रवधोचिताः । अस्माकमपि दौर्गत्यं[11] प्राक्तनात् पापकर्मणः ॥२८५॥
इदं तस्मात् समुच्चेयं पुण्यं सच्चेष्टितैः पुरु । इति तं मोचयित्वाऽग्रहीषं दीक्षां मुमुक्षया[12] ॥२८६॥
सद्यो गुरुप्रसादेन सर्वशास्त्राब्धिपारगः । विशुद्धमतिरन्येद्युः समीपे सर्ववेदिनः[13] ॥२८७॥
मद्दृष्टपूर्वजन्मानि समश्रौषं[14] यथाश्रुतम् । कथयिष्याम्यहं तानि कर्तुं वां[15] कौतुकं महत् ॥२८८॥
इहैव पुष्कलावत्यां विषये पुण्डरीकिणीम् । परिपालयति[16] प्रीत्या वसुपालमहीभुजि ॥२८९॥
विद्युद्वेगाह्वयं चोरमवष्टभ्य[17] करस्थितम् । धनं स्वीकृत्य शेषं च भवता दीयतामिति ॥२९०॥

दी जा रही है और वह विलाप कर रहा है। आगे जानेपर देखा कि सागरदत्तने जुआमें समुद्रदत्तका बहुत-सा धन जीत लिया था परन्तु समुद्रदत्त देनेमें असमर्थ था इसलिए उसने क्रोधसे उसे बहुत देर तक दुर्गन्धित धुआँके बीच धूपमे बैठाल रखा है, किसी जगह देखा कि आनन्द महाराजके अभय घोषणा कराये जानेपर भी उनके पुत्र अंगकने राजाका मेढा मारकर खा लिया है इसलिए उसके हाथ काटकर उसे विष्ठा खिलाया जा रहा है और अन्य स्थानपर देखा कि मद्य पीनेवाली स्त्रीने मद्य खरीदनेके लिए आभूषण लेनेकी इच्छासे किसी बालकको मारकर जमीनमें गाड़ दिया था, वह यह समाचार अपने पुत्रसे कह रही थी कि किसी राज कर्मचारीने उसे सुन लिया इसलिए उसे दण्ड दिया जा रहा है। हिंसा आदि दोषोंसे उत्पन्न हुए इन पाप कार्योको देखकर मैने निश्चय किया कि पापका फल इस लोक तथा परलोक दोनो ही जगह बुरा होता है। मैने संसारके भयसे व्रत छोड़ना उचित नही समझा। मै सोचने लगा कि हिसा, झूठ, चोरी, परस्त्रीसेवन आदिसे दूषित हुए पुरुषोंको इसी जन्ममें अनेक प्रकारके वध-बन्धनका दु:ख भोगना पड़ता हो सो बात नही किन्तु परलोकमें भी वही दु:ख भोगने पड़ते है, हमारी यह दरिद्रता भी तो पहलेके पापकर्मोसे मिली है, इसलिए सदाचारी पुरुषोको इस पुण्यका अधिकसे अधिक संचय करना चाहिए यह सोचकर मैने अपने पिताको छोड़कर मोक्षकी इच्छासे दीक्षा धारण कर ली है॥ २७२–२८६ ॥ गुरुके प्रसादसे मै शीघ्र ही सब शास्त्ररूपी समुद्रका पारगामी हो गया और मेरी बुद्धि भी विशुद्ध हो गयी। किसी अन्य दिन मैने सर्वज्ञ देवके समीप दोषोसे भरे हुए अपने पूर्वजन्म सुने थे सो उसीके अनुसार आप लोगोका बड़ा भारी कौतुक करनेके लिए उन्हे कहता हूँ ॥ २८७–२८८ ॥

इसी पुष्कलावती देशकी पुण्डरीकिणी नगरीको राजा वसुपाल बडे प्रेमसे पालन करते थे ॥ २८९ ॥ किसी एक दिन कोतवालने विद्युद्वेग नामका चोर पकड़ा, उसके हाथमें जो धन था उसे लेकर कहा कि बाकीका धन और दो, धन न देनेपर रक्षकोंने उसे दण्ड दिया तब उसने

१ घोषणायां सत्याम्। २ आनन्दाख्यनृपस्य निदेशनात्। ३ एलक(एडक)घातकस्य। ४ तद्भुक्त्वा इत्यपि पाठ:। ५ गूथभक्षणम्। ६ मद्यव्यवहारनिमित्तम्। ७ बालघातिन्या: सुते। ८ मद्यपायिन्या:। ९ अनिष्टो व्रतत्यागो यस्य अननुमतव्रतत्याग इत्यर्थ.। १० हिंसाचौर्यानृतभाषाब्रह्माबहुपरिग्रहः। रोषमोषमृषायोषा हिंसादिश्लेषादि" ल०। ११ दारिद्रयम्। १२ मोक्तुमिच्छया। १३ सर्वज्ञस्य। १४ शृणोमि स्म। १५ युवयोः। १६ रक्षति सति। १७ बलात्कारेण गृहीत्वा।

आरक्षिणो[1] [2]निगृह्णीयुर्दत्तं त्रिमतये धनम् । इत्यब्रवीत स[4] सोऽप्याह गृहीतं न मयेति तत्[5] ॥२९१॥
विमतेरेव तद्गेहे दृष्टवोपायेन केनचित् । दण्डकारणिकैः[6] प्रोक्तं मृत्स्ना पात्रीत्रयोन्मितम् ॥२९२॥
शकृतो[7] भक्षणं मल्लैस्त्रिंशन्मुष्टयभिताडनम् । सर्वस्वहरणं चैतत्त्रयं जीवितवाञ्छया ॥२९३॥
[8]स सर्वमनुभूयायात प्राणान्ते नारकीं गतिम् । विद्युच्चोरस्त्वया हन्तामित्यारक्षको नृपात् ॥२९४॥
लब्धादेशोऽप्यहं हन्मि[9] नैनं हिंसादिवर्जनम् । प्रतिज्ञातं मया साधोरित्याज्ञां नाकरोद्रुसौ ॥२९५॥
गृहीतोत्कोच[10] इत्येष[11] चोरारक्षकयोर्नृपः । शृङ्खलाबन्धनं रुष्ट्वा कारयामास निर्घृणम्[12] ॥२९६॥
त्वयाऽहं हेतुना केन हतो नेत्यनुयुक्तवान् । [13]प्रतुष्टयारक्षकं चोरः सोऽप्येवं प्रत्यपादयत ॥२९७॥
एतत्पुरमनुप्येव राज्ञः पितरि रक्षति । गुणपाले महाश्रेष्ठी कुबेरप्रियसंज्ञया ॥२९८॥
अत्रैव नाटकाचार्यतनूजा नाट्यमालिका । [14]आस्थायिकायां भावेन स्थायिनानृत्यदुद्रसम् ॥२९९॥
तदालोक्य महीपालो बहुविस्मयमागमत् । गणिकोत्पलमालाख्यत् किमत्राश्चर्यमीश्वर ॥३००॥
श्रेष्ठिनोऽस्य [15]मिथोऽन्येद्युः प्रतिमायोगधारिणः । सोपवासस्य पूज्यस्य गत्वा चालयितुं मनः ॥३०१॥
नाशकं[16] तदिहाश्चर्यमित्यारयद् भूभुजापि सा । गुणप्रिये वृणीष्वेति[17] प्रोक्ता शीलाभिरक्षणम् ॥३०२॥
अभीष्टं मम देहीति तद्दत्तं व्रतमग्रहीत् । अन्यदा तद्गृहं[18] सर्वरक्षिताख्यः समागमत ॥३०३॥

कहा कि मैने वाकीका धन विमतिके लिए दे दिया है । जव विमतिसे पूछा गया तव उसने कह दिया कि मैने नही लिया है, इसके वाद कोतवालने वह धन किसी उपायसे विमतिके घर ही देख लिया, उसे दण्ड देना निश्चित हुआ, दण्ड देनेवालोने कहा कि या तो मिट्टीकी तीन थाली भरकर विष्ठा खाओ, या मल्लोके तीस मुक्कोंकी चोट सहो या अपना सव धन दो । जीवित रहनेकी इच्छासे उसने पूर्वोक्त तीनों दण्ड सहे और अन्तमे मरकर नरक गतिको प्राप्त हुआ । राजाने एक चाण्डालको आज्ञा दी कि तू विद्युच्चोरको मार डाल, परन्तु आज्ञा पाकर भी उसने कहा कि मै इसे नही मार सकता क्योंकि मैने एक मुनिसे हिंसादि छोड़नेकी प्रतिज्ञा ले रखी है ऐसा कहकर उसने जव राजाकी आज्ञा नही मानी तव राजाने कहा कि इसने कुछ घूस खा ली है इसलिए उसने क्रोधित होकर चोर और चाण्डाल दोनोंको निर्दयतापूर्वक साँकलसे वँधवा दिया ॥ २९०–२९६ ॥ चोरने सन्तुष्ट होकर चाण्डालसे पूछा कि तूने किस कारणसे मुझे नहीं मारा तव चाण्डाल इस प्रकार कहने लगा कि ॥ २९७ ॥ पहले इस नगरकी रक्षा इसी राजाके पिता गुणपाल करते थे और उनके पास कुबेरप्रिय नामका एक वड़ा सेठ रहता था ॥ २९८ ॥ इसी नगरीमें नाट्यमालिका नामकी नाटकाचार्यकी एक पुत्री थी । एक दिन उसने राजसभामें रति आदि-स्थायी भावो-द्वारा शृगारादि रस प्रकट करते हुए नृत्य किया ॥२९९॥ वह नृत्य देखकर राजाको वड़ा आश्चर्य हुआ तव उत्पलमाला नामकी वेश्या वोली कि हे देव, इसमें क्या आश्चर्य है ? एक दिन अत्यन्त शान्त और पूज्य कुबेरप्रिय सेठने उपवासके दिन प्रतिमा योग धारण किया था, उस दिन मै उनका मन विचलित करनेके लिए गयी थी परन्तु उसमें समर्थ नही हो सकी । इस संसारमें यही बड़े आश्चर्यकी बात है । यह सुनकर राजाने कहा कि "हे गुणप्रिये ! तुझे गुण बहुत प्यारे लगते है इसलिए जो इच्छा हो सो माँग ।" तव उसने कहा कि मुझे शीलव्रतकी रक्षा करना इष्ट है यही वर दीजिए । राजाने वह वर उसे

---

१ तलवरा । २ निग्रहं कुर्यु । ३ विमतिनामधेयाय । ४ चोरः । विमतिरपि । ५ धनम् । ६ कारणज्ञैः 'पुरोहितादिधर्मकारिभिरित्यर्थः । ७ गूथस्य । 'उच्चारावस्करौ शमलं शकृत् । पुरीषं उत्कोच गूथवर्चस्कमस्त्री विष्ठाविशौ स्त्रियाम् ।' इत्यभिधानात् । ८ विमति. । ९ न वध करोमि । १० 'लञ्च उत्कोच जामिपः,' इत्यभिधानात् । ११ तलवरः । १२ निष्कृपं यथा भवति तथा । १३ प्रतुष्ट्या अ०, स०, इ०, प० । १४ आस्थाने । १५ श्रेष्ठिन. शमितोऽन्येद्युः ल०, अ०, प०, इ०, स० । १६ न समर्थोऽभूवमहम् । १७ वाञ्छितं प्रार्थय । १८ उत्पलमालागृहम् ।

रात्रौ तलवरो दृष्ट्वा तं बाह्याऽद्येति तेन[1] तत् । [2]प्रतिपादनवेलायामेत्रायान्मन्त्रिणः सुतः ॥३०४॥
नृपतेर्मैथुनो नाम्ना पृथुधीस्तं निरीक्ष्य सा । मञ्जूषायां विनिक्षिप्य गणिका सर्वरक्षितम् ॥३०५॥
त्वया मदीयाभरणं सत्यवत्यै समर्पितम् । त्वद्भगिन्यै तदानेयमित्याह नृपमैथुनम् ॥३०६॥
सोऽपि प्राक् [3]प्रतिपाद्यैतद् व्रतग्रहणसंश्रुतेः । प्रातिकूल्यमगादीर्ष्यावान् द्वितीयदिने पुनः ॥३०७॥
साक्षिणं परिकल्प्यैनं मञ्जूषास्थं महीपतेः । सन्निधौ याचितो वित्तमसावुत्पलमालया ॥३०८॥
न गृहीतं मयेत्यस्मिन्मिथ्यावादिनि भूभुजा । पृष्टा सत्यवती तस्य पुरस्तान्न्यक्षिपद्धनम् ॥३०९॥
मैथुनाय नृपः क्रुध्वा खलोऽयं हन्यतामिति । आज्ञापयत्पदातीन् स्वान् युक्तं तन्न्यायवर्तिनः ॥३१०॥
[4]पठन्मुनीन्द्रसद्धर्मशास्त्रसंश्रवणाद् द्रुतम् । अन्येद्युः प्राक्तनं जन्म विदित्वा शममागते ॥३११॥
यागहस्तिनि मांसस्य पिण्डदानमनिच्छति । तद्वीक्ष्योपायविच्छ्रेष्ठी विबुद्ध्यानेकपेङ्गितम् ॥३१२॥
सर्पिर्गुडपयोमिश्रशाल्योदनसमर्पितम्[5] । पिण्डं प्रायोजयन्सोऽपि द्विरदस्तमुपाहरत्[6] ॥३१३॥
तदा तुष्टो महीनाथो वृणीष्वेष्टं तवेति तम् । प्राह पश्चाद् ग्रहीष्यामीत्यभ्युपेत्य स्थितः स तु[7] ॥३१४॥
सचिवस्य[8] सुतं दृष्ट्वा नीयमानं शुचा नृपात् । वरमादाय तद्घातात् दुर्वृत्तं तं व्यमोचयत् ॥३१५॥

दिया और उस दिनसे उसने शील व्रत ग्रहण कर लिया । किसी दूसरे दिन सर्वरक्षित नामका कोतवाल रातके समय उसके घर गया, उसे देखकर उत्पलमालाने उससे कहा कि आज मैं वाहिर की हूँ – रजस्वला हूँ । इधर इन दोनोंकी यह बात चल रही थी कि इतनेमें ही मन्त्रीका पुत्र और पृथुधी नामका राजाका साला आया, उसे देखकर उत्पलमालाने सर्वरक्षितको एक सन्दूकमे छिपा दिया और राजाके सालेसे कहा कि आपने जो मेरे आभूषण अपनी वहन सत्यवती-के लिए दिये थे वे लाइए । उसने पहले तो कह दिया कि हाँ अभी लाता हूँ परन्तु वादमे जव उसने सुना कि उसने शील व्रत ले लिया है तव वह ईर्ष्या करता हुआ प्रतिकूल हो गया । दूसरे दिन वह वेश्या सन्दूकमे वैठे हुए कोतवालको गवाह वनाकर राजाके पास गयी और वहाँ जाकर पृथुधीसे अपना धन माँगने लगी ॥३००–३०८॥ पृथुधीने राजाके सामने भी झूठ कह दिया कि मैने इसका धन नही लिया है । जव राजाने सत्यवतीसे पूछा तो उसने सव धन लाकर राजाके सामने रख दिया ॥३०९॥ यह देखकर राजा अपने सालेपर वहुत क्रोधित हुआ, उसने अपने नौकरोंको आज्ञा दी कि यह दुष्ट शीघ्र ही मार डाला जाय । सो ठीक ही है क्योंकि न्याय-मार्गमे चलनेवालेको यह उचित ही है ॥३१०॥ किसी एक दिन पाठ करते हुए मुनिराजसे धर्मशास्त्र सुनकर राजाके मुख्य हाथीको अपने पूर्व भवका स्मरण हो आया, वह अत्यन्त शान्त हो गया और उसने मांसका पिण्ड लेना भी छोड़ दिया, यह देख उपायोंके जानने-वाले सेठने हाथीकी सव चेष्टाएँ समझकर घी, गुड़ और दूध मिला हुआ शालि चावलोका भात उसे खानेके लिए दिया और हाथीने भी वह शुद्ध भोजन खा लिया ॥३११–३१३॥ उस समय सन्तुष्ट होकर राजाने कहा कि जो तुम्हे इष्ट हो सो माँगो । सेठने कहा – अच्छा यह वर अभी अपने पास रखिए, पीछे कभी ले लूँगा, ऐसा कहकर वह सेठ सुखसे रहने लगा ॥३१४॥ इसी समय मन्त्रीका पुत्र मारनेके लिए ले जाया जा रहा था उसे देखकर सेठको वहुत शोक हुआ और उसने राजासे अपना पहलेका रखा हुआ वर माँगकर उस दुराचारी मन्त्रीके पुत्रको

---

१ तलवरेण सह । २ अद्य याहीत्येतत्प्रतिपादन । ३ आनयामीत्यनुमत्य । ४ प्रसङ्गापातकथान्तरमिह ज्ञातव्यम् । ५ नीतम् । ६ भुङ्क्ते स्म । ७ तम् ल०, अ०, प०, स०, इ० । ८ मन्त्रिण पुत्रम् । पृथुमतिम् ।

श्रेष्ठिनैव निकारोऽयं[1] [2]ममाकारीत्यमंस्त सः । पापिनामुपकारोऽपि[3] सुभुजङ्गपयापते ॥३१६॥
अन्येद्युर्मैथुनो राज्ञः स्वेच्छया विहरन् वने । खेचरान्मुद्रिकामापत्[4] कामरूपविधायिनीम् ॥३१७॥
कराङ्गुलौ विनिक्षिप्य तां वसोः[5] स्वकनीयसः[6] । संकल्प्य श्रेष्ठिनो[7] रूपं सत्यवत्या निकेतनम् ॥३१८॥
प्रवेश्य (प्रविश्य) पापधी राजसमीपं स्वयमास्थितः[8] । वसुं गृहीतश्रेष्ठीस्वरूपं वीक्ष्य महीपतिः ।३१९।
श्रेष्ठी किमर्थमायातोऽकाल[9] इत्यवदत्तदा । अनात्मज्ञोऽयमायातः पापी सत्यवतीं प्रति ॥३२०॥
मदनानलसंतप्त इति मैथुनिकोऽब्रवीत् । तद्वाक्यादपरीक्ष्यैव तमेवाह प्रहन्यताम् ॥३२१॥
श्रेष्ठी तवेति श्रेष्ठी च तस्मिन्नेव दिने निशि । स्वगृहे प्रतिमायोगधारको भावयन् स्थितः ॥३२२॥
पृथुधीस्तमवष्टभ्य[10] गृहीत्वा घोषयन् जने । अपराधमसन्तं[11] च नीत्वा प्रेतमहीतलम् ॥३२३॥
आरक्षककरे हन्तुमर्पयामास पापभाक् । सोऽपि राजनिदेशोऽयमित्यहन्नहिना[12] दृढम् ॥३२४॥
तस्य वक्षःस्थले तत्र प्रहारो मणिहारताम् । प्राप शीलवतो भक्तस्यार्हत्परमदैवते ॥३२५॥
दण्डनादपरीक्ष्यास्य[13] महोत्पातः पुरेऽजनि । क्षयः स येन सर्वेषां किं नादुष्टवधाद् भवेत् ॥३२६॥
नरेशो नागराश्चैतदालोक्य भयविह्वलाः । तमेव शरणं गन्तुं श्मशानाभिमुखं ययुः ॥३२७॥
तदोपसर्गनिर्णाशे विस्मयन्नाकवासिनः । शीलप्रभावं व्यावर्ण्य वणिग्वर्यमपूजयन् ॥३२८॥

छुडवा दिया ॥३१५॥ परन्तु मन्त्रीके पुत्रने समझा कि मेरा यह तिरस्कार सेठने ही कराया है, सो ठीक ही है क्योंकि पापी पुरुषोका उपकार करना भी साँपको दूध पिलानेके समान है ॥३१६॥ किसी अन्य दिन वह राजाका साला अपनी इच्छासे वनमें घूम रहा था, उसे वहाँ एक विद्याधरसे इच्छानुसार रूप बना देनेवाली अँगूठी मिली ॥३१७॥ उसने वह अँगूठी अपने छोटे भाई वसुके हाथकी अँगुलीमें पहना दी एवं उसका सेठका रूप बनाकर उसे सत्यवतीके घर भेज दिया। और पाप बुद्धिको धारण करनेवाला पृथुधी स्वयं राजाके पास जाकर बैठ गया। सेठका रूप धारण करनेवाले वसुको देखकर राजाने कहा कि 'यह सेठ असमयमें यहाँ क्यों आया है?' उसी समय पृथुधीने कहा कि 'अपने आपको नही जाननेवाला यह पापी काम-रूपी अग्निसे सन्तप्त होकर सत्यवतीके पास आया है' इस प्रकार उसके कहनेसे राजाने परीक्षा किये बिना ही उसी पृथुधीको आज्ञा दी कि तुम सेठको मार दो। सेठ उस दिन अपने घरपर ही प्रतिमायोग धारण कर वस्तुस्वरूपका चिन्तवन कर रहा था ॥३१८–३२२॥ पृथुधीने उसे वही कसकर बाँध लिया और जो अपराध उसने किया नही था लोगोंमें उसकी घोपणा करता हुआ उसे श्मशानकी ओर ले गया ॥३२३॥ वहाँ जाकर उस पापीने मारनेके लिए चाण्डालके हाथमें सौंप दिया। चाण्डालने भी यह राजाकी आज्ञा है ऐसा समझकर उसपर तलवारका मजबूत प्रहार किया ॥३२४॥ परन्तु क्या ही आश्चर्य था कि श्री अरहन्त परमदेवके भक्त और शीलव्रत पालन करनेवाले उस सेठके वक्षःस्थलपर वह तलवारका प्रहार मणियोका हार बन गया ॥३२५॥ बिना परीक्षा किये उस सेठको दण्ड देनेसे नगरमें ऐसा बड़ा भारी उपद्रव हुआ कि जिससे सबका क्षय हो सकता था सो ठीक ही है क्योंकि सज्जन पुरुषोके वधसे क्या नही होता है? ॥३२६॥ राजा और नगरके सब लोग यह उपद्रव देखकर भयसे घबड़ाये और उसी सेठकी शरणमे जानेके लिए श्मशानकी ओर दौड़े ॥३२७॥ जब सब उसकी शरणमें पहुँचे तब कही वह उपद्रव दूर हुआ, स्वर्गमे रहनेवाले देवोंने बड़े आश्चर्य-

---

१ तिरस्कार वञ्चना च। २ क्रियते स्म। ३ –मुपकारोऽय अ०, स०। ४ –माप काम-इ०, अ०, स०। ५ वसुनामधेयस्य। ६ निजानुजस्य। ७ कुबेरप्रियस्य। ८ समीपमागत्य स्थित। ९ अवेलायाम्। १० बला-त्कारेण बद्ध्वा। ११ अविद्यमानम् असत्यं वा। १२ हिनस्ति स्म। १३ श्रेष्ठिनः।

अपरीक्षितकार्याणामस्माकं क्षन्तुमर्हसि । इति तेषु भयग्र[1]स्तमानतेषु नृपादिषु ॥३२९॥
अस्मदर्जितदुष्कर्मपरिपाकादभूदिदम् । विषादस्तत्र कर्तव्यो न भवद्भिरिति ध्रुवम् ॥३३०॥
वैमनस्यं निरस्यैषां श्रेष्ठी प्रष्ठः[2] क्षमावताम् । सर्वैः पुरस्कृतः पूज्यो विभूत्या प्राविशत् पुरम्[3] ॥३३१॥
एवं प्रयाति कालेऽस्य वारिषेणां सुतां नृपः । वसुपालाय पुत्राय स्वस्यादत्त विभूतिमत्[4] ॥३३२॥
अथान्येद्युः सभामध्ये पृष्टवान् श्रेष्ठिनं नृपः । विरुद्धं किं न वाऽन्योन्यं धर्मादीनि[5] चतुष्टयम् ॥३३३॥
परस्परानुकूलास्ते[6] सम्यग्दृष्टिषु साधुषु[7] । न मिथ्यादृक्ष्विति[8] प्राह श्रेष्ठी [9]धर्मादितत्त्ववित् ॥३३४॥
इति तद्वचनाद् राजा तुष्टोऽभीष्टं त्वयोच्यताम् । दास्यामीत्याह सोऽप्याख्यज्जातिमृत्युक्षयाविति[10] ॥३३५॥
न मया तद्द्वयं साध्यमिति प्रत्याह भूपतिः । मां मुञ्च साधयामीति तमवोचद्वणिग्वरः ॥३३६॥
तदाकर्ण्य गृहत्यागमहं च सह[11] तेऽधुना । करोमि किन्तु मे पुत्रा बालका इति चिन्तयन् ॥३३७॥
[12]सद्योभिन्नाण्डकोद्भूतान् मक्षिकादानतत्परान् । क्षुधापीडाहतान् वीक्ष्य सहसा गृहकोकिलान् ॥३३८॥
सर्वेऽपि जीवनोपायं जन्तवो जानतेतराम् । स्वेषां विनोपदेशेन[13] तत्किं मे वलचिन्तया ॥३३९॥
इत्यसौ वसुपालाय दत्वा राज्यं यथाविधि । विधाय यौवराज्यं च श्रीपालस्य सपट्टकम् ॥३४०॥

से शीलव्रतके प्रभावका वर्णन कर उस सेठकी पूजा की ॥३२८॥ जिनके मन भयसे उद्विग्न हो रहे है ऐसे राजा आदिने सेठसे कहा कि हम लोगोने परीक्षा किये विना ही कार्य किया है अतः आप हम सबको क्षमा कर दीजिए, ऐसा कहनेपर क्षमा धारण करनेवालोमे श्रेष्ठ सेठने कहा कि यह सब हमारे पूर्वोपार्जित अशुभ कर्मके उदयसे ही हुआ है । निश्चयसे इस विषयमे आपको कुछ भी विषाद नही करना चाहिए ऐसा कहकर उसने सबका वैमनस्य दूर कर दिया । तदनन्तर सब लोगोके द्वारा आगे किये हुए पूज्य सेठ–कुवेरप्रियने वड़ी विभूतिके साथ नगरमे प्रवेश किया ॥३२९–३३१॥ इस प्रकार समय व्यतीत होनेपर वैभवशाली राजाने वारिषेणा नामकी इसी सेठकी पुत्री अपने पुत्र वसुपालके लिए ग्रहण की ॥३३२॥ किसी अन्य दिन राजाने सभाके वीच सेठसे पूछा कि ये धर्म आदि चारो पुरुपार्थ परस्पर एक दूसरेके विरुद्ध है अथवा नही ? ॥३३३॥ तव धर्म आदिके तत्त्वको जाननेवाले सेठने कहा कि सम्यग्दृष्टि सज्जनोके लिए तो ये चारों ही पुरुषार्थ परस्पर अनुकूल है परन्तु मिथ्यादृष्टियोके लिए अनुकूल नही है ॥३३४॥ सेठके इन वचनोसे राजा वहुत ही सन्तुष्ट हुआ, उसने सेठसे कहा कि 'जो तुम्हे इष्ट हो माँग लो मै दूँगा' तब सेठने कहा कि मै जन्म-मरणका क्षय चाहता हूँ ॥३३५॥ इसके उत्तरमे राजाने कहा कि ये दोनो तो मेरे साध्य नही है तव वैश्यवर सेठने कहा कि अच्छा मुझे छोड़ दीजिए मै स्वय उन दोनोको सिद्ध कर लूँगा ॥३३६॥ यह सुनकर राजाने कहा कि तेरे साथ मै भी घर छोड़ता परन्तु मेरे पुत्र अभी वालक है – छोटे-छोटे है इस प्रकार राजा विचार कर ही रहा था कि ॥३३७॥ अचानक उसकी दृष्टि छिपकलीके उन वच्चोंपर पड़ी जो उसी समय विदीर्ण हुए अण्डेसे निकले थे, भूखकी पीड़ासे छटपटा रहे थे और इसलिए ही मक्खियाँ पकड़नेमे तत्पर थे, उन्हे देखकर राजा सोचने लगा कि अपनी-अपनी आजीविकाके उपाय तो सभी जीव विना किसीके उपदेशके अपने-आप अच्छी तरह जानते है इसलिए मुझे अपने छोटे-छोटे पुत्रोंकी चिन्ता करनेसे क्या लाभ है ? यही विचार कर गुणपाल महाराजने वसुपालके लिए विधिपूर्वक राज्य दिया और श्रीपालको पट्ट सहित युवराज वनाया । तदनन्तर

१ ग्रस्त-प०, ल० । २ मुख्यः । ३ पुरीम् ल० । ४ विभूतिमान् प०, ल०, इ० । ५ धर्मार्थकाममोक्षा. । ६ ते धर्मादय । ७ सज्जनेषु । ८ मिथ्यादृष्टिषु । ९ धर्मार्थकाममोक्षस्वरूपवेदी । १० जननमरणविनाशौ ममेष्टाविति । ११ त्वया सह । १२ तत्क्षणे स्फुटितकोशजातान् । १३ तत् कारणात् ।

गुणपालमहाराजः सकुबेरप्रियोऽग्रहीत् । बहुभिर्भूभुजैः सार्धं तपो यतिवरं श्रितः ॥३४१॥
श्रेष्ठ्यहिंसाफलालोकान्मयाऽप्यग्राहि तद्व्रतम् । तस्मात्त्वं[1] न हतोऽसीति[2] ततस्तुष्टाव[3][4][5] सोऽपि तम्[6] ॥
इत्युक्त्वा[7] सोऽब्रवीदेवं[8] प्राक् मृणालवतीपुरे । भूत्वा त्वं[10] भवदेवाख्यो रतिवेगासुकान्तयोः ॥३४३॥
बद्धवैरो[11] निहन्ताऽभूः पारावतभवेऽप्यनु[9] । मार्जारः सन्मृतिं[13] गत्वा पुनः[14] खचरजन्मनि ॥३४४॥
विद्युच्चोरत्वमासाद्य सोपसर्गां मृतिं व्यधाः । तत्पापान्नरके दुःखमनुभूयागतस्ततः ॥३४५॥
अत्रेत्याखिलवेद्युक्तं[15] व्यक्तवाग्विसरः स्फुटम् । व्यधात् सुधीः स्ववृत्तान्तं भीमसाधुः सुधाशिनो ।
त्रिः प्राक् त्वन्मारितावावामिति[16] शुद्धित्रयान्वितौ[17] । जातसद्धर्मसद्भावावभिवन्द्य मुनिं[18] गतौ ॥३४७॥
इति व्याहृत्य[19] हेमाङ्गदानुजेदं[20] च साऽब्रवीत् ।[21] भीमसाधुः पुरे पुण्डरीकिण्यां घातिघातनात् ॥३४८॥
रम्ये शिवंकरोद्याने पञ्चमज्ञानपूजितः । तस्थिवांस्तं[22] समागत्य चतस्रो देवयोषितः ॥३४९॥
वन्दित्वा धर्ममाकर्ण्य पापादस्मत्पतिर्मृतः । त्रिलोकेश वदास्माकं पतिः कोऽन्यो भविष्यति ॥३५०॥
इत्यपृच्छन्नसौ[23] चाह पुरेऽस्मिन्नेव[24] भोजकः[25] । सुरदेवाह्वयस्तस्य वसुषेणा वसुन्धरा ॥३५१॥

सेठ कुबेरप्रिय तथा अन्य अनेक राजाओंके साथ-साथ मुनिराजके समीप जाकर तप धारण किया ॥३३८–३४१॥ वह चाण्डाल कहने लगा कि सेठके अहिंसा व्रतका फल देखकर मैंने भी अहिंसा व्रत ले लिया था यही कारण है कि मैंने तुम्हें नहीं मारा है यह सुनकर उस विद्युच्चर चोरने भी उसकी बहुत प्रशंसा की ॥३४२॥

इतना कहकर वे भीम मुनि सामने बैठे हुए देव-देवियोंसे फिर कहने लगे कि सर्वज्ञ-देवने मुझसे स्पष्ट अक्षरोंमें कहा है कि 'तू पहले मृणालवती नगरीमें भवदेव नामका वैश्य हुआ था वहाँ तूने रतिवेगा और सुकान्तसे वैर बाँधकर उन्हें मारा था, मरकर वे दोनों कबूतर-कबूतरी हुए सो वहाँ भी तूने बिलाव होकर उन दोनोंको मारा था, वे मरकर विद्याधर-विद्याधरी हुए थे सो उन्हें भी तूने विद्युच्चोर होकर उपसर्ग-द्वारा मारा था, उस पापसे तू नरक गया था' और वहाँके दुःख भोगकर वहाँसे निकलकर यह भीम हुआ हूँ। इस प्रकार उन बुद्धिमान् भीम मुनिने सामने बैठे हुए देव-देवियोंके लिए अपना सब वृत्तान्त कहा ॥३४३–३४६॥ जिन्हें आपने पहले तीन बार मारा है वे दोनों हम ही हैं ऐसा कहकर जिनके मन, वचन, काय – तीनों शुद्ध हो गये हैं और जिन्हें सद्धर्मकी सद्भावना उत्पन्न हुई है ऐसे वे दोनों देव-देवी उन भीममुनिकी वन्दना कर अपने स्थानपर चले गये ॥३४७॥

यह कहकर हेमांगदकी छोटी बहन सुलोचना फिर कहने लगी कि एक समय पुण्डरी-किणी नगरीके शिवंकर नामके सुन्दर उद्यानमें घातिया कर्म नष्ट करनेसे जिन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है ऐसे भीममुनिराज विराजमान थे, सभी लोग उनकी पूजा कर रहे थे, उसी समय वहाँपर चार देवियोंने आकर उनकी वन्दना की, धर्मका स्वरूप सुना और पूछा कि हे तीन लोकके स्वामी, हम लोगोंके पापसे हमारा पति मर गया है। कहिए – अब दूसरा पति कौन

---

१ तस्मात् कारणात् । २ एवं तलवरोऽवादीत् । ३ तलवरवचनानन्तरम् । ४ स्तौति स्म । ५ विद्युच्चोर । ६ अहिंसाव्रतम् । तस्मात् त्वं न हतोऽसीति श्लोकस्य सोऽप्येवं प्रत्यपादयदित्यनेन सह संबन्धः । ७ उक्त-प्रकारेण प्रतिपाद्य । स मुनिः पुनरप्यात्मनः सर्वज्ञेन प्रतिपादितनिजवृत्तकं सुरदम्पत्योराह । ८ वक्ष्यमाण-प्रकारेण । ९ पूर्वजन्मनि । १० हे भीममुने, भवान् । ११ घातुकः । १२ कपोतभवेऽपि मार्जारः सन् तयोर्निहन्ताऽभूरिति सम्बन्धः । १३ कृत्वा ल०, अ०, प०, स०, इ० । १४ तद्दम्पत्योर्विद्याधरभवे । खेचरजन्मनि प०, इ० । १५ सर्वज्ञप्रोक्तम् । १६ हिरण्यवर्मप्रभावतीचरौ । १७ मनोवाक्कायशुद्धियुक्तौ । १८ भीममुनिम् । १९ उक्त्वा । २० सुलोचना । २१ भीमः साधुः प०, इ०, ल० । २२ आस्ते स्म । २३ भीमकेवली । २४ पुण्डरीकिण्याम् । २५ पालकः ।

धारिणी पृथिवी चेति चतस्रो योषितः प्रियाः। श्रीमती वीतशोकाख्या विमला सवसन्तिका ॥३५२॥
चतस्रश्चेटिकास्तासामन्येद्युस्ता वनान्तरे। सर्वा यतिवराभ्याशे धर्मं दानादिनाऽऽदधुः[1] ॥३५३॥
तत्फलेनाच्युते कल्पे प्रतीन्द्रस्य प्रियाः क्रमात्। रतिषेणा सुसीमाख्या सुख्यान्या च सुखावती ॥३५४॥
सुभगेति च देव्यस्ता यूयं ताश्चेटिकाः पुनः। चित्रषेणा क्रमाच्चित्रवेगा धनवती सती ॥३५५॥
धनश्रीरित्यजायन्त वनदेवेषु[2] कन्यकाः। सुरदेवेऽप्यभून्मृत्वा पिङ्गलः पुररक्षकः[3] ॥३५६॥
स तत्र निजदोषेण प्रापन्निगलबन्धनम्। मातुस्तत्सुरदेवस्य प्राप्ता या राजसूनुताम् ॥३५७॥
श्रीपालाख्यकुमारस्य ग्रहणे[4] बन्धमोक्षणे। सर्वेषां पिङ्गलाख्योऽपि मुक्तः संन्यस्य संप्रति ॥३५८॥
भूत्वा बुधविमानेऽसौ[5] इहागत्य भविष्यति। [6]स्वामी युष्माकमित्येतत्तच्चेतो हरणं तदा ॥३५९॥
परमार्थं कृतं तेन[7] तथा[8]गत्य [9]मुनेर्वचः। पृष्टवानु[10] कन्य[11]काश्चैनमात्मनो[12] भाविनं पतिम् ॥३६०॥
पूर्वोक्तपिङ्गलाख्यस्य सूनुर्नाम्नाऽतिपिङ्गलः। सोऽपि संन्यस्य युष्माकं [13]रतिदायी भविष्यति ॥३६१॥
इति तत्प्रोक्तमाकर्ण्य गत्वा[14] तत्पूजनाविधौ[15]। [16]स्वसां निरीक्षणात् [17]कामसंमोहप्रकृतं महत्॥३६२॥
रतिकूलाभिधानस्य[18] संविधानं[19] मुनेः[20] श्रुतम्[21]। [22]तत्पितुर्मणिनागादिदत्तस्य प्रकृतं[23] तथा॥३६३॥

होगा ? तब सर्वज्ञ -- भीम मुनिराज कहने लगे कि इसी नगरमे सुरदेव नामका एक राजा था उसकी वसुषेणा, वसुन्धरा, धारिणी और पृथिवी ये चार रानियाँ थी तथा श्रीमती, वीतशोका, विमला और वसन्तिका ये चार उन रानियोकी दासियाँ थी। किसी एक दिन उन सबने वनमे जाकर किन्ही मुनिराजके समीप दान आदिके द्वारा धर्म करना स्वीकार किया था। उस धर्मके फलसे वे अच्युत स्वर्गमे प्रतीन्द्रकी देवियाँ हुई है। क्रमसे उनके नाम इस प्रकार है -- रतिषेणा, सुसीमा, सुखावती और सुभगा। वह देवियाँ तुम्ही सब हो, तथा तुम्हारी दासियाँ चित्रषेणा, चित्रवेगा, धनवती और धनश्री नामकी व्यन्तर देवोकी कन्याएँ हुई है। राजा सुरदेव मरकर पिगल नामका कोतवाल हुआ है और वह अपने ही दोषसे कारागारको प्राप्त हुआ था, सुरदेव-की माता राजाकी पुत्री हुई है और श्रीपालकुमारके साथ उसका विवाह हुआ है। विवाहोत्सव-के समय सब कैदी छोड़े गये थे उनमे पिगल भी छूट गया था, अब संन्यास लेकर अच्युत स्वर्गमे उत्पन्न होगा और वही तुम सबका पति होगा। इधर मुनिराज ऐसे मनोहर वचन कह रहे थे कि उधर पिगल संन्यास धारण कर अच्युत स्वर्गमे उत्पन्न हुआ और वहाँसे आकर उसने मुनिराजके वचन सत्य कर दिखाये। इतनेमे ही चारो व्यन्तर कन्याएँ आकर सर्वज्ञदेवसे अपने होनहार पतिको पूछने लगी ॥ ३४८--३६० ॥ मुनिराज कहने लगे कि पूर्वोक्त पिगल नामक कोतवालके एक अतिपिङ्गल नामका पुत्र है वही सन्यास धारण कर तुम्हारा पति होगा ॥३६१॥ भीम केवलीके ये वचन सुनकर चारो ही देवियाँ जाकर अतिपिगलकी पूजा करने लगी, उसे देखनेसे उन देवियोको कामका अधिक विकार हुआ था ॥३६२॥ उन देवियोने रतिकूल नामके मुनिका चरित्र सुना, उनके पिता मणिनागदत्तका चरित्र सुना, सुकेतुका

१ स्वीकुर्वन्ति स्म। २ व्यन्तरदेवेषु। ३ तलवर.। ४ विवाहसमये। ५ च्युतविमानेऽसौ इ०, प०, ल०। बुध-विमानेशः, इत्यपि पाठ। बुधविमानाधिपति.। ६ स्वामी युष्माकमित्यसौ चाहेत्यनेन सह संबन्धः। ७ पिङ्गल-चरदेवेन। ८ केवल्युक्तप्रकारेण (क्रमेण)। ९ सर्वज्ञस्य। १० अनन्तरम्। ११ व्यन्तरकन्या.। १२ भीमकेव-लिनम्। १३ पुरुष। १४ अतिपिङ्गलस्य समीपं प्राप्य। १५ अतिपिङ्गलस्य परिचर्याविधौ। १६ चित्रसेनादि-व्यन्तरकन्यकानाम्। तासाम् ल०,प०,द०। १७ कामसमोहेन प्रकर्षेण कृतम्। १८ रतिकूलाभिधानस्य पुरुषस्य। १९ व्यापारम्। २० भीमकेवलिनः सकाशात्। २१ आकर्णितम्। २२ रतिकूलस्य जनकस्य। २३ चेष्टितम्।

सप्तचत्वारिंशत्तमं पर्व

कान्ते तत्रान्यदप्यस्ति प्रस्तुतं स्मर्यते त्वया । श्रीपालचक्रिसंबन्धमित्यप्राक्षीत् स तां पुनः ॥१॥
बाढं स्मरामि सौभाग्यभागिनस्तस्य वृत्तकम् । [1]तवैवाद्येक्षितं[2] वेति सा प्रवक्तुं प्रचक्रमे ॥२॥
जम्बूद्वीपे विदेहेऽस्मिन् पूर्वस्मिन्पुण्डरीकिणी । नगरी नगरीवासौ वासवस्यातिविश्रुता ॥३॥
श्रीपालवसुपालाख्यौ सूर्याचन्द्रमसौ [3]च तौ । जित्वा महीं सहैवावतः[4] स्मैव नयविक्रमौ ॥४॥
जननी वसुपालस्य कुबेरश्रीर्दिनेऽन्यदा । वनपाले समागत्य केवलावगमोऽभवत् ॥५॥
गुणपालमुनीशो[5]ऽस्मत्पतेः [6]सुरगिराविति । निवेदितवति क्रान्त्वा पुरः सप्तपदान्तरम् ॥६॥
प्रणम्य वनपालाय दत्त्वाऽसौ[7] पारितोषिकम् । पौराः सपर्यया[8] सर्वेऽप्यायान्त्विति[9] घोषणाम् ॥७॥
विधाय प्राक् स्वयं प्राप्य भगवन्तमवन्दत । श्रीपालवसुपालौ च ततोऽनु समुदौ गतौ ॥८॥
प्रमदाख्यं वनं प्राप्य [10]सद्द्रुमैरम्यमन्तरे । प्रागजगत्पालचक्रेशो यस्मिन्न्यग्रोध[11]पादपे ॥९॥
देवताप्रतिमालक्ष्ये स्थित्वा जग्राह संयमम् । [12]तस्याधस्तात्[13]समीक्ष्येक्ष्यं[14] प्रवृत्तां नृत्तमादरात् १०
तयोः[15] कुमारः श्रीपालः पुरुषो नर्तयत्ययम् । अस्तु[16] स्त्रीवेषधार्यत्र स्त्री चेत्पुंरूपधारिणी ॥११॥
स्यादेव स्त्री प्रनृत्यन्ती नृत्तं युक्तमिदं भवेत् । इत्याह तद्वचः श्रुत्वा नटी मूर्च्छामुपागता ॥१२॥

यह सुनकर जयकुमारने सुलोचनासे फिर पूछा कि हे प्रिये, इस कही हुई कथामें श्रीपाल चक्रवर्तीसे सम्बन्ध रखनेवाली एक कथा और भी है, वह तुझे याद है या नहीं ? सुलोचनाने कहा हाँ, सौभाग्यशाली श्रीपाल चक्रवर्तीकी कथा तो मुझे ऐसी याद है मानो मैंने आज ही देखी हो, यह कहकर वह उसकी कथा कहने लगी ॥१–२॥ इस जम्बू द्वीपके पूर्व विदेह क्षेत्रमें एक पुण्डरीकिणी नामकी नगरी है जो कि इन्द्रकी नगरी–अमरावतीके समान अत्यन्त प्रसिद्ध हैं ॥३॥ सूर्य और चन्द्रमा अथवा नय और पराक्रमके समान श्रीपाल और वसुपाल नामके दो भाई समस्त पृथिवीको जीतकर साथ ही साथ उसका पालन करते थे ॥४॥ किसी एक दिन मालीने आकर वसुपालकी माता कुबेरश्रीसे कहा कि सुरगिरि नामक पर्वतपर आपके स्वामी गुणपाल मुनिराजको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है, यह सुनकर उसने सामने सात पैड चलकर नमस्कार किया, मालीको पारितोपिक दिया और नगरमे घोषणा करायी कि सब लोग पूजाकी सामग्री साथ लेकर भगवान्‌के दर्शन करनेके लिए चले, उसने स्वयं सबसे पहले जाकर भगवान्‌की वन्दना की । माताके पीछे ही श्रीपाल और वसुपाल भी बड़ी प्रसन्नतासे चले ॥५–८॥ मार्गमे वे एक उत्तम वनमे पहुँचे जो कि अच्छे-अच्छे वृक्षोसे सुन्दर था और जिसमे देवताकी प्रतिमासे युक्त किसी वट वृक्षके नीचे खड़े होकर महाराज जगत्पाल चक्रवर्तीने संयम धारण किया था । उसी वृक्षके नीचे एक दर्शनीय नृत्य हो रहा था, उसे दोनो भाई बड़े आदरसे देखने लगे ॥९–१०॥ देखते-देखते कुमार श्रीपालने कहा कि यह स्त्रीका वेष धारण कर पुरुष नाच रहा है और पुरुषका रूप धारण कर स्त्री नाच रही है । यदि यह स्त्री स्त्रीके ही वेपमें नृत्य करती तो वहुत ही अच्छा नृत्य होता । श्रीपालकी यह वात सुनकर नटी मूर्च्छित

---

१ तत्रैवा--अ०, स० । यथैवा--ल०, प०, इ० । २ प्रत्यक्षं दृष्टमिव । ३ चितौ ट० । संयोजितौ । ४ अवारक्षताम् ! ५ मुनीशस्य । ६ सुरगिरिनाम्नि पर्वते । ७ कुबेरश्री. । ८ पूजया । ९ आगच्छेयुः । १० शुभवृक्षै. । ११ वट । 'न्यग्रोधो बहुपाद् वट.' इत्यभिधानात् । १२ वटस्य । १३ आलोच्य । १४ दर्शनीयम् । १५ वसुपालश्रीपालयो । १६ चेत् ।

उपायैः प्रतिबोध्यैनां तदा प्रश्रयपूर्वकम् । इति विज्ञापयामास काचित्तं भाविचक्रिणम् ॥१३॥
सुरम्यविषये श्रीपुराधिपः श्रीधराह्वयः । तद्देवी श्रीमती तस्याः सुता जयवतीत्यभूत् ॥१४॥
तज्जातौ[1] चक्रिणो देवी भाविनीत्यादिगन्विदः[2] । अभिज्ञानं च तस्यैतत् नटनट्योर्विवेत्ति[3] यः ॥१५॥
भेदं स चक्रवर्तीति तत्परीक्षितुमागताः । पुण्याद् दृष्टस्त्वमस्माभिर्निधिवल्लो यदृच्छया ॥१६॥
अहं प्रियरतिर्नाम्ना[5] सुतेयं नर्तकी मम । ज्ञेया मदनवेगाख्या पुरुषाकारधारिणी ॥१७॥
नटोऽयं वासवो नाम ख्यातः स्त्रीवेषधारकः । तच्छ्रुत्वा नृपतिस्तुष्ट्वा तां संतर्प्य यथोचितम् ॥१८॥
गुरुं वन्दितुमात्मीयं गच्छन् सुरगिरिं ततः[6] । अश्वं केनचिदानीतमारुह्यासक्तचेतसा ॥१९॥
[7]अधावयदसौ[8] किंचिदन्तरं धरणीतले । गत्वा गगनमारुह्य व्यक्तीकृतखगाकृतिः[9] ॥२०॥
न्यग्रोधपादपाधःस्थप्रतिमावासिना भृशम् । देवेन तर्जितो भीत्वाऽशनिवेगोऽमुचत् खग. ॥२१॥
कुमारं पर्णलघ्वाख्यविद्यया स्वनियुक्तया । रत्नावर्तगिरेर्मूर्ध्नि स्थितं तं सन्ति भाविनः ॥२२॥
बहवोऽप्यस्य लम्भा इत्यग्रहीत्वा निवृत्तवान् । देवः सरसि कस्मिंश्चित् स्नानादिविधिना श्रमम् ॥२३॥
मार्गजं स्थितमुद्धूय तमेकस्मात् सुधागृहात् । आगत्य राजपुत्रोऽयमिति ज्ञात्वा यथोचितम् ॥२४॥
दृष्ट्वा षड्राजकन्यास्ताः स्ववृत्तान्तं न्यवेदयन् । स्वगोत्रकुलनामादि निर्दिश्य खचरेशिना ॥२५॥
बलादशनिवेगेन वयमस्मिन्निवेशिताः । इति तथोक्तमाकर्ण्य कुमारस्यानुकम्पिनः ॥२६॥

हो गयी ॥११-१२॥ उसी समय अनेक उपायोसे नटीको सचेत कर कोई स्त्री उस होनहार चक्रवर्ती श्रीपालसे विनयपूर्वक इस प्रकार कहने लगी ॥१३॥ कि सुरम्य देशके श्रीपुर नगरके राजाका नाम श्रीधर है उसकी रानीका नाम श्रीमती है और उसके जयवती नामकी पुत्री है ॥१४॥ उसके जन्मके समय ही निमित्तज्ञानियोने कहा था कि यह चक्रवर्तीकी पट्टरानी होगी और उस चक्रवर्तीकी पहचान यही है कि जो नट और नटीके भेदको जानता हो वही चक्रवर्ती है, हम लोग उसीकी परीक्षा करनेके लिए आये है, पुण्योदयसे हम लोगोने निधिके समान इच्छानुसार आपके दर्शन किये है ॥१५-१६॥ मेरा नाम प्रियरति है, यह पुरुपका आकार धारण कर नृत्य करनेवाली मदनवेगा नामकी मेरी पुत्री है और स्त्रीका वेप धारण करनेवाला यह वासव नामका नट है। यह सुनकर राजाने सन्तुष्ट होकर उस स्त्रीको योग्यतानुसार सन्तोषित किया और स्वय अपने पिताकी वन्दना करनेके लिए सुरगिरि नामक पर्वतकी ओर चला, मार्गमे कोई पुरुप घोड़ा लाया उसपर आसक्तचित्त हो श्रीपालने सवारी की और दौड़ाया। कुछ दूर तक तो वह घोड़ा पृथिवीपर दौडाया परन्तु फिर अपना विद्याधरका आकार प्रकट कर उसे आकशमे ले उड़ा। उस वट वृक्षके नीचे स्थित प्रतिमाके समीप रहनेवाले देवने उस विद्याधरको ललकारा, देवकी ललकारसे डरे हुए अशनिवेग नामके विद्याधरने अपनी भेजी हुई पर्णलघु विद्यासे उस कुमार श्रीपालको रत्नावर्त नामके पर्वतके शिखरपर छोड़ दिया। देवने देखा कि उस पर्वतपर रहकर ही उसे बहुत लाभ होनेवाला है इसलिए वह कुमारको साथ लिये बिना ही लौट गया। कुमार भी किसी तालावमें स्नान आदि कर मार्गमे उत्पन्न हुए परिश्रमको दूर कर बैठे ही थे कि इतनेमे एक सफेद महलसे छह राजकन्याएँ निकलकर आयीं और कुमारको 'यह राजाका पुत्र है' ऐसा समझकर यथायोग्य रीतिसे दर्शन कर अपना समाचार निवेदन करने लगी। उन्होने अपने गोत्र-कुल और नाम आदि बतलाकर कहा कि 'अशनिवेग नामके विद्याधरने हम लोगोंको यहाँ जबरदस्ती लाकर पटक दिया है' कन्याओकी यह बात

१ जयवत्या जननसमये। २ विद्वास ३ परिचायकं चिह्नम्। ४ विशेषेण जानाति। ५ नाम्ना ल०, अ०, प०, स०, इ०। ६ वनात् (प्रमथवनात्)। ७ गमयति स्म। ८ मायाश्वः। ९ विद्याधराकार।

निजागमनवृत्तान्तकथनावसरे परा । विद्युद्वेगाभिधा विद्याधरी तत्र समागता ॥२७॥
पापिनाऽशनिवेगेन हन्तुमेनं[1] प्रयोजिता । समीक्ष्य मदनाक्रान्ताऽभूच्चित्राश्चित्तवृत्तयः ॥२८॥
सूनुः स्तनितवेगस्य राज्ञो राजपुरेशितुः[2] । खगेशोऽशनिवेगाख्यो[3] ज्योतिर्वेगाख्यमातृकः ॥२९॥
त्वमत्र तेन सौहार्दादानीतः स ममाग्रजः । विद्युद्वेगाह्वयाऽहं च प्रेषिता ते स मैथुनः ॥३०॥
रत्नावर्तगिरिं याहि स्थितस्तत्रेति सादरम् । भवत्समीपं प्राप्तैवमिति रक्तविचेष्टितम् ॥३१॥
दर्शयन्ती समीपस्थं यावत् सौधगृहान्तरम् । इत्युक्त्वाऽनभिलाषं च ज्ञात्वा तस्य महात्मनः ॥३२॥
तत्रैव विद्यया सौधगेहं निर्माप्य निस्त्रपा । स्थिता तद्राजकन्याभिः सह का कामिनां त्रपा ॥३३॥
एत्यानङ्गपताकाऽस्या[4] स्तं सखीत्थमवोचत[5] । त्वत्पितुर्गुणपालस्य सन्निधाने जिनेशितुः[6] ॥३४॥
[7]ज्योतिर्वेगागुरुं प्रीत्या कुबेरश्रीः समादिशत् । निजजामातरं[8] क्वापि श्रीपालस्वामिनं मम ॥३५॥
स्वयं स्तनितवेगोऽसौ सुतमन्वेषयेदिति । प्रतिपन्नः स[9] तत्प्रोक्तं भवन्तं मैथुनस्तव ॥३६॥
आनीतवानिहेत्येतदवबुध्यात्मनो द्विषम् । पतिं मत्वोत्तरश्रेणेराशङ्क्यानलवेगकम् ॥३७॥
स्वयं तदा समालोच्य निवार्य खचराधिपम्[10] । उदीर्यान्वेषणोपायं त्वत्स्नेहाहितचेतसः ॥३८॥
आनीयतां प्रयत्नेन कुमार इति बान्धवाः । आवां प्रियसकाशं ते प्राहैषुस्त[11] दिहागते ॥३९॥

सुनकर कुमारको उनपर दया आयी और वह भी अपने आनेका वृत्तान्त कहनेके लिए उद्यत हुआ। वह जिस समय अपने आनेका समाचार कह रहा था उसी समय विद्युद्वेगा नामकी एक दूसरी विद्याधरी वहाँ आयी। पापी अशनिवेगने कुमारको मारनेके लिए इसे भेजा था परन्तु वह कुमारको देखकर कामसे पीडित हो गयी सो ठीक ही है क्योंकि चित्तकी वृत्ति विचित्र होती है ॥१७–२८॥ वह कहने लगी कि अशनिवेग नामका विद्याधर राजपुरके स्वामी राजा स्तनितवेगका पुत्र है, उसकी माताका नाम ज्योतिर्वेगा है ॥२९॥ वह अशनिवेग मित्रताके कारण आपको यहाँ लाया है, वह मेरा बड़ा भाई है, मेरा नाम विद्युद्वेगा है और उसीने मुझे आपके पास भेजा है, अब वह आपका साला होता है ॥३०॥ उसने मुझसे कहा था कि तू रत्नावर्त पर्वतपर जा, वे वहाँ विराजमान है इसलिए ही मै आदर सहित आपके पास आयी हूँ' ऐसा कहकर उसने रागपूर्ण चेष्टाएँ दिखलायी और कहा कि यह समीप ही चूनेका बना हुआ पक्का मकान है परन्तु इतना कहनेपर भी जब उसने उन महात्माकी इच्छा नही देखी तब वहीपर विद्याके द्वारा मकान बना लिया और निर्लज्ज होकर उन्ही राजकन्याओके साथ बैठ गयी सो ठीक ही है क्योंकि कामी पुरुषोको लज्जा कहाँसे हो सकती है ? ॥३१–३३॥ इतनेमे विद्युद्वेगाकी सखी अनगपताका आकर कुमारसे इस प्रकार कहने लगी कि 'आपकी माता कुबेरश्री आपके पिता श्रीगुणपाल जिनेन्द्रके समीप गयी हुई थी वहाँ उसने बड़े प्रेमसे ज्योतिर्वेगाके पितासे कहा कि मेरा पुत्र श्रीपाल कही गया है उसे ले आओ। ज्योतिर्वेगाके पिताने अपने जामाता स्तनितवेगसे कहा कि मेरे स्वामी श्रीपाल कही गये है उन्हे ले आओ। स्तनितवेगने स्वयं अपने पुत्र अशनिवेगको भेजा, पिताके कहनेसे ही अशनिवेग आपको यहाँ लाया है, वह आपका साला है। उत्तरश्रेणीका राजा अनलवेग इनका शत्रु है उसकी आशका कर तुम्हारे स्नेहसे जिनका चित्त भर रहा है ऐसे सब भाई-बन्धुओने स्वयं विचारकर आपके खोजनेका उपाय बतलाया और कहा कि कुमारको बड़े प्रयत्नसे यहाँ लाया जाय। वे सब विद्याधरोके अधिपति अनलवेगको रोकनेके लिए गये हैं और हम दोनोको आपके पास भेजा है। यहाँ आनेपर यह विद्युद्वेगा

१ श्रीपालम्। २ पुरेशिन अ०, प०, स०, ल०। ३ ज्योतिर्वेगाख्या माता यस्यासौ। ४ विद्युद्वेगाया। ५ श्रीपालम्। ६ जिनेशिन ल०, प०,। ७ अशनिवेगस्य मातुर्ज्योतिर्वेगाया. पितरम् कुबेरश्रीः समादिशदिति संबन्ध। ८ स्तनितवेगजामातरम्। ९ ज्योतिर्वेगापिता। १० अशनिवेगम्। ११ तत्कारणात्।

विद्युद्वेगाऽवलोक्य त्वामनुरक्ताऽभवत्त्वया । न त्याज्येति तदाकर्ण्य[1] स विचिन्त्योचितं वचः ॥४०॥
मयोपनयनेऽग्राहि[2] व्रतं गुरुभिरर्पितम् । मुक्त्वा गुरुजनानीतां[3] स्वीकरोमि न चापराम्[4] ॥४१॥
इत्यवोचत्ततस्ताश्च शृङ्गाररसचेष्टितैः । नानाविधै रञ्जयितुं प्रवृत्ता नागकंस्तदा[5] ॥४२॥
विद्युद्वेगा ततो[6]ऽगच्छत् स्वमातृपितृसंनिधौ । पिधाय द्वारमारोप्य सौधाग्रं प्राणवल्लभम् ॥४३॥
तावानेतुं[7] कुमारोऽपि सुप्तवान् रक्तकम्बलम् । प्रावृत्य[8] तं समालोक्य भेरुण्डः[9] पिशितोच्चयम्[10] ॥४४॥
मत्वा नीत्वा द्विज.[11] सिद्धकूटाग्रे खादितुं स्थितः । चलन्तं वीक्ष्य[12] सोऽत्याक्षीत स[13] तेषां[14] जातिजो गुणः ४५
[15]ततोऽवतीर्य श्रीपालः स्नात्वा सरसि भक्तिमान् । सुपुष्पाणि सुगन्धीनि समादाय जिनालयम् ॥४६॥
परीत्य स्तोतुमारेभे विवृत्तं[16] द्वास्तदा[17] स्वयम् । तन्निरीक्ष्य प्रसन्नस्सन्नभ्यर्च्य जिनपुंगवान् ॥४७॥
अभिवन्द्य यथाकामं विधिवत्तत्र सुस्थितः । तमभ्येत्य खगः कश्चित् समुद्धृत्य नभःपथे ॥४८॥
गच्छन्मनोरमे राष्ट्रे शिवंकरपुरेशिनः । नृपस्यानिलवेगस्य कान्ता कान्तवतीत्यभूत् ॥४९॥
तयोः सुतां भोगवतीमाकाशस्फटिकालये । मृदुशय्यातले सुप्तां का कुमारीयमित्यसौ[18] ॥५०॥
अपृच्छत्[19] सोऽब्रवीदेषा भुजंगी विषमेति च । तदुक्तेः[20] स क्रुधा कृत्वा कन्यापितृसमीपगम्[21] ॥५१॥

आपको देखकर आपमे अत्यन्त अनुरक्त हो गयी है अतः आपको यह छोड़नी नही चाहिए। कुमारने ये सब बाते सुनकर और अच्छी तरह विचारकर उचित उत्तर दिया कि मैंने यज्ञोपवीत सस्कारके समय गुरुजनोके द्वारा दिया हुआ एक व्रत ग्रहण किया था और वह यह है कि मै माता-पिता आदि गुरुजनोके द्वारा दी हुई कन्याको छोड़कर और किसी कन्याको स्वीकार नही करूँगा। जब कुमारने यह उत्तर दिया तब वे सब कन्याएँ अनेक प्रकारकी शृगाररसकी चेष्टाओसे कुमारको अनुरक्त करनेके लिए तैयार हुई परन्तु जब उसे अनुरक्त नही कर सकी तब विद्युद्वेगा प्राणपति श्रीपालको मकानकी छतपर छोड़कर और वाहरसे दरवाजा बन्द कर माता-पिताको बुलानेके लिए उनके पास गयी। इधर कुमार श्रीपाल भी लाल कम्बल ओढ़कर सो गये, इतनेमे एक भेरुण्ड पक्षीकी दृष्टि उनपर पड़ी, वह उन्हे मासका पिण्ड समझकर उठा ले गया और सिद्धकूट-चैत्यालयके अग्रभागपर रखकर खानेके लिए तैयार हुआ परन्तु कुमारको हिलता-डुलता देखकर उसने उन्हे छोड़ दिया सो ठीक ही है क्योकि यह उन पक्षियोका जन्मजात गुण है ॥३४-४५॥ तदनन्तर श्रीपालने सिद्धकूटके शिखरसे नीचे उतरकर सरोवरमे स्नान किया और अच्छे-अच्छे सुगन्धित फूल लेकर भक्तिपूर्वक श्री जिनालयकी प्रदक्षिणा दी और स्तुति करना प्रारम्भ किया, उसी समय चैत्यालयका द्वार अपने-आप खुल गया, यह देखकर वह बहुत ही प्रसन्न हुआ और विधिपूर्वक इच्छानुसार श्रीजिनेन्द्रदेवकी पूजा-वन्दना कर सुखसे वहीपर बैठ गया। इतनेमें ही एक विद्याधर सामने आया और कुमारको उठाकर आकाशमार्गमें ले चला, चलते-चलते वे मनोरम देशके शिवंकरपुर नगरमें पहुँचे, वहाँके राजाका नाम अनिलवेग था, और उसकी स्त्रीका नाम था कान्तवती, उन दोनोके भोगवती नामकी पुत्री थी, वह भोगवती आकाशमे बने हुए स्फटिकके महलमें कोमल शय्यापर सो रही थी उसे देखकर उस विद्याधरने श्रीपालकुमारसे पूछा कि यह कुमारी कौन है? कुमारने उत्तर दिया कि

१ संविचि—ल०, प०, अ०। २ स्वीकृत। ३ कन्यकाजननीजनकानुमतेन दत्ताम्। ४ तैरदत्ताम्। ५ शकना न बभूवु। ६ रत्नावर्तगिरे। ७ निजमातापितरौ। ८ प्रच्छाद्य। ९ पक्षिविशेष। १० मांसपिण्डम्। ११ भेरुण्ड। १२ मुमोच। १३ सजीवस्य त्याग। १४ पक्षिणाम्। १५ सिद्धकूटाग्रात्। १६ उद्घाटितम्। १७ द्वारम्। १८ विद्याधर। १९ श्रीपाल। २० श्रीपालवचनात्। २१ भोगवतीजनकस्य समीपस्थं कृत्वा तेन अनिलवेगेन सह विद्याधरो वदति। किमिति? अस्मत्कन्यका भोगवतीमेव खलु श्रीपाल विषमभुजगीति अब्रवीदिति।

तमस्मत्कन्यकामेष भुजंगीति खलोऽब्रवीत् । [1]इत्यवोचत्ततः[2][3] क्रुद्ध्वा दुर्धी निक्षिप्यतामयम्[4] ॥५२॥
दुर्द्धरोरुतपोभारधारियोग्ये घने वने । इत्यभ्यधान्नृपस्तस्य वचनानुगमादसौ[5] ॥५३॥
विजयार्द्धोत्तरश्रेणिमनोहरपुरान्तिके । श्मशाने शीतवैतालविद्यया तं[6] शुभाकृतिम् ॥५४॥
कृत्वा व्यत्यक्षिपत् पापी जरतीरूपधारिणम् । [7]तत्रास्पृश्यकुले जाता काऽपि जामातरं स्वयम् ॥५५॥
स्वं ग्राममृगरूपेण[8] स्वसुताचरणद्वये । समन्ताल्लुठितं कृत्वा तां प्रसाद्य[9] भृशं ततः ॥५६॥
[10]तं पुरातनरूपेण समवस्थापयत् खला । [11]तद्विलोक्य कुमारोऽसौ खगाः स्वाभिमताकृतिम् ॥५७॥
[12]विनिवर्तयितुं शक्ता इत्याङ्कय विचिन्तयन् । [13]यमाग्रयायिसंकाशकाशप्रसवहासिभिः[14] ॥५८॥
शिरोरुहैर्जराम्भोधितरङ्गाभतनुत्वचा[15] । समेतमात्मनो रूपं दृष्ट्वा दुष्टविभावितम्[16] ॥५९॥
लज्जाशोकाभिभूतः सन् मङ्क्षु गच्छँस्ततः परम्[17] । तत्र[18] भोगवती[19] भ्रातुर्हरिकेतोः सुसिद्धया ॥६०॥
विद्यया शवरूपेण सद्यः प्रार्थितया करे । कुमारस्य[20] समुद्गस्य[21] निर्वान्तमविचारयन् ॥६१॥
उद्धृत्येदं विशङ्कस्त्वं पिबेत्युक्तं प्रपीतवान्[22] । [23]तं दृष्ट्वा हरिकेतुस्त्वां सर्वव्याधिविनाशिनी ॥६२॥
विद्याश्रितेति संप्रीतः प्रयुज्य वचनं गतः । ततः स्वरूपमापन्नः[24] कुमारो वटभूरुहः[25] ॥६३॥
गच्छन् स्थितमधोभागे दृष्ट्वा कंचिन्नमश्चरम् । प्रदेशः कोऽयमित्येतदपृच्छत्[26] सोऽब्रवीदिदम् ॥६४॥

यह विषम सर्पिणी है । श्रीपालके ऐसा कहनेपर वह विद्याधर क्रुद्ध होकर उन्हे उस कन्याके पिताके पास ले गया और कहने लगा कि यह दुष्ट हम लोगोकी कन्याको सर्पिणी कह रहा है । यह सुनकर कन्याके पिताने भी क्रुद्ध होकर कहा कि 'इस दुष्टको कठिन तपका भार धारण करनेके योग्य किसी सघन वनमे छुड़वा दो ।' राजाके अनुसार उस पापी विद्याधरने शीत-वैताली विद्याके द्वारा सुन्दर आकारवाले श्रीपालकुमारको वृद्धका रूप धारण करनेवाला बनाकर विजयार्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणिके मनोहर नगरके समीपवाले श्मशानमे पटक दिया । वहाँ अस्पृश्य कुलमे उत्पन्न हुई किसी स्त्रीने अपने जमाईको कुत्ता बनाकर अपनी पुत्रीके दोनो चरणोपर खूब लोटाया और इस तरह अपनी पुत्रीको अत्यन्त प्रसन्न कर फिर उस दुष्टा चाण्डालिनीने उसका पुराना रूप कर दिया । यह देखकर कुमार कुछ भयभीत हो चिन्ता करने लगा कि ये विद्याधर लोग इच्छानुसार रूप बनानेमे समर्थ है । उस समय वह मानो यमराजके सामने जानेवालेके समान ही था – अत्यन्त वृद्ध था, उसके बाल काशके फूले हुए फूलोकी हँसी कर रहे थे, और शरीरमें बुढ़ापारूपी समुद्रकी तरंगोके समान सिकुड़नें उठ रही थी । इस प्रकार दुष्ट विद्याधरके द्वारा किया हुआ अपना रूप देखकर वह लज्जा और शोकसे दब रहा था । इसी अवस्थामे वह शीघ्र ही आगे चला । वहाँ भोगवतीके भाई हरिकेतुको विद्या सिद्ध हुई थी उससे उसने प्रार्थना की तब विद्याने मुरदेका रूप धारण कर श्रीपाल कुमारके हाथपर कुछ उगल दिया और कहा कि तू बिना किसी विचारके निशंक हो इसे उठाकर पी जा, कुमार भी उसे शीघ्र ही पी गया । यह देखकर हरिकेतुने कुमारसे कहा कि तुझे सर्वव्याधिविनाशिनी विद्या प्राप्त हुई है, यह कहकर और विद्या देकर हरिकेतु प्रसन्न होता हुआ वहाँ चला गया । इधर कुमार भी अपने असली रूपको प्राप्त हो गया । कुमार आगे बढा तो उसने एक वट वृक्षके

---

१ इत्युवाच तत क्रुध्वा दुष्टो अ०, प०, इ०, स०, ल० । २ तद्वचनाकर्णनानन्तरम् । ३ अनिलवेग. प्रकुप्य । ४ श्रीपाल । ५ खग. । ६ श्रीपालम् । ७ श्मशाने । ८ सारमेयरूपेण । ९ प्रसन्नतां नीत्वा । १० जामातरम् । ११ मायास्वरूपम् । १२ विनिर्मातुम् । १३ कृतान्तस्य पुरोगामिसदृशः । १४ हारिभि ल० । १५ जराम्भोधेस्तरङ्गाभ इत्यपि पाठ । १६ दुष्टविद्याधरेण समुत्पादितम् । १७ तस्मादन्यप्रदेशम् । १८ श्मशाने । १९ पूर्वोक्तभोगवतीकन्याग्रजस्य । २० श्रीपालकुमारस्य । २१ वमन कृत्वा । २२ पिबति स्म । २३ श्रीपालम् । २४ निजरूपं प्राप्त. । २५ न्यग्रोधवृक्षस्य । वटभूरुहम् ल० । २६ वक्ष्यमाणामित्येवम्–ल०, प०, अ०, स०, इ० ।

खगाद्रेः पूर्वदिग्भागे नीलाद्रेरपि पश्चिमे । सुसीमाख्योऽस्ति देशोऽत्र महानगरमप्यदः ॥६५॥
तद्भूतवनमेतत्त्वं सम्यक् चित्तेऽवधारय । [1]अस्मिन्नेताः [2]शिलाः सप्त परस्परधृताः कृताः [3] ॥६६॥
येनाऽसौ चक्रवर्तित्वं [4]प्राप्तेत्यादेश ईदृश । इति तद्वचनादेष [5]तास्तथा कृतवांस्तदा ॥६७॥
दृष्ट्वा तत्साहसं वक्तुं सोऽगमन्नगरेशिनः [6] । कुमारोऽपि विनिर्गत्य ततो [7] निर्विण्णचेतसा ॥६८॥
कांचिज्जरावती [8] कुत्स्यशरीरां कस्यचित्तरोः । [9] अवस्थितामधोभागे विषयं पुष्कलावतीम् ॥६९॥
वद प्रयाति कः पन्था इत्यप्राक्षीत् प्रियं वदन् [10] । विना गगनमार्गेण प्रयातुं नैव शक्यते ॥७०॥
[11]स [12]गव्यूतिशतोत्सेधविजयार्द्धगिरेरपि । [13]परस्मिन्नित्यसावाह [14] तदाकर्ण्य नृपात्मजः ॥७१॥
ब्रूहि तत्प्रापणोपायमिति तां प्रत्यभाषत । इह जम्बूमति द्वीपे विषयो वत्सकावती ॥७२॥
तत्खेचरगिरौ राजपुरे खेचरचक्रिणः । देवी धरणिकम्पस्य सुप्रभा [15] वा प्रभाकरी ॥७३॥
तयोरहं तनूजास्मि विख्याताख्या सुखावती । [16]त्रिप्रकारोरुविद्यानां पारगाऽन्येद्युरागता ॥७४॥
विषये वत्सकावत्यां विजयार्धमहीधरे [17] । अकम्पनसुतां पिप्पलाख्यां प्राणसमां सखीम् ॥७५॥
ममाभिवीक्षितुं तत्र [18] चित्रमालोक्य कम्बलम् । कथयायं कुतस्त्यस्ते तन्वीति प्रश्नतो मम ॥७६॥

नीचे बैठे हुए किसी विद्याधरको देखकर उससे पूछा कि यह कौन-सा देश है ? तब वह विद्याधर कहने लगा कि ॥४६–६४॥ विजयार्ध पर्वतकी पूर्वदिशा और नीलगिरिकी पश्चिमकी ओर यह सुसीमा नामका देश है, इसमें यह महानगर नामका नगर है और यह भूतारण्य वन है, यह तू अपने मनमें अच्छी तरह निश्चय कर ले, इधर इस वनमे ये सात शिलाएँ पड़ी है जो कोई इन्हे परस्पर मिलाकर एकपर एक रख देगा वह चक्रवर्ती पदको प्राप्त होगा ऐसी सर्वज्ञ देवकी आज्ञा है' विद्याधरके यह वचन सुनकर श्रीपालकुमारने उन शिलाओको उसी समय एकके ऊपर एक करके रख दिया ॥६५–६७॥ कुमारका यह साहस देखकर वह विद्याधर नगरके राजाको खबर देनेके लिए चला गया और इधर कुमार भी कुछ उदासचित्त हो वहाँसे निकलकर आगे चला । आगे किसी वृक्षके नीचे निन्द्य शरीरको धारण करनेवाली एक बुढिया-को देखकर मधुर वचन बोलनेवाले कुमारने उससे पूछा कि पुष्कलावती देशको कौन-सा मार्ग जाता है, बताओ, तब बुढियाने कहा कि वहाँ आकाश मार्गके बिना नही जाया जा सकता क्योकि वह देश पच्चीस योजन ऊँचे विजयार्ध पर्वतसे भी उस ओर है, यह सुनकर राजपुत्र श्रीपालने उससे फिर कहा कि वहाँ जानेका कुछ भी तो मार्ग बतलाओ । तब वह कहने लगी – इस जम्बू द्वीपमे एक वत्सकावती नामका देश है, उसके विजयार्ध पर्वतपर एक राजपुर नामका नगर है । उसमे विद्याधरोका चक्रवर्ती राजा धरणीकम्प रहता है, उसकी कान्तिको फैलानेवाली सुप्रभा नामकी रानी है, मै उन्ही दोनोंकी प्रसिद्ध पुत्री हूँ, सुखावती मेरा नाम है और मै जाति विद्या, कुल विद्या तथा सिद्ध की हुई विद्या इन तीनों प्रकारकी बड़ी-बड़ी विद्याओकी पारगामिनी हूँ । किसी एक दिन मै वत्सकावती देशके विजयार्ध पर्वतपर अपने प्राणोके समान प्यारी सखी, राजा अकम्पनकी पुत्री पिप्पलाको देखनेके लिए गयी थी । वहाँ मैने एक विचित्र कम्बल देखकर उससे पूछा कि हे सखि, कह, यह कम्बल तुझे कहाँसे प्राप्त हुआ है ? उसने कहा कि 'यह कम्बल मेरी ही आज्ञासे प्राप्त हुआ है' । कम्बल प्राप्तिके समयसे ही कम्बलवालेका ध्यान करती हुई वह अत्यन्त विह्वल हो रही है ऐसा सुनकर उसकी सखी मदनवती उसे देखनेके लिए उसी

१ वने । २ एकैकस्या उपर्युपरिस्थिता. । ३ विहिता । ४ प्राप्स्यति । ५ शीतलाः । ६ नगरेशितु. ल०, प०, अ०, स०, इ० । ७ वनात् । ८ निन्द्य । ९ अध – ल० । १० प्रियं वद' ल० । ११ पुष्कलावतीविषयः । १२ पञ्चविंशतियोजन । १३ अपरभागे । १४ जरती । १५ चन्द्रिकेव । १६ नातिकुलसाधितविद्यानाम् । १७ महीतले ल०, प० । १८ पिप्पलायाम् ।

जगाद साऽपि मामेषं[1] प्रायादेशवशादिति । [2]कम्बलाप्तितस्तद्वन्तं[3] समाध्याय विह्वलाम् ॥७७॥
एतां[4] तस्याः[5] सखी श्रुत्वा समन्वेष्टु समागता । काञ्चनाख्यपुरान्नाम्ना मदनादिवती तदा ॥७८॥
दृष्ट्वा तत्कम्बलस्यान्ते निबद्धां रत्नमुद्रिकाम् । तत्र[6] श्रीपालनामाक्षराणि चादेशमस्मृतेः[7] ॥७९॥
[8]अकायसायकोद्भिन्नहृदयाऽभूदहं ततः । कथं वैद्याधरं लोकमिमं श्रीपालनामभृत् ॥८०॥
समागतः स इत्येतन्निश्चेतुं पुण्डरीकिणीम् । उपगम्य जिनागारे वन्दित्वा समुपस्थिता ॥८१॥
त्वत्प्रवासकथां[10] सर्वां तव मातुः प्रजल्पनात् । विदित्वा विस्तरेण त्वामानेष्यामीति निश्चयात् ॥८२॥
आगच्छन्ती भवद्वार्तां विद्युद्वेगामुखोद्गताम् । अवगत्य त्वया सार्द्धं योजयिष्यामि ते प्रियम् ॥८३॥
न [11]विषादो विधातव्य इत्याश्वास्य भवत्प्रियाम् । विनिर्गत्य ततोऽभ्येत्य सिद्धकूटजिनालयम् ॥८४॥
अभिवन्द्यागता[12]ऽस्म्येहि[13] मयाऽमा पुण्डरीकिणीम् । मातरं भ्रातरं चान्यांस्त्वद्बन्धूंश्च समीक्षितुम् ॥८५॥
यदीच्छास्ति तवेत्याह सा तच्छ्रुत्वा[14] पुनः कुतः । त्वमेव जरती जातेत्यब्रवीन् स[15] सुखावतीम् ॥८६॥
कुमारवचनाकर्णनेन[16] वार्द्धक्यमागतम् । भवतश्च न किं वेत्सीत्यपहस्य तयोदितम् ॥८७॥
जराभिभूतमालोक्य स्वशरीरमिदं त्वया । कृतमेवंविधं केन हेतुनेत्यनुयुक्तवान् ॥८८॥
तच्छ्रुत्वा साऽब्रवीदेवं पिप्पलेत्यास्ययोदिता । मदनादिवती या च मैथुनौ विश्रुतौ तयोः ॥८९॥
बलवान् धूमवेगाख्यस्ताद्यहरिविरोऽपि च । तद्भयात्त्वां[17] तिरोधाय पुरं[18] प्रापयितुं मया ॥९०॥
मायारूपद्वयं[19] विद्याप्रभावात प्रकटीकृतम् । कुमार, मत्करस्थामृतास्वादफलभक्षणात् ॥९१॥

समय काचनपुर नगरसे आयी । उसने वह कम्बल देखा, कम्बलके छोरमे बँधी हुई रत्नोकी अँगूठी और उसपर खुदे हुए श्रीपालके नामाक्षर देखकर मुझे अपने गुरुकी आज्ञाका स्मरण हो आया, उसी समय मेरा हृदय कामदेवके बाणोसे भिन्न हो गया, मै सोचने लगी कि श्रीपाल नामको धारण करनेवाला यह भूमिगोचरी विद्याधरोके इस लोकमे कैसे आया ? इसी बातका निश्चय करनेके लिए मै पुण्डरीकिणी पुरी पहुँची, वहाँ जिनालयमें भगवान्‌की वन्दना कर बैठी ही थी कि इतनेमें वहाँ आपकी माता आ पहुँची, उनके कहनेसे मैंने विस्तारपूर्वक आपके प्रवासकी कथा मालूम की और निश्चय किया कि मैं आपको अवश्य ही ढूँढकर लाऊंगी । उसी निश्चयके अनुसार मै आ रही थी, रास्तेमे विद्युद्वेगाके मुखसे आपका सब समाचार जानकर मैंने उससे कहा कि 'तू अभी विवाह मत कर, मै तेरे इष्टपतिको तुझसे अवश्य मिला दूँगी' इस प्रकार आपकी भावी प्रियाको विश्वास दिलाकर वहाँसे निकली और सिद्धकूट चैत्यालयमे पहुँची । वहाँको वन्दना कर आयी हूँ, यदि माता भाई तथा अन्य बन्धुओको देखनेकी तुम्हारी इच्छा हो तो मेरे साथ पुण्डरीकिणी पुरीको चलो, यह सब सुनकर मैंने सुखावतीसे फिर कहा कि अच्छा, यह बतला तू इतनी बूढी क्यो हो गयी है ? कुमारके वचन सुनकर उस बुढ़ियाने हँसते-हँसते कहा कि क्या आप अपने शरीरमे आये हुए बुढ़ापेको नही जानते—आप भी तो बूढे हो रहे है । कुमारने अपने शरीरको बूढा देखकर उससे पूछा कि 'तूने मेरा शरीर इस प्रकार बूढा क्यो कर दिया है ।' कुमारकी यह बात सुनकर वह इस तरह कहने लगी कि जिनका कथन पहले कर आयी हूँ ऐसी पिप्पला और मदनवती नामकी दो कन्याएँ है, उन्हे दो प्रसिद्ध

---

१ कम्बल । २ कम्बलप्राप्तिमादि कृत्वेत्यर्थ । कम्बलप्राप्तिस्त--अ०, स०, ल० । ३ कम्बलवन्तं पुरुषम् । ४ पिप्पलाम् । ५ पिप्पलाया । ६ मुद्रिकायाम् । ७ सस्मृतौ इ०, अ०, स०, प० । ८ कामबाण । ९ सुखावती । १० भवद्देशान्तरगमनकथाम् । ११ विवाहो ल० । विदोषो अ०, स० । १२ अत्रागताहम् । १३ आगच्छ । १४ सुखावतीवचनमाकर्ण्य । १५ श्रीपाल । १६ कुमारवाचमाकर्ण्य इ०, अ०, स० । कुमारवचनाकर्ण्य ल० । १७ धूमवेगहरिवरभयात् । १८ पुण्डरीकिणीम् । १९ मम जरतीरूपम् भवतश्च वार्द्धक्यमिति द्वयम् ।

विगतक्षुच्छ्रमः शीघ्रं मामारुह्य पुरं प्रति । व्रजेति सोऽपि तच्छ्रुत्वा स्त्रियो रूपममामकम्[1] ॥९२॥
न स्पृशामि कथं चाहमारोहामि पुरा[2] [3]गुरोः । [4]संनिधावाददामीदृग्व्रतमित्यब्रवीदिदम् ॥९३॥
सा तदाकर्ण्य संचिन्त्य किं जातमिति विद्यया । गृहीत्वा पुरुषाकारमुद्वहन्ती [5]तमित्वरी[6] ॥९४॥
वन्दित्वा सिद्धकूटाख्यं तत्र विश्रान्तये स्थिता । तस्मिन्नेव दिने भोगवती[7] भगिनिमात्मनः ॥९५॥
प्रविश्य भवनं कान्त्या कलाभिश्चाभिवर्द्धितम् । निर्वर्त्तमानमालोक्य स्वप्नेऽमांगल्यशान्तये ॥९६॥
तत्सिद्धकूटपूजार्थं कान्ता कान्तवती सती । रत्नवेगा सुवेगाऽमितमती रतिकान्तया ॥९७॥
सहिता चित्तवेगाख्या पिप्पला मदनावती । विद्युद्वेगा तथैवान्यास्ताभिः सा परिवारिता ॥९८॥
समागत्य महाभक्त्या परीत्य जिनमन्दिरम् । यथाविधि प्रणम्येशं संपूज्य स्तोतुमुद्यता ॥९९॥
तासां[8] तासां तदा व्याकुलीभावमपि चेतसः । तस्मिन् शिवकुमारस्य वक्रताक्रान्तमाननम् ॥१००॥
[9]आदिष्टसंनिधानेन विलोक्य प्रकृतिं[10] गतम् । सुखावती [11]तदुद्देशादपनीय कुमारकम् ॥१०१॥
स्थानेऽन्यस्मिन्न्यधादेनं[12] तत्राप्यम्बुनि[13] मुद्रया[14] । स्वरूपं कामरूपिण्या [15]प्रेक्षमाणं यदृच्छया ॥
दृष्ट्वा [16]हरिवरस्तस्मान्नीत्वा कोपान् स पापभाक् । निचिक्षेप[17] महाकालगुहायां [18]विहितायकम् ॥१०३॥

विद्याधर चाहते है, एकका नाम धूमवेग है और दूसरेका नाम हरिवर । ये दोनो ही अत्यन्त बलवान् है, उन दोनोके भयसे ही मैने आपको छिपाकर नगरमें पहुँचानेके लिए विद्याके प्रभावसे मायामय दो रूप बनाये है । हे कुमार, मेरे हाथमे रखे हुए इस अमृतके समान स्वादिष्ट फलको खाकर आप अपनी भूख तथा थकावटको दूर कीजिए और मुझपर सवार होकर शीघ्र ही नगरकी ओर चलिए' यह सुनकर कुमारने कहा कि मेरे सवार होनेके लिए स्त्रीका रूप अयोग्य है, मै तो उसका स्पर्श भी नही करता हूँ, सवार कैसे होऊँ ? क्योकि मैने पहले गुरुके समीप ऐसा ही व्रत लिया है यह सुनकर उसने सोचा और कहा कि अब भी क्या हुआ ? वह विद्याके द्वारा उसी समय पुरुषका आकार धारण कर कुमारको बड़ी शीघ्रतासे ले चली । चलते-चलते वह सिद्धकूट चैत्यालयमें पहुँची और वन्दना कर विश्राम करनेके लिए वही बैठ गयी । उसी दिन भोगवतीने स्वप्नमे देखा कि कान्ति और कलाओसे बढा हुआ चन्द्रमा हमारे भवनमें प्रवेश कर लौट गया है । इस स्वप्नको देखकर वह अमंगलकी शान्तिके लिए सिद्धकूट चैत्यालयमें पूजा करनेके लिए आयी थी । वह सुन्दरी कान्तवती, सती रत्नवेगा, सुवेगा, अमितमती, रतिकान्ता, चित्तवेगा, पिप्पला, मदनावती, विद्युद्वेगा तथा और भी अनेक राजकन्याओसे घिरी हुई थी । उन सभी कन्याओने आकर बड़ी भक्तिसे जिन-मन्दिरकी प्रदक्षिणा दी, विधिपूर्वक नमस्कार किया, पूजा की और फिर सबकी सब स्तुति करनेके लिए उद्यत हुई । स्तुति करते समय भी उनका चित्त व्याकुल हो रहा था । उसी चैत्यालयमे एक शिवकुमार नामका राजपुत्र भी खड़ा था, उसका मुँह टेढ़ा था परन्तु श्रीपालकुमारके समीप आते ही वह ठीक हो गया, यह देखकर सुखावतीने उसे उसके स्थानसे हटाकर दूसरी जगह रख दिया । उस चैत्यालयमे श्रीपालकुमार अपनी कामरूपिणी मुद्रासे इच्छानुसार जलमे अपना खास रूप देख रहा था । उसे ऐसा करते पापी हरिवर विद्याधरने देख लिया और पूर्व जन्ममे पुण्य करनेवाले कुमारको

---

१ मम संबन्धिस्त्रीरूपं मुक्त्वा अन्यस्त्रीरूपम् । २ पूर्वस्मिन् । ३ गुरोः समीपे ४ स्वीकरोमि । ५ श्रीपालम् । ६ गमनशीला । ७ पुरा कुमारेण भुजङ्गीत्युक्ता भोगवती । ८ सहागता कन्यकाः । ९ आदेशपुरुषसामीप्येन । १० पूर्वस्वरूपम् । ११ तत्प्रदेशात् । १२ स्थापयामास । १३ जले । १४ मुद्रिकया । १५ प्रेक्ष्यमाण इ० । १६ मदनावतीमैथुन । १७ निक्षिप्तवान् । १८ कृतपुण्यं श्रीपालम् ।

वसंस्तत्र महाकालस्तं गृहीतुमुपागतः[1] । तस्य पुण्यप्रभावेन सोऽप्यकिंचित्करो गतः ॥१०४॥
तत्र शय्यातले सुप्त्वा शुचौ मृदुनि विस्तृते । परेद्युर्निर्गतं[2] तस्याः[3] संप्रयुक्तैः परीक्षितुम् ॥१०५॥
आदिष्टपुरुषं भृत्यैर्ज्ञात्वाऽभ्येत्य निवेदितम् । गृहीत्वा स्थविराकारं कोपपावकदीपितः ॥१०६॥
तं वीक्ष्य धूमवेगाख्यः[4] खगश्चन्द्रपुराद् बहिः । श्मशानमध्ये पाषाणनिशातविविधायुधैः[5] ॥१०७॥
[6]न्यगृह्णात्तानि[7] चास्यामन् पतन्ति कुसुमानि वा । परोऽपि खेचरस्तत्र नरेशोऽतिबलाह्वयः ॥१०८॥
स्वदेव्यां चित्रसेनाख्यां भृत्ये दुष्टतरे सति । तं निहत्या[8]दहत्तस्मिन्[9] धूमवेगो निधाय तम् ॥१०९॥
कुमारं चागमत्तत्र महौषधजशक्तितः[10] । निराकृतज्वलद्वह्निशक्तिस्तस्मात् स निर्गतः ॥११०॥
हतानुचरभार्यात्र काचिन्निरपराधकः । हतो नृपेण मद्भर्तेत्यस्य[11] शुद्धिप्रकाशिनी ॥१११॥
तत्कुमारस्य संस्पर्शान्निश्शक्तिं सा हुताशनम् । विदित्वा प्राविशद् दृष्ट्वा कुमारस्तां सकौतुकः ॥११२॥
अभेद्यमपि वज्रेण स्त्रीणां मायाविनिर्मितम्[12] । कवचं दिविजेशा[13] च नीरन्ध्रमिति निर्भयः ॥११३॥
स्थितस्तत्र स्मरन्नेवं सुता तन्नगरेशिनः । राज्ञो विमलसेनस्य वत्यन्तकमलाह्वया ॥११४॥
कामग्रहाहिता तस्यास्तद्ग्रहापजिहीर्षया[14] । जने समुदिते[15] सद्यः कुमारस्तमपाहरत्[16] ॥११५॥

क्रोधसे उस स्थानसे ले जाकर महाकाल नामकी गुफामें गिरा दिया। उस गुफामे एक महाकाल नामका व्यन्तर रहता था वह उसे पकडनेके लिए आया परन्तु कुमारके पुण्यके प्रभावसे अकिंचित्कर हो चला गया—उसका कुछ नही विगाड़ सका। वह कुमार उस दिन उसी गुफामें पवित्र, कोमल और वडी शय्यापर सोकर दूसरे दिन वहाँसे वाहर निकला, यद्यपि उसने अपना वूढेका रूप वना लिया था तथापि धूमवेगके द्वारा परीक्षाके लिए नियुक्त किये हुए पुरुषोने उसे पहचान लिया, स्वामीके पास जाकर उन्होने सव खवर दी और पकड़कर श्रीपालकुमारको सामने उपस्थित किया। क्रोधरूपी अग्निसे प्रज्वलित हुए धूमवेग विद्याधरने कुमारको देखकर आज्ञा दी कि इसे नगरके वाहर श्मशानके वीच पत्थरपर घिसकर तेज किये हुए अनेक शस्त्रोसे मार डालो। सेवक लोग मारने लगे परन्तु वे सब शस्त्र उसपर फूल होकर पड़ते थे। इसीसे सम्वन्ध रखनेवाली एक कथा और लिखी जाती है जो इस प्रकार है –

उसी नगरमें एक अतिवल नामका दूसरा विद्याधर राजा रहता था ॥९८–१०८॥ उसकी चित्रसेना नामकी रानीसे कोई दुष्ट नौकर फँस गया था, इसलिए राजा उसे मारकर जला रहा था। धूमवेग विद्याधर श्रीपालकुमारको उसी अग्निकुण्डमें रखकर चला गया परन्तु कुमारकी महौषधिकी शक्तिसे वह अग्नि निस्तेज हो गयी इसलिए वह उससे वाहर निकल आया। उस मारकर जलाये हुए सेवककी स्त्रीको जव इस वातका पता चला कि कुमारके स्पर्शसे अग्नि शक्तिरहित हो गयी है तव वह स्वयं उस अग्निमें घुस पडी और उससे निकलकर यह कहती हुई अपनी शुद्धि प्रकट करने लगी कि 'मेरा पति निरपराध था राजाने उसे व्यर्थ ही मार डाला है।' कुमारको यह सव चरित्र देखकर वड़ा कौतुक हुआ, वह सोचने लगा कि 'स्त्रियोंकी मायासे वने हुए इस कवचको इन्द्र भी अपने वज्रसे नही भेद सकता है, यह छिद्ररहित है' इस प्रकार सोचता हुआ वह निर्भय होकर वही वैठा था। इधर उस नगरके स्वामी राजा विमलसेनकी पुत्री कमलावती कामरूप पिशाचसे आक्रान्त हो रही थी, उसके उस पिशाचको दूर करनेकी इच्छासे वहुत आदमी इकट्ठे हुए थे, श्रीपालकुमार भी वहाँ गया था और उसने उस पिशाचको दूर

---

१ मुक्षितुमित्यर्थ.। २ गुहाया सकाशात्। ३ सम्प्रयुक्तै. ब०। सुप्रयुक्तैः ल०, अ०, प०। ४ पिप्पलायाः मैथुन। ५ निशित। ६ निग्रहं चकार। ७ पाषाणायुधानि। ८ हत्वा। ९ चिताग्नौ। १० पुरा श्मशाने हरिकेतोर्विद्यया निर्वान्ति पीत्वा जातमहौषधिशक्तित.। ११ स्वभर्तु। १२ कपटमित्यर्थ। १३ इन्द्रेण। १४ कामग्रहमहर्तुमिच्छया। १५ एकत्र मिलिते सति। १६ कामग्रहमपसारितवानित्यर्थ.।

सन्योऽभूत् प्राक्तनादेश इति तस्मै महीपतिः । तुष्ट्वा तां कन्यकां दित्सुस्तस्या निच्छां विबुध्य सः ॥११६॥
अभ्यर्णं बन्धुवर्गस्य नेयोऽयं भवता द्रुतम् । यत्नेनेत्यात्मजं स्वस्य वरसेनं समादिशत् ॥११७॥
नीत्वा सोऽपि कुमारं तं विमलादिपुरो बहिः । वने तृष्णोपसंतप्तं स्थापयित्वा गतोऽम्बुने ॥११८॥
तदा सुखावती कुब्जा भूत्वा कुसुममालया । परिस्पृश्य तृषां नीत्वा कन्यकां तं चकार सा ॥११९॥
धूमवेगो हरिवरश्चैतां वीक्ष्याभिलाषिणौ । अभूतां बद्धमात्सर्यौ तस्याः स्वीकरणं प्रति ॥१२०॥
द्वेषवन्तौ तदाऽऽलोच्य युवयोर्विग्रहो वृथा । पतिर्भवत्वसावस्या यमेषाऽभिलषिष्यति ॥१२१॥
इति बन्धुजनैर्वार्यमाणौ वैराद् विरेमतुः । स्त्रीहेतोः कस्य वा न स्यात् प्रतिघातः परस्परम् ॥१२२॥
कन्याकृत्यैव गत्वाऽतः कान्तया स सुकान्तया । रतिकान्ताख्यया कान्तवत्या च सहितः पुनः ॥१२३॥
स्थितं प्राक्तनरूपेण काचित्तं वीक्ष्य लज्जिता । रतिं समागमत् काचिन्नैकभावा हि योषितः ॥१२४॥
प्रसुप्तवन्तं तं तत्र प्रत्यूषे च सुखावती । यत्नेनोद्धृत्य गच्छन्ती तेनोन्मीलितचक्षुषा ॥१२५॥
विहाय मामिहैकाकिनं त्वं क्व प्रस्थितेति सा । पृष्टा न क्वापि याताऽहं त्वत्समीपगता सदा ॥१२६॥
आदिष्टवनिनारत्नलाभो नैवात्र ते भयम् । इत्यन्तर्हितमापाद्य स्वरूपेण समागमः ॥१२७॥

कर दिया था। 'निमित्तज्ञानियोने जो पहले आदेश दिया था वह आज सत्य सिद्ध हुआ।' यह देख राजाने सन्तुष्ट होकर वह पुत्री कुमारको देनी चाही परन्तु जब कुमारकी इच्छा न देखी तब उसने अपने पुत्र वरसेनको आज्ञा दी कि इन्हे शीघ्र ही बड़े यत्नके साथ इनके बन्धु वर्गके समीप भेज आओ ॥१०९-११७॥ वह वरसेन भी कुमारको लेकर चला और विमलपुर नामक नगरके बाहर प्याससे पीड़ित कुमारको बैठाकर पानी लेनेके लिए गया ॥११८॥ उसी समय कूबड़ीका रूप बनाकर सुखावती वहाँ आ गयी, उसने अपने फूलोकी मालाके स्पर्शसे कुमार-की प्यास दूर कर दी और उसे कन्या बना दिया ॥११९॥ उस कन्याको देखकर धूमवेग और हरिवर दोनो ही उसकी इच्छा करने लगे। उसे स्वीकार करनेके लिए दोनो ईर्ष्यालु हो उठे और दोनों ही परस्पर द्वेष करने लगे। यह देखकर उनके भाई-बन्धुओने रोका और कहा कि 'तुम दोनोंका लड़ना व्यर्थ है इसका पति वही हो जिसे यह चाहे' इस प्रकार बन्धुजनोके द्वारा रोके जानेपर वे दोनों वैरसे विरत हुए। देखो ! स्त्रीके कारण परस्पर किस किसका प्रेम भंग नही हो जाता है ? ॥१२०-१२२॥ उस कन्याने उन दोनोमे-से किसीको नही चाहा इसलिए सुखावती उसे कन्याके आकारमे ही वहाँ ले गयी जहाँ कान्ता, सुकान्ता, रतिकान्ता और कान्त-वती थी ॥ १२३ ॥ पहलेके समान असली रूपमे बैठे हुए कुमारको देखकर कोई कन्या लज्जित हो गयी और कोई प्रीति करने लगी सो ठीक ही है क्योंकि स्त्रियोके भाव अनेक प्रकारके होते हैं ॥१२४॥ श्रीपाल रातको वही सोया, सोते-सोते ही सवेरेके समय सुखावती बडे प्रयत्नसे उठा ले चली, कुमारने आँख खुलनेपर उससे पूछा कि तू मुझे यहाँ अकेला छोड़कर कहाँ चली गयी थी ? तब सुखावतीने कहा कि मै कहीं नही गयी थी, मै सदा आपके पास ही रही हूँ, यहाँ आपको स्त्रीरत्न प्राप्त होगा ऐसा निमित्तज्ञानीने बतलाया है, यहाँ आपको कोई भय नही है। आज तक मै अपने रूपको छिपाये रहती थी परन्तु आज असली रूपमे आपसे मिल

---

१ दातुमिच्छुः । २ श्रीपालस्य । ३ कन्यकायामनभिलापम् । ४ विमलसेन । ५ जलाय । जलमानेतुमित्यर्थः । ६ गमयित्वा । अपसार्येत्यर्थः । ७ श्रीपालम् । ८ कृतकन्यकाम् । ९ प्रीतिघात ल०, अ०, प०, स० । १० कन्यकाकारेणैव । ११ पूर्वस्वरूपेण (निजकुमारस्वरूपेण) । १२ अनेकपरिणामा । १३ आदिष्टो ल०, प०, इ० । १४ इत्यन्तर्हितरूपाद्य-ल० । अन्तर्हितमाच्छादितं यथा भवति तथा । १५ समागममित्यपि पाठः । समागतास्मि ।

इत्याह तद्वचः श्रुत्वा प्रमुद्येत्य[1] खगाचले । पुरं दक्षिणभागस्थं गजाद्रि[2] तत्समीपगम् ॥१२८॥
कंचिद् गजपतिं स्तम्भमुन्मूल्यारूढदर्पकम् । द्वात्रिंशदुक्तक्रीडाभिः क्रीडित्वा वशमानयत ॥१२९॥
ततः समुदिते[3] चण्डदीधितौ[4] निर्जिताद् गजात् । कुमारागमनं पौरा बुद्ध्वा संतुष्टचेतसः ॥१३०॥
[5]प्रतिकेतनमुद्बद्धचलत्केतुपताकिकाः । [6]प्रत्युद्गममकुर्वंस्ते[7] [8]तत्पुण्योदयचोदिताः ॥१३१॥
ततो नभस्यऽसौ गच्छन् कंचिद्धयपुरे हयम् । स्थितं प्रदक्षिणीकृत्य स्वं[9] पश्यन्नात्तविस्मयः ॥१३२॥
तत्रापि विदितादेशैर्नागरैः प्राप्तपूजनः । पुनस्ततोऽपि निष्क्रम्य समागच्छन्निजेच्छया ॥१३३॥
[10]चतुर्जनपदाभ्यन्तरस्थसीममहाचले[11] । जने महति संभूय[12] स्थिते केनापि हेतुना ॥१३४॥
कस्यचित् कोशतः[13] खड्गं कस्मिँश्चिदपि यत्नतः । सत्यशक्ते समुत्खातुं त[14] ममुद्गीर्य[15] हेलया ॥
कुमारः [16]प्राहरद् वंशस्तम्बं[17] संभृत[18]वंशकम् । तदालोक्य जनः सर्वः प्रमोदादादरं[19] व्यधात् ॥१३६॥
तत्र कश्चित् समागत्य मूकः समुपविष्टवान् । प्रप्रणम्य कुमारं तं जयशब्दपुरस्सरम् ॥१३७॥
[20]कुण्डश्च कश्चिदङ्गुल्या प्रसारितकराङ्गुलिः । अञ्जलिं मुकुलीकृत्य समीपे समुपस्थितः ॥१३८॥
यो वज्रमणिपाकाय समुद्युक्तस्तदा मुदा । तेषां पाके व्यलोकिष्ट कुमारं विनयेन सः ॥१३९॥

रही हूँ" ॥१२५-१२७॥ उसके यह वचन सुनकर श्रीपाल बहुत ही हर्षित हुआ और वहाँसे आगे चलकर विजयार्ध पर्वतके दक्षिण भागमे स्थित गजपुर नगरके समीप जा पहुँचा ॥१२८॥ वहाँ कोई एक गजराज खम्भा उखाडकर मदोन्मत्त हो रहा था। उसे कुमारने शास्त्रोक्त बत्तीस क्रीड़ाओसे क्रीडा कराकर वश किया ॥१२९॥ तदनन्तर सूर्योदय होते-होते नगरके सब लोगोंने गजराजको जीत लेनेसे कुमारका आना जान लिया, सबने सन्तुष्टचित्त होकर घर-घर चंचल पताकाएँ फहरायी और कुमारके पुण्योदयसे प्रेरित होकर सब लोगोने उसकी अगवानी की ॥१३०-१३१॥ कुमार वहाँसे भी आकाशमें चला, चलता-चलता हयपुर नगरमे पहुँचा वहाँ एक घोडा कुमारकी प्रदक्षिणा देकर समीप ही में खडा हो गया, कुमारने यह सब स्वयं देखा परन्तु उसे कुछ भी आश्चर्य नहीं हुआ ॥१३२॥ जब नगरनिवासियोको इस बातका पता चला तब सबने कुमारका सत्कार किया, कुमार वहाँसे भी निकलकर अपनी इच्छानुसार आगे चला ॥१३३॥ चलता-चलता चार देशोके बीचमें स्थित सुसीमा नामक पर्वतपर पहुँचा। वहाँ किसी कारण बहुत-से लोग इकट्ठे हो रहे थे, वे प्रयत्न कर म्यानसे तलवार निकाल रहे थे परन्तु उनमे-से कोई भी उक्त कार्यके लिए समर्थ नही हो सका परन्तु कुमारने उसे लीलामात्रमे निकाल दिया जिसमें बहुत-से बाँस उलझे हुए खडे थे, ऐसे बाँसके भिडेपर उसे चलाया यह देखकर सब लोगोंने बड़े हर्षसे कुमारका आदर-सत्कार किया ॥१३४-१३६॥ इतनेमें ही वहाँ एक गूँगा मनुष्य आया और जय-जय शब्दका उच्चारण करता हुआ कुमारको प्रणाम कर बैठ गया ॥१३७॥ वहीपर एक टेढ़ी अगुलीका मनुष्य आया, कुमारको देखते ही उसकी अंगुली ठीक हो गयी, उसने हाथकी अगुली फैलाकर हाथ जोड़े और नमस्कार कर पास ही खडा हो गया ॥१३८॥ वहीपर एक मनुष्य हीराओकी भस्म बना रहा था, वह बनती नही थी परन्तु कुमारके सन्निधानसे वह बन गयी इसलिए उसने भी बडी विनयसे कुमारके दर्शन किये

---

१ सतुष्य । २ गजपुरम् । ३ उदय गते सति । ४ सूर्ये । ५ प्रतिगृहम् । ६ सम्मुखागमनम् । ७ चक्रिरे । ८ श्रीपालपुण्य । ९ स्वय पश्यन्नविस्मय. ल०, इ०, अ०, स० । १० चतुर्देशमध्यस्थितसीमाख्यमहागिरौ । ११ महागिरौ ट० । १२ मिलित्वा । १३ खड्गपिधानत । १४ खड्गम् । १५ उत्खातं कृत्वा । १६ प्रहरति स्म । १७ वेणुगुलमम् । १८ परिवेष्टितवेणुकम् । १९ –दादरं ल०, प० । २० कुब्जश्च अ०, स० । कुणिश्च ल० । विनाल ।

प्रागुक्तकरवालेशः पुरेऽभूद् विजयाह्वये । सोऽस्य[1] सेनापतिर्भावी भविष्यच्चक्रवर्तिनः ॥१४०॥
तत्पुरे वर[2]कीर्तीष्टकीर्तिमत्यात्मजापने[3] । खड्गोत्पाटनमादेशस्तस्य श्रीपालचक्रिणः ॥१४१॥
मूकः श्रेयः पुरे जातस्तस्य भावी पुरोहितः । शिवसेनमहीपालः श्रीमांस्तन्नगरेश्वरः ॥१४२॥
वीतशोकाह्वया तस्य तनूजा वनजेक्षणा । मूकभाषणमादेशः कुमारस्य तदापने[4] ॥१४३॥
[5]कुण्डः शिल्पपुरोत्पन्नः स्थपतिस्तस्य भाव्यसौ । नाम्ना नरपतिस्तत्पुरेशो नरपतेः सुता ॥१४४॥
रत्यादिविमलासार्द्धं तयैतस्य समागमः । अङ्गुलिप्रसरादेशात् स्मरव्यपदया[6] चिरम् ॥१४५॥
स वज्रमणिपाकस्य[7] प्रधानपुरुषो[8] भवेत् । तस्य[9] धान्यपुरे[10] जातिर्विशालस्तत्पुराधिपः ॥१४६॥
सुता विमलसेनास्य श्रीपालस्य तदाप्तये[11] । आदेशस्तस्य तद्वज्रमणिपाको महौजसः ॥१४७॥
[12]इत्यादेशवरं ज्ञात्वा सर्वे स्वं स्वं पुरं ययुः । तदा कुमारमूढ्वाऽयान्नभोमार्गे सुखावती ॥१४८॥
धूमवेगो विलोक्यैनं विद्विषो[13] भीषणारवः । अभितर्ज्य स्थितो रुध्वा खे खेटकयुतासिभृत् ॥१४९॥
तदा [14]पूर्वोदिताचार्यां देवता याऽस्य[15] पालिका[16] । सा विद्याधररूपेण समुपेत्य सुखावतीम् ॥१५०॥

॥१३९॥ श्रीपालने जो तलवार म्यानसे निकाली थी उसका स्वामी विजयपुर नगरका रहनेवाला था और होनहार इसी श्रीपाल चक्रवर्तीका भावी सेनापति था ॥१४०॥ उसी विजयपुर नगरके राजा वरकीर्तीष्टकी रानी कीर्तिमतीकी एक पुत्री थी, उसके विवाहके विषयमे निमित्तज्ञानियोने बतलाया था कि इसका वर श्रीपाल चक्रवर्ती होगा और उसकी पहचान म्यानमें-से तलवार निकाल लेनी होगी ॥१४१॥ वह गूँगा श्रेयस्पुरमे उत्पन्न हुआ था और इसका भावी पुरोहित था, उसी श्रेयस्पुर नगरका स्वामी राजा शिवसेन था, उसके कमलके समान नेत्रवाली वीतशोका नामकी पुत्री थी उसके वरके विषयमे निमित्तज्ञानियोने आदेश दिया था कि जिसके समागमसे यह गूँगा बोलने लगेगा, वही इसका वर होगा ॥१४२-१४३॥ जिसकी अँगुली टेढ़ी थी वह शिल्पपुरमें उत्पन्न हुआ था और इसका होनहार स्थपति रत्न था। उसी शिल्पपुर के राजाका नाम नरपति था उसके रतिविमला नामकी पुत्री थी, निमित्तज्ञानियोने बताया था कि जिसके देखनेसे इसकी टेढी अँगुली फैलने लगेगी उसीके साथ कामक्रीडा करनेवाली इस कन्याका चिरकाल तक समागम रहेगा ॥१४४-१४५॥ जो हीराओका भस्म बना रहा था वह इसका मन्त्री होनेवाला था और धान्यपुर नगरमे पैदा हुआ था, उसी धान्यपुर नगरके राजाका नाम विशाल था उसकी एक विमलसेना नामकी कन्या थी, निमित्तज्ञानियोने बतलाया था कि जिसके आनेपर हीराओका भस्म बन जायेगा वही महा तेजस्वी श्रीपाल इसका पति होगा ॥१४६-१४७॥ इस प्रकार निमित्तज्ञानियोके आदेशानुसार उस पुरुषको पहचान कर वे सब अपने-अपने नगरको चले गये और उसी समय सुखावती श्री कुमारको लेकर आकाशमार्गसे चलने लगी ॥१४८॥ चलते-चलते इसे धूमवेग शत्रु मिला, वह कुमारको देखकर भयकर शब्द करने लगा, और डॉट दिखाकर रास्ता रोक आकाशमें खड़ा हो गया, उस समय खेटक और तलवार दोनो शस्त्र उसके पास थे ॥१४९॥ उसी समय पहले कही

---

१ श्रीपालस्य । २ वरकीर्तिनृपते प्रियायाः कीर्तिमत्या. सुतायाः आपने परिणयने । ३ 'पन व्यवहारे स्तुतौ च' पुत्रीव्यवहारे त० टि० । -त्यात्मजापते. इ० । जायते अ०, स०, ल० । ४ वीतशोकायाः परिणयने । ५ कुणि' ल० । ६ कामविशिष्टधर्मप्रदया अथवा कामविविधगमनप्रदया । ७ वज्रमणिपाचयस्य ल०, ट० । वज्रमणिपाकी वज्ररत्नपाकवान् । अस्य श्रीपालस्य । ८ मन्त्रिमुख्य. । ९ वज्रमणिपाकिन । १० उत्पत्तिः । ११ विमलसेनाया प्राप्त्यै । १२ आदेशजामातरम् । -देशनर ल०, प० । -देशान्तरं अ०, स० । १३ शत्रोर्भयंकरध्वनि । तद्विषो भीषणारवम् इ०, अ०, स० । १४ पूर्वोक्तप्रमदवनस्थवटतरोरधस्थितप्रतिमायाम् । १५ श्रीपालस्य । १६ रक्षिका ।

मुक्त्वा कुमारमभ्येत्य विभीर्विद्याधराधमम् । नियुध्य विजयस्वेति निजगाद निराकुलम् ॥१५१॥
साऽपि मुक्त्वा कुमारं तं धूमवेगं रणाङ्गणे । चिरं युध्वा स्वविद्याभिर्न्यरौत्सी[1] च्चौर्यशालिनी ॥१५२॥
कुमारोऽपि समीपस्थशिलायां धरणीधरे । शनैः[2] समापतत्तस्य[3] देवश्री जननी पुरा ॥१५३॥
यक्षीभूता तदागत्य संस्पृशन्ती करेण तम् । अपास्यास्य श्रमं मङ्क्षु कुमार[4] प्रविश ह्रदम् ॥१५४॥
जगादैनमिति श्रुत्वा सोऽपि विश्वस्य तद्वचः । प्रविश्य तं[5] शिलास्तम्भस्योपरि स्थितवान्निशि ॥१५५॥
कुर्वन् पञ्चनमस्कारपदानां परिवर्तनम्[6] । प्रभाते[7] तदुदग्भागे जिनेन्द्रप्रतिबिम्बकम् ॥१५६॥
विलोक्य कृतपुष्पादिसंपूजननमस्क्रियः । सहस्रपत्रमम्भोजं चक्ररत्नं सकूर्मकम् ॥१५७॥
आतपत्र सहस्रोरु फणं च फणिनां पतिम् । दण्डरत्नं समण्डूकं नक्रं[8] चूडामहामणिम् ॥१५८॥
चर्मरत्नं स्फुरद्रक्तवृश्चिकं काकिणीमणिम् । ईक्षांचक्रे स पुण्यात्मा तत्र[9] यक्ष्युपदेशतः ॥१५९॥
तदा मुदितचित्तः सन् छत्रमुद्यम्य दण्डभृत् । प्रद्योतमानरत्नोपानत्को[10] यक्षीसमर्पितैः ॥१६०॥
सर्वरत्नमयैर्दिव्यैर्भूषाभेदैर्विभूषितः । निर्जगाम[11] गुहातोऽसौ तदैवेत्य सुखावती ॥१६१॥
धूमवेगं विनिर्जित्य प्रतिपद्वा[12] हिमद्युतिम्[13] । वृद्ध्यै कुमारमापन्ना सकलाऽसिलतान्विता[14] ॥१६२॥
एतया[15] सह गत्वातः संप्राप्तसुरभूधरम्[16] । गुणपालजिनाधीश सभामण्डलमाप्तवान् ॥१६३॥
तत्र तं सुचिरं स्तुत्वा मनोवाक्कायशुद्धिभाक् । मातरं भ्रातरं चोचितोपचारो विलोक्य तौ ॥१६४॥

हुई प्रतिमापर जो इसकी रक्षा करनेवाली देवी रहती थी वह विद्याधरका रूप धारण कर आयी और सुखावतीको छोडकर कुमारको ले गयी तथा सुखावतीसे कह गयी कि तू निर्भय हो निराकुलतापूर्वक इस नीच विद्याधरसे लडना और इसे जीतना ॥१५०–१५१॥ शूरवीरतासे शोभायमान रहनेवाली सुखावती भी कुमारको छोड़कर धूमवेगसे लड़ने लगी और रणके मैदानमे वहुत समय तक युद्ध कर उसने उसे अपनी विद्याओ-द्वारा रोक लिया ॥१५२॥ कुमार भी समीपवती पर्वतकी एक शिलापर धीरे-धीरे जा पड़ा। वहाँ उसकी पूर्वभवकी माता देवश्री जो कि यक्षी हुई थी आयी। उसने हाथसे स्पर्श कर श्रीपालका सब परिश्रम दूर कर दिया और कहा कि तू शीघ्र ही इस तालाबमे घुस जा। कुमार भी उसके वचनोका विश्वास कर तालावमे घुस गया और वही रात-भर पत्थरके खम्भेपर वैठा रहा ॥१५३–१५५॥ सवेरे पच नमस्कार मन्त्रका पाठ करता हुआ उठा, तालावके उत्तरकी ओर श्रीजिनेन्द्रदेवकी प्रतिमा देखकर पुष्प आदि सामग्रीसे पूजन और नमस्कार किया। तदनन्तर उसी यक्षीके उपदेशसे उस पुण्यात्माने सहस्र पत्रवाले कमलको चक्ररत्नरूप होते देखा, कछुवेको छत्र होते देखा, वड़ी-वड़ी हजार फणाओको धारण करनेवाले नागराजको दण्डरत्न होते देखा, मेंढकको चूड़ामणि, मगरको चर्मरत्न और देदीप्यमान लाल रगके विच्छूको काकिणी मणि रूप होते देखा ॥१५६–१५९॥ उस समय उसने प्रसन्नचित्त होकर छत्र धारण किया, दण्ड उठाया, चमकीले रत्नोके जूते पहने और फिर वह यक्षीके द्वारा दिये हुए मणिमय दिव्य आभूषणोसे सुशोभित होकर गुहासे वाहर निकला। उसी समय जिस प्रकार चन्द्रमाकी वृद्धिके लिए शुक्लपक्षकी प्रतिपदा आती है उसी प्रकार धूमवेगको जीतकर तलवार लिये हुए चतुर सुखावती कुमारकी वृद्धिके लिए उसके पास आ पहुँची। श्रीपाल यहाँसे उसके साथ-साथ चला और चलता-चलता सुरगिरि पर्वतपर गुणपाल जिनेन्द्रके समवसरणमे जा पहुँचा ॥१६०–१६३॥ वहाँ मन,

१ रुरोध । २ संप्राप्त । ३ श्रीपालस्य । ४ कुमारं ल० । ५ ह्रदम् । ६ मुहुर्मुहुरनुचिन्तनम् । ७ ह्रदस्योत्तरदिग्भागे । ८ चूडामणि तथा ल०, प०, अ०, स०, इ० । ९ ह्रदे । वक्त्राण्येव रूपाणि । सहस्रपत्राम्भोजादीनि ईक्षाचक्रे इति संवन्ध । १० मणिमयपादत्राण. । ११ गुहायाः सकाशात् । १२ प्रतिपद्दिनश्रीरिव । १३ चन्द्रम् । १४ चन्द्रकलान्विता । १५ सुखावत्या । १६ सुरगिरिनामगिरिम् ।

[1]तदाशीर्वादसंतुष्टः संविष्टो मातृसंनिधौ । [2]सुखावतीप्रभावेण युष्मदन्तिकमाप्तवान् ॥१६५॥
क्षेमेणेति तयोरग्रे प्राशंसत्तां[3] नृपानुजः[4] । सतां स सहजो भावो यत्स्तुवन्त्युपकारिणः ॥१६६॥
वसुपालमहीपालप्रश्नाद् भगवतोदितैः । स्थित्वा विद्याधरश्रेण्यां बहुलम्भान्[5] समाविशन्[6] ॥१६७॥
ततः[7] सप्तदिनैरेव सुखेन प्राविशत् पुरम्[8] । संचितोर्जितपुण्यानां भवेदापच्च संपदे ॥१६८॥
वसुपालकुमारस्य वारिषेणादिभिः समम् । कन्याभिरभवन् कल्याणविधिर्विविधर्द्धिकः ॥१६९॥
स श्रीपालकुमारश्च [9]जयावत्यादिभिः कृती । तदा चतुरशीतीष्ट[10]कन्यकाभिरलंकृतः ॥१७०॥
सूर्याचन्द्रमसौ वा तौ स्वप्रभाव्याप्तदिक्तटौ । पालयन्तौ धराचक्रं चिरं निर्विशतः स्म शम्[11] ॥१७१॥
जयावत्यां समुत्पन्नो गुणपालो गुणोज्ज्वलः । श्रीपालस्यायुधागारे चक्रं च समजायत ॥१७२॥
स सर्वांश्चक्रवर्त्युक्तभोगाननुभवन् भृशम् । शक्रलीलां[12] व्यडम्बिष्ट लक्ष्म्या[13] लक्षितविग्रहः ॥१७३॥
अभूज्जयावतीभ्रातुस्तनूजा जयवर्मणः । जयसेनाह्वया कान्त्यास्सा[14] सेनेव[15] विजित्वरी[16] ॥१७४॥
मनोवेगोऽशनिवरः शिवाख्योऽशनिवेगवाक् । हरिकेतुः परे चोच्चैः क्ष्माभुजः खगनायकाः ॥१७५॥
[17]जयसेनाख्यमुख्याभिरतेषां[18] तुग्भिः[19] सहाभवत । विवाहो गुणपालस्य स ताभिः प्राप्तसंमदः ॥१७६॥

वचन, कायकी शुद्धि धारण करनेवाले श्रीपालने बहुत देर तक गुणपाल जिनेन्द्रकी स्तुति की, माता और भाईको देखकर उनका योग्य विनय किया और फिर उन दोनोके आशीर्वादसे सन्तुष्ट होकर वह माताके पास बैठ गया। उसने माता और भाईके सामने यह कहकर सुखावतीकी प्रशंसा की कि मै इसके प्रभावसे ही कुशलतापूर्वक आपलोगोके समीप आ सका हूँ सो ठीक ही है क्योकि सज्जन पुरुषोंका जन्मसे ही ऐसा स्वभाव होता है कि जिससे वे उपकार करनेवालोकी स्तुति किया करते है ॥१६४-१६६॥ महाराज वसुपालके प्रश्नके उत्तरमें भगवान्ने जैसा कुछ कहा था उसीके अनुसार उस श्रीपालने विद्याधरोकी श्रेणीमे रहकर अनेक लाभ प्राप्त किये थे ॥१६७॥ तदनन्तर वह सात दिनमें ही सुखसे अपने नगरमे प्रविष्ट हो गया सो ठीक ही है क्योकि प्रबल पुण्यका संचय करनेवाले पुरुषोको आपत्तियाँ भी सम्पत्तिके लिए हो जाती है ॥१६८॥

नगरमे जाकर वसुपाल कुमारका वारिषेणा आदि कन्याओके साथ विवाहोत्सव हुआ, वह विवाहोत्सव अनेक प्रकारकी विभूतियोसे युक्त था ॥१६९॥ उसी समय चतुर श्रीपाल कुमार भी जयावती आदि चौरासी इष्ट कन्याओसे अलकृत—सुशोभित हुए ॥१७०॥ अपनी कान्तिसे दिग्दिगन्तको व्याप्त करनेवाले सूर्य और चन्द्रमाके समान पृथिवीका पालन करते हुए दोनो भाई चिरकाल तक सुखका उपभोग करते रहे ॥१७१॥ कुछ दिन बाद श्रीपालकी जयावती रानीके गुणोसे उज्ज्वल गुणपाल नामका पुत्र उत्पन्न हुआ और इधर आयुधशालामें चक्ररत्न प्रकट हुआ ॥१७२॥ जिसका शरीर लक्ष्मीसे सुशोभित हो रहा है ऐसा वह श्रीपाल चक्रवर्तीके कहे हुए सब भोगोका अत्यन्त अनुभव करता हुआ इन्द्रकी लीलाको भी उल्लंघन कर रहा था ॥१७३॥ जयावतीके भाई जयवर्माके जयसेना नामकी पुत्री थी जो अपनी कान्तिसे सेनाके समान सबको जीतनेवाली थी ॥१७४॥ इसके सिवाय मनोवेग, अशनिवर, शिव, अशनिवेग, हरिकेतु तथा और भी अनेक अच्छे-अच्छे विद्याधर राजा थे, जयसेनाको आदि लेकर

---

१ कुबेरश्रीवसुपालयोराशीर्वचन । २ सुखावत्या सामर्थ्येन । ३ स्तौति स्म । ४ श्रीपाल । ५ कन्यादिप्राप्ति । ६ प्राप्तः सन् । ७ सप्तदिनानन्तरमेव । ८ आत्मीयपुण्डरीकिणीपुरम् । ९ वटवृक्षाधो नृत्यनवन्दिनी । १० प्रियतरुणीभिः, पट्टार्हाभिरित्यर्थ । ११ सुखमन्वभूताम् । १२ तिरस्करोति स्म । व्यलङ्घिष्ट ल० । १३ लक्ष्म्यालिङ्गित अ०, म० । लक्ष्मीलक्षित प०, ल० । १४ कान्त्या इ०, प०, अ०, म०, ल० । १५ चमूरिव । १६ जयशीला । १७ जयसेनादिप्रधानाभिः । १८ मनोवेगादीनाम् । १९ पुत्रीभि. ।

कदाचित् काललब्ध्यादिचोदितोऽभ्यर्णनिर्वृतिः । विलोकयन्नभोभागमकस्मादन्धकारितम् ॥१७७॥
चन्द्रग्रहणमालोक्य धिगेतस्यापि[1] चेदियम् । अवस्था संसृतौ पापग्रस्तस्यान्यस्य का गतिः ॥१७८॥
इति निर्विद्य संजातजातिस्मृतिरुदात्तधीः[2] । स्वपूर्वभवसंबन्धं प्रत्यक्षमिव संस्मर ॥१७९॥
पुष्करार्द्धेऽपरे भागे विदेहे पद्मकाह्वये । विषये विश्रुते कान्त पुराधीशोऽवनीश्वरः ॥१८०॥
रथान्तकनकस्तस्य वल्लभा कनकप्रभा । तयोर्भूत्वा प्रभापास्तभास्करः[3] कनकप्रभः ॥१८१॥
तस्मिन्नन्येद्युरुद्याने दृष्टा सर्पेण मत्प्रिया । विद्युत्प्रभाह्वया तस्या वियोगेन विषण्णवान् ॥१८२॥
सार्धं समाधिगुप्तस्य समीपे संयमं परम् । संप्राप्तवानतिस्निग्धैः पितृमातृसनाभिभिः ॥१८३॥
तत्र सम्यक्त्वशुद्ध्यादिषोडश प्रत्ययान्[4] भृशम् । भावयित्वा भवस्यान्ते[5] जयन्ताख्यविमानजः[6] ॥१८४॥
प्रान्ते[7] ततोऽहमागत्य[8] जातोऽत्रैवमिति स्फुरन्[9] । समुद्रदत्तेनादित्यगति[10] र्वायुरथाह्वयः[11][12] ॥१८५॥
श्रेष्ठी कुबेरकान्तश्च लौकान्तिकपदं गताः । बोधितस्तैः[13] समागत्य गुणपालः प्रबुद्धवान् ॥१८६॥
मोहपाशं समुच्छिद्य तप्तवांश्च तपस्ततः । घातिकर्माणि निर्मूल्य सयोगिपदमागमत् ॥१८७॥
यशःपालः सुखावत्यास्तनूजस्तेन संयमम् । गृहीत्वा सह तस्यैव गणभृत्प्रथमोऽभवत् ॥१८८॥

उन सब राजाओंकी पुत्रियोंके साथ गुणपालका विवाह हुआ । इस प्रकार वह गुणपाल उन कन्याओंके मिलनेसे बहुत ही हर्षित हुआ ॥१७५-१७६॥

अथानन्तर-किसी समय जिसका मोक्ष जाना अत्यन्त निकट रह गया है ऐसा गुणपाल काललब्धि आदिसे प्रेरित होकर आकाशकी ओर देख रहा था कि इतनेमे उसकी दृष्टि अकस्मात् अन्धकारसे भरे हुए चन्द्रग्रहणकी ओर पड़ी, उसे देखकर वह सोचने लगा कि इस संसारको धिक्कार हो, जब इस चन्द्रमाकी भी यह दशा है तब ससारके अन्य पापग्रसित जीवोकी क्या दशा होती होगी ? इस प्रकार वैराग्य आते ही उस उत्कृष्ट बुद्धिवाले गुणपालको जाति स्मरण उत्पन्न हो गया जिससे उसे अपने पूर्वभवके सम्बन्धका प्रत्यक्षकी तरह स्मरण होने लगा ॥१७७-१७९॥ उसे स्मरण हुआ कि पुष्करार्ध द्वीपके पश्चिम विदेहमें पद्मक नामका एक प्रसिद्ध देश है, उसके कान्तपुर नगरका स्वामी राजा कनकरथ था। उसकी रानीका नाम कनकप्रभा था, उन दोनोके मैं अपनी प्रभासे सूर्यको तिरस्कृत करनेवाला कनकप्रभ नामका पुत्र हुआ था। किसी दिन एक बगीचेमे विद्युत्प्रभा नामकी मेरी स्त्रीको साँपने काट खाया, उसके वियोगसे मै विरक्त हुआ और अपने ऊपर अत्यन्त स्नेह रखनेवाले पिता माता तथा भाइयोके साथ-साथ मैने समाधिगुप्त मुनिराजके समीप उत्कृष्ट सयम धारण किया था ॥१८०-१८३॥ वहाँ मै दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाओका अच्छी तरह चिन्तवन कर आयुके अन्तमे जयन्त नामके विमानमे अहमिन्द्र उत्पन्न हुआ ॥१८४॥ और अन्तमे वहाँसे चयकर यहाँ श्रीपालका पुत्र गुणपाल हुआ हूँ । वह इस प्रकार विचार ही रहा था कि इतनेमें ही *समुद्रदत्त, †आदित्यगति, ‡वायुरथ और §सेठ कुबेरकान्त जो कि तपश्चरण कर लौकान्तिक देव हुए थे उन्होने आकर समझाया । इस प्रकार प्रबोधको प्राप्त हुए गुणपाल मोहजालको नष्ट कर तपश्चरण करने लगे और घातिया कर्मोको नष्ट कर सयोगिपद-तेरहवे गुण स्थानको प्राप्त हुए ॥१८५-१८७॥ सुखावतीका पुत्र यशपाल भी उन्ही गुणपाल जिनेन्द्रके पास दीक्षा धारण कर

---

१ चन्द्रस्य । २ रुदारधीः अ०, स०, ल० । ३ कान्त्या निराकृत । ४ कारणानि । ५ आयुषस्यान्ते । ६ अहमिन्द्र । ७ स्वर्गायुरन्ते । ८ स्वर्गात् । ९ पूर्वभवसबन्धं प्रत्यक्षमिव सस्मरन्निति संबन्ध । १० प्रियकान्तायाः जनकेन सह । ११ हिरण्यवर्मणो जनकः । १२ प्रभावत्या पिता । १३ उक्तलौकान्तिकामरै. ।

*प्रियदत्ताका पिता, † हिरण्यवर्माका पिता, ‡ प्रभावतीका पिता, § कुबेरमित्रका पिता ।

राजराजस्तदा भूरिविभूत्याऽभ्येत्य तं[1] मुदा । श्रीपालः पूजयित्वा तु श्रुत्वा धर्मद्वयात्मकम् ॥१८६॥
ततः स्वभावसंबन्धमप्राक्षीत् प्रश्रयाश्रयः । भगवांश्चेत्युवाचेति कुरुराजं[2] सुलोचना ॥१९०॥
निवेदितवती पृष्टा मृष्टवाक् सौष्ठवान्विता । विदेहे पुण्डरीकिण्यां यशःपालो महीपतिः ॥१९१॥
तत्र सर्वसमृद्धाख्यो वणिक् तस्य मनःप्रिया । धनञ्जयानुजाताऽसौ[3] धनश्रीर्धनवर्द्धिनी ॥१९२॥
तयोस्तुक्[4] सर्वदयितः श्रेष्ठी[5] तद्भगिनी सती । संज्ञया सर्वदयिता श्रेष्ठिनश्चित्तवल्लभे ॥१९३॥
सुता सागरसेनस्य जयसेना समाह्वया । धनञ्जयवणीशस्य[6] जयदत्ताभिधाऽपरा[7] ॥१९४॥
देवश्रीरनुजा श्रेष्ठि[8]पितुस्तस्यां तनूद्भवौ[9] । जातौ सागरसेनस्य सागरो दत्तवाक्परः ॥१९५॥
ततः समुद्रदत्तश्च सह सागरदत्तया । सुतौ[10] सागरसेनानुजायां जातमहोदयौ ॥१९६॥
जातौ[11] सागरसेनायां दत्तो[12] वैश्रवणादिवाक् । दत्ता[13] वैश्रवणादिश्च दायादः[14] श्रेष्ठिनः[15] स[16] तु ॥
भार्या[17] सागरदत्तस्य दत्ता[18] वैश्रवणादिका । सती समुद्रदत्तस्य[19] सा सर्वदयिता[20] प्रिया ॥१९८॥
सा वैश्रवणदत्तेष्टा दत्तान्ता[21] सागराह्वया । तेषां[22] [23]सुखसुखेनैवं काले गच्छति संततम् ॥१९९॥
यशःपालमहीपालमावर्जितमहाधनः[24] । वणिग्धनञ्जयोऽन्येद्युः सद्रत्नैर्दर्शनीकृतैः[25] ॥२००॥

उन्हीका पहला गणधर हुआ ॥१८८॥ उसी समय राजाधिराज श्रीपालने वडी विभूतिके साथ आकर गुणपाल तीर्थंकरकी पूजा की और गृहस्थ तथा मुनिसम्वन्धी–दोनों प्रकारका धर्म सुना। तदनन्तर वडी विनयके साथ अपने पूर्वभवका सम्वन्ध पूछा, तव भगवान् इस प्रकार कहने लगे – यह सब बातें मधुर वचन बोलनेवाली सुन्दरी सुलोचना महाराज जयकुमारके पूछनेपर उनसे कह रही थी। उसने कहा कि –

विदेह क्षेत्रकी पुण्डरीकिणी नगरीमें यशपाल नामका राजा रहता था ॥१८९–१९१॥ उसी नगरमें सर्वसमृद्ध नामका एक वैश्य रहता था। उसकी स्त्रीका नाम धनश्री था जो कि धनको वढानेवाली थी और धनंजयकी छोटी वहिन थी। उन दोनोका पुत्र सर्वदयित सेठ था, उसकी वहिनका नाम सर्वदयिता था जो कि वड़ी ही सती थी। सर्वदयितकी दो स्त्रियाँ थी, एक तो सागरसेनकी पुत्री जयसेना और दूसरी धनंजय सेठकी पुत्री जयदत्ता ॥१९२–१९४॥ सेठ सर्वदयितके पिताकी एक छोटी वहिन थी जिसका नाम देवश्री था और वह सेठ सागर-सेनको व्याही थी। उसके सागरदत्त और समुद्रदत्त नामके दो पुत्र थे तथा सागरदत्ता नामकी एक पुत्री थी। सागरसेनकी छोटी वहिन सागरसेनाके दो सन्तानें हुई थी – एक वैश्रवणदत्ता नामकी पुत्री और दूसरा वैश्रवणदत्त नामका पुत्र। वैश्रवणदत्त सेठ सर्वदयितका हिस्सेदार था ॥१९५–१९७॥ वैश्रवणदत्ता सेठ सागरदत्तकी स्त्री हुई थी, सेठ समुद्रदत्तकी स्त्रीका नाम सर्वदयिता था और सागरदत्ता सेठ वैश्रवणदत्तको व्याही गयी थी। इस प्रकार उन सवका समय निरन्तर वड़े प्रेमसे व्यतीत हो रहा था ॥१९८–१९९॥ जिसने वहुत धन उपार्जन किया है ऐसे सेठ धनंजयने किसी दिन अच्छे-अच्छे रत्न भेट देकर राजा यशपालके दर्शन किये

१ गुणपालकेवलिनम्। २ जयकुमारम्। ३ भगिनी। ४ पुत्र.। ५ राजश्रेष्ठी। ६ धनंजयनामवैश्यस्य। ७ द्वितीया। ८ सर्वदयितश्रेष्ठिजनकसर्वसमृद्धस्य। ९ पुत्रौ। १० देवश्रियोर्भर्तुर्भगिन्याम्। ११ सर्वसमृद्धस्य भार्यायाम्। १२ दत्ता अ०, प०, इ०, स०, ल०। १३ दत्तो ल०, प०, इ०, अ०, स०। १४ ज्ञाति.। १५ सर्वदयितश्रेष्ठिन·। १६ वैश्रवणदत्त.। १७ सागरसेनस्य ज्येष्ठपुत्रस्य। १८ वैश्रवणदत्ता। भार्याऽभूदिति सम्बन्ध.। १९ सागरसेनस्य कनिष्ठपुत्रस्य। २० सर्वदयितश्रेष्ठिनो भगिनोप्रिया। भार्या जातेति सबन्धः। २१ समुद्रदत्तस्यानुजा सागरदत्ताह्वया। वैश्रवणदत्तस्येष्टा वभूवेति संवन्धः। २२ समुद्रादीनाम्। २३ अक्लेशेण, अत्यन्तसुखेनेत्यर्थ। २४ आनीत। २५ उपायनीकृतै।

व्यलोकिष्ट[1] स भूयोऽपि तस्मै[2] संमानपूर्वकम् । प्रीत्या धनं हिरण्यादि प्रभूतमदितोचितम्[3] ॥२०१॥
विलोक्य[4] तं वणिक्पुत्राः सर्वेऽपि धनमार्जितुम्[5] । ग्रामे पुरोपकण्ठस्थे संभूय विनिवेशिरे ॥२०२॥
[6]तन्निवेशादथाऽन्येद्युः स [7]समुद्रादिदत्तकः । रात्रौ स्वगृहमागत्य भार्यासंपर्कपूर्वकम् ॥२०३॥
केनाप्यविदितो रात्रावेव [8]सार्थमुपागतः । काले गर्भं विदित्वाऽस्याः[9] पापो[10] दुश्चरितोऽभवत्[11] ॥२०४॥
इति सागरदत्ताख्यस्तया[12] भर्तृसमागमम्[13] । [14]बोधितोऽप्यपरीक्ष्यासौ स्वगेहा[15]त्तामपाकरोत्[16] ॥२०५॥
ततः श्रेष्ठिगृहं[17] याता तेनापि त्वं दुराचरा[18] । [19]नास्मद्गेहं समागच्छेत्यज्ञानान्न सा निवारिता ॥२०६॥
समीपवर्तिन्येकस्मिन् केतने[20] विहितस्थितिः । नवमासावधौ पुत्रमलब्धानल्पपुण्यकम् ॥२०७॥
तद्विदित्वा कुलस्यैष[21] समुत्पन्नः पराभवः । यत्र[22] क्वचन नीत्वैनं[23] निक्षिपेत्यनुजीविकः[24] ॥२०८॥
प्रत्येयः[25] श्रेष्ठिना प्रोक्तः श्रेष्ठिमित्रस्य बुद्धिमान् । श्मशाने साधितुं विद्यामागतस्य खगामिनः[26] ॥२०९॥
बालं समर्पयामास विचित्रो दुरितोदयः । खगोऽसौ जयधामाख्यो जयभामास्य वल्लभा ॥२१०॥
तौ[27] भोगपुरवास्तव्यौ[28] जितशत्रुसमाह्वयम्[29] । कृत्वावर्धयतां[30] पुत्रमिव मत्वौरसं मुदा ॥२११॥

राजाने भी उसका सम्मान किया और बड़े प्रेमसे उसके लिए यथायोग्य बहुत-सा सुवर्ण आदि धन वापिस दिया ॥२००–२०१॥ यह देखकर सब वैश्यपुत्र धन कमानेके लिए बाहर निकले और सब मिलकर नगरके समीप ही एक गाँवमे जाकर ठहर गये ॥२०२॥ दूसरे दिन समुद्रदत्त रात्रिमे उन डेरोसे अपने घर आया और अपनी स्त्रीसे संभोग कर किसीके जाने बिना ही रात्रिमे ही अपने झुण्डमे जा मिला । इधर समयानुसार उसका गर्भ बढने लगा । जब इस बात-का पता समुद्रदत्तके बडे भाई सागरदत्तको चला तब उसने समझा कि यह अवश्य ही इसका पापरूप दुराचरण है । समुद्रदत्तकी स्त्री सर्वदयिताने पतिके साथ समागम होनेका सब समाचार यद्यपि बतलाया तथापि उसने परीक्षा किये बिना ही उसे घरसे निकाल दिया ॥२०३–२०५॥ तब सर्वदयिता अपने भाई सेठ सर्वदयितके घर गयी परन्तु उसने भी अज्ञानतासे यही कहकर उसे भीतर जानेसे रोक दिया कि 'तू दुराचारिणी है, मेरे घरमें मत आ' ॥२०६॥ तदनन्तर वह पासके ही एक दूसरे घरमें रहने लगी, नौ महीनेकी अवधि पूर्ण होनेपर उसने एक अतिशय पुण्यवान् पुत्र प्राप्त किया ॥२०७॥ जब सेठ सर्वदयितको यह खबर लगी तो उसने समझा यह पुत्र क्या, हमारे कुलका कलक उत्पन्न हुआ है, इसलिए उसने एक नौकरको यह कहकर भेजा कि 'इसे ले जाकर किसी दूसरी जगह रख आ' । वह सेवक बुद्धिमान् था और सेठका विश्वासपात्र भी था, वह बालकको ले गया और सेठके एक विद्याधर मित्रको जो कि विद्या सिद्ध करनेके लिए श्मशानमें आया था, सौप आया सो ठीक ही है क्योकि पापका उदय बड़ा विचित्र होता है । सेठके उस मित्रका नाम जयधाम था और उसकी स्त्रीका नाम जयभामा था । वे दोनो भोगपुरके रहनेवाले थे उन्होने उस पुत्रका नाम जितशत्रु रखा और उसे औरस पुत्रके समान मानकर वे बड़ी प्रसन्नतासे उसका पालन-पोषण करने लगे ॥२०८ –

१ ददर्श । २ धनंजयाय । ३ ददौ । ४ धनंजयं राज्ञा पूजितोऽयं दृष्ट्वा । ५ –मर्जितुम् ल० । ६ तच्छिविरात् । ७ देवश्रीसागरसेनयो. पुत्र. समुद्रदत्त. । ८ शिविरम् । ९ सर्वदत्तायाः । १० अशोभनव्यवहार । ११ दुर्वृत्त. कश्चिज्जारोऽभवदिति । १२ सर्वदयितया । १३ निजपुरुषागमनम् । १४ मम भर्ता शिविरादागत्य मया सह सम्पर्कं कृतवानिति निवेदितोऽपि । १५ सर्वदयिताम् । १६ निष्कासितवान् । १७ निजाग्रसर्वदयितश्रेष्ठिगृहम् । १८ दुष्टमाचरसि स्म । १९ नास्मद्गृह ल०, अ०, प०, स०, इ० । २० गृहे । २१ शिशु । २२ यत्र कुत्रापि । २३ स्थापय । २४ भृत्य । २५ विश्वास्य । २६ विद्याधरस्य । २७ जयधामजयभामेति द्वौ । २८ भोगपुरनिवासिनौ । २९ शिशोर्जितशत्रुरित्याख्या कृत्वा । ३० वर्धयत स्म ।

तदा पुत्रवियोगेन सा सर्वदयिताऽचिरात् । स्त्रीवेदनिन्दनान्मृत्वा संप्रापज्जन्म पौरुषम् ॥२१२॥
ततः समुद्रदत्तोऽपि सार्थेनामा[1] समागतः । श्रुत्वा स्वभार्यावृत्तान्तं निन्दित्वा भ्रातरं निजम् ॥२१३॥
[2]श्रेष्ठिनेऽनपराधाया गृहवेशनिवारणात् । [3]अकुप्यन्नितरां कृत्यं कः सहेताविचारितम् ॥२१४॥
ज्येष्ठे न्यायगतं योग्ये मयि स्थितवति स्वयम् । श्रेष्ठित्वमयमध्यास्त इति श्रेष्ठिनि[4] कोपवान् ॥२१५॥
वै[5]वैश्रवणदत्तोऽपि स ससागरदत्तकः[6] । सार्द्धं समुद्रदत्तेन मात्सर्याच्छ्रेष्ठिनि[7] स्थिता ॥२१६॥
दुस्सहे तपसि श्रेयो मत्सरोऽपि क्वचित् नृणाम् । अन्येद्युर्जितशत्रुं तं दृष्ट्वा श्रेष्ठी कुतो भवान् ॥२१७॥
[8]समुद्रदत्तसारूप्यं दधत्संस[9]दमागतः । इति पप्रच्छ सोऽप्यात्मागमनक्रममब्रवीत् ॥२१८॥
नान्यो मद्भागिनेयोऽयमिति तद्धस्तसंस्थिताम् । मुद्रिकां वीक्ष्य निश्चित्य निःपरीक्षकतां[10] निजाम् ॥
मैथुनस्य[11] च संस्मृत्य तस्मै[12] सर्वश्रियं सुताम् । धनं श्रेष्ठिपदं चासौ[13] दत्वा निर्विण्णमानसः ॥२२०॥
जयधामा[14] जयभामा जयसेना[15] तथाऽपरा । जयदत्ताभिधाना च परा सागरदत्तिका[16] ॥२२१॥
सा वैश्रवणदत्ता[17] च परे चोत्पन्नबोधकाः । संजातास्तैः सह श्रेष्ठी संयमं प्रत्यपद्यत ॥२२२॥
मुनिं रतिवरं प्राप्य चिरं विहितसंयमाः । एते सर्वेऽपि कालान्ते स्वर्गलोकं समागमन् ॥२२३॥

२११॥ सर्वदयिताने पुत्रके वियोगसे बहुत दिन तक स्त्रीवेदकी निन्दा की और मरकर पुरुषका जन्म पाया ॥२१२॥ तदनन्तर समुद्रदत्त भी अपने झुण्डके साथ वापस आ गया और अपनी स्त्रीका वृत्तान्त सुनकर अपने भाईकी निन्दा करने लगा । सेठने अपराधके बिना ही उसकी स्त्रीको घरमें प्रवेश करनेसे रोका था इसलिए वह सेठपर अत्यन्त क्रोध करता रहता था सो ठीक ही है क्योंकि जो कार्य विना विचारे किया जाता है उसे भला कौन सहन कर सकता है ? ॥२१३–२१४॥ कुछ दिन बाद वैश्रवण सेठ सागरदत्तसे यह कहकर क्रोध करने लगा कि 'जब मैं बडा हूँ, और योग्य हूं तो न्यायसे मुझे सेठ पद मिलना चाहिए, मेरे रहते हुए यह सेठ क्यों बन बैठा है' । इसी प्रकार सागरदत्त और समुद्रदत्त भी सेठके साथ ईर्ष्या करने लगे ॥२१५–२१६॥ आचार्य कहते है कि कठिन तपश्चरणके विषयमें की हुई मनुष्योंकी ईर्ष्या भी कही-कही अच्छी होती है परन्तु अन्य सब जगह अच्छी नही होती । किसी एक दिन सेठ सर्वदयितने जितशत्रुसे पूछा कि तू समुद्रदत्तकी समानता क्यों धारण कर रहा है — तेरा रूप उसके समान क्यों है ? और तू सभामें किसलिए आया है ? तब जितशत्रुने भी अनुक्रमसे अपने आनेका सब समाचार कह दिया ॥२१७–२१८॥ उसी समय सेठकी दृष्टि उसके हाथमें पहिनी हुई अँगूठीपर पड़ी, उसे देखकर उसने निश्चय कर लिया कि 'यह मेरा भानजा ही है, दूसरा कोई नही है । उसे अपनी और अपने बहनोईकी अपरीक्षकता (बिना विचारे कार्य करने) की याद आ गयी और उसे सर्वश्री नामकी पुत्री, बहुत-सा धन और सेठका पद देकर स्वयं विरक्तचित्त हो गया ॥२१९–२२०॥ उसी समय जितशत्रुको पालनेवाला जयधाम विद्याधर, उसकी स्त्री जयभामा, जयसेना और जयदत्ता नामकी अपनी स्त्रियाँ, वैश्रवणदत्तकी स्त्री सागरदत्ता और वैश्रवणदत्तकी बहन वैश्रवणदत्ता तथा और भी अनेक लोगोको आत्मज्ञान उत्पन्न हुआ । उन सबके साथ-साथ सेठने रतिवर मुनिके समीप जाकर संयम धारण

१ वणिक्समूहेन सह । २ सर्वदयिताय । ३ चुकोप । ४ सर्वदयिते । ५ स वै–ल०, अ०, स०, इ० । ६ सागरदत्तसहितः । ७ श्रेष्ठिन. ल०, प०, इ०, स०, अ० । ८ समुद्रदत्तस्य समानरूपताम् । ९ सभाम् । १० विचारशून्यताम् । ११ सागरदत्तस्य विचारशून्यताम् । १२ निजभागिनेयजितशत्रवे । १३ सर्वदयितश्रेष्ठी । १४ जितशत्रुवर्धनविद्याधरदम्पती । १५ सर्वदयितस्य भार्ये । १६ वैश्रवणदत्तस्य भार्या । १७ सागरदत्तस्य भार्या ।

प्रान्ते स्वर्गादिहागत्य जयधामा तदातनः[1] । वसुपालोऽत्र संजातो जयभामाऽप्यजायत ॥२२४॥
[2]जयवत्याप्तसौन्दर्या जयसेनाऽजनिष्ट सा । पिप्पला[3] जयदत्ता तु वत्यन्तमदनाऽभवत् ॥२२५॥
विद्युद्वेगाऽभवद् वैश्रवणदत्ता कलाखिला[4] । जाता सागरदत्तापि स्वर्गादेत्य सुखावती ॥२२६॥
तदा सागरदत्ताख्यः स्वर्गलोकात् समागतः । पुत्रो हरिवरो जातः स [5]पुरुरवसः प्रियः ॥२२७॥
समुद्रदत्तो ज्वलनवेगस्याजनि विश्रुतः । तनूजो धूमवेगाख्यो विद्याविहितपौरुषः ॥२२८॥
स वैश्रवणदत्तोऽपि भूतोऽत्राशनिवेगकः । श्रेष्ठी स सर्वदयितः श्रीपालस्त्वमिहाभवः ॥२२९॥
त्वं जामातुर्निराकृत्या[6] सनाभिभ्यो वियोजितः । तदा[7] त्वद्द्वेषिणोऽस्मिंश्च तव द्वेषिण एव ते ॥२३०॥
तदा प्रियास्तवात्राऽपि संजाता नितरां प्रियाः । अहिं[8]सयाऽर्भक[9]स्यासीद् वन्धुभिस्तव [10]संगमः ॥२३१॥
तत्तपःफलतो जातं चक्रित्वं सकलक्षितेः । सर्वसंगपरित्यागान्मङ्क्षु मोक्षं गमिष्यसि ॥२३२॥
अथोदीरिततीर्थेशवचनाकर्णनेन ते । सर्वे परस्परद्वेषाद् विरमन्ति स्म विस्मयात् ॥२३३॥
जन्मरोगजरामृत्यून्निहन्तुं [11]सन्ततानुगान् । संनिधाय धियं [12]धन्योऽधासीद्धर्मामृतं ततः ॥२३४॥
धिगिदं चक्रिसाम्राज्यं कुलालस्येव जीवितम् । [13]भुक्तिश्चक्रं[14] परिभ्राम्य मृदुत्पन्नफलाप्तितः[15] ॥२३५॥

कर लिया । वे सभी लोग चिरकाल तक संयमका साधन कर आयुके अन्तमें स्वर्ग गये ॥२२१–२२३॥ वहाँकी आयु पूरी होनेपर स्वर्गसे आकर पहलेका जयधाम विद्याधर यहाँ राजा वसुपाल हुआ है, जयभामा वसुपालकी सुन्दरी रानी जयावती हुई है, जयसेना पिप्पली हुई है, जयदत्ता मदनावती हुई है, वैश्रवणदत्ता सब कलाओंमें निपुण विद्युद्वेगा हुई है, सागरदत्ता स्वर्गसे आकर सुखावती हुई है, उस समयका सागरदत्त स्वर्गसे आकर पुरुरवाका प्यारा पुत्र हरिवर हुआ है, समुद्रदत्त ज्वलनवेगका प्रसिद्ध पुत्र हुआ है जो कि अपनी विद्याओंसे ही अपना पौरुष प्रकट कर रहा है, वैश्रवणदत्त अशनिवेग हुआ है और सर्वदयित सेठ यहाँ श्रीपाल हुआ है जो कि तू ही है ॥२२४–२२९॥ तूने पूर्वभवमें अपने जँमाई (भानेज जितशत्रु) को उसकी मातासे अलग कर दिया था इसलिए तुझे भी इस भवमें अपने भाई-वन्धुओंसे अलग होना पड़ा है, पूर्वभवमें जो वैश्रवणदत्त, सागरदत्त तथा समुद्रदत्त तेरे द्वेषी थे वे इस भवमे भी तुझसे द्वेष करनेवाले धूमवेग, अशनिवेग और हरिवर हुए हैं । उस भवमें जो तुम्हारी स्त्रियाँ थी वे इस भवमें भी तुम्हारी अत्यन्त प्यारी स्त्रियाँ हुई हैं । तुमने अपनी वहनके बालककी हिंसा नहीं की थी इसलिए ही तेरा इस भवमें अपने भाई-वन्धुओंके साथ फिरसे समागम हुआ है । तूने उस भवमे जो तपश्चरण किया था उसीके फलसे सम्पूर्ण पृथिवीका चक्रवर्ती हुआ है और अन्तमें सब परिग्रहोंका त्याग कर देनेसे तू शीघ्र ही मोक्ष पा जायेगा ॥२३०–२३२॥ इस प्रकार तीर्थंकर भगवान् गुणपालके कहे हुए वचनोंको सुनकर सब लोगोने आश्चर्यपूर्वक अपना परस्परका सब वैर छोड़ दिया ॥२३३॥

तदनन्तर पुण्यात्मा श्रीपालने सदासे पीछे लगे हुए जन्म, रोग, जरा और मृत्युको नष्ट करनेके लिए बुद्धि स्थिर कर धर्मरूपी अमृतका पान किया ॥२३४॥ वह सोचने लगा कि यह चक्रवर्तीका साम्राज्य कुम्हारकी जीवनीके समान है क्योंकि जिस प्रकार कुम्हार अपना चक्र (चाक) घुमाकर मिट्टीसे बने हुए घड़े आदि बरतनोंसे अपनी आजीविका चलाता है

---

१ तत्कालभव. । २ श्रीपालस्याग्रमहिषी जाता । ३ पिप्पली ल०, प०, इ०, अ०, स० । ४ संपूर्णकला । ५ पुरुरवस इति विद्याधरस्य । ६ भगिनीपुत्रस्य निराकरणेन । ७ तत्काले । ८ अहिंसनेन । ९ तव भगिनीशिशोः । १० पुनर्बान्धवैः सह संयोगः । ११ निरन्तरानुगमनशीलान् । १२ पपौ । धेट् पाने इति धातुः । १३ भोजनक्रिया । १४ चक्ररत्नम् घटक्रियायन्त्रो च । १५ क्षेत्रोत्पन्नफलप्राप्तित. । मृत्पिण्डोत्पन्नप्राप्तितश्च ।

आयुर्वायुरयं[1] मोहो[2] भोगो भङ्गी[3] हि संगमः[4] । वपुः पापस्य दुष्पात्रं विद्युल्लोला विभूतयः ॥२३६॥
[5]मार्गविभ्रंशहेतुत्वाद् यौवनं गहनं वनम् । या रतिर्विषयेष्वेषा गवेषयति साऽरतिम् ॥२३७॥
सर्वमे[6]तत्सुखाय स्याद् यावन्मतिविपर्ययः[7] । प्रगुणायां मतौ सत्यां किं तत्याज्यमतः परम्[8] ॥२३८॥
चित्तद्रुमस्य चेद् वृद्धिरभिलाषविषाङ्कुरैः । कथं दुःखफलानि स्युः संभोगविटपेषु नः ॥२३९॥
भुक्तो भोगो दशाङ्गोऽपि यथेष्टं सुचिरं मया । [9]मात्रामात्रेऽपि नात्रासीत्तृप्तिस्तृष्णाविघातिनी ॥२४०॥
अस्तु वास्तु समस्तं च संकल्पविषयीकृतम् । इष्टमेव तथाप्यस्मान्नास्ति[10] व्यस्ताऽपि निर्वृतिः[11] ॥२४१॥
किल स्त्रीभ्य. सुखावाप्तिः पौरुषं[12] किमतः परम् । दैन्यमात्मनि संभाव्य[13] सौख्यं स्यां परमः[14] पुमान् ॥
इति श्रीपालचक्रेशः संत्यजन् वक्रतां धिय । अक्रमेणाखिलं त्यक्तुं सचक्रं मतिमातनोत् ॥२४३॥
ततः सुखावतीपुत्रं नरपालाभिधानकम् । कृताभिषेकमारोप्य समुत्तुङ्गं निजासनम् ॥२४४॥
जयवत्यादिभिः स्वामिर्देवीभिर्धरणीश्वरैः । वसुपालादिभिश्चामा संयमं प्रत्यपद्यत ॥२४५॥
स वाह्यमन्तरङ्गं च तपस्तप्त्वा यथाविधि । क्षपकश्रेणिमारुह्य[15] मासेन (?) हतमोहक. ॥२४६॥
यथाख्यातमवाप्योरुचारित्रनिष्कषायकम् । ध्यायन् द्वितीयशुक्लेन वीचाररहितात्मना[16] ॥२४७॥

उसी प्रकार चक्रवर्ती भी अपना चक्र (चक्ररत्न) घुमाकर मिट्टीसे उत्पन्न हुए रत्न या कर आदिसे अपनी आजीविका चलाता है – भोगोपभोगकी सामग्री जुटाता है इसलिए इस चक्रवर्ती-के साम्राज्यको धिक्कार है ॥२३५॥ यह आयु वायुके समान है, भोग मेघके समान हैं, इष्ट-जनोका सयोग नष्ट हो जानेवाला है, शरीर पापोंका खोटा पात्र है और विभूतियाँ विजलीके समान चंचल है ॥२३६॥ यह यौवन समीचीन मार्गसे भ्रष्ट करानेका कारण होनेसे सघन वनके समान है और जो यह विषयोमे प्रीति है वह द्वेषको ढूँढनेवाली है ॥२३७॥ इन सब वस्तुओसे सुख तभी तक मालूम होता है जबतक कि वुद्धिमे विपर्ययपना रहता है । और जब वुद्धि सीधी हो जाती है – तब ऐसा जान पडने लगता है कि इन वस्तुओके सिवाय छोडने योग्य और क्या होगा ? ॥२३८॥ जब कि अभिलाषारूपी विषके अंकुरोसे इस चित्तरूपी वृक्षकी सदा वृद्धि होती रहती है तब उसकी संभोगरूपी डालियोंपर भला दु खरूपी फल क्यो नही लगेंगे ? ॥२३९॥ मैने इच्छानुसार चिरकाल तक दसो प्रकारके भोग भोगे परन्तु इस भवमें तृष्णाको नष्ट करनेवाली तृप्ति मुझे रंचमात्र भी नही हुई ॥२४०॥ यदि हमारी इच्छाके विषयभूत सभी इष्ट पदार्थ एक साथ मिल जाये तो उनसे थोड़ा-सा भी सुख नही मिलता है ॥२४१॥ स्त्रियोसे सुखकी प्राप्ति होना ही पुरुषत्व है ऐसा प्रसिद्ध है परन्तु इससे वढ़कर और दीनता क्या होगी ? इसलिए अपने आत्मामे ही सच्चे सुखका निश्चय कर पुरुष हो सकता हूँ – पुरुषत्वका धनी बन सकता हूँ ॥२४२॥ इस प्रकार वुद्धिकी वक्रताको छोडते हुए श्रीपाल चक्रवर्तीने चक्ररत्नसहित समस्त परिग्रहको एक साथ छोड़नेका विचार किया ॥२४३॥ तदनन्तर उसने नरपाल नामके सुखावतीके पुत्रका राज्याभिषेक कर उसे अपने बहुत ऊँचे सिहासनपर बैठाया और स्वय जयवती आदि रानियो तथा वसुपाल आदि राजाओके साथ दीक्षा धारण कर ली ॥२४४–२४५॥ उन्होने विधिपूर्वक वाह्य और अन्तरंग तप तपा, क्षपक श्रेणीमे चढ़कर मोहरूपी शत्रुको नाश करनेसे प्राप्त होनेवाला कषायरहित यथाख्यात नामका उत्कृष्ट चारित्र प्राप्त किया, वीचाररहित द्वितीय शुक्ल ध्यानके द्वारा आत्मस्वरूपका

१ वायुवेगी । २ मेघो ल० । ३ विनाशी । ४ इष्टसंयोग । ५ सन्मार्गच्युतिकारणत्वात् । ६ स्रक्चन्दनादि । ७ मतेर्व्यायाम , मोह । ८ इष्टस्रक्कामिन्यादिकादन्यत् । ९ अत्यल्पकालेऽपि । १० अल्पापि । ११ सुखम् । १२ कुशलाकुशलसमाचरणलक्षणं पौरुषम् । १३ सकल्पसुखम् । १४ अहं परमपुरुषो भवेयम् । १५ मोहाराति-जयार्जितम् ल०, प०, अ०, स०, इ० । १६ एकत्ववितर्कवीचाररूपद्वितीयशुक्लध्यानेन ।

घातिकर्मत्रयं हत्वा संप्राप्तनवकेवलः[1] । सयोगस्थानमाक्रम्य वियोगो वीतकल्मषः ॥२४८॥
[2]शरीरत्रितयापायादाविष्कृतगुणोत्करः । अनन्तशा[3]न्तमप्रायमवाप सुखमुत्तमम् ॥२४९॥
तस्य राज्यश्च ताः सर्वा विधाय विविधं तपः । स्वर्गलोके स्वयोग्योरुविमानेष्वभवन् सुराः ॥२५०॥
आवां चाकर्ण्य तं नत्वा गत्वा नाकं निजोचितम्[4] । अनुभूय सुखं प्रान्ते[5] शेषपुण्यविशेषतः ॥२५१॥
इहागताविति व्यक्तं व्याजहार[6] सुलोचना । जयोऽपि स्वप्रियाप्रज्ञाप्रभावात्तुष्टवांस्तदा ॥२५२॥
तदा सदस्सदः[7] सर्वे प्रतीयु[8]स्तदुदाहृतम्[9] । कः प्रत्येति[10] न दुष्टश्चेत् सद्भिर्निगदितं वचः ॥२५३॥
एवं सुखेन साम्राज्यभोगमग्र्यं निरन्तरम् । भुञ्जानौ रञ्जितान्योन्यौ कालं गमयतः स्म तौ ॥२५४॥
तदा [11]खगभवावाप्तप्रज्ञप्तिप्रमुखाः श्रिताः । विद्यास्तां[12] च महीशं[13] च संप्रीत्या तौ ननन्दतु[14] ॥२५५॥
[15]तद्बलात् कान्तया सार्द्धं विहर्तुं सुरगोचरान् । वाञ्छन् देशान् निजं राज्यं नियोज्य विजयेऽनुजे ॥२५६॥
यथेष्टं सप्रियो विद्यावाहनः सरितां पतीन्[16] । कुलशैलान्नदीरम्यवनानि विविधान्यपि ॥२५७॥
विहरन्नन्यदा मेघस्वरः कैलासशैलजे । वने सुलोचनाभ्यर्णादस्मात् किंचिदपासरत्[17] ॥२५८॥

चिन्तवन करते हुए ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातिया कर्मोंको नष्ट कर नौ केवललब्धियाँ प्राप्त की, सयोगकेवली गुणस्थानमे पहुँचकर क्रमसे योगरहित होकर सब कर्म नष्ट किये और अन्तमे औदारिक, तैजस, कार्माण–तीनो शरीरोके नाशसे गुणोंका समूह प्रकट कर अनन्त, शान्त, नवीन और उत्तम सुख प्राप्त किया ॥२४६–२४९॥ श्रीपाल चक्रवर्तीकी सब रानियाँ भी अनेक प्रकारका तप तपकर स्वर्गलोकमें अपने-अपने योग्य बड़े-बड़े विमानोमे देव हुईं ॥२५०॥ सुलोचना जयकुमारसे कह रही है कि हम दोनों भी ये सब कथाएँ सुनकर एव गुणपाल तीर्थंकरको नमस्कार कर स्वर्ग चले गये थे और वहाँ यथायोग्य सुख भोगकर आयुके अन्तमे बाकी बचे हुए पुण्यविशेषसे यहाँ उत्पन्न हुए हैं। ये सब कथाएँ सुलोचनाने स्पष्ट शब्दोमे कही थीं और जयकुमार भी अपनी प्रियाकी बुद्धिके प्रभावसे उस समय अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ था ॥२५१–२५२॥ उस समय सभामे बैठे हुए सभी लोगोने सुलोचनाके कहनेपर विश्वास किया सो ठीक ही है, क्योंकि जो दुष्ट नही है वह ऐसा कौन है जो सज्जनोंके द्वारा कहे हुए वचनोंपर विश्वास न करे ॥२५३॥ इस प्रकार साम्राज्य तथा श्रेष्ठ भोगोंका निरन्तर उपभोग करते और परस्पर एक दूसरेको प्रसन्न करते हुए वे दोनो सुखसे समय बिताने लगे ॥२५४॥ उसी समय पहले विद्याधरके भवमें लक्ष्मीको बढ़ानेवाली जो प्रज्ञप्ति आदि विद्याएँ थी वे भी बड़े प्रेमसे जयकुमार और सुलोचना दोनोको प्राप्त हो गयी ॥२५५॥ उन विद्याओके बलसे महाराज जयकुमारने अपनी प्रिया–सुलोचनाके साथ देवोके योग्य देशोमें विहार करनेकी इच्छा की और इसलिए ही अपने छोटे भाई विजयकुमारको राज्यकार्यमे नियुक्त कर दिया ॥२५६॥

तदनन्तर जिसकी सवारियाँ विद्याके द्वारा बनी हुई हैं ऐसा वह जयकुमार अपनी प्रिया–सुलोचनाके साथ-साथ समुद्र, कुलाचल और अनेक प्रकारके मनोहर वनोमे विहार करता

---

१ सप्राप्तक्षायिकज्ञानदर्शनसम्यक्त्वचारित्रदानलाभभोगोपभोगवीर्याणीतिनवकेवललब्धि. । २ औदारिकशारीरकार्मणमिति शरीरत्रयविनाशात् । ३ अनन्त शान्तमप्राप्तमवाप्तः इ०, अ०, स०, ल०, प० । अप्रायमनुपमम् । 'प्रायश्चानशने मृत्यौ तुल्यबाहुल्ययोरपि' इत्यभिधानात् । ४ यथोचितम् ल०, प०, अ०, स०, इ० । ५ आयुरन्ते । ६ उवाच । ७ सदः सीदन्तीति सदस्सदः । सभा प्राप्ता इत्यर्थः । ८ विश्वस्तवन्त. । ९-सुलोचनावचनम् । १० न श्रद्दधाति । ११ हिरण्यवर्मप्रभावतीभवे प्राप्त । १२ सुलोचनाम् । १३ जयम् । १४ वर्धितश्रिय. ल०, प०, इ०, स० । १५ प्रज्ञप्त्यादिविद्यावलात् । १६ पतिम् ल०, प०, इ०, स० । १७ अपसरति स्म ।

अमरेन्द्रे सभामध्ये शीलमाहात्म्यशंसनम् । जयस्य तत्प्रियायाश्च प्रकुर्वति कदाचन ॥२५९॥
श्रुत्वा तदादिमे कल्पे रविप्रभविमानजः[1] । श्रीशो[2] रविप्रभाख्येन तच्छीलान्वेषणं प्रति ॥२६०॥
प्रेषिता[3] कांचना नाम देवी प्राप्य जयं सुधीः । क्षेत्रेऽस्मिन् भारते खेचराद्रेरुत्तरदिक्तटे ॥२६१॥
मनोहराख्यविषये राजारत्नपुराधिपः । अभूत् पिङ्गलगान्धारः सुखदा तस्य सुप्रभा ॥२६२॥
तयोर्विद्युत्प्रभा पुत्री नमेर्भार्या यदृच्छया । त्वां नन्दने महामेरौ क्रीडन्तं वीक्ष्य सोत्सुका ॥२६३॥
तदा प्रभृति मच्चित्तेऽभवस्त्वं लिखिताकृतिः । त्वत्समागममेवाहं ध्यायन्ती दैवयोगतः ॥२६४॥
दृष्टवत्यस्मि कान्ता[4]ऽ[5]स्मिन्निवेगं[6] सोढुमक्षमा । इत्यपास्तोपकण्ठस्थान् स्वकीयान्[7] स्मरविह्वला ॥२६५॥
स्वानुरागं जये व्यक्तमकरोद् विकृतेक्षणा । तद्दुष्टचेष्टितं दृष्ट्वा मा मंस्थाः पापमीदृशम् ॥२६६॥
सोदर्या त्वं ममादायि[8] मया मुनिवराद् व्रतम् । पराङ्गनाङ्गसंसङ्ग[9]सुखं मे विषभक्षणम् ॥२६७॥
महीशेनेति संप्रोक्ता[10] मिथ्या सा[11] कोपवेपिनी । उपात्तराक्षसीवेषा तं[12] समुद्धृत्य गत्वरी[13] ॥२६८॥
पुष्पावचयसंसक्तनृपकान्ताभितर्जिता[14] । भीत्वा तच्छीलमाहात्म्यात्[15] काञ्चनाऽदृश्यतां गता ॥२६९॥
अबिभ्यद्देवता चैवं शीलवत्याः परे न के । ज्ञात्वा तच्छीलमाहात्म्यं गत्वा स्वस्वामिनं प्रति ॥२७०॥

हुआ किसी समय कैलाश पर्वतके वनमें पहुँचा और किसी कारणवश सुलोचनासे कुछ दूर चला गया ॥२५७–२५८॥ उसी समय इन्द्र अपनी सभाके बीचमें जयकुमार और उसकी प्रिया सुलोचनाके शीलकी महिमाका वर्णन कर रहा था उसे सुनकर पहले स्वर्गके रविप्रभ विमानमें उत्पन्न हुए लक्ष्मीके अधिपति रविप्रभ नामके देवने उनके शीलकी परीक्षा करनेके लिए एक कांचना नामकी देवी भेजी, वह बुद्धिमती देवी जयकुमारके पास आकर कहने लगी कि 'इसी भरतक्षेत्रके विजयार्ध पर्वतकी उत्तरश्रेणीमे एक मनोहर नामका देश है, उसके रत्नपुर नगरके अधिपति राजा पिङ्गलगान्धार है, उनके सुख देनेवाली रानी सुप्रभा है, उन दोनोंकी मै विद्युत्प्रभा नामकी पुत्री हूँ और राजा नमिकी भार्या हूँ। महामेरु पर्वतपर नन्दन वनमे क्रीड़ा करते हुए आपको देखकर मै अत्यन्त उत्सुक हो उठी हूँ। उसी समयसे मेरे चित्तमें आपकी आकृति लिख-सी गयी है, मै सदा आपके समागमका ही ध्यान करती रहती हूँ। दैवयोगसे आज आपको देखकर आनन्दके वेगको रोकनेके लिए असमर्थ हो गयी हूँ।' यह कहकर उसने समीपमे बैठे हुए अपने सब लोगोंको दूर कर दिया और कामसे विह्वल होकर तिरछी आँखे चलाती हुई वह देवी जयकुमारमे अपना अनुराग स्पष्ट रूपसे प्रकट करने लगी। उसकी दुष्ट चेष्टा देखकर जयकुमारने कहा कि तू इस तरह पापका विचार मत कर, तू मेरी बहन है, मैने मुनिराजसे व्रत लिया है कि मुझे परस्त्रियोंके शरीरके संसर्गसे उत्पन्न होनेवाला सुख विष खानेके समान है। महाराज जयकुमारके इस प्रकार कहनेपर वह देवी झूठमूठके क्रोधसे काँपने लगी और राक्षसीका वेष धारण कर जयकुमारको उठाकर जाने लगी। फूल तोड़नेमे लगी हुई सुलोचनाने यह देखकर उसे ललकार लगायी जिससे वह उसके शीलके माहात्म्यसे डरकर अदृश्य हो गयी। देखो, शीलवती स्त्रीसे जब देवता भी डर जाते हैं तब औरोंकी तो बात ही क्या है ? वह काचना देवी उन दोनोके शीलका माहात्म्य जानकर अपने स्वामीके पास गयी, वहाँ उसने उन दोनोंके उस माहात्म्यकी प्रशंसा की जिसे सुनकर वह रविप्रभ देव भी आश्चर्यसे उनके गुणोमें प्रेम करता हुआ उन दोनोके पास आया। उसने अपना सब

---

१ रविप्रभविमानोत्पन्नलक्ष्मीपतिः । २ श्रीशो ल० । ३ निरूपिता । ४ भो प्रिय । ५ एतस्मिन् प्रदेशे । ६ कामवेगम् । ७ स्वजनान् । ८ स्वीकृतम् । ९ ससर्ग –ल०, प०, इ०, स० । १० सम्प्रोक्तं ल० । ११ पापवेपनी ट० । अशोभन कम्पयन्ती । १२ जयम् । १३ गमनशीला । १४ सुलोचनार्तजिता । १५ काञ्चनाख्यामराङ्गना ।

प्राशंसत[1] सा [2]तयोस्तादृङ्माहात्म्यं सोऽपि विस्मयात् । रविप्रभः समागत्य तावुभौ तद्गुणप्रियः ॥२७१॥
स्ववृत्तान्तं समाख्याय युवाभ्यां क्षम्यतामिति । पूजयित्वा महारत्नैर्नाकिलोकं समीयिवान् ॥२७२॥
[3]तथा चिरं विहृत्यात्तसंप्रीतिः कान्तया समम् । निवृत्य पुरमागत्य सुखसारं समन्वभूत् ॥२७३॥
अथान्यदा समुत्पन्नबोधिर्मेघस्वराधिपः । तीर्थाधिनाथ[4]मासाद्य वन्दित्वाऽऽनन्दभाजनम् ॥२७४॥
कृत्वा धर्मपरिप्रश्नं श्रुत्वा तस्माद्यथोचितम् । आक्षेपिण्यादिकाः[5] सम्यक्[6] कथाबन्धोदयादिकम् ॥२७५॥
[7]कर्मनिर्मुक्तसंप्राप्यं शर्मसारं प्रबुद्धधीः । शिवंकरमहादेव्यास्तनूजो [8]जगतां प्रियः ॥२७६॥
अवार्योऽनन्तवीर्याख्यः शत्रुभिः शस्त्रशास्त्रवित् । आकुमारं[9] यशस्तस्य[10] शौर्यं शत्रुजयावधि ॥२७७॥
त्यागः सर्वार्थिसंतर्पी सत्यं स्वप्नेऽप्यविप्लुतम्[11] । विधायाभिषवं तस्मै प्रदायात्मीयसंपदम् ॥२७८॥
पदं परं परिप्राप्तुमव्यग्रमभिलाषुकः । विसर्जितसगोत्रा[12]दिर्विनिर्जितनिजेन्द्रियः ॥२७९॥
वितर्जितमहामोहः समर्जितशुभाशय.[13] । विजयेन जयन्तेन संजयन्तेन सानुजैः ॥२८०॥
अन्यैश्च निश्चितत्यागै रागद्वेषाविदूषितैः । रविकीर्ति[14] [15]रिपुजयोऽरिन्दमोऽरिंजयाह्वयः ॥२८१॥
सुजयश्च सुकान्तश्च सप्तमश्चाजितंजयः । महाजयोऽतिवीर्यश्च [16]वीरंजयसमाह्वयः ॥२८२॥
रविवीर्यस्तथाऽन्ये च तनूजाश्चक्रवर्तिनः । तैश्च सार्द्धं सुनिर्विण्णैश्चरमाङ्गो विशुद्धिभाक् ॥२८३॥

वृत्तान्त कहकर उन दोनोंसे क्षमा माँगी और फिर बड़े-बड़े रत्नोंसे पूजा कर वह स्वर्गको चला गया । इधर जयकुमार भी प्रिया—सुलोचनाके साथ चिरकाल तक बड़े प्रेमसे विहारकर वापस लौटे और नगरमें आकर श्रेष्ठ सुखोंका अनुभव करने लगे ॥२५९–२७३॥

अथानन्तर—जिसे आत्मज्ञान उत्पन्न हुआ है ऐसे जयकुमारने किसी एक दिन आनन्दके पात्र श्री आदिनाथ तीर्थंकरके पास जाकर उनकी वन्दना की, धर्मविषयक प्रश्न कर उनका यथा योग्य उत्तर सुना, आक्षेपिणी आदि कथाएँ कही और कर्मोंके बन्ध उदय आदिकी चर्चा की ॥२७४–२७५॥ इस प्रकार प्रबुद्ध बुद्धिको धारण करनेवाले जयकुमारने कर्मोंके नाशसे प्राप्त होने योग्य श्रेष्ठ सुखको प्राप्त किया । तदनन्तर उसने जो लोगोंको बहुत ही प्रिय है, जिसे शत्रु नही रोक सकते हैं, जो शस्त्र और शास्त्र दोनोंका जाननेवाला है, जिसका यश कुमार अवस्थासे ही फैल रहा है, जिसकी शूरवीरता शत्रुओंके जीतने तक है, जिसका दान सब याचकोंको सन्तुष्ट करनेवाला है, और जिसका सत्य कभी स्वप्नमें भी खण्डित नही हुआ है ऐसे शिवंकर महादेवीके पुत्र अनन्तवीर्यका राज्याभिषेक कर उसे अपनी सब राज्य-सम्पदा दे दी ॥२७६–२७८॥ तदनन्तर जो आकुलतारहित परम पद प्राप्त करनेकी इच्छा कर रहा है, जिसने अपने सब कुटुम्बका परित्याग कर दिया है, अपनी इन्द्रियोंको वश कर लिया है, महामोहको डाँट दिखा दी है और शुभास्रवका संचय किया है ऐसे चरमशरीरी तथा विशुद्धि-को धारण करनेवाले जयकुमारने विजय, जयन्त, संजयन्त तथा परिग्रहके त्यागका निश्चय करनेवाले और राग-द्वेषसे अदूषित अन्य छोटे भाइयों एवं रविकीर्ति, रविजय, अरिंदम, अरिजय सुजय, सुकान्त, सातवाँ अजितंजय, महाजय, अतिवीर्य, वरंजय, रविवीर्य तथा इनके सिवाय और भी वैराग्यको प्राप्त हुए चक्रवर्तीके पुत्रोंके साथ-साथ दीक्षा धारण की ॥२७९–२८३॥

---

१ प्रशंसा चकार । २ जयसुलोचनयो । ३ तया ल० । ४ मण्डभाजनं कल्याणभाजनं वा । तीर्थादि–ल० । ५ आक्षेपणी विक्षेपणी संवेजनी निर्वेजनीति चेति चतस्र. । "आक्षेपणी स्वमतसंग्रहणी समेक्षी विक्षेपणी कुमतनिग्रहणी यथार्हम् । संवेजनी प्रथयितुं सुकृतानुभावं निर्वेजनी वदतु धर्मकथाविरक्त्यै ॥" ६ कृत्वा कथा-बन्धोदयादिका ल०, प०, इ०, स० । ७ कर्मबन्धविमुक्तैः प्राप्तुं योग्यम् । ८ जनताप्रियः ल०, प०, अ०, स०, इ० । ९ कुमारकालादारभ्य । १० अनन्तवीर्यस्य । ११ अविच्युतम् । निर्बाधं वा । १२ बान्धवादि । 'सगोत्रबान्धवज्ञातिबन्धुस्वस्वजना. समा.' इत्यभिधानात् । १३ शुभास्रव. ल० । १४ रविकीर्तिनामा । १५ रविजयो ल०, प०, स०, इ० । १६ वरञ्जय ल०, अ०, प०, स० ।

एष पात्रविशेषस्ते संवोढुं शासनं महत् । इति विश्वमहीशेन[1] देवदेवस्य[2] सोऽर्पितः[3] ॥२८४॥
कृतग्रन्थपरित्यागः प्राप्तग्रन्थार्थसंग्रहः । प्रकृष्टं संयमं प्राप्य सिद्धसप्तर्द्धिवर्द्धितः ॥२८५॥
चतुर्ज्ञानामलज्योतिर्हताततमनस्तमाः । अभूद् गणधरो भर्तुरेकसप्ततिपूरकः ॥२८६॥
सुलोचनाप्यसंहार्यशोका पतिवियोगतः । गलिताकल्पवल्लीव[4] प्रम्लानामरभूरुहात् ॥२८७॥
शमिता[5] चक्रवर्तीष्टकान्तयाऽऽशु सुभद्रया । ब्राह्मीसमीपे प्रव्रज्य भाविसिद्धिश्चिरं तपः ॥२८८॥
कृत्वा विमाने साऽनुत्तरेऽभूत् कल्पेऽच्युतेऽमरः । आदितीर्थाधिनाथोऽपि मोक्षमार्गं प्रवर्तयन् ॥२८९॥
चतुरुत्तरयाऽशीत्या विविधर्द्धिविभूषितैः । चिरं वृषभसेनादिगणेशैः परिवेष्टितः ॥२९०॥
खपञ्चसप्तवार्राशिमितपूर्वधरान्वितः । खपञ्चैकचतुर्मेय[6] शिक्षकैर्मुनिभि[7]र्युतः ॥२९१॥
[8]तृतीयज्ञानसन्नेत्रैः सहस्रैर्नवभिर्वृतः[9] । केवलावगमैर्विंशतिसहस्रैः समन्वितः ॥२९२॥
खद्वयर्तुखपक्षोरुविक्रियर्द्धिविवर्द्धितः[10] । खपञ्चसप्तपक्षैकमिततुर्यविदन्वितः[11] ॥२९३॥
तावद्भिर्वादिभिर्वन्द्यो निरस्तपरवादिभिः । चतुरष्टखवार्द्ध्यष्टमितैः सर्वैश्च पिण्डितैः ॥२९४॥
संयमस्थानसंप्राप्तसंपद्भिस्सद्भिरर्चितः । खचतुष्केन्द्रियाग्न्युक्तपूज्यब्राह्म्यार्यिकादिभिः ॥२९५॥
आर्यिकाभिरभिष्टूयमाननानागुणोदयः । दृढव्रतादिभिर्लक्षत्रयोक्तैः श्रावकैः श्रितः ॥२९६॥
श्राविकाभिः स्तुतः पञ्चलक्षाभिः सुव्रतादिभिः । भावनादिचतुर्भेददेवदेवीडितक्रमः ॥२९७॥

उस समय भगवान् ऋषभदेवके समीप जयकुमार ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो आपके बड़े भारी शासनको धारण करनेके लिए यह एक विशेष पात्र है यही समझकर महाराज भरतने उसे भगवान्के लिए सौंपा हो ॥२८४॥ इस प्रकार जिसने सब परिग्रहका त्याग कर दिया है, सम्पूर्ण श्रुतका अर्थसंग्रह प्राप्त किया है, जो उत्कृष्ट संयम धारण कर सात ऋद्धियोंसे निरन्तर बढ रहा है, और चार ज्ञानरूपी निर्मल ज्योतिसे जिसने मनका विस्तीर्ण अन्धकार नष्ट कर दिया है ऐसा वह जयकुमार भगवान्का इकहत्तरवाँ गणधर हुआ ॥२८५-२८६॥ इधर पतिके वियोगसे जिसे बड़ा भारी शोक रहा है और जो पडे हुए कल्पवृक्षसे नीचे गिरी हुई कल्पलताके समान निष्प्रभ हो गयी है ऐसी सुलोचनाने भी चक्रवर्तीकी पट्टरानी सुभद्राके समझानेपर ब्राह्मी आर्यिकाके पास शीघ्र ही दीक्षा धारण कर ली और जिसे आगामी पर्यायमें मोक्ष होनेवाला है ऐसी वह सुलोचना चिरकाल तक तप कर अच्युतस्वर्गके अनुत्तरविमानमे देव पैदा हुई ।

इधर जो मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति चला रहे है, अनेक ऋद्धियोंसे सुशोभित वृषभसेन आदि चौरासी गणधरोंसे घिरे हुए है, चार हजार सात सौ पचास पूर्वज्ञानियोंसे सहित है, चार हजार एक सौ पचास शिक्षक मुनियोसे युक्त है, नौ हजार अवधिज्ञानरूपी नेत्रको धारण करनेवाले मुनियोसे सहित है, वीस हजार केवलज्ञानियोसे युक्त है, वीस हजार छह सौ विक्रिया ऋद्धिके धारक मुनियोसे वृद्धिको प्राप्त हो रहे है, बारह हजार सात सौ पचास मनःपर्ययज्ञानियोसे अन्वित है, परवादियोको हटानेवाले बारह हजार सात सौ पचास वादियोंसे वन्दनीय है, और इस प्रकार सब मिलाकर तपश्चरणरूपी सम्पदाओंको प्राप्त करनेवाले चौरासी हजार चौरासी मुनिराज जिनकी निरन्तर पूजा करते है, ब्राह्मी आदि तीन लाख पचास हजार आर्यिकाएँ जिनके गुणोका स्तवन कर रही है, दृढव्रत आदि तीन लाख श्रावक जिनकी सेवा कर रहे हैं, सुव्रता आदि पाँच लाख श्राविकाएँ जिनकी स्तुति कर रही है, भवनवासी आदि चार प्रकारके देव देवियाँ जिनके चरणकमलोंका स्तवन कर रही है, चौपाये आदि तिर्यंचगतिके जीव जिनकी

१ भरतेश्वरेण । २ वृषभेश्वरस्य । ३ जयः । ४ भ्रष्टादमर-ल०, प०, अ०, स०, इ० । ५ उपशान्तिं नीता । ६ मातुं योग्य । ७ -भिर्वृत ल० । ८ अवधिज्ञान । ९ -भिर्युत ल० । १० -राजित । ११ मनःपर्ययज्ञानिसहितः ।

चतुष्पदादिभिस्तिर्यग्जातिभिश्चाभिषेवितः । चतुस्त्रिंशदतीशेष[1] विशेषैर्लक्षितोदयः ॥२९८॥
[2]आत्मोपाधिविशिष्टावबोधदृक् सुखवीर्यसद्[3] । देहसौन्दर्यवासोक्त[4]सप्तसंस्थानसंगतः ॥२९९॥
प्रातिहार्याष्टकोद्दिष्टनष्टघातिचतुष्टयः । वृषभाद्यन्वितार्थाष्टसहस्राह्वयभाषितः ॥३००॥
विकासितविनेयाम्बुजावलिर्वचनांशुभिः । संवृताञ्जलिपङ्केजमुकुलेनाखिलेशिना ॥३०१॥
भरतेन समभ्यर्च्य पृष्टो धर्ममभापत । ध्रियते धारयत्युच्चै[5]र्विनेयान्[6] [7]कुगतेस्ततः[8] ॥३०२॥
धर्म इत्युच्यते सद्भिश्चतुर्भेदं समाश्रितः । सम्यग्दृक्ज्ञानचारित्रतपोरूपः कृपापरः[9] ॥३०३॥
जीवादिसप्तके तत्त्वे श्रद्धानं यत् स्वतोऽञ्जसा । [10]परप्रणयनाद् वा तत् सम्यग्दर्शनमुच्यते ॥३०४॥
शङ्कादिदोषनिर्मुक्तं भावत्रयविवेचितम्[11] । तेषां जीवादिसप्तानां संशयादिविवर्जनात्[12] ॥३०५॥
याथात्म्येन परिज्ञानं सम्यग्ज्ञानं समादिशेत् । यथाकर्मास्रवो न स्याच्चारित्रं संयमस्तथा ॥३०६॥
निर्जरा कर्मणां येन तेन वृत्तिस्तपो मतम् । चत्वार्येतानि मिश्राणि कषायैः स्वर्गहेतवः ॥३०७॥
निष्कषायाणि नाकस्य मोक्षस्य च हितैषिणाम् । चतुष्टयमिदं वर्त्म मुक्तेर्दुष्प्रापमंगिभिः ॥३०८॥
मिथ्यात्वमव्रताचारः प्रमादाः सकषायता[13] । योगाः शुभाशुभा जन्तोः कर्मणां बन्धहेतवः ॥३०९॥

सेवा कर रहे हैं, चौतीस अतिशय विशेषोसे जिनका अभ्युदय प्रकट हो रहा है, जो केवल आत्मा-से उत्पन्न होनेवाले विशिष्ट ज्ञान, विशिष्ट दर्शन, विशिष्ट सुख और विशिष्ट वीर्यको प्राप्त हो रहे हैं, जो शरीरकी सुन्दरतासे युक्त है, जो सज्जाति आदि सात परम स्थानोसे संगत है, जो आठ प्रातिहार्योंसे युक्त है, जिन्होने चार घातिया कर्म नष्ट कर दिये है, जो वृषभ आदि एक हजार आठ नामोसे कहे जाते है और जिन्होंने भव्य जीवरूपी कमलोके वनको प्रफुल्लित कर दिया है ऐसे भगवान् वृषभदेवके पास जाकर मुकुलित कमलके समान हाथ जोडे हुए चक्रवर्ती भरतने उनकी पूजा की और धर्मका स्वरूप पूछा तब भगवान् इस प्रकार कहने लगे —

जो शिष्योंको कुगतिसे हटाकर उत्तम स्थानमें पहुँचा दे सत् पुरुष उसे ही धर्म कहते है। उस धर्मके चार भेद है — सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप। यह धर्म कर्तव्य प्रधान है ॥२८७–३०३॥ अपने-आप अथवा दूसरेके उपदेशसे जीव आदि सात तत्त्वोंमे जो यथार्थ श्रद्धान होता है वह सम्यग्दर्शन कहलाता है ॥३०४॥ यह सम्यग्दर्शन शंका आदि दोषोसे रहित होता है तथा औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक इन तीन भावों-द्वारा इसकी विवेचना होती है अर्थात् भावोकी अपेक्षा सम्यग्दर्शनके तीन भेद है। संशय, विपर्यय और अनध्यवसायका अभाव होनेसे उन्ही जीवादि सात तत्त्वोका यथार्थ ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान कहलाता है। जिससे कर्मोका आस्रव न हो उसे चारित्र अथवा संयम कहते हैं। ॥३०५–३०६॥ जिससे कर्मोंकी निर्जरा हो ऐसी वृत्ति धारण करना तप कहलाता है। ये चारो ही गुण यदि कषायसहित हों तो स्वर्गके कारण हैं और कषायरहित हों तो आत्माका हित चाहनेवाले लोगोको स्वर्ग और मोक्ष दोनोंके कारण है। ये चारो ही मोक्षके मार्ग है और प्राणियोंको बडी कठिनाईसे प्राप्त होते हैं ॥३०७–३०८॥ मिथ्यात्व, अव्रताचरण, (अविरति), प्रमाद, कषाय और शुभ-अशुभ योग ये जीवोके कर्मबन्धके कारण है ॥३०९॥

---

१ अतिशय। २ आत्मा उपाधि कारणं यस्य। ३ वीर्यगः ल०, प०, इ०, अ०, स०। प्रशस्त-सौन्दर्यवास। समवसरण। ४ सौन्दर्यवान् स्वोक्तसप्त–ल०, प०, इ०, अ०, स०। ५ अभ्युदयनिःश्रेयसरूपोन्नतस्थाने। ६ भव्यान्। ७ दुर्गते. सकाशात् अपसार्य। ८ तत. कारणात्। ९ दयाप्रधानः। क्रियापरः ल०। १० परोप-देशात्। ११ औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकभावैर्निर्णीतम्। १२ विसर्जनात् ल०। १३ सकषायत्वम्।

तद्वाक्श्रवणमात्रेण सत्वरः सर्वसंगतः । चक्रवर्ती[1] तमभ्येत्य त्रिःपरीत्य कृतस्तुतिः ॥३३६॥
महामहमहापूजां भक्त्या निरवर्तयन्स्वयम् । चतुर्दश दिनान्येवं भगवन्तमसेवत ॥३३७॥
माघकृष्णचतुर्दश्यां भगवान् भास्करोदये । मुहूर्तेऽभिजिति प्राप्तपल्यङ्को मुनिभिः समम् ॥३३८॥
प्राग्दिङ्मुखस्तृतीयेन शुक्लध्यानेन रुद्धवान् । योगत्रितयमन्त्येन ध्यानेनाघातिकर्मणाम् ॥३३९॥
पञ्चह्रस्वस्वरोच्चारणप्रमाणेन सक्षयम् । कालेन विदधत्प्रान्तगुणस्थानमधिष्ठितः ॥३४०॥
शरीरत्रितयापाये प्राप्य सिद्धत्वपर्ययम् । निजाष्टगुणसंपूर्णः क्षणाप्ततनुवातकः ॥३४१॥
नित्यो निरञ्जनः किंचिदूनो देहादमूर्तिभाक् । स्थितः स्वसुखसाद्भूतः पश्यन्विश्वमनारतम्[2] ॥३४२॥
तदागत्य सुराः सर्वे प्रान्तपूजाचिकीर्षया[3] । पवित्रं परमं मोक्षसाधनं शुचिनिर्मलम् ॥३४३॥
शरीरं भर्तुरस्येति परार्ध्यशिबिकार्पितम्[4] । अग्नीन्द्ररत्नभाभासिप्रोत्तुङ्गमुकुटोद्भुवा[5] ॥३४४॥
चन्दनागुरुकर्पूरपारी[6]काश्मीरजादिभिः[7] । घृतक्षीरादिभिश्चाप्तवृद्धिना हुतभोजिना ॥३४५॥
जगद्गृहस्य सौगन्ध्यं संपाद्याभूतपूर्वकम्[8] । तदाकारोपमर्देन[9] पर्यायान्तरमानयन्[10] ॥३४६॥
अभ्यर्चिताग्निकुण्डस्य गन्धपुष्पादिभिस्तथा । तस्य दक्षिणभागेऽभूद् गणभृत्संस्क्रियानलः ॥३४७॥
तस्यापरस्मिन् दिग्भागे शेषकेवलिकायगः । एवं वह्नित्रयं भूमा अवस्थाप्यामरेश्वराः ॥३४८॥

संकोच कर लिया है इसलिए सम्पूर्ण सभा हाथ जोड़कर बैठी हुई है और ऐसा जान पड़ता है मानो सूर्यास्तके समय निमीलित कमलोसे युक्त सरसी ही हो ॥३३५॥ यह सुनते ही भरत चक्रवर्ती बहुत ही शीघ्र सब लोगोके साथ-साथ कैलास पर्वतपर गया, वहाँ जाकर उसने भगवान् वृषभदेवकी तीन प्रदक्षिणाएँ दी, स्तुति की और भक्तिपूर्वक अपने हाथसे महामह नामकी पूजा करता हुआ वह चौदह दिन तक इसी प्रकार भगवान्की सेवा करता रहा ॥३३६–३३७॥ माघ कृष्ण चतुर्दशीके दिन सूर्योदयके शुभ मुहूर्त और अभिजित् नक्षत्रमें भगवान् वृषभदेव पूर्वदिशाको ओर मुँहकर अनेक मुनियोके साथ-साथ पर्यकासनसे विराजमान हुए, उन्होने तीसरे–सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामके शुक्ल ध्यानसे तीनो योगोका निरोध किया और फिर अन्तिम गुणस्थानमें ठहरकर पाँच लघु अक्षरोके उच्चारण प्रमाण कालमे चौथे व्युपरत क्रिया-निवर्ति नामके शुक्लध्यानसे अघातिया कर्मोका नाश किया। फिर औदारिक, तैजस और कार्मण [illegible] नेसे सिद्धत्वपर्याय प्राप्त कर वे सम्यक्त्व आदि निजके आठ गु[illegible] नुवातवलयमें जा पहुँचे तथा वहाँपर नित्य, निरजन, अपने श[illegible] तल्लीनमे और निरन्तर ससारको देखते हुए विराजमान हुए [illegible] कल्याणककी पूजा करनेकी इच्छासे सब देव लोग अ[illegible] त्रित्र, उत्कृष्ट, मोक्षका साधन, स्वच्छ और निर्मल है" [illegible] विराजमान किया। तदनन्तर जो अग्निकुमार देवोके [illegible] त मुकुटसे उत्पन्न हुई है तथा चन्दन, अगुरु, [illegible] आदिसे बढ़ायी गयी है ऐसी अग्निसे जगत्की [illegible] त [illegible] र नष्ट कर दिया और इस प्रकार उसे दूसरी [illegible] आदिसे जिसकी पूजा की गयी है ऐसे उस [illegible] कार करनेवाली अग्नि स्थापित की और [illegible] अन्य सामान्य केवलियोके शरीरका संस्कार

[illegible] च्छया । ४ याने स्थापितम् । ५ मुकुटोद्भूतेन ।
[illegible] ९ शरीराकारोपमर्दनेन । १० भस्मीभाव चक्रुरित्यर्थः ।

सतां सत्फलसंप्राप्त्यै विहरन् स्वगणैः समम् । चतुर्दशदिनोपेतसहस्राब्दोनपूर्वकम् ॥३२२॥
लक्षं कैलासमासाद्य श्रीसिद्धशिखरान्तरे । पौर्णमासीदिने पौषे[1] निरिच्छः समुपाविशत् ॥३२३॥
तदा भरतराजेन्द्रो महामन्दरभूधरम् । [2]आप्राग्भारं व्यलोकिष्ट स्वप्ने दैर्घ्येण संस्थितम् ॥३२४॥
तदैव युवराजोऽपि[3] स्वर्गादेत्य महौषधिः । द्रुमश्छित्वा नृणां जन्मरोगं स्वर्यान्तमैक्षत[4] ॥३२५॥
कल्पद्रुममभीष्टार्थं दत्त्वा नृभ्यो निरन्तरम् । गृहेट्[5] निशामयामास[6] स्वर्गप्राप्तिसमुद्यतम् ॥३२६॥
रत्नद्वीपं जिघृक्षुभ्यो[7] नानारत्नकदम्बकम् । प्रादायाभ्रगमोद्युक्तमद्राक्षीत् सचिवाग्रिमः ॥३२७॥
वज्रपञ्जरमुद्भिद्य कैलासं गजवैरिणम् । उल्लङ्घयितुमुद्यन्तं सेनापतिमपश्यत ॥३२८॥
आलुलोके बुधो[8]ऽनन्तवीर्यः श्रीमान् जयात्मजः । यान्तं त्रैलोक्यमाभास्य सतारं[9] तारकेश्वरम् ॥३२९॥
यशस्वतीसुनन्दाभ्यां सार्द्धं शक्रमनःप्रिया । शोचन्तीश्चिरमद्राक्षीत सुभद्रा[10] स्वप्नगोचरा ॥३३०॥
वाराणसीपतिश्चित्राङ्गदोऽप्यालोकताकुलः । समुत्पतन्तं भास्वन्तं प्रकाश्य धरणीतलम् ॥३३१॥
[11]एवमालोकितस्वप्ना राजराजपुरस्सराः । पुरोधसं फलं तेषामपृच्छन्नर्यमोदये[12] ॥३३२॥
कर्माणि हत्वा निर्मूलं मुनिभिर्बहुभिः समम् । पुरोः सर्वेऽपि शंसन्ति स्वप्नाः स्वर्गाग्रगामिताम्[13] ॥३३३॥
इति स्वप्नफलं तेषां[14] भाषमाणे पुरोहिते । तदैवानन्दनामैत्य भर्तुः[15] स्थितिमवेदयत् ॥३३४॥
ध्वनौ भगवता दिव्ये संहृते मुकुलीभवन् । कराम्बुजा सभा जाता पूष्णीव[16] सरसीत्यसौ ॥३३५॥

द्वारा खूब ही सीचा ॥३२१॥ इस प्रकार सज्जनोको मोक्षरूपी उत्तम फलकी प्राप्ति करानेके लिए भगवान्‌ने अपने गणधरोके साथ-साथ एक हजार वर्ष और चौदह दिन कम एक लाख पूर्व विहार किया । और जब आयुके चौदह दिन बाकी रह गये तब योगोका निरोध कर पौष मासकी पौर्णमासीके दिन श्रीशिखर और सिद्धशिखरके बीचमे कैलास पर्वतपर जा विराजमान हुए॥३२२ - ३२३॥ उसी दिन महाराज भरतने स्वप्नमें देखा कि महामेरु पर्वत अपनी लम्बाई-से सिद्ध क्षेत्र तक पहुँच गया है ॥३२४॥ उसी दिन युवराज अर्ककीर्तिने भी स्वप्नमे देखा कि एक महौषधिका वृक्ष मनुष्योके जन्मरूपी रोगको नष्ट कर फिर स्वर्गको जा रहा है ॥३२५॥ उसी दिन गृहपतिने देखा कि एक कल्पवृक्ष निरन्तर लोगोके लिए उनकी इच्छानुसार अभीष्ट फल देकर अब स्वर्ग जानेके लिए तैयार हुआ है ॥३२६॥ प्रधानमन्त्रीने देखा कि एक रत्न-द्वीप, ग्रहण करनेकी इच्छा करनेवाले लोगोंको अनेक रत्नोका समूह देकर अब आकाशमें जानेके लिए उद्यत हुआ है ॥३२७॥ सेनापतिने देखा कि एक सिंह वज्रके पिंजड़ेको तोड़कर कैलास पर्वतको उल्लंघन करनेके लिए तैयार हुआ है ॥३२८॥ जयकुमारके विद्वान् पुत्र श्रीमान् अनन्त-वीर्यने देखा कि चन्द्रमा तीनो लोकोको प्रकाशित कर ताराओ सहित जा रहा है ॥३२९॥ सोती हुई सुभद्राने देखा कि यशस्वती और सुनन्दाके साथ बैठी हुई इन्द्राणी बहुत देर तक शोक कर रही है ॥३३०॥ बनारसके राजा चित्रांगदने घबड़ाहटके साथ यह स्वप्न देखा कि सूर्य पृथिवीतलको प्रकाशित कर आकाशकी ओर उड़ा जा रहा है ॥३३१॥ इस प्रकार भरतको आदि लेकर सब लोगोने स्वप्न देखे और सूर्योदय होते ही सबने पुरोहितसे उनका फल पूछा ॥३३२॥ पुरोहितने कहा कि ये सभी स्वप्न कर्मोको बिलकुल नष्ट कर भगवान् वृषभदेवका अनेक मुनियोके साथ-साथ मोक्ष जाना सूचित कर रहे है ॥३३३॥ इस प्रकार पुरोहित उन सबके लिए स्वप्नोका फल कह ही रहा था कि इतनेमें ही आनन्द नामका एक मनुष्य आकर भगवान्‌का सब हाल कहने लगा ॥३३४॥ उसने कहा कि भगवान्‌ने अपनी दिव्यध्वनिका

१ पुण्यमासे । २ पूर्वसिद्धक्षेत्रपर्यन्तम् । ३ अर्ककीर्ति । ४ स्वर्ग गतम् । ५ गृहपतिरत्नम् । ६ ददर्श । ७ गृहीतु-मिच्छुभ्य । ८ बुद्धिमान् । ९ तारकासहितम् । १० स्त्रीरत्नम् । ११ एव विलोकित–ल० । १२ सूर्योदये । १३ मोक्षगामित्वम् । १४ भरतादीनाम् । १५ पुरो. । १६ सूर्ये । इत्यसाववेदयदिति सबन्ध ।

तदाकर्णनमात्रेण सत्वरः सर्वसंगतः । चक्रवर्ती [1] तमभ्येत्य त्रिःपरीत्य कृतस्तुतिः ॥३३६॥
महामहमहापूजां भक्त्या निरवर्तयन्स्वयम् । चतुर्दश दिनान्येवं भगवन्तमसेवत ॥३३७॥
माघकृष्णचतुर्दश्यां भगवान् भास्करोदये । मुहूर्तेऽभिजिति प्राप्तपल्यङ्को मुनिभिः समम् ॥३३८॥
प्राग्दिङ्मुखस्तृतीयेन शुक्लध्यानेन रुद्धवान् । योगत्रितयमन्त्येन ध्यानेनाघातिकर्मणाम् ॥३३९॥
पञ्चह्रस्वस्वरोच्चारणप्रमाणेन संक्षयम् । कालेन विदधत्प्रान्तगुणस्थानमधिष्ठितः ॥३४०॥
शरीरत्रितयापाये प्राप्य सिद्धत्वपर्ययम् । निजाष्टगुणसंपूर्णः क्षणाप्ततनुवातकः ॥३४१॥
नित्यो निरञ्जनः किंचिदूनो देहादमूर्तिभाक् । स्थितः स्वसुखसाद्भूतः पश्यन्विश्वमनारतम् [2] ॥३४२॥
तदागत्य सुराः सर्वे प्रान्तपूजाचिकीर्षया [3] । पवित्रं परमं मोक्षसाधनं शुचिनिर्मलम् ॥३४३॥
शरीरं भर्तुरस्येति परार्ध्यशिबिकार्पितम् [4] । अग्नीन्द्ररत्नभाभासिप्रोत्तुङ्गमुकुटोद्भुवा [5] ॥३४४॥
चन्दनागुरुकर्पूरपारी [6] काश्मीरजादिभिः [7] । घृतक्षीरादिभिश्चाप्तवृद्धिना हुतभोजिना ॥३४५॥
जगद्गृहस्य सौगन्ध्यं संपाद्याभूतपूर्वकम् [8] । तदाकारोपमर्देन [9] पर्यायान्तरमानयन् [10] ॥३४६॥
अभ्यर्चिताग्निकुण्डस्य गन्धपुष्पादिभिस्तथा । तस्य दक्षिणभागेऽभूद् गणभृत्संस्क्रियानलः ॥३४७॥
तस्यापरस्मिन् दिग्भागे शेषकेवलिकायगः । एवं वह्नित्रयं भूमौ अवस्थाप्यामरेश्वराः ॥३४८॥

संकोच कर लिया है इसलिए सम्पूर्ण सभा हाथ जोडकर बैठी हुई है और ऐसा जान पड़ता है मानो सूर्यास्तके समय निमीलित कमलोसे युक्त सरसी ही हो ॥३३५॥ यह सुनते ही भरत चक्रवर्ती बहुत ही शीघ्र सब लोगोंके साथ-साथ कैलास पर्वतपर गया, वहाँ जाकर उसने भगवान् वृषभदेवकी तीन प्रदक्षिणाएँ दी, स्तुति की और भक्तिपूर्वक अपने हाथसे महामह नामकी पूजा करता हुआ वह चौदह दिन तक इसी प्रकार भगवान्की सेवा करता रहा ॥३३६–३३७॥ माघ कृष्ण चतुर्दशीके दिन सूर्योदयके शुभ मुहूर्त और अभिजित् नक्षत्रमे भगवान् वृषभदेव पूर्वदिशाको ओर मुँहकर अनेक मुनियोके साथ-साथ पर्यंकासनसे विराजमान हुए, उन्होने तीसरे–सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामके शुक्ल ध्यानसे तीनो योगोका निरोध किया और फिर अन्तिम गुणस्थानमे ठहरकर पाँच लघु अक्षरोके उच्चारण प्रमाण कालमे चौथे व्युपरत क्रिया-निवर्ति नामके शुक्लध्यानसे अघातिया कर्मोका नाश किया। फिर औदारिक, तैजस और कार्मण इन तीनो शरीरोके नाश होनेसे सिद्धत्वपर्याय प्राप्त कर वे सम्यक्त्व आदि निजके आठ गुणोसे युक्त हो क्षण भरमे ही तनुवातवलयमे जा पहुँचे तथा वहाँपर नित्य, निरंजन, अपने शरीरसे कुछ कम, अमूर्त, आत्मसुख तल्लीनमे और निरन्तर ससारको देखते हुए विराजमान हुए ॥३३८–३४२॥ उसी समय मोक्ष-कल्याणककी पूजा करनेकी इच्छासे सब देव लोग आये उन्होने "यह भगवान्का शरीर पवित्र, उत्कृष्ट, मोक्षका साधन, स्वच्छ और निर्मल है" यह विचारकर उसे बहुमूल्य पालकीमे विराजमान किया। तदनन्तर जो अग्निकुमार देवोके इन्द्रके रत्नोकी कान्तिसे देदीप्यमान उन्नत मुकुटसे उत्पन्न हुई है तथा चन्दन, अगुरु, कपूर, केशर आदि सुगन्धित पदार्थों और घी दूध आदिसे बढ़ायी गयी है ऐसी अग्निसे जगत्की अभूतपूर्व सुगन्धि प्रकट कर उसका वर्तमान आकार नष्ट कर दिया और इस प्रकार उसे दूसरी पर्याय प्राप्त करा दी ॥३४३–३४६॥ गन्ध, पुष्प आदिसे जिसकी पूजा की गयी है ऐसे उस अग्निकुण्डके दाहिनी ओर गणधरोके शरीरका संस्कार करनेवाली अग्नि स्थापित की और बाँयी ओर तीर्थंकर तथा गणधरोसे अतिरिक्त अन्य सामान्य केवलियोके शरीरका सस्कार

---

१ जिनम् । २ लोकालोकम् । ३ निर्वाणपूजा कर्तुमिच्छया । ४ याने स्थापितम् । ५ मुकुटोदभूतेन । ६ कर्पूरमणि । ७ कुकुमादिभिः । ८ पूर्वस्मिन्नजातम् । ९ शरीराकारोपमर्दनेन । १० भस्मीभाव चक्रुरित्यर्थः ।

ततो भस्म समादाय पञ्चकल्याणभागिनः । वयं चैवं भवामेति स्वललाटे भुजद्वये ॥३४९॥
कण्ठे हृदयदेशे च तेन[1] संस्पृश्य भक्तितः । [2]तत्पवित्रतमं मत्वा धर्मरागरसाहिताः ॥३५०॥
तोषाद् संपादयामासुः संभूयानन्दनाटकम् । सप्तमोपासकाद्यास्ते सर्वेऽपि ब्रह्मचारिणः ॥३५१॥
गार्हपत्याभिधं पूर्वं परमाहवनीयकम् । दक्षिणाग्निं ततो न्यस्य[3] संध्यासु तिसृषु स्वयम् ॥३५२॥
तच्छिखित्रयसांनिध्ये चक्रमातपवारणम् । जिनेन्द्रप्रतिमाश्चैवा[4] स्थाप्य मन्त्रपुरस्सरम् ॥३५३॥
तास्त्रिकालं समभ्यर्च्य गृहस्थैर्विहितादराः । भवतातिथयो[5] यूयमित्याचख्युरुपासकान् ॥३५४॥
स्नेहेनेष्टवियोगोत्थः प्रदीप्तः शोकपावकः । तदा प्रबुद्धमप्यस्य[6] [7]चेतोऽधाक्षीद्दर्धीशितुः ॥३५५॥
गणी वृषभसेनाख्यस्तच्छोकापनिनीषया[8] । प्राक्रस्त[9] वक्तुं सर्वेषां स्वेषां व्यक्तां भवावलीम् ॥३५६॥
जयवर्मा भवे पूर्वे द्वितीयेऽभून्महाबलः । तृतीये ललिताङ्गाख्यो वज्रजङ्घश्चतुर्थके ॥३५७॥
पञ्चमे भोगभूजोऽभूत् षष्ठेऽयं श्रीधरोऽमरः । सप्तमे सुविधिः क्ष्माभृदष्टमेऽच्युतनायकः ॥३५८॥
नवमे वज्रनाभीशो दशमेऽनुत्तरान्त्यजः[10] । ततोऽवतीर्य सर्वेन्द्रवन्दितो वृषभोऽभवत् ॥३५९॥
धनश्रीरादिमे जन्मन्यतो निर्नामिका ततः । स्वयंप्रभा ततस्तस्माच्छ्रीमत्यार्या ततोऽभवत् ॥३६०॥
स्वयंप्रभः सुरस्तस्मादस्मादपि च केशवः । ततः प्रतीन्द्रस्तस्माच्च धनदत्तोऽहमिन्द्रताम् ॥३६१॥
गतस्ततस्ततः श्रेयान् दानतीर्थस्य नायक. । आश्चर्यपञ्चकस्यापि प्रथमोऽभूत् प्रवर्त्तकः ॥३६२॥

करनेवाली अग्नि स्थापित की, इस प्रकार इन्द्रोंने पृथिवीपर तीन प्रकारकी अग्नि स्थापित की। तदनन्तर उन्ही इन्द्रोने पचकल्याणकको प्राप्त होनेवाले श्री वृषभदेवके शरीरकी भस्म उठायी और 'हम लोग भी ऐसे ही हो' यही सोचकर वडी भक्तिसे अपने ललाटपर दोनों भुजाओमे, गलेमे और वक्ष स्थलमे लगायी। वे सब उस भस्मको अत्यन्त पवित्र मानकर धर्मानुरागके रससे तन्मय हो रहे थे ॥३४७–३५०॥ सबने मिलकर बडे सन्तोपसे आनन्द नामका नाटक किया और फिर श्रावकोको उपदेश दिया कि 'हे सप्तमादि प्रतिमाओको धारण करनेवाले सभी ब्रह्मचारियो, तुम लोग तीनो सन्ध्याओमे स्वयं गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि इन तीन अग्नियोकी स्थापना करो, और उनके समीप ही धर्मचक्र, छत्र तथा जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाओकी स्थापना कर तीनो काल मन्त्रपूर्वक उनकी पूजा करो। इस प्रकार गृहस्थोके द्वारा आदर-सत्कार पाते हुए अतिथि बनो' ॥३५१–३५४॥

इधर उस समय इष्टके वियोगसे उत्पन्न हुई और स्नेहसे प्रज्वलित हुई शोकरूपी अग्नि भरतके प्रबुद्ध चित्तको भी जला रही थी ॥३५५॥ जब भरतका यह हाल देखा तब वृषभसेन गणधर भरतका शोक दूर करनेकी इच्छासे अपने सब लोगोके पूर्वभव स्पष्ट रूपसे कहने लगे ॥३५६॥ उन्होने कहा कि वृषभदेवका जीव पहले भवमे जयवर्मा था, दूसरे भवमे महाबल हुआ, तीसरे भवमे ललितागदेव और चौथे भवमे राजा वज्रजघ हुआ। पाँचवे भवमे भोगभूमिका आर्य हुआ। छठवे भवमे श्रीधरदेव हुआ, सातवें भवमें सुविधि राजा हुआ। आठवे भवमे अच्युतेन्द्र हुआ, नौवे भवमे राजा वज्रनाभि हुआ, दशवे भवमे सर्वार्थसिद्धिमें अहमिन्द्र हुआ और वहाँसे आकर सब इन्द्रोके द्वारा वन्दनीय वृषभदेव हुआ है ॥३५७–३५९॥ श्रेयान्‌का जीव पहले भवमे धनश्री था, दूसरे भवमे निर्नामिका, तीसरे भवमे स्वयप्रभा देवी, चौथे भवमे श्रीमती, पाँचवें भवमे भोगभूमिकी आर्या, छठवे भवमे स्वयप्रभदेव, सातवे भवमे केशव, आठवे भवमे अच्युतस्वर्गका प्रतीन्द्र, नौवे भवमे धनदत्त, दशवे भवमे अहमिन्द्र हुआ और वहाँसे

---

१ भस्मना। २ भस्म। ३ संस्थाप्य। ४ चावस्थाप्य ल०, प०, इ०, स०। ५ पात्रतयाभीक्षका। ६ चक्रिणः। ७ दहति स्म। ८ भरतस्य शोकमपनेतुमिच्छया। ९ प्रारभते स्म। १० सर्वार्थसिद्धिज.।

अतिगृद्धः पुरा पश्चान्नारकोऽनु चमूरकः[1]। दिवाकरप्रभो देवस्तथा मतिवराह्वयः ॥३६३॥
ततोऽहमिन्द्रस्तस्माच्च सुवाहुरहमिन्द्रताम्। प्राप्य त्वं भरतो जातः षट्खण्डाखण्डपालकः ॥३६४॥
आद्यः सेनापतिः पश्चादार्यस्तस्मात्प्रभंकरः। ततोऽकम्पनभूपालः कल्पातीतस्ततस्ततः ॥३६५॥
महावाहुस्ततश्चाभूदहमिन्द्रस्ततश्च्युतः। एव वाहुवली जातो जातापूर्वमहोदयः ॥३६६॥
मन्त्री प्राग्[2] भोगभूजोऽनु सुरोऽनु कनकप्रभः। आनन्दोऽन्वहमिन्द्रोऽनु ततः पीठाह्वयस्ततः ॥३६७॥
अहमिन्द्रोऽग्रिमोऽभूवमहमद्य गणाधिपः। पुरोहितस्ततश्चार्यो वभूवास्मत्प्रभञ्जनः ॥३६८॥
धनमित्रस्ततस्तस्मादहमिन्द्रस्ततश्च्युतः। महापीठोऽहमिन्द्रोऽस्मादनन्तविजयोऽभवत् ॥३६९॥
उग्रसेनश्चमूरोऽतो भोगभूमिसमुद्भवः। ततश्चित्राङ्गदस्तस्माद् वरदत्तः सुरो जयः ॥३७०॥
ततो गत्वाऽहमिन्द्रोऽभूत्तस्माच्चागत्य भूतलम्। महासेनोऽभवत् कर्ममहासेनाजयोर्जितः ॥३७१॥
हरिवाहननामाद्यो वराहार्यस्ततोऽभवत्। मणिकुण्डल्यतस्तस्माद् वरसेनः सुरोत्तमः ॥३७२॥
ततोऽस्माद् विजयस्तस्मादहमिन्द्रो दिवश्च्युतः। अजनिष्ट विशिष्टेष्टः श्रीषेणः सेवितः श्रिया ॥३७३॥
नागदत्तस्ततो वानरार्योऽस्माच्च मनोहरः। देवश्चित्रांगदस्तस्मादभूत् सामानिकः सुरः ॥३७४॥
ततश्च्युतो जयन्तोऽभूदहमिन्द्रस्ततस्ततः। महीतलं समासाद्य गुणसेनोऽभवद् गणी ॥३७५॥

आकर दानतीर्थका नायक तथा पंचाश्चर्यकी सबसे पहले प्रवृत्ति करानेवाला राजा श्रेयान् हुआ है ॥३६०–३६२॥ तेरा जीव पहले भवमे अतिगृद्ध नामका राजा था, दूसरे भवमे नारकी हुआ, तीसरे भवमे शार्दूल हुआ, चौथे भवमे दिवाकरप्रभदेव हुआ, पाँचवे भवमें मतिवर हुआ, छठवे भवमे अहमिन्द्र हुआ, सातवे भवमे सुवाहु हुआ, आठवे भवमे अहमिन्द्र हुआ और नौवे भवमें छह खण्ड पृथिवीका अखण्ड पालन करनेवाला भरत हुआ है ॥३६३–३६४॥ वाहुवलीका जीव पहले सेनापति था, फिर भोगभूमिमे आर्य हुआ। उसके वाद प्रभकर देव हुआ, तदनन्तर अकपन हुआ, उसके पश्चात् अहमिन्द्र हुआ, फिर महावाहु हुआ, फिर अहमिन्द्र हुआ और अव उसके वाद अपूर्व महा उदयको धारण करनेवाला वाहुवली हुआ है ॥३६५–३६६॥ मैं पहले भवमे राजा प्रीतिवर्धनका मत्री था, उसके वाद भोग-भूमिका आर्य हुआ, फिर कनकप्रभ देव हुआ, उसके पश्चात् आनन्द हुआ, फिर अहमिन्द्र हुआ, वहाँसे आकर पीठ हुआ, फिर सर्वार्थ-सिद्धिका अहमिन्द्र हुआ और अव भगवान् वृषभदेवका गणधर हुआ हूँ। अनन्तविजयका जीव सबसे पहले पुरोहित था, फिर भोगभूमिका आर्य हुआ, उसके वाद प्रभंजन नामका देव हुआ, फिर धनमित्र हुआ, उसके पश्चात् अहमिन्द्र हुआ, उसके अनन्तर महापीठ हुआ, फिर अहमिन्द्र हुआ और अव अनन्तविजय गणधर हुआ है ॥३६७–३६९॥ महासेन पहले भवमे उग्रसेन था, दूसरे भवमे शार्दूल हुआ, तीसरे भवमे भोगभूमिका आर्य हुआ, चौथे भवमे चित्राङ्गद देव हुआ, पाँचवे भवमें वरदत्त राजा हुआ, छठे भवमे देव हुआ, सातवे भवमे जय हुआ, वहाँसे चलकर आठवे भवमें अहमिन्द्र हुआ और नौवे भवमे वहाँसे पृथिवीपर आकर कर्मरूपी महासेनाको जीतनेमें अत्यन्त वलवान् महासेन हुआ है ॥३७०–३७१॥ श्रीषेणका जीव पहले भवमे हरिवाहन था, दूसरे भवमे वराह हुआ, तीसरे भवमें भोगभूमिका आर्य हुआ, चौथे भवमें मणिकुण्डली देव हुआ, पाँचवे भवमे वरसेन नामका राजा हुआ, छठवे भवमे उत्तम देव हुआ, सातवे भवमे विजय हुआ, आठवे भवमे अहमिन्द्र हुआ और नौवे भवमें अतिशय पूज्य तथा लक्ष्मीसे सेवित श्रीषेण हुआ है ॥३७२–३७३॥ गुणसेनका जीव पहले नागदत्त था, फिर वानर हुआ, उसके वाद भोगभूमिका आर्य हुआ, फिर मनोहर नामका देव हुआ, उसके पश्चात् चित्राङ्गद नामका राजा हुआ, फिर सामानिक देव हुआ, वहाँसे च्युत होकर

१ व्याघ्र। २ पूर्वभवे।

लोलुपो नकुलार्योऽस्मादेतस्मात्समनोरथः । ततोऽपि शान्तमदनस्ततः सामानिकामरः ॥३७६॥
राजाऽपराजितस्तस्मादहमिन्द्रस्ततोऽजनि । ततो ममानुजो जातो जयसेनोऽयमूर्जितः ॥३७७॥

शार्दूलविक्रीडितम्

इत्यस्मिन्भवसंकटे भवभृतः स्वेष्टैरनिष्टैस्तथा,
संयोगः सहसा वियोगचरमः सर्वस्य नन्वीदृशम् ।
त्वं जानन्नपि किं विषण्णहृदयो विश्लिष्टकर्माष्टको
निर्वाणं भगवानवापदतुलं तोषे विषादः कुतः ॥३७८॥

मालिनी

वयमपि[1] चरमाङ्गाः संगमाच्छुद्धबुद्धेः
सकलमलविलोपापादितात्मस्वरूपाः ।
निरुपमसुखसारं चक्रवर्तिस्तदीयं[2]
पदमचिरतरेण प्राप्नुमोऽ[3]नाप्यमन्यैः ॥३७९॥

हरिणी

भवतु सुहृदां मृत्यौ शोकः शुभाशुभकर्मभिः
भवति हि स[4] चेत्तेषामस्मिन्[5]पुनर्जननाग्रहः ।
विनिहतभवे प्रार्थ्ये तस्मिन्[6] स्वयं समुपागते
कथमयमहो धीमान् कुर्याच्छुचं यदि नो रिपुः ॥३८०॥

वसन्ततिलका

अष्टापि दुष्टरिपवोऽस्य समूलतूल[7]
नष्टा गुणैर्गुरुभिरष्टभिरेष जुष्टः[8] ।
किं नष्टमत्र निधिनाथ जहीहि मोहं
[9]सन्धेहि शोकविजयाय धियं विशुद्धाम् ॥३८१॥

जयन्त हुआ, फिर अहमिन्द्र हुआ और अब वहांसे पृथिवीपर आकर गुणसेन नामका गणधर हुआ है ॥३७४--३७५॥ जयसेनका जीव पहले लोलुप नामका हलवाई था, फिर नेवला हुआ, उसके बाद भोगभूमिका आर्य हुआ, फिर मनोरथ नामका देव हुआ, उसके पश्चात् राजा शान्तमदन हुआ, फिर सामानिक देव हुआ, तदनन्तर राजा अपराजित हुआ, फिर अहमिन्द्र हुआ और अब मेरा छोटा भाई अतिशय बलवान् जयसेन हुआ है ॥३७६--३७७॥ श्री वृषभसेन गणधर चक्रवर्ती भरतसे कह रहे है कि इस संसाररूपी सकटमे इसी प्रकार सब प्राणियोंको इष्ट-अनिष्ट वस्तुओका सगम होता है और अन्तमे अकस्मात् ही उसका नाश हो जाता है, तू यह सब जानता हुआ भी इतना खिन्नहृदय क्यो हो रहा है ? भगवान् वृषभदेव तो आठो कर्मोको नष्ट कर अनुपम मोक्षस्थानको प्राप्त हुए है फिर भला ऐसे सन्तोषके स्थानमें विषाद क्यो करता है ? ॥३७८॥ हे चक्रवर्तिन्, हम सब लोग भी चरमशरीरी है, शुद्ध बुद्धिको धारण करनेवाले भगवान्के समागमसे सम्पूर्ण कर्ममलको नष्ट कर आत्मस्वरूपको प्राप्त हुए है और अनुपम सुखसे श्रेष्ठ तथा अन्य मिथ्यादृष्टियोके दुर्लभ उन्ही भगवान्के पदको हम लोग भी बहुत शीघ्र प्राप्त करेगे ॥३७९॥ इष्ट मित्रोकी मृत्यु होनेपर शोक हो सकता है क्योकि उनकी वह मृत्यु शुभ अशुभ कर्मोसे होती है और फिर भी इस ससारमे उनका जन्म करानेवाली होती है, परन्तु जिसने ससारका नाश कर दिया है और निरन्तर जिसकी प्रार्थना की जाती है ऐसा सिद्ध पद यदि स्वय प्राप्त हो जावे तो इस बुद्धिमान् मनुष्यको यदि वह शत्रु नही है तो शोक कैसे करना चाहिए ? भावार्थ--हर्षके स्थानमे शत्रुको ही शोक होता है, मित्रको नही होता इसलिए तुम सबको आनन्द मानना चाहिए न कि शोक करना चाहिए ॥३८०॥ हे निधिपते, भगवान् वृषभदेवके आठो ही दुष्ट शत्रु जड और शाखासहित बिलकुल

---

१ वृषभसेनभरतादय । २ पुरो. सम्बन्धि । ३ अप्रापणीयम् । ४ मृत्यु । ५ संसारे । ६ मृत्यौ । ७ कारण-सहितम् । ८ सेवित । ९ सम्यग् धारय ।

देहच्युतौ यदि गुरोर्गुरु[1] शोचसि त्वं
[2]तं [3]भस्मसात्कृतिमवाप्य[4] विवृद्धरागाः।
प्राग्जन्मनोऽपि[5] [6]परिकर्मकृतोऽस्य[7] कस्मा-
दानन्दनृत्तमधिकं विदधुर्द्युनाथाः ॥३८२॥

शार्दूलविक्रीडितम्

नेक्षे विश्वदृशं शृणोमि न वचो दिव्यं तदङ्घ्रिद्वये
नम्रस्तन्नखभाविभासिमुकुटं[8] कर्तुं लभे नाधुना।
तस्मात् स्नेहवशोऽस्म्यहं बहुतरं शोकीति चेदस्त्विदं
किन्तु भ्रान्तिरियं व्यतीतविषयप्राप्त्यै भवत्प्रार्थना ॥३८३॥

वसन्ततिलका

त्रिज्ञानधृत्[9] त्रिभुवनैकगुरुर्गुरुस्ते
स्नेहेन मोहविहितेन[10] विनाशयेः किम्।
स्वोदात्ततां[11] शतमखस्य न लज्जसे किं
तस्मात्त्वं[12] प्रथममुक्तिगतिं न वेत्सि[13] ॥३८४॥

शार्दूलविक्रीडितम्

इष्टं किं किमनिष्टमत्र वितथं संकल्प्य जन्तुर्जडः
किंचिद्द्वेष्ट्यपि वष्टि[14] किंचिदनयोः कुर्यादपि व्यत्ययम्।
[15]तेनैनोऽनुगतिस्ततो[16] भवने भव्योऽप्यभव्योपमो
भ्राम्यत्येष कुमार्गवृत्तिरधनो[17] वाऽऽतङ्कभीदुःखितः ॥३८५॥

ही नष्ट हो गये है और अब वे आठ बडे-बडे गुणोसे सेवित हो रहे है, भला, इसमे क्या हानि हो गयी ? इसलिए अब तू मोह छोड़ और शोकको जीतनेके लिए विशुद्ध बुद्धिको धारण कर ॥३८१॥ पूज्य पिताजीका शरीर छूट जानेसे यदि तू इतना अधिक शोक करता है तो बतला, जन्मसे पहले ही उनकी सेवा करनेवाले और बढे हुए अनुरागको धारण करनेवाले ये देव लोग भगवान्के शरीरको भस्म कर इतना अधिक आनन्द नृत्य क्यों कर रहे है ? भावार्थ – ये देव लोग भी भगवान्से अधिक प्रेम रखते थे जन्मसे पहले ही उनकी सेवामें तत्पर रहते थे फिर ये उनके शरीरको जलाकर क्यों आनन्द मना रहे है इससे मालूम होता है कि भगवान्का शरीर छूट जाना दु खका कारण नही है तू व्यर्थ ही क्यो शोक कर रहा है ? ॥३८२॥ कदाचित् तू यह कहेगा कि 'अब मै उनके दर्शन नही कर रहा हूँ, उनके दिव्य वचन नही सुन रहा हूँ, और उनके दोनों चरणोमे नम्र होकर उनके नखोंकी कान्तिसे अपने मुकुटको देदीप्यमान नही कर पाता हूँ, इसलिए ही स्नेहके वशसे आज मुझे बहुत शोक हो रहा है तो तेरा यह कहना ठीक है परन्तु बीती हुई वस्तुके लिए प्रार्थना करना तेरी भूल ही है ॥३८३॥ हे भरत, तेरे पिता तो तीनो लोकोंके अद्वितीय गुरु थे और तू भी तीन ज्ञानोका धारक है फिर इस मोहजात स्नेह-से अपनी उत्तमता क्यो नष्ट कर रहा है ? क्या तुझे ऐसा करते हुए इन्द्रसे लज्जा नही आती ? अथवा क्या तू यह नहीं समझता है कि मैं इन्द्रसे पहले ही मोक्षको प्राप्त हो जाऊँगा ? ॥३८४॥ इस ससारमे क्या इष्ट है ? क्या अनिष्ट है ? फिर भी यह मूर्ख प्राणी व्यर्थ ही संकल्प कर किसीसे द्वेष करता है, किसीको चाहता है और कभी दोनोको उलटा समझ लेता है, इसलिए ही इसके पापकी परम्परा चलती रहती है और इसलिए ही यह भव्य होकर भी

१ बहल यथा भवति तथा। २ देहम्। ३ भस्माधीनम्। ४ नीत्वा। ५ उत्पत्तेरादावपि। ६ परिचर्याकरा। ७ वृषभस्य। ८ तस्य नखकान्त्या भासत इति। ९ भो त्रिज्ञानधारिन् भरत। १० अज्ञानकृतेन। ११ भवदुदात्तत्वम्। १२ शतमखात्। १३ न जानासि किम्। १४ वाञ्छति। १५ कारणेन। १६ पापानुगति.। १७ निर्धन इव।

भव्यस्यापि भवोऽभवद् भवगतः[1] कालादिलब्धेर्विना
कालोऽनादिरचिन्त्यदुःखनिचितो धिक् धिक् स्थितिं संसृतेः ।
इत्येतद्विदुषाऽत्र[2] [3]नोच्यमथवा नैतच्च यद्देहिनां
भव्यत्वं बहुधा महीश सहजा वस्तुस्थितिस्तादृशी ॥३८६॥

उपजाति

गतानि संबन्धशतानि जन्तोरनन्तकालं परिवर्तनेन
[4]नावेहि किं त्वं हि विबुद्धविश्वो वृथैव मुह्येः [5]किमिहेतरो वा ॥३८७॥

अनुष्टुप्

कर्मभिः कृतमस्यापि न स्थास्नु त्रिजगत्पतेः । शरीरादि ततस्त्याज्यं मन्वते तन्मनीषिणः ॥३८८॥
प्रागक्षिगोचरः संप्रत्येष चेतसि वर्तते । भगवांस्तत्र कः शोकः पश्यैनं तत्र सर्वदा ॥३८९॥

मालिनी

इति मनसि यथार्थं चिन्तयन् शोकवह्निं
शमय विमलबोधाम्भोभिरित्याबभाषे ।
गणभृदथ स चक्री दावदग्धो महीध्रो
नवजलदजलैर्वा तद्वचोभिः प्रशान्तः ॥३९०॥

वसन्ततिलका

चिन्तां व्यपास्य गुरुशोककृतां गणेश-
मानम्य नम्रमुकुटो निकटात्मबोधिः ।
निन्दन्नितान्तनितरां निजभोगतृष्णां
मोक्षोष्णकः[6] स्वनगरं व्यविशद् विभूत्या ॥३९१॥

अभव्यकी तरह दुखी, निर्धन, कुमार्गमे प्रवृत्ति करनेवाला और रोगोसे भयभीत होता हुआ इस संसाररूपी वनमे भ्रमण करता रहता है ॥३८५॥ काल आदि लब्धियोके विना पूज्य भव्य जीवको भी संसारमे रहना पडता है, यह काल अनादि है तथा अचिन्त्य दुखोसे भरा हुआ है इसलिए संसारकी इस स्थितिको बार-बार धिक्कार हो, यही सव समझ विद्वान् पुरुषको इस संसारमे शोक नही करना चाहिए अथवा जीवोका यह भव्यत्वपना भी अनेक प्रकारका होता है। हे राजन्, वस्तुका सहज स्वभाव ही ऐसा है ॥३८६॥ हे भरत, तू तो संसारका स्वरूप जाननेवाला है, क्या तू यह नही जानता कि अनन्त कालसे परिवर्तन करते रहनेके कारण इस जीवके सैकडों सम्वन्ध हो चुके है ? फिर क्यो अज्ञानीकी तरह व्यर्थ ही मोहित होता है ॥३८७॥ तीनों लोकोके अधिपति भगवान् वृषभदेवका शरीर भी तो कर्मोके द्वारा किया हुआ है इसलिए वह भी स्थायी नहीं है और इसलिए ही विद्वान् लोग उसे हेय समझते है ॥३८८॥ जो भगवान् पहले आँखोसे दिखायी देते थे वे अव हृदयमें विद्यमान है इसलिए इसमे शोक करनेकी क्या वात है ? तू उन्हे अपने चित्तमें सदा देखता रह ॥३८९॥ इस प्रकार मनमें वस्तुके यथार्थ स्वरूपका चिन्तवन करता हुआ तू निर्मल ज्ञानरूपी जलसे शोकरूपी अग्नि शान्त कर, ऐसा गणधर वृषभसेनने कहा तव चक्रवर्ती भी जिस प्रकार दावानलसे जला हुआ पर्वत नवीन वादलोके जलसे शान्त हो जाता है उसी प्रकार उनके वचनोसे शान्त हो गया ॥३९०॥ जिसे आत्मज्ञान शीघ्र होनेवाला है और जिसका मुकुट नम्रभूत हो रहा है ऐसे भरतने पिताके शोकसे उत्पन्न हुई चिन्ता छोड़कर गणधरदेवको नमस्कार किया और अत्यन्त वढी हुई अपनी भोगविषयक तृष्णाकी निन्दा करते हुए तथा मोक्षके लिए शीघ्रता करते हुए उसने वडे वैभवके साथ अपने नगरमें प्रवेश किया ॥३९१॥

१ संसारानुगत । २ ससारे । ३ शोकविषयम् । ४ अन्य अज्ञ इवेत्यर्थः । ५ चेतसि । ६ मुक्त्युद्योगे दक्ष. । 'दक्षे तु चतुरपेशलपटवः । सूत्थान उष्णश्च' इत्यभिधानात् शीघ्रकारी वर्ग' । मोक्षोत्सुक. ल० ।

द्रुतविलम्बितम्

अथ कदाचिदसौ वदनाम्बुजं
समभिवीक्ष्य समुज्ज्वलदर्पणे ।
पलितमैक्षत दूतमिवागतं
परमसौख्यपदात् पुरुसंनिधेः ॥३९२॥

वसन्ततिलका

आलोक्य तं गलितमोहरसः स्वराज्यं
मत्वा जरत्तृणमिवोद्गतबोधिरुद्यन्[1] ।
आदातुमात्महितमात्मजमर्ककीर्तिं
लक्ष्म्या स्वया स्वयमयोजयदूर्जितेच्छः ॥३९३॥

मालिनी

विदितसकलतत्त्वः सोऽपवर्गस्य मार्गं
[2]जिगमिषुरपसत्त्वैर्दुर्गमं[3] निष्प्रयासम् ।
[4]यमसमितिसमग्रं संयमं शम्बलं[5] वा-
ऽदित[6] विदितसमर्थाः[7] किं परं प्रार्थयन्ते ॥३९४॥

भुजङ्गप्रयातम्

मनःपर्ययज्ञानमप्यस्य सद्यः
समुत्पन्नवत्[8] केवलं चानु[9] तस्मात्[10] ।
तदैवाभवद् भव्यता तादृशी सा
विचित्राङ्गिनां निर्वृतेः प्राप्तिरत्र ॥३९५॥
स्वदेशोद्भवैरेव[11] सपूजितोऽसौ
सुरेन्द्रादिभिः सांप्रतं वन्द्यमानः ।
त्रिलोकाधिनाथोऽभवत् किं न साध्यं
तपो दुष्करं चेत् समादातुमीशः[12] ॥३९६॥

अथानन्तर भरत महाराजने किसी समय उज्ज्वल दर्पणमें अपना मुखकमल देखकर परम सुखके स्थान स्वरूप भगवान् वृषभदेवके पाससे आये हुए दूतके समान सफेद वाल देखा ॥३९२॥ उसे देखकर जिनका सब मोहरस गल गया है, जिन्हे आत्मज्ञान उत्पन्न हुआ है, जो आत्महितको ग्रहण करनेके लिए उद्युक्त है और जिनकी वैराग्यविषयक इच्छा अत्यन्त सुदृढ तथा वृद्धिशील है ऐसे भरतने अपने राज्यको जीर्णतृणके समान मानकर अपने पुत्र अर्ककीर्तिको अपनी लक्ष्मीसे युक्त किया अर्थात् अपनी समस्त सम्पत्ति अर्ककीर्तिको प्रदान करदी ॥३९३॥ जिसने समस्त तत्त्वोको जान लिया है और जो हीन जीवोंके द्वारा अगम्य मोक्षमार्गमें गमन करना चाहते है ऐसे चक्रवर्ती भरतने मार्ग हितकारी भोजनके समान प्रयासहीन यम तथा समितियोसे पूर्ण सयमको धारण किया था सो ठीक ही है क्योंकि पदार्थके यथार्थ स्वरूपको समझनेवाले पुरुष सयमके सिवाय अन्य किसी पदार्थकी प्रार्थना करते है ? ॥३९४॥ उन्हे उसी समय मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया और उसके वाद ही केवलज्ञान प्रकट हो गया । उनकी वैसी भव्यता उसी समय प्रकट हो गयी सो ठीक ही है क्योंकि प्राणियोको मोक्षकी प्राप्ति बड़ी विचित्र होती है ॥३९५॥ जो भरत पहले अपने देशमे उत्पन्न हुए राजाओसे ही पूजित थे वे अब इन्द्रोके द्वारा भी वन्दनीय हो गये । इतना ही नही, तीन लोकके स्वामी भी हो गये सो ठीक ही है जो कठिन तपश्चरण ग्रहण करनेके लिए समर्थ रहता है उसे क्या-क्या वस्तु साध्य

---

१ उद्यमान । २ गन्तुमिच्छु । ३ अपगतवलैः । ४ मूलगुणसमूह । ५ पाथेयमिव । ६ स्वीकृतवान् । ७ ज्ञात-समीचीनार्थाः । ज्ञातार्थक्रियासमर्था वा । ८ समुद्भूतम् । ९ पश्चात् । १० सयमात् । ११ षट्खण्डजैः । १२ समर्थः ।

मालिनी

परिचितयतिहंसो[1] धर्मवृष्टिं निषिञ्चन्
नभसि कृतनिवेशो निर्मलस्तुङ्गवृत्तिः ।
फलमविकलमग्र्यं भव्यसस्येपु कुर्वन्
व्यहरदखिलदेशान् शारदो वा स मेघः ॥३९७॥

पृथ्वी

विहृत्य सुचिरं[2] विनेयजनतोपकृत्स्वायुषो,
मुहूर्तपरिमास्थितौ[3] विहितसत्क्रियो विच्युतौ ।
तनुत्रितयबन्धनस्य गुणसारमूर्त्तिः स्फुरन्
जगत्त्रयशिखामणिः सुखनिधिः स्वधाम्नि स्थितः ॥३९८॥

वसन्ततिलका

सर्वेऽपि ते वृषभसेनमुनीशमुख्याः
सौख्यं[4] गताः सकलजन्तुपु शान्तचित्ताः ।
कालक्रमेण यमशीलगुणाभिपूर्णा
निर्वाणमापुरमितं गुणिनो गणीन्द्राः ॥३९९॥

शार्दूलविक्रीडितम्

यो नेतेव[5] पृथुं जघान दुरितारातिं चतुस्साधनो[6]
येनाप्तं कनकाश्मनेव विमलं रूपं स्वमाभास्वरम्[7] ।
आभेजुश्चरणौ सरोजजयिनौ यस्यालिनो वाऽमरा-
स्तं त्रैलोक्यगुरुं पुरुं श्रितवतां श्रेयांसि वः स क्रियात् ॥४००॥

शार्दूलविक्रीडितम्

योऽभूत्पञ्चदशो विभुः कुलभृतां तीर्थेशिनां चाग्रिमो
दृष्टो येन मनुष्यजीवन[8]विधिर्मुक्तेश्च मार्गो महान् ।
बोधो[9] रोधविमुक्तवृत्तिरखिलो यस्योदपाद्यन्तिमः[10]
स श्रीमान् जनकोऽखिलावनिपतेराद्यः[11] स दद्याच्छ्रियम् ॥४०१॥

नही है अर्थात् सभी वस्तुएँ उसे साध्य है ॥३९६॥ मुनिरूपी हंस जिनसे परिचित है, जो धर्म-की वर्षा करते रहते है, जो आकाशमे निवास करते है, निर्मल है, उत्तमवृत्तिवाले है (पक्षमें ऊँचे स्थानपर विद्यमान रहते है) और जो भव्य जीवरूपी धानोमें मोक्षरूपी पूर्ण फल लगानेवाले है ऐसे भरत महाराजने शरद् ऋतुके मेघके समान समस्त देशोमें विहार किया ॥३९७॥ चिरकाल तक विहार कर जिन्होने शिक्षा देने योग्य जनसमूहका बहुत भारी कल्याण किया है ऐसे भरत महाराजने अपनी आयुकी अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण स्थिति वाकी रहनेपर योगनिरोध किया और औदारिक, तैजस तथा कार्माण इन तीन शरीररूप बन्धनोके नष्ट होनेपर सम्यक्त्व आदि सारभूत गुण ही जिनकी मूर्ति रह गयी है, जो प्रकाशमान है, जगत्त्रयके चूडामणि है और सुखके भाण्डार है ऐसे वह भरतेश्वर आत्मधाममे स्थित हो गये अर्थात् मोक्षको प्राप्त हो गये ॥३९८॥ जो समस्त जीवोके विषयमें शान्तचित्त है, उत्तम सुखको प्राप्त है, यम शील आदि गुणोसे पूर्ण है, गुणवान् है और गण अर्थात् मुनिसमूहके इन्द्र है ऐसे वृषभसेन आदि मुख्य मुनिराज भी कालक्रमसे अपरिमित निर्वाणधामको प्राप्त हुए ॥३९९॥ जिन्होने नेताकी तरह चार आराधनारूप चार प्रकारकी सेनाको साथ लेकर पापरूपी विशाल शत्रुको नष्ट किया था, जिन्होने सुवर्ण पाषाणके समान अपना देदीप्यमान स्वरूप प्राप्त किया है, भ्रमरोके समान सब देवलोग जिनके कमलविजयी चरणोकी सेवा करते है और जो तीन लोकके गुरु है ऐसे श्री भगवान् वृषभदेवकी सेवा करनेवाले तुम सबको वे ही कल्याण प्रदान करनेवाले हो ॥४००॥ जो कुलकरोंमें पन्द्रहवे कुलकर थे, तीर्थंकरोमे प्रथम तीर्थंकर थे, जिन्होने मनुष्योंकी जीविका

---

१ परिवेष्टितयतिमुख्य । २ भव्यजनसमूहस्योपकारि । ३ मुहूर्तपरिसमास्थितौ सत्याम् । ४ सख्यं ल० । ५ सेनापतिरिव । ६ चतुर्विधाराधनसाधन । ७ आ समन्ताद् भास्वरम् । ८ जीवितकल्प. । ९ आवरण-विमुक्त । १० उत्पन्नवान् । ११ भरतस्य ।

वसन्ततिलका

साक्षात्कृतप्रथितसप्तपदार्थसार्थः
सद्धर्मतीर्थपथपालनमूलहेतुः ।
भव्यात्मनां भवभृतां स्वपरार्थसिद्धि-[1]
मिक्ष्वाकुवंशवृषभो वृषभो[2] विदध्यात् ॥४०२॥

शार्दूलविक्रीडितम्

यो नाभेस्तनयोऽपि विश्वविदुषां पूज्यः स्वयम्भूरिति
त्यक्ताशेषपरिग्रहोऽपि सुधियां स्वामीति यः शब्द्यते ।
मध्यस्थोऽपि विनेयसत्त्वसमितेरेवोपकारी मतो
निर्दानोऽपि बुधैरुपास्य चरणो यः सोऽस्तु वः शान्तये ॥४०३॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे प्रथमतीर्थ-करचक्रधरपुराणं नाम सप्तचत्वारिंशत्तमं पर्व परिसमाप्तम् ॥४७॥

की विधि और मोक्षका महान् मार्ग प्रत्यक्ष देखा था, जिन्हे आवरणसे रहित पूर्ण अन्तिम – केवलज्ञान उत्पन्न हुआ और जो समस्त पृथिवीके अधिपति भरत चक्रवर्तीके पिता थे वे श्रीमान् प्रथम तीर्थंकर तुम सबको लक्ष्मी प्रदान करे ॥४०१॥ जिन्होने प्रसिद्ध सप्त पदार्थोके समूह को प्रत्यक्ष देखा है और जो समीचीन धर्मरूपी तीर्थके मार्गकी रक्षा करनेमे मुख्य हेतु है ऐसे इक्ष्वाकु वंशके प्रमुख श्री वृषभनाथ भगवान् संसारी भव्य प्राणियोको मोक्षरूपी आत्माकी उत्कृष्ट सिद्धिको प्रदान करे ॥४०२॥ नाभिराजके पुत्र होकर भी स्वयंभू है अर्थात् अपने आप उत्पन्न है, समस्त विद्वानोके पूज्य है, समस्त परिग्रहका त्याग कर चुके है फिर भी विद्वानों-के स्वामी कहे जाते है, मध्यस्थ होकर भी भव्यजीवोके समूहका उपकार करनेवाले हैं और दान-रहित होनेपर भी विद्वानोके द्वारा जिनके चरणोंकी सेवा की जाती है ऐसे भगवान् वृषभदेव तुम सबकी शान्तिके लिए हों अर्थात् तुम्हे शान्ति प्रदान करनेवाले हों ॥४०३॥

इस प्रकार आर्षनामसे प्रसिद्ध भगवान् गुणभद्राचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण श्रीआदिपुराण संग्रहके हिन्दी भाषानुवादमें प्रथम तीर्थंकर और प्रथम चक्रवर्तीका वर्णन करनेवाला यह सैंतालीसवाँ पर्व पूर्ण हुआ ।

पुराणब्धिरगम्योऽयमर्थवीचिविभूषितः ।
सर्वथा शरणं मन्ये जिनसेनं महाकविम् ॥

पारग्रामो जन्मभूमिर्यदीया
गल्लीलालो जन्मदाता यदीयः ।
पन्नालालः क्षुद्रबुद्धिः स चाह
टीकामेतां स्वल्पबुद्ध्या चकार ॥

आषाढकृष्णपक्षस्य त्रयोदश्यां तिथावियम् ।
पञ्चसप्तचतुर्युग्मवर्षे पूर्णा बभूव सा ॥

ते ते जयन्तु विद्वांसो वन्दनीयगुणाधराः ।
यत्कृपाकोणमालम्ब्य तीर्णोऽयं शास्त्रसागरः ॥

■

---

१ स्वपरार्थज्ञानं सम्यग्ज्ञानमित्यर्थः । २ श्रेष्ठ ।

मनूनां नाम	प्रतिश्रुति	सन्मति		क्षेमंकर		क्षेमंधर		सीमंकर		सीमंधर											
मनूनामायुः	पल्यका दशमांश	अमम ८४गुण्य २०	अममांग ८४गुण्य १९	अटट ८४ १८	अटटांग ८४ १७	तुटिक ८४ १६	तुट्यंग ८४ १५	कमल ८४ १४	कमलांग ८४ १३	नलिन ८४ १२	नलिनांग ८४ ११	पद्म ८४ १०	पद्मांग ८४ ९	कुमुद ८४ ८	कुमुदांग ८४ ७	नउत ८४ ६	नउतांग ८४ ५	पर्व ८४ ५	पर्वांग ८४ ४	८४ २	८४००००० १
मनूनामुत्सेधः	१८००	गुणाकार ५५शून्यं १३००	गुणाकार ५०शून्य	५० ८००	४५	४५ ७७५	४०	४० ७५०	३५	३५शून्यं ७२५	३०	३० ७००	२५ ६७५	२५ ६५०	२० ६२५	२० ६००	१५ ५७५	१५ ५५०	१०	०१ शून्यानि	५२५

अङ्गशब्दवाच्यो यः सङ्ख्याविकल्पः स चतुरशीघ्न एव अन्यस्तु पूर्वांगताडित एव। जहाँ अंग शब्द आये वहाँ ८४०००००को ८४ से गुणा करना जहाँ अंग शब्द नहीं है वहाँ ८४००००० से गुणा करना।

(आराकी प्रति अन्तिम पत्रमे यह अंगक संदृष्टि दी गयी है।) चतुरुत्तराशीतिलक्षवर्षाणि पूर्वांगं भवति। तस्यांकसंदृष्टिः ८४०००००। तत् पूर्वांगवर्गितं अन्येन पूर्वांगेन ताडितं चेत् पूर्वं भवति। तस्यांकसन्दृष्टिः ७०५६०००००००००० तेषां पूर्वाणां कोटिः पूर्वकोटिर्भवति। ७०५६०००००००००००००००० प्रागुक्तपूर्वं चतुरशीतिघ्नं चेत् पर्वांगं भवति। अं० सं० ५९२७०४००००००००००००। पूर्वांगताडितं तत् पर्वांगं पर्व भवति। अं० सं० – ४९७८७१३६००००००००००००००० चतुरशीतिताडितं ८४ तत् पर्वं नउतांगं भवति। अं० सं० – ४१८२११९४२४००००००००००००००००। प्रागुक्तं नउतांगं चतुरशीतिलक्षताडितं चेत् ८४००००० नउतं भवति। अं० स० ३५१२९८०३-१६१६००००००००००००००००००००० प्रागुक्तं नउतं चतुरशीति ८४ ताडितं चेत् कुमुदांगं भवति। अं० सं० २९५०९०३४६५५७-४४००००००००००००००००००००० प्रागुक्तं कुमुदांगं चतुरशीति लक्ष ८४००००० ताडितं चेत् कुमुदं भवति अं० सं० २४७८७५८९११०८ २४९६ शून्य २५। एवं चतुरशीत्या ताडितं अंगशब्दयुक्तमुत्तरोत्तरस्थानं भवति चतुरशीतिलक्षैस्ताडितं चेत् अंगशब्दरहितमुत्तरोत्तरस्थानं भवति। क्रमेणांकसंदृष्टिः पद्माङ्गं २०८२१५७४८ ५३००९२७६६४ शून्यं २५। पद्मं। १७४९०११२८७६५९८०९१७७६ शून्यं ३०। नलिनांगं १४६९१७०३२१६२४२३९७०८१८४ शून्यं ३०। नलिनं १२३४१०३०९०१७२७६१३५७७१४५६ शून्यं ३५। कमलांगं १०३६६४६५७८-९४५१०९५३८८००२३०४ शून्य ३५। कमलं ८७००७८३१३९००४०२५९२१९३५३६ शून्य ४०। त्रुटयङ्गम् – ७३१४५७८२६१०३६५६-३४६५७७४४२५७०२४ शून्य ४०। त्रुटिकम् – ६१४४२४५७३३९२७००७१३२११२५०५१७५९००१६ शून्य ४५। अटटाङ्गम् – ५१६१-१६५४ २०९९७३९८१८१४५०४३४७७५६१३४४ शून्य ४५। अटटम् – ४३३५३७८९५३६२९४१५३१२४१८३६५११५१५२८९६ शून्य ५०। अममाङ्गम् – ३६४१७१८३२१०४८१०८८६२४३१४२६७७७६७२८ ३७२६४ शून्य ५०। अमम।

श्लोकानुक्रमणिका

आ

इ

ई

उ

घ

त

द

फ

ब

य

पारिभाषिक शब्द-सूची

अ

अक्षीणमहानस– जैन मुनिकी एक ऋद्धि, जिसके प्रभावसे जहाँ इस ऋद्धिप्राप्त मुनिका भोजन होता है, वहाँकी भोजन सामग्री अक्षीण हो जाती है। अर्थात् वहाँ कितने ही लोग भोजन करते जायें, पर भोजन-सामग्री कम नहीं होती। ३६।१५५

अक्षीणावसथ– जैन मुनिकी एक ऋद्धि, जहाँ इस ऋद्धिका धारक मुनि निवास करता है, वहाँ छोटे स्थानमें भी बहुत बड़ा समूह भी स्थान प्राप्त कर सकता है। ३६।१५५

अग्रनिर्वृति– गर्भान्वय क्रियाका एक भेद। ३८।६२

अणिमादिगुण– अणिमा, महिमा गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व ये आठ सिद्धियाँ अथवा गुण कहलाते हैं। ३८।१९३

अजीव– जानने देखनेकी शक्तिसे रहित। इसके पाँच भेद हैं – १ पुद्गल, २ धर्म, ३ अधर्म, ४ आकाश और ५ काल। ३४।१९२

अणुव्रत–हिंसादि पाँच पापोंका एकदेश त्याग करना, ये अहिंसाणुव्रत आदि पाँच हैं। ३९।४

अनुप्रेक्षा– पदार्थके स्वरूपका बार-बार चिन्तन करना। इसका दूसरा नाम भावना है। ये बारह होती हैं – १ अनित्य, २ अशरण, ३ संसार, ४ एकत्व, ५ अन्यत्व, ६ अशुचित्व, ७ आस्रव, ८ संवर, ९ निर्जरा, १० लोक, ११ बोधिदुर्लभ, और १२ धर्मस्वाख्यातत्व। ३६।१५९–१६०

अनुत्तरौपपादिकदशाङ्ग– द्वादशांगका नौवां भेद। जिसमें प्रत्येक तीर्थंकरके तीर्थमें उपसर्ग सहन कर अनुत्तर विमानोंमें उत्पन्न होनेवाले दश-दश पुरुषोंका वर्णन होता है। ३४।१४२

अनूचान– अङ्गसहित वेदका अध्ययन करनेवाला ३९।५३

अनुप्रवृद्धकल्याण– एक उपोषित व्रतका नाम ४६।१००

अन्तकृद्दशाङ्ग– द्वादशाङ्गका आठवां भेद ३४।१४२

अन्वयदत्ति– पुत्रके लिए परिग्रहका भार सौंपना। इसीका दूसरा नाम सकलदत्ति है। ३८।४०

अपायविचय– धर्म्यध्यानका एक भेद ३६।१६१

अब्ज– चक्रवर्तीकी एक निधि। इसीका दूसरा नाम शङ्ख भी है ३७।७३

अभिषेक– गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।६०

अवतार– गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।६०

अवतार– दीक्षान्वयं क्रियाका एक भेद ३८।६४

अरिषड्वर्ग– काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य ये छह अन्तरङ्ग शत्रुओंका समूह है। ३८।२८०

अलोक– लोकके बाहरका अनन्त आकाश ३३।१३२

अश्व– चक्रवर्तीका एक सचेतन रत्न ३७।८४

असि– चक्रवर्तीका एक निर्जीव रत्न ३७।८४

आ

आकिंचन्य– परिग्रहका त्याग करना ३६।१५७

आचाराङ्ग– द्वादशाङ्गका पहला अङ्ग, जिसमें मुनियोंके आचारका वर्णन है। ३४।१३५

आज्ञाविचय– धर्म्यध्यानका एक भेद ३६।१६१

आतपत्र– चक्रवर्तीका एक निर्जीव रत्न ३७।८४

आतपयोग– ग्रीष्म ऋतुमें पर्वत-चट्टानोंपर ध्यान करना ३४।१५४

आधान– गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।५५

आवश्यक– अवश्य करने योग्य छह कार्य – १ समता, २ वन्दना, ३ स्तुति, ४ प्रतिक्रमण, ५ स्वाध्याय और ६ व्युत्सर्ग ३६।१३४

आर्जव– मायाचारको जीतना ३६।१५७

आर्य षट्कर्म– इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तप ये आर्योंके छह कर्म हैं। ३९।२४

आर्हती– अरहन्त सम्बन्धी ३९।११५

गर्भान्वय क्रिया— एक विशेष प्रकारकी क्रिया, इसके ५३ भेद होते हैं। ३८।५१
गार्हपत्य— जिस अग्निसे तीर्थंकर के मृत शरीरका दाह संस्कार होता है वह अग्नि ४०।८४
गुप्तित्रयी— १ मनोगुप्ति, २ वचनगुप्ति, ३ कायगुप्ति ३६।१३८
गुरुपूजोपलम्भन— गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।६१
गुरुस्थानाभ्युपगम— गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।५८
गृहत्याग— गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।५७
गृहपति— चक्रवर्तीका एक सचेतन रत्न ३७।८४
गृहिमूलगुणाष्टक— गृहस्थके आठ मूलगुण—१ मद्यत्याग, २ मांसत्याग, ३ मधुत्याग, ४ अहिंसाणुव्रत, ५ सत्याणुव्रत, ६ अचौर्याणुव्रत, ७ ब्रह्मचर्याणुव्रत और ८ परिग्रहपरिमाणाणुव्रत ४६।२६९
गृहीशिता— गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।५७

घ

घातिकर्म— ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार घातियाकर्म कहलाते है। ३३।१३०

च

चक्रधर— चक्रवर्ती भरत। भरत, ऐरावत और विदेह क्षेत्रमे चक्रवर्ती होते है। ये षट्खण्ड भूमण्डलके स्वामी होते हैं। इन्हे देवोपनीत चक्ररत्न प्राप्त होता है। ये दश कोडाकोडी सागरके अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी युगमे बारह-बारह होते है। भरतक्षेत्रका पहला चक्रवर्ती भरत था जो कि प्रथम तीर्थंकर वृषभदेवका पुत्र था २६।१
चक्रलाभ— गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।६१
चक्राभिषेक— गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।६२
चतुर्गति— नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव ये चार गतियाँ हैं। ४२।९३
चतुर्दश महाविद्या— उत्पादपूर्व आदि चौदह पूर्व ३४।१४७
चतुर्मुखमह— पूजाका एक भेद, महामुकुटबद्ध राजाओंके द्वारा यह की जाती है। इसका दूसरा नाम सर्वतोभद्र है ३८।२६
चतुर्भेद ज्ञान— मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्यय ज्ञान ३६।१४५
चमूपति— सेनापति, चक्रवर्तीका एक सजीव रत्न ३७।८४
चर्म— चक्रवर्तीका एक निर्जीव रत्न ३७।८४
चर्या— मन्त्र, देवता, औषध तथा आहार आदिके लिए हिंसा नही करूँगा ऐसी प्रतिज्ञा धारण करना ३९।१४५-१४७
चातुराश्रम्य— ब्रह्मचर्य, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थ और सन्यास ये चार आश्रम हैं। ३९।२४
चार आराधना— १ सम्यग्दर्शन, २ सम्यग्ज्ञान, ३ सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप ये चार आराधना है ४७।४००

ज

जाति— माताकी अन्वय शुद्धि ३९।८५
जातिब्राह्मण— तप और श्रुतसे रहित नाम मात्रके ब्राह्मण जातिब्राह्मण है ३८।४५
जिनरूपता— गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।५७
जीव— जानने देखनेकी शक्तिसे युक्त जीव द्रव्य ३४।१९२
ज्ञातृधर्मकथा— द्वादशाङ्गका छठवाँ भेद ३८।१४०

त

तक्षन्— चक्रवर्तीका एक सचेतन रत्न ३७।८४
तद्विहार—गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।६२
तप— इच्छाका निरोध करना तप है। इसके बारह भेद है— १ अनशन, २ ऊनोदर, ३ वृत्ति परिसंख्यान, ४ रसपरित्याग, ५ विविक्तशय्यासन, ६ कायक्लेश, ७ प्रायश्चित्त, ८ विनय, ९ वैयावृत्य, १० स्वाध्याय, ११ व्युत्सर्ग और १२ ध्यान ३८।४१
तप ऋद्धि— इसके उग्रोग्रतप, दीप्ततप, घोरतप आदि अनेक भेद है ३६।१४९-१५१
तीर्थ— तीर्थकरका प्रवृत्तिकाल ३४।१४२
तीर्थकृद्भावना—गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।५७
तिथ्यादिपञ्च— तिथि, गह, नक्षत्र, योग और करण ४५।१७९
त्याग— विकार भावोको छोडना ३६।१५७
त्रस— चलने-फिरनेवाले जीव द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय ३४।१९४
त्रिगौरव— १ रस गौरव, २ शब्दगौरव, ३ ऋद्धिगौरव, गौरव=अहंकार ३६।१३७

विपत्तिको सहन करना। इसके २२ भेद है—१ क्षुधा, २ तृषा, ३ शीत, ४ उष्ण, ५ दशमशक, ६ नाग्न्य, ७ अरति, ८ स्त्री, ९ चर्या, १० निषद्या, ११ शय्या, १२ आक्रोश, १३ वध, १४ याचना, १५ अलाभ, १६ रोग, १७ तृणस्पर्श, १८ मल, १९ सत्कार पुरस्कार, २० प्रज्ञा, २१ अज्ञान और २२ अदर्शन, ३६।१२८

पर्णलघ्वी— एक विद्या, जिसके प्रभावसे भारी शरीर पत्ते-के समान हलका होकर आकाशसे नीचे आ जाता है ४७।२२

पल्यङ्क— एक आसन—पालकी ३४।१८८

पाण्डुक— चक्रवर्तीकी एक निधि ३७।७३

पात्रदान— मुनि-आर्यिका, श्रावक-श्राविक आदि चतुःसंघको विधिपूर्वक दान देना ३८।३७

पारिव्रज्य— कर्त्रन्वय क्रियाका एक भेद ३८।६७

पिङ्ग— चक्रवर्तीकी एक निधि ३७।७३

पुण्ययज्ञ— दीक्षान्वय क्रियाका एक भेद ३८।६४

पुराकल्प— पञ्चमकाल ४१।३

पुरोधस्— चक्रवर्तीका पुरोहित रत्न ३७।८४

पूजाराध्य— दीक्षान्वय क्रियाका एक भेद ३८।६४

प्रतिमा योग धारण— पर्वके उप-वासके बाद रातमें एकान्तमे प्रतिमाके समान नग्न रह-कर ध्यान धारण करना। ३९।५२

प्रमोद— गुणी मनुष्योको देखकर हर्ष धारण करना ३९।१८५

प्रश्नव्याकरण— द्वादशाङ्गका दशवाँ भेद ३८।१४८

प्रशान्ति— गर्भान्वय क्रियाका भेद ३८।५७

प्रातिहार्य— अरहन्त अवस्थामें तीर्थंकरके प्रकट होनेवाले आठ विशिष्ट कार्य – १ अशोक वृक्ष, २ सिंहासन, ३ छत्रत्रय, ४ भामण्डल, ५ दिव्यध्वनि, ६ पुष्पवृष्टि, ७ चौसठ चमर, ८ दुन्दुभि बाजा ४२।८५

प्राशन— गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।५५

प्रासुक— निर्जीव ३८।१९२

प्रियोद्भव— गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।५५

प्रीति— गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।५५

ब

बलर्द्धि— ऋद्धि का एक भेद ३६।१५।

बहिर्यान— गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।५५

बोधि— सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र ३९।८५-८६

ब्रह्मचर्य— आत्मस्वरूपमे लीन रहना अथवा स्त्री मात्रका परित्याग करना ३६।१५८

भ

भोगाङ्ग— चक्रवर्तीके भोगके दश अङ्ग होते है—१ रत्न और निधियाँ, २ देवियाँ, ३ नगर, ४ शय्या, ५ आसन, ६ सेना, ७ नाटयशाला, ८ वर्तन, ९ भोजन और १० वाहन—सवारी ३७।१४३

म

मणि— चक्रवर्तीका एक निर्जीव रत्न ३७।८४

मतिज्ञान— पांच इन्द्रियो और मनकी सहायतासे होनेवाला एक ज्ञान ३६।१४२

मनःपर्ययज्ञान— दूसरेके मनमे स्थित पदार्थको जाननेवाला ज्ञान। यह ज्ञान मुनिके ही होता है ३६।१४७

मन्दरेन्द्राभिषेक— गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।६१

महामह— भगवान्की एक विशिष्ट पूजा ३८।६

महाकाल— चक्रवर्तीकी एक निधि ३७।७३

महाव्रत— हिंसादि पापोका सर्व-देश त्याग करना। ये पाँच है ३९।४

महाचैत्यद्रुम— समवसरणमे विद्यमान चैत्यवृक्ष, इनके नीचे जिन-प्रतिमाएँ विद्य-मान रहती है। ४१।२०

माणव— चक्रवर्तीकी एक निधि ३७।७३

माध्यस्थ्य— विपरीत मनुष्योपर समभाव रखना ३९।१४५

मानस्तम्भ— समवसरणकी चारो दिशाओमे विद्यमान रत्नमय चार स्तम्भ इनके देखनेसे मानी जीवोका मान नष्ट हो जाता है। ४०।२०

मार्दव— मानको जीतना ३६।१५७

मूलगुण— मुनियोके मूलगुण २८ होते है – ५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इन्द्रिय दमन, ६ आवश्यक, ७ शेष सात गुण ३६।१३५

मैत्री— किसी जीवको दुःख न हो ऐसी भावना रखना ३९।१४६

मोद— गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।५५

मौनाध्ययन वृत्तत्व— गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।५८

य

यथाख्यात– चारित्र मोहके अभावमे प्रकट होनेवाला चारित्र। इसके औपशमिक और क्षायिकके भेदसे दो भेद है। ४७।२४७

योगत्याग– गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।६२

योगनिर्वाणसंप्राप्ति– गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।५९

यौवराज्य– गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।६१

योगसम्मह– गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।६२

योजन– चारकोशका एक योजन होता है परन्तु अकृत्रिम चीजोके नापमे दो हजार कोशका योजन लिया जाता है। ३३।१५९

योषित्– चक्रवर्तीका एक सचेतन रत्न, स्त्री ३७।८४

र

रत्नत्रय– सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीन रत्नत्रय है। ३६।१३९

रसर्द्धि– ऋद्धिका एक भेद ३६।१५४

रहस्– अन्तराय कर्म ३५।१८६

राजविद्या– आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति ये चार राजविद्याएँ है। ४१।१३९

ल

लिपि– गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।५६

लेश्या– कषायके उदयसे अनुरञ्जित योगोकी प्रवृत्ति। इसके ६ भेद है–१ कृष्ण, २ नील, ३ कापोत, ४ पीत, ५ पद्म और ६ शुक्ल। ३६।१८४

लोक– जहाँ तक जीव आदि छह द्रव्य पाये जाये उसे लोक कहते है। यह १४ राजु ऊँचा है और ३४३ राजू क्षेत्रफल वाला है। ३३।१३२

व

वर्णलाभ– गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।५७

वार्ता– खेती आदिके द्वारा निर्दोष आजीविका करना ३८।३५

विकथा– राग द्वेषको बढानेवाली कथाएँ, ये चार है–१ स्त्री कथा, २ राष्ट्र कथा, ३ भोजन कथा ४ और राज कथा ३६।१४०

विक्रिया– एक प्रकारकी ऋद्धि, इसके ८ अवान्तर भेद है। ३६।१५२

विजयाश्रिता– चक्रवर्तियोकी जाति विजयाश्रिता जाति कहलाती है। ३९।१६९

विधिदान– गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।६०

विपाक विचय–धर्म्यध्यानका एक भेद ३६।१६१

विपाकसूत्र– द्वादशाङ्गका ग्यारहवाँ भेद ३४।१४५

विपुलमति– मनःपर्यय ज्ञानका उत्कृष्ट भेद ३६।१४७

विमुक्तता– निष्परिग्रहता ३४।१६९

विवाह–गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।५७

वीरासन–आसनका एक भेद, जिसमे दोनो पगथली जघापर रखकर ध्यानस्थ हुआ जाता है ३४।१८७

वृत्तलाभ– दीक्षान्वय क्रियाका एक भेद ३८।६४

व्रत– हिसादि पाँच पापोके त्यागसे प्रकट होनेवाले पाँच महाव्रत– १ अहिसा, २ सत्य, ३ अचौर्य, ४ ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ३६।१३३

व्रतचर्या– गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।५६

व्रतावतरण– गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।५६

वृत्त-चारित्र– पापपूर्ण क्रियाओसे विरत होना ३९।२४

व्याख्याप्रज्ञप्ति– द्वादशांगका पाँचवाँ भेद ३४।१३८

व्युष्टि– गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।५६

श

शल्य– १ माया, २ मिथ्या और ३ निदान ये तीन शल्य है। व्रती मनुष्यके इनका अभाव होना चाहिए। ३६।१३७

शुक्लध्यान– ध्यानका सर्वोत्कृष्ट भेद ३६।१८४

शौच– लोभका त्याग करना ३६।१५७

श्रीमण्डप– समवसरणका मूल मण्डप जिसमे भगवान्की गन्धकुटी होती है। ३३।१५९

श्रुत– पाँच इन्द्रियो और मनकी सहायतासे उत्पन्न होनेवाला एक तर्कणाशील ज्ञान ३६।१४२

ष

षडष्टकम्– अडतालीस (षण्णामष्टक षडष्टकम्) ३९।६

स

सज्जाति– कर्त्रन्वय क्रियाका एक भेद ३८।६७

सत्य– हितमित प्रामाणिक वचन बोलना ३६।१५७

सदार्चन-नित्यमह– पूजाका एक भेद घरसे लायी हुई सामग्रीसे जिनेन्द्रदेवका प्रतिदिन पूजन करना ३८।२६

श्रीकट = एक पर्वत २९।८९
श्रीपर्वत = एक पर्वत २९।९०
श्रेयस्पुर = विजयार्धका एक नगर ४७।१८२
श्वसना = एक नदी २९।८३

स

सप्तपार = एक नदी २९।६५
सर्वारा = एक नदी २९।८६
सप्तगोदावर = एक नदी २९।८५
समतोया = एक नदी २९।६२
सरयू = अयोध्याके निकट बहनेवाली एक नदी ४५।१८८
सर्पसरोवर = धान्यकमाल वनका एक सरोवर ४६।१०२
सह्याचल = एक पर्वत ३०।२७
साकेत = अयोध्यापुरी ३७।१
सिकतिनी = एक नदी २९।६१
सितगिरि = एक पर्वत २९।६८
सिद्धकूट = विजयार्धका एक चैत्यालय ४६।१५८
सिन्धु = एक नदी २९।६१
सिप्रा = एक नदी २९।६३
सिंहल = एक देश (श्रीलंका) ३०।२६
सीता = विदेहकी एक नदी ३७।९८
सीमसहाचल = सीम नामका पर्वत ४७।१३४
सुप्रयोगा = एक नदी २९।८६
सुमन्दर = एक पर्वत ३०।५०
सुमागधी = एक नदी २९।८९
सुरम्य = विदेहका एक देश ४७।१४
सुरगिरि = एक पर्वत ४७।६
सुसीमा = विदेहका एक देश ४७।६५
सुसीमानगर = वत्सदेशका नगर ४६।२५६
सुह्मक = एक देश २९।४१
सूकरिका = एक नदी २९।८७
स्वःस्रवन्ती = गंगा नदी २६।१४८
स्वर्धुनी = गंगा नदी ३५।८७

ह

हयपुर = विजयार्धका एक नगर ४३।१३२
हस्तिपानी = एक नदी २९।६४
हास्तिनाख्यपुर = हस्तिनापुर ४३।७६
हिमाद्रि = हिमवत् नामका कुलाचल ३६।६१

व्यक्तिवाचक शब्द-सूची

श

स

ह

विशिष्ट शब्द-सूची

अ

अकत्थन = स्वयं अपनी प्रशंसा करनेवाला ३५।२३

अकामसायक = कामबाण ४७।८०

अकालचन्द्र = अपमृत्यु ३४।११

अकृतकस्नेह = वास्तविक प्रेम ३५।२१७

अक्षरपद = अविनाशी पद मोक्ष ३४।१९७

अक्षरम्लेच्छ = हिंसादिमें प्रवृत्ति करनेवाला ४२।१८४

अङ्गसाद = शरीरपीडा ३६।८७

अग्रेसर = प्रधान ३४।२२३

अगोष्पद = जहाँ गायोंका भी प्रवेश असम्भव है – अत्यन्त निर्जन २७।३३

अग्रज = बड़े भाई भरत चक्रवर्ती ३६।९१

अग्रजन्मा = ब्राह्मण ४०।९०

अग्निकार्य = होम ३९।१११

अचेलता = नग्नता ३६।१३३

अजयूथ = बकरोंका समूह ४१।६८

अञ्जसा = यथार्थ ३४।१३७

अतन्द्रालु = प्रमादरहित ३९।१००

अतन्द्रित = आलस्यरहित ३८।१५५

अतिक्रम = दोष – अतिचार ३१।१३५

अतिगृध्नुता = अत्यासक्ति ३५।११०

अतितिक्षा = अक्षमा, क्रोध ३४।१२०

अतिरेकिणी = अधिक ३४।२११

अतिबालिश्य = अतिमूर्खता ४१।३२

अद्रीन्द्र = मेरुपर्वत ३७।३२

अद्रीश = सुमेरु पर्वत २६।७०

अधित्यका = पर्वतका ऊपरी मैदान ३३।३१

अधीयान = पढ़ता हुआ ३९।१०३

अधीती = अध्ययनकुशल ३६।१०५

अध्यध्वम् = मार्गमें ३१।५

अनगार = मुनि ३८।७

अनन्यज = काम ३५।१९२

अनन्तुकामाः = नमस्कार करने-के अनिच्छुक ३४।२२०

अनंशुक = किरणरहित, नग्न ३५।१५७

अनाविल = निर्दोष ३९।९

अनाश्वान् = उपवास करनेवाला ३६।१०७

अनिकेत = निवासरहित मुनि ३४।१७४

अनुदात्तता = निकृष्टता, नीचता ३६।९१

अनुदन्ति = हाथियोंके पीछे ४४।७९

अनुद्विग्न = उद्वेगरहित ३४।१८३

अनुपानत्क = जूतासे रहित ३९।१९३

अनुशय = पश्चात्ताप ३५।१९८

अनूचान = शास्त्रका सांगोपांग अध्ययन करनेवाले ३४।२१७

अनेकपेङ्गित = हाथीकी चेष्टा ४६।३१२

अन्तर = स्थान ३४।१८५

अन्तर = भेद ३५।११

अन्तःप्रकृतिज = मूलवर्गमें उत्पन्न हुआ ३५।१८

अन्वीय = अनुकूल ३५।२३

अन्दुनतुक = बाँधनेकी साँकल २९।१३७

अन्धतमस = गाढ अन्धकार ३५।१७१

अन्यपुष्ट = कोयल ३८।१२०

अपक्षपतित = पक्षपातसे रहित ४२।२००

अपराग = द्वेषरहित ३५।२३८

अपदान = पराक्रम ३२।७४

अपध्वान्त = अन्धकारसे रहित ३५।७४

अपचिति = पूजा ४२।२०७

अपवर्ग = मोक्ष ३४।२१६

अपत्रपा = लज्जा ३६।२०५

अपाय = विघ्न ३८।१९४

अप्रतिष्कश = असहाय–अकेला ३५।६८

अप्रतिशासन = प्रतिद्वन्द्वीसे रहित शासनवाला ३४।१४

अप्सव्य = जलमें होनेवाला २८।१९३

अप्सुज = जलमें उत्पन्न होने-वाला मत्स्य २८।१९४

अब्दकाल = वर्षाऋतु ३६।२११

अभिगम्य = आराध्य ३६।२०२

अभिचारक्रिया = मारणक्रिया २६।४

अभिसारिका = व्यभिचारके लिए पतिके घर जानेवाली वेश्या ३५।१७०

अभ्यग्नि = अग्निके सम्मुख ४४।१८६

अभ्यवकाश = खुला आकाश ३४।१५८

अभवनि = अजन्म २८।१३१

अभिज्ञ = जानकार ३४।३३

अभ्यर्ण = निकट ४१।८३

अमत्र = पात्र ३८।१९८

आहार्य = आभूषण ३३।१२१

इ

इज्या = पूजा ३८।२४
इन = स्वामी ४४।२६५
इभ = हाथी ३५।४३
इषुधि = तरकश ३६।१२
इष्टि = यज्ञ ३४।२१७
इह = इस लोकमें

ई

ईडा = स्तुति ३६।९५
ईडित = स्तुत ४१।२६

उ

उड्डमरप्रिय = युद्धके प्रेमी २९।९३
उच्चावच = नानाप्रकारके ३५।२४८
उत्कता = उत्कण्ठा ३५।१८७
उत्कोच = घूस ४६।२९६
उत्सेक = गर्व ३६।१२९
उत्त्रस्त = खेदखिन्न ४१।२
उदगाह = जलप्रवेश ३७।१२६
उदच् = उत्तर दिशा ३०।९५
उदन्यन् = प्याससे युक्त होता हुआ ३४।१०७
उदन्वान् = समुद्र ३५।१८४
उदर्क = फल ३९।१
उद्दात्र = काटनेके लिए हँसिया ऊँचा उठाये हुए ३५।३०
उदितोदित = एकसे एक बढकर अभ्युदयसे युक्त ४३।१९०
उद्देश = स्थान ४०।१७
उद्ध = प्रशस्त ३५।२४४
उद्दिष्ट = अपने उद्देश्यसे निर्मित ३४।१९९
उन्नस = नाक ऊपर करनेवाला अहंकारी ३९।१०९
उपक्षेत्रम् = खेतोंके समीप ३५।३८
उपधि = बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह ३४।१८९
उपघ्न = आश्रयभूत ३०।१७
उपगूढ = आलिङ्गित ३६।११०
उपबृंहित = वृद्धिको प्राप्त हुआ ३४।१३०
उपनाह = बाँधना ३२।२७
उपशल्यभू = गाँवोंकी निकटवर्तिनी भूमि ३५।४०
उपाङ्घ्रि = चरणोंके समीप ३६।१६५
उपात्त = स्वीकृत–गृहीत ३८।२१
उपालब्ध = उलाहना दिया हुआ ३९।११३
उपोषित = उपवास करनेवाला ३५।१२५
उल्मुक = जलती हुई लकडी ३४।५५
उल्बण = बहुत भारी ३७।१५८

ऊ

ऊर्जस्वि = बलिष्ठ ३७।८७
ऊर्जिता = बलिष्ठता २८।१३४

ए

एकतान = मुख्यरूपसे लगे हुए तन्मय ३४।२२१
एकावली = एक लडका हार ३७।९६
एणाजिन = मृगचर्म ३९।२८
एनस् = पाप ३५।१५५
एनःप्रकर्षतः = पापकी अधिकतासे ४१।५

औ

औक्षक = बैलोंका समूह २९।१६२
औत्पातिक = उत्पातको सूचित करनेवाला ३६।१५
औपासिक = उपासकाचार-सम्बन्धी ३९।९५

क

कक्षा = तुलना ३५।१०५
कञ्ज = कमल २६।११
कडङ्गर = बुस (भूसा) २९।१५६
कणिश = बाले २६।१७
कणिशमञ्जरी = धानकी बाले ३५।३१
कदर्यक = कृपण २९।११०
कबरी = चोटी ३७।१०७
कमलावती = लक्ष्मी ३५।४९
कर = किरण, टैक्स ३५।१५७
करक = ओले ३६।२९
कराल = तीक्ष्ण भयकर ३६।१६
कर्णजाह = कानोंके पास ३५।२०४
कर्हि = कब ३५।१४९
कलकण्ठी = कोयल ३७।१२१
कलत्र = स्त्री ३४।११९
कलभ = हाथीके बच्चे ३६।१६८
कलम = धान ३५।३२
कलधौतमय = स्वर्णनिर्मित ४३।२६१
कल्पाधिप = इन्द्र ३३।१५
कादम्बजाया = कलहंसी २६।१०
काञ्चीस्थान = नितम्ब ४३।१४३
कामरूपविधायिनी = मनचाहा रूप बना देनेवाली ४६।३१७
कामितसंसिद्धि = इष्टसिद्धि ३४।२१६
कामिनीकलकाञ्ची = स्त्रियोंकी सुन्दर मेखलाएँ ३५।२०३
काम्बोज = काबुली घोडे ३०।१०७
कायमान = कुटियोंके प्रकार २७।१३२
काहल = अस्फुट वचन बोलनेवाले २७।२१
किर्माय = किसका २८।१४३
किञ्जल्क = केसर २६।११
किलासिन = कुष्ठी ३३।२२
कुट्टिमभूतल = फर्स २६।९
कुक्षिवास = जहाँ रत्नोंका व्यापार होता है ३७।७०
कुटिव = हलमें लगी हुई बीज बोनेकी नली ३७।६८
कुण्ठ = टेढी अँगुलीवाला ४७।१३८
कुण्डोध्नी = कुण्डके समान बडे-बडे थनवाली गायें २६।४६
कुतप = मकानकी देहरी २९।५७
कुन्त = भाला ३७।१६४
कुब्जक = अन्तःपुरमें रहनेवाले बौने मनुष्य ३७।१४१

कुपतित्व = भूपतिपना, खोटा राजपना ३०।१०
कुमार = बालक ४५।४२
कुलाल = कुम्हार ३५।१२६
कुल्या = नहर ३५।४०
कुवलय = पृथ्वीमण्डल, नील-कमल ४३।७७
कुसुमर्तु = वसन्त २७।४३
कुसुमबाण = कामदेव २७।१९
कूजित = पक्षियोका कलरव २६।१५
कृतक्षण = कृतोत्साह ४१।१३९
कृतंकृतं = व्यर्थ-व्यर्थ ३६।६७
कृतनंदी = कृतज्ञ ४३।११७
कृतसङ्गर = कृतप्रतिज्ञ ४३।५३
कृतानुबन्धन = जिनसे आग्रह किया गया ३८।१५
कृतान्तवाक् = यमवचन ३९।२२
कृत्स्ना = सम्पूर्ण ४२।२०८
केतन = गृह ४७।२०७
केतुमालाकुल = पताकाओंके समूहसे व्याप्त ४१।८४
केरल = केरल देशके लोग २९।९४
केवलार्क = केवलज्ञान रूपी सूर्य ४१।९
कोक = चकवा ३५।२३०
कोककान्ता = चकवी ३५।२२३
कोटी = अग्रभाग, चरम सीमा ३०।१३०
कोश = म्यान ४७।१३५
कौक्षेयक = तलवार ३६।११
कौबेरी = उत्तर दिशा ३१।१
कौशिक = उल्लू ४१।३७
क्रमज्ञ = क्रमको जाननेवाला ३५।७
क्रयक्रीत = मूल्य देकर खरीदा हुआ ३४।१९९
क्रमाब्ज = चरणकमल ३५।२४५
क्लम = खेद ३४।११७
क्षत्रिय = एक वर्ण ३८।४६
क्षीरस्यत = दूधकी इच्छा रखनेवाला २६।४८
क्षेपीयस् = अत्यन्त शीघ्र ४१।१७
क्षेम = प्राप्त हुई वस्तुकी रक्षा करना २९।२८
क्षोदीयान् = अत्यन्त क्षुद्र ३४।२४
क्ष्मा = भूमि ३४।७६
क्ष्माज = वृक्ष ३५।१५३
क्ष्माध्र = पर्वत ३७।१६६
क्ष्मात्राण = पृथिवी रक्षा ३७।८३

ख

खग = बाण ४४।१२१
खग = विद्याधर ४७।२१
खण्डिता = वियोगिनी स्त्री, जिसका पति संकेत देकर भी न आवे ३५।१९३
खरघृणि = सूर्य ३६।२११
खरांशु = सूर्य २७।९३
खलकल्पाः = दुर्जनके समान ४४।११८
खेचर = विद्याधर ४६।३१७

ग

गजता = हाथियोका समूह ३०।४८
गजप्रवेक = श्रेष्ठ हाथी ३०।१०५
गन्धर्व = व्यन्तर देवोंका एक भेद ४१।२६
गरुडग्रावसच्छवि = नीलमणि-के समान वर्णवाला ३६।४९
निर्वृत्ति = शारीरिक सुख ३७।१२७
गान्धार = कान्धारके घोड़े ३०।१०७
गुणग्राम = गुणोंका समूह ३५।५०
गुप्ति = रक्षा ३६।११७
गुरु = पिता, भगवान् वृषभदेव ३६।१०४
गुरु = पिता ३८।१३७
गुरुकल्प = पितृतुल्य ३४।८१
गुर्वनुगृह = गुरुकी कृपा ३९।६५
गुल्फदघ्न = घुटने प्रमाण ३३।७१
गृध्नु = लोभी ३५।१३३
गृहकोकिल = छिपकुली ४६।३३८
गोगृष्टि = पहली बार वियानी हुई गाय २६।४६
गोत्रस्खलन = स्त्रीके सामने हृदयमे बसी हुई दूसरी स्त्रीका नाम उच्चरित होना ४६।७
गोमतल्लिका = श्रेष्ठ गाये २६।४५
ग्राममृग = कुत्ता ३५।१२१

घ

घनस्तनित = मेघगर्जना ३७।१३१
घस्मर = विनाशक ४४।१०६

च

चक्र = चक्रवर्तीका एक अजीव-रत्न ३७।८४
चक्राह्व = चकवा २७।२८
चक्रोद्योत = चक्ररत्नका प्रकाश ३६।२३
चक्षुःश्रवस् = साँप ३६।१७६
चञ्चापुरुष = तृणका बना पुरुष २८।१३०
चण्डमरुत्—तेजवायु - आँधी ३६।१
चतुष्क = चौराहा २६।३
चतुरस्र = समचतुरस्रसंस्थानसे युक्त मनोज्ञ ३७।२८
चमरिरुह = चमर ३५।२४४
चरमाङ्गधर— तद्भवमोक्षगामी ३६।३९
चर्याशुद्धि—चारित्रकी शुद्धता ३४।१३५
चातुरन्त—चतुर्दिगन्त ३५।११२
चातुरन्त = सब दिशाओंका स्वामी चक्रवर्ती २८।८५
चामीकर = स्वर्ण ३६।५०
चारभट = शूरवीर ३१।६५
चारचक्षुः = गुप्तचररूपी नेत्रसे युक्त ४५।४१
चित्तज = काम ४५।८७
चित्तजन्मन् = काम ३७।४२
चुञ्चुक = प्रतीत–प्रसिद्ध २९।९

दूष्यकुटी = कपडेका तम्बू ३७।१५३
दूष्यशाला = कपडेकी चाँदनी २७।२४
दृढसंगर = दृढप्रतिज्ञ ३४।२०८
दृब्धा = गूँथी हुई ३७।१४१
देव = स्वर्गके निवासी देव ४१।२६
देवदत्त = विचित्राङ्गद नामक देवके द्वारा दिया हुआ ४३।२७८
देवभूय = देवत्व २९।१०८
देशसन्धि = दो देशोंके मिलनेकी सीमाएँ ३५।२७
दोर्घात = भुजाओंका आघात ३६।७९
दोर्दण्ड = भुजदण्ड २९।९५
दैवज्ञान = ज्योतिष शास्त्र ४१।१४८
द्वैप्य = द्वीपोंमे होनेवाले २९।७४
द्वैराजदुःस्थिता = दो राजाओंके राज्यसे व्यवस्थाहीन ३४।४७
द्रोणामुख = बन्दरगाह ३७।६२
द्वन्द्व = परीषह ३६।११६
द्विजन्मन् = द्विज ३८।४९
द्विजिह्वता = दुष्टता, कुटिलता ३४।८८
द्विषच्चक्र = शत्रुओंका समूह ३६।६५
द्विषड् = बारह २८।११५
द्विरद = हाथी ३५।११५
द्युसद् = देव ३५।७०
द्युमणि = सूर्य २९।१०८

ध

धनाया = तृष्णा ३६।७८
धनोञ्छनचुञ्चुता = धन इकट्ठा करनेकी तत्परता ३५।१२२
धन्वन् = धनुष् धारण करनेवाले २७।१११
धव = पति ४३।९८
धर्मसर्ग = धर्मसृष्टि ४१।३२
धर्म्या = धर्मयुक्त ३४।१४०
धात्रीकल्प = धायके समान ४३।३३
धीरित = धैर्य-भरे वचन ३६।२१
धुर्य = धुरन्धर ४३।८५
धूर्गत = महावत ३६।१०
धूमध्वज = अग्नि ४४।१०
धृतिप्रावार = धैर्यरूपी ओढनी ३४।१५७
धृतिसंवर्मित = धैर्यरूपी कवचसे युक्त ३४।१५९
धेनुका = हथिनी २९।१५६
धेनुष्या = बँधानमे दी हुई गायें २६।४८
धौरित = घोड़ोंकी एक चाल। घोडोंकी चालको धारा कहते हैं। इसके पाँच भेद है – आस्कान्दित, २ धौरितक, ३ रेचित, ४ वल्गित और प्लुत। ३१।१
धौरेय = श्रेष्ठ ३८।८
ध्याति = ध्यान ४५।४
ध्वाङ्क्ष = कौए ४१।३७

न

नद्धा = बँधी हुई २६।८
नन्दथु = आनन्द ३५।२
नभोग = विद्याधर ३५।७३
नर्मदा = क्रीडा देनेवाली ३०।८५
नवग्रह = नया पकडा हुआ २९।१२२
नवोढा = नयी विवाहित ४४।२०७
नागमिथुन = नाग-नागीका जोडा ४३।९०
नाथवंश = वाराणसीके राजा अकम्पनका वंश ४४।३७
नार्पत्य = राज्य (नृपतेः कार्यं नार्पत्यम्) ४३।८६
नालिक = सत्य ३५।१९६
निकार = तिरस्कार ४६।३१६
निगम = गाँव २६।१३४
निगल = बेडी ४२।७६
निगलस्थ = बेडीमे पडा हुआ ४२।७६
निघ्नता = अधीनता ३७।१४२
निचुल = बेतका वृक्ष २७।४६
नितम्बिनी = स्त्री ३५।१९४
निधन = मृत्यु २८।१३४
निधुवन = मैथुन ३५।२१८
निध्यान = अवलोकन ४१।६८
निनृत्सु = नृत्यके इच्छुक ३६।१७४
नियति = दैव, भाग्य ३५।१६७
नियाम = नियम ८५।६
नियुद्ध = बाहुयुद्ध, कुश्ती ३६।४५
निरारेका = सन्देहरहित ३०।२३
निरूढ = प्रसिद्ध ३७।२६
निर्घात = वज्र २६।७७
निर्घात – निर्घोष = वज्रपातका शब्द २८।१२२
निर्मल = निरतिचार (निर्मम = ममतारहित) ३४।१७१
निर्मूर्च्छ = मोहरहित ३४।१७३
निर्वाणक्षेत्र = मुक्तिस्थान ४०।८९
निर्विष्ट = उपभुक्त ३७।१९
निर्वृति = सुख ३७।१४
निर्वर्तित = पूर्ण-समाप्त ३७।१
निर्णिक्त = प्रक्षालित ३७।१२६
निविष्ट = बैठे हुए ४२।१
निःश्रेयस = मोक्ष ३९।१
निशात = तीक्ष्ण ३६।११
निषधाद्रि (मौ) = निषध कुलाचल ३३।८०
निष्प्रवाणी = नवीन शास्त्र, अभी हाल यन्त्रसे उतारे हुए २६।५४
निष्ठा = पूर्णता ४२।१०७
निसर्गसुभग = स्वभावसे सुन्दर ३७।२९
निसृष्टार्थ = राजदूत ४३।२०२
नीरेक = निःसन्देह ३५।१३८
नीतिचुञ्चुत्व = नीतिनिपुणता ३५।१२
पशु = नीच मनुष्य ३५।११

माधवी = एक लता-मधुकामिनी २७।४७
मुखोन्मुखी = मुखके सम्मुख ३७।१०५
मृगेन्द्रासन = सिंहासन ३१।१५८
मैथुन = माला ४६।२१७
मौञ्जी = मूँजकी रस्सीसे बनी हुई मेखला ३८।१०४

य

यवीयान् = अतिशय युवा ३४।४४
यवीयान् = छोटे भाई बाहुबली ३६।५२
यष्टव्याः = पूजा करने योग्य ४१।१३
याचित्रिम = याचनासे प्राप्त ३६।१२२
यादस् = जलजन्तु ३६।७९
यादसां पतिः = समुद्र ३६।७९
याममात्र = प्रहरमात्र ४२।१७४
याष्टीक = यष्टि-लकड़ी धारण करनेवाले २७।१११
युग्य = वाहन ३५।२१
योग = ध्यान ३८।१७९
योग = अप्राप्त वस्तुको प्राप्त करना ३७।१७
योगसिद्धि = ध्यानसिद्धि ३६।१५८
योगज = तपके प्रभावसे होने-वाली ३६।१४४

र

रजःसन्तमस = धूलिरूपी गाढ अन्धकार ३६।२३
रथकट्या = रथोंका समूह ३६।४
रथाङ्ग = चकवा ३५।१६८
रथ्या = रथ चलने योग्य चौड़ी सड़क २६।३
रद = दाँत ३७।२३
रंहस् = वेग ३७।२४
राजवती = कुत्सित राजाओंसे युक्त भूमि ३४।४७
राजन्वती = उत्तम राजासे युक्त भूमि ३४।४७
राजीवास्य = कमलके समान मुखवाले २८।१८७
राजीव = चन्द्रमाके समान ४४।३८
रोगाखु = रोगरूपी चूहे ३६।८९
रोदसी = आकाश और पृथिवी-का अन्तराल ३६।१
रैराशि = धनकी राशि ३१।६२

ल

लघु = शीघ्र ३८।३४
लवीयान् = अत्यन्त छोटा ३४।२४
लाट = लाट देशके राजा ३०।९७
लाला = लार ३५।४३
लालाटिक = सेवक ४३।१५७
लुब्धक = शिकारी ३७।१३४

व

वचोहर = दूत ३५।१३८
वञ्चनाचुञ्चु = प्रतारणापटु, ठगनेमें होशियार ४६।८
वज्रसार = वज्रके समान स्थिर ३५।५२
वज्रिजय = इन्द्रविजय ३७।१६३
वणिज् = वैश्य ३८।४६
वत्सरानशन = एक वर्षका उपवास ३६।१८५
वर्त्स्यद्युग = आगामी - पञ्चम - काल ४१।५३
वदान्यकुल = दानियोंका समूह २६।१२
वनधि = सरोवर २८।२२
वनमातङ्ग = जंगली हाथी ३४।१८६
वनक्ष्माज = वनके वृक्ष ३६।१२
वनसामज = जंगली हाथी ३०।६३
वनजेक्षणा = कमललोचना ४७।१४३
वनीपकानीक = याचकसमूह ४५।१३७
वन्दारु = वन्दना करनेवाले ४२।२०७
वप्रभूमि = खेतकी भूमि २६।१४
वरत्रा = चमड़ेकी मजबूत रस्सी ३५।१४१
वरिष्ठ = अत्यन्त श्रेष्ठ ४८।३२
वरारोहा = उत्तम नितम्बवाली स्त्री ३७।९०
वरूथ = रथ ३३।९
वर्क = तरुण हाथी २९।१५३
वर्ष = क्षेत्र ३८।४
वर्ष्मन् = शरीर ३५।५२
वसुवाहन = धन, सवारी ३८।८
वागुरा = जाल ३७।४८
वाग्देवी = सरस्वती ३५।४९
वाचंयम = मौनी ३८।१६२
वाचंयमत्व = मौनव्रत ३४।२०५
वाचिक = सन्देश ३४।८८
वाजि = घोड़ा ३५।४३
वात्सक = बछड़ोंका समूह २६।१११
वापेय = वापी देशके घोड़े ३०।१०७
वामी = घोड़ी ३०।१०१
वायुवर्त्मानुगामिन् = वायुके मार्गका अनुसरण करनेवाले, निष्परिग्रह ३८।१९०
वारुणी = मदिरा, पश्चिम दिशा ३५।१५५
वारी = हाथी बाँधनेका स्थान २९।१२२
वार्षिकी = वर्षाकालसम्बन्धी ३४।१५६
वास्तु = घर २८।५१
विकर्पितस् = कम नहीं हुआ ३७।१५
विक्रिया = विकार ३५।७
विगाढ = प्रविष्ट ३१।१४५
विग्रह = शरीर २६।६
विग्रह = युद्ध ३५।२३

श

शासनहर = दूत ३४।५०

शिखण्डिन् = मयूर २६।१९

शिञ्जित = नूपुरोंकी झनकार २६।१५

शिवा = शृगाली ३४।१८२

शिरस्त्र = शिरका टोप ३६।१४

शीक्ष्यमान = सीचे गये २८।१०९

शुचि = ग्रीष्म ऋतु २७।४९

शूद्र = एक वर्ण ३८।४६

शेमुषी = बुद्धि २८।१५८

श्रमघर्माम्बुविप्रुष् = पसीनाकी बूँदे ३५।३५

श्रावकाचारचुञ्चु = श्रावकाचारसे प्रसिद्ध ४०।३०

श्रीगृह = खजाना ३७।८५

श्रुतोपासक सूत्र = उपासकाध्ययनाङ्गश्रावकाचारका वर्णन करनेवाला शास्त्र ३८।२४

श्रौत = श्रुति अथवा वेद सम्बन्धी ३९।१०

श्लाघ्य परिच्छद = प्रशंसनीय परिकरसे सहित ३४।१२४

श्वेतभानु = चन्द्र ४१।७६

ष

षट्कर्मजीविन् = असि, मषी, कृषि, शिल्प, वाणिज्य, और विद्या इन छह कार्योंसे आजीविका करनेवाले ३९।१४३

षट्तयी = छह भेदसे युक्त ३८।४२

षडङ्ग = हाथी, घोड़ा, रथ, पैदल-सैनिक, देव, और विद्याधर ये चक्रवर्तीकी सेनाके ६ अंग कहलाते हैं। ३६।५

षाड्गुण्य = सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव, आश्रय, ये राजाओंके छह गुण हैं। २८।२८

स

सङ्गर = युद्ध ४३।५२

सङ्गर = प्रतिज्ञा ३४।१७०

संग्रामनिकष = युद्धरूपी कसौटी ३५।१३७

सजयकेतन = विजय पताकासे सहित ३६।६

सजानि = स्त्रियोंसे सहित २९।१०८

सत्योद्य = सत्यपदार्थका कथन करनेवाला ३९।१२

सत्त्वोपघात = प्राणिघात ४१।५१

सदोऽवनि = समवसरण भूमि ४१।१९

सध्रीची = सखी २६।१४६

सनाभि = बन्धु ४५।१२५

सनाभि = सगोत्र, कुटुम्बीजन ३४।२०

सनाभित्व = सगा भाईपना ३५।२

सन्नाह = कवच ३२।६९

सन्निधि = सामीप्य, सन्निधान, ३६।२०३

सन्निधि = एकत्र उपस्थिति ३५।४६

सप्तच्छद = सप्तपर्ण नामका एक वृक्ष, जो शरद् ऋतुमें फूलता है। इसकी डण्ठलमें सात-सात पत्ते होते हैं। २६।६

सभावनि = सभाभूमि ३६।२००

सभामण्डल = समवसरण ४७।१६३

समरसंघट्टपिशुन = युद्धके सम्मर्दको सूचित करनेवाला ३५।१४१

समवाय = समूह ३४।१३८

समवर्ती = यम ४६।१४३

सम्पतन्ती = उड़ती हुई २६।८

संप्रीत = प्रसन्न ३९।४४

संभूत = समुत्पन्न ३४।११२

समा = वर्ष ३३।२०२

समानता = मानसे सहितपना ३५।११७

समांसमीना = प्रतिवर्ष गर्भिणी होनेवाली गाय २६।१३६

समित्सहस्र = हजारों लकड़ियाँ ३५।११

समिद्ध = प्रचण्ड ४४।३४६

समुल्लिक्त = गर्वित ४४।६२

समुद्वाह = विवाह २६।६५

सरोजरागरत्न = पद्मरागमणि ३३।६०

सर्जन = सृष्टि ४१।१२

सर्वङ्कष = सर्वघाती ३९।२९

सर्वभोगीणा = सबके भोगने योग्य ३४।११९

सलिलालोडित = पानीमें घुला हुआ ३९।४३

सव्येष्ट = सारथि २८।५९

सहसान = मयूर २६।१८

सहसारसाः = सारस पक्षियोंसे सहित २६।१५

संख्यातरात्र = कुछ रातें ३५।२७

संख्याज्ञान = गणित शास्त्र ३८।१२०

संघात = समूह ३६।६

संदंशित = कवच पहने हुए ३६।१५

संप्रेक्षा = आलोकन ३६।२२

संप्लुष्ट = दग्ध ३४।१५४

संयुग = युद्ध ४४।९९

संवर्मित = कवच धारण किये हुए ३६।१३८

संवाह = पहाड़ोंपर बसने वाले गाँव ३७।६६

संविद् = ज्ञान ४६।२४५

संवेग = संसारसे भय ३४।१४६

संस्कृत = उत्तम मनुष्य ४३।४५

संहित = इकट्ठे हुए, मिले हुए ४२।१

साकम्पनि = आकम्पनि — अकम्पनके पुत्रोंसे सहित ४४।१०५

सागार = गृहस्थ ३८।७

आदिपुराण भाग दो के सुभाषित

'अहो कष्टा दरिद्रता ।'	२६।४९
'रम्यं हारि न कस्य वा ।'	२७।१९
'नून तीव्रप्रतापाना माध्यस्थ्यमपि तापकम् ।'	२७।१००
'महता चित्रमीहितम् ।'	२८।२७
'अहो स्थैर्य महात्मनाम् ।'	२८।५७
'विभर्ति यः पुमान् प्राणान् परिभूतिमलीमसान् । न गुर्णैर्लिङ्गमात्रेण पुमानेप प्रतीयते ॥'	२८।१२९
'सचित्रपुरुषो वास्तु चञ्चापुरुष एव च । यो विनापि गुणै पौरुषै नाम्नैव पुरुपायते ॥'	२८।१३०
'स पुमान् य पुनीते स्व कुलं जन्म च पौरुपै । भटब्रुवो जनो यस्तु तस्यास्त्वभवनिर्भुवि ॥'	२८।१३१
'सत्य परिभव सोढुमशक्यो मानशालिनाम् । वलवद्भिर्विरोधस्तु स्वपराभवकारणम् ॥'	२८।१३९
'वलिनामपि सन्त्येव वलीयासो मनस्विन. । वलवानहमस्मीति नोत्सेक्तव्यमत परम् ॥'	२८।१४२
'इहामुत्र च जन्तूनामुन्नत्यै पूज्यपूजनम् । तापं तत्रानुवध्नाति पूज्यपूजाव्यतिक्रम ॥'	२८।१५१
'सम्भोगैरतिरसिको न तृप्यतीह'	२८।१९०
'पुण्ये वलीयसि किमस्ति जगत्यजय्यम्'	२८।२१४
'पुण्यात्परं न खलु साधनमिष्टसिद्धचै'	२८।२१५
'पुण्यात्पर न हि वशीकरणं जगत्याम्'	२८।२१६
'पुण्यं जले स्थलमिवाभ्यवपद्यते नॄन् पुण्यं स्थले जलमिवाशु नियन्ति तापम् । पुण्यं जलस्थलभये शरण तृतीयं पुण्यं कुरुध्वमत एव जना जिनोक्तम् ॥'	२८।२१७
'पुण्य पर शरणमापदि दुर्विलङ्घ्य पुण्य दरिद्रति जने धनदायि पुण्यम् । पुण्य सुखार्थिनि जने सुखदायि रत्न पुण्य जिनोदितमत सुजनाश्चिनुध्वम् ॥'	२८।२१८
पुण्य जिनेन्द्रपरिपूजनसाध्यमाद्य पुण्य सुपात्रगतदानसमुत्थमन्यत् । पुण्य व्रतानुचरणादुपवासयोगात् पुण्यार्थिनामिति चतुष्टयमर्जनीयम् ॥'	२८।२१९
'किमु कल्पतरो संवास्त्यफलाल्पफलापि वा'	२९।३३
'सत्य वहुनटो नृप '	२९।३७
'सर्वो हि वाञ्छति जनो विपय मनोज्ञम्'	२९।१५३
'प्रभवो मितभापिण '	३४।३०

'क्रोधान्धतमसे मग्नं यो नात्मान समुद्धरेत् ।
स कृत्य संशय द्वैधान्नोत्तरीतुमलन्तराम् ।।' ३४।७४
'कि तरा स विजानाति कार्याकार्यमनात्मवित् ।
यः स्वान्त प्रभवान् जेतुमरीन्न प्रभवेत् प्रभु. ।।' ३४।७५
'स्थायुकं हि यशो लोके गत्वर्यो ननु सम्पद ।' ३४।८६
'किमप्सर शिरोजान्तसुमनोगन्धलालित.
तुम्बीवनान्तमभ्येति प्राणान्तेऽपि मधुव्रतः' ३४।१०६
'मुक्ताफलाच्छमापाय गगनाम्बुनवाम्बुदात् ।
शुष्यत्सरोऽपि कि वाञ्छेदुदन्यन्नपि च ।।' ३४।१०७
'उत्तिष्ठन्ते स्म मुक्त्यर्थं बद्धकक्षा मुमुक्षव.' ३४।१६७
'सर्वं हि परिकर्मेदं वाह्यमध्यात्मशुद्धये' ३४।२१३
'प्रादुरासन् विशुद्धं हि तप. सूते महत्फलम्' ३४।२१४
'अयं खलु खलाचारो यद् बलात्कारदर्शनम् ।
स्वगुणोत्कीर्तन दोपोद्भावनं च परेपु यत् ।।' ३५।९४
'विवृणोति खलोऽन्येपा दोपान् स्वांश्च गुणान् स्वयम् ।
सवृणोति च दोपान् स्वान् परकीयान्गुणानपि ।।' ३५।९५
'अनिराकृतसतापा सुमनोभिः समुज्झिताम् ।
फलहीना श्रयत्यज्ञ खलता खलतामिव ।।' ३५।९६
'सतामसम्मता विष्वगाचिता विरसैः फलै ।
मन्ये दु खलतामेना खलता लोकतापिनीम् ।।' ३५।९७
'नैकान्तशमनं साम समाम्नात सहोष्मणि ।
स्निग्धेऽपि हि जने तप्ते सर्पिपीवाम्बुसेचनम् ।।' ३५।१००
'उपप्रदानमप्येव प्राय मन्ये महौजसि ।
समित्सहस्रदानेऽपि दीप्तस्याग्ने कुत शम ।।' ३५।१०१
'लोहस्येवोपतप्तस्य मृदुता न मनस्विन ।
दण्डोऽप्यनुनयग्राह्ये सामजे न मृगद्विषि ।।' ३५।१०२
'जरन्नपि गज : कक्षा गाहते कि हरे . शिशो ।' ३५।१०५
'तेजस्वी भानुरेवैकः किमन्योऽप्यस्त्यत परम् ।।' ३५।१०८
'स्वदोर्द्रुमफलं श्लाघ्य यत्किचन मनस्विनाम् ।
न चातुरन्तमप्यैश्यं परभ्रूलतिकाफलम् ।।' ३५।११२
'पराज्ञोपहतां लक्ष्मी यो वाञ्छेत्पार्थिवोऽपि सन् ।
सोऽपार्थयति तामुक्ति सर्पोक्तिमिव डुण्डुभः ।।' ३५।११३
'परावमानमलिना भूति धत्ते नृपोऽपि य ।
नृपशोस्तस्य नन्वेष भारो राज्यपरिच्छद. ।।' ३५।११४
'मानभङ्गार्जितैर्भोगैर्य प्राणान्धर्तुमीहते ।
तस्य भग्नरदस्येव द्विरदस्य कुतो भिदा ।।' ३५।११५
'छत्रभङ्गाद्विनाप्यस्य छायाभङ्गोऽभिलक्ष्यते ।
यो मानभङ्गभारेण बिभर्त्यवनत शिर ।।' ३५।११६
'मुनयोऽपि समानाश्चेत् त्यक्तभोगपरिच्छदा. ।
को नाम राज्यभोगार्थी पुमानुज्झेत्समानताम् ।।' ३५।११७
'वर वनाधिवासोऽपि वरं प्राणविसर्जनम् ।
कुलाभिमानिन. पुंसो न पराज्ञाविधेयता ।।' ३५।११८

'मानमेवाभिरक्षन्तु धीरा. प्राणैः प्रणश्वरैः ।	
नन्वलंकुरुते विश्वं शश्वन्मानार्जितं यश. ॥'	३५।११९
'वचोभिः पोपयन्त्येव पण्डिता. परिफल्ग्वपि ।	
प्रक्रान्ताया स्तुताविष्ट सिंहो ग्राममृगो ननु ॥'	३५।१२१
'ननु सिंहो जयत्येक महितानापि दन्तिन. ।'	३६।३०
'को नाम मतिमानीप्सेद् विपयान्विपदारुणान् ।	
येपा वशगतो जन्तु यात्यनर्थपरम्पराम् ॥'	३६।७३
'वर विपं यदेकस्मिन्भवे हन्ति न हन्ति वा ।	
विपयास्तु पुनर्घ्नन्ति हन्त जन्तूननन्तश. ॥'	३६।७४
'आपातमात्ररम्याणा विपाककटुकात्मनाम् ।	
विषयाणां कृते नाज्ञो यात्यनर्थानपार्थकम् ॥'	३६।७५
'अत्यन्तरसिकानादौ पर्यन्ते प्राणहारिण ।	
किंपाकपाकविपमान् विपयान् क. कृती भजेत् ॥'	३६।७६
'प्रसह्य पायतन् भूमौ गात्रेपु कृतवेपथु. ।	
जरापातो नृणा कष्टो ज्वरः शीत इवोद्भवन् ॥'	३६।८६
'अङ्गसादं मतिभ्रंपं वाचामस्फुटतामपि ।	
जरा सुरा च निर्विष्टा घटयत्याशु देहिनाम् ॥'	३६।८७
'नाग्न्य नाम परं तप.'	३६।११७
'ज्ञानशुद्ध्या तप.शुद्धिरस्यासीदतिरेकिणी ।	
ज्ञानं हि तपसो मूल यद्वन्मूलं महातरोः ॥'	३६।१४८
'सूते हि फलमक्षीणं तपोऽक्षूणमुपासितम् ॥'	३६।१५५
'महता हि मनोवृत्तिर्नोत्सेकपरिरम्भिणी'	३७।१३
'रत्नानि ननु तान्येव यानि यान्त्युपयोगिताम् ॥'	३७।१९
'तप श्रुतं च जातिश्च त्रयं ब्राह्मण्यकारणम् ।	
तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव स. ॥	३८।४३
'क्षत्रियो न्यायजीविक '	३८।२६२
'प्रजा कामदुघा धेनुर्मता न्यायेन योजिता ।'	३८।२६९
'राजवृत्तमिदं विद्धि यन्न्यायेन धनार्जनम् ।	
वर्धनं रक्षणं चास्य तीर्थे च प्रतिपादनम् ॥'	३८।२७०
'अज्ञानकुलधर्मो हि दुर्वृत्तैर्दूपयेत्कुलम्'	३८।२७४
'रक्षितं हि भवेत्सर्वं नृपेणात्मनि रक्षिते'	३८।२७५
'हिंसोपदेशि यद्वाक्यं न वेदोऽसौ कृतान्तवाक्'	३९।२२
'पुराण धर्मशास्त्रं च तत्स्याद् वधनिपेधि यत् ।	
वधोपदेशि यत्तत्तु ज्ञेयं धूर्तप्रणेतृकम् ॥'	३९।२३
'मन्त्रास्त एव धर्म्यासु ये क्रियासु नियोजिता ।	
दुर्मन्त्रास्तेऽत्र विज्ञेया ये युक्ता. प्राणिमारणे ॥'	३९।२६
'स्यान्निरामिपभोजित्व शुद्धिराहारगोचराः ।	
सर्वकपास्तु ते ज्ञेया ये स्युरामिपभोजिनः ॥'	३९।२९
'अहिंसाशुद्धिरेपां स्याद् ये नि सङ्गा दयालव. ।	
रता. पशुवधे ये तु न ते शुद्धा दुराशया. ॥'	३९।३०
'न्यायो दयार्द्रवृत्तित्वमन्याय प्राणिमारणम् ।'	३९।१४१
को हि नाम तमो नैशं हन्यादन्यत्र भास्करात् ।'	४०।९

'धर्मशीले महीपाले याति तच्छीलतां प्रजा । अताच्छील्यमतच्छीले यथा राजा तथा प्रजा ॥'	४१।९७
'दानं पूजा च शीलं च दिने पर्वण्युपोषितम् । धर्मश्चतुर्विधः सोऽयमाम्नातो गृहमेधिनाम् ॥'	४१।१०४
'धर्मे हि चिन्तिते सर्वं चिन्त्यं स्यादनु चिन्तितम्'	४१।११४
'धर्मो रक्षत्यपायेभ्यो धर्मोऽभीष्टफलप्रदः । धर्मः श्रेयस्करोऽमुत्र धर्मेणेहाभिनन्दथुः ॥'	४१।११६
'धर्माग्रं ननु केनापि नादर्शि विरसं क्वचित्'	४३।१६
'दोषान्गुणान् गुणी गृह्णन् गुणान् दोषांस्तु दोषवान् । सदसज्ज्ञानयोश्चित्रमत्र माहात्म्यमीदृशम् ॥'	४३।२०
'गुणिना गुणमादाय गुणी भवतु सज्जनः । असद्दोषसमादानाद् दोषवान् दुर्जनोऽद्भुतम् ॥'	४३।२१
'कविरेव कवेर्वेत्ति कामं काव्यपरिश्रमम्, वन्ध्या स्तनन्धयोत्पत्तिवेदनामिव नाकविः'	४३।२४
'गुणागुणानभिज्ञेन कृता निन्दाथवा स्तुतिः । जात्यन्धस्येव धृष्टस्य रूपे हासाय केवलम् ॥'	४३।२६
'गणयन्ति महान्तः किं क्षुद्रोपद्रवमल्पवत्, दाह्यं तृणाग्निना तूलं पल्युस्तापोऽपि नाम्भसाम् ॥'	४३।२८
'काष्ठजोऽपि दहत्यग्निः काष्ठं तं तत्तु वर्धयेत् । प्रदीपायितमेताभ्यां सदसद्भूतभासने ॥'	४३।२९
'हृदि धर्ममहारत्नमागमाम्भोधिसम्भवम् । कौस्तुभादधिकं मत्वा दधातु पुरुषोत्तमः ॥'	४३।३५
'आकरेष्विव रत्नानामूहानां नाशये क्षयः । विचित्रालंकृती कर्तुं दौर्गत्यं किं कवेः कृतौ ॥'	४३।४२
'नार्थिनो विमुखान्सन्तः कुर्वते तद्धि तद्व्रतम्'	४३।७२
'सन्तोऽवसरवादिनः'	४३।७३
'न सहन्ते ननु स्त्रीणां तिर्यञ्चोऽपि पराभवम्'	४३।९९
'आभिजात्यं वयोरूपं विद्यां वृत्तं यशःश्रियम् । विभुत्वं विक्रमं कान्तिमैहिकं पारलौकिकम् ॥ प्रीतिमप्रीतिमादेयमनादेयं कृपां त्रपाम् । हानिं वृद्धिं गुणान्दोषान्गणयन्ति न योषितः ॥'	४३।१०२।१०३
'वृश्चिकस्य हि विषं पश्चात्पन्नगस्य विषं पुरः । योषितां दूषितेच्छानां विश्वतो विषमं विषम् ॥'	४३।१०४
'जालकैरिन्द्रजालेन वञ्च्या ग्राम्या हि मायया । ताभिः सेन्द्रो गुरुर्वञ्च्यस्तन्मायामातरः स्त्रियः ॥'	४३।१०७
दोषाः किं तन्मयास्तासु दोषाणां किं समुद्भवः । तासां दोषेभ्य इत्यत्र न कस्यापि विनिश्चयः ॥'	४३।१०९
'निर्गुणान्गुणिनो मन्तुं गुणिनः खलु निर्गुणान् । नाशकत् परमात्मापि मन्यन्ते ता हि हेलया ॥'	४३।११०
'आर्याणामपि वाग्भूयो विचार्या कार्यवेदिभिः । वर्ज्यायाः किं पुनर्नार्याः कामिनां का विचारणा ॥'	४३।११५
'कनीयसोऽपि सम्बन्धं नेच्छन्ति ज्यायसा सह'	४३।१८८

'नहि मत्सरिणः सन्तो न्यायमार्गानुसारिणः'	४३।१९९
'धिक् स्थैर्यं भीतचेतसाम्'	४४।२२६
'अन्यायो हि परा भूतिर्न तत्त्यागो महीयसः'	४४।२५२
'उन्मार्गः कं न पीडयेत्'	४४।३४२
'मा धीर्देवापराधस्य प्रतिकर्त्री हि याऽचिरात्'	४५।३१
'अर्थायिभिरकर्तव्यं न लोके नाम किंचन'	४६।५५
'बुद्धिर्नाग्रेसरी यस्य न निर्बन्ध फलत्यसौ'	४६।६१
'कान्ता किं किं न कुर्वन्ति स्वभागपतिते नरे'	४६।६३
'पुण्यात् स्निह्यन्ति देहिन.'	४३।१३३
'भङ्गुरः संगम सर्वोऽप्यङ्गिनामभिवाञ्छितः । किं नाम सुखमत्रेदमल्पसंकल्पसंभवम् ॥'	४६।१९१
'आयुर्वायुचल कायो हेय एवामयालय. । साम्राज्यं भुज्यते लोलैर्वालिशैर्बहुदोपलम् ॥'	४६।१९२
'केन मोक्ष. कथं जीव्यं कुतः सौख्यं क्व वा मति. । परिग्रहाग्रहग्राहगृहीतस्य भवार्णवे ॥'	४५।२०९
'अयं कायद्रुम. कान्ताव्रततीततिवेष्टित. । जरित्वा जन्मकान्तारे कालाग्निग्रासमाप्स्यति ॥'	४६।२११
'सता स सहजो भावो यत्स्तुवन्त्युपकारिण. ।'	४७।१६६
'संचितोर्जितपुण्याना भवेदापच्च संपदे'	४७।१६८

BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪṬHA

MŪRTIDEVĪ JAINA GRANTHAMĀLĀ

General Editors :

Dr. H. L. JAIN, Jabalpur : Dr. A. N. UPADHYE, Kolhapur.

The Bhāratīya Jñānapīṭha, is an Academy of Letters for the advancement of Indological Learning. In pursuance of one of its objects to bring out the forgotten, rare unpublished works of knowledge, the following works are critically or authentically edited by learned scholars who have, in most of the cases, equipped them with learned Introductions etc. and published by the Jñānapīṭha.

Mahābandha or the **Mahādhavalā** :

This is the 6th Khaṇḍa of the great Siddhānta work *Ṣaṭkhaṇḍāgama* of Bhūtabali : The subject matter of this work is of a highly technical nature which could be interesting only to those adepts in Jaina Philosophy who desire to probe into the minutest details of the Karma Siddhānta. The entire work is published in 7 volumes. The Prākrit Text which is based on a single Ms. is edited along with the Hindī Translation. Vol. I is edited by Pt. S. C. DIWAKAR and Vols. 2 to 7 by Pt. PHOOLACHANDRA. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Prākrit Grantha Nos. 1, 4 to 9. Super Royal Vol. I : pp. 20 + 80 + 350 ; Vol. II : pp. 4+40+440 ; Vol. III : pp. 10+496 ; Vol. IV : pp. 16+428 ; Vol. V : pp. 4+460 ; Vol. VI : pp. 22+370 ; Vol. VII : pp. 8+320. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1947 to 1958. Price Rs. 11/- for each vol.

Karalakkhaṇa :

This is a small Prākrit Grantha dealing with palmistry just in 61 gāthās. The Text is edited along with a Sanskrit Chāyā and Hindī Translation by Prof. P. K. MODI. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Prākrit Grantha No. 2. Third edition, Crown pp. 48 Bhāratīya Jnānapīṭha Kashi, 1964. Price 75 nP.

Madanaparājaya :

An allegorical Sanskrit Campū by Nāgadeva (of the Samvat 14th century or so) depicting the subjugation of Cupid. Edited critically by Pt. RAJKUMAR JAIN with a Hindī Introduction, Translation etc., Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 1. Second edition. Super Royal pp. 14 + 58 + 144. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1964. Price Rs. 8/-.

Kannaḍa Prāntīya Tāḍapatrīya Grantha-sūcī :

A descriptive catalogue of Palmleaf Mss. in the Jaina Bhaṇḍāras of Moodbidri, Karkal, Aliyoor etc. Edited with a Hindī Introduction etc. by Pt. K. BHUJABALI SHASTRI. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 2. Super Royal pp. 32 + 324. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1948. Price Rs. 13/-.

Tattvārtha-vṛtti :

This is a critical edition of the exhaustive Sanskrit commentary of Śrutasāgara (*c.* 16th century Vikrama Samvat) on the Tattvārthasūtra of Umāsvāti which is a systematic exposition in Sūtras of the fundamentals of Jainism. The Sanskrit commentary is based on earlier commentaries and is quite elaborate and thorough. Edited by Pts. MAHENDRAKUMAR and UDAYACHANDRA JAIN. Prof. MAHENDRAKUMAR has added a learned Hindī Introduction on the exposition of the important topics of Jainism. The edition contains a Hindī Translation and important Appendices of referential value. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 4. Super Royal pp 108 + 548. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1949, Price Rs 16/-.

Ratna-Mañjūṣā with Bhāṣya :

An anonymous treatise on Sanskrit prosody. Edited with a critical Introduction and Notes by Prof. H. D. VELANKAR. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No 5. Super Royal pp. 8 + 4 + 72. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1949. Price Rs. 2/-.

Nyāyaviniścaya-vivaraṇa :

The Nyāyaviniścaya of Akalaṅka (about 8th century A. D) with an elaborate Sanskrit commentary of Vādirāja (*c.* 11th century A. D.) is a repository of traditional knowledge of Indian Nyāya in general and of Jaina Nyāya in particular. Edited with Appendices etc. by Pt. MAHENDRAKUMAR JAIN. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha Nos. 3 and 12. Super Royal Vol. I : pp. 68 + 546 ; Vol. II : pp. 66 + 468. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1949 and 1954, Price Rs. 15/- each.

Kevalajñāna-praśna-cūḍāmaṇi :

A treatise on astrology etc. Edited with Hindī Translation, Introduction, Appendices, Comparative Notes etc. by Pt. NEMICHANDRA JAIN. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 7. Super Royal pp. 16+128. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1950. Price Rs. 4/-.

Nāmamālā :

This is an authentic edition of the Nāmamālā, a concise Sanskrit Lexicon of Dhanaṁjaya (*c.* 8th century A D) with an unpublished Sanskrit commentary of Amarakīrti (*c.* 15th century A.D). The Editor has added almost a critical Sanskrit commentary in the form of his learned and intelligent foot-notes. Edited by Pt. SHAMBHUNATH TRIPATHI, with a Foreword by Dr. P. L. VAIDYA and a Hindī Prastāvanā by Pt. MAHENDRAKUMAR. The Appendix gives Anekārtha nighaṇṭu and Ekākṣarī-kośa. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 6. Super Royal pp. 16+140. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1950. Price Rs. 3.50 nP.

Samayasāra :

An authoritative work of Kundakunda on Jaina spiritualism. Prākrit Text, Sanskrit Chāyā. Edited with an Introduction, Translation and Commentary in English by Prof. A. CHAKRAVARTI. The Introduction is a masterly dissertation and brings out the essential features of the Indian and Western thought on the all-important topic of the Self. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, English Grantha No. 1. Super Royal pp. 10+162+244. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1950. Price Rs. 8/-.

Jātakaṭṭhakathā :

This is the first Devanāgarī edition of the Pāli Jātaka Tales which are a store-house of information on the cultural and social aspects of ancient India. Edited by Bhikshu DHARMARAKSHITA Jñānapīṭha Mūrtidevī Pāli Granthamālā No. 1, Vol. 1. Super Royal pp. 16+384. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1951. Price Rs. 9/-.

Kural or Thirukkural :

An ancient Tamil Poem of Thevar. It preaches the principles of Truth and Non-violence. The Tamil Text and the commentary of Kavirājapaṇḍita. Edited by Prof. A. CHAKRAVARTI with a learned Introduction in English. Bhāratīya Jñānapīṭha Tamil Series No. 1. Demy pp. 8+36+440. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1951. Price Rs. 5/-.

Mahāpurāṇa :

It is an important Sanskrit work of Jinasena-Guṇabhadra, full of encyclopædic information about the 63 great personalities of Jainism and about Jain lore in general and composed in a literary style. Jinasena (837 A. D.) is an outstanding scholar, poet and teacher; and he occupies a unique place in Sanskrit Literature. This work was completed by his pupil Guṇabhadra. Critically edited with Hindī Translation, Introduction, Verse Index etc. by Pt. PANNALAL JAIN. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha Nos. 8, 9 and 14. Super Royal Vol. I : Second edition, pp. 8+68+746 Varanasi 1963 ; Vol. II : pp. 8+556 ; Vol. III : pp. 8+16+640 ; Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1951 to 1954. Price Rs. 10/- each.

Vasunandi Śrāvakācāra :

A Prākrit Text of Vasunandi (c. Saṁvat first half of 12th century) in 546 gāthās dealing with the duties of a householder, critically edited along with a Hindī Translation by Pt. HIRALAL JAIN. The Introduction deals with a number of important topics about the author and the pattern and the sources of the contents of this Śrāvakācāra. There is a table of contents. There are some Appendices giving important explanations, extracts about Pratiṣṭhāvidhāna, Sallekhanā and Vratas. There are 2 Indices giving the Prākrit roots and words with their Sanskrit equivalents and an Index of the gāthās as well. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Prākrit Grantha No. 3. Super Royal pp. 230. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1952. Price Rs. 5/-.

Tattvārthavārttikam or Rājavārttikam :

This is an important commentary composed by the great logician Akalaṅka on the Tattvārthasūtra of Umāsvāti. The text of the commentary is critically edited giving variant readings from different Mss. by Prof. MAHENDRAKUMAR JAIN. Jñānapīṭha Mūrtidevī Granthamālā, Sanskrit Grantha Nos. 10 and 20. Super Royal Vol. I : pp. 16+430 ; Vol. II : pp. 18+436. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1953 and 1957. Price Rs. 12/- for each Vol.

Jinasahasranāma :

It has the Svopajña commentary of Paṇḍita Āśādhara (V. S. 13th century). In this edition brought out by Pt. HIRALAL a number of texts of the type of Jinasahasranāma composed by Āśādhara, Jinasena, Sakalakīrti and Hemacandra are given. Āśādhara's text is accompanied by Hindī Translation. Śrutasāgara's commentary of the same is also given here. There is a Hindī Introduction giving information about Āśādhara etc. There are some useful Indices. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 11. Super Royal pp. 288. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1954. Price Rs 4/-.

Purāṇasāra-Saṁgraha :

This is a Purāna in Sanskrit by Dāmanandi giving in a nutshell the lives of Tīrthaṁkaras and other great persons. The Sanskrit text is edited with a Hindī Translation and a short Introduction by G.C. JAIN. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha Nos. 15 and 16. Crown Part I : pp. 20+198 ; Part II : pp. 16+206. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1954, 1955. Price Rs 2/- each.

Sarvārtha-Siddhi :

The Sarvārtha-Siddhi of Pūjyapāda is a lucid commentary on the Tattvārthasūtra of Umāsvāti called here by the name Gṛdhrapiccha. It is edited here by Pt. PHOOLACHANDRA with a Hindī Translation, Introduction, a table of contents and three Appendices giving the Sūtras, quotations in the commentary and a list of technical terms. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 13. Double Crown pp. 116+506. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1955. Price Rs. 12/-.

Jainendra Mahāvṛtti :

This is an exhaustive commentary of Abhayanandi on the *Jainendra Vyākaraṇa,* a Sanskrit Grammar of Devanandi alias Pūjyapāda of circa 5th-6th century A. D. Edited by Pts. S. N. TRIPATHI and M CHATURVEDI. There are a Bhūmikā by Dr. V. S. AGRAWALA, *Devanandikā Jainendra Vyākaraṇa* by PREMI and *Khilapāṭha* by MIMĀNSAKA and some useful Indices at the end. Jñānapītha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No 17 Super Royal pp. 56+506. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1956. Price Rs. 15/-.

Vratatithi Nirṇaya :

The Sanskrit Text of Sinhanandi edited with a Hindī Translation and detailed exposition and also an exhaustive Introduction dealing with various Vratas and rituals by Pt. NEMICHANDRA SHASTRI. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 19. Crown pp. 80+200. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1956. Price Rs. 3/-.

Pauma-cariu :

An Apabhraṁśa work of the great poet Svayambhū (677 A. D.). It deals with the story of Rāma The Apabhraṁśa text up to 56th Sandhi with Hindi Translation and Introduction of Dr. DEVENDRAKUMAR JAIN, is published in 3 Volumes. Jñānapītha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Apabhraṁśa Grantha Nos. 1, 2 & 3 Crown size, Vol. I : pp. 28+333 ; Vol. II : pp. 12+377 ; Vol. III : pp. 6+253 Bhāratīya Jñānapītha Kashi, 1957, 1958. Price Rs. 3/- for each Vol.

Jīvaṁdhara-Campū :

This is an elaborate prose Romance by Haricandra written in Kāvya style dealing with the story of Jīvaṁdhara and his romantic adventures. It has both the features of a folk-tale and a religious romance and is intended to serve also as a medium of preaching the doctrines of Jainism. The Sanskrit Text is edited by Pt. PANNALAL JAIN along with his Sanskrit Commentary, Hindī Translation and Prastāvanā. There is a Foreword by Prof. K. K. HANDIQUI and a detailed English Introduction covering important aspects of Jīvaṁdhara tale by Drs. A. N. UPADHYE and H. L. JAIN. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 18. Super Royal pp. 4+24 +20+344. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1958. Price Rs. 8/-.

Padma-purāṇa :

This is an elaborate Purāṇa composed by Raviṣeṇa (V. S. 734) in stylistic Sanskrit dealing with the Rāma tale. It is edited by Pt. PANNALAL JAIN with Hindī Translation, Table of contents, Index of verses and Introduction in Hindī dealing with the author and some aspects of this Purāṇa. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha Nos. 21, 24, 26. Super Royal Vol. I : pp. 44+548 ; Vol. II : pp. 16+460 ; Vol. III : pp. 16+472. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashī, 1958-59. Price Rs. 10/- each.

Siddhi-viniścaya :

This work of Akalaṅkadeva with Svopajñavṛtti along with the commentary of Anantavīrya is edited by Dr. MAHENDRAKUMAR JAIN. This is a new find and has great importance in the history of Indian Nyāya literature. It is a feat of editorial ingenuity and scholarship. The edition is equipped with exhaustive, learned Introductions both in English and in Hindi, and they shed abundant light on doctrinal and chronological problems connected with this work and its author. There are some 12 useful Indices. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha Nos. 22, 23. Super Royal Vol. I : pp. 16+174+370 ; Vol. II :- pp. 8+808. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1959. Price Rs. 18/- and Rs. 12/-.

Bhadrabāhu-Saṁhitā :

A Sanskrit text by Bhadrabāhu dealing with astrology, omens, portents etc Edited with a Hindī Translation and occasional Vivecana by Pt NEMICHANDRA SHASTRI. There is an exhaustive Introduction in Hindī dealing with Jain Jyotiṣa and the contents, authorship and age of the present work. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 25. Super Royal pp. 72+416. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1959. Price Rs. 8/-.

Pañcasaṁgraha :

This is a collective name of 5 Treatises in Prākrit dealing with the Karma doctrine the topics of discussion being quite alike with those in the Gommaṭasāra etc. The Text is edited with a Sanskrit commentary, Prākrit Vṛtti by Pt. HIRALAL who has added a Hindī Translation as well. A Sanskrit Text of the same name by one Śrīpāla is included in this volume. There are a Hindī Introduction discussing some aspects of this work, a Table of contents and some useful Indices. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Prākrit Grantha No. 10. Super Royal pp. 64+804. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1960 Price Rs. 15/-

Mayaṇa-parājaya-cariu :

This Apabhraṁśa Text of Harideva is critically edited along with a Hindī Translation by Prof. Dr. HIRALAL JAIN. It is an allegorical poem dealing with the defeat of the god of love by Jina. This edition is equipped with a learned Introduction both in English and Hindī. The Appendices give important passages from Vedic, Pāli and Sanskrit Texts. There are a few explanatory Notes, and there is an Index of difficult words Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Apabhraṁśa Grantha No. 5. Super Royal pp. 88+90. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1962. Price Rs. 8/-.

Harivaṁśa Purāṇa :

This is an elaborate Purāṇa by Jinasena (Śaka 705) in stylistic Sanskrit dealing with the Harivaṁśa in which are included the cycle of legends about Kṛṣṇa and Pāṇḍavas. The text is edited along with the Hindī Translation and Introduction giving information about the author and this work, a detailed Table of contents and Appendices giving the verse Index and an Index of significant words by Pt. PANNALAL JAIN. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 27. Super Royal pp. 12+16+812+160. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1962. Price Rs. 16/-.

Karmaprakṛti :

A Prākrit text by Nemicandra dealing with Karma doctrine, its contents being allied with those of Gommaṭasāra. Edited by Pt. HIRALAL JAIN with the Sanskrit commentary of Sumatikīrti and Hindī Tīkā of Paṇḍita Hemarāja, as well as translation into Hindī with Viśeṣārtha. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Prākrit Grantha No. 11. Super Royal pp. 32+160. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1964. Price Rs. 6/-.

Upāsakādhyayana :

It is a portion of the Yaśastilaka-campū of Somadeva Sūri. It deals with the duties of a householder. Edited with Hindi Translation, Introduction and Appendices etc. by Pt. KAILASHCHANDRA SHASTRI Jñānapītha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 28. Super Royal pp. 116 + 539, Bhāratīya Jñānapītha, Kashi, 1964. Price Rs. 12/-.

Bhojacaritra :

A Sanskrit work presenting the traditional biography of the Paramāra Bhoja by Rājavallabha (15th century A. D.). Critically edited by Dr. B. Ch. CHHABRA, Jt. Director General of Archæology in India and S. SANKARANARAYANA with a Historical Introduction and Explanatory Notes in English and Indices of Proper names. Jñānapītha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 29. Super Royal pp. 24 + 192. Bhāratīya Jñānapītha Kashi, 1964. Price Rs. 8/-.

Satyaśāsana-parīkṣā

A Sanskrit text on Jain logic by Ācārya Vidyānandi, critically edited for the first time by GOKULCHANDRA JAIN. It is a critique of selected issues upheld by a number of philosophical schools of Indian Philosophy. There is an English compendium of the text, by Dr. NATHMAL TATIA. Jñānapītha Mūrtidevī Jain Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 30. Super Royal pp. 56 + 34 + 62. Bhāratīya Jñānapītha, Kashi, 1964. Price Rs 5/-.

Karakaṇḍa-cariu

An Apabhraṁśa text dealing with the life story of king Karakaṇḍa, famous as 'Pratyeka Buddha', in Jaina & Buddhist literature. Critically edited with Hindi & English Translations, Introductions, Explanatory Notes and Appendices etc. by Dr HIRALAL JAIN. Jñānapītha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Apabhraṁśa Grantha No. 4. Super Royal pp. 64 + 278. Bhāratīya Jñānapītha Kashi, 1964. Price Rs 10/-.